पृष्ठ संख्या की सूची।

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना।

गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण से बढ़ कर हिन्दीसाहित्य में दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। ऐसा कौन साहित्य-सेवी होगा जो रामचरितमानस से थोड़ा बहुत परिचय न रखता हो? इसका आदर भारतवर्ष के कोने कोने में राजाधिराजों के महलों से लेकर कंगाल की झोपड़ी पर्य्यन्त है और प्रचार में तो यह वाल्मीकीय से भी कई गुना बढ़ा हुआ है। विविध मतानुयायी और भिन्न धर्मावलम्बी भी आदरणीय मान कर इसके उपदेशों से लाभ उठाते हैं। अनेक भाषाओं में अनूदित होकर यह भिन्न भिन्न देशों में सम्मान पा रहा है भारतीयों में तो कितने ही भावुक जन ऐसे हैं जो रामचरितमानस का पाठ किये बिना जल तक नहीं ग्रहण करते। इसके ओजस्वी और मर्मस्पर्शी उपदेशों द्वारा असंख्यों स्त्री-पुरुष कुप्रवृत्तियों से छूटकर सदाचारी बन गये और बनते जाते हैं। रामभक्तों का तो यह सर्वस्व प्राणाधार ही है। इस लोकप्रसिद्ध महाकाव्य की अधिक प्रशंसा करना तो मध्याह्नकाल के सूर्य्य को हाथ में दीपक लेकर दिखाने के समान है।

यद्यपि रामायण की रचना गोसाँईजी ने अत्यन्त सीधी सादी भाषा में की है—न तो उन्होंने जटिल अर्थ लाने का प्रयत्न किया और न कठिनाई अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये दृष्टकूट आदि को ही स्थान दिया है, उनका ध्येय तो सरलता-पूर्वक हृद्गत भावों को व्यक्त करने का जान पड़ता है—फिर भी रामायण के अर्थ की गम्भीरता इतनी अधिक है कि न जाने इस पर कितनी ही टीकाएँ हो चुकीं और होती ही जाती हैं। असंख्यों विद्वान तरह तरह की अनोखी उक्तियों से उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, पर अन्त कोई भी नहीं लगा सका और रामचरितमानस की गूढ़ता ज्यों की त्यों बनी है। जिस प्रकार विज्ञजन अपनी मनोहर कल्पनाओं से पाठकों का मनोरञ्जन करते हैं उसी प्रकार अनभिज्ञ और प्रलापप्रिय कथक्कड़ लोग अनावश्यक अर्थों के गढ़ने में नहीं चूकते। कितने ही संशोधकों और प्रूफरीडरों की काटछाँट से बहुत ही पाठान्तर हो गया है तथा कुछ महाकवियों ने बीच बीच में क्षेपक और आठवाँ काण्ड जोड़ कर गोसाँईजी की त्रुटि सुधारने की उदारता प्रकट की है। किसी ने अर्द्धाली चौपाइयों को निकाल कर पिंगल की योग्यता दिखाई है और कविकृत रामायण के रूप ही को बदल डाला है। कहाँ तक कहा जाय, ऐसे ही सहस्रों विद्यावारिधियों ने रामचरितमानस में अप्रासंगिक विषयों को बलात ठूँस कर इसको खूब ही विकृत किया है जिससे मूल और क्षेपक का निर्णय करना साधारण हिन्दी जाननेवालों के लिये क्या बड़े बड़े उद्भट विद्वानों को कठिन और भ्रमोत्पादक हो गया है।

इस अनर्थकारी कार्य्य में स्वार्थलोलुप पुस्तक-विक्रेताओं और प्रेसाध्यक्षों का भी हाथ है। काव्य-सौन्दर्य्य भले ही नष्टभ्रष्ट होकर गोसाँईजी के सिद्धान्तों पर पानी फिर जाय, पर इससे उन्हें प्रयोजन नहीं। उनका तो स्वार्थ सिद्ध होना चाहिये, क्योंकि क्षेपक और आठवें काण्ड के बिना बहुतेरे ग्राहक उसे खरीदना पसन्द नहीं करते। इन महाशयों ने लेखकों और टीकाकारों को प्रलोभन देकर क्षेपक मिलवाया, रामायण और इसके रचयिता की मान-मर्य्यादा की परवा न करके केवल कुछ भोलेभाले पाठकों की रुचि के लिहाज़ से और अपनी बिक्री बढ़ाने के विचार से रामचरितमानस को

फुजड़े 'का गल्ला बनाने में कोई बात उठा नहीं रक्खा। हर्ष का विषय है कि कतिपय विद्वानों ने कवि-कृत मूलपाठ की खोज लगाने में सराहनीय उद्योग किया और अच्छे ग्रन्थप्रकाशकों ने उनका हाथ बँटाया। जहाँ आज से बीस पचीस वर्ष पहले क्षेपक सहित रामायण छापना श्रेष्ठ समझा जाता था, वहाँ अब क्षेपक रहित मूलपाठ की प्रति का आदर होने लगा है और क्षेपक से लोग घृणा करने लगे हैं।

अपने समय के प्रसिद्ध रामायणी और परमभागवत मिर्ज़ापुर-निवासी पण्डित रामगुलामजी द्विवेदी ने गोसाँईजी के छोटे बड़े बारहों ग्रन्थों के मूलपाठ खोज निकालने में खासा प्रयत्न किया था और इस कार्य्य में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। उनके द्वारा संशोधित रामचरितमानस के आधार पर क्षेपक रहित गुटका के रूप में शुद्ध पाठ की रामायण संवत् १६४५ में काशी के एक प्रेस से प्रकाशित हुई थी, हमने अपनी टीका में इसी 'गुटका' के अनुसार मूलपाठ रक्खा है। द्विवेदी-जी के समकालीन पं० वन्दनपाठक, बाबू हरिहर प्रसाद और लाला छक्कनलाल आदि रामायण के प्रेमियों ने इसी पाठको कविकृत विशुद्ध स्वीकार किया है।

नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति महोदय की एक टीका १६१६ ई० में छपी है। इसी सटीक प्रति के मूल पाठ का कहीं कहीं अवलम्बन कर अपनी टीका में हमने उसको 'सभा की प्रति' के नाम से उल्लेख किया है। सभा की प्रति में भी पाठान्तर की कमी नहीं है, इस बात का पता हमें अयोध्याकाण्ड से बहुत कुछ लगा है। गुटका का पाठ अधिकांश कविकृत पाठ से मिलता है; किन्तु सभा की प्रति का पाठ उतना नहीं मिलता। इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में पाठान्तर की अधिकता है, जिसका यथास्थान टीका में हमने दिग्दर्शन किया है वह पुस्तकावलोकन करते समय पाठकों को विदित होगा।

गोसाँईजी के हाथ का लिखा अयोध्याकाण्ड जो अब तक राजापुर के मन्दिर में सुरक्षित है, अवधवासी लाला सीताराम बी०ए० ने उद्योग करके उसकी अक्षरशः प्रतिलिपि प्रकाशित करायी है। अयोध्याकाण्ड का पाठ हमने इसी प्रति के अनुसार रक्खा है। अन्तर इस बात का है कि गोसाँईजी ने अवधी और बैसवाड़ी भाषा तथा उस समय की लेखप्रणाली के अनुसार राम को रामु, भरत को भरतु, जन को जनु, मन को मनु, वन को बनु.. घना के घनु, इत्यादि शब्दों को मात्रायुक्त लिखा है और सुख को सुष, दुख को दुष, लखि को लषि अर्थात 'ख' के स्थान में प्रायः 'ष' का प्रयोग किया है। मोरें, तोरें, हमारें, तुम्हारें, पहिचानें सयानें आदि शब्दों पर बिन्दु लगाये हैं। उन्हों ने भाषा छन्दों में 'ण' और 'श' का बहिष्कार किया है तथा 'व' के स्थान में अधिकांश 'ब' से काम लिया है। हमने पूर्णरूप से तो इसका अनुकरण नहीं किया, वरन् वर्तमान लेखशैली के अनुसार शब्दों का रूप रक्खा है; किन्तु उससे न तो शब्द के रूप बदले हैं और न अर्थ-लालित्य में किसी प्रकार का अन्तर आया है। 'ण' और 'श' का प्रयोग हमने भी नहीं किया है। सम्भव है कि हिन्दी की चिन्दी निकालनेवाले समालोचकों के लिये यह परिवर्तन आक्षेप का कारण हो और उन्हें कुछ कष्ट उठाना पड़े, फिर भी हम इसके निमित्त क्षमा की याचना करते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रतियों के अतिरिक्त न तो अन्यत्र से पाठ ही लिया गया है और न अपना पाण्डित्य दर्शाने के लिये कहीं मनमाना तोड़ मरोड़ किया गया है। हाँ अरण्यकांड में—"मरम बचन जब

तपस्वी गोस्वामी तुलसीदास जी (अवस्था ३६।वर्ष)।

तन मन तें हरिभक्ति-रत, तरु तर किये निवास।
राम-नाम सादर जपत, कविवर तुलसीदास॥

प्रस०

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

सीता बोला-हरिप्रेरित लछिमन मन डोला" पाठ गुटका और सभा की प्रति में है प्रथम संस्करण में हमने इसी को प्रधानता दी थी। किन्तु कतिपय रामायण के ज्ञाता विद्वानों ने उसको अशुद्ध ठहराया और बदल देने का अनुरोध किया तदनुसार पं० रामबकस पांडेय की प्रति का पाठ—"मरम बचन जब सीता बोली-हरिप्रेरित लछिमन मति डोली" प्रधान स्थल में इस बार रक्खा गया है। जिन समालोचकों ने पाठ तोड़ने मरोड़ने का मुझ पर दोषारोप किया है, यह उनका अन्याय है। मूलपाठ के बदलने का हमें कोई अधिकार नहीं, और न कहीं जान बूझ कर हमने वैसा किया है। भ्रम अथवा छापे के दोष से पाठ में कदाचित कहीं अन्तर पड़ गया हो तो यह दूसरी बात है।

हमारी इच्छा थी कि रामायण के प्रथम संस्करण की प्रतियों का सर्वसाधारण के सुबीतार्थ स्वल्प मूल्य निर्धारित किया जाय; किन्तु कागज़ आदि की महँगाई के कारण विवश हो प्रकाशक महोदय आठ रुपये से कम उसका मूल्य नहीं रख सके, फिर भी दो वर्ष के भीतर ही एक सहस्र प्रतियाँ समाप्त हो गयीं। शीघ्रता के साथ इस खपत को देख विश्वास हो रहा है कि रामायण के प्रेमियों को यह टीका पसन्द आई और उन्होंने इसे अपनाया। इसके सिवा कितने ही प्रसिद्ध पत्रों के सुयोग्य सम्पादकों और विद्वानों ने टीका की उपयोगिता के विषय में अनूकूल सम्मति प्रदान कर उस विश्वास को और भी दृढ़ कर दिया है। पहले हमें इस बात का कुछ भी भरोसा नहीं था कि विद्वन्मण्डली में इस टीका को इतना बड़ा सम्मान प्राप्त होगा। परन्तु 'केहि न सुसङ्ग बड़प्पन पावा' के अनुसार अब मैं अपने परिश्रम को सफल समझ रहा हूँ।

रामचरितमानस की टीका हमने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं किया और न इसी अभिप्राय से लिखने का प्रयास किया है कि हमारी टीका पूर्व के टीकाकारों से बढ़ कर होगी। वास्तविक बात तो यह है कि रामचरितमानस पर चिरकाल से हमारे हृदय में प्रगाढ़ अनुराग है और उसका कहना, सुनना मनन करना अथवा टीका लिखना एक प्रकार रामभजन कहा जाता है। यही सोच कर हमने इस कार्य को सम्पन्न करने का साहस किया और इस बात की तनिक भी परवाह नहीं की कि भाषा पर मेरा कोई अधिकार है अथवा नहीं। जब रामायण के विषय में अपना अपना विचार व्यक्त करने का स्वत्व पढ़े अनपढ़े छोटे बड़े सभी लोगों को है, तब उससे अकेला मैं ही क्यों वञ्चित रक्खा जा सकता हूँ। जो भक्तिवान प्राणी रामयश गान करते हैं वे पार पाने के अभिप्राय से नहीं बरन् उसे एक प्रकार ईश्वर का भजन समझ कर वर्णन करते हैं। दूषित दृष्टि वाले मनुष्यों को दोष ही से शान्ति मिलती है अतएव वे अपनी प्रकृति के अनुसार उसके लिये प्रयत्नशील होकर सन्तोष ग्रहण करते हैं। उन्हें स्वच्छ मानसरोवर में भी दादुर सम्बुकादि के बिना यथार्थ आनन्द नहीं आता, अस्तु।

अपनी टीका में हमने इस प्रकार का क्रम रक्खा है कि मूल पद्यों (चौपाई, दोहा, छन्द, श्लोकादि) के अन्त में उनके अंक के नीचे भावार्थ लिख, उस पर मूल छन्दों का अंक देकर वह पंक्ति छोड़ दी गयी है। अर्थ के नीचे कथानकों की टिप्पणी, शङ्कासमाधान, रस, भाव, ध्वनि, अलंकार की समास अथवा व्यास रूप से व्याख्या की गयी है। प्रथम संस्करण की अपेक्षा इस बार गोस्वामीजी की जीवनी में विस्तार किया गया है। कुछ त्रुटियों का भी सुधार किया गया है। अन्त में एक मानस-पिङ्गल लगाया है उसमें मानस के समस्त छन्दों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ पूर्व की अपेक्षा इस बार कई एक रंगीन और सादे चित्र लगाये गये हैं और जिल्द आदि

की सजावट पहले से कम नहीं, अर्थात् पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में पूर्ण उद्योग किया गया है। इतने पर भी मूल्य सर्वसाधारण के सुबीतार्थ घटा दिया गया है।

इस टीका के लिखने में पंडित रामेबक्स पाण्डेय और बाबू श्यामसुन्दर दास की टीकाओं से हमें कहीं कहीं अच्छे भाव प्राप्त हुए हैं तथा टिप्पणी लिखने में सहायता मिली है अतएव इन युगल महानुभावों की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए उन्हें हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

रामायण के प्रेमी विद्वानों और रामभक्तजनों से हमारा नम्र निवेदन है कि यद्यपि शुद्धता की ओर विशेष ध्यान रक्खा गया है, फिर भी भ्रमवश या दृष्टिदोष से अथवा छपते समय मात्राओं के टूट जाने किम्बा अक्षरों के निकल जाने से प्रायः अशुद्धियाँ हो जाया करती हैं। यदि ऐसी त्रुटियाँ कहीं दिखाई पड़ें तो उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे। जब हरिचरित्र को सरस्वती, शेष, ब्रह्मा, शिव, शनकादि ऋषीश्वर, शास्त्र, पुराण, वेदादि नेति नेति कहते हुए सदा गान करते हैं, तब उसको एक साधारण मनुष्य गान करके किस प्रकार पार पा सकता है? एकमात्र वाणी पवित्र करने और जीवन सार्थक बनाने के लिये रामयश गान किया जाता है, न कि पार पाने के निमित्त। जिसका वारापार ही नहीं, उसका कोई पार किस तरह पा सकता है? इस विषय में तो मेरी यह धारणा है कि—

जल सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥
भव भञ्जन गञ्जन सन्देहा। जन रञ्जन सज्जन प्रिय एहा॥
राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥
विमल कथा हरिपद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा स्रवन मन लाई॥

सुनि दुर्लभ हरिभगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरन्तर, सुनहिं मानि बिस्वास॥

सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता॥

मि० कार्त्तिक शुक्ल २ सोमवार,
सम्वत १९८२ वि०

सज्जनों का कृपाकांक्षी—
महावीर प्रसाद मालवीय वैद्य 'वीर'

रामचरितमानस के कथा-प्रसङ्ग की सूची।

संख्या	कथा-प्रसङ्ग	पृष्ठ

(आरण्यकाण्ड)

चित्र-परिचय

भिन्न भिन्न चित्रकारों के बनाये भिन्न भिन्न अवस्था के गोस्वामी तुलसीदासजी के तीन चित्र रामचरितमानस में लगे हैं, उनका परिचय ऐतिहासिक पुस्तकों और किम्बदन्तियों से जहाँ तक उपलब्ध हुआ वह प्रकाशित किया जाता है।

(१) इस एक रंगे चित्र को बादशाह अकबर के चित्रकारों ने सम्बत् १६२५ विक्रमाब्द के लगभग बनाया, उस समय गोसाँईजी की अवस्था ३६ वर्ष की थी और वे तपश्चर्या में अनुरक्त थे। इतिहास से पता चलता है कि बादशाह अकबर अपनी राजसभा में प्रत्येक मत के विद्वानों को रखने का अनुरागी और प्रसिद्ध महात्मा पुरुषों के चित्रों का संग्रह कर अपनी चित्रशाला सजवाने का बड़ा शौकीन था। अकबर का प्रसिद्ध वज़ीर नवाब खानखाना गोस्वामीजी पर अत्यन्त प्रेम रखता था। बहुत सम्भव है कि यह चित्र उसी के उद्योग से बन कर शाही चित्रालय में रक्खा गया हो। पहले पहल इस चित्र को लंडन के किसी समाचार पत्र ने प्रकाशित किया और उसी के द्वारा इसका भारत में प्रचार हुआ है।

(२) दूसरा चित्र बादशाह जहाँगीर के चित्रकारों ने सम्वत् १६६५ विक्रमाब्द के लगभग निर्माण किया होगा, क्योंकि जहाँगीर सम्वत् १६६२ से १६८४ विक्रमाब्द पर्यन्त दिल्ली के राज्यासन पर विराजमान था। उस समय गोस्वामीजी की अवस्था ७६ वर्ष की रही होगी। गोसाँईजी के जीवनचरित्र में लिखा है कि बादशाह जहाँगीर उनसे मिलने काशी आया था। बादशाह उनपर बड़ा प्रेम रखता और उन्हें पूज्यदृष्टि से देखता था। एकबार गोस्वामीजी भयंकर व्याधि से अत्यन्त पीड़ित हुए थे, सम्भव है कि उनकी बीमारी का समाचार पाकर वह स्नेहवश काशी आया हो और उसी समय अपने चित्रकारों को चित्र लेने की आज्ञा दी हो, इसी से यह चित्र सद्यः रोगमुक्त अवस्था का लिया मालूम होता है। उन दिनों गोस्वामीजी प्रह्लादघाट पर पं० गंगाराम जोशी के यहाँ निवास करते थे। पं० गंगाराम गोसाँईजी के मित्रों में कहे जाते हैं, शाही चित्रकारों से मिल कर किसी प्रकार उन्होंने इस चित्र की प्रतिलिपि प्राप्त कर ली हो तो आश्चर्य्य नहीं। क्योंकि सुना जाता है कि उनके वंशजों के पास वह चित्र अबतक सुरक्षित है। वर्तमान काल के पं० रणछोड़लाल व्यास अपने को पं० गंगाराम ज्योतिषी का उत्तराधिकारी बतलाते हैं। उन्होंने सन १६१५ ई० में गोस्वामीजी की जीवनी लिखवा कर प्रकाशित करायी है और उसमें वही एकरंगा चित्र भी दिया है। व्यासजी का कथन है कि यह चित्र बादशाह जहाँगीर ने सम्वत् १६५५ में जयपुर के किसी कारीगर से बनवाया था। परन्तु उस समय तो अकबर गद्दी पर था और जहाँगीर राजकुमार था, वह तो सम्बत १६६२ में गद्दी पर बैठा था। यदि यह कहा जाय कि राजकुमार की अवस्था में ही जहाँगीर ने चित्र बनवाया तो सम्भव नहीं, क्योंकि गद्दी पर बैठने के बाद उसने गोस्वामीजी को बुलवाकर एक बार जेल में बन्द करवा दिया था। यदि वह राजकुमार की अवस्था में गोस्वामीजी का प्रेमी होता तो राज्यासन पर बैठ कर उन्हें बन्दी न बनाता। जेल में बन्द करने पर वह उनके महत्व से परिचित हो प्रेमी हुआ और तभी चित्र बनवाने की आज्ञा

दी होगी। पं० रणछोड़लाल का वक्तव्य इतिहास से विरुद्ध होने के कारण विश्वास के योग्य नहीं है। व्यासजी ने अपनी जीवनी में चित्र के विषय में लिखा है कि "इस चित्र को रजिस्टरी हुई है, बिना हमारी आज्ञा कोई न छापे" आप की इस अनुदारता पर हँसी आती है और घृणा भी होती है। जिस महापुरुष के दर्शन की लालसा हिन्दू-समाज के अतिरिक्त कितने ही विदेशीय सज्जनों के हृदय में वर्तमान है, उनके चित्र को इस प्रकार प्रतिबन्ध के साथ प्रकाशित करना संकीर्णता की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है? काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा को सहस्रशः धन्यवाद है कि उसने इस चित्र को चतुर चित्रकार द्वारा रोगीपन का दोष दूर कराकर बड़े साइज़ में प्रकाशित किया है। उसकी एकरंग की प्रतिलिपि (असली चित्र के अनुसार) ज्ञानमंडल-कार्य्यालय ने और रंगीन आवृत्ति माधुरी ने प्रकाशित की है। इस चित्र के एक प्रधान दोष पर चित्रकार और सभा ने कुछ ध्यान नहीं दिया, वह दर्शकों के लिये भ्रमोत्पादक हो सकती है। सिर पर शिखा और छोटे छोटे बाल दिखाये गये हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों गोस्वामीजी फूलदार कनटोप दिये हों। गोस्वामीजी वैष्णव थे, वैष्णवों में बहुत काल से यह रीति प्रचलित है कि वे या तो शिखा के अतिरिक्त सिर दाढ़ी और मूँछ के बाल साथ ही बनवाते हैं और रखते हैं तो सब साथ ही, जैसा कि गोस्वामीजी का प्रथम चित्र है। जब दाढ़ी मूँछ में बाल की खूँटिया नहीं हैं तब सिर पर उन्हें दिखाना अयुक्त है और असली चित्र में ऐसा प्रकट भी नहीं होता है। हम लोगों ने प्रवीण चित्रकार द्वारा इस दोष को दूर कराकर रंगीन चित्र प्रकाशित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि संख्या १ और २ के दोनों चित्र गोस्वामी तुलसीदासजी के हैं, उनमें अन्तर केवल अवस्था भेद का है।

(३) तीसरा चित्र ग्रियर्सन साहब ने खड्गविलास प्रेस की रामायण में पहले पहल प्रकाशित कराया था, उसी के आधार पर वह अन्यान्य प्रेसों में भी मुद्रित हुआ है। यह ऊपर के दोनों चित्रों से ठीक मिलता नहीं, इससे कल्पित होने का सन्देह होता है; किन्तु ग्रियर्सन साहब की खोज सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। कदाचित् नब्बे वर्ष की उमर में अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण शरीर स्थूल हो गया हो उस समय का यह चित्र लिया हो इससे मिलान न होता हो।

विद्वानों की सम्मतियाँ

रामचरितमानस की टीका के सम्बन्ध में कतिपय प्रसिद्ध हिन्दी अंगरेज़ी के समाचार पत्रों और विद्वानों की सम्मतियों का सार।

"आज" दैनिक-काशी।

टीका अच्छी हुई है और अपनी कुछ विशेषता भी रखती है। इसमें क्षेपक का नाम नहीं है। इस टीका की भाषा भी बहुत शुद्ध और वर्तमान हिन्दी है। अर्थ सरल रक्खा गया है, क्लिष्टकल्पना या आडम्बर से काम नहीं लिया गया है। अर्थ के साथ अलंकार दिया है जो क़विता प्रेमियों और ऊँचे दर्जे के छात्रों के लिये अधिक उपयोगी है। सारांश यह सटीक रामचरितमानस प्रायः हर तरह से अच्छा है और संग्रह करने योग्य है।

"भारतमित्र" दैनिक-कलकत्ता।

रामचरितमानस के इस सरल अर्थ और टीका का बहुत सा अंश हम देख गये। हमारी सम्मति में यह टीका प्रामाणिक और बहुत उपयुक्त हुई है। टीकाकार ने इस टीका के लिखने में जो परिश्रम किया है वह पूर्ण सफल हुआ है और ऐसी सुन्दर टीका से रामायण के प्रेमियों का उपकार अवश्यम्भावी है। यह सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ लोकादर का पात्र और सर्वथा ग्राह्य है।

"विश्वमित्र" दैनिक-कलकत्ता।

टीका बहुत ही सरल और सुबोध भाषा में बड़ी उत्तमता से की गयी है। उसे पढ़ कर चित्त बड़ा प्रसन्न होता है। टीकाकार को अपने कार्य्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

"लीडर" दैनिक-प्रयाग।

इसमें मूल पाठ उत्तम, हस्तलिखित प्रतियों के मिलान से लिखा गया, क्षेपक रहित और शुद्ध है। इसकी टीका गद्य प्रचलित हिन्दी में इस प्रकार लिखी गयी है कि सामान्य पढ़े लिखे मनुष्य भी सहज में समझ सकते हैं। कथानकों के वर्णन तथा अन्यान्य टीका टिप्पणियों से इसकी उत्तमता और भी बढ़ गयी है। अन्त में रामायण के छन्दों का एक पिंगल और तुलसीदासजी की विस्तृत जीवनी विश्वस्त सूत्रों से अनुसन्धान करके लिखी गयी है। कुछ चित्रों ने पुस्तक का सौन्दर्य्य बढ़ा दिया है। यह पुस्तक हिन्दू समाज में आदर पाने के योग्य है।

"हिन्दुस्तान रिव्यू" पटना।

जहाँ तक हमलोग जानते हैं टीका बहुत सरल है। यह रामायण का संस्करण प्रकाशक के उद्योग को सम्मान प्रदान करनेवाला और ख़ूब प्रचार के योग्य है।

"सरस्वती पत्रिका" प्रयाग।

टीका की भाषा सरल है। मानस-पिंगल इसकी एक विशेषता है। रामायण के प्रेमियों के लिये यह भी संग्रह करने योग्य है।

भूतपूर्व सरस्वती सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की सम्मति ।

रामायण का यह संस्करण बहुत अच्छा निकला । टीका ख़ूब समझ बूझ कर लिखी गयी है । ऐसी कितनी ही बातें इसमें हैं जो अन्य टीकाओं में नहीं पाई जातीं । अनेक जगह मैंने टीका पढ़ी और मुझे पसन्द आई । प्रेस ने उसकी मनोहरता और उपादेयता बढ़ाने में कोई कसर नहीं की है ।

हिन्दी के विद्वान और सुकवि सय्यद अमीरअली की सम्मति ।

इसमें क्षेपक नहीं है, टीका सरल सुबोध हिन्दी में मूल के अनुसार की गयी है । खींचा-तानी और स्वयम् बुद्धिप्रकाश करने का टीकाकार ने न कष्ट उठाया है, न पाठकों के लिये व्यर्थ की उलझन छोड़ी है । शङ्का-समाधान किया है, पर क्लिष्टकल्पना का नाम तक नहीं है । कथान्तरों की टिप्पणियाँ भी लगी हैं । मूलार्थ के पश्चात अलंकार-रस-भाव और ध्वनि का स्पष्टीकरण कर मानो सोने में सुगन्ध भर दी है । अन्त में मानसपिङ्गल लगा दिया है, जो विद्यार्थियों के भी काम का है । गोस्वामीजी का जीवनचरित्र भी खोज के साथ लिखा गया है । साथ ही रंगीन चित्रों के लग जाने से ग्रन्थ की शोभा दूनी हो गयी है । तात्पर्य्य यह कि टीकाकार ने वास्तव में इस टीका के लिखने में सराहनीय परिश्रम किया है ।

भारतमित्र द्वारा एक हिन्दी सेवी की सम्मति ।

यह टीका मैंने ख़ूब ध्यान से पढ़ी है । टीका बहुत ही उपादेय हुई है । भावार्थ थोड़े शब्दों में दिया गया है, जिससे जिज्ञासा को पूर्ण निवृत्ति हो जाती है । क्षेपक का नाम नहीं, मूलपाठ प्राचीन प्रतियों के अनुसार बहुत कुछ शुद्ध है । जितनी विशेषताएँ टीका में होनी चाहिये वह सब इसमें विद्यमान है । माधुरी के सत्यसेवक ने "टीका अच्छी हुई" दबी ज़ुबान से यही कहा, पर आगे चलकर वे मिथ्याकल्पना की ओर न जाने क्यों झुक पड़े । आप लिखते हैं कि इस टीका के लिखने में टीकाकार का दावा है कि हमने कवि के उद्देशानुसार ही अर्थ करने की चेष्टा की है, परन्तु टीकाकार का यह दावा विचारणीय है । ठीक है, विचारिये और बतलाइये कि यह दावा ठीक है या नहीं । शायद आपने उद्देश्य का अर्थ कविकल्पना समझ रक्खा है, क्योंकि उद्देश्य की बात छोड़ एक ही साँस में कवि के उद्गारों के भावों की बात कहने लगते हैं और उद्देश्य की बात ही भूल जाते हैं । मूलपाठ के विषय में टीकाकार पर आक्षेप करना अन्याय है, क्योंकि जिन प्रतियों से पाठ संग्रह किया गया है टीका में सर्वत्र उसका उल्लेख किया गया है । अतः तोड़ मरोड़ की शिकायत व्यर्थ है । हिन्दी प्रेमियों ने इस टीका का उचित सम्मान किया है । इस प्रकार की अवहेलना करने से टीका की उपादेयता में कोई अन्तर नहीं आ सकता और न सत्यसेवकजी की सत्यसेवा का हिन्दी संसार को परिचय ही मिल सकता है ।

इसके अतिरिक्त बहुत से विद्वानों की अनुकूल सम्मतियाँ प्राप्त हुई हैं जिनको स्थानाभाव के कारण हम नहीं प्रकाश कर सके हैं ।

कवि सम्राट तुलसीदासजी।

रामचरितमानस सुकवि, मूर्त्तिमान विश्वास।
ज्ञान शिरोमणि भक्तवर, ये हैं तुलसीदास॥

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

गोस्वामी तुलसीदासजी

का
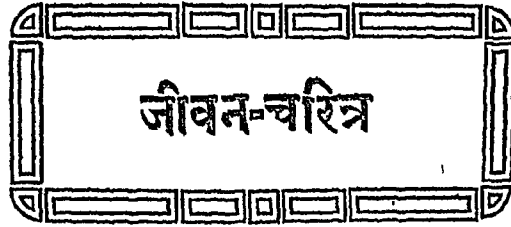
जिस प्रकार भारतवर्ष के पूर्वकालीन आचार्य्य वाल्मीकि, अगस्त्य, कपिल, गौतम, वशिष्ठ और व्यासादि महर्षियों एवम् कालिदास, भव भूति, दण्डी, बाण, माघ आदि महाकवियों ने अपने सुललित काव्यों द्वारा राज-नीति, समाज-नीति, धर्म-नीति और वेदान्त-विज्ञान के विलक्षण चमत्कारों को प्रत्यक्ष कर जन-समाज का अनन्त उपकार किया है, उसी प्रकार मध्यवर्त्ती काल में महात्मा सूरदास, तुलसीदास और गुरु नानकशाह आदि भगवद्भक्तों ने अपनी रसमयी ओजस्वी कविता द्वारा मातृभूमि की अच्छी सेवा की है। उनके प्रसाद-पूर्ण काव्यों से असंख्यों हृदय पवित्र हो चुके और होते जा रहे हैं।

उन महापुरुषों में से आज हम महर्षि-शिरोमणि कवि-सम्राट गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन चरित्र को लिख कर अपनी लेखनी पवित्र करना चाहते हैं महात्माओं के जीवन चरित्रों में प्रायः कुछ न कुछ आश्चर्य्यजनक घटनाएँ अवश्य ही पाई जाती हैं और चरित्र लेखक लोग प्रचलित कथाओं तथा सुनी सुनाई किम्बदन्तियों को भी अपने लेखों में स्थान दे देते हैं। यद्यपि आश्चर्य्य-जनक और अनैसर्गिक घटनाएँ उनकी महिमा को नहीं बढ़ातीं, तो भी उनका उल्लेख करना लेखक-गण अनुचित नहीं मानते। ऐसी दशा में अधिकांश अनुमान ही से काम लिया जाता है। यही बात गोसाँईजी के सम्बन्ध में भी समझिये। इनकी पूर्ण स्वतन्त्र जीवनी अबतक किसी को प्राप्त नहीं हो सकी; कतिपय धुरन्धर हिन्दी लेखकों ने कुछ लिखी लिखाई और सुनी सुनाई बातों के आधार पर, जिस तरह उसे लिखने का प्रयत्न किया है तदनुसार हम भी उन घटनाओं का संग्रह करके इसके सम्पादन का प्रयत्न करेंगे।

भिन्न भिन्न लेखकों के कथनानुसार गोसाँईजी के जन्मकाल, जन्मस्थान, कुल और शिक्षा आदि किसी बात का ठीक निश्चय नहीं होता। कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ। सुना जाता है पसंका ग्राम निवासी बेणीमाधव कवि ने काव्य में गोस्वामीजी की जीवनी विस्तार-पूर्वक लिखा था; किन्तु अब वह मिलती नहीं। नाभाजी ने अपने भक्तमाल में गोस्वामीजी की स्तुति की है। नाभाजी के शिष्य प्रियादासजी ने भक्तमाल की टीका में कुछ विस्तार करके थोड़े चरित्रों का परिचय दिया है। गोस्वामीजी के शिष्य महात्मा रघुबरदासजी ने दोहा चौपाइयों में 'तुलसीचरित' नाम का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा। उसमें उन्होंने गोसाँईजी के विशेष विशेष चरितों का खूब विस्तार से वर्णन किया

है। इस ग्रन्थ के चार खंड हैं और एक लाख तैंतीस हज़ार नौ सौ बासठ छन्दों में पूरा होना कहा जाता है। तुलसीचरित के सम्बन्ध में बाबू शिवनन्दनसहाय ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त कया है—

"हमें ज्ञात हुआ है कि केसरिया-चम्पारन निवासी बाबू इन्द्रदेव नारायण को गोसाँईजी के किसी चेले की एक लाख दोहे चौपाइयों में लिखी हुई गोसाँईजी की जीवनी प्राप्त हुई है। सुनते हैं गोसाँई जी ने पहले उसका प्रचार न होने का शाप दिया था; किन्तु लोगों के अनुनय विनय से शाप-मोचन का समय सम्वत् १९६७ निर्धारित कर दिया। तब तक उसकी रक्षा का भार उसी प्रेत को सौंपा गया, जिसने गोसाँईजी को श्रीहनूमानजी से मिलने का उपाय बताकर श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन की राह दिखाई थी। वह पुस्तक भूटान में किसी ब्राह्मण के घर पड़ी रही। एक मुंशीजी उस (ब्राह्मण) के बालकों के शिक्षक थे। बालकों से उस पुस्तक का पता पाकर उन्होंने उसकी पूरी नक़ल कर डाली। इस गुरुतर अपराध से क्रोधित हो वह ब्राह्मण उनके वध के निमित्त उद्यत हुआ, तो मुंशीजी वहाँ से चम्पत हो गये। वही पुस्तक किसी प्रकार अलवर पहुँची और फिर पूर्वोक्त बाबू साहब के हाथ लगी। विद्वद्वर मिश्र-बन्धुओं के लिखे 'नवरत्न' की समालोचना के समय बाबू इन्द्रदेवनारायण ने 'मर्य्यादा' में कदाचित् इसी ग्रन्थ के दो एक पृष्ठ प्रकाशित किये थे। अभीतक यह पूर्ण जीवनी अथवा इसका कोई विशेष अंश सर्वसाधारण के सन्मुख उपस्थित नहीं किया गया है; जिससे लोगों को इस पर विचार करने का अवसर मिलता।"

काशीनागरीप्रचारिणी—सभा के मंत्री ने रघुबरदास के प्रत्येक सिद्धान्त जो प्रकट हुए हैं अपनी जीवनी में उनका संग्रह किया है और प्रकाशित दोहा चौपाइयों को भी यथातथ्य उद्धृत किया है।

डाक्टर ग्रिअर्सन ने बड़े परिश्रम और खोज के साथ गोस्वामीजी के जीवनचरित्र सम्बन्धी अनेक किम्बदन्तियों का संग्रह किया है और एक चित्र भी प्रकाशित किया है जो वृद्धावस्था का कल्पित जान पड़ता है।

पं० रणछोड़लाल व्यास ने 'तुलसी-जीवनी' लिखा है, उसमें गोस्वामीजी का एक चित्र दिया है। उस चित्र को व्यासजी ने बादशाह जहाँगीर का बनवाया बतलाया है। यह चित्र लगभग ७०-७५ वर्ष की अवस्था का और सद्यःरोगमुक्त हुए अवसर का लिया हुआ मालूम होता है। बादशाह अकबर के बनाये चित्र से यह मिलता है, अन्तर केवल अवस्था का है।

हिन्दी-नवरत्न में मिश्रबन्धुओं ने गोस्वामीजी का जीवनचरित्र लिख कर उनके काव्यों की समालोचना की है और उसके साथ तुलसीदासजी का एक कल्पित चित्र भी प्रकाशित किया है।

अवधवासी लाला सीताराम बी० ए० ने राजापुर में गोस्वामीजी के हाथ की लिखी अयोध्याकाण्ड की प्रति जो अबतक वर्तमान है, उसका प्रतिलिपि छपाई है। उन्हों ने उसमें गोसाईंजी का एक चित्र दिया है, कहा जाता है कि उसको बादशाह अकबर ने अपने चित्रकारों से बनवाया था। इस चित्र के देखने से पैंतीस छत्तीस वर्ष की अवस्था का लिया हुआ अनुमान होता है और उस समयगोस्वामीजी जटाजूटधारी तपश्चर्य्या में अनुरक्त थे। पिछले चित्रों में शिखा के अतिरिक्त जटा, दाढ़ी और मूछ के बालों का पता नहीं है जिससे अनुमान होता है कि तपस्या पूर्ण हो जाने के अनन्तर वे भद्र होते थे।

काशी में नगवा के संकटमोचन का मन्दिर, जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इसको स्वयम् गोसाँईजी ने बनवाया और हनूमानजी की मूर्त्ति प्रतिष्ठित कराया था। उस मन्दिर में गोस्वामीजी का एक चित्र लगभग ७०-७५ वर्ष की अवस्था का लगा है। उसको किसने बनवाया था, इस बात का हमें कोई पता नहीं है। उस चित्र में श्वेत बालों की लम्बी दाढ़ी और केश दिखाये गये है, किन्तु यह चित्र भी कल्पित ही जान पड़ता है।

गोस्वामीजी के जीवनचरित सम्बन्धी जिन जिन घटनाओं का महात्मा रघुवरदासजी ने उल्लेख किया है वे दूसरे ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। इसमें सन्देह नहीं कि औरों की अपेक्षा रघुवरदासजी की बातें अधिक प्रमाणिक हैं; क्योंकि वे गोस्वामीजी के शिष्य और उनके समकालीन तथा चरित्र से पूर्ण अभिज्ञ थे। उन्होंने 'तुलसी चरित' में लिखा है कि सरवार देश के कसेयाँ ग्राम में गोस्वामीजी के परपितामह परशुराम मिश्र का जन्म हुआ था। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिये निकले और घूमते घामते चित्रकूट आये। वहाँ हनुमानजी ने स्वप्न में उन्हें आदेश दिया कि तुम इस प्रान्त में निवास करो तो तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक विश्व विख्यात तपोराशि महापुरुष का जन्म होगा। इस स्वप्ना-देश के अनुसार परशुरामजी ने उस प्रान्त के राजा के समीप जाकर निवेदन किया, उसने सब हाल सुन कर उन्हें सम्मानपूर्वक राजापुर में बसने के लिये स्थान दिया और वे गृह निर्माण कराकर सप-त्नीक वहाँ रहने लगे। अनन्तर बहुत से मारवाड़ी उनके शिष्य हुए। उन शिष्यों द्वारा उन्हें विपुल धरती, धन और ऐश्वर्य्य का लाभ हुआ। अन्त समय उन्होंने काशीपुरी में जा शरीर त्याग किया।

परशुराम मिश्र के पुत्र शंकर मिश्र अच्छे विद्वान् और बड़े प्रतापी हुए। कहते हैं, उनको वाक-सिद्धि का वर प्राप्त था। राजा और राज्यवर्ग के सभी मनुष्य उनके शिष्य हो गये। राजा से इन्हें बहुत भूमि मिली और अन्यान्य शिष्यों से भी अनन्त धन-धान्य की प्राप्ति हुई। इनके दूसरे विवाह से सन्त मिश्र तथा रुद्रनाथ मिश्र दो पुत्र हुए। रुद्रनाथ के चार पुत्र हुए, उनमें जेठे पुत्र का नाम मुरारी मिश्र था, इन्हीं सौभाग्य मूर्त्ति महाराज मुरारी मिश्र के तुलसीदासजी पुत्र हैं। मुरारी मिश्र के चार बेटे हुए—गणपति, महेश, तुलाराम और मङ्गल। तुलाराम ही भक्तचूड़ामणि कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदासजी हैं।

जन्म-काल।

जन्मसमय के सम्बन्ध में कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ। इतना अधिक मत-भेद है कि निश्चयपूर्वक किसी एक काल को प्रधानता देने में कठिनता अवश्य है। बाबू इन्द्रदेव नारायण ने सम्वत् १५५४ जन्मकाल लिखा है। शिवसिंहसरोज में सम्वत् १५८३ और पंडित रामगुलाम द्विवेदी ने सम्वत् १५८९ विक्रमाब्द का उल्लेख किया है। ग्रिअर्सन साहब और मिश्रबन्धु आदि अधिकांश विद्वानों ने सम्वत् १५८९ को ही जन्म-काल माना है। प्रथम के अनुसार १२७ वर्ष, दूसरे के अनुसार ९७ वर्ष और तीसरे के अनुसार ९१ वर्ष की आयु गोस्वमीजी की मानी जाती है।

जन्मस्थान।

जिस प्रकार जन्मकाल के सम्बन्ध में मतभेद है, उसी तरह जन्मस्थान के निर्णय में भी बहुमत है। कोई राजापुर को, कोई तारी को और कोई हाजीपुर को प्रधानता देते हैं। यद्यपि राजापुर

में गोसाँईजी की कुटी थी और कुछ ही दिन हुए उक्त स्थान पर उनके स्मारक के लिये एक विशाल मन्दिर चन्दे से निर्माण हुआ है। उस मन्दिर में गोसाँईजी के हाथ का लिखा अयोध्याकांड अबतक विद्यमान है, तो भी वहाँ के कुछ वृद्ध अनुभवी मनुष्य कहते हैं कि यह गोस्वामीजी का जन्मस्थान नहीं है वरन् विरक्त होने पर वे यहाँ कुछ दिन रहे थे और प्रायः आया करते थे। कहते हैं कि गोसाँईजी के हाथ का लिखा रामचरितमानस सातोकाण्ड यहाँ था। किसी दुष्ट ने उसे चुरा लिया। जब उसका पीछा किया गया, तब उसने पुस्तक को यमुना नदी में फेंक दिया। बड़ी खोज से वह जल के बाहर निकाली गयी। उसके छे काण्ड तो गल गये, केवल अयोध्याकाण्ड कुछ पढ़ने योग्य बच गया। उसके पृष्ठों पर पानी के धब्बे अबतक वर्तमान हैं और कहीं कहीं अक्षरों की ऐसी लीपापोती हो गयी है कि वे बड़ी कठिनता से पढ़े जाते हैं।

जाति।

जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कोई कान्यकुब्ज और कोई सरयूपारीण कहता है। भक्तकल्पद्रुम के कर्त्ता राजा रामप्रताप और मिश्रबन्धुओं ने कान्यकुब्ज माना है। पंडित रामगुलाम द्विवेदी, ठाकुर शिवसिंह और डाक्टर ग्रिअर्सन आदि ने तो पाराशर गोत्र के सरयूपारी दूबे कहा है। काशीनागरी-प्रचारिणी सभा के सदस्यों और महात्मा रघुवरदास ने भी सरयूपारीण ही वर्णन किया है। अन्तर केवल इतना है कि रघुवरदास ने दूबे नहीं, मिश्र कहा है। अधिक मत सरयूपारीण ही की ओर है, इससे यही प्रमाणिक प्रतीत होता है।

माता और पिता।

माता पिता का नाम भी मतभेद से खाली नहीं है। कुछ लोग इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी कहते हैं। माता का नाम बहुत सम्भव है कि यही रहा हो; क्योंकि रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने लिखा है—"तुलसिदास हित हिय हुलसी सी" इसी आधार पर बहुतों का अनुमान है कि माता का नाम हुलसी था। परन्तु अपने किसी ग्रन्थ में गोसाँईजी ने पिता का नाम प्रत्यक्ष वा संकेत द्वारा कहीं भी प्रकट नहीं किया है। जिन जिन लेखकों ने सुनी सुनाई बातों के आधार पर आत्माराम दूबे उनके पिता का नाम कहा है, उनके समक्ष महात्मा रघुवरदास का कथन विशेष विश्वास के योग्य है। तुलसीचरित में उन्होंने गोस्वमीजी के पिता का नाम मुरारीमिश्र लिखा है, इसलिये आत्माराम दूबे उनके पिता का नाम नहीं था।

विनयपत्रिका में गोसाँईजी ने अपने माता-पिता के सम्बन्ध में लिखा है कि—जननि जनक तजे जनमि करम बिनु, बिधि सिरजेउ अवडेरे। पुनः—त्वच तजत कुटिलकीट ज्यों, तज्यो मातु-पिताहूँ" इसी प्रकार कवित्त रामायण में लिखते हैं—"मातु पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लिख्यो कछु भाग भलाई। पुनः—बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन, जानत हौं चारि फल चारि चनक को।" इत्यादि पदों के आधार पर बहुतेरे विद्वान तर्क बल से तरह तरह के निष्कर्ष निकालते हैं कि इनके माता-पिता अत्यन्त गरीब थे। किसी का यह भी कहना है कि अभुक्तमूल में उत्पन्न होने के कारण जन्मते ही माता-पिता ने उन्हें फेंक दिया और किसी साधु ने लेजाकर पालन पोषण किया। परन्तु ये बातें असंगत सी जान पड़ती हैं, इस सम्बन्ध में मेरा तो यह अनुमान है कि इस तरह की बातें गोस्वामीजी ने केवल दैन्यभाव दर्शाने के लिये कहा है। उनका यह कथन वैसा ही जान पड़ता है जिस प्रकार रामचरितमानस में उन्हों ने शपथपूर्वक अपने को काव्यगुण से अनभिज्ञ कहा है कि—

"कवित विवेक एक नहिँ मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे" तो क्या इससे यह मान लेने योग्य है कि ये काव्य के ज्ञान से रहित थे ?

यदि 'जननि जनक तज्यो' का तात्पर्य्य यही मान लिया जाय कि बचपन ही में माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था तो अनुमान यह कहता है कि बाल्यावस्था ही में माता-पिता स्वर्गवासी हुए होंगे। आश्रयहीन होने से गोसाँईजी साधुमंडली में रहने लगे। हनुमानबाहुक के—"बालपने सूधमन राम सनमुख भयो, रामनाम लेत माँगि खात टूकटाक हौं। पर्यो लोक-रीति में पुनीत प्रीति रामराय, मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥ खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो, अञ्जनीकुमार सोध्यो रामपानि पाक हौं। तुलसी गोसाँई भयो भोंड़े दिन भूलि गयो, ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥४०॥" इस कवित्त के अनुसार सम्भव है कि विवाह कर गृहस्थाश्रमी हो फिर लोक व्यवहार में फँस गये हों और स्त्री के उपदेश से विरक्त होकर पुनः हरिभजन में लीन हुए हों। इस अनुमान से बातों की लड़ी कुछ मिल जाती है; परन्तु रघुबरदास ने इनके पिता को खूब धनी लिखा है और यह भी कहा है कि उन्होंने गोसाँईजी का तीसरा विवाह ६०००) तिलक लेकर किया था। ऐसी दशा में बाल्यकाल में माता-पिता के त्यागने की बात मिथ्या सिद्ध होती है।

विवाह और वैराग्य।

गोसाँईजी का प्रथम विवाह दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। उसके गर्भ से तारक नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ जो बचपन ही में परलोकगामी हो गया और वह स्त्री भी मर गयी। दूसरे विवाह की पत्नी गत हो जाने पर तीसरा विवाह कञ्चनपुर निवासी लछमन उपाध्याय की कन्या बुद्धिमती के साथ हुआ। यह स्त्री अत्यन्त रूपवती और विदुषी थी। गोसाँईजी उस पर बड़ा प्रेम रखते थे। एक दिन किसी कार्य से ये पास के दूसरे ग्राम में गये थे और बुद्धिमती अपने पिता के घर चली गयी। जब ये घर आये और सुना कि वह पिता के घर गयी है तब पत्नी-वियोग से अधीर हो उस अँधेरी रात में श्वसुर के र जा पहुँचे। इनका आगमन सुन कर स्त्री मन में भयभीत हुई और आश्चर्य्य से कहा—नाथ! आप का जितना प्रेम मेरे अस्थि चर्ममय शरीर से है यदि वैसो प्रीति रघुनाथजी में होती तो संसार छूट जाता। स्त्री की बात गोसाँईजी के लिये जादू का काम कर गयी। उनके हृदय से अज्ञानान्धकार दूर हो कर वैराग्य-सूर्य्य का उदय हो आया। तुरन्त वहाँ से चल पड़े और काशीपुरी में आकर हरिस्मरण करने लगे।

तपस्या और प्रेत का सम्भाषण।

बाबा रामायण शरण से सुनने में आया था कि गोसाँईजी ने प्रथमवार पचासी करोड़ राम-नाम जपने का संकल्प कर उसे पूर्ण किया। वे प्रतिदिन शौच के लिये गङ्गा पार जाया करते थे। शौच के अनन्तर लोटे में जो जल बचता वह स्वभावतः एक वृक्ष की जड़ में डाल दिया करते थे। उस वृक्ष में बहुत काल से एक प्रेत निवास करता था, वह एक दिन प्रसन्न होकर बोला कि आपने जल से मुझे खूब ही तृप्त किया है इसके बदले में मुझसे माँगने योग्य जो वस्तु हो माँगिये, मैं उसे देने को तैयार हूँ। गोस्वामीजी ने कहा—मुझे और कुछ न चाहिये रघुनाथजी के दर्शन करा दो। यह सुन कर प्रेत बोला कि यद्यपि यह बात मेरी शक्ति से बाहर है, तो भी एक उपाय मैं बतलाता हूँ। यदि

उसके अनुसार आप उद्योग करेंगे तो बहुत सम्भव है कि दर्शन हो जायगा। अमुक स्थान में प्रतिदिन रामायण की कथा होती है, वहाँ हनुमानजी आते हैं। वे कोढ़ी के घिनावने रूप में सब से पहले आते हैं और पीछे जाते हैं तथा सब से दूर बैठ कर कथा श्रवण करते हैं। आप उनसे परिचय करके प्रार्थना कीजिये तो उनकी कृपा से कामना पूर्ण हो सकती है। गोस्वामीजी पूर्व ही से हनुमानजी को अपना इष्टदेव और सहायक मानते थे। प्रेत के द्वारा उनका पता पाकर उन्हें अपार आनन्द हुआ।

हनूमानजी का मिलना।

प्रेत के आदेशानुसार ठीक समय पर गोसाँईजी कथा स्थान में गये। वहाँ देखा कि एक कुष्टी मनुष्य सब से पीछे दूर बैठा है। जब कथा समाप्त हुई और सब श्रोता क्रमशः विदा हो गये, तब कोढ़ी रूपधारी हनूमानजी भी चले। उनके पीछे चुपचाप गोस्वामीजी हो लिये। एकान्त में पहुँचने पर गोसाँईजी ने पवननन्दन के पाँव पकड़ लिये और बिनती करने लगे। हनूमानजी ने भुलावा देकर बार बार उनसे पैर छुड़ाने की चेष्टा की, परन्तु जब देखा कि इससे छुटकारा न होगा, तब प्रत्यक्ष होकर बोले कि तुम क्या चाहते हो? गोसाँईजी ने कहा—स्वामिन्! मुझे रघुनाथजी के दर्शन करा दीजिये। पवनकुमार ने आज्ञा दी कि, चित्रकूट चलो वहाँ तुमको रघुनाथजी के दर्शन होंगे।

चित्रकूट में रामदर्शन।

हनूमानजी के आदेशानुसार गोसाँईजी चित्रकूट आये। एक दिन स्वाभावतः वन में विचरण कर रहे थे। वहाँ देखा कि श्यामल-गौर वर्ण दो राजकुमार घोड़े पर सवार हाथ में धनुष-बाण धारण कर एक हरिण का पीछा किये घोड़ा दौड़ाये चले जा रहे हैं। उन राजकुमारों की अनुपम छवि देख गोस्वामीजी का मन मोहित हो गया, किन्तु वे यह नहीं जान सके कि रामचन्द्र और लक्ष्मण यही हैं। पीछे हनूमानजी ने आकर कहा कि दोनों राजकुमार जो वन में तुम्हें दिखाई दिये हैं श्यामल रामचन्द्रजी और गौर लषणलाल थे। तुम धन्य हो जो स्वामी का दर्शन पा गये। यह सुन कर गोसाँईजी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

प्रियादास और भक्त कल्पद्रुम के लेखक ने इसी प्रकार दर्शन होना वर्णन किया है; किन्तु ग्रियर्सन साहब ने दूसरे ही प्रकार से उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि एक बार गोस्वामीजी बस्ती के बाहर जा रहे थे, वहाँ देखा कि रामलीला हो रही है। लङ्का जीत कर राम, लक्ष्मण, सीताजी विभीषण-सुग्रीवादि के सहित अयोध्या को प्रस्थान कर रहे हैं। लीला समाप्त हो जाने पर गोसाँईजी बस्ती की ओर चले। रास्ते में ब्राह्मण के वेश में हनूमानजी मिले। गोस्वामीजी ने उनसे कहा यहाँ बहुत अच्छी रामलीला होती है। ब्राह्मण ने कहा-तुम पागल हुए हो, आश्विन कार्त्तिक मास के सिवा कहीं आज कल भी रामलीला होती है। उस ब्राह्मण को साथ लिये गोसाँईजी लीला का स्थान दिखाने चले। वहाँ पहुँचने पर किसी प्रकार का चिह्न वा कोई मनुष्य नहीं दिखाई पड़ा। गोस्वामीजी लज्जित हुए और अपनी भूल पर उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ, सोचते विचारते अपनी कुटी पर लौट आये। कुछ खाया पिया नहीं और मन में अत्यन्त दुखी हो रोते ही रोते सो गये। स्वप्न में दर्शन देकर हनूमानजी ने कहा—पछताओ मत। कलियुग में किसी को प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, तुम बड़े ही भाग्यशाली हो जो भगवान के दर्शन हुए; शोक त्याग कर भगवान रामचंद्रजी का सानन्द भजन करो। इससे गोस्वामीजी को परम सन्तोष हुआ।

किसी किसी के मुख से यह भी किम्वदन्ती सुनने में आई है कि हनूमानजी ने कहा कि तुम चन्दन घिस कर रामघाट मन्दाकिनी के तट पर बैठ जाओ और जितने सन्त महात्मा स्नान के लिये

आवें और तुमसे चन्दन के लिये कहें उनके मस्तक पर तिलक लगा दिया करो तो उनमें रघुनाथजी भी आवेंगे और तुमसे चन्दन लगवावेंगे। गोस्वामीजी चन्दन लेकर रामघाट पर बैठ गये और रघुनाथजी ने यात्री के रूप में तिलक लगवाये, किन्तु गोस्वामीजी उन्हें पहचान नहीं सके। जब पीछे हनूमानजी ने परिचय दिया, तब ज्ञात हुआ कि रघुनाथजी तिलक लगवा गये। उसी समय यह दोहा कहा—

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन्ह की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसत, तिलक देत रघुबीर॥

रामदर्शन होने के अनन्तर गोसाँईजी ने काशी की ओर प्रस्थान किया।

दैवयोग से पत्नी-मिलाप।

अँधेरा हो जाने पर कञ्चनपुर गाँव में पहुँचे और श्वसुर के दरवाजे पर ठहर गये, किन्तु रात्रि में उन्हें इस बात का निश्चय नहीं हुआ कि मैं श्वसुर के घर टिक रहा हूँ। गोस्वामीजी की स्त्री भी वृद्धा हो चली थीं। द्वार पर महात्मा को देख अतिथि-सेवा के नाते उसने धरती साफ कर चौका लगा दिया और भोजनादि की सामग्री ले आई। अनन्तर पूछताछ करने से उसको मालूम हो गया कि मेरे स्वामी यही हैं। प्रातःकाल शौचस्नान से निवृत हो जब गोस्वामीजी पूजा करने लगे तब स्त्री ने कहा—महाराज? कपूर वसाँग आदि पूजन का सामान ले आऊँ? तुलसीदासजी ने कहा—यह सब हमारी झोली में है, ले आने की आवश्यकता नहीं। यह सुन कर स्त्री ने अपना परिचय देकर कहा—स्वामिन्! सेवा के लिये मुझे साथ चलने की आज्ञा दीजिये, किन्तु गोसाँईजी ने स्त्री की यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी। इस पर उसने कहा—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलिकै, अचल करहु अनुराग॥

यह सुन कर गोस्वामीजी के मन में बड़ा सकोच हुआ और प्रसन्नता-पूर्वक झोली की सब चीज़ ब्राह्मणों को बाँट दी और वहाँ से चल कर काशी आये।

काशी में वासस्थान।

गृह त्याग कर विरक्त होने पर गोसाँईजी चित्रकूट, अयोध्या और काशीपुरी में अधिकांश निवास करते थे। चित्रकूट में पर्णकुटी के समीप उनकी गुफा अबतक वर्तमान है और अयोध्यापुरी में मनीराम की छावनी के अन्तर्गत उनके ठहरने का स्थान कहा जाता है। काशी में उन्होंने अधिक काल पर्य्यन्त निवास किया था और पाँच स्थान उनके प्रसिद्ध हैं। (१) हनुमानफाटक, (२) प्रह्लादघाट, (३) सङ्कटमोचन, (४) गोपालमन्दिर, (५) अस्सीघाट।

(१)—पहले हनुमानफाटक में कुछ दिन रहे थे, परन्तु मुसलमानों के उपद्रव से उन्हें वह स्थान त्याग देना पड़ा।

(२)—प्रह्लादघाट पर पं० गङ्गाराम ज्योतिषी के घर ठहरते थे। कहा जाता है कि पं० गङ्गाराम गहरवार क्षत्रिय राजघाट के राजा (जो वर्तमान में कोट रूप हो गया है) के ज्योतिषी थे। वे बड़े ही सज्जन और तुलसीदासजी के भक्त थे। गोस्वामीजी उन पर स्नेह रखते थे। रामाज्ञा-प्रश्नावली में प्रथम सर्ग के अन्त में उन्होंने श्लेष से गङ्गाराम का नाम लिया है। यथा—

"दो०—सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर, गो गन गङ्गाराम॥"

इससे प्रकट होता है कि पं० गङ्गाराम गोसाँईजी के प्रीति भाजन थे। एक दिन राजघाट के राजा का कुमार वन में शिकार खेलने गया और नौकरों ने आकर राजा को खबर दी कि कुमार को शेर खा गया। दरबार में उस समय पं० गङ्गाराम विद्यमान थे, राजा ने शोक-सन्तप्त हृदय से प्रश्न किया। पं० गङ्गाराम ने कहा—घबराने की कोई बात नहीं, कुमार जीवित हैं। यह कहना ज्योतिषीजी के लिये विष हो गया। राजा ने आज्ञा दी कि यदि आप का उत्तर सत्य होगा और कुमार सकुशल कल्ह सन्ध्या तक आजाँयगे तो इस ख़ुशी के बदले तुम्हें एक लाख मुद्रा पुरस्कार दिया जायगा। कदाचित कुमार मृतक हो गये होंगे तो इस मिथ्या प्रश्नोत्तर के कारण तुम अवश्य ही तोप से उड़वा दिये जाओगे। गङ्गाराम राजा को बहुत आश्वासन देकर घर आये और बड़े दुःख के साथ सारा वृत्तान्त गोस्वामीजी से निवेदन किया। गोस्वामीजी ने तत्क्षण रामशलाका (प्रश्नावली) बनायी और उससे प्रश्न निकाल कर कहा—घबराओ मत, कल्ह ठीक समय पर कुमार आ जायगा। वैसा ही हुआ, दूसरे दिन राजकुमार आ गया। राजा ने प्रसन्न होकर पं० गङ्गाराम को एक लक्ष मुद्रा पुरस्कार में दिया। गङ्गाराम ने सब रुपया गोसाँईजी के चरणों में अर्पण किया, उसमें बारह हज़ार रुपया बहुत आग्रह करने पर उन्होंने स्वीकार किया और शेष गङ्गाराम को अपने गृहकार्य्य में लगाने की आज्ञा दी। कहा जाता है कि उन रुपयों से काशी में गोसाँईजी ने भिन्न भिन्न स्थानों में हनूमानजी के बारह मन्दिर बनवाये।

(३)—सङ्कटमोचन लगवा पर एक मन्दिर बनवा कर उसमें हनूमानजी की मूर्ति की स्थापना करवायी। कहते हैं यह मन्दिर उन्हीं बारहों में से एक है

(४)—गोपालमन्दिर में श्रीमुकुन्दरायजी के बाड़ा में दक्षिण-पश्चिम के कोण पर एक कोठरी है। उसमें गोसाँईजी रहते थे, वह कोठरी अब सदा बन्द रहती है केवल श्रावण शुक्ल, ७ को खुलती है। उस दिन लोग वहाँ जाकर दर्शन और पूजन करते हैं। उक्ततिथि के अतिरिक्त बारहों महीने में झरोखे से दर्शन होता है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि विनयपत्रिका इसी स्थान में गोस्वामीजी ने लिखी थी। यहाँ भी जब वल्लभकुलवालों ने उनसे व्यर्थ का द्वेष किया, तब वे इस स्थान को त्याग अस्सीघाट पर चले गये और अन्त तक वहीं रहे।

(५)—अस्सी पर तुलसीदासजी का घाट प्रसिद्ध है। यहाँ भी उन्होंने हनूमानजी की मूर्त्ति स्थापित की है। मन्दिर के बाहर एक बीसायन्त्र लिखा है जो अब पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाँईजी की एक गुफा है। इस स्थान में उन्होंने रामलीला करानी आरम्भ की जो अबतक होती है और तुलसीदास की रामलीला के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं रामलीला के अतिरिक्त यहाँ वे कृष्णलीला भी करवाते थे। कार्तिक वदी ५ को 'कालियदमनलीला' अस्सी घाट पर अबतक अच्छी रीति से होती है।

गुरु का नाम।

तुलसीचरित में रघुवरदास ने गोस्वामीजी के गुरु का नाम 'श्रीरामदास' लिखा है; परन्तु अधिकांश लोगों की सम्मति है कि इनके गुरु 'श्रीनरहरिदासजी' थे। रामचरितमानस के आदि में "कृपासिन्धु नर रूप हरि" का लोग नरहरि अर्थ करते हैं। सम्भव है कि एक विद्यागुरु रहे हों और

दूसरे दीक्षागुरु। डाक्टर ग्रिअर्सन ने इनकी गुरु-परम्परा की खोज करके एक सूची प्रकाशित की है। तुलसीजीवनी और सभा की प्रति में उसका यथातथ्य उल्लेख है। वह इस प्रकार है—

१ श्रीमन्नारायण	१५ श्रीलोकाचार्य	२९ श्रीपूर्णानन्द
२ श्रीलक्ष्मी	१६ श्रीपाराशराचार्य	३० श्रीहर्यानन्द
३ श्रीधर मुनि	१७ श्रीवाकाचार्य	३१ श्रीश्रय्यानन्द
४ श्रीसेनापतिमुनि	१८ श्रीलोकाचार्य	३२ श्रीहरिवर्यानन्द
५ श्रीकारिसुनु मुनि	१९ श्रीदेवाधिपाचार्य	३३ श्रीराघवानन्द
६ श्रीसैन्यनाथ मुनि	२० श्रीशैलेशाचार्य	३४ श्रीरामानन्द
७ श्रीनाथ मुनि	२१ श्रीपुरुषोत्तमाचार्य	३५ श्रीसुरसुरानन्द
८ श्रीपुण्डरीक	२२ श्रीगङ्गाधरानन्द	३६ श्रीमाधवानन्द
९ श्रीराम मिश्र	२३ श्रीरामेश्वरानन्द	३७ श्रीगरीबानन्द
१० श्रीपाराङ्कुश	२४ श्रीद्वारानन्द	३८ श्रीलक्ष्मीदासजी
११ श्रीयामुनाचार्य	२५ श्रीदेवानन्द	३९ श्रीगोपालदासजी
१२ श्रीरामानुज स्वामी	२६ श्रीश्यामानन्द	४० श्रीनरहरिदासजी
१३ श्रीशठकोपाचार्य	२७ श्रीश्रुतानन्द	४१ श्रीतुलसीदासजी
१४ श्रीकूरेशाचार्य	२८ श्रीनित्यानन्द	

चोरों का उपद्रव।

कहा जाता है कि एक दिन चार चोर रात में चोरी करने की इच्छा से गोसाँईजी के स्थान में आये। उन चोरों को दिखाई दिया कि एक श्यामल भीमकाय मनुष्य हाथ में धनुष-बाण लिये खड़ा है। वे सब डर कर लौट गये। इसी तरह दूसरे दिन आये तो देखा कि वही मनुष्य पहरा दे रहा है। चोरों ने दूसरे दिन सवेरे गोसाँईजी के पास जा सब भेद प्रकट करके पूछा—महाराज! रात में वह पहरा देनेवाला श्यामल मनुष्य कौन है? सुनते ही गोस्वामीजी समझ गये कि मेरी इस तुच्छ वस्तुओं की रखवाली के निमित्त स्वामी को इतना बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। जितनी मूल्यवान सामग्रियाँ उनके पास थीं सब ब्राह्मणों को दे दी। मन में सोचा कि न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। यह लीला देख चोरों को महान् आश्चर्य हुआ और अपनी करनी पर पश्चात्ताप करने लगे। अन्त को वे भी दुराचार से छूट कर परम त्यागी हो गये और हरिभक्ति में लीन होकर समय बिताने लगे।

मुर्दे को जीवित करना।

एक बार गोसाईंजी गंगा स्नान करके कुटी की ओर आ रहे थे कि राह में एक स्त्री ने अत्यन्त दीन भाव से धरती पर अपना मस्तक रख उन्हें दंडवत प्रणाम किया। उन्होंने कहा 'सौभाग्यवती' रह। उस स्त्री ने कहा—महाराज! मेरे पतिदेव स्वर्गगामी हो गये, मैं उनके शव के साथ सती होने के लिये जा रही हूँ। अब मुझे सोहाग कहाँ? पर आपका आशीर्वाद झूठा नहीं हो सकता, यह कहते हुए करुणा से वह आँसू बहाने लगी। गोस्वामीजी के हृदय में दया का स्रोत उमड़ आया, वे तुरन्त शव के समीप गये। अपने कमण्डलु का जल उस मुर्दे पर छिड़क कर बोले— बेटा! रामनाम उच्चारण कर, व्यर्थ ही क्यों सो रहा है? कहते हैं वह मृतक जीवित होकर उठ बैठा। जब यह खबर लोगों में फैली, तब झुंड के झुंड मनुष्य दर्शनार्थ आने लगे। इस भीड़ भाड़ से भजन

में विघ्न पड़ते देख गोसाँईजी गुफा बनाकर उसमें रहने लगे, दिन में एक बार बाहर निकल कर सबको दर्शन दे दिया करते थे। कहते हैं तीन बालक प्रति दिन समय पर गोस्वामीजी का दर्शन करने आया करते थे। एक दिन समय बीत गया और वे गुफा से बाहर नहीं निकले। लोगों को निराशा उत्पन्न हुई कि आज गोसाँईजी गुफा के बाहर न निकलेंगे अतएव दर्शन न होगा। सब अपने अपने घर को चलना ही चाहते थे कि इतने में वे तीनों बालक मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े। उनके मूर्छित होने से बड़ा हल्ला हुआ और उसे सुन गोसाँईजी गुफा से बाहर निकल आये। उन बालकों को चरणामृत देकर सचेत किया। सब लोग बालकों के प्रेम की प्रशंसा करते हुए अपने अपने स्थान को लौट गये।

बादशाह की कैद।

मुर्दा जिलाने की ख़बर बादशाह जहाँगीर के कान तक पहुँची। उसने गोस्वामीजी को दिल्ली में बुलवा भेजा और कहा कि-सुना जाता है आपने मुर्दे को जिला दिया है। कृपा कर मुझे अपनी कोई करामात दिखाइये। गोसाँईजी ने कहा—वह राम नाम की महिमा है; किन्तु मैं कोई करामात नहीं जानता। इस उत्तर से बादशाह को सन्तोष नहीं हुआ, उसने सोचा कि यह अपने को छिपाता है। अप्रसन्न होकर दिल्लीश्वर ने उन्हें जेलखाने में बन्द करवा दिया। तब गोस्वामीजी ने हनूमानजी की वन्दना आरम्भ की और ऐसी करुणा भरी वाणी से निवेदन किया कि हनूमानजी कारागार में प्रकट हो दर्शन दिये। उन्हें रात्रि में धीरज धारण करने का आदेश किया। सवेरा होते ही सारी दिल्ली में वानरी सेना से आतङ्क छा गया। शाही महल से लेकर कंगाल की झोपड़ी पर्यन्त ऐसा कोई भी स्थान नहीं बच रहा कि जहाँ उद्धत बन्दरों का उपद्रव न मच गया हो। कोई बचाव न देख बादशाह घबराया, वह मन में ताड़ गया कि यह उसी फ़क़ीर की करामात है। स्वयम् जेलखाने में दौड़ा आया और पाँव पड़कर क्षमा के लिये प्रार्थना की। उसकी विनती से प्रसन्न हो गोसाँईजी ने दो पद्य निर्माण कर पवनकुमार से क्षमा करने के लिये विनय किया। गोस्वामीजी ने बादशाह को दूसरी दिल्ली बसाकर वहाँ राजधानी बनाने का आदेश दिया। बादशाह ने वैसाही किया, फिर तो वह गोस्वामीजी पर बड़ा स्नेह रखता और अत्यन्त पूज्यदृष्टि से उन्हें देखने लगा। एक बार गोसाँई जी को रोगग्रस्त होना सुनकर वह उनसे मिलने काशीजी आया था। हमारी अनुवादित विनय-पत्रिका जो इसी प्रेस में छपी है, उसमें ३२ से ३५ वें पद्य पर्यन्त पढ़ जाइये। वहाँ इसका विस्तृत वर्णन है।

वृन्दावन की यात्रा।

एक बार तीर्थाटन के निमित्त प्रस्थान कर गोसाईं जी अयोध्या से वराहक्षेत्र होते हुए नैमिषारण्य में आये। वहाँ से चल कर कुछ दिन पसका और सिवार गाँव में निवास किया। फिर लखनऊ आये और एक निरक्षर जाट पर प्रसन्न हो उसे आशीर्वाद देकर श्रेष्ठ कवि बना दिया। मड़िआउँ ग्राम में सींधम नामक एक भक्त रहते थे, उनके बनाये नखशिख को सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। चनहट गाँव से होते हुए मार्ग में एक कुएँ का जल पान किया और उसके गुणों की प्रशंसा की। मलिहाबाद में आकर ठहरगये, यहाँ एक भाट बड़े हरिभक्त और रामयश के प्रेमी रहते थे। कहते हैं गोस्वामीजी ने अपने हाथ की लिखी रामायण उन्हें दी जो अबतक विद्यमान है। इस पुस्तक के विषय में मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी-नवरत्न में' लिखा है कि—"यह रामायण वहाँ के महन्त जनार्दन दासजी के पास अद्यावधि वर्तमान है। इस पुस्तक को एक बार लगभग आध घंटे तक हमने भी देखा; परन्तु हमको इसके गोस्वामीजी के लिखित होने में सन्देह है। इनकी लिखी हुई अयोध्याकाण्ड

अबतक राजापुर में गोस्वामीजी की कुटी पर वर्तमान है। उसके अक्षरों का फ़ोटो हमने देखा है। इन अक्षरों से मलिहाबादवाली पुस्तक के अक्षर नहीं मिलते और केवल आध ही घंटा में ढूँढ़ने पर हमें उसमें गङ्गा उत्पत्ति की कथावाला क्षेपक भी मिला।" मलिहाबाद से चल कर प्रभाती में स्नान करके वाल्मीकिजी के आश्रम में गये। फिर वहाँ से चल कर रसूलाबाद के पास कोटरा गाँव में अनन्यमाधवदास से मिले, वहाँ से सण्डोला होते हुए वृन्दावन आये।

उस दिन नाभाजी के यहाँ वैष्णवों का भण्डारा था। यह सुन कर गोसाँईजी बिना बुलाये ही वहाँ चले गये। उस समय पङ्गति बैठ चुकी थी और सब के सामने पत्तल पर सुआर लोग प्रसाद परस रहे थे। गोस्वामीजी को किसी ने नहीं पहचाना, ये बाहर ही खड़े रहे। जब परसने वाले सामने आये, तब इन्होंने एक साधु का जूता हाथ से उठा कर उसी में अपने वास्ते खीर डाल देने के लिये कहा। इनके वेश और तेज को देख लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और परसनेवाले ठिठक गये। तब गोस्वामीजी ने यह दोहा कहा—

तुलसी जाके मुखन्ह तें, धोखेउ निकरत राम।
ताके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम॥

नाम सुनते ही नाभाजी ने दौड़ कर उन्हे गले लगा लिया और बड़े आदर के साथ ले जाकर सुन्दर आसन पर बैठाया। नाभाजी ने कहा कि आज हमें सन्तों के सुमेरु मिल गये। सम्मानपूर्वक भोजन कराया। प्रियादासजी और न्यूनाधिक रूप में प्रायः सभी लेखकों ने इस बात का जिक्र किया है कि किसी मन्दिर में कृष्णमूर्ति को गोसाँईजी ने राममूर्ति कह कर दंडवत किया और वह मूर्त्ति वास्तव में धनुष-बाणधारी हो गयी। परन्तु यह बात कहाँ तक ठीक है कुछ नहीं कहा जा सकता। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान में गोस्वामीजी का प्रेम था, उन्होंने कृष्ण गीतावली बनाया है और कृष्णलीला करवाते थे। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि ऐसा उन्होंने किस कारण से किया था।

मीराबाई का पत्र।×

मेवाड़ के राजकुमार भोजराज की पत्नी मीराबाई भगवद्भक्ति परायणा थी। उनका समय अधिकांश सत्संग ही में व्यतीत होता था और वे सदा हरि-कीर्त्तन में अनुरक्त रहती थीं। लोकनिन्दा के विचार से राणाजी को मीरा को यह चाल बहुत बुरी लगती थी। उन्हों ने बहुत समझाया बुझाया, पर मीरा ने उनके कथन पर कुछ ध्यान नहीं दिया और अपने सिद्धान्त में अटल बनी रही। अन्त में मीरा को मार डालने के लिये राणा ने बहुतेरा प्रयत्न किया; परन्तु हरि कृपा से वे सब निष्फल हुए और मीरा का बाल बाँका नहीं हुआ। कुटुम्बियों के ताड़न से मीराबाई को बड़ा कष्ट होने लगा, तुलसीदासजी का निर्मल यश उन्हों ने सुन रक्खा था। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि गोसाँईजी वृन्दावन में विद्यमान हैं, तब नीचे लिखा पद्य अपने किसी विश्वासी मनुष्य के हाथ गोस्वामीजी की सेवा में प्रेषित किया।

स्वस्तिश्री तुलसी गुण भूषण दूषण हरण गुसाँई।
बारहिं बार प्रणाम करत हौं, हरहु शोक समुदाई॥१॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन्हि उपाधि बढ़ाई।
साधु सङ्ग मिलि भजन करत मोहि, देत कलेस महाई॥२॥

× इनकी बाणी व शब्दावली मै जीवन चरित्र के बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से ।)) में प्राप्त हो सकती है।

बालपने ते मीरा कीन्हीं, गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ, लगी लगन बरिआई ॥३॥
मेरे मातु पिता समान हो, हरिभक्तन्ह सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिये समुझाई ॥४॥

इसके उत्तर में गोसाँईजी ने यह पद लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥१॥
तजेउ पिता प्रहलाद बिभीषन बन्धु भरत महँतारी।
बलि गुरु तजेउ नाह ब्रजबनितन्ह, भे जग मङ्गलकारी ॥२॥
नातो नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँलौं।
अञ्जन कहा आँखि जेहि फूटइ, बहुतक कहउँ कहाँलौं ॥३॥
तुलसी सोइ आपनो सकल बिधि, पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होइ सनेह राम सों, एतो मतो हमारो ॥४॥

कहा जाता है इस उत्तर को पाकर मीराबाई महल त्याग कर तीर्थाटन के लिये निकल गयीं और अपना शेष जीवन एकान्त वास कर भजन में बिताया।

मीरा का स्वर्गवास सम्वत् १६०३ में हुआ था और यह बात उससे कुछ पहले की होगी। कम से कम यदि दश वर्ष पूर्व की बात मानी जावे तो पण्डित रामगुलामजी द्विवेदी के मतानुसार गोसाँईजी की अवस्था उस समय ४ वर्ष की रही होगी। इस कारण इस पत्रा-लाप के सम्बन्ध में बड़ा सन्देह होता है। हाँ—यदि इन्द्रदेवनारायण का कथन ठीक माना जाय तो उस समय तक गोसाईंजी की अवस्था ४२ वर्ष की मानी जा सकती है। जो हो, यह आख्यायिका जगत्प्रसिद्ध है, इसीसे हमने भी इसका उल्लेख मात्र कर दिया है।

वृन्दावन से प्रस्थान करके गोस्वामीजी अकबर के प्रसिद्ध वज़ीर नवाब खानखाना और आमेर के महाराज मानसिंह से मिलते हुए यमुनातट का मार्ग पकड़े चित्रकूट की ओर आ रहे थे। जिला जालवन में यमुनानदी के किनारे पर एक स्थान 'केजौसा' है जहाँ चम्बल, बहून, सेंध और कुवारि नाम की नदियाँ यमुना में मिली हैं। इस कारण यह स्थान पंचनद भी कहलाता है। इस तपो भूमि में चिरकाल से साधु महात्माओं की मंडली रहती आई है। यहाँ कितने ही प्रसिद्ध महात्माओं की समाधियाँ और देवमन्दिर हैं। जब गोस्वामीजी इस स्थान के समीप पहुँचे, तब सूर्य भगवान अपनी किरण समेट अस्ताचल में अदृश्य हो चुके थे। वहीं गोसाँईजी ने ठहर जाने का विचार किया, इतने में उस स्थान के प्रधान महात्मा बंजूबन से भेंट हुई। वे बड़े आग्रह और सम्मान पूर्वक गोसाँईजी को आश्रम में लिवा गये और आसन देकर बहु प्रकार आदर सत्कार किया। दूसरे दिन भी विश्राम के लिये अनुनय विनय करके ठहराया।

केजौसा के पास में जगम्मनपुर नाम की एक छोटी सी रियासत है। उस समय वहाँ उदोतशाह राजा थे उन्हों ने गोस्वामीजी की महिमा सुन रक्खी थी। उनका केजौसा में पधारना सुन कर राजा उदोतशाह वहाँ गये और बड़ी प्रार्थना करके उन्हें अपनी राजधानी में लिवा लाये। राजा ने भक्ति-पूर्वक गोस्वामीजी की ऐसी सेवा की जिससे वे उदोतशाह पर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्हों ने राजा को तीन वस्तुएँ प्रदान की। एक दक्षिणावर्ती शङ्ख, एकमुखी रुद्राक्ष और सालिग्राम शिला (लक्ष्मी

नारायण) ये तीनों पदार्थ राजभण्डार में अबतक सुरक्षित हैं। राजा उद्योतशाह के समय में गोस्वामीजी के पधारने का हाल लेखबद्ध करा कर रक्खा गया था, वह अबतक वर्तमान है। श्रीलक्ष्मीनारायण का उत्सव उसी समय से आश्विन शुक्ल १४ को मनाया जाने लगा, यह उत्सव अबतक प्रतिवर्ष होता जा रहा है।

हमें इस घटना का पता इस प्रकार लगा कि हमारे लघबन्धु पं० बेनीप्रसाद मालवीय जो इस समय मुरादाबाद पुलिस ट्रेनिङ्ग स्कूल के प्रोफ़ेसर हैं, सन् १८१८ ई० में वे थाना रमपुरा के इनचार्ज थे। इसी थाने के अन्तर्गत जगम्मनपुर रियासत है। उन्हों ने पूर्वोक्त तीनों वस्तुओं को एवम् उस समय का लिखा लेख स्वयम् देखा था। जब गोस्वामीजी की जीवनी लिखने का हमें शुभ अवसर प्राप्त हुआ, तब हमने विस्तृत समाचार मँगवाने के लिये उन्हें मुरादाबाद पत्र लिखा। उन्हों ने उक्त राज्य के मैनेजर से खुलासा हाल लिख भेजने की प्रार्थना की। नायब दीवान चौबे कन्हैयालालजी ने कृपा कर उपर्युक्त समाचार लिख भेजा इसके लिये हम आप को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। जगम्मनपुर से चल कर गोस्वामीजी चित्रकूट होते हुए काशी लौट आये।

हत्या छुड़ाना।

एक दिन एक हत्यारा पुकारता फिरता था कि मैं हत्यारा हूँ, कोई राम का प्यारा राम के नाम पर मुझे भोजन करा दे। हत्यारे के मुख से राम-नाम का पुकार सुन कर गोस्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। समीप में बुला कर महाप्रसाद दिया और कहा कि राम-नाम के प्रभाव से तुम्हारी हत्या छूट गयी। इस पर काशी के पंडितों ने बड़ा हो हल्ला मचाया। सब मिल कर गोसाँईजी के पास गये और पूछा कि इसकी हत्या बिना प्रायश्चित्त किये किस प्रकार छूट गयी जिससे आप ने इसको अपने साथ बिठा कर भोजन कराया? गोस्वामीजी ने कहा आप लोग राम-नाम की महिमा ग्रन्थों में देखते हैं, परन्तु उस पर विश्वास नहीं रखते, यही कचाई है। राम-नाम उच्चारण करने से यह सर्वथा शुद्ध हो गया। अब इसमें हत्या का लेशमात्र दोष नहीं है। उन लोगों ने कहा कि आप की बात को हमलोग तभी सत्य मानेंगे, जब विश्वनाथजी के मन्दिर में पत्थर के नन्दी इसके हाथ का छुआ व्यञ्जन भोजन करेंगे। ऐसा ही किया गया और कपड़ ओट के भीतर भोजन की थाली हत्यारे ने नन्दी के सामने रख दी। थोड़ी देर में देखा गया तो थाली साफ़। यह अद्भुत दृश्य देख कर अभिमानी पण्डित शरमा गये। कितने लोगों को इस घटना से राम-नाम में पूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ और वे हरिभक्त होकर नाम-स्मरण करने लगे। कहते हैं इस पर कलि ने प्रत्यक्ष रूप से गोस्वामीजी को धमकाया, उन्होंने हनुमानजी से प्रार्थना की, पवनकुमार ने विनयपत्रिका लिखने का आदेश किया, तब गोसाँईजी ने विनय-पत्रिका बनायी। इसका आभास विनय पत्रिका के २२० वें पद में मिलता है।

जगदीश की यात्रा।

जगदीश की यात्रा करके प्रथम गोसाँईजी बलिया के भृगुआश्रम, हंसनगर, परलिया आदि अस्थानों से होते हुए गायघाट आये। वहाँ के राजा गम्भीरदेव ने उनका अच्छा आतिथ्य-सत्कार किया। वे ब्रह्मपुर में ब्रह्मेश्वरनाथ महादेव का दर्शन कर कान्तगाँव में आये। उस ग्राम के सारे मनुष्य राक्षसी प्रकृतिवाले थे, इस कारण सन्ध्या हो जाने पर भी वहाँ भोजन और विश्राम करना उचित न समझ कर आगे बढ़े। थोड़ी दूर चले जाने पर उसी गाँव का रहनेवाला साँवरू का लड़का मँगरू अहीर मिला। वह बड़ी नम्रता से प्रार्थना करके गोसाँईजी को अपनी गोशाले में लिवा ले गया और वहाँ आसन कराया। मँगरू ने बड़ी श्रद्धा से हर प्रकार की सेवा की और भोग लगाने

के लिये पर्य्याप्त दूध ले आया। उस दूध का गोस्वामीजी ने खोया बना कर भोग लगाया और रात्रि में वहीं विश्राम किया। मँगरू के सच्चे सत्कार से और सन्त-महात्माओं में उसकी प्रीति देख गोसाँईजी बहुत प्रसन्न हुए। जब सवेरे वहाँ से प्रस्थान करने लगे, तब मँगरू ने बड़ी नम्रता से दंडवत किया और सामने हाथ जोड़ कर खड़ा रहा। गोस्वामीजी ने कहा-क्या चाहते हो? उसने कहा-महाराज आप के आशीर्वाद से सब परिपूर्ण है, किन्तु कोई सन्तान नहीं है। गोसाँईजी ने कहा कि इस गाँव के सब मनुष्य चोरी ठगी आदि घोर अत्याचार करते हैं। यदि तुम यह प्रतिज्ञा करो कि तुम और तुम्हारे कुटुम्बी चोरी ठगहारी न करेंगे तो शीघ्र ही तुम्हें सन्तान का सुख प्राप्त होगा। मँगरू ने वैसी ही प्रतिज्ञा की और कुछ ही दिन बाद उसके पुत्र हुआ। सुना जाता है कि बलिया और शाहाबाद जिले में मँगरू के वंशजों की अतिथि-सेवा अबतक प्रसिद्ध है। यद्यपि वहाँ के अहीर चोरी ठगहारी करने में अब भी प्रख्यात हैं, किन्तु मँगरू के वंशज इस दोष से सर्वथा मुक्त कहे जाते हैं।

वहाँ से चल कर गोसाँईजी बेलापतौत आये। गोविन्द मिश्र और रघुनाथसिंह क्षत्रिय ने उन्हें बड़े सत्कार से ठहराया। बेलापतौत का नाम बदल कर गोस्वामीजी ने रघुनाथपुर रख दिया जो अब तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ से चल कर कुछ दिन के बाद वे जगन्नाथपुरी के समीप जा पहुँचे। नील चक्र का दर्शन होते ही वहीं बैठ गये। कहते हैं कि उनको वहीं जगदीश भगवान का दर्शन हुआ था। वह स्थान अब तक 'तुलसीचौरा' के नाम से प्रसिद्ध है और जगन्नाथजी के दर्शनार्थ जानेवाले यात्री इस स्थान में दर्शन के लिये पधारते हैं। कुछ दिन बाद गोस्वामीजी फिर काशी लौट आये।

भिन्न भिन्न किम्वदन्तियाँ।

यों तो महात्मा-पुरुष विलक्षण होते ही हैं और उनके अनुयायी भक्तगण उनके चरित्रों की विलक्षणता को इतनी चढ़ा बढ़ा कर प्रचार करते हैं कि उसका निर्णय करना अत्यन्त दुर्गम हो जाता है। बहुत सम्भव है कि इन किम्वदन्तियों में भी कुछ ऐसी बातें हों, पर जो सुनने में आती हैं उनमें कुछ महत्व-सूचक बातों का हम उल्लेख करते हैं।

(१)—कहा जाता है कि एक बार चित्रकूट जाते समय रास्ते में किसी राजा की प्रार्थना से प्रसन्न हो उसकी कन्या को अपने अशीर्वाद से गोसाँईजी ने पुत्र कर दिया था। "रामनाम मनि विषय व्याल के। मेटत कठिन कुअङ्क भाल के" इस चौपाई को पढ़ कर जल छिड़कते ही वह कन्या पुत्र रूप में परिवर्त्तित हो गयी।

(२)—सारन जिला में एक मैरवा ग्राम है। वहाँ हरीराम ब्रह्म का स्थान है। कनकशाही बिसेनों के उपद्रव से तंग आकर हरीराम ने आत्महत्या कर डाली और ब्रह्म हुए। हरीराम के जनेऊ में गोसाँईजी भी उपस्थित थे, ऐसा कहा जाता है।

(३)—कहते हैं रामचरितमानस के बन जाने पर काशी के कुछ पंडितों ने उसे भाषा-काव्य कह कर तिरस्कार किया। एक ने जाकर गोसाँईजी से कहा कि आप तो संस्कृत के विद्वान और कवि हैं, फिर गँवारी भाषा में ग्रन्थ क्यों बनाया? इस पर गोसाँईजी ने यह दोहा कहा—

मनि-भाजन विष पारई, पूरन अमी निहारि।
का छाड़िय का संग्रहिय, कहहु विवेक विचारि॥

अर्थात् मणि के पात्र में विष भरा हो और मट्टी की परई में अमृत देखने में आवे तो ज्ञान से विचार कर कहिये कि किसे त्यागना चाहिये और किसको ग्रहण करना चाहिये। उस पंडित ने

कहा यह कैसे ? गोसाँईजी ने उत्तर दिया कि निस्सन्देह मेरी भाषा गँवारी है, पर संस्कृत के नायिकाभेद वर्णन से अच्छी हो है। इस उत्तर से उस अहंकारी पंडित को सन्तोष नहीं हुआ। उसका दुराग्रह देख गोसाँईजी ने 'ऐसिउ पीर विहसि तेहि गोई' यह चौपाई का चरण लिख कर दिया और कहा कि आप या दूसरे विद्वान् इसका दूसरा चरण ठीक लिख दें तो मैं अपनी कविता को बेकाम की मान लूँगा। बहुतों ने पूर्ति की; पर जब गोसाँईजी ने 'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई' लिख कर अर्द्धाली पूरी कर दी तब सब की पूर्तियाँ फीकी पड़ गयीं और वे सब लज्जित हो गये।

(४)—एक बार गोसाँईजी जनकपुर गये थे। वहाँ के ब्राह्मणों को श्रीरामचन्द्रजी के समय से कहा जाता है, बारह गाँव माफी मिले थे। पटने के सूबेदार ने उन गाँवों को छीन लिया। तुलसीदासजी ने ब्राह्मणों की प्रार्थना पर हनूमानजी से विनती की, और पवनकुमार के अनुग्रह से उन ब्राह्मणों के पट्टे लौटवा दिये।

(५)—व्रज में महात्मा सूरदास से इनकी भेंट हुई थी।

(६)—स्वामी हरियानन्द और मलूकदास से भी साक्षात्कार हुआ था।

(७)—ओड़छे के केशवदास कवि को इन्होंने प्रेतयोनि से मुक्त किया था।

(८)—कहा जाता है कि कविगङ्ग इनसे मिलने के लिये काशी आये थे।

(९)—बादशाह जहाँगीर एक बार इन्हें रोग ग्रस्त सुन कर मिलने के लिये काशी आया था और उस समय रुग्नावस्था का चित्र अपने मुसव्वरों से तैयार कराया था।

(१०)—अयोध्या का रहनेवाला एक भंगी काशी आया था। उसको अवधवासी जान कर गोस्वामीजी ने प्रेम-विह्वल हो उसका बड़ा सन्मान किया।

(११)—प्रयाग के मुरारिदेवजी से एक बार गोसाँईजी मिले थे।

(१२)—सण्डीले के स्वामी नन्दलालजी ने एक बार चित्रकूट में आकर गोस्वामीजी से मिले थे और उन्होंने अपने हाथ का लिखा उन्हें रामकवच दिया था।

(१३)—एकबार गोस्वामीजी की बाहुओं में वातव्याधि की भीषण पीड़ा उत्पन्न हुई। जब वह किसी भी उपाय से शान्त नहीं हुई तब उन्होंने ४४ पद्यों का हनुमानबाहुक नामक ग्रन्थ बनाकर हनूमानजी की स्तुति की थी। उससे वह पीड़ा दूर हो गयी।

गोस्वामीजी के स्नेही और मित्र।

काशी के खत्री टोड़रमल, पंडित गंगाराम जोशी, खानखाना, महाराजा मानसिंह, मधु-
सूदन सरस्वती और नाभादासजी इनके स्नेही और मित्र थे। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास को
बैजनाथदास ने इनका गुरुभाई लिखा है; परन्तु इसका कोई ठीक प्रमाण नहीं मिलता। वे तुलसी-
दास सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि नन्ददास के जीवनचरित्र से स्पष्ट होता है। टोड़रमल काशी के एक
बड़े ज़मींदार थे, वे राजा की पदवी से प्रतिष्ठित थे। टोड़र की ईश्वर में प्रीति थी और गोसाँईजी को
गुरुदेव की तरह मानते थे। ग्रिअर्सन साहब ने इन्हें बादशाह अकबर के प्रसिद्ध मंत्री महाराज टोड़र-
मल अनुमान किया है, परन्तु ऐसा नहीं है। काशी के राजा टोड़रमल खत्रा भिन्न व्यक्ति थे और यही
गोस्वामीजी के स्नेही थे।

काशी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक टोड़र की ज़मींदारी पाँच महल्लों में थी। उनके नाम
हैं ये—भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा। भदैनी, अब काशिराज के पास है, इसी महल्ले

में अस्सीघाट है। नदेसर भी काशीनरेश के अधिकार में है। शिवपुर पञ्चकोश में है, यहाँ पाँचों पाण्डवों का मन्दिर और द्रौपदीकुण्ड है जिसका जीर्णोद्धार राजा टोडरमल ने कराया था। छीतूपुर भदैनी के पश्चिम भाग में है। लहरतारा बनारस छावनी (सिकरौर स्टेशन) के समीप में है।

राजा टोडरमल को द्वन्द्व के कारण गोसाँइयों ने तलवार से काट डाला। टोडर की मृत्यु से गोसाँईजी को बड़ा खेद हुआ। कहा जाता है कि उनके मरने पर गोसाँईजी ने निम्न दोहे कहे—

चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में, अथये टोडर भूप ॥१॥
तुलसी रामसनेह को, सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतार ॥२॥
तुलसी उर थाला विमल, टोडर गुन-गन बाग।
ये दोउ नैनन्ह सींचिहौं, समुझि समुझि अनुराग ॥३॥
रामधाम टोडर गये, तुलसी भये असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यही जानि सङ्कोच ॥४॥

राजा टोडरमल के दो लड़के थे। एक का आनन्दराम और दूसरे का बलिभद्र नाम था। बलिभद्र टोडर के सामने ही परलोकवासी हो गया उसके पुत्र का नाम कँधई था। टोडर के मरने पर आनन्दराम और कँधई में जायदाद के लिये झगड़ा हुआ; उसमें गोस्वामीजी पंच हुए थे। उन्होंने एक पंचायती फैसला लिखा था, वह ग्यारह पीढ़ी पर्यन्त टोडर के वंशजों के अधीन रहा। ग्यारहवीं पीढ़ी में पृथ्वीपाल सिंह ने उसको महाराज काशीनरेश के हवाले कर दिया। वह अबतक उनके यहाँ सुरक्षित है। टोडर के वंशज अबतक अस्सी पर निवास करते हैं। वह पञ्चनामा कुछ नागरी अक्षरों में और कुछ फ़ारसी अक्षरों में लिखा है, परन्तु हम उसका प्रतिलिपि हिन्दी वर्णों में पाठकों के सामने रखते हैं।

पञ्चनामे की प्रतिलिपि।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

द्विश्शरं नाभिशंधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्। द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहि, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहि लागि बिनु, राम परिहरे प्रान ॥२॥
धर्म्मो जयति नाधर्म्मस्सत्यं जयति नानृतम्। क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥३॥

॥ अल्लाहो अकबर।

चूँ अनंदराम बिन टोडर बिन देओराय व कन्हई बिन बलिभद्र बिन टोडर मज़कूर दर हुज़ूर आमदः क़रार दादन्द कि दर मवाज़िए मतरूकः कि तफ़सीलि आँ दर हिन्दवी मज़कूर अस्त बिल मुनासफः बतराज़ीए जानिबैन क़रार दादेम व यक सद पिंजाह बिघा ज़मीन ज़्यादः किस्मत मुनासिफः खुद

दर मौज़े भदैनी अनन्दराम मज़कूर व कन्हई बिन रामभद्र मज़कूर तजवीज़ नमूदः बर मानी राज़ीगश्तः अतराफ़ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबर आँ मुहर करदः शुद।

श्री परमेश्वर

संवत १६६९ समए कुआर सुदि तेरसी बार शुभ दीने लिषीतं पत्र अनन्दराम तथा कन्हई

(शहीद ब माफिह् जलाल मकबूली बखतही) (शहीद ब माफिहताहिर इबन् खाजे दौलते कानूनगोय)

मुहर सादुल्लाह बिन... ... ...

किस्मत आनन्दराम	किस्मत कन्हई
क़रिया क़रिया	क़रिया क़रिया
भदैनी दो हिस्सः लहरतारा दरोबिस्त	भदैनी सेह हिस्सः शिवपुर दरोबिस्त
क़रिया	क़रिया
नैपुरा हिस्सै टोडर तमाम	नदेसर हिस्सै टोडर तमाम
क़रिया	अन्हरुल्ला (अस्पष्ट)
चित्तूपुरा खुर्द हिस्सै टोडर तमाम	

परलोक गमन ।

यह दोहा प्रसिद्ध है—

> सम्वत् सोरह से असी, असी गङ्ग के तीर ।
> श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजे शरीर ॥

अर्थात् मि० श्रावण शुक्ल ७ सम्वत् १६८० को गंगाजी के असीघाट पर गोस्वामी तुलसीदासजी ने शरीर त्याग किया। कवित्त रामायण में गोसाँईजी ने लिखा है कि—"बीसी विश्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसीं, बूझिये न ऐसी गति शङ्कर सहर की। शङ्कर सरोष महामारिहि तें जानियत, साहिब सरोष दुनी दिन दिन दारिदी।" इन पद्यों से विदित होता है कि काशी में महामारी फैली थी, उस समय रुद्रबीसी भोग रही थी। ज्योतिष की गणना से वह समय सम्वत् १६६५ से १६८५ तक का निकलता है। इसी के आधार पर डाक्टर ग्रिअर्सन ने अनुमान किया है कि अन्त समय में गोसाँईजी महामारी से पीड़ित हुए थे, उनकी कोख में गिलटी निकल आई थी और ज्वर भी हुआ था। परन्तु अधिकांश जीवनी लेखक ग्रियर्सन साहब के इस तर्क से सहमत नहीं हैं, वे कहते हैं अन्त समय में गोसाँईजी को कदापि प्लेग की बीमारी नहीं हुई थी।

बादशाह जहाँगीर के बनवाये चित्र में सद्यः रोगमुक्त होने का चिह्न वर्तमान है और वह सम्वत १६६५ और १६६८ के बीच गोसाँईजी से मिलने काशी आया था। सम्भव है कि उस समय वे महामारी से ग्रसित होकर अच्छे हुए हों जिसे सुन कर स्नेहवश बादशाह उन्हें देखने आया था। जो हो, पर अन्त समय में गोसाँईजी को महामारी नहीं हुई थी। जब स्वर्गारोहण का समय समीप आया, तब वे गङ्गाजी के तट पर जा आसीन हो रामनाम का जाप करने लगे। ठीक यात्रा के समय यह दोहा कह कर परमधाम सिधारे।

> रामनाम जस बरनि के, भयउ चहत अब मौन ।
> तुलसी के मुख दीजिये, अबहीं तुलसी सोन ॥

गोस्वामीजी के ग्रन्थ ।

इनके ग्रन्थों की संख्या में भी बड़ा मतभेद है। हिन्दी-नवरत्न में मिश्रबन्धुओं ने २५ ग्रन्थ, तुलसी जीवनी के लेखक ने ३१ ग्रन्थ, शिवसिंह सरोज ने २२ ग्रन्थों की गणना की है। फणेश कवि और महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने भिन्न भिन्न संख्यायें निर्धारित की

हैं। मिर्ज़ापुर-निवासी प्रसिद्ध रामायणी स्वर्गीय पं० रामगुलाम द्विवेदी ने छोटे बड़े सब मिलाकर गोसाँईजी के बनाये १२ ग्रन्थ गिनाये हैं। द्विवेदीजी ने रामायण को क्षेपक के जंजाल से मुक्त करने में सर्व प्रथम सराहनीय परिश्रम किया था। केवल रामायण ही नहीं उन्हों ने सभी ग्रन्थों के मूल पाठ खोज निकालने में भगीरथ प्रयत्न किया और अपने उद्योग में पूर्ण सफल हुए थे। एक घनाक्षरी में उन बारहो ग्रन्थों की गणना उन्हों ने इस प्रकार की है।

> "रामलला नहछू विरागसन्दीपिन हूँ, बरवै बनाय विरमाई मति साँई की।
> पारवती जानकी के मङ्गल ललित गाय, रम्य रामआज्ञा रची कामधेनु नाँई की॥
> दोहा औ कवित्त गीतबद्ध कृष्नकथा कही, रामायन विनय मंहँ बात सब ठाँई की।
> जग में सेहानी जगदीश हू के मन मानी, सन्त सुखदानी बानी तुलसी गोसाँई की॥"

(१) रामलला नहछू	(५) जानकी-मङ्गल	(९) गीतावली-रामायण
(२) वैराग्यसन्दीपनी	(६) रामाज्ञा-प्रश्नावली	(१०) कृष्ण गीतावली
(३) बरवै-रामायण	(७) दोहावली	(११) रामचरितमानस
(४) पार्वती-मंगल	(८) कवित्त-रामायण	(१२) विनय-पत्रिका

इन्हीं बारहों ग्रन्थों को काशी-नगरीप्रचारिणी-सभा के सदस्यों ने भी मुख्य गिनाया है। एक तुलसी नाम के कायस्थ हो गये हैं और दूसरे तुलसीदास नामक सनाढ्य ब्राह्मण अच्छे कवि हुए हैं। इन्हीं दोनों कवियों के ग्रन्थों के भ्रम में पड़ कर लोगों ने गोसाँईजी का महत्व बढ़ाने के लिये उनकी संख्या बढ़ा कर ३०-३२ से अधिक पहुँचा दी है। गोस्वामीजी पर बहुत से ग्रन्थों का बोझ लादना मेरी समझ में उचित नहीं है, क्योंकि उनका महत्व बढ़ाने वाले और कोई ग्रन्थ चाहे न भी हों तो रामचरितमानस और विनय पत्रिका यही दोनों पर्याप्त हैं। गोसाँईजी के बारहो ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय हम पाठकों को कराते हैं और ये सब तुलसी ग्रंथावली के नाम से मोटे अक्षरों में बेलवेडियर प्रेस प्रयाग में छपे हैं।

(१) रामलला नहछू—यह २० सोहर छन्दों का छोटा सा ग्रन्थ है। पण्डित रामगुलामजी ने लिखा है कि चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का यह नहछू है, क्योंकि विवाह के समय रघुनाथजी बारात के पहले ही जनकपुर में विराजमान थे इससे अयोध्या में नहछू होना सम्भव नहीं है।

(२) वैराग्य सन्दीपनी—यह भी छोटा सा ग्रन्थ दोहा चौपाइयों में बना है। इसमें तीन प्रकाश हैं। प्रथम सन्तस्वभाव वर्णन ३३ छन्दों का है दूसरा सन्तमहिमा वर्णन ९ छन्दों में और तीसरा शान्ति वर्णन २० छन्दों का है। सब मिला कर ६२ छन्द संख्या है। विषय नाम ही से प्रकट है।

(३) बरवै-रामायण—यह बरवा छन्दों में निर्मित है। संक्षिप्त रूप से सातों कांडों की कथा का वर्णन है। छन्द संख्या ६९ है। पं० शिवलाल पाठक ने लिखा है कि बरवा-रामायण बड़ा ग्रन्थ था, किन्तु वह पूरा मिलता नहीं। जान पड़ता है यह पाठकजी का अनुमान ही अनुमान है, कोई प्रमाण उन्हों ने नहीं उपस्थित किया।

(४) पार्वतीमङ्गल—यह फागुन सुदी ५ गुरुवार सम्वत् १६४३ में बना था। इसमें शिव-पार्वती का विवाह विस्तार से वर्णन हुआ है। ७४ मङ्गल और १६ हरिगीतिका छन्द इसमें है।

(५) जानकी मङ्गल—इसमें राम-जानकी के विवाहउत्सव का वर्णन है, परन्तु रामचरित-मानस की कथा से इसमें कुछ भिन्नता है। फुलवाड़ी की कथा का वर्णन नहीं है और परशुरामजी का आगमन विवाहोपरान्त कहा गया है। इसमें ९६ मङ्गल और २४ हरिगीतिका छन्द है।

(६) रामाज्ञा-प्रश्नावली—इसमें सात सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में ४६-४६ दोहे हैं। सात सात दोहों का एक एक सप्तक है। प्रति सर्ग सात सात सप्तक के हैं। रामायण के सातों कांड की कथा का वर्णन है। इस ग्रन्थ को गोसाँईजी ने शगुन बिचारने के लिये बनाया था और इससे शगुनों का उत्तर बहुत यथार्थ निकलता है। इसमें सब ३४३१ दोहे हैं।

(७) दोहावली—इसमें राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, वेदान्त, नाम महिमा और कलि की कुटिलता आदि का वर्णन है। इसकी रचनाशैली से प्रकट होता है कि गोसाँईजी ने समय समय पर जो दोहा और सोरठा कहा था, ग्रंथ का रूप देते समय उनका संग्रह किया है। इसमें कितने ही दोहे रामचरितमानस के यथा-तथ्य उद्धृत किये गये हैं। सब ५७३ दोहे सोरठे हैं।

(८) कवित्त रामायण—यह ग्रन्थ घनाक्षरी, सवैया, झूलना और छप्पै छन्दों में पूरा हुआ है। इसकी रचना वैसवाड़ी मिश्रित व्रजभाषा में हुई है। इसके छन्द भी समय समय पर बने थे और वे ही पीछे ग्रन्थ के रूप में किये गये हैं। सातों कांड ३६६ कवित्तों में पूर्ण हुए हैं, हनुमान बाहुक भी इसी के अन्तर्गत है। उतरकांड में अपनी दीनता प्रदर्शित करने के लिये गोसाँईजी ने अपने सम्बन्ध में बहुत ही तुच्छता दिखायी है, उसके आधार पर कतिपय चरित्र-लेखकों ने तरह तरह के अनुमान बाँध कर उन्हें जन्म का दरिद्री ठहराया है।

(९) गीतावली रामायण—इसकी रचना व्रजभाषा में हुई है और बड़ी ही मधुर तथा कर्ण-सुखद है। वर्णन राग रागिनियों में सर्वथा स्वाभाविक और हृदयग्राही है। रामायाण के सातों कांडों की कथा माधुर्य्य-पूर्ण गान की गयी है। इसमें सब ३३१ पद हैं।

(१०) कृष्णगीतावली श्रीकृष्णचन्द्र भगवान का गुण व्रजभाषा के ६१ पदों में गान किया गया है। इसकी रचना माधुर्य्यगान-पूर्ण है।

(११) रामचरित मानस-रामायण—रामायण को कौन नहीं जानता? इस लोकोपकारी अनुपम ग्रन्थ को गोसाँईजी ने मि० चैत्र शुक्ल ९ मङ्गलवार सम्बत १६३१ में निर्माण करना आरम्भ किया। इसका नाम गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' रक्खा है, पर वह जगत में रामायण के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसकी भाषा वैसवाड़ी और अवधी है; गोस्वामी तुलसीदासजी जिसको 'भाषा' कहते हैं उसमें 'श्री' को छोड़ तालव्य 'श' और 'ण' का कहीं प्रयोग नहीं है। वे 'ख' के स्थान में मूर्धन्य 'ष' और व को आजकल के 'ब' की तरह लिखते थे। इसी प्रकार 'क्ष' के स्थान में 'छ' या 'ष' तथा 'ज्ञ' के स्थान में 'ग्य' लिखा करते थे। उनकी अवधी वर्णमाला के कुल ४१ अक्षर हैं। यथा—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, । क, ख, ग, घ। च, छ, ज, झ, । ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़। त, थ, द ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व, स, ह।

गोसाँईजी बड़े और अच्छे अक्षर लिखते थे। उनके हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण की एक प्रति काशी के सरकारी सरस्वती-भवन में रक्खी है। राजापुर में अयोध्याकाण्ड उन्हीं के हाथ का लिखा अब तक वर्तमान है। रामचरित मानस की रचना में उन्होंने व्रजभाषा, संस्कृत, प्राकृत, मागधी, अवधी, वैसवाड़ी, बुन्देलखण्डी, फारसी और अरबी भाषा के शब्दों को सम्मिलित किया है। गोसाँईजी के समय की लिपिप्रणाली और वर्तमान काल की लिपिप्रणाली से बड़ा अन्तर है। इसकी पुष्टता राजापुर के अयोध्या कांड को देखने से बहुत कुछ होती है। यही कारण है कि वर्तमान के संशोधक गण बिना सोचे समझे संशोधन कर अनेक पाठ-प्रमाद उत्पन्न कर दिये हैं। हर्ष की

बात है कि कतिपय हिन्दी भाषा के उत्साही सज्जनों ने विशेष शुद्ध पाठ का संस्करण निकालना आरम्भ कर दिया है और उन प्रतियों का जनता में आदर भी बढ़ रहा है।

रामचरितमानस का सम्मान सभी मत के लोग करते हैं। भारतवर्ष के सिवा यह अन्यान्य देशों में अनुवादित होकर आदर की दृष्टि से देखा जा रहा है। इसमें धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति सदाचार और व्यवहारिक बातें सरल भाषा में इस ढंग से लिखी गयी हैं कि वे वैष्णव, शैव, शक्ति आदि किसी मतावलम्बी के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जान पड़तीं। भारत में तो पंजाब से विहार तक और विन्ध्याचल से हिमालय पर्यन्त रामायण घर घर विराजती हैं। असंख्यों मनुष्य केवल रामायण के पाठ से ज्ञानी और वैराग्यवान होते जा रहे हैं।

इस ग्रन्थ के आदि में ४२ दोहा पर्यन्त गोस्वामीजीने वन्दना की है। इतनी वृहद् और विलक्षण वन्दना दूसरे किसी ग्रन्थ में किसी कवि की देखने में नहीं आई है।

इसमें शिव-पार्वती, कागभुशुण्ड-गरुड़ और याज्ञवल्क्य-भारद्वाज सम्वाद में रामयश वर्णित है। नाम महिमा, मानस निरूपण, भगवान रामचन्द्रजी के जन्म लेने का कारण, ईश्वरावतार, बाललीला, धनुषयज्ञ, विवाहोत्सव, वनयात्रा, अयोध्यापुर-वासियों का वियोग, महाराजा दशरथ का पुत्र वियोग से तन-त्याग, भरतजी का भायपाचार, पादुका लेकरअयोध्या को लौटना, मुनि-मिलन, खरदूषण बध, सीताहरण, जटायु संहार, सुग्रीव की मित्रता, वाली निपात, हनूमानजी का समुद्र लाँघना, लङ्कादहन, सीताजी की खोज लेकर लौटना, रामचन्द्रजी का वानरी सेना के सहित प्रस्थान, सेतुबन्ध, रावणादि राक्षसों का संहार, विभीषण को तिलक, अयोध्या को लौटना, राजतिलक और राजनीति का खूब मनोहारी विस्तार के साथ वर्णन है। साथ ही भक्ति, ज्ञान वैराग्य और सदाचार का बहुत अच्छी तरह निरूपण किया गया है।

रामायण के विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है कि गोस्वामीजी ने पहले संस्कृत में रामायण बनायी। उसे ब्राह्मण का रूप बनाकर शिवजी देखने के बहाने माँग लेगये। जब समय पर ब्राह्मण ने पुस्तक नहीं लौटाई तब गोसाँईजी को सन्देह हुआ। वे अनशन व्रत धारण कर विश्वनाथजी के मन्दिर में यह कह कर बैठे कि आप की नगरी में हमारा सर्वस्व लुट गया, यदि न लौटाइयेगा तो प्राण विसर्जन करूँगा। रात्रि में जब उन्हे निद्रा आयी, स्वप्न में शिवजी ने आदेश दिया कि तुम भाषा में रामायण बनाओ और हम तुम्हारी सहायता करेंगे तथा लोक में उसका खूब प्रचार होगा। यह आदेश पाकर गोसाँईजी ने अयोध्या की ओर प्रस्थान किया, किन्तु रामायण खो जाने की चिन्ता मन से सर्वथा दूर नहीं हुई। मार्ग में सन्ध्या हो जाने पर एक गिरिजामन्दिर में ठहर गये, खिन्नता से निद्रा नहीं आई। रात्रि में वृद्धा ब्राह्मणी के रूप में पार्वतीजी सामने आईं और बोलीं—जो आदेश तुम्हें शिवजी ने दिया है खेद त्याग उसे विश्वास पूर्वक करो। उनका कहना कभी झूठा नहीं हो सकता और हम भी इस कार्य में तुम्हारी सहायता करेंगी। इतना कह कर वह मूर्ति तिरोहित हो गयी। गोस्वामीजी ने सोचा कि इस तरह उपदेश देनेवाली माता पार्वती के सिवा अन्य कोई स्त्री नहीं हो सकती। वे प्रसन्न मन से अयोध्यापुरी में आये और रामायण की रचना आरम्भ कर दी। कहते हैं इस का आभास रामचरितमानस के निम्न दोहे में उन्होंने सूचित किया है—

सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौं हर-गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहहुँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि अरण्यकाण्ड तक रामायण की रचना उन्होंने अयोध्यापुरी में की, आगे किसी कारण से काशी में चले आये और किष्किन्धा काण्ड से लेकर उत्तर काण्ड पर्यन्त यहीं पूरा किया। इसके प्रमाण में यह उदाहरण पेश किया जाता है कि इसी से किष्किन्धा के आरम्भ में काशी का मंगलाचरण किया गया है।

यथा सो०—मुक्ति जन्म-महि जानि, ज्ञानखानि अघ हानि कर।
जहँ बस शम्भु-भवानि, सो कासी सेइय कस न॥
जरत सकल सुर-वृन्द, विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मन-मन्द, के कृपाल शंकर सरिस॥

कहते हैं रामचरितमानस के बन जाने पर काशी के पंडितों ने बड़ा विरोध किया, परन्तु गोसाँईजी ने किसी के विरोध की तिल भर भी परवाह नहीं की। वे अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। पंडितों ने सभा कर के यह निश्चय किया कि हम लोग तो इस भाषा के ग्रन्थ को तभी मान्य समझेंगे जब विश्वनाथजी इस पर सही कर देंगे। उनके प्रस्तावानुसार गोसाँईजी ने पुस्तक मन्दिर में रख दी और सवेरे देखा गया ते उस पर विश्वनाथजी ने स्वीकृति लिख दी थी। सब को यह देख महान् आश्चर्य हुआ और विरोधी वर्ग लज्जित होकर फिर आदर करने लगा।

इसमें सन्देह नहीं, रामायण-काव्य की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। लेखनशक्ति का चमत्कार, दार्शनिक विद्वत्ता, चरित्र चित्रण की अलौकिक शक्ति, भाव की गम्भीरता, अध्यात्मिक तत्वों की सरल विवेचना और प्राकृत दृश्य वर्णन की अभूतपूर्वयोग्यता आदि कहाँ तक कहें, एक आदर्श काव्य में जो जो गुण होने चाहिये वह सब रामायण में है। इसी कारण इसका प्रचार चरमसीमा तक पहुँच गया है और केवल हिन्दी साहित्य में नहीं, वरन् संसार के साहित्य में यह ग्रन्थ अद्वितीय माना जाता है

(१२) * विनयपत्रिका—इस पुस्तक की रचना गोसाँईजी ने अत्यन्त अधीन होकर राग रागिनियों में की हैं। बहुतों का विश्वास है कि तुलसीदासजी का यह अन्तिम ग्रंथ है और जैसी कवित्वशक्ति उन्होंने इसमें प्रदर्शित की है वैसी दूसरे ग्रन्थों में नहीं। कहने के लिये तो यह भाषा का ग्रन्थ है; परन्तु इसमें वेदान्त के गूढ़ रहस्य कूट कूट कर भरे हैं। ईश्वर प्रार्थना, भक्त-हृदयोद्गार और आदर्शजीवन् बनाने के उपदेश का यह ग्रन्थ भाण्डार है। भक्ति विषय में तो आज तक ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इस पुस्तक को यदि रामचरितमानस से बढ़ कर कहा जाय तो भी कुछ अत्युक्ति न होगी। हनूमानजी के द्वारा इसको रघुनाथजी ने स्वीकार किया है। गोसाँईजी ने अन्त के २७९ व पद में इस प्रकार लिखा है।

मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहु नाथ नाम सों, प्रतीति प्रीति एक किङ्कर की निबही है॥१॥

सकल सभा सुनि लेइ उठी, जानि रीति रही है। कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहेब बाँह गही है॥२॥

बिहँसि राम कहेउ सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी, तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है॥३॥

* यह पुस्तक टीका सहित सजिल्द बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से ३) को मँगाइए।

भावार्थ।

हनूमानजी और भरतजी के मन की इच्छा लख कर लक्ष्मणजी ने (भरे दरबार में तुलसी की बात) कही है। हे नाथ! कलिकाल में भी आप के नाम से विश्वास और प्रीति एक सेवक की पूरी पड़ी है ॥१॥

सम्पूर्ण सभा के लोग सुन कर साथ ही बोल उठे कि, हाँ—उस भक्त की रीति हम लोगों की जानी हुई है। ग़रीबनेवाज (रामचन्द्रजी) की कृपा ऐसी ही है, देखना हूँ स्वामी ने उसकी बाँह पकड़ी है (फिर उसकी प्रीति क्यों न निबहेगी ?) ॥२॥

रामचन्द्रजी ने हँस कर कहा—सत्य है, मैंने भी (सीताजी से) खबर पाई है। तुलसी अनाथ की बन गयी (विनयपत्रिका पर) रघुनाथजी की सही हो गयी, अब यह जन प्रसन्नता से चरणों में मस्तक नवाता है ॥३॥

इति शुभम्

गोस्वामी तुलसीदासजी (अवस्था ६० वर्ष)

रामचरण वन्दन करत, हृदय अटल विश्वास।
भक्तशिरोमणि पूज्यवर, अर्चक तुलसीदास॥

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

श्रीगणेशाय नमः

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्रीमद् गोस्वामि तुलसीदास-कृत

रामचरितमानस

प्रथम सोपानं

बालकाण्ड
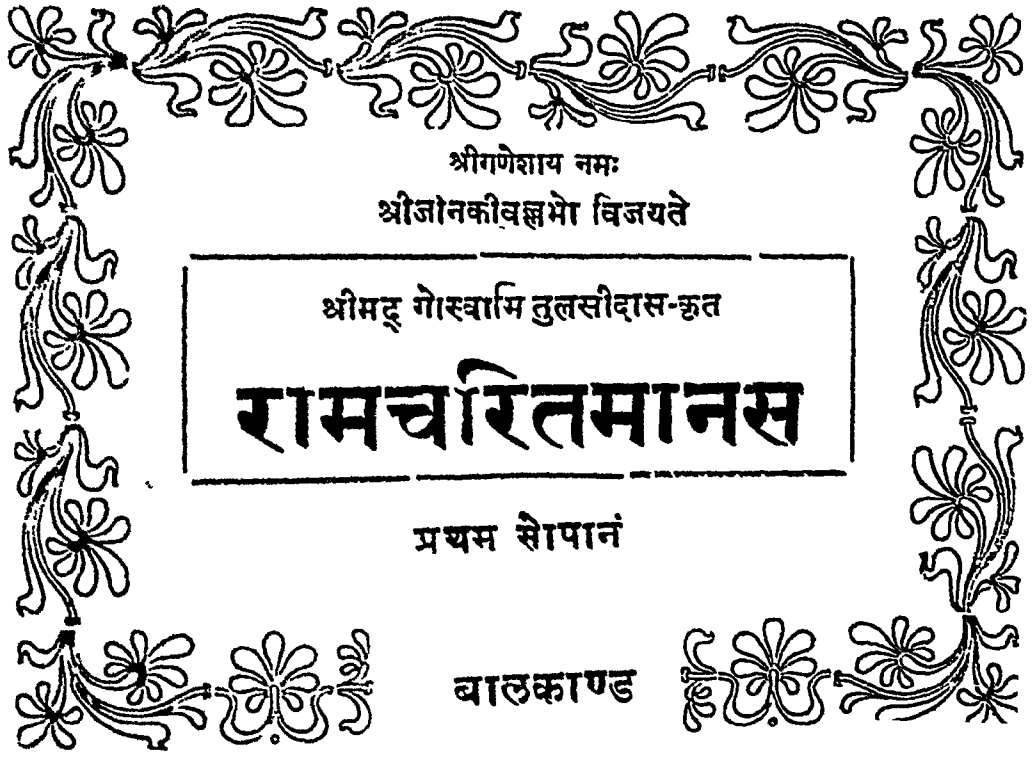
अनुष्टुप्-वृत्त ।

श्लोक——वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि ।

मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ १ ॥

अक्षर, अर्थ-समूह, रस, छन्द और मङ्गल के करनेवाले सरस्वती और गणेशजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥२॥

श्रद्धा और विश्वास रूपी भवानी-शङ्कर की मैं वन्दना करता हूँ, जिनके बिना सिद्धजन अपने हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं देखते ॥ २ ॥

श्रद्धा में पार्वती के आरोप और विश्वास में शिवजी के आरोप से 'सम अभेद रूपक अलङ्कार' है। उत्तरार्द्ध में अर्थ का श्लेष है अर्थात् जिस श्रद्धा-विश्वास के बिना और जिन पार्वतीशिव के बिना सिद्ध पुरुषों को हृदयस्थ ईश्वर नहीं देख पड़ते ।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।

यमाश्रितो हि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥३॥

ज्ञानमय, नित्य, शंकर रूपी गुरु की मैं वंदना करता हूँ, जिनका आश्रित हो कर टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित होता है ॥ ३ ॥

ज्ञानरूप नित्य गुरु में शङ्कर का आरोप 'सम अभेद रूपक' है । शिवजी के गुण से टेढ़े चन्द्र का गुणवान् होना 'प्रथम उल्लास' है । संज्ञा साभिप्राय है, क्योंकि गोस्वामीजी अपनी बुद्धि को मलिन मान कर वन्दना करते हैं कि जिन्होंने वक्र चन्द्र को वन्दनीय बनाया वे मेरी मति निर्मल कर देंगे 'परिकराङ्कुर अलंकार की ध्वनि' है ।

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥४॥

सीता और रामचन्द्रजी के गुण-समूह रूपी पवित्र वन में विहार करनेवाले विशुद्ध विज्ञानसम्पन्न कवीश्वर (वाल्मीकि मुनि) और कपीश्वर (हनूमानजी) की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥

मुनि और बन्दर कानन-विहारी होते हैं, इसलिये सीताराम के गुण-ग्राम में वन का आरोपण किया गया है । सब वन पुनीत नहीं होते, पर इसमें पवित्रता का गुण 'अधिक अभेद रूपक' है ।

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ ५ ॥

उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली, क्लेशों के हरनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणों के करने वाली, रामचन्द्र की प्रियतमा सीताजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित-वृत्त ।

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः ।
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम् ।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ ६ ॥

जिनकी माया के वश में सम्पूर्ण संसार ब्रह्मादिक देवता और दैत्य हैं, जिनके बल से झूठा यह सारा जगत् रस्सी में साँप के भ्रम के समान सत्य प्रतीत होता है । जिनके चरण ही संसार-सागर से पार जाने की इच्छा रखनेवालों के लिये एकमात्र नौका-स्वरूप हैं, समस्त कारणों से परे जिनका नाम राम है, उन ईश्वर विष्णु भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

ग्रन्थारम्भ में नमस्कारात्मक, वस्तु निर्देशात्मक और आशीर्वादात्मक तीन प्रकार के मङ्गलाचरण होते हैं । गोस्वामीजी ने नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है ।

वसन्ततिलका-वृत्त।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखायतुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥७॥

नाना पुराण वेद और शास्त्र की सम्मति के अनुसार तथा जो रामायणों में वर्णित है, और कुछ अन्यत्र से भी श्रीरघुनाथजी की कथा को तुलसीदास अपने अन्तःकरण के सुख के लिए अत्यन्त मनोहर भाषा की रचना से विस्तृत करता है ॥ ७ ॥

'क्वचिदन्यतोऽपि' पर लोग शङ्का करते हैं कि जब वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण कह चुके तो "कुछ अन्यत्र" से कौन सा तात्पर्य्य है? उत्तर – स्मृति, नाटक आदि, लोकोक्तियाँ और अपना विचार रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि।

सोरठा–जेहि सुमिरत सिधि होइ, गन-नायक करि-बर-बदन।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ-गुन-सदन ॥

जिनके स्मरण से (सम्पूर्ण मनोरथ) सिद्ध होते हैं, गुणों के मालिक, हाथी के समान सुन्दर मुखवाले, बुद्धि की राशि और अच्छे गुणों के स्थान श्रीगणेशजी मुझ पर कृपा करें।

'बुद्धिराशि' 'सुभ-सुगुन-सदन' और 'गननायक' संज्ञाएँ साभिप्राय हैं, क्योंकि बुद्धि की राशि ही बुद्धि निर्मल कर सकती है। शुभ-गुणों का स्थान ही गुणवान् बना सकता है और गणों का स्वामी ही कामना सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

मूक होइ बाचाल, पङ्गु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल-कलिमल-दहन ॥

जिनकी कृपा से गूँगा बोलनेवाला होता है और पंगुल दुरारोह पहाड़ पर चढ़ जाता है, कलि के सम्पूर्ण पापों को जलानेवाले वे (सूर्य्य भगवान) मुझ पर प्रसन्न हों।

गूँगे को वाचाल कथन और पंगु को ऊँचे दुर्गम पर्वत पर चढ़नेवाला कहने में क्रिया विरोध का आभास 'विरोधाभास अलंकार' है। इसमें भी सब संज्ञाएँ साभिप्राय हैं, रामचरित वर्णन करने में गोसाईंजी, अपने को मूक, पंगु और कलिमल-ग्रस्त मान कर वन्दना करते हैं। जिनकी कृपा से मूक वाचाल होता है; वही बोलने की शक्ति प्रदान करने में समर्थ हो सकता है, जो पंगुल को पर्वत विहारी बनाता है; वही गमन-शक्ति प्रदान कर सकता है और पापों को जलानेवाला ही निष्पाप बना सकता है, यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है। कोई कोई 'मूकं करोति वाचालं' के आधार पर विष्णु भगवान् पर अर्थ घटाते हैं; पर विष्णु की वन्दना नीचे के सोरठा में की गई है।

नील-सरोरुह-स्याम, तरुन-अरुन-बारिज नयन ।
करउ सो मम उर धाम, सदा छीर-सागर-सयन ॥

'जिनका शरीर नील-कमल के समान श्याम है और नवीन खिले हुए लाल कमल के समान नेत्र हैं, जो सदा क्षीरसागर में शयन करते हैं, वे (विष्णु भगवान्) मेरे हृदयमन्दिर में निवास करें।

जो क्षीर सागर में शयन करते हैं वे हृदय मन्दिर में निवास कर उसे शुद्ध बनावें, परिकराङ्कुर की ध्वनि है। गुण और निवासस्थान कह कर विष्णु का परिचय कराना, किन्तु नाम न लेना 'प्रथम पर्य्यायोक्ति अलंकार' है।

कुन्द-इन्दु-सम देह, उमा-रमन करुना-अयन ।
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन-मयन ॥

कुन्द के फूल और चन्द्रमा के समान देहवाले, उमावर, दया के स्थान, कामदेव को भस्म करनेवाले, जिन्हें दीनजनों पर स्नेह है, वे (शिवजी मुझ पर) कृपा करें।

बन्दउँ गुरु-पद-कञ्ज, कृपा-सिन्धु नर-रूप-हरि ।
महामोह-तम-पुञ्ज, जासु बचन-रबि-कर-निकर ॥

मैं गुरुजी के चरण-कमलों को प्रणाम करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और नर रूपी हरि हैं, जिनके वचन रूपी सूर्य्य की किरणों से अज्ञान रूपी अन्धकारसमूह नष्ट हो जाता है।

चौ०—बन्दउँ गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि-सुबास सरस अनुरागा ॥
अमिय मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल-भव-रुज-परिवारू ॥१॥

श्रीगुरु महाराज के चरण-कमलों की धूलि को मैं प्रणाम करता हूँ, जो सुरुचि (प्राप्त होने की उत्कण्ठा) रूपी सुगन्ध और प्रेम रूपी रस से भरी है। वह अमृत की जड़ से बना हुआ चूर्ण है, जिसके सेवन से संसार- सम्बन्धी रोग (काम, क्रोधादि) नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

सुकृत सम्भु-तन बिमल बिभूती। मञ्जुल मङ्गल-मोद-प्रसूती ॥
जन मन मञ्जु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन-गन बस करनी ॥२॥

पुण्य रूपी शङ्कर के शरीर पर शोभित होनेवाली यह स्वच्छ विभूति है और सुन्दर कल्याण तथा आनन्द की माता (उत्पन्न करनेवाली) है। भक्तों के मन रूपी दर्पण की मैल को दूर करनेवाली है और तिलक करने से सम्पूर्ण गुणों को वश में करनेवाली है ॥ २ ॥

सुकृत में शम्भु तन का आरोप और गुरु-पद-रज में निर्मल विभूति का आरोपण है। प्रथम रूपक के अन्तर्गत दूसरा रूपक उत्कर्ष का हेतु होने से 'परम्परित' है।

श्रीगुरु-पद-नख मनि-गन-जोती। सुमिरत दिब्य-दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह-तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥३॥

श्रीगुरु महाराज के चरण-नखों का प्रकाश समूह मणियों का उजाला है, जिसका स्मरण करने से हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है। वह अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य का प्रकाश है। जिसके हृदय में यह प्रकाश आ जाय उसके बड़े भाग्य हैं॥ ३॥

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के॥
सूझहिं रामचरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥४॥

इस ज्योति के हृदय में आते ही हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसार रूपिणी रात्रि के विकार तथा कष्ट मिट जाते हैं। तब रामचरित रूपी मणि-माणिक छिपे हुए जो जहाँ जिस खानि के हैं, वे दिखाई पड़ने लगते हैं॥ ४॥

दो०—जथा सुअञ्जन अञ्जि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान॥ १॥

जैसे चतुर साधक सुन्दर (सिद्धता का) अञ्जन आँखों में लगा कर सिद्ध हो जाते हैं, फिर पर्वत, वन और पृथ्वीतल के अनन्त स्थानों का खेल देखते हैं॥ १॥

ऊपर कह आये हैं कि गुरु चरण-नख का सूर्य्यवत् प्रकाश जिसके हृदय में होता है, उसके अन्तःकरण के नेत्र खुल जाते हैं और गुप्त खानियों में छिपा रामचरित रूपी रत्न उसे सूझ पड़ता है। इस बात की समता विशेष से दिखाना कि जैसे चतुर साधक सिद्धाञ्जन आँख में लगा कर पृथ्वी, वन, पर्वत का कुतूहल बैठे बैठे देखता है 'उदाहरण अलंकार' है।

चौ०—गुरु-पद-रज मृदु मञ्जुल अञ्जन। नयन-अमिय दृग दोष बिभञ्जन॥
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भव-मोचन॥१॥

गुरुजी के चरणों की धूलि सुन्दर और मुलायम अञ्जन है, वह 'नयनामृत' आँख के दोषों का नाश करनेवाला है। उससे ज्ञान रूपी नेत्रों को निर्मल कर के संसार के आवागमन को छुड़ानेवाला रामचरित मैं वर्णन करता हूँ॥ १॥

बन्दउँ प्रथम महीसुरचरना। मोह जनित संसय सब हरना॥
सुजन-समाज सकल-गुन-खानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥ २॥

पहले मैं पृथ्वी के देवता (ब्राह्मण) के चरणों की वन्दना करता हूँ, जो अज्ञान से उत्पन्न सम्पूर्ण सन्देहों के हरनेवाले हैं। सज्जनों की मण्डली सारे गुणों की खानि है, मैं सुन्दर वाणी से प्रीति-पूर्वक उसको प्रणाम करता हूँ॥ २॥

वन्दना तो गणेश, सरस्वती, शिव-पार्वती आदि कितने ही देवताओं की कर चुके हैं, फिर यहाँ प्रथम कहने का क्या कारण है? उत्तर—अब तक स्वर्गीय देवताओं की वन्दना

की, अब पृथ्वीतल के देवताओं की वन्दना आरम्भ की, इनमें सर्वश्रेष्ठ देवता ब्राह्मण हैं। इसलिए पहले ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं।

साधु चरित सुभ सरिस कपासू । निरस बिसद गुन-मय फल जासू ॥
जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा । बन्दनीय जेहि जग जस पावा ॥३॥

सज्जनों का चरित्र कपास के समान कल्याणकारी है जिसका फल रसहीन (सूखा) होने पर भी उज्ज्वल गुण (डोरा और सद्वृत्ति) से मिला हुआ होता है। जो स्वयं दुःख सह कर दूसरों के छेद को ढँकता है, जिससे जगत् में सराहने योग्य यश पाता है ॥ ३ ॥

साधु चरित-उपमेय, कपास-उपमान, सरिस-वाचक और सुभ-साधारण धर्म 'पूर्णोपमालंकार' है। उसके फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय हैं—इन तीनों विशेषणों के श्लेष अर्थ कपास फल तथा साधुचरित दोनों पर लगते हैं तब उपमा सिद्ध होती है, छिद्र शब्द भी श्लिष्ट है। यहाँ उपमा और श्लेष में अङ्गाङ्गीभाव है। गुटका में 'साधु चरित सुभ चरित कपासू' पाठ है।

मुद-मङ्गल-मय सन्त-समाजू । जो जग जङ्गम तीरथराजू ॥
रामभगति जहँ सुरसरि धारा । सरसइ ब्रह्म-बिचार-प्रचारा ॥ ४

आनन्द मङ्गलमय सन्तों का समाज जो जगत् में चलता फिरता तीर्थराज-प्रयाग है। जिसमें रामभक्ति गङ्गाजी की धारा (अखण्ड प्रवाह) है और ब्रह्म विचार का फैलाव सरस्वती है ॥ ४ ॥

यहाँ से सन्त-समाज और तीर्थराज का साङ्गरूपक वर्णन है। तीर्थराज स्थायी हैं; किन्तु साधु-मण्डली रूपी प्रयाग में चलने फिरने का अधिकत्व है। जैसे सरस्वती अदृश्य हैं, तैसे ब्रह्म विचार गूढ़ तत्व है।

बिधि-निषेध-मय कलिमल-हरनी । करम कथा रबिनन्दिनि बरनी ॥
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी । सुनत सकल-मुद-मङ्गल देनी ॥ ५ ॥

करने और न करने योग्य कर्मों की कथा का वर्णन कलि के पापों को हरनेवाली यमुना नदी है। विष्णु भगवान् और शिवजी की कथा त्रिवेणी रूप विराजती है, जो सुनते ही आनन्द मङ्गल देती है ॥ ५ ॥

बट बिस्वास अचल निज-धर्मा । तीरथराज-समाज सुकर्मा ॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ॥६॥

अपने धर्म में अचल विश्वास अक्षय-वट है और सुकर्म तीर्थराज के समाज (अन्यान्य तीर्थस्थल) हैं। यह प्रयाग सब को सब दिन और सभी देशों में सहज ही प्राप्त होनेवाला है, आदरपूर्वक सेवा करने से क्लेशों का नाश कर देता है ॥ ६ ॥

स्थावर तीर्थराज को लोग चल कर एक ही स्थान में पाते हैं और उसका महत्व मकर के दिनों में अधिक कहा जाता है, परन्तु सन्त-समाज रूपी प्रयाग स्वयम् चल कर सब देशोंमें सब को बारहों महीने समान रूपसे प्राप्त होनेवाला है। वे तीर्थराज स्नान करने से कालान्तर

में फल देते हैं और इस प्रयाग की सेवा करते ही तत्क्षण क्लेश का नाश हो जाता है। गुटका में 'तीरथराज समाज सुकरमा' पाठ है।

अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥७॥

यह तीर्थराज अवर्णनीय और लोकोत्तर है, तत्काल फल देने में इसकी महिमा विख्यात है॥ ७॥

दो०-सुनि समुझहिँ जन मुदित मन, मज्जहिँ अति अनुराग।
लहहिँ चारि-फल अछत-तनु, साधु-समाज प्रयाग ॥ २ ॥

जो मनुष्य प्रसन्न मन से साधु-समाज प्रयाग के उपदेश को अत्यन्त प्रेम से सुन कर समझते हैं वे स्नान करते हैं और चारों फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) शरीर रहते ही पाते हैं (कालान्तर में नहीं, तुरन्त फल मिलता है) ॥ २ ॥

चौ०-मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिँ पिक बकउ मराला ॥
सुनि आचरज करइ जनि कोई। सत-सङ्गति-महिमा नहिँ गोई ॥१॥

स्नान का फल तत्काल देखने में आता है कि कौए कोयल और बगुले हंस हो जाते हैं। यह सुन कर कोई आश्चर्य न करे, क्योंकि सत्सङ्ग की महिमा छिपी नहीं है ॥ १ ॥

सन्तसमाज रूपी प्रयाग के संसर्ग से कौए और बगुले का दोष दूर हो कर उनका गुणवान् होना 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।

बालमीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़-चेतन जीव जहाना ॥ २ ॥

वाल्मीकि, नारद और अगस्त ने अपनी अपनी उत्पत्ति अपने ही मुख से कही है। संसार में जलचारी, भूमिचारी और आकाशचारियों में नाना प्रकार के जितने जड़ चेतन जीव हैं ॥ २॥

वाल्मीकि मुनि बिल से, नारद दासी से और अगस्तजी घड़े से उत्पन्न हैं। इनकी उत्पत्ति के योग्य एक भी कारण पर्य्याप्त न होना 'चतुर्थ विभावना अलंकार' है।

वाल्मीकि मुनि ने रामचन्द्रजी से कहा था कि मैं किरातों के बीच रह कर चोरी ठगहारी करता था। एक बार सप्तर्षियों के दर्शन हुए, उनके उपदेश से आप का उलटा नाम 'मरा मरा' जप कर इस पदवी को पहुँचा हूँ। देवर्षि नारद ने वेदव्यासजी से कहा था कि मैं पूर्व जन्म में वेदवादी ऋषियों की दासी का पुत्र था। महर्षियों के सत्सङ्ग के प्रभाव से मेरा पाप नष्ट हो गया। काल पा कर वह शरीर छोड़ कर मैंने वर्तमान तनु पाया और निरन्तर हरिभक्ति के आनन्द में मग्न रहता हूँ। अगस्त ऋषि ने शिवजी से कहा था कि मेरे पिता मित्रावरुण एक बार रम्भा पर मोहित हुए, जिससे उनका वीर्यपात हो गया। उसको उन्होंने घड़े में रख दिया, उसी से मेरी उत्पत्ति हुई। सत्सङ्ग के प्रभाव से मेरी बुद्धि सन्मार्ग में प्रवृत्त हुई और मैं मुनीश्वर पद को प्राप्त हुआ।

मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥
सो जानब सतसङ्ग प्रभाऊ । लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥ ३ ॥

बुद्धि, कीर्त्ति, मोक्ष, ऐश्वर्य और कल्याण आदि जब कभी जिस किसी उपाय से जिसने जहाँ पाया है वह सत्संग ही की महिमा समझनी चाहिये । इनके मिलने का लोक और वेद में दूसरा उपाय ही नहीं है ॥ ३ ॥

बिनु सतसङ्ग बिबेक न होई । राम-कृपा-बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसङ्गति मुद-मङ्गल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥४॥

विना सत्संग के ज्ञान नहीं होता और विना रामचन्द्रजी की कृपा वह (सत्संग) सहज में प्राप्त नहीं होता । आनन्द-मङ्गल रूपी वृक्ष की जड़ सत्सङ्ग ही है, सब साधन फूल हैं वही एक सिद्ध फल है ॥ ४ ॥

विना सत्सङ्ग के ज्ञान नहीं होता और विना राम-कृपा के सत्सङ्ग नहीं मिलता 'द्वितीय कारणमाला अलंकार' है ।

सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ॥
बिधि बस सुजन कुसङ्गति परहीं । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥५॥

दुष्ट भी सत्संग पा कर सुधर जाते हैं, जैसे पारस पत्थर के छू जाने से लोहा सुन्दर धातु (सुवर्ण) बन जाता है । दैवयोग से सज्जन कुसङ्ग में पड़ते हैं, तब वे सर्प के मणि के समान् अपने ही गुणों का अनुकरण करते हैं ॥ ५ ॥

सत्सङ्ग पाकर शठों का सुधरना उपमेय वाक्य है और पारस के स्पर्श से कुधातु का सुधातु होना उपमान वाक्य है । विना वाचक पद के दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है । उत्तरार्द्ध में कुसङ्ग का दोष न ग्रहण कर अपने ही गुणों को अनुकरण करना 'अतद्गुण अलंकार' है । पारस पत्थर प्रसिद्ध है, कहते हैं उसमें लोहा छू जाने से सोना बन जाता है'।

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी । कहत साधु-महिमा सकुचानी ॥
सो मो सन कहि जात न कैसे । साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे ॥६॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि, विद्वान और सरस्वती साधुओं की महिमा कहने में लजा जाते हैं । वह मुझसे कैसे नहीं कही जाती, जैसे साग का बेंचनेवाला (कुँजड़ा-खटिक) मणियों का गुण नहीं कह सकता ॥६॥

दो०—बन्दउँ सन्त समान चित, हित अनहित नहिं कोउ ।
अञ्जलि-गत सुभ-सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोउ ॥

मैं सन्तों को प्रणाम करता हूँ, जिनका चित्त समान है और जिनका कोई शत्रु या मित्र नहीं है । जैसे दोनों हथेलियों में प्राप्त सुन्दर फूल बराबर ही सुगन्ध देते हैं ।

सन्त सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि, राम-चरन-रति देहु ॥ ३ ॥

सन्तों का चित्त सीधा है, वे जगत् के हितकारी हैं और परोपकार में स्नेह रखते हैं, उनका ऐसा स्वभाव जान मैं विनती करता हूँ । इस बालक की प्रार्थना सुन कर और अच्छी रुचि लख कर रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति (होने का वर) दीजिए ॥३॥

जो संसार के हितैषी हैं, वे मेरी भी भलाई करेंगे यह ध्वनि है । समदर्शी पुरुषों से अधिक विनती का प्रयोजन नहीं, वे अवश्य ही दया करेंगे । प्रार्थना तो दुष्ट आचरण वाले विषमवर्ती जनों से करना आवश्यक है ।

चौ०—बहुरिबन्दि खलगन सतिभाये । जे बिनु काज दाहिनेहुँ बाँये ।
पर-हित-हानि लाभ जिन्ह केरे । उजरे हरष बिषाद बसेरे ॥ १ ॥

फिर मैं सरल भाव से खलों के झुण्ड की वन्दना करता हूँ, जो बिना प्रयोजन अनुकूल के भी प्रतिकूल रहते हैं अर्थात् भलाई करनेवाले की भी बुराई करते हैं । पराये के हितों की हानि ही जिनका लाभ है और जिन्हें दूसरों के उजड़ने पर हर्ष तथा बसने पर शोक होता है ॥१॥

कारण कहीं और कार्य कहीं अर्थात् हितहानि दूसरे की हो, उससे खलों को लाभ ! उजड़ने से हर्ष, बसने से विषाद 'प्रथम असङ्गति अलंकार' है ।

हरि-हर-जस राकेस राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे पर-दोष लखहिँ सहसाखी । परहित घृत जिनके मन माखी ॥ २ ॥

जो विष्णु और शिवजी के यश रूपी पूर्णचन्द्र के लिए राहु के समान हैं और पराये का काम बिगाड़ने में सहस्रार्जुन के समान योद्धा हैं । जो दूसरों के दोष हज़ार आँख से देखते हैं और दूसरों की भलाई रूपी घी को बिगाड़ने के लिये जिनका मन मक्खी के समान है ॥२॥

एक खल उपमेय के पृथक् धर्मों के लिए भिन्न उपमानों का वर्णन 'मालोपमा अलंकार' है । 'सहसाखी' शब्द का कोई कोई साक्षी के सहित अर्थ करते हैं ।

तेज-कृसानु रोष महिषेसा । अघ-अवगुन-धन धनी धनेसा ॥
उदय केतु सम हित सबही के । कुम्भकरन सम सोवत नीके ॥ ३ ॥

ताप में अग्नि और क्रोध में यमराज हैं, पाप तथा दुर्गुण रूपी धन के धनवान कुबेर हैं । उनका उदय (बढ़ती) सभी के लिए पुच्छल तारा के समान (दुखदाई) है और कुम्भकर्ण की तरह जिनका सोना (घटती दशा में रहना) ही अच्छा है ॥३॥

पर अकाज लगि तनु परिहरहीं । जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं ॥
बन्दउँ खल जस सेष सरोषा । सहस-बदन बरनइ पर-दोषा ॥ ४ ॥

दूसरों का अकाज करने के लिए वे अपने शरीर तक नाश कर देते हैं, जैसे—पाला और

पत्थर (ओले) खेती का नाश कर के आप भी गल जाते हैं। फिर क्रोध भरे शेषनाग की तरह खलों को मैं प्रणाम करता हूँ, जो पराये दोषों का वर्णन हज़ार मुख से करते हैं ॥४॥

शेष सरोष नहीं हैं पर खल सरोष शेष के समान हैं, शेष हज़ार मुख से हरि यश वर्णन करते हैं, खलों के एक ही मुख पराये का दोष कहने के लिए हज़ार मुख के समान 'पूर्णोपमा अलंकार' है।

पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना । पर अघ सुनइ सहस-दस-काना ॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही । सन्तत सुरा-नीक हित जेही ॥ ५ ॥

फिर उन्हें राजा पृथु के समान जान कर प्रणाम करता हूँ, जो दूसरों का दुष्कर्म दस हज़ार कानों से सुनते हैं। फिर उनको इन्द्र के बराबर समझ कर विनती करता हूँ। जैसे इन्द्र को देवतावों का झुण्ड प्रिय है तैसे खलों को मदिरा प्यारी है ॥५॥

बचन बज्र जेहि सदा पियारा । सहस-नयन पर दोष निहारा ॥ ६ ॥

जिनको वचन रूपी वज्र सदा प्यारा है और जो हज़ार आँख से पराये का दोष देखते हैं ॥६॥

दो०—उदासीन-अरि-मीत-हित, सुनत जरहिँ खल रीति ।
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करइ सप्रीति ॥ ४ ॥

खलों की यही रीति है कि वे उदासीन, शत्रु और मित्र की भलाई सुन कर जलते हैं। ऐसा जानते हुए भी यह जन (तुलसीदास) दोनों हाथ जोड़ कर प्रीति-पूर्वक उनसे बिनती करता है ॥४॥

तटस्थ, (जो न शत्रु हो न मित्र हो) मित्र और शत्रु तीनों की भलाई सुन कर जलना अर्थात् हित अनहित के साथ एक ही धर्म कथन करना 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार' है।

चौ०—मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥
बायस पालिय अति अनुरागा । होहिँ निरामिष कबहुँ कि कागा ॥१॥

मैंने अपनी ओर से (साधुधर्मानुसार) विनती की है, पर वे अपनी ओर से कभी न चूकेंगे। कौए को बड़े प्रेम से पालिए तो क्या वह कभी मांस न खानेवाला हो सकता है? कदापि नहीं ॥१॥

बन्दउँ सन्त असज्जन चरना । दुख-प्रद-उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं । मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥ २ ॥

मैं सज्जन और दुर्जन दोनों के चरणों की वन्दना करता हूँ, दोनों दुःख देनेवाले हैं पर उसमें कुछ अन्तर कहा जाता है। एक बिछुड़ने पर प्राण हर लेते हैं, दूसरे मिलने पर भीषण कष्ट देते हैं ॥२॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में यह कहना कि दोनों दुखदाई हैं, पर समझने से उस दुःख में फ़र्क जान पड़ता है, यह उन्मीलित है। उत्तरार्द्ध में सज्जन-असज्जन का मिलना बिछुड़ना एक ही कार्य्य द्वारा विरुद्ध क्रिया का वर्णन 'द्वितीय व्याघात अलंकार' है

उपजहिँ एक सङ्ग जग माहीँ। जलज जोँक जिमि गुन बिलगाहीँ॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू॥३॥

दोनों (सज्जन असज्जन) एक साथ संसार में पैदा होते हैं, पर उनके गुण कमल और जोंक की तरह अलग अलग होते हैं। साधु अमृत के समान और असाधु मदिरा के समान हैं, जगत में (दोनों को उत्पन्न करनेवाला) एक पिता ही अथाह समुद्र है॥३॥

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥
सुधा-सुधाकर-सुरसरि-साधू। गरल-अनल-कलिमलसरि-ब्याधू॥४॥

भले और बुरे अपनी अपनी करनी के अनुसार सुयश और अयश की सिद्धि पाते हैं। सज्जन लोग अमृत, चन्द्रमा और गङ्गाजी हैं, दुष्ट प्राणी विष, अग्नि और पाप की नदी (कर्मनासा) हैं॥४॥

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥५॥

गुण और दोष को सब कोई जानता है, पर जिसको जो अच्छा लगता है उसको वही सुहाता है॥५॥

दो०-भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु॥५॥

परन्तु भले भलाई ही पाते हैं और नीच निचाई ही लहते हैं। अमृत की प्रशंसा अमर करने में और विष की सराहना मृत्यु करने में होती है॥५॥

इस दोहा में पद और अर्थ की बार बार आवृत्ति होना 'पदार्थावृति दीपक अलंकार, है।

चौ०-खल-अघ-अगुन साधु-गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥
तेहि तेँ कछु गुन दोष बखाने। सङ्ग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥१॥

दुष्टों के पाप और अवगुण का वृत्तान्त एवम् साधुओं के गुणों की कथा दोनों ही अपार और अथाह समुद्र हैं। उनके गुण दोष कुछ इसलिए कहे गये हैं कि बिना पहचान के ग्रहण वा त्याग नहीं होता॥१॥

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥
कहहिँ बेद इतिहास पुराना। बिधि-प्रपञ्च गुन अवगुन साना॥२॥

भले और बुरे सब को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया है, उनके गुण-दोषों को कह कर वेदों ने अलगाव कर दिया है। वेद, पुराण और इतिहास के ग्रन्थ कहते हैं कि बिधाता का प्रपञ्च (संसार) गुण दोष से मिला-जुला है॥२॥

दुख-सुख पाप-पुन्य दिन-राती । साधु-असाधु सुजाति-कुजाती ॥
दानव-देव ऊँच अरु नीचू । अमिय सजीवन माहुर मीचू ॥ ३ ॥

दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, सज्जन-असज्जन, सुजाति-कुजाति, दानव-देवता, ऊँच और नीच, अमृत जिलानेवाला तथा विष मृत्यु करनेवाला ॥ ३ ॥

माया ब्रह्म जीव-जगदीसा । लच्छि-अलच्छि रङ्क-अवनीसा ॥
कासी-मग सुरसरि-क्रमनासा । मरु-मालव महिदेव-गवासा ॥ ४ ॥

माया-ब्रह्म, जीव-ईश्वर, लक्ष्मीवान-बिना लक्ष्मी का, कङ्गाल-राजा, काशी-मगह, गङ्गा-कर्मनासा, मारवाड़-मालवा, ब्राह्मण और कसाई ॥ ४ ॥

ब्रह्म-ईश्वर को ब्रह्मा के प्रपञ्च में मिलाजुला कहना 'विरोधाभास अलंकार' है, क्योंकि वे ब्रह्मा की सृष्टि से परे हैं, यहाँ गुण-दोष की गणना मात्र है ।

सरग-नरक अनुराग-बिरागा । निगम-अगम गुन-दोष-बिभागा ॥ ५ ॥

स्वर्ग-नरक, प्रीति और वैराग्य, वेद शास्त्रों ने इनके गुण दोष अलगाये हैं ॥ ५ ॥

दो०—जड़-चेतन गुन-दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार ।
सन्त हंस गुन गहहिँ पय, परिहरि बारि बिकार ॥ ६ ॥

ब्रह्मा ने संसार को जड़-चेतन और गुण-दोष मय बनाया है । सन्त रूपी हंस गुण रूपी दूध को ग्रहण करते और दोष रूपी जल को त्याग देते हैं ॥ ६ ॥

चौ०--अस बिबेक जब देइ बिधाता । तब तजि दोष गुनहिँ मन राता ॥
काल सुभाउ करम बरिआई । भलउ प्रकृति-बस चुकइ भलाई ॥१॥

जब विधाता ऐसा विचार देते हैं, तब दोषों को छोड़ कर मन गुणों में अनुरक्त होता है । काल, स्वभाव और कर्मों की प्रबलता से अच्छे लोग भी प्रकृति (माया) के वश हो कर भलाई से चूक जाते हैं अर्थात् बुराई में पड़ जाते हैं ॥ १ ॥

सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीँ । दलि दुख दोष बिमल जस देहीँ ॥
खलउ करहिँ भल पाइ सुसङ्गू । मिटइ न मलिन सुभाउ अभङ्गू ॥२॥

उस (भूल) को जिस प्रकार हरिभक्त सुधार लेते हैं कि दुःख और दोषों का नाश कर निर्मल यश देते हैं । दुष्ट भी अच्छा संग पा कर भलाई करते हैं, पर उनकी अभङ्ग नीच-प्रकृति नहीं मिटती ॥ २ ॥

जिस तरह काल, स्वभाव और प्रकृतिवश अच्छे लोग बुराई कर बैठते हैं, उसी तरह अच्छे सङ्ग में पड़ कर दुष्ट भलाई कर जाते हैं, किन्तु दोनों पलट कर फिर अपना पूर्वरूप ग्रहण कर लेते हैं । दूसरे का गुण ग्रहण कर फिर अपने गुण में आना 'पूर्वरूप अलंकार' है ।

लखि सुबेष जग बञ्चक जेऊ । बेष प्रताप पूजियहिँ तेऊ ॥
उघरहिँ अन्त न होइ निबाहू । कालनेमि जिमि रावन राहू ॥ ३ ॥

जो संसार को ठगनेवाले हैं, उन्हें भी अच्छा वेष बनाये देख कर वेष के प्रताप से लोग पूजते ही हैं। अन्त में कपट खुल जाने पर उनकी रहायस नहीं होती, जैसे—कालनेमि, रावण और राहु की गति हुई थी ॥ ३ ॥

कालिनेमि और रावण ने यती वेष बना कर और राहु ने देवता बन कर ठगबाज़ी की, कलई खुल जाने पर तीनों मारे गये।

किये कुबेष साधु सनमानू । जिमि जग जामवन्त हनुमानू ॥
हानि-कुसङ्ग सुसङ्गति-लाहू । लोकहु बेद बिदित सब काहू ॥ ४ ॥

कुवेष किए रहने पर भी साधु का सम्मान ही होता है, जैसे संसार में जाम्बवान और हनूमान। यह लोक में तथा वेद में प्रसिद्ध है और सब को मालूम है कि कुसङ्ग से हानि और सुसङ्ग से लाभ होता है ॥ ४ ॥

गगन चढ़इ रज पवन प्रसङ्गा । कीचहि मिलइ नीच जल सङ्गा ॥
साधु-असाधु-सदन सुक सारी । सुमिरहिँ राम देहिँ गनि गारी ॥५॥

हवा के सङ्ग से धूल आकाश पर चढ़ती है और नीच जल के साथ से कीचड़ में मिलती है। साधुओं के घर में (पलनेवाले) सुग्गा-मैना राम-राम स्मरण करते हैं और असाधुओं के घरवाले गिन गिन कर गालियाँ देते हैं ॥५॥

धूम कुसङ्गति कारिख होई । लिखिय पुरान मञ्जु मसि सोई ॥
सोइ जल अनल अनिल सङ्घाता । होइ जलद जग-जीवन-दाता ॥६॥

कुसङ्ग में पड़ कर धुआँ कारिख होता है, वही पुराण लिखने पर सुन्दर स्याही कहलाता है। वही (धूम) पानी, अग्नि और वायु के सङ्ग से संसार को जीवन (जल) देनेवाला बादल होता है ॥६॥

दो०--ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग ।
होहिँ कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिँ सुलच्छन लोग ॥

ग्रह, औषधि, पानी, हवा और वस्त्र कुसङ्ग सुसङ्ग पाकर (सङ्ग के प्रभाव से) अच्छी वस्तु बुरी चीज़ हो जाती है, इसको सुलक्षण (चतुर) लोग लखते हैं।

सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह ।
ससि पोषक सोषक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह ॥

दोनों पाखों में उँजेला और अँधेरा बराबर होता है, पर विधाता ने नाम में अन्तर कर

दिया है। एक को चन्द्रमा का पुष्ट करनेवाला समझ कर संसार यश देता है दूसरे को घटानेवाला जान कर अपयश प्रदान करता है।

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम-मय जानि ।
बन्दउँ सब के पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥

जगत् में जड़ चेतन जीव जितने हैं, सब को राम-रूप समझ कर मैं सदा दोनों हाथ जोड़ कर सभी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ।

देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गन्धर्व ।
बन्दउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ॥ ७ ॥

देवता, दैत्य, मनुष्य, सर्प, पक्षी, प्रेत, पितर, गन्धर्व, किन्नर और राक्षस सबको मैं प्रणाम करता हूँ, अब मुझ पर सब कोई कृपा करो ॥७॥

चौ०--आकर चारि लाख चौरासी । जाति जीव जल-थल-नभ-बासी ॥
सीय-राम-मय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥१॥

चौरासी लाख योनियों में चार प्रकार (स्वेदज, अण्डज, पिण्डज, जरायुज) के जीव, जल, धरती और आकाश में रहनेवाले। सम्पूर्ण जगत् को सीताराम मय जान कर दोनों हाथ जोड़ कर मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

सभा की प्रति में 'सियाराम-मय' पाठ है। चौरासी लक्ष योनियों की संख्या इस प्रकार है। ४ लाख मनुष्य, ९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख वृक्ष, ३० लाख पशु।

जानि कृपाकर किङ्कर मोहू । सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू ॥
निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं । ता तैं बिनय करउँ सब पाहीं ॥२॥

कृपा कर मुझे अपना सेवक समझ छल छोड़ सब कोई मिल कर छोह कीजिए। अपनी बुद्धि के बल का मुझे भरोसा नहीं है, इसलिए सब से विनती करता हूँ ॥२॥

करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा । लघु-मति-मोरि चरित अवगाहा ॥
सूझ न एकउ अङ्ग उपाऊ । मन-मति-रङ्क मनोरथ राऊ ॥ ३ ॥

मैं रघुनाथजी के गुणों की कथा वर्णन करना चाहता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि छोटी है और चरित अथाह (अपरम्पार) है। उपाय का एक भी अङ्ग नहीं सूझता है, मन और बुद्धि दरिद्र है, पर मनोरथ राजा जैसा है ॥३॥

बुद्धि थोड़ी चरित अथाह होने से कोई उपाय नहीं सुझता, यह उपमेय वाक्य है। मन मति कङ्गाल-मनोरथ राजा, उपमान वाक्य है। जैसे दरिद्र को राज्य का मनोरथ असम्भव है, वैसे मुझ अल्प-बुद्धि के लिए राम चरित वर्णन असम्भव है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव 'दृष्टान्त अलंकार' है।

मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥४॥

बुद्धि तो अत्यन्त नीच है, पर अभिलाषा बड़ी ऊँची है, अमृत की चाह है; किन्तु संसार में माठा भी नहीं जुरता है। सज्जन लोग मेरी इस ढिठाई को क्षमा करेंगे और इस बालक की बात मन लगा कर सुनेंगे।

जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर-दूषन भूषन-धारी॥५॥

यदि बालक तुतला कर बात कहता है तो उसको माता और पिता प्रसन्न मन से सुनते हैं। निर्दय, कपटी, बुरे विचारवाले, जो दूसरों के दोषों का ही आभूषण धारण करते हैं वे हँसेंगे॥५॥

सज्जन असज्जन के लक्षण द्वारा अनुमान बल से यह निश्चय कर लेना कि सज्जन माता-पिता की तरह प्रेम से सुनेंगे और दुष्ट प्राणी इस काव्य की हँसी करेंगे 'अनुमान-प्रमाण अलंकार' है।

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
जे पर-भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥६॥

अपनी बनाई कविता किसको अच्छी नहीं लगती? चाहे वह रसीली हो अथवा अत्यन्त नीरस हो। जो दूसरे का काव्य सुन कर प्रसन्न होते हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष संसार में बहुत नहीं हैं॥६॥

जग बहु नर सरि सर सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई।
सज्जन सकृत सिन्धु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई॥७॥

भाई! जगत् में बहुत से मनुष्य नदी और तालाब के समान हैं, जो जल पा कर अपनी बाढ़ से बढ़ते हैं अर्थात् अपनी उन्नति से खुश होते हैं। पर समुद्र के समान सज्जन कोई एक आध ही हैं जो पूर्ण चन्द्रमा (पराये की वृद्धि) देख कर उमड़ते हैं॥७॥

दो०—भाग छोट अभिलाष बड़, करउँ एक बिस्वास।
पइहहिं सुख सुनि सुजन जन, खल करिहहिं उपहास॥८॥

अभिलाषा बड़ी है भाग्य छोटा है, मैं एक ही विश्वास करता हूँ कि सज्जन लोग इस कविता को सुन कर सुख पावेंगे और दुष्ट लोग निन्दा करेंगे॥८॥

चौ०—खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥
हंसहिं बक दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही॥१॥

दुष्टों के बुराई करने से मेरी भलाई होगी, कौए कोयल को कठोर (वाणीवाली) कहते हैं। बगुला हंस की और मेढक पपीहा की हँसी करते हैं, उसी तरह दुष्ट पापी निर्मल वार्त्ता (हरिकथा) का मज़ाक उड़ाते हैं॥१॥

खलों द्वारा होनेवाले निन्दारूपी दोष को अपने लिए गुण मान कर उसकी इच्छा करना 'अनुज्ञा अलंकार' है । दुष्ट पापात्मा विमल-वार्त्ता की हँसी उड़ाते हैं, यह उपमेय वाक्य है । कौआ कोकिल को कठोर कहता है, बगुले हंस की दिल्लगी करते और मेढक चातक को मूर्ख समझ कर हँसता है, यह उपमान वाक्य है । दोनो वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है ।

गुटका में 'हँसहिँ बक गादुर चातकही' पाठ है । यहाँ 'दादुर' के स्थान में 'गादुर' बनाया हुआ पाठ मालूम होता है । शायद उपमा-उपमेय के जातिवर्ग की समानता के लिए ऐसा किया गया है । इधर गेदुरा पक्षी तो उधर चातक पक्षी । पर यह बेमेल है । प्रसङ्गानुसार मेढक चातक की समता यथार्थ प्रतीत होती है, क्योंकि वे दोनों मेघ से प्रेम रखने वाले और वर्षा के आकांक्षी होते हैं । उन में अन्तर यह है कि मेढक जल मात्र में विहार करता हुआ सभी बादलों से प्रेम रखता है; किन्तु पपीहा स्वाती के बादल और जल से प्रसन्न होता है । मेढक इस लिए चातक की हँसी उड़ाता है कि मेरे समान सब जलों में यह विहार नहीं करता, स्वाती के पीछे टेक पकड़ कर नाहक प्राण गँवाता है । यह दृष्टान्त का भाव है, पर इस गम्भीरता को 'गादुर' नहीं पहुँच सकता । अतएव 'दादुर' पाठ शुद्ध है ।

कबित रसिक न राम-पद-नेहू । तिन्ह कहँ सुखद हासरस एहू ॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी । हँसिबे जोग हँसे नहिँ खोरी ॥२॥

जो न तो काव्यरस के प्रेमी हैं और न रामचन्द्रजी के चरणों के अनुरागी हैं, उनको यह कविता हँसी की चीज़ हो कर आनन्द देनेवाली होगी । एक तो भाषा की कहनूति, दूसरे मेरी बुद्धि भोली है, हँसने योग्य है, इस लिए हँसना कोई ऐब नहीं है ॥२॥

प्रभु-पद-प्रीति न सामुझि नीकी । तिन्हहिँ कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरि-हर-पद-रति मति न कुतरकी । तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की ॥३॥

जिन्हें न रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति है और न अच्छी समझ है, उन्हें यह कथा सुन कर फीकी लगेगी । पर जिनकी बुद्धि कुतर्कना रहित हरि-हर-चरणों में प्रीति रखती है, उनको रघुनाथजी की कथा मीठी लगेगी ॥३॥

रामभगति-भूषित जिय जानी । सुनिहहिँ सुजन सराहि सुबानी ॥
कबि न होउँ नहिँ चतुर प्रबीनू । सकल कला सब बिद्या-हीनू ॥ ४ ॥

सज्जन लोग इसको रामभक्ति से विभूषित जी में जान कर सुनेंगे और सुन्दर वाणी से सराहना करेंगे । न तो मैं कवि हूँ, और न चतुर हूँ, न विज्ञ हूँ, समस्त हुनरों तथा सम्पूर्ण विद्याओं से ख़ाली हूँ ॥४॥

तुलसीदासजी का कवि, चतुर, प्रवीण आदि अपने प्रसिद्ध गुणों का निषेध करना 'प्रतिषेध अलंकार' है ।

आखर अरथ अलंकृत नाना । छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना ॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा । कबित दोष-गुन बिबिध प्रकारा ॥५॥

अक्षर, अर्थ, नाना भाँति के अलंकार और छन्द रचना की अनेक रीति हैं । भाव (अनुभाव, सञ्चारी आदि के) भेद और (शृङ्गारादि) रसों के मर्म तथा काव्य के गुण-दोष अनेक प्रकार के हैं ॥५॥

कबित बिबेक एक नहिँ मोरे । सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥६॥

काव्य का ज्ञान एक भी मुझ में नहीं है, इस बात को मैं कोरे काग़ज़ पर लिख कर सच कहता हूँ ॥६॥

गुण का कार्पण्य दिखा कर कवि का भाव अपनी नम्रता व्यञ्जित करने का है ।

दो०—भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्व बिदित गुन एक ।
सो बिचारि सुनिहहिँ सुमति, जिन्ह के बिमल बिबेक ॥ ९ ॥

मेरी कहनूति सब गुणों से रहित है, पर जगद्विख्यात अद्वितीय गुण [इस में राम नाम] है, यह विचार कर अच्छी बुद्धिवाले, जिन्हें निर्मल ज्ञान है, सुनेंगे ॥९॥

चौ०—एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान-स्रुति-सारा ॥
मङ्गल-भवन अमङ्गल-हारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥१॥

इस में अत्यन्त पवित्र वेद पुराणों का सार [तत्व] रघुनाथजी का श्रेष्ठ नाम है, जो कल्याण का स्थान और अमङ्गलों का हरनेवाला है, जिसको पार्वती के सहित शिवजी जपते हैं ॥१॥

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ॥२॥

जो कविता अच्छे कवि की की हुई विलक्षण ही क्यों न हो, वह भी बिना राम नाम के शोभित नहीं होती । सुन्दर चन्द्राननी स्त्री सब तरह का शृङ्गार करने पर भी बिना वस्त्र के नहीं सोहती ॥२॥

पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय रूप और उत्तरार्द्ध वाक्य उपमान रूप है । बिना राम नाम के कविता और बिना वस्त्र के सुन्दर शृङ्गारित तरुणी, दोनों का एक धर्म 'सोह न' कथन होना 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है ।

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी । राम नाम जस अङ्कित जानी ॥
सादर कहहिँ सुनहिँ बुध ताही । मधुकर सरिस सन्त गुन-ग्राही ॥३॥

सम्पूर्ण गुणों से ख़ाली कुकवि की ही बनाई कविता क्यों न हो, पर राम-नाम के यश से वर्णित जान कर विद्वान् लोग आदर के साथ उसको कहते और सुनते हैं, क्योंकि सन्तजन भौंरे के समान गुण ग्रहण करनेवाले होते हैं ॥३॥

जदपि कबित रस एकउ नाहीं । राम-प्रताप प्रगट एहि माहीं ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा । केहि न सुसङ्ग बड़प्पन पावा ॥४॥

यद्यपि इसमें एक भी काव्य का आनन्द नहीं है, परन्तु रामचन्द्रजी का प्रताप प्रसिद्ध है। मेरे मन में यही भरोसा आता है कि अच्छे सङ्ग से किसको बड़ाई नहीं मिली है? ॥४॥

धूमउ तजइ सहज करुआई । अगर प्रसङ्ग सुगन्ध बसाई ॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी । राम-कथा जग-मङ्गल-करनी ॥५॥

धुआँ भी अपने स्वाभाविक कड़वेपन को छोड़ देता है, अगर के साथ में अच्छी महँक से वासित हो जाता है। कहनूति भद्दी है, पर अच्छी ही वस्तु वर्णन की गई है, रामचन्द्रजी की कथा संसार का मङ्गल करनेवाली है ॥ ५ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

मङ्गल-करनि कलिमल-हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की ।
गति कूर कबिता-सरित की ज्यों सरित-पावन-पाथ की ॥
प्रभु सुजस सङ्गति भनिति भलि होइहि सुजन मन-भावनी ।
भव-अङ्ग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि रघुनाथजी की कथा मङ्गल-कारिणी और कलि के पापों को हरनेवाली है। कविता-नदी की चाल इस प्रकार टेढ़ी है, जैसे पवित्र जलवाली (गंगा आदि) नदियों की गति होती है। प्रभु रामचन्द्रजी के सुयश के साथ से कविता अच्छी और सज्जनों के मन में सुहानेवाली होगी। मसान की राख शिवजी के अङ्ग में शोभायमान होकर स्मरण करने से पवित्र करती है ॥१॥

दो०—प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति राम-जस-सङ्ग ।
दारु बिचार कि करइ कोउ, बन्दिय मलय प्रसङ्ग ॥

श्रीरामचन्द्रजी के यश के साथ के कारण मेरी कविता सभी को अत्यन्त प्यारी लगेगी। मलयाचल के प्रसङ्ग से चन्दन की वन्दना करने में क्या कोई काठ का विचार करता है? (कदापि नहीं)।

स्याम-सुरभि-पय बिसद अति, गुनद-करहिं सब पान ।
गिराग्राम्य सिय-राम-जस, गावहिं सुनहिं सुजान ॥ १० ॥

काली गाय का दूध उज्ज्वल और अत्यन्त गुण-दायक जान कर सब पान करते हैं। उसी तरह—गँवारी बोली में कहे हुए श्री सीतारामजी के यश को सज्जन लोग गान करते हैं और सुनते हैं ॥ १० ॥

चौ०—मनि-मानिक-मुकता-छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिँ सकल सोभा अधिकाई॥१॥

मणि, माणिक और मोती की जैसी शोभा होनी चाहिए, वैसी छबि साँप, पर्वत और हाथी के मस्तक मे नहीं होती। राजाओं के मुकुट और नवयौवना स्त्रियों के अङ्ग को पा कर वे सब अधिक शोभा को प्राप्त होते हैं॥१॥

तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिँ अनत अनत छबि लहहीं॥
भगति-हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥२॥

उसी तरह सत्कवियों के काव्य को विद्वान् लोग कहते हैं कि वह पैदा और जगह होता है; परन्तु शोभा अन्यत्र ही पाता है। (जब कवि काव्य करने के लिए) सरस्वती का स्मरण करता है, तब उसकी भक्ति के कारण ब्रह्मलोक छोड़ कर वे उसके पास दौड़ कर आ जाती हैं॥२॥

रामचरितसर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाये॥
कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिँ हरिजस कलिमल-हारी॥३॥

बिना रामचरितमानस में स्नान कराये वह थकावट करोड़ों उपायों से भी नहीं जाती, कवि और विद्वान् ऐसा मन में विचार कर कलि के पापों के हरनेवाले भगवान् का यश-गान करते हैं॥३॥

कीन्हे प्राकृत-जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना॥
हृदय-सिन्धु मति-सीपि समाना। स्वाती-सारद कहहिँ सुजाना॥४॥

संसारी मनुष्यों का गुणगान करने से सरस्वती सिर पीट कर पछताने लगती है। चतुर लोग कवि के हृदय को समुद्र, बुद्धि को सीपी और सरस्वती को स्वाती-नक्षत्र के समान कहते हैं॥४॥

जौँ बरषइ बर-बारि बिचारू। होहिँ कबित-मुकता-मनि चारू॥५॥

यदि श्रेष्ठ विचार रूपी जल की वर्षा हो, तो कविता रूपी सुन्दर मोती और मणि उत्पन्न होते हैं॥५॥

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर ताग।
पहिरहिँ सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥११॥

युक्ति रूपी सूई से छेद कर फिर रामचरित रूपी सुन्दर तागे से पिरो कर माला बनावे, जिसको सज्जन लोग अपने स्वच्छ हृदय में पहनें तो उत्तम प्रेमरूपी शोभा होती है॥११॥

सज्जन लोग बड़े प्रेम से हृदय में धारण करें, तब कविता की यथार्थ शोभा होती है, यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से तुल्यप्रधानगुणीभूत व्यङ्ग है।

चौ०—जे जनमे कलिकाल कराला । करतब बायस वेष मराला ॥
चलत कुपन्थ बेद-मग छाँड़े । कपट-कलेवर कलिमल-भाँड़े ॥१॥

इस भीषण कलिकाल में जो जन्मे हैं, जिनका करतब कौए का और वेश हंस का है, वेद-मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में चलते हैं, कपट के शरीर और पाप के भाजन हैं ॥ १ ॥

बञ्चक भगत कहाइ राम के । किङ्कर कञ्चन कोह-काम के ॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धिक धरमध्वज धन्धक धोरी ॥२॥

जो रामचन्द्रजी के भक्त कहा कर लोगों को ठगते हैं, वास्तव में सुवर्ण, क्रोध और काम के सेवक हैं। उनमें पहले संसार में मेरी गिनती है, धर्म की पताका उड़ा कर काम धन्धे का बोझ लादे रहनेवाले मुझ सरीखे बैल को धिक्कार है ॥ २ ॥

यहाँ गोस्वामी जी का अपने को धिक्कारना 'लघुता,ललित सुवारि न खोरी' के अनुसार उच्च श्रेणी में लानेवाला 'विचित्र अलंकार' है। सभा की प्रति में 'धँधरक धोरी' पाठ है। धन्धक और धँधरक पर्यायी शब्द हैं, अर्थ दोनों का एक ही है।

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ । बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ ॥
ता तें मैं अति अलप बखाने । थोरे महँ जानिहहिं सयाने ॥३॥

यदि मैं अपना सब दोष कहने लगूँ तो कथा बढ़ जायगी, पार न पाऊँगा। इसलिए मैंने बहुत कम वर्णन किया है, चतुर लोग थोड़े ही में समझ लेंगे ॥३॥

समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी । कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥
एतेहु पर करिहहिं जे सङ्का । मोहि तें अधिक ते जड़ मति-रङ्का ॥४॥

मेरी अनेक प्रकार की बिनती को समझ कर और कथा सुन कर कोई दोष न देगा। इतने पर भी जो शङ्का करेंगे, वे मुझ से भी अधिक मूर्ख और बुद्धि के दरिद्री हैं ॥४॥

गुटका में 'समुझि बिबिध बिनती अब मोरी' पाठ है और शङ्का के स्थान में 'अशङ्का' पाठ है, जिससे छन्दोभङ्ग दोष आ जाता है।

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ । मति अनुरूप राम-गुन गावउँ ॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा । कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥५॥

मैं न कवि हूँ और न चतुर कहलाना चाहता हूँ, अपनी बुद्धि के अनुसार रामचन्द्रजी का गुणगान करता हूँ। कहाँ रघुनाथजी का अपार चरित्र और कहाँ संसार में लगी हुई मेरी बुद्धि ! ॥५॥

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं । कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥
समुझत अमित राम प्रभुताई । करत कथा मन अति कदराई ॥६॥

जिस (प्रचण्ड) वायु में सुमेरु-पर्वत उड़ जाता है, भला कहिए तो सही ! उसके सामने रूई किस गिनती में है ? रामचन्द्रजी की अपार महिमा समझ कर कथा-निर्माण करने में मन बहुत कचिया रहा है ॥६॥

जिस हवा में सुमेरु उड़ जाता है, उसमें रूई की कौन सी गणना 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

दो०—सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरन्तर गान ॥ १२ ॥

सरस्वती, शेष, शिव, ब्रह्मा, शास्त्र, वेद और पुराण जिनके गुण को—इति नहीं, इति नहीं—कह कर निरन्तर गान करते हैं ॥१२॥

चौ०—सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी की उस महिमा को सब (इति न होनेवाली) जानते हैं, तो भी बिना कहे कोई न रहा अर्थात् सभी ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया है। यह क्यों?—वहाँ वेद ने ऐसा कारण रख कर भजन का प्रभाव बहुत तरह से वर्णन किया है (हरिकीर्तन एक प्रकार का भजन है, इससे लोगों ने किया, किन्तु पार पाने की इच्छा से नहीं—उसी तरह मैं भी रामचरित कहूँगा) ॥१॥

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा ॥
ब्यापक बिस्व-रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥२॥

जो अद्वितीय, इच्छारहित, बिना रूप और बिना नाम के, अजन्मे, सत्-चित्-आनन्द के रूप, साकेत विहारी, सर्व व्यापक, जगन्मय भगवान् हैं, उन्होंने शरीर धारण कर नाना प्रकार के चरित्र किये हैं। ॥२॥

सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत-अनुरागी ॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू ॥३॥

वे केवल भक्तों की भलाई के लिए अवतार लेते हैं और बड़े ही कृपालु तथा शरणागतों पर प्रेम करनेवाले हैं। जिनकी सेवकों पर प्रीति और अतिशय कृपा रहती है, जिन्होंने दया करके (जनों पर कभी) क्रोध नहीं किया ॥३॥

गई बहोर गरीब-नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू ॥
बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज-बानी ॥४॥

रघुनाथजी खोई हुई वस्तु के लौटानेवाले, दीनदयाल, सीधे और बलवान स्वामी हैं। ऐसा समझ कर बुद्धिमान लोग अपनी वाणी को पवित्र तथा सफल, करने के लिए भगवान् का यश वर्णन करते हैं ॥४॥

तेहि बल मैं रघुपति गुन-गाथा । कहिहउँ नाइ राम-पद माथा ।
मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई । तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥५॥

उसी बल से मैं रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक नवा कर रघुनाथजी के गुणों की कथा कहूँगा । पहले मुनियों ने भगवान् की कीर्ति गाई है, उस रास्ते में चलना मुझे सहल और अच्छा लग रहा है ॥५॥

दो०—अति अपार जे सरित बर, जौं नृप सेतु कराहिँ ।
चढ़ि पिपीलिकउ परम-लघु, बिनु स्रम पारहि जाहिँ ॥ १३ ॥

जो बहुत बड़ी अपार नदियाँ हैं, उन पर यदि राजा पुल बनवा देते हैं, तो अत्यन्त छोटी चींटी भी उस पर चढ़ कर बिना परिश्रम पार चली जाती है ॥१३॥

चौ०—एहि प्रकार बल मनहिँ देखाई । करिहउँ रघुपति कथा सुहाई ॥
ब्यास-आदि कबि-पुङ्गव नाना । जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना ॥१॥

इस प्रकार का बल मन को दिखा कर मैं रघुनाथजी की सुहावनी कथा निर्माण करूँगा । महर्षि वेदव्यास आदि अनेक श्रेष्ठ कवि हुए हैं, जिन्होंने आदर-पूर्वक भगवान् का सुयश वर्णन किया है ॥१॥

'आदि कवि' शब्द श्लेषार्थी है जिससे वाल्मीकि का अर्थ प्रकट हो रहा है । पर वाल्मीकि की वन्दना आगे करेंगे । कवि का मुख्य तात्पर्य्य वेदव्यास आदि अनेक श्रेष्ठ कवियों से है, न कि वाल्मीकि से जैसा कि श्लेष से व्यञ्जित होता है ।

चरन-कमल बन्दउँ तिन्ह केरे । पुरवहु सकल मनोरथ मेरे ॥
कलि के कबिन्ह करउँ परनामा । जिन्ह बरने रघुपति-गुन-ग्रामा ॥२॥

मैं उनके चरण कमलों को प्रणाम करता हूँ, मेरे सब मनोरथ पूरे होंगे । कलि के कवि गण जिन्होंने रघुनाथजी के गुण-समूह वर्णन किया है, उनको प्रणाम करता हूँ ॥२॥

जे प्राकृति कबि परम सयाने । भाषा जिन्ह हरि चरित्त बखाने ॥
भये जे अहहिँ जे होइहहिँ आगे । प्रनवउँ सबहिँ कपट छल त्यागे ॥३॥

जो इतर हिन्दी के बड़े चतुर कवि हुए, जिन्हों ने भाषा में हरिचरित वर्णन किया । ऐसे कवि जो पहले हो चुके, वर्तमान में हैं और आगे होंगे, छल कपट छोड़ कर मैं उन सबको प्रणाम करता हूँ ॥३॥

"कपट छल" दोनों शब्दों में पुनरुक्ति का आभास है, किन्तु पुनरुक्ति नहीं है । एक भेद-भाव का बोधक है और दूसरा धूर्त्तता (वह व्यवहार जो दूसरों को ठगने के लिए किया जाता है) का सूचक 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है । यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि अब तक जो वन्दना की क्या वह छल-कपट सहित की ? जो ऐसा कहते हैं । उत्तर—आगे होनेवाले

कवियों को प्रणाम किया, इससे लोग यह न अनुमान करें कि छोटे को प्रणाम क्यों किया, इसलिए ऐसा कहा कि छोटाई बड़ाई या ऊँच नीच का भेद न रख कर बन्दना करता हूँ। सभा की प्रति में 'प्रवनउँ सबहिँ कपट सब त्यागे' पाठ है।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥
जो प्रबन्ध बुध नहिँ आदरहीँ। सो स्रम बादि बाल-कबि करहीँ॥४॥

प्रसन्न हो कर यह वरदान दीजिए कि मेरी कविता का सज्जनों के समाज में आदर हो। जिस काव्य का बुद्धिमान् लोग आदर नहीं करते, वह परिश्रम नाहक ही मूर्ख कवि करते हैं॥ ४॥

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥
राम-सुकीरति भनिति भदेसा। असमञ्जस अस हमहिँ अँदेसा॥५॥

कीर्त्ति, कविता और सम्पत्ति वही अच्छी है जो गंगाजी के समान सब के लिए कल्याण करनेवाली हो। रामचन्द्रजी की कीर्त्ति मनोहर है, किन्तु मेरी कहनूति भद्दी है। मुझे इसी का असमञ्जस और अन्देशा है॥ ५॥

तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सियनि सुहावनि टाट पटोरे॥६॥

आप की कृपा से वह मुझे सुगम है, टाट की हो या रेशम की सिलाई, अच्छी होने पर सुहावनी लगती ही है॥ ६॥

पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य है। दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकता है। जैसे टाट पर हो या रेशमी वस्त्र पर, अच्छी सिलाई होने से दोनों सराहनीय होती है। उसी तरह कविता चाहे संस्कृत की हो या हिन्दीभाषा की, रचना प्रणाली की प्रशंसा होती ही है, यह 'दृष्टान्त अलंकार' है।

दो०—सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिँ सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिँ बखान॥

जो कविता सरल हो और जिसमें स्वच्छ यश वर्णन हुआ हो, विद्वान् उसीका आदर करते हैं। जिसे सुन कर स्वाभाविक शत्रुता भुला कर (शत्रु भी) बखान करते हैं।

सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति-बल अति थोर।
करउ कृपा हरि-जस कहउँ, पुनि पुनि करउँ निहोर॥

वह (कविता) बिना निर्मल बुद्धि के नहीं होती और मुझे बुद्धि का बल थोड़ा है। इसलिए बार बार प्रार्थना करता हूँ कि कृपा कीजिए जिससे हरियश वर्णन करूँ।

कबि कोबिद रघुबर-चरित,-मानस मञ्जु मराल।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि, मो पर होहु कृपाल॥

रघुनाथजी के चरितरूपी मानसरोवर के सुन्दर राजहंस रूपी कवि और विद्वान् बालक की बिनती सुन कर तथा श्रेष्ठ अभिलाषा लख कर दयालु हों।

सो०—बन्दउँ मुनि-पद-कञ्जु, रामायन जेहिं निरमयेउ ।
सखर सकोमल मञ्जु, दोष-रहित दूषन-सहित ॥

मुनि (वाल्मीकि) के चरन-कमलों को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने रामायण बनाई है। जो खर (राक्षस) के सहित कोमलता युक्त सुन्दर है और दूषन (राक्षस) के सहित हो कर भी दोषों से रहित है।

खर और दूषन शब्द श्लेषार्थी हैं जो खरदूषन नाम के राक्षस तथा काव्य में आनेवाले कर्णकटु आदि दोष दोनों के बोधक होने से 'श्लेष अलंकार' है। सखर हो कर कोमलता युक्त और दूषण सहित होने पर निर्दोष, इस वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है।

बन्दउँ चारिउ बेद, भव-बारिधि-बोहित सरिस ।
जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद, बरनत रघुबर-बिसद-जस ॥

चारों वेदों को प्रणाम करता हूँ, जो संसार रूपी समुद्र के लिए जहाज़ के समान हैं। जिनको रघुनाथजी के निर्मल यश वर्णन करने में स्वप्न में भी खेद नहीं है अर्थात् प्रसन्नता से निरन्तर हरिकीर्तन करते हैं।

बन्दउँ बिधि-पद-रेनु, भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ ।
सन्त-सुधा-ससि-धेनु, प्रगटे खल-बिष-बारुनी ॥

मैं ब्रह्मा के चरण-रज को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने संसार रूपी समुद्र को बना कर उसमें सज्जन रूपी अमृत, चन्द्रमा, कामधेनु और दुष्ट रूपी ज़हर-मदिरा उत्पन्न किया है।

दो०—बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन, बन्दि कहउँ कर जोरि ।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल, मञ्जु मनोरथ मोरि ॥१४॥

देवता, ब्राह्मण, पण्डित और नवग्रहों के चरणों की वन्दना कर के हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि प्रसन्न हो कर मेरा सब मनोरथ पूरा कीजिए ॥१४॥

चौ०—पुनि बन्दउँ सारद सुरसरिता । जुगल पुनीत मनोहर-चरिता ॥
मज्जन पान पाप हर एका । कहत सुनत एक हर अबिबेका ॥१॥

फिर मैं शारदा (कविता नदी) और गङ्गाजी की वन्दना करता हूँ। दोनों के चरित्र पवित्र और मनोहर हैं। एक स्नान तथा जल-पान से पाप हरती है, दूसरी कहने और सुनने से अज्ञान नष्ट करती है ॥ १ ॥

गुरु पितु मातु महेस-भवानी । प्रनवउँ दीनबन्धु दिन-दानी ॥
सेवक स्वामि सखा सिय-पीके । हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के ॥२॥

दीनों के सहायक, नित्य दान देनेवाले शिव-पार्वती मेरे गुरु, पिता और माता हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ जो सीताजी के प्राणेश्वर रामचन्द्रजी के सेवक, स्वामी एवम् मित्र हैं और बिना प्रयोजन सब प्रकार तुलसी के हितकारी हैं ॥ २ ॥

सेवक-स्वामी आदि होने का विशेष रूप से स्पष्टीकरण लङ्काकाण्ड में दूसरे दोहे के बाद प्रथम चौपाई के नीचे देखो।

कलि बिलोकि जग-हित हर-गिरजा । साबर मन्त्र जाल जिन्ह सिरजा ॥
अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ॥३॥

जिन शिव-पार्वती ने कलियुग को देख कर संसार की भलाई के लिए साबरमन्त्र-समूह निर्माण किया। जिनके अक्षर अनमेल और न उनमें कोई अर्थ है न जाप, पर शिवजी के प्रताप से उनका प्रभाव प्रत्यक्ष (तुरन्त फलदायक) है।

सो महेस मोहि पर अनुकूला । करउँ कथा मुद-मङ्गल-मूला ॥
सुमिरि सिवा-सिव पाइ पसाऊ । बरनउँ रामचरित चित-चाऊ ॥४॥

वे शिवजी मुझ पर प्रसन्न हैं, इससे मैं आनन्द-मंगल की कथा का निर्माण करता हूँ। शिव-पार्वती का स्मरण कर और उनकी प्रसन्नता पा कर मन में उत्साहित हो रामचन्द्रजी का चरित्र वर्णन करता हूँ ॥ ४ ॥

भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती । ससि-समाज मिलि मनहुँ सुराती ॥
जे एहि कथहि सनेह-समेता । कहिहहिँ सुनिहहिँ समुझि सचेता ॥५॥

मेरी कविता शिवजी की कृपा से ऐसी अधिक सुहावनी मालूम होती है, जैसी समण्डलीक (तारागणों के सहित) चन्द्रमा के मिलने से रात्रि अच्छी लगती हो। जो इस कथा को स्नेह के साथ कहेंगे, सुनेंगे और सावधान होकर समझेंगे ॥ ५ ॥

शिव-कृपा से कविता ऐसी शोभनीय है, जैसी ससि-समाज से मिलकर रात्रि सुहावनी हो 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

होइहहिँ राम-चरन-अनुरागी । कलिमल-रहित सुमङ्गल-भागी ॥६॥

वे रामचन्द्रजी के चरणों के प्रेमी होंगे और कलि के पापों से मुक्त होकर सुन्दर मङ्गल के भागी बनेंगे ॥ ६ ॥

दो०--सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर, जौँ हर-गौरि-पसाउ ।
तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा-भनिति-प्रभाउ ॥१५॥

यदि शिव-पार्वती की प्रसन्नता मुझ पर सचमुच सपने में भी हुई हो, तो भाषा काव्य का प्रभाव जो मैंने कहा है, वह सब सच होगा ॥ १५ ॥

चौ०--बन्दउँ अवधपुरी अति पावनि । सरजू-सरि कलि-कलुष-नसावनि ॥
प्रनवउँ पुर-नर-नारि बहोरी । ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ॥१

अत्यन्त पवित्र अयोध्यापुरी और कलियुग के पापों को नष्ट करनेवाली सरयू नदी को मैं प्रणाम करता हूँ। फिर उस नगरी के स्त्री-पुरुषों की वन्दना करता हूँ, जिन पर प्रभु रामचन्द्रजी का बहुत बड़ा स्नेह है ॥ १ ॥

सिय-निन्दक अघ-ओघ नसाये । लोक बिसोक बनाइ बसाये ।
बन्दउँ कौसल्या दिसि प्राची । कीरति जासु सकल जग माची ॥२॥

सीताजी की निन्दा करनेवाले (धोबी) का पाप-समूह नाश कर उसको शोक रहित बना कर अपने लोक (वैकुण्ठ) में बसाया। पूर्व दिशा के समान कौशल्या माता को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनकी कीर्त्ति समस्त संसार में फैल रही है ॥ २ ॥

रजक के सम्बन्ध में विनयपत्रिका के १६५ वें पद में ज़िक्र आया है कि—"सिय-निन्दक मतिमन्द प्रजा रज, निज नय नगर बसाई" अर्थात् जानकीजी की निन्दा करनेवाला नीच-बुद्धि धोबी को अपनी प्रजा जान कर नीति से नगर में बसाया (देश निकाला या प्राणदण्ड आदि कोई कठोर या अल्प दण्ड नहीं दिया) अथवा विशोक लोक बनाइ बसाये, दूसरा वैकुण्ठ ही बना कर उसको वहाँ टिकाया। यह नगरवासी पर प्रेम का उदाहरण है।

प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू । बिस्व-सुखद खल-कमल-तुसारू ॥
दसरथ राउ सहित सब रानी । सुकृत-सुमङ्गल मूरति मानी ॥३॥

जहाँ रघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमा रूप प्रकट हुए, जो संसार को सुख देनेवाले और खल रूपी कमल-वन के लिए पालारूप हैं, सब रानियों सहित राजा दशरथजी को पुण्य और कल्याण की मूर्त्ति मान कर ॥ ३ ॥

करउँ प्रनाम करम-मन-बानी । करहु कृपा सुत-सेवक जानी ॥
जिन्हहिं बिरचि बड़ भयउ बिधाता । महिमा-अवधि राम-पितु-माता ॥४॥

कर्म, मन, वाणी से मैं प्रणाम करता हूँ, अपने पुत्र का सेवक जानकर मुझ पर कृपा कीजिए। जिन्हें बना कर ब्रह्मा बड़े हुए, क्योंकि रामचन्द्रजी के पिता-माता महिमा की अवधि हैं अर्थात् इनसे बढ़ कर महिमावन्त कोई हो नहीं सकता ॥ ४ ॥

सो०—बन्दउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥ १६ ॥

अयोध्या के राजा (दशरथजी) की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका रामचन्द्रजी के चरणों में सच्चा प्रेम था, जिन्होंने दीनदयालु के बिछुड़ते ही अपने प्रिय शरीर को तिनके की तरह त्याग दिया ॥ १६ ॥

चौ०—प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू । जाहि राम-पद गूढ़-सनेहू ॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई । राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥१॥

कुटुम्ब सहित राजा जनक को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनका रामचन्द्रजी के चरणों में छिपा प्रेम था। उस (गूढ़ प्रेम) को उन्हों ने योग और भोग-विलास की ओट में छिपा रक्खा था, वह रामचन्द्रजी को देखते ही प्रत्यक्ष हो गया ॥ १ ॥

'राम बिलोकत प्रगटेउ सोई' का स्पष्टीकरण जब पहली भेंट जनकपुर में विदेह राज की हुई। इसी काण्ड के १२५ वें दोह के ऊपर नीचे देखिए।

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना । जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ॥
राम-चरन-पङ्कज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥२॥

(चारों भाइयों में) पहले मैं भरतजी के चरणों में प्रणाम करता हूँ, जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया जा सकता। रामचन्द्रजी के चरण कमलों में जिनका मन भ्रमर के समान आसक्त होकर उनका साथ नहीं छोड़ता ॥ २ ॥

बन्दउँ लछिमन-पद-जलजाता । सीतल सुभग भगत-सुखदाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड-समान भयउ जस जाका ॥३॥

लक्ष्मणजी के चरण-कमलों की मैं वन्दना करता हूँ, जो सुन्दर शान्तरूप और भक्तों को सुख देनेवाले हैं। रघुनाथजी का निर्मल यश पताका रूप है, जिनका यश (उस ध्वजा को फहराने-वाला) बाँस के समान हुआ ॥ ३ ॥

सेष सहस्र-सीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि-भय-टारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर । कृपासिन्धु सैामित्रि गुनाकर ॥४॥

जो जगत् के कारण (आधार-भूत) हज़ार सिरवाले शेषनाग पृथ्वी का डर दूर करने के लिए जन्म लिया, वे कृपासागर गुणों की खान, सुमित्रानन्दन मुझ पर सदा प्रसन्न रहें ॥४॥

जो सहस्र सिरवाले शेष पृथ्वी के कारण अर्थात् उसको अपने ऊपर सँभाल रखनेवाले हैं, उनका पृथ्वी पर अवतार लेना कथन-कारण से विरुद्ध कार्य्य की उत्पत्ति' पञ्चम विभावना अलंकार, है।

रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ॥
महाबीर बिनवउँ हनुमाना । राम जासु जस आपु बखाना ॥५॥

शत्रुहनजी के चरण-कमलों को मैं नमस्कार करता हूँ, जो शूरवीर, सुन्दर, शीलवान और भरतजी के (सेवक) पीछे चलनेवाले हैं। महाबली हनूमानजी को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनके यश को रामचन्द्रजी ने श्रीमुख से बखान किया है ॥ ५ ॥

सो०—प्रनवउँ पवनकुमार, खल बन पावक ज्ञान घन ।
जासु हृदय आगार, बसहिँ राम सर चाप धर ॥१७॥

पवन कुमार को प्रणाम करता हूँ, जो खल रूपी वन के लिए अग्नि रूप और ज्ञान की राशि हैं। जिनके हृदय-रूपी मन्दिर में धनुष-बाण धारण किये हुए रामचन्द्रजी निवास करते हैं ॥ १७ ॥

खलों में वन का आरोप करने के कारण हनूमानजी में अग्नि का आरोप किया गया है; क्योंकि वन को जलाने के लिए अग्नि ही समर्थ है। यह 'परम्परित रूपक अलंकार है।

चौ०—कपिपति रीछ निसाचर राजा । अङ्गदादि जे कीस-समाजा ॥
बन्दउँ सब के चरन सुहाये । अधम-सरीर राम जिन्ह पाये ॥१॥

वानरराज सुग्रीव, जाम्बवान, राक्षसराज विभीषण और अङ्गद आदि जो बन्दरों का समूह है, उन सबके सुन्दर चरणों को मैं प्रणाम करता हूँ, जिन्हों ने अधम (पशु और राक्षस) देह से रामचन्द्रजी को पाया ॥ १ ॥

रघुपति चरन उपासक जेते । खग मृग सुर नर असुर समेते ॥
बन्दउँ पद-सरोज सब केरे । जे बिनु काम राम के चेरे ॥२॥

पक्षी, मृग, देवता, मनुष्य और दैत्यों सहित जितने रघुनाथजी के चरणों की आराधना करनेवाले हैं, जो निष्काम रामचन्द्रजी के दास हैं, उन सब के चरण-कमलों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

सुक सनकादि भगत मुनि नारद । जे मुनिवर बिज्ञान बिसारद ॥
प्रनवउँ सबहिँ धरनि धरि सीसा । करहु कृपा जन जानि मुनीसा ॥३॥

शुकदेव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और नारदमुनि आदि भक्त ऋषिश्रेष्ठ जो विज्ञान में प्रसिद्ध हैं । धरती पर मस्तक रख कर सभी को प्रणाम करता हूँ। हे मुनीश्वरो ! मुझे अपना दास समझ कर कृपा कीजिए ॥ ३ ॥

जनक-सुता जग-जननि जानकी । अतिसय प्रिय करुना निधान की ॥
ताके जुग-पद-कमल मनावउँ । जासु कृपा निरमल मति पावउँ ॥४॥

जनकनन्दिनी जगत् की माता जानकीजी जो करुणानिधान रामचन्द्रजी की अतिशय प्यारी हैं । उनके दोनों चरण-कमलों को मैं मनाता हूँ, जिनकी कृपा से निर्मल बुद्धि पाऊँगा ॥४॥

पुनि मन-बचन-क्रम रघुनायक । चरन-कमल बन्दउँ सब लायक ॥
राजिव-नयन धरे धनु-सायक । भगत-बिपति-भञ्जन सुखदायक ॥५॥

फिर मैं मन, वचन और कर्म से सब प्रकार योग्य श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ । जिनके कमल के समान नेत्र हैं और जो हाथ में धनुष बाण लिए भक्तों की विपत्ति नाश कर उन्हें सुख देनेवाले हैं ॥ ५ ॥

दो०—गिरा-अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।
बन्दउँ सीता-राम-पद, जिन्हहिँ परम प्रिय खिन्न ॥१८॥

वाणी और अर्थ, पानी और लहर के समान, कहने के लिए अलग हैं, परन्तु वस्तुतः अलग नहीं (अभिन्न) हैं। ऐसे सीता और राम के चरणों की मैं वन्दना करता हूँ जिन्हें दुर्बल ही अत्यन्त प्यारे हैं, ॥ १८ ॥

गुटका में 'देखियत भिन्न न भिन्न' पाठ है

चौ०—बन्दउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु-भानु-हिमकर को॥
बिधि-हरि-हर-मय-बेद-प्रान सो। अगुन अनूपम गुन-निधान सो॥१॥

रघुकुल में श्रेष्ठ रामचन्द्रजी के नाम के अक्षरों की मैं वन्दना करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य्य और चन्द्रमा को उत्पन्न करने के आदि कारण हैं (र-अ-म, राम-नाम में ये तीन अक्षर हैं, तीनों अक्षर क्रमशः) ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप एवम् वेदों के प्राण समान हैं, निर्गुण उपमारहित और गुणों के भण्डार हैं॥ १॥

राम शब्द पहले कह कर फिर अक्षरों के क्रमानुसार रकार को अग्नि का, अकार को सूर्य्य का और मकार को चन्द्रमा का आदि कारण कहना 'यथासंख्य अलंकार' है। निर्गुण भी और गुण के निधान भी! इस कथन में 'विरोधाभास अलंकार' दोनों की संसृष्टि है। टीकाकारों ने इस स्थान पर अर्थ का बहुत बड़ा विस्तार किया है, पर सुगमता के लिए हमने संक्षेप में वर्णन किया।

महा मन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥२॥

जिस महामन्त्र को शिवजी जपते हैं, जिसका उपदेश ही काशी में मोक्ष का असली कारण है और जिसकी महिमा को गणेश जी जानते हैं। नाम ही के प्रभाव से वे प्रथम पूजे जाते हैं॥ २॥

पुराणों में ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक बार कुतूहल वश ब्रह्माजी ने देवताओं से पूछा कि तुम लोगों में सर्वश्रेष्ठ पूजनीय कौन है? इस पर सभी देवता हम हम कर के बोल उठे। ब्रह्मा ने कहा—जो पृथ्वी की परिक्रमा कर सब से पहले हमारे पास आवेगा, हम उसी को प्रथम-पूज्यपद प्रदान करेंगे। यह सुन कर सब देवता अपने अपने वाहनों पर सवार होकर दौड़े। गणेशजी का वाहन चूहा पिछड़ गया, इससे वे चिन्तित हुए। उसी समय वहाँ नारदजी आ गये। उन्होंने कहा 'राम' नाम में असंख्यों ब्रह्माण्ड भरे हैं, पृथ्वी पर नाम लिख कर परिक्रमा करके ब्रह्माजी के पास जाइये। गणेशजी ने विश्वास-पूर्वक वैसा ही किया और जाकर विरञ्चि से निवेदन किया। राम नाम के प्रभाव को समझ कर विधाता ने गणेशजी को प्रथम-पूज्य पद दिया।

जान आदिकबि नाम-प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
सहस-नाम-सम सुनि सिव बानी। जपि जेँई पिय सङ्ग भवानी॥३॥

आदिकवि वाल्मीकिजी नाम के प्रताप को जानते हैं, जो उलटा जाप कर के शुद्ध हुए। पार्वतीजी ने शिवजी के मुख से सुना कि रामनाम का एक बार उच्चारण सहस्रनाम के बराबर है, तब उन्होंने राम नाम जप कर पति के साथ भोजन किया॥ ३॥

राम नाम के उलटे (मरा मरा) जाप से वाल्मीकि का शुद्ध होना 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। वाल्मीकि मुनि के सम्बन्ध की टिप्पणी इसी काण्ड में दूसरे दोहे के आगे दूसरी चौपाई के नीचे देखो। गुटका में 'जान आदि कवि नाम प्रभाऊ। भयेउ सुद्ध कहि उलटा नाऊँ

पाठ है। ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि पार्वतीजी प्रतिदिन विष्णुसहस्रनाम का पाठ कर के भोजन करती थीं। एक बार शिवजी हरिपूजन से निवृत्त हो भोजन करने बैठे और पार्वतीजी को बुलाया कि प्रिये! आओ, तुम भी भोजन करो। इस पर पार्वतीजी ने प्रार्थना की, स्वामिन्! अभी मैंने विष्णुसहस्रनाम का पाठ नहीं किया। आप भोजन करें, मैं पीछे प्रसाद पा लूँगी। यह सुन कर शिवजी हसे और कहा—हे वरानने! तुम 'राम' नाम एक बार उच्चारण कर हमारे साथ भोजन करो, तुमको सहस्रनाम के बराबर फल हो जायगा। शिवजी के वचन का विश्वास मान कर पार्वतीजी ने वैसा ही किया। इसी कथा का सङ्केत ऊपर की चौपाई में किया गया है।

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥
नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥४॥

पार्वतीजी के हृदय की (राम-नाम में) प्रीति देख कर शिवजी प्रसन्न हुए और स्त्री के भूषण आप, सो स्त्री ही को भूषण (अर्द्धाङ्ग निवासिनी) बनाया, अथवा भूषण रूपी स्त्रियों का उन्हें भूषण बनाया। नाम के प्रभाव को शिवजी अच्छी तरह जानते हैं, नाम ही की प्रभुता से विष ने उन्हें अमृत का फल दिया॥ ४॥

दो०–बरषा रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादवँ मास॥१९॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि रघुनाथजी की भक्ति वर्षा ऋतु है और सुन्दर भक्तजन धान के बिरवा हैं। राम-नाम के दोनों श्रेष्ठ अक्षर श्रावण और भादों के महीने हैं॥१९॥

चौ०–आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक-लाहु परलोक-निबाहू॥१॥

दोनों अक्षर मधुर मनोहर हैं और जो वर्ण भक्तजनों के हृदय के नेत्र हैं। वे स्मरण करने में सरल और सब को सुख देनेवाले हैं, जिनसे लोक में लाभ तथा परलोक में निर्वाह (मोक्ष की प्राप्ति होती) है॥१॥

'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ' का भावार्थ पं० रामबकस पाण्डेय ने लिखा है कि—सो सम्पूर्ण अक्षरों के आँखी हैं और सब जनों के जीव हैं। सभा की प्रति के टीकाकार कहते हैं—ये सब अक्षरों के तथा मनुष्यों के हृदय के भी नेत्र हैं अर्थात् ये सब अक्षरों के सिर पर विराजते हैं और जिनके हृदय में ये अक्षर रूपी नेत्र नहीं वे अन्धे हैं।

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम-लखन-सम प्रिय तुलसी के॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म-जीव-इव सहज-सँघाती॥२॥

(दोनों अक्षर) कहने सुनने और स्मरण करने में बहुत ही सुहावने हैं और तुलसीदास को रामचन्द्र और लक्ष्मणजी के समान प्यारे हैं। वर्णन करने में श्रेष्ठ हैं, इनकी प्रीति (परस्पर की मैत्री) अलगाती नहीं, ब्रह्म और जीव के समान (युगल वर्ण) स्वाभाविक साथी हैं॥२॥

प्रायः लोग 'बरनत बरन प्रीति बिलगाता' पाठ मान कर इस तरह अर्थ करते हैं कि—वर्णन करने में अक्षरों की प्रीति अलग हो जाती है। पर इस अर्थ से आगे के उदाहरण से विरोध पड़ता है। यहाँ तो कहने का यह भाव है कि दोनों अक्षरों की ऐसी अभिन्न प्रीति है, जैसे ब्रह्म और जीव का स्वाभाविक साथ।

नर-नारायन-सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेष जन त्राता॥
भगति-सुतिय कल करन-बिभूषन। जग-हित-हेतु बिमल बिधु-पूषन॥३॥

नर-नारायण के समान (दोनों) श्रेष्ठ बन्धु हैं, जगत के पालक, विशेष करके जनों के रक्षक हैं। भक्ति रूपी सुन्दर स्त्री के कानों के मनोहर आभूषण हैं और संसार के कल्याण के लिए चन्द्रमा एवम् सूर्य्य हैं॥३॥

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥
जन-मन-मञ्जु-कञ्ज-मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥४॥

मोक्ष रूपी अमृत के (दोनों वर्ण) स्वादु और सन्तोष के समान हैं, धरती को धारण करने में कच्छप और शेषनाग के बराबर हैं, भक्तों के मन रूपी सुन्दर कमल (को पोषण करने) के लिए जल और किरण के तुल्य हैं, और जिह्वा रूपी यशोदा [को प्रसन्न करने] के लिए श्रीकृष्णचन्द्र और बलरामजी के समान हैं॥४॥

'मधुकर' शब्द भ्रमर का बोधक नहीं, जल और सूर्य्य की किरण से प्रयोजन है जो कमल के पोषण करनेवाले हैं।

दो०—एक छत्र एक मुकुट-मनि, सब बरनन्हि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजित दोउ॥२०॥

एक (रेफ—ʼ) क्षत्र हो कर और दूसरा [बिन्दु—ं रूप] मुकुट मणि हो कर जो सब वर्णों पर रहते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि रघुनाथजी के नाम के अक्षर (रकार और मकार) दोनों इस तरह विराजमान होते हैं॥२०॥

रकार, मकार सब वर्णों के सिर पर विराजते हैं। इस बात का समर्थन युक्ति से करना कि रकार, रेफ होकर और मकार विन्दु होकर 'काव्यलिंग अलंकार' है।

चौ०—समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥१॥

नाम और नामी (राम-नाम और रामचन्द्र) समझने में बराबर हैं, इनकी प्रीति आपस में स्वामी सेवक के समान है। नाम और रूप दोनों ईश्वर के प्रतिष्ठासूचक-पद हैं, जो कहने की सामर्थ्य के बाहर अनादि हैं, अच्छी समझ से जाने जाते हैं॥१॥

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहहिँ साधू॥
देखिअहि रूप नाम-आधीना। रूप-ज्ञान नहिँ नाम बिहीना॥२॥

कौन बड़ा और कौन छोटा है? यह कहने में दोष होगा, इनके गुण के अन्तर को सुन कर सज्जन लोग समझ लेंगे कि कौन बड़ा और कौन छोटा है। नाम के अधीन रूप देखने में आता है, पर नाम के बिना रूप का परिज्ञान नहीं होता॥२॥

ऊपर कह आये हैं कि नाम प्रभु के समान और प्रभु उसके सेवक के समान हैं। अपनी ही कही हुई बात को समझ कर फिर उसका निषेध करना कि कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह कहने में अपराध होगा 'उक्ताक्षेप अलंकार' है! रूप नाम के अधीन है अर्थात् नाम मालूम रहने पर खोजने से वह रूप दिखाई देता है, पर बिना नाम के रूप का ज्ञान नहीं होता।

रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिँ पहिचाने॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे॥३॥

रूप कैसा ही बढ़ कर हो; पर बिना नाम जाने; वह हाथ ही में क्यों न प्राप्त हो, किन्तु पहचान में नहीं आता। रूप के बिना देखे ही नाम स्मरण करने से मन में अधिक प्रीति उत्पन्न होती है॥ ३॥

नाम-रूप-गुन अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥४॥

नाम और रूप के गुणों की कथा कहना सामर्थ्य से बाहर है, वह समझने में आनन्द-दायक है, पर कही नहीं जा सकती। निर्गुण-ब्रह्म और सगुण-ब्रह्म के बीच में नाम सुन्दर साक्षी है, दोनों का विशेष रूप से ज्ञान कराने में चतुर दुभाषिया है॥ ४॥

दो०—राम-नाम मनि-दीप धरु, जीह देहरी-द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जौं चाहसि उँजियार॥२१॥

तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि तू बाहर भीतर उँजेलो चाहता है, तो रामनाम-रूपी मणि का दीपक जीभ रूपी दरवाजे के चौखट पर रख॥ २१॥

चौ०—नाम जीह जपि जागहिँ जोगी। बिरति बिरञ्चि प्रपञ्च बियोगी॥
ब्रह्म सुखहि अनुभवहिँ अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥१॥

नाम को जीभ से जप कर योगी लोग ब्रह्मा के प्रपञ्च से अलग होकर वैराग्य में सचेत रहते हैं। वे अनुपम ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं, जो बिना नाम और बिना रूप का अकथनीय एवम् निर्दोष है॥ १॥

जाना चहहिँ गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिँ तेऊ॥
साधक नाम जपहिँ लव लाये। होहिँ सिद्ध अनिमादिक पाये॥२॥

जो गूढ़-गति (आत्मा-परमात्मा के भेद) को जानना चाहते हैं, वे भी जीभ से नाम को जप कर जानते हैं। लौ लगा कर साधक नाम जपते हैं और अणिमा आदि सिद्धियों को पाकर सफल-मनोरथ होते हैं॥ २॥

जपहिँ नाम जन आरत भारी। मिटहिँ कुसङ्कट होहिँ सुखारी॥
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥३॥

अत्यन्त दुखी भक्तजन नाम जपते हैं, उनके बुरे संकट मिट जाते और वे सुखी होते हैं। संसार में चार प्रकार के रामभक्त हैं, वे चारों पुण्यात्मा, निष्पाप और श्रेष्ठ हैं॥ ३॥

ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त जिनकी गणना ऊपर कर आये हैं येही चार प्रकार के रामभक्त हैं। ज्ञानी—ईश्वर को जान कर भजनेवाले, जैसे—नारद आदि। जिज्ञासु—ईश्वर को जानने की इच्छा रखनवाले, जैसे परीक्षित आदि। अर्थार्थी—कार्य सिद्धि के लिए ईश्वर का स्मरण करनेवाले, जैसे—सुग्रीवादि। आर्त्त—दुःख में पड़ कर ईश्वर को याद करनेवाले, जैसे—गजेन्द्र, द्रौपदी आदि। इसी क्रम से ऊपर का वर्णन है। यह भगवद्गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा है—"चतुर्विधा भजन्ते माम् जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ"।

चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेष पियारा॥
चहुँ जुग चहुँ स्तुति नाम प्रभाऊ। क़लि बिसेष नहिँ आन उपाऊ॥४॥

चारों चतुर भक्तों को नाम ही का आधार है, प्रभु रामचन्द्रजी को ज्ञानी अधिक प्यारा है। चारों युगों के लिए चारों वेदों में नाम की महिमा कही है, विशेषतः कलियुग के लिए तो दूसरा उपाय नहीं है॥ ४॥

दो०—सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम प्रेम पीयूष ह्रद, तिन्हहुँ किये मन मीन॥२२॥

सम्पूर्ण कामनाओं से रहित होकर जो रामभक्ति के रस में डूबे हुए हैं। राम नाम के प्रेम रूपी अमृत के कुण्ड में उन्होंने अपने मनको मछली रूप बना रक्खा है॥२२॥

सभा की प्रति 'नाम सुप्रेम-पियूष ह्रद' पाठ है।

चौ०—अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥१॥

ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दो स्वरूप हैं, जो कथन की शक्ति से परे, न जानने योग्य, आदि रहित और अनुपमेय हैं। मेरे मत में नाम दोनों से बड़ा है, जिसने अपने बल से (सगुण-निर्गुण) दोनों को अपने वश में कर लिया है॥१॥

प्रौढ़ सुजन जनि जानहिँ जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एक दारु गत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥२॥

पहले कह आये हैं कि—"को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन-भेद समुझिहहिँ साधू॥ छमिहहिँ सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिँ बाल बचन मन लाई। अब अपना मत स्थापना कर कहना कि मेरे मत से नाम बड़ा है, इस विरोध भाव को दूर करने के लिए कहते हैं कि—सज्जन लोग इस सेवक की पूर्णवयस्कता (जवानी) न समझेंगे, मैं अपने मन का विश्वास, प्रीति और अभिलाषा कहता हूँ। एक लकड़ी के भीतर (अदृश्य रूप से व्याप्त) और दूसरी प्रत्यक्ष दिखाई देती है, दोनों ब्रह्म का ज्ञान (परिचय) ठीक अग्नि के समान है॥२॥

एक अग्नि जो काठ के भीतर रहती है, पर दिखाई नहीं देती, उसकी समता निर्गुण-ब्रह्म से और दूसरी जो आँख से प्रज्ज्वलित देख पड़ती है, उसकी समता सगुण ब्रह्म से है।

उभय अगम जुग सुगम नाम तेँ। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तेँ ॥
ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी ॥३॥

दोनों ब्रह्म दुर्गम हैं, किन्तु नाम से दोनों सहज में प्राप्त होते हैं, इसी से मैं परब्रह्म और श्रीरामचन्द्रजी से नाम को बड़ा कहता हूँ। जो ब्रह्म सर्वव्यापक, अद्वितीय, माननीय, चैतन्य और निरन्तर आनन्द की राशि है ॥३॥

ब्रह्म और रामचन्द्रजी से राम-नाम के बड़े होने का समर्थन यह कह कर करना कि निर्गुण सगुण दोनों ब्रह्म की प्राप्ति दुर्गम है, परन्तु नाम के स्मरण से दोनों सुगम होते हैं 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥
नाम निरूपन नाम जतन तेँ। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तेँ ॥४॥

ऐसे निर्विकार ईश्वर के हृदय में रहते हुए संसार के समस्त जीव दीन और दुखी हैं! नाम के निदर्शन (प्रकट करने का कार्य्य) और नाम के प्रयत्न से वह भी कैसे प्रकट होता है, जैसे रत्न से मूल्य प्रत्यक्ष होता है ॥४॥

चौपाई के पुर्वार्द्ध में निर्विकार आनन्द की राशि परमात्मा प्राणियों के हृदय में विद्यमान हैं, फिर भी जीवों का दुखी रहना 'विशेषोक्ति और विरोधाभास' का सन्देहसङ्कर है। उत्तरार्द्ध में पहले कहा कि नाम के निरूपण और नाम के यत्न से वह (ब्रह्मानन्द) प्रकट होता है, इस बात का विशेष से समता दिखाना कि जैसे रत्न से मोल ज़ाहिर होता है 'उदाहरण अलंकार' है।

दो०—निरगुन तेँ एहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ राम तेँ, निज बिचार अनुसार ॥२३॥

इस तरह निर्गुण-ब्रह्म से नाम का प्रभाव बहुत ही बड़ा है। अब जिस प्रकार रामचन्द्रजी से नाम बड़ा है, वह अपनी समझ के अनुसार कहता हूँ ॥ २३ ॥

उपमेय ब्रह्म और रामचन्द्रजी से उपमान राम-नाम को बढ़ कर जताना 'द्वितीय प्रतीप अलंकार' है।

चौ०—राम भगत हित नर तनु धारी। सहि सङ्कट किय साधु सुखारी ॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिँ मुद मङ्गल बासा ॥१॥

रामचन्द्रजी ने भक्तों की भलाई के लिए शरीरधारी हो सङ्कट सह कर सज्जनों को सुखी किया। नाम को प्रेम के साथ जपने से बिना परिश्रम ही भक्तजन आनन्द और मङ्गल के स्थान होते हैं ॥ १ ॥

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी ॥२॥

रामचन्द्रजी ने एक तपस्वी की स्त्री (अहल्या) का उद्धार किया और नाम ने करोड़ों खलों की दुष्ट-बुद्धि (रूपी स्त्री) को अच्छे मार्ग पर लगा दिया। रामचन्द्रजी ने मुनि के

कल्याणार्थ सुकेतु राक्षस की कन्या (ताड़का) को उसकी सेना और पुत्र के सहित निःशेष (विध्वंस) किया ॥ २ ॥

एक तपस्विनी को तार देना कोई विशेषता नहीं, नाम ने करोड़ों दुष्टों की कुबुद्धि रूपिणी स्त्री को सुधार दिया। यहाँ वाच्यार्थ व्यंगार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणी-भूत व्यङ्ग है।

सहित दोष-दुख दास दुरासा । दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा ॥
भञ्जेउ राम आपु भवचापू । भव-भय-भञ्जन नाम-प्रतापू ॥३॥

भक्तों के दोष, दुःख सहित बुरी तृष्णा को नाम कैसे संहार करता है, जैसे सूर्य्य रात्रि का नाश करते हैं। रामचन्द्रजी ने स्वयम् शिवजी के धनुष का खण्डन किया और नाम के प्रभाव ने संसार के भयों को चूर चूर कर दिया ॥३॥

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन । जन-मन-अमित नाम किय पावन ॥
निसिचर-निकर दले रघुनन्दन । नाम सकल-कलि-कलुष निकन्दन ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने दण्डक वन को सुहावना किया और नाम ने असंख्यों भक्तों के मन को पवित्र किया। रघुनाथजी ने राक्षसों के झुण्ड का विध्वंस किया और नाम ने कलियुग के सारे पापों का नाश कर डाला ॥४॥

दण्डक की कथा आरण्यकाण्ड में १२ वें दोहे के आगे ८ वीं चौपाई के नीचे देखो।

दो०–सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुन-गाथ ॥२४॥

शवरी और गिद्ध आदि अच्छे सेवकों को रघुनाथजी ने मोक्ष दिया और नाम ने असंख्यों दुष्टों का उद्धार किया, जिसके गुणों की कथा वेदों में प्रसिद्ध है ॥२४॥

शवरी की कथा आरण्यकाण्ड में ३४ से ३६ दोहे पर्य्यन्त और गिद्ध की ३० से ३२ दोहे तक देखो।

चौ०–राम सुकंठ बिभीषन दोऊ । राखे सरन जान सब कोऊ ॥
नाम गरीब अनेक निवाजे । लोक बेद बर बिरद बिराजे ॥१॥

रामचन्द्रजी ने सुग्रीव और विभीषण दोनों को शरण में रक्खा, यह सब कोई जानते हैं। नाम ने अपार ग़रीबों पर मिहरबानी की, जिसकी उत्तम नामवरी संसार और वेदों में विराजमान है ॥ १ ॥

'जान सब कोऊ' इस वाक्य में स्वयंलक्षित व्यङ्ग है कि दोनों को स्वार्थ के लिए शरण में रक्खा; किन्तु नाम ने असंख्यों दरिद्रों पर निःस्वार्थ दया की। सुग्रीव की कथा किष्किन्धा काण्ड में चौथे दोहे से ११ वें दोहे के आगे तीसरी चौपाई पर्य्यन्त और विभीषण की कथा सुन्दर काण्ड में ४१ से ४८ दोहे तक देखो।

राम भालु-कपि-कटक बटोरा । सेतु-हेतु स्रम कीन्ह न थोरा ॥
नाम लेत भव-सिन्धु सुखाहीं । करहु बिचार सुजन मन माहीं ॥२॥

रामचन्द्रजी ने भालू बन्दरों की सेना इकट्ठी करके समुद्र पर पुल बनाने में थोड़ा परिश्रम नहीं किया और नाम का मुख से उच्चारण करते ही संसार-सागर सूख जाता है। हे सज्जनो ! मन में विचार कीजिए (नामी से नाम की महिमा कितनी अधिक है) ॥ २ ॥

समुद्र में पुल बाँधने की कथा लङ्काकाण्ड के आदि में देखो ।

राम सकुल-रन-रावन मारा । सीय सहित निज-पुर पग धारा ॥
राजा राम अवध रजधानी । गावत गुन सुर-मुनि-बर-बानी ॥३॥

रामचन्द्रजी ने संग्राम में सकुटुम्ब रावण को मारा और सीताजी के सहित अपने नगर में पदार्पण किया। रामचन्द्रजी राजा हुए और अयोध्या राजधानी के गुण श्रेष्ठवाणी से देवता तथा मुनि गान करते हैं ॥ ३ ॥

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती । बिनु स्रम प्रबल मोह दल जीती ॥
फिरत सनेह-मगन सुख अपने । नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ॥४॥

भक्त लोग प्रीति-पूर्वक नाम को स्मरण करके बिना परिश्रम ही अज्ञान की ज़बर्दस्त सेना को जीत कर स्नेह में सराबोर हुए अपने आनन्द से विचरण करते हैं । नाम के प्रसाद से उन्हें स्वप्न में भी कोई सोच नहीं होता ॥ ४ ॥

दो०—ब्रह्म-राम-तें नाम बड़, बरदायक बरदानि ।
रामचरित-सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि ॥२५॥

निर्गुण-ब्रह्म और रामचन्द्रजी से नाम बड़ा है, जो वर देनेवालों को वर देनेवाला है। अतिशय अपार रामचरित में से (नाम को सार रूप) मन में जान कर शिवजी ने ग्रहण किया है ॥२५॥

उपमान निर्गुण-ब्रह्म और सगुण-रामचन्द्रजी से उपमेय रामनाम बड़ा कहा गया है और दोहे के दूसरे, तीसरे, चौथे चरण में उपमेय के उत्कर्ष का कारण कथन है। यह व्यतिरेक अलंकार है।

चौ०—नाम प्रसाद सम्भु अबिनासी । साज-अमङ्गल मङ्गल-रासी ॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी । नाम-प्रसाद ब्रह्म-सुख-भोगी ॥१॥

नाम के प्रसाद से शिवजी अविनाशी हैं और अमङ्गल के साज में मङ्गल के राशि हैं। शुकदेव, सनकादिक, सिद्ध, मुनि और योगीजन नाम ही के प्रसाद से ब्रह्मानन्द के भोगनेवाले हैं ॥१॥

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग-प्रिय-हरि हरि-हर-प्रिय आपू॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत-सिरोमनि भे प्रहलादू॥२॥

नाम के महत्व को नारदजी ने जाना, जिससे जगत के प्यारे विष्णु और शिवजी को आप प्रिय हुए। नाम के जपने से प्रभु रामचन्द्रजी प्रह्लाद पर प्रसन्न हुए और वे भक्तों के शिरोभूषण हो गये॥ २॥

नारद का संक्षिप्त वृत्तान्त इसी काण्ड में दूसरे दोहे के आगे प्रथम चौपाई के नीचे देखो। प्रह्लादजी अपने पिता हिरण्यकशिपु के बार बार मना करने पर राम-नाम के स्मरण से विरत नहीं हुए। उसने तरह तरह के दण्ड दिये, किन्तु उन्हें किसी प्रकार का उससे कष्ट नहीं पहुँचा। अन्त को वह प्रह्लाद को पत्थर के खम्भे से बाँध तलवार लेकर मारने को उद्यत हुआ। उस समय भगवान् नृसिंह रूप धारण कर खम्भे से निकल पड़े। दैत्य का बध कर प्रह्लाद की उन्होंने रक्षा की और उन्हें परमपद दिया। प्रह्लाद की कथा इसी काण्ड में ७८ दोहा के आगे प्रथम चौपाई के नीचे देखो।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि-नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
सुमिरि पवन-सुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥३॥

ध्रुव ने ग्लानि-पूर्वक भगवान् के नाम को जपा, जिससे अविचल और अनुपम स्थान पाया। पवनकुमार ने पवित्र नाम स्मरण कर रामचन्द्रजी को अपने वश में कर रक्खा है॥ ३॥

राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं। बड़ी रानी से ध्रुव और छोटी से उत्तम नाम के एक एक पुत्र हुए। राजा छोटी रानी को अधिक चाहते थे। एक दिन छोटी रानी के मन्दिर में बैठे कुमार को प्यार कर रहे थे, ध्रुव भी जा कर राजा की गोदी में बैठ गये। छोटी रानी ने झिड़क कर डाह से उन्हें गोद से अलग कर दिया। राजा कुछ न बोले। ध्रुव को ग्लानि हुई। पाँच ही वर्ष की अवस्था में घर त्याग वन को गये। नारदजी के उपदेशानुसार नाम स्मरण किया, उनकी तपस्या से प्रसन्न हो भगवान् ने दर्शन दे उन्हें अटल स्थान का निवास दिया। हनूमानजी की कथा सुन्दर काण्ड में ३० से ३२ वें दोहे पर्य्यन्त देखो।

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम-गुन गाई॥४॥

निर्लज्ज (पापी) अजामिल, हाथी और वेश्या भी भगवान् के नाम की महिमा से संसार-बन्धन से मुक्त हुए। नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ, रामचन्द्रजी भी नाम के गुणों का गान नहीं कर सकते॥ ४॥

पहले विशेष बात कही गई कि नाम के प्रभाव से नीच अजामिल, गज, गणिका मुक्त हुए। फिर नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ, इस सामान्य बात से उसकी पुष्टि है, परन्तु इतने से भी सन्तुष्ट न होकर फिर विशेष सिद्धान्त से उसका समर्थन करना कि नाम की बड़ाई रामचन्द्र भी नहीं कह सकते 'विकस्वर अलंकार' है। चौपाई के उत्तरार्द्ध में रामचन्द्रजी को कथन के अयोग्य ठहरा कर नाम की अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

अजामिल ब्राह्मण था, कुसंग में पड़ कर कुमार्गी, मांसाहारी, मद्यपी, चोर, ठग, वेश्यागामी हो गया था। सारी उमर उसने दुष्कर्मों में बिताई। सन्तोपदेश से पुत्र का नाम नारायण रक्खा। मरती बेर पुत्र को पुकारा। नाम के प्रभाव से वैकुण्ठवासी हुआ। गज—गजेन्द्र और ग्राह के युद्ध की कथा प्रसिद्ध है। हाथी ने दीन हो एक बार भगवान् का नाम लेकर पुकारा। गरुड़ को छोड़ कर पैदल दौड़े आये और उसे बचाया।

गणिका—पिंगला नाम की वेश्या अपने जार के इन्तज़ार में रात भर जागती रही, वह नहीं आया। उसको अपने दुष्कर्मों से घृणा हुई। दुर्वासनाओं को त्याग उसने ईश्वर में लव लगाया। वह नाम के प्रभाव से स्वर्गवासिनी हुई।

दो०—नाम राम को कलपतरु, कलि कल्यान-निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग तेँ, तुलसी तुलसीदास ॥२६॥

कलि में रामचन्द्रजी का नाम कल्याण का स्थान और कल्पवृक्ष है। जिसको स्मरण करके तुलसीदास भाँग से तुलसी हो गया ॥ २६ ॥

चौ०—चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका ॥
बेद-पुरान-सन्त मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥१॥

चारों युग, तीनों काल और तीनों लोक में नाम को जप कर जीव शोक रहित हुए हैं। वेद पुराण और सन्त जनों का यही मत है कि रामचन्द्रजी में प्रेम होना सम्पूर्ण पुण्यों का फल है ॥१॥

एक रामचन्द्रजी के स्नेह में सारे सुकृतों के फल की समता देना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है।

ध्यान प्रथम जुग मख बिधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे ॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥२॥

प्रथम—सत्ययुग में ध्यान से, दूसरे—त्रेतायुग में यज्ञ-विधान से और द्वापर में पूजा करने से भगवान प्रसन्न होते हैं। मलिन कलियुग केवल मैलेपन की जड़ है, जिसमें पाप रूपी समुद्र में लोगों का मन मछली रूप होकर निमग्न रहता है ॥ २ ॥

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥३॥

इस भीषण कलिकाल में नाम कल्पवृक्ष है, जो स्मरण करते ही संपूर्ण संसार के बन्धनों का नाश कर देता है। राम-नाम कलियुग में वाञ्छित फल का देनेवाला है और परलोक में माता-पिता के समान हितकारी है ॥ ३ ॥ गुटका में 'सुमिरत सकल समन जञ्जाला' पाठ है।

नहिँ कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलम्बन एकू ॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥४॥

कलियुग में न कर्म, न भक्ति और न ज्ञान ही का सहारा है, एक रामचन्द्रजी का नाम ही आश्रय देनेवाला है। कपट का स्थान कलियुग रूपी कालनेमि के लिए नाम सुन्दर मतिमान और समर्थ हनूमान है ॥ ४ ॥

'सुमति' में शाब्दी व्यङ्ग है कि हनूमानजी ने मकरी के बतलाने पर राक्षस का छल जाना, किन्तु नाम रूपी हनूमान मतिमान है, बिना किसी के सुझाये कलि के कपट का नाशक है ।

दो०—राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुर साल ॥२७॥

राम नाम नृसिंह रूप है और कलिकाल हिरण्यकशिपु है । जप करनेवाले भक्तजन प्रह्लाद रूप हैं । नाम रूपी नृसिंह देवताओं के दुखदाई हिरण्यकशिपु का नाश कर जापक-प्रह्लाद की रक्षा करेगा ॥ २७ ॥

चौ०—भाय कुभाय अनख आलसहूँ । नाम जपत मङ्गल दिसि दसहूँ ॥
सुमिरि सो नाम राम गुनगाथा । करउँ नाइ रघुनाथहि माथा ॥१॥

प्रीति, वैर, गुस्सा अथवा आलस्य से भी नाम जपने पर दशों दिशाओं में मङ्गल होता है । वही राम-नाम स्मरण कर के और रघुनाथजी को मस्तक नवा कर उनके गुणों की कथा निर्माण करता हूँ ॥ १ ॥

चाहे प्रेम से या दुर्भाव से जपे, क्रोध से अथवा आलस्य से, नाम स्मरण करे । वह सब के लिए समान मङ्गलकारी है । हित अनहित में एक ही धर्म कल्याण करना 'चतुर्थ-तुल्ययोगिता अलंकार' है ।

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती । जासु कृपा नहिँ कृपा अघाती ॥
राम सुस्वामि कुसेवक मो सो । निज दिसि देखि दयानिधि पोसो ॥२॥

वही (रामचन्द्रजी) मेरी सब तरह से सुधारेंगे, जिनकी कृपा से कृपा भी नहीं अघाती अर्थात् कृपा भी जिनकी कृपा चाहती है । रामचन्द्रजी के समान श्रेष्ठ स्वामी और मेरे समान नीच सेवक ! पर अपनी ओर देख कर ही दयानिधान मुझे पालते हैं ॥ २ ॥

जिनकी कृपा से कृपा भी तृप्त नहीं होती, कृपालु रामचन्द्रजी की दयालुता उदारता भाव का अति करके वर्णन होना 'अत्युक्ति अलंकार' है । कहाँ रामचन्द्रजी के समान श्रेष्ठ स्वामी और कहाँ मेरे समान अधम सेवक ! इस अनमेल, में 'प्रथम विषम अलंकार', है । "जासु कृपा नहिँ कृपा अघाती" का अर्थ कुछ विद्वानों ने इस तरह किया है—"जिनकी कृपा भक्तों पर दया करने से कभी नहीं पूरी होती, अथवा जिनकी कृपा कृपा करने से नहीं अघाती" ।

लोकहु बेद सुसाहिब रीती । बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ॥
गनी गरीब ग्राम नर नागर । पंडित मूढ़ मलीन उजागर ॥३॥

अच्छे मालिक की रीति लोक में और वेदों में भी ज़ाहिर है कि वे विनती सुन कर प्रार्थना करनेवाले की आन्तरिक प्रीति पहचान लेते हैं । अमीर, ग़रीब, गँवई के रहनेवाले, नगर-निवासी, पण्डित, मूर्ख, मलिन (बुरे) और विख्यात—॥ ३ ॥

सुकवि कुकबि निज-मति-अनुहारी । नृपहि सराहत सब नर नारी ॥
साधु सुजान सुसील नृपाला । ईस-अंस-भव परम कृपाला ॥४॥

अच्छे कवि तथा बुरे कवि सब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार क्या स्त्री, क्या पुरुष, राजा की सराहना करते हैं। राजा सज्जन, चतुर, सुन्दर, शीलवान् और ईश्वर के अंश से उत्पन्न बड़ा ही दयालु होता है ॥ ४ ॥

सुनि सनमानहि सबहि सुबानी । भनिति भगति नति गति पहिचानी ॥
यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ । जान-सिरोमनि कोसलराऊ ॥५॥

राजा सराहना सुन कर और उनकी कहनूत, प्रीति, नम्रता और पहुँच परख कर सुन्दर वाणी से सबका सम्मान करता है। यह इतर (संसारी) राजाओं का स्वभाव है; किन्तु कोशलेन्द्र भगवान् जानकारों के शिरोमणि हैं ॥ ५ ॥

रीझत राम सनेह निसोते । को जग मन्द मलिन-मन मो ते ॥६॥

रामचन्द्रजी निरे स्नेह से प्रसन्न होते हैं पर संसार में मेरे समान नीच और मैले मनवाला दूसरा कौन है ? ॥ ६ ॥

रामचन्द्रजी का केवल प्रेम से रीझना कारण हैं और सेवक का प्रेमी होना कार्य्य है। यहाँ गोस्वामीजी का यह कहना कि मेरे समान नीच पापी मनवाला कोई नहीं है। कारण और कार्य्य में विरोध की झलक 'प्रथम असङ्गति अलंकार' है।

दो०-सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिँ राम कृपालु ।
उपल किये जलजान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु ॥

कृपालु रामचन्द्रजी मूर्ख सेवक की प्रीति और अभिलाषा की रक्षा करेंगे, जिन्होंने पत्थर को जहाज़ रूप और बन्दर भालुओं को सुन्दर बुद्धिवाले मन्त्री बनाया।

पहले एक सामान्य बात कही कि कृपासागर रामचन्द्रजी मूर्ख सेवक की प्रीतिरुचि का पालन करेंगे, फिर इस बात का विशेष सिद्धान्त से समर्थन करना कि जिन्होंने पत्थर को बोहित और बन्दर-भालु को सुजान मन्त्री बनाया 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

हौँहु कहावत सब कहत, राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ से, सेवक तुलसीदास ॥२८॥

मैं भी (अपने को रामभक्त) कहलाता हूँ और सब (मुझे रामदास) कहते हैं, रामचन्द्रजी इस निन्दा को सहते हैं। कहाँ सीतानाथ के समान स्वामी और कहाँ तुलसीदास के समान सेवक ! ॥ २८ ॥

चौ०-अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी ॥
समुझि सहम मोहि अपडर अपने । सो सुधि राम कीन्ह नहिँ सपने ॥१॥

मेरी इस ढिठाई का बहुत बड़ा दोष सुन कर पाप और नरक भी नाक सिकोड़ते हैं अर्थात् मुझ से घृणा करते हैं। यह समझ कर मुझे अपने अपडर (कल्पित भय) से संकोच हो रहा है, किन्तु रामचन्द्रजी ने इसका ख़याल स्वप्न में भी नहीं किया ॥ १ ॥

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही । भगति मोरि मति स्वामि सराही ॥
कहत नसाइ होइ हिय नीकी । रीझत राम जानि जन जी की ॥२॥

सज्जनों से सुन कर, शास्त्रादि को देख कर और सुन्दर हृदय के नेत्रों से निरीक्षण करके जान पड़ा कि जैसी भक्ति मेरी बुद्धि में है, वह स्वामी द्वारा सराही गई है। कहने में भले ही बिगड़ जाय, किन्तु हृदय में अच्छी हो तो रामचन्द्रजी भक्तों के मन की (प्रीति) जान कर प्रसन्न होते हैं॥ २॥

पहले विशेष बात कही कि सुन कर, देख कर और हृदय के नेत्रों से निहारकर यह मालूम हुआ है कि जैसी भक्ति मेरी मति में है, उसकी स्वामी ने श्रीमुख से सराहना की है। इसका सामान्य से समर्थन कि कहते न बने तो न सही, हृदय की प्रीति अच्छी हो तो उसे पहचान कर रामचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। गुटका में 'भगति भोरि मति स्वामी सराही' पाठ है। वहाँ अर्थ होगा कि—"अज्ञात मति की भक्ति को भी स्वामी ने सराही है।"

रहति न प्रभु चित चूक किये की । करत सुरति सय बार हिये की ॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध इव बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी के मन में (सेवकों के) चूक करने की सुध नहीं रहती, वे सौ सौ बार उनके हृदय की (प्रीति की) याद करते हैं। जिस पाप से बाली को ब्याध की तरह (छिप कर मारा) फिर सुग्रीव ने वही किया॥ ३॥

छोटे भाई की स्त्री जो कन्या के समान थी, बाली ने उसे पत्नीभाव से माना, इस अपराध से उसे वध किया। सुग्रीव ने भी तो वही अपराध किया कि जेठे भाई की स्त्री जो माता के समान थी, उसको अपनी जोरू बना ली। इन दोनों वाक्यों में असत की एकता 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

सोइ करतूति बिभीषन केरी । सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने । राज-सभा रघुबीर बखाने ॥४॥

वही करनी विभीषण की थी, पर रामचन्द्रजी ने स्वप्न में भी अपने मन में उनके दुराचरणों की ओर निगाह नहीं की। बलिक भरतजी से मिलते समय रघुनाथजी ने उनका सत्कार करके राजदरबार में बखान किया॥ ४॥

दो०—प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान ।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान ॥

प्रभु रामचन्द्रजी पेड़ के नीचे और बन्दर डाली पर विराजमान! इतनी बड़ी गुस्ताख़ी कि स्वामी ज़मीन पर और सेवक वृक्ष पर अर्थात् सिर पर चढ़ कर बैठें। उनको अपने बराबर बना दिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्रजी के समान शीलनिधान स्वामी कहीं कोई नहीं है।

राम निकाई रावरी, है सबही को नीक ।
जौं यह साँची है सदा, तौ नीको तुलसीक ॥

हे रामचन्द्रजी ! यदि आप की अच्छाई सभी के लिए भली है और यह बात सच्ची है, तो तुलसी का भी सदा अच्छा ही होगा ।

एहि विधि निज गुन दोष कहि, सबहि बहुरि सिर नाइ ।
बरनउँ रघुबर-बिसद-जस, सुनि कलि कलुष नसाइ ॥२६॥

इस तरह अपना गुण-दोष कह कर फिर सभी को सिर नवा कर श्रीरघुनाथजी का निर्मल यश वर्णन करता हूँ, जिसे सुनकर कलियुग के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

चौ०–जागबलिक जो कथा सुहाई । भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई ॥
कहिहउँ सोइ सम्बाद बखानी । सुनहु सकल सज्जन सुख मानी ॥१॥

जो सुहावनी कथा याज्ञवल्क्यजी ने मुनिवर भारद्वाजजी को सुनाई थी; उस संवाद को मैं बखान कर कहूँगा । हे सज्जनो ! आप लोग सुख मान कर सुनिए ॥ १ ॥

सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥
सोइ शिव कागभुसुंडिहि दीन्हा । रामभगति अधिकारी चीन्हा ॥२॥

यह सुहावना चरित्र शिवजी ने निर्माण किया, फिर उन्होंने कृपा करके पार्वतीजी को सुनाया । वही रामभक्ति का अधिकारी जान कर शिवजी ने कागभुशुण्ड को दिया ॥ २ ॥

तेहि सन जागबलिक पुनि पावा । तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥
ते स्रोता बकता सम सीला । समदरसी जानहिं हरिलीला ॥३॥

फिर उन (कागभुशुण्डजी) से याज्ञवल्क्यजी ने पाया और उन्होंने भरद्वाजजी से वर्णन किया । वे श्रोता-वक्ता समान स्वभाववाले समदर्शी (निष्पक्ष) और भगवान् की लीला के जाननेवाले थे ॥ ३ ॥

जानहिं तीनि काल निज-ज्ञाना । करतल गत आमलक समाना ॥
औरउ जे हरिभगत सुजाना । कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना ॥४॥

वे अपने ज्ञान से तीनों काल की बात हाथ पर रक्खे हुए आँवले के समान जानते थे । और भी जो चतुर हरिभक्त नाना प्रकार से कहते सुनते और समझते हैं ॥ ४ ॥

दो०–मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकरखेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥

फिर मैं ने अपने गुरुजी से वह कथा वराहक्षेत्र में सुनी । तब बालपन के कारण बहुत नासमझ था, इससे जैसी हरिकथा है वैसी नहीं समझी ।

"तब अति रहेउँ अचेत" इस वाक्य से यह ध्वनि प्रकट हो रही है कि अचेत तो अब भी हूँ, पर तब लड़काई के कारण ज़्यादा नासमझ था। सरयू और घाघरा का संगम—जो अयोध्याजी के पच्छिम बारह कोस पर स्थित है, वह—वराहक्षेत्र है।

सोता बकता ज्ञान-निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझउँ मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित-बिमूढ़ ॥३०॥

रामचन्द्रजी की कथा गूढ़ (जिसका आशय जल्दी समझ में न आवे) है, उसके श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञान-निधान होने चाहिएँ। मैं कलि के पापों से ग्रसा हुआ जड़जीव महामूर्ख उसको कैसे समझ सकता था ? ॥ ३० ॥

सभा की प्रति में 'किमि समुझइ यह जीव जड़' पाठ है।

चौ०—तदपि कही गुरु बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥१॥

तो भी गुरुजी ने बार बार कही, तब कुछ बुद्धि के अनुसार समझ पड़ी। उसीको मैं भाषा-छन्दों में निर्माण करूँगा, जिससे मेरे मन में सन्तोष होगा ॥१॥

जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥
निज सन्देह-मोह-भ्रम-हरनी। करउँ कथा भव-सरिता-तरनी ॥२॥

जैसा कुछ बुद्धि और ज्ञान का बल मुझ में है, वैसा हृदय में भगवान् की प्रेरणा से कहूँगा। अपना सन्देह, अज्ञान और भ्रम को हरनेवाली तथा संसार रूपी नदी के लिये नौका रूपी राम-कथा मैं बनाता हूँ ॥२॥

बुध-बिस्राम सकल-जन-रञ्जनि। राम-कथा कलि-कलुष-बिभञ्जनि॥
रामकथा-कलि-पन्नग-भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी ॥३॥

रामचन्द्रजी की कथा विद्वानों को विश्राम देनेवाली और सम्पूर्ण भक्तजनों को प्रसन्न करनेवाली है। फिर राम-कथा कलिकाल-रूपी सर्प के लिए मोरिनी पक्षी है और ज्ञान रूपी अग्नि को प्रज्वलित करने में अग्निमन्थ की सूखी लकड़ी रूप है ॥३॥

"भरणी मयूरपत्नीस्यात्—इति मेदनी कोशः"। अरणी एक प्रकार का जंगली वृक्ष है, इसकी लकड़ी यज्ञादि में आग निकालने के काम आती है। इसको गनियार और अगेथु भी कहते हैं। इसकी सूखी लकड़ी मसाल की तरह जलती है। और घिसने से इससे तुरन्त अग्नि उत्पन्न होती है।

रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि मूरि सुहाई॥
सोइ बसुधातल सुधा तरङ्गिनि। भय भञ्जनि भ्रम भेक भुअङ्गिनि ॥४॥

कलियुग में रामचन्द्रजी की कथा कामधेनु है, सज्जनों के लिए सुन्दर सजीवनी जड़ी

है। वह पृथ्वीतल पर अमृत की नदी है, भय को चूर चूर करनेवाली है और भ्रान्ति रूपी मेढकों को भक्षण करने के लिए नागिन है ॥ ४ ॥

एक रामकथा को कामधेनु, सजीवनमूरि और सुधा-तरङ्गिणी वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है।

असुर सेन सम नरक निकन्दिनि। साधु बिबुध कुल हित गिरिनन्दिनि ॥
सन्त समाज पयोधि रमा सी। बिस्व भार भर अचल छमा सी ॥५॥

दैत्यों की सेना के समान नरकों का नाश कर साधु रूपी देव-कुटुम्ब की भलाई करने में पार्वती (दुर्गा) के समान है। सन्तों को मण्डली रूपी क्षीरसागर के लिए लक्ष्मी के समान है और संसार का बोझा उठाने में नितान्त पृथ्वी के समान अचल है ॥ ५ ॥

'गिरिनन्दिनि' शब्द श्लेषार्थी है। इससे पार्वती और गंगाजी दोनों अर्थ निकलते हैं।

जमगन मुँह मसि जग जमुना सी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी ॥
रामहिँ प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥६॥

संसार में रामकथा यमदूतों के मुख में यमुनाजी के समान कालिख पोतनेवाली है और जीवन्मुक्त (जो जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सांसारिक मायाबन्धन से छूट गया हो) के लिए तो मानों काशी ही है। रामचन्द्रजी को पवित्र तुलसी के समान प्यारी है और तुलसीदास की हुलसी (माता) के समान हृदय से भला करनेवाली है ॥ ६ ॥

पुराणों का कथन है कि यमुना सूर्य्य की पुत्री और यमराज पुत्र हैं। यमुना ने वर पा लिया है कि जो मुझ में स्नान करे, उसे यमदूत दण्ड न दे सकें।

सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी। सकल सिद्धि सुख सम्पतिरासी ॥
सदगुन सुरगन अम्ब अदिति सी। रघुबर भगति प्रेम परमिति सी ॥७॥

शिवजी को रामकथा मेकल-पर्वत की कन्या (नर्मदा नदी) के समान प्यारी है, समस्त सिद्धि सुख तथा सम्पत्ति की राशि है, उत्तम गुण रूपी देव-समूहों की माता अदिति के समान (हितकारिणी) है और रघुनाथजी की प्रेमलक्षणाभक्ति की तो पराकाष्ठा (हद) है ॥७॥

दो०—रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु ॥३१॥

रामचन्द्रजी की कथा मन्दाकिनी-गङ्गा रूपी है और मन सुन्दर चित्रकूट रूप है। तुलसीदासजी कहते हैं कि स्नेह शोभायमान वन है, जहाँ सीताजी के सहित रघुनाथजी विहार करते हैं ॥ ३१ ॥

राम-जानकी के विहारस्थल के वर्णन में चित्रकूट का साङ्ग रूपक बाँधा है।

चौ०—राम चरित चिन्तामनि चारू। सन्त सुमति तिय सुभग सिँगारू ॥
जग मङ्गल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥१॥

रामचन्द्रजी का चरित्र सुन्दर चिन्तामणि रूप है, जो सन्तों की सुबुद्धि रूपी स्त्री का

मनोहर शृङ्गार है। रामचन्द्रजी के गुण-समूह जगत के कल्याण रूप हैं, मोक्ष, धन, धर्म और वैकुण्ठ-धाम के देनेवाले हैं ॥ १ ॥

सदगुरु ज्ञान बिराग-जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के।
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के ॥२॥

ज्ञान, वैराग्य और योग के लिए रामचरित श्रेष्ठ गुरु रूप है और संसाररूपी भयङ्कर रोग के हेतु अश्विनीकुमार देव-वैद्य हैं। सीताराम प्रेम के माता-पिता और सम्पूर्ण व्रत, धर्म और नियमों का आदि कारण है ॥ २ ॥

समन पाप सन्ताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के ॥
सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुम्भज लोभ उदधि अपार के ॥३॥

पाप, दुःख और शोक के लिए दण्डधर (यमराज) है, लोक तथा परलोक के हेतु प्रेम से पालन करनेवाला है, विचार रूपी राजा का बलवान् मन्त्री है और लोभ रूपी अपार समुद्र को सोखनेवाला अगस्त्य मुनि है ॥ ३ ॥

काम-कोह कलिमल करि गन के। केहरि सावक जन मन बन के ॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के ॥४॥

भक्तजनों के मनरूपी वन में विहार करनेवाले काम, क्रोध और कलि के दोष रूपी हाथी समूह के लिए सिंह का छौना है। शिवजी को अत्यन्त प्यारा पूज्य अतिथि रूप है और दरिद्र रूपी दावानल के लिए इच्छानुसार जल देनेवाला मेघ रूप है ॥ ४ ॥

मन्त्र महा मनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअङ्क भाल के ॥
हरन मोह तम दिनकर कर से। सेवक सालि पाल जलधर से ॥५॥

विषय रूपी सर्प-विष के लिए रामचरित महामन्त्र (गारुड़ि) और सर्पमणि है, जो मस्तक के लिखे कठिन बुरे लेखों को मिटा देता है। अज्ञान रूपी अन्धकार हरने के लिए सूर्य की किरणों के समान है और सेवकरूपी धान के बिरवा की रक्षा करने में मेघ के समान है ॥ ५ ॥

अभिमत दानि देवतरु बर से। सेवत सुलभ सुखद हरि हर से ॥
सुकबि सरद नभ मन उडुगन से। राम भगत जन जीवन धन से ॥६॥

वाञ्छित फल देने में रामचरित श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के समान है और सेवा करने में विष्णु तथा शिवजी के समान सहल एवम् सुख देनेवाला है। सुकवियों के मन रूपी शरद ऋतु के आकाश में तारागणों के समान है और रामभक्त जनों का तो जीवन-धन (सर्वस्व) के समान है ॥ ६ ॥

सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जग हित निरुपधि साधु लोग से ॥
सेवक मन मानस मराल से। पावन गङ्ग तरङ्ग माल से ॥७॥

सम्पूर्ण पुण्यों का फल रूपी विलास समूह के समान है और निःस्वार्थ भाव से संसार

का भला करने में साधु लोगों के समान है। भक्तों के मन रूपी मानसरोवर में हंस के तुल्य और पवित्रता में गङ्गाजी की लहरों के समान है॥ ७॥

दो०—कुपथ कुतर्क कुचाल कलि, कपट दम्भ पाखंड।
दहन राम गुनग्राम जिमि, ईंधन अनल प्रचंड॥

कुमार्ग, वितण्डावाद, अधम आचरण, विग्रह, कपट, घमण्ड और पाखण्ड रूपी सूखी लकड़ी या कण्डा को जलाने के लिए रामचन्द्रजी का गुण-ग्राम ऐसा है जैसे प्रज्वलित (धधकती हुई तीव्र) अग्नि।

रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेष बड़ लाहु॥३२॥

रामचन्द्रजी का चरित्र पूर्ण चन्द्र की किरणों के समान सब को सुख देनेवाला है, पर सज्जन रूपी कूईबेरा और चकोरों के मन को विशेष हितकारी एवम् लाभ की वस्तु है॥३२॥

चौ०—कीन्ह प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि सङ्कर कहा बखानी॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबन्ध बिचित्र बनाई॥१॥

जिस तरह पार्वतीजी ने प्रश्न किया और जिस प्रकार शङ्कर भगवान् ने बखान कर कहा, वह सब कारण मैं विचित्र कथा-प्रबन्ध रच कर गान करके कहूँगा॥ १॥

जेहि यह कथा सुनी नहिँ होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिँ जे ज्ञानी। नहिँ आचरज करहिँ अस जानी॥२॥

जिसने यह कथा न सुनी हो वह इसे सुन कर आश्चर्य्य न करे; क्योंकि जो ज्ञानवान हैं, वे अपूर्व कथा को सुनते हैं और ऐसा समझ कर विस्मय नहीं करते॥ २॥

राम कथाकै मिति जग नाहीँ। अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीँ॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥३॥

रामचन्द्रजी की कथा का संसार में हद नहीं, उनके मन में ऐसा विश्वास रहता है। अनेक प्रकार रामावतार हुए और अनन्त कोटि अपार रामायण (बने) हैं॥ ३॥

कलप भेद हरिचरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥
करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥४॥

भगवान् के सुहावने चरित्र को कल्प-भेद के अनुसार मुनीश्वरों ने अनेक तरह से गान किया है। ऐसा मन में रख कर सन्देह न कीजिए, आदर के साथ प्रीति मान कर कथा सुनिए॥४॥

दो०—राम अनन्त अनन्त गुन, अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिँ, जिन्ह के बिमल बिचार॥३३॥

रामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण अपार हैं और कथा का विस्तार अपरिमेय है। जिनके हृदय में निर्मल विचार है वे सुन कर आश्चर्य्य न मानेंगे॥ ३३॥

चौ०—यहि बिधि सब संसय करि दूरी । सिर धरि गुरु पद पङ्कज धूरी ॥
पुनि सबही प्रनवउँ कर जोरी । करत कथा जेहि लाग न खोरी ॥१॥

इस प्रकार सब सन्देह दूर कर के और गुरु महाराज के चरण-कमलों की धूल सिर पर धारण कर फिर सभी को हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ; जिससे कथा निर्माण करने में दोष न लगे ॥ १ ॥

सादर सिवहि नाइ अब माथा । बरनउँ बिसद राम गुन गाथा ॥
सम्बत सोरह सै इकतीसा । करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ॥२॥

अब आदर-पूर्वक शिवजी को मस्तक नवा कर रामचन्द्रजी के निर्मल गुणों की कथा वर्णन करता हूँ। सम्वत् १६३१ विक्रमाब्द में भगवान् के चरणों में सिर रख कर कथा निर्माण करता हूँ ॥ २ ॥

नौमी भौमबार मधु मासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥
जेहि दिन राम जनम स्रुति गावहिँ । तीरथ सकल तहाँ चलि आवहि ॥३॥

नौमी तिथि, मङ्गल वार, चैत्र के महीने में अयोध्यापुरी में यह चरित्र प्रकाशित हुआ। जिसको रामचन्द्रजी के जन्म का दिन वेद गाते हैं और सम्पूर्ण तीर्थ उस दिन वहाँ चल कर आते हैं ॥ ३ ॥

ग्रन्थ की जन्म-कुण्डली कही गई है। मि० चैत्र शुक्ल ६ मङ्गलवार सम्बत १६३१ विक्रमाब्द में ग्रन्थारम्भ हुआ।

असुर नाग खग नर मुनि देवा । आइ करहिँ रघुनायक सेवा ॥
जन्म महोत्सव रचहिँ सुजाना । करहिँ राम कल कीरति गाना ॥४॥

दैत्य, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता आकर रघुनाथजी की सेवा करते हैं, सज्जन लोग जन्म का महोत्सव रच कर रामचन्द्रजी की सुन्दर कीर्त्ति का गान करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—मज्जहिँ सज्जन बृन्द बहु, पावन सरजू नीर ।
जपहिँ राम धरि ध्यान उर, सुन्दर स्याम सरीर ॥३४॥

पवित्र सरयूनदी के जल में अनेक सज्जन-समूह स्नान करते हैं और 'सुन्दर श्याम शरीर रामचन्द्रजी का, हृदय में ध्यान धर कर नाम जपते हैं ॥ ३४ ॥

चौ०—दरस परस मज्जन अरु पाना । हरइ पाप कह बेद पुराना ॥
नदी पुनीत अमित महिमा अति । कहि न सकइ सारदा बिमल मति ॥१॥

वेद-पुराण कहते हैं कि जो दर्श, स्पर्श, स्नान और पान से पापों को हर लेती है, उस पवित्र नदी की बहुत बड़ी महिमा है, जिसको निर्मल बुद्धिवाली सरस्वती भी नहीं कह सकती ॥ १ ॥

सरस्वती वर्णन करने में अद्वितीय और आदर के योग्य हैं; किन्तु उन्हें कथन के अयोग्य ठहरा कर उनके सम्बन्ध से सरयूनदी की अतिशय महिमा प्रकट करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है ।

राम धामदा पुरी सुहावनि । लोक समस्त बिदित अति पावनि ॥
चारि खानि जग जीव अपारा । अवध तजे तन नहिँ संसारा ॥२॥

रामचन्द्रजी के धाम (वैकुण्ठ) को देनेवाली यह सुहावनी पुरी अत्यन्त पवित्र और सम्पूर्ण लोकों में विख्यात है । संसार में चार प्रकार के अपार जीव हैं, अयोध्याजी में शरीर तजने से वे संसार में फिर नहीं आते ॥ २॥

जीवों की उत्पत्ति की चार खानें हैं, स्वेदज, अण्डज, उद्भिद और जरायुज । सभा की प्रति में 'लोक समस्त विदित जग पावनि' पाठ है ।

सब बिधि पुरी मनोहर जानी । सकल सिद्धि प्रद मङ्गल खानी ॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरम्भा । सुनत नसाहिँ काम मद दम्भा ॥३॥

सम्पूर्ण सिद्धियों को देनेवाली, मङ्गल की खानि और सब तरह से मनोहर पुरी समझ कर निर्मल कथा का आरम्भ किया है, जिसके सुनने से काम, मद और पाखण्ड नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

राम-कथा कारण है, उसके सुनते ही काम-मद-दम्भ का नाशरूपी कार्य्य तुरन्त होना 'चपलातिशयोक्ति अलंकार, है ।

रामचरितमानस एहि नामा । सुनत स्रवन पाइय बिस्रामा ॥
मन करि विषय अनल बन जरई । होइ सुखी जौँ एहि सर परई ॥४॥

इसका नाम रामचरितमानस है; जिसको सुनते ही कानों को आनन्द मिलता है । मनरूपी हाथी विषयरूपी जङ्गल की आग में जलता हुआ यदि इस सरोवर में आ पड़े तो वह सुखी हो जाता है ॥ ४ ॥

रामचरितमानस मुनि भावन । बिरचेउ सम्भु सुहावन पावन ॥
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन । कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन ॥५॥

मुनियों को अच्छा लगनेवाला, पवित्र, सुहावना रामचरित-मानस शिवजी ने बनाया । यह तीनों प्रकार के दोष, दुःख और दरिद्रता का नाश करनेवाला है, कलियुग की कुरीति [पाजीपन] तथा सम्पूर्ण पापों का संहार करनेवाला है ॥५॥

त्रिताप, दुःख, दरिद्र, कलि की कुचाल और पाप सब को एक साथ ही रामचरित-मानस नष्ट करता है । यह मनोरञ्जन वर्णन 'सहोक्ति अलंकार है' ।

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा ॥
तातेँ रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ॥६॥

शिवजी ने इसकी रचना करके अपने मन में रख लिया था और अच्छा समय पा कर

उन्होंने पार्वतीजी से वर्णन किया। इसी से हृदय में खोज कर प्रसन्नता-पूर्वक शिवजी ने सुन्दर 'रामचरितमानस' नाम रक्खा ॥६॥

रामचरितमानस नाम रखने का समर्थन हेतुसूचक बात कह कर करना कि शिवजी ने अपने मानस में बनाकर रख लिया था इससे रामचरितमानस नाम रक्खा 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई । सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥७॥

वही सुहावनी सुख देनेवाली कथा मैं कहता हूँ, हे सज्जनो! मन लगा कर आदर के साथ सुनिए ॥७॥

दो०—जस मानस जेहि बिधि भयउ, जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउँ प्रसङ्ग सब, सुमिरि उमा बृषकेतु ॥ ३५ ॥

यह मानस जैसा है, जिस तरह हुआ और जिस कारण इसका संसार में प्रचार हुआ है, अब वह प्रसङ्ग शिव-पार्वतीजी का स्मरण करके कहता हूँ ॥३५॥

तीन बातों की विवेचना करने का विचार कविजी प्रगट करते हैं। (१) जैसा मानस है अर्थात् मानस का स्वरूप (२) जिस प्रकार से उत्पन्न हुआ है। (३) जिस कारण इसका जगत् में प्रचार हुआ है। ये तीनों बातें आगे मानस प्रकरण में मिलगी।

चौ०—सम्भु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कबि तुलसी ॥
करइ मनोहर मति अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥१॥

शिवजी की कृपा से हृदय में सुन्दर बुद्धि विकसित (प्रसन्न) हुई, जिससे तुलसी रामचरितमानस का कवि हुआ। अपनी मति के अनुसार मनोहर रचना करता है, हे सज्जनो! सावधानी से सुन कर सुधार लीजिए ॥१॥

पहले कह आये हैं कि मैं कवि नहीं हूँ और यहाँ कहते हैं कि शिवजी की कृपा से हृदय में सुबुद्धि हुलसित हुई, तब रामचरितमानस का तुलसी कवि हुआ है। शङ्कर के प्रसाद गुण से तुलसीदास का कवित्त रचना में गुणवान् होना 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। सज्जन वृन्द से सुधारने की प्रार्थना करने में अपनी लघुता व्यञ्जित करना अगूढ़ व्यङ्ग है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू । बेद पुरान उदधि घन साधू ।
बरषहिं राम सुजस बर बारी । मधुर मनोहर मङ्गलकारी ॥२॥

सुबुद्धि धरती रूपिणी है, हृदय (पानी ठहरने का) गहरा स्थान है, वेद-पुराण समुद्र रूप हैं और सज्जन मेघ हैं। वे रामचन्द्रजी का सुन्दर यश रूपी अच्छा मीठा, मनोहर और कल्याणकारी जल बरसते हैं ॥ २ ॥

यहाँ से कविजी उपमान-मानसरोवर के समस्त अङ्गों का आरोप उपमेय-रामचरितमानस में करके साङ्ग रूपक वर्णन करते हैं। मानस प्रकरण में साद्यन्त इसी अलंकार की प्रधानता है। पानी के गुण चार हैं, स्वच्छ, मधुर, शीतल और लोक का मङ्गल [कृषि वृद्धि] करना, रामचरित रूपी जल में इन गुणों का उल्लेख नीचे की चौपाइयों में करते हैं।

लीला सगुन जो कहहिँ बखानी । सोइ स्वच्छता करइ मलहानी ॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई । सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥३॥

जो सगुण-ब्रह्म की लीला बखान कर कहते हैं, वही मैल [पाप] को नष्ट करनेवाली जल की निर्म्मलता है । प्रेमलक्षणा-भक्ति जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वही मीठापन और अच्छी शीतलता है ॥३॥

सो जल सुकृत-सालि हित होई । रामभगत जन जीवन सोई ॥
मेधा महि गत सो जल पावन । सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन ॥४॥

वह जल पुण्य-रूपी धान के लिए हितकारी होता है और वही रामभक्त-जनों का जीवनाधार है । बुद्धि रूप पृथ्वी पर प्राप्त होकर वह पवित्र सुहावना जल कानरूपी रास्ते में बटुर कर चलता है ॥४॥

भरेउ सुमानस सुथल थिराना । सुखद सीत रुचि चारु चिराना ॥५॥

सुन्दर मानस रूपी (हृदय) श्रेष्ठ स्थल में भर कर थिराता है, पुराना होकर सुन्दर रुचिकारी, शीतल और आनन्द देनेवाला होता है ॥५॥

'मानस' शब्द श्लेषार्थी है । मन और मानसरोवर दोनों अर्थ निकलता है । जल पहले तालाब में पहुँच कर स्वच्छ नहीं होता, कुछ काल थिराने पर निर्मल, शीतल, सुखद और रुचिकर होता है । इस कथन में स्वभावोक्ति है ।

दो०—सुठि सुन्दर सम्वाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि ।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥ ३६ ॥

अत्यन्त सुन्दर श्रेष्ठ सम्वाद जो बुद्धि से विचार कर रचे गये हैं, वे ही इस पवित्र शोभन सरोवर के मनोहर चार घाट हैं ॥३६॥

शिव-पार्वती, कागभुशुण्ड गरुड़, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और तुलसीदास-श्रोतागण यही चारों सम्वाद हैं । क्रमशः ज्ञान, उपासना, कर्मकाण्ड एवम् दैन्य घाट चारों में कहे जाते हैं । तालाबों में प्रसिद्ध ये चार घाट होते हैं । जैसे—राजघाट, पंचायतीघाट, पनिघट और गौघाट । यहाँ भी यही क्रम जानना चाहिए । इस दोहा का अर्थ करने में विद्वानों ने खूब विस्तार किया है ।

चौ०—सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना । ज्ञान-नयन निरखत मन माना ॥
रघुपति-महिमा अगुन अबाधा । बरनब सोइ बर बारि अगाधा ॥१॥

सातों कांड सुन्दर सीढ़ियाँ हैं जिन्हें ज्ञान रूपी नेत्रों से निहार कर मन प्रसन्न होता है । रघुनाथजी की अपरिमित निर्गुण महिमा वर्णन करूँगा, वही इस श्रेष्ठ जल की गहराई है ॥१॥

ग्रन्थकार सातों निबन्धों को इस मानस की सीढ़ी गिनाते हैं, पर जो आठवाँ कांड बलात् जोड़ते हैं, वे देखें कि उनकी करतूत कविजी के संकल्प से सर्वथा विपरीत है । इन

सातों में रामचन्द्रजी की निर्गुण महिमा कथन, अगाधता है, जो 'सतपंच' चौपाई में १०५ या ५०० चौपाइयों को मुख्य गिना कर शेष को तुच्छ प्रदर्शित करते हैं वे कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हैं।

राम-सीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मञ्जु मनि सीप सुहाई॥२॥

रामचन्द्र और सीताजी का यश अमृत के समान मीठा जल है और मन को रमानेवाली उपमाएँ लहरों का आनन्द है। सुन्दर चौपाइयाँ घनी पुरइन (कमल पत्र) हैं और मनोहर युक्तियाँ मणि उत्पन्न करनेवाली सुहावनी सीपी हैं॥२॥

जैसे लहरों को देख कर प्रसन्नता होती है, वैसे उपमाओं से मनोविनोद होता है। जिस तरह कमलपत्र से जल ढँका रहता है, वैसे ही चौपाइयों में रामयश रूपी जल छिपा है। मानस की सुन्दर सीपियों में मोती उपजती है, उसी तरह युक्ति रूपी सीपी में हरिचरित्र रूपी मनोहर मणि उत्पन्न होती है।

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहु रङ्ग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा॥३॥

सुन्दर, छन्द, सोरठा और दोहे बहुत रंग के कमलों के समुदाय शोभित हैं। अनुपम अर्थ सुन्दर भाव और अच्छी भाषा (वाणी) वह क्रमशः फूलों की धूलि, पुष्प-रस और सुहानेवाली सुगन्धि है॥ ३॥

पहले अनुपम-अर्थ, सुभाव और सुभाषा कह कर फिर उसी क्रम से पराग, मकरन्द और सुगन्ध वर्णन करना 'यथा संख्य अलंकार' है।

सुकृत पुञ्ज मञ्जुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥४॥

पुण्यों की राशि मनोहर भ्रमरों के झुण्ड हैं, ज्ञान, वैराग्य और विचार राजहंस हैं। कविता की ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण और जाति वे बहुत तरह की मनोहारिणी मछलियाँ हैं॥४॥

जैसे फूलों पर उड़नेवाले भौंरे और मानसविहारी मराल सहज में दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे धर्म सम्बन्धी बातें, विज्ञान, वैराग्यदि कथन सुगमता से प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु जैसे मछली पानी के भीतर रहती है, वह सदा और सहज में नहीं दिखाई देती, वैसे काव्य की ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण एवम् जाति ध्यान से विचारने पर प्रकट होती है।

अरथ धरम कमादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी॥
नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥५॥

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों फल और जो ज्ञान, विज्ञान, नवरस, जप, तप, योग तथा वैराग्य विचार कर कहेंगे, वे सब सुन्दर तालाब के जलजीव हैं॥५॥

काव्य के नव रस ये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त रसों की व्याख्या मानस-पिंगल में देखो।

सुकृती साधु नाम गुन गाना । ते विचित्र जल विहँग समाना ॥
सन्तसभा चहुँ दिसि अँवराई । श्रद्धा रितु बसन्त सम गाई ॥६॥

पुण्यात्मा सज्जनों के नाम और गुणों का गान, इसके जलविहंग के समान अद्भुत पक्षी हैं। सन्तों की मण्डली मानस के चारों ओर आम का बगीचा है और श्रद्धा वसन्त ऋतु के समान वर्णित है ॥ ६ ॥

भगति निरूपन विविध विधाना । छमा दया द्रुम लता विताना ॥
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना । हरि पद रति रस बेद बखाना ॥७॥

अनेक प्रकार भक्ति का वर्णन क्षमा, दया और इन्द्रियनिग्रह का आदेश सन्त रूपी आम के वृक्ष पर लता-मण्डप तना है। समदर्शिता विषयों से संयम उपासनादि के नियम फूल तथा ज्ञान फल रूप है, वेद कहते हैं कि भगवान के चरणों की प्रीति ही रस रूप है ॥७॥

जैसे वृक्षों पर वेलियाँ फैल कर वितान रूप होकर सोहती हैं, वैसे सन्तों में क्षमा, दया, दम और भक्तिनिरूपण शोभनीय लतायें हैं। सभा की प्रति में 'क्षमा दया द्रुम लता विताना और हरि-पद रस बर बेद बखाना' पाठ है।

औरउ कथा अनेक प्रसङ्गा । तेइ सुक पिक बहु बरन बिहङ्गा ॥८॥

और भी अनेक प्रसङ्ग की कथाएँ जो रामचरितमानस में—वर्णन हुई हैं वे ही नाना रंग के तोते और कोकिल पक्षी हैं ॥८॥

दो०—पुलक बाटिका-बाग बन, सुख सुबिहङ्ग बिहारु ।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु ॥ ३७ ॥

हर्ष से रोमाञ्च होना वाटिका, बाग और वन है, सुन्दर पक्षियों का प्रसन्नता-पूर्वक विचरण सुख है। मन रूपी सुहावना माली स्नेह रूपी जल और मनोहर नेत्र रूपी पात्रों से सींचता है ॥३७॥

एक पुलक को वाटिका, बाग और वन वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है।

चौ०—जे गावहिँ यह चरित सँभारे । तेइ एहि ताल चतुर रखवारे ॥
सदा सुनहिँ सादर नर नारी । तेइ सुर बर मानस अधिकारी ॥१॥

जो इस चरित को सँभाल कर शुद्धतापूर्वक गान करते हैं, वे ही इस सरोवर के चतुर रक्षक हैं। जो स्त्री या पुरुष आदर के साथ निरन्तर सुनते हैं, वे ही मानस के अधिकारी श्रेष्ठ देवता रूप हैं ॥१॥

अति-खल जे बिषयी बक कागा । एहि सर निकट न जाहिँ अभागा ॥
सम्बुक भेक सिवार समाना । इहाँ न बिषय कथा-रस नाना ॥२॥

जो अत्यन्त दुष्ट अभागे विषयी बगुला और कौए के समान हैं, वे इस सरोवर के पास नहीं जाते। घोंघा, मेढक और सेवार के समान यहाँ विषय की वार्ता नायिका भेद आदि नहीं है, यहाँ तो नाना प्रकार हरिकीर्तन का आनन्द है ॥२॥

'अभागा' में शब्दी व्यंग है कि उनका भाग विषय-चर्चा घोंघे, मेढक आदि विषयी प्राणियों को मानस के समीप न आ सकने में हेतुसूचक कारण दिखा कर अर्थ समर्थन करना 'काव्यलिंग अलंकार' है।

तेहि कारन आवत हिय हारे । कामी काक बलाक बिचारे ॥
आवत एहि सर अति कठिनाई । राम कृपा बिनु आइ न जाई ॥३॥

इसी कारण बेचारे कौए और बगुले रूपी विषयी प्राणी यहाँ आते हुए हृदय में हार जाते हैं। इस सरोवर के समीप आने में बड़ी कठिनता है, बिना रामचन्द्रजी की कृपा से आया नहीं जाता ॥३॥

कठिन कुसङ्ग कुपन्थ कराला । तिन्ह के बचन बाघ हरि व्याला ॥
गृह कारज नाना जञ्जाला । तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥४॥

कठिन कुसङ्ग भीषण बुरा रास्ता है और उन (कुसङ्गियों) के वचन व्याघ्र, सिंह और सर्प (मार्ग के बाधा रूप) हैं। नाना प्रकार के गृह-कार्यों की उलझन अत्यन्त अगम और विशाल पर्वत है ॥४॥

बन बहु बिषम मोह मद माना । नदी कुतर्क भयङ्कर नाना ॥५॥

मोह, मद और अभिमान बड़ा भीषण जङ्गल है, नाना प्रकार के वितण्डावाद भयङ्कर नदियाँ हैं ॥५॥

दो०—जे स्रद्धा सम्बल रहित, नहिँ सन्तन्ह कर साथ ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहिँ न प्रिय रघुनाथ ॥३८॥

जो श्रद्धा रूपी राहखर्च से खाली हैं, जिन्हें सन्तों का साथ नहीं और रघुनाथजी प्रिय नहीं, उनके लिए मानस में पहुँचना कठिन है ॥३८॥

मानसयात्रा के रास्ते में बड़ा भीषण जंगल, पहाड़, और नदियाँ पड़ती हैं और व्याघ्र, सर्प आदि तरह तरह के हिंसक जीव मिलते हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। या तो काफ़ी खर्च हो अथवा किसी धनी अमीर का साथ हो, तब उस विकट मार्ग को जानेवाला तय कर सकता है। उसी तरह रामचरितमानस में आने के लिए श्रद्धारूपी राहखर्च हो या सन्त रूपी धनवानों का संग हो अथवा रघुनाथजी जिसे प्यारे हों, वही आ सकता है अन्यथा नहीं।

चौ०—जौँ करि कष्ट जाइ पुनि कोई । जातहि नीँद जुड़ाई होई ॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा । गयहु न मज्जन पाव अभागा ॥१॥

फिर विषयी मनुष्यों में यदि कोई कष्ट उठा कर जाय भी तो उसको नींद रूपी जड़ैया होती है। उसके हृदय में मूर्खता रूपी भीषण जाड़ा लगता है, जिससे वह अभागा जा कर भी स्नान नहीं कर पाता ॥१॥

करि न जाइ सर मज्जन पाना । फिरि आवइ समेत अभिमाना ।
जौँ बहोरि कोउ पूछन आवा । सर निन्दा करि ताहि बुझावा ॥२॥

सरोवर में स्नान और जलपान किया नहीं जाता, इससे अभिमान सहित वह लौट आता है। फिर यदि कोई पूछने आया तो मानस की निन्दा करके उसको समझाता है ॥२॥

मानसरोवर में जानेवाले और रामचरितमानस में आनेवाले दोनों यात्रियों में पूरी पूरी एकरूपता दिखाने का भाव है। जैसे बिना श्रद्धा के मानसरोवर में पहुँचकर शीत के भय से स्नानादि न कर लौट आता और निन्दा करता है। वैसे श्रद्धाहीन प्राणी रामचरितमानस में दैवयोग से आ जाय तो मूर्खता रूपी जाड़ा छूटता नहीं, न मन लगा कर सुनता है, न समझता है, कोरा लौट जाता है। जब कोई पूछता है कि कहो क्या सुना ? तब मानस की निन्दा कर उसे समझाता है, सुना क्या ? खाक ! उसमें रूखी पुरानी बातें भरी हैं। न नवयौवना बाला की रसीली कथा है और न कोई तिलिस्म का ही वर्णन है, जिससे मनोरञ्जन हो।

सकल विघ्न व्यापहिँ नहिँ तेही । राम सुकृपा बिलोकहिँ जेही ॥
सोइ सादर मज्जन सर करई । महाघोर त्रय ताप न जरई ॥३॥

पर ये सम्पूर्ण विघ्न उसको नहीं व्यापते जिसे रामचन्द्रजी सुन्दर कृपा की दृष्टि से देखते हैं। वही आदर-पूर्वक मानस में स्नान करता है और महा भयङ्कर तीनों तापों से नहीं जलता ॥ ३ ॥

दैहिक दैविक और भौतिक यही तीन प्रकार के ताप हैं।

ते नर यह सर तजहिँ न काऊ । जिन्ह के राम चरन भल भाऊ ॥
जो नहाइ चह एहि सर भाई । सो सतसङ्ग करउ मन लाई ॥४॥

वे मनुष्य इस मानस को कभी नहीं छोड़ते, जिन्हें रामचन्द्रजी के चरणों में अच्छी प्रीति है। भाइयो ! जो कोई इस रामचरितमानस में स्नान करना चाहे वह मन लगा कर सत्सङ्ग करे ॥ ४ ॥

जिस प्रकार से उत्पन्न हुआ और जैसा मानस है, इन दोनों बातों का विवेचन यहाँ पर्य्यन्त हुआ, वह नीचे की चौपाई 'अस मानस' से प्रकट है। अब जिस प्रकार जगत में फैला आगे ४३ वेँ दोहा तक उसके सम्बन्ध में कहेंगे। गुटका में 'जिन्ह के राम चरन भल चाऊ' पाठ है।

अस मानस मानस चष चाही । भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही ॥
भयउ हृदय आनन्द उछाहू । उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू ॥५॥

ऐसे मानस को अन्तःकरण के नेत्रों से देखने पर और उसमें स्नान करने से कवि की बुद्धि निर्मल हो गई। हृदय में आनन्द और उत्साह हुआ जिससे प्रेम एवम् हर्ष का स्रोत उमड़ पड़ा ॥ ५ ॥

'मानस' शब्द दो बार आया है किन्तु अर्थ दोनों का भिन्न भिन्न है एक रामचरित-मानस का बोधक और दूसरा अन्तःकरण (हृदय) का ज्ञापक होने से 'यमक अलंकार' है।

चली सुभग कबिता सरिता सी। राम बिमल जस जल भरिता सी॥
सरजू नाम सुमङ्गल मूला। लोक बेद मत मञ्जुल कूला॥ ६॥

सुन्दर कविता नदी के समान वह चली जिसमें रामचन्द्रजी का निर्मल यश जल के समान भरा है। जिसका सरयू नाम है वह श्रेष्ठ मंगलों की जड़ है, लोक-मत और वेद-मत इसके दोनों रमणीय किनारे हैं॥६॥

नदी पुनीत सुमानस नन्दिनि। कलिमल त्रिन तरु मूल निकन्दिनि॥७॥

पवित्र (सरयू) नदी सुन्दर मानसरोवर की कन्या, जो कलि के पाप रूपी तृण और वृक्ष को निर्मूल करनेवाली है॥७॥

जब नदियाँ बढ़ती हैं तब किनारे के घास, पेड़ आदि को जड़ से ढाह कर बहाती हैं, उसी तरह कविता रूपी सरयू नदी कलिमल रूपी तृण तरु को निर्मूल करती है।

दो०—स्रोता त्रिबिधि समाज पुर, ग्राम नगर दुहुँ कूल।
सन्त सभा अनुपम अवध, सकल सुमङ्गल मूल॥ ३९॥

तीनों प्रकार के श्रोताओं के समुदाय दोनों किनारे के पुर, गाँव और नगर हैं। सम्पूर्ण श्रेष्ठ मंगलों की जड़ सन्त-मण्डली अयोध्यापुरी है॥३९॥

सरयू नदी के दोनों किनारे पर बहुत सी पुरहाई, गाँव, नगर और अयोध्यापुरी बसी है। कविता नदी के तीन प्रकार (विषयी, साधक, सिद्ध, अथवा आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु) श्रोता-गण पुर, गाँव, नगर हैं और सन्त-समाज अपूर्व अयोध्या है।

चौ०—रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जस पावन। मिलेउ महानद सोन सुहावन॥१॥

यह सुन्दर कीर्ति कविता रूपी सुहावनी सरयू नदी जाकर रामभक्ति रूपी गंगा में मिली है। छोटे भाई लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी का पवित्र शोभायमान युद्ध यश रूपी महानद सोनभद्र उसमें आ मिला है॥१॥

जुग बिच भगति देव धुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥
त्रिबिधि ताप त्रासक तिमुहानी। राम सरूप सिन्धु समुहानी॥२॥

(सरयू और सोनभद्र। दोनों के बीच में भक्ति रूपी देवनदी की धारा ऐसी मालूम होती है मानों वह सुन्दर वैराग्य और ज्ञान के सहित सोहती हो। यह तिमुहानी (तीनों नदियों का संगम) तीनों तापों को भयभीत करनेवाली है और रामचन्द्रजी के स्वरूप रूपी सागर के सामने मिलने को जा रही है॥२॥

मानस-मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन-मन पावन करिही॥
बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि तीर तीर बन बागा॥३॥

कविता रूपी सरयूनदी की जड़ रामचरितमानस है और वह (कवितानदी) रामभक्ति रूपी गङ्गानदी में मिली है, जो सुनने से सज्जनों के मन को पवित्र करेगी। बीच बीच में भिन्न भिन्न अनोखी कथाएँ मानों नदी के किनारे किनारे के वन और बाग हैं॥ ३॥

यहाँ अधिक अभेदरूपक का भाव है, क्योंकि सरयू नदी स्नान करने पर पवित्र करती है, किन्तु कविता नदी सुनते ही शुद्ध कर देती है।

रामचरितमानस के बीच बीच में अन्य अनोखी कथाएँ, जैसे—सती का मोह और तन-त्याग, नारदमोह, भानुप्रताप का सर्वनाश, रावणजन्म और दिग्विजय आदि भीषण वन रूप हैं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज सम्वाद, पार्वतीजन्म, शिव-पार्वती विवाह एवम् सम्वाद, स्वायम्भुव मनु की तपश्चर्य्या, कागभुशुण्ड-गरुड़ सम्वाद इत्यादि बाग रूपी सुखद सुहावनी कथाएँ हैं।

उमा-महेस-बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥
रघुबर-जनम अनन्द-बधाई। भँवर तरङ्ग मनोहरताई॥४॥

शिव-पार्वती के विवाह में बरातियों की कथाएँ बहु प्रकार के असंख्यों जलजीव के समान हैं। रघुनाथजी के जन्म का आनन्द भँवर है और बधावा लहरों की सुन्दरता है॥ ४॥

भँवर में जो पड़ता है, वह एक ही स्थान में चक्कर खाता रहता है, इस भँवर में पड़ कर एक मास पर्य्यन्त सूर्य्य एक ही स्थान में ठहरे रहे पर किसी ने जाना नहीँ। गृह गृह के बाजे बधावे शुभ-तरङ्ग हैं।

दो०—बालचरित चहुँ बन्धु के, बनज बिपुल बहु रङ्ग।
नृप-रानी-परिजन सुकृत, मधुकर बारि बिहङ्ग॥४०॥

चारों भाइयों के बालचरित्र बहुत रंग के असंख्यों कमल हैं। राजा और रानी के सुकृत भ्रमर और कुटुम्बीजनों के पुण्य जलपक्षी के समान हैं॥ ४०॥

भ्रमर पुष्परस पान करता है, इसलिये राजा रानी के सुकृत को मधुकर की समता और जल-विहङ्ग जल थल दोनों में विहार करते हैं, अतः परिजनों को विहङ्ग की समता क्रम से दी गयी है।

चौ०—सीय-स्वयम्बर-कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥
नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥१॥

सीताजी के स्वयम्बर की सुहावनी कथा इस नदी की मनोहर शोभा फैल रही है। अनेक प्रकार के सुन्दर (दक्षतापूर्ण) प्रश्न इस नदी की नौकाएँ और कुशलता-पूर्वक जानकारी के साथ उत्तर ही मल्लाह है॥ १॥

सुनि अनुकथन परसपर होई। पथिक-समाज सोह सरि सोई॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबन्ध राम बर बानी॥२॥

सुन कर पीछे जो आपस में कहा सुनी होती है, वही इस नदी के (पार जानेवाले) यात्रियों का समूह सोह रहा है। परशुरामजी का रिसियाना भयङ्कर धारा है और रामचन्द्रजी की सुन्दर वाणी अच्छा बँधा हुआ (पक्का) घाट है॥ २॥

सानुज राम-बिबाह-उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥३॥

छोटे भाइयों के सहित रामचन्द्रजी के विवाह का जो उत्साह है, वह नदी का मंगलकारी उमड़ना; सब को आनन्द देनेवाला है। जो प्रसन्न होकर कहते हैं और सुन कर पुलकायमान होते हैं, वे पुण्यात्मा प्रसन्न मन से स्नान करते हैं॥ ३॥

राम तिलक हित मङ्गल साजा। परब जोग जनु जुरेउ समाजा॥
काई कुमति केकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी॥४॥

रामचन्द्रजी के राजतिलक के लिए मांगलीक साज सजे, जिसमें जन-समूह इकट्ठे हुए, वही मानों पर्वयोग स्नान का मुहूर्त्त जैसे रामनौमी, कार्तिक की पूर्णिमा आदि है। केकई की दुर्बुद्धि काई है जिसके फल से गहरी विपत्ति पड़ी॥ ४॥

दो०—समन अमित उतपात सब, भरत चरित जप जाग।
कलि अघ खल अवगुन कथन, ते जल मल बक काग॥४१॥

बेपरिमाण सब उत्पातों को नाश करने के लिए भरतजी का चरित्र जप-यज्ञ है। कलि के पाप और दुष्टों के दोषों का वर्णन पानी की मैल बगुले और कौए हैं॥ ४१॥

चौ०—कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी॥
हिम हिमसैल-सुता सिव ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु-जनम-उछाहू॥१॥

यह कीर्त्तिरूपी नदी बड़ी ही पवित्र और छहों ऋतुओं के समय में सुन्दर सुहावनी लगती है। हिमालय की कन्या पार्वती और शिवजी का विवाह हेमन्तऋतु है और प्रभु रामचन्द्रजी के जन्म का उत्साह सुखदाई शिशिर ऋतु है॥१॥

बरनब राम बिबाह समाजू। सो मुद-मङ्गल मय रितुराजू॥
ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू। पन्थ-कथा खर-आतप-पवनू॥२॥

रामचन्द्रजी के विवाह का उत्सव वर्णन करूँगा, वह आनन्द मङ्गलरूप ऋतुराज वसन्त है। रामचन्द्रजी की वनयात्रा असहनीय ग्रीष्मऋतु है और रास्ते का वृत्तान्त कथन कठिन धूप और लू है॥२॥

बरषा घोर निसाचर रारी। सुर-कुल-सालि सुमङ्गल-कारी॥
राम-राजसुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥३॥

राक्षसों के साथ भीषण युद्ध वर्णन वर्षा ऋतु है। जो देवकुल रूपी धान के लिए सुन्दर मंगलकारी है। रामचन्द्रजी के राज्यकाल का सुख, अच्छी नीति और बड़ाई सुहावनी सुखदायिनी और निर्मल, शरदऋतु है॥३॥

अगहन पूस हेमन्त, माघ-फाल्गुण शिशिर, चैत्र-वैशाख वसन्त, ज्येष्ठ-अषाढ़ ग्रीष्म, श्रावण-भादों वर्षा, आश्विन-कार्त्तिक मास शरदऋतु का भोग काल है।

सती-सिरोमनि सिय-गुन-गाथा । सोइ गुन अमल अनूपम पाथा ॥
भरत सुभाउ सुसीतलताई । सदा एकरस बरनि न जाई ॥४॥

इस अनुपम जल का निर्मल गुण सतियों की शिरोमणि सीताजी के गुणों की कथा है। भरतजी का स्वभाव जो सदा एक समान रहता है और जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह सुन्दर शीतलता गुण है ॥४॥

दो०—अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परसपर हास ।
भायप भलि चहुँ बन्धु की, जलमाधुरी सुबास ॥४२॥

चारों भाइयों का आपस में निहारना, बोलना, मिलना हँसना, प्रीति और सुन्दर भाई चारा वही जल का मीठापन और सुगन्ध-गुण है ॥४२॥

चौ०—आरति बिनय दीनता मोरी । लघुता ललित सुबारि न खोरी ॥
अदभुत सलिल सुनत गुनकारी । आस पियास मनोमल-हारी ॥१॥

मेरी आर्त्ति, विनती और दीनता, इस स्वच्छ जल का हलकापन गुण है, किन्तु इससे लालित्य में दोष नहीं आया है। यह विलक्षण जल सुनते ही गुण करता है, आशा रूपी प्यास और मन के मैल को दूर कर देता है ॥१॥

पानी का श्रेष्ठ गुण निर्मलता, शीतलता, मधुरता, सुगन्ध, हलकापन, मलहारिता और पिपासाशामकता है। येही ऊपर गिनाये गये हैं। हलकापन भी और निर्दोष भी! इस वाक्य में 'विरोधाभास अलंकार' है।

राम सुप्रेमहि पोषत पानी । हरत सकल कलि-कलुष गलानी ॥
भव स्रम सोषक तोषक तोषा । समन दुरित दुख दारिद दोषा ॥२॥

रामचन्द्रजी के प्रति सुन्दर प्रेम को यह पानी पुष्ट करता है और कलि के पापों से उत्पन्न मनस्ताप को हर लेता है। संसार की थकावट को यह सोखनेवाला, सन्तोष को भी सन्तुष्टकारक और पाप, दुःख, दारिद्र्य, दोषों का नसानेवाला है ॥२॥

काम कोह मद मोह नसावन । बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन ॥
सादर मज्जन पान किये ते । मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥३॥

काम, क्रोध, मद, मोह का नसानेवाला और निर्मल ज्ञान वैराग्य का बढ़ानेवाला है। आदर-पूर्वक स्नान और पान करने पर हृदय से पाप एवम् सन्ताप मिट जाँयगे ॥३॥

सभा की प्रति में 'मिटहिं' पाठ है।

जिन्ह एहि बारि न मानस धोये । ते कायर कलिकाल बिगोये ॥
तृषित निरखि रबि-कर-भव-बारी । फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ॥४॥

जिन्होंने इस जल से अपने मन को नहीं धोया, उन कायरों को कलिकाल ने बिगाड़ दिया। वे प्राणी आशारूपी प्यास बुझाने के लिए संसारी विषयों की तृष्णा में दौड़ कर ऐसे

दुखी होंगे, जैसे प्यासा मृग, सूर्य की किरणों को देख कर (उसमें जल अनुमान कर) दौड़ता और व्यर्थ ही मूर्खता से प्राण गँवाता है ॥४॥

दो०—मति अनुहारि सुबारि गुन,-गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी-सङ्करहि, कह कबि कथा सुहाइ॥

अपनी बुद्धि के अनुसार सुन्दर जल के गुणों की गणना कर और मन को स्नान कराकर पार्वती-शङ्कर का स्मरण कर के कवि सुहावनी कथा कहता है।

यहाँ पर्य्यन्त मानस का साङ्गरूपक वर्णन हुआ और संसार में इसके प्रचार का कारण कहा गया, अब कथा प्रसङ्ग का आरम्भ होता है।

अब रघुपति-पद-पङ्करुह, हिय धरि पाइ प्रसाद।
कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर, मिलन सुभग सम्बाद ॥४३॥

अब रघुनाथजी के चरण-कमलों को हृदय में रख कर और प्रसन्नता पा कर मैं दोनों मुनिवरों के मिलने का सुन्दर सम्वाद कहता हूँ ॥४३॥

चौ०—भरद्वाज मुनि बसहिँ प्रयागा। तिन्हहिँ राम-पद अति अनुरागा॥
तापस सम-दम-दया निधाना। परमारथ-पथ परम सुजाना ॥१॥

भरद्वाज मुनि प्रयाग में रहते हैं, उन्हें रामचन्द्रजी के चरणों में बड़ा प्रेम है। वे तपस्वी, शान्त, इन्द्रियों को वश में करनेवाले, दया के स्थान और परमार्थ की राह में अत्यन्त चतुर हैं ॥१॥

माघ मकर-गत-रबि जब होई। तीरथपतिहि आव सब कोई॥
देवदनुज-किन्नर-नर-स्रेनी। सादर मज्जहिँ सकल त्रिबेनी ॥२॥

माघ के महीने में जब सूर्य्य मकर राशि पर पहुँचते हैं, तब सब कोई तीर्थराज में आते हैं। देवता, दैत्य, किन्नर और मनुष्यों के झुण्ड सभी आदर-पूर्वक त्रिवेणी में स्नान करते हैं ॥२॥

पूजहिँ माधव-पद-जलजाता। परसि अषयवट हरषहिँ गाता॥
भरद्वाज-आस्रम अति पावन। परम-रम्य मुनिबर मन भावन ॥३॥

भगवान् माधव के चरण-कमलों को पूजते हैं और अक्षयवट को छू कर मन में प्रसन्न होते हैं। वहाँ अत्यन्त पवित्र मुनिवरों के मन में सुहानेवाला खूब ही रमणीय भरद्वाजजी का आश्रम है ॥३॥

'गात' शब्द में मन या हृदय की लक्षणा है, क्योंकि हर्ष का स्थान हृदय या मन है गात नहीं।

तहाँ होइ मुनि-रिषय-समाजा। जाहिँ जे मज्जन तीरथराजा॥
मज्जहिँ प्रात समेत उछाहा। कहहिँ परसपर हरि-गुन-गाहा ॥४॥

तीर्थराज में जो स्नान करने जाते हैं, वहाँ (भरद्वाजजी के आश्रम में) मुनि और ऋषियों का जमाव होता है। प्रातःकाल उत्साह सहित स्नान करते हैं और आपस में भगवान् के गुणों की कथा कहते हैं ॥४॥

सभा की प्रति में 'जाहिँ जे मज्जहिँ' पाठ है।

दो०—ब्रह्म निरूपन धर्म-बिधि, बरनहिँ तत्व-बिभाग ।
कहहिँ भगति भगवन्त कै, सञ्जुत-ज्ञान-बिराग ॥४४॥

ब्रह्म-विचार, धर्म-विधान और वास्तविक स्थिति (सारवस्तु) का अलग अलग वर्णन करते हैं। ज्ञान-वैराग्य से मिली हुई भगवान् की भक्ति कहते हैं ॥४४॥

चौ०—एहि प्रकार भरि माघ नहाहीँ । पुनि सब निज निज आस्रम जाहीँ ॥
प्रति सम्बत अति होइ अनन्दा । मकर मज्जि गवनहिँ मुनिबृन्दा ॥१॥

इस प्रकार माघ भर स्नान करते हैं, फिर सब अपने अपने स्थान को चले जाते हैं। हर साल बड़ा आनन्द होता है, मुनि-समूह मकर नहा कर प्रस्थान करते हैं ॥१॥

एक बार भरि मकर नहाये । सब मुनीस आस्रमन्ह सिधाये ॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी । भरद्वाज राखे पद टेकी ॥२॥

एक बार मकर भर स्नान करके सब मुनीश्वर अपने अपने आश्रमों को गये। अत्युत्तम ज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि के पाँव पकड़ कर भरद्वाजजी ने रोक लिया ॥२॥

सादर चरन-सरोज पखारे । अति पुनीत आसन बैठारे ॥
करि पूजा मुनि-सुजस बखानी । बोले अति पुनीत मृदु-बानी ॥३॥

आदर के साथ चरण-कमलों को धो कर बहुत ही स्वच्छ आसन पर बैठाया। पूजा कर के मुनि का सुयश बखान किया और अत्यन्त पवित्र कोमल वाणी से कहा ॥३॥

नाथ एक संसय बड़ मोरे । करगत बेद-तत्व सब तोरे ॥
कहत सो मोहि लागत भय लाजा । जौँ न कहउँ बड़ होइ अकाजा ॥४॥

हे नाथ ! मेरे मन में एक बड़ा सन्देह है और वेदों की सब यथार्थज्ञता आप की मुट्ठी में है। पर वह कहते हुए मुझे डर और लज्जा लगती है, यदि न कहूँ तो बड़ा अकाज होगा ॥४॥

दो०—सन्त कहहिँ अस नीति प्रभु, स्रुति-पुरान-मुनि गाव ।
होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव ॥४५॥

हे स्वामिन् ! सन्तजन ऐसी नीति कहते हैं और वेद, पुराण तथा मुनि भी गाते हैं कि गुरु से छिपाव करने पर हृदय में निर्मल ज्ञान नहीं होता ॥४५॥

चौ०—अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू । हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥
राम नाम कर अमित प्रभावा । सन्त पुरान उपनिषद गावा ॥१॥

ऐसा समझ कर अपना अज्ञान प्रकट करता हूँ, हे नाथ ! इस दास पर कृपा कर के उसको दूर कीजिए। उपनिषद्, (ब्रह्मविद्या जिसमें आत्मा, परमात्मा आदि का निरूपण रहता है) पुराण और सन्त, राम-नाम की अतिशय महिमा गाते हैं ॥१॥

सन्तत जपत सम्भु अबिनासी । सिव भगवान ज्ञान-गुन-रासी ॥
आकर चारि जीव जग अहहीं । कासी मरत परम-पद लहहीं ॥२॥

जिसको नित्य, कल्याणरूप; ज्ञान और गुण की राशि शङ्कर भगवान् जपते हैं। चार जाति के जीव संसार में हैं, वे काशी में मरने पर मोक्ष-पद पाते हैं ॥ २ ॥

सोपि राम-महिमा मुनिराया । सिव उपदेस करत करि दाया ॥
राम कवन प्रभु पूछउँ तोही । कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही ॥३॥

हे मुनिराज ! वह निश्चय राम-नाम की महिमा है, शिवजी दया कर के (मरते समय प्राणियों को) उपदेश करते हैं। स्वामिन् ! मैं आप से पूछता हूँ रामचन्द्र कौन हैं ? दयानिधे ! मुझे समझा कर कहिए ॥ ३ ॥

एक राम अवधेस-कुमारा । तिन्ह कर चरित बिदित संसारा ॥
नारि बिरह दुख लहेउ अपारा । भयउ रोष रन रावन मारा ॥४॥

एक रामचन्द्र अयोध्यानरेश (दशरथ) के पुत्र हैं, उनका चरित्र संसार में विख्यात है। उन्होंने स्त्री-वियोग से बड़ा दुःख पाया, क्रोध होने पर युद्ध में रावण को मारा ॥४॥

दो०—प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि ।
सत्यधाम सर्बज्ञ तुम्ह, कहहु बिबेक बिचारि ॥४६॥

हे प्रभो ! वही रामचन्द्र हैं जिनको शिवजी जपते हैं या वे कोई दूसरे हैं ? आप सत्य के धाम और सब जाननेवाले हैं, अपने ज्ञान से विचार कर कहिए ॥४॥

चौ०—जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी । कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी ॥
जागबलिक बोले मुसुकाई । तुम्हहिं बिदित रघुपति प्रभुताई ॥१॥

हे नाथ ! जिस प्रकार यह अज्ञान से उत्पन्न हुआ मेरा भारी भ्रम दूर हो, वह कथा विस्तार-पूर्वक कहिए। याज्ञवल्क्यजी मुस्कुरा कर बोले—आप को रघुनाथजी की महिमा मालूम है ॥ १ ॥

रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी । चतुराई तुम्हारि मैं जानी ॥
चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा । कीन्हेहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा ॥२॥

आप मन, कर्म और वचन से रामभक्त हैं, आप की चतुराई मैं जानता हूँ। रामचन्द्रजी के छिपे हुए गुणों को आप सुनना चाहते हैं, इसीसे ऐसा प्रश्न करते हैं, मानों बहुत अनजान हैं ॥२॥

भरद्वाजजी रामचन्द्रजी की महिमा भली भाँति जानते हैं, किन्तु उन्हें याज्ञवल्क्यजी के मुख से रामचरित सुनने की अभिलाषा है, इसलिए अपनी जानकारी छिपा कर अज्ञात की तरह उन्होंने प्रश्न किया है। इसको याज्ञवल्क्यजी समझ गये और स्पष्ट कह कर उनके हार्दिक प्रेम से प्रसन्न हो रामयश वर्णन करने को उद्यत हुए।

तात सुनहु सादर मन लाई । कहउँ राम कै कथा सुहाई ॥
महामोह महिषेस बिसाला । रामकथा कालिका कराला ॥ ३ ॥

हे तात ! मन लगा कर आदर के साथ सुनिए, मैं रामचन्द्रजी की सुहावनी कथा कहता हूँ । महा अज्ञानरूपी विशाल महिषासुर का दमन करने के लिए रामकथा भयङ्कर कालिका रूपी है ॥ ३ ॥

रामकथा ससि-किरन समाना । सन्त चकोर करहिं जेहि पाना ॥
ऐसइ संसय कीन्ह भवानी । महादेव तब कहा बखानी ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी की कथा चन्द्रमा की किरणों के समान है, जिसको सन्त रूपी चकोर पान करते हैं। ऐसा ही सन्देह पार्वतीजी ने किया था, तब महादेवजी ने बखान कर (विस्तार-पूर्वक) कहा ॥ ४ ॥

दो०—कहउँ से मति अनुहारि अब, उमा-सम्भु सम्बाद ।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद ॥४७॥

अब मैं अपनी बुद्धि के अनुसार शिव-पार्वती सम्बाद कहता हूँ, जिस समय और जिस कारण हुआ, हे मुनि ! वह सुनिए, विषाद नष्ट हो जायगा ॥ ४७ ॥

गुटका में 'भयउ समय जेहि हेतु अब' पाठ है ।

चौ०—एक बार त्रेताजुग माहीं । सम्भु गये कुम्भज रिषि पाहीं ॥
सङ्ग सती जगजननि भवानी । पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी ॥१॥

एक बार त्रेतायुग में शिवजी अगस्त्यमुनि के पास गये । उनके साथ में जगन्माता भवानी सतीजी थीं, ऋषि ने सर्वेश्वर जान कर उनकी पूजा की ॥ १ ॥

रामकथा मुनिबर्ज बखानी । सुनी महेस परम सुख मानी ॥
रिषि पूछी हरिभगति सुहाई । कही सम्भु अधिकारी पाई ॥ २ ॥

मुनिवर्य्य अगस्त्य ने रामचन्द्रजी के चरित्र वर्णन किये, शिवजी ने बड़ी प्रसन्नता से सुना । ऋषि ने सुहावनी हरिभक्ति पूछी, शिवजी ने उन्हें अधिकारी जान कर कही ॥२॥

अनधिकारी से रामभक्ति न कहना चाहिये यह व्यङ्गार्थ, वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है ।

कहत सुनत रघुपति-गुन-गाथा । कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा ॥
मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी । चले भवन सँग दच्छकुमारी ॥ ३ ॥

रघुनाथजी के गुणों की कथा कहते सुनते कैलासपति वहाँ कुछ दिन रहे । फिर मुनि से बिदा लेकर शिवजी दक्षतनया (सतीजी) के सहित घर चले ॥३॥

तेहि अवसर भञ्जन महिभारा । हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा ॥
पिता बचन तजि राज उदासी । दंडकबन बिचरत अबिनासी ॥४॥

उसी समय पृथ्वी का भार दूर करने के लिए विष्णु भगवान् ने रघुकुल में जन्म लिया था। वे अविनाशी परमात्मा, पिता का आज्ञा मान कर राज्य को त्याग उदासीन होकर दण्डकारण्य में विचरण करते थे ॥४॥

दो०—हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ ।
गुपुत-रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ ॥

शिवजी मन में विचारते जाते हैं कि किस प्रकार से दर्शन हो, प्रभु रामचन्द्रजी ने गुप्त रूप से (महत्व छिपा कर) जन्म लिया है, मेरे समीप जाने से उन्हें सब कोई जान जायँगे।

शिवजी का—मन में शङ्का निवारणार्थ—विचार करना कि समीप जाऊँगा तो स्वामी की इच्छा के विपरीत कार्य्य होगा और नहीं जाऊँगा तो दर्शन न होगा 'वितर्क सञ्चारीभाव' है।

सो०—सङ्कर उर अतिछोभ, सती न जानइ मरम सोइ ।
तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालची ॥ ४८ ॥

शिवजी के मन में बड़ी खलबली उत्पन्न हुई, परन्तु इस भेद को सतीजी नहीं जान सकीं। तुलसीदासजी कहते हैं कि शङ्करजी (समीप जाने से) मन में डरते हैं; किन्तु दर्शन के लोभी नेत्र लालच में फँसे हैं ॥४८॥

पास में आकर दर्शन न होना बड़ी हानि है और समीप जा कर दण्ड प्रणाम करने से राक्षस उन्हें पहचान लेंगे तो स्वामी का कार्य्य बिगड़ जायगा। इस असमञ्जस में पड़ कर न आगे जा सकते हैं और न परिचय के साथ दर्शन ही कर सकते हैं। पर सती इस रहस्य को नहीं जानतीं।

चौ०—रावन मरन मनुज कर जाँचा । प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा ॥
जौं नहिँ जाउँ रहइ पछितावा । करत बिचार न बनत बनावा ॥१॥

रावण ने मरण का वर मनुष्य के हाथ से माँगा है, प्रभु रामचन्द्रजी ब्रह्मा की बात सच्ची करना चाहते हैं। यदि न जाऊँ तो पश्चात्ताप बना रहेगा, इस तरह विचार करते हैं, पर कोई बात ठीक नहीं ठहरती है ॥१॥

एहि बिधि भये सोचबस ईसा । तेही समय जाइ दससीसा ॥
लीन्ह नीच मारीचहि सङ्गा । भयउ तुरत सो कपट-कुरङ्गा ॥२॥

इस प्रकार शिवजी सोच के वश में हुए, उसी समय नीच रावण ने जा कर मारीच को साथ लिया और वह तुरन्त कपट का मृग बना ॥२॥

करि छल मूढ़ हरी बैदेही । प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही ॥
मृग बधि बन्धु सहित प्रभु आये । आस्रम देखि नयन जल छाये ॥३॥

उस मूर्ख ने छल कर के जानकीजी को हर लिया, प्रभु रामचन्द्रजी की जैसी महिमा है वैसी उसको मालूम न थी। हरिण को मार कर भाई के सहित रघुनाथजी आश्रम में आये, (वहाँ सीताजी को न) देख कर उनकी आँखों में जल भर आया ॥३॥

बिरह बिकल नर इव रघुराई । खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥
कबहूँ जोग बियोग न जा के । देखा प्रगट दुसह दुख ता के ॥ ४ ॥

विरह से व्याकुल मनुष्य की तरह दोनों भाई रघुनाथजी वन में सीताजी को ढूँढ़ते फिरते हैं। जिनको कभी संयोग वियोग नहीं होता, उनको प्रत्यक्ष असहनीय दुःख में (शिवजी ने) देखा ॥४॥

दो०—अति बिचित्र रघुपति चरित, जानहिँ परम सुजान ।
जे मतिमन्द बिमोहबस, हृदय धरहिँ कछु आन ॥ ४९ ॥

रघुनाथजी का चरित बहुत ही विलक्षण है, इसको परम सुजान (ज्ञानी) ही जानते हैं। जो नीच बुद्धि अज्ञान के वश में हैं, वे मन में कुछ और ही समझ रखते हैं ॥४८॥

'अति विचित्र' शब्द में यह ध्वनि है कि सती जैसी महान् विदुषी देवी को भी जिस चरित्र के देखने से मोह उत्पन्न हो गया, फिर परम सुजान के सिवा साधारण बुद्धिवाले उसे ठीक ठीक कैसे समझ सकते हैं ? यह सहज ही अनुमेय है ।

चौ०—सम्भु समय तेहि रामहिँ देखा । उपजा हिय अति हरष बिसेखा ॥
भरि लोचन छबिसिन्धु निहारी । कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी ॥१॥

उसी समय शिवजी ने रामचन्द्रजी को देखा, उनके हृदय में बहुत बड़ा आनन्द उत्पन्न हुआ। शोभा-सागर (रघुनाथजी) की आँख भर देख कर बेमौका समझ कर चिन्हारी नहीं किया ॥१॥

जय सच्चिदानन्द जग-पावन । अस कहि चलेउ मनोज-नसावन ॥
चले जात सिव सती-समेता । पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता ॥ २ ॥

जगत् को पवित्र करनेवाले सच्चिदानन्द भगवान् की जय हो, ऐसा कह कामदेव को नष्ट करनेवाले चले। कृपा निधान शिवजी सती के सहित चले जाते हैं, पर उनका शरीर बार बार पुलकायमान हो रहा है ॥ २ ॥

सती सो दसा सम्भु कै देखी । उर उपजा सन्देह बिसेखी ॥
सङ्कर जगतबन्द्य जगदीसा । सुर नर मुनि सब नावहिँ सीसा ॥३॥

सती ने शिवजी की वह दशा देखी, उनके हृदय में बड़ा सन्देह उत्पन्न हुआ। वे मन में सोचने लगीं कि शङ्करजी जगत्पूज्य जगदीश्वर हैं, इन को देवता, मुनि और मनुष्य सब मस्तक नवाते हैं ॥ ३ ॥

तिन्ह नृप-सुतहिं कीन्ह परनामा । कहि सच्चिदानन्द परधामा ।
भये मगन छबि तासु बिलोकी । अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥४॥

उन्होंने राजपुत्र को सच्चिदानन्द वैकुण्ठनाथ (साकेत विहारी) कह कर प्रणाम किया ! उनकी छवि निहार कर मग्न हुए हैं, अबतक हृदय में प्रीति नहीं रुकती है ॥ ४ ॥

सतीजी के मन में सन्देह के कारण तरह तरह के विचारों का उठना, वितर्क सञ्चारी भाव' है ।

दो०—ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥ ५० ॥

जो ब्रह्म, सर्वव्यापी, निर्मल, अजन्मा, अंगहीन, इच्छारहित, भेदशून्य (समान) है। जिनको वेद नहीं जानते, क्या वह शरीर धारण कर मनुष्य हो सकता है ? (कदापि नहीं) ॥५०॥

चौ०—बिष्नु जो सुर-हित नर-तनु-धारी । सोउ सरबज्ञ जथा त्रिपुरारी ॥
खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी । ज्ञान-धाम श्रीपति असुरारी॥१॥

जो विष्णु देवताओं की भलाई के लिए मनुष्य-देह धारण करते हैं, वे भी शिवजी की तरह सब जाननेवाले हैं । लक्ष्मीपति, ज्ञान के धाम और दैत्यों के शत्रु हैं, क्या वे अज्ञानियों के समान स्त्री को ढूँढ़ते फिरेंगे ? (कदापि नहीं) ॥ १ ॥

विष्णु के अवतार नहीं, ये कोई मनुष्य राजा के पुत्र हैं । सती के हृदय में यह आश्चर्य्य स्थायीभाव है ।

सम्भु गिरा पुनि मृषा न होई । सिव सरबज्ञ जान सब कोई ॥
अस संसय मन भयउ अपारा । होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥ २ ॥

फिर शिवजी के वचन झूठे नहीं होंगे, सब कोई जानते हैं कि शिवजी सर्वज्ञ हैं । ऐसा मन में अपार सन्देह हुआ, जिससे हृदय में ज्ञान का पसार नहीं होता है ॥ २ ॥

जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी । हर अन्तरजामी सब जानी ॥
सुनहु सती तव नारि सुभाऊ । संसय अस न धरिय उर काऊ ॥३॥

यद्यपि सती ने प्रकट नहीं कहा, (मन ही मन तर्क वितर्क कर रही थीं) पर हृदय की बात जाननेवाले शिवजी सब जान गये । उन्होंने कहा—हे भवानी ! सुनो, तुम्हारा स्त्री का स्वभाव है, ऐसा सन्देह कभी मन में न लाना चाहिए ॥ ३ ॥

गुटका में 'संसय अस न धरिय तन काऊ' पाठ है, किन्तु लक्षणा द्वारा 'तन' शब्द का मन ही अर्थ होगा; क्योंकि सन्देह करने या रखने का स्थान हृदय है, तन नहीं ।

जासु कथा कुम्भज रिषि गाई । भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई ॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥ ४ ॥

जिनकी कथा का अगस्त्य मुनि ने गान किया है और जिनकी भक्ति मैंने ऋषि को सुनाई है, ये वही रघुनाथजी मेरे इष्टदेव हैं; जिनकी धीर मुनि सदा सेवा करते हैं ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

मुनिधीर जोगी सिद्ध सन्तत, बिमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम, जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन-निकाय-पति मायाधनी ।
अवतरेउ अपने भगत-हित निजतन्त्र नित रघुकुल-मनी ॥ २ ॥

जिनका धीरमुनि, योगीजन और सिद्ध लोग निर्मल मन से निरन्तर ध्यान करते हैं। जिनकी कीर्त्ति वेद, पुराण और शास्त्र 'इति नहीं' कह कर गाते हैं। वे ही मायानाथ, समस्त लोकों के स्वामी व्यापक ब्रह्म रामचन्द्र जी हैं। रघुकुल के रत्नरूप भगवान् ने अपने भक्तों की भलाई के लिए स्वेच्छानुसार जन्म लिया है ॥ २ ॥

सो०—लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु ।
बोले बिहँसि महेस, हरि-माया-बल जानि जिय ॥५१॥

यद्यपि शिवजी ने बहुत बार कहा, तो भी हृदय में वह उपदेश न लगा अर्थात् वह शिक्षा सती के लिए कारगर न हुई। तब भगवान् की माया का बल मन में जान कर शिवजी हँस-कर बोले ॥ ५१ ॥

चौ०—जौं तुम्हरे मन अति सन्देहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥
तबलगि बैठ अहउँ बट छाहीं। जबलगि तुम्ह अइहहु मोहि पाहीं ॥१॥

यदि तुम्हारे मन में बहुत ही सन्देह है तो जा कर परीक्षा क्यों नहीं कर लेतीं। जब तक तुम मेरे पास लौट न आओगी, तब तक मैं बड़ की छाया में बैठा रहूँगा ॥ १॥

जैसे जाइ मोह-भ्रम-भारी। करेहु सो जतन बिबेक बिचारी ॥
चली सती सिव आयसु पाई। करइ बिचार करउँ का भाई ॥२॥

जिस तरह अज्ञान से उत्पन्न तुम्हारा यह भारी भ्रम दूर हो, वह यत्न विचार के साथ (समझदारी से) करना। शिवजी की आज्ञा पा कर सती चलीं, वे मन में सोचने लगीं कि— भाई! क्या करूँ? ॥ २ ॥

इहाँ सम्भु अस मन अनुमाना। दच्छ-सुता कहँ नहिं कल्याना ॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥३॥

शिवजी ने मन में ऐसा अनुमान किया कि दक्ष की कन्या (सती) का कल्याण नहीं है। मेरे कहने पर भी इनका सन्देह नहीं जाता है तो विधाता उलटे हुए हैं। अब इनकी कुशल नहीं है ॥ ३ ॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तरक बढ़ावइ साखा ॥
अस कहि जपन लगे हरि-नामा । गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा ॥४॥

जो रामचन्द्रजी ने रच रक्खा है वही होगा, तर्क कर के कौन शाखा बढ़ावे । ऐसा कह कर वे भगवान् का नाम जपने लगे और सती वहाँ गईं, जहाँ सुख के धाम स्वामी थे ॥४॥

दो०-पुनि पुनि हृदय बिचार करि, धरि सीता कर रूप ।
आगे होइ चलि पन्थ तेहि, जेहि आवत नर-भूप ॥५२॥

बार बार हृदय में विचार कर सीताजी का रूप धारण किया और जिस रास्ते से मनुष्यों के राजा (रामचन्द्रजी,) आते थे, उसमें आगे होकर चलीं ॥ ५२ ॥

सतीजी ने सोचा कि इस समय रामचन्द्र जानकी के विरह में व्याकुल हैं, यदि मैं सीता का रूप धारण कर उनके सामने चलूँ तो सहज में परीक्षा हो जायगी । इसलिये अपना असली रूप छिपा कर रामचन्द्रजी को ठगने के लिए सीताजी का रूप बना कर आगे चलीं, यह 'युक्ति अलंकार' है ।

चौ०-लछिमन दीख उमा-कृत-बेषा । चकित भये भ्रम हृदय बिसेषा ॥
कहि न सकत कछु अति गम्भीरा । प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा ॥१॥

लक्ष्मणजी ने उमा को कृत्रिम वेष में देखा, उनके हृदयमें बड़ा आश्चर्य और भ्रम हुआ। वे अत्यन्त मतिधीर गम्भीर प्रभु की महिमा (सर्वज्ञता) को जानते हैं, इसलिए कुछ कह नहीं सकते ॥ १ ॥

आश्चर्य—इस बात का हुआ कि ये अकेली वन में कैसे घूम रही हैं । भ्रम—यह हुआ कि किसी कारण से शिवजी ने क्या इनका त्याग तो नहीं कर दिया है, अथवा इन पर कोई गहरी विपत्ति तो नहीं आ पड़ी है ?

सती कपट जानेउ सुर-स्वामी । सबदरसी सबअन्तर-जामी ॥
सुमिरत जाहि मिटइ अज्ञाना । सोइ सरबज्ञ राम भगवाना ॥२॥

सब देखनेवाले और सब के हृदय की बात जाननेवाले देवताओं के स्वामी सती के कपट को जान गये । जिनका स्मरण करने से अज्ञान मिट जाता है, वेही सर्वज्ञ भगवान् रामचन्द्रजी हैं ॥ २ ॥

सती कीन्ह चह तहउँ दुराऊ । देखहु नारि-सुभाउ-प्रभाऊ ॥
निज-माया-बल हृदय बखानी । बोले बिहँसि राम मृदु-बानी ॥३॥

सती वहाँ भी छिपाव करना चाहती है, स्त्री के स्वभाव की महिमा देखिए । अपनी माया का बल मन में बखान कर रामचन्द्रजी कोमल वाणी से बोले ॥ ३ ॥

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू । पिता समेत लीन्ह निज नामू ॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू । बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और पिता के सहित अपना नाम लिया । फिर बोले कि शिवजी कहाँ हैं ? आप अकेली किस कारण वन में फिरती हैं ? ॥ ४ ॥

सती ने अपना हाल छिपाने के लिए सीताजी का रूप लिया था, वह रामचन्द्रजी जान गये । प्रणाम कर पिता सहित अपना नाम कह कर परिचय दिया 'पिहित अलंकार' है । पिता का नाम लेने में व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि मैं राजा दशरथजी का पुत्र राम हूँ, शिव नहीं । वन में अकेली क्यों फिरती हो ? इस वाक्य में यह व्यङ्ग है कि मैं इस जङ्गल में इस लिए घूम रहा हूँ कि जानकी को किसी राक्षस ने हर लिया है । पर आप अकेली क्यों घूमती हैं, क्या शङ्करजी को किसी ने चुराया है ?

दो०-राम-बचन-मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति सङ्कोच ।
सती सभीत महेस पहिं, चली हृदय बड़ सोच ॥५३॥

रामचन्द्रजी के कोमल और गूढ़ वचनों को सुन कर बड़ी लज्जा उत्पन्न हुई । सती भय-भीत होकर महेश के पास चलीं, उनके हृदय में भारी सोच हुआ ॥ ५३ ॥

चौ०-मैं सङ्कर कर कहा न माना । निज अज्ञान राम पर आना ॥
जाइ उतर अब देइहउँ काहा । उर उपजा अति दारुन-दाहा ॥१॥

मैंने शिवजी का कहना नहीं माना और अपनी नासमझी रामचन्द्रजी में आरोप की । अब जा कर क्या उत्तर दूँगी ? हृदय में बड़ी भीषण जलन उत्पन्न हुई ॥ १ ॥

जाना राम सती दुख पावा । निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा ॥
सती दीख कौतुक मग जाता । आगे राम सहित श्री भ्राता ॥२॥

रामचन्द्रजी समझ गये कि सती को दुःख हुआ है, तब उन्होंने अपना कुछ प्रभाव प्रकट रूप से सूचित किया । सती ने यह खेल देखा कि आगे रास्ते में सीताजी और भाई लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी चले जा रहे हैं ॥ २ ॥

शङ्का—जब सतीजी रामचन्द्रजी को पहचान गईं और लज्जा से भयभीत हो शोक के साथ शिवजी के पास चलीं, तब रामचन्द्रजी ने अपना प्रभाव क्यों दिखाया ? उत्तर—रामचन्द्रजी अन्तर्यामी हैं, वे सती के मन का सन्देह जानते हैं कि उनके हृदय में इस बात की प्रबल शङ्का है "ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद" उसका अभी पूरा समाधान नहीं हुआ, क्योंकि केवल सीताजी के रूप में सती को पहचान लेना संशय निर्मूल होने के लिए काफ़ी नहीं है । कितने ही योगी तपी ऐसा कर सकते हैं । इसलिए अपना अनन्त प्रभाव पूर्णरूप से प्रत्यक्ष दिखाया ।

फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा । सहित बन्धु सिय सुन्दर बेखा ॥
जहँ चितवहिँ तहँ प्रभु आसीना । सेवहिँ सिद्ध मुनीस प्रबीना ॥३॥

फिर पीछे देखा तो भाई और सीताजी के सहित सुन्दर वेष में प्रभु रामचन्द्रजी चले आते हैं। जिस ओर देखती हैं, वहीं रामचन्द्रजी विराजमान हैं और प्रवीण सिद्ध तथा मुनीश्वर लोग उनकी सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

एक रामचन्द्रजी को युक्ति से बहुत स्थानों में वर्णन करना 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका । अमित प्रभाउ एक तेँ एका ॥
बन्दत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ॥ ४ ॥

अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु को देखा, एक से दूसरे अपार महिमावाले हैं। तरह तरह के वेष में देवताओं को देखा, वे सब प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों की वन्दना और सेवा करते हैं ॥ ४ ॥

दो०-सती बिधात्री इन्दिरा, देखी अमित अनूप ।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर, तेहि तेहि तनु अनुरूप ॥५४॥

असंख्यों अपूर्व सती, सरस्वती और लक्ष्मी देखी, जिस जिस रूप में ब्रह्मा आदि देवता हैं, उसी उसी शरीर के अनुरूप उनकी शक्तियाँ हैं ॥ ५४ ॥

चौ०-देखे जहँ तहँ रघुपति जेते । सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते ॥
जीव चराचर जे संसारा । देखे सकल अनेक प्रकारा ॥१॥

उन्होंने जहाँ तहाँ जितने रघुनाथजी को देखा, उतने ही उतने सम्पूर्ण देवता शक्तियों के सहित दिखाई पड़े। जितने जड़ चेतन अनेक प्रकार के जीव संसार में हैं, सब को (नाना रूपों में) देखा ॥ १ ॥

पूजहिँ प्रभुहि देव बहु बेखा । राम-रूप दूसर नहिँ देखा ॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे । सीता सहित न बेष घनेरे ॥२॥

बहुत वेष के देवता प्रभु रामचन्द्रजी की पूजा करते हैं, पर रामचन्द्रजी का रूप दूसरा नहीं देखा। सीताजी के सहित बहुतेरे रघुनाथजी देखे, किन्तु उनका रूप घना नहीं (एक ही शोभावाले) दिखाई दिए ॥ २ ॥

सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता । देखि सती अति भई सभीता ॥
हृदय कम्प तन सुधि कछु नाहीँ । नयन मूँदि बैठी मग माहीँ ॥३॥

उन्हीं रघुनाथजी, उन्हीं लक्ष्मण और उन्हीं सीताजी को देख कर सती बहुत ही भयभीत हुईं। उनका हृदय काँपने लगा और शरीर की कुछ सुध नहीं रह गई, वे आँख मूँद कर रास्ते में बैठ गईं ॥३॥

इस वर्णन में सती का आश्चर्य स्थायीभाव है। राम-लक्ष्मण-जानकी आलम्बन विभाव हैं। अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, सिद्धादि के भिन्न भिन्न रूपों में दर्शन उद्दीपन विभाव है। हृदयकम्प, स्तम्भ, नेत्र बन्द करना अनुभाव हैं। मोह, जड़ता आदि सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर 'अद्भुत रस' हुआ है।

बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी ॥
पुनि पुनि नाइ राम-पद सीसा। चली तहाँ जहँ रहे गिरीसा ॥ ४ ॥

फिर दक्ष की कन्या ने आँख खोल कर देखा, तो उन्हें वहाँ कुछ न देख पड़ा। बार बार रामचन्द्रजी के चरणों में सिर नवा कर जहाँ शिवजी थे वहाँ चलीं ॥ ४ ॥

दो०--गई समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीछा कवन बिधि, कहहु सत्य सब बात ॥ ५५ ॥

जब वे शिवजी के पास गईं, तब उन्होंने हँस कर कुशल समाचार पूछा कि सब सच्ची बात कहो, तुमने किस तरह परीक्षा ली? ॥ ५५ ॥

चौ०--सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय-बस प्रभु सन कीन्ह दुराऊ ॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाँई। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाँई ॥१॥

रघुनाथजी की महिमा को समझ कर सती ने भय के मारे स्वामी से छिपाव किया। उन्होंने कहा—हे स्वामिन! मैं ने कुछ परीक्षा नहीं ली, आप ही की तरह प्रणाम किया ॥ १ ॥

शिवजी को सन्देह हुआ कि इन्होंने अनुचित प्रकार से तो कोई परीक्षा नहीं ली, इससे उन्होंने कहा, सब सत्य कहो। पर सती ने भय से सत्य को छिपा कर असत्य बातें कह कर शङ्का दूर करने की चेष्टा की, यह 'छेकापहुति अलंकार' है।

जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई ॥
तब सङ्कर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥२॥

जो आपने कहा वह झूठ न होगा, मेरे मन में उसका बड़ा विश्वास है। तब शिवजी ने ध्यान धर कर देखा, सती ने जो किया था वह सब करतूत जान गये ॥ २ ॥

बहुरि राम-मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ॥
हरि-इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत सम्भु सुजाना ॥ ३ ॥

फिर रामचन्द्रजी की माया को सिर नवाया, जिसने प्रेरणा कर के सती से झूठ कहलाया। सुजान शङ्करजी मन में विचारते हैं कि ईश्वर की इच्छा रूपी भावी ज़बर्दस्त है ॥३॥

सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव-उर भयउ बिषाद बिसेषा ॥
जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति-पथ होइ अनीती ॥४॥

सती ने सीताजी का रूप बनाया, शिवजी के मन में इसका बहुत ही खेद हुआ। यदि अब मैं सती से प्रेम करता हूँ तो भक्ति का रास्ता मिट जायगा और नीति के विपरीत कार्य्य (दुराचार) होगा ॥ ४ ॥

शिवजी का चिन्ता से मनोभङ्ग होना कि क्या करूँ, क्या न करूँ 'विषादसञ्चारी भाव' है। जिनको मैं अपनी इष्टदेवी मानता हूँ, उनका रूप लेकर सती ने महान अनर्थ किया, अब इनसे स्त्री-भाव की प्रीति करने से भक्ति-मार्ग नष्ट होगा 'वितर्क सञ्चारीभाव' है।

दो०—परम-प्रेम तजि जाइ नहिँ, किये प्रेम बड़ पाप।
प्रगटि न कहत महेस कछु, हृदय अधिक सन्ताप ॥ ५६ ॥

(सती के प्रति) अतिशय प्रीति छोड़ी नहीं जा सकती और प्रेम करने में बड़ा पाप है। शिवजी प्रत्यक्ष तो कुछ नहीं कहते हैं, पर उनके हृदय में बहुत ही दुःख है ॥५६॥

"परम-प्रेम' शब्द के दो अर्थ हैं। पहला सती के प्रति और दूसरा भक्ति के प्रति, अर्थात् भक्ति परम प्यारी है वह छोड़ी नहीँ जा सकती और सती से प्रेम करने में बड़ा पाप है, इस तरह यह 'श्लेष अलंकार' है। सभा की प्रति में 'परम पुनीत न जाइ तजि' पाठ है।

चौ०—तब सङ्कर प्रभु-पद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा ॥
एहि तन सतिहि भैँट मोहि नाहीँ। सिव सङ्कल्प कीन्ह मन माहीँ ॥१॥

तब शङ्करजी ने स्वामी के चरणों में मस्तक नवाया और रामचन्द्रजी का स्मरण करते ही ऐसा मन में आया कि सती के इस शरीर से मुझ से भेंट नहीं, शिवजी ने मन में ऐसी प्रतिज्ञा कर ली ॥ १ ॥

अस बिचारि सङ्कर मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥
चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दिढ़ाई ॥२॥

मतिधीर शङ्करजी ऐसा विचार कर रघुनाथजी का स्मरण करते हुए अपने स्थान को चले। चलते समय सुन्दर आकाश-वाणी हुई कि, हे महेश! तुम्हारी जय हो, आप ने अच्छी भक्ति की दृढ़ता की अर्थात् भक्ति की रक्षा के लिए सती का त्याग कर दिया! ॥२॥

अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। राम भगत समरथ भगवाना ॥
सुनि नभ-गिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहि समेत सकोचा ॥३॥

ऐसी प्रतिज्ञा आप के बिना दूसरा कौन कर सकता है? आप रामभक्त, समर्थ और भगवान् हैं। आकाश-बाणी को सुन कर सती के हृदय में सोच हुआ, उन्होंने लजाते हुए शिवजी से पूछा ॥३॥

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्य-धाम प्रभु दीनदयाला ॥
जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर-आराती ॥ ४ ॥

हे कृपालु दीनदयालु स्वामिन्! आप सत्य के स्थान हैं—कहिए, कौन सी प्रतिज्ञा की है। यद्यपि सती ने बहुत तरह से पूछा, तथापि त्रिपुर दैत्य के शत्रु ने नहीं कहा ॥४॥

'त्रिपुर-आराती, शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि जो कठिन दुर्जय त्रिपुर जैसे दैत्य के वैरी हैं, वे अपराधिनी सती की प्रार्थना पर कैसे दयालु हो सकते हैं?

दो०--सतीहृदय अनुमान किय, सब जानेउँ सरबज्ञ ।
कीन्ह कपट मैं सम्भु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ ॥

सती ने मन में विचार किया कि सर्वज्ञ स्वामी सब जान गये। मैं ने शिवजी से छल किया, स्त्रियाँ स्वभाव से मूर्ख और नासमझ होती हैं।

सो०--जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भलि ।
बिलग होत रस जाइ, कपट खटाई परतहीं ॥५७॥

प्रीति की अच्छी रीति देखिये कि पानी दूध के समान विकता है। पर कपट रूपी खटाई के पड़ते ही (दूध पानी दोनों) अलग होजाते हैं और स्वाद जाता रहता है ॥५७॥

पानी दूध में मिलने से दूध के भाव विकता है, यह उपमान वाक्य है। विना वाचक पद के प्रीति से समता दिखाने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलकता है कि प्रीति के बीच कपट आने से वह अलग हो जाती है, जैसे दूध में खटाई पड़ने से दूध और पानी अलग हो जाता है। यह 'दृष्टान्त अलंकार' है। सभा की प्रति में 'बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि' पाठ है।

चौ०--हृदय सोच समुझत निज करनी । चिन्ता अमित जाइ नहिं बरनी॥
कृपासिन्धु सिव परम अगाधा । प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥१॥

अपनी करनी समझ कर हृदय में अपार सोच और चिन्ता हुई, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे जान गईं कि शिवजी बड़े ही गम्भीर कृपा-सागर हैं, इससे मेरा अपराध प्रकट नहीं कहा ॥१॥

सङ्कर-रुख अवलोकि भवानी । प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी ॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई । तपइ अवाँ इव उर अधिकाई ॥२॥

शंकरजी का रुख देख कर भवानी हृदय में व्याकुल हुईं कि स्वामी ने मुझे तज दिया। अपना पाप समझ कर उनसे कुछ कहा नहीं जाता, आँवा के समान छाती बेहद जल रही है ॥२॥

सतिहि ससोच जानि बृषकेतू । कही कथा सुन्दर सुख-हेतू ॥
बरनत पन्थ बिबिध इतिहासा । बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥ ३ ॥

सती को सोच युक्त जान कर शिवजी ने उनकी प्रसन्नता के लिए सुन्दर कथाओं का वर्णन किया। रास्ते में अनेक प्रकार का इतिहास कहते हुए लोकों के स्वामी कैलास पहुँचे ॥३॥

तहँ पुनि सम्भु समुझि पन आपन । बइठे बट तर करि कमलासन ॥
सङ्कर सहज-सरूप सँभारा । लागि समाधि अखंड अपारा ॥४॥

फिर वहाँ शिवजी अपनी प्रतिज्ञा को समझ बड़ के नीचे पद्मासन लगा कर बैठे। शंकरजी ने अपना स्वाभाविक स्वरूप सँभाला, उनकी अखण्ड अपार समाधि लगी ॥४॥

दो०—सती बसहिँ कैलास तब, अधिक सोच मन माहिँ ।
मरम न कोऊ जान कछु, जुग सम दिवस सिराहिँ ॥ ५८ ॥

तब सती कैलास में रहने लगीं, उनके मन में बड़ा सोच था। इसका भेद कोई कुछ नहीं जानता, उनका दिन युग के समान बीतता है ॥५८॥

चौ०—नित नव सोच सती उर भारा । कब जइहउँ दुख-सागर पारा ॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना । पुनि पति-बचन मृषा करि जाना ॥१॥

सती के हृदय में नित्य नया बड़ा भारी सोच है कि दुःख-सागर से कब पार पाऊँगी। मैं ने जो रघुनाथजी का अपमान किया और फिर पति के वचन को झूठ करके समझा ॥१॥

सो फल मोहि बिधाता दीन्हा । जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा ॥
अब बिधि अस बूझिय नहिँ तोही । सङ्कर-बिमुख जिआवसि मोही ॥२॥

वह फल विधाता ने मुझे दिया, जो कि उचित था वही किया। पर हे ब्रह्मा ! अब तुम्हें ऐसा न विचारना चाहिये कि शङ्करजी के प्रतिकूल होने पर मुझे जिलाते हो ॥२॥

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी । मन महँ रामहिँ सुमिरि सयानी ॥
जौं प्रभु दीनदयाल कहावा । आरति-हरन बेद जस गावा ॥३॥

उनके हृदय की ग्लानि कुछ कही नहीं जाती, सयानी सती मन में रामचन्द्रजी का स्मरण कर बिनती करती हैं कि हे प्रभो ! यदि आप दीनदयालु कहलाते हैं और वेद यश गाते हैं कि आप दुःख हरनेवाले हैं ॥३॥

'सयानी शब्द साभिप्राय है, क्योंकि चतुर ही रामचन्द्रजी का स्मरण करते हैं।

तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी । छूटइ बेगि देह यह मोरी ॥
जौं मोरे सिव-चरन सनेहू । मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू ॥४॥

तो मैं हाथ जोड़ कर बिनती करती हूँ कि यदि मन, क्रम और वचन से शिवजी के चरणों में मेरा सच्चा व्रत स्नेह हो तो मेरी यह देह तुरन्त छूट जाय ॥४॥

दो०—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु, करउ सो बेगि उपाइ ।
होइ मरन जेहि बिनहिँ स्रम, दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥५९॥

तो हे प्रभो ! सुनिए, आप सब देखनेवाले हैं, शीघ्र ही वह उपाय कीजिए जिससे मेरी मृत्यु हो और बिना परिश्रम ही असहनीय विपत्ति छूट जाय ॥ ५९ ॥

चौ०—एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी । अकथनीय दारुन दुख भारी ॥
बीते सम्बत सहस-सतासी । तजी समाधि सम्भु अबिनासी ॥१॥

इस तरह प्रजापति की पुत्री दुःखित हैं, उनका बड़ा भीषण दुःख कहने योग्य नहीं है। सत्तासी हज़ार वर्ष बीत गये, तब अविनाशी शिवजी ने समाधि छोड़ी ॥ १ ॥

'प्रजेशकुमारी' शब्द साभिप्राय है, शङ्कर-विमुखी की कन्या का दुखी होना योग्य ही है।

राम नाम सिव सुमिरन लागे । जानेउ सती जगतपति जागे ॥
जाइ सम्भु-पद बन्दन कीन्हा । सन्मुख सङ्कर आसन दीन्हा ॥२॥

शिवजी राम-नाम स्मरण करने लगे, तब सती ने जाना कि जगत् के स्वामी जगे । उन्होंने आकर शिवजी के चरणों में प्रणाम किया, शङ्करजी ने बैठने के लिए उन्हें सामने आसन दिया॥२॥

पूर्व प्रतिज्ञानुसार वाम भाग में आसन न देकर सामने बैठने को कहा ।

लगे कहन हरिकथा रसाला । दच्छ प्रजेस भये तेहि काला ॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक । दच्छहि कीन्ह प्रजापति-नायक ॥३॥

भगवान् की रसीली कथा कहने लगे, उस समय दक्ष प्रजापति हुए थे । ब्रह्माजी ने उनको सब तरह योग्य अनुमान कर दक्ष को प्रजापतियों का मालिक बना दिया ॥ ३ ॥

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा । अति अभिमान हृदय तब आवा ॥
नहिँ कोउ अस जनमा जग माहीँ । प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीँ ॥४॥

जब दक्ष ने बड़ा आधिपत्य (मलिकई) पाया, तब उनके हृदय में बहुत ही अभिमान आ गया । ऐसा संसार में कोई नहीं जन्मा कि प्रभुता पा कर जिसको मद न हो ॥ ४॥

जब दक्ष ने बड़ा अधिकार पायो, तब उन्हें बेहद घमंड हुआ । इसका विशेष सिद्धान्त से समर्थन करना कि ऐसा तो संसार में कोई जन्मा ही नहीं कि महत्व पा कर उसे गर्व न हुआ हो 'अर्थान्तरन्यास अलंकार, है ।

दो०--दच्छ लिये मुनि बोलि सब, करन लगे बड़ जाग ।
नेवते सादर सकल सुर, जे पावत मख भाग ॥६०॥

दक्ष ने सब मुनियों को बुला लिया और बड़ा यज्ञ करने लगे । जो देवता यज्ञ में भाग पाते हैं, उन सब को आदर के साथ निमन्त्रित किया ॥ ६० ॥

चौ०--किन्नर नाग सिद्ध गन्धर्बा । बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा ॥
बिष्नु बिरञ्चि महेस बिहाई । चले सकल सुर जान बनाई ॥१॥

किन्नर, नाग, सिद्ध और गन्धर्व आदि सभी देवता अपनी अपनी स्त्रियों के सहित चले । विष्णु, ब्रह्मा और शिवजी को छोड़ कर सब देवता अपना अपना विमान सजाकर चले ॥ १ ॥

सती बिलोके ब्योम बिमाना । जात चले सुन्दर बिधि नाना ॥
सुर-सुन्दरी करहिँ कल गाना । सुनत स्रवन छूटहिँ मुनि ध्याना ॥२॥

सती ने देखा कि आकाश में नाना प्रकार के सुन्दर विमान चले जाते हैं । उनमें देवताओं की सुन्दरियाँ मनोहर गान करती हैं, जिसको सुनते ही मुनियों के ध्यान छूट जाते हैं ॥ २ ॥

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी । पिता जग्य सुनि कछु हरषानी ॥
जौं महेस मोहि आयसु देहीं । कछु दिन जाइ रहउँ मिस एहीं ॥३॥

तब शिवजी से पूछा; उन्होंने बखान कर कहा; पिता के घर यज्ञोत्सव, सुन कर कुछ प्रसन्न हुईं । मन में सोचा कि यदि शङ्करजी आज्ञा दें, तो कुछ दिन इसी बहाने जा कर पिता के यहाँ रहूँ ॥ ३ ॥

पति-परित्याग हृदय दुख भारी । कहइ न निज अपराध बिचारी ॥
बोली सती मनोहर बानी । भय सङ्कोच प्रेम रस सानी ॥४॥

पति के त्याग देने का हृदय में भारी दुःख है, पर अपना अपराध समझ कर कहती नहीं । भय लाज और प्रेम-रस से मिली हुई मनोहर वाणी से सती बोलीं ॥४॥

दो०–पिता भवन उत्सव परम, जौं प्रभु आयसु होइ ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन, सादर देखन सोइ ॥६१॥

हे कृपा के स्थान प्रभो ! मेरे पिता के घर परमोत्सव है, यदि आज्ञा हो तो मैं आदर के साथ उसे देखने जाऊँ ॥ ६१ ॥

चौ०–कहेहु नीक मोरे मन भावा । यह अनुचित नहिं नेवत पठावा ॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाईं । हमरे बयर तुम्हहुँ बिसराईं ॥१॥

शिवजी ने कहा—अच्छा कहती हो, मेरे मन को सुहाता है, पर अनुचित तो यह है कि उन्होंने नेवता नहीं भेजा । दक्ष ने अपनी सब लड़कियों को बुलाया; किन्तु हमारे बैर से तुम्हें भी भुला दिया ॥१॥

ब्रह्म-सभा हम सन दुख माना । तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना ॥
जौं बिनु बोले जाहु भवानी । रहइ न सील सनेह न कानी ॥ २ ॥

ब्रह्मा की सभा में हम से अप्रसन्न हुए थे, उसी से अब (यज्ञ में) भी हमारा अपमान करते हैं । हे भवानी ! जो तुम बिना बुलाये जाओगी तो शील न रहेगा, न स्नेह और न मर्यादा ही रह जायगी ॥२॥

जदपि मित्र-प्रभु-पितु-गुरु गेहा । जाइय बिनु बोले न सँदेहा ॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई । तहाँ गये कल्यान न होई ॥ ३॥

यद्यपि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के स्थान में बिना बोलाये जाना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं । तो भी जहाँ कोई विरोध मानता हो तो वहाँ (इन स्थानों में भी) जाने से कल्याण नहीं होता ॥३॥

भाँति अनेक सम्भु समुझावा । भावी बस न ज्ञान उर आवा ॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाये । नहिं भलि बात हमारे भाये ॥४॥

अनेक प्रकार से शिवजी ने समझाया, पर होनहार के वश सती के हृदय में समझ न आई । प्रभु शङ्करजी ने कहा—जो बिना बुलाये जाओगी तो मेरे विचार से बात अच्छी न होगी ॥४॥

दो०--करि देखा हर जतन बहु, रहइ न दच्छकुमारि ।
दिये मुख्य गन सङ्ग तब, बिदा कीन्ह त्रिपुरारि ॥६२॥

शिवजी ने बहुत यत्न कर के देखा कि दक्ष की कन्या न रुकेगी, तब उन्होंने मुख्य सेवकों को साथ में कर के विदा कर दिया ॥६२॥

'दक्षकुमारि' और 'त्रिपुरारि' संज्ञाएँ साभिप्राय हैं । दक्ष जैसे हठी की कन्या अपना हठ कैसे छोड़ सकती है ? त्रिपुर जैसे भीषण दानव के संहारकर्त्ता, सती का नाश जानते हुए भी मन में क्षोभ न लाये, तुरन्त बिदा कर दिया 'परिकराङ्कुर अलंकार' है । गुटका में 'कहि देखा हर जतन बहु' पाठ है ।

चौ०--पिता-भवन जब गई भवानी । दच्छ-त्रास काहु न सनमानी ॥
सादर भलेहि मिली एक माता । भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता ॥१॥

जब भवानी पिता के घर गई तब दक्ष के डर से किसी ने उनका सत्कार नहीं किया । एक माता भले ही आदर के साथ मिलीं और बहिनें बहुत मुस्कुराती हुई मिलीं ॥ १ ॥

बहनों के मुस्कुराने में तिरस्कार-सूचक व्यङ्ग है कि देखो सती बिना पिताजी के बुलाये आप ही आप अनादर सहने को आई है ।

दच्छ न कछु पूछी कुसलाता । सतिहि बिलोकि जरे सब गाता ॥
सती जाइ देखेउ तब जागा । कतहुँ न दीख सम्भु कर भागा ॥२॥

दक्ष ने कुछ कुशलता न पूछी वरन् सती को देख कर उनका सारा शरीर (क्रोध से) जल गया । तब सती ने जा कर यज्ञ को देखा, वहाँ कहीं शिवजी का भाग नहीं दिखाई दिया ॥ २ ॥

तब चित चढ़ेउ जो सङ्कर कहेऊ । प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ ॥
पाछिल दुख न हृदय अस ब्यापा । जस यह भयउ महा परितापा ॥३॥

तब जो शिवजी ने कहा था वह बात मन में याद आई और स्वामी का अनादर समझ कर हृदय जल गया । पिछला (पति के त्यागने का) ऐसा दुःख हृदय में नहीं फैला था जैसा यह (पिता से अपमानित होने का) महान् खेद हुआ ॥ ३ ॥

जद्यपि जग दारुन दुख नाना । सब तेँ कठिन जाति-अपमाना ॥
समुझि सो सतिहि भयउ अति क्रोधा । बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥४॥

यद्यपि संसार में अनेक तरह के भयङ्कर दुःख हैं, पर जाति से अपमानित होना सब से कठोर क्लेश है। यह सोच कर सती को बड़ा क्रोध हुआ, माता ने अनेक प्रकार समझाया-बुझाया (किन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ) ॥ ४ ॥

पहले एक साधारण बात कही कि पति परित्याग का ऐसा दुःख नहीं हुआ, जैसा पिता के अपमान से क्लेश हुआ फिर इसका विशेष सिद्धान्त से समर्थन करना कि यद्यपि नाना दुःख संसार में हैं, पर जात्यापमान सब से भीषण है, 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

दो०—सिव अपमान न जाइ सहि, हृदय न होइ प्रबोध ।
सकल सभहि हठि हटकि तब, बोली बचन सक्रोध ॥६३॥

शिवजी का अपमान सहा नहीं जाता, इससे मन को सन्तोष नहीं होता है, तब सारी सभा को हठ से रोक कर क्रोध-पूर्वक वचन बोलीं ॥ ६३ ॥

चौ०—सुनहु सभासद सकल मुनिन्दा । कही सुनी जिन्ह सङ्कर निन्दा ॥
सो फल तुरत लहब सब काहू । भली भाँति पछिताब पिताहू ॥१॥

हे सम्पूर्ण सभासदो और मुनीश्वरो! सुनिए, जिन्होंने शिवजी की निन्दा कही और सुनी है उसका फल उन सब को तुरन्त मिलेगा। मेरे पिता भी अच्छी तरह पछतावेंगे ॥ १ ॥

सन्त-सम्भु-स्रीपति अपबादा । सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा ॥
काढ़िय तासु जीभ जो बसाई । स्रवन मूँदि न त चलिय पराई ॥२॥

सन्त, शिवजी और विष्णु भगवान् की निन्दा जहाँ सुनिए वहाँ ऐसी मर्य्यादा है कि जो वश चले तो निन्दक की जीभ निकाल कर फेंक दे, नहीं तो कान मूँद कर भाग जाय ॥ २ ॥

सभा की प्रति में 'काटिय तासु जीभ जो बसाई' पाठ है।

जगदातमा महेस पुरारी । जगत-जनक सब के हितकारी ॥
पिता-मन्दमति निन्दत तेही । दच्छ-सुक्र-सम्भव यह देही ॥३॥

त्रिपुर-दैत्य के वैरी महेश्वर जगत् की आत्मा, संसार के पिता और सब के कल्याण-कर्त्ता हैं। नीच बुद्धि पिता उनकी निन्दा करता है और मेरा यह शरीर दक्ष के वीर्य्य से उत्पन्न है ॥ ३ ॥

निन्दक के वीर्य्य से उत्पन्न शरीर में जीवित रहना निन्द्य है, यह व्यङ्गार्थ और वाच्यार्थ बराबर होने से तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू । उर धरि चन्द्रमौलि बृषकेतू ॥
अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा । भयउ सकल मख हाहाकारा ॥४॥

इसलिए मैं चन्द्रमा मस्तक पर धारण करनेवाले धर्मध्वज शङ्करजी को हृदय में रख कर

तुरन्त देह त्याग दूँगी। ऐसा कह कर योगाग्नि से शरीर भस्म कर दिया, सारी यज्ञशाला में हाहाकार मच गया ॥ ४ ॥

दो०--सती मरन सुनि सम्भु गन, लगे करन मख खीस ।
जग्य-बिधन्स बिलोकि भृगु, रच्छा कीन्हि मुनीस ॥६४॥

सती का मरना सुन कर शिवजी के गण यज्ञ का नाश करने लगे। यज्ञ का विध्वंस होते देख कर भृगु मुनीश्वर ने मन्त्र के बल से रक्षा की ॥ ६४ ॥

चौ--समाचार सब सङ्कर पाये। बीरभद्र करि कोप पठाये ॥
जग्य बिधन्स जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा ॥१॥

ये सब समाचार शिवजी को मिले, उन्होंने क्रोध कर के वीरभद्र को भेजा। वीरभद्र ने जा कर यज्ञ का सत्यानाश किया और सब देवताओं को यथोचित फल दिया ॥१॥

भइ जग बिदित दच्छ-गति सोई। जसि कछु सम्भु-बिमुख कै होई ॥
यह इतिहास सकल जग जाना। तातेँ मैँ संछेप बखाना ॥२॥

दक्ष की वही गति संसार में प्रसिद्ध हुई, जैसी कुछ शिव-द्रोही की होती है। यह इतिहास सारा जगत जानता है, इससे मैं ने संक्षेप में वर्णन किया ॥२॥

सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिव-पद अनुरागा ॥
तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई ॥३॥

मरते समय सती ने भगवान् से बर माँगा कि शिवजी के चरणों में मेरा जन्म जन्मान्तर प्रेम बना रहे। इस कारण हिमाचल के घर जाकर पार्वती का शरीर पा कर पैदा हुई ॥३॥

सती ने यह सोचा कि पति के उपास्यदेव के साथ मैंने अपराध किया है, बिना उनके क्षमा किए शिवजी प्रसन्न न होंगे; इसीसे भगवान् से वर माँगा और अन्त में भगवान् ने शिवजी से प्रार्थना कर पार्वती के साथ विवाह करने को उन्हें राज़ी किया।

जब तेँ उमा सैल-गृह-जाई। सकल सिद्धि सम्पति तहँ छाई ॥
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआस्रम कीन्हे। उचित बास हिम भूधर दीन्हे ॥४॥

जब से हिमवान-पर्वत के घर पार्वतीजी ने जन्म लिया, तब से वहाँ सम्पूर्ण सिद्धि और सम्पत्ति का निवास हो गया। जहाँ तहाँ मुनियों ने सुन्दर आश्रम बनाया, हिमाचल ने उन्हें उचित स्थान दिया ॥४॥

दो--सदा सुमन फल सहित सब, द्रुम नव नाना जाति ।
प्रगटी सुन्दर सैल पर, मनि-आकर बहु भाँति ॥६५॥

नाना प्रकार के सब नवीन वृक्ष सदा फूल फल सहित रहने लगे। बहुत तरह के रत्नों की सुन्दर खानें पहाड़ पर प्रकट हुईं ॥६५॥

चौ०--सरिता सब पुनीत जल बहहीं । खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥
सहज-बयर सब जीवन्ह त्यागा । गिरि पर सकल करहिँ अनुरागा ॥१॥

सब नदियाँ पवित्र जल बहती हैं, पक्षी, मृग और भ्रमर सब सुखी रहते हैं। सब जीवों ने स्वाभाविक बैर त्याग दिया। पहाड़ पर वे सब परस्पर प्रेम करते हैं ॥१॥

सोह सैल गिरिजा गृह आये । जिमि जन रामभगति के पाये ॥
नित नूतन मङ्गल गृह तासू । ब्रह्मादिक गावहिँ जस जासू ॥ २ ॥

घर में पार्वतीजी के आने से पर्वत ऐसा शोभित हो रहा है, जैसे मनुष्य रामचन्द्रजी की भक्ति प्राप्त होने से शोभायमान होता है। उसके भवन में नित्य नया मङ्गल होता है जिसका यश गान ब्रह्मा आदि देवता भी करते हैं ॥२॥

नारद समाचार सब पाये । कौतुकहीं गिरि-गेह सिधाये ॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा । पद पखारि बर आसन दीन्हा ॥ ३ ॥

नारदजी ये सब समाचार पाकर प्रसन्नता से हिमवान् के घर चल कर आये। पर्वतराज ने उनका बड़ा आदर किया, पाँव धोकर सुन्दर आसन दिया ॥३॥

नारि सहित मुनि-पद सिर नावा । चरन-सलिल सब भवन सिंचावा ॥
निज सौभाग्य बहुत बिधि बरना । सुता बोलि मेली मुनि चरना ॥४॥

उनके चरणोदक से सारा घर सिँचवाया, फिर स्त्री के सहित मुनि के चरणों में सिर नवाया। बहुत तरह से अपने भाग्य की बड़ाई कर के कन्या को बुला कर मुनि के चरणों पर डाल कर प्रणाम कराया ॥४॥

दो०--त्रिकालग्य सर्बग्य तुम्ह, गति सर्बत्र तुम्हारि ।
कहहु सुता के दोष गुन, मुनिबर हृदय बिचारि ॥ ६६ ॥

हिमवान ने कहा—हे मुनिवर ! आप की सब जगह पहुँच है और आप त्रिकालदर्शी एवम् सर्वज्ञ हैं। हृदय में विचार कर कन्या के दोष-गुण कहिए ॥६६॥

चौ०--कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी । सुता तुम्हारि सकल-गुन-खानी ॥
सुन्दर सहज सुसील सयानी । नाम उमा अम्बिका भवानी ॥१॥

मुनि हँस कर अभिप्राय से भरी कोमल वाणी कहने लगे, आपकी कन्या सम्पूर्ण गुणों की खानि है। यह स्वभाव से ही सुन्दर, सुशीला और सयानी है। इसका नाम उमा, अम्बिका तथा भवानी है ॥१॥

सब लच्छन-सम्पन्न कुमारी । होइहि सन्तत पियहि पियारी ॥
सदा अचल एहि कर अहिवाता । एहि ते जस पइहहिँ पितु-माता ॥२॥

यह कन्या सब लक्षणों से भाग्यवती है और अपने स्वामी की निरन्तर प्यारी होगी। इसका सोहाग सदा अचल रहेगा, इससे माता-पिता यश पावेंगे ॥२॥

होइहि पूज्य सकल जग माहीं । एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं ॥
एहि कर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा॥३॥

सम्पूर्ण जगत् में पूज्य होगी, इसकी सेवा करने से कुछ दुर्लभ न रहेगा । संसार में स्त्रियाँ इसका नाम स्मरण करके पतिव्रता रूपी तलवार की धार पर चढ़ेंगी ॥३॥

सैल सुलच्छनि सुता तुम्हारी । सुनहु जे अब अवगुन दुइ-चारी ॥
अगुन अमान मातु-पितु हीना । उदासीन सब संसय छीना ॥ ४ ॥

हे पर्वतराज ! तुम्हारी पुत्री सुन्दर लक्षणवाली है, अब उसमें जो दो चार दोष हैं वह सुनिए । निर्गुणी, मानरहित, माता-पिता से हीन, निरपेक्ष (त्यागी) और समस्त सन्देहों से शून्य ॥४॥

दो०--जोगी जटिल अकाम-मन, नगन अमङ्गल-बेख ।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ॥ ६७ ॥

योगी, जटाधारी, निष्काम हृदय, नङ्गा और अमङ्गल वेषवाला, ऐसा स्वामी इसको मिलेगा, हाथ में ऐसी रेखा पड़ी है ॥ ६७ ॥

चौ०--सुनि मुनि-गिरा सत्य जिय जानी । दुख-दम्पतिहि उमा-हरखानी॥
नारदहू यह भेद न जाना । दसा एक समुझब बिलगाना॥१॥

मुनि की बात सुन कर और उसको मन में सच जान कर स्त्री के सहित हिमवान को दुःख हुआ, पार्वतीजी प्रसन्न हुईं । इस भेद को नारदजी ने भी नहीं जाना । दशा एक सी है पर दोनों ओर की समझ भिन्न भिन्न है ॥ १ ॥

हिमवान और मैना की आँखों में पुत्री के स्नेह वश करुणा से आँसू भर आया और पार्वतीजी के हृदय में स्वामी के चरणों में प्रीति उमड़ी, हर्ष से नेत्रों में जल भर आया । प्रत्यक्ष में हिमवान, मैना, सहेलियाँ और पार्वती सब की आँखों में पानी भरा हुआ एक समान दशा है किन्तु समझदारी भिन्न 'मिलीत अलंकार' है, क्योंकि इसका पता योगिराज नारदजी को भी नहीं चला।

सकल सखी गिरिजा गिरि मैना । पुलक सरीर भरे जल नैना ॥
होइ न मृषा देवरिषि भाखा । उमा सो बचन हृदय धरि राखा ॥२॥

सारी सखियाँ, पार्वती, हिमवान और मैना के शरीर पुलकित एवम् नेत्रों में जल भरे हैं । देवर्षि नारदजी की वाणी मिथ्या न होगी (ऐसा समझ कर) पार्वतीजी ने उस वचन को हृदय में रख लिया ॥ २ ॥

उपजेउ सिव-पद-कमल सनेहू । मिलन कठिन भा मन सन्देहू ॥
जानि कुअवसर प्रीति दुराई । सखी-उछङ्ग बैठि पुनि जाई ॥ ३ ॥

शिवजी के चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न हुई; किन्तु मिलने का कठिन सन्देह मन में हुआ । कुसमय समझ कर स्नेह को छिपाया, फिर सखी की गोदी में जा बैठीं ॥ ३ ॥

गुरुजनों की लाज से चतुराई पूर्वक प्रीति को छिपाना 'अवहित्थ सञ्चारीभाव' है और अपनी पूर्वकृत् दुर्नीति के विचार से मिलने का सन्देह 'शङ्का सञ्चारीभाव' है।

झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिँ दम्पति सखी सयानी॥
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिय उपाऊ॥४॥

नारदजी की वाणी झूठी न होगी, (यह सोचकर) सयानी सखियाँ और मैना के सहित हिमवान चिन्ता करने लगे। शैलराज ने हृदय में धीरज धारण करके कहा—हे नाथ! कहिए, क्या उपाय किया जाय?॥४॥

दो०—कह मुनीस हिमवन्त सुनु, जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥६८॥

मुनीश्वर ने कहा—हे हिमवन्त! सुनिए, ब्रह्मा ने जो ललाट में लिखा है, उसको देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग और मुनि कोई मिटानेवाला नहीं है॥६८॥

चौ०—तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौं दैव सहाई॥
जस बर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहिँ तस संसय नाहीं॥१॥

तो भी मैं एक उपाय कहता हूँ, यदि ईश्वर सहायता करेगा तो वह हो सकता है। जैसा वर मैंने आप से कहा है, उमा को वैसा ही मिलेगा इस में सन्देह नहीं॥१॥

जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिँ मैं अनुमाने॥
जौं बिबाह सङ्कर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई॥२॥

मैं ने जिन जिन दोषों का वर्णन किया उन सब का अनुमान शिवजी में करता हूँ। यदि शङ्कर से विवाह हो तो उनके दोषों को भी सब कोई गुण के समान कहते हैं॥२॥

जौं अहि-सेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कर दोष न धरहीं॥
भानु-कृसानु सर्व-रस खाहीं। तिन्ह कहँ मन्द कहत कोउ नाहीं॥३॥

यदि विष्णु भगवान् शेषनाग की शय्या पर शयन करते हैं तो विद्वजन उनको कुछ दोष नहीं लगाते। सूर्य्य और अग्नि (भले बुरे) सब रस खाते हैं, पर उन्हें कोई ख़राब नहीं कहता॥३॥

सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥
समरथ कहँ नहिँ दोष गोसाँई। रबि पावक सुरसरि की नाँई॥४॥

पवित्र और अपवित्र सब जल गङ्गाजी में बहता है, पर गंगाजी को कोई अपवित्र नहीं कहता। हे स्वामिन्! सूर्य्य, अग्नि और गङ्गाजी के समान समर्थ को दोष नहीं है॥४॥

दो०—जौं ऐसहि इसिषा करहिं, नर बिवेक अभिमान ।
परहिं कलप भरि नरक महँ, जीव कि ईस समान ॥ ६९ ॥

यदि ऐसी ही बराबरी की इच्छा ज्ञान के घमण्ड से मनुष्य करेंगे तो वे कल्प भर नरक में पड़ेंगे, क्या जीव ईश्वर के समान हो सकता है ? (कदापि नहीं । ॥ ६९ ॥

सभा की प्रति में 'जौं अस हिसिषा करहिं नर, जड़ बिवेक अभिमान' पाठ है ।

चौ०—सुरसरि जलकृत बारुनि जाना । कबहुँ न सन्त करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे । ईस अनीसहि अन्तर तैसे ॥ १ ॥

गंगाजल से बनाई हुई मदिरा को जानते हुए भी सज्जन लोग उसे कभी पान नहीं करते । पर वही गंगाजी में मिल जाने पर जैसे पवित्र हो जाती है, ईश्वर और जीव का ऐसा ही अन्तर है ॥ १ ॥

सम्भु सहज समरथ भगवाना । एहि बिबाह सब बिधि कल्याना ॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू । आसुतोष पुनि किये कलेसू ॥ २॥

भगवान् शिवजी सहज ही समर्थ हैं, इसलिए इस विवाह में सब प्रकार कल्याण है । यद्यपि शिवजी कठिनाई से आराधन करने योग्य हैं, फिर भी क्लेश करने से वे जल्दी प्रसन्न होते हैं ॥ २ ॥

जौं तप करइ कुमारि तुम्हारी । भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥
जद्यपि बर अनेक जग माहीं । एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ॥३

यदि तुम्हारी कन्या तपस्या करे तो त्रिपुर दैत्य के वैरी रुद्र भगवान् होनहार को भी मिटा सकते हैं । यद्यपि संसार में असंख्यों वर हैं, पर इसको शिवजी को छोड़ कर दूसरा वर नहीं है ॥ ३ ॥

बर-दायक प्रनतारति-भञ्जन । कृपासिन्धु सेवक-मन-रञ्जन ॥
इच्छित-फल बिनु सिव अवराधे । लहिय न कोटि जोगजप साधे ॥४॥

वे वर देनेवाले, शरणागतों के दुःख नाशक, दया के समुद्र और सेवकों के मन को प्रसन्न करनेवाले हैं । बिना शिवजी की आराधना के करोड़ों जप योगों की साधना करने पर भी वाञ्छित फल नहीं मिलता ॥ ४ ॥

दो०—अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्हि असीस ।
होइहि अब कल्यान सब, संसय तजहु गिरीस ॥७०॥

ऐसा कह कर भगवान को स्मरण करके नारदजी ने गिरिजा को आशीर्वाद दिया और कहा कि—हे गिरिराज ! तुम सन्देह त्याग दो, (शिवजी की आराधना से इसका) सब कल्याण होगा ॥ ७० ॥

सभा की प्रति में 'होइहि यह कल्यान अब' पाठ है ।

दो०-अस कहि ब्रह्म-भवन मुनि गयऊ । आगिल चरित सुनहु जस भयऊ ॥
पतिहि एकन्त पाइ कह मैना । नाथ न मैं समुझे मुनि-बैना ॥१॥

ऐसा कह कर मुनि ब्रह्मधाम को गये, आगे जैसा चरित्र हुआ वह सुनिए। पति को अकेले में पा कर मैना कहने लगी— हे नाथ ! मैं ने मुनि की बातें नहीं समझ पाईं ॥ १ ॥

गुटका में 'नाथ न मैं बूझे मुनि बैना' पाठ है।

जौं घर बर कुल होइ अनूपा । करिय बिबाह सुता-अनुरूपा ॥
न त कन्या बरु रहउ कुँआरी । कन्त उमा मम प्रान-पियारी ॥ २ ॥

जो घर, वर और कुल उत्तम हो तो कन्या के अनुकूल (वर के साथ) विवाह कीजिए। हे कन्त ! नहीं तो चाहे कन्या बिना ब्याही रहे (पर अयोग्य वर के साथ शादी करना उचित नहीं, क्योंकि) पार्वती मुझे प्राण के समान प्यारी है ॥ २ ॥

जौं न मिलिहि बर गिरजहि जोगू । गिरि जड़ सहज कहिहि सब लोगू ॥
सोइ बिचारि पति करहु बिबाहू । जेहि न बहोरि होइ उर दाहू ॥३॥

यदि पार्वती के योग्य, वर न मिलेगा तो सब लोग कहेंगे पर्वत स्वभाव ही से जड़ (मूर्ख) होते हैं। हे स्वामिन् ! इस बात को समझ कर विवाह कीजिए, जिसमें फिर पीछे हृदय में सन्ताप न हो ॥ ३ ॥

अस कहि परी चरन धरि सीसा । बोले सहित सनेह गिरीसा ॥
बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं । नारद बचन अन्यथा नाहीं ॥ ४ ॥

ऐसा कह कर चरणों पर मस्तक रख कर गिर पड़ीं, तब हिमवान स्नेह के साथ बोले। चन्द्रमा में चाहे अग्नि प्रकट हो, तो हो जाय, पर नारदजी की बात झूठी न होगी ॥४॥

देवर्षि नारदजी परम योगेश्वर हैं, उनका वचन स्वभावतः मिथ्या नहीं हो सकता। परन्तु हिमवान का यह कहना कि चाहे चन्द्रमा में अग्नि प्रकट हो अर्थात् यह असम्भव सम्भव हो जाय, तो भी नारद की बात झूठ नहीं हो सकती। सामान्य का विशेष से समर्थन 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

दो०-प्रिया सोच परिहरहु सब, सुमिरहु श्रीभगवान ।
पारबती निरमयउ जेहि, सोइ करिहि कल्यान ॥ ७१ ॥

हे प्रिये ! सब सोच छोड़ कर श्रीभगवान् का स्मरण करो। जिन्होंने पार्वती को उत्पन्न किया है, वेही कल्याण करेंगे ॥७१॥

साहस-पूर्वक ईश्वर पर भरोसा कर चित्त को दृढ़ करना 'धृति सञ्चारी भाव' है। सभा की प्रति में 'सोइ करिअहि कल्यान' पाठ है।

चौ०-अब जौँ तुम्हहिँ सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावन देहू॥
करइ सो तप जेहि मिलहिँ महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू॥१॥

अब यदि तुम्हें कन्या पर प्रेम है तो जा कर ऐसी शिक्षा दो कि वह तप करे, जिससे शिवजी मिलें, दूसरे उपायों से क्लेश न मिटेगा॥१॥

नारद बचन सगर्भ सहेतू। सुन्दर सब-गुन-निधि-वृषकेतू॥
अस बिचारि तुम्ह तजहु असङ्का। सबहि भाँति सङ्कर अकलङ्का॥२॥

नारदजी के बचन साभिप्राय और कारण से युक्त हैं, शिवजी सुन्दर सब गुणों के स्थान हैं। ऐसा समझ कर तुम मिथ्या सन्देह त्याग करो, शंकरजी सभी भाँति निष्कलंक हैं॥२॥

सुनि पति-बचन हरषि मन माहीँ। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीँ॥
उमहिँ बिलोकि नयन भरि बारी। सहित सनेह गोद बैठारी॥३॥

पति की बात सुन मनमें प्रसन्न होकर उठीं और तुरन्त पार्वतीजी के पास गईं। उमाजी को देख आँखों में जल भर कर स्नेह के साथ गोद में बिठा लिया॥३॥

बारहिँ बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई॥
जगत-मातु सर्बज्ञ भवानी। मातु-सुखद बोली मृदु-बानी॥४॥

बारबार हृदय से लगा लेती हैं, अत्यधिक प्रेम से गला भर आया, कुछ कहा नहीं जाता है। जगन्माता भवानी सब जाननेवाली हैं, (उनके हृदयका असमञ्जस जान कर) माता को सुख देनेवाली कोमल वाणी से बोलीं॥४॥

मैना के हृदय में पतिविषयक रतिभाव है। उनकी सुकुमार अवस्था देख कर और तपश्चर्य्या की कठिनाइयों का अनुमान कर मन में स्नेह से विह्वल हो उठीं, वाणी रुक गई, कुछ कह नहीं सकतीं।

दो०-सुनहि मातु मैं दीख अस, सपन सुनावउँ तोहि।
सुन्दर गौर सुबिप्र-बर अस उपदेसेउ मोहि॥७२॥

हे माताजी! सुनिए, मैं ने यह स्वप्न देखा है, वह तुम्हें सुनाती हूँ। सुन्दर, गौर, अच्छे श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है॥७२॥

चौ०-करहि जाइ तप सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥
मातु-पितहि पुनि यह मत भावा। तप-सुख प्रद दुख-दोष-नसावा॥१॥

हे शैलकन्या! जा कर तपस्या कर, नारदजी ने जो कहा है उसको सच समझ। फिर तेरे माता-पिता के मन में यह सम्मति भाई है, तप सुख देनेवला और दुःख दोष का नसानेवाला है॥१॥

माता के मन का अभिप्राय जान कर स्वप्न के बहाने तात्पर्य्य सूचित करके उनके मन का असमञ्जस दूर करना 'सूक्ष्म अलंकार' है।

तप-बल रचइ प्रपञ्च बिधाता। तप-बल बिष्नु सकल-जग-त्राता॥
तप-बल सम्भु करहिं संहारा। तप-बल सेष धरहिँ महि भारा॥२॥

तप के बल से ब्रह्मा संसार की रचना करते हैं, तप के बल से विष्णु सारे जगत् का पालन करते हैं, तप के बल से रुद्र संहार करते और तप के बल से शेषनाग पृथ्वी का बोझ धारण करते हैं॥२॥

तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तप अस जिय जानी॥३
सुनत बचन बिसमित महँतारी। सपन सुनायउ गिरिहि हँकारी॥३॥

हे भवानी! सब सृष्टि तप के ही सहारे पर है, ऐसा मन में समझ, तू जा कर तपस्या कर। यह वचन सुन कर माता को बड़ा आश्चर्य हुआ और हिमवान को बुला कर वह स्वप्न उनसे कह सुनाया॥३॥

मातु-पितहि बहु बिधि समुझाई। चली उमा तप-हित हरषाई॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भये बिकल मुख आव न बाता॥४॥

माता-पिता को बहुत तरह समझा कर प्रसन्नता-पूर्वक पार्वतीजी तप के लिये चलीं। प्यारे कुटुम्बीजन, पिता और माता व्याकुल हो गये, मुख से बात नहीं आती है॥ ४॥

दो०—बेदसिरा-मुनि आइ तब, सबहिँ कहा समुझाइ।
पारबती महिमा सुनत, रहे प्रबोधहि पाइ॥७३॥

तब वेदशिरा मुनि ने आ कर सब को समझा कर कहा। पार्वतीजी की महिमा को सुन कर सभी के मन में सन्तोष हुआ॥७३॥

चौ०—उर धरि उमा प्रान-पति-चरना। जाइ बिपिन लागी तप करना॥
अति सुकुमारि न तनु तप जोगू। पति-पद सुमिरि तजे सब भोगू॥१॥

प्राणपति के चरणों को हृदय में रख कर पार्वतीजी बन में जा कर तप करने लगीं। उनका अत्यन्त कोमल शरीर तपस्या के योग्य नहीं है, तो भी स्वामी के चरणों का स्मरण कर उन्होंने सब भोग तज दिये॥ १॥

नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मन लागा॥
सम्बत सहस मूल फल खाये। साग खाइ सत बरष गँवाये॥२॥

स्वामी के चरणों में नित्य नया प्रेम उत्पन्न हो रहा है, तप में ऐसा मन लगा कि शरीर की सुध भूल गई। एक हज़ार वर्ष मूल-फल खाया और सौ वर्ष साग खा कर बिताया॥ २॥

कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥
बेल-पाति महि परइ सुखाई। तीनि सहस सम्बत सो खाई॥३॥

कुछ दिन जल और वायु का भोजन और कुछ दिन कठोर उपवास किया। पृथ्वी पर गिरी हुई सूखी बेल की पत्तियों को तीन हज़ार वर्ष तक खाया॥३॥

पुनि परिहरे सुखाने परना । उमहिं नाम तब भयउ अपरना ॥
देखि उमहिं तप-खीन-सरीरा । ब्रह्म-गिरा भइ गगन गँभीरा ॥४॥

फिर सूखे पत्तों को भी त्याग दिया, तब उमा का नाम अपर्णा हुआ । तपस्या से पार्वतीजी का खिन्न शरीर देख कर आकाश से गम्भीर ब्रह्म-वाणी हुई ॥४॥

दो०—भयउ मनोरथ सुफल तव, सुनु गिरिराज-कुमारि ।
परिहरु दुसह कलेस सब, अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥७४॥

हे पर्वतराजकी कन्या ! सुन; तेरा मनोरथ सफल हुआ । तू सब असहनीय कष्टों को छोड़ दे, अब तुझे शिवजी मिलेंगे ॥७४॥

चौ०—अस तप काहु न कीन्ह भवानी । भये अनेक धीर मुनि ज्ञानी ॥
अब उर धरहु ब्रह्म-बर-बानी । सत्य सदा सन्तत सुचि जानी ॥१॥

हे भवानी ! असंख्यों धीरमुनि ज्ञानी हुए हैं, पर ऐसा तप किसी ने नहीं किया । अब तुम श्रेष्ठ ब्रह्म वाणी को सदा सत्य और निरन्तर पवित्र जान कर अपने हृदय में रक्खो ॥१॥

आवहिं पिता बुलावन जबहीं । हठ परिहरि घर जायहु तबहीं ॥
मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त-रिषीसा । जानेहु तब प्रमान बागीसा ॥२॥

जब तुम्हारे पिता बुलाने आवें तब हठ छोड़ कर घर जाना । जब तुम्हें सप्त-ऋषीश्वर मिलें, तब मेरी बात को ठीक (शिवजी के प्राप्त होने को समय) समझना ॥ २ ॥

सुनत गिरा बिधि गगन बखानी । पुलकगात गिरिजा हरषानी ॥
उमा चरित सुन्दर मैं गावा । सुनहु सम्भु कर चरित सुहावा ॥३॥

इस तरह आकाश से बखानी हुई ब्रह्मा की वाणी को सुन कर पार्वतीजी प्रसन्न हुईं और उनका शरीर प्रेम से पुलकित हो गया । याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि मैं ने उमा का सुंदर चरित्र गान किया, अब शिवजी की सुहावनी कथा सुनिये ॥३॥

जब तें सती जाइ तनु त्यागा । तब तें सिव-मन भयउ बिरागा ॥
जपहिं सदा रघुनायक-नामा । जहँ तहँ सुनहिं राम-गुन-ग्रामा ॥४॥

जब से सती ने जाकर तन-त्याग किया, तब से शिवजी के मन में विराग हुआ । सदा रघुनाथजी का नाम जपते हैं और जहाँ तहाँ रामचन्द्रजी के गुणों की कथा सुनते हैं ॥४॥

शङ्का—क्या पहले शिवजी में वैराग्य नहीं था ? जो कहते हैं कि जब से सती ने तनु त्यागा, तब से शिवजी के मन में विराग हुआ । उत्तर—यहाँ कैलास पर रहने से मन उचटने की बात है, क्योंकि सतीजी के साथ तरह तरह का सत्संग और हरिकथा होती थी । इस विक्षेप से उचाट हुआ, तब कैलास छोड़ कर जहाँ तहाँ विचरने और राम-गुण ग्राम सुनने लगे ।

दो०—चिदानन्द सुख-धाम सिव, बिगत मोह-मद-काम।
बिचरहिँ महि धरि हृदय हरि, सकल-लोक-अभिराम ॥७५॥

चैतन्य और आनन्दमय सुख के धाम शिवजी मोह, मद और काम से रहित सम्पूर्ण लोकों के आनन्द देनेवाले भगवान् को हृदय में धर कर पृथ्वी पर विचरण करते हैं ॥७५॥

चौ०—कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिँ ज्ञाना। कतहुँ राम गुन करहिँ बखाना॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख दुखित-सुजाना॥१॥

कहीं मुनियों को ज्ञान का उपदेश करते हैं, कहीं रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन करते हैं। यद्यपि सुजान भगवान् शिवजी निष्काम हैं, तो भी भक्त (सती) के वियोग से उत्पन्न दुःख से दुखी हैं ॥१॥

एहि बिधि गयउ काल बहु बीती। नित नइ होइ राम-पद-प्रीती॥
नेम प्रेम सङ्कर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥२॥

इसी तरह बहुत समय बीत गया। रामचन्द्रजी के चरणों में नित्य नवीन प्रीति होती है। शङ्करजी का नेम प्रेम और उनके हृदय में अटल भक्ति की लकीर देख कर ॥ २॥

प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप-सील-निधि तेज बिसाला॥
बहु प्रकार सङ्करहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रत को निरबाहा॥३॥

कृतज्ञ, (किये हुए उपकार को जाननेवाले) कृपालु, रूप-शील के सागर, महान् तेजस्वी रामचन्द्रजी प्रकट हुए। उन्होंने बहुत तरह शिवजी की सराहना की और कहा कि आप के बिना ऐसा कठिन व्रत कौन निबाह सकता है ॥ ३॥

बहु बिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥४॥

रामचन्द्रजी ने बहुत प्रकार शिवजी को समझाया और पार्वतीजी का जन्म सुनाया। अत्यन्त पवित्र गिरिजा की करनी कृपानिधान (रामचन्द्रजी) ने विस्तार के साथ वर्णन की ॥ ४॥

बहुत तरह समझाना यह कि—आपने भक्ति की रक्षा के लिये सती को त्याग कर इस कठिन प्रतिज्ञा का पूर्ण रीति से पालन किया। आप के विरह से सती ने शरीर त्याग दिया। अब वह पार्वती होकर जन्मी है। आप की कृपा के लिये उसने बड़ा ही उग्र तप किया, जिससे प्रसन्न हो ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम्हें शिव जी मिलेंगे, इत्यादि।

दो०—अब बिनती मम सुनहु सिव, जौँ मो पर निज-नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि, यह मोहि माँगे देहु॥७६॥

हे शिवजी! यदि मुझ पर आपका स्नेह है तो अब मेरी विनती सुनिये। यह माँगने पर मुझे दीजिये कि जाकर शैल-कन्या (पार्वती) को विवाहिये ॥ ७६॥

चौ०—कह सिव जदपि उचित अस-नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥१॥

शिवजी ने कहा—हे नाथ! इस तरह का (आप का विनय करना और वर माँगना) उचित नहीं है, फिर (जब कि) आप की आज्ञा मुझ से मेटी नहीँ जा सकती। स्वामिन्! मेरा यह परम-धर्म है कि आपकी आज्ञा को शिरोधार्य्य करूँ।१॥

बहुत लोग यह अर्थ करते हैं कि शिवजी ने कहा—हे नाथ! यद्यपि पार्वती के साथ विवाह करना उचित नहीं है, फिर आप की बात मेटी नहीं जा सकती अर्थात् आप के कहने पर लाचार हो कर मुझे ब्याह करना पड़ेगा। पर यह अर्थ नहीं, अनर्थ है। इस अर्थ से और नीचे की चौपाइयों से बिलकुल विरोध है। शिवजी यहाँ सेवक भाव से कहते हैं कि आप स्वामी हैं और मैं दास हूँ। सेवक से स्वामी विनय करे, यह कदापि उचित नहीँ है। स्वामी को आज्ञा करनी चाहिये और सेवक का परम धर्म उसका पालन करना है 'उचित कि अनुचित किये विचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू'। स्वामी की आज्ञा को शिवजी कभी अनुचित नहीं कह सकते।

मातु-पिता-गुरु-प्रभु कै बानी। बिनहिँ बिचार करिय सुभ जानी॥
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥२॥

माता, पिता, गुरु और स्वामी की बात बिना विचारे माङ्गलिक जान कर करनी चाहिये। हे नाथ! आप तो सब तरह परम हितकारी हैं, आप को आज्ञा मेरे सिर पर है॥२॥

प्रभु तोषेउ सुनि सङ्कर बचना। भगति-बिबेक-धर्मजुत रचना॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेउ हम जो कहेऊ॥३॥

शिवजी के बचनों की रचना, भक्ति, ज्ञान और धर्ममय है, उसको सुनकर प्रभु रामचन्द्रजी सन्तुष्ट हुए और कहा—हे शङ्कर! आप की प्रतिज्ञा पूरी हुई, अब हमने जो कहा है उसको हृदय में रखना॥३॥

अन्तरधान भये अस भाखी। सङ्कर सोइ मूरति उर राखी॥
तबहिँ सप्तरिषि सिव पहिँ आये। बोले प्रभु अति बचन सुहाये॥४॥

ऐसा कह कर रामचन्द्रजी अदृश्य हो गये और शङ्करजी ने उनकी वह मूर्त्ति हृदय में रख ली। तब सप्तऋषि शिवजी के पास आये। प्रभु महादेवजी ऋषियों से अत्यन्त सुहावने वचन बोले॥४॥

दो०—पारबती पहिँ जाइ तुम्ह, प्रेम परिच्छा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठयहु भवन, दूरि करेहु सन्देहु॥७७॥

आप लोग पार्वती के पास जा कर उनके प्रेम की परीक्षा लीजिये (यदि सच्ची प्रीति है तो उनका) सन्देह दूर कर देना और पर्वतराज को कह कर भेजना कि वे उन्हें घर बुला लावें॥७७॥

कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, यमदग्नि और वशिष्ठ ये सप्तर्षि कहे जाते हैं ।

चौ०–रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी । मूरतिवन्त तपस्या जैसी ।
बोले मुनि सुनु सैलकुमारी । करहु कवन कारन तप भारी ॥१॥

ऋषियों ने गौरी को कैसी देखा जैसी मूर्त्तिमान् तपस्या हो । मुनियोंने कहा—हे शैलकुमारी ! किस कारण इतना बड़ा तप करती हो ? ॥१॥

केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू । हम सन सत्य मरम सब कहहू ।
सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी । बोली गूढ़ मनोहर बानी ॥२॥

तुम किस की आराधना करती हो और क्या चाहती हो ? हम से सब सच्चा भेद कहो । इस तरह मुनियों के वचन सुन कर भवानी अभिप्राय-गर्भित मनोहर वाणी बोलीं ॥२॥

कहत मरम मन अति सकुचाई । हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई ॥
मन हठ परा न सुनइ सिखावा । चहत बारि पर भीति उठावा ॥३॥

असली बात कहने में मन बहुत लजाता है, आप लोग मेरी मूर्खता को सुन कर हँसेंगे । मन हठ में पड़ा है, वह सिखाना नहीं सुनता । पानी पर भीत उठाना चाहता है ॥३॥

कहना तो यह है कि मैं योगिराज शिव भगवान् से अपना विवाह करना चाहती हूँ, पर इस प्रस्तुत वृत्तान्त को न कह कर यह कहना कि पानी पर भीत उठाना चाहती हूँ 'ललित अलंकार' है ।

नारद कहा सत्य सोइ जाना । बिनु पङ्खन्ह हम चहहिँ उड़ाना ॥
देखहु मुनि अबिबेक हमारा । चाहिय सदा सिवहि भरतारा ॥४॥

जो नारदजी ने कहा उसको सच जान कर हम बिना पंखों के उड़ना चाहती हैं । हे मुनि-वरो ! मेरी अज्ञानता को देखिये कि मैं सदा शिवजी को पति बनाना चाहती हूँ ॥४॥

दो०–सुनत बचन बिहँसे रिषय, गिरि-सम्भव तव देह ।
नारद कर उपदेस सुनि, कहहु बसेउ को गेह ॥७८॥

पार्वतीजी की बात सुन कर ऋषि लोग हँसे और उन्होंने कहा कि आख़िरकार तुम्हारी देह पर्वत से उत्पन्न हुई है । भला ! यह तो कहो, नारद का उपदेश सुन कर कौन घर में बसा अथवा किसका घर बसा ? ॥७८॥

'गिरि सम्भव' शब्द में लक्षणामूलक व्यङ्ग है कि जड़ की कन्या क्यों न जड़ता करे ।

चौ०–दच्छ-सुतन्ह उपदेसेन्हि जाई । तिन्ह फिरि भवन न देखा आई ॥
चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला । कनककसिपु कर पुनि अस हाला ॥१॥

उन्होंने जा कर दक्षप्रजापति के पुत्रों को उपदेश दिया, फिर उन सबने लौट कर घर नहीं देखा । उन्हों ने चित्रकेतु के घर का नाश किया, फिर हिरण्यकशिपु का यही हाल हुआ ॥१॥

दक्षप्रजापति ने अपने एक हज़ार पुत्रों को सृष्टिरचना का आदेश कर भेजा। पश्चिम दिशा में जा कर वे सब सृष्टि रचने लगे। नारद उनके पास गये और उपदेश दिया। नारद की शिक्षा से सभी दक्ष-पुत्र वन को चले गये; घर नहीं लौटे। जब दक्ष को यह समाचार मिला तब वे दुखी हुए और पुनः हज़ार पुत्र उत्पन्न करके भेजा। नारद ने उनकी भी वही दशा की।

राजाचित्रकेतु के एक करोड़ रानियाँ थीं, पर पुत्र एक भी न था। अङ्गिरा ऋषि के आशीर्वाद से एक पुत्र हुआ। जब वह एक वर्ष का हुआ तब सौतेली माताओं ने विष देकर उसे मार डाला, जिससे राजा बहुत ही शोकातुर हुए। नारद वहाँ गये; पुत्र की जीवात्मा को योगबल से शरीर में प्रवेश करा दिया, लड़का उठ बैठा। वह कहने लगा—राजन्! सुनो, मैं पूर्वजन्म में राजा था, विरक्त होकर वन में तप करने गया। वहाँ एक स्त्री ने मुझे एक फल दिया, उसमें लाखों चीटियाँ भरी थी, मैं ने विना जाने भून डाला। वे सब जल मरीं। वे ही करोड़ चीटियाँ तुम्हारी रानी हुईं और जिसने मुझे फल दिया था वह मेरी माता हुई। विमाताओं ने विष दे कर अपना बदला लिया। न आप मेरे पिता और न मैं आप का पुत्र, यह सब माया का प्रपञ्च है। यह कह कर उसकी आत्मा अन्तर्हित हो गई, राजा विरक्त हो घर त्याग वन में चला गया।

हिरण्यकशिपु की स्त्री कौढुरा गर्भवती थी। नारद ने उसे उपदेश दिया। स्त्री पर तो उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ा, पर गर्भस्थित बालक को ज्ञान हुआ। उस बालक ने प्रह्लाद होकर जन्म लिया। पिता के लाख विरोध करने पर हठ नहीं छोड़ा। अन्त में उसके हठ से हिरण्यकशिपु का नाश ही हो गया। इसी काण्ड के २५ वें दोहे के आगे दूसरी चौपाई के नीचे प्रह्लाद के चरित्र की संक्षिप्त टिप्पणी और भी की गई है, उसको देखो।

नारद सिख जे सुनहिँ नर नारी। अवसि होहिँ तजि भवन भिखारी॥
मन कपटी तन-सज्जन-चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥२॥

जो स्त्री-पुरुष नारद की शिक्षा सुनते हैं; वे अवश्य ही घर त्याग कर भङ्गन हो जाते हैं। उनका मन कपटी है, केवल शरीर पर सज्जनों का चिह्न है, अपने समान सभी को करना चाहते हैं॥२॥

प्रत्यक्ष तो नारदजी की निन्दा प्रकट होती है, पर समझने से प्रशंसा है कि नारद के उपदेश से स्त्री-पुरुष विरक्त हो जाते हैं। वे ऐसे सज्जन हैं कि सब को अपने समान देवर्षि बनाने की ताक में रहते हैं। यह 'व्याजस्तुति अलंकार' है।

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगम्बर ब्याली॥३॥

उनके वचनों का विश्वास मान कर तुम स्वाभाविक उदासीन, गुण-हीन, निर्लज्ज, बुरे भेषवाले, मुण्डों की माला पहने, अकुलीन, बिना घर का, नङ्गा और शरीर में साँप लपेटनेवाले को पति बनाना चाहती हो॥३॥

प्रत्यक्ष निन्दा है, पर समझने से शिवजी की प्रशंसा है, यह भी 'व्याजस्तुति' है। अद्वेव शिवजी के विषय में मुनियों का अयथार्थ घृणा प्रदर्शित करना 'वीभत्स रसाभास' है।

कहहु कवन सुख अस बर पाये। भल भूलिहु ठग के बौराये॥
पञ्च कहे सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही॥४॥

ऐसा वर मिलने से कहो कौन सुख है? भले तुम ठगके कहने से पागल हुई हो। पञ्चों के कहने से सती शिव के साथ व्याही गई, फिर उसको पेंच में डाल कर उन्होंने मरवा ही डाला॥ ४॥

दो०-अब सुख सोवत सोच नहिँ, भीख माँगि भव खाहिँ।
सहज-एकाकिन्ह के भवन, कबहुँ कि नारि खटाहिँ॥७९॥

शिव को कुछ सोच नहीं, अब भीख माँग कर खाते हैं और सुखसे सोते हैं। स्वभाव से ही अकेले रहनेवालों के घर क्या कभी स्त्री टिक सकती है? (कदापि नहीं)॥७९॥

पूज्यदेव शङ्करजी और नारद मुनि के कर्म्म का उपहास वर्णन किया जाना 'हास्य रसाभास' है।

चौ०--अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहँ बर नीक बिचारा॥
अति-सुन्दर सुचिसुखद सुसीला। गावहिँ बेद जासु जस लीला॥१॥

अब भी हमारा कहना मानो तो तुम्हारे लिए हम लोगों ने अच्छा वर विचारा है। अत्यन्त सुन्दर, पवित्र, सुखदायक, सुशील और जिनके यश की लीला बेद गाते हैं॥१॥

दूषनरहित सकल-गुन-रासी। श्रीपति पुर-बैकुंठ-निवासी॥
अस बर तुम्हहिँ मिलाउब आनी। सुनत बिहँसि कह बचन भवानी॥२॥

निर्दोष, सम्पूर्ण गुणों की राशि, लक्ष्मी के स्वामी और बैकुण्ठ-पुर के रहनेवाले, ऐसा वर तुम्हें ला कर मिलावेंगे। सप्तर्षियों की बात सुनते ही भवानी हँस कर बोलीं॥२॥

ऊपर क्रम से निर्गुण, निर्लज्ज, कुवेष, कपाली, अकुल, अगेह, दिगम्बर और व्याली ये आठ दोष शिवजी के गिनाये हैं। उसी प्रकार भङ्गक्रम से जिनके यश की कथा वेद गाते हैं, सब गुणों की राशि, अति सुन्दर वैकुण्ठवासी लक्ष्मीनाथ, पवित्र, निर्दोष, सुखद, ये आठ गुण विष्णु के कथन करने में 'यथासंख्य अलंकार' है।

सत्य कहेहु गिरि-भव तनु एहा। हठ न छूट छूटइ बरु देहा॥
कनकउ पुनि पषान तेँ होई। जारेहु सहज न परिहर सोई॥३॥

आप लोग सच कहते हैं; मेरा यह शरीर पहाड़ से उत्पन्न है, इसी से हठ न छूटेगा चाहे देह छूट जाय। फिर सोना भी तो पत्थर ही से पैदा होता है, वह जलाने पर भी अपना स्वभाव (रङ्ग) नहीं त्यागता॥३॥

पर्वत जड़ है, उससे उपजी वस्तुओं में भी जड़ता का आना स्वाभाविक है। यह व्यङ्ग वाच्यार्थ के बराबर ही चमत्कृत होने से तुल्यप्रधान है।

नारद बचन न मैं परिहरऊँ । बसउ भवन उजरउ नहिँ डरऊँ ॥
गुरु के बचन प्रतीति न जेही । सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही ॥४॥

नारदजी के उपदेश को मैं न छोड़ूँगी, घर वसे या उजड़े; इससे नहीं डरती हूँ । गुरु के वचनों में जिसे विश्वास नहीं है, उसको सुख की सिद्धि स्वप्न में भी सुलभ नहीं होती ॥४॥

दो०--महादेव अवगुन भवन, बिष्नु सकल-गुन-धाम ।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥८०॥

महादेव अवगुणों के घर हैं और विष्णु सम्पूर्ण गुणों के धाम हैं, पर जिसका मन जिससे रमता है, उसको उसी से काम है ॥८०॥

चौ०--जौँ तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा । सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥
अब मैं जनम सम्भु हित हारा । को गुन दूषन करइ बिचारा ॥१॥

हे मुनीश्वरो ! जो आप लोग पहले मिले होते तो मैं आप ही की शिक्षा सुनती और शिरोधार्य्य करती। पर अब मैं ने अपना जन्म शङ्करजी के लिए हार दिया, गुण दोष का विचार कौन करे ? ॥१॥

जौँ तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी । रहि न जाइ बिनु किये बरेषी ॥
तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीँ । बर-कन्या अनेक जग माहीँ ॥२॥

यदि आप लोगों के मन में बहुत ही हठ है, वरच्छा (वर कन्या के सम्बन्ध में विवाह की बातचीत पक्की) किये बिना नहीं रहा जाता है, तो वर कन्या असंख्यों संसार में भरे हैं, खेलवाड़ियों को आलस्य नहीं (जा कर सगाई कराइये) ॥२॥

जनम कोटि लगि रगरि हमारी । बरउँ सम्भु न त रहउँ कुँआरी ॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू । आपु कहहिँ सत बार महेसू ॥३॥

करोड़ों जन्म तक हमारी रगड़ है कि शिवजी से विवाह करूँगी नहीं तो कुँवारी रहूँगी। नारदजी के उपदेश को न छोड़ूँगी चाहे सैकड़ों बार आप ही शिवजी क्यों न कहें ॥३॥

मैं पाँ परउँ कहइ जगदम्बा । तुम्ह गृह गवनहु भयउ बिलम्बा ॥
देखि प्रेम बोले मुनि ज्ञानी । जय जय जगदम्बिके भवानी ॥ ४ ॥

जगत् की माता पार्वतीजी कहती हैं कि मैं पाँव पड़ती हूँ, बड़ी देरी हुई, आप लोग अपने घर जाइये । इस तरह अचल प्रेम देख कर ज्ञानीमुनि बोले—हे जगन्माता भवानी ! आप की जय हो ! जय हो ! ॥ ४ ॥

सप्तर्षि आदर के योग्य महाज्ञानी हैं, किन्तु पतिनिन्दा के दोष से पार्वतीजी का उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट कर शीघ्र चले जाने की प्रार्थना करना 'तिरस्कार अलंकार' है ।

दो०—तुम्ह माया भगवान सिव, सकल जगत पितु मातु ।
नाइ चरन सिर मुनि चले, पुनि पुनि हरषित गातु ॥ ८१ ॥

आप माया और शिवजी ईश्वर सम्पूर्ण जगत् के माता-पिता हैं। बार बार चरणों में मस्तक नवा कर पुलकित शरीर से मुनि लोग चले ॥ ८१ ॥

चौ०—जाइ मुनिन्ह हिमवन्त पठाये । करि बिनती गिरिजहि गृह ल्याये ॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिँ जाई । कथा उमा कै सकल सुनाई ॥१॥

मुनियों ने जा कर हिमवान को भेजा, वे बिनती कर के पार्वतीजी को घर ले आये। फिर सप्तर्षियों ने शिवजी के पास जा कर उमा की सारी कथा कह सुनाई ॥ १ ॥

भये मगन सिव सुनत सनेहा । हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ॥
मन थिर करि तब सम्भु सुजाना । लगे करन रघुनायक ध्याना ॥२॥

पार्वतीजी की प्रीति को सुन कर शिवजी स्नेह में मग्न हो गये, सप्तऋषि आनन्दित होकर अपने स्थान को चले गये। तब शङ्करजी मन स्थिर कर के रघुनाथजी का ध्यान करने लगे ॥ २ ॥

अब कथा का प्रसङ्ग दूसरी ओर चला।

तारक-असुर भयउ तेहि काला । भुज प्रताप बल तेज बिसाला ॥
तेहिँ सब लोक लोकपति-जीते । भये देव सुख-सम्पति रीते ॥ ३ ॥

उसी समय तारक नाम का दैत्य हुआ, जिसके भुजा का बल, प्रताप और तेज बहुत बड़ा था। उसने लोकपालों के सब लोक जीत लिये, देवता सुख और सम्पत्ति से खाली हो गये ॥ ३ ॥

अजर अमर सो जीति न जाई । हारे सुर करि बिबिध लराई ॥
तब बिरञ्चि पहिँ जाइ पुकारे । देखे बिधि सब देव दुखारे ॥ ४ ॥

वह तारकासुर अजर अमर था, इससे जीता नहीं जाता था। देवता अनेक तरह लड़ाई कर के हार गये। तब ब्रह्माजी के पास जा कर पुकार मचाया, विधाता ने देखा कि सब देवता दुखी हैं (मन में विचार कर बोले) ॥ ४ ॥

दो०—सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुज निधन तब होइ ।
सम्भु-सुक्र-सम्भूत-सुत, एहि जीतइ रन सोइ ॥ ८२ ॥

ब्रह्माजी ने समझा कर सब से कहा कि दैत्य का नाश तो तब होगा जब शिवजी के वीर्य्य से पुत्र उत्पन्न हो, इसको वही जीतेगा ॥ ८२ ॥

चौ०—मोर कहा सुनि करहु उपाई । होइहि ईस्वर करिहि सहाई ॥
सती जो तजी दच्छ-मख देहा । जनमी जाइ हिमाचल गेहा ॥१॥

मेरा कहना सुन कर उपाय करो, ईश्वर सहायता करेगा तो कार्य्य सिद्ध होगा। सती जिसने दक्ष के यज्ञ में शरीर छोड़ा था, वह हिमाचल के घर जा कर जन्मी है ॥ १ ॥

तेहि तप कीन्ह सम्भु पति लागी । सिव समाधि बैठे सब त्यागी ॥
जदपि अहइ असमञ्जस भारी । तदपि बात एक सुनहु हमारी ॥२॥

उसने तप किया है कि शिवजी पति मिलें, इधर शङ्करजी सब त्याग कर समाधि लगाये बैठे हैं। यद्यपि बड़ा अण्डस है, तथापि हमारी एक बात सुनो ॥ २ ॥

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं । करइ छोभ सङ्कर मन माहीं ॥
तब हम जाइ सिवहि सिर नाईं । करवाउब बिबाह बरिआईं ॥ ३ ॥

कामदेव को भेजो वह शिवजी के पास जा कर शङ्कर के मन में क्षोभ उत्पन्न करे, तब हम जाकर शिवजी को मस्तक नवा बल-पूर्वक विवाह करावेंगे ॥३॥

एहि बिधि भलेहि देव हित होई । मत अति नीक कहइ सब कोई ॥
अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति-हेतू । प्रगटेउ बिषमबान झखकेतू ॥ ४ ॥

इस तरह भले ही देवताओं का कल्याण होगा, सब कोई कहने लगे यह सम्मति बहुत अच्छी है। देवताओं ने अत्यन्त करुणा से कामदेव की स्तुति की, तब पञ्चबाणधारी मछली के चिह्न युक्त ध्वजावाला मनोज प्रकट हुआ ॥४॥

दो०—सुरन्ह कही निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह बिचार ।
सम्भु बिरोध न कुसल मोहि, बिहँसि कहेउ अस मार ॥८३॥

देवताओं ने सब अपनी विपत्तियाँ कहीं, यह सुन कर कामदेव ने मन में विचार किया और हँस कर ऐसा कहा कि शिवजी के से वैर मेरा कल्याण नहीं है ॥८३॥

कामदेव के हँसने में व्यञ्जनामूलक गूढ़व्यङ्ग है कि स्वार्थी देवता अपनी भलाई के आगे मेरे सर्वनाश का तनिक भी विचार नहीं करते हैं !

चौ०—तदपि करब मैं काज तुम्हारा । स्तुति कह परम-धरम-उपकारा ॥
परहित लागि तजइ जो देही । सन्तत सन्त प्रसंसहिँ तेही ॥१॥

तो भी मैं आप लोगों का कार्य्य करूँगा, श्रुतियाँ कहती हैं कि परोपकार सब से बढ़ कर धर्म है। दूसरे की भलाई के लिए जो शरीर तजता है, सज्जन लोग उसकी सदा बड़ाई करते हैं ॥१॥

अस कहि चलेउ सबहि सिर नाई । सुमन धनुष कर सहित सहाई ॥
चलत मार अस हृदय बिचारा । सिव-बिरोध ध्रुव मरन हमारा ॥२॥

ऐसा कह सब को सिर नवा कर अपनी सहायक सेना के सहित हाथ में फूल का धनुष बाण लेकर चला। चलती बेर कामदेव ने मन में यह सोचा कि शिवजी से विरोध करने पर हमारा मरण अवश्यम्भावी है (निश्चय मृत्यु होगी) ॥२॥

आख़िर मरना तो हई है, तब अपना प्रभाव संसार को दिखा दूँ कि मैं कैसा पुरुषार्थी हूँ 'गर्व और मद सञ्चारी भाव' है ।

तब आपन प्रभाव बिस्तारा । निज बस कीन्ह सकल संसारा ।
कोपेउ जबहिँ बारिचर-केतू । छन महँ मिटे सकल स्रुति-सेतू ॥३॥

तब अपना प्रभाव फैलाया, सम्पूर्ण संसार को अपने वश में कर लिया । ज्यों ही कामदेव ने क्रोध किया त्यों ही क्षण भर में वेद की सारी मर्य्यादा मिट गई ॥३॥

ब्रह्मचर्ज ब्रत सञ्जम नाना । धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना ॥
सदाचार जप जोग बिरागा । सभय बिबेक कटक सब भागा ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्य्य, नाना प्रकार के व्रत, संयम, धीरज, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, वैराग्य आदि विचार की सब सेना भयभीत होकर भाग गई ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

भागेउ बिबेक सहाय सहित सो सुभट सञ्जुग-महि मुरे ।
सद्ग्रन्थ-पर्बत-कन्दरन्हि महँ, जाइ तेहि अवसर दुरे ॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभर परा ।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहँ, कोपि कर धनु-सर धरा ॥३॥

विचार रूपी योद्धा रणभूमि से अपनी सहायक सेना के सहित मुड़ कर भाग चला । उस समय वे सब सद्ग्रन्थ रूपी पहाड़ की कन्दराओं में जा छिपे । संसार में खलबली पड़ गई, लोग कहते हैं—या विधाता ! क्या होनेवाला है और कौन रक्षक है ? त्रिलोक विजयी रतिनाथ के सामने दूसरा मस्तक किसका है, जिसके लिए क्रोध कर के उसने हाथ में धनुष-बाण लिया है ? ॥३॥

ज्ञान वैराग्य आदि को हृदयस्थल से हटा कर केवल पुस्तकों की पंक्तियों में निवास वर्णन 'परिसंख्या अलंकार' है । क्या होनेवाला है ? कौन रक्षक है ? इत्यादि शङ्का वितर्क सञ्चारी भाव है ।

दो०—जे सजीव जग चर अचर, नारि पुरुष अस नाम ।
ते निज निज मरजाद तजि, भये सकल बस काम ॥ ८४ ॥

संसार में जड़ चेतन जितने जीवधारी हैं, जिनकी स्त्री-पुरुष ऐसी संज्ञा है, वे सब अपनी अपनी मर्य्यादा छोड़ कर काम के वश हो गये ॥८४॥

चौ०—सब के हृदय मदन अभिलाखा । लता निहारि नवहिँ तरु साखा ॥
नदी उमगि अम्बुधि कहँ धाई । सङ्गम करहिँ तलाव तलाई ॥१॥

सब के मन में काम की इच्छा बलवती हुई, लताओं को देख कर वृक्षों की डालियाँ झुकने लगीं । नदियाँ उमड़ कर समुद्र की ओर दौड़ीं, तलाब-तलइयाँ परस्पर सङ्गम (मिला-जुली) करते हैं ॥१॥

जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी । को कहि सकइ सचेतन्ह करनी ॥
पसु पच्छी नभ-जल-थल-चारी । भये काम-बस समय-बिसारी ॥२॥

जहाँ जड़ों की ऐसी दशा वर्णन की गई, वहाँ चेतनों की करनी कौन कह सकता है ? पशु, पक्षी, आकाश, पानी और स्थलचारी जीव समय भुला कर सब काम के वश हो गये ॥ २ ॥

जब जड़ों की ऐसी दशा हुई तब चेतनों की कौन कहे ? वे तो काम के सदा वशवर्त्ती चाकर हैं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार है ।

मदन-अन्ध ब्याकुल सब लोका । निसि दिन नहिँ अवलोकहिँ कोका ॥
देव दनुज नर किन्नर ब्याला । प्रेत पिसाच भूत बेताला ॥३॥

सब लोग कामान्ध होकर व्याकुल हुए हैं, कोई दिन रात (समय कुसमय) नहीं देखता कि क्या है ? देवता, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, नाग, प्रेत, पिशाच, भूत और वेताल ॥३॥

'कोका' शब्द का चकवा पक्षी अर्थ किया जाता है कि चकवा चकवी दिन रात नहीं देखते हैं। कामदेव ने यह सब खेल दो दण्ड (४८ मिनट) में किया। इतने अल्प समय में दिन रात का होना असम्भव है। वन्दन पाठक ने अपनी शङ्कावली में लिखा है कि एक दण्ड रात थी और एक दण्ड दिन। पर यह वाग्विलास के सिवा कोई प्रमाणिक बात नहीं है।

इन्ह की दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी ॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी ॥४॥

इनकी दशा इसलिये बखान कर नहीं कहा कि इनको सदा कामदेव का दास समझना चाहिए। सिद्ध, वैराग्यवान्, महामुनि और योगी-जन भी काम के अधीन होकर वियोगी हो गये अर्थात् स्त्री-विरह के दुःख से दुखी हुए ॥४॥

हरिगीतका-छन्द ।

भये काम-बस जोगीस तापस, पाँवरनि की को कहै ।
देखहिँ चराचर नारि मय जे, ब्रह्म-मय देखत रहै ॥
अबला बिलोकहिँ पुरुष-मय-जग, पुरुष सब अबला-मयं ।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर, काम कृत कौतुक अयं ॥४॥

जब योगेश्वर और तपस्वी काम के वश हो गये, तब अधमों की कौन कहे ? जो चराचर को ब्रह्ममय देखते थे, वे उसको स्त्री मय देख रहे हैं ! स्त्रियाँ सम्पूर्ण जगत् को पुरुष-मय देखती हैं और पुरुष स्त्री-मय देखते हैं। दो घड़ी के भीतर ब्रह्माण्ड भर में कामदेव ने यह तमाशा किया ॥४॥

इस प्रकरण में लता, वृक्ष, नदी, तालाब, पशु, पक्षी, मुनि, योगी और विरक्तादि का अनुचित प्रेम-वर्णन 'श्रृङ्गाररसाभास' है।

सो०—धरा न काहूँ धीर, सब के मन मनसिज हरे ।
जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ ॥८५॥

किसी ने धीरज नहीं रक्खा, कामदेव ने सब के मन को हर लिया । वे उस समय उबरे जिनकी रघुनाथजी ने रक्षा की ॥८५॥

चौ०—उभय घरी अस कौतुक भयऊ । जब लगि काम सम्भु पहिँ गयऊ ॥
सिवहि बिलोकि ससङ्केउ मारू । भयउ जथाथिति सब संसारू ॥१॥

दो घड़ी तक यह तमाशा हुआ जब तक कामदेव शिवजी के पास गया । शङ्कर भगवान् को देख कर कामदेव डरा, सब संसार जैसा का तैसा हो गया ॥१॥

भये तुरत सब जीव सुखारे । जिमि मद उतरि गये मतवारे ॥
रुद्रहि देखि मदन भय माना । दुराधरष दुर्गम भगवाना ॥ २ ॥

सब जीव तुरन्त ऐसे सुखी हुए जैसे नशा उतर जाने पर मतवाले प्रसन्न होते हैं । रुद्र को देख कर कामदेव ने भय माना, क्योंकि शिव भगवान् कठिन दुर्दमनीय हैं (कामदेव उन्हें जीतने के इरादे से आया है) ॥२॥

फिरत लाज कछु करि नहिँ जाई । मरन ठानि मन रचेसि उपाई ॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा । कुसुमित नव तरु सखा बिराजा ॥३॥

फिरते हुए लज्जा है कुछ करते नहीं बनता, मन में मरना निश्चय करके उपाय रचा । तुरंत अपने मित्र सुन्दर ऋतुराजवसन्त को प्रकट किया, वह नवीन फूले हुए वृक्षों में विराजमान हुआ ॥३॥

बन उपबन बापिका तड़ागा । परम सुभग सब दिसा बिभागा ॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा । देखि मुयेहु मन मनसिज जागा ॥४॥

वन, उपवन, बावली, तालाब और सारी दिशाएँ अलग अलग अत्युत्तम शोभित हो रही हैं । ऐसा मालूम होता है मानों जहाँ तहाँ प्रेम (रस) उमड़ रहा हो, जिसको देख कर मुर्दे के मन में भी कामदेव उत्पन्न होता है ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जागेउ मनोभव मुयेहु मन बन,—सुभगता न परइ कही ।
सीतल सुगन्ध सुमन्द मारुत, मदन-अनल सखा सही ॥
बिकसे सरन्हि बहु कञ्ज गुञ्जत,—पुञ्ज मञ्जुल मधुकरा ।
कलहंस पिक सुक सरस-रव करि,—गान नाचहिँ अपछरा ॥ ५ ॥

मुर्दे के मन में भी कामदेव जाग जाता है, वन की सुन्दरता कहते नहीं बनती । कामाग्नि का सच्चा मित्र शीतल, सुगन्धित और सुन्दर पवन धीमी गति से बह रहा है । तालावों में

बहुत से फूले हुए कमलों पर झुण्ड के झुण्ड सुहावने भ्रमर गूँज रहे हैं। राजहंस, कोकिल और सुग्गा रसीली बोली बोल रहे हैं, अप्सराएँ गान कर के नाचती हैं ॥४॥

दो०-सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत ।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदय निकेत ॥ ८६ ॥

करोड़ों तरह से सारी कलाबाज़ी कर के सेना समेत हार गया। जब शिवजी की अटल समाधि नहीं डिगी, तब हृदय में क्रोधित हुआ ॥८६॥

चौ०-देखि रसाल बिटप बर साखा । तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा ॥
सुमन चाप निज सर सन्धाने । अति रिसि ताकि स्रवन लगि ताने ॥१॥

आम के पेड़ की अच्छी डाली देख कर, मन में रुष्ट होकर कामदेव उस पर चढ़ गया। फूल के धनुष पर अपना बाण जोड़ा और बड़े क्रोध से ताक कर कान पर्य्यन्त खींचा ॥१॥

छाँड़ेउ विषम बान उर लागे । छूटि समाधि सम्भु तब जागे ॥
भयउ ईस मन छोभ बिसेखी । नयन उघारि सकल दिसि देखी ॥२॥

भीषण बाण छोड़ा, वह हृदय में लगा और समाधि छूट गई, तब शिवजी जाग पड़े। महादेवजी के मन में बहुत ही क्षोभ (कामवासना जनित ताप) हुआ, उन्होंने आँख खोल कर सारी दिशाओं में देखा ॥२॥

अपूर्ण कारण से कार्य्य का उत्पन्न होना अर्थात् फूल के धनुष से बाण चलाना कारण है, उससे शिव भगवान् की समाधि-भङ्ग होकर मन में उद्वेग होना कार्य्य 'द्वितीय विभावना अलंकार' है।

सौरभ-पल्लव मदन बिलोका । भयउ कोप कम्पेउ त्रैलोका ॥
तब सिव तीसर नयन उघारा । चितवत काम भयउ जरि छारा ॥३॥

आम के पत्ते में कामदेव को देखा, उसे देखते ही क्रोध हुआ जिससे तीनों लोक काँप उठे। तब शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला, उससे निहारते ही कामदेव जल कर राख हो गया ॥३॥

तीसरी आँख से चितवना कारण है और कामदेव का जल कर ख़ाक हो जाना कार्य्य है। दोनों साथ ही होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

हाहाकार भयउ जग भारी । डरपे सुर भये असुर सुखारी ॥
समुझि काम-सुख सोचहिं भोगी । भये अकंटक साधक जोगी ॥४॥

संसार में भारी हाहाकार हुआ, देवता डर गये और दैत्य प्रसन्न हुए। काम-सुख समझ कर भोगी सोचते हैं, साधक और योगी बाधाहीन हो गये ॥४॥

'काम का जल जाना' वस्तु एक ही, उससे देवताओं का डरना, दैत्यों का खुशी होना, कामियों को पश्चात्ताप और साधकों तथा योगियों का निर्विघ्न (बेखटके) होना विरुद्ध कार्य्यों की उत्पत्ति 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।
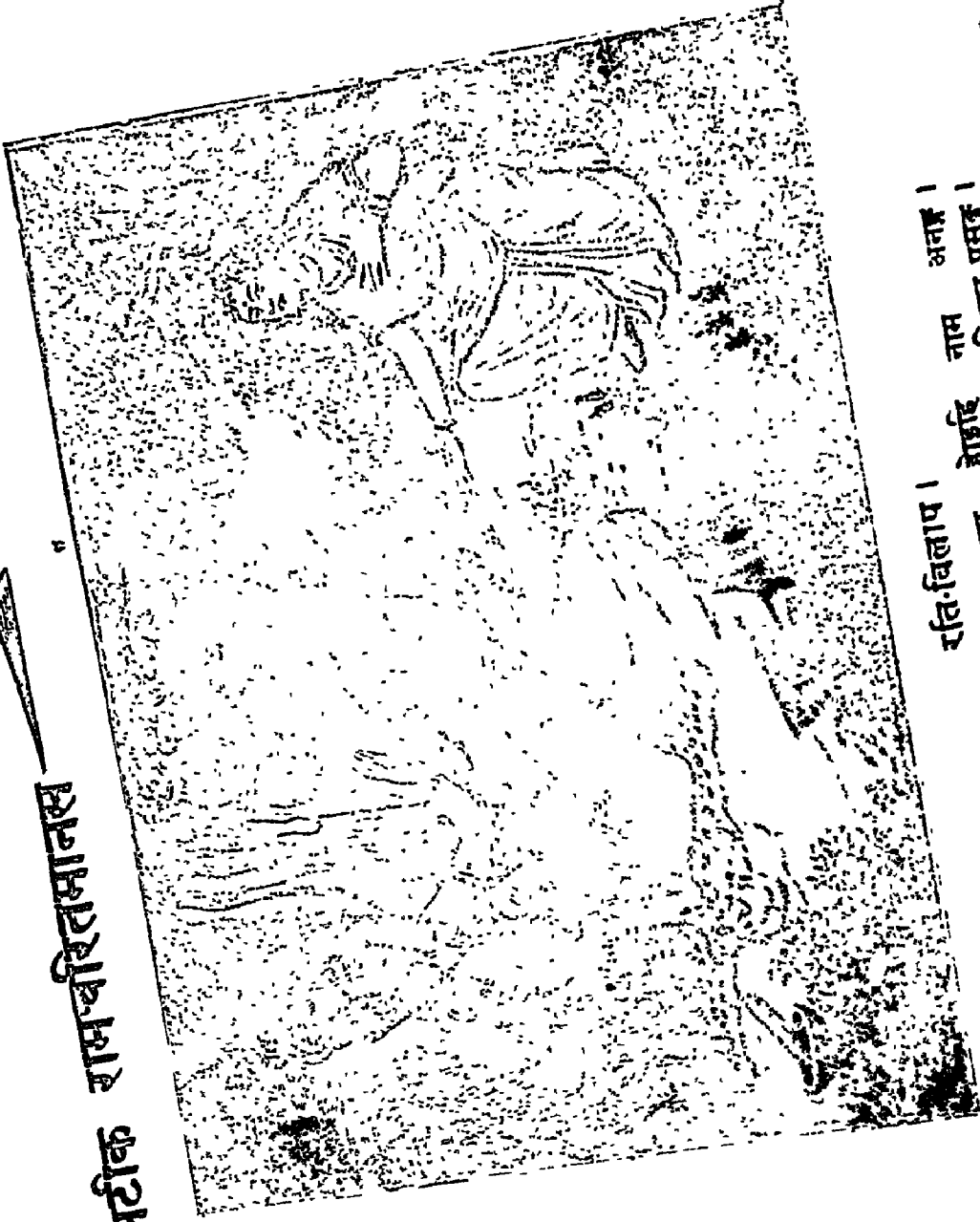
रति-विलाप।

अब तें रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनङ्ग।
बिनु बपु व्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन प्रसङ्ग।

पृष्ठ ९९

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

हरिगीतिका-छन्द ।

जोगी अकंटक भये पति-गति, सुनत रति मुरछित भई ।
रोदति बदति बहु भाँति करुना,-करति सङ्कर पहिं गई ॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि, जोरि कर सनमुख रही ।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव, अबला निरखि बोले सही ॥६॥

योगी निष्कण्टक हुए और रति अपने पति की दशा सुन कर मूर्छित हो गई । रोती बिल्लाती बहुत तरह विलाप करती हुई शङ्करजी के पास गई । अत्यन्त प्रेम से विविध प्रकार बिनती करके हाथ जोड़ कर सामने खड़ी रही । प्रभु शिवजी कृपा के स्थान शीघ्र प्रसन्न होनेवाले स्त्री को देख सत्य वचन बोले ॥६॥

दो०--अब तैं रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनङ्ग ।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन प्रसङ्ग ॥८७॥

हे रति ! अब से तेरे स्वामी का नाम अनङ्ग होगा । वह बिना शरीर के सभी को व्यापेगा, फिर तू अपने मिलने की बात सुन ॥८७॥

चौ०--जब जदुबंस कृष्न अवतारा । होइहि हरन महा महि भारा ॥
कृष्न-तनय होइहि पति तोरा । बचन अन्यथा होइ न मोरा ॥१॥

पृथ्वी के भारी बोझ को हटाने के लिए जब यदुकुल में श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म होगा, तब तेरा स्वामी कृष्णचन्द्र का पुत्र (प्रद्युम्न) होकर अवतरेगा । यह मेरी बात झूठ न होगी । उस समय सशरीर वह तुझ से मिलेगा ॥१॥

रति गवनी सुनि सङ्कर बानी । कथा अपर अब कहउँ बखानी ॥
देवन्ह समाचार सब पाये । ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाये ॥ २ ॥

शङ्करजी की बात सुन कर रति चली गई । अब दूसरी कथा वर्णन कर कहता हूँ । ये सब समाचार (रति को वर पाने की कथा) देवताओं को मालूम होने पर ब्रह्मा आदि सब देवता वैकुण्ठ को गये ॥२॥

सब सुर बिष्नु बिरञ्चि समेता । गये जहाँ सिव कृपा-निकेता ॥
पृथक पृथक तिन्ह कीन्ह प्रसंसा । भये प्रसन्न चन्द्र-अवतंसा ॥३॥

विष्णु और ब्रह्मा के सहित सब देवता जहाँ कृपा के स्थान शिवजी थे, वहाँ गये । उन्होंने अलग अलग स्तुति की, जिससे चन्द्रशेखर भगवान् प्रसन्न हुए ॥३॥

बोले कृपासिन्धु वृषकेतू । कहहु अमर आयहु केहि हेतू ॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अन्तरजामी । तदपि भगति-बस बिनवउँ स्वामी ॥४॥

कृपासागर शिवजी बोले—हे देवताओ ! कहो, किस कारण आये हो ? ब्रह्मा ने कहा—हे स्वामिन् ! आप अन्तर्यामी (सब जानते) हैं, तोभी प्रभो ! मैं भक्ति वश बिनती करता हूँ ॥४॥

दो०—सकल सुरन्ह के हृदय अस, सङ्कर परम उछाह ।
निज नयनन्हि देखा चहहिं, नाथ तुम्हार बिबाह ॥ ८८ ॥

हे शङ्करजी ! सम्पूर्ण देवताओं के मन में यह परमोत्साह है। हे नाथ ! वे अपनी आँखों से आप का विवाह देखना चाहते हैं ॥८८॥

चौ०—यह उत्सव देखिय भरि लोचन । सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन ॥
काम जारि रति कहँ बर दीन्हा । कृपासिन्धु यह अति भल कीन्हा ॥१॥

हे कामदेव के घमण्ड को भङ्ग करनेवाले ! वही कुछ कीजिए जिसमें इस उत्सव को हम लोग आँख भर देखें । हे कृपासागर ! कामदेव को जला कर रति को वर दिया, यह आप ने बहुत ही अच्छा किया ॥१॥

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ । नाथ प्रभुन्ह कर सहज-सुभाऊ ॥
पारबती तप कीन्ह अपारा । करहु तासु अब अङ्गीकारा ॥२॥

हे नाथ ! समर्थों का सहज स्वभाव है कि दुर्दशा करने पर फिर दया करते हैं । पार्वती ने बहुत बड़ी तपस्या की है, अब उसको अङ्गीकार कीजिए ॥२॥

सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभु बानी । ऐसइ होउ कहा सुख मानी ॥
तब देवन्ह दुन्दुभी बजाई । बरषि सुमन जय जय सुर-साँई ॥३॥

ब्रह्मा की विनती सुन कर और स्वामी की बात समझ कर प्रसन्नता से शिवजी ने कहा—ऐसा ही होगा । तब देवताओं ने नगाड़े बजाये और फूलों की वर्षा कर के कहने लगे—हे देवताओं के स्वामी ! आप की जय हो जय हो ॥३॥

अवसर जानि सप्तरिषि आये । तुरतहि बिधि गिरि-भवन पठाये ॥
प्रथम गये जहँ रहीं भवानी । बोले मधुर बचन छल-सानी ॥४॥

समय जान कर सप्तर्षि आये, तुरन्त ही ब्रह्मा ने उन्हें हिमवान् के घर भेजा । पहले वे वहाँ गये जहाँ पार्वतीजी थीं और छल भरे मीठे वचन बोले ॥ ४ ॥

दो०—कहा हमार न सुनेहु तब, नारद के उपदेस ।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस ॥८९॥

तब हमारा कहना तुमने नारद के उपदेश के सामने नहीं सुना, अब तुम्हारी प्रतिज्ञा मिथ्या हुई; शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया ॥८९॥

चौ०--सुनि बोली मुसुकाइ भवानी । उचित कहेउ मुनिबर बिज्ञानी ॥
तुम्हरे जान काम अब जारा । अब लगि सम्भु रहे सबिकारा ॥१॥

सुन कर भवानी मुस्कुरा कर बोलीं, आप लोग विज्ञानी और मुनिश्रेष्ठ हैं, ठीक कहते हैं। आप की समझ में शिवजी ने अब काम को जलाया; किन्तु अब तक वे उसके दोष के अधीन थे ॥१॥

'मुनिवर विज्ञानी' शब्द में स्फुट गुणीभूत व्यङ्ग है कि विज्ञानी मुनियों का अज्ञानी की तरह बातें कहना, बड़े आश्चर्य की बात है।

हमरे जान सदा सिव जोगी । अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥
जौं मैं सिव सेयेउँ अस जानी । प्रीति समेत करम-मन-बानी ॥ २ ॥

हमारी समझ में शिवजी सदा योगी, अजन्मे, निर्दोष, निष्काम और विषयविलास से रहित हैं; यदि मैंने ऐसा जान कर कर्म, वचन और मन से प्रीति के साथ शङ्करजी की सेवा की है ॥ २ ॥

तौ हमार पन सुनहु मुनीसा । करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा ॥
तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा । सो अति बड़ अविवेक तुम्हारा ॥३॥

तो हे मुनीश्वर! सुनिये, हमारी प्रतिज्ञा को कृपानिधान शङ्करजी सत्य करेंगे (वह कभी झूठी न होगी)। आपने जो कहा है कि शिवजी ने कामदेव को जलाया, यह आपका बहुत बड़ा अज्ञान है ॥ ३ ॥

अज्ञान इसलिये कहा कि इन वाक्यों से शिवजी पर दोषारोप की झलक है कि अब उन्होंने काम को जलाया; पहले सकाम थे।

तात अनल कर सहज सुभाऊ । हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ ॥
गये समीप सो अवसि नसाई । असि मनमथ महेस कै नाई ॥४॥

हे तात! अग्नि का सहज स्वभाव है कि पाला उसके समीप कभी नहीं जाता। उसके पास जाने से वह अवश्य नष्ट होता है, महेश के निकट जाने से यही दशा कामदेव की हुई ॥४॥

दो०--हिय हरषे मुनि बचन सुनि, देखि प्रीति बिस्वास ।
चले भवानिहि नाइ सिर, गये हिमाचल पास ॥९०॥

यह वचन सुन कर और उनकी प्रीति विश्वास देख कर मुनि लोग मन में प्रसन्न हुए। पार्वतीजी को प्रणाम करके हिमवान् के पास गये ॥ ९० ॥

चौ०--सब प्रसङ्ग गिरिपतिहि सुनावा । मदन दहन सुनि अति दुख पावा ॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना । सुनि हिमवन्त बहुत सुख माना ॥१॥

सब बातें गिरिराज को सुनाईं; कामदेव का जलना सुन कर वे अत्यन्त दुखी हुए। फिर रति के बरदान का वृत्तान्त कहा, वह सुन कर हिमवान् बहुत सुखी हुए ॥ १ ॥

हृदय बिचारि सम्भु प्रभुताई । सादर मुनिवर लिये बोलाई ॥
सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई । बेगि बेद बिधि लगन धराई ॥ २ ॥

शिवजी की प्रभुता मन में विचार कर आदर-पूर्वक मुनियों को बुलवाया। सुन्दर दिन, उत्तम नक्षत्र, शुभ घड़ी सोधवा कर वेद की रीति से लग्न निश्चय कराया ॥ २ ॥

पत्री सप्तरिषिन्ह सो दीन्ही । गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही ॥
जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती । बाँचत प्रीति न हृदय समाती ॥३॥

वह लग्नपत्रिका सप्तर्षियों को दी और पाँव पकड़ कर हिमाचल ने विनती की। पत्रिका लेजाकर मुनियों ने ब्रह्माजी को दी, वाँचते समय विधाता के हृदय में प्रीति उमड़ी पड़ती है ॥३॥

लगन बाँचि बिधि सबहि सुनाई । हरषे सुनि सब सुर समुदाई ॥
सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे । मङ्गल कलस दसहु दिसि साजे ॥४॥

लग्न को पढ़ कर ब्रह्मा ने सभी को सुनाया, उसे सुन कर सब देवताओं का समाज आनन्दित हुआ। आकाश से पुष्प-वर्षा हुई और बाजे बजने लगे, दसों दिशाओं में मङ्गल-कलश सजने लगे ॥ ४ ॥

दो०-लगे सँवारन सकल सुर, बाहन बिबिध बिमान ।
होहिँ सगुन मङ्गल सुखद, करहिँ अपछरा गान ॥९१॥

समस्त देवता नाना प्रकार की सवारियाँ और विमान सजाने लगे। सुखदायक माङ्गलीक सगुन हो रहे हैं और अप्सराएँ गान करती हैं ॥ ९१ ॥

चौ०-सिवहि सम्भुगन करहिँ सिंगारा । जटा-मुकुट अहि-मौर सँवारा ॥
कुंडल कङ्कन पहिरे ब्याला । तन-बिभूति पट-केहरि-छाला ॥१॥

शम्भु गण शिवजी का शृङ्गार करने लगे, उन्होंने जटा का मुकुट और साँपों का मौर सजाया। साँप ही के कुण्डल और कङ्कण पहने हैं, शरीर पर भस्म रमाये तथा सिंहचर्म का वस्त्र धारण किये हैं ॥ १ ॥

ससि ललाट सुन्दर सिर गङ्गा । नयन-तीनि उपबीत-भुजङ्गा ॥
गरल-कंठ उर नर-सिर-माला । असिव-बेष सिव-धाम कृपाला ॥२॥

माथे पर चन्द्रमा, सिर में सुन्दर गङ्गाजी, तीनआँखें, सर्पों के जनेऊ, गले में विष, और हृदय पर नरमुण्डों की माला शोभित है। कृपालु शिवजी अमङ्गल वेशमें रहकर मङ्गलके धाम हैं॥२॥

कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा । चले बसह चढ़ि बाजहिँ बाजा ॥
देखि सिवहिँ सुर-त्रिय मुसुकाहीं । बर लायक दुलहिनि जग नाहीं ॥३॥

हाथ में त्रिशूल और डमरू बाजा विराजित है, बैल पर चढ़ कर चले, बाजे बज रहे हैं। शिवजी को देख कर देवाङ्गनाएँ मुस्कुराती हैं और परस्पर कहती हैं कि संसार में दूलह के योग्य दुलहिन नहीं है ॥ ३ ॥

देववधुओं का मुस्कुराना और दुलहिन का अभाव कहने में वर की कुरूपता व्यञ्जित होना व्यङ्ग है।

बिष्नु बिरञ्चि आदि सुर ब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥
सुर-समाज सब भाँति अनूपा। नहिँ बरात दूलह अनुरूपा॥४॥

विष्णु और ब्रह्मा आदि देवता वृन्द सवारियों पर चढ़ चढ़ कर बरात में चले। देवताओं की गोल सब तरह अपूर्व है; किन्तु वर के योग्य बरात नहीं है॥४॥

दो०—बिष्नु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥९२॥

तब विष्णु ने हँस कर सम्पूर्ण दिक्पालों को बुला कर कहा। सब कोई अपने अपने समाज के सहित अलग अलग चलते जाइये॥९२॥

चौ०—बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करइहहु पर पुर जाई॥
बिष्नु बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने॥१॥

भाइयो! दुलहा के समान बरात नहीं है, बिराने नगर में चल कर हँसी कराओगे? विष्णु की बात सुन कर देवता मुस्कुराये और अपनी गोल के सहित अलग हो गये॥१॥

मनहीँ मन महेस मुसुकाहीँ। हरि के व्यङ्ग बचन नहिँ जाहीँ॥
अतिप्रिय-बचन सुनत प्रियकेरे। भृङ्गिहि-प्रेरि सकल गन टेरे॥२॥

शिवजी मन ही मन मुस्कुराते हैं कि भगवान् की व्यङ्ग भरी बातें नहीं छूटतीं। प्यारे के अत्यन्त प्रिय वचन सुनते ही नन्दी को आज्ञा देकर अपने सम्पूर्ण अनुचरों को बुलवाया॥२॥

सिव अनुसासन सुनि सब आये। प्रभु-पद-जलज सीस तिन्ह नाये॥
नाना-बाहन नाना-बेखा। बिहँसे सिव समाज निज देखा॥३॥

शिवजी की आज्ञा सुन कर सब आये और उन्होंने स्वामी के चरण-कमलों में सिर नवाया। उनकी भाँति भाँति की सवारियाँ और तरह तरह के वेश थे, अपने समाज को देख कर शिवजी हँसे॥३॥

शिवजी के हँसने में विष्णु भगवान् की व्यङ्गोक्ति का उत्तर व्यञ्जित होना व्यङ्ग है कि वर के अनुरूप बरात हो गई न? अब तो पराये पुर में हँसी न होगी।

कोउ मुख-हीन बिपुल-मुख काहू। बिनु-पद-कर कोउ बहु-पद-बाहू॥
बिपुल-नयन कोउ नयन-बिहीना। रिष्ट-पुष्ट कोउ अति तन खीना॥४॥

कोई मुख रहित, किसी को बहुत से मुख हैं, कोई बिना हाथ पाँव का और किसी के बहुत से चरण तथा भुजाएँ हैं। कोई समूह आँखवाले, किसी के नेत्र ही नहीं हैं, कोई मोटा ताज़ा और कितने ही शरीर के अत्यन्त दुबले पतले हैं॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

तन-खीन कोउ अति-पीन पावन, कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब, सद्य सोनित तन भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन, बेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत-पिसाच-जोगि-जमाति बरनत नहिँ बनै॥७॥

कोई शरीर का दुबला, कोई अत्यन्त मोटा, कोई पवित्र और कोई अपवित्र चाल पकड़े है। भयङ्कर गहना पहने हाथ में खोपड़ी लिए ताजा ख़ून सब शरीर में लपेटे है। किसी का मुख गदहे का; कोई कुत्ते; कोई सुअर और कोई सियार के मुखवाला है, उन अनगिनती गणों के रूप को कौन कह सकता है? बहुत प्रकार के प्रेत, पिशाच और योगियों की जमात (गरोह) का वर्णन नहीं करते बनता है॥७॥

सो०—नाचहिँ गावहिँ गीत, परम तरङ्गी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिँ बचन बिचित्र बिधि॥९३॥

वे सब भूत बड़े ही लहरी नाचते और गीत गाते हैं। देखने में उलटे मालूम होते हैं, पर वचन विचित्र प्रकार के बोलते हैं॥९३॥

शिवजी की बरात वर्णन में हास्यरस की प्रधानता है और गौड़ रूप से अद्भुतरस तथा वीभत्स की भी किञ्चित झलक है। शङ्करजी आलम्बन विभाव हैं। उनकी विलक्षण वेष रचना, सर्प-भूषण, जटिल, हरिचर्म्म और विभूति धारण; अद्भुत गण उद्दीपन विभाव हैं। उन्हें देख कर सुर, देवाङ्गनाओं का हँसना अनुभाव है, हर्ष सञ्चारी भाव द्वारा हास्य स्थायीभाव पुष्ट होकर रस रूप हुआ है।

चौ०—जस दूलह तस बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिँ मग जाता॥
इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिँ जाइ बखाना॥१॥

जैसा वर वैसी ही बरात बनी, रास्ते में जाते हुए तरह तरह के कुतूहल हो रहे हैं। यहाँ हिमाचल ने अत्यन्त अद्भुत मण्डप बनवाया जो बखाना नहीं जा सकता॥१॥

सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिँ बरनि सिराहीं॥
बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥२॥

संसार में जहाँ तक छोटे बड़े पर्वत हैं, जिनका वर्णन नहीं हो सकता, उन सब को और सम्पूर्ण वन, समुद्र, नदी एवम् तालाव सब को हिमवान् ने निमन्त्रित करके बुलवाया॥२॥

कामरूप सुन्दर तनु धारी। सहित समाज सोह बर नारी॥
आये सकल हिमाचल गेहा। गावहिँ मङ्गल सहित सनेहा॥३॥

इच्छानुसार सुन्दर शरीर धारण किये अपनी रूपवती स्त्री और मण्डली के सहित शोभायमान सब हिमाचल के घर आये, वे सब स्नेह के साथ मङ्गल गान करते हैं॥३॥
गुटका में 'गये सकल तुहिनाचल गेहा' और 'सहित समाज सहित बर नारी' पाठ है।

प्रथमहिँ गिरि बहु गृह सँवराये । जथाजोग जहँ तहँ सब छाये ॥
पुर-सोभा अवलोकि सुहाई । लागइ लघु बिरञ्चि निपुनाई ॥४॥

पर्वतराज ने बहुत से घरों को पहले ही से सजवाया था, उनमें वे सब यथायोग्य स्थानों में ठहरे। नगर की सुहावनी छवि देख कर विधाता की रचना की चतुराई तुच्छ मालूम होती है ॥ ४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

लघु लागि बिधि की निपुनता, अवलोकि पुर सोभा सही ।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता, सुभग सब सक को कही ॥
मङ्गल बिपुल तोरन पताका, केतु गृह गृह सोहहीं ॥
बनिता पुरुष सुन्दर चतुर छबि,-देखि मुनि मन मोहहीं ॥८॥

नगर की स्वच्छ शोभा को देख कर ब्रह्मा की चतुराई छोटी लग रही है। वन, बाग, कुआँ, तालाब और नदियाँ सब सुहावनी हैं, उनकी छटा कौन कह सकता है ? घर घर असंख्यों माङ्गलीक ध्वजा, पाताका, वन्दनवार आदि शोभायमान हो रहे हैं। सुन्दर चतुर और छबीले स्त्री-पुरुषों को देख कर मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं ॥ ८ ॥

दो०—जगदम्बा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि कि जाइ ।
रिधि सिधि सम्पति सकल सुख, नित नूतन अधिकाइ ॥९४॥

जहाँ जगन्माता ने जन्म लिया, क्या उस नगर की सोभा कही जा सकती है ? (कदापि नहीं)। ऋद्धि, सिद्धि, सम्पति और सारा सुख नित्य नया नया बढ़ता जाता है ॥९४॥

चौ०—नगर निकट बरात जब आई । पुर खरभर सोभा अधिकाई ॥
करि बनाव सजि बाहन नाना । चले लेन सादर अगवाना ॥१॥

जब नगर के समीप बरात आ गई, तब पुर में चहल पहल की शोभा बढ़ गई। नाना प्रकार की सवारियों के सजाव करके आदर के साथ अगवानी लेने चले ॥ १ ॥

हिय हरषे सुर-सेन निहारी । हरिहि देखि अति भये सुखारी ॥
सिव समाज जब देखन लागे । बिड़रि चले बाहन सब भागे ॥२॥

देवताओं की गोल देख कर हृदय में प्रसन्न हुए और विष्णु भगवान् को देख कर परमानन्दित हुए। जब शिवजी के समाज को देखने लगे, तब हाथी, घोड़े आदि सवारी के जानवर सब घबड़ा कर भाग चले ॥२॥

धरि धीरज तहँ रहे सयाने । बालक सब लेइ जीव पराने ॥
गये भवन पूछहिं पितु माता । कहहिं बचन भय कम्पित गाता ॥३॥

चतुर लोग धीरज धर कर वहाँ रहे और सब लड़के जी लेकर भाग गये । घर जाने पर उनके माता-पिता पूछते हैं, भय से शरीर काँपते हुए वे वचन कहते हैं ॥३॥

बाहनों और बालकों का अयथार्थ भय वर्णन 'भयानक रसाभास' है ।

कहिय काह कहि जाइ न बाता । जम कर धारि किधौं बरियाता ॥
बर बौराह बरद असवारा । ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥४॥

क्या कहूँ ? बात कही नहीं जाती है, यह यमराज की सेना है, या कि बरात है । दूलह पागल है और बैल पर सवार है । साँप, नर-खोपड़ी और राख ही उसके गहने हैं ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

तन छार ब्याल कपाल भूषन, नगन जटिल भयङ्करा ।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि, बिकट-मुख रजनीचरा ॥
जो जियत रहिहि बरात देखत, पुन्य बड़ तेहि कर सही ।
देखिहि सो उमा बिबाह घर घर, बात असि लरिकन्ह कही ॥६॥

शरीर पर भस्म, साँप और खोपड़ी का गहना, नङ्गा, जटाधारी और डरावना है । साथ में भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनी तथा विकराल मुखवाले राक्षस हैं । जो बरात देख कर जीता रहेगा, सचमुच उसका बड़ा भारी पुण्य है और वही पार्वती के विवाह को देखेगा । इस तरह की बात घर घर लड़कों ने कही ॥ ६ ॥

दो०—समुझि महेस समाज सब, जननि जनक मुसुकाहिँ ।
बाल बुझाये बिबिध बिधि, निडर होहु डर नाहिँ ॥९५॥

सब शिवजी के समाज को समझ कर माता-पिता मुस्कुराने लगे । उन्होंने बहुत तरह से बालकों को समझाया कि कोई डर नहीं है, तुम लोग निर्भय रहो ॥९५॥

चौ०—लेइ अगवान बरातहि आये । दिये सबहि जनवास सुहाये ॥
मैना सुभ आरती सँवारी । सङ्ग सुमङ्गल गावहिँ नारी ॥१॥

अगवानी लोग बरात को ले आये और सभी को सुहावने जनवास दिये । मैना सुन्दर आरती सजाकर, स्त्रियों के साथ श्रेष्ठ मङ्गल के गीत गाती हैं ॥१॥

कञ्चनथार सोह बर पानी । परिछन चलीँ हरहि हरषानी ॥
बिकट-बेष रुद्रहि जब देखा । अबलन्ह उर भय भयउ बिसेखा ॥२॥

उत्तम सुवर्ण का थाल हाथ में शोभित है, प्रसन्नता से शिवजी को परछने (आरती उतारने) चलीं । जब रुद्र का भीषण रूप देखा, तब स्त्रियों के हृदय में बहुत ही डर उत्पन्न हुआ ॥२॥

स्त्रियों का अयथार्थ भय 'भयानक रसाभास' है ।

भागि भवन पैठी अति त्रासा । गये महेस जहाँ जनवासा ॥
मैना हृदय भयउ दुख भारी । लीन्ही बोलि गिरीस-कुमारी ॥३॥

अत्यन्त भय से भाग कर घर में घुस गईं और जहाँ जनवासा था वहाँ शिवजी गये। मैना के हृदय में बड़ा भारी दुःख हुआ, उन्होंने पार्वतीजी को बुला लिया ॥३॥

अधिक सनेह गोद बैठारी । स्याम-सरोज नयन भरि बारी ॥
जेहि बिधि तुम्हहिँ रूप अस दीन्हा । तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा ॥४॥

अधिक स्नेह से गोद में बैठा कर श्याम-कमल के समान नेत्रों में आँसू भर कर कहने लगीं—जिस ब्रह्मा ने तुमको ऐसी सुन्दरता दी, उस मूर्ख ने वर पागल क्यों बनाया ? ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि, तुम्हहिँ सुन्दरता दई ।
जो फल चहिय सुरतरुहि सो, बरबस बबूरहि लागई ॥
तुम्ह सहित गिरि तेँ गिरउँ पावक, जरउँ जलनिधि महँ परौँ ॥
घर जाउ अपजस होउ जग, जीवत बिआह न हौँ करौँ ॥१०॥

जिस विधाता ने तुम्हें ऐसी सुन्दरता दी, उसने वर काहे को बौरहा बनाया ? जो फल कल्पवृक्ष में लगना चाहिये, वह बरजोरी से बबूर में लग रहा है। तुम्हारे सहित मैं पहाड़ से गिरूँगी, आग में जलूँगी या समुद्र में कूद पड़ूँगी, घर भले ही उजड़ जाय, संसार में अपकीर्त्ति हो, पर मैं जीते जी विवाह न करूँगी ॥१०॥

इस छन्द में मैना को कहना तो यह अभीष्ट है कि ऐसी रूपवती कन्या को सुन्दर रूपवान् वर मिलना था वह न मिला। विकट मसानी वेष का पति मिला ! पर इस बात को सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना जिससे असली बात प्रगट हो कि जो फल कल्पतरु में लगना था, वह बबूर में लगा 'ललित अलंकार' है ।

दो०--भईं बिकल अबला सकल, दुखित देखि गिरि-नारि ।
करि बिलाप रोदति बदति, सुता सनेह सँभारि ॥९६॥

मैना को दुखी देख कर सारी स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं। वे लड़की की सुधि कर स्नेह के मारे रोती, चिल्लाती और विलाप करती हैं ॥९६॥

शङ्का—मैना पहले ही नारद और हिमवान् के द्वारा शिवजी के रूप को सुन चुकी थीं, फिर इतना डर उन्हें क्यों हुआ जब कि इन्हों ने उक्त वर प्राप्ति के लिये कन्या को तपस्या करने का आदेश किया ? उत्तर—मानस प्रकरण में कह आये हैं कि कविता नदी के लोकमत और वेदमत दो किनारे हैं। यहाँ नदी की धारा लोकमत के किनारे से लग कर चल रही है। स्त्री का स्वभाव भीरु और चञ्चल होता है। भीषण वेष देख कर पहले की कही-सुनी बातें मैना को भूल गईं। वे पुत्री के स्नेह में विह्वल हो उठीं। फिर इस घटना-सम्बन्ध से पार्वतीजी की अनन्त महिमा सब लोगों पर व्यक्त करना कवि को अभीष्ट है ।

चौ०--नारद कर मैं काह बिगारा । भवन मोर जिन्ह बसत उजारा ॥
अस उपदेस उमहिं जिन्ह दीन्हा । बौरे बरहि लागि तप कीन्हा ॥१॥

नारद का मैंने क्या बिगाड़ा था, जिन्होंने बसता हुआ मेरा घर उजाड़ दिया । उन्होंने पार्वती को ऐसा उपदेश दिया कि पागल वर के लिए उसने तपस्या की ॥१॥

साँचेहु उनके मोह न माया । उदासीन धन धाम न जाया ॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा । बाँझ कि जान प्रसव की पीरा ॥२॥

सचमुच उनके (हृदय में) मोह-मया नहीं है, धन, घर और स्त्री नहीं, सब के त्यागी हैं । पराया घर उजाड़ने में उन्हें लाज या डर नहीं है, क्या वन्ध्या स्त्री प्रसव (बालक पैदा होने) की पीड़ा जान सकती है ? (कदापि नहीं) ॥२॥

जननिहिं बिकल बिलोकि भवानी । बोली जुत-बिबेक मृदु बानी ॥
अस बिचारि सोचहि मति माता । सो न टरइ जो रचइ बिधाता ॥३॥

माता को व्याकुल देख कर भवानी ज्ञान से भरी कोमल वाणी बोलीं । हे माता ! जो विधाता ने रचा है वह मिट नहीं सकता, ऐसा जान कर सोच मत करो ॥३॥

करम लिखा जौँ बाउर नाहू । तौ कत दोष लगाइय काहू ॥
तुम्ह सन मिटहि कि बिधि के अङ्का । मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलङ्का ॥४॥

यदि मेरे प्रारब्ध में बौरहा पति लिखा है तो किसी को दोष क्यों लगाया जाय ? क्या विधाता के लिखे अङ्क तुमसे मिट सकते हैं ? (कदापि नहीं, इसलिये) हे माता ! व्यर्थ ही कलङ्क मत लेओ ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जनि लेहु मातु कलङ्क करुना,-परिहरहु अवसर नहीँ ।
दुखसुख जो लिखा लिलार हमरे, जाब जहँ पाउब तहीँ ॥
सुनि उमा बचन बिनीत कोमल, सकल अबला सोचहीँ ।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन, नयन बारि बिमोचहीँ ॥११॥

हे माता ! कलङ्क मत लेओ; विषाद को छोड़ो, इसका अवसर नहीं है । दुःख सुख जो मेरे ललाट में लिखा है, वह जहाँ जाऊँगी वहीं पाऊँगी । पार्वतीजी के नम्र कोमल वचन सुन कर सब स्त्रियाँ सोचती हैं । बहुत प्रकार ब्रह्मा को दोष लगा कर आँखों से आँसू बहा रही हैं ॥११॥

बौरहा वर मिले पर्वतीजी को और दोष पावें बेचारे ब्रह्मा ! कारण कहीं और कार्य कहीं 'प्रथम असङ्गति अलंकार' है ।

दो०—तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिषि-सप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिन-गिरि, गवने तुरत निकेत ॥९७॥

उसी समय नारदजी के सहित सप्तर्षियों को साथ लेकर हिमवान् यह ख़बर सुन कर तुरन्त घर में गये ॥९७॥

चौ०—तब नारद सबही समुझावा। पूरब-कथा-प्रसङ्ग सुनावा॥
मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदम्बा तव सुता भवानी ॥१॥

तब नारदजी ने सभी को समझाया और पूर्वजन्म के कथा का प्रसङ्ग सुनाया। उन्होंने कहा—हे मैना! मेरी सच्ची बात सुनो, तुम्हारी कन्या जगदम्बा भवानी है ॥१॥

अजा अनादि-सक्ति अबिनासिनि। सदा सम्भु अरधङ्ग-निवासिनि॥
जग-सम्भव-पालन-लय कारिनि। निज-इच्छा लीला बपु धारिनि॥२॥

जन्म न लेनेवाली और कभी नाश न होनेवाली आदि शक्ति सदा शिवजी की अर्द्धाङ्गिनी हैं। संसार को उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाली तथा अपनी इच्छा से खेल के लिये शरीर धारण करनेवाली हैं ॥२॥

जनमी प्रथम दच्छ-गृह जाई। नाम सती सुन्दर तनु पाई॥
तहउँ सती सङ्करहि बिबाहीं। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं ॥३॥

पहले जाकर दक्ष के घर में पैदा हुईं, वहाँ इनका सती नाम था और इन्होंने सुन्दर शरीर पाया था। वहाँ भी सती शिवजी को ब्याही थीं। यह कथा सारे जगत् में बिख्यात है ॥३॥

एक बार आवत सिव सङ्गा। देखेउ रघुकुल कमल पतङ्गा॥
भयउ मोह सिव कहा न कीन्हा। भ्रम बस बेष सीय कर लीन्हा ॥४॥

एक बार शिवजी के साथ आते हुए इन्होंने रघुकुल रूपी कमल के सूर्य्य को देखा। इनके मन में अज्ञान हुआ। शिवजी का कहना नहीं माना। भ्रम में पड़ कर सीता का रूप बनाया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

सिय बेष सती जो कीन्ह तेहि, अपराध सङ्कर परिहरी।
हर बिरह जाइ बहोरि पितु के, जग्य जोगानल जरी॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निजपति, लागि दारुन तप किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा, सर्वदा सङ्कर प्रिया ॥१२॥

सती ने जो सीताजी का रूप बनाया, इस अपराध से शिवजी ने उन्हें त्याग दिया। फिर महादेवजी के वियोग से पिता के यज्ञ में जाकर सती योगाग्नि में जल गईं। अब तुम्हारे घर

जन्म लेकर अपने स्वामी की प्राप्ति के लिए भीषण तप किया है। ऐसा समझ कर सन्देह छोड़ दो, गिरिजा सदा सर्वदा शङ्कर की प्यारी हैं ॥ १२ ॥

मैना आदि के मन में शिवजी का विकट रूप देख भ्रम से जो सन्देह हुआ था, नारदजी ने सच्ची बातें कह कर वह दूर कर दिया। 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

दो०-सुनि नारद के बचन तब, सब कर मिटा बिषाद ।
छन महँ ब्यापेउ सकल पुर, घर घर यह सम्बाद ॥९८॥

तब नारदजी की बात सुन कर सब का विषाद मिट गया। क्षण भर में यह सम्वाद सारे नगर में घर घर फैल गया ॥ ९८ ॥

चौ०-तब मैना हिमवन्त अनन्दे । पुनि पुनि पारबती-पद बन्दे ॥
नारि पुरुष सिसु जुबा सयाने । नगर लोग सब अति हरषाने ॥१॥

तब मैना और हिमवान् ने प्रसन्न होकर बार बार पार्वतीजी के चरणों की वन्दना की। चतुर स्त्री-पुरुष, बालक-जवान, सब नगर के लोग अत्यन्त हर्षित हुए ॥ १ ॥

लगे होन पुर मङ्गल गाना । सजे सबहिँ हाटक-घट नाना ॥
भाँति अनेक भई जेवनारा । सूप-सास्त्र जस किछु ब्यवहारा ॥२॥

नगर में मङ्गल गान होने लगा, सब ने अनेक प्रकार के सुवर्ण के कलश सजाये। भाँति भाँति की रसोइयाँ—जैसा कुछ पाक-शास्त्र में विधान है—हुईं ॥ २ ॥

सो जेवनार कि जाइ बखानी । बसहिँ भवन जेहि मातु भवानी ॥
सादर बोले सकल बराती । बिष्नु बिरञ्चि देव सब जाती ॥३॥

क्या वह ज्योनार बखाना जा सकता है जिस घर में माता पार्वती रहती हैं ? आदरपूर्वक सम्पूर्ण बरात विष्णु, ब्रह्मा और सब जाति के देवताओं को बुलाया ॥ ३ ॥

बिबिध पाँति बैठी जेवनारा । लगे परोसन निपुन सुआरा ॥
नारि-बृन्द सुर जैँवत जानी । लगीँ देन गारी मृदु बानी ॥४॥

बहुत सी पङ्गतें बैठीं, चतुर रसोईदार भोजन परोसने लगे। स्त्रियाँ देवताओं को भोजन करते जान कर मधुर वाणी से गाली देने लगीं ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

गारी मधुर सुर देहिँ सुन्दरि, ब्यङ्ग बचन सुनावहीँ ।
भोजन करहिँ सुर अति बिलम्ब, बिनोद सुनि सचु पावहीँ ॥
जैँवत जो बढ़ेउ अनन्द सो, मुख कोटिहू न परइ कह्यो ।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने, बास जहँ जाको रह्यो ॥१३॥

सुन्दरियाँ मीठे स्वर से गाली देती हैं और व्यङ्ग-पूर्ण वचन सुनाती हैं। देवता हँसी दिल्लगी सुन कर प्रसन्न हो रहे हैं और बड़ी देर में (धीरे धीरे) भोजन करते हैं। जेंवन करते

समय जो आनन्द बढ़ा, वह करोड़ों मुख से भी नहीं कहा जा सकता। सब के हाथ मुँह धुलवा कर पान दिये, फिर जिसका जहाँ डेरा था वहाँ वह चला गया ॥ १३ ॥

गाली दोष रूप है, किन्तु विवाहोत्सव में वही गुण रूप प्रिय लगना तथा उससे प्रसन्न होना 'अनुज्ञा अलंकार' है।

दो०—बहुरि मुनिन्ह हिमवन्त कहँ, लगन सुनाई आइ ।
समय बिलोकि बिबाह कर, पठये देव बुलाइ ॥९९॥

फिर मुनियों ने आकर हिमवान् को लग्न का मुहूर्त्त सुनाया। विवाह का समय देख कर उन्होंने देवताओं को बुलौआ भेजा ॥ ९९ ॥

चौ०—बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहि जथोचित आसन दीन्हे ॥
बेदी बेद-बिधान सँवारी। सुभग सुमङ्गल गावहिँ नारी ॥१॥

सम्पूर्ण देवताओं को आदर से बुला लिया और सब को यथायोग्य आसन दिया। वेद की रीति से वेदी बनाई गई, सुन्दर स्त्रियाँ श्रेष्ठ मङ्गल गान करती हैं ॥ १ ॥

सिंहासन अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि बिचित्र बनावा ॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिर नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई ॥२॥

अत्यन्त दिव्य सुहावने सिंहासन पर—जिसकी विलक्षण बनावट वर्णन नहीं की जा सकती, शिवजी ब्राह्मणों को मस्तक नवा कर और हृदय में अपने स्वामी रघुनाथजी का स्मरण कर के बैठ गये ॥ २ ॥

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई। करि सिङ्गार सखी लेइ आई ॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनइ छबि अस जग कबि को है ॥३॥

फिर मुनीश्वरों ने उमा को बुलवाया, शृङ्गार करके सखी ले आई। रूप देखते ही सब देवता मोहित हो गये, संसार में ऐसा कौन कवि है जो उस शोभा का वर्णन करेगा ? (कोई नहीं) ॥३॥

जगदम्बिका जानि भव-भामा। सुरन्ह मनहिँ मन कीन्ह प्रनामा ॥
सुन्दरता-मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी ॥४॥

जगन्माता और शिवजी की भार्य्या समझ देवताओं ने मन ही मन प्रणाम किया। पर्वतीजी सुन्दरता की हद हैं, करोड़ों मुखों से बखानी नहीं जा सकतीं ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कोटिहु बदन नहिँ बनइ बरनत, जग-जननि-सोभा महा ।
सकुचहिँ कहत स्रुति सेष सारद, मन्द-मति तुलसी कहा ॥

छबि-खानि मातु भवानि गवनी, मध्य मंडप सिव जहाँ ।
अवलोकि सकइ न सकुच पति-पद,-कमल मन मधुकर तहाँ ॥१४॥

जगज्जननी की महान् शोभा करोड़ों मुखों से नहीं बखानी जा सकती। सरस्वती, वेद और शेषजी कहते हुए सकुचाते हैं, उसको नीच-बुद्धि तुलसी ने कहा है अथवा नीच-बुद्धि तुलसी क्या चीज़ है? छबि की खानि माता पार्वतीजी मण्डप में, जहाँ शिवजी हैं, वहाँ गईं। लज्जा से पति के चरण-कमलों को देख नहीं सकतीं, परन्तु मन रूपी भ्रमर वहाँ लुब्ध हो गया है ॥१४॥.

दो०—मुनि अनुसासन गनपतिहि, पूजेउ सम्भु-भवानि ।
कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि ॥१००॥

शिव-पार्वती ने मुनियों की आज्ञा से गणेशजी का पूजन किया। यह सुन कर (गणपति को) अनादि देव जी में जान कर कोई सन्देह न करे ॥१००॥

विवाह अभी हुआ नहीं; किन्तु गणेश-पूजन कराने में 'भाविक अलंकार' है।

चौ०—जसि बिबाह के बिधि स्रुति गाई । महामुनिन्ह सो सब करवाई ॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी । भवहि समरपी जानि भवानी ॥१॥

विवाह की जैसी रीति वेदों ने गाई है, महामुनियों ने वे सब करवाईं। पर्वतराज ने कुश और कन्या का हाथ हाथ में लेकर भवानी जान कर भव को अर्पण की ॥१॥

पानि-ग्रहन जब कीन्ह महेसा । हिय हरषे तब सकल सुरेसा ॥
बेद मन्त्र मुनिबर उच्चरहीं । जय जय जय सङ्कर सुर करहीं ॥२॥

जब शिवजी ने पाणिग्रहण किया तब इन्द्रादि सब देवता मन में प्रसन्न हुए। मुनिवर वेदमन्त्र पढ़ते हैं और देवता शङ्करजी की जय जयकार करते हैं ॥२॥

बाजहिँ बाजन बिबिध बिधाना । सुमन बृष्टि नभ भइ बिधि नाना ॥
हर गिरिजा कर भयेउ बिबाहू । सकल भुवन भरि रहा उछाहू ॥३॥

अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं, आकाश से नाना भाँति के फूलों की वर्षा हुई। शिव-पार्वती का विवाह हुआ, जिसका उत्साह सम्पूर्ण जगत् में भरपूर छा रहा है ॥३॥

दासी दास तुरग रथ नागा । धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा ॥
अन्न कनक-भाजन भरि जाना । दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ॥४॥

सेवक, सेवकिनी, घोड़ा, रथ, हाथी, गैया, वस्त्र और रत्नादि वस्तुएँ अलग अलग। सुवर्ण के बरतनों में अन्न भर भर गाड़ियों में लदवा कर दहेज दिया जो बखाना नहीं जा सकता ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर,-जोरि हिम-भूधर कह्यो ।
का देउँ पूरनकाम सङ्कर, चरन-पङ्कज गहि रह्यो ॥
सिव कृपासागर ससुर कर सन्तोष सब भाँतिहि कियो ।
पुनि गहे पद-पाथोज मैना, प्रेम परिपूरन हियो ॥१५॥

बहुत तरह का दहेज देकर फिर हिमवान् ने हाथ जोड़ कर कहा—हे शङ्करजी ! आप पूर्णकाम हैं, मैं आप को क्या दे सकता हूँ । यह कह कर उन्होंने चरण-कमलों को पकड़ लिया । कृपासागर शिवजी ने सभी प्रकार से श्वसुर को सन्तुष्ट किया, प्रेम-पूर्ण हृदय से मैना ने चरण कमलों को पकड़ा ॥१५॥

दो०—नाथ उमा मम प्रान प्रिय, गृह-किङ्करी करेहु ।
छमेहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु ॥१०१॥

मैना बिनती करने लगीं—हे नाथ ! उमा मुझे प्राण के समान प्यारी है, इसे घर की दासी बनाइये । सम्पूर्ण अपराध क्षमा कीजिएगा, अब प्रसन्न होकर यह बरदान दीजिए ॥१०१॥

'गृह किङ्करी करेहु' इस वाक्य में असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग है कि अब तक आप बिना घर के रहते थे, अब घर बना कर रहनो, यह व्यङ्ग वाच्यार्थ ही से प्रगट है ।

चौ०--बहु बिधि सम्भु सास समुझाई । गवनी भवन चरन सिर नाई ॥
जननी उमा बोलि तब लीन्ही । लेइ उछङ्ग सुन्दर सिख दीन्ही ॥१॥

बहुत तरह से शिवजी ने सास को समझाया, वे चरणों में मस्तक नवा कर घर गईं । तब माता ने पार्वतीजी को बुला लिया और गोद में लेकर सुन्दर सीख दी ॥ १ ॥

करेहु सदा सङ्कर-पद-पूजा । नारि धरम पति-देव न दूजा ॥
बचन कहत भरि लोचन बारी । बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ॥२॥

शङ्करजी के चरणों की सदा पूजा करना, स्त्री-धर्म पतिव्रता के सिवा दूसरा नहीं है । वचन कहते हुए आँखों में जल भर कर फिर पुत्री को हृदय से लगा लिया ॥ २ ॥

कत बिधि सृजी नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ॥
भइ अति प्रेम बिकल महँतारी । धीरज कीन्ह कुसमय बिचारी ॥३॥

कहने लगीं—विधाता ने संसार में स्त्रियों को क्यों उत्पन्न किया, जिन्हें पराधीन रहने के कारण कभी स्वप्न में सुख नहीं है । अत्यन्त प्रेम से माता व्याकुल हुईं, कुसमय विचार कर धीरज धारण किया ॥ ३ ॥

पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना । परम प्रेम कछु जाइ न बरना ॥
सब नारिन्ह मिलि भैंटि भवानी । जाइ जननि उर पुनि लपटानी ॥४॥

बार बार भेंटती हैं और पाँव पकड़ कर सिर रखती हैं, अतिशय प्रीति का वर्णन कुछ नहीं किया जा सकता । सब स्त्रियों से मिल भेंट कर फिर पार्वतीजी जाकर माता की छाती से लिपट गईं ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जननिहि बहुरि मिलि चली उचित असीस सब काहू दई ।
फिरि फिरि बिलोकति मातु तन तब, सखी लै सिव पहिँ गई ।
जाचक सकल सन्तोषि सङ्कर, उमा सहित भवन चले ।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले ॥१६॥

फिर माता से मिल कर चलीं, सब किसी ने उचित आशीर्वाद दिया । बार बार माता की ओर निहार रहीं हैं, तब सखियाँ उन्हें शिवजी के पास ले गईं । सब याचकों को सन्तुष्ट करके पार्वती के समेत शिवजी अपने घर चले । सब देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाने लगे और आकाश में सुन्दर दुन्दुभी आदि बाजे बज रहे हैं ॥ १६ ॥

दो०--चले सङ्ग हिमवन्त तब, पहुँचावन अति हेतु ।
बिबिध भाँति परितोष करि, बिदा कीन्हि वृषकेतु ॥१०२॥

तब हिमवान् अत्यन्त प्रीति से साथ में पहुचाने के लिए चले । बहुत तरह से उन्हें समझा-बुझा कर शिवजी ने बिदा किया ॥ १०२ ॥

चौ०--तुरत भवन आये गिरिराई । सकल सैल सर लिये बोलाई ॥
आदर दान बिनय बहु माना । सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना ॥१॥

पर्वतराज तुरन्त घर आये और सम्पूर्ण शैल सरोवरों को बुला लिया । आदर, दान और विनती से हिमवान् ने सब को बहुत सत्कार कर बिदा किया ॥ १ ॥

जबहिँ सम्भु कैलासहि आये । सुर सब निज निज लोक सिधाये ॥
जगत मातु-पितु सम्भु-भवानी । तेहि सिङ्गार न कहउँ बखानी ॥२॥

जब शिवजी कैलास पर आये तब देवता सब अपने अपने लोक को चल दिये । शिव-पार्वती जगत् के माता-पिता हैं, इसलिए उनका शृङ्गार बखान कर नहीं कहता हूँ ॥ २ ॥

करहिँ बिबिध बिधि भोग बिलासा । गनन्ह समेत बसहिँ कैलासा ॥
हर-गिरिजा बिहार नित नयऊ । एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ ॥३॥

अनेक प्रकार के भोग विलास करते हैं और सेवकों के सहित कैलास पर निवास करते हैं । शिव-पार्वती का नित्य नया विहार हो रहा है, इस तरह बहुत समय बीत गया ॥३॥

तब जनमेउ षट-बदन-कुमारा । तारक असुर समर जेहि मारा ॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । षट-मुख जनम सकल जग जाना ॥४॥

तब छः मुखवाले (स्वामिकार्तिक) पुत्र का जन्म हुआ, जिन्होंने संग्राम में तारकासुर को मारा। षड़ानन का जन्म वेद, शास्त्र, पुराणों में विख्यात है और सम्पूर्ण संसार जानता है ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जग जान षनमुख जनम करम प्रताप पुरुषारथ महा ।
तेहि हेतु मैं बृषकेतु-सुत कर, चरित सङ्छेपहि कहा ॥
यह उमा-सम्भु बिबाह जे नर, नारि कहहिँ जे गावहीं ।
कल्यान काज बिबाह मङ्गल, सर्बदा सुख पावहीं ॥१७॥

स्वामिकार्तिक के जन्म, कर्म, प्रताप और महान् पुरुषार्थ को संसार जानता है । इसलिये शिवजी के पुत्र का चरित्र मैंने संक्षेप में ही वर्णन किया है। यह शिव और पार्वतीजी का विवाह जो स्त्री-पुरुष कहेंगे, जो गावेंगे, वे विवाहादि कल्याण कार्य्य में सदा मङ्गल और सुख पावेंगे ॥१७॥

दो०—चरित-सिन्धु गिरिजारवन, बेद न पावहिँ पार ।
बरनइ तुलसीदास किमि, अति मति-मन्द गँवार ॥१०३॥

पार्वती-रमण का चरित्र समुद्र है, वेद भी पार नहीं पाते । उसको अत्यन्त मंद-बुद्धि गँवार तुलसीदास कैसे वर्णन कर सकता है ? ॥१०३॥

कविजी शिव-पार्वती का चरित्र वर्णन करने में अशक्यता प्रदर्शित करने के लिये अपने को अत्यन्त मन्द-बुद्धि गँवार कहते हैं। इस कथन में उक्ताक्षेप और विचित्र अलंकार की ध्वनि है। चरित्र वर्णन कर फिर उससे निषेद करना उक्ताक्षेप है और अत्यन्त मतिमन्द कह कर अपने को गँवार बनाना, इससे श्रेष्ठ वक्ता होने की इच्छा रखना विचित्र है।

चौ०—सम्भु चरित सुनि सरस सुहावा । भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी । नयन-नीर रोमावलि ठाढ़ी ॥१॥

शिवजी का सुहावना और रसीला चरित्र सुन कर भरद्वाज मुनि बहुत ही प्रसन्न हुए। बड़ी लालसा कथा पर बढ़ी, उनकोआँखों में जल भर आया और रोमावलियाँ खड़ी हो गईं ॥१॥

प्रेम बिबस मुख आव न बानी । दसा देखि हरषे मुनि-ज्ञानी ॥
अहो धन्य तव जनम मुनीसा । तुम्हहिँ प्रान सम प्रिय गौरीसा ॥२॥

प्रेम के आधीन होकर मुख से बात नहीँ निकलती है, उनकी दशा देखकर ज्ञानी मुनि याज्ञवल्क्यजी हर्षित हुए। उन्होंने कहा—हे मुनीश्वर ! आपका जन्म धन्य है, आप को गौरीपति-शङ्करजी प्राण के समान प्यारे हैं ॥२॥

सिव-पद-कमल जिन्हहिँ रति नाहीँ । रामहिँ ते सपनेहुँ न सुहाहीँ ॥
बिनु छल बिस्वनाथ-पद नेहू । रामभगत कर लच्छन एहू ॥३॥

जिनकी प्रीति शिवजी के चरण-कमलों में नहीं है, वे रामचन्द्रजी को स्वप्न में भी नहीं अच्छे लगते। विश्वनाथजी के चरणों में विना छल के स्नेह हो; यही राम भक्त का लक्षण है ॥३॥

सिव सम को रघुपति-ब्रत-धारी । बिनु अघ तजी सती असि नारी ॥
पन करि रघुपति-भगति दिढ़ाई । को सिव सम रामहिँ प्रिय भाई ॥४॥

शिवजी के समान रघुनाथ जी का व्रत धारण करनेवाला कौन है? जिन्होंने सती ऐसी स्त्री को बिना दुःख के त्याग दिया! प्रतिज्ञा करके रघुनाथजी की भक्ति को दृढ़ किया, हे भाई! फिर शिवजी के समान रामचन्द्रजी को कौन प्यारा होगा? ॥४॥

शिवजी के व्रत धारण का कारण युक्ति से समर्थन करना कि सती जैसी स्त्री को त्याग दिया; किन्तु भक्ति को दृढ़ता से ग्रहण किया 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। 'बिनु अघ' में बड़ी उलझन है। यदि यह अर्थ किया जाय कि बिना पाप के सती ऐसी स्त्री को त्याग दिया तो शिवजी पर दोषारोपण होता है, क्योंकि निरपराध पतिव्रता को त्यागना घोर अन्याय है। फिर ग्रन्थ से विरोध पड़ता है, नारदजी ने स्पष्ट कह दिया है कि 'सिय वेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध शङ्कर परिहरी'। इससे सती का अपराधिनी होना सिद्ध है। 'अघ' शब्द के तीन अर्थ हैं, पाप या अपराध, दुःख और व्यसन। यहाँ तात्पर्य्य दुःख से है, अपराध या पाप से नहीं। हाँ—यह शङ्का हो सकती है कि उत्तरकाण्ड में स्वयम् शिवजी ने कहा है "तब अति सोच भयेउ मन मोरे। दुखी भयउँ वियोग प्रिय तोरे" इस वाक्य से पूर्वोक्त अर्थ भी व्यर्थ होगा? पर ऐसा नहीं है, सती के प्रति शिवजी का स्नेह पत्नीभाव और भक्तिभाव दो प्रकार का था। पत्नीभाव से वियोग का दुःख नहीं हुआ; किन्तु भक्तिभाव से दुखी हुए, क्योंकि हरि-कीर्त्तन के सत्सङ्ग में बाधा पड़ गई। इससे प्रथम अर्थ जो किया गया है, वही ठीक है।

दो०—प्रथमहिँ कहि मैँ सिव चरित, बूझा मरम तुम्हार ।
सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त बिकार ॥१०४॥

इसी से पहले मैं ने शिवजी का चरित्र कह कर आप के भेद को समझ लिया। आप सम्पूर्ण दोषों से रहित रामचन्द्रजी के पवित्र सेवक हैं ॥१०४॥

चौ०—मैँ जाना तुम्हार गुन सीला । कहउँ सुनहु अब रघुपति-लीला ॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरे । कहि न जाइ जस सुख मन मोरे ॥१॥

मैं ने आप की गुणशीलता जान ली, अब रघुनाथजी की लीला कहता हूँ, सुनिए। हे मुनि! सुनिए, आप के सम्मिलन से आज मेरे मन में जो आनन्द हुआ है वह कहा नहीं जा सकता ॥१॥

रामचरित अति अमित मुनीसा । कहि न सकहिँ सतकोटि अहीसा ॥
तदपि जथा स्रुत कहउँ बखानी । सुमिरि गिरापति प्रभु धनु-पानी ॥२॥

हे मुनीश्वर ! रामचन्द्रजी का चरित्र अतिशय अनन्त है, उसको करोड़ों शेषनाग नहीं कह सकते । तो भी जैसा मैंने सुना है वैसा हाथ में धनुष लिए वाणी के स्वामी प्रभु रामचन्द्रजी को स्मरण कर के बखान कर कहूँगा ॥२॥

सारद दारु-नारि-सम स्वामी । राम-सूत्रधर अन्तरजामी ॥
जेहि पर कृपा करहिँ जन जानी । कबि-उर-अजिर नचावहिँ बानी ॥३॥

सरस्वती काठ की स्त्री (कठपुतली) के समान है और अन्तर्यामी स्वामी रामचन्द्रजी सूत्रधर (तागा पकड़ कर उसे नचानेवाले) हैं । जिसको अपना दास जान कर कृपा करते हैं उस के हृदय रूपी आँगन में वाणी को नचाते हैं ॥३॥

सरस्वती और कठपुतली, रामचन्द्र और सूत्रधर, कवि का हृदय और नाच का मैदान परस्पर उपमेय उपमान हैं । ऊपर प्रभु रामचन्द्रजी को गिरापति कह आये हैं युक्ति से उस अर्थ का समर्थन करने में 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा । बरनउँ बिषद तासु गुन गाथा ॥
परम रम्य गिरिबर कैलासू । सदा जहाँ सिव-उमा निवासू ॥४॥

उन्हीं कृपालु रघुनाथजी को मैं प्रणाम करता हूँ जिनके गुणों की निर्मल कथा कहता हूँ । पर्वतश्रेष्ठ कैलास अत्युत्तम रमणीय है जहाँ शिव-पार्वती सदा निवास करते हैं ॥४॥

दो०—सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर किन्नर मुनि बृन्द ।
बसहिँ तहाँ सुकृती सकल, सेवहिँ सिव सुखकन्द ॥१०५॥

वहाँ सिद्ध, तपस्वी, योगीजन, देवता, किन्नर और मुनियों के समूह सब पुण्यात्मा निवास करते हैं, वे सब आनन्द के मूल शिवजी की सेवा करते हैं ॥ १०५ ॥

चौ०—हरि-हर-बिमुख धरम रति नाहीँ । ते नर तहँ सपनेहुँ नहिँ जाहीँ ॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला । नित नूतन सुन्दर सब काला ॥१॥

जो विष्णु और शिवजी से विमुख हैं तथा जिनकी प्रीति धर्म में नहीं है, वे मनुष्य स्वप्न में भी वहाँ नहीं जाते । उस पर्वत पर विशाल बड़ का वृक्ष है जो सब समय नित्य नया सुहावना रहता है ॥ १ ॥

त्रिबिध समीर सुसीतल छाया । सिव-बिस्राम बिटप स्रुति गाया ॥
एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ । तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ ॥२॥

वेद कहते हैं कि तीनों प्रकार पवन की गति और सुन्दर शीतल छाँह शिवजी के विश्राम-वृक्ष के नीचे रहती है । प्रभु शङ्करजी एक बार उसके नीचे गये और वृक्ष को देख कर हृदय में बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

निज कर डासि नाग-रिपु-छाला । बैठे सहजहिँ सम्भु कृपाला ॥
कुन्द-इन्दु-दर गौर सरीरा । भुज-प्रलम्ब परिधन-मुनि-चीरा ॥३॥

अपने हाथ से सिंह-चर्म्म बिछा कर कृपालु शिवजी स्वभाव से ही बैठ गये । उनका शरीर कुन्द के फूल, चन्द्रमा और शङ्ख के समान उज्ज्वल है, भुजाएँ लम्बी हैं, मुनियों के वस्त्र धारण किये हैं ॥ ३ ॥

कुन्द, चन्द्र और शङ्ख इन तीनों उपमानों में भिन्न भिन्न आशय की मालोपमा है । कुन्द के समान कोमल, उज्ज्वल, चन्द्रमा के तुल्य श्वेत प्रकाशमान और शङ्ख के सदृश सफेद तथा कठिन ।

तरुन-अरुन-अम्बुज सम चरना । नख-दुति भगत-हृदय-तम-हरना ॥
भुजग-भूति-भूषन त्रिपुरारी । आनन सरद-चन्द-छबि हारी ॥४॥

नवीन खिले हुए लाल कमल के समान चरण हैं, नखों की ज्योति भक्तों के हृदय का अन्धकार (अज्ञान)हरनेवाली है । जो साँप और विभूति को आभूषण धारण किए हैं, वे त्रिपुर दैत्य के शत्रु हैं और उनके मुख की छवि शरदकाल के चन्द्रमा की शोभा को हरनेवाली है ॥४॥

दो०--जटा-मुकुट-सुरसरित सिर, लोचन नलिन बिसाल ।
नीलकंठ लावन्यनिधि, सोह बाल-बिधु-भाल ॥१०६॥

सिर पर जटाओं का मुकुट है उसमें गङ्गाजी विराजमान हैं, उनके कमल के समान विशाल नेत्र हैं, गला नीलेरङ्ग, सुन्दरता का स्थान है और मस्तक पर बाल (द्वितीया के) चन्द्रमा शोभायमान हैं ॥१०६॥

चौ०--बैठे सोह काम-रिपु कैसे । धरे सरीर सान्त-रस जैसे ॥
पारबतीभल अवसर जानी । गईं सम्भु पहिँ मातु भवानी ॥१॥

काम के बैरी बैठे हुए ऐसे शोभित हैं' जैसे शरीरधारी शान्त रस शोभायमान हो । माता भवानी, पार्वतीजी अच्छा समय जान कर शम्भु के पास गईं ॥१॥

जानि प्रिया आदर अति कीन्हा । बाम-भाग आसन हर दीन्हा ॥
बैठीं सिव समीप हरषाई । पूरब-जनम-कथा चित आई ॥२॥

प्यारी समझ कर बड़ा आदर किया और बाएँ भाग में शिवजी ने उन्हें आसन दिया । पार्वतीजी प्रसन्न होकर शिवजी के समीप बैठ गईं, उनके मन में पूर्व-जन्म की कथा की सुध हो आई ॥२॥

'हर' शब्द के श्लेष द्वारा कविजी एक गुप्त अर्थ प्रकट करते हैं कि सती के शरीर से जो वाम-भाग का आसन हर लिया था वह दिया 'विवृतोक्ति अलंकार' है ।

पति-हिय-हेतु अधिक मन मानी। बिहँसि उमा बोली मृदु बानी॥
कथा जो सकल-लोक-हितकारी। सोइ पूछन चह सैल-कुमारी॥३॥

स्वामी के हृदय में अपने ऊपर अधिक स्नेह मन में समझ कर पार्वतीजी हँस कर कोमल बानी बोलीं। जो समस्त लोकों की कल्याणकारिणी कथा है, वही पर्वती राज की कन्या पूछना चाहती हैं॥३॥

पर्वत परोपकारी होते हैं, तब पर्वत की कन्या का लोकोपकारिणी होना अर्थात् कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है। 'शैलकुमारी' संज्ञा साभिप्राय होने से परिकराङ्कुर की ध्वनि व्यञ्जित होती है। सभा की प्रति में 'अधिक अनुमानी' पाठ है।

बिस्वनाथ मम-नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद-पङ्कज-सेवा॥४॥

हे विश्वनाथ, मेरे स्वामी, त्रिपुर के वैरी! आप की महिमा तीनों लोकों में विख्यात है। चेतन, जड़, नाग, मनुष्य और देवता सब आप के चरण कमलों की सेवा करते हैं॥४॥

दो०—प्रभु समरथ सरबज्ञ सिव, सकल कला-गुन धाम।
जोग-ज्ञान-बैराग्य-निधि, प्रनत-कलपतरु नाम॥१०७॥

आप प्रभु, समर्थ, सर्वज्ञ, कल्याण-रूप, सम्पूर्ण कला (हुनर) और गुणों के स्थान हैं। योग, ज्ञान, वैराग्य के भण्डार और आपका नाम भक्तजनों के लिए कल्पवृक्ष है॥१०७॥

चौ०—जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज-दासी॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥१॥

हे सुख के राशि! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और सचमुच मुझे अपनी सेवकिन जानते हैं तो हे स्वामिन्! मेरी अज्ञानता को रघुनाथजी की नाना तरह की कथा कह कर दूर कीजिए वक्रोक्ति अलंकार॥१॥

जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्र-जनित-दुख सोई॥
ससि-भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥२॥

जिसका घर कल्पवृक्ष के नीचे हो, क्या वह दरिद्रता से उत्पन्न दुःख सहन कर सकता है? (कदापि नहीं) हे चन्द्रभूषण नाथ! ऐसा मन में विचार कर मेरी बुद्धि का भारी भ्रम दूर कीजिए॥२॥

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना॥३॥

हे प्रभो! जो सम्यकज्ञान के वक्ता मुनि हैं, वे रामचन्द्रजी को अनादिब्रह्म कहते हैं। शेष, सरस्वती, वेद और पुराण सब रघुनाथजी के गुणों का गान करते हैं॥३॥

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनङ्ग-अराती ॥
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई । की अज अगुन अलख-गति कोई ॥४॥

हे काम के शत्रु! फिर दिनरात आदर के साथ आपभी राम राम जपते हैं। वह राम वही अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र हैं कि कोई अप्रत्यक्ष, निर्गुण और अजन्मे (कभी शरीर न धारण करनेवाले) हैं ॥४॥

दो०—जौँ नृप-तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥१०८॥

यदि राजपुत्र हैं तो वे ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? जिनकी बुद्धि स्त्री के वियोग से बावली हुई थी, उनका चरित्र देख कर और महिमा सुन कर मेरी बुद्धि बड़े भ्रम में पड़ी है ॥१०८॥

चौ०—जौँ अनीह व्यापक बिभु कोऊ । कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥
अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू । जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू ॥१॥

यदि निस्पृह व्यापक ब्रह्म कोई दूसरा है तो हे नाथ! वह भी मुझे समझा कर कहिए। नासमझ जान कर मन में क्रोध न लाइये, जिस तरह मेरा अज्ञान मिटे वही कीजिए ॥१॥

मैं बन दीख राम प्रभुताई । अति-भय-बिकल न तुम्हहिँ सुनाई ॥
तदपि मलिन मन बोध न आवा । सो फल भली भाँति हम पावा ॥२॥

मैं ने रामचन्द्रजी की प्रभुता वनमें देखी, पर अत्यन्त भयसे व्याकुल होकर आपको नहीं सुनाया। तो भी मेरे पापी मन को ज्ञान न हुआ, उसका फल हमने भली भाँति पाया ॥२॥

अजहूँ कछु संसय मन मोरे । करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे ॥
प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा । नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥३॥

अब भी मेरे मन में कुछ सन्देह है, मैं हाथ जोड़ कर विनती करती हूँ, कृपा कीजिए। तब स्वामी ने मुझे बहुत तरह से समझाया था, हे नाथ! वह समझ कर क्रोध न कीजिए ॥३॥

तब कर अस बिमोह अब नाहीँ । राम-कथा पर रुचि मन माहीँ ॥
कहहु पुनीत राम-गुन-गाथा । भुजगराज-भूषन सुर-नाथा ॥ ४ ॥

तब के ऐसा अज्ञान अब नहीं है, मन में रामकथा में रुचि है। हे शेषनाग के भूषण धारण करनेवाले देवताओं के मालिक! रामचन्द्रजी के पवित्र गुणों की कथा कहिए ॥४॥

दो०—बन्दउँ पद धरि धरनि सिर, बिनय करउँ कर जोरि ।
बरनहु रघुबर-बिसद-जस, स्रुति-सिद्धान्त निचोरि ॥१०९॥

मैं धरती पर मस्तक रख आप के चरणों की वन्दना कर हाथ जोड़ बिनती करती हूँ। वेद का सिद्धान्त निचोड़ कर रघुनाथजी का निर्मल यश वर्णन कीजिए ॥१०९॥

चौ०—जदपि जोषिता अनअधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥
गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिँ। आरत अधिकारी जहँ पावहिँ॥१॥

यद्यपि स्त्रियाँ अनधिकारिणी हैं, तो भी मैं मन, कर्म और वचन से आपकी दासी हूँ। सज्जन लोग छिपी हुई वास्तविकता (सारवस्तु) को नहीं छिपाते, जहाँ वे आतुर अधिकारी पाते हैं॥१॥

सभा की प्रति में 'नहिँ अधिकारी' पाठ है।

अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन-ब्रह्म सगुन-बपु-धारी॥२॥

हे देवराज! मैं बड़ी दीनता से पूछती हूँ, दया कर के रघुनाथजी की कथा कहिए। पहिले वह कारण विचार कर वर्णन कीजिए कि निर्गुण ब्रह्म शरीर धारण कर सगुण कैसे हुए?॥२॥

पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा॥
कहहु जथा जानकी बिबाही। राज तजा सो दूषन काही॥३॥

हे प्रभो! फिर रामचन्द्रजी का जन्म कहिए, फिर श्रेष्ठ बाललीला वर्णन कीजिए। जिस प्रकार जानकी से विवाह हुआ वह कहिए और राज्यत्याग किया वह किसका दोष है?॥३॥

बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥
राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु सङ्कर सुभ-सीला॥४॥

वन में रह कर अपार चरित्र किए, हे नाथ! जिस तरह रावण को मारा, वह कहिए। राज्य पर बैठ कर बहुत प्रकार की लीलाएँ कीं, हे सुख के निधान शङ्करजी! ये सब कहिए॥४॥

दो०—बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंस-मनि, किमि गवने निज-धाम॥११०॥

हे दयानिधे! फिर रघुकुल-भूषण रामचन्द्रजी ने जो आश्चर्य किया वह कहिए कि प्रजाओं के सहित अपने धाम (वैकुण्ठ) को कैसे गये?॥११०॥

चौ०—पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥१॥

हे प्रभो! फिर उस यथार्थता को बखान कर कहिए जिस विशेषज्ञान में ज्ञानी मुनि मग्न रहते हैं। फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य सब को अलग अलग वर्णन कीजिए॥१॥

अउरउ राम-रहस्य अनेका । कहहु नाथ अति बिमल बिबेका ॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई । सोउ दयाल राखहु जनि गोई ॥२॥

और भी रामचन्द्रजी के अनेक रहस्य (छिपी हुई लीला) हैं, हे नाथ ! आप अतिशय निर्मल ज्ञानवाले हैं, उन्हें कहिए । हे दयालु प्रभो ! जो मैं ने न पूछा हो, उसे भी छिपा न रखिए (वर्णन कीजिये) ॥ २ ॥

पार्वतीजी ने चौदह प्रश्न किये, वे क्रमशः ये हैं । (१) दया कर के रघुनाथजी की कथा कहिए । (२) निर्गुण ब्रह्म शरीरधारी सगुण कैसे हुए ? (३) राम अवतार । (४) बाललीला । (५) जानकी को कैसे विवाहा । (६) राज्य किसके दोष से तजा (७) वन में अनेक लीलाएँ कीं । (८) जैसे रावण को मारा । (९) राज्य पर बैठ कर बहुतेरी लीलाएँ की । (१०) प्रजा सहित कैसे स्वधाम गये । (११) ज्ञानी मुनि किस तत्वज्ञान में डूबे रहते हैं । (१२) भक्ति, ज्ञान, विज्ञान वैराग्य कहिए । (१३) और भी रामचन्द्रजी की गुप्तलीलाएँ । (१४) जो मैं ने न पूछा हो वह भी छिपा न रखिए, कहिये ।

तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना । आन जीव पाँवर का जाना ॥
प्रस्न उमा कै सहज सुहाई । छल बिहीन सुनि सिव मन भाई ॥३॥

आप को वेद तीनों लोकों का गुरु बखानते हैं, आप के समान दूसरे नीच जीव क्या जान सकते हैं । पार्वती के सरल सुन्दर छल-रहित प्रश्न सुन कर शिवजी के मन में अच्छे लगे ॥३॥ 'प्रश्न' शब्द को सर्वत्र गोसाँईजी ने स्त्रीलिङ्ग मान कर प्रयोग किया है ।

हर हिय राम-चरित सब आये । प्रेम पुलक लोचन जल छाये ॥
श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा । परमानन्द अमित सुख पावा ॥४॥

शिवजी के हृदय में सब रामचन्द्रजी के चरित्रों का स्मरण हो आया, शरीर प्रेम से पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आये । श्रीरघुनाथजी का रूप हृदय में आया जिससे वे अत्युत्तम अपार आनन्द को प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

दो०—मगन ध्यान-रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह ।
रघुपति-चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह ॥१११॥

दो घड़ी पर्य्यन्त ध्यान के आनन्द में मग्न रहे, फिर मन को (ध्यान से) बाहर किया । तब प्रसन्न होकर शिवजी रघुनाथजी का चरित्र वर्णन करने लगे ॥ १११ ॥

चौ०—झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजङ्ग बिनु रजु पहिचाने ॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥१॥

जिनके बिना जाने झूठ (संसार) भी ऐसा सच मालूम होता है, जैसे बिना पहचाने रस्सी में साँप की भ्रान्ति होती है । जिनके जान लेने पर संसार इस तरह खो जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम (बिना किसी यत्न के आप ही आप) दूर होजाता है ॥ १ ॥

बन्दउँ बाल-रूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मङ्गल-भवन अमङ्गल-हारी । द्रवउ सो दसरथ अजिर-बिहारी ॥२॥

मैं उन बालक-रूप रामचन्द्रजी को प्रणाम करता हूँ, जिनका नाम जपने से सब सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। मङ्गल के स्थान, अमङ्गल के हरनेवाले और महाराज दशरथ के आँगन में विहार करनेवाले, वे ईश्वर मुझ पर प्रसन्न हों ॥ २ ॥

करि प्रनाम रामहिँ त्रिपुरारी । हरषि सुधा सम गिरा उचारी ॥
धन्य धन्य गिरिराज-कुमारी । तुम्ह समान नहिँ कोउ उपकारी ॥३॥

रामचन्द्रजी को प्रणाम करके शङ्करजी हर्षित होकर अमृत के समान (मधुर) वाणी बोले। हे पर्वतराज की कन्या! धन्य हो, धन्य हो, तुम्हारे समान कोई परोपकारी नहीं है ॥३॥

पूछेहु रघुपति-कथा प्रसङ्गा । सकल-लोक जग-पावनि गङ्गा ॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी । कीन्हिहु प्रस्न जगत-हित लागी ॥४॥

तुमने रघुनाथजी की कथा के सम्बन्ध में पूछा, जो जगत् में सब लोगों को पवित्र करने के लिये गङ्गा है। तुम रघुवीर के चरणों की प्रेमी हो, संसार की भलाई के लिए प्रश्न किया है ॥४॥

दो०—रामकृपा तें पारबति, सपनेहुँ तव मन माहिँ ।
सोक मोह सन्देह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिँ ॥११२॥

हे पार्वती! रामचन्द्रजी की कृपा से तुम्हारे मन में मेरे विचार से शोक, मोह, सन्देह, भ्रम कुछ स्वप्न में भी नहीं है ॥११२॥

गुटका में 'राम कृपा ते हिमसुता' पाठ है, पर वह ठीक नहीं है। हिमगिरिसुता शुद्ध है न कि हिमसुता।

चौ०—तदपि असङ्का कीन्हिहु सोई । कहत सुनत सब कर हित होई ॥
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिँ काना । स्रवन-रन्ध्र अहि-भवन समाना ॥१॥

तो भी वह बिना सन्देह का सन्देह तुमने किया, जिससे कहने सुनने में सब की भलाई होगी। जिन्होंने भगवान् की कथा कान से नहीं सुनी, उनके कान के छेद साँप के बिल के समान हैं ॥ १ ॥

नयनन्हि सन्त दरस नहिँ देखा । लोचन मोर-पङ्ख कर लेखा ॥
ते सिर कटु-तूँबरि समतूला । जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ॥२॥

सन्तों को देख कर जिन आँखों ने अवलोकन नहीं किया, उन नेत्रों की गिनती मुरैले के पङ्ख की है। वे सिर तितलौकी के समान हैं, जो हरि और गुरु के चरणों में नमित नहीं होते ॥ २ ॥

जिन्ह हरिभगति हृदय नहिँ आनी। जीवत सव समान ते प्रानी॥
जो नहिँ करइ राम-गुन-गाना। जीह सो दादुर-जीह समाना॥३॥

जिन्होंने हृदय में भगवान् की भक्ति नहीं ले आई, वे प्राणी मुर्दे के समान जीते हैं। जो रामचन्द्रजी के गुणों का गान नहीं करती, वह जीभ मेढक की जिह्वा (शून्य) के बराबर है॥३॥

कुलिस-कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि-चरित न जो हरषाती॥
गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर-हित दनुज-बिमोहन-सीला॥४॥

वह छाती वज्र के समान कठोर और निर्दयी है जो भगवान् का चरित्र सुन कर हर्षित न होती हो। हे गिरिजा! सुनो, रामचन्द्रजी की लीला देवताओं का कल्याण करनेवाली और दैत्यों को अधिक अज्ञान में डालनेवाली है॥४॥

एक ही 'रामलीला' का देवों की हितकारिणी और दैत्यों की अहितकारिणी होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

दो०—रामकथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख-दानि।
सतसमाज सुरलोक सब, को न सुनइ अस जानि॥११३॥

रामचन्द्रजी की कथा कामधेनु के समान सेवा करने से सब को सुख देनेवाली है। सब सज्जन-मण्डली देवलोक है, (जहाँ पर वह कामधेनु निवास करती है) ऐसा जान कर कौन न सुनेगा? (सभी श्रवण करेंगे)॥११३॥

चौ०—रामकथा सुन्दर करतारी। संसय-बिहग उड़ावनिहारी॥
रामकथा कलि-बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराज-कुमारी॥१॥

सन्देह रूपी पक्षी को उड़ाने के लिए रामचन्द्रजी की कथा सुन्दर हाथ की ताली है। हे पर्वतराज की कन्या! आदर-पूर्वक सुनो, कलिरूपी वृक्ष को काटने के लिए रामकथा कुल्हाड़ी है॥१॥

राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित स्रुति गाये॥
जथा अनन्त राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥२॥

रामचन्द्रजी के सुन्दर नाम, गुण, चरित्र, जन्म और कर्म अनेक प्रकार श्रुतियों ने गान किया है। जिस तरह भगवान् रामचन्द्रजी अनन्त हैं, उसी तरह उनकी कथा, नामवरी और गुण अपार हैं॥२॥

तदपि जथा-स्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥
उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद सन्त सम्मत मोहि भाई॥३॥

तो भी जैसा सुना है और जैसी मेरी बुद्धि है तदनुसार तुम्हारी अतिशय प्रीति देख कर कहूँगा। हे उमा! तुम्हारे प्रश्न सहज सुहावने, सन्त-सम्मत, सुखदायक और मुझे प्रिय लगनेवाले हैं॥३॥

'प्रश्न' शब्द स्त्रीलिङ्ग मान कर मूल में प्रयोग हुआ है। जैसा कि पीछे १११ वें दोहे के ऊपर (पहले) वाली चौपाई में है।

एक बात नहिँ मोहि सुहानी । जदपि मोह-बस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि स्रुति गाव धरहिँ मुनि ध्याना ॥४॥

हे भवानी ! एक बात मुझे अच्छी नहीँ लगी, यद्यपि तुमने अज्ञान के वश होकर कही है। जो यह कहा कि जिनको वेद गाते हैं और, मुनि ध्यान धरते हैं, वे रामचन्द्र कोई दूसरे हैं ॥ ४ ॥

पहले शिवजी कह आये हैं कि—हे पार्वती ! मेरे विचार से तुम्हारे मन में शोक, मोह, सन्देह, भ्रम कुछ नहीं है और तुम्हारे प्रश्न सुखदायक, सुहावने, सन्त-सम्मत, मुझे प्रिय लगनेवाले हैं। फिर अपनी ही कही हुई बात को समझ कर निषेध करते हुए दूसरी बात कहना कि मोहवश ऐसा कहती हो यह कहनूत मुझे प्रिय नहीं लगी 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

दो०—कहहिँ सुनहिँ अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच ।
पाखंडी हरि-पद-बिमुख, जानहिँ झूठ न साँच ॥११४॥

जो अधम मनुष्य अज्ञान रूपी पिशाच से ग्रसित हैं ऐसा वेही कहते और सुनते हैं। भगवान् के पद से विमुख, पाखण्डी जो झूठ सच जानते ही नहीं ॥ ११४ ॥

चौ०—अज्ञ अकोबिद अन्ध अभागी । काई बिषय मुकुर-मन लागी ॥
लम्पट कपटी कुटिल बिसेखी । सपनेहुँ सन्त-सभा नहिँ देखी ॥१॥

अज्ञानी, मूर्ख, अन्धे और भाग्यहीन जिनके मन रूपी दर्पण में विषय रूपी काई (मैल) लगी है। व्यभिचारी, धोखेबाज़ और बड़े ही दुष्ट हैं, जिन्होंने स्वप्न में भी सन्तों की सभा नहीं देखी ॥ १ ॥

कहहिँ ते बेद असम्मत बानी । जिन्हहिँ न सूझ लाभ नहिँ हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । राम-रूप देखहिँ किमि दीना ॥२॥

वे वेद-विरुद्ध बातें कहते हैं जिनको न लाभ सूझता है न हानि। दर्पण मैला और आँख से रहित (अन्धे) हैं वे ग़रीब रामचन्द्रजी के रूप को कैसे देख सकते हैं ? ॥ २ ॥

जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका । जल्पहिँ कल्पित बचन अनेका ॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीँ । तिन्हहिँ कहत कछु अघटित नाहीँ ॥३॥

जिनको निर्गुण और सगुण का ज्ञान नहीं है, जो अनेक तरह की बनावटी बातें बकते हैं; भगवान् की माया के अधीन होकर संसार में भ्रमते हैं, उन्हें कुछ भी कहना असम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

बातुल भूत-बिबस मतवारे । ते नहिँ बोलहिँ बचन बिचारे ॥
जिन्ह कृत महा-मोह-मद पाना । तिन्ह कर कहा करिय नहिँ काना ॥४॥

जो बकवादी प्रेत के अधीन होकर मतवाले हुए हैं वे विचार कर वचन नहीं बोलते। जिन्होंने महामोह रूपी मदिरा का पान किया है, उनके (भव्याभव्य) कहने पर कान न करना चाहिए ॥ ४ ॥

वाक्यार्थ में असत् की एकता 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

सो०—अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु राम-पद ।
सुनु गिरिराज-कुमारि, भ्रम-तम रबि-कर-बचन-मम ॥११५॥

ऐसा अपने मन में विचार कर सन्देह त्याग दो और रामचन्द्रजी के चरणों को भजो। हे पर्वतराज की कन्या! सुनो, भ्रमरूपी अन्धकार के लिए मेरे वचन सूर्य्य के किरण रूप हैं ॥ ११५ ॥

चौ०—सगुनहिँ अगुनहिँ नहिँ कछु भेदा । गावहिँ मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥१॥

सगुण में और निर्गुण में कुछ भेद नहीं है, मुनि, पुराण, पण्डित और वेद ऐसा कहते हैं। जो निर्गुण, बिना रूप का, अप्रत्यक्ष और अजन्मा है, वही भक्तों की प्रीति के वश सगुण होता है ॥ १ ॥

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जल-हिम-उपल बिलग नहिँ जैसे ॥
जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतङ्गा । तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसङ्गा ॥२॥

जो निर्गुण है वह कैसे सगुण होता है जैसे पानी, पाला और ओला भिन्न नहीं है। जिनका नाम भ्रमरूपी अन्धकार के लिए सूर्य्य है, उनके विषय में मोह (अज्ञान) की बातें कैसे कही जा सकती हैं ? ॥ २ ॥

जो निर्गुण है वह सगुण होता है। इस साधारण बात की विशेष से समता दिखाना कि जैसे पानी से पाला और बिनौरी पृथक् नहीं, कारण से रूपान्तर हो जाते हैं 'उदाहरण अलंकार' है।

राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिँ तहँ मोह-निसा-लवलेसा ॥
सहज प्रकास-रूप भगवाना । नहिँ तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी परब्रह्म सूर्य्य रूप हैं, वहाँ अज्ञान रूपी रात्रि का लेशमात्र भी नहीं है। भगवान् सहज ही प्रकाश रूप हैं, फिर वहाँ तो ज्ञान का सवेरा होता ही नहीं (सदा मध्याह्न-काल बना रहता है) ॥ ३ ॥

जैसे सूर्य्य के समीप रात्रि नहीं जा सकती, वैसे ही रामचन्द्रजी के निकट मोह का पसार नहीं हो सकता।

हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना । जीव-धरम अहमित अभिमाना ॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना । परमानन्द परेस पुराना ॥ ४ ॥

हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहमत्व और घमण्ड जीव का धर्म है। रामचन्द्रजी व्यापक-ब्रह्म, परम आनन्द रूप, सब के स्वामी, पुराण-पुरुष हैं इसको जगत जानता है ॥४॥

'जग जाना' शब्द में लक्षित लक्षणा है; क्योंकि जग जड़ पदार्थ है वह क्या जानेगा, इससे जगत के लोगों की लक्षणा है।

दो०—पुरुष-प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रगट परावर-नाथ ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ ॥११६॥

जो प्रसिद्ध-पुरुष, प्रकाश के स्थान, जड़ चेतन के स्वामी, रघुकुल के रत्न रूप प्रकट हुए, वे ही मेरे इष्टदेव हैं, ऐसा कह कर शिवजी ने मस्तक नवाया ॥११६॥

परावर शब्द का अर्थ है, परब्रह्म इन्द्रादिक से लेकर, अवर-अस्मदादि हम लोगों पर्यन्त अर्थात् जड़ चेतन।

चौ०—निज भ्रम नहिँ समुझहिँ अज्ञानी । प्रभु पर मोह धरहिँ जड़ प्रानी ॥
जथा गगन घन-पटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिँ कुबिचारी ॥१॥

अज्ञानी मनुष्य अपना भ्रम नहीं समझते, वे जड़ प्राणी ईश्वर पर मोह का आरोपण करते हैं। जैसे आकाश में बादलों का आवरण (पर्दा) देख छोटी समझ के लोग कहते हैं कि सूर्य्य ढँक गये ॥१॥

चितव जो लोचन अङ्गुलि लाये । प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये ॥
उमा राम-बिषयक अस मोहा । नभ तम-धूम-धूरि जिमि सोहा ॥२॥

जो आँख में उँगली लगाकर देखता है उसकी समझ में दो चन्द्रमा प्रत्यक्ष मालूम होते हैं। हे उमा! रामचन्द्रजी के विषय का मोह ऐसा है, जैसे आकाश में अन्धकार, धुआँ और धूल सोहते हैं ॥२॥

रामचन्द्रजी के सम्बन्ध में मोह की बातें बिल्कुल मिथ्या हैं, इस बात की विशेष से समता दिखाना कि जैसे आकाश में धूल, धुआँ और अन्धकार अर्थात् आकाश निर्लेप है। धूल धरती का विकार, धुआँ अग्नि का और तम सूर्य्य के अदृश्य होने का विकार है। कारण पाकर ये आकाश में फैलते और स्वयम् विलीन होते हैं। आकाश इनके दोषों से सर्वथा अलग है, वह ज्यों का त्यों निर्मल बना रहता 'उदाहरण अलङ्कार' है।

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तेँ एक सचेता ॥
सब कर परम-प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥ ३ ॥

विषय से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से देवता और देवताओं से जीवात्मा सब एक से दूसरे सजग (चौकन्ने) हैं। जो सब के परम प्रकाशक (चेतन करने वाले) हैं, वेही अयोध्या के राजा रामचन्द्रजी हैं ॥३॥

इन्द्रियों की व्याख्या उत्तरकांड में ११७ दोहा के अनन्तर छठीं चौपाई के नीचे देखो।

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू ॥
जासु सत्यता तेँ जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥ ४ ॥

जगत् प्रकाश्य है और माया के स्वामी, ज्ञानगुण के धाम रामचंद्रजी प्रकाशक हैं। जिनकी सचाई से मोह की सहायता पा कर अचेतन माया सत्य के समान भासित होती है ॥४॥

प्रकाश—घाम और प्रकाशक—सूर्य्य । रामचन्द्रजी सूर्य्य के समान हैं और संसार धूप के समान है। इसमें दृष्टान्तोपमा का भाव है।

दो०—रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु-कर-वारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल सो, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥११७॥

जैसे सीपी में चाँदी की और सूर्य्य की किरणों में पानी की झलक, यद्यपि तीनों काल में झूठ है तथापि उस भ्रम को कोई हटा नहीं सकता (देखनेवालों को भ्रम हो ही जाता है) ॥११७॥

चौ०—एहि बिधि जग हरि आस्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौँ सपने सिर काटइ कोई । बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥१॥

इस तरह संसार भगवान् के सहारे अवस्थित हैं, यद्यपि है झूठ, पर दुःख देता है। यदि स्वप्न में कोई सिर काट ले तो विना जागे वह दुःख दूर नहीं होता ॥१॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि अन्त कोउ जासु न पावा, । मति अनुमान निगम अस गावा ॥२॥

हे गिरिजा! जिनकी कृपा से यह भ्रम मिट जाता है, वेही कृपालु रघुनाथ जी हैं। जिनके आदि अन्त को किसी ने नहीं जान पाया, अपनी बुद्धि से अनुमान कर वेद ऐसा गाते हैं ॥२॥

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल-रस-भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥३॥

वह विना पाँव के चलता है, विना कान के सुनता है और विना हाथ के नाना तरह के कर्म करता है। मुख नहीं है पर सम्पूर्ण रसों को भोगता है और विना वाणी के बड़ा योग्य बोलनेवाला है ॥३॥

तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ।
असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिँ बरनी ॥४॥

विना शरीर के स्पर्श करता है, विना नेत्र के देखता है और विना नाक के अपार सुगन्ध लेता है। सब प्रकार की अलौकिक ऐसी करनी है, जिसकी महिमा वर्णन नहीं की जा सकती ॥४॥

कारण के न रहते कार्य का सिद्ध होना अर्थात् विना पाँव के चलना, विना कान के सुनना, विना नाक के गन्ध लेना, विना शरीर के छूना, विना मुख के रसों का स्वाद लेना, बिना जीभ के बोलना आदि 'प्रथम विभावना अलंकार' है।

दो०—जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ-सुत भगत-हित, कोसलपति-भगवान ॥११८॥

जिनको वेद और विद्वान् इस तरह कहते हैं और जिनका ध्यान मुनि लोग धरते हैं; वेही दशरथ के पुत्र, भक्तों के हितकारी, अयोध्या के राजा भगवान् हैं ॥११८॥

चौ०—कासी मरत जन्तु अवलोकी । जासु नाम बल करउँ बिसोकी ॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अन्तरजामी ॥१॥

काशी में जीवों को मरते देख कर जिनके नाम के बल से मैं उन्हें शोक रहित कर देता हूँ। वेही, जड़चेतन के स्वामी, सब के हृदय की बात जाननेवाले प्रभु रघुनाथजी हैं ॥१॥

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव-बारिधि गो-पद इव तरहीं ॥२॥

जिनका नाम बेवसी में भी मनुष्य कहते हैं, उनके अनेक जन्म के किए पाप जल जाते हैं। जो नर आदर-पूर्वक स्मरण करते हैं, वे संसार रूपी समुद्र को गाय के खुर के समान पार कर जाते हैं ॥२॥

राम सो परमातमा भवानी । तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥
अस संसय आनत उर माहीं । ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥३॥

हे भवानी! वेही परमात्मा रामचन्द्रजी हैं, उनके विषय में तुम्हारे भ्रम के बचन बहुत ही अनुचित हैं। ऐसा सन्देह मन में लाते ही ज्ञान, वैराग्य और सम्पूर्ण गुण भाग जाते हैं ॥ ३ ॥

सुनि सिव के भ्रम-भञ्जन-बचना । मिटि गइ सब कुतरक कै रचना ।
भइ रघुपति-पद प्रीति प्रतीती । दारुन असम्भावना बीती ॥ ४ ॥

शिवजी के भ्रम-नाशक बचनों को सुन कर सब कुतर्कों की सृष्टि मिट गई। रघुनाथजी के चरणों में विश्वास एवम् प्रीति हुई और भीषण अनहोनापन (रामचन्द्र ईश्वर हैं या नहीं ऐसा कुतर्क मन से) जाता रहा ॥४॥

दो०—पुनि पुनि प्रभु-पद कमल गहि, जोरि पङ्करुह पानि ।
बोली गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेम रस सानि ॥ ११९ ॥

बार बार स्वामी के चरण-कमलों को पकड़ कर और कर-कमलों को जोड़ कर पार्वतीजी प्रेम-रस में सनी हुई सुन्दर वाणी बोलीं ॥११९॥

पार्वतीजी के हृदय में ईश्वर (रामचन्द्रजी) विषयक रति स्थायीभाव है। रघुनाथजी की अलौकिक शक्ति, महिमा, गुण, स्वभावादि सुन कर उद्दीपित हो, मति, हर्षादि सञ्चारी भावों द्वारा बढ़ कर हरिकथा सुनने के लिए बार बार स्वामी के पाँव पड़ना, हाथ जोड़ना अनुभावों द्वारा व्यक्त हुआ है।

चौ०—ससि-कर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ॥
तुम्ह कृपाल मम संसय हरेऊ । राम-सरूप जानि मोहि परेऊ ॥१॥

चन्द्रमा की किरणों के समान आप की वाणी को सुन कर मेरा अज्ञान रूपी शरदऋतु का भारी ताप मिट गया । हे कृपालु ! आपने मेरे सन्देह को हर लिया, अब मुझे रामचन्द्रजी का यथार्थ रूप जान पड़ा ॥१॥

नाथ कृपा अब गयउ विषादा । सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा ॥
अब मोहि आपनि किङ्करि जानी । जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥२॥

हे नाथ ! अब आप की कृपा से मेरा खेद जाता रहा, मैं स्वामी के चरणों के प्रसाद से सुखी हुई । अब मुझको अपनी दासी जान कर (दया कीजिए) यद्यपि स्त्री सहज ही मूर्ख और नासमझ होती हैं ॥२॥

पार्वतीजी अपनी लघुता प्रकट कर स्वामी की कृपा सम्पादित करना चाहती हैं । यह विवक्षित वाच्य ध्वनि है ।

प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू । जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू ॥
राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी । सर्ब रहित सब उर-पुर वासी ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो पहले जो मैं ने पूछा है उसे कहिए । रामचन्द्रजी तो ब्रह्म, ज्ञानमय, अविनासी, सब से अलग और सब के हृदय रूपी नगर में निवास करनेवाले हैं ॥३॥

नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू । मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू ॥
उमा वचन सुनि परम बिनीता । राम कथा पर प्रीति पुनीता ॥४॥

हे नाथ ! आप धर्म के पताका हैं, मुझे समझा कर कहिए कि उन्होंने किस कारण मनुष्य का शरीर धारण किया ? इस तरह अत्यन्त नम्र वचन पार्वतीजी के सुन कर शिवजी ने जान लिया कि इनकी रामचन्द्रजी की कथा पर पवित्र प्रीति है ॥४॥

दो०—हिय हरषे कामारि तब, सङ्कर सहज सुजान ।
बहु विधि उमहिँ प्रसंसि पुनि, बोले कृपानिधान ॥

तब सहज सुजान कामदेव के वैरी शङ्करजी हृदय में प्रसन्न हुए । कृपानिधान शिवजी बहुत तरह पार्वतीजी की बड़ाई कर के फिर बोले ।

सो०—सुनु सुभ-कथा भवानि, रामचरितमानस विमल ।
कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहग-नायक गरुड़ ॥

हे भवानी ! तुम कल्याणकारी रामचरितमानस की निर्मल कथा सुनो (इस कथा को) काकभुशुण्ड ने बखान कर कहा और पक्षिराज गरुड़ ने सुना था ।

शिव-पार्वती सम्वाद।

हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु॥

बेलवेडियर प्रेस प्रयाग।

पृष्ठ. १२१।

सो सम्बाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब ।
सुनहु राम अवतार, चरित परम सुन्दर अनघ ॥

वह श्रेष्ठ सम्बाद जिस तरह हुआ वह मैं आगे कहूँगा। पहले रामचन्द्रजी के जन्म का अत्यन्त सुन्दर पवित्र चरित्र सुनो।

हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित ।
मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु ॥१२०॥

भगवान् के गुण और नाम अपार हैं, उनकी कथा का रूप अपरिमित और अनन्त है। हे उमा! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ, तुम आदर-पूर्वक सुनो ॥१२०॥

चौ०—सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये । बिपुल बिसद निगमागम गाये ॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥१॥

हे गिरिजा! सुनो, भगवान् के सुन्दर विशाल निर्मल चरित्र वेद और शास्त्रों ने गान किया है। ईश्वर का अवतार जिस कारण से होता है, वह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा ही है। अर्थात् असंख्यों कारण एकत्र होने पर परमात्मा का अवतार होता है ॥१॥

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहिं सयानी ॥
तदपि सन्त मुनि बेद पुराना । जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना ॥२॥

हे सयानी! सुनो, हमारा सिद्धान्त तो यह है कि बुद्धि, मन और वाणी से रामचन्द्रजी तर्कना करने योग्य नहीं हैं। तो भी सन्त, मुनि, वेद और पुराणों ने जैसा कुछ अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार कहे हैं ॥२॥

तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही । समुझि परइ जस कारन मोही ॥
जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़इ असुर अधम अभिमानी ॥३॥

हे सुमुखी! जैसा कारण मुझे समझ पड़ता है, वैसा मैं तुमको सुनाता हूँ। जब जब धर्म की हानि होती है और पापी घमण्डी दैत्य बढ़ते हैं ॥३॥

करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र-धेनु-सुर-धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥४॥

वे अनीति करते हैं जो कही नहीं जा सकती, ब्राह्मण, गैया, पृथ्वी, और देवता दुखी होते हैं। तब तब कृपानिधान प्रभु रामचन्द्रजी नाना प्रकार के शरीर धारण करके सज्जनों की पीड़ा हरते हैं ॥४॥

दो०—असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज-स्रुति-सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम-जनम कर हेतु ॥१२१॥

दैत्यों को मार कर देवताओं को स्थापन कर प्रधानतः वेद की मर्य्यादा की रक्षा करते हैं। जगत् में अपना निर्मल यश फैलाते हैं, रामचन्द्रजी के जन्म का कारण यही है ॥१२१॥

चौ०—सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिन्धु जन-हित तनु धरहीं ॥
राम-जनम के हेतु अनेका । परम बिचित्र एक तें एका ॥१॥

वही यश गान कर भक्त लोग संसार से पार पाते हैं, कृपासिन्धु भक्तों ही के लिए शरीर धरते हैं। रामचन्द्रजी के जन्म के अनेक कारण हैं, उनमें एक से एक अत्यन्त विलक्षण हैं ॥ १ ॥

जनम एक दुइ कहउँ बखानी । सावधान सुनु सुमति भवानी ॥
द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ । जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥२॥

हे सुन्दर बुद्धिवाली भवानी ! सावधानी से सुनो, मैं एक और दो (तीन) जन्म का कारण बखान कर कहता हूँ। जय और विजय को सब कोई जानते हैं कि ये दोनों भगवान् के प्रिय द्वारपाल (दरबान) हैं ॥ २ ॥

बिप्र साप तें दूनउँ भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥
कनककसिपु अरु हाटकलोचन । जगत बिदित सुरपति मद-मोचन ॥३॥

ब्राह्मण के शाप से उन दोनों भाइयों ने दैत्य का तामसी शरीर पाया। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष इन्द्र के गर्व को छुड़ानेवाले जगत्प्रसिद्ध योद्धा थे ॥ ३ ॥

बिजई समर बीर बिख्याता । धरि बराह बपु एक निपाता ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा । जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा ॥४॥

एक (हिरण्याक्ष) युद्ध-विजयी प्रसिद्ध योद्धा को शूकर का शरीर धर कर नाश किया। फिर दूसरे (हिरण्यकशिपु) को नृसिंह होकर मारा और भक्त प्रह्लाद का सुन्दर यश फैलाया ॥ ४ ॥

भक्त प्रह्लाद की कथा इसी काण्ड में २५ वें दोहे के आगे दूसरी चौपाई के नीचे और ७८ वें दोहे के आगे प्रथम चौपाई के नीचे देखो।

दो०—भये निसाचर जाइ तेइ, महाबीर बलवान ।
कुम्भकरन रावन, सुभट, सुर-बिजई जग जान ॥१२२॥

वे ही जा कर बड़े बलवान् योद्धा राक्षस हुए, देवताओं को जीतनेवाले शूरवीर कुम्भकर्ण और रावण को संसार जानता है ॥ १२२ ॥

चौ०—मुकुत न भये हते भगवाना । तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना ॥
एक बार तिन्ह के हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥१॥

भगवान् के मारने पर भी मुक्त नहीं हुए, क्योंकि ब्राह्मण के वचन का प्रमाण (शाप) तीन जन्म के लिए था। एक बार उनके कल्याण के लिए भक्तों पर प्रेम करनेवाले हरि ने शरीर धारण किया ॥ १ ॥

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता । दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥
एक कलप एहि बिधि अवतारा । चरित पवित्र किये संसारा ॥ २ ॥

कश्यप और अदिति वहाँ पिता-माता दशरथ और कौसल्या के नाम से प्रसिद्ध थे। एक कल्प में इस प्रकार जन्म ले कर अपने चरित्र से संसार को पवित्र किया ॥ २ ॥

एक कलप सुर देखि दुखारे । समर जलन्धर सन सब हारे ॥
सम्भु कीन्ह सङ्ग्राम अपारा । दनुज महाबल मरइ न मारा ॥ ३ ॥

एक कल्प में जलन्धर दैत्य से सब देवता युद्ध में हार गये, उनको दुखी देख कर याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—शिवजी ने घोर संग्राम किया, पर वह महाबली दैत्य मारे नहीं मरा ॥३॥

परम-सती असुराधिप-नारी । तेहि बल ताहि न जितहिँ पुरारी ॥४॥

दैत्येश्वर की स्त्री परम सती (पतिव्रता) थी, उसके बल से शिवजी जलन्धर को नहीं जीत सकते थे ॥४॥

दो०—छल करि टारेउ तासु ब्रत, प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेइँ जानेउँ मरम तब, साप कोप करि दीन्ह ॥ १२३ ॥

प्रभु ने छल कर के उसकी स्त्री (वृन्दा) का पतिव्रत-धर्म भङ्ग कर देवताओं का कार्य्य किया। जब उसने यह भेद जान लिया, तब क्रोध कर के शाप दिया ॥ १२३ ॥

चौ०—तासु साप हरि कीन्ह प्रवाना । कौतुक-निधि कृपाल भगवाना ॥
तहाँ जलन्धर रावन भयऊ । रन हति राम परम-पद दयऊ ॥१॥

उसके शाप को कौतुकनिधान कृपालु हरि भगवान् ने सत्य किया। वहाँ जलन्धर रावण हुआ, रामचन्द्रजी ने रण में वध कर के उसको परम पद दिया ॥ १ ॥

एक जनम कर कारन एहा । जेहि लगि राम धरी नर-देहा ॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी । सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी ॥२॥

एक जन्म का कारण यह है जिसके लिए रामचन्द्रजी ने मनुष्य-देह धारण किया था। याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—हे भरद्वाज मुनि! सुनिए प्रभु के प्रत्येक अवतार की कथा को कवियों ने विस्तार से वर्णन की है ॥ २ ॥

दो बार जन्म लेने का कारण कह चुके, अब तीसरे अवतार का हेतु वर्णन करते हैं।

नारद साप दीन्ह एक बारा । कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥
गिरिजा चकित भई सुनि बानी । नारद बिष्नु भगत पुनि ज्ञानी ॥३॥

एक बार नारदजी ने शाप दिया उसके लिए एक कल्प में अवतार हुआ। यह बात सुन कर पार्वतीजी चकपका गईं और बोलीं—नारद तो विष्णु-भक्त और ज्ञानी हैं? ॥ ३ ॥

कारन कवन साप मुनि दीन्हा । का अपराध रमापति कीन्हा ॥
यह प्रसङ्ग मोहि कहहु पुरारी । मुनि मन मोह आचरज भारी ॥४॥

कौन सा कारण है कि मुनि ने शाप दिया ? लक्ष्मीकान्त ने उनका क्या अपराध किया था ? हे त्रिपुरारि ! नारद मुनि के मन में मोह होना बड़ा आश्चर्य है, यह कथा मुझ से कहिए ॥ ४ ॥

दो०—बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिँ जब, सो तस तेहि छन होइ ॥

तब शिवजी हँस कर बोले कि कोई ज्ञानी मूर्ख नहीं है । रघुनाथजी जब जिसको जैसा करते हैं, उस क्षण वह वैसा हो जाता है ।

सो०—कहउँ राम-गुन गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु ।
भव भञ्जन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥१२४॥

याज्ञवल्क्यमुनि कहते हैं—हे भरद्वाजजी ! मैं रामचन्द्रजी के गुणों की कथा कहता हूँ। आप आदर-पूर्वक सुनिए । तुलसीदासजी कहते हैं कि रघुनाथजी संसार-भय को चूर चूर करनेवाले हैं, तू अभिमान और मतवालापन छोड़ कर उनका भजन कर ॥१२४॥

कविजी अपने मन को उपदेश देते हैं—हे तुलसी ! मानमद छोड़ कर रघुनाथजी को भजो जो संसार के नसानेवाले हैं । इस वाक्य में गूढ़ोक्ति की ध्वनि व्यञ्जित होती है; क्योंकि अपने प्रति उद्देश्य कर के यह उपदेश जगत् के लिए है ।

चौ०—हिम गिरि गुहा एक अति पावनि । बह समीप सुरसरी सुहावनि ॥
आस्रम परम पुनीत सुहावा । देखि देवरिषि मन अति भावा ॥१॥

हिमालय पर्वत की एक अत्यन्त पवित्र गुफा जिसके समीप सुहावनी गङ्गाजी बह रही हैं । (उस स्थान में) अतिशय सुन्दर पुनीत आश्रम, देख कर नारदजी के मन में बहुत ही सुहाया ॥१॥

निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा । भयउ रमापति-पद अनुरागा ॥
सुमिरत हरिहि साप गति बाधी । सहज बिमल मन लागि समाधी ॥२॥

पर्वत, नदी और वन की शोभा अलग अलग देख कर लक्ष्मीनाथ के चरणों में प्रेम उत्पन्न हुआ । भगवान् का स्मरण करने लगे और शाप की गति रुक गई, स्वाभाविक निर्मल मन से समाधि लगी ॥२॥

दक्ष ने नारदजी को शाप दिया था कि तुम दो दण्ड से अधिक किसी एक स्थान में न ठहर सकोगे, सदा प्रत्येक लोकों में घूमते ही रहोगे । शुद्ध मन से प्रीति-पूर्वक भगवान् का स्मरण करते ही उस शाप की रुकावट हो गई ।

मुनि गति देखि सुरेस डराना। कामहिँ बोलि कीन्ह सनमाना॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचर केतू॥३॥

मुनि की दशा देख कर इन्द्र डर गया, उसने कामदेव को बुला कर उसका आदर-सत्कार किया और कहा—मेरे कल्याण के लिए आप अपनी सहायक सेना समेत जाइये। मन में प्रसन्न होकर मीनकेतु चला॥ ३॥

सुनासीर मन महँ असि त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥४॥

इन्द्र के मन में ऐसा डर हुआ कि देवर्षि नारद मेरे नगर का निवास (अमरावती का राज्य) चाहते हैं। जो संसार में विषयी और लालची हैं, वे कपटी कौए की तरह सब से डरते हैं॥ ४॥

दो०—सूख हाड़ लेइ भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज॥१२५॥

जैसे सिंह को देख कर दुष्ट कुत्ता सूखी हड्डी लेकर भागे। वह मूर्ख यह समझे कि कहीं मृगराज उसे छीन न ले, वैसे ही इन्द्र को लाज नहीं है॥१२५॥

चौ०—तेहि आस्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसन्त निरमयऊ॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहु रङ्गा। कूजहिँ कोकिल गुञ्जहिँ भृङ्गा॥१॥

जब कामदेव उस आश्रम में गया, तब अपनी माया से वसन्त ऋतु का निर्माण किया। अनेक प्रकार के वृक्षों पर बहुत रङ्ग के फूल फूले हैं, कोयल बोल रही हैं और भौंरे गूँज रहे हैं॥१॥

यहाँ कूजहिँ और गुञ्जहिँ शब्द पृथक् हैं; किन्तु अर्थ दोनों का एक 'अर्थावृत्ति दीपक अलंकार' है।

चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम-कृसानु बढ़ावनि हारी॥
रम्भादिक सुर-नारि नबीना। सकल असमसर-कला-प्रबीना॥ २॥

कामाग्नि को बढ़ानेवाली तीनों प्रकार की (शीतल, मन्द, सुगन्धित) सुहावनी हवा चली। रम्भा आदि देवताओं की नवयौवना स्त्रियाँ जो सब तरह से कामदेव की कलाओं में चतुर हैं॥ २॥

करहिँ गान बहु तान तरङ्गा। बहु बिधि क्रीड़हिँ पानि-पतङ्गा॥
देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपञ्च बिधि नाना॥३॥

बहुत तरह के लहराते हुए तान से गान करती हैं, और अनेक प्रकार हाथ रूपी पतङ्गों के खेल करती (हाव भाव दिखाती) हैं। अपनी सहायक-मण्डली को देख कर कामदेव प्रसन्न हुआ, फिर उसने नाना भाँति के छल (मुनि की समाधि भङ्ग करने के लिए) किये॥३॥

काम-कला कछु मुनिहिँ न ब्यापी । निज-भय डरेउ मनोभव पापी ॥
सीम कि चापि सकइ कोउ तासू । बड़ रखवार रमापति जासू ॥४॥

कामदेव की हुनरबाज़ी मुनि को कुछ भी नहीं ब्यापी, तब पापी मनोज अपने ही डर से डरा। क्या कोई उसकी मर्य्यादा दबा सकता है, जिसके बड़े भारी रक्षक लक्ष्मीकान्त हैं? (कदापि नहीं) ॥४॥

दो०—सहित सहाय सभीत अति, मानि हारि मन मैन ।
गहेसि जाइ मुनि चरन तब, कहि सुठि आरत बैन ॥१२६॥

जब अपने सहायकों के समेत कामदेव मन में हार मान कर बहुत ही भयभीत हुआ। तब सुन्दर दीनताभरी वाणी कह कर मुनि के चरणों को जा पकड़ा ॥१२६॥

मुनि के प्रभाव को देख कर काम के मन का उत्साह जाता रहा, भयस्थायीभाव का सञ्चार हुआ। उत्साह पूरा बढ़ा, इतने ही में भय ने उसे दबा दिया, भावशान्ति है। गुटका में 'गहेसि जाइ मुनि चरन कहि, सुठि आरत मृदु बैन' पाठ है।

चौ०—भयउ न नारद मन कछु रोषा । कहि प्रिय बचन काम परितोषा ॥
नाइ चरन सिर आयसु पाई । गयउ मदन तब सहित सहाई ॥१॥

नारदजी के मन में कुछ क्रोध नहीं हुआ, वरन प्रिय वचन कह कर कामदेव को सन्तुष्ट किया। मुनि के चरणों में सिर नवाकर और उनकी आज्ञा पा कर कामदेव अपने सहायकों के सहित चला गया ॥१॥

मुनि सुसीलता आपनि करनी । सुरपति-सभा जाइ सब बरनी ॥
सुनि सब के मन अचरज आवा । मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिर नावा ॥२॥

उसने इन्द्र की सभा में जा कर अपनी सारी करतूत और मुनि के पवित्राचरण का वर्णन किया। वह सुन कर सब के मन में आश्चर्य्य हुआ, मुनि की बड़ाई कर के भगवान् को मस्तक नवाया ॥२॥

तब नारद गवने सिव पाहीं । जिता काम अहमिति मन माहीं ॥
मार चरित सङ्करहि सुनाये । अति प्रिय जानि महेस सिखाये ॥३॥

तब नारदजी के मन में कामदेव के जीतने का घमण्ड हुआ, वे शिवजी के पास गये। मनोज का चरित्र शङ्करजी को सुनाया, शिवजी ने उन्हें बहुत प्रिय जान कर सिखाया ॥३॥

काम को जीत कर नारदजी शङ्कर के पास सगर्व इसलिए गये कि अब मैं ने काम को जीत लिया। आप के समान मैं भी मदनारि हुआ। यह व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यंग है।

बार बार बिनवउँ मुनि तोही । जिमि यह कथा सुनायहु मोही ॥
तिमि जनि हरिहि सुनायहु कबहूँ । चलेहु प्रसङ्ग दुरायहु तबहूँ ॥४॥

हे मुनि! मैं आप से बार बार प्रार्थना करता हूँ कि जिस तरह यह कथा आपने मुझे सुनाई है, उस तरह (अहमत्व के साथ) विष्णु भगवान् को मत सुनाना, चर्चा चले तब भी इसको छिपाना (प्रकट न करना) ॥४॥

दो०—सम्भु दीन्ह उपदेस हित, नहिँ नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरि-इच्छा बलवान ॥१२७॥

शिवजी ने भले के लिए उपदेश दिया, पर वह नारदजी को नहीं अच्छा लगा। याज्ञवल्क्यमुनि कहते हैं—हे भरद्वाजजी! हरिइच्छा (भावी) बलवता है, उसका तमाशा सुनिए ॥१२७॥

शिवजी का सदुपदेश भावी की प्रेरणा से नारद को उलटा प्रतीत हुआ कि इन्होंने काम को जीता है। अब मेरी जीत को डाह से छिपाने के लिए कहते हैं, जिससे इनकी नामवरी में न्यूनता न आवे।

चौ०—राम कीन्ह चाहहिँ सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिँ कोई॥
सम्भु बचन मुनि मन नहिँ भाये। तब बिरञ्चि के लोक सिधाये ॥१॥

रामचन्द्रजी जो करना चाहते हैं वही होता है, ऐसा कोई नहीं है जो उस के विपरीत कर सके। शिवजी के वचन मुनि के मन में अच्छे नहीं लगे, तब वे ब्रह्मा के लोक को चले गये ॥१॥

एक बार करतल बर-बीनो। गावत हरि-गुन गान-प्रबीना॥
छीरसिन्धु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास स्रुतिमाथा॥ २॥

गाने में चतुर मुनीश्वर एक बार हाथ में सुन्दर वीणा लिए भगवान् का गुण गाते हुए क्षीरसागर को चले, जहाँ वेदों के पूज्य लक्ष्मीनिवास रहते हैं ॥२॥

हरषि मिले उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहि समेता॥
बोले बिहँसि चराचर-राया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥३॥

लक्ष्मीकान्त प्रसन्नता से उठ कर मिले और मुनि के सहित आसन पर बैठे। चराचर नाथ हँस कर बोले—हे मुनि! बहुत दिनों पर दया की (अब तक कहाँ रहे?) ॥३॥

काम-चरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥४॥

यद्यपि पहले शिवजी ने मना कर रक्खा था, तो भी नारद ने कामदेव का सब चरित कहा। रघुनाथजी की माया बड़ी प्रबल है, ऐसा कौन संसार में उत्पन्न हुआ है जिसको उसने मोहित न किया हो ॥४॥

दो०—रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन तेँ मिटहिँ, मोह मार मद मान ॥१२८॥

श्रीभगवान् रूखा मुँह कर के कोमल वचन बोले। आप के स्मरण से मोह, काम, मद और अभिमान मिट जाते हैं ॥ १२८ ॥

अब आप का स्मरण करने से दूसरों के कामादि दोष नष्ट होते हैं, तब आप के लिए काम का जीतना कुछ बड़ी बात नहीं है। यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

चौ०—सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिँ जाके॥
ब्रह्मचरज-ब्रत-रत मतिधीरा। तुम्हहिँ कि करइ मनोभव पीरा॥१॥

हे मुनि! सुनिए, मोह तो उसके मन में होता है, जिसके हृदय में ज्ञान वैराग्य नहीं है। आप तो ब्रह्मचर्य्य-व्रत में तत्पर धीर-बुद्धि हैं, क्या तुम्हें कामदेव पीड़ित कर सकता है? (कदापि नहीं) ॥ १ ॥

यहाँ 'करइ मनोभव पीरा' पद से मुख्यार्थबाध होकर आगे के लिए लक्षणा-मूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि कामदेव पीड़ा करेगा, अधिक देर नहीं है।

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर-अङ्कुरेउ गर्ब-तरु भारी॥ २॥

नारद ने अभिमान-पूर्वक कहा—हे भगवान्! यह सब आप की कृपा है। करुणानिधान भगवान् ने मन में विचार कर देखा कि इनके हृदय में भारी गर्व रूपी वृक्ष का अँखुआ निकल आया है॥ २॥

बेगि सो मैं डारिहउँ उपारी। पन हमार सेवक-हितकारी॥
मुनि कर हित मम कैातुक होई। अवसि उपाय करब मैं सोई॥३॥

मैं उसको तुरन्त उखाड़ डालूँगा, क्योंकि भक्तों की भलाई करना हमारा प्रण है। मुनि का हित और मेरा खेल होगा, अवश्य मैं वही उपाय करूँगा॥ ३॥

तब नारद हरि-पद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई॥
स्रीपति निज-माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥४॥

तब नारद भगवान् के चरणों में सिर नवा कर चले, उनके हृदय में गर्व की अधिकता थी। तदनन्तर लक्ष्मीकान्त ने अपनी माया को आज्ञा दी, उसकी कठोर करनी को सुनिए॥४॥

दो०—बिरचेउ मग महँ नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार।
स्रीनिवासपुर तेँ अधिक, रचना बिबिध प्रकार॥१२९॥

उसने रास्ते में चार सौ कोस का लम्बा चौड़ा नगर बनाया। उसकी अनेक तरह की रचना (बनावट) वैकुण्ठ से भी बढ़ कर है॥ १२९॥

चौ०—बसहिँ नगर सुन्दर नर नारी। जनु बहु मनसिज-रति तनु धारी॥
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥१॥

उस नगर में सुन्दर स्त्री-पुरुष बसते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बहुत से कामदेव और रति ने शरीर धारण किया हो। उस नगर में शीलनिधि नामक राजा असंख्यों घोड़े, हाथी, सेना और जन-समाज के सहित बसता है॥ १॥

सत-सुरेस सम बिभव बिलासा । रूप तेज बल नीति निवासा ॥
बिस्व-मोहनी तासु कुमारी । श्री बिमोह जिसु रूप निहारी ॥२॥

उसके ऐश्वर्य का विलास सौ इन्द्र के बराबर है, वह रूप, तेज, बल और नीति का स्थान है । विश्वमोहनी उसकी कन्या है, जिसकी सुन्दर छबि देख कर लक्ष्मी मोहित हो जाती हैं ॥ २ ॥

सोइ हरि माया सब गुन खानी । सोभा तासु कि जाइ बखानी ॥
करइ स्वयम्बर सो नृप-बाला । आये तहँ अगनित महिपाला ॥३॥

वही सब गुणों की खान भगवान् की माया है, क्या उसकी शोभा बखानी जा सकती है ? (कदापि नहीं) । वह राजकन्या स्वयम्बर करती है, वहाँ असंख्यों राजा आये हुए हैं ॥३॥

मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ । पुरबासिन्ह सब पूछत भयऊ ॥
सुनि सब चरित भूप गृह आये । करि पूजा नृप मुनि बैठाये ॥४॥

खेलवाड़ी मुनि उस नगर में गये और पुरबासियों से पूछा, सारा चरित सुनकर राज-मन्दिर में आये, राजा ने मुनि को सत्कार कर के बैठाया ॥ ४ ॥

दो०—आनि देखाई नारदहि, भूपति राजकुमारि ।
कहहु नाथ गुन दोष सब, एहि के हृदय बिचारि ॥१३०॥

राजा ने राजकुमारी को लाकर नारद को दिखाया और कहा—हे नाथ ! हृदय में विचार कर इसके गुण-दोष सब कहिए ॥ १३० ॥

चौ०—देखि रूप मुनि बिरति बिसारी । बड़ी बार लगि रहे निहारी ॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने । हृदय हरष नहिँ प्रगट बखाने ॥१॥

उसके रूप को देख कर मुनि वैराग्य भुला कर बड़ी देर तक देखते रहे । उसके लक्षणों को निहार कर अपने को भूल गये, मन में प्रसन्न हुए; किन्तु उसे प्रकट नहीं कहा ॥ १ ॥

जो एहि बरइ अमर सोइ होई । समर भूमि तेहि जीत न कोई ॥
सेवहिँ सकल चराचर ताही । बरइ सीलनिधि कन्या जाही ॥२॥

जो इसे ब्याहेगा, वह अमर होगा और उसको कोई रणभूमि में न जीत सकेगा । शील-निधि की कुमारी जिसको अपना वर बनावेगी, समस्त जड़चेतन उसकी सेवा करेंगे ॥२॥

लच्छन सब बिचारि उर राखे । कछुक बनाइ भूप सन भाखे ॥
सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं । नारद चले सोच मन माहीं ॥३॥

सब लक्षण विचार कर हृदय में रख लिया, कुछ एक बना कर राजा से कहा । लड़की सुन्दर लक्षणवाली है । यह कह कर नारद राजा के पास से चले, उनके मन में सोच उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

राजकन्या कैसे मिलेगी? उसके मिलने की इच्छा बलवती होना 'चिन्तासञ्चारी-भाव' है।

करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी ॥
जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ॥४॥

जाकर वही उपाय विचार कर करूँ, जिस तरह यह कन्या मुझे वर बनावे। इस समय जपतप कुछ हो नहीं सकता, हे विधाता! किस प्रकार वह कन्या मिलेगी? ॥ ४ ॥

कन्याप्राप्ति में विलम्ब की असहमता 'उत्सुकता सञ्चारीभाव' है

दो०—एहि अवसर चाहिय परम, सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझइ कुँअरि, तब मेलइ जयमाल ॥१३१॥

इस समय बड़ी छबिवाला महान् रूप चाहिए, जिसे देख कर राजकुमारी मोहित हो, तब जयमाल पहनावेगी ॥ १३१ ॥

चौ०—हरि सन माँगउँ सुन्दरताई। होइहि जात गहरु मोहि भाई ॥
मोरे हित हरि सम नहिँ कोऊ। एहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥१॥

भगवान् से सुन्दरता माँगूँ, पर भाई! जाने में मुझे बड़ी देरी होगी। मेरा हित भगवान् के समान कोई नहीं है, इस समय वे ही मेरे सहायक होंगे ॥ १ ॥

बहु बिधि बिनय कीन्ह तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥
प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने। होइहि काज हिये हरषाने ॥२॥

बहुत तरह उस समय प्रार्थना की, कौतुकी कृपालु स्वामी प्रकट हुए। भगवान् को देख कर मुनि की आँखें ठंढी हुईं, मन में प्रसन्न हुए कि अब काम होगा ॥ २ ॥

अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई ॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिँ पावउँ ओही ॥३॥

बड़ी दीनता, से सब कथा कह सुनाई और कहा कि कृपा कर के मेरी सहायता कीजिए। हे स्वामिन्! अपना रूप मुझ को दीजिए, दूसरे प्रकार से उसको न पाऊँगा ॥ ३ ॥

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा ॥
निज-माया बल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला ॥४॥

हे नाथ! जिस तरह मेरा कल्याण हो, वही जल्दी कीजिए। मैं आप का दास हूँ। अपनी माया का विशाल बल देख कर दीनदयाल मन में हँस कर बोले ॥ ४ ॥

दो०—जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार ॥१३२॥

हे नारद! सुनो, जिस तरह तुम्हारा परम-कल्याण होगा; हम वही करेंगे और कुछ नहीं, हमारा वचन झूठ न होगा ॥ १३२ ॥

वाच्यार्थ से नारद का परम-हित, गर्व के अङ्कुर को उखाड़ डालने की व्यञ्जना वाच्यविशेष व्यङ्ग है।

चौ०—कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अन्तरहित प्रभु भयऊ॥१॥

रोग से विकल हुआ रोगी कुपथ्य माँगता है, हे योगी मुनि! सुनिए, वैद्य उसको नहीं देता। इसी तरह मैं ने तुम्हारी भलाई ठानी है, ऐसा कह कर भगवान् अदृश्य हो गये॥१॥

भगवान् का असल मतलब तो यह कहने का है कि मैं तुम्हें स्त्री के अधीन न होने दूँगा। पर ऐसा न कह कर कहते हैं कि—हे योगी मुनि! कुपथ्य माँगनेवाले रोगी को वैद्य उससे बचाता है, तुम्हारा हित उसी तरह मैं ने करने को ठाना है। कारण कह कर कार्य सूचित करना 'कारज निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

माया बिबस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिँ हरि गिरा निगूढ़ा॥
गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयम्बर-भूमि बनाई॥२॥

माया के अधीन हो कर मुनि ऐसे मूर्ख हो गये कि भगवान् की खुली हुई (सीधी) बात को नहीं समझ सके। ऋषिराज तुरन्त ही वहाँ गये जहाँ स्वयम्बर-भूमि बनी है॥२॥

निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा॥
मुनि मन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहिँ बरिहि न भोरे॥३॥

बहुत सजधज कर मण्डली समेत अपने अपने आसन पर राजा लोग बैठे हैं। मुनि के मन में बड़ा आनन्द है, मेरा अनुपम रूप है, मुझे छोड़ कर राजकन्या दूसरे को भूल कर भी न बरेगी॥३॥

मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहि सिर नावा॥४॥

कृपानिधान हरि ने मुनि के कल्याण के लिए जो बुरा रूप दिया, वह कहा नहीं जाता। उस चरित्र को किसी ने न लख पाया, सभी ने नारद जान कर सिर नवाया॥४॥

दो०—रहे तहाँ दुइ रुद्र गन, ते जानहिँ सब भेउ।
बिप्र बेष देखत फिरहिँ, परम कौतुकी तेउ॥१३३॥

वहाँ दो रुद्र-गण थे। वे सब भेद जानते थे। वे भी बड़े खेलवाड़ी ब्राह्मण के वेश में (तमाशा) देखते फिरते थे॥१३३॥

चौ०—जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई॥
तहँ बैठे महेस गन दोऊ। बिप्र बेष गति लखइ न कोऊ॥१॥

जिस समाज में नारद मुनि अपने रूप का हृदय में बहुत बड़ा घमण्ड कर जा बैठे। वहाँ दोनों शिवजी के गण ब्राह्मण के वेश में बैठे हैं, पर उनकी चाल कोई जानता नहीं॥१॥

करहिँ कूटि नारदहि सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ॥
रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी । इन्हहिँ बरिहि हरि जानि बिसेखी ॥२॥

नारदजी को सुना कर वे मसखरी करते हैं कि भगवान् ने अच्छी सुन्दरता इन्हें दी है। राजकुमारी छवि देख देख कर मोहित हो जायगी और इन्हीं को ख़ास हरि जान कर जयमाल पहनावेगी ॥ २ ॥

'नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई' इस पद में मुख्यार्थ बाध हो कर कुरूपता व्यञ्जित होती है और 'हरि' शब्द अनेकार्थी है। इससे कपि-आकृति की ध्वनि प्रकट होना 'गूढ़व्यङ्ग' है।

मुनिहि मोह मन हाथ पराये । हँसहिँ सम्भु-गन अति सचु पाये ॥
जदपि सुनहिँ मुनि अटपटि बानी । समुझि न परइ बुद्धिभ्रम सानी ॥३॥

मुनि का मन पराये हाथ, मोह में फँसा देख शिव-दूत बहुत प्रसन्न हो कर हँसते हैं। यद्यपि मुनि ऊटपटाङ्ग बातें सुनते हैं; पर उनको समझ नहीं पड़ता। उनकी बुद्धि भ्रम में सनी है (दूतों की व्यङ्गोक्ति को सच्ची प्रशंसा समझ रहे हैं) ॥ ३ ॥

काहु न लखा सो चरित बिसेखा । सो सरूप नृप कन्या देखा ॥
मर्कट बदन भयङ्कर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥ ४ ॥

इस विशेष चरित्र को और किसी ने नहीं लखा, राजकुमारी ने उस रूप को देखा। बन्दर का मुख और डरावना (काला) शरीर, देखते ही उसके हृदय में क्रोध हुआ ॥४॥

राजकन्या को क्रोध इसलिए हुआ कि बुरी सूरतवला महा-मूर्ख क्या विवाह की इच्छा से आया है। यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के वरावर गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०—सखी सङ्ग लेइ कुँवरि तब, चलि जनु राजमराल ।
देखत फिरइ महीप सब, कर सरोज जयमाल ॥१३४॥

तब राजकन्या सखियों को साथ लिये आगे चली, वह ऐसी मालूम होती है मानों राजहंसिनी गमन करती हो। कर-कमलों में जयमाल लिए सब राजाओं को देखती फिरती है ॥१३४॥

राजहंसिनी धीमी धीमी चाल चलती ही है 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिँ अकुलाहीँ । देखि दसा हर-गन मुसुकाहीँ ॥१॥

जिस ओर नारदजी फूले बैठे थे, उस दिशा में उसने भूल कर भी नहीं देखा। मुनि बार बार ऊपर को उठते और घबराते हैं, उनकी हालत देख कर शिवगण मुस्कुराते हैं ॥१॥

मुनि के उपहास पर रुद्र-गणों का हँसना अनुचित है। इसलिए यह 'हास्य-रसाभास' है।

धरि नृप तनु तहँ गयउ कृपाला । कुँअरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥
दुलहिनि लेइ गये लच्छिनिवासा । नृप-समाज सब भयउ निरासा ॥२॥

कृपालु भगवान् राजा का शरीर धारण कर वहाँ गये, कुँवरि ने प्रसन्न हो कर उन्हें जयमाल पहना दी। दुलहिन लक्ष्मीनिवास (विष्णु) ले गये, सब राज-समाज निराश हो गया ॥ २ ॥

मुनि अति बिकल मोह मति नाँठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥
तब हर-गन बोले मुसुकाई । निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥३॥

मुनि की बुद्धि अज्ञान से नष्ट हो गई। वे अत्यन्त व्याकुल हुए, ऐसे मालूम होते हैं मानों गाँठ छूट कर मणि गिर गई हो। तब हर-गण मुस्कुराकर बोले—ज़रा अपना मुँह तो जा कर आइने में देखिए ॥ ३ ॥

मूल्यवान रत्न के गिरने से व्याकुलता होती ही है, यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

अस कहि दोउ भागे भय भारी । बदन दीख मुनि बारि निहारी ॥
बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा । तिन्हहिँ सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥४॥

ऐसा कह कर दोनों भारी भय से भगे और मुनि ने जल में निहार कर अपना मुख देखा। रूप देख कर बड़ा क्रोध बढ़ा, उन गणों को अत्यन्त कठोर शाप दिया ॥४॥

दो०—होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ ।
हँसेहु हमहिँ सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥१३५॥

अरे कपटी पापियो! तुम दोनों जा कर राक्षस हो। हमें हँसे हो उसका फल लेओ, फिर किसी मुनि की हँसी करना ॥ १३५ ॥

फिर किसी मुनि की हँसी करना, इस वाक्य में मुनि का उपहास करना खेल नहीं, काकु से वर्जन व्यञ्जित होना व्यङ्ग है।

चौ०—पुनि जल दीख रूप निज पावा । तदपि हृदय सन्तोष न आवा ॥
फरकत अधर कोप मन माहीँ । सपदि चले कमलापति पाहीँ ॥१॥

फिर पानी में देखा तो अपना रूप पाया, तो भी हृदय में सन्तोष न आया। मन में क्रोध हुआ, ओठ फड़कने लगे, तुरन्त कमलाकान्त के पास चले ॥१॥

देइहउँ साप कि मरिहउँ जाई । जगत मोरि उपहास कराई ॥
बीचहि पन्थ मिले दनुजारी । सङ्ग रमा सोइ राजकुमारी ॥२॥

शाप दूँगा या कि मर जाऊँगा, संसार में उन्होंने मेरी हँसी कराई है। दैत्यारि भगवान् बीच रास्ते ही में मिले, उनके साथ में लक्ष्मीजी और वही राजकुमारी है ॥२॥

नारदजी वैकुण्ठ में हरि के लिए जा रहे थे, पर वे अकस्मात् बीच ही में मिल गये 'तृतीय सम अलंकार' है। शाप दूँगा या कि प्राण दे दूँगा अथवा मारूँगा, या तो यह करूँगा या वह 'विकल्प अलंकार' है। 'मरिहउँ' शब्द श्लेषार्थी है।

बोले मधुर बचन सुर-साँई। मुनि कहँ चले बिकल की नाँई॥
सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। माया-बस न रहा मन बोधा॥३॥

देवताओं के स्वामी मधुर वचन बोले—हे मुनि! व्याकुल की तरह कहाँ चले हो? यह बात सुनते ही नारद को बड़ा क्रोध हुआ, मायाधीन होने के कारण मनमें ज्ञान नहीं रह गया॥३॥

पर सम्पदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी॥
मथत सिन्धु रुद्रहि बौरायेहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान करायेहु॥४॥

नारद ने कहा—तुम दूसरे की सम्पत्ति देख नहीं सकते, तुम्हारे (मन में) डाह, छल बहुत है। समुद्र मथते समय शिव को पागल बना दिया, देवताओं को भेज कर उन्हें विष पान कराया॥४॥

दो०—असुर सुरा बिष सङ्करहिं, आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह, सदा कपट ब्यवहारु॥ १३६॥

दैत्यों को मदिरा, शङ्कर को विष और आप सुन्दर लक्ष्मी तथा मणि लिया अपना मतलब गाँठने में तुम्हारा धोखेबाजी का व्यवहार सदा टेढ़ा ही होता है॥१३६॥

चौ०—परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई। भावइ मनहिं करहु तुम्ह सोई॥
भलेहि मन्द मन्देहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥१॥

तुम्हारे सिर पर कोई है नहीं, इससे बड़े ही स्वच्छन्द होकर जो मन में सुहाता है वही करते हो। भले को बुरा और बुरे को भला बनाने में खेद या हर्ष हृदय में कुछ नहीं लाते॥१॥

डहँकि डहँकि परचेउ सब काहू। अति असङ्क मन सदा उछाहू॥
करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा। अब लगि तुम्हहिं न काहू साधा॥२॥

सब को धोखा दे दे कर लहगर हो गये हो; अत्यन्त निर्भय मन से (छलने में) सदा उत्कण्ठित रहते हो। तुम्हें कर्मों के शुभाशुभ की पीड़ा नहीं होती और न अबतक तुमको किसी ने ठीक ही किया है॥२॥

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बञ्चेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु साप मम एहा॥३॥

अब भले घर बायन दिया है, अपने किये का फल पाओगे। जौन सी देह धर कर तुमने मुझे ठगा है, मेरा यही शाप है कि तुम वही शरीर धारण करो॥३॥

कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी । करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥४॥

तुमने हमारा चेहरा बन्दर का कर दिया, वे ही बन्दर तुम्हारी सहायता करेंगे। तुमने मेरी बड़ी हानि (बुराई) की, इसलिये तुम स्त्री के वियोग से दुखी होगे ॥ ४ ॥

दो०—साप सीस धरि हरषि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्ह ।
निज-माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्ह ॥१३७॥

प्रसन्न मन से शाप शिरोधार्य्य करके प्रभु ने बहुत बिनती की। कृपानिधान भगवान् ने अपनी माया की जोरावरी खींच ली ॥ १३७ ॥

चौ०—जब हरि माया दूरि निवारी । नहिँ तहँ रमा न राजकुमारी ॥
तब मुनि अति सभीत हरि-चरना । गहे पाहि प्रनतारति हरना ॥१॥

जब भगवान् ने माया दूर कर दी, वहाँ न लक्ष्मी हैं न राजकुमारी, तब मुनि अत्यन्त भयभीत हो वैकुण्ठनाथ के चरणों को पकड़ लिया और बोले कि—हे शरणागतों के दुःख हरनेवाले महराज ! मेरी रक्षा कीजिए ॥ १ ॥

अपने दुष्कृत्य को समझ कर सहसा नारदजी के मन में भय से चित्तविक्षेप होना कि अरे ! मैं ने घोर अनर्थ किया, 'त्रास संचारीभाव' है ।

मृषा होउ मम साप कृपाला । मम इच्छा कह दीनदयाला ॥
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे । कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे ॥२॥

हे कृपालु ! मेरा शाप झूठ हो जाय, दीनदयाल भगवान् ने कहा—ऐसी हमारी इच्छा है (वह असत्य न होगा) । मुनि ने कहा—स्वामिन् ! मैंने आपको बहुतेरे दुर्वचन कहे, मेरे वे पाप कैसे मिटेंगे ? ॥ २ ॥

जपहु जाइ सङ्कर सत-नामा । होइहि हृदय तुरत बिस्रामा ॥
कोउ नहिँ सिव समान प्रिय मोरे । असि परतीति तजहु जनि भोरे ॥३॥

भगवान् ने कहा—जाकर शङ्करजी का सत् (श्रेष्ट) नाम जपिये, तुरन्त हृदय में शान्ति होगी। शिवजी के समान मेरा कोई प्रिय नहीं हैं, ऐसा विश्वास भूल कर भी न छोड़ना ॥३॥

इन वाक्यों से यह ध्वनि व्यञ्जित होती है कि तुमने शिवजी की बात पर विश्वास न करके बड़ी भूल की, इसी से क्लेश भोगना पड़ा। अब कभी ऐसी भूल न करना।

जेहि पर कृपा न करहिँ पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई । अब न तुम्हहिँ माया नियराई ॥४॥

हे मुनि ! जिस पर शिव की दया नहीं करते, वह हमारी भक्ति नहीं पाता, ऐसा हृदय में रखकर जाओ धरती पर विचरण करो। अब माया तुम्हारे समीप न आवेगी ॥ ४ ॥

दो० बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु, तब भये अन्तरधान ।
सत्यलोक नारद चले, करत राम-गुन-गान ॥१३८॥

बहुत तरह मुनि को समझा कर जब भगवान् अदृश्य हो गये, तब नारदजी रामचन्द्रजी का गुण गान करते हुए सत्यलोक को चले ॥१३८॥

चौ०—हर-गन मुनिहि जात पथ देखी । बिगत मोह मन हरष बिसेखी ॥
अति सभीत नारद पहिँ आये । गहि-पद आरत बैन सुनाये ॥१॥

रुद्र-गणों ने नारदजी को मन में अधिक प्रसन्न और अज्ञान रहित रास्ते में जाते देखा । अत्यन्त डरते हुए नारदजी के पास आये, उनके पाँव पकड़ कर दीन वचन सुनाये ॥१॥

हर-गन-हम न बिप्र मुनिराया । बड़ अपराध कीन्ह फल पाया ॥
साप-अनुग्रह करहु कृपाला । बोले नारद दीनदयाला ॥२॥

हे मुनिराज ! हम लोग ब्राह्मण नहीं शिवजी के अनुचर हैं, जैसा बड़ा अपराध किया वैसा फल पाया । हे कृपालु ! शाप पर दया कीजिये । दीनों पर दया करनेवाले नारदजी बोले ॥२॥

निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ । बैभव बिपुल तेज बल होऊ ॥
भुज-बल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ । धरिहहिँ बिष्नु मनुज तनु तहिआ ॥३॥

तुम दोनों जाकर राक्षस होगे और अपार ऐश्वर्य्य, प्रताप, बल होगा । जिस दिन तुम अपनी भुजाओं के बल से संसार को जीत लोगे, उस समय विष्णु भगवान् मनुष्य का शरीर धारण करेंगे ॥३॥

समर मरन हरि हाथ तुम्हारा । होइहहु मुकुत न पुनि संसारा ॥
चले जुगल मुनि-पद सिर नाई । भये निसाचर कालहि पाई ॥४॥

भगवान् के हाथ से तुम्हारी संग्राम में मृत्यु होगी, तब मुक्त हो जाओगे, फिर संसार में न पड़ोगे । वे दोनों मुनि के चरणों में सिर नवाकर चले और काल पाकर राक्षस हुए ॥४॥

दो०—एक कलप एहि हेतु प्रभु, लीन्ह मनुज अवतार ।
सुर-रञ्जन सज्जन-सुखद, हरि भञ्जन-भुबि-भार ॥१३९॥

देवताओं को प्रसन्न करनेवाले, सज्जनों को सुखदायक, पृथ्वी का बोझ दूर करने के लिये एक कल्प में इस कारण विष्णु भगवान् ने मनुष्य का अवतार लिया ॥१३९॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—हे भरद्वाज ! सुनिये, शिवजीने पूर्व में कहा कि मैं एक और दो (तीन) जन्म का कारण कहता हूँ । एक कल्प में ब्राह्मण के शाप से जय-विजय रावण हुए । दूसरे कल्प में जलंधर रावण हुआ और तीसरे कल्प में नारदजी के शाप से शिव-गण रावण हुए । इन तीनों जन्म के कारणों का संक्षेप में यहाँ पर्य्यन्त वर्णन हुआ ।

चौ०—एहि बिधि जनम करम हरि केरे । सुन्दर सुखद बिचित्र घनेरे ॥
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं ॥१॥

इस प्रकार भगवान् के जन्म, कर्म बहुत ही सुन्दर, सुखदायक और विलक्षण हैं। हर एक कल्प में भगवानजी जन्म लेते हैं और नाना तरह के रमणीय चरित्र करते हैं ॥ १ ॥

तब तब कथा मुनीसन्ह गाई । परम पुनीत प्रबन्ध बनाई ॥
बिबिध प्रसङ्ग अनूप बखाने । करहिँ न सुनि आचरज सयाने ॥२॥

तब तब मुनीश्वरों ने अत्यन्त पवित्र कथा-प्रबन्ध बना कर गाया है। नाना प्रकार के अनुपम प्रसंग बखाने हैं, उनको सुनकर चतुर लोग आश्चर्य नहीं करते ॥२॥

हरि-अनन्त हरि-कथा-अनन्ता । कहहिँ सुनहिँ बहु बिधि सब सन्ता ॥
रामचन्द्र के चरित सुहाये । कलप कोटि लगि जाहिँ न गाये ॥३॥

हरि अनन्त हैं और हरि की कथा अनन्त है, सब सन्त लोग बहुत प्रकार कहते सुनते हैं। रामचन्द्रजी के सुहावने चरित्र करोड़ों कल्पपर्य्यन्त गाये नहीं जा सकते ॥३॥

यह प्रसङ्ग मैं कहा भवानी । हरि-माया मोहहिँ मुनि ज्ञानी ॥
प्रभु कौतुकी प्रनत-हितकारी । सेवत सुलभ सकल-दुख-हारी ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी! भगवान् की माया से ज्ञानीमुनि मोहित हो जाते हैं। यह प्रसंग मैंने कहा। प्रभु रामचन्द्रजी भक्तों के हित करनेवाले खिलाड़ी हैं। सेवा करने में सुगम और सम्पूर्ण दुःखों के हरनेवाले हैं ॥४॥

सो०—सुर नर मुनि कोउ नाहिँ, जेहि न मोह माया प्रबल ॥
अस बिचारि मन माहिँ, भजिय महा-माया-पतिहि ॥१४०॥

देवता, मनुष्य और मुनियों में कोई ऐसा नहीं है कि जिसको बलवती माया मोहित न करती हो। ऐसा मन में विचार कर विशाल मायाधीश का भजन करना चाहिए ॥१४०॥

ईश्वर का भजन करना चाहिए, वे माया के स्वामी हैं। उनकी माया इतनी ज़बर्दस्त है कि देवता, मुनि और मनुष्य सब उसके अधीन हैं। इस लिए मायाधिपति की उपासना से माया बाधक न होगी। युक्ति से ईश्वर भजन का समर्थन 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

चौ०—अपर हेतु सुनु सैलकुमारी । कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी ॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा । ब्रह्म भयउ कोसलपुर-भूपा ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे शैलकुमारी! सुनो, अन्य कारण की विलक्षण कथा विस्तार से कहता हूँ। जिस कारण अजन्मे, निर्गुण और रूपरहित ब्रह्म अयोध्यापुरी के राजा हुए ॥१॥

जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा । बन्धु समेत धरे मुनि बेखा ॥
जासु चरित अवलोकि भवानी । सती सरीर रहिहु बौरानी ॥२॥

जिन स्वामी को भाई के सहित मुनि-वेश धारण किए तुमने वन में फिरते देखा था। हे भवानी! जिनका चरित देखकर सती के शरीर में तुम पगली हो गई थीं ॥२॥

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी । तासु चरित सुनु भ्रम-रुज-हारी ॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा । सो सब कहिहउँ मति अनुसारा ॥३॥

अब भी तुम्हारी छाया नहीं मिटती, भ्रम रूपी रोग को हरनेवाला उनका चरित सुनो। उस अवतार में जो लीलाएँ की थीं, वे सब मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा ॥३॥

भरद्वाज सुनि सङ्कर बानी । सकुचि सप्रेम उमा हरषानी ॥
लगे बहुरि बरनइ वृषकेतू । सो अवतार भयउ जेहि हेतू ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्यमुनि कहते हैं—हे भरद्वाज! शङ्कर की वाणी सुनकर पार्वतीजी सकुचा कर प्रेम से प्रसन्न हुईं। फिर वह अवतार जिस कारण हुआ, उसको शिवजी कहने लगे ॥४॥

दो०—सो मैं तुम्ह सन कहउँ सब, सुनु मुनीस मन लाइ ।
रामकथा-कलिमल-हरनि, मङ्गल-करनि सुहाइ ॥१४१॥

हे मुनीश्वर! वह सब मैं आप से कहता हूँ, मन लगाकर सुनिए। रामचन्द्रजी की कथा कलि के पापों को हरनेवाली और सुन्दर मङ्गल करनेवाली है ॥१४१॥

चौ०—स्वायम्भुव-मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तेँ भइ नर सृष्टि अनूपा ॥
दम्पति धरम-आचरन नीका । अजहुँ गाव स्रुति जिन्ह कै लीका ॥१॥

राजा स्वायम्भुवमनु और महारानी शतरूपा जिनसे अनुपम मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है, उन दोनों पति-पत्नी के धर्माचरण श्रेष्ठ थे, जिनकी मर्य्यादा का गान अब भी वेद करते हैं ॥१॥

नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरि-भगत भयउ सुत जासू ॥
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही । बेद पुरान प्रसंसहिँ जाही ॥ २ ॥

उन राजा के उत्तानपाद पुत्र हुए, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुव हुए हैं। राजा स्वायम्भुव मनु के छोटे लड़के का नाम प्रियव्रत था जिनकी बड़ाई वेद पुराण करते हैं ॥२॥

देवहूति पुनि तासु कुमारी । जो मुनि-कर्दम कै प्रिय नारी ॥
आदिदेव प्रभु दीनदयाला । जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥ ३ ॥

फिर उन (स्वायम्भुवमनु) की कन्या देवहूति जो कर्दम ऋषि की पत्नी हुई। जिसने आदिदेव दीनदयाल कृपालु प्रभु कपिल भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया ॥३॥

सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना । तत्व बिचार निपुन भगवाना ॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला । प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला ॥४॥

जिन्होंने सांख्यशास्त्र वर्णन कर प्रकट किया, कपिल भगवान् तत्वविचार (यथार्थ वस्तु के निर्णय) में बड़े प्रवीण हुए। उन्हीं राजा मनु ने बहुत काल तक राज्य किया और सब तरह ईश्वर की आज्ञा का पालन किया ॥४॥

सो०—होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथ पन ।
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥१४२॥

एक बार राजा स्वायम्भुवमनु के मन में ग्लानि हुई कि—घर में रहते चौथापन आ गया और विषयों से प्रीति नहीं छूटती है! उनके हृदय में बड़ा दुःख हुआ कि बिना हरिभक्ति के ही जन्म बीत गया! ॥१४२॥

तत्वज्ञान के बिचार से राजा मनु के मन में विषयों से तिरस्कार उत्पन्न होना 'निर्वेद स्थायीभाव' है।

चौ०—बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥
तीरथ बर नैमिष बिख्याता । अति पुनीत साधक-सिधि-दाता ॥१॥

राजा मनुजी पुत्र को बरजोरी से राज्य देकर आप स्त्री के सहित वन को गमन किया। अत्यन्त पवित्र साधकों को सिद्धि देनेवाला श्रेष्ठ तीर्थ नैमिषारण्य प्रसिद्ध है ॥१॥

बसहिँ तहाँ मुनि-सिद्ध-समाजा । तहँ हिय हरषि चले मनुराजा ॥
पन्थ जात सोहहिँ मति-धीरा । ज्ञान-भगति जनु धरे सरीरा ॥२॥

वहाँ मुनि और सिद्धों की मण्डली निवास करती है, राजा मनु हृदय में प्रसन्न हो कर वहाँ चले। धीर-बुद्धि (राजा-रानी) रास्ते में जाते हुए ऐसे मालूम होते हैं, मानों ज्ञान और भक्ति शरीरधारण कर शोभित हो रहे हों ॥२॥

ज्ञान भक्ति शरीर-धारी नहीँ हैं, केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

पहुँचे जाइ धेनुमति-तीरा । हरषि नहाने निरमल नीरा ॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी । धरम-धुरन्धर नृपरिषि जानी ॥३॥

गोमती-नदी के किनारे जा पहुँचे, प्रसन्नता-पूर्वक उसके निर्मल जल में स्नान किया। उन्हें धर्मधुरन्धर राजर्षि जान कर सिद्ध और ज्ञानीमुनि मिलने आये ॥३॥

जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाये । मुनिन्ह सकल सादर करवाये ॥
कृस-सरीर मुनि-पट परिधाना । सत-समाज नित सुनहिँ पुराना ॥४॥

जहाँ जहाँ सुहावने तीर्थ थे, मुनियों ने आदर के साथ सभी (तीर्थ) कराये। वे दुर्बल, शरीर मुनियों की तरह वस्त्र पहने हुए नित्य सज्जन-मण्डली में पुराण सुनते हैं ॥४॥

दो०-द्वादस अच्छर मन्त्र पुनि, जपहिँ सहित अनुराग ।
बासुदेव-पद-पङ्करुह, दम्पति मन अति लाग ॥१४३॥

फिर राजा-रानी का मन वासुदेव भगवान् के चरण-कमलों में अच्छी तरह लग गया। वे प्रेम के साथ बारह अक्षरवाला मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) जपने लगे ॥१४३॥

चौ०-करहिँ अहार साक फल कन्दा । सुमिरहिँ ब्रह्म सच्चिदानन्दा ॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे । बारि-अधार मूल फल त्यागे ॥१॥

साग, फल और कन्द का आहार करके सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्मरण करते हैं। फिर भगवान् के लिये तपस्या करने लगे, मूलफल त्याग कर जल के सहारे रहने लगे ॥१॥

उर अभिलाष निरन्तर होई । देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥
अगुन अखंड अनन्त अनादी । जेहि चिन्तहिँ परमारथबादी ॥२॥

हृदय में निरन्तर अभिलाषा होती है कि उन परमात्मा नारायण को नेत्रों से देखूँ। जो निर्गुण, अविछिन्न, अनन्त और अनादि हैं, जिनका चिन्तन तत्वज्ञान के वक्ता (वेदान्ती) करते हैं ॥२॥

नेति नेति जेहि बेद निरूपा । चिदानन्द निरुपाधि अनूपा ॥
सम्भु बिरञ्चि बिष्नु भगवाना । उपजहिँ जासु अंस तेँ नाना ॥ ३ ॥

जिनको वेद—इति नहीं, अन्त नहीं कहते हैं, जो चैतन्य आनन्द-मय, उपाधिरहित और अनुपमेय हैं। जिन भगवान् के अंश से असंख्यों शिव ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न होते हैं ॥३॥

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीला तनु गहई ॥
जौं यह बचन सत्य स्रुति भाषा । तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥४॥

ऐसे स्वामी भी सेवक के वश में रहते हैं, वे भक्तों के कारण खेल से शरीर ग्रहण करते हैं। यदि यह वचन वेद सत्य कहता है तो हमारी अभिलाषा पूरी होगी ॥४॥

दो०-एहि बिधि बीते बरष षट,—सहस बारि आहार ।
सम्बत सप्त-सहस्र पुनि, रहे समीर अधार ॥१४४॥

इस प्रकार छः हज़ार वर्ष जलपान कर बीते, फिर सात हज़ार वर्ष पर्य्यन्त वायु के आधार पर रहे ॥१४४॥

चौ०-बरष सहस-दस त्यागेउ सोऊ । ठाढ़े रहे एक पग दोऊ ॥
बिधि हरि हर तप देखि अपारा । मनु समीप आये बहु बारा ॥१॥

दस हज़ार वर्ष उसको (पवन का आधार) भी त्याग दिया, राजा-रानी दोनों एक पाँव से खड़े रहे। उनका अपार तप देख कर बहुत बार ब्रह्मा, विष्णु और महेश मनु के पास आये ॥१॥

माँगहु बर बहु भाँति लोभाये । परम धीर नहिँ चलहिँ चलाये ॥
अस्थि--मात्र होइ रहेउ सरीरा । तदपि मनाग मनहिँ नहिँ पीरा ॥२॥

त्रिदेवों ने बहुत तरह लुभाया कि—राजन् ! वर माँगो, पर वे बड़े ही धीर हैं (अपने सिद्धान्त से किसी के) विचलाये नहीं विचलते हैं । उनका शरीर हड्डी मात्र हो रहा है, तो भी मन में ज़रा भी दुःख नहीं है ॥२॥

प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप-रानी ॥
माँगु माँगु बर भइ नभ बानी । परम गँभीर कृपामृत सानी ॥ ३ ॥

सर्वज्ञ प्रभु तपस्वी राजा-रानी को अनन्यगतिवाला अपना दास जानकर (प्रसन्न हुए) । अतिशय गम्भीर कृपा रूपी अमृत से मिली आकाश-वाणी हुई कि वर माँगो ॥३॥

मृतक--जिआवनि गिरा सुहाई । स्रवन-- रन्ध्र होइ उर जब आई ॥४॥
हृष्ट-पुष्ट तन भये सुहाये । मानहुँ अबहिँ भवन तेँ आये ॥ ४ ॥

मुर्दे को जिलानेवाली सुन्दर वाणी जब कान के छेदों से होकर हृदय में आई, तब वे शरीर से सुन्दर हृष्टपुष्ट (मोटे ताज़े) हो गये, ऐसे मालूम होते हैं मानों अभी घर से आये हों ॥४॥

दो०--स्रवन सुधा-सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात ।
बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात ॥१४५॥

कानों के लिए अमृत के समान वचन सुन कर उनका शरीर प्रेम से पुलकायमान हो गया । राजा मनु दण्डवत कर बोले, प्रीति हृदय में अमाती नहीं है ॥१४५॥

राजारानी का प्रेम से रोमाञ्चित होना; दण्डवत करना सात्विक अनुभाव है । यहाँ ईश्वर विषयक रति स्थायी भाव है ।

चौ०--सुनु सेवक सुरतरु-सुरधेनू । बिधि-हरि-हर-बन्दित पद-रेनू ॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक । प्रनत पाल सचराचर नायक ॥१॥

स्वायम्भुवमनु बोले—हे सेवकों के कल्पवृक्ष और कामधेनु ! सुनिये, आपके चरणरज की बन्दना ब्रह्मा, विष्णु और महेश करते हैं । हे शरणागत रक्षक ! आप चराचर के स्वामी संपूर्ण सुखों के देनेवाले और सेवा करते ही सहज में प्रसन्न होनेवाले हैं ॥१॥

जौँ अनाथ- हित हम पर नेहू । तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ॥
जो सरूप बस सिव मन माहीँ । जेहि कारन मुनि जतन कराहीँ ॥२॥

हे अनाथों के कल्याणकर्त्ता ! यदि मुझ पर आपका स्नेह है तो प्रसन्न होकर यह वरदान दीजिए जो स्वरूप शिवजी के मनमें बसता है और जिसके लिए मुनि लोग यत्न करते हैं ॥२॥

जो भुसुंडि-मन-मानस हंसा । सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिँ हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति- मोचन ॥३॥

जो कागभुसुण्डजी के मन रूपी मानसरोवर के हंस रूप हैं, जिसकी प्रशंसा सगुणनिर्गुण कह कर वेद करते हैं। हे दीनजनों के दुःख दूर करने वाले स्वामिन्! वह रूप हम आँख भर देखें, ऐसी कृपा कीजिए ॥३॥

दम्पति बचन परम प्रिय लागे । मृदुल बिनीत प्रेम-रस पागे ॥
भगत-बछल प्रभु कृपानिधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥४॥

राजा-रानी के वचन अत्यन्त प्रिय लगे, वे कोमल, नम्र और प्रेमरस से पगे हैं। सब जगत् में टिके हुए, भक्तवत्सल कृपानिधान प्रभु भगवान् प्रत्यक्ष हुए ॥४॥

दो०--नील-सरोरुह नील-मनि, नील-नीरधर- स्याम ।
लाजहिँ तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम ॥१४६॥

नीलकमल, नीलमणि और नीले मेघ के समान श्याम शरीर है, जिसकी शोभा को देख कर सौ सौ करोड़ कामदेव लजा जाते हैं ॥१४६॥

चौ०--सरद-मयङ्क-बदन छबि सीवाँ । चारु-कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ ॥
अधर-अरुन रद-सुन्दर नासा । बिधुकर निकर बिनिन्दक हासा ॥१॥

शरत्काल के चन्द्रमा के समान शोभा का हद मुख है, गाल और ठोढ़ी मनोहर तथा गला शङ्ख के बराबर है। ओंठ लाल रङ्ग के, दाँत और नाक सुन्दर हैं, हँसी चन्द्रमा की किरण-राशि को नीचा दिखानेवाली है ॥१॥

नव अम्बुज अम्बक-छबि नीकी । चितवनि ललित भावती जी की ॥
भृकुटि मनोज-चाप छबि-हारी । तिलक ललाट-पटल दुतिकारी ॥२॥

नवीन कमल के समान नेत्र अच्छी छविवाले हैं, सुन्दर चितवन मन को सुहावनेवाली है। भौंहें कामदेव के धनुष की शोभा को हरनेवाली हैं, माथे के आवरण (तह) पर शोभा बढ़ाने-वाला (चमकीला) तिलक है ॥२॥

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा । कुटिल केस जनु मधुप-समाजा ॥
उर श्रीबतस रुचिर बनमाला । पदिक-हार भूषन मनि-जाला ॥३॥

कानों में मकराकृत-कुण्डल और सिर पर मुकुट शोभायमान है, टेढ़े बाल ऐसे मालूम होते हैं मानों भँवरों के झुण्ड हों। अच्युत भगवान् के हृदय पर सुन्दर वनमाला और पदिक-हार हैं, (अङ्ग अङ्ग में) मणियों से जड़े आभूषण सजे हैं ॥३॥

काले भ्रमरों का झुण्ड शोभन होता ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात और कमल के फूलों से बनाई हुई माला 'वनमाला' कहलाती

है। रत्नजड़ित चौकी युक्त घुटने तक लटकनेवाला सुवर्ण का हार 'पदिकहार' कहाता है। 'श्रीवत्स' विष्णु भगवान् का नाम है, भृगुलता नहीं, भृगुलता को 'श्रीवत्सलाञ्छन' कहते हैं।

केहरि-कन्धर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुन्दर तेऊ॥
करि-कर सरिस-सुभग भुजदंडा। कटि निषङ्ग कर सर कोदंडा॥४॥

सिंह के समान कन्धों पर शोभन जनेऊ है, बाहु पर गहने भी सुन्दर हैं। हाथी के सूँड़ के समान मनोहर भुजदण्ड हैं, कमर में तरकस, हाथ में धनुष और बाण शोभित हैं॥४॥

दो०--तड़ित बिनिन्दक पीत-पट, उदर रेख बर तीनि॥
नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन-भँवर छबि छीनि॥१४७॥

पीताम्बर बिजली की शोभा को रद्द करनेवाला और पेट में अच्छी तीन लकीरें हैं। नाभी (ढोंड़री) ऐसी मनोहर मालूम होती है मानों वह यमुना के भवरों की शोभा को छीन लेती हो॥ १४७॥

नाभी का भवरों की छबि छीनना असिद्ध आधार है। इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—पद-राजीव बरनि नहि जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिँ जिन्ह माहीं॥
बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबि-निधि जग-मूला॥१॥

उन चरण-कमलों का वर्णन नहीं किया जा सकता, जिनमें मुनियों के मन रूपी भ्रमर निवास करते हैं। जगत् की मूल कारण, छबि की राशि आदिशक्ति बाँईं ओर समान रूपसे शोभित हैं॥१॥

जासु अंस उपजहिँ गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम-दिसि सीता सोई॥ २॥

जिस (आदिशक्ति) के अंश से असंख्यों गुणों की खानि लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती उत्पन्न होती हैं, जिनकी भौंहों के इशारे से जगत् होता है, रामचन्द्रजी की बाँईं ओर वेही सीताजी हैं॥२॥

छबि-समुद्र हरि रूप बिलोकी। एक टक रहे नयन पट रोकी॥
चितवहिँ सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिँ मनु सतरूपा॥३॥

छबि के समुद्र भगवान् का रूप देखकर एक टक हो गये, आँखों की पलकें रोक कर आदर के साथ अपूर्व शोभा देखने में मनु-शतरूपा तृप्ति नहीं मानते हैं॥ ३॥

हरष-बिबस तनु दसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी॥
सिर परसे प्रभु निज-कर-कञ्जा। तुरत उठाये करुना-पुञ्जा॥ ४॥

अधिक हर्ष से शरीर की सुध भुला गई, हाथ से पाँव पकड़ कर डण्डे की तरह गिर पड़े। दया की राशि प्रभु रामचन्द्रजी ने अपने कर-कमलों को उनके मस्तक पर स्पर्श कर के तुरन्त उठा लिया॥४॥

दो०—बोले कृपा-निधान पुनि, अति प्रसन्न मोहि जानि ।
माँगहु बर जोइ भाव मन, महादानि अनुमानि ॥ १४८ ॥

फिर कृपानिधान प्रभु बोले—मुझे अत्यन्त प्रसन्न जान कर और महान् दानी विचार कर तुम्हारे मन में जो भावे, वही वर माँगो ॥ १४८ ॥

दानोत्साह की परिपूर्णता 'दानवीर रस' है ।

चौ०—सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी । धरि धीरज बोले मृदु बानी ॥
नाथ देखि पद-कमल तुम्हारे । अब पूरे सब काम हमारे ॥१॥

प्रभु के वचन सुन दोनों हाथ जोड़ कर धीरज धारण कर के राजा कोमल वाणी से बोले । हे नाथ ! आप के चरण-कमलों को देख कर अब हमारी सब कामनाएँ पूरी हो गई ॥१॥

एक लालसा बड़ि उर माहीं । सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं ॥
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाँई । अगम लाग मोहि निज कृपिनाई ॥२॥

एक बड़ी लालसा मन में है, वह कही नहीं जाती है; क्योंकि सुगम भी है और दुर्गम भी । हे स्वामिन् ! आप को देने में बड़ी आसान हैं, पर मुझे अपनी क्षुद्रता के कारण कठिन जान पड़ती है ॥ २ ॥

जथा दरिद्र कल्पतरु पाई । बहु सम्पति माँगत सकुचाई ॥
तासु प्रभाव जान नहिँ सोई । तथा हृदय मम संसय होई ॥ ३ ॥

जिस प्रकार दरिद्र कल्पवृक्ष को पा कर बहुत सम्पत्ति माँगने में लजाता है । वह उसकी महिमा (माँगत अभिमत पाव फल, राव-रङ्क भल-पोच) को न जानता हो, उसी तरह मेरे मन में सन्देह होता है ॥ ३ ॥

सो तुम्ह जानहु अन्तरजामी । पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी ॥
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही । मोरे नहिँ अदेय कछु तोही ॥ ४ ॥

हे स्वामिन् ! आप वह जानते हैं; क्योंकि अन्तर्यामी हैं, मेरे मनोरथ को पूरा कीजिए । भगवान् बोले—हे राजन् ! सङ्कोच छोड़ कर मुझ से माँगो, मेरे पास ऐसा कुछ नहीं है जो तुम्हें न देने लायक हो ॥ ४ ॥

यहाँ 'मोही' शब्द श्लेपार्थी है, ऊपर कहे अर्थ के अतिरिक्त यह अर्थ भी निकलता है कि—राजन् ! तुम मुझे माँगना चाहते हो तो संकोच छोड़ कर मुझे माँगो । यह अर्थ भी कवि इच्छित है । इसलिए 'श्लेष अर्थालंकार' है ।

दो०—दानि-सिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहउँ सतभाउ ।
चाहउँ तुम्हहिँ समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ ॥१४९॥

मनुजी बोले—हे कृपानिधान दानियों के शिरोमणि नाथ ! सत्य सत्य कहता हूँ; स्वामी से कौनसा छिपावा है, मैं आप ही के समान पुत्र चाहता हूँ ॥१४९॥

परम प्रभु की मानमर्य्यादा के कारण राजा के मन में सङ्कोच उत्पन्न हुआ कि स्वामी को पुत्र होने के लिए कैसे कहूँ, इससे आप के समान कहना 'व्रीडा सञ्चारीभाव' है।

चौ०—देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥
आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥१॥

राजा की प्रीति देख कर और उनके अमूल्य वचन सुन कर कृपानिधान भगवान् बोले—हे राजन्! अपने बराबर कहाँ खोजने जाऊँ, इसलिए मैं ही आ कर तुम्हारा पुत्र होऊँगा॥१॥

'अपने बराबर कहाँ खोजने जाऊँ' इस वाक्य में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि ब्रह्माण्ड में मेरी बराबरी का कोई नहीं है, इससे मैं पुत्र होऊँगा।

सतरूपहि बिलोकि कर जोरे। देबि माँगु बर जो रुचि तोरे॥
जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥२॥

शतरूपा को हाथ जोड़े हुए देख कर भगवान् बोले—हे देवि! तुम्हारी जो इच्छा हो, वर माँगो। रानी ने कहा—हे नाथ, कृपा के स्थान! चतुर राजा ने जो वर माँगा; वह मुझे बहुत ही प्रिय लगा है॥२॥

प्रभु परन्तु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत-हित तुम्हहिँ सुहाई॥
तुम्ह ब्रह्मादि-जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल-उर-अन्तरजामी॥३॥

परन्तु हे प्रभो! यद्यपि भक्तों का कल्याण करना आप को सुहाता है, तो भी मुझ से बड़ी ढिठाई होती है (क्षमा कीजिए)। आप ब्रह्मा आदि देवों को उत्पन्न करनेवाले, जगत् के स्वामी, परब्रह्म और सब के हृदय की बात जाननेवाले हैं॥३॥

अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रबान पुनि सोई॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिँ जो गति लहहीं॥४॥

ऐसा समझते मन में सन्देह होता है, फिर जो स्वामी ने कहा वह निश्चय ही (अवश्य-म्भावी) है। हे नाथ! आपके जो अनन्यभक्त (ख़ास दास) हैं, वे जो सुख और जो गति पाते हैं॥४॥

दो०—सोइ-सुख सोइ-गति सोइ-भगति, सोइ निज चरन-सनेहु।
सोइ-बिबेक सोइ-रहनि प्रभु, हमहिँ कृपा करि देहु॥१५०॥

हे प्रभो! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, अपने चरणों में स्नेह, वही ज्ञान और वही रीति कृपा कर के हमें दीजिए॥१५०॥

चौ०—सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बच रचना। कृपासिन्धु बोले मृदु बचना॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥१॥

सुन्दर, कोमल और अभिप्राय-गर्भित वचनों की रचना सुन कर कृपा-सागर हरि मधुर वचन बोले। जो तुम्हारे मन की अभिलाषाएँ हैं, वह सब मैं ने दी; इसमें सन्देह नहीं॥१॥

मातु बिबेक अलौकिक तोरे । कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥
बन्दि चरन मनु कहेउ बहोरी । अउर एक बिनती प्रभु मोरी ॥ २ ॥

हे माता ! मेरी कृपा से तेरा असाधारण ज्ञान कभी न मिटेगा । मनु ने फिर चरणों में प्रणाम कर के कहा—हे प्रभो ! मेरी एक और प्रार्थना है ॥ २ ॥

सुत-बिषयक तव पद-रति होऊ । मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना । मम जीवन तिमि तुम्हहिँ अधीना ॥३॥

आपके चरणों में मेरी प्रीति पुत्र मान कर हो, चाहे मुझे कोई महामूर्ख ही क्यों न कहे । जैसे मणि के बिना साँप और पानी के बिना मछली, वैसे मेरा जीना आप के अधीन रहे अर्थात् वियोग दशा में प्राण त्याग दूँ ॥ ३ ॥

अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ । एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी । बसहु जाइ सुरपति-रजधानी ॥४॥

ऐसा वर माँग कर पाँव पकड़े रहे, करुणानिधान भगवान् ने कहा—ऐसा ही होगा । अब तुम मेरी आज्ञा मान कर इन्द्र की राजधानी (अमरावती पुरी) में बसो ॥ ४ ॥

सो०—तहँ करि भोग बिसाल, तात गये कछु काल पुनि ।
होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥१५१॥

हे तात ! वहाँ बड़ा भोग-विलास कर के फिर कुछ काल बीतने पर आप अयोध्या के राजा होंगे, तब मैं आप का पुत्र होऊँगा ॥ १५१ ॥

चौ०—इच्छामय नर-बेष सँवारे । होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता । करिहउँ चरित भगत-सुख-दाता ॥१॥

अपनी इच्छा से मनुष्य रूप बना कर आप के घर में प्रकट होऊँगा । हे तात ! अपने अंशों समेत शरीर धारण कर भक्तों को सुख देनेवाला चरित्र करूँगा ॥ १ ॥

मनुजी ने केवल भगवान् को पुत्र होने का वर माँगा; किन्तु परमात्मा ने अपने अंशों के सहित अवतार लेने को कहा, चितचाही बात से अधिक लाभ होना 'द्वितीय प्रहर्षण अलंकार' है ।

जेहि सुनि सादर नर बड़भागी । भव तरिहहिँ ममता-मद त्यागी ॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥२॥

जिसको आदर के साथ सुन कर बड़े भाग्यशाली मनुष्य ममता और मद त्याग कर संसार से पार हो जायँगे । यह मेरी माया आदिशक्ति (सीता) जिसने जगत् को उत्पन्न किया है, वे भी जन्म लेंगी ॥ २ ॥

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा । सत्य सत्य पन सत्य हमारा ॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना । अन्तरधान भये भगवाना ॥ ३ ॥

मैं आप की अभिलाषा पूरी करूँगा, हमारी प्रतिज्ञा सत्य है; सत्य है; सत्य है । कृपानिधान भगवान् बार बार ऐसा कह कर अदृश्य हो गये ॥ ३ ॥

दम्पति उर धरि भगति कृपाला । तेहि आस्रमनि बसे कछु काला ।
समय पाइ तनु तजि अनयासा । जाइ कीन्ह अमरावति बासा ॥४॥

पति-पत्नी दोनों ने कृपालु भगवान् की भक्ति हृदय में रख कर कुछ काल उस आश्रम में निवास किया । समय प्राप्त होने पर बिना प्रयास ही शरीर त्याग कर अमरावती पुरी में जा कर बसे ॥ ४ ॥

दो०—यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कहा वृषकेतु ।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि, राम-जनम कर हेतु ॥ १५२ ॥

यह अतिशय पवित्र इतिहास शिवजी ने पार्वतीजी से कहा । याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—हे भरद्वाज ! फिर रामचन्द्रजी के जन्म का दूसरा कारण सुनिए ॥ १५२ ॥

चौ०—सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी । जो गिरिजा प्रति सम्भु बखानी ॥
बिस्व-बिदित एक कैकय देसू । सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू ॥१॥

हे मुनि ! इस पुरानी और पवित्र कथा को सुनिए, जिसे शिवजी ने गिरिजा से बखान कर कहा । संसार में प्रसिद्ध एक केकय देश है, वहाँ सत्यकेतु नामक राजा रहते थे ॥ १ ॥
केकय देश काश्मीर राज्य के अन्तर्गत है । अब वह कक्का के नाम से विख्यात है । पहले इस प्रान्त की राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी । सत्यकेतु यहीं के राजा थे ।

धरम-धुरन्धर नीति-निधाना । तेज प्रताप सील बलवाना ॥
तेहि के भये जुगल-सुत बीरा । सब-गुन-धाम महा-रनधीरा ॥२॥

वह धर्म-धुरन्धर, नीति का स्थान, तेजस्वी, प्रतापवान्, शीलवान् और बली था । उसके दो वीर पुत्र हुए, जो सब गुणों के धाम और, रणधीर थे ॥ २ ॥

राज-धनी जो जेठ सुत आही । नाम प्रताप-भानु अस ताही ॥
अपर-सुतहि अरिमर्दन नामा । भुज-बल-अतुल अचल-सङ्ग्रामा ॥३॥

जो जेठा पुत्र राज्य का अधिकारी है, उसको भानुप्रताप ऐसा नाम है । दूसरे पुत्र का अरिमर्दन नाम है, उसकी भुजाओं में अपार बल था और युद्ध में अटल (पीछे हटनेवाला नहीं) था ॥ ३ ॥

भाइहि भाइहि परम समीती । सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥
जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा । हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥४॥

भाई भाई में बड़ी मित्रता थी, (दोनों का परस्पर) प्रेम समस्त दोष और छल से रहित था। राजा सत्यकेतु जेठे पुत्र को राज्य देकर आप भगवान् (की अराधना) के लिए वन को चले गये ॥ ४ ॥

दो०—जब प्रताप-रबि भयउ नृप, फिरी दोहाई देस ।
प्रजा पाल अति बेद बिधि, कतहुँ नहीं अघ लेस ॥१५३॥

जब भानुप्रताप राजा हुए—इसकी घोषणा (मुनादी) देश में फिर गई, तब वे वेद की रीति से अधिकतर प्रजापालन करने लगे। कहीं भी पाप का लेश नहीं रह गया ॥ १५३ ॥

चौ०—नृप-हित-कारक सचिव सयाना । नाम धरमरुचि सुक्र समाना ॥
सचिव सयान बन्धु-बल-बीरा । आपु प्रताप-पुञ्ज रनधीरा ॥१॥

मन्त्री का नाम धर्मरुचि था, वह राजा की भलाई करनेवाला शुक्र के समान चतुर था। मन्त्री चतुर, भाई बलवान् शूरवीर और आप प्रताप की राशि रणधीर थे ॥ १ ॥

सेन सङ्ग चतुरङ्ग अपारा । अमित सुभट सब समर जुझारा ॥
सेन बिलोकि राउ हरषाना । अरु बाजे गहगहे निसाना ॥२॥

साथ में अपार चतुरङ्गिनी सेनाएँ थीं, उनमें असंख्यों योद्धाएँ सब लड़ाई में जूझने वाले थे। सेना देख कर राजा प्रसन्न हुआ और धूम के साथ नगाड़े बजने लगे ॥ २ ॥

राजा का फ़ौज की ओर निहार कर प्रसन्न होना और सेनापतियों का समझ जाना कि महराज विजय के हेतु प्रस्थान करना चाहते हैं, इस लिए गम्भीर डङ्का बजने का आदेश करना 'सूक्ष्म अलंकार' है।

बिजय हेतु कटकई बनाई । सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥
जहँ तहँ परी अनेक लराई । जीते सकल भूप बरिआई ॥३॥

जीत के लिए कटक सजा कर और सुन्दर दिन विचार कर राजा डङ्का बजा कर चले। जहाँ तहाँ बहुत सी लड़ाइयाँ पड़ीं, सब राजाओं को जोरावरी से जीत लियो ॥ ३ ॥

सप्त-दीप भुज-बल बस कीन्हे । लेइ लेइ दंड छाड़ि नृप दीन्हे ॥
सकल अवनि-मंडल तेहि काला । एक प्रताप-भानु महिपाला ॥ ४ ॥

सातों द्वीपों को भुजाओं के बल से वश में कर लिया और दण्ड लेकर राजाओं को छोड़ दिया। उस समय सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल के एक भानुप्रताप ही सार्वभौम राजा हुए ॥ ४ ॥

दो०—स्ववस बिस्व करि बाहु बल, निज-पुर कीन्ह प्रवेस ॥
अरथ-धरम-कामादि सुख, सेवइ समय नरेस ॥ १५४ ॥

बाहुबल से संसार को वश में कर के अपने पुर में प्रवेश किया । अर्थ, धर्म काम और मोक्ष-सुख का सेवन राजा समय समय पर करता था ॥ १५४ ॥

कर-संग्रह, राज्य प्रबन्ध आदि अर्थ-सुख का सेवन है । गुरु-देवता-ब्राह्मणों का सत्कार, यज्ञ, दानादि धर्म-सुख का सेवन है । स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी और सम्बन्धियों की रुचि का पालन, विविध-विनोद काम-सुख का सेवन है । ईश्वर-उपासना, तत्व विचार, हरिकीर्त्तनादि मोक्ष-सुख का सेवन है ।

चौ०—भूप प्रताप-भानु बल पाई । कामधेनु भइ भूमि सुहाई ॥
सब दुख बरजित प्रजा सुखारी । धरम-सील सुन्दर नर नारी ॥१॥

राजा भानुप्रताप का बल पा कर पृथ्वी कामधेनु के समान सुहावनी हुई । सारी प्रजा दुःख से रहित सुखी रहती है, स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा हैं ॥ १ ॥

सचिव धरमरुचि हरि-पद-प्रीती । नृप-हित-हेतु सिखव नित नीती ॥
गुरु सुर सन्त पितर महिदेवा । करइ सदा नृप सब कै सेवा ॥२॥

धर्मरुचि मन्त्री भगवान् के चरणों का प्रेमी, राजा की भलाई के लिए नित्य ही सदाचार सिखाता था । गुरु, देवता, सज्जन, पितृ-गण और ब्राह्मण सब की सेवा राजा सदा करता था ॥२॥

भूप-धरम जे बेद बखाने । सकल करइ सादर सुख माने ॥
दिन-प्रति देइ बिबिध बिधि दाना । सुनइ सास्त्र बर बेद पुराना ॥३॥

राजाओं के धर्म जो वेद वर्णन करते हैं, वह सम्पूर्ण आदर के साथ सुख मान कर करता है । प्रतिदिन अनेक प्रकार का दान देता है और सुन्दर वेद, शास्त्र, पुराण सुनता है ॥३॥

नाना बापी कूप तड़ागा । सुमन-बाटिका सुन्दर बागा ॥
बिप्र-भवन सुर-भवन सुहाये । सब तीरथन्ह बिचित्र बनाये ॥ ४ ॥

नाना प्रकार की विलक्षण बावलियाँ, कुएँ, तालाब, फुलवारियाँ, सुन्दर बगीचे, ब्राह्मणों के घर और देवताओं के सुहावने मन्दिर सब तीर्थों में बनवाये ॥४॥

दो०—जहँ लगि कहे पुरान स्रुति, एक एक सब जाग ।
बार सहस्र सहस्र नृप, किये सहित अनुराग ॥१५५॥

वेद और पुराणों ने जहाँ तक एक एक यज्ञ कहे हैं, वे सब प्रीति के साथ राजा ने हज़ार हज़ार बार किए ॥१५५॥

चौ०-हृदय न कछु फल अनुसन्धाना । भूप बिबेकी परम सुजाना ॥
करइ जे धरम करम मन बानी । बासुदेव अरपित नृप-ज्ञानी ॥१॥

राजा बड़ा समझदार और चतुर था, सत्कर्मों के फल की चाह मन में कुछ नहीं रखता था। कर्म, मन और वचन से जो धर्म करता, वह ज्ञानी नरेश उन्हें भगवान् वासुदेव को अर्पण करता था ॥१॥

चढ़ि बर बाजि बार एक राजा । मृगया कर सब साजि समाजा ॥
बिन्ध्याचल गँभीर बन गयऊ । मृग पुनीत बहु मारत भयऊ ॥२॥

एक बार राजा अहेर के सब सामान से सज कर और अच्छे घोड़े पर सवार हो कर विन्ध्याचल के गम्भीर वन में गये; वहाँ बहुत से पवित्र मृगों को मारा ॥२॥

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू । जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ॥
बड़ बिधु नहिँ समात मुख माहीँ । मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीँ ॥३॥

वन में फिरते हुए राजा ने एक सुअर देखा, वह ऐसा मालूम होता था मानों चन्द्रमा को मुख से पकड़ कर राहु जङ्गल में छिपा हो। चन्द्रमा बड़े हैं उसके मुँह में अमाते नहीं हैं, ऐसा जान पड़ता है मानों वह क्रोधके वश उन्हें उगलता नहीं है ॥३॥

शूकर और राहु, उसके दाँत (खाँग) और चन्द्रमा परस्पर उपमेय उपमान हैं। राहु का चन्द्रमा को पकड़ कर वन में छिपना असिद्ध आधार है, क्योंकि दोनों आकाशचारी हैं, थल-बिहारी नहीं। इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना कि मानों चन्द्रमा बड़े होने के कारण मुख में समाते नहीं हैं और कोध से वह छोड़ता नहीं है 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कोल कराल दसन छबि गाई । तनु बिसाल पीवर अधिकाई ॥
घुरघुरात हय आरव पाये । चकित बिलोकत कान उठाये ॥४॥

यह सुअर के भीषण दाँतों की छवि गाई (कही) है, उसका विशाल शरीर बहुत ही मोटा-ताजा है। घोड़े की आहट पा कर घुरघुराता है और चकपका कर कान उठाये हुए (इधर उधर) निहारता है ॥४॥

'स्थूल पीवरे इत्यमरः' स्थूल को पीवर कहते हैं अर्थात् माँस से लदा हुआ। पिछली चौपाई का अर्थ कोई कोई ऐसा भी करते हैं कि सुअर घुरघुराता था, राजा का घोड़ा उसका आरव पाकर विस्मय-युक्त कान उठाये चारों ओर देख रहा था।

दो०-नील-महीधर-सिखर सम, देखि बिसाल बराह ।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हाँकि न होइ निबाह ॥१५६॥

नील-पर्वत के शिखर के समान बड़ा भारी सुअर देख कर राजा ने घोड़ा को चाबुक लगा कर तेज़ी से चलाया और ललकारा कि अब तेरा बचाव नहीं हो सकता ॥ १५६ ॥

चौ०-आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत-गति भाजी॥
तुरत कीन्ह नृप सर सन्धाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना॥१॥

अत्यन्त वेग से घोड़े को आता देख कर सुअर हवा की चाल से भगा। राजा ने तुरन्त धनुष पर बाण चढ़ाया, बाण को देखते ही वह ज़मीन में दुबक गया॥१॥

तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। रिस बस भूप चलेउ सँग लागा॥२॥

राजा ने देख देख कर बाण चलाया, पर सुअर ने छल से अपना शरीर बचाया। कभी छिप कर कभी प्रगट हो कर वह मृग भागा जाता है, क्रोधवश राजा साथ लगे चले जाते हैं॥२॥

गयउ दूरि घन-गहन बराहू। जहँ नाहिँन गज बाजि निबाहू॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृग-मग तजइ नरेसू॥३॥

शूकर घोर जङ्गल में दूर निकल गया, जहाँ हाथी घोड़े का गुज़र नहीं है। राजा निपट अकेले वन का भारी कष्ट सह रहे हैं, तो भी मृग का पीछा नहीं छोड़ते हैं॥३॥

कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरि-गुहा-गँभीरा॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई॥४॥

सुअर ने देखा कि राजा बड़ा साहसी है (डरा कि यह बिना वध किए पीछा न छोड़ेगा, तब वह एक) पहाड़ की गहरी गुफा में भाग कर पैठ गया। उसको दुर्गम देख कर राजा बहुत पछताये और लौटे, पर उस बड़े जङ्गल में भुला गये॥४॥

दो०-खेद-खिन्न छुद्धित तृषित, राजा बाजि समेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर, जल बिनु भयउ अचेत॥१५७॥

(शिकार निकल जाने के) खेद से दुखी उस पर भूख और प्यास से व्याकुल घोड़े के सहित राजा नदी तालाब ढूँढ़ते ढूँढ़ते बिना पानी के अचेत हो गये॥१५७॥

चौ०-फिरत बिपिन आस्रम एक देखा। तहँ बस नृपति कपट-मुनि बेखा॥
जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई। समर सेन तजि गयउ पराई॥१॥

वन में फिरते हुए एक आश्रम देखा, वहाँ कपट से मुनि के रूप में एक राजा रहता था। जिसका देश राजा भानुप्रताप ने जीत लिया था, वह युद्ध छोड़ कर भाग गया था (अभिमान से सन्धि कर के राज्य लेना उसे स्वीकार नहीं हुआ)॥१॥

समय प्रताप-भानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी॥
गयउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहि नृप अभिमानी॥२॥

भानु प्रताप का समय जान कर और अपना अत्यन्त दुर्दिन बिचार कर घर नहीं गया।

(पराजित होने की उसके) मन में बड़ी ग्लानि हुई, वह अभिमानी राजा भानुप्रताप से नहीं मिला ॥२॥

रिस उर मारि रङ्क जिमि राजा । बिपिन बसइ तापस के साजा ॥
तासु समीप गवन नृप कीन्हा । यह प्रताप-रवि तेहि तब चीन्हा ॥३॥

वह राजा दरिद्री की तरह हृदय में क्रोध पचाकर तपस्वी के बनाव से वन में रहता है। जब राजा भानुप्रताप उसके समीप गये, तब उसने पहचान लिया कि यह भानुप्रताप है ॥३॥

राउ तृषित नहिँ सो पहिचाना । देखि सुवेष महामुनि जाना ॥
उतरि तुरँग तेँ कीन्ह प्रनामा । परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥४॥

राजा भानुप्रताप प्यासे थे इससे उसे नहीं पहचाना, अच्छा वेश देखकर महामुनि समझा। घोड़े से उतर कर प्रणाम किया, पर बड़े चतुर हैं अपना नाम नहीं बतलाया ॥४॥

दो०-भूपति तृषित बिलोकि तेहि, सरवर दीन्ह दिखाय ।
मज्जन पान समेत हय, कीन्ह नृपति हरषाय ॥१५८॥

राजा के प्यासा देख कर उसने जाकर तालाब बतला दिया। राजा भानुप्रताप ने स्नान कर और घोड़े के सहित प्रसन्नता-पूर्वक जलपान किया ॥१५८॥

चौ०-गै स्रम सकल सुखी नृप भयऊ । निज आस्रम तापस लेइ गयऊ ॥
आसन दीन्ह अस्त रबि जानी । पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥१॥

सम्पूर्ण थकावट दूर हो जाने से राजा सुखी हुए, तब वह तपस्वी उन्हें अपने आश्रम में ले गया। सूर्यास्त जान कर आसन दिया, फिर कोमल वाणी से तपस्वी राजा बोला ॥१॥

को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले । सुन्दर जुबा जीव पर हेले ॥
चक्रवर्ति के लच्छन तोरे । देखत दया लागि अति मोरे ॥२॥

तुम कौन हो और वन में अकेले क्यों फिर रहे हो? सुन्दर तरुण अवस्था और जीव पर खेल रहे हो? तुम में चक्रवर्ती के लक्षण हैं, वह देख कर मुझे बड़ी दया लगी ॥२॥

कपट मुनि का राजा के प्रति बनावटी दया दिखाना 'भावाभास' है।

नाम प्रताप-भानु अवनीसा । तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ॥
फिरत अहेरे परेउँ भुलाई । बड़े भाग देखेउँ पद आई ॥ ३ ॥

हे मुनिराज! सुनिए, एक भानुप्रताप नाम के राजा हैं, मैं उन्हीं का मन्त्री हूँ। वन में अहेर के लिए फिरता हुआ भूल पड़ा, बड़े भाग्य से आकर आपके चरणों को देखा ॥३॥

हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा । जानत हैाँ कछु भल होनिहारा ॥
कह मुनि तात भयउ अँधियारा । जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ॥४॥

हम को आप का दर्शन दुर्लभ था, जानता हूँ कि कुछ भला होनेवाला है। कपटी मुनि ने कहा—हे तात! अँधेरा हो गया, आप का नगर दो सौ अस्सी कोस है ॥४॥

दो०—निसा-घोर गम्भीर-बन, पन्थ न सुनहु सुजान ।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह, जायहु होत बिहान ॥

हे सुजान ! सुनिए, रात भयङ्कर (अँधेरी) है और इस घने वन में रास्ता नहीं है । ऐसा समझ कर आज तुम यहाँ रह जाओ, सवेरा होते चले जाना ।

तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ ।
आपु न आवइ ताहि पहिँ, ताहि तहाँ लेइ जाइ ॥१५९॥

तुलसीदासजी कहते हैं—जैसा होनहार होता है वैसी ही सहायता मिल जाती है । भावी होनेवाले के पास नहीं आती तो उसी को वहाँ (घटना स्थल पर) पहुँचा देती है ॥१५९॥

कहाँ राजा भानुप्रताप की राजधानी और कहाँ यह वनवासी कपट मुनि ! भावी की प्रबलता देखिए, उसने भानुप्रताप को पेच में फँसा कर इस बीहड़ जङ्गल में कपटी के पास पहुँचा ही दिया । उसी की प्रेरणा से विज्ञ राजा कपट वेशधारी शत्रु को नहीं पहचान सके।

चौ०—भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा । बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा ॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही । चरन बन्दि निज-भाग्य सराही ॥१॥

राजा ने कहा—बहुत अच्छा स्वामिन्, आज्ञा सिर पर रख कर घोड़े को पेड़ से बाँध दिया और आप बैठ गये । राजा भानुप्रताप ने बहुत प्रकार उसकी बड़ाई की और चरणों में प्रणाम कर के अपने भाग्य की सराहना की ॥१॥

पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई । जानि पिता प्रभु करउँ ढिठाई ॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी । नाथ नाम निज कहहु बखानी ॥२॥

फिर सुन्दर कोमल वाणी से बोले—हे प्रभो ! आप को पिता के समान जान कर ढिठाई करता हूँ (क्षमा कीजिए) । हे मुनिनाथ ! मुझे अपना पुत्र और सेवक समझ कर अपना नाम बखान कर कहिए ॥२॥

तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना । भूप सुहृद सो कपट सयाना ॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा । छल बल कीन्ह चहइ निज काजा ॥३॥

राजा भानुप्रताप उसको नहीं जानते हैं, पर वह राजा को जानता है, राजा शुद्ध हृदय हैं; किन्तु वह धोखेबाज़ी में निपुण हैं। एक तो शत्रु; दूसरे क्षत्रिय; फिर राजा; छल के बल से वह अपना काम (विजय) करना चाहता है ॥३॥

अनिष्ट करने के लिए एक शत्रु ही काफी कारण है, तिस पर क्षत्रिय, वैरी और राजा अन्य प्रबल हेतु भी वर्तमान हैं 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है ।

समुझि राज-सुख दुखित अराती । अवाँ अनल इव सुलगइ छाती ॥
सरल बचन नृप के सुनि काना । बयर सँभारि हृदय हरषाना ॥४॥

राज्य का सुख समझ कर (मन में वह राजा भानुप्रताप का) शत्रु दुखी था । उसकी छाती आवाँ की आग की तरह सुलगती थी । राजा भानुप्रताप की सीधी (छल-हीन) बात कान से सुन कर और दुश्मनी की याद कर के हृदय में प्रसन्न हुआ ॥४॥

दो०—कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ जुगुति समेत ।
नाम हमार भिखारि अब, निरधन रहित निकेत ॥१६०॥

वह युक्ति-पूर्वक छल से मिली हुई कोमल वाणी बोला—अब हमारा नाम भिखारी है, बिना धन का और घर से हीन हूँ ॥१६०॥

श्लिष्ट शब्दों द्वारा कपट-मुनि ने अपना छिपा वृत्तान्त स्वयम् खोल कर प्रकट कर दिया कि तब (पहले) नहीं, अब मैं भिखारी, निर्धन और घरहीन हुआ हूँ। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

चौ०—कह नृप जे बिज्ञान निधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥
रहहिँ अपनपौ सदा दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये ॥१॥

राजा भानुप्रताप ने कहा—जो आप के समान विज्ञान के स्थान हैं, वे अभिमान से रहित होते हैं। सदा अपने को छिपाये रहते हैं, बुरा वेश बनाने ही में अपना कुशल समझते हैं ॥१॥

तेहि तेँ कहहिँ सन्त स्रुति टेरे। परम अकिञ्चन प्रिय हरि केरे ॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरञ्चि सिवहि सन्देहा ॥२॥

इसी से सन्त और वेद पुकार कर कहते हैं कि दीन (धन हीन) ही भगवान् को प्रिय हैं। आप के समान निर्धन, भिक्षुक और गृह-हीनों पर तो ब्रह्मा और शिव को सन्देह होता है ॥२॥

ब्रह्मा और शिवजी के सन्देह द्वारा लक्षणा-मूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि जो दूसरों को धनेश बना देनेवाले, दाताओं के शिरोमणि और वैकुण्ठ-धाम देनेवाले हैं, वे स्वयम् सदा निर्धन, अगेह तथा मङ्गनों के वेश में रहते हैं।

जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिय अब स्वामी ॥
सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु बिषय बिस्वास बिसेखी ॥३॥

जो हैं, सो हैं, मैं आप के चरणों को नमस्कार करता हूँ, हे स्वामिन्! अब मुझ पर कृपा कीजिए। राजा की स्वाभाविक प्रीति और अपने विषय में अधिक विश्वास देख कर (मन में खूब प्रसन्न हुआ कि निशाना ख़ाली नहीं गया) ॥३॥

सब प्रकार राजहि अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई ॥
सुनु सतिभाउ कहउँ महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला ॥४॥

सब तरह से राजा को अपने वश में कर के अधिक स्नेह दिखाते हुए बोला—हे राजन्! सुनो, सत्य सत्य कहता हूँ, यहाँ रहते मुझे बहुत समय बीत गया ॥४॥

दो०—अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ, मैँ न जनावउँ काहु।
लोकमान्यता अनल सम, कर तप-कानन दाहु ॥

अब तक न मुझे कोई मिला और न मैं ने अपने को किसी पर प्रकट किया। संसार की प्रतिष्ठा अग्नि के समान है, वह तप रूपी वन को जला देती है।

कपट-मुनि का ज्ञान, वैराग्य वर्णन करना सत्य न होने के कारण 'शान्त रसाभास' है।

सो०–तुलसी देखि सुबेखु, भूलहिँ मूढ़ न चतुर नर ।
सुन्दर केकिहि पेखु, बचन सुधा-सम असन-अहि ॥१६१॥

तुलसीदासजी कहते हैं—सुन्दर वेश देख कर चतुर मनुष्य जो मूर्ख नहीं हैं वे भी भूल जाते हैं। सुन्दर मुरैले को देखो, बोली अमृत के समान और भोजन सर्प का (उसकी बोली पर मूर्ख और चतुर सभी मनुष्य मोहित हो जाते हैं) ॥ १६१ ॥

यदि इस सोरठे के दूसरे चरण का यों अर्थ किया जाय कि—"मूर्ख भूल जाते हैं, किन्तु चतुर मनुष्य नहीं भूलते" तो शङ्का उत्पन्न होती है कि राजा भानुप्रताप परम चतुर थे, मूर्ख नहीं, फिर वे क्यों भूले? यदि यह कहा जाय कि मूर्ख नहीं भूलते चतुर नर ही भूलते हैं, तो यह अर्थ नहीं अनर्थ होगा।

चौ०–ता तेँ गुपुत रहउँ जग माहीँ। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीँ॥
प्रभु जानत सब बिनहिँ जनाये। कहहु कवन सिधि लोक रिझाये ॥१॥

मैं इसी से संसार में छिपा रहता हूँ, भगवान् को छोड़ अन्य से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। बिना जनाये ही प्रभु सब जानते हैं, फिर कहिए? लोगों को रिझाने से कौन सी सिद्धि हो सकती है ॥१॥

तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरे। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरे॥
अब जौँ तात दुरावउँ तोही। दारुन दोष घटइ अति मोही ॥२॥

तुम निश्छल सुबुद्धिवाले मेरे अतिशय प्रिय हो, मुझ पर तुम्हारी प्रीति और विश्वास है। हे तात! अब यदि तुम से छिपाता हूँ तो मुझे बड़ा भीषण दोष लगता है ॥२॥

अपना कार्य सिद्ध करने के लिए कपट-मुनि का छल से राजा पर प्रेम दिखाना राजा विषयक रति का भावाभास है।

जिमि जिमि तापस कथइ उदासा। तिमि तिम नृपहि उपज बिस्वासा॥
देखा स्वबस करम-मन-बानी। तब बोला तापस बगध्यानी ॥३॥

जैसे जैसे वह तपस्वी वैराग्य कहता है, तैसे तैसे राजा को विश्वास उत्पन्न होता जाता है। जब कर्म, मन और वचन से राजा को अपने अधीन में देखा, तब बगुला के समान ध्यान लगानेवाला तपस्वी बोला ॥३॥

नाम हमार एकतनु भाई। सुनि नृप बोलेउ पुनि सिर नाई॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक अति आपन जानी ॥४॥

हे भाई! हमारा नाम एकतनु है, यह सुन कर राजा शिर नवा कर फिर बोले—स्वामिन्! मुझे अपना अत्यन्त सेवक जान कर नामका अर्थ बखान कर कहिए ॥४॥

दो०-आदि सृष्टि उपजी जबहि, तब उतपति भइ मोरि
नाम एकतनु हेतु तेहि, देह न धरी बहोरि ॥१६२॥

कपटी मुनि बोला—आदि में जब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, तब मेरी पैदाइश हुई। एकतनु नाम इस कारण है कि मैंने फिर दूसरी देह नहीं धारण की ॥१६२॥

नाम के अर्थको अनोखी युक्ति से समर्थन करना 'काव्यालिङ्ग अलंकार' है।

चौ०-जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप तैं दुर्लभ कछु नाहीं ॥
तप बल तैं जग सृजइ बिधाता। तप बल बिष्नु भये परित्राता ॥१॥

हे पुत्र! मनमें आश्चर्य मत करो, तपस्या से कुछ अगम नहीं है। देखो—तपस्या ही के बल ब्रह्मा जगत की रचना करते हैं और तप के ही बल से विष्णु पालन करनेवाले हुए हैं ॥१॥

एकतनु का अर्थ सुन कर राजा आश्चर्यान्वित हुए और विचारने लगे कि सृष्टि के आदि में इस नाम का उल्लेख वेद-शास्त्रों में तो नहीं है? वह छली मुनि राजा के भीतरी भाव को ताड़ गया, फिर विश्वास दृढ़ करने योग्य बातें कहना 'पिहित अलंकार' है।

तप बल सम्भु करहिं सङ्घारा। तप तैं अगम न कछु संसारा ॥
भयउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहइ सो लागा ॥२॥

तपस्या ही के बल रुद्र संहार करते हैं। तप से संसार में कुछ भी दुर्गम नहीं है। यह सुन कर राजा को बड़ा प्रेम हुआ, फिर वह पुरानी कथाएँ कहने लगा ॥२॥

धरम करम इतिहास अनेका। करइ निरूपन बिरति बिबेका ॥
उद्भव-पावन-प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥३॥

नाना प्रकार के धर्म और कर्मों के इतिहास तथा ज्ञान वैराग्य का वर्णन किया। उत्पत्ति, पालन और प्रलय की बहुत ही अचरजभरी कहानियाँ उसने बखान कर कहीं ॥३॥

सुनि महीस तापस बस भयऊ। आपन नाम कहन तब लयऊ ॥
कह तापस नृप जानउँ तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ॥४॥

सुन कर राजा तपस्वी के वश में हो गये, तब अपना नाम कहने के लिये उत्सुक हुए। तपस्वी ने कहा—राजन् मैं तुझे जानता हूँ, तुमने जो छिपाव किया वह मुझे बहुत अच्छा लगा ॥४॥

राजा अपना नाम कहने नहीं पाये कि बीच में बात काट कर अपनी योग्यता दिखाते हुए तपस्वी का बोल उठना पिहित अलंकार की ध्वनि है।

सो०-सुनु महीस असि नीति, जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति, सोइ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

हे राजन्! सुनो; ऐसी नीति है कि राजा जहाँ तहाँ अपना नाम नहीं कहते। तुम्हारी वही चतुराई विचार कर (कि नीतिज्ञ हो) तुझ पर मेरी अत्यन्त प्रीति हुई ॥१६३॥

चौ०--नाम तुम्हार प्रताप-दिनेसा, सत्यकेतु तव पिता नरेसा॥
गुरु प्रसाद सब जानिय राजा, कहिय न आपन जानि अकाजा॥१॥

हे राजन्! तुम्हारा नाम भानुप्रताप है और सत्यकेतु तुम्हारे पिता हैं। नरनायक! गुरु की कृपा से सब जानता हूँ, अपनी हानि समझ (ऐसी बातें) कहता नहीं॥१॥

देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई॥
उपजि परी ममता मन मोरे। कहउँ कथा निज पूछे तोरे॥२॥

हे तात! तुम्हारी स्वाभाविक सिधाई देख कर और अपने में प्रीति, विश्वास तथा सदाचार की कुशलता से मेरे मन में प्रीति उत्पन्न हुई, तब तुम्हारे पूछने पर अपना वृत्तान्त कहता हूँ॥२॥

अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं। माँगु जो भूप भाव मन माहीं॥
सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना॥३॥

अब मैं प्रसन्न हूँ इसमें सन्देह नहीं, हे राजन्! जो मन में भावे वह माँगो। इस तरह सुन्दर वचन सुन कर राजा प्रसन्न हुए और पाँव पकड़ कर बहुत तरह से बिनती की॥३॥

कृपासिन्धु मुनि दरसन तोरे। चारि पदारथ करतल मोरे॥
प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ बिसोकी॥४॥

हे कृपासिन्धु मुनि! आपके दर्शन से चारों पदार्थ मेरी मुट्ठी में हैं। तो भी स्वामी को प्रसन्न देख कर दुर्लभ वर माँग कर शोकरहित हो जाऊँगा॥४॥

दो०--जरा-मरन-दुख रहित तनु, समर जितइ जनि कोउ।
एक-छत्र रिपु-हीन महि, राज कलप सत होउ॥१६४॥

बुढ़ाई मृत्यु और दुःख से शरीर रहित हो तथा युद्ध में कोई जीत न सके। अजातशत्रु हो कर एकाधिपत्य के साथ पृथ्वी पर सौ कल्प पर्य्यन्त मेरा राज्य हो॥१६४॥

चौ०--कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥
कालउ तव-पद नाइहि सीसा। एक बिप्र-कुल छाड़ि महीसा॥१॥

तपस्वी ने कहा--हे राजन्! ऐसा ही होगा, परन्तु एक कठिनता है उसको भी सुनो। तुम्हारे चरणों में काल भी मस्तक नवावेगा, किन्तु एक ब्राह्मण का कुल छोड़ कर॥१॥

तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा॥
जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुव बस बिधि बिष्नु महेसा॥२॥

तप के बल ब्राह्मण सदा से बली हैं, उनके क्रोध से कोई रक्षा नहीं कर सकता। हे राजन्! यदि तुम ब्राह्मणों को प्रसन्न करो तब तुम्हारे वश में ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो जायँगे॥२॥

चल न ब्रह्म-कुल सन बरिआई । सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई ॥
बिप्र साप बिनु सुनु महिपाला । तोर नास नहिँ कवनेहुँ काला ॥३॥

ब्राह्मण के कुल से जोरावरी नहीं चलती, इस बात को दोनों भुजा उठा कर मैं सत्य कहता हूँ । हे भूपाल ! सुनो, बिना ब्राह्मण के शाप के तुम्हारा नाश किसी काल में नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

श्लिष्ट शब्दों द्वारा गुप्त अर्थ कपट-मुनि प्रकट करता है कि निश्चय ही तुम्हारा ब्राह्मणों के शाप से सर्वनाश होगा । यह 'विवृतोक्ति अलङ्कार' है ।

हरषेउ राउ बचन सुनि तासू । नाथ न होइ मोर अब नासू ॥
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना । मो कहँ सर्ब काल कल्याना ॥४॥

राजा उसकी बात सुन कर प्रसन्न हुए और बोले—हे नाथ ! अब मेरा नाश न होगा । हे दया के स्थान स्वामिन् ! आपके अनुग्रह से मुझको सदा कल्याण ही है ॥४॥

दो०—एवमस्तु कहि कपट-मुनि, बोला कुटिल बहोरि ।
मिलब-हमार भुलाब-निज, कहहु त हमहिँ न खोरि ॥१६५॥

ऐसा ही हो कह कर फिर वह दग़ावाज कपटी-मुनि बोला । हमारा मिलना और अपना भुलाना किसी से कहोगे तो हमारा दोष नहीं ॥१६५॥

'कुटिल' शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है । दग़ावाज को दग़ाबाजी की बातें सूझती हैं । कपट-मुनि ने सोचा कि राजा का मन्त्री बड़ा ही चतुर है, यदि राजा इन बातों को उससे कहेगा तो वह तुरन्त जान जायगा, फिर मेरी एक न चलेगी । इससे युक्ति-पूर्वक वर्जन करता है ।

चौ०—ता तेँ मैं तोहि बरजउँ राजा । कहे कथा तव परम अकाजा ॥
छठेँ स्रवन यह परत कहानी । नास तुम्हार सत्य मम बानी ॥१॥

हे राजा मैं तुझको इसलिए मना करता हूँ कि इस कथा के कहने पर तुम्हारी बहुत बड़ी हानि है । छठे कान में यह बात पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा, मेरा वचन सत्य है ॥१॥

साधारण अर्थ के सिवाय श्लेष से कपट-मुनि छिपा अर्थ भी खोलकर कहता है कि यह बात जहाँ छठवें (मेरे मित्र कालकेतु के) कान में पहुँची कि तुम्हारा नाश सत्य ही है । यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है ।

यह प्रगटे अथवा द्विज-सापा । नास तोर सुनु भानुप्रतापा ॥
आन उपाय निधन तव नाहीं । जौं हरि हर कोपहिँ मन माहीं ॥२॥

हे भानुप्रताप ! सुनो तुम्हारा नाश इस बात के प्रगट करने अथवा ब्राह्मणों के शाप से होगा । दूसरे उपाय से तेरा नाश नहीं हो सकता, यदि विष्णु और शिव मन में क्रोध करें (तो भी तेरा बार न बाँका होगा) ॥२॥

सत्य नाथ पद-गहि नृप भाखा । द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा ॥
राखइ गुरु जौँ कोप बिधाता । गुरु-बिरोध नहिँ कोउ जग त्राता ॥३॥

राजा ने कपटी मुनि के पाँव पकड़ कर कहा—हे नाथ! सत्य है, ब्राह्मण और गुरु के क्रोध से कहिए कौन रक्षा कर सकता है? (कोई नहीं)। यदि विधाता क्रोध करें तो गुरु रक्षा करते हैं, परन्तु गुरु के विरोध से जगत में कोई रक्षा करनेवाला नहीं है ॥३॥

पहले द्विज-कोप और गुरु-कोप को समान कहा, फिर गुरु कोप में विशेषता दिखाना 'विशेषक अलङ्कार' है।

जौँ न चलब हम कहे तुम्हारे । होउ नास नहिँ सोच हमारे ॥
एकहि डर डरपत मन मोरा । प्रभु महिदेव-साप अति घोरा ॥४॥

यदि मैं आप के कथनानुसार न चलूँगा तो नाश हो जाय, इसका हमें सोच नहीं है। पर हे प्रभो! एक ही डर से मेरा मन डरता है कि ब्राह्मणों का शाप बड़ा ही भीषण है ॥४॥

दो०—होहिँ बिप्र बस कवनि बिधि, कहहु कृपा करि सोउ ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज, हितू न देखउँ कोउ ॥१६६॥

ब्राह्मण किस प्रकार वश में होंगे? वह कृपा करके कहिए। हे दीनदयाल! आप को छोड़ कर दूसरे को मैं अपना हितकारी नहीं देखता हूँ ॥१६६॥

चौ०—सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीँ । कष्टसाध्य पुनि होहिँ कि नाहीँ ॥
अहइ एक अति सुगम उपाई । तहाँ परन्तु एक कठिनाई ॥१॥

हे राजन्! सुनो, अनेक उपाय जगत् में हैं और वे कष्टसाध्य हैं, फिर सफलता होगी या नहीं (ठीक नहीं कहा जा सकता)। एक बड़ा सहल उपाय है, परन्तु उसमें भी एक कठिनता है ॥१॥

मम आधीन जुगुति नृप सोई । मोर जाब तव नगर न होई ॥
आजु लगे अरु जब तेँ भयऊँ । काहू के गृह ग्राम न गयऊँ ॥२॥

राजन्! वह युक्ति मेरे आधीन है और मेरा जाना तेरे नगर में न होगा। जब से मैं पैदा हुआ तब से और आज तक किसी के घर या गाँव में नहीं गया हूँ ॥२॥

जौँ न जाउँ तो होइ अकाजू । बना आइ असमञ्जस आजू ॥
सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी । नाथ निगम असि नीति बखानी ॥३॥

यदि नहीं जाता हूँ तो अकाज होता है, आज यह अण्डस आ बना है! सुन कर राजा कोमल वाणी से बोले—हे नाथ! वेदों ने ऐसी नीति कही है ॥३॥

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं । गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं ॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू । सन्तत धरनि धरत सिर रेनू ॥ ४ ॥

बड़े लोग छोटों पर स्नेह करते हैं, पर्वत अपने सिरों (शिखरों) पर सदा घास को धारण करते हैं। अथाह समुद्र के माथे पर फेन बहता है और धूलि को पृथ्वी निरन्तर अपने सिर पर रखती है ॥४॥

दो०—अस कहि गहे नरेस पद, स्वामी होहु कृपाल ।
मोहि लागि दुख सहिय प्रभु, सज्जन दीनदयाल ॥ १६७ ॥

ऐसा कह कर राजा ने पाँव पकड़ लिया और बोले—हे स्वामी! कृपा कीजिये। प्रभो! आप सज्जन और दीनों पर दया करनेवाले हैं, मेरे लिए दुःख सहिए ॥१६७॥

चौ०—जानि नृपहि आपन आधीना । बोला तापस कपट-प्रबीना ॥
सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही । जग नाहिँ न दुर्लभ कछु मोही ॥१॥

राजा को अपने अधीन जान कर वह छल में प्रवीण तपस्वी बोला—हे राजन्! सुनो, मैं तुझ से सत्य कहता हूँ कि जगत् में मुझे कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥१॥

अवसि काज मैं करिहउँ तोरा । मन क्रम बचन भगत तैं मोरा ॥
जोग-जुगुति तप मन्त्र प्रभाऊ । फलइ तबहिँ जब करिय दुराऊ ॥२॥

मैं अवश्य ही तेरा कार्य्य करूँगा, क्योंकि तू मन, कर्म और वचन से मेरा भक्त है। योग की युक्ति, तपस्या और मन्त्रों के प्रभाव तभी फलीभूत होते हैं जब छिपा कर किये जाते हैं ॥२॥

जौँ नरेस मैं करउँ रसोई । तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई ॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई । सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई ॥३॥

हे राजन्! यदि मैं रसोई करूँ और तुम परोसो, पर मुझे कोई न जाने। उस अन्न को जो जो भोजन करेगा, वही वही तुम्हारी आज्ञा के अनुसार चलेगा ॥३॥

जैसे उसका रसोई बनाना असत् है, वैसे ब्राह्मणों का वश होना मिथ्या है। असत् से असत् की समता का भावसूचक 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

पुनि तिन्ह के गृह जेवइँ जोऊ । तव बस होइ भूप सुनु सोऊ ॥
जाइ उपाय रचहु नृप एहू । सम्बत भरि सङ्कलप करेहू ॥४॥

फिर उनके घर जो कोई भोजन करेगा, हे राजन्! सुनो, वह भी तुम्हारे वश में हो जायगा। नृपाल! तुम जा कर यही उपाय करो और साल भर के लिए सङ्कल्प करना ॥४॥

दो०—नित नूतन द्विज सहस-सत, बरेहु सहित परिवार ॥
मैं तुम्हरे सङ्कलप लगि, दिनहि करब जेवनार ॥ १६८ ॥

नित्य नये कुटुम्ब समेत सौ हजार ब्राह्मणों को निमन्त्रित करना, मैं तुम्हारे सङ्कल्प के लिए दिन में ही भोजन तैयार करूँगा ॥१६८॥

चौ०—एहि बिधि भूप कष्ट अति थोरे। होइहहिं सकल बिप्र बस तोरे ॥
करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसङ्ग सहजहिं बस देवा ॥१॥

हे राजन्! इस प्रकार बहुत थोड़े कष्ट से सब ब्राह्मण तुम्हारे वश में हो जायँगे। ब्राह्मण यज्ञ कर हवन करेंगे, उसके सम्बन्ध से देवता सहज ही अधीन हो जायँगे ॥१॥

अउर एक तोहि कहउँ लखाऊ। मैं एहि बेष न आउब काऊ ॥
तुम्हरे उपरोहित कहँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया ॥२॥

एक और लखाव तुमसे कहता हूँ कि मैं इस रूप से कभी न आऊँगा। राजन्! तुम्हारे पुरोहित को मैं अपनी माया करके हर ले आऊँगा ॥२॥

तप बल तेहि करि आपु समाना। रखिहउँ इहाँ बरष परमाना ॥
मैं धरि तासु बेष सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा ॥३॥

तपके बल से उसको अपने समान बना कर यहाँ साल भर तक रखूँगा। हे राजन्! सुनो, मैं उसका बेश धारण करके सब तरह तुम्हारा काम ठीक करूँगा ॥३॥

गइ निसि बहुत सयन अब कीजे। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे ॥
मैं तप बल तोहि तुरग समेता। पहुँचइहउँ सोवतहि निकेता ॥४॥

हे राजन्! रात बहुत बीत गयी अब शयन कीजिए, तीसरे दिन मुझ से भेंट होगी। मैं तपोबल से घोड़े सहित सोतेही में तुम्हें घर पहुँचा दूँगा ॥४॥

दो०—मैं आउब सोइ बेष धरि, पहिचानेहु तब मोहि ।
जब एकान्त बोलाइ सब, कथा सुनावउँ तोहि ॥१६९॥

मैं वहीं (पुरोहित का) रूप धर कर आऊंगा, जब एकान्त में बुला कर तुम से सब कथा सुना जाऊँ तब मुझे पहचान लेना ॥१६९॥

चौ०—सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छल-ज्ञानी ॥
स्रमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई ॥१॥

राजा भानुप्रताप आज्ञा मान कर सो गये और वह छल का ज्ञानी आसन पर जा बैठा। राजा थके थे उन्हें गहरी नींद आ गई, परन्तु (वह कपटी मुनि) कैसे सोवे ? उसको बड़ा शोक हुआ ॥१॥

कपटी मुनिके मन में शोक स्थायीभाव है कि यदि मित्र न आयो तो सब किया कराया काम चौपट हो जायगा, क्योंकि मैं ने घोड़े सहित सोते ही में राजा को घर पहुँचाने को

कहा है। यह बात मिथ्या होने पर कलई खुल जायगी। चिन्ता, उद्वेग, विषादादि सञ्चारी-भावों से उसका हृदय भर रहा है।

कालकेतु निसिचर तहँ आवा। जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा ॥
परम मित्र तापस-नृप-केरा। जानइ सो अति कपट घनेरा ॥२॥

कालकेतु राक्षस वहाँ आया, जिसने सुअर होकर राजा को भुलाया था। वह तपस्वी राजा का परम मित्र और बहुत बना कपट जानता था ॥२॥

तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव-दुख-दाई ॥
प्रथमहिं भूप समर सब मारे। बिप्र सन्त सुर देखि दुखारे ॥३॥

उसके सौ पुत्र और दस भाई जो बड़े दुष्ट और दुर्जय, देवताओं को कष्ट देनेवाले थे। उनके द्वारा ब्राह्मण, सन्त और देवताओं को दुखी देख कर राजा ने पहले ही सब को युद्ध में मारा था ॥३॥

तेहि खल पाछिल बयर सँभारा। तापस नृप मिलि मन्त्र बिचारा ॥
जेहि रिपु-छय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावी बस न जान कछु राऊ ॥४॥

उस दुष्ट ने पिछला वैर याद करके तपस्वी राजा से मिल कर सलाह की, जिसमें शत्रु का नाश हो वही उपाय रचा, पर होनहार के वश राजा ने कुछ नहीं जाना ॥४॥

कालकेतु और कपटी मुनि ने राजा भानुप्रताप को ठगने के लिए आपस में सलाह करके यह षड़यन्त्र रचा और उसमें इन दोनों को सफलता हुई।

दो०—रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु करि गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रबि ससिहि, सिर अवसेषित राहु ॥१७०॥

तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो तो उसको छोटा कर के न समझना चाहिए। देखो सिर मात्र बचा हुआ राहु अब भी सूर्य्य चन्द्रमा को दुःख देता है ॥१७०॥

चौ०—तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयउ सुखारी ॥
मित्रहि कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥१॥

तपस्वी राजा अपने मित्र को देख कर प्रसन्न हो उठा और मिल कर सुखी हुआ। सब कथा कह कर मित्र को सुनाई, वह राक्षस आनन्दित हो कर बोला ॥ १ ॥

अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौं तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥
परिहरि सोच रहहु अब सोई। बिनु ओषध बिआधि बिधि खोई ॥२॥

हे राजन्! सुनो, जब तुमने मेरे सिखाने के अनुसार काम किया, तो अब मैं ने शत्रु को क़ाबू में कर लिया। सोच त्याग कर अब सो रहो, ब्रह्मा ने बिना औषधि के ही रोग खो दिया ॥ २ ॥

कुल समेत रिपु-मूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई॥
तापस-नृपहि बहुत परितोषी। चला महा कपटी अति रोषी॥ ३॥

मैं कुल सहित शत्रु को जड़ से नाश कर के चौथे दिन आ कर मिलूँगा। तपस्वी राजा को बहुत समझा-बुझा कर वह बड़ा कपटी और अत्यन्त क्रोधी (राक्षस) चला॥ ३॥

भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचायेसि छन माँझ निकेता॥
नृपहि नारि पहिँ सयन कराई। हय-गृह बाँधेसि बाजि बनाई॥ ४॥

राजा भानुप्रताप को घोड़े के सहित क्षणमात्र में घर पहुँचा दिया। राजा को रानी के पास शयन करा कर घोड़े को उसने घुड़साल में ठीक तरह से बाँध दिया॥ ४॥

दो०—राजा के उपरोहितहि, हरि लेइ गयउ बहोरि।
लेइ राखेसि गिरि खोह महँ, मायाँ करि मति भोरि॥ १७१॥

फिर राजा के पुरोहित को हर ले गया, माया से उसकी बुद्धि अचेत कर के ले जा कर पहाड़ की गुफा में रख दिया॥ १७१॥

उस ब्राह्मण के लिए राजपुरोहित होना ही दोष का कारण है, यदि वह राजपुरोहित न होता तो काहे को पागल बना कर पर्वत की कन्दरा में क़ैद किया जाता।

चौ०—आपु बिरचि उपरोहित रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा॥
जागेउ नृप अनभये बिहाना। देखि भवन बड़ अचरज माना॥ १॥

आप उपरोहित का रूप बना कर उसकी अपूर्व शय्या पर जाकर पड़ रहा। सवेरा होने के पहले ही राजा जगे और महल देख कर बड़ा आश्चर्य माना॥ १॥

मुनि महिमा मन महँ अनुमानी। उठेउ गँवहिँ जेहि जान न रानी॥
कानन गयउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नर नारि न जानेउ केही॥ २॥

मन में मुनि की महिमा विचार कर धीरे से उठे, जिसमें रानी न जाने। उसी घोड़े पर चढ़ कर वन को चले गये, नगर के स्त्री-पुरुषों में से किसी ने नहीं जाना॥ २॥

सोते हुए घर आ जाना, इस बात को छिपाने के लिये राजा भानुप्रताप रात ही में चुपके से उठे और लोगों की निगाह बचाकर बन में गये फिर प्रहर दिन चढ़नेपर लौट आये 'युक्ति अलङ्कार' है।

गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा॥
उपरोहितहि देख जब राजा। चकित बिलोक सुमिरि सोइ काजा॥ ३॥

दो प्रहर (एक प्रहर रात्रि का और एक प्रहर दिन) बीतने पर राजा आये, घर घर मङ्गलाचार और बधाई के बाजे बजने लगे। जब राजाने पुरोहित को देखा तब उस कार्य्य का स्मरण कर आश्चर्य से उसकी ओर निहारने लगे॥ ३॥

जुग सम नृपहि गयउ दिन तीनी । कपटी मुनि-पद रहि मति लीनी ॥
समय जानि उपरोहित आवा । नृपहि मते सब कहि समुझावा ॥४॥

राजा को तीन दिन युग के समान बीते; कपटी-मुनि के चरणों में उनकी बुद्धि लगी हुई थी। समय जान कर पुरोहित आया और एकान्त में राजा को सब (वन में कही हुई बातें) कह कर समझाया ॥ ४ ॥

दो०-नृप हरषेउ पहिचानि गुरु, भ्रम-बस रहा न चेत ।
बरे तुरत सत-सहस बर, बिप्र कुटुम्ब समेत ॥ १७२ ॥

गुरु को पहचान कर राजा प्रसन्न हुए, भ्रम से उन्हें ज्ञान नहीं रहा। तुरन्त एक लाख श्रेष्ठ ब्राह्मणों को सपरिवार नेवता दिया ॥१७२॥

चौ०-उपरोहित जेवनार बनाई । छरस चारि बिधि जसि स्रुति गाई॥
माया-मय तेहि कीन्हि रसोई । बिञ्जन बहु गनि सकइ न कोई ॥१॥

छः रस चार प्रकार के जेवनार की विधि जैसी वेदों में कही है, पुरोहित ने बनाया। उसने माया से रसोई तैयार की, बहुत से व्यञ्जनों को कोई गिन नहीं सकता ॥१॥

बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा । तेहि महँ बिप्र मास खल साँधा ॥
भोजन कहँ सब बिप्र बोलाये । पद पखारि आसन बैठाये ॥ २ ॥

तरह तरह के पशुओं का मांस पकाया; उस दुष्ट ने उसमें ब्राह्मण का मांस भी मिला दिया। राजा ने सब ब्राह्मणों को भोजन के लिए बुलाया और उनके पाँव धो कर आसन पर बैठाया ॥२॥

परुसन जबहिँ लाग महिपाला । भइ अकास-बानी तेहि काला ॥
बिप्र-वृन्द उठि उठि गृह जाहू । है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥३॥

जब राजा परोसने लगे उस समय आकाशवाणी हुई कि हे ब्राह्मण वृन्द ! उठ उठ अपने अपने घर जाइये, इस अन्न को मत खाइये, बड़ी हानि है ॥३॥

भयउ रसोई भूसुर मासू । सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥
भूप बिकल मति मोह भुलानी । भावी बस न आव मुख बानी ॥४॥

ब्राह्मण के मांस की रसोई हुई है, सब ब्राह्मण विश्वास मान कर उठ खड़े हुए। राजा की बुद्धि अज्ञान में भुला गई, होनहार के वश उनके मुख से बात न निकली ॥४॥

पुरोहित रूपधारी राक्षस अपनी की हुई कपट की करनी राजा के विनाशार्थ ब्राह्मणों पर प्रकट करने का अवसर जान कर सोचने लगा कि यदि सीधे कहूँगा तो छानबीन होने लगेगी और सारी कलई खुल जायगी। ब्रह्म-वाणी पर ब्राह्मणों का झटपट विश्वास होगा, इसलिए उसकी ओट लेकर कार्य्य करना ठीक होगा। तुरन्त अदृश्य हो कर व्योम में गया और आकाश-

वाणी की। राजा आकाशवाणी सुन कर विकल हो गये, किन्तु होनहार-वश बोल न सके, अब भी उनकी बुद्धि मोह में भूली है। यदि गुरु की लीला कह देते तो ब्राह्मण सहसा शाप न देते, पर भावी कुछ और ही है उसने बोलने न दिया। आवेग और मोह सञ्चारी भाव है।

दो०—बोले बिप्र सकोप तब, नहिँ कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप, मूढ़ सहित परिवार ॥ १७३ ॥

तब ब्राह्मण क्रोध कर के बोले, उन्होंने कुछ विचार न कर के कहा—अरे मूर्ख राजा! तू कुटुम्ब के सहित जा कर राक्षस हो ॥१७३॥

चौ०—छत्रबन्धु तैँ बिप्र बोलाई। घालइ लिये सहित समुदाई ॥
ईस्वर राखा धरम हमारा। जइहसि तैँ समेत परिवारा ॥१॥

रे अधम क्षत्री! तू ने ब्राह्मणों को बुला कर परिवार के सहित नाश (पतित) करना चाहा; ईश्वर ने हमारा धर्म रख लिया, तू कुटुम्ब समेत आपही नष्ट हो जायगा ॥१॥

सम्बत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ॥
नृप सुनि साप बिकल अति त्रासा। भइ बहोरि बर गिरा अकासा ॥२॥

वर्ष के बीच में तेरा नाश होगा, कुल में कोई पानी देनेवाला न रहेगा। शाप सुन कर राजा अत्यन्त व्याकुल और भयभीत हुए, फिर श्रेष्ठ आशाकवाणी हुई ॥२॥

'बर गिरा अकासा' से यह व्यञ्जित होता है कि पहले की आकाशवाणी राक्षस-कृत अश्रेष्ठ थी। ब्रह्मणों ने उसे ब्राह्मवाणी समझ कर धोखा खाया। यह लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है।

बिप्रहु साप बिचारि न दीन्हा। नहिँ अपराध भूप कछु कीन्हा॥
चकित बिप्र सब सुनि नभ बानी। भूप गयउ जहँ भोजन-खानी ॥३॥

हे ब्राह्मणों! विचार कर शाप नहीं दिया, राजा ने कुछ भी अपराध नहीं किया है। यह आकाशवाणी सुन कर सब ब्राह्मण आश्चर्य्य में डूब गये और राजा रसोई के घर में गये ॥३॥

तहँ न असन नहिँ बिप्र सुआरा। फिरेउ राउ मन सोच अपारा॥
सब प्रसङ्ग महिसुरन्ह सुनाई। त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥४॥

वहाँ न भोजन है और न रसोई बनानेवाला ब्राह्मण है, अपार सोचयुक्त मन से राजा लौटे। सारी कथा ब्राह्मणों को सुनाई और भयभीत हो घबरा कर धरती पर गिर पड़े ॥४॥

दो०—भूपति भावी मिटइ नहिँ, जदपि न दूषन तोर।
किये अन्यथा होइ नहिँ, बिप्र-साप अति घोर ॥१७४॥

ब्राह्मणों ने कहा—हे राजन्! यद्यपि तुम्हारा कोई दोष नहीं है, पर होनहार नहीं मिट सकता। ब्राह्मणों का शाप बड़ा भीषण है, वह किसी तरह झूठ न होगा ॥ १७४ ॥

चौ०--अस कहि सब महिदेव सिधाये । समाचार पुरबासिन्ह पाये ॥
सोचहिँ दूषन दैवहिँ देहीँ । बिरचत हंस काग किय जेहीं ॥१॥

ऐसा कह कर सब ब्राह्मण चले गये, यह समाचार नगरवासियों ने सुना। वे चिन्ता कर के विधाता को दोष देते हैं, जिसने राजहंस बनाते हुए कौआ कर दिया ॥ १ ॥

प्रस्तुत वृत्तान्त तो राजा भानुप्रताप को दूषण देना है कि जिन्होंने अपार सत्कर्म कर भगवान् को अर्पण किया; किन्तु कभी किसी फल की इच्छा मन में नहीं ले आये। उन्होंने कपटी-मुनि से ऐसा असम्भव वर माँगा जिससे अपना सर्वनाश ही कर डाला, इसे न कह कर विधाता को दोष देना कि हंस से कौआ बनाया 'ललित अलंकार' है

उपरोहितहि भवन पहुँचाई । असुर तापसहि खबरि जनाई ॥
तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाये । सजि सजि सेन भूप सब आये ॥२॥

पुरोहित को घर पहुँचा कर राक्षस ने तपस्वी को ख़बर दिया। उस दुष्ट ने जहाँ तहाँ पत्र भेजा, सब राजा सेना सज सज कर चढ़ आये ॥ २ ॥

घेरेन्हि नगर निसान बजाई । बिबिध भाँति नित होइ लराई ॥
जूझे सकल सुभट करि करनी । बन्धु समेत परेउ नृप धरनी ॥३॥

डङ्का बजा कर नगर घेर लिया, अनेक प्रकार की लड़ाई नित्य होने लगी। सब शूरवीर की करनी कर वे जूझ गये, भाई के सहित राजा भानुप्रताप धरती पर कट पड़े ॥ ३ ॥

सत्यकेतु-कुल कोउ नहिँ बाचा । बिप्र-साप किमि होइ असाँचा ॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई । निज-पुर गवने जय जस पाई ॥४॥

सत्यकेतु के वंश में कोई भी नहीं बचा, ब्राह्मणों का शाप झूठ कैसे हो सकता है ? सब राजाओं ने शत्रु को जीत कर नगर बसाया और विजय-यश पा कर अपनी राजधानी को चले गये ॥ ४ ॥

दो०-भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम ।
धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥ १७५ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—हे भरद्वाज ! सुनिए, विधाता जब जिसके विपरीत होते हैं, तब उसे धूलि सुमेरु-पर्वत के समान, पिता यमराज के तुल्य और रस्सी साँप के बराबर हो जाती है ॥१७५॥

चौ०-काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा । भयउ निसाचर सहित समाजा ।
दस-सिर ताहि बीस-भुजदंडा । रावन नाम बीर बरिबंडा ॥१॥

हे मुनि ! सुनिए, समय पा कर वह राजा अपने समाज सहित राक्षस हुआ, उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थीं, रावण नाम बड़ा बलवान् सुभट हुआ ॥ १ ॥

भूप अनुज अरिमर्दन नामा । भयउ सो कुम्भकरन बल-धामा ॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू । भयउ बिमात्र-बन्धु लघु तासू ॥२॥

राजा का छोटा भाई जिसका अरिमर्दन नाम था, वह बल का धाम कुम्भकर्ण हुआ । जो उसका मन्त्री धर्मरुचि था, वह रावण की दूसरी माता से उत्पन्न छोटा भाई हुआ ॥ २ ॥

नाम बिभीषन जेहि जग जाना । बिष्नु-भगत बिज्ञान-निधाना ॥
रहे जे सुत सेवक नृप केरे । भये निसाचर घोर घनेरे ॥ ३ ॥

उसका नाम विभीषण जिसको संसार जानता है कि वह विज्ञान का स्थान और हरिभक्त हुआ । राजा के पुत्र और सेवक (नौकर-चाकर) जितने थे वे सब भीषण राक्षस हुए ॥३॥

काम-रूप खल जिनिस अनेका । कुटिल भयङ्कर बिगत-बिबेका ॥
कृपा-रहित हिंसक सब पापी । बरनि न जाहिँ बिस्व परितापी ॥४॥

सब इच्छानुसार रूप धरनेवाले दुष्ट, अनेक प्रकार के धोखेबाज़, डरावने, ज्ञान से हीन, निर्दय, हिंसक, हत्या करनेवाले) पापी और सारे जगत् को दुःख देनेवाले हुए जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४॥

दो०—उपजे जदपि पुलस्त्य-कुल, पावन अमल अनूप ।
तदपि महीसुर साप-बस, भये सकल अघ-रूप ॥ १७६ ॥

यद्यपि वे पवित्र, निर्मल, अनुपम पुलस्त्य मुनि के वंश में उत्पन्न हुए । तथापि ब्राह्मणों के शाप से सम्पूर्ण पाप के रूप (राक्षस) हुए ॥१७६॥

कारण 'मुनिकुल' है उससे विपरीति कार्य 'राक्षस' का उत्पन्न होना 'द्वितीय विषम अलंकार' है । विसेष—वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण में लिखा है कि सुमाली दैत्य ने अपनी कन्या केकसी से कहा कि तुम पुलस्त्य मुनि के पुत्र विश्रवाजी को पति मान कर सन्तानोत्पत्ति करो । वह पिता की आज्ञा से सन्ध्या काल में ऋषि के पास गई, इनसे उन्होंने कहा कि राक्षसी समय के कारण राक्षस पुत्र होगा । केकसी के विनय करने पर अनुग्रह किया कि छोटा पुत्र हरिभक्त होगा । केकसी के गर्भ से रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण हुए । रुद्रयामल तन्त्र और पद्मपुराण में लिखा है कि केकसी ने आ कर प्रार्थना की, विश्रवा मुनि रतिदान की स्वीकृति दे ध्यान में लीन हो गये; वह दस महीने खड़ी रही । ध्यान छूटने पर पूछा—उसने कहा दस बार मुझे ऋतुधर्म हुआ है, इससे आशीर्वाद दिया कि प्रथम पुत्र दस मुखवाला होगा और केसी से कहा तेरे एक पुत्र होगा, पर वह बड़ा ज्ञानी और हरिभक्त होगा । केकसी के गर्भ से रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और केसी के गर्भ से विभीषण हुए । रामचरितमानस में भी विभीषण को विमातृज बन्धु कहा गया है । ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य मुनि, पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा और विश्रवा के ज्येष्ठ पुत्र कुवेर हुए, कुवेर की माता भरद्वाज मुनि की कन्या है । शेष पुत्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

चौ०—कीन्ह बिबिध तप तीनिउँ भाई । परम उग्र नहिँ बरनि सो जाई ।
गयउ निकट तप देखि बिधाता । माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता ॥१॥

तीनों भाइयों ने अतिशय उत्कट अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । उनकी तपस्या देख कर ब्रह्माजी समीप गये और बोले—हे तात ! मैं प्रसन्न हूँ । वर माँगो ॥१॥

करि बिनती पद गहि दससीसा । बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥
हम काहू के मरहिँ न मारे । बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥२॥

रावण ने पाँव पकड़ कर विनती की और बोला—हे जगदीश्वर ! मेरी बात सुनिए । बानर और मनुष्य इन दोनों जातियों को छोड़ कर हम किसी के मारने से मरें ॥२॥

रावण तो यह माँगना चाहता था कि हम किसी के मारे न मरें, पर भावी की प्रेरणा से यह भी निकल पड़ा कि मनुष्य तथा बन्दर जाति छोड़ कर ।

एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा । मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥
पुनि प्रभु कुम्भकरन पहिँ गयऊ । तेहि बिलोकि मन बिसमय भयऊ ॥३॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती ! मैं और ब्रह्माजी ने मिल कर उसको वर दिया कि तुमने बड़ा तप किया, ऐसा ही हो । फिर वे कुम्भकर्ण के पास गये और उसको देख कर मन में आश्चर्य्य हुआ ॥३॥

जौं एहि खल नित करब अहारू । होइहि सब उजार संसारू ॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी । माँगेसि नींद मास षट केरी ॥४॥

ब्रह्माजी विचारने लगे कि यदि यह दुष्ट नित्य भोजन करेगा तो सारा संसार उजाड़ हो जायगा । सरस्वती को आज्ञा दे कर उसकी बुद्धि बदल दी, उसने छः महीने की नींद का वर माँगा ॥४॥

वास्तव में कुम्भकर्ण की इच्छा थी कि मैं ऐसा वर मागूँ जिसमें एक दिन सोऊँ और छः महीने जागता रहूँ । परन्तु सरस्वती की प्रेरणा से छः मास नींद और एक दिन जागने का वर माँग लिया ।

दो०—गये बिभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र बर माँगु ।
तेहि माँगेउ भगवन्त पद,-कमल अमल अनुरागु ॥ १७७ ॥

फिर विभीषण के पास जाकर कहा—हे पुत्र ! वर माँगो । उसने ईश्वर के चरण-कमलों में निर्मल प्रेम माँगा ॥१७७॥

चौ०—तिन्हहिँ देइ बर ब्रह्म सिधाये । हरषित ते अपने गृह आये ॥
मय-तनुजा मन्दोदरि नामा । परम-सुन्दरी नारि-ललामा ॥१॥

उन्हें वर देकर ब्रह्माजी चले गये और वे (तीनों बन्धु) प्रसन्न हो कर अपने घर आये । मयदैत्य की कन्या जिसका नाम मन्दोदरी था और अत्यन्त सुन्दर रूपवती स्त्री थी ॥ १ ॥

सोइ मय दीन्हि रावनहि आनी । होइहि जातुधान-पति जानी ॥
हरषित भयउ नारि भलि पाई । पुनि दोउ बन्धु बिआहेसि जाई ॥२॥

उसी को लाकर मय दानव ने रावण को यह समझ कर दिया कि रावण राक्षसों का मालिक होगा । अच्छी स्त्री पाकर प्रसन्न हुआ, फिर जा कर दोनों भाइयों का विवाह किया॥२॥

बलि की लड़की 'वृत्रज्वाला' के साथ कुम्भकर्ण का विवाह और शैलूष नाम गन्धर्वराज की कन्या 'सरमा' के साथ विभीषण का विवाह हुआ। कालखञ्ज राक्षस के वंश में उत्पन्न विद्युज्जिह्व राक्षस के साथ रावण ने शूर्पणखा का ब्याह कर दिया। समयान्तर में रावण ने दिग्विजय के समय उसे मार डाला था।

गिरि-त्रिकूट एक सिन्धु मँझारी । बिधि-निर्मित दुर्गम अति भारी ॥
सोइ मय दानव बहुरि सँवारा । कनक रचित मनि भवन अपारा ॥३॥

समुद्र में एक त्रिकूट पर्वत ब्रह्माजी का बनाया बड़ा भारी और दुर्गम है। उसी को मय दानव ने फिर से सजाया, असंख्यों सुवर्ण की दीवार के घर जिनमें भाँति भाँति के रत्न जड़े हैं ॥ ३ ॥

एक विधाता ने त्रिकूट पर्वत को यों ही दुर्गम बनाया था, दूसरे मय दानव ने उस पर सुवर्ण के कोट रच कर अतिशय अगम कर दिया 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

भोगावति जसि अहि-कुल बासा । अमरावति जसि सक्र-निवासा ॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बङ्का । जग बिख्यात नाम तेहि लङ्का ॥४॥

जैसी नागवंश के रहने की पुरी भोगावती है और इन्द्र के निवास की नगरी अमरावती है, उनसे अधिक रमणीय और बाँकी जगत् में प्रसिद्ध उसका नाम लंकापुरी है ॥४॥

दो०-खाँई सिन्धु गँभीर अति, चारिहु दिसि फिरि आव ।
कनक-कोट मनि-खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव ॥

उसके चारों ओर खाँई के रूप में अत्यन्त गहरा समुद्र ही फिरा हुआ है। सुवर्ण का किला, दीवारों में मज़बूती से मणियाँ जड़ी हैं, जिसकी बनावट कहा नहीं जा सकती।

हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधान-पति होइ ।
सूर प्रतापी अतुल-बल, दल समेत बस सोइ ॥ १७८ ॥

भगवान् की प्रेरणा से जिस कल्प में जो राक्षसपति (रावण) होता है, वही शूरवीर, प्रतापी, अप्रमेय बलशाली सेना सहित वहाँ रहता है ॥१७८॥

चौ०-रहे तहाँ निसिचर भट भारे । ते सब सुरन्ह समर सङ्घारे ।
अब तहँ रहहिँ सक्र के प्रेरे । रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥१॥

वहाँ पहले बड़े बड़े योद्धा राक्षस रहते थे, उन सब को देवताओं ने लड़ाई में मार डाला। अब वहाँ इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के एक करोड़ रक्षक रहते हैं ॥१॥

दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई । सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई ॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई । जच्छ जीव लेइ गयउ पराई ॥२॥

रावण ने कहीं यह हाल सुन पाया, उसने फ़ौज सजा कर क़िले को जा घेरा। विकट योद्धाओं की बड़ी सेना देख कर यक्ष (कुवेर के अनुयायी मय कुवेर के) जी ले कर भाग गये ॥२॥

फिरि सब नगर दसानन देखा । गयउ सोच सुख भयउ बिसेखा ॥
सुन्दर सहज अगम अनुमानी । कीन्ह तहाँ रावन रजधानी ॥ ३॥

रावण ने सब नगर घूम कर देखा, उसका सोच चला गया और बहुत ही सुखी हुआ। स्वाभाविक सुन्दर और दुर्गम विचार कर वहाँ रावण ने राजधानी बनाई ॥३॥

नगर देख कर रावण के मन में जो अपने और कुटुम्बियों के लिए योग्य स्थान न मिलने का शोक था वह शान्त हो गया, क्योंकि सुविधाजनक इच्छानुकूल स्थान प्राप्त होने से हर्ष का उदय हुआ। यह 'भावशान्ति' है।

जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे । सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ॥
एक बार कुबेर पर धावा । पुष्पक-जानि जीति लेइ आवा ॥ ४ ॥

जो जिस योग्य थे उनको वैसा घर बाँट कर सब राक्षसों को सुखी किया। एक बार कुवेर पर चढ़ दौड़ा और पुष्पक-विमान जीत कर ले आया ॥४॥

दो०—कौतुकही कैलास पुनि, लीन्हेसि जाइ उठाइ ।
मनहुँ तौलि निज बाहु बल, चला बहुत सुख पाइ ॥ १७९ ॥

फिर खेल ही में जा कर कैलास को उठा लिया, मानों अपनी भुजाओं का बल तौल कर बहुत प्रसन्न हो कर चला ॥१७९॥

किसी वस्तु का प्रमाण जानने के लिए उसे तौलना सिद्ध आधार है; किन्तु कैलास पर्वत तराजू नहीं है जिस पर भुजाओं का बल तौला जा सके। इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०--सुख सम्पति सुत सेन सहाईं । जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई । जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ॥१॥

सुख, सम्पत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, विजय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई सब नित्य नई नई बढ़ती जाती हैं, जैसे लाभ से लोभ अधिक होता जाता है ॥१॥

अति बल कुम्भकरन अस भ्राता । जेहि कहँ नहिँ प्रतिभट जग जाता ॥
करइ पान सोवइ षट मासा । जागत होइ तिहूँ-पुर त्रासा ॥ २ ॥

अत्यन्त बलवान् कुम्भकर्ण ऐसा भाई, जिसके जोड़ का दुनियाँ में कोई शूरवीर ही नहीं है, मदिरा पी कर छः महीने सोता है, उसके जागने पर तीनों लोकों में भय छा जाता है ॥२॥

जौं दिन-प्रति अहार कर सोई । बिस्व बेगि सब चौपट होई ॥
समर धीर नहिँ जाइ बखाना । तेहि सम अमित बीर बलवाना ॥३॥

यदि वह प्रतिदिन भोजन करे तो सब संसार शीघ्र ही चौपट हो जाय। युद्ध में ऐसा साहसी कि कहा नहीं जा सकता, उसके समान असंख्यों बलवान् योद्धा हैं ॥३॥

बारिदनाद जेठ सुत तासू । भट महँ प्रथम लीक जग जासू ॥
जेहि न होइ रन-सनमुख कोई । सुर-पुर नितहि परावन होई ॥४॥

उसका बड़ा पुत्र मेघनाद है जिसकी गिनती संसार के शूरवीरों में पहले होती है। जिसके सामने लड़ाई में कोई नहीं आता, देवलोक में नित्य ही भगदड़ होती है ॥४॥

दो०-कुमुख अकम्पन कुलिसरद, धूमकेतु अतिकाय ।
एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय ॥१८०॥

दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदन्त, धूमकेतु और अतिकाय ऐसे असंख्यों योद्धा हैं जो अकेले जगत् भर के वीरों को जीत सकते हैं ॥ १८० ॥

चौ०-काम-रूप जानहिँ सब माया । सपनेहुँ जिन्ह के धरम न दाया ॥
दसमुख बैठ सभा एक बारा । देखि अमित आपन परिवारा ॥१॥

सभी इच्छानुसार रूप धरनेवाले और छल करना जानते हैं, जिनके हृदय में धर्म एवम् दया स्वप्न में भी नहीं है। एक बार रावण सभा में बैठा था, अपना अपार परिवार देख कर (प्रसन्न हुआ) ॥ १ ॥

सुत-समूह जन परिजन नाती । गनइ को पार निसाचर जाती ॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी । बोला बचन क्रोध-मद-सानी ॥२॥

असंख्यों पुत्र, नाती, कुटुम्बी और नौकर हैं, राक्षस जाति को गिन कर कौन पार पा सकता है। स्वाभाविक अभिमानी रावण सेना देख कर क्रोध और घमण्ड से मिला हुआ वचन बोला ॥ २ ॥

सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुध-बरूथा ॥
ते सनमुख नहिँ करहिँ लराई । देखि सबल-रिपु जाहिँ पराई ॥३॥

हे समस्त राक्षस वृन्द ! सुनो, हमारे शत्रु देवता-गण हैं। वे सामने लड़ाई नहीं करते, बलवान् बैरी देख कर भाग जाते हैं ॥ ३ ॥

तिन्ह कर मरन एक बिधि होई । कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥
द्विज-भोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥४॥

उनका मरण एक तरह से होगा, अब वही समझा कर कहता हूँ, सुनो। ब्राह्मण-भोजन, यज्ञ, होम और श्राद्ध को तुम सब जा कर बन्द करो अर्थात् रोक दो कोई शुभ कर्म न करने पावे ॥ ४ ॥

दो०—छुधा-छीन बल-हीन सुर, सहजहि मिलिहहिं आइ ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ, भली भाँति अपनाइ ॥१८१॥

जब देवता भूख से दुबले और निर्बल हो जाँयगे सहज में आ मिलेंगे। तब उन्हें अच्छी तरह अपने क़ाबू में कर के चाहे मारूँगा या छोड़ दूँगा ॥१८१॥

चौ०—मेघनाद कहँ पुनि हँकरावा । दीन्ही सिख बल बयर बढ़ावा ॥
जे सुर समर-धीर बलवाना । जिन्ह के लरिबे कर अभिमाना ॥१॥

फिर मेघनाद को बुलवाया, उसे बल और वैर का बढ़ावा देकर सिखाया कि जो देवता युद्ध में साहसी और बलवान् हैं, जिनको लड़ने का घमण्ड है ॥ १ ॥

तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी । उठि सुत पितु-अनुसासन काँधी ॥
एहि बिधि सबही आज्ञा दीन्ही । आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही ॥२॥

हे पुत्र ! उन्हें रण में जीत कर बाँध लाना, मेघनाद पिता की आज्ञा शिरोधार्य्य कर उठा और चल दिया। इस प्रकार सभी को आज्ञा दी और गदा हाथ में लेकर आप भी चला ॥२॥

चलत दसानन डोलति अवनी । गर्जत गर्भ-स्रवत सुर-रवनी ॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा ॥३॥

रावण के चलते समय पृथ्वी डगमगा रही थी और गर्जने से देवाङ्गनाओं के गर्भ गिर जाते थे। रावण को क्रोधातुर आते हुए सुन कर देवताओं ने सुमेरु पर्वत की गुफाओं में शरण ली ॥ ३ ॥

दिगपालन्ह के लोक सुहाये । सूने सकल दसानन पाये ॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी । देइ देवतन्ह गारि प्रचारी ॥४॥

सम्पूर्ण दिक्पालों के सुहावने लोकों को रावण ने खाली पाया। बार बार सिंह के समान भयङ्कर गर्जन कर देवताओं को ललकारता और गाली देता है ॥ ४ ॥

देवताओं के मन में रावण के क्रोध से भय स्थायीभाव है। उसका बार बार सिंहनाद करना उद्दीपन विभाव और रावण आलम्बन विभाव है। स्त्रियों का गर्भ-पतन, पर्वत की कन्दराओं में भाग कर घुसना अनुभाव है। वह चिन्ता, मोह, दैन्य, आवेग, चपलतादि सञ्चारीभावों के आविर्भाव से 'भयानक रस' हुआ है।

रन-मद मत्त फिरइ जग धावा । प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा ॥
रबि ससि पवन बरुन धन-धारी । अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥५॥

रण के मद में मतवाला जगत् में दौड़ता फिरता है, अपनी बराबरी का योद्धा ढूँढ़ता है; पर कहीं पाता नहीं। सूर्य्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल और यमराज सभी स्वत्वधारी (जो लोकों के स्वामी, अख़्तियारवाले थे) ॥ ५ ॥

किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पन्थहि लागा॥
ब्रह्म-सृष्टि जहँ लगि तनु-धारी। दसमुख-बसवर्त्ती नर नारी॥ ६॥

किन्नर, सिद्ध, मनुष्य, देवता और नाग सभी के रास्ते में हठ कर के लग गया। जहाँ तक ब्रह्मा की सृष्टि में शरीरधारी स्त्री-पुरुष हैं, वे सब रावण के अधीन हो गये॥ ६॥

आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिँ आइ नित चरन बिनीता॥७॥

सब प्राणी भयभीत होकर आज्ञा पालन करते हैं और नित्य आ कर बड़ी नम्रता से चरणों में सिर नवाते हैं॥ ७॥

दो०—भुज-बल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मंडलीक-मनि रावन, राज करइ निज-मन्त्र॥

भुजाओं के बल से संसार को वश में कर के किसी को स्वाधीन नहीं रहने दिया अर्थात् स्वतन्त्रता (आज़ादी) दुनियाँ से उठ गई। सार्वभौम सम्राट् रावण अपने मन्त्र से राज्य करता है।

देव जच्छ गन्धर्ब नर, किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरी निज-बाहु-बल, बहु सुन्दरि बर नारि॥ १८२॥

देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, किन्नर और नागों की कन्याएँ, अपनी भुजाओं के बल से जीत कर बहुत सी सुन्दर श्रेष्ठ स्त्रियों को विवाह लिया॥ १८२॥

चौ०—इन्द्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहि करि रहेऊ॥
प्रथमहिं जिन्ह कहँ आयसु दीन्हा। तिन्ह कर चरित सुनहु जो कीन्हा॥१॥

मेघनाद से जो कुछ कहा; वह सब मानों उसने पहले ही से (इन्द्र को जीत बाँध लङ्का में ला) कर रक्खा। पहले जिन राक्षसों को रावण ने आज्ञा दी, उनका चरित्र सुनिए जो उन्हों ने किया॥ १॥

कारण युद्ध है, वह वर्णन न करके कार्य्य प्रकट करना कि मेघनाद ने इन्द्र को मानों पहले ही से जीत रक्खा था 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

देखत भीम-रूप सब पापी। निसिचर-निकर देव-परितापी॥
करहिँ उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिँ करि माया॥ २॥

सब राक्षस-समूह देखने में डरावने रूपवाले, पापी और देवताओं को दुःख देनेवाले हैं। वे असुर कपट से नाना रूप धरते हैं और असंख्यों प्रकार के उत्पात करते हैं॥ २॥

जेहि बिधि होइ धरम-निर्मूला। सो सब करहिँ बेद-प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिँ। नगर गाँउ पुर आगि लगावहिँ॥३॥

जिस प्रकार धर्म का नाश हो, वह सब करनी वेद से विपरीत करते हैं। जिस जिस देश में गैया और ब्राह्मण पाते हैं, उस नगर, गाँव और पुरवा में आग लगा देते हैं॥ ३॥

सुभ-आचरन कतहुँ नहिँ होई । देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिँ हरिभगति जज्ञ जप दाना । सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥४॥

कहीं भी शुभ आचार (शास्त्र विहित सत्कर्म) नहीं होने पाता और न कोई देवता, गुरु, ब्राह्मण को मानता है। हरिभक्ति, यज्ञ, तप और दान नहीं होने पाते हैं, स्वप्न में भी वेद-पुराण नहीं सुनाई पड़ता है ॥ ४ ॥

चवपैया-छन्द ।

जप जोग बिरागा, तप मख-भागा, स्रवन सुनइ दससीसा ।
आपुन उठि धावै, रहइ न पावै, धरि सब घालइ खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा, भा संसारा, धरम सुनिय नहिँ काना ।
तेहि बहु बिधि त्रासै, देस निकासै, जो कह बेद-पुराना ॥ १ ॥

जप, योग, वैराग्य, तप और यज्ञ का भाग जब रावण कान से सुनता है तब स्वयम् उठ कर दौड़ता, वह रहने नहीं पाता सब को पकड़ कर नाश कर देता है। संसार में ऐसा भ्रष्टाचार हुआ कि धर्म कान से नहीं सुनाई पड़ता है। उसको बहुत तरह से भयभीत करता और देश निकाले का दण्ड देता है, जो वेदपुराण कहता है (भयङ्कर दमन नीति से प्रजा-पीड़न करता है) ॥१॥

सो०—बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिँ ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहि कवनि मिति ॥ १८३ ॥

जो भीषण अन्याय राक्षस करते हैं, वह वर्णन नहीं करते बनता। जिनकी हत्या पर बड़ी प्रीति है, उनके पापों का कौन ठिकाना है ? (कोई हद नहीं) ॥१८३॥

एक हिंसा-कर्म में सभी छोटे बड़े पापों का वर्णन 'द्वितीय पर्य्याय अलंकार' है ।

चौ०—बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लम्पट पर-धन पर-दारा ॥
मानहिँ मातु पिता नहिँ देवा । साधुन्ह सन करवावहिँ सेवा ॥१॥

बहुत से दुष्ट, चोर और जुआरी बढ़े जो पर धनहारी तथा पराई स्त्री से व्यभिचार करनेवाले हैं। जो माता-पिता एवम् देवता को नहीं मानते हैं और साधुओं से टहल करवाते हैं ॥१॥

अत्याचारी राजा के राज्य में दुष्ट, कुकर्मी, जुआरी, चोर और बदमाशों की वृद्धि वर्णन कारण के समान कार्य्य का होना 'द्वितीय सम अलंकार' है ।

जिन्ह के यह आचरन भवानी । ते जानहु निसिचर सम प्रानी ॥
अतिसय देखि धरम कै हानी । परम सभीत धरा अकुलानी ॥२॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! जिनके ऐसे आचरण हैं, उन प्राणियों को राक्षस के समान ही समझो। धर्म की अतिशय हानि देख कर वसुन्धरा (पृथ्वी) भय से बहुत ही घबरा गई ॥ २ ॥

गिरि सरि सिन्धु भार नहिँ मोही । जस मोहि गरुअ एक पर-द्रोही ॥
सकल धरम देखइ बिपरीता । कहि न सकइ रावन भयभीता ॥३॥

पृथ्वी मन में सोचने लगी कि—पर्वत, नदी और समुद्र का बोझ मुझे नहीं है, जैसा कि एक परद्रोही मुझे गरुआ लगता है । सारी बातें धर्म के विपरीत देखती है; किन्तु रावण के डर से कुछ कह नहीं सकती ॥३॥

धेनु-रूप धरि हृदय बिचारी । गई तहाँ जहँ सुर-मुनि-झारी ॥
निज-सन्ताप सुनायेसि रोई । काहू तेँ कछु काज न होई ॥४॥

हृदय में विचार कर गैया का रूप धारण करके वहाँ गई जहाँ देवता और मुनिवृन्द थे । रो कर अपना दुःख कह सुनाया, पर किसी से कुछ काम नहीं हो सका ॥४॥

चवपैया-छन्द ।

सुर मुनि गन्धर्बा, मिलि करि सर्बा, गे बिरञ्चि के लोका ।
सँग गो-तनु धारी, भूमि बिचारी, परम बिकल भय सोका ॥
ब्रह्मा सब जाना, मन अनुमाना, मोरउ कछु न बसाई ।
जा करि तैँ दासी, सो अबिनासी, हमरउ तोर सहाई ॥२॥

देवता, मुनि और गन्धर्व सब मिल कर ब्रह्मा के लोक में गये । साथ में बेचारी भूमि भय और शोक से अत्यन्त व्याकुल गैया का शरीर धारण किये गई । ब्रह्माजी सब जान गये और मन में विचार कर बोले कि मेरा भी कुछ वश नहीं है । जिनकी तैं दासी है वे ही परमात्मा हमारी और तेरी भी सहायता करेंगे ॥२॥

सो०--धरनि धरहि मन धीर, कह बिरञ्चि हरि-पद सुमिरु ।
जानत जन की पीर, प्रभु भञ्जिहि दारुन बिपति ॥ १८४ ॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे वसुन्धरे ! तू भगवान् के चरणों को स्मरण कर मन में धीरज धारण कर । प्रभु अपने भक्तों की पीड़ा को जानते हैं, वे ही इस विकराल विपत्ति को चूर चूर करेंगे ॥१८४॥

चौ०-बैठे सुर सब करहिँ बिचारा । कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा ॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई । कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई ॥१॥

सब देवता बैठे विचार करते हैं कि प्रभु को कहाँ पाऊँ जो रक्षार्थ पुकार करूँ । कोई बैकुण्ठपुर में चलने को कहते हैं और कोई कहते हैं वे स्वामी क्षीरसागर में रहते हैं ॥१॥

जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥२॥

जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति होती है प्रभु की सदा से यह रीति है कि उसके लिए वहीं प्रकट होते हैं। शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! उस समाज में मैं भी था अवसर पाकर एक बात मैं ने कही॥२॥

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तेँ प्रगट होहिँ मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसहु माहीँ। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीँ॥३॥

भगवान् तो सब जगह समान रूप से व्यापक हैं, मैं जानता हूँ वे प्रेम से प्रकट होते हैं। देश, काल, दिशा और विदिशा में वह कौन सी जगह है जहाँ परमात्मा नहीं हैं॥३॥

अग-जग-मय सब रहित बिरागी। प्रेम तेँ प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥४॥

जड़ चेतन मय और सब से अलग निर्लेप परमात्मा प्रेम से ऐसे प्रकट होते हैं जैसे अग्नि। मेरी बात सब के मन में भाई और ब्रह्माजी ने सत्य है, सत्य है, कह कर बड़ाई की॥४॥

दो०—सुनि बिरञ्चि मन हरष तन,—पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मति-धीर॥१८५॥

सुन कर ब्रह्माजी मन में प्रसन्न हुए, उनके शरीर की रोमावलियाँ खड़ी हो गईं और नेत्रों से जल बहने लगा। धीर-बुद्धि चतुरानन सावधान हो हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे॥१८५॥

छवपैया-छन्द।

जय जय सुर-नायक, जन सुख-दायक, प्रनतपाल भगवन्ता।
गो-द्विज-हितकारी, जय असुरारी, सिन्धु-सुता प्रिय कन्ता॥
पालन सुर धरनी, अदभुत-करनी, मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला, दीनदयाला, करहु अनुग्रह सोई॥१॥

हे देवताओं के स्वामी, भक्तों को सुख देनेवाले, शरणागतों के रक्षक भगवान्! आप की जय हो, जय हो। हे गौ ब्राह्मण के कल्याण कर्त्ता, दैत्यों के वैरी, सिन्धु-तनया (लक्ष्मी) के प्यारे पति! आप की जय हो। देवता और धरती के पालक, अद्भुत कर्मवाले, जिनके भेद को कोई नहीं जानता जो सहज कृपालु और दीनों पर दया करनेवाले, वे ही स्वामी मुझ पर कृपा करें॥१॥

जय जय अबिनासी, सब घट बासी, ब्यापक परमानन्दा।
अबिगत गोतीतं, चरित पुनीतं, माया रहित मुकुन्दा॥
जेहि लागि बिरागी, अति अनुरागी, बिगत मोह मुनिवृन्दा।
निसिबासर ध्यावहिँ, गुन गन गावहिँ, जयति सच्चिदानन्दा॥४॥

हे अक्षय, सब के हृदय में बसनेवाले व्यापक और परम आनन्द के रूप, आप की जय हो, जय हो। आप अनिर्वचनीय, इन्द्रियों से परे, पवित्र चरित्र, माया से रहित और मोक्ष देनेवाले हैं। जिसके लिए मोह त्याग कर वैराग्यवान मुनि लोग अत्यन्त प्रेमी होकर रातो-दिन ध्यान करते और गुण-गण गाते हैं, उन सच्चिदानन्द (परब्रह्म) की जय हो॥४॥

जेहि सृष्टि उपाई, त्रिबिधि बनाई, सङ्ग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी, चिन्त हमारी, जानिय भगति न पूजा॥
जो भव-भय भञ्जन, मुनि-मन रञ्जन, गञ्जन बिपति बरूथा।
मन बच क्रम बानी, छाड़ि सयानी, सरन सकल-सुर-जूथा॥५॥

जिसने सृष्टि का विधान तीन प्रकार (उत्पत्ति, पालन और संहार) से बिना दूसरे के साथ और सहायता के बनाया, वे पाप के वैरी स्वामिन्! हमारी ओर ध्यान दें, मैं भक्ति और उपासना करना नहीं जानता। जो संसार के भय को चूर चूर करते हैं, मुनियों के मन को आनन्द देनेवाले और विपत्ति-जाल के नसानेवाले हैं। मन, वचन और कर्म से सम्पूर्ण देवता-वृन्द चतुराई की बानि (आदत) छोड़ कर आप की शरण आये हैं॥५॥

सारद स्रुति सेषा, रिषय असेषा, जा कहँ कोउ नहिँ जाना।
जेहि दीन पियारे, बेद पुकारे, द्रवउ सो स्रीभगवाना॥
भव-बारिधि-मन्दर, सब बिधि सुन्दर, गुन-मन्दिर सुख-पुञ्जा।
मुनि सिद्ध सकल सुर, परम भयातुर, नमत नाथ-पद-कञ्जा॥६॥

सरस्वती, वेद, शेष और असंख्यों ऋषिवर जिनको कोई नहीं जानते, जिन्हें दीनदयालु वेद पुकारते हैं वे श्रीभगवान् मुझ पर प्रसन्न हों। जो संसार रूपी समुद्र मथने के लिए मन्दर-पर्वत हैं, सब प्रकार सुन्दर गुणों के मन्दिर और सुख की राशि हैं; सम्पूर्ण देवता, सिद्ध और मुनि अतिशय भय-विह्वल होकर उन स्वामी के चरण-कमलों को नमस्कार करते हैं॥६॥

दो०—जानि सभय सुर-भूमि सुनि, बचन समेत सनेह।
गगन-गिरा गम्भीर भइ, हरनि सोक-सन्देह॥१८६॥

देवता और पृथ्वी को भयभीत जान कर और स्नेहसहित ब्रह्माजी के वचन सुन कर, शोक-सन्देह को हरनेवाली गम्भीर आकाशवाणी हुई॥१८६॥

चौ०—जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहिँ लागि धरिहउँ नर-बेसा ॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेइहउँ दिनकर-बंस उदारा ॥१॥

हे मुनि, सिद्ध और इन्द्र ! मत डरो, तुम्हारे लिए मैं मनुष्य का शरीर धारण करूँगा। अपने अंशों समेत श्रेष्ठ सूर्य्यकुल में मनुष्य जन्म लेऊँगा ॥१॥

कस्यप अदिति महा तप कीन्हा । तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥
ते दसरथ-कौसल्या—रूपा । कोसलपुरी प्रगट नर-भूपा ॥२॥

कश्यप और अदिति ने बड़ी तपस्या की है, उनको मैं ने पहले वर दिया है। वे अयोध्यापुरी में दशरथ और कौशल्या रूप नरराज प्रकट हुए हैं ॥२॥

तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई । रघुकुल तिलक सुचारिउ भाई ॥
नारद बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥

उन सुन्दर रघुकुल-तिलक (दशरथजी) के घर जा कर हम चारों भाई अवतरेंगे। परम-शक्ति (सीताजी) के सहित जन्म ले कर नारदजी की सब बातें सच्ची करेंगे ॥३॥

शङ्का—पूर्व में मनु-शतरूपा की तपस्या कह कर जिस कल्प में भानुप्रताप रावण हुआ, उस कथा को विस्तार से वर्णन करने का सङ्कल्प प्रकट किया गया है; किन्तु यहाँ आकाशवाणी द्वारा कश्यप-अदिति की तपस्या और नारदमुनि के शाप को सत्य करना कहलाया। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में परब्रह्म के अवतार की कथा जिसमें भानुप्रताप रावण हुआ उसको प्रधान रूप से वर्णन किया है और गौण रूप से बीच बीच में अन्य तीनों अवतारों की कथा भी कहते गये हैं। जैसे-रमानाथ जहँ राजा, पय-पयोधि तजि अवध बिहाई, मोर साप करि अङ्गीकारा,' इत्यादि असंख्यों प्रमाण भरे हैं। आकाशवाणी में सूक्ष्म रीति से चारों अवतारों का विवरण है। 'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा, इत्यादि' उस कल्प की आकाशवाणी है जिस कल्प में साकेत विहारी परब्रह्म अवतरे, मनु-शतरूपा ने तप किया और भानुप्रताप रावण हुआ। शेष कश्यप-अदिति के तप की बात जिस कल्प में विष्णु भगवान् ने अवतार लिया, नारदजी ने शाप दिया, जय-विजय, जलन्धर, शिव-गण रावण हुए उस कल्प की वाणी है।

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई ॥
गगन ब्रह्म-बानी सुनि काना । तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥४॥

हे देवतावृन्द ! निडर हो जाओ, मैं समस्त पृथ्वी के बोझ को हर लूँगा। इस तरह कान से आकाश की ब्रह्मवाणी सुन कर देवताओं का हृदय शीतल हुआ, वे तुरन्त वहाँ से लौटे ॥४॥

तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा । अभय भई भरोस जिय आवा ॥५॥

तब ब्रह्माजी ने पृथ्वी को समझाया, वह निर्भय हुई, जी में भरोसा आया ॥५॥

दो०—निज लोकहि बिरञ्चि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ ।
बानर-तनु धरि धरि महि, हरि-पद सेवहु जाइ ॥१८७॥

ब्रह्माजी सब देवताओं को यह सिखा कर कि तुम लोग पृथ्वी पर जा कर वानर की देह धर धर कर भगवान् के चरण की उपासना करो और आप ब्रह्मलोक को चले गये ॥१८७॥

शङ्का—पूर्व में कह आये हैं कि देवता, मुनि, सिद्धादि और पृथ्वी सब मिल कर ब्रह्मा के लोक में गये और अपना अपना दुःख निवेदन किया। ब्रह्मा ने पुलकित शरीर से वहीं भगवान् की स्तुति की, आकाशवाणी हुई पर कहीं कोई गये नहीं। फिर ब्रह्माजी को अपने लोक में जाना क्यों कहा गया, वे तो अपने ही लोक में थे?

उत्तर—यहाँ भी वही कल्प भेद है। जिस कल्प में क्षीरसागर के किनारे या वैकुण्ठधाम में जा कर स्तुति की थी, उस कल्प में अपने लोक को जाना कहते हैं।

चौ०—गये देव सब निज निज धामा । भूमि सहित मन कहँ बिस्रामा ॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा । हरषे देव बिलम्ब न कीन्हा ॥१॥

सब देवता धरती के समेत मन में विश्राम पा कर अपने अपने लोक को गये। जो कुछ ब्रह्माजी ने आज्ञा दी उसमें देर नहीं की देवता-गण ने प्रसन्नता से—॥१॥

बनचर देह धरी छिति माहीँ । अतुलित बल-प्रताप तिन्ह पाहीँ ॥
गिरि-तरु-नख आयुध सब बीरा । हरि मारग चितवहिँ मतिधीरा ॥२॥

पृथ्वी पर वानर की देह धारण किया, उनमें बेप्रमाण बल और प्रताप था, पर्वत, वृक्ष और नख ही जिनके हथियार हैं, सब शूरवीर मतिधीर भगवान् के (आगमन का) मार्ग निहारते हैं ॥२॥

गिरि कानन जहँ तहँ महि पूरी । रहे निज निज अनीक रुचि रूरी ॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाखा । अब सो सुनहु जो बीचहि राखा ॥३॥

पर्वत, वन और पृथ्वी जहाँ तहाँ अपनी अपनी इच्छानुसार सुन्दर टोली बना कर भरे पड़े हैं। ये सब शोभन चरित्र मैं ने कहे, अब वह सुनो जो बीच ही में रख छोड़ा है ॥३॥

१२० वें दोहे के अन्तर्गत कहा कि—"सुनहु राम अवतार, चरित परम सुन्दर अनघ" पर कहने लगे जय, विजय, जलन्धर आदि रावण के जन्म की कथा, मनु शतरूपा की तपस्या, भानु प्रताप के शाप की कथा रावण जन्म और दिग्विजय आदि। इस लिए यहाँ कहते हैं कि राम अवतार कहने को कह कर जो बीच में छोड़ रक्खा है, अब उसको सुनिए।

अवधपुरी रघुकुल-मनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ ॥
धरम-धुरन्धर गुन-निधि ज्ञानी । हृदय भगति मति सारँग-पानी ॥४॥

अयोध्यापुरी के राजा रघुकुल-मणि दशरथजी जिनका नाम वेदों में विख्यात है। वे धर्म धुरन्धर, गुणों के समुद्र और ज्ञानी थे। उनके हृदय में शार्ङ्गपाणि (विष्णु भगवान्) की भक्ति और बुद्धि थी ॥४॥

दो०—कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि-पद-कमल विनीत ॥ १८८ ॥

कौशल्या आदि उनकी प्यारी सब स्त्रियाँ पवित्र आचरणवाली, पति की आज्ञा में नम्रता-पूर्वक तत्पर और भगवान् के चरण-कमलों में स्थायी प्रेम रखती थीं ॥१८८॥

चौ०—एक बार भूपति मनमाहीं । भइ गलानि मोरे सुत नाहीं ॥
गुरु गृह गयउ तुरत महिपाला । चरन लागि करि विनय बिसाला ॥१॥

एक बार राजा के मन में ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है। राजा तुरन्त गुरु के घर गये और पाँव पकड़ कर बड़ी प्रार्थना की ॥१॥

इतने बड़े साम्राज्य का भोगनेवाला कोई नहीं, बिना पुत्र के सब व्यर्थ है। यह सोच कर मन में सन्ताप होना 'ग्लानि सञ्चारीभाव' है।

निज दुख सुख सब गुरुहि सुनायो । कहि बसिष्ठ बहु विधि समुझायो ॥
धरहु धीर होइहहिं सुत-चारी । त्रिभुवन-विदित भगत-भय-हारी ॥२॥

अपना दुःखसुख सब गुरुजी को सुनाया, वशिष्ठजी ने बहुत तरह से कह कर समझाया कि धीरज धरिए, आप के चार पुत्र तीनों लोक में प्रसिद्ध और भक्तों के भय को हरनेवाले होंगे ॥२॥

एक पुत्र की इच्छा से राजा गुरु के पास गये, वहाँ चार पुत्रों का वर पाना अर्थात् चित चाही बात से अधिक अर्थ सिद्ध होना 'द्वितीय प्रहर्षण अलंकार' है।

सृङ्गी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा । पुत्रकाम सुभ जग्य करावा ॥
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे । प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥३॥

वशिष्ठजी ने शृङ्गीऋषि को बुलवाया और कल्याण के लिए पुत्र-कामेष्टि यज्ञ कराया। मुनि ने भक्ति के सहित आहुति दी, (मन्त्र पढ़ कर द्रव्य को अग्नि में हवन करना) अग्नि-देव हाथ में हविष्यान्न लिये प्रकट हुए ॥३॥

जो बसिष्ठ कछु हृदय विचारा । सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा ॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई । यथा जोग जेहि भाग बनाई ॥४॥

उन्होंने कहा—हे राजन् ! वशिष्ठजी ने जो कुछ मन में विचारा है, आप का वह सम्पूर्ण कार्य्य सिद्ध हो गया। यह हव्यान्न ले जा कर और यथायोग्य (चार) भाग बना कर रानियों को बाँट दीजिए ॥४॥

दो०—तब अदृस्य भये पावक, सकल सभहि समुझाइ ।
परमानन्द मगन नृप, हरष न हृदय समाइ ॥ १८९ ॥

सारी सभा को समझा कर तब अग्निदेव अन्तर्धान हो गये। राजा परम आनन्द में मग्न हुए, उनके हृदय में हर्ष अमाता नहीं (बाहर को उमड़ा पड़ता) है ॥१८९॥

चौ०—तबहि राय प्रिय नारि बोलाई । कौसल्यादि तहाँ चलि आई ॥
अरध-भाग कौसल्यहि दीन्हा । उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥१॥

उसी समय राजा (रनिवास में जा कर) प्यारी स्त्रियों को बुलाया, वहाँ कौशल्या और केकई चली आईं । आधा भाग (हविष्यान्न) कौशल्या को दे दिया, शेष आधा भाग हाथ में बचा उसका दो भाग किया ॥१॥

कैकेई कहँ नृप सो दयऊ । रहेउ सो उभय भाग पुनि भयऊ ॥
कौसल्या कैकेयो हाथ धरि । दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि ॥२॥

उसमें एक भाग केकयी को दिया, रहा चौथा भाग फिर उसका दो भाग हुआ । राजा ने उन दोनों भागों को एक कौशल्याजी के दूसरा केकयी के हाथ पर रख दिया, इतने में सुमित्राजी आ गईं, उन्हें देख कर राजा के मन में संकोच हुआ कि अब इन्हें क्या देऊँ ? परम पवित्र पतिप्राणा कौशल्या और केकयी पति के हृदय का असमञ्जस जान कर (अपना अन्तिम भाग) प्रसन्न मन से सुमित्राजी को दे दिया ॥२॥

बहुतेरे विद्वान् इस प्रकार अर्थ करते हैं कि—'अन्तिम भाग को राजा ने कौशल्या और केकयी के हाथ में धर कर प्रसन्न मन कर के सुमित्रा को दिया' । परन्तु इस टोटके का कारण कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है कि कौशल्या और केकयी के हाथ में स्पर्श क्यों कराया । यदि यही अर्थ ठीक मान लें तो लक्ष्मणजी का भाग कौशल्या के हाथ में और शत्रुहन का भाग केकयी के हाथ में छुआया । इसी से लक्ष्मण रामचन्द्रजी के तथा शत्रुहन भरतजी के अनुगामी हुए, तब कौशल्यादि शब्द से तीनों रानियों के साथ आने का अर्थ होगा ।

एहि बिधि गर्भ-सहित सब नारी । भईं हृदय हरषित सुख-भारी ॥
जा दिन तेँ हरि गर्भहि आये । सकल लोक सुख-सम्पति छाये ॥३॥

इस प्रकार सब स्त्रियाँ गर्भ सहित हुईं, उनके हृदय में बड़ा सुख आनन्द हुआ । जिस दिन से भगवान् गर्भ में आये, उसी दिन से सम्पूर्ण लोकों में सुख-सम्पत्ति छा गई ॥३॥

मन्दिर महँ सब राजहिँ रानी । सोभा—सील-तेज की खानी ॥
सुख-जुत कछुक काल चलि गयऊ । जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ॥४॥

शोभा, शील और तेज की राशि सब रानियाँ राजमहल में शोभित हो रही हैं । सुख-पूर्वक कुछ काल बीत गया, जिस समय भगवान् प्रकट होनेवाले थे, वह अवसर प्राप्त हुआ ॥४॥

दो०—जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल ।
चर अरु अचर हरष-जुत, राम-जनम सुख-मूल ॥ १९० ॥

योग, लग्न, ग्रह, बार और तिथि सब अनुकूल हुए, जड़ और चेतन सुख के मूल रामचन्द्रजी के जन्म के समय हर्ष युक्त हैं ॥१९०॥

चौ०-नवमी तिथि मधु मास पुनीता । सुकल पच्छ अभिजित हरि-प्रीता ॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा । पावन-काल लोक-बिस्रामा ॥१॥

नौमी तिथि, चैत्र का पवित्र महीना, शुक्ल-पक्ष और भगवान् को प्रिय अभिजित मुहूर्त्त, मध्याह्नकाल, न अधिक शीत न घाम, लोगों के विश्राम का पवित्र समय ॥१॥

सीतल मन्द सुरभि बह बाऊ । हरषित सुर सन्तन्ह मन चाऊ ॥
बन कुसुमित गिरि-गन-मनिआरो । स्रवहिं सकल सरितामृत-धारा ॥२॥

शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा बह रही है, देवता और सन्तों के मन उत्साह से आनन्दित हैं। वन फूले हैं, पर्वत-समूह मणिवाले हुए हैं और सम्पूर्ण नदियाँ अमृत की धारा बहती हैं ॥२॥

सो अवसर बिरञ्चि जब जाना । चले सकल सुर साजि बिमाना ॥
गगन बिमल सङ्कुल-सुर-जूथा । गावहिं गुन गन्धर्व-बरूथा ॥ ३ ॥

जब ब्रह्माजी ने जाना कि वह समय आ गया, तब सम्पूर्ण देवता विमान सज कर चले। निर्मल आकाश विबुध वृन्द से भर गया, झुण्ड के झुण्ड गन्धर्व गुण गान करते हैं ॥३॥

बरषहिँ सुमन सुअञ्जलि साजी । गहगहि गगन दुन्दुभी बाजी ॥
अस्तुति करहिँ नाग-मुनि-देवा । बहु बिधि लावहिँ निज निज सेवा ॥४॥

सुन्दर अञ्जली भर भर कर फूल बरसाते हैं और आकाश में धूम के साथ नगाड़े बजते हैं। देवता, मुनि और नाग स्तुति करते हैं, बहुत तरह से अपनी अपनी सेवा लगाते हैं ॥४॥

प्रेमी फूल बरसा कर, नाचनेवाले नाच कर, गानेवाले गा कर और सिद्धादि स्तुति कर के सेवा प्रकट कर रहे हैं।

दो०--सुर-समूह बिनती करि, पहुँचे निज निज धाम ।
जगनिवास प्रभु प्रगटे, अखिल-लोक-बिस्राम ॥ १९१ ॥

सब देवता विनती करके अपने अपने लोक में पहुँचे। सम्पूर्ण लोकों के आनन्द देनेवाले जगन्निवास प्रभु रामचन्द्रजी प्रकट हुए ॥१९१॥

'प्रकटे' शब्द में ईश्वरत्व प्रतिपादन की लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि भगवान् जन्मे नहीं, स्वतः प्रकट हुए।

चवपैया-छन्द ।

भये प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या-हितकारी ।
हरषित महँतारी, मुनि-मन-हारी, अद्भुत रूप बिचारी ॥

लोचन अभिरामं, तनु-घन-स्यामं, निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला, नयन बिसाला, सोभा-सिन्धु खरारी ॥७॥

कौशल्याजी के हितकारी, दीनों पर दया करनेवाले कृपालु भगवान् प्रकट हुए। मुनियों के मन को हरनेवाले उनका अद्भुत रूप विचार कर माता आनन्दित हुईं। नेत्रों को आनन्द देनेवाले श्याम मेघ के समान शरीर है और चारों भुजाओं में अपने हथियार (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म) धारण किए हैं। खर राक्षस के वैरी, शोभा के समुद्र, विशाल नेत्रवाले हैं, अङ्गों में आभूषण और गले में वनमाला शोभायमान है ॥ ७ ॥

कह दुइ कर जोरी, अस्तुति तोरी, केहि बिधि करउँ अनन्ता।
माया-गुन-ज्ञाना,-तीत अमाना, बेद पुरान भनन्ता ॥
करुना-सुख-सागर, सब गुन आगर, जेहि गावहिं स्रुति सन्ता।
सो मम-हित-लागी, जन-अनुरागी, भयउ प्रगट श्रीकन्ता ॥८॥

दोनों हाथ जोड़ कर कहती हैं, हे अनन्त भगवान्! मैं आप की प्रशंसा किस प्रकार से करूँ। वेद पुराण कहते हैं कि आप माया, गुण, ज्ञान से परे और परिमाण रहित हैं। जिनको श्रुतियाँ और सन्तलोग दया-सुख के समुद्र एवम् सब गुणों के स्थान कह कर गाते हैं, वे ही लक्ष्मीकान्त भक्तों पर प्रेम करनेवाले, मेरे कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं ॥ ८ ॥

त्रिभंगी-छन्द।

ब्रह्मांड निकाया, निर्मित-माया, रोम रोम प्रति, बेद कहै।
मम उर सो बासी, यह उपहासी, सुनत धीर मति, थिर न रहै ॥
उपजा जब ज्ञाना, प्रभु मुसुकाना, चरित बहुत बिधि, कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई, मातु बुझाई, जेहि प्रकार सुत, प्रेम लहै ॥१॥

वेद कहते हैं कि माया से रचे हुए अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आप के रोम रोम में बसते हैं, वे ही मेरे गर्भ में रहे? यह हँसी (निन्दा) की बात सुन कर धीरवानों की बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। जब माता को ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा; तब प्रभु रामचन्द्रजी मुस्कुराये, वे बहुत तरह के चरित्र करना चाहते हैं। पूर्वजन्म की सुन्दर कथा कह कर माता को समझाया, जिस प्रकार उन्हें पुत्र का प्रेम प्राप्त हो ॥ १ ॥

अत्यन्त लघु आधार रोम में, बहुत बड़े आधेय कोटि कोटि ब्रह्माण्ड की रचना 'द्वितीय अधिक अलंकार' है।

चवपैया-छन्द

माता पुनि बोली, सो मति डोली, तजहु तात यह रूपा।
कीजिय सिसुलीला, अति प्रिय-सीला, यह सुख परम अनूपा ॥

सुनि बचन सुजाना, रोदन ठाना, होइ बालक सुर-भूपा ॥
यह चरित जे गावहिं, हरि-पद पावहिं, ते न परहिं भव-कूपा ॥९॥

माता की वह बुद्धि बदल गई फिर वे बोलीं—हे तात ! इस रूप को त्याग दीजिए। अत्यन्त प्रिय की हद बाललीला कीजिए, यह सुख बड़ा ही अनुपम है। देवताओं के राजा सुजान प्रभु माता के वचन सुन कर बालक होकर रोने लगे। जो इस चरित्र को गाते हैं वे संसार-कूप में नहीं पड़ते, परम-पद पाते हैं ॥ ६ ॥

'ठाना' शब्द से लक्ष्यक्रम विवक्षितवाच्य ध्वनि है। जिसमें राजमहल और नगर-निवासियों को बालकोत्पत्ति की एक साथ ही सूचना हो जाय।

दो०—बिप्र-धेनु-सुर-सन्त हित, लीन्ह मनुज-अवतार ।
निज-इच्छा निर्मित-तनु, माया-गुन-गो पार ॥ १९२ ॥

ब्राह्मण, गैया, देवता और सज्जनों के हित मनुष्य-अवतार लिया। जो परमात्मा माया, गुण तथा इन्द्रियों से परे हैं उन्होंने अपनी इच्छा से शरीर निर्माण किया है ॥ १६२ ॥

चौ०—सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी । सम्भ्रम चलि आईं सब रानी ॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी । आनँद मगन सकल पुरबासी ॥१॥

बालक के रुदन का अतिशय प्रिय शब्द सुन कर सब रानियाँ तुरन्त (प्रसव-भवन में) चल कर आईं। दासियाँ जहाँ तहाँ से प्रसन्न होकर दौड़ीं और सम्पूर्ण नगर-निवासी आनन्द में मग्न हो गये ॥ १ ॥

बालक का रोना सुनते ही सारे महल की रानियाँ, दासियाँ और नगर-निवासी सब साथ ही आनन्द में मग्न हो गये 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

दसरथ पुत्र-जन्म सुनि काना । मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना ॥
परम-प्रेम-मन पुलक-सरीरा । चाहत उठन करत मति धीरा ॥२॥

दशरथजी पुत्र-जन्म कान से सुन कर ऐसे प्रसन्न हुए, मानों वे ब्रह्म के सुख में समा गये हों। मन में बड़ा प्रेम हुआ, शरीर पुलकित हो गया, उठना चाहते हैं (पर उठ नहीं सकते, इसलिए) बुद्धि को सावधान करते हैं ॥ २ ॥

जा कर नाम सुनत सुभ होई । मोरे गृह आवा प्रभु सोई ॥
परमानन्द-पूरि-मन राजा । कहा बोलाइ बजावहु बाजा ॥३॥

जिनका नाम सुनने से कल्याण होता है, वे ही प्रभु मेरे घर आये हैं। परम आनन्द से राजा का मन भर गया, बाजावालों को बुलवा कर बाजा बजाने के लिए कहा ॥ ३ ॥

गुरु बसिष्ट कहँ गयउ हँकारा । आये द्विजन्ह सहित नृप-द्वारा ॥
अनुपम बालक देखेन्हि जाई । रूप-रासि गुन कहि न सिराई ॥४॥

गुरु वशिष्ठजी को बुलौआ गया, वे ब्राह्मणों के सहित राजद्वार पर आये। जा कर अनुपम बालक को देखा, जो छबि की राशि हैं और जिनका गुण कहने से समाप्त नहीं हो सकता ॥४॥

दो०—तब नन्दीमुख-स्राध करि, जातकरम सब कीन्ह ।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥१९३॥

तब राजा ने नान्दीमुख-श्राद्ध कर के सब जातकर्म किए । सुवर्ण, गैया, वस्त्र और मणि ब्राह्मणों को दान दिया ॥ १९३॥

गुटका में 'नन्दी मुख सराध करि' पाठ है । निर्णय सिन्धु में लिखा है कि पुत्र-कन्या के जन्म, उपनयन, विवाहादि उत्सवों में नान्दीमुख-श्राद्ध किया जाता है । यह पूर्वाह्न-काल में होता है; परन्तु पुत्र-जन्म में समय का नियम नहीं है । जातकर्म—हिन्दुओं के दस संस्कारों में से चौथा संस्कार है जो बालक के जन्म के समय होता है । आजकल यह संस्कार बहुत कम लोग करते हैं ।

चौ०—ध्वज पताक तोरन पुर छावा । कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥
सुमनबृष्टि अकास तेँ होई । ब्रह्मानन्द मगन सब लोई ॥१॥

ध्वजा, पताका और वन्दनवार से नगर छा गया है, जिस तरह सजावट हुई वह कही नहीं जा सकती । आकाश से फूलों की वर्षा हो रही है, सब लोग ब्रह्म के आनन्द में मग्न हैं ॥१॥

बृन्द बृन्द मिलि चलीँ लोगाईं । सहज सिँगार किये उठि धाईं ॥
कनक-कलस मङ्गल भरि थारा । गावत पैठहिँ भूप-दुआरा ॥२॥

झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ मिल कर चलीं, वे स्वाभाविक शृङ्गार किये हुए उठ दौड़ीं । सुवर्ण के कलश और थालों में माङ्गलीक द्रव्य भर कर गान करती हुई राजमहल के भीतर प्रवेश करती हैं ॥२॥

करि आरती निछावरि करहीँ । बार बार सिसु चरनन्हि परहीँ ॥
मागध सूत बन्दि-गन गायक । पावन गुन गावहिँ रघुनायक ॥३॥

आरती कर के न्योछावर करती हैं, बार बार बालक के चरणों में पड़ती हैं । राजवंश बखाननेवाले, पौराणिक, वन्दीजन और गवैयों के समूह रघुनायक (दशरथजी) के पवित्र गुण गाते हैं ॥३॥

सरबस-दान दीन्ह सब काहू । जेहि पावा राखा नहिँ ताहू ॥
मृगमद-चन्दन-कुङ्कुम कीचा । मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥४॥

सब किसी ने सर्वस्व दान दिया जिसने पाया उसने भी नहीं रक्खा । कस्तूरी, चन्दन और केसर का कीचड़ सम्पूर्ण गलियों के बीच बीच में हो रहा है ॥४॥

सब किसी ने सर्वस्व दान दिया और जिसने पाया उसने भी दूसरों को दे दिया । इस कथन में अयोध्यापुर-वासियों की उदारता का अतिशय वर्णन 'अत्युक्ति अलंकार' है ।

दो०—गृह गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुखमा-कन्द ।
हरषवन्त सब जहँ तहँ, नगर नारि-नर-वृन्द ॥१९४॥

शोभा के मूल (रामचन्द्रजी) प्रकट हुए, इसलिए घर घर मङ्गल-सूचक बधाइयाँ बज रही हैं। नगर के स्त्री पुरुषों के झुण्ड सब जहाँ तहाँ आनन्दित हैं ॥१९४॥

राजपुत्र के जन्मोत्सव से सब के चित्त में प्रसन्नता का होना 'हर्ष सञ्चारीभाव' है। गुटका में 'प्रगटे प्रभु सुखकन्द' पाठ है।

चौ०—कैकय-सुता सुमित्रा दोऊ। सुन्दर-सुत जनमत भइँ ओऊ ॥
वह सुख सम्पति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा ॥१॥

केकयी और सुमित्रा उन दोनों ने भी सुन्दर पुत्र उत्पन्न किए। शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! उस समय के सुख ऐश्वर्य्य के समाज को सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते ॥१॥

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती ॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी सन्ध्या अनुमानी ॥२॥

अयोध्यापुरी इस तरह शोभित हो रही है, मानों प्रभु रामचन्द्रजी से मिलने के लिए रात आई हो। वह मानों सूर्य्य को देख कर मन में लजा गई है, तो भी विचार कर सन्ध्या के रूप में बनी है ॥२॥

रात्रि जड़ है उसे दो प्रहर में आने को कहना केवल कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। जड़ वस्तु का सूर्य्य से लजाना असिद्ध आधार है इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

अगर-धूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी ॥
मन्दिर-मनि-समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इन्दु उदारा ॥३॥

अगर के धूप का बहुत धुँआ मानों अन्धकार है, अबीर उड़ती है वही मानों ललाई है। मन्दिरों के रत्न-समूह मानों तारागण हैं और राजमहल के कलश वह मानों श्रेष्ठ चन्द्रमा है ॥३॥

भवन बेद-धुनि अति मृदुबानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी।
कौतुक देखि पतङ्ग भुलाना। एक मास तेइँ जात न जाना ॥४॥

घरों में अत्यन्त कोमल वाणी से वेद-ध्वनि हो रही है, वह ऐसी मालूम होती है मानों चिड़ियों की बोली है और समय से मिली सुहावनी लगती है। यह कुतूहल देख कर सूर्य्य भुला गये, एक महीने का दिन उन्होंने जाते नहीं जाना ॥४॥

पक्षियों की बोली समझ में नहीं आती, पर समयानुकूल सुहावनी लगती ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ ।
रथ समेत रवि थाकेउ, निसा कवनि बिधि होइ ॥१९५॥

महीने दिन का एक दिन हुआ, पर इसका भेद कोई नहीं जानता । रथ के सहित सूर्य्य भगवान् ठहर गये फिर रात किस प्रकार हो ? ॥१९५॥

चौ०—यह रहस्य काहू नहिँ जाना । दिन-मनि चले करत गुन गाना ॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा । चले भवन बरनत निज भागा ॥१॥

इस गुप्तभेद को किसी ने नहीं जाना, सूर्य्यदेव गुण गान करते हुए चले । यह जन्ममहोत्सव देख कर देवता, मुनि और नाग अपने भाग्य की बड़ाई करते घर को चले ॥ १ ॥

औरउ एक कहउँ निज चोरी । सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥
काकभुसुंडि सङ्ग हम दोऊ । मनुज-रूप जानइ नहिँ कोऊ ॥२॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा ! सुनो, तुम्हारी बुद्धि बड़ी पक्की है इसलिए एक और भी मैं अपनी चोरी कहता हूँ । हम और कागभुशुण्ड दोनों साथ ही मनुष्य रूप में थे, जिसको कोई नहीं जानता था ॥ २ ॥

परमानन्द प्रेम-सुख फूले । बीथिन्ह फिरहिँ मगन मन भूले ॥
यह सुभ चरित जान पै सोई । कृपा राम कै जा पर होई ॥३॥

प्रेम सुख से परम आनन्द में प्रफुल्लित मन में मग्न गलियों में फिरते थे । पर यह शुभ चरित्र वही जान सकता है, जिस पर रामचन्द्रजी की कृपा होती है ॥३॥

तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा । दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा ॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा । दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा ॥४॥

उस समय जो जिस प्रकार आया, जिसके मन में जो अच्छा लगा राजा ने वही दिया । हाथी, रथ, घोड़े, सुवर्ण, गैया, हीरा और नाना भाँति के वस्त्र राजा ने दिये ॥४॥

दो०—मन सन्तोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिँ असीस ।
सकल तनय चिरजीवहु, तुलसिदास के ईस ॥१९६॥

सभी के मन सन्तुष्ट हुए जहाँ तहाँ आशीर्वाद देते हैं कि तुलसीदास के स्वामी सब पुत्र चिरंजीवी हों ॥१९६॥

चौ०—कछुक दिवस बीते एहि भाँती । जात न जानिय दिन अरु राती ॥
नाम-करन कर अवसर जानी । भूप बोलि पठये मुनि-ज्ञानी ॥१॥

इसी तरह कुछ दिन बीत गये, दिन और रात जाते मालूम न हुआ । नाम रखने का समय जान कर राजा ने ज्ञानी-मुनि (वशिष्ठजी) को बुलवा भेजा ॥ १ ॥

नामकरण—हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में से यह जिसमें बालक का नाम रक्खा जाता है ।

करि पूजा भूपति अस भाखा । धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा ॥
इन्ह के नाम अनेक अनूपा । मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ॥२॥

राजा ने पूजन कर के यह कहा कि—हे मुनि ! जो आप मन में सोच रक्खे हैं वह नाम धरिए । गुरुजी बोले—हे राजन् ! इनके बहुत से अनुपम नाम हैं तो भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा ॥ २ ॥

जो आनन्द-सिन्धु सुख-रासी । सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुख-धाम राम अस नामा । अखिल-लोक दायक बिस्रामा ॥३॥

जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं, जिस (आनन्द-सागर) के अत्यल्प विन्दुमात्र से तीनों लोक सुखी है, वे सम्पूर्ण लोकों के आनन्द देनेवाले सुख के धाम इनका 'राम' ऐसा नाम है ॥३॥

बिस्व-भरन-पोषन कर जोई । ता कर नाम भरत अस होई ॥
जा के सुमिरन तें रिपु-नासा । नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥४॥

जो संसार का पालन पोषण करते हैं, उनका 'भरत' ऐसा नाम होगा । जिनके स्मरण से शत्रु का नाश होता है, वेदों में प्रसिद्ध इनका 'शत्रुहन' नाम है ॥ ४ ॥

प्रत्येक नामों का अर्थ जो गुरुजी ने किया वह स्वयम् सिद्ध है, पुनः उनका विधान करना 'विधि अलंकार' है ।

दो०—लच्छनधाम राम-प्रिय, सकल जगत आधार ।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार ॥१९७॥

जो (शुभ) लक्षणों के धाम, रामचन्द्रजी के प्यारे और सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं, गुरु वशिष्ठजी ने उनका श्रेष्ठ नाम 'लक्ष्मण' रक्खा ॥१९७॥

शङ्का—नामकरण में क्रमशः रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण और शत्रुहन न कह कर शत्रुहन का पहले और लक्ष्मण का पीछे नाम रक्खा गया, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—रामतापिनी उपनिषद् में विश्व, तैजस, प्राज्ञ और ब्रह्म ये चार विभु गिनाये हैं । उनमें परिवर्तित रूप लक्ष्मण, शत्रुहन, भरत और रामचन्द्रजी हैं । गुरुजी ने इस क्रम को उलट कर ब्रह्म, प्राज्ञ, तैजस और विश्व का क्रम लेकर नामकरण किया है । वन्दन पाठक ने तो कई कारण गिनाया है । प्रयागनिवासी पण्डित रामबक्स पाँड़े लिखते हैं कि राम में विश्व को विश्राम देना, भरत में पोषण करना, शत्रुहन में शत्रु से रक्षा करना एक एक लक्षण हैं, किन्तु लक्ष्मणजी उन तीनों लक्षणों से युक्त होने के अतिरिक्त जगत् के आधार रूप हैं, इसलिए उनका नाम आधार स्वरूप मान कर पीछे रक्खा गया है ।

चौ०—धरे नाम गुरु हृदय बिचारी । बेद-तत्व नृप तव सुत चारी ॥
मुनि-धन जन-सरबस सिव-प्राना । बालकेलि-रस-तेहि सुख माना ॥१॥

गुरुजी ने मन में विचार कर नाम धरे और कहा—हे राजन् ! आप के चारों पुत्र वेद

के सार (ब्रह्म) हैं। मुनियों के धन, भक्तजनों के सर्वस्व और शिवजी के प्राण हैं, इनकी बाल-लीला के आनन्द में शङ्करजी सुख मानते हैं ॥ १ ॥

चारों पुत्रों को वेदतत्व, मुनिधन, जनसर्वस्व, शिवप्राण वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है।

बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी ॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥२॥

बरही से ही लक्ष्मणजी ने अपने हितैषी स्वामी जान कर रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति माना। भरत और शत्रुहन दोनों भाइयों में परस्पर वैसी ही प्रीति थी जैसी स्वामी-सेवक के स्नेह की प्रशंसा है। ॥ २ ॥

श्लिष्ट शब्दों द्वारा कविजी एक और अर्थ प्रकट करते हैं कि भरत-शत्रुहन दोनों प्रभु रामचन्द्रजी के वैसे ही सेवक हैं जैसे सेवक की प्रीति की बड़ाई है 'विवृतोक्ति अलंकार' है। पर यह उदाहरण का अङ्गी है।

स्याम गौर सुन्दर दोउ जोरी। निरखहिँ छबि जननी तृन तोरी ॥
चारिउ सील-रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख-सागर-रामा ॥३॥

श्यामल-गौर वर्ण की सुन्दर दोनों जोड़ियों की छबि देख कर माताएँ तृण तोरती हैं (जिसमें दीठ न लग जाय)। चारों बालक शील, शोभा और गुणों के धाम हैं, तथापि रामचन्द्रजी अधिक सुख के सागर हैं ॥ ३ ॥

यद्यपि चारों भाई शील, रूप और गुण के स्थान हैं, इस सामान्य कथन में यह कह कर भेद प्रकट करना कि तो भी रामचन्द्रजी बढ़ कर आनन्द के समुद्र हैं 'विशेषक अलंकार' है।

हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥
कबहुँ उछङ्ग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारहिँ कहि प्रिय ललना ॥४॥

हृदय में कृपा रूपी चन्द्रमा प्रकाशित है और मनोहर हँसी किरण रूपी सूचित होती हैं। कभी गोद में और कभी पालने पर माताएँ प्यारे लालन कह कर दुलारती हैं ॥ ४ ॥

दो०—ब्यापक-ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति बस, कौसल्या के गोद ॥ १९८ ॥

जो व्यापक-ब्रह्म, माया से निर्लिप्त, निर्गुण, क्रीड़ारहित और अजन्मे हैं, वे प्रेम और भक्ति के वश में हो कर कौशल्याजी की गोद में विराजमान हैं ॥ १९८ ॥

चौ०—कामकोटि-छबि स्याम सरीरा। नीलकञ्ज बारिद गम्भीरा ॥
अरुन-चरन-पङ्कज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥१॥

नील कमल और घने मेघ के समान श्याम शरीर में करोड़ों कामदेव की छवि है। लाल कमल के समान चरणों के नखों की झलक ऐसी मालूम होती है, मानों कमल के पत्तों पर मोती बैठे हों ॥१॥

रेख कुलिस ध्वज अङ्कुस सोहै । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहै ॥
कटि किङ्किनी उदर त्रय रेखा । नाभि गँभीर जान जेहि देखा ॥ २ ॥

चरण-तल में वज्र, ध्वजा और अङ्कुशादि की रेखाएँ शोभित हैं, घुघुरुओं की ध्वनि सुन कर मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं। कमर में करधनी, पेट में तीन लकीर (त्रिवली) और गहरी नाभि को जिसने देखा हो वही जान सकता है ॥२॥

भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हिय हरि-नख अति सोभा रूरी ॥
उर मनि-हार-पदिक की सोभा । बिप्र-चरन देखत मन लोभा ॥ ३ ॥

बहुत से आभूषणों से युक्त विशाल भुजाएँ हैं और हृदय पर व्याघ्र के नखों की अतिशय सुहावनी शोभा है। वक्षस्थल में मणियों के हार, रत्नों की छवि और ब्राह्मण के चरण-चिह्न देखते ही मन लुब्ध हो जाता है ॥३॥

कम्बु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन-छबि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनइ पारे ॥४॥

शङ्ख के समान कण्ठ, ठोढ़ी बहुत ही सुन्दर और मुख-मण्डल पर असंख्यों कामदेव की छवि छाई है। दो दो दतुलियाँ, ललाई लिए ओंठ, नासिका और तिलक का वर्णन कर कौन पार पा सकता है ? ॥४॥

सुन्दर स्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुञ्चित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥ ५ ॥

सुन्दर कान और सुहावने मनोहर गाल हैं। तोतरी बोली मधुर अत्यन्त प्यारी है। बिना मुण्डन जन्म समय से रक्खे हुए चीकने घूँघरवाले बालों को माताओं ने बहुत तरह से सज (गूथ) कर बनाये हैं ॥५॥

पीत झँगुलिया तनु पहिराई । जानु-पानि बिचरनि मोहि भाई ॥
रूप सकहिं नहिं कहि स्रुति सेखा । सो जानहिँ सपनेहुँ जिन्ह देखा ॥६॥

पीले रङ्ग की अँगरखी शरीर पर पहनाई है, घुटने और हाथों के बल चलना मुझे बहुत अच्छा लगता है। वेद और शेष शोभा नहीं कह सकते, उसको वे ही जानते हैं जिन्होंने स्वप्न में भी देखा है ॥६॥

दो०—सुख सन्दोह मोह पर, ज्ञान-गिरा-गोतीत ।
दम्पति परम प्रेम-बस, कर सिसु चरित पुनीत ॥ १९९ ॥

सुख के समूह, अज्ञान से परे, ज्ञान, वाणी और इन्द्रिय से बाहर परमात्मा राजा-रानी के अत्यन्त प्रेम के अधीन हो कर पवित्र बाललीला करते हैं ॥१९९॥

इस वर्णन में माता की वत्सलता स्थायी भाव है। रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं।

उनकी सुन्दरता, बाललीला उद्दीपन विभाव है। गोद में लेकर दुलारना, पालने में झुलाना आदि अनुभाव हैं। हर्षादि सञ्चारी भावों द्वारा पुष्ट हो कर 'वत्सल रस' हुआ है।

चौ०—एहि बिधि राम जगत-पितु-माता। कोसलपुरबासिन्ह सुख-दाता॥
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह कै यह गति प्रगट भवानी॥१॥

इस प्रकार जगत् के माता-पिता रामचन्द्रजी अयोध्यापुर-वासियों को सुख देते हैं। शिवजी कहते हैं—हे भवानी! जिन्होंने रघुनाथजी के चरणों में प्रीति मानी है, उनकी यह दशा प्रत्यक्ष है अर्थात् अवधपुर निवासियों की तरह वर्तमान काल में भी रामचन्द्रजी उन्हें आनन्द देते हैं॥१॥

रघुपति-बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव-बन्धन छोरी॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सोँ भय भाखे॥२॥

रघुनाथजी से विमुखी प्राणी करोड़ों यत्न करे, पर उसे संसारी-बन्धन से कौन छोड़ सकता है? (कोई नहीं)। जिस माया ने जड़-चेतन जीवमात्र को अपने वश में कर रक्खा है, वह प्रभु रामचन्द्रजी से डर कर बोलती है॥२॥

भृकुटि-बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिँ रघुराई॥३॥

भौंह के इशारे से उसको नचाते हैं, ऐसे स्वामी को छोड़ कर कहिए किसका भजन करना चाहिए? मन, कर्म और वचन से चालाकी छोड़ कर भजन करते ही रघुनाथजी कृपा करेंगे॥३॥

एहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगर-बासिन्ह सुख दीन्हा॥
लेइ उछङ्ग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥४॥

इस तरह प्रभु रामचन्द्रजी बाललीला कर के सम्पूर्ण नगर-निवासियों को सुख दिया। कभी गोद में ले कर हिलाती हैं, कभी पालने में पौढ़ा कर झुलाती हैं॥४॥

दो०—प्रेम मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।
सुत-सनेह-बस माता, बाल-चरित कर गान॥२००॥

माता कौशल्याजी प्रेम में मग्न रात दिन बीतते नहीं जानती हैं। पुत्र के स्नेहवश बाल-लीला को गान करती हैं॥२००॥

माता का पुत्र विषयक स्नेह रतिभाव है। रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं। उनकी मृदु मुसुकान उद्दीपन विभाव है। माता का गोद में लेकर हलराना, चूमना, पालने में झुलाना आदि अनुभाव हैं। हर्षादि सञ्चारीभावों से विस्तृत हो व्यक्त हुआ है।

चौ०—एक बार जननी अन्हवाये। करि सिँगार पलना पौढ़ाये॥
निजकुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना॥१॥

एक बार माता ने रामचन्द्रजी को स्नान कराया और शृङ्गार कर के पालने में सुला दिया। अपने कुल के इष्टदेव भगवान् की पूजा करने के लिए उन्होंने स्नान किया॥१॥

करि पूजा नैवेद चढ़ावा । आपु गई जहँ पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई । भोजन करत देख सुत जाई ॥ २ ॥

पूजा कर के नैवेद्य चढ़ाया और आप जहाँ पाक बनाया था वहाँ गईं । फिर माता वहाँ (पूजन स्थान में) चल कर आईं, देखा कि बालक रामचन्द्रजी जा कर भोजन करते हैं ॥ २ ॥

गइ जननी सिसु पहिँ भयभीता । देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई । हृदय कम्प मन धीर न होई ॥३॥

माताजी भयभीत हो बालक के पास गईं, फिर वहाँ पुत्र को सोते हुए देखा । पुनः आ कर उन्हीं बालक को (भोजन करते) देखा, हृदय काँपने लगा; मन में धीरज नहीं होता है ॥३॥

एक बालक रामचन्द्र को पालने में पौढ़े और पूजास्थल में भोजन करते वर्णन करना 'तृतीय विशेष अलंकार' है ।

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मति भ्रम मोर कि आन बिसेखा ॥
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥४॥

यहाँ वहाँ दो बालक देखा इससे मन में विचारने लगीं कि मेरी बुद्धि में भ्रान्ति हुई है या और ही विशेष कारण है । प्रभु रामचन्द्रजी ने माता को घबराई हुई देख कर मन्द मुसक्यान से हँस दिया ॥ ४ ॥

दो०—देखरावा मातहि निज, अदभुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥ २०१ ॥

माता को अपना विलक्षण अविच्छिन्न रूप दिखलाया, एक एक रोम में करोड़ों करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं ॥ २०१ ॥

कोटि ब्रह्माण्ड को प्रत्येक रोमों में लगे रहना कथन अर्थात् बड़े आधेय को लघु आधार में रखना 'द्वितीय अधिक अलंकार' है । अलंकारमञ्जूषाके रचयिता लाला भगवानदीन ने इस दोहे में अल्पालंकार दिखाया है; किन्तु यह तो तब होता जब अत्यन्त सूक्ष्म आधेय की अपेक्षा आधार की अति सूक्ष्मता वर्णन की जाती ।

चौ०—अगनित रबि ससि सिव चतुरानन । बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन ॥
काल करम गुन ज्ञान सुभाऊ । सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥१॥

असंख्यों सूर्य्य, चन्द्रमा, शिव, ब्रह्मा और बहुत से पर्वत, नदी, समुद्र, धरती, वन, काल, कर्म, गुण, ज्ञान, स्वभाव तथा जो कभी नहीं सुना था वह भी देखा ॥ १ ॥

देखी माया सब बिधि गाढ़ी । अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ॥
देखा जीव नचावइ जाही । देखी भगति जो छोरइ ताही ॥ २

सब प्रकार गहरी माया को देखा जो बहुत डरती हुई हाथ जोड़े खड़ी है । उन जीवों को देखा जिन्हें माया नाच नचाती है और उस भक्ति को देखा जो (उसके फन्दे से जीव को) छोड़ती है ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी के अद्भुत बिराट रूप को देख कर माता का आश्चर्य्य स्थायीभाव है। रामचन्द्रजी आलम्बन बिभाव हैं। एक एक रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड का लगना, शिव ब्रह्मादि के दर्शन उद्दीपन बिभाव हैं। हृत्कम्प, स्तम्भ आदि अनुभावों द्वारा व्यक्त हो कर मोह, शङ्का, चपलतादि सञ्चारीभावों की सहायता से 'अद्भुत रस, हुआ है।

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥
बिसमयवन्त देखि महँतारी। भये बहुरि सिसु रूप खरारी॥३॥

शरीर पुलकित हो गया; मुखसे वचन नहीं निकलता है, आँख बन्द करके चरणों में सिर नवाया। माता को आश्चर्य्य में डूबी हुई देख कर खर के वैरी भगवान फिर बालक रूप हो गये॥३॥

अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगत-पिता मैं सुत करि जाना॥
हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥४॥

माता कौशल्या मन में डर गईं, उनसे स्तुति नहीं करते बनती है, पछताती हैं कि मैं ने जगत्पिता को पुत्र समझ लिया था। रामचन्द्रजी ने बहुत तरह से माता को समझाया और कहा हे माई! सुनो, यह गुप्त रहस्य कहीं कहना मत॥४॥

दो०—बार बार कौसल्या, बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि॥२०२॥

कौशल्याजी बार बार हाथ जोड़ कर विनती करती हैं कि हे प्रभो! अब आपकी माया मुझे कभी न व्यापे॥२०२॥

चौ०—बाल चरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनन्द दासन्ह कहँ दीन्हा॥
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भये परिजन सुखदाई॥१॥

रामचन्द्रजी ने बहुत प्रकार की बाललीला करके सेवकों को अत्यन्त आनन्द दिया। कुछ काल बीतने पर सब भ्राता बड़े हुए और कुटुम्बियों को सुख देने लगे॥१॥

परिजन-सुखदाई, में लक्षणामूलक गुणीभूतव्यङ्ग है कि अत्यन्त बाल्यावस्था का आनन्द केवल रनिवास को प्राप्त था। जब कुछ बड़े हुए तब बाहर आने लगे जिससे कुटुम्बवालों को वह सुख सुलभ होने लगा।

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥२॥

गुरूजी ने जा कर मुण्डन-संस्कार किया, फिर ब्राह्मणों ने बहुत सी दक्षिणा पाई। चारों सलोने कुँवर अत्यन्त अपार मनोहर चरित करते फिरते हैं॥२॥

मन-क्रम-बचन अगोचर जोई । दसरथ-अजिर बिचर प्रभु सोई ॥
भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल-समाजा ॥३॥

मन, कर्म और वचन से जो ईश्वर अप्रकट हैं, वे ही दशरथजी के आँगन में विचरते हैं। भोजन करते समय जब राजा बुलाते हैं, तब बालक-मण्डली को छोड़ कर नहीं आते ॥३॥

कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई ॥
निगम नेति सिव अन्त न पावा । ताहि धरइ जननी हठि धावा ॥४॥

जब कौशल्याजी बुलाने जाती हैं, तब प्रभु रामचन्द्रजी ठुमुक ठुमुक कर भाग चलते हैं। जिनका अन्त शिवजी नहीं पाते और वेद इति नहीं कहते हैं उनको माता हठ से दौड़ कर पकड़ लेती हैं ॥४॥

गुटका में 'मन क्रम वचन अगोचर जोई । दशरथ अजिर विचर प्रभु सोई, यह चौपाई 'कौसल्या जब बोलन जाई' के नीचे है।

धूसर धूरि भरे तनु आये । भूपति बिहँसि गोद बैठाये ॥५॥

मटीले शरीर धूल से भरे हुए आए, राजा ने हँस कर गोदमें बैठा लिया ॥५॥

दो०—भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि-ओदन लपटाइ ॥२०३॥

भोजन करते हैं पर चञ्चल चित्त से इधर उधर देखते हैं, मौका पाते ही मुँह में दही भात लिपटाये किलकारी मार कर भाग चलते हैं ॥२०३॥

चौ०—बालचरित अति सरल सुहाये । सारद सेष सम्भु स्रुति गाये ॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता । ते जन बञ्चित किये बिधाता ॥१॥

अतिशय उदार सुहावनी बाललीला को सरस्वती, शेष, शिवजी और वेदों ने गाया है। जिनका मन इनसे नहीं लगा, उन मनुष्यों से ब्रह्मा ने ठगहारी की ॥१॥

भये कुमार जबहिं सब भ्राता । दीन्ह जनेऊ गुरु-पितु-माता ॥
गुरु गृह गये पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥२॥

जब सब भाई पाँच वर्ष के हुए, तब गुरु और माता-पिता ने यज्ञोपवीत-संस्कार किया। फिर रघुनाथजी गुरु के मन्दिर में विद्या पढ़ने गये, थोड़े ही काल में सब विद्या आ गई ॥२॥

जाकी सहज स्वास स्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥
बिद्या-बिनय निपुन गुन-सीला । खेलहिं खेल सकल नृप-लीला ॥३॥

चारों वेद जिनके स्वाभाविक श्वास हैं, वे ईश्वर पढ़ते हैं; यह बड़ा कुतूहल है। विद्या, व्यवहार-कुशलता, गुण और शील में कुशल सम्पूर्ण राजाओं की लीला का खेल खेलते हैं ॥३॥

करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥४॥

हाथों में धनुष-बाण लिए अत्यन्त सुहावना रूप देखते ही जड़ चेतन मोहित हो जाते हैं। जिन गलियों में सब भाई विचरते हैं, उन्हें देख कर सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष थक जाते हैं ॥४॥

विचरण करते हैं चारों भाई, थकते हैं लोग लुगाई। कारण कहीं और कार्य्य कहीं 'प्रथम असङ्गति अलंकार' है।

दो०—कोसलपुर-बासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ तें प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल ॥२०४॥

अयोध्यापुरी के निवासी स्त्री-पुरुष क्या बूढ़े और क्या बालक कृपालु रामचन्द्रजी सब को प्राण से भी अधिक प्यारे लगते हैं ॥२०४॥

चौ०—बन्धु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥
पावन-मृग मारहिं जिय जानी । दिनप्रति नृपहि देखावहिं आनी ॥१॥

भाई और मित्रों को बुला कर साथ लेते हैं और नित्य वन में जा कर अहेर खेलते हैं। जी में पवित्र मृग जान कर मारते हैं और प्रतिदिन ला कर राजा को दिखाते हैं ॥१॥

जे मृग राम बान के मारे । ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥
अनुज सखा सँग भोजन करहीं । मातु पिता अज्ञा अनुसरहीं ॥२॥

जो मृग रामचन्द्रजी के बाण से मारे जाते वे शरीर त्याग कर देवलोक को चले जाते थे। छोटे भाइयों और मित्रों के सङ्ग भोजन करते और पितामाता की आज्ञानुसार कार्य्य करते हैं ॥२॥

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा । करहिं कृपानिधि सोइ सञ्जोगा ॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥३॥

जिस प्रकार नगर के लोग प्रसन्न होते हैं, कृपानिधान रामचन्द्रजी वही कार्य्य करते हैं। मन लगा कर वेद और पुराण सुनते हैं, फिर आप लघु बन्धुओं को समझा कर कहते हैं ॥३॥

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
आयसु माँगि करहिं पुर-काजा । देखि चरित हरषइ मन राजा ॥४॥

प्रातःकाल उठ कर रघुनाथजी माता पिता और गुरु को मस्तक नवाते हैं। आज्ञा माँग कर नगर का काम करते हैं, उनके चरित्र को देख कर राजा मन में हर्षित होते हैं ॥४॥

दो०—ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना बिधि, करत चरित्र अनूप ॥ २०५ ॥

जो व्यापक-ब्रह्म, अङ्गहीन, चेष्टा रहित, अजन्मे, गुणों से परे हैं और जिनका न नाम है न रूप, वे भक्तों के लिए नाना प्रकार के अनुपम चरित करते हैं ॥२०५॥

अङ्गहीन निश्चेष्ट-ब्रह्म का शरीरधारी होकर लीला करना 'विरोधाभास अलंकार' है।

चौ०—यह सब चरित कहा मैं गाई । आगिल कथा सुनहु मन लाई ॥
बिस्वामित्र महामुनि ज्ञानी । बसहिँ बिपिन सुभ आस्रम जानी ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं— यह सब चरित्र मैं ने गा कर कहा । अब आगे की कथा मन लगा कर सुनिए । महामुनि ज्ञानी विश्वामित्रजी वन में अच्छा आश्रम जान कर रहते हैं ॥१॥

जहँ जप जोग जज्ञ मुनि करहीं । अति मारीच सुबाहुहि डरहीं ॥
देखत जज्ञ निसाचर धावहिँ । करहिँ उपद्रव मुनि दुख पावहिँ ॥२॥

जहाँ मुनि जप, योग और यज्ञ करते हैं, पर मारीच तथा सुबाहु राक्षस से बहुत डरते हैं । यज्ञ को देखते ही राक्षस दौड़ते हैं और उत्पात करते हैं जिससे मुनि को दुःख होता है ॥२॥

गाधि-तनय मन चिन्ता ब्यापी । हरि बिनु मरहिँ न निसिचर पापी ॥
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा । प्रभु अवतरेउ हरन महि-भारा ॥३॥

गाधिपुत्र के मन में चिन्ता बढ़ी कि पापी राक्षस बिना भगवान् के न मरेंगे । तब मुनि-श्रेष्ठ ने मन में विचार किया कि परमेश्वर ने धरती का बोझ हरने के लिए जन्म लिया है ॥३॥

गाधि विश्वामित्र के पिता का नाम है । गाधि कुशिक राजा के पुत्र थे । हरिवंश में लिखा है कि कुशिक ने इन्द्र के समान पुत्र प्राप्त करने के लिए तप किया, तब इन्द्र के अंश से विश्वामित्र उत्पन्न हुए । अपने तपोबल से विश्वामित्रजी क्षत्रिय शरीर से ब्राह्मण हुए हैं । इनका विशेष वृत्तान्त इसी काण्ड में ३६० वें दोहे के आगे प्रथम चौपाई के नीचे देखो ।

एहू मिस देखउँ पद जाई । करि बिनती आनउँ दोउ भाई ॥
ज्ञान बिराग सकल गुन अयना । सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥ ४ ॥

इसी बहाने जा कर प्रभु के चरणों को देखूँ और विनती कर के दोनों भाइयों को लिवा लाऊँ । ज्ञान, वैराग्य और सम्पूर्ण गुणों के स्थान, उन रामचन्द्रजी को मैं आँख भर कर देखूँगा ॥४॥

दो०—बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिँ बार ।
करि मज्जन सरजू-जल, गये भूप-दरबार ॥ २०६ ॥

बहुत तरह मनोरथ करते हुए जाने में देरी नहीं लगी । सरयू-जल में स्नान कर के राज द्वार पर गये ॥२०६॥

विश्वामित्रजी की अयोध्यापुरी को जाने की इच्छा कारण है, अयोध्या में पहुँचना कार्य्य है । मनोरथ किया और जाने में विलम्ब नहीं लगा तुरन्त नगर में जा पहुँचे 'चपलातिशयोक्ति अलंकार' है । यहाँ 'दरबार' शब्द से राजसभा का प्रयोजन नहीं है, राज द्वार (क़िले के पहले फाटक) से तात्पर्य्य है । यदि राजसभा में पहुँचना कहा जायगा तो नीचे की चौपाई से विरोध पड़ेगा । दरबार फ़ारसी भाषा का शब्द है, । (१) राजसभा, कचहरी । (२) द्वार, दरवाजा (३) राजा, महाराजा, इसके पर्य्यायी नाम हैं । बहुतेरे विद्वान् 'भूप-दरबार' को राजसभा

मान कर दोहे का उत्तरार्द्ध राजा पर घटाते हैं कि राजा सरयू में स्नान कर दरबार में गये, तब मुनि का आगमन सुना। पर ऐसा नहीं है।

चौ०—मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लेइ बिप्र समाजा॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥१॥

जब राजा ने मुनि का आगमन सुना, तब ब्राह्मण-मण्डली को साथ ले कर मिलने गये। दण्डवत प्रणाम कर के मुनि का स्वगात किया और लिवा लाकर अपने आसन (राज्यसिंहासन) पर बैठाया॥१॥

चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिँ दूजा॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा॥२॥

पाँव धो कर बहुत शुश्रूषा की और कहा कि आज मेरे समान दूसरा कोई धन्य नहीं है। अनेक प्रकार के व्यञ्जन भोजन करवाये, मुनिश्रेष्ठ हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हुए॥२॥

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार-ग्रन्थ में प्रेयान नामक एक और रस का उल्लेख किया है, जिसका स्थायीभाव स्नेह है। यहाँ वही रस है। पूज्य मित्र विश्वामित्रजी आलम्बन विभाव हैं। उनका दर्शन उद्दीपन विभाव है। राजा का आगे जा कर लिवा लाना, सिंहासन पर बैठाना, पूजा कर के दण्डवत प्रणाम करना आदि अनुभाव हैं। हर्ष आदि सञ्चारीभावों से पुष्ट हो कर 'प्रेयान्‌रस' हुआ है।

पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥
भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥३॥

फिर चारों पुत्रों को चरणों में प्रणाम कराया, रामचन्द्रजी को देख कर मुनि अपने शरीर की सुध भूल गये। मुख की शोभा देख कर ऐसे मग्न हो गये, मानों पूर्ण चन्द्रमा पर चकोर लुभाया हो॥३॥

चकोर चन्द्रमा को देख कर प्रसन्न हो टकटकी लगाता ही है, यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हेहु काऊ॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा॥४॥

तब राजा मन में हर्षित हो कर वचन बोले—हे मुनिराज! ऐसी कृपा आपने कभी नहीं की थी। किस कारण आपका आगमन हुआ है? कहिए, मैं उसको करने में देरी न लगाऊँगा॥४॥

असुर समूह सतावहिँ मोही। मैं जाचन आयउँ नृप तोही॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥५॥

विश्वामित्रजी ने कहा—हे राजन्! मुझे राक्षसवृन्द सताते हैं, इसलिए मैं आप से माँगने आया हूँ कि छोटे भाई लक्ष्मण के सहित रघुनाथजी को दीजिए तो राक्षसों के मारे जाने से मैं सनाथ हो जाऊँगा॥५॥

दो०—देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान ।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं, इन्ह कहँ अति कल्यान ॥ २०७ ॥

राजन्! प्रसन्न मन से मोह और अज्ञान त्याग कर दीजिए। प्रभो! आप को धर्म और सुयश है एवम् इनका अत्यन्त कल्याण होगा ॥२०७॥

चौ०—सुनि राजा अति अप्रिय बानी । हृदय-कम्प मुख-दुति-कुम्हिलानी ॥
चौथेपन पायउँ सुत चारी । बिप्र बचन नहिँ कहेउ बिचारी ॥१॥

अत्यन्त अप्रिय वचन सुन कर राजा का हृदय काँप उठा और मुख की कान्ति कुम्हिला गई। उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण देवता! मैं ने बुढ़ापे में चार पुत्र पाया, आपने विचार कर बात नहीं कही ॥१॥

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा । सरबस देउँ आजु सहरोसा ॥
देह प्रान तेँ प्रिय कछु नाहीँ । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीँ ॥२॥

पृथ्वी, गैया, धन, भण्डार माँगिये, आज मैं प्रसन्नता से सर्वस्व दे डालूँगा। शरीर और प्राण से बढ़ कर कुछ प्रिय नहीं है, हे मुनि! मैं उसे भी एक पल में दे दूँगा ॥२॥

'सहरोस' शब्द का अर्थ है—प्रसन्नतापूर्वक, खुशी से। पर कुछ लोग बिना जाने "रोष के साथ, या बिना चिढ़े हुए अथवा शूरता समेत अर्थ करते हैं। वह यथार्थ नहीं है। अरण्य काण्ड में 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा' है। वहाँ भी प्रसन्नता के साथ अर्थ है।

सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाँई । राम देत नहिँ बनइ गोसाँई ॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा । कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा ॥३॥

हे स्वामिन्! मुझे सब पुत्र प्राण के समान प्यारे हैं; किन्तु रामचन्द्र को तो देते न बनेगा। कहाँ राक्षस अत्यन्त भीषण कठोर और कहाँ अतिशय सुन्दर किशोर (१५ वर्ष की अवस्था के) बालक! ॥३॥

सुनि नृप-गिरा प्रेम-रस-सानी । हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी ॥
तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा । नृप सन्देह नास कहँ पावा ॥४॥

प्रेम रस से सनी हुई राजा की वाणी सुन कर ज्ञानीमुनि ने हृदय में हर्ष माना। तब वशिष्ठजी ने राजा को बहुत तरह समझाया जिससे उनका सन्देह नष्ट हो गया ॥४॥

अति आदर दोउ तनय बोलाये । हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये ॥
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ । तुम्ह मुनि पिता आन नहिँ कोऊ ॥५॥

बड़े आदर से दोनों पुत्रों को बुलाया और हृदय से लगा कर बहुत तरह सिखाया। फिर विश्वामित्र से बोले—हे मुनि! दोनों पुत्र मेरे प्राणेश्वर हैं, उनके आपही पिता हैं दूसरा कोई नहीं ॥५॥

अपने पिता होने का निषेध करके वह धर्म्म विश्वामित्र में स्थापन करना 'पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

दो०—सौंपे भूप रिषिहि सुत, बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस॥

राजा ने पुत्रों को बहुत तरह से आशीर्वाद देकर मुनि को सौंप दिया। प्रभु रामचन्द्रजी माता के मन्दिर में गये, उनके चरणों में मस्तक नवाकर चले।

सो०—पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिन्धु मतिधीर, अखिल-बिस्व कारन-करन॥२०८॥

दोनों वीर (राम-लक्ष्मण) पुरुषों में सिंह प्रसन्न होकर मुनि के भय को हरने के लिए चले। कृपा के समुद्र, धीर-बुद्धि जो सम्पूर्ण जगत् के कारण और कार्य्य-रूप हैं॥२०८॥

चौ०—अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तनु स्याम तमाला॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा॥१॥

लाल नेत्र, चौड़ी छाती, विशाल बाहु, नील-मेघ और श्याम तमाल के समान शरीर है। कमर में पीताम्बर से श्रेष्ठ तरकस कसे, दोनों हाथों में सुन्दर धनुष-बाण लिये हुए हैं॥१॥

स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥
प्रभु ब्रह्मन्य-देव मैं जाना। मोहि हित पिता तजेउ भगवाना॥२॥

श्यामल गौर सुन्दर दोनों भाइयों को विश्वामित्रजी ने अनन्त-लाभ रूप पाया। मन में सोचते जाते हैं कि मैं जान गया प्रभु रामचन्द्रजी ब्राह्मण ही को देवता मानते हैं, तभी तो मेरे लिए भगवान् ने पिता को त्याग दिया!॥२॥

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज-पद दीन्हा॥३॥

चले जाते हुए मुनि ने ताड़का को दिखा दिया, सुनते ही वह क्रोध करके दौड़ी। एक ही बाण से रामचन्द्रजी ने उसके प्राण हर लिये और उसे दुखी जान कर अपना पद (वैकुण्ठ बास) दिया॥३॥

शङ्का—विश्वामित्रजी ने दिखाने के सिवा प्रत्यक्ष में कुछ नहीं कहा, फिर ताड़का ने सुना कैसे? उत्तर—प्रसङ्गानुकूल कथाभाग में कहीं प्रश्न से उत्तर का और कहीं, उत्तर से प्रश्न का बोध होता है। यहाँ ताड़का के सुनने ही से कहने का बोध हो रहा है कि मुनि ने उँगली से दिखा कर कहा—महा उपद्रवकारिणी ताड़का नामवाली प्रेतिन यही है, इसको मारिये। तभी तो वह सुन क्रुद्ध हो कर दौड़ी। अथवा रामचन्द्रजी के धनुष टङ्कोर को सुना।

तब रिषि निज-नाथहि जिय चीन्ही । विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्ही ॥
जा तें लाग न छुधा पिपासा । अतुलित-बल तन तेज प्रकासा ॥४॥

तब ऋषि ने मन में अपने स्वामी को पहचान लिया और विद्या-सागर रामचन्द्रजी को विद्या दी, जिससे भूख प्यास नहीं लगती; किन्तु शरीर में अनन्त बल और तेज प्रकट होता है ॥४॥

दो०-आयुध सर्ब समर्पि कै, प्रभु निज आस्रम आनि ।
कन्द मूल फल भोजन, दीन्ह भगति हित जानि ॥२०९॥

प्रभु रामचन्द्रजी को अपने आश्रम में लाकर और सब हथियार उन्हें समर्पण कर के भोजन के लिए कन्द, मूल और फल भक्ति के प्रेमी जान कर दिये ॥ २०९ ॥

पहले कह आये हैं कि जिस विद्या से भूख-प्यास नहीं लगती वह दी । फिर यह कहना कि कन्द मूलादि भोजन कराया, पूर्व कथन के विपरीत है । हेतु सूचक बात कह कर समर्थन करना कि रामचन्द्रजी को भक्ति प्यारी है इसलिए भोजन कराया, 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

चौ०-प्रात कहा मुनि सन रघुराई । निर्भय जज्ञ करहु तुम्ह जाई ॥
होम करन लागे मुनि झारी । आपु रहे मख की रखवारी ॥१॥

सबेरे रघुनाथजी ने मुनि से कहा कि आप जाकर निर्भय यज्ञ कीजिए । मुनि-मण्डली हवन करने लगी और आप यज्ञ की रखवाली में रहे ॥ १ ॥

सुनि मारीच निसाचर क्रोही । लेइ सहाय धावा मुनि-द्रोही ॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा । सत जोजन गा सागर पारा ॥२॥

यज्ञारम्भ सुन कर क्रोधी और मुनिद्रोही राक्षस मारीच सहायकों को लेकर दौड़ा । रामचन्द्रजी ने बिना फर के बाण से उसको मारा, वह समुद्र के पार सौ योजन (४०० कोस) पर जा गिरा ॥ २ ॥

बिना फर का बाण अपूर्ण कारण है- उससे पूरा कार्य्य होना अर्थात् चार सौ कोस पर मारीच का गिरना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है । बाण के लगते ही मारीच का समुद्र के पार जा पड़ना, कारण-कार्य्य साथ ही प्रकट होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है । दोनों अलंकारों का सन्देहसङ्कर है ।

पावक-सर सुबाहु पुनि जारा । अनुज निसाचर कटक सँघारा ॥
मारि असुर द्विज-निर्भय-कारी । अस्तुति करहिं देव-मुनि-झारी ॥३॥

फिर अग्नि-बाण से सुबाहु को भस्म किया, छोटे भाई लक्ष्मणजी ने राक्षसों की सेना का संहार किया । राक्षसों को मार कर ब्राह्मणों को निर्भय किया, देवता और मुनिवृन्द स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

अहल्या-तरण ।

परसत पद-पावन, सोक नसावन, प्रगट भई तप-पुंज सही ।
देखत रघुनायक, जन-सुख-दायक, सनमुख होइ कर, जोरि रही ॥

तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥४॥

फिर कुछ दिन वहाँ रघुनाथजी रहे और ब्राह्मणों पर कृपा की। यद्यपि प्रभु रामचन्द्रजी जानते हैं, तो भी पुराणों की बहुत सी कथा ब्राह्मण कहते हैं और भक्ति के कारण (ब्राह्मणों की प्रसन्नता के लिये) सुनते हैं॥४॥

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥
धनुष-जज्ञ सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥५॥

तब मुनि ने आदर से समझा कर कहा—हे प्रभो! चल कर एक चरित्र देखिये। धनुष-यज्ञ सुनकर रघुकुल के स्वामी प्रसन्न हो कर मुनिवर के साथ चले॥५॥

आस्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं॥
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा रिषि कही बिसेखी॥६॥

रास्ते में एक आश्रम देखा, वहाँ पशु-पक्षी जीव-जन्तु कोई नहीं है। प्रभु रामचन्द्रजी ने पत्थर की चट्टान पड़ी देख कर मुनि से पूछा, तब ऋषि ने उसकी सम्पूर्ण कथा विस्तार से कही॥६॥

विश्वामित्रजी ने कहा—हे रामचन्द्र! सुनिए, ब्रह्मा ने एक अत्यन्त रूपवती अहल्या नाम की कन्या उत्पन्न की और उसका विवाह गौतम मुनि से कर दिया। इन्द्र ने छल से एक बार गौतम का रूप बना कर अहल्या से समागम किया। उसी समय ऋषि आ गये। इन्द्र को जानलेने पर भी ऋषि के भय से अहल्या ने उसे छिपाने का यत्न किया। इस कपट को जान कर मुनि क्रोधित हुए और इन्द्र को शाप दिया कि तेरे शरीर में एक हजार योनियाँ हों। जड़ता करने से अहल्या को पत्थर होजाने का शाप दिया। आप अन्यत्र तपस्या करने चले गये। इन्द्र की प्रार्थना पर अनुग्रह करके कहा-रघुकुल में जब ईश्वर जन्म लेकर इधर आवेंगे उनके चरण-स्पर्श से शिला अपनी गति को प्राप्त होगी और उन्हें दूलह रूप जनकपुर में देख कर तेरी योनियाँ सब नेत्र हो जावेंगी। यह निर्जन स्थान में पड़ी हुई चट्टान वही अहल्या है।

दो०—गौतम-नारि साप बस, उपल देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहति, कृपा करहु रघुबीर॥२१०॥

हे धीर रघुवीर! गौतम मुनि की पत्नी शाप से पत्थर की देह धारण किये हुए आप के चरण-कमलों की धूल चाहती है, कृपा कीजिए॥२१०॥

त्रिभङ्गी-छन्द।

परसत पद-पावन, सोक नसावन, प्रगट भई तप,-पुञ्ज सही।
देखत रघुनायक, जन-सुख-दायक, सनमुख होइ कर,-जोरि रही॥

अति प्रेम अधीरा, पुलक-सरीरा, मुख नहिँ आवइ, वचन कही ।
अतिसय बड़भागी, चरनन्हि लागी, जुगल नयन जल,-धार बही ॥२॥

शोक के नाशनेवाले पवित्र चरणों के छूते ही स्वच्छ तप की राशि प्रकट हुई । भक्तों के सुखदाता रघुनाथजी को देखते हुए सामने हाथ जोड़ कर खड़ी रही । अत्यन्त प्रेम में विह्वल होने से शरीर पुलकित हो गया; मुँहसे बात नहीं कही जाती है । बड़ी ही भाग्यवती है, चरणों में लिपट गयी और दोनों आँखों से आँसुओं की धारा बह चली ॥२॥

ईश्वर विषयक अनुपम प्रेम रतिभाव है । रामचन्द्रजी के दर्शन से रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, अश्रु आदि सात्विक अनुभावों और हर्ष, चपलतादि सञ्चारी भावों द्वारा पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ है ।

धीरज मन कीन्हा, प्रभु कहँ चीन्हा, रघुपति कृपा भगति पाई ।
अति निर्मल बानी, अस्तुति ठानी, ज्ञान-गम्य जय, रघुराई ॥
मैं नारि अपावन, प्रभु जग-पावन, रावन-रिपु जन,-सुखदाई ।
राजीव-बिलोचन, भव-भय-मोचन, पाहि पाहि सरनहिँ आई ॥३॥

मन में धीरज करके स्वामी को पहचाना और रघुनाथजी की कृपा से भक्ति पाई । अत्यन्त निर्मल वाणी से स्तुति करने लगी कि हे रघुनाथजी ! ज्ञान से जानने योग्य आप की जय हो; मैं अपावन स्त्री हूँ और आप जगत को पवित्रकरनेवाले हैं, रावण के वैरी तथा भक्तजनों को आनन्द देनेवाले हैं । हे कमल नयन, संसारी भय को छुड़ानेवाले ! आपकी शरण आई हूँ मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए ॥३॥

मैं अपवित्र व्यभिचारिणी स्त्री हूँ और आप जगत के पावन करनेवाले, यथायोग्य का सङ्ग वर्णन 'प्रथम सम अलङ्कार' है ।

मुनि स्राप जो दीन्हा, अति भल कीन्हा, परम अनुग्रह, मैं माना ।
देखेउँ भरि लोचन, हरि भव-मोचन, इहइ लाभ सङ्कर जाना ॥
बिनती प्रभु मोरी, मैं मति भोरी, नाथ न बर माँगउँ आना ।
पद-कमल-परागा, रस अनुरागा, मम मन मधुप करइ पाना ॥४॥

मुनि ने जो शाप दिया वह बहुत ही अच्छा किया, उसको मैं उनकी बड़ी कृपा मानती हूँ । जिससे संसारी भय छुड़ानेवाले भगवान् को मैंने आँख भर देखा, इसी (दर्शन) को शङ्करजी लाभ समझते हैं । हे प्रभो ! मैं बुद्धि की भोली हूँ, मेरी यही प्रार्थना है, स्वामिन् ! मैं दूसरा वर नहीं माँगती हूँ । आप के चरण-कमलों की रज के प्रेम रूपी मकरन्द (पुष्प-रस) को मेरा मन रूपी भ्रमर सदा पान करे ॥४॥

गौतम ऋषि के शाप रूपी दोष को रामचन्द्रजी के दर्शन के कारण गुण मानना 'अनुज्ञा अलङ्कार' है ।

जेहि पद सुरसरिता, परम पुनीता, प्रगट भई सिव,-सीस धरी ।
सोई पद-पङ्कज, जेहि पूजत अज, मम सिर धरेउ कृपाल हरी ॥
एहि भाँति सिधारी, गौतम नारी, बार बार हरि, चरन परी ।
जो अति मन भावा, सो बर पावा, गइ पतिलोक अनन्द भरी ॥५॥

जिन चरणों से निकली हुई अत्यन्त पवित्र गङ्गाजी को शिवजी ने सिर पर धारण किया है, जिन (चरणों) की पूजा ब्रह्माजी करते हैं, उन्हीं पद-कमलों को कृपालु भगवान् ने मेरे मस्तक पर रक्खा । इस तरह बार बार रामचन्द्रजी के चरणों में गिर कर गौतम मुनि की स्त्री चली । जो अत्यन्त मन को अच्छा लगा वह वर पाया और आनन्द से भरी पतिलोक को गई ॥५॥

जो अत्यन्त मन भाया वही वर पाया और पतिलोक को गई । सब चित्तचाही बात बिना किसी यत्न के होना 'प्रथम प्रहर्षण अलङ्कार' है ।

दो०—अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाड़ि कपट जञ्जाल ॥२११॥

प्रभु रामचन्द्रजी इस प्रकार दुखियों के सहायक-बन्धु बिना कारण ही दया करनेवाले हैं, अरे मूर्ख तुलसीदास ! कपट का प्रपञ्च छोड़ कर तू उनका भजन कर ॥ २११ ॥

यहाँ कविजी अपने को शठ कहते हैं 'लघुता ललित सुबारि न खोरी' के अनुसार यह दैन्यभाव है ।

चौ०—चले राम लछिमन मुनि सङ्गा । गये जहाँ जग-पावनि गङ्गा ॥
गाधि-सूनु सब कथा सुनाई । जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥१॥

रामचन्द्र और लक्ष्मणजी मुनि के साथ चले, जगत् को पवित्र करनेवाली जहाँ गङ्गाजी हैं वहाँ गये । गाधि-तनय (विश्वामित्र) ने वे सब कथाएँ सुनाईं जिस प्रकार गङ्गाजी पृथ्वी पर आई हैं ॥ १ ॥

उन्होंने कहा—हे रामचन्द्र ! सुनिए, आपके पूर्वज राजा सगर के दो रानियाँ थीं । पहली रानी से एक पुत्र और दूसरी से साठ हज़ार पुत्र हुए । एक बार अश्वमेध के लिए राजा ने घोड़ा छोड़ा । उस घोड़े को छल से चुरा कर इन्द्र ने कपिल मुनि के आश्रम में ले जा कर बाँध दिया । राजा के साठों हज़ार पुत्र घोड़ा खोजने को निकले, उसे मुनि के आश्रम में बँधा देख क्रुद्ध हो ऋषि को दुर्वचन कहे तब कपिल भगवान् ने शाप दे कर सब को भस्म कर दिया । राजा ने अपने दूसरे पुत्र असमञ्जस के बेटे अंशुमान को खोज के लिए भेजा । पितरों की दशा देख कर वह दुखी हुआ । गरुड़जी ने आदेश किया कि तप कर के गङ्गा को धरती पर लाओ तो सब तर जाँयगे । तदनुसार अंशुमान ने तथा उनके पुत्र दिलीप ने तप किया, पर फल कुछ न हुआ । अन्त में दिलीप के पुत्र भगीरथ के उद्योग से गङ्गाजी धरती पर आईं जिससे वे साठों हज़ार शाप से मुक्त हो परमधाम को गये ।

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये । बिबिध दान महिदेवन्ह पाये ॥
हरषि चले मुनि-बृन्द-सहाया । बेगि बिदेह-नगर नियराया ॥२॥

तब प्रभु रामचन्द्रजी ने ऋषियों सहित गङ्गाजी में स्नान किया और अनेक प्रकार के दान ब्राह्मणों को मिले । प्रसन्न होकर मुनि-मण्डली के साथ चले, तुरन्त ही जनकपुर के पास पहुँच गये ॥ २ ॥

पुर रम्यता राम जब देखी । हरषे अनुज समेत बिसेखी ॥
बापी कूप सरित सर नाना । सलिल सुधा-सम मनि-सोपाना ॥३॥

जब नगर की रमणीयता रामचन्द्रजी ने अवलोकन किया, तब छोटे भाई के सहित बहुत ही प्रसन्न हुए । असंख्यों बावली, कुएँ, सरोवर और नदियाँ हैं जिनमें मणियों की सीढ़ियाँ बनी हैं तथा अमृत के समान जल भरा है ३ ॥

गुञ्जत मञ्जु मत्त-रस भृङ्गा । कूजत कल बहु बरन बिहङ्गा ॥
बरन बरन बिकसे बनजाता । त्रिबिधि समीर सदा सुख-दाता ॥४॥

मकरन्द से मतवाले भ्रमर सुन्दर गुञ्जार करते हैं और बहुत रङ्ग के मनोहर पक्षी बोल रहे हैं । रङ्ग रङ्ग के कमल खिले हैं, सदा सुख देनेवाली (शीतल, मन्द, सुगन्धित) तीनों प्रकार की हवा चलती है ॥ ४ ॥

दो०—सुमन बाटिका बाग बन, बिपुल बिहङ्ग निवास ।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास ॥२१२॥

फुलवाड़ी, बगीचा और वनों में झुण्ड के झुण्ड पक्षियों का निवास है । वे फूलते फलते हुए सुन्दर पत्तों से लदे नगर के चारों ओर शोभित हो रहे हैं ॥ २१२ ॥

पहले सुमन-वाटिका, बाग और वन कह कर फिर उसी क्रम से फूलना फलना पल्लवित होना कथन अर्थात् फुलवाड़ियाँ फूल रही हैं बाग फल रहे हैं तथा वन के वृक्ष पत्तों से लदे हैं, यह 'यथासंख्य अलंकार' है ।

चौ०—बनइ न बरनत नगर निकाई । जहाँ जाइ मन तहइँ लोभाई ॥
चारु बजार बिचित्र अँबारी । मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी ॥१॥

नगर की सुन्दरता कहते नहीं बनती, मन जहाँ जाता है वहीं लुभा जाता है । दोनों ओर मणियों से बना बाज़ार सुन्दर और विलक्षण है, वह ऐसा मालूम होता है मानों ब्रह्मा ने अपने हाथ से सुधार कर बनाया हो ॥ १ ॥

बाज़ार को शिल्पकारों ने बनाया, वह विधाता से निर्मित नहीं है । इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

धनिक-बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लेइ नाना॥
चौहट सुन्दर गली सुहाई। सन्तत रहहिँ सुगन्ध सिँचाई॥२॥

कुबेर के समान अच्छे धनवान बनिएँ नाना प्रकार की सब वस्तु लेकर बैठे हैं। सुन्दर चौक और सुहावनी गलियाँ सदा सुगन्ध से सिँचाई रहती हैं॥ २॥

मङ्गल-मय मन्दिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे॥
पुर नर-नारि सुभग सुचि सन्ता। धरमसील ज्ञानी गुनवन्ता॥३॥

सब के घर मङ्गल के रूप हैं, वे ऐसे सुहावने मालूम होते हैं मानों कामदेव रूपी चित्रकार ने उनमें तसवीरें बनाई हों। नगर के स्त्री-पुरुष सुन्दर, स्वच्छ, सज्जन, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् हैं॥ ३॥

तसवीर तो मुसौअरों ने बनाई है, कामदेव ने नहीं, पर कविजी इस अहेतु को हेतु ठहरा कर उत्प्रेक्षा करते हैं कि चित्र ऐसे मनोहर हैं मानों कामदेव ने चित्रकारी की हो। 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

अति अनूप जहँ जनक-निवासू। बिथकहिँ बिबुध बिलोकि बिलासू॥
होत चकित चित कोट बिलोकी। सकल भुवन सोभा जनु रोकी॥४॥

जहाँ जनकजी रहते हैं वह स्थान बहुत ही अपूर्व है, उस विहार (ऐश्वर्य्य) को देख कर देवता मोहित हो जाते हैं। राजमहल को देख कर चित्त विस्मित होता है, वह ऐसा मालूम होता है मानों सम्पूर्ण लोकों की शोभा को उसने अपने में रोक रक्खी हो॥४॥

दो०—धवल-धाम मनि-पुरट-पट, सुघटित नाना भाँति।
सिय-निवास सुन्दर-सदन, सोभा किमि कहि जाति॥२१३॥

स्वच्छ मन्दिर में नाना प्रकार के रत्नों से जड़ी और सुवर्ण की बनी हुई सुहावनी किवाड़ें लगी हैं। जो सीताजी के रहने का सुन्दर घर है, उसकी शोभा कैसे कही जा सकती है? (नहीं वर्णन की जा सकती)॥२१३॥

चौ०—सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥
बनी बिसाल बाजि-गज-साला। हय-गय-रथ-सङ्कुल सब काला॥१॥

सुन्दर द्वारों में वज्र की सब किवाड़ें लगी हैं, राजा, नवनियाँ, मागध और बन्दीजनों की भीड़ हो रही है। बड़ी बड़ी घुड़शालें और हाथीखाने बने हैं, वे सब समय घोड़ा, हाथी तथा रथों से भरे रहते हैं॥१॥

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥
पुर बाहिर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥२॥

बहुत से शूरवीर, मन्त्री और सेनापति सब के घर राजा के महल के समान ही हैं। नगर के बाहर तालाब और नदी के समीप जहाँ तहाँ असंख्यों राजा उतरे हैं॥२॥

देखि अनूप एक अँवराई । सब सुपास सब भाँति सुहाई ॥
कैासिक कहेउ मोर मन माना । इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना ॥३॥

एक आम का अनुपम बगीचा देख कर जो सब तरह से सुहावना है और जहाँ सब सुविधा है, विश्वामित्रजी ने कहा हे सुजान रघुवीर ! मेरा मन चाहता है कि यहाँ ठहरिये ॥३॥

भलेहि नाथ कहि कृपा निकेता । उतरे तहँ मुनि-वृन्द समेता ॥
बिस्वामित्र महामुनि आये । समाचार मिथिलापति पाये ॥४॥

कृपा के स्थान (रामचन्द्रजी) ने बहुत अच्छा स्वामिन् कह कर मुनि-मण्डली के सहित वहाँ उतरे । महामुनि विश्वामित्रजी आये, वह समाचार मिथिलेश्वर ने पाया ॥४॥

दो०—सङ्ग सचिव सुचि भूरि भट, भूसुर बर गुरु ज्ञाति ।
चले मिलन मुनिनायकहि, मुदित राउ एहि भाँति ॥२१४॥

साधु, मन्त्री, बहुत से योद्धा, अच्छे ब्राह्मण, गुरु और कुटुम्बीजनों को साथ में लेकर इस तरह मुनिराज (विश्वामित्रजी) से मिलने के लिए राजा प्रसन्नता-पूर्वक चले ॥२१४॥

चौ०—कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा । दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ॥
बिप्र-वृन्द सब सादर बन्दे । जानि भाग्य बड़ राउ अनन्दे ॥१॥

चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया, मुनिनाथ ने प्रसन्न हो कर आशीर्वाद दिया । आदर के साथ सब ब्राह्मणवृन्द का वन्दन कर राजा अपने को बड़ा भाग्यवान समझ कर आनन्दित हुए ॥ १ ॥

कुसल प्रस्न कहि बारहिं बारा । बिस्वामित्र नृपहि बैठारा ॥
तेहि अवसर आये दोउ भाई । गये रहे देखन फुलवाई ॥२॥

विश्वामित्रजी बारम्बार कुशल-समाचार पूछ कर राजा को बैठाया । उसी समय दोनों भाई—फुलवाड़ी देखने गये थे, वहाँ आये ॥ २ ॥

स्याम गैार मृदु बयस किसोरा । लोचन सुखद बिस्व-चित चोरा ॥
उठे सकल जब रघुपति आये । बिस्वामित्र निकट बैठाये ॥३॥

श्यामल गौर वर्ण सुकुमार किशोर अवस्थावाले, नेत्रों को आनन्ददायक और जगत् के चित्त को चुरानेवाले हैं । जब रघुनाथजी आये तब सब उठ खड़े हुए, विश्वामित्रजी ने उन्हें पास में बैठा लिया ॥ ३ ॥

भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता । बारि बिलोचन पुलकित गाता ॥
मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेह बिदेह बिसेखी ॥४॥

दोनों बन्धुओं को देख कर सब प्रसन्न हुए, सभी के नेत्रों में जल भर आया और शरीर पुलकित हो गया । उनकी सुहावनी मनोहर मूर्त्ति को देख कर राजा विदेह को शरीर का ज्ञान जाता रहा ॥ ४ ॥

दो०—प्रेम मगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर ।
बोलेउ मुनि-पद नाइ सिर, गदगद गिरा गँभीर ॥२१५॥

राजा ने अपने मन को प्रेम में डूबा हुआ जान ज्ञान से धीरज धारण किया। मुनि के चरणों में सिर नवा कर गद्गद होकर गम्भीर वाणी से बोले ॥ २१५ ॥

चौ०—कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक । मुनिकुल-तिलक कि नृपकुल-पालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥१॥

हे नाथ ! कहिये, ये सुन्दर दोनों बालक मुनिकुल के भूषण हैं या राजा के वंश के पालनेवाले हैं। जिस ब्रह्म को वेद इति नहीं कह कर गाते हैं क्या वेही दो रूप धारण करके आये हैं ? ॥ १ ॥

दोनों सुन्दर बालक मुनिकुल के तिलक हैं, या राजकुल के पालक हैं, अथवा उभय वेष धरे ब्रह्म हैं। राजा के मन में किसी एक बात पर निश्चय न होना 'सन्देहालंकार' है।

सहज बिराग-रूप मन मोरा । थकित होत जिमि चन्द चकोरा ॥
ता तेँ प्रभु पूछउँ सतिभाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥ २ ॥

मेरा मन सहज ही वैराग्य का रूप है, वह इन्हें देख कर कैसे मोहित हुआ है जैसे चन्द्रमा पर चकोर। हे प्रभो ! इससे मैं सत्यभाव से पूछता हूँ, नाथ ! छिपाव न कर के कहिए ॥ २ ॥

इन्हहिँ बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्म-सुखहि मन त्यागा ॥
कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका । बचन तुम्हार न होइ अलीका ॥३॥

इन्हें देखतेही मन अत्यन्त अनुरागी हो कर ब्रह्म-सुख को बरजोरी से त्याग दिया है ? मुनि ने हँस कर कहा—राजन् ! अच्छा कहते हो, तुम्हारी बात झूठ नहीं है ॥ ३ ॥

ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी । मन मुसुकाहिँ राम सुनि बानी ॥
रघुकुल-मनि दसरथ के जाये । मम हित लागि नरेस पठाये ॥४॥

जहाँ तक प्राणी हैं ये सभी को प्यारे हैं, मुनि की वाणी सुन कर रामचन्द्रजी मन में मुस्कुराते हैं। रघुकुलमणि दशरथजी के पुत्र हैं, मेरे उपकार के लिए राजा ने इन्हें भेजा है ॥४॥

रामचन्द्रजी के मुसकुराने में ऐश्वर्य्य न कथन करने की व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है। यदि सच्चा भेद विश्वामित्रजी प्रकाश कर देंगे कि 'रावण मरण मनुज कर साँचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा, इस कार्य्य में विघ्न उपस्थित होगा। रामचन्द्रजी के सङ्केत को समझ कर मुनि लोक-मर्य्यादा के अनुसार कहने लगे, यह 'सूक्ष्म अलंकार' है

दो०—राम लखन दोउ बन्धु बर, रूप-सील-बल धाम ।
मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर सङ्ग्राम ॥२१६॥

राम-लक्ष्मण दोनों श्रेष्ठ बन्धु रूप, शील और बल के स्थान हैं। सब संसार साक्षी है कि इन्होंने युद्ध में राक्षसों को जीत कर मेरे यज्ञ की रक्षा की है ॥२१६॥

चौ०-मुनि तव चरन देखि कह राऊ । कहि न सकउँ निज पुन्य प्रभाऊ ॥
सुन्दर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनँदहू के आनँद दाता ॥ १ ॥

राजा जनक कहते हैं—हे मुनिजी ! आप के चरणों के दर्शन से मैं अपने पुण्य के प्रभाव को नहीं कह सकता। ये श्यामल, गौर और सुन्दर दोनों भाई आनन्द को भी आनन्द देनेवाले हैं ॥१॥

इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू । ब्रह्म-जीव इव सहज सनेहू ॥ २ ॥

इनकी पवित्र सुहावनी परस्पर की प्रीति मन में भाती है; किन्तु कही नहीं जा सकती। राजा जनकजी प्रसन्न होकर कहते हैं—हे नाथ ! सुनिये, ब्रह्म और जीव के समान इनका स्वाभाविक स्नेह है ॥२॥

साधारण अर्थ तो दोनों भाइयों की परस्पर में प्रीति की प्रशंसा है, इसके सिवा एक गुप्त अर्थ दूसरा भी प्रकट हो रहा है कि इनका परस्पर में प्रेम अर्थात् जो इनसे प्रेम करते हैं उन पर ये भी वैसो ही प्रेम करते हैं 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू । पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥
मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू । चलेउ लिवाइ नगर अवनीसू ॥३॥

राजा वार वार प्रभु रामचन्द्रजी को देखते हैं, उनका शरीर पुलकित और हृदय में बहुत ही उमङ्ग है। मुनि के चरणों में मस्तक नवा कर उनकी बड़ाई करके जनकजी उन्हें नगर में लिवा ले चले ॥३॥

सुन्दर सदन सुखद सब काला । तहाँ बास लेइ दीन्ह भुआला ॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई । गयउ राउ गृह बिदा कराई ॥४॥

सुन्दर घर जो सब काल सुख देनेवाला है, राजा ने ले जाकर वहाँ डेरा दिया। सब तरह से मुनिकी शुश्रूषा करके विदा माँग कर राजा विदेह महल में गये ॥४॥

दो०-रिषय सङ्ग रघुबंस-मनि, करि भोजन बिस्राम ।
बैठे प्रभु भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम ॥२१७॥

रघुवंशमणि ने ऋषियों के साथ भोजन करके विश्राम किया। भाई के सहित प्रभु रामचन्द्रजी उठ बैठे और एक प्रहर दिन बाकी रहा ॥२१७॥

इस दोहे में व्याकरण, वैद्यक, नीति और ज्योतिष चारों शास्त्रों का समावेश है।

चौ०-लखन हृदय लालसा बिसेखी । जाइ जनकपुर आइय देखी ॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं । प्रगट न कहहिँ मनहिँ मुसुकाहीं ॥१॥

लक्ष्मणजी के हृदय में विशेष लालसा है कि जाकर जनकपुर देख आऊ; किन्तु रामचन्द्रजी के भय और मुनि के संकोच से प्रत्यक्ष नहीं कहते हैं, मन में मुस्कुराते हैं ॥१॥

'लखन हृदय लालसा विशेषी' में अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग है कि जनकपुर देखने की सामान्य इच्छा रामचन्द्रजी को भी है, पर लक्ष्मणजी को अधिक है।

राम अनुज मन की गति जानी। भगतबछलता हिय हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुसासन पाई॥ २॥

छोटे भाई के मन की दशा जान कर रामचन्द्रजी के हृदय में भक्त-वत्सलता उमड़ पड़ी। बड़ी नम्रता से लजाते हुए मुस्कुराने लगे और गुरुजी की आज्ञा पा कर बोले॥२॥

लक्ष्मणजी के मुस्कुराने से रामचन्द्रजी उनके मनका हाल जान गये और गुरुजी से निवेदन किया। उसी तरह राचन्द्रजी को नम्रता-पूर्वक संकोच से मुस्कुराते देख कर गुरुजी समझ गये और प्रत्यक्ष कहने की आज्ञा दी 'पिहित अलङ्कार' है।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रकट न कहहीं॥
जौँ राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लेइ आवउँ॥३॥

हे नाथ! लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं, पर आपके संकोच और डर से प्रकट नहीं कहते हैं। यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊ तो नगर दिखा तुरन्त लिवा लाऊँ॥३॥

रामचन्द्रजी को जनकपुर देखने का स्वयम् इच्छा है, परन्तु लक्ष्मण की लालसा के बहाने गुरुजी से आज्ञा माँगना 'द्वितीय पर्य्यायोक्ति अलङ्कार' है।

सुनि मुनीस कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम-सेतु-पालक तुम्ह ताता। प्रेम-बिबस सेवक-सुख-दाता॥ ४॥

सुनकर मुनीश्वर प्रीति के साथ वचन बोले—हे रामचन्द्र! आप क्यों न नीति (मर्य्यादा) की रक्षा करेंगे? हे तात! आप धर्म-सेतु के पालनेवाले, प्रेम के अधीन और सेवकों को सुख देनेवाले हैं॥४॥

दो०—जाइ देखि आवहु नगर, सुख-निधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन, सुन्दर बदन देखाइ॥ २१८॥

सुख के निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ। अपना सुन्दर मुख दिखा कर सब के नेत्रों को सफल करो॥२१८॥

चौ०—मुनि-पद-कमल बन्दि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन सुख-दाता॥
बालक-बृन्द देखि अति सोभा। लगे सङ्ग लोचन मन लोभा॥१॥

लोगों के नेत्रों को आनन्द देनेवाले दोनों भाई मुनि के चरणकमलों को प्रणाम करके चले। बालक वृन्द अतिशय शोभा देख कर उनके नेत्र और मन ललचा गये, सब साथ में हो लिये॥१॥

पीत-बसन परिकर कटि भाथा । चारु चाप सर सोहत हाथा ॥
तन अनुहरत सुचन्दन खोरी । स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥२॥

पीताम्बर पहने हुए कमर में दुपट्टा से तरकस कसे हैं। हाथ में सुन्दर-धनुषबाण शोभित है। शरीर के अनुकूल चन्दन की सुहावनी खौर है और श्यामल गौर रङ्ग की जोड़ी मन को हरनेवाली है ॥२॥

केहरि-कन्धर बाहु बिसाला । उर अति रुचिर नाग-मनि-माला ॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन । बदन-मयङ्क ताप त्रय मोचन ॥३॥

सिंह के समान ऊँचे कन्धे और विशाल भुजाएँ हैं, हृदय में अत्यन्त मनोहर गजमोती की माला है। सुन्दर लाल कमल के समान नेत्र हैं और मुखचन्द्र तीनों तापों को छुड़ानेवाला है ॥३॥

कानन्हि कनक-फूल छबि देहीं । चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं ॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी । तिलक रेख सोभा जनु चाकी ॥४॥

कानों में सुवर्ण के फूल शोभा दे रहे हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों देखनेवालों के चित्त को चुरा लेते हों। उनका निहारना मनोहर और भौंहें उत्तम टेढ़ी हैं, तिलक की रेखाओं की छबि ऐसी जान पड़ती है मानों बिजली (चमकती) हो ॥ ४ ॥

दो०—रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुञ्चित केस ।
नख-सिख सुन्दर बन्धु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥२१९॥

सुन्दर सिर पर सुहावनी चौतनियाँ (चौगसी टोपी) हैं और घूँघरवाले काले बाल हैं। नख से चोटी पर्य्यन्त दोनों भाई सुन्दर सम्पूर्ण अनुकूल शोभा से युक्त हैं ॥ २१९॥

चौ०—देखन नगर भूप-सुत आये । समाचार पुरबासिन्ह पाये ॥
धाये धाम काम सब त्यागी । मनहुँ रङ्क निधि लूटन लागी ॥१॥

राजकुमार नगर देखने आये हैं, यह समाचार पुरवासियों ने पाया। सब घर का काम छोड़ कर इस तरह दौड़े मानों दरिद्री सम्पत्ति की राशि लूटने के लिए दौड़े हों ॥ १ ॥

धन की लूट सुन कर कङ्गाल मनुष्य उस ओर दौड़ते ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

निरखि सहज सुन्दर दोउ भाई । होहिँ सुखी लोचन फल पाई ॥
जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं । निरखहिँ राम रूप अनुरागीं ॥२॥

स्वाभाविक सलोने दोनों भाइयों को देख नेत्रों का फल पा कर सुखी होते हैं। युवतियाँ घर की खिड़कियों में लगी रामचन्द्रजी की छबि को प्रेम से निहार रही हैं ॥ २ ॥

कहहिँ परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीँ। सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीँ॥३॥

वे आपस में प्रेम से बातें कहती हैं—हे सखी! इन्होंने करोड़ों कामदेवों की शोभा को जीत लिया है। देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और मुनियों में ऐसी सुन्दरता कहीं सुनने में नहीं आई॥ ३॥

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट-बेष मुख-पञ्च पुरारी॥
अपर देव अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥४॥

विष्णु के चार भुजाएँ हैं, ब्रह्मा के चार मुख हैं, शिवजी की सूरत डरावनी है और पाँच मुँहवाले हैं। और देवता ऐसे कोई नहीं हैं जिससे—हे सखी! इनकी छबि की बराबरी की जाय॥ ४॥

दो०--बय किसोर सुखमा-सदन, स्याम गौर सुख-धाम।
अङ्ग अङ्ग पर बारियहि, कोटि कोटि सत काम॥२२०॥

किशोर अवस्था, सुन्दरता के घर, श्यामल और गौर वर्ण, सुख के स्थान हैं। इनके एक एक अङ्गों पर सौ सौ करोड़ कामदेव न्योछावर करने योग्य हैं॥ २२०॥

चौ०--कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी॥१॥

हे सखी! कहो तो ऐसा कौन शरीरधारी है जो यह रूप देख कर मोहित न होगा? कोई प्रेम से कोमल वाणी बोली—हे सयानी! जो मैं ने सुना है वह सुनो॥ १॥

ये दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल-मरालन्ह के कल जोटा॥
मुनि-कौसिक-मख के रखवारे। जिन्ह रन-अजिर निसाचर मारे॥२॥

ये दोनों बाल—राजहंसों की तरह सुन्दर जोड़ी, महाराज दशरथजी के पुत्र हैं। विश्वामित्र मुनि के यज्ञ की रक्षा करनेवाले हैं, जिन्होंने रणाङ्गन में राक्षसों को मारा है॥ २॥

इन्होंने रणभूमि में राक्षसों का बध किया है, इस वाक्य से शूरता व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

स्याम-गात कल-कञ्ज-बिलोचन। जो मारीच-सुभुज-मद मोचन॥
कौसल्या-सुत सो सुख-खानी। नाम राम धनु-सायक-पानी॥३॥

जो श्याम शरीर सुन्दर कमल के समान नेत्रवाले और मारीच तथा सुबाहु के घमण्ड को छुड़ानेवाले हैं। वे सुख की राशि कौशल्याजी के पुत्र, हाथ में धनुष बाण लिये हैं, उनका रामचन्द्र नाम है॥ ३॥

गौर किसोर बेष बर काछे । कर-सर-चाप राम के पाछे ॥
लछिमन नाम राम लघु भ्राता । सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥४॥

गौर वर्ण किशोर अवस्थावाले सुन्दर वेश सँवारे और हाथ में धनुष-बाण लिये जो रामचन्द्रजी के पीछे चल रहे हैं, उनका नाम लक्ष्मण है। वे रामचन्द्रजी के छोटे भाई हैं, हे सखी! सुनो, उनकी माता सुमित्राजी हैं ॥ ४ ॥

दो०—बिप्र काज करि बन्धु दोउ, मग मुनि-बधू उधारि ।
आये देखन चाप-मख, सुनि हरषीं सब नारि ॥२२१॥

इन दोनों भाइयों ने ब्राह्मण का कार्य्य कर के रास्ते में मुनि-पत्नी का उद्धार किया। अब यहाँ धनुष-यज्ञ देखने आये हैं, यह सुन कर सब स्त्रियाँ प्रसन्न हुईं ॥ २२१ ॥

दोनों बन्धुओं ने ब्राह्मण विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की, गौतम मुनि की भार्य्या अहल्या का शाप छुड़ाया है, अब धनुष-यज्ञ देखने यहाँ आये हैं। तब उनके परोपकारी, दीन दुःखहारी स्वभाव पर उन्हें भरोसा हुआ कि ये शूरवीर हैं, अवश्य ही धनुष तोड़ कर हम लोगों को सुखी करेंगे। ऐसा अनुमान कर सब प्रसन्न हुईं। यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

चौ०—देखि राम छबि कोउ एक कहई । जोग जानकिहि यह बर अहई ॥
जौँ सखि इन्हहिँ देख नरनाहू । पन परिहरि हठि करइ बिबाहू ॥१॥

रामचन्द्रजी की छबि को देख कर कोई एक ललना कहती है कि जानकी के योग्य येही वर हैं। हे सखी! यदि राजा इन्हें देखेंगे तो प्रतिज्ञा को छोड़ कर हठ से विवाह कर देंगे ॥ १॥

कोउ कह ये भूपति पहिचाने । मुनि समेत सादर सनमाने ॥
सखि परन्तु पन राउ न तजई । बिधि-बस हठि अबिबेकहि भजई ॥२॥

कोई कहने लगी कि राजा ने इन्हें पहचाना है, मुनि के सहित आदर से सत्कार किया है। परन्तु हे सखी! राजा अपनी प्रतिज्ञा को न छोड़ेंगे, वे होनहार के वश हठ से अविचार ही का सेवन करेंगे ॥ २ ॥

कोउ कह जौँ भल अहइ बिधाता । सब कहँ सुनिय उचित फलदाता ॥
तौ जानकिहि मिलिहि बर एहू । नाहिँन आलि इहाँ सन्देहू ॥३॥

कोई कहती है कि यदि विधाता अच्छे हैं और सुनती हूँ कि सब को उचित फल देते हैं तो जानकी को येही वर मिलेंगे। हे सखी! इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३ ॥

जौँ बिधि-बस अस बनइ सँजोगू । तौ कृतकृत्य होहिँ सब लोगू ॥
सखि हमरे आरति अति ताते । कबहुँक ये आवहिँ एहि नाते ॥४॥

यदि दैवयोग से ऐसा संयोग बन जाय तो सब लोग कृतार्थ होंगे। हे सखी! हमें तो इसी लिए बड़ी आकुलता है कि कभी ये इस नाते (दामाद हो कर मेहमानी के हेतु यहाँ) आवेंगे ? ॥ ४ ॥

दो०--नाहिँ त हम कहँ सुनहु सखि, इन्ह कर दरसन दूरि ।
यह सङ्कट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि ॥२२२॥

नहीं तो हे सखी ! सुनो, हमको इनके दर्शन दुर्लभ हैं। यह संयोग तभी हो सकता है जब पूर्व-जन्म में बहुत बड़ा सुकृत किया हो ॥ २२२ ॥

चौ०—बोली अपर कहेहु सखि नीका । एहि बिबाह अति हित सबही का ॥
कोउ कह सङ्कर चाप कठोरा । ये स्यामल मृदुगात किसोरा ॥१॥

दूसरी बोली—हे सखी ! तुमने अच्छा कहा, इस विवाह से सभी का बहुत बड़ा कल्याण है। कोई कहने लगी कि शिवजी का धनुष कठिन है और ये श्यामल कोमल शरीर, किशोर अवस्था के (बालक) हैं ॥ १ ॥

सब असमञ्जस अहइ सयानी । यह सुनि अपर कहइ मृदु बानी ॥
सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं । बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥२॥

हे सयानी ! सब असमंजस ही है, यह सुन कर दूसरी ललना कोमल वाणी से कहने लगी। हे सखी ! कोई कोई इनको ऐसा कहते हैं कि देखने में छोटे हैं, परन्तु बड़े प्रभाव-शाली हैं ॥ २ ॥

परसि जासु पद-पङ्कज धूरी । तरी अहिल्या कृत-अघ-भूरी ॥
सो कि रहिहि बिनु सिव-धनु तोरे । यह प्रतीति परिहरिय न भोरे ॥३॥

जिनके चरण-कमलों की धूली छू जाने से महापाप (पतिवञ्चकता) करनेवाली अहल्या तर गई। क्या वे शिव-चाप को बिना तोड़े रहेंगे ? (अवश्य ही खण्डन करेंगे) यह विश्वास भूल कर भी न छोड़ना चाहिए ॥३॥

जिन्होंने पाप से भरी अहल्या को उबारा उनके लिए शिव-धनुष तोड़ कर हम लोगों की कामना पूरी करना कोई बड़ी बात नहीं 'अर्थापत्तिप्रमाण, है ।

जेहि बिरञ्चि रचि सीय सँवारी । तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी ॥
तासु बचन सुनि सब हरषानी । ऐसइ होउ कहहिँ मृदु बानी ॥४॥

जिस ब्रह्मा ने सीता को सँवार कर बनाया है, उसी ने विचार कर श्यामल बर रचा है। उसकी बात सुन कर सब प्रसन्न हुईं और मधुर वाणी से कहने लगीं कि ऐसा ही हो ॥४॥

दो०—हिय हरषहिँ बरषहिँ सुमन, सुमुखि सुलोचनि-वृन्द ।
जाहिँ जहाँ जहँ बन्धु दोउ, तहँ तहँ परमानन्द ॥२२३॥

सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रवाली झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ हर्षित हो कर फूल बरसाती हैं। दोनों भाई जहाँ जहाँ जाते हैं, वहाँ वहाँ परम आनन्द हो रहा है ॥२२३॥

यह दोहा कई प्रकार के मनोहर व्यङ्गों से परिपूर्ण है। पुष्प-वर्षा करने में निम्न ध्वनि है—(१) रामचन्द्रजी के चरण कोमल हैं और धरती कठोर है, वे पयादे चल रहे हैं इसलिए फूल

बरसा कर मार्ग कोमल कर रही हैं । (२) पुष्प-वर्षा मङ्गल का चिन्ह है, वह इन्हें फलदायी हो । (३) रामचन्द्रजी ऊपर निहारते नहीं हैं, फूल बरसाने से ऊपर दृष्टि करेंगे तब मुखारविन्द का अच्छी तरह दर्शन होगा (४) सुन्दर सुमन बरसाती हैं, अर्थात् मन रूप में लग कर अपने वश में नहीं रह जाता । 'सुमुखि' कहने में यह ध्वनि है कि रामचन्द्रजी की बड़ाई करती हैं । सुलोचनि इसलिए कि रामचन्द्र की छवि देख रही हैं । परमानन्द योगिराज जनक के पुर में बसता है, वह रघुनाथजी के शृङ्गारानन्द से हार कर उनके पीछे पीछे फिर रहा है ।

चौ०—पुर पूरब-दिसि गे दोउ भाई । जहँ धनु-मख हित भूमि बनाई ॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी । बिमल-बेदिका रुचिर सँवारी ॥१॥

नगर के पूर्व दिशा में दोनों भाई गये जहाँ धनुष-यज्ञ के लिए भूमि बनाई गई है । बहुत लम्बा चौड़ा सुन्दर ढालुआँ चबूतरा बना हुआ है, उस पर स्वच्छ मनोहर वेदी (धनुष रखने की छोटी चबूतरी) सजाई हुई है ॥१॥

चहुँ दिसि कञ्चन मञ्च बिसाला । रचे जहाँ बैठहिँ महिपाला ॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा । अपर मञ्च मंडली बिलासा ॥२॥

उस (वेदी) के चारों ओर बड़े बड़े सुवर्ण के मञ्च बने हैं, जहाँ राजा लोग बैठते हैं । उनके पीछे पास ही में चारों तरफ़ दूसरे मञ्चों का मण्डलाकार घेरा शोभित है ॥२॥

कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई । बैठहिँ नगर लोग जहँ जाई ॥
तिन्ह के निकट बिसाल सुहाये । धवल धाम बहु बरन बनाये ॥३॥

(प्रथम मञ्च-पंक्ति से) कुछ ऊँची सब तरह सुहावनी है, जहाँ जाकर नगर के लोग बैठते हैं । उन (मञ्चों) के समीप में बड़े बड़े सुन्दर स्वच्छ घर बहुत रङ्ग के बनाये गये हैं ॥३॥

जहँ बैठे देखहिँ सब नारी । जथाजोग निज-कुल अनुहारी ॥
पुर-बालक कहि कहि मृदु बचना । सादर प्रभुहि देखावहिँ रचना ॥४॥

जहाँ यथायोग्य अपने कुल के अनुसार बैठ कर सब स्त्रियाँ देखती हैं । नगर के बालक कोमल वाणी से कह कह कर आदर के साथ प्रभु रामचन्द्रजी को रङ्गशाला की बनावट दिखाते हैं ॥४॥

दो०—सब सिसु एहि मिस प्रेम-बस, परसि मनोहर गात ।
तन पुलकहिँ अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात ॥२२४॥

सब लड़के प्रेम के अधीन इसी बहाने मनोहर अङ्ग छू कर शरीर से पुलकित होते हैं और दोनों भाइयों को देख कर हृदय में बहुत ही प्रसन्न हो रहे हैं ॥२२४॥

बालकों को अभीष्ट है रामचन्द्रजी के अङ्ग का स्पर्श, वह रङ्गभूमि दिखाने के बहाने अपना इष्ट साधन करते हैं ।

चौ०--सिसु सब राम प्रेम बस जाने । प्रीति समेत निकेत बखाने ॥
निज निज रुचि सब लेहिँ बोलाई । सहित सनेह जाहिँ दोउ भाई ॥१

रामचन्द्रजी ने सब बालकों को प्रेम के अधीन जान कर प्रीति सहित उन (धनुष यज्ञशाला) के स्थानों का बखान किया । अपनी अपनी इच्छानुसार सब बुला लेते हैं और स्नेह के साथ दोनों भाई (प्रत्येक के बुलाने पर चले) जाते हैं ॥१॥

राम देखावहिँ अनुजहि रचना । कहि मृदु मधुर मनोहर बचना ॥
लव निमेष महँ भुवन-निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया ॥२॥

रामचन्द्रजी कोमल मधुर मनोहर बचन कह कर छोटे भाई को रचना दिखाते हैं । जिनकी आज्ञा से माया निमेष (पलक गिरने के समय का चौथाई) अंश में ब्रह्माण्ड-समूह रचती है ॥२॥

भगति हेतु सोइ दीनदयाला । चितवत चकित धनुष-मख-साला॥
कौतुक देखि चले गुरु पाहीँ । जानि बिलम्ब त्रास मन माहीँ ॥३॥

वे ही दीनदयालु भक्ति के कारण विस्मित होकर धनुषयज्ञ-शाला को देखते हैं । वह तमाशा देखने में देरी हुई जान कर मन में डरे और गुरुजी के पास चले ॥३॥

जासु त्रास डर कहँ डर होई । भजन प्रभाव देखावत सोई ॥
कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई । किये बिदा बालक बरिआई ॥४॥

जिनके डर से डर को भी डर होता है वे ही (परमात्मा अपने) भजन का प्रभाव दिखाते हैं । कोमल मधुर सुहावनी बातें कह कर बालकों को बरजोरी से बिदा किया ॥ ४ ॥

दो०—सभय सप्रेम बिनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ ।
गुरु-पद-पङ्कज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ॥ २२५ ॥

अत्यन्त प्रेम से डरते हुए नम्रता एवम् संकोच के सहित दोनों भाई गुरुजी के चरण-कमलों में सिर नवा कर और आज्ञा पा कर बैठ गये ॥ २२५ ॥

चौ०—निसि प्रवेस मुनि आयसु दीन्हा । सबही सन्ध्या-बंदन कीन्हा ॥
कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥१॥

रात्रि के प्रवेश में मुनि ने आज्ञा दी और सभी ने सन्ध्या-वन्दना की । पुरानी कथाओं का इतिहास कहते दो प्रहर सुन्दर रात्रि बीत गई ॥ १ ॥

रुचिर रजनि, शब्द से सत्सङ्ग की महिमा व्यञ्जित करने में गूढ़ व्यङ्ग है । महात्माओं के सङ्ग में कथा पुराण कहते दो पहर रात व्यतीत हुई, इस लिए रात्रि को रुचिर कहा है ।

मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई । लगे चरन चाँपन दोउ भाई ॥
जिन्ह के चरन-सरोरुह लागी । करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥२॥

तब मुनिवर ने जाकर शयन किया और दोनों भाई उनके पाँव दबाने लगे। जिनके चरण-कमलों के लिए वैराग्यवान् लोग अनेक प्रकार के जप योग करते हैं ॥ २ ॥

ते दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते । गुरु-पद-पदुम पलोटत प्रीते ॥
बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥३॥

ऐसा मालूम होता है कि उन्हीं दोनों भाइयों को मानों प्रेमने जीत लिया हो, इसी से गुरु के चरण-कमलों को प्रीति से दबा रहे हैं। जब मुनि ने बार बार आज्ञा दी, तब जा कर रघुनाथजी ने शयन किया ॥ ३ ॥

चाँपत चरन लखन उर लाये । सभय सप्रेम परम सचु पाये ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । पौढ़े धरि उर पद-जल जाता ॥४॥

तब लक्ष्मणजी बड़े बन्धु के चरणों को मन लगा कर डरते हुए प्रेम से अत्यन्त आनन्द में प्राप्त होकर दबाने लगे। प्रभु रामचन्द्रजी ने बार बार कहा—हे तात! सोओ, चरण-कमलों को हृदय में रखकर पौढ़े ॥ ४ ॥

भय—इस बात का कि स्वामी के कोमल अङ्गों में कहीं मेरे कड़े हाथों का दबाव न लग जाय। प्रेम-सेवा करने में, आनन्द-सफलता पर हो रहा है।

दो०—उठे लखन निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा धुनि कान ।
गुरु तें पहिलेहि जगतपति, जागे राम सुजान ॥२२६॥

रात्रि बीतने पर मुर्गे का शब्द कान से सुन कर लक्ष्मणजी उठे। जगदीश्वर सुजान रामचन्द्रजी गुरु से पहले ही जागे ॥ २२६ ॥

नीति वर्णन है। शयन गुरु, रामचन्द्र और लक्ष्मण का क्रमशः कहा; किन्तु उठना उसके विपरीत पहले लक्ष्मण, रामचन्द्र और पीछे गुरु का वर्णन किया। विबोध सञ्चारी भाव है।

चौ०—सकल सौच करि जाइ नहाये । नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाये ॥
समय जानि गुरु आयसु पाई । लेन प्रसून चले दोउ भाई ॥१॥

सब शौच कर के जा कर स्नान किया और नित्य-कर्म पूरा कर मुनि को मस्तक नवाया। (पूजा का) समय जान और गुरुजी की आज्ञा पा कर दोनों भाई फूल लेने के लिए चले ॥ १ ॥

'समय जानि गुरु' इस श्लिष्ट शब्द द्वारा साधारण अर्थ के सिवा एक गुप्त अर्थ को कविजी प्रकट करते हैं कि श्रेष्ठतर समय जान कर—"राजकुमारी इसी समय गौरी पूजन के लिए बाग में आवेगी, चलने से दर्शन लाभ होगा, गुरु की आज्ञा से फूल लेने चले"। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

भूप बाग बर देखेउ जाई । जहँ बसन्त-रितु रही लोभाई ॥
लागे बिटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलि बिताना ॥२॥

राजा जनक के श्रेष्ठ बाग को जाकर देखा, जहाँ बसन्त ऋतु लोभाई रहती है। उसमें नाना प्रकार के मनोहर वृक्ष लगे हैं और रङ्ग रङ्ग की उत्तम लताओं के मण्डप बने हैं ॥२॥

'भूप बाग बर' शब्द में कई तरह की ध्वनि है। यथा—"यह बगीचों का राजा है। (२) श्रेष्ठ राजा का बाग है। (३) जनकजी श्रेष्ठ राजा इस लिये हैं कि पृथ्वी ने उन्हें पति मान कर पुत्रीरत्न जानकीजी को दिया है।

नव-पल्लव फल सुमन सुहाये । निज-सम्पत्ति सुर-रूख लजाये ॥
चातक कोकिल कीर चकोरा । कूजत बिहँग नटत कल मोरा ॥३॥

नये नये सुहावने पत्ते; फूल और फल से लदे हुए वृक्ष अपने ऐश्वर्य्य के सामने कल्पवृक्ष को लज्जित कर रहे हैं। पपीहा, कोयल, सुग्गा और चकोर पक्षी बोल रहे हैं और मोर सुन्दर नाचते हैं ॥३॥

कल्पतरु को लज्जित करने के सम्बन्ध से बाग के पत्र, पुष्प और फल के सुहावनेपन की अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। कोयल और तोता बसन्तऋतु में, मोर वर्षाऋतु में, चातक वर्षा और शरद में तथा चकोर शरद काल में प्रसन्न होते हैं। बसन्त तो विद्यमान ही है, किन्तु वर्षा और शरदऋतु मानने में चातक-चकोरों की भाँति रूपक की ध्वनि है। पुराने वृक्षों के हरे श्याम सघन पत्ते काली घटा के समान हैं, उनमें श्वेतपुष्पों के गुच्छे बगुलों की पाँति, पीले पुष्प-जाल बिजली, लाल पीले हरे फूलों की कतार इन्द्रधनुष, कुञ्जों में पवन के प्रवेश से शब्द का होना मेघ का गर्जन और पुष्प रस का टपकना जलवृष्टि की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं जिससे मोर और चातक आनन्दित रहते हैं। श्रीजानकी के मुख-मण्डल को चन्द्रोदय अनुमान शरद ऋतु जान कर चकोर मुग्ध होते हैं।

मध्य बाग सर सोह सुहावा । मनि-सोपान बिचित्र बनावा ॥
बिमल सलिल सरसिज बहु रङ्गा । जल-खग-कूजत गुञ्जत भृङ्गा ॥४॥

बाग के बीच में सुहावना तालाब शोभित है, उसकी सीढ़ियाँ मणियों द्वारा विलक्षण बनावट से बनी हैं। जल निर्मल है। उसमें बहुत रङ्ग के कमल फूले हुए हैं, जल के पक्षी बोलते हैं और भ्रमर गुञ्जार करते हैं ॥४॥

'सोह-सुहावा' शब्द में पुनरुक्ति सी जान पड़ती है, पर पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि 'सोह' विशेषण है और 'सुहावा' क्रिया, इससे "पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार" है। जल-खग कूजत और भृङ्गगुञ्जत में कूजत गुञ्जत के एक अर्थ बोलने की आवृत्ति 'अर्थावृत्त दीपक' है। यदि चौपाई का इस प्रकार अर्थ किया जाय कि सरोवर के बीच में बाग अर्थात् मणियों की सीढ़ियाँ विलक्षण बिना जोड़ की हैं। किनारे पर खड़े होने से सारे बगीचे के वृक्षों का प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई देता है, इससे बाग की शोभा तालाब से और तालाब की शोभा बाग से हो रही है। तब 'अन्योन्य अलङ्कार' होगा।

दो०—बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु, हरषे बन्धु समेत ।
परम-रम्य आराम यह, जो रामहिँ सुख देत ॥२२७॥

बाग और तालाब को देख कर प्रभु रामचन्द्रजी भाई (लक्ष्मण) के सहित प्रसन्न हुए। यह बगीचा बहुत ही रमणीय है जो रामचन्द्रजी को सुख दे रहा है ॥२२७॥

बाग के परम-रम्य होने का अर्थ युक्ति से समर्थन करना कि जो जगत को रमानेवाला राम को आनन्ददायक हो रहा है 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है।

चौ०—चहुँ दिसि चितइ पूछि माली गन । लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥
तेहि अवसर सीता तहँ आई । गिरिजा पूजन जननि पठाई ॥१॥

चारों ओर देख और मालियों से पूँछ कर प्रसन्न मन से पत्ते-पुष्प लेने लगे, उसी समय वहाँ माता की भेजी हुई गिरिजा की पूजा करने के लिए सीताजी आईं ॥१॥

चारों ओर निहारने में सीताजी के दर्शनकी उत्कण्ठा व्यञ्जित होना व्यङ्ग है। मालियों से पूछने में श्लेष अर्थ की ध्वनि है। प्रत्यक्ष तो रक्षकों से पूँछ कर फूल तोड़ने में सभ्यता है। दूसरा गुप्त अर्थ राजकुमारी का आगमन तो बाग में नहीं हुआ है ? मालियों ने कहा अभी नहीं, तब प्रसन्न चित्त से फूलों को चुनने लगे।

सङ्ग सखी सब सुभग सयानी । गावहिँ गीत मनोहर बानी ॥
सर समीप गिरिजा गृह सोहा । बरनि न जाइ देखि मन मोहा ॥२॥

सङ्गमें सब सयानी सुन्दर सखियाँ मनोहर वाणीसे गीत गाती हैं सरोवर के पास गिरिजा-मन्दिर शोभित है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, देख कर मन मोहित हो जाता है ॥२॥

'मनोहर' शब्द में अर्थ के श्लेष की ध्वनि है। यथा—"(१) ऐसा गान करती हैं जो वाणी (सरस्वती) के मन को हर लेती है। (२) सरस्वती ही मनोहर गीत गाती हैं (३) उनकी वाणी ही मनोहर है।

मज्जन करि सर सखिन्ह समेता । गई मुदित मन गौरि निकेता ॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा । निज-अनुरूप सुभग बर माँगा ॥३॥

सखियों के सहित तालाब में स्नान कर के प्रसन्न मन से गिरिजा मन्दिर में गईं। बड़े प्रेम से पूजा की और अपने अनुकूल सुन्दर वर माँगा ॥३॥

'वर' शब्द श्लेषार्थी है, एक वरदान और दूसरा दूलह।

एक सखी सिय सङ्ग बिहाई । गई रही देखन फुलवाई ॥
तेहि दोउ बन्धु बिलोके जाई । प्रेम-बिबस सीता पहिँ आई ॥४॥

एक सखी सीताजी का साथ छोड़ कर फुलवाड़ी देखने गई थी। उसने जाकर दोनों भाइयों को देखा। अतिशय प्रेम के अधीन हुई (विह्वल दशा में) वह जनकनन्दिनी के पास आई ॥४॥

साथ छोड़ कर बाग में जाने का प्रयोजन यह है कि यदि कोई पुरुष हो तो बाहर निकल जाने का आदेश कर दे, क्योंकि राजकुमारी उस ओर से गुजरेंगी। दोनों कुँवरों को देखते ही मुग्ध हो गई, कुछ कह न सकी, प्रेम से विह्वल हो सीताजी के पास आई।

दो०-तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक-गात जल-नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिँ सब मृदु बैन ॥ २२८ ॥

उसकी दशा सखियों ने देखी कि शरीर पुलकित और नेत्रों में जल भरा है। सब कोमल वाणी से पूछती हैं कि तू अपने हर्ष का कारण कह ॥२२८॥

'पूछहिँ सब मृदु बैन' में लक्षणामूलक ध्वनि है कि उस प्रेम-विह्वला सखी के हृदय पर आघात न पहुँचे' किम्वा इसकी दशा देख कर जानकीजी न घबरा जाँय।

चौ०-देखन बाग कुँअर दुइ आये। बय-किसोर सब भाँति सुहाये॥
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥१॥

वह सखी कहने लगी—दो कुँवर बाग देखने आये हैं, उनकी किशोर (१५ वर्ष की) अवस्था है और सब तरह से सुहावने हैं। श्यामल गौर वर्ण हैं; मैं किस प्रकार बखान कर कहूँ, जीभ को आँख नहीं है और आँखें विना जीभ की हैं ॥१॥

सुन्दरता न कह सकने का कारण सखी ने कैसी उत्तमता से समर्थन किया है कि जिह्वा कह सकती है, पर उसने देखा नहीं, क्योंकि उसे आँख नहीं है। नेत्रों ने उनके रूप देखे हैं, पर उन्हें जीभ नहीं 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। कुँवरों को फूल चुनते देख आई है, पर सन्देशे में वह नहीं कहा, क्योंकि उससे माली-पुत्र और ब्राह्मण-कुमार का सन्देह होता। इससे राज-कुँवर व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उतकंठा जानी॥
एक कहइ नृप सुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आये काली ॥२॥

सुन कर सब सयानी सखियाँ सीताजी के हृदय में अत्यन्त अभिलाषा समझ कर प्रसन्न हुईं। एक कहने लगी—हे आली! ये वे ही राजकुमार हैं जो सुना है कि कल विश्वामित्र मुनि के साथ आये हैं ॥ २ ॥

इन सखियों के हृदय में राजकुमारों के दर्शन की प्रबल इच्छा है, राजकुमारी की उत्कण्ठा अनुमान कर अपनी ख्वाहिश पूरी करने के लिये कारण छिपा कर उन्हें चलने के हेतु उत्तेजित करना 'द्वितीय पर्य्यायोक्ति अलंकार, है।

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर-नर-नारी॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू ॥३॥

जिन्होंने अपने रूप की मोहनी डाल कर नगर के स्त्री-पुरुषों को अपने वश में कर लिया है। सब लोग जहाँ तहाँ उनकी छबि का वर्णन करते हैं, देखने योग्य हैं अवश्य देखना चाहिए ॥३॥

'देखन जोगू' इस श्लिष्ट शब्द द्वारा साधारण अर्थ के सिवा सहेली एक गुप्त अर्थ प्रकट करती है कि नारदजी ने जो भविष्यवाणी की है, उनकी बातें घट रही हैं। देखने में योग (विवाह-सम्बन्ध) की सम्भावना है। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

तासु बचन अति सियहि सुहाने । दरस लागि लोचन अकुलाने ॥
चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई । प्रीति पुरातन लखइ न कोई ॥४॥

उसकी बात सीताजी को बहुत अच्छी लगी और दर्शन के लिए आँखें बेचैन होगईं। उस प्यारी सखी को (जो राजकुमारों को देख आई है) आगे करके चलीं, उनकी पुरानी प्रीति कोई लखती नहीं है ॥४॥

"प्रीति पुरातन लखइ न कोई" इस चौपाई में कई प्रकार की गूढ़ ध्वनि है। यथा—
१—सीताजी ने उस सखी को आगे इसलिए किया कि जिसमें हमारी प्राचीन प्रीति को कोई लखने न पावे २—दर्शन के लिए लोचन अकुला उठे हैं, सखी को आगे कर लिया जिसमें कोई उस आकुलता को न जान सके ३—वह राम-जानकी की प्रीति ही सखी रूपधारी मिलाने को लिए जा रही है।

दो०—सुमिरि सीय नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत ।
चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत ॥२२९॥

नारदजी के वचनों का स्मरण करके सीताजी के मन में पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई। वे सम्पूर्ण दिशाओं में चकपका कर निहारती हैं, ऐसा मालूम होता है मानों बाल-हरिणी भयभीत हुई इधर उधर देखती हो ॥२२९॥

नारदजी एक बार कह गये थे कि इस कन्या का विवाह जिस वर के साथ होगा, वे श्यामवर्ण राजकुमार पहले फुलवाड़ी में दिखाई पड़ेंगे, उन्हीं से पीछे विवाह होगा। देवर्षि की बातों की याद आना 'स्मरण अलंकार' है। सीताजी का चकित हो कर इधर उधर देखना उत्प्रेक्षा का विषय है। बाल-मृगी सिंहादि जीवों से डर कर चकपकाती है, सीताजी सखियों की लाज से भयभीत हुई हैं कि कहीं ये मेरे गुप्त प्रेम को जान न लें। 'यह उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। यहाँ श्रीरामचन्द्रजी के अलौकिक सौन्दर्य्य की बात सखी के मुख से सुन कर उनसे मिलने के पूर्व ही सीताजी के मन में प्रेम हुआ वह रति स्थायी भाव है। रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं। उनके साक्षात्कार की उत्कट इच्छा उद्दीपन विभाव है। दर्शनार्थ गमन करना, भयभीत बालमृगीकी तरह चारों ओर देखना अनुभाव है। उत्सुकता, चपलतादि सञ्चारी भावों से पुष्ट हो कर पूर्वानुराग विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस हुआ है।

चौ०—कङ्कन किङ्किनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥१॥

कङ्कण, करधनी और पायजेबों के शब्द सुन कर रामचन्द्रजी मन में विचार कर लक्ष्मणजी से कहते हैं। हे लक्ष्मण! यह आवाज़ ऐसा मालूम होता है मानों कामदेव संसार को जीतने की इच्छा करके नगाड़े बजवा रहा हो ॥१॥

कामदेव का नगाड़ा बजाना असिद्ध आधार है; क्योंकि वह बिना दुन्दुभी दिये योंही त्रिलोक विजयी है । इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥
भये बिलोचन चारु अचञ्चल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगञ्चल ॥२॥

ऐसा कह कर फिर उस ओर देखा, सीताजी के चन्द्रमुख में रामचन्द्रजी के नेत्र चकोर हो कर लग गये । सुन्दर आँखें एकटक हो गईं, ऐसा मालूम होता है मानों निमि ने लजा कर पलकों का निवास ही त्याग दिया हो ॥२॥

नेत्रों का सुन्दर सुहावना रूप देख कर अचञ्चल होना सिद्ध आधार है, परन्तु निमि का पलक त्यागना कल्पना मात्र है, इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है । निमि राजा जनक के पूर्वजों में हैं। एक बार उन्होंने यज्ञ करने की इच्छा से वशिष्ठजी को बुलवाया । गुरुजी इन्द्र का निमन्त्रण पा चुके थे, कहा कि लौट कर तुम्हारा यज्ञ करावेंगे, यह कह कर वे इन्द्रलोक को चले गये । राजा ने अनित्य शरीर समझ कर अन्य पुरोहित द्वारा यज्ञारम्भ किया । जब वशिष्ठजी आये तो शिष्य के अपमान से चिढ़ कर शरीर नष्ट होने का शाप दिया । निमि के पुत्रों के उद्योग से वे पुनः सशरीर हुए और यह वर माँगा कि मैं बिना शरीर सब की पलकों पर निवास करूँ, क्योंकि शरीर से बन्धन का भय बना रहेगा । तब से निमि पलकों में रहते हैं, इसी से वह निमेष कहलाती है । इस उत्प्रेक्षा का भाव यह है कि अपने कुल की कन्या जान लजा कर वे पलकों पर से मानों हट गये ।

देखि सीय सोभा सुख पावा । हृदय सराहत बचन न आवा ॥
जनु बिरञ्चि सब निज निपुनाई । बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥३॥

सीताजी की शोभा को देख कर सुखी हुए, हृदय में सराहते हैं, किन्तु मुख से वचन नहीं निकलता है । ऐसी विलक्षण छबि मालूम होती है मानों विधाता ने अपनी सारी कारीगरी रच कर संसार को प्रत्यक्ष दिखाई हो ॥ ३ ॥

ब्रह्मा की रचना-कुशलता सिद्ध आधार है, क्योंकि वे सृष्टि की रचना करते हैं। पर सीताजी को विधि ने नहीं बनाया, वे आदिशक्ति स्वेच्छा से प्रगट नहीं हुई हैं । इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई । छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई ॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी । केहि पटतरउँ बिदेह-कुमारी ॥ ४ ॥

जो (सीताजी) सुन्दरता को भी सुन्दर करती हैं, उनकी शोभा ऐसी मालूम होती है मानों छबि के मन्दिर में दीपक की लौ जल रही हो । सभी उपमाओं को कवियों ने जूठी कर रक्खी है, इससे जनकनन्दिनी का पटतर मैं किससे देऊँ ॥४॥

सुन्दरता को भी सुन्दर करती हैं इस वाक्य में 'अत्युक्ति अलंकार' है । कैसा ही सजा सजाया मकान क्यों न हो, पर अँधेरे में उसकी शोभा नहीं, दीपक जलने से वह जगमगाने लगता है । उसी तरह जानकीजी की सुन्दरता, शोभामात्र को छबिवान बनाती वे । यह

'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में समस्त उपमानों को अयोग्य ठहराना पञ्चम प्रतीप की ध्वनि है।

दो०—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि-मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ॥ २३० ॥

सीताजी की शोभा हृदय में बखान कर प्रभु रामचन्द्रजी अपनी दशा विचार कर पवित्र मन से समयानुकूल वचन छोटे भाई से बोले ॥२३०॥

यहाँ 'सुचि मन' शब्द में अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग है कि जो बात लक्ष्मणजी से कहने योग्य न थी, वह भी कह दी। अपनी दशा विचारने में धर्मपरायणता और सदाचार की दृढ़ता व्यञ्जित होना गूढ़ व्यङ्ग है।

चौ०—तात जनक तनया यह सोई। धनुष-यज्ञ जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई ॥१॥

हे तात! यह वही जनक राजा की कन्या है, जिसके लिए धनुषयज्ञ होता है। गौरी-पूजन के लिए सखियाँ ले आई हैं, जो यहाँ फुलवाड़ी में घूमती हुई प्रकाश करती है ॥१॥

रामचन्द्रजी ने जन्मकाल से आज पर्य्यन्त जानकीजी को नहीं देखा था, यह प्रथम समागम है। पर भाई को परिचित की तरह परिचय कराने में 'प्रत्यक्षप्रमाण अलंकार' है, क्योंकि नगर के बालकों से सुन चुके हैं कि राजकन्या प्रतिदिन बाग में गिरिजा-पूजन के लिये जाती है। इसी प्रमाण से पहचान गये।

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिँ सुभग अङ्ग सुनु भ्राता ॥२॥

जिसकी साधारण छवि देख कर स्वभाव से ही पवित्र मेरा मन विचलित हो गया है। उसका सब कारण तो ब्रह्मा जानें, हे भाई! सुनिए, मेरे सुन्दर अङ्ग फड़कते हैं ॥२॥

जिसकी अलौकिक शोभा पर मेरा सहज पवित्र मन क्षुब्ध हुआ है, इस बात का समर्थन हेतु सूचक बात कह कर करना कि कारण तो ईश्वर जानें पर मेरा सुन्दर दाहना अङ्ग फड़कता है अर्थात् सीता मुझे प्राप्त होंगी 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। गुटका में 'फरकहिँ सुभद अंग' पाठ है।

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपन्थ पग धरइँ न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर-नारि न हेरी ॥३॥

रघुवंशियों का यह सहज स्वभाव है वे मन से भी कभी कुमार्ग में पाँव नहीं रखते। मुझे अपने मन का बहुत बड़ा विश्वास है, जिसने स्वप्न में भी पराई स्त्री को नहीं देखा ॥ ३ ॥

अन्तिम चरण में अर्थान्तरसंक्रमित अगूढ़ व्यङ्ग है कि ये पराई स्त्री नहीं, स्वकीय भार्य्या हैं इसी से मेरी निगाह इन पर पड़ी है।

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी । नहिं पावहिं परतिय मन डीठी ॥
मङ्गन लहहिं न जिन्ह के नाहीं । ते नर बर थोरे जग माहीं ॥ ४ ॥

जिनकी पीठ संग्राम में शत्रु नहीं पाते, जो पराई स्त्री पर मन से दृष्टि नहीं लगाते अथवा पर स्त्री मन और दृष्टि नहीं पाती। मङ्गन जिनके यहाँ नहीं (फेरा) नहीं पाते, ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य संसार में कम हैं ॥ ४ ॥

दो०—करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान ।
मुख-सरोज मकरन्द-छबि, करइ मधुप इव पान ॥ २३१ ॥

छोटे भाई से बातचीत करते हैं, पर मन सीताजी के रूप में लुभाया हुआ है। मुख रूपी कमल के छवि रूपी मकरन्द (रस) को मन भ्रमर के समान पान करता है ॥ २३१ ॥

जिस प्रकार भ्रमर फूल के चारों ओर गुञ्जार करता है और रस पान करते समय मौन हो जाता है। उसी प्रकार रामचन्द्रजी का लक्ष्मण से बातें करना गुञ्जारना है, फिर नेत्रों का रूप में लग जाना मौन होकर रस पान करना है। पहले रामचन्द्रजी के मन में वितर्क हुआ कि सूर्यवंशी राजाओं का पराई स्त्री पर आसक्त होना अकार्य्य है। इस भाव को शुभ अङ्ग के फड़कने से मति सञ्चारी भाव ने दूर कर दिया। तब निःशङ्क मुख छबि देखने लगे। प्रथम को दूसरे भाव ने और दूसरे को तीसरे ने क्रमशः दबा दिया है। यह 'भाव सबलता' है।

चौ०—चितवति चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गये नृप-किसोर मन चिन्ता ॥
जहँ बिलोक मृग-सावक-नैनी । जनु तहँ बरिस कमल-सित-स्रेनी ॥ १ ॥

सीताजी चकपका कर चारों ओर निहारती हैं कि मन को चिन्तित करनेवाले राजकिशोर कहाँ गये ? बालमृगनैनी (जानकीजी) जहाँ देखती हैं, ऐसा मालूम होता है मानों वहाँ सफेद कमल-पुष्पों का समुदाय बरसता हो ॥ १ ॥

राजकुमार के न दिखाई पड़ने से 'चिन्ता सञ्चारी भाव' है। कविलोग आँख की उपमा कमल से देते हैं, नेत्र के श्वेत अंश को मित्रता सूचक मानते हैं. यहाँ यह उत्प्रेक्षा करना कि वह निहारना मानों सफेद कमल के कतार का बरसना हो, यह कवि की कल्पना मात्र है, क्योंकि कमल तालाबों में फूलते हैं आसमान से बरसते नहीं 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

लता ओट तब सखिन्ह लखाये । स्यामल गौर किसोर सुहाये ॥
देखि रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥ २ ॥

तब सखियों ने लता की आड़ में श्यामल गौर सलोने कुमारों को लखाया। उनकी छबि देख कर आँखें ललचा गईं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों अपनी (बिछुड़ी हुई) अपार-सम्पत्ति पहिचान कर प्रसन्न हुई हों ॥ २ ॥

अपनी खोई हुई निधि पहिचान लेने पर लोग हहा कर उस पर टूट पड़ते ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

थके नयन रघुपति छबि देखे । पलकन्हिहूँ परिहरी निमेखे ॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी । सरद-ससिहि जनु चितव चकोरी ॥३॥

रघुनाथजी की छवि को देख कर नेत्र वहीं ठहर गये, पलकों ने खुलना और बन्द होना छोड़ दिया । अधिक स्नेह से शरीर की सुध नहीं रही, ऐसी मालूम होती हैं मानों शरद काल के चन्द्रमा को चकोरिनी निहारती हो ॥ ३ ॥

चकोरिनी अनिमेष हो कर शरच्चन्द्र को ताप की शान्ति के लिए निहारती ही है । यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । 'थके' शब्द में लक्षणामूलक व्यङ्ग है कि रघुनाथजी की छवि का बड़ा विस्तार है, पार न पाने से नेत्र थक गये, किम्वा बड़ी देर से खोज में थे, पा कर शान्त हो टिक गये । आनन्द-पूर्वक वाटिका की शोभा देखते रामचन्द्रजी के सहसा दृष्टिगत होते ही सीताजी का जड़त्व को प्राप्त होना 'स्तम्भ सात्विक अनुभाव' है ।

लोचन मग रामहिँ उर आनी । दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम-बस जानी । कहि न सकहिँ कछु मन सकुचानी ॥४॥

आँखों के रास्ते रामचन्द्रजी को हृदय में ला कर सयानी (सीताजी) ने पलकों के किवाड़ बन्द कर लिये । जब सखियों ने सीताजी को प्रेम के अधीन जाना; तब वे मन में सकुचा गई और कुछ कह नहीं सकती हैं ॥ ४ ॥

कवि इच्छित अर्थ के अतिरिक्त इसमें दूसरा अर्थ भी प्रकट होता है कि चञ्चल व्यक्ति को बँधुआ बनाने के व्यवहार में किवाड़ बन्द करना पड़ता है । यह 'समासोक्ति अलंकार' है । 'सयानी' विशेषण में प्रशंसा व्यञ्जित करना व्यङ्ग है, क्योंकि चतुर ही ईश्वर के रूप को हृदय-मन्दिर में बसाते हैं ।

दो०-लता-भवन तेँ प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाइ ॥ २३२ ॥

उसी समय दोनों भाई लता-मण्डप से बाहर हुए । वे ऐसे मालूम होते हैं मानों दो निर्मल चन्द्रमा बादलों की पंक्ति को हटा कर निकले हों ॥२३२॥

दो निर्मल (कलङ्क रहित) चन्द्रमा का मेघों को हटा कर निकलना कवि की कल्पना मात्र है, क्योंकि दो चन्द्रमा साथ कभी नहीं उदय होते । यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

चौ०-सोभा सीँव सुभग दोउ बीरा । नील-पीत-जलजात सरीरा ॥
मोर-पङ्ख सिर सोहत नीके । गुच्छ बीच बिच कुसुम-कली के ॥१॥

दोनों भाई सुन्दर शूरवीर शोभा के हद और श्याम पीले कमल के समान शरीरवाले हैं । मस्तक पर अच्छी तरह मुरैले का पङ्ख शोभित है और बीच बीच में पुष्प-कलियों के गुच्छे लगे हैं ॥१॥

प्रयाग-निवासी पण्डित रामबक्स पाण्डेय ने 'काकपक्ष' पाठ ठीक माना है । सभा की प्रति में 'गुच्छा बिच बिच कुसुमकली के' पाठ है ।

भाल तिलक स्रम-बिन्दु सुहाये । स्रवन सुभग भूषन छबि छाये ॥
बिकट भृकुटि कच घूघुरवारे । नव-सरोज लोचन रतनारे ॥२॥

माथे पर तिलक और पसीने की बूँदें सुहा रही हैं और कानों में सुन्दर भूषणों की छवि छाई हुई है। टेढ़ी भौंहें, घूँघरवाले बाल और नवीन कमल के समान लाल नेत्र हैं ॥२॥

चारु चिबुक नासिका कपोला । हास बिलास लेत मन मोला ॥
मुख-छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं । जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥३॥

ठुड्डी, नाक और गाल मनोहर हैं, मुस्कुराने का आनन्द मन को मोल ले लेता है। मुख की शोभा मुझ से कही नहीं जाती, जिसे देख कर बहुत से काम लजा जाते हैं ॥३॥

पूर्वार्द्ध में-गम्योत्प्रेक्षा है। क्योंकि हास-विलास (मानों) मन को मोल लेता हो, बिना वाचक पद के उत्प्रेक्षा की गई है। उत्तरार्द्ध में उपमेय की बराबरी में उपमान का व्यर्थ होना 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है।

उर-मनि-माल कम्बु कल ग्रीवाँ । काम-कलभ-कर भुज बल सींवाँ ॥
सुमन समेत बाम कर दोना । साँवर कुँवर सखी सुठि लोना ॥४॥

हृदय में मणियों की माला और शङ्ख के समान सुन्दर गला है, कामदेव रूपी हाथी के बच्चे के सूँड़ के समान बल की हद भुजाएँ हैं। एक दूसरी से कहती है—हे सखी! ये श्यामल कुँअर जो बायें हाथ में फूलों सहित दोना लिए हैं, वे बड़े ही सुन्दर हैं ॥४॥

कामदेव-हाथी का सूँड़ उत्कर्ष का कारण नहीं है, क्योंकि हाथी का सूँड़ उतार चढ़ाव होता है, यहाँ उपमा से केवल इतना ही तात्पर्य्य है तो भी काम-कलभ कर की कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है।

दो०—केहरि-कटि पट-पीत-धर, सुखमा-सील-निधान ।
देखि भानुकुलभूषनहिँ, बिसरा सखिन्ह अपान ॥२३३॥

सिंह के समान पतली कमर, पीताम्बर पहने हुए, शोभा और शील के भण्डार हैं। सूर्य्य कुल के भूषण को देख कर सखियाँ अपनी सुध भूल गईं ॥२३३॥

यहाँ सम्पूर्ण सखियों को अपनी सुध भूल जाना और चेष्टा रहित होना 'प्रलय सात्विक अनुभाव' है।

चौ०—धरि धीरज एक आलि सयानी । सीता सन बोली गहि पानी ॥
बहुरि गौरि कर ध्यान धरेहू । भूप-किसोर देखि किन लेहू ॥१॥

एक चतुर सखी धीरज धर कर सीताजी से उनका हाथ थाम कर बोली—पार्वतीजी का ध्यान फिर धरना, राजकुमार को क्यों नहीं देख लेती हो? ॥१॥

सीताजी का रामचन्द्रजी के प्रेम में मग्न होना, इस प्रकट वृत्तान्त को छिपाने की इच्छा से पार्वतीजी के ध्यान के बहाने सचेत करना 'व्यजोक्ति अलंकार' है। बोधव्य जानकी

जी की ओर क्रिया व्यञ्जित होना व्यङ्ग है। सखी को सयानी कहने में प्रबन्धध्वनि है कि जहाँ सब सखियाँ अपना पराया भूल गईं, वहाँ उसने धीरज के साथ सोच कर कि सामने राज-कुमार खड़े हैं और राजकुमारी आँख मूँदे खड़ी हैं! यदि प्रकट कुछ चेष्टा करती हूँ तो वे जान जाँयगे और जानकीजी सङ्केत देख न सकेंगी इसलिए धीरे से हाथ पकड़ कर ऐसी दुरङ्गी वाणी बोली कि उन्होंने तुरन्त आँखें खोल दीं।

सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघु सिंह निहारे॥
नख-सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा॥२॥

तब सीताजी ने लजा कर नेत्र खोल दिया और सामने दोनों रघुवंशी सिंहों को देखा। नख से चोटी पर्य्यन्त रामचन्द्रजी के शोभा को देख कर और पिता की प्रतिज्ञा का स्मरण कर के उनका मन बहुत ही दुखी हुआ ॥२॥

सीताजी के मन को एक ओर रामचन्द्रजी की शोभा से उत्पन्न हर्ष सञ्चारी और दूसरी ओर पिता की भीषण प्रतिज्ञा की स्मृति सञ्चारी दोनों भाव परस्पर अपनी अपनी ओर खींच रहे हैं। यहाँ दोनों भावों की सन्धि है।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिँ सभीता॥
पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली॥३॥

जब सखियों ने सीताजी को पराधीन देखा, तब सब भयभीत होकर कहने लगीं कि बिलम्ब हुआ अब घर चलना चहिए। एक सखी ने कहा—इसी समय कल्ह फिर भी आऊँगी, ऐसा कह कर वह मन में मुस्कुराई ॥३॥

उद्देश्य तो रामचन्द्रजी के प्रति है और कहती है सखी से 'व्याजोक्ति अलंकार' है। अपने लिये कल फिर आने की बात कहना बोधव्य है, उसकी क्रिया सीताजी और रामचन्द्रजी की ओर व्यञ्जित होना व्यङ्ग है। इधर जानकीजी को शान्त्वना देती है कि कल फिर आऊँगी तब इनके दर्शन होंगे, साथ ही भय दिखाती है कि यदि आज देरी होगी तो कल माताजी यहाँ न आने देंगी। उधर रामचन्द्रजी को इशारे से सम्बोधित करती है कि राजकन्या समेत इसी समय हम सब यहाँ कल आवेंगी, आप भी अवश्य पधारिएगा।

गूढ़गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलम्ब मातु भय मानी॥
धरि बड़ धीर राम उर आनी। फिरी अपनपौ पितु बस जानी॥४॥

गूढ़ वाणी सुन कर सीताजी सकुचा गईं, देरी हुई जान माता का डर मान कर सशङ्क हुईं। बड़ा धीर धर कर रामचन्द्रजी को हृदय में ले आईं और अपने को पिता के अधीन समझ कर फिरीं ॥४॥

सखी की गूढ़ बात सुन कर संकोच उत्पन्न होना व्रीड़ा सञ्चारी भाव है। देरी होने से माता का डर होना शङ्का सञ्चारी भाव है। धीरज धर कर राम-रूप हृदय में ले आना धृति सञ्चारी भाव है। अपने को पिता के वश जान कर लौटना विषाद और चिन्ता सञ्चारी भाव है। इस तरह साथ ही सीताजी के मन में कई एक भावों का उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

दो०-देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥२३४॥

मृग, पक्षी और वृक्षों को देखने के बहाने बार बार बगीचे में घूम रही हैं। रघुबीर की छबि देख देख कर मन में अपार प्रेम बढ़ता जाता है ॥२३४॥

सीताजी को अभीष्ट तो है रामचन्द्रजी की छबि निरीक्षण करना, परन्तु इस कार्य्य को वे मृगादिकों को देखने के बहाने से साधन करती हैं। यह 'द्वितीय पार्यायोक्ति अलंकार' है। 'रघुबीर-छबि' में अर्थ का श्लेष है। रामरूप हृदय में ले आईं; किन्तु अपने को पिता के वश जान कर विषाद और चिन्ता के वश अकुला गईं कि ऐसा करना अकार्य्य है। इससे बार बार घूम फिर कर रघुनाथजी को देखने लगीं। जब बीरता भरी छबि का निरीक्षण किया और यह विश्वास हुआ कि ये अवश्य ही धनुष-भङ्ग करेंगे, तब अपार प्रीति बढ़ी।

चौ०-जानि कठिन सिव चाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति॥
प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख-सनेह सोभा-गुन खानी ॥१॥

कठोर शिव-धनुष को टूटा हुआ समझ कर हृदय में श्यामल-मूर्त्ति रख कर चलीं। प्रभु रामचन्द्रजी ने जब सुख, स्नेह, छबि और गुणों की खानि जानकीजी को जाते हुए जाना ॥१॥

अभी रामचन्द्रजी धनुष के पास पहुँचे नहीं और सीताजी का यह निश्चय कर लेना कि धनुष को इन्होंने तोड़ दिया, यह आत्मतुष्टिप्रमाण अलंकार, है। "जानि कठिन शिव चाप बिसूरति" इस चौपाई का यह अर्थ करना कि—शिवजी के धनुष को कठोर जान कर सीताजी विसूरती (खेद करती हैं) ठीक नहीं। क्योंकि जब ऐसी अवस्था होती तब रामचन्द्रजी के रूप को हृदय में बसाना सतित्व के विरुद्ध कार्य्य कैसे कर सकती थीं। बिसूरति शब्द का अर्थ, सूरति हीन होना और विसूरना वो विलाप करना दोनों है। प्रसङ्गानुकूल यहाँ सूरति-हीन टूटा हुआ से तात्पर्य्य है, खेद करने का प्रयोजन नहीं है।

परमप्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्र भीतर लिखि लीन्ही॥
गई भवानी भवन बहोरी। बन्दि चरन बोली कर जोरी ॥२॥

अत्युत्तम प्रेम को मुलायम स्याही रूप बना कर सीताजी की सुन्दर तसबीर अपने अन्तःकरण में लिख ली। उधर जानकीजी—फिर गिरिजा के मन्दिर में गईं और चरणों की बन्दना कर के हाथ जोड़ कर बोलीं ॥२॥

'मृदु' शब्द उत्कर्ष का कारण नहीं है. क्योंकि जल-मय होने से स्याही स्वतः मुलायम होती है, तो भी वैसी कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है। जिस प्रकार सीताजी श्यामल-मूर्त्ति हृदय में रख कर चलीं, उसी तरह रामचन्द्रजी ने उनका चित्र अपने हृदय-पट पर अङ्कित कर लिया। यह समान परस्पर प्रेम 'अन्योन्य अलंकार' है। जैसे सीताजी ने रूप हृदय में बसाया, वैसा रामचन्द्रजी के लिए न कह कर केवल चित्र खींचना कहते हैं। प्रेम और मर्य्यादा की पुष्टि कैसी खूबी से की गई है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। यदि

दोनों ओर एक समान बातें कही जातीं तो ध्वनि में विलक्षण चमत्कार ना आतो। सभा की प्रति में 'चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही, पाठ है।

जय जय गिरि-बर-राज किसोरी। जय महेस-मुख-चन्द चकोरी॥
जय गज-बदन षड़ानन-माता। जगत-जननि-दामिनि-दुति गाता॥३॥

हे श्रेष्ठ गिरिराज की कन्या! शिवजी के मुख रूपी चन्द्रमा की चकोरिणी! आपकी जय हो; जय हो; जय हो। हे गजानन और स्वामिकार्त्तिक की माता जगज्जनी! आपके शरीर में बिजली के समान कान्ति है, आपकी जय हो॥ ३॥

सीताजी जिस कामना से प्रार्थना करती हैं तदनुसार सारी संज्ञाएँ साभिप्राय वर्णन हुई हैं। यथा—"पर्वत परोपकारी होते हैं, इससे पर्वतराज की कन्या ही मेरा उपकार करने में समर्थ हो सकती है। महेश मुखचन्द्र की चकोरणी ही मेरे ताप को हर सकती है। गणेश की माता विघ्न नशावेंगी। षटवदन की जननी ही धनुष-भङ्ग की कठिनता मिटा सकती है। जगन्माता ही मेरी पालना करने में समर्थ हो सकती हैं। यह 'परिकराङ्कुर अलङ्कार' है।

नहिँ तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहिँ जाना॥
भव-भव-बिभव-पराभव कारिनि। बिस्व-बिमोहनि स्वबस-बिहारिनि॥४॥

आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, अपार महिमा को वेद भी नहीं जानते। आप संसार को उत्पन्न, पालन और प्रलय करनेवाली हैं, जगत् को मोहनेवाली एवम् स्वतन्त्र रूप से (शङ्करजी के सङ्ग में) विहार करनेवाली हैं॥४॥

भव शब्द दो बार आया है, पर दोनों का अर्थ भिन्न है। एक संसार का वाचक है और दूसरा उत्पन्न करने का बोधक है। इसलिये यह 'यमक अलङ्कार' है। 'स्ववस-विहारनी' शब्द में अभिप्रेत फल की कामना व्यञ्जित होना गूढ़व्यंङ्ग है कि जैसे शङ्करजी के साथ आप स्वतन्त्र विहार करती हैं, वैसा मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं भी रामचन्द्रजी के सङ्ग स्वच्छ विहार करूँ।

दो०—पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिँ कहि, सहस सारदा सेख॥२३५॥

हे माता! सुन्दर पतिव्रता स्त्रियों में आपकी पहली रेख है अर्थात् अग्रगण्य हो। आप की अनन्त महिमा को सहस्रों सरस्वती और शेष नहीं कह सकते॥२३५॥

चौ०—सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बर-दायिनि त्रिपुरारि पियारी॥
देबि पूजि पद-कमल तुम्हारे। सुरनर मुनि सब होहिँ सुखारे॥१॥

आपकी सेवा में चारों फल सहज में मिलते हैं, आप वर देनेवाली और शङ्करजी की प्यारी हो। हे देवि! आपके चरण-कमलों की पूजा करके देवता, मनुष्य और मुनि सब सुखी होते हैं॥१॥

यहाँ 'वर' शब्द में वरदान और दूलह दोनों अर्थ निकलते हैं, इसलिये यह 'श्लेष अलङ्कार' है। 'सब होहिँ सुखारे' अपनी कामना के अनुसार स्वभाव वर्णन में अर्थान्तरसंक्रमित अगूढ़ व्यङ्ग है कि जब आपको पूजन कर सभी प्रसन्न होते हैं तब मेरी भी इच्छा पूरी होगी।

मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उर-पुर सबही के॥
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही॥२॥

आप मेरे मनोरथ को अच्छी तरह जानती हैं, क्योंकि सबके मन-मन्दिर में निवास करती हो इससे कारण प्रकट नहीं किया, ऐसा कह कर जानकीजीने पाँव पकड़ कर प्रणाम किया॥२॥

यहाँ 'सब ही, शब्द व्यञ्जक है। जो सब के सदा अन्तःपुर में निवास करता है उससे हृदय की बात छिपी नहीं रहती। मेरा मनोरथ (रामचन्द्रजी वर मिलें) आप भली भाँति जानती हो क्योकि हृदय-निवासिनी हो इसलेप्रकट नहीं कहती हूँ। यह अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग है।

बिनय प्रेम-बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरष हिय भरेऊ॥३॥

सीताजीकी बिनती सुनकर भवानी प्रेम के अधीन हो गईं, माला नीचे गिरी और मूर्त्ति मुस्कुराई। सीताजी ने आदर से प्रसाद रूप उस माला को सिर पर धारण किया, गिरिजा का हृदय आनन्द से भर गया। वे बोलीं॥३॥

यहाँ मनोरथ स्पष्ट न कह कर सीताजी ने बिनती की, उनके मनका अभिप्राय समझ कर गिरजाजी ने अपना तात्पर्य्य माला गिरा कर सूचित कर दिया कि ऐसा ही होगा 'सूक्ष्म अलङ्कार' है। मूर्त्ति के मुस्कुराने में सीताजी की महिमा व्यञ्जित करने की गूढ़ व्यङ्ग है कि "जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी" वे मुझसे इस प्रकार दीन हो कर प्रार्थना करती हैं मानों कोई साधारण लड़किनी हों। शङ्का इस बात की है कि जब गिरिजा ने प्रसन्न होकर माला प्रसाद रूप गिरा दिया, तब हाथ से क्यों नहीं दिया? उत्तर—सीताजी श्यामल रूप हृदय में बसा चुकी हैं, इस कारण हाथ से माला नहीं दिया। इस चौपाई में भी लोग तरह तरह के अर्थ करते हैं, प्रत्येक का उल्लेख करना व्यर्थ है।

सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन-कामना तुम्हारी॥
नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा॥४॥

हे सीताजी! सुनिए, मेरा आशीर्वाद सत्य होगा, आपकी मनोकामना पूरी होगी। नारद जी का बचन सदा पवित्र और सच्चा है, जिनसे मन लगा है वह वर आप को मिलेंगे॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

मन जाहि राचेउ मिलिहि सो बर-सहज सुन्दर साँवरो।
करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो॥
एहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय, सहित हिय हरषित अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि, मुदित मन मन्दिर चली॥१८॥

जिन सहज सुन्दर श्यामल वर में आप का मन लगा हुआ है, वे ही वर मिलेंगे। वे दयानिधान श्रेष्ठ ज्ञाता आप के शील स्नेह को जानते हैं। इस तरह गौरीजी के आशीर्वाद

को सुन कर सखियों के सहित सीताजी हृदय में हर्षित हुईं। तुलसीदासजी कहते हैं बार बार भवानी की पूजा कर के प्रसन्न मन से घर को चलीं ॥ १८ ॥

सो०—जानि गौरि अनुकूल, सिय-हिय-हरष न जाइ कहि ।
मञ्जुल-मङ्गल-मूल, बाम अङ्ग फरकन लगे ॥ २३६ ॥

पार्वतीजी को प्रसन्न जान कर सीताजी के हृदय में जैसा हर्ष हुआ, वह कहा नहीं जा सकता । सुन्दर मङ्गलों का मूल बायाँ अङ्ग फड़कने लगा ॥ २३६ ॥

अनुकूल वर पा कर सीताजी का मन में प्रसन्न होना 'हर्ष सञ्चारी' है ।

चौ०—हृदय सराहत सीय लोनाई । गुरु समीप गवने दोउ भाई ॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं । सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं ॥१॥

हृदय में सीताजी की सुन्दरता सराहते हुए दोनों भाई गुरु के समीप चले । रामचन्द्रजी ने सब हाल विश्वामित्रजी से कहा, उनके सीधे स्वभाव को छलने नहीं छुआ है ॥ १ ॥

सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही । पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्हीं ॥
सुफल मनोरथ होहु तुम्हारे । राम लखन सुनि भये सुखारे ॥२॥

फूल पा कर मुनि ने पूजा की, फिर दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे मनोरथ सफल हों, रामचन्द्र और लक्ष्मणजी सुन कर सुखी हुए ॥ २ ॥

करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी । लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥
बिगत-दिवस गुरु आयसु पाई । सन्ध्या करन चले दोउ भाई ॥३॥

विज्ञानी मुनि श्रेष्ठ भोजन कर के कुछ पुरानी कथा कहने लगे । दिन बीत जाने पर गुरु की आज्ञा पा कर दोनों भाई सन्ध्या करने चले ॥ ३ ॥

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा । सिय-मुख सरिस देखि सुख पावा ॥
बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं । सीय बदन सम हिमकर नाहीं ॥४॥

पूर्व दिशा में सुन्दर चन्द्रमा उदय हुए हैं, सीताजी के मुख के समान देख कर सुखी हुए । फिर मन में विचार किया कि चन्द्रमा सीताजी के मुख के बराबर नहीं है ॥ ४ ॥

दो०—जनम-सिन्धु पुनि बन्धु-बिष, दिन-मलीन सकलङ्क ।
सिय-मुख समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क ॥ २३७ ॥

इसका जन्म समुद्र से फिर हलाहल का भाई है, दिन में मलिन रहनेवाला और कलङ्की है । तब बेचारा दरिद्री चन्द्रमा सीता के मुख की बराबरी कैसे पा सकता है ? ॥ २३७ ॥

उपमान चन्द्रमा से उपमेय सीताजी के मुख में अधिक गुण वर्णन करना 'व्यतिरेक अलंकार' है । मुख के मोकाबिले में चन्द्रमा को बपुरा और कङ्गाल कह कर व्यर्थ ठहराना 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है । अलंकार प्रकाश के रचयिता ने इस दोहे में उदाहरण आर्थी का तृतीय भेद व्यतिरेक माना है और अलंकार मञ्जूषा के लेखक ने उसी का अनुकरण किया है । परन्तु मेरे विचार में यहाँ दोनों का सन्देहसङ्कर है ।

चौ०—घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज सन्धिहि पाई॥
कोक सोक-प्रद पङ्कज-द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥१॥

घटता बढ़ता है और वियोगियों को कष्टदायक है, अपनी सन्धि को पा कर राहु ग्रसता है। चकवा पक्षी को शोकदान करनेवाला और कमल का बैरी है, चन्द्रमा! तुझ में बहुत अवगुण हैं॥ १॥

बैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥
सिय-मुख-छबि बिधु ब्याज बखानी। गुरु पहिँ चले निसा बड़ि जानी॥२॥

विदेह-नन्दिनी के मुख की समानता देने में बड़ा अनुचित कर्म करने का दोष होगा। सीताजी के मुख की छवि चन्द्रमा के बहाने बखान कर रात अधिक बीती जान कर गुरु के पास चले॥ २

चन्द्रमा के बहाने सीताजी के मुख की शोभा वर्णन करना 'व्याजोक्ति अलंकार' है।

करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिस्रामा॥
बिगत निसा रघुनायक जागे। बन्धु बिलोकि कहन अस लागे॥३॥

मुनि के चरण-कमलों को प्रणाम कर के आज्ञा पा कर विश्राम किया। रात्रि बीतने पर रघुनाथजी जागे और भाई को देख कर ऐसा कहने लगे॥ ३॥

उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पङ्कज-कोक-लोक सुखदाता॥
बोले लखन जोरि जुग पानी। प्रभु-प्रभाव-सूचक मृदु बानी॥४॥

हे तात! देखिए, कमल, चकवा पक्षी और जगत् को सुख देनेवाले सूर्य्य उदय हुए हैं। लक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़ कर कोमल वाणी से प्रभु रामचन्द्रजी के प्रभाव को सूचित करनेवाले वचन बोले॥ ४॥

दो०—अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन जोति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बल हीन॥ २३८॥

जिस प्रकार सूर्य्योदय होने से कूँईबेरे का फूल सङ्कुचित हो गया और तारागणों की ज्योति फीकी पड़ गई। वैसे ही आप के आगमन को सुन कर राजा लोग बल से हीन हो गये हैं॥२३८॥

आप का आगमन सुन कर राजाओं का बलहीन होना उपमेय वाक्य है और सूर्य्योदय से कुमुदों का सकुचना तथा तरइयों का चमक-हीन होना उपमान वाक्य है। दोनों का एक धर्म निष्तेज होना समानार्थवाची शब्दों द्वारा अलग अलग कथन करना 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है।

चौ०-नृप सब नखत करहिँ उँजियारी । टारि न सकहिँ चाप तम भारी॥
कमल-कोक-मधुकर-खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ॥१॥

सब राजा तारागणों के समान उँजेला करते हैं, परन्तु धनुष रूपी भारी अन्धकार को वे नहीं हटा सकते । रात्रि का अन्त होने से कमल, चकवा, भ्रमर और नाना प्रकार के सब विहङ्ग आनन्दित हुए हैं ॥१॥

ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे । होइहहिँ टूटे धनुष सुखारे ॥
उयेउ भानु बिनु स्त्रम तम नासा । दुरे नखत जग तेज प्रकासा ॥२॥

हे प्रभो ! इसी तरह धनुष टूटने पर आप के सब भक्त सुखी होंगे । सूर्य्योदय से बिना परिश्रम ही अन्धकार नष्ट हो गया और नक्षत्र छिप गये, जगत् में कान्ति का प्रकाश हुआ ॥२॥

सूर्य्योदय कारण और तम का नाश होना कार्य्य साथ ही वर्णन 'प्रथम हेतु अलंकार' है । यहाँ एक सूर्य्योदय से बिना श्रम तम-नाश, तारागणों का छिपना और जगत् में तेज प्रकाशित होना 'कारक दीपक अलंकार' का सन्देहसङ्कर है ।

रबि निज उदय ब्याज रघुराया । प्रभु प्रताप सब नृपन्ह देखाया ॥
तव-भुज-बल-महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥३॥

हे रघुराज ! सूर्य्य उदय के बहाने आप का प्रताप सब राजाओं को दिखाया है । आप के भुजबल की महिमा उद्घाटित (प्रकाशित) करने के लिए धनुष तोड़ने की पद्धति निकली है ॥३॥

यहाँ लक्ष्मणजी का यह कहना कि सूर्य्य उदय हो कर अहने उदय के बहाने सब राजाओं को आप का प्रतापोदय दिखाता है । 'ब्याज' शब्द से और का और कहना 'कैतवापह्नुति अलंकार' है । उत्तरार्द्ध में रघुनाजीके भुजबल की अगाधता और धनुष की कठोरता का अनुमान कर के यह जान लेना कि धनुष आप ही तोड़ेंगे 'अनुमानप्रमाण अलंकार है । लक्ष्मण-जी को अभीष्ट तो है रामचन्द्रजी की भुजाओं का बल वर्णन करना, अपने इस अभिप्राय को सूर्य्योदय के बहाने प्रकट करने में 'द्वितीय पर्य्यायोक्ति अलंकार' है । इस प्रकार यहाँ सन्देह-सङ्कर है । उद्घाटन शब्द का पर्य्यायवाची--प्रकाशित करना, प्रकट करना, खोलना और उघाड़ना शब्द है । परिपाटी—'रीति, चाल, प्रणाली, शैली, पद्धति, क्रम, सिलसिला' को कहते हैं । शब्द के अनुकूल ऊपर अर्थ किया गया है । कोई कोई उद्घाटी को उदयाचल पर्वत कहते हैं ।

बन्धु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने । होइ सुचि सहज पुनीत नहाने ॥
नित्यक्रिया करि गुरु पहिँ आये । चरन-सरोज सुभग सिर नाये ॥४॥

भाई के वचन सुन कर प्रभु रामचन्द्रजी मुस्कुराये और जो स्वाभाविक पवित्र हैं-शौचादि से निवृत्त हो कर स्नान किया । नित्यकर्म कर के गुरु के पास आये और उनके सुन्दर चरण-कमलों में सिर नवाया ॥४॥

भाई की बात सुन कर मुस्कुराने से प्रसन्नता व्यञ्जित करने की ध्वनि है ।

सतानन्द तब जनक बोलाये । कौसिक मुनि पहिँ तुरत पठाये ।
जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई । हरषे बोलि लिये दोउ भाई ॥५॥

तब राजा जनक ने शतानन्दजी को बुलाया और विश्वामित्र मुनि के पास तुरन्त भेजा। उन्होंने आकर जनकजी की बिनती सुनाई, मुनि ने प्रसन्न हो कर दोनों भाइयों को बुला लिया ॥५॥

दो०—सतानन्द पद बन्दि प्रभु, बैठे गुरु पहिँ जाइ ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठयउ जनक बेलाइ ॥२३९॥

शतानन्दजी के चरणों की वन्दना करके प्रभु रामचन्द्रजी गुरु के पास बैठ गये। तब विश्वामित्र मुनि ने कहा—हे तात! जनकजी ने बुलावा भेजा है, चलिए ॥२३८॥

चौ०—सीय-स्वयम्बर देखिय जाई । ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥
लखन कहा जस भाजन सोई । नाथ-कृपा-तव जा पर होई ॥१॥

सीताजी का स्वयम्बर चल कर देखिए, न जाने ईश्वर किस को बड़ाई देगा? लक्ष्मणजी ने कहा—हे नाथ! जिस पर आपकी कृपा होगी, वही यश का पात्र होगा ॥ १ ॥

हरषे मुनि सब सुनि बर बानी । दीन्ह असीस सबहि सुख मानी ॥
पुनि मुनि-बृन्द-समेत कृपाला । देखन चले धनुष-मख-साला ॥ २ ॥

श्रेष्ठ वाणी सुन कर सब मुनि प्रसन्न हुए और सभी ने सुखी होकर आशीर्वाद दिया। फिर मुनि-मण्डली के सहित कृपालु रामचन्द्रजी धनुष-यज्ञशाला देखने के लिए चले ॥ २ ॥

रङ्गभूमि आये दोउ भाई । असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥
चले सकल गृह-काज बिसारी । बाल जुवान जरठ नर नारी ॥ ३ ॥

दोनों भाई रङ्गभूमि में आये, ऐसी ख़बर सब नगर-निवासियों को मिली। बालक, युवा और वृद्ध सब स्त्री-पुरुष गृह-कार्य्य भुला कर चले ॥ ३ ॥

देखी जनक भीर भइ भारी । सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिँ जाहू । आसन उचित देहु सब काहू ॥ ४ ॥

जनकजी ने देखा कि बड़ी भीड़ हुई, तब उन्होंने सब सच्चरित्र सेवकों को बुलवा लिया और कहा—तुरन्त सब लोगों के पास जाओ और सब को योग्य आसन दो ॥ ४ ॥

यहाँ 'शुचि' शब्द से सच्चरित्र, सदाचारी और सुचतुर व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

दो०—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि ।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ॥२४०॥

उन सेवकों ने नम्रता से कोमल वचन कह कर स्त्री-पुरुषों को बैठाया। उत्तम, मध्यम, नीच और लघु सब को अपने २ स्थान के अनुसार जगह दी ॥ २४० ॥

चौ०—राजकुँअर तेहि अवसर आये । मनहुँ मनोहरता तन छाये ॥
गुन-सागर नागर बर बीरा । सुन्दर स्यामल गौर सरीरा ॥१॥

उसी समय दोनों राजकुमार आये, वे ऐसे सुहावने मालूम होते हैं मानो शरीर पर मनोहरता टिकाये हों । सुन्दर, श्याम, गौर अङ्ग, गुणों के समुद्र, चतुर और अच्छे शूरवीर हैं ॥ १ ॥

राज-समाज बिराजत रूरे । उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ॥
जिन्ह कै रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥ २ ॥

राजाओं की मण्डली में सुन्दर शोभित हो रहे हैं, वे दोनों भाई ऐसे जान पड़ते हैं मानों तारागणों के बीच में दो पूर्ण-चन्द्रमा हों । जिनकी जैसी भावना थी, प्रभु रामचन्द्रजी की सूरत को उन्होंने वैसी ही देखी ॥ २ ॥

तारागणों के बीच चन्द्रमा शोभित होते ही हैं, परन्तु साथ में दो पूर्ण चन्द्र आकाश में उदय नहीं होते । यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । उत्तरार्द्ध में एक रामचन्द्रजी को बहुत से लोग भिन्न रूप में देखते हैं । यह 'प्रथम उल्लेख अलंकार' है । यही अलंकार प्रधान रूप से नीचे की चौपाई 'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोसलराऊ, पर्य्यन्त विद्यमान हैं । बीच में उत्प्रेक्षा, उदाहरण, उपमा भी इसके अङ्ग होकर आये हैं ।

देखहिँ भूप महा-रन-धीरा । मनहुँ बीररस धरे सरीरा ॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी । मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥ ३ ॥

बड़े बड़े रणधीर राजा देखते हैं, उन्हें ऐसा मालूम होता है मानों वीररस शरीर धारण किये हो । कुटिल राजा प्रभु रामन्द्रजी को देख कर डर गये, उन्हें ऐसा जान पड़ा मानों भयानक रस की भारी मूर्त्ति हो ॥ ३ ॥

रहे असुर छल छोनिप बेखा । तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई । नर-भूषन लोचन सुखदाई ॥ ४ ॥

जो दैत्य कपट से राजाओं के वेष में थे, उन्होंने प्रभु रामचन्द्रजी को प्रत्यक्ष काल [रौद्र-रस] के समान देखा । नगर-निवासियों ने दोनों भाइयों को मनुष्यों में भूषण और नेत्रों को सुख देनेवाले समझा ॥ ४ ॥

दो०—नारि बिलोकहिँ हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत सृङ्गार धरि, मूरति परम अनूप ॥२४१॥

स्त्रियाँ अपनी अपनी रुचि के अनुसार देख कर हृदय में प्रसन्न होती हैं । उन्हें ऐसा मालूम होता है मानों शृङ्गार रस ही अत्युत्तम अपूर्व रूप धारण किये हो ॥ २४१ ॥

चौ०-बिदुषन्ह प्रभु बिराट मय दीसा। बहु मुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिँ कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिँ जैसे॥१॥

पण्डितों ने प्रभु रामचन्द्रजी को विराट् रूप (वीभत्सरस) देखा कि बहुत से मुख, हाथ, पाँव, नेत्र और सिर हैं। जनकजी के कुटुम्बीजन किस तरह देखते हैं, जैसे सज्जन नातेदार (दामाद) प्यारे लगते हैं॥१॥

सहित बिदेह बिलोकहिँ रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥
जोगिन्ह परम-तत्व-मय भासा। सान्त-सुद्ध-सम सहज प्रकासा॥२॥

रानी सुनयना के सहित जनकजी बालक के समान (करुणारस-पूर्ण) देखते हैं, उनकी प्रीति बखानी नहीं जा सकती। योगियों को परम-तत्त्व (ब्रह्म) रूप शुद्ध शान्त (रस) के समान सहज ही प्रकाशमान भासित हुए॥२॥

हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख-दाता॥
रामहिँ चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिँ कथनीया॥३॥

हरिभक्तों ने दोनों भाइयों को सब सुख देनेवाले (अद्भुतरस) इष्टदेव के बराबर देखा। सीताजी जिस भाव से रामचन्द्रजी को देख रही हैं, उस स्नेह का सुख (हास्यरस) कहने योग्य नहीं है॥३॥

रामचन्द्रजी के भिन्न रूप दर्शन में प्रकट और सूक्ष्म रीति से काव्य के नवरसों का कवि ने दिग्दर्शन कराया है।

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥४॥

जो (सीताजी इस स्नेह-सुख का) अनुभव अपने हृदय में कर रही हैं वे भी नहीं कह सकतीं, तब कोई कवि किस प्रकार से कहेगा? जिसके हृदय में जैसी भावना थी, कोशलाधीश रामचन्द्रजी को उसने वैसा ही देखा॥४॥

जब अनुभव करनेवाली स्वयम् उस प्रेमानन्द का वर्णन नहीं कर सकतीं, तब कवि क्या चीज़ है जो कह सकेगा? अर्थात् नहीं कह सकता। यह 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

दो०-राजत राज-समाज महँ, कोसलराज-किसोर।
सुन्दर स्यामल गौर तनु, बिस्व-बिलोचन चोर॥२४२॥

अयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र संसार के नेत्रों को चुरानेवाले सुन्दर श्यामल गौर शरीर के राजाओं की मण्डली में शोभित हो रहे हैं॥२४२॥

रामचन्द्रजी विश्व भर के नेत्रों को प्रिय लगनेवाले हैं। यह न कह कर 'चोर' स्थापन करता अर्थात् और को और कहना 'सारोपा लक्षणा' है। 'चोर' शब्द में लक्षणा-मूलक अविव-

क्षितवाच्य ध्वनि है कि चोर दूसरे की सम्पत्ति आँख बचा कर चुराता है, पर ये भरी सभा में सब के सामने आँख ही चुरा लेते हैं। नेत्र चुराये जा नहीं सकते और चोरी होने पर धनी को दुःख होता है, किन्तु इस चोरी में उलटे धनी को आनन्द होता है।

चौ०–सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि-काम उपमा लघु सोऊ॥
सरद-चन्द-निन्दक मुख नीके। नीरज-नयन भावते जी के॥१॥

दोनों राजकुमारों का स्वाभाविक मनोहर रूप है, करोड़ों कामदेव की भी उपमा थोड़ी है। मुख शरदकाल के चन्द्रमा की निन्दा करनेवाला है सुन्दर कमल के समान नेत्र मन को सुहानेवाले हैं॥१॥

चितवनि चारु मार-मद-हरनी। भावति हृदय जाति नहिँ बरनी॥
कल-कपोल-स्रुति-कुंडल-लोला। चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला॥२॥

सुन्दर चितवन कामदेव के घमण्ड को हर लेती है, वह हृदय में सुहाती है परन्तु वर्णन नहीं की जा सकती। गाल शोभन और कानों के बाले चञ्चल हैं, ठुड्ढी, ओठ एवम् कोमल वाणी मनोहर है॥२॥

कुमुदबन्धु-कर-निन्दक हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥३॥

हँसी चन्द्रमा की किरणों को तिरस्कृत करनेवाली है, भौंहें टेढ़ी और नासिका मनोहर हैं। विशाल मस्तक पर तिलक झलक रहा है, बालों को देख कर भँवरों की पंक्तियाँ लज्जित होती हैं॥३॥

पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई। कुसुम-कली बिच बीच बनाई॥
रेखा रुचिर कम्बु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ॥४॥

पीले रङ्ग की चौगसी टोपियाँ मस्तकों पर सुहा रही हैं, उन पर बीच बीच में फूलों की कलियाँ बनाई (चित्रित की गई) हैं। गले में सुन्दर शङ्ख के समान श्रेष्ठ रेखाएँ मनोहर हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों तीनों लोकों के छवि की हद हों॥४॥

दो०–कुञ्जरमनि-कंठा-कलित, उरन्हि तुलसिका-माल।
बृषभ-कन्ध केहरि-ठवनि, बल-निधि बाहु बिसाल॥२४३॥

हृदयों पर सुन्दर गज-मोतियों का कण्ठा और तुलसी की माला शोभित है। बैल के समान कन्धा, सिंह की तरह चाल है, विशाल भुजाएँ बल की राशि हैं॥२४३॥

गजमोतियों की माला राजचिन्ह और तुलसी की मालाएँ मुनि-शिष्य सूचक चिन्ह हैं।

चौ०–कटि तूनीर पीत-पट बाँधे। कर-सर धनुष-बाम-बर काँधे॥
पीत-जज्ञउपबीत सोहाये। नख-सिख मञ्जु महाछबि छाये॥१॥

कमर में पीले वस्त्र से तरकस बाँधे, हाथ में बाण लिए, बाएँ कन्धे पर उत्तम धनुष और

पीत रंग का यज्ञोपवीत (जनेऊ) शोभायमान है। नख से चोटी पर्य्यन्त महान् सुन्दर छबि छाई हुई है ॥१॥

देखि लोग सब भये सुखारे । एकटक लोचन चलत न तारे ॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई । मुनि-पद-कमल गहे तब जाई ॥२॥

सब लोग देख कर प्रसन्न हुए. आँखें एकटक हो गईं, उनका सिलसिला छूटता नहीं है। दोनों भाइयों को देख कर जनकजी हर्षित हुए, तब उन्होंने जा कर मुनि के चरण-कमलों को पकड़ा (प्रणाम किया) ॥२॥

सभा की प्रति में 'एकटक लोचन-टरत न टारे' पाठ है। न कोई टारनेवाला है और न टारने की आवश्यकता ही है, इससे गुटका का पाठ उत्तम है।

करि बिनती निज कथा सुनाई । रङ्गअवनि सब मुनिहि देखाई ॥
जहँ जहँ जाहिँ कुँवर बर दोऊ । तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ ॥३॥

विनती कर के अपनी (कथा प्रतिज्ञा करने का वृत्तान्त) कह सुनायी, फिर सारी रङ्गभूमि मुनि को दिखाई। जहाँ जहाँ दोनों सुन्दर कुँवर जाते हैं, वहाँ वहाँ सब कोई आश्चर्य्य से देखते हैं ॥३॥

जनकजी ने कहा—हे मुनिराज ! मैं धनुष की नित्य पूजा करता हूँ। सदा वह स्थान सीता की माता लीपती थीं, तब धनुष के आस पास लीपा जाता था। एक दिन उसने कन्या को लीपने के लिए भेजा। सीता ने एक हाथ से धनुष उठा कर दूसरे हाथ से भूमि लीप कर धनुष रख दिया। जब मैं वहाँ गया तो बड़ा आश्चर्य्य हुआ। सीता की माता से पूछा, फिर कन्या ने स्वयम् सब वृत्तान्त कह सुनाया। उसी क्षण मैं ने प्रतिज्ञा की कि सीता का विवाह मैं उसी से करूँगा जो धनुष तोड़ डालेगा।

निज निज रुख रामहिँ सब देखा । कोउ न जान कछु चरित बिसेखा ॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ । राजा मुदित महा सुख लहेऊ ॥४॥

सब ने रामचन्द्रजी को अपनी अपनी ओर मुख किए देखा, पर इसका मुख्य भेद किसी ने कुछ नहीं जाना। विश्वामित्रजी ने राजा जनक से कहा-बहुत अच्छी रचना है, राजा प्रसन्न होकर बहुत ही सुखी हुए ॥४॥

एक रामचन्द्रजी जन-समूह में विराजमान हैं, मुख-मण्डल के सिवा उनका पृष्ठ भाग किसीको दिखाई नहीं पड़ता है और इस गुप्त रहस्य को कोई कुछ नहीं जानता 'अद्भुतरस' है।

दो०—सब मञ्चन्ह तेँ मञ्च एक, सुन्दर बिसद बिसाल ।
मुनि समेत दोउ बन्धु तहँ, बैठारे महिपाल ॥२४४॥

एक मञ्च सब मंचों से सुन्दर स्वच्छ और बड़ा था। राजा जनक ने मुनि के सहित दोनों भाइयों को उस पर बैठाया ॥२४४॥

चौ०—प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे । जनु राकेस उदय भये तारे ॥
अस प्रतीति सब के मन माहीं । राम चाप तोरब सक नाहीं ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर सब राजा हृदय में हार गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों चन्द्रमा के उगने पर तारागण हों । सब के मन में ऐसा विश्वास हो रहा है कि रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे इसमें सन्देह नहीं ॥१॥

चन्द्रमा के उदय से तारागणों की ज्योति मन्द होती ही है । यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । रघुनाथजी की शूरता की पेंड़ और प्रताप को देख कर अनुमान से यह निश्चय करना कि ये निस्सदेह धनुष तोड़ेंगे, 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है ।

बिनु भञ्जेहु भव-धनुष बिसाला । मेलिहि सीय राम उर माला ॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई । जस प्रताप बल तेज गँवाई ॥२॥

विशाल शिव-धनुष को बिना तोड़े ही सीताजी रामचन्द्र के हृदय में जयमाल पहिनावेंगी । हे भाई ! ऐसा विचार कर यश, प्रताप, बल और तेज खो कर अपने अपने घर जाते जाओ ॥ २ ॥

यश, प्रताप, बल और तेज अनेक उपमेयों का एक धर्म "गँवाना" वर्णन 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है ।

बिहँसे अपर भूप सुनि बानी । जे अबिबेक अन्ध अभिमानी ॥
तोरेहु धनुष ब्याह अवगाहा । बिनु तोरे को कुँवरि बियाहा ॥३॥

दूसरे राजा जो अज्ञान से अन्धे और घमण्डी हैं, वे इस बात को सुन कर हँसे । उन्होंने कहा—धनुष तोड़ने पर विवाह होना कठिन है, फिर बिना तोड़े कुमारी को कौन ब्याहेगा ? ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी का उत्कर्ष घमण्डी राजाओं को असहन होना और दर्प भरी बातें कहना 'असूया सञ्चारी भाव' है ।

एक बार कालहु किन होऊ । सिय हित समर जितब हम सोऊ ॥
यह सुनि अपर भूप मुसुकाने । धरमसील हरिभगत सयाने ॥४॥

एक बार काल ही क्यों न हो, सीता के निमित्त हम उसे भी लड़ाई में जीतेंगे । यह सुन कर अन्य जो धर्मात्मा, हरिभक्त और चतुर राजा हैं, वे मुस्कुराने लगे ॥ ४ ॥

मुस्कुराने में गर्वीले राजाओं के प्रति घृणा और तिरस्कार सूचक गुणीभूत व्यङ्ग है ।

सो०—सीय बियाहब राम, गरब दूरि करि नृपन्ह को ।
जीति को सक सङ्ग्राम, दसरथ के रन-बाँकुरे ॥२४५॥

साधुराजा बोले—राजाओं के गर्व को दूर कर के रामचन्द्रजी सीताजी को विवाहेंगे । भला ! दशरथजी के रणबाँके पुत्रों को युद्ध में कौन जीत सकता है ? ॥ २४५ ॥

चौ०—वृथा मरहु जनि गाल बजाई। मन-मोदकन्हि कि भूख बताई॥
सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदम्बा जानहु जिय सीता॥१॥

निरर्थक गाल बजा कर मत मरो, क्या मन के लड्डुओं से भूख बुझेगी? (कभी नहीं)। हमारी परमपवित्र शिक्षा सुन कर सीताजी को हृदय में जगन्माता जानो॥१॥

जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी।
सुन्दर सुखद सकल-गुन-रासी। ये दोउ बन्धु सम्भु-उर-बासी॥२॥

रघुनाथजी को जगत्पिता समझ कर आँख भर उनकी छवि देख लो। ये दोनों भाई सुन्दर, सुख देनेवाले सम्पूर्ण गुणों की राशि और शिवजी के मानस में निवास करनेवाले हैं॥२॥

सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृग-जल निरखि मरहु कत धाई॥
करहु जाइ जा कहँ जोइ भावा। हम तौ आजु जनम-फल पावा॥३॥

अमृत के समुद्र का पास छोड़ कर मृगजल (झूठे पानी) को देख दौड़ कर काहे को मरते हो? (जब सिखाने से गर्वी राजाओं ने अपनी अकड़ नहीं छोड़ी, तब साधुराजा बोले कि) जिसको जो अच्छा लगे वह जा कर वही करे, पर हमने तो आज जन्म का फल पा लिया॥३॥

रामचन्द्र की छबि देखो; सीता के पाने का व्यर्थ प्रयास मत करो, यह राजाओं के कहने का प्रस्तुत वृत्तान्त है इसे न कह कर केवल उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना कि पास में अमृत-सागर छोड़ कर मृगजल के लिए दौड़ कर क्यों मरते हो 'ललित अलंकार' है।

अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे॥
देखहिँ सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिँ सुमन करहिँ कल गाना॥४॥

ऐसा कह कर अच्छे राजा प्रेम से अनुपम रूप निहारने लगे। देवता विमानों में चढ़े आकाश से कुतूहल देख रहे हैं, वे फूल बरसाते और सुन्दर गान करते हैं॥४॥

दो०—जानि सुअवसर सीय तब, पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखी सुन्दर सकल, सादर चलीँ लेवाइ॥२४६॥

तब अच्छा समय समझ कर जनकजी ने सीताजी को बुलवा भेजा। सब सुन्दर चतुर सखियाँ आदर से लिवा कर चलीं॥२४६॥

चौ०—सिय सोभा नहिँ जाइ बखानी। जगदम्बिका रूप-गुन-खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अङ्ग अनुरागी॥१॥

सीताजी की शोभा बखानी नहीं जा सकती, वे जगत् की माता, रूप और गुणों की खानि हैं। मुझे सारी उपमाएँ छोटी लगती हैं, क्योंकि वे मामूली स्त्रियों के अंगों की प्रेमिनी हैं अर्थात् कवियों ने उन्हें जूठी कर रक्खी है॥१॥

सीताजी की छबि बखानी नहीं जा सकती, इस बात का युक्ति के समर्थन करना कि वे जगन्माता, रूप और गुणों की खान हैं 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

सीय बरनि तेहि उपमा देई । कुकबि कहाइ अजस को लेई ॥
जौँ पटतरिय तीय महँ सीया । जग असि जुबति कहाँ कमनीया ॥२॥

सीताजी के वर्णन में इन उपमाओं को दे कर कुकवि कहा कर कौन अयश लेवे ? यदि स्त्रियों में सीताजी का पटतर दें, तो जगत् में ऐसी सुन्दर स्त्री कहाँ है ? ॥२॥

गुटका में 'जौं पटतरिय तीय सम सीया' पाठ है ।

गिरा-मुखर तनु-अरध-भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥
बिष-बारुनी-बन्धु प्रिय जेही । कहिय रमा सम किमि बैदेही ॥३॥

सरस्वती बहुत बोलने वाली, पार्वती अर्द्धाङ्गिनी हैं और बिना शरीर का पति जान कर रति बहुत दुखित रहती है । जिसका प्यारा भाई विष और मद्य है, फिर लक्ष्मी के समान विदेह-नन्दिनी को कैसे कहा जाय ? ॥३॥

जौँ छबि-सुधा-पयोनिधि होई । परम-रूप-मय कच्छप सोई ॥
सोभा-रजु मन्दर-सिङ्गारू । मथइ पानि पङ्कज निज मारू ॥४॥

यदि छवि रूपी अमृत का समुद्र हो और अत्युत्तम आकार रूप वही कछुआ हो । शोभा रस्सी हो और शृंगार मन्दर पर्वत हो, अपने कर-कमलों से कामदेव मथे ॥४॥

छवि, परम-रूप शोभा और श्रृङ्गार ये चारों छवि ही के रूपान्तर पर्यायी शब्द हैं । एक ही वस्तु को समुद्र, कच्छप, रस्सी और मथानी वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है । यह उल्लेख सम्भावना का अङ्गी है ।

दो०—एहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुन्दरता सुख-मूल ।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिँ सीय समतूल ॥२४७॥

जब इस तरह सुन्दरता और सुख की मूल लक्ष्मी उत्पन्न हो, तब भी संकोच से सीताजी की बराबरी में कवि लोग कहते हैं ॥२४७॥

यदि ऐसी लक्ष्मी उत्पन्न हो तो भी लजाते हुए सीताजी की समानता में कवि कह सकेंगे 'सम्भावना अलंकार' है । सरस्वती, पार्वती, रति की अपेक्षा सीताजी की शोभा बहुत बढ़ कर कही गई । व्यङ्गार्थ द्वारा व्यतिरेक अलंकार की विवक्षितवाच्य ध्वनि है ।

चौ०—चलीँ सङ्ग लइ सखी सयानी । गावत गीत मनोहर बानी ॥
सोह नवल-तनु सुन्दर सारी । जगत जननि अतुलित छबि भारी ॥१॥

चतुर सखियाँ मनोहर वाणी से गीत गाती हुई (सीताजी को) साथ में ले कर चलीं । उनके नवीन (युवा) शरीर पर सुन्दर साड़ी शोभित है और जगत् की माता जानकीजी की अपार छवि है (उसका वर्णन नहीं हो सकता) ॥१॥

यहाँ शृङ्गाररस प्रधान और शान्त रस उसका आश्रित होने से 'रससंकर' है। अतुलित शब्द से वर्णन की असकता और जगत्-जननि से माता का शृङ्गार कहने में असमञ्जस व्यञ्जित करने की ध्वनि है। इस चौपाई में भी लोग बहुत प्रकार के अर्थ घुमाव फिराव कर कहते हैं।

भूषन सकल सुदेस सुहाये। अङ्ग अङ्ग रचि सखिन्ह बनाये।
रङ्गभूमि जब सिय पग धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥२॥

सम्पूर्ण आभूषण सुहावने समयानुकूल प्रत्येक अंगों में सज कर सखियों ने पहिनाया है। जब सीताजी ने रंगशाला में पाँव रक्खा, तब उनके रूप को देख कर स्त्री पुरुष सब मोहित हो गये॥२॥

हरषि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई॥
पानि-सरोज सोह जयमाला। अवचट चितये सकल भुआला॥३॥

देवताओं ने हर्षित होकर नगाड़े बजाये और फूल बरसा कर अप्सराएँ गान करती हैं। सीताजी के कर-कमलों में जयमाल शोभित है, अचक्के में उन्होंने सब राजाओं की ओर देखा॥३॥

सीय चकित चित रामहिँ चाहा। भये मोह-बस सब नरनाहा॥
मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥४॥

सीताजी ने विस्मित चित्त से रामचन्द्रजी को देखना चाहा, (उनकी चितवन से) सब राजा मोह के वश में हो गये। दोनों भाइयों को विश्वामित्र मुनि के पास देख कर आँखें ललक कर इस तरह जा लगीं मानों अपनी सम्पत्ति पा गई हों॥४॥

दो०—गुरुजन लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि॥
लगी बिलोकन सखिन्ह तन, रघुबीरहि उर आनि॥२४८॥

उस बड़े समाज को देख कर गुरुजनों की लाज से सीताजी सकुचा गईं। रघुनाथजी को हृदय में ला कर सखियों की ओर निहारने लगीं॥२४८॥

बड़ों की लज्जा से हार्दिक प्रेम छिपाने के लिए चतुराई-पूर्वक सखियों की ओर देखना 'अवहित्थ सञ्चारी भाव' है।

चौ०—राम रूप अरु सियछबि देखे। नर नारिन्ह परिहरी निमेखे॥
सोचहिँ सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिँ मन माहीं॥१॥

रामचन्द्रजी का रूप और जानकीजी की छबि देख कर स्त्री-पुरुषों का पलक गिरना बन्द हो गया। सब सोचते हैं और कहने में सकुचाते हैं, मन में विधाता से बिनती करते हैं॥१॥

क्यों सोचते सकुचाते हैं? यह नीचे की चौपाइयों में स्पष्ट किया गया है।

हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई । मति हमारि असि देहि सुहाई ॥
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू । सीय राम कर करइ बियाहू ॥ २ ॥

हे ब्रह्मा! जनक की मूर्खता को जल्दी दूर कर के हमारी ऐसी सुहावनी बुद्धि दीजिए, जिसमें बिना विचारे प्रतिज्ञा छोड़ कर राजा सीता और रामचन्द्रजी का विवाह करें ॥२॥

जग भल कहिहि भाव सब काहू । हठ कीन्हे अन्तहु उर दाहू ॥
एहि लालसा मगन सब लोगू । बर साँवरो जानकी जोगू ॥ ३ ॥

संसार अच्छा कहेगा और सबको यह पसन्द है, हठ करने से अन्त को हृदय में ताप ही होगा। सब लोग इसी लालसा में मग्न हैं कि श्यामल वर जानकी के ही योग्य है ॥३॥

तब बन्दीजन जनक बोलाये । बिरदावली कहत चलि आये ॥
कह नृप जाइ कहहु पन मोरा । चले भाट हिय हरष न थोरा ॥४॥

तब जनकजी ने बन्दीजनों को बुलवाया, वे नामवरी बखानते हुए चल कर आये। राजा ने कहा-जा कर मेरी प्रतिज्ञा सब को सुना दो, भाट चले; उनके मन में बड़ा हर्ष हुआ ॥४॥

'हरष न थोरा' इस श्लिष्ट शब्द द्वारा कविजी एक और गुप्त अर्थ खोल कर कहते हैं कि भाट लोग राजाज्ञा के अनुसार प्रतिज्ञा सुनाने चले, पर उनके हृदय में थोड़ा भी हर्ष नहीं है। भाट भी तो जनकपुर निवासी हैं, उनकी लालसा भी पुर के लोगों की तरह है पर राजाज्ञा प्रचार करने के लिए विवश हैं। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

दो०—बोले बन्दी बचन बर, सुनहु सकल महिपाल ।
पन बिदेह कर कहहिँ हम, भुजा उठाइ बिसाल ॥ २४९ ॥

वे बन्दीजन श्रेष्ठ बचन बोले—हे सम्पूर्ण राजा महाराजाओ! सुनिए, हम अपनी विशाल भुजाओं को उठा कर विदेह की प्रतिज्ञा कहते हैं ॥२४९॥

'विदेह' शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि कोई देही ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता जैसी विदेह ने की है।

चौ०—नृप-भुजबल-बिधु सिव-धनु-राहू । गरुअ कठोर बिदित सब काहू ॥
रावन बान महाभट भारे । देखि सरासन गवँहिँ सिधारे ॥१॥

राजाओं के बाहुबल रूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिए शिवजी का धनुष राहु रूप गरुआ और कठिन सबको विख्यात है। बड़े भारी योद्धा रावण और बाणासुर धनुष को देख कर गँव से चले गये (धनुष छूने तक का साहस नहीं किया) ॥१॥

इसकी गुरुता और कठोरता सब पर जाहिर है, जिसको देख कर रावण और बाणासुर जैसे महाबली जगत्प्रसिद्ध योद्धा ढङ्ग से सिधार गये तोड़ने की हिम्मत नहीं की 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा। राज-समाज आजु जेइ तोरा॥
त्रिभुवन-जय-समेत बैदेही। बिनहिँ बिचार बरइ हठि तेही॥२॥

वही शिवजी के कठोर धनुष को आज जो कोई राज-समाज में तोड़ेगा, तीनों लोकों की विजय सहित जानकी को उसके साथ बिना विचारे ही हठ से ब्याह देंगे॥ २॥

त्रिलोकी-विजय और जानकी दोनों का साथ ही वरण 'सहोक्ति अलंकार' है। 'बिना विचारे ही हठ से कन्या ब्याह देंगे' इन वाक्यों में राजा जनक की प्रतिज्ञा की निन्दा व्यंजित होना गूढ़ व्यङ्ग है।

सुनि पन सकल भूप अभिलाखे। भट मानी अतिसय मन माखे॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिर नाई॥३॥

प्रतिज्ञा सुन कर सम्पूर्ण राजा उत्कण्ठित हुए, अभिमानी योद्धा मन में अत्यन्त भखा गये। फेंटा बाँध कर उतावली से उठे और इष्टदेवों को सिर नवा कर चले॥ ३॥

अभिलाषा धनुष तोड़ने और जानकी प्राप्त करने की हुई। मानी भट इसलिए नाराज हुए कि यह कौन सी वीरता का काम है जिसके लिए बन्दीजनों ने इतने कड़े शब्द कहे हैं। अकुलाई शब्द में लक्षणा-मूलक व्यङ्ग है कि कहीं ऐसा न हो मैं धनुष तक न पहुँचने पाऊँ और कोई तोड़ डाले। 'इष्टदेवन्ह सिर नाई' इस श्लिष्ट शब्द द्वारा कविजी एक गुप्त अर्थ खोल कर कहते हैं कि जब राजा लोग धनुष तोड़ने चले तब उनके इष्टदेवों ने सिर नीचा कर लिया, वे समझ गये कि आज इसने मेरी मर्य्यादा को धूल में मिलाया, यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

तमकि ताकि तकि सिव-धनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं॥
जिन्ह के कछु बिचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥४॥

क्रोध से देख कर और निगाह जमा कर शिवजी के धनुष को पकड़ते हैं, करोड़ों तरह का बल करते हैं पर वह उठता नहीं। जिन राजाओं के मन में कुछ विचार है, वे धनुष के पास नहीं जाते हैं॥ ४॥

कारण विद्यमान रहते कार्य्य का न होना अर्थात् बड़े बड़े योद्धा राजा धनुष तोड़ने के लिए जोर लगा रहे हैं, पर टूटना तो दूर रहा वह हिलता तक नहीं 'विशेषोक्ति अलंकार' है।

दो०—तमकि धरहिँ धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहिँ लजाइ।
मनहुँ पाइ भट बाहु बल, अधिक अधिक गरुआइ॥ २५०॥

मूर्ख राजा गुस्से से धनुष को पकड़ते हैं, वह उठता नहीं तब लजा कर चले आते हैं। ऐसा मालूम होता है कि मानों योद्धाओं के बाहु-बल को पा कर वह (धनुष) अधिक अधिक गरुआ होता जाता है॥ २५०॥

धनुष स्वतः गरुआ और कठिन है जिसको कोई भट हिला नहीं सकता; किन्तु राजाओं के भुजबल से गरू नहीं होता है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

चौ०-भूप सहस-दस एकहि बारा । लगे उठावन टरइ न टारा ॥
डगइ न सम्भु सरासन कैसे । कामी बचन सती मन जैसे ॥१॥

दस सहस्र राजा एक ही बार धनुष उठाने के लिए लगे, पर वह उनके हटाये हटता नहीं। शिवजी का धनुष कैसे नहीं हिलता है, जैसे कामी-पुरुषों के वचन से सती स्त्रियों का मन नहीं डगता ॥ १ ॥

शङ्का—(१) दस हज़ार राजा एक साथ उठाने लगे, यदि धनुष टूट जाता तो जानकीजी किसे ब्याही जातीं ?। (२) धनुष की लम्बाई चौड़ाई युग के अनुसार मनुष्यों की आकृति के अनुकूल रही होगी। यदि दस हज़ार राजा साथ ही एक एक उँगली रखते तो भी नहीं अँट सकते थे, फिर सब एक साथ उठाने को कैसे लग गये ?। (३) यदि यह कहा जाय कि एक ही दिन में बारी बारी कर के दस हज़ार लगे तो बारह घण्टे का दिन होता है और एक घण्टे में साठ मिनिट। बारह घण्टे के कुल ७२० मिनिट हुए। एक एक राजा के लिए चौथाई मिनिट का समय माना जाय तो दिन भर में ज्यों त्यों तीन हज़ार लग सकते थे, फिर दस सहस्र की संख्या कैसे आ सकता है ?। समाधान—(१) दसों हज़ार में युद्ध होता, अन्त में जो बचता उसके साथ जानकीजी का विवाह होता।(२) यह कार्य्य बिना किसी उपाय के होना असम्भव था, कोई जञ्जीर आदि लगा कर दस हज़ार राजाओं का एक साथ लगना सम्भव हो सकता है। (३) एक दिन में दस दस बीस बीस राजा साथ में बारी बारी कर के लगें तो इस प्रकार दिन में दस हज़ार की संख्या पूरी हो सकती है। इस चौपाई पर विद्वानों ने बहुत से तर्क वितर्क किये हैं, उन सब का उल्लेख करना बड़े विस्तार का कारण होगा।

सब नृप भये जोग उपहासी । जैसे बिनु बिराग सन्यासी ॥
कीरति बिजय बीरता भारी । चले चाप कर बरबस हारी ॥ २ ॥

सब राजा हँसी (निन्दा) के योग्य हुए, जैसे बिना वैराग्य के सन्यासी निन्दनीय होता है। कीर्त्ति, विजय, बड़ी वीरता धनुष के हाथ जोरावरी से हार कर चले ॥२॥

स्रीहत भये हारि हिय राजा । बैठे निज निज जाइ समाजा ॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने । बोले बचन रोष जनु साने ॥३॥

राजा लोग हृदय में हार कर तेज-हीन हो गये और अपनी अपनी मण्डली में जा कर बैठे। राजाओं को देख कर जनकजी घबरा गये और वचन बोले, उनके वचन ऐसे मालूम होते हैं मानों क्रोध से सने हों ॥३॥

दीप दीप के भूपति नाना । आये सुनि हम जो पन ठाना ॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आये रनधीरा ॥ ४ ॥

हमने जो प्रतिज्ञा ठानी है उसको सुनकर द्वीप द्वीप के असंख्यों राजा आये। देवता, दैत्य मनुष्य-देह धारण कर बहुत से रणधीर वीर आये हैं ॥४॥

दो०—कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि, कीरति अति-कमनीय ।
पावनिहार बिरञ्चि जनु, रचेउ न धनु-दमनीय ॥२५१॥

सुन्दर कुँवरि, बड़ी विजय और अतिशय रमणीय कीर्त्ति का पानेवाला वही होगा जो धनुष को तोड़ेगा। पर मुझे ऐसा मालूम होता है कि विधाता ने धनुष को क़ाबू में करनेवाला किसी को बनाया ही न हो ॥२५१॥

राजा कुँवरि को मनोहर कहने में कन्या का शृङ्गार वर्णन कह कर कुछ लोग आक्षेप करते हैं। राजा ने शृङ्गार तो वर्णन नहीं किया 'सुन्दर कन्या' कहना शृङ्गार कथन कैसे कहा जायगा ? यह साधारण बोलचाल की भाषा है।

चौ०—कहहु काहि यह लाभ न भावा । काहु न सङ्कर-चाप चढ़ावा ॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई । तिल भर भूमि न सकेउ छुड़ाई ॥१॥

कहिए तो, यह लाभ किस को अच्छा नहीं लगा जो किसी ने शङ्कर-चाप को नहीं चढ़ाया ? भाइयो! चढ़ाना और तोड़ना दूर रहे, आप लोग तिल भर धरती नहीं छुड़ा सके ॥ १ ॥

शिव-धनु को उठाने और तोड़ने की सब राजाओं को प्रबल उत्कण्ठा थी, इस सही बात को राजा का नहीं कर जाना 'काकुाक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग' है।

अब जनि कोउ माखइ भट मानी । बीर-बिहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू । लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू ॥२॥

अब कोई सम्मान चाहनेवाला योद्धा नाराज़ न हो, मैंने धरती बिना वीर की समझ ली। आप लोग आसरा छोड़ कर अपने अपने घर जाइए, विधाता ने वैदेही का विवाह नहीं लिखा (दैवयोग पर वश नहीं) ॥ २ ॥

सुकृत जाइ जौँ पन परिहरऊँ । कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ ॥
जौँ जनतेउँ बिनु भट भुँइ भाई । तौ पन करि होतेउँ न हँसाई ॥३॥

यदि प्रतिज्ञा को छोड़ता हूँ तो सुकृत चला जाता है, कुमारी कुमारी रह जाय तो मैं क्या कर सकता हूँ ? जो जानता कि हे भाई! पृथ्वी बिना वीर की हुई है तो हँसने योग्य प्रण कर के दिल्लगी के योग्य न बनता ॥ ३ ॥

जनक बचन सुनि सब नर नारी । देखि जानकिहि भये दुखारी ॥
माखे लखन कुटिल भइ भौँहैं । रद-पट फरकत नयन रिसौहैं ॥४॥

जनकजी के वचन सुन कर और जानकीजी को देख कर सब स्त्री-पुरुष दुखी हुए। लक्ष्मणजी क्रोधित हो गये, भौंहें टेढ़ी हो गईं, ओंठ फड़कने लगे और आँखें गुस्से से लाल हो गईं ॥ ४ ॥

लक्ष्मणजी के हृदय में क्रोध स्थायी भाव है । जनकजी के द्वारा कही भाटों की वाणी आलम्बन विभाव है । उसका कानों में पड़ना उद्दीपन विभाव है । रामचन्द्रजी का तिरस्कार सुन कर मखाना, भौंह टेढ़ी होना, ओंठ फड़कना आदि अनुभाव हैं वह चपलता, अमर्ष, उग्रतादि सञ्चारी भावों से पुष्ट हो कर 'रौद्ररस' हुआ है ।

दो०--कहि न सकत रघुबीर डर, लगे बचन जनु बान ।
नाइ राम-पद-कमल सिर, बोले गिरा प्रमान ॥२५२॥

रघुनाथजी के डर से कुछ कह नहीं सकते, पर जनकजी के वचन मानों बाण लगे हों । रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में सिर नवा कर यथार्थ वचन बोले ॥ २५२ ॥

चौ०--रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहइ न कोई ॥
कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुल-मनि जानी ॥१॥

रघुवंशियों में जहाँ कोई होता है, उस समाज में ऐसा कोई नहीं कहता, जैसी रघुकुल-मणि रामचन्द्रजी को उपस्थित जान कर जनकजी ने अनुचित बात कही है ॥ १ ॥

सुनहु भानुकुल-पङ्कज भानू । कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू ॥
जौं तुम्हार अनुसासन पावउँ । कन्दुक इव ब्रह्मांड उठावउँ ॥२॥

हे सूर्य्यकुल-कमल के दिवाकर ! सुनिए, कुछ अभिमान नहीं स्वभाव से कहता हूँ । यदि आप की आज्ञा पाऊँ तो गेंद के बराबर पृथ्वी को उठा लू ॥ २ ॥

काँचे घट जिमि डारउँ फोरी । सकउँ मेरु मूलक इव तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ॥३॥

कच्चे घड़े की तरह फोड़ डालूँ, सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ । भगवन् ! आपके प्रताप की महिमा के सामने वेचारा पुराना पिनाक धनुष क्या है ? ॥ ३ ॥

जब धरती को कच्चे घड़े के समान फोड़ सकता हूँ और सुमेरु को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ, तब पुराना वपुरा धनुष क्या चीज़ है ? वह तो टूटा टुटाया है 'काव्यार्थापत्ति अलंकार है और जनकजी के अनुचित दर्प भरे वचनों के प्रतिकार की उत्कट इच्छा प्रदर्शित करना 'अमर्ष सञ्चारीभाव' है ।

नाथ जानि अस आयसु होई । कौतुक करउँ बिलोकिय सोई ॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ । जोजन सत प्रमान लेइ धावउँ ॥४॥

हे नाथ ! ऐसा समझ कर आज्ञा हो तो मैं खेल करूँ । उसको आप देखिए । कमल की डण्ठी की तरह धनुष को चढ़ाऊँ और सौ योजन पर्य्यन्त उसे ले कर दौड़ जाऊँ ॥ ४ ॥

दो०--तोरउँ छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ ।
जौं न करउँ प्रभु-पद सपथ, कर न धरउँ धनु भाथ ॥२५३॥

हे नाथ ! आप के प्रताप के बल से इसको मैं कुकुरमुत्ता के डण्ठल की तरह तोड़ूँगा । यदि ऐसा न करूँ तो स्वामी के चरण की सौगन्ध कर कहता हूँ कि धनुष और बाण हाथ में न धारण करूँगा ॥२५३॥

'कर' के संयोग से 'भाथ' यद्यपि तरकस को कहते हैं, पर यहाँ बाण ही की अभिधा पाई जाती है, श्रोण की नहीं।

चौ०–लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
सकल लोक सब भूप डेराने। सिय हिय हरष जनक सकुचाने॥१॥

जब लक्ष्मणजी क्रोध से वचन बोले, तब पृथ्वी डगमगा गई और दिशा के हाथी काँपने लगे। समस्त लोग और सब राजा डर गये, सीताजी के हृदय में हर्ष हुआ और जनकजी लज्जित हुए ॥१॥

एक लक्ष्मणजी के क्रोध से वचन बोलने पर पृथ्वी का डगना, दिग्गजों का हिलना, लोग और राजाओं का डरना, जानकीजी का प्रसन्न होना, जनक का लजाना विरोधी कार्य्यों का प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं॥
सयनहिँ रघुपति लखन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥२॥

गुरु विश्वामित्रजी, रघुनाथजी और सब मुनि मन में प्रसन्न हुए, वे बार बार पुलकित हो रहे हैं। रामचन्द्रजी ने इशारे से लक्ष्मणजी को मना करके प्रेम के साथ पास में बैठा लिया॥२॥

गुरु, रघुपति और मुनि-समूह अनेक उपमेयों का एक ही धर्म पुलकित हो मन में आनन्दित होना कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है।

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति-सनेह-मय बानी॥
उठहु राम भञ्जहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा॥३॥

विश्वामित्रजी अच्छा समय जान कर अत्यन्त स्नेह भरी वाणी से बोले। तात रामचन्द्र! उठिए, शिवजी के धनुष को तोड़ कर जनक का दुःख मिटाइये ॥३॥

सुनि गुरु बचन चरन सिर नावा। हरष बिषाद न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये। ठवनि जुबा मृगराज लजाये॥४॥

गुरु के वचन सुन कर उनके चरणों में सिर नवाया, हर्ष-विषाद कुछ भी मन में नहीं हुआ। सहज स्वभाव से उठ कर खड़े हुए, उनकी चाल पर युवा सिंह लज्जित हो जाता है ॥४॥

दो०–उदित उदय-गिरि मञ्च पर, रघुबर बाल-पतङ्ग।
बिकसे सन्त सरोज सब, हरषे लोचन-भृङ्ग॥ २५४॥

मञ्च रूपी उदयाचल पर रघुनाथजी रूपी बाल-सूर्य्य के उदय (खड़े) होने से सब सन्त रूपी कमल खिल उठे और नेत्र रूपी भ्रमर प्रसन्न हुए ॥२५४॥

मञ्च पर उदयाचल का आरोप, रघुनाथजी पर बालसूर्य, सन्त-मण्डली पर कमल का और सन्तों के नेत्रों पर भ्रमर का आरोपण 'परम्परित रूपक अलंकार' है। आगे चल कर कवि ने सूर्य्योदय पर साङ्ग रूपक बाँधा है।

चौ०—नृपन्ह केरि आसा निसि नासी । बचन नखत अवलीन प्रकासी ॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने । कपटी भूप उलूक लुकाने ॥ १ ॥

राजाओं की आशा रूपी रात्रि नष्ट हो गई, उनके वचन रूपी तारावली का प्रकाश नहीं रह गया। कुमुद रूपी अभिमानी राजा लज्जित हुए और उल्लू रूपी कपटी राजा छिप गये॥१॥

भये बिसोक कोक मुनि देवा । बरषहिँ सुमन जनावहिँ सेवा ॥
गुरु-पद बन्दि सहित अनुरागा । राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥२॥

चकवा रूपी मुनि और देवता शोक रहित हुए, वे फूल बरसा कर सेवा जनाते हैं। रामचन्द्रजी ने प्रेम के साथ गुरुजी के चरणों की बन्दना करके मुनियों से आज्ञा माँगी॥२॥

सहजहि चले सकल जग स्वामी । मत्त मञ्जु बर कुञ्जर-गामी ॥
चलत राम सब पुर नर नारी । पुलक-पूरि-तन भये सुखारी ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण जगत के स्वामी सहज ही सुन्दर श्रेष्ठ मतवाले हाथी के समान धीमी चाल से चले। रामचन्द्रजी के चलने पर नगर के सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए और प्रेम से उनके शरीर पुलकित हो गये॥३॥

बन्दि पितर सुर सुकृत सँभारे । जौँ कछु पुन्य प्रभाउ हमारे ॥
तौ सिव धनु मृनाल की नाँईं । तोरहिँ राम गनेस गोसाँईं ॥ ४ ॥

पितर और देवताओं की वन्दना करके अपने सुकृतों का स्मरण किया कि यदि हमारे पुण्य में कुछ भी प्रभाव हो तो; हे गणेश गोसाईं ! रामचन्द्रजी शिवजी के धनुष को कमल-नाल की तरह तोड़ डालें॥४॥

सभा की प्रति में 'बन्दि पितर सब सुकृत सँभारे' पाठ है।

दो०—रामहिँ प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ ।
सीता-मातु सनेह-बस, बचन कहइ बिलखाइ ॥ २५५ ॥

सीताजी की माता रामचन्द्रजी को प्रेम से देख कर और सखियों को समीप में बुला कर स्नेह के अधीन हो बिलखा कर (करुणा-पूर्वक) वचन कहने लगीं॥२५५॥

यहाँ रामचन्द्रजी की सुकुमारता और धनुष की कठोरता देख कर अनिष्ट की आशङ्का से सुनयना रानी के हृदय में जो दुःख हुआ 'दैन्य सञ्चारीभाव है'।

चौ०—सखि सब कौतुक देखनिहारे । जेउ कहावत हितू हमारे ॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं । ये बालक अस हठ भल नाहीं ॥१॥

हे सखी ! जो हमारे हितू कहाते हैं, वे सब तमाशा देखनेवाले हुए हैं। कोई राजा को समझा कर नहीं कहता कि ये बालक हैं, ऐसा हठ अच्छा नहीं है॥१॥

रावन बान छुआ नहिँ चापा । हारे सकल भूप करि दापा ॥
सो धनु राजकुँअर कर देहीँ । बाल मराल कि मन्दर लेहीँ ॥२॥

जिसको रावण और बाणासुर ने नहीं छुआ, सब राजा घमण्ड कर के हार गये । वह धनुष राजकुमार के हाथ में देते हैं, क्या हंस का बच्चा मन्दराचल उठा सकता है? (कदापि नहीं)॥२॥

यहाँ कहना तो यह है कि राजकुमार धनुष नहीं तोड़ सकते । इस प्रस्तुत वृत्तान्त को न कह कर केवल उसका प्रतिबिम्ब मात्र कथन 'ललित अलंकार' है ।

भूप सयानप सकल सिरानी । सखि बिधिगति कछु जाति न जानी ॥
बोली चतुर सखी मृदु बानी । तेजवन्त लघु गनिय न रानी ॥३॥

राजा की सारी चतुराई समाप्त हो गई ! हे सखी ! विधाता की गति जानी नहीं जाती । यह सुनकर चतुर सखी कोमल वाणी से बोली—हे रानी ! तेजस्वियों को छोटा न समझना चाहिए ॥३॥

रामचन्द्रजी के कोमल शरीर को देख कर सुनयना के मन में धनुष न टूटने की शङ्का का भ्रम हुआ, उसको सच्चे उदाहरणों द्वारा सखी का दूर करना 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है ।

कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा । सोखेउ सुजस सकल संसारा ॥
रबिमंडल देखत लघु लागा । उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ॥४॥

कहाँ घड़ा से उत्पन्न अगस्त्य मुनि और कहाँ अपार समुद्र ! उन्हों ने सोख लिया उनका सुयश सारा संसार जानता है । सूर्य्य-मंडल देखने में छोटा लगता है, उनके उदय से तीनों लोकों का अन्धकार भाग जाता है ॥ ४ ॥

यह व्यञ्जित होना कि रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है । अगस्त्यमुनि एक बार समुद्र में स्नान कर किनारे पर पूजा करने बैठे । इतने में लहर आई और पूजन सामग्री को बहा ले गई । मुनि ने क्रोध कर तीन ही आचमन में समुद्र का जल सोख लिया, फिर देवताओं की प्रार्थना पर पेशाब कर के भर दिया । इसी से समुद्र का जल खारा हो गया । अगस्त्य मुनि के उत्पत्ति का वृत्तान्त इसी कांड के दूसरे दोहे के आगे दूसरी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखो ।

दो०—मन्त्र परम-लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब ।
महा मत्त गजराज कहँ, बस कर अङ्कुस खर्ब ॥२५६॥

मन्त्र बहुत ही छोटे होते हैं, जिसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सभी देवता हैं । महा मतवाले गजेन्द्र को छोटा सा अङ्कुश वश में कर लेता है ॥२५६॥

लघु मन्त्र और अङ्कुश अपूर्ण कारण हैं, उनसे देवता और मस्त हाथी का वश में होना अर्थात् अपूर्ण कारण से कार्य का पूर्ण होना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है ।

चौ०—काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हे । सकल भुवन अपने बस कीन्हे ॥
देबि तजिय संसय अस जानी । भञ्जब धनुष राम सुनु रानी ॥१॥

कामदेव ने फूल का धनुष-बाण लेकर समस्त भुवन को अपने वश में कर लिया है । हे देवि ! ऐसा समझ कर सन्देह त्याग दीजिए, रानीजी ! सुनिए, रामचन्द्र धनुष तोड़ेंगे ॥१॥

सखी बचन सुनि भइ परतीती । मिटा बिषाद बढ़ी अति प्रीती ॥
तब रामहिँ बिलोकि बैदेही । सभय हृदय बिनवति जेहि तेही ॥२॥

सखी की बात सुन कर विश्वास हुआ, विषाद मिट गया और अत्यन्त प्रीति बढ़ी । तब रामचन्द्रजी को देख कर जानकीजी हृदय में भयभीत होकर जिस किसी से बिनती करती हैं ॥ २ ॥

मनहीं मन मनाव अकुलानी । होहु प्रसन्न महेस भवानी ॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई । करि हित हरहु चाप गरुआई ॥३॥

घबरा कर मन ही मन मनाती हैं—हे महेश-भवानी ! मुझ पर प्रसन्न हो । अपनी सेवकाई सफल कर के धनुष की गरुआई हर कर मेरा कल्याण कीजिए ॥ ३ ॥

गन-नायक बर-दायक देवा । आजु लगे कीन्हिउँ तव सेवा ॥
बार बार बिनती सुनि मोरी । करहु चाप-गरुता अति थोरी ॥४॥

हे गणों के स्वामी, वर देनेवाले देवता ! आज तक मैं ने आप की सेवा की है । मेरी, बारम्बार प्रार्थना है उसको सुन कर धनुष का गरुआपन बिलकुल थोड़ा कर दीजिए ॥४॥

दो०—देखि देखि रघुबीर छबि, सुर मनाव धरि धीर ॥
भरे बिलोचन प्रेम-जल, पुलकावली-सरीर ॥२५७॥

रघुनाथजी की छवि देख देख कर धीरज धारण कर के देवताओं को मनाती हैं । आँखों में प्रेम के आँसू भरे हैं और शरीर रोमाञ्चित हो गया है ॥ २५७ ॥

प्रेमदशा में अश्रु और रोमाञ्च सात्विक अनुभाव प्रकट हुए हैं ।

चौ०—नीके निरखि नयन भरि सोभा । पितु-पन सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥
अहह तात दारुन हठ ठानी । समुझत नहिँ कछु लाभ न हानी ॥१॥

अच्छी तरह से आँख भर शोभा देख कर पिता की प्रतिज्ञा स्मरण कर के फिर मन बेचैन हो उठा । पछताने लगीं कि खेद है, हे तात ! आपने भीषण हठ ठाना, न तो कुछ लाभ समझते हो न हानि ॥ १ ॥

सीताजी के मन को एक ओर रामचन्द्रजी की छवि निरीक्षण से हर्ष और दूसरी ओर पिता की भीषण प्रतिज्ञा की स्मृति और विषाद अपनी अपनी ओर खींच रहे हैं । दोनों भावों की सन्धि है ।

सचिव सभय सिख देइ न कोई । बुध-समाज बड़ अनुचित होई ॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा । कहँ स्यामल मृदु-गात-किसोरा ॥२॥

कोई मन्त्री डर से शिक्षा नहीं देते हैं, विद्वन्मण्डली में यह बड़ा अनुचित हो रहा है। कहाँ धनुष की कठोरता को वज्र भी चाहता है और कहाँ श्यामल कोमल अङ्ग किशोर अवस्था के राजकुमार ! ॥ २ ॥

बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा । सिरस सुमन कन बेधिय हीरा ॥
सकल सभा कै मति भइ भोरी । अब मोहि सम्भुचाप गति तोरी ॥३॥

हे विधाता ! किस तरह मन में धीरज धरूँ, कहीं सिरस के फूल से हीरे की कनी छेदी जा सकती है ? सारे समाज की बुद्धि भोली हुई है, अब हे शङ्कर-चाप ! मुझे तेरा ही सहारा है ॥ ३ ॥

सिरस के फूलों से हीरा का वेधना असम्भव है। प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि रामचन्द्र धनुष न तोड़ सकेंगे। उसको न कह कर प्रतिबिम्ब मात्र वक्रोक्ति द्वारा कथन करना 'ललित अलंकार' है।

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी । होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥
अति परिताप सीय मन माहीँ । लव निमेष जुग सय सम जाहीँ ॥४॥

अपनी जड़ता (गरुआई) लोगों पर डाल कर रघुनाथजी को देख कर हलके हो जाओ। सीताजी के मन में बड़ा दुःख है, उनको एक क्षण का चौथाई भाग सैकड़ों युग के बराबर बीतता है ॥ ४ ॥

जड़ धनुष से बिनती करना दुःख चिन्ता से चित्त में विक्षेप होना 'मोह सञ्चारी भाव' है।

दो०—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल ॥२५८॥

प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर फिर पृथ्वी की ओर देखती हैं, चञ्चल नेत्र शोभित हो रहे हैं। वे ऐसे मालूम होते हैं मानो चन्द्र-मण्डल हिल रहा है, उसमें दो कामदेव मछली रूपधारी खेल रहे हों ॥ २५८ ॥

जानकीजी का बार बार मुख ऊपर नीचे करना उत्प्रेक्षा का विषय है। मुख और चन्द्रमण्डल, नेत्र और मछली परस्पर उपमेय उपमान हैं। कामदेव रूपी मछली में प्रौढ़ोक्ति है। चन्द्रमण्डल में मछली रूपधारी कामदेव भूला नहीं भूलता, कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। प्रेम रोके नहीं रुकता तब प्रभु की ओर निहारती हैं, गुरुजनों की लज्जा और पिता की प्रतिज्ञा का ख्याल कर धरती की ओर देखती हैं। रति, हर्ष, लाज और विषाद भाव पल पल पर उदय और विलीन हो रहे हैं।

चौ०--गिरा-अलिनि मुख पङ्कज रोकी । प्रगट न लाज-निसा अवलोकी ॥
लोचन जल रह लोचन कोना । जैसे परम कृपिन कर सोना ॥१॥

सीताजी की वाणी रूपी भ्रमरी को मुख रूपी कमल ने रोक रक्खा, वह लज्जा रूपी रात्रि को देख कर प्रकट नहीं होती है। आँख के आँसू आँख के कोने में रह गये, (बाहर नहीं हुए) जैसे बड़े कञ्जूस का सोना (बाहर नहीं होने पाता) ॥ १ ॥

सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी । धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥
तन मन बचन मोर पन साँचा । रघुपति पद सरोज चित राँचा ॥२॥

बड़ी व्याकुलता विचार कर सकुचा गईं, फिर धीरज धर कर हृदय में विश्वास ले आईं कि यदि तन, मन और वचन से रघुनाथजी के चरण-कमलों में चित्त लगा है, यदि मेरी यह प्रतिज्ञा सच्ची है ॥ २ ॥

तौ भगवान सकल उर बासी । करिहहिँ मोहिँ रघुपति कै दासी॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू ॥३॥

तो भगवान् सब के हृदय में बसनेवाले हैं, मुझे रघुनाथजी की दासी बनावेंगे। जिसका जिसके ऊपर सच्चा स्नेह होता है, वह उसे मिलता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥३॥

प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना । कृपानिधान राम सब जाना ॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे । चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे ॥४॥

अन्त में प्रभु रामचन्द्रजी की ओर देखकर प्रेम का प्रण ठान लिया, कृपानिधान रामचन्द्रजी सब जान गये। सीताजी को देख कर धनुष की ओर कैसे देखा, जैसे छोटे साँप की तरफ़ गरुड़ निहारते हैं ॥४॥

जानकीजी ने प्रभु की ओर निहार कर प्रेम का प्रण ठाना कि यदि आप के चरणों में मेरी सच्ची प्रीति है तो मेरी प्रतिज्ञा को आप पूरी कीजिए, उनके हार्दिक अभिप्राय को रामचन्द्रजी समझ कर इशारे से समाधान किया, सीताजी को देखकर धनुष को कैसे देखा जैसे छोटे साँप को गरुड़ उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं अर्थात् घबराओ नहीं धनुष को टूटा समझो। यह 'सूक्ष्म अलंकार' है।

दो०--लखन लखेउ रघुबंस-मनि, ताकेउ हर-कोदंड ।
पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड ॥ २५९ ॥

लक्ष्मणजी ने लखा कि रघुवंश-मणि ने शिवजी के धनुष की ओर देखा; तब वे पुलकित शरीर से धरती को पैरों से दबा कर बचन बोले ॥२५९॥

चौ०--दिसि कुञ्जरहु कमठ अहि कोला । धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥
राम चहहिँ सङ्कर धनु तोरा । होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥१॥

हे दिग्गजो, कच्छप, शेष और वाराह! धीर धारण कर के धरती को धरो, चलायमान

न होते जाओ। रामचन्द्रजी शङ्कर-धनु को तोड़ना चाहते हैं, मेरी आज्ञा सुन कर तुम लोग सावधान रहो ॥ १ ॥

रामचन्द्रजी को धनुष की ओर दृष्टिपात करते देख कर लक्ष्मणजी का धरती को चरण से दबाना और बाराहपुराण की उक्ति के अनुसार पृथ्वी के थामनेवालों को सावधान करना 'सूक्ष्म अलंकार' है।

चाप समीप राम जब आये। नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाये ॥
सब कर संसय अरु अज्ञानू। मन्द महीपन्ह कर अभिमानू ॥२॥

जब रामचन्द्रजी धनुष के समीप आये, तब स्त्री-पुरुष देवता और सुकृतको मनाने लगे। सब का सन्देह और अज्ञान, नीच राजाओं का अभिमान ॥ २ ॥

भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर-मुनिबरन्ह केरि कदराई ॥
सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा ॥३॥

परशुराम के गर्व का भारीपन, देवता और मुनिवरों की भीरुता, सीताजी का सोच, जनक का पश्चात्ताप और रानियों के भीषण दुःख की ज्वाला ॥३॥

परशुराम का गर्व दूर होना पहले ही कहा गया जो भविष्य में परस्पर सम्बाद होने पर दूर होगा 'भाविक अलंकार' है।

सम्भु-चाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब सङ्ग बनाई ॥
राम-बाहुबल सिन्धु अपारू। चहत पार नहिँ कोउ कनहारू ॥४॥

शिव-धनुष रूपी बड़ा जहाज पा कर सब सङ्ग बना कर उस पर जा चढ़े। रामचन्द्रजी की भुजाओं का बल अपार समुद्र है, उससे पार जाना चाहते हैं परन्तु कोई खेनेवाला माँझी नहीं है ॥ ४ ॥

अनेक उपमेयों का एक ही धर्म जहाज पर चढ़ना कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। जैसे बिना नाविक के जहाज समुद्र में भटकता है और तूफ़ान में पड़कर डूब जाता है। धनुष रूपी जहाज के लिए रामचन्द्रजी का बाहुबल भयङ्कर तूफान है, उसमें डूबेगा। यह बात धनुष टूट जाने पर नीचे के सोरठे में कही गई है।

दो०—राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि ॥२६०॥

रामचन्द्रजी ने सब लोगों को देखा, उन्हें लिखी हुई तसबीर के समान देख कर, फिर कृपानिधान ने सीताजी की ओर निहारा और उनको अधिक व्याकुल जाना ॥२६०॥

चौ०—देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही ॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करइ का सुधा तड़ागा ॥१॥

जानकीजी को बहुत ही बेचैन देखा कि एक एक पल उन्हें कल्प के समान बीत रहा है। रामचन्द्रजी मन में विचारने लगे कि जो प्यासा बिना पानी के शरीर त्याग दे, फिर मर जाने पर अमृत का तालाब ही क्या कर सकता है ? ॥१॥

शङ्का—अमृत तो मुर्दे को जिला देता है, फिर सुधा तड़ाग को क्यों व्यर्थ कहा गया ?

समाधान— अमृत का तालाब प्यास के दुःख से मरे हुए को जिला देगा, परन्तु प्यास की भीषण यन्त्रणा से तड़प तड़प कर जो उसके प्राण निकले हैं, उस पीड़ा को नहीं भुला सकता। दूसरे-सुधा अमृत और जल दोनों को कहते हैं, यहाँ सुधा शब्द से जल का ग्रहण है, अमृत का नहीं। क्योंकि बिना जल के प्राण त्यागे हुए को सुधा तड़ाग मिले तो क्या हो सकता है? वारिके संयोग से 'सुधा' शब्द में एक मात्र जल की अभिधा है।

का बरषा जब कृषी सुखाने । समय चुके पुनि का पछिताने ॥
अस जिय जानि जानकी देखी । प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ॥२॥

जब खेती सूख गई तब वर्षा क्या? समय पर चूकने से फिर पछताना क्या? प्रभु रामचन्द्रजी ने ऐसा मन में विचारा और जानकीजी को देख कर उनकी बड़ी प्रीति लख कर पुलकित हुए ॥२॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में जो प्रश्न किया है, वे ही शब्द 'सूखना और चूकना' उत्तर के भी हैं। यह 'चित्रोत्तर अलंकार' है। सीताजी को दुखी देख कर रामचन्द्रजी का मन में तर्क वितर्क करना 'वितर्क सञ्चारी भाव' है।

गुरुहि प्रनाम मनहिँ मन कीन्हा । अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ । पुनि धनु नभ मंडल सम भयऊ ॥३॥

गुरुजी को मन ही मन प्रणाम किया और बड़ी फुर्ती से धनुष को उठा लिया। जब धनुष को वेदी पर से उठा लिया तब वह बिजली की तरह चमका, फिर आकाश में मण्डलाकार हो गया ॥३॥

लेत चढ़ावत खैँचत गाढ़े । काहु न लखा देख सब ठाढ़े ॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा । भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ॥४॥

धनुष के लेते चढ़ाते और खींचते सब खड़े देख रहे थे, पर कठिनता किसी ने नहीं लखी। उसी क्षण में रामचन्द्रजी ने धनुष को तोड़ दिया, उसकी भयङ्कर कठोर ध्वनि लोकों में भर गई ॥४॥

लेना, चढ़ाना और खैंचना क्रियाएँ कई एक हैं, पर कर्त्ता अकेले रामचन्द्रजी हैं। यह 'कारकदीपक अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द ।

भरे भुवन घोर कठोर रव रबि,-बाजि तजि मारग चले ।
चिक्करहिँ दिग्गज डोल महि अहि, कोल कूरम कलमले ॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे, सकल बिकल बिचारहीं ॥
कोदंड खंडेउ राम तुलसी, जयति बचन उचारहीं ॥१९॥

लोक में धनुष टूटने का भीषण कठोर शब्द छा गया, सूर्य्य के घोड़े रास्ता छोड़ कर चले। दिशा के हाथी चिग्घाड़ते हैं। धरती हिल गई, शेष, वाराह और कच्छप दाब में पड़

कर काँपने लगे। देवता, दैत्य और मुनि लोग कान पर हाथ रख कर सब व्याकुलता से बिचारते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि (जब यह निश्चय हो गया कि) रामचन्द्रजी ने शिव-धनुष को तोड़ा है, तब वे जय जयकार की वाणी उचारते हैं॥१८॥

सो०--सङ्कर-चाप जहाज, सागर रघुबर बाहुबल॥
बूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिँ मोह-बस॥२६१॥

शिवजी का धनुष जहाज रूप है और रघुनाथजी का बाहु-बल समुद्र रूप है। वह सारा समाज जो पहले ही मोह के अधीन, होकर चढ़ा (जिसका वर्णन २६० दोहे के ऊपर कर आये हैं) डूब गया॥२६१॥

सब का सन्देह और अज्ञान, नीच राजाओं का अभिमान, परशुराम के गर्व की गुरुता, देवता और मुनियों की कायरता, सीताजी का सोच, जनक का पश्चात्ताप, रानियों के दुःख की ज्वाला, ये सब पथिक रूप समाज जोड़ कर शिवजी के धनुष रूपी जहाज पर जा चढ़े और रामचन्द्रजी का बाहु-बल समुद्र रूप है। जहाज माँझी रहित है। धनुष टूटना जहाज का डूबना है, क्योंकि उसके टूटते ही पथिक समाज समुद्रतल में चला गया किसी का पता न लगा। यह परम्परित का ढङ्ग लिए हुए "सम अभेद रूपक अलंकार" है। यहाँ लोग कल्पना करते हैं कि सोरठे का पूर्वार्द्ध लिख कर गोसांईजी रुक गये तब उत्तरार्द्ध को हनूमानजी ने लिख दिया। परन्तु यह बिल्कुल असङ्गत बात है, कबिजी तो जान बूझ कर ऐसा रूपक पहले ही बाँध आये हैं फिर उनकी लेखनी क्यों रुकने लगी? जैसे अनेक स्थलों में तरह तरह के अर्थ गढ़े गये हैं, उन्हीं में से एक यह भी है।

चौ०-प्रभु दोउ चाप-खंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥
कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम-बारि अवगाह सुहावन॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने धनुष के दोनों टुकड़े भुमि पर गिरा दिये, यह देख कर सब लोग सुखी हुए। विश्वामित्र रूपी पवित्र समुद्र में प्रेम रूपी सुहावना अथाह जल (उमड़ रहा) है॥१॥

राम रूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिँ करि गाना॥२॥

रामचन्द्रजी रूपी पूर्ण-चन्द्रमा को देख कर पुलकावली रूपिणी भारी तरङ्गे बढ़ रही हैं। आकाश में धूम के साथ नगाड़े बजते हैं और देवाङ्गनाएँ गान कर के नाचती हैं॥२॥

ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिँ देहिँ असीसा॥
बरषहिँ सुमन रङ्ग बहु माला। गावहिँ किन्नर गीत रसाला॥३॥

ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभु की बड़ाई कर के आशीर्वाद देते हैं। बहुत रङ्ग के फूलों की माला बरसाते हैं और किन्नर-गण रसीला गीत गाते हैं॥३॥

रामचन्द्रजी का धनुष-भङ्ग करना देख कर दवताओं का चित्त प्रसाद 'हर्ष सञ्चारी-भाव' है।

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुष-भङ्ग धुनि जात न जानी॥
मुदित कहहिँ जहँ तहँ नर नारी। भञ्जेउ राम सम्भु धनु भारी॥४॥

जय जय का शब्द लोकों में भर रहा, धनुष टूटने की ध्वनि विलीन होते मालूम हो न हुई अर्थात् वह जय जयकार के हल्ले में लीन हो गई। जहाँ तहाँ स्त्री-पुरुष प्रसन्नता से कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने शङ्कर के भारी धनुष को तोड़ दिया। इनमें महान् पराक्रम है॥४॥

धनुष भङ्ग के भीषण शब्द का भय भाव लोकों में फैलते देरी नहीं कि उत्साह-पूर्ण जय जयकार का हर्ष भाव प्रबल होने से भय उसमें लीन हो गया। सब आनन्द में भर गये किसी को भय का स्मरण ही न रहा। यह 'भावशान्ति' है।

दो०—बन्दी मागध सूत गन, बिरद बदहिँ मतिधीर।
करहिँ निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर॥२६२॥

झुण्ड के झुण्ड धीर बुद्धिवाले वन्दीजन, मागध और सूत नामवरी बखानते हैं। सब लोग हाथी, घोड़ा, द्रव्य, मणि और वस्त्र की निछावर करते हैं॥२६२॥

चौ०—झाँझ मृदङ्ग सङ्ख सहनाई। भेरि ढोल दुन्दुभी सुहाई॥
बाजहिँ बहु बाजने सुहाये। जहँ तहँ जुबतिन्ह मङ्गल गाये॥१॥

झाँझ, मृदङ्ग, शंख, सहनाई, तुरही, ढोल और सुन्दर नगारे आदि बहुत से सुहावने बाजे बजते हैं, जहाँ तहाँ स्त्रियाँ मङ्गल गाती हैं॥१॥

सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥२॥

सखियों के सहित सब रानियाँ प्रसन्न हुईं, वे ऐसी हरी भरी मालूम होती हैं मानों सूखते हुए धान पर पानी पड़ा हो। राजा जनक सोच छोड़ कर आनन्द को प्राप्त हुए, वे ऐसे प्रसन्न जान पड़ते हैं मानों पानी में तैरते हुए थक कर थाह पा गये हों॥२॥

सूखते हुए धान पर पानी पड़ने से वह हरा भरा होता ही है और पानी में तैरते तैरते थके हुए को थाह मिलने पर सुख होता ही है। दोनों 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। जनकजी के हृदय में पहले सोच था, फिर सुख आया। आधार एक राजा जनक हैं, आश्रय लेनेवाले सोच, सुख भिन्न भिन्न हैं। यह द्वितीय पर्य्याय अलंकार है।

श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥
सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती॥३॥

धनुष के टूटने से राजा लोग कैसे श्रीहत हुए जैसे दिन में दीपक की शोभा जाती रहती है। सीताजी के सुख का वर्णन किस तरह करूँ, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों चातकी ने स्वाती का जल पाया हो॥३॥

रामहिँ लखन बिलोकत कैसे।ससिहि चकोर किसोरक जैसे॥
सतानन्द तब आयसु दीन्ही। सीता गवन राम पहिँ कीन्हीं॥ ४॥

रामचन्द्रजी को लक्ष्मणजी कैसे देखते हैं, जैसे किशोर अवस्था का चकोर चन्द्रमा को (प्रेम भरी दृष्टि से) निहारता है। जब शतानन्दजी ने आज्ञा दी तब सीताजी ने रामचन्द्रजी के समीप में गमन किया॥ ४॥

सभा की प्रति में 'दीन्हा-कीन्हा' तुकान्त है।

दो०—सङ्ग सखी सुन्दर चतुर, गावहिँ मङ्गलचार।
गवनी बाल-मराल-गति, सुखमा अङ्ग अपार॥२६३॥

साथ में सुन्दर चतुर सखियाँ मङ्गलाचार गान करती हैं। बाल-राजहंसिनी की (धीमी) चाल से चलीं, उनके अङ्गों की छबि अपार है॥ २६३॥

चौ०-सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसी। छबि-गन-मध्य महाछबि जैसी॥
कर सरोज जयमाल सुहाई। बिस्व-बिजय-सोभा जेहि छाई॥१॥

सखियों के बीच में सीताजी कैसी सोहती हैं, जैसी छबि की मण्डली में महाछबि शोभित हो। कर-कमलों में सुहावनी जयमाला है, जिसमें संसार की विजयश्री टिकी हुई है॥ १॥

'जयमाल' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, पुल्लिङ्ग नहीं। यथा लसी माल मुरति मुसुकानी, पुनः—सिय जयमाल राम उर मेली। सभा की प्रति में 'बिस्व-बिजय-सोभा जनु छाई' पाठ है। धनुष तोड़ने में सारे लोकों के योद्धा हार गये, उस धनुष को रामचन्द्रजी ने तोड़ा। इसी से जय-माल में तीनों लोकों की विजयश्री है।

तन सकोच मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परइ न काहू॥
जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥२॥

शरीर (लज्जा से) सिकुड़ रहा है; किन्तु मन में बड़ा उत्साह है, यह छिपा हुआ प्रेम किसी को लख नहीं पड़ता है। जब कुँवरि ने समीप जा कर रामचन्द्रजी की छबि देखी, तब वे ऐसी मालूम होने लगीं मानों लिखी हुई तसवीर हों॥ २॥

मन में परम उमङ्ग है; किन्तु इस गूढ़ प्रेम को तन के सिकोड़ से छिपाना 'अवहित्थ सञ्चारी भाव' है।

चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥३॥

चतुर सखी ने (सीताजी का स्तम्भ अनुभाव) लख कर समझा कर कहा कि सुहावनी जयमाल पहनाइए। सुनते ही दोनों हाथों से माला उठाई, परन्तु प्रेमाधीन होने से वह पह-नाई नहीं जाती है॥ ३॥

सोहत जनु जुग जलज सनाला । ससिहि सभीत देत जयमाला ॥
गावहिँ छबि अवलोकि सहेली । सिय जयमाल राम उर मेली ॥४॥

ऐसा मालूम होता है मानों डण्डियों के सहित दो कमल डरते हुए चन्द्रमा को जयमाल प्रदान करते हों। इस छवि को देख कर सखियाँ मङ्गल गाती हैं, सीताजी ने रामचन्द्रजी के गले में जयमाला डाल दी ॥ ४ ॥

सीताजी के दोनों हाथ और कमल-पुष्प, बाहुएँ और कमलनाल, रामचन्द्रजी का मुख-मण्डल और चन्द्रमा परस्पर उपमेय उपमान हैं। कमल चन्द्रमा को देख कर सकुचित होता है, जनकनन्दिनी के कर-कमल जयमाल को थाम्हने से सिकुड़े हैं और लज्जा से शीघ्र गले में डालती नहीं हैं। यह कवि की कल्पना मात्र है, जगत् में ऐसा दृश्य दिखाई नहीं देता। कमल का डरना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह जड़ है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

सो०—रघुबर उर जयमाल, देखि देव बरषहिँ सुमन ॥
सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रबि कुमुद-गन ॥२६४॥

रघुनाथजी के हृदय में जयमाला देख कर देवता फूल बरसाते हैं। सम्पूर्ण राजा सकुचा गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों कुमुद का समूह सूर्य्य को देख कर सिकुड़ गया हो ॥ २६४ ॥

चौ०—पुर अरु ब्योम बाजने बाजे । खल भये मलिन साधु सब राजे ॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा । जय जय जय कहि देहिँ असीसा ॥१॥

नगर और आकाश में बाजे बजते हैं, दुष्ट उदास हुए; सब सज्जन प्रसन्न हुए। देवता किन्नर, मनुष्य और मुनीश्वर जय हो, जय हो, जय हो, कह कर आशीर्वाद देते हैं ॥ १ ॥

नाचहिँ गावहिँ बिबुध-बधूटी । बार बार कुसुमाञ्जलि छूटी ॥
जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करहीँ । बन्दी बिरदावलि उच्चरहीँ ॥२॥

देवाङ्गनाएँ नाचती गाती हैं और बार बार अञ्जली भर भर फूल छोड़ती हैं। जहाँ तहाँ ब्राह्मण वेद-ध्वनि करते हैं, वन्दीजन नामवरी बखानते हैं ॥ २ ॥

महि पाताल ब्योम जस ब्यापा । राम बरी सिय भञ्जेउ चापा ॥
करहिँ आरती पुर-नर-नारी । देहिँ निछावरि बित्त बिसारी ॥३॥

पृथ्वी, पाताल और आकाश में यह यश फैल गया कि रामचन्द्रजी ने शिवजी के धनुष को तोड़ कर सीताजी को विवाह लिया। नगर के स्त्री-पुरुष आरती करते हैं और वित्त (अपनी हैसियत) को भूल कर न्योछावर देते हैं ॥३॥

धनुष टूटते देरी नहीं कि यह यश तीनों लोकों में बात की बात में फैल गया, कारण कार्य्य का एक साथ होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

सोहति सीय राम कै जोरी। छबि सिङ्गार मनहुँ इक ठोरी॥
सखी कहहिं प्रभु-पद गहु सीता। करति न चरन परस अति भीता॥४॥

सीता और रामचन्द्रजी की जोड़ी शोभायमान है, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों छबि और शृङ्गार एक स्थान में इकट्ठे हुए हों। सखियाँ कहती हैं—हे सीते! स्वामी के चरणों पर पड़ो, पर जानकीजी अत्यन्त भयसे पाँव नहीं छूती हैं॥४॥

यहाँ अति भीता शब्द में गुणीभूत व्यङ्ग है कि मैं हाथों में रत्न जड़ित अँगूठियाँ पहने हूँ वे पत्थर ही हैं, कहीं स्त्री न हो जाँय।

दो०—गौतम-तिय गति सुरति करि, नहिँ परसति पग पानि।
मन बिहँसे रघुबंस-मनि, प्रीति अलौकिक जानि॥२६५॥

गौतम की स्त्री (अहल्या) की गति याद करके हाथों से पाँव नहीं छूती हैं। रघुवंश-मणि इस असाधारण प्रीति को जान कर मन में हँसे॥२६५॥

गौतमी की गति स्मरण कर हाथों से पाँव नहीं छूती हैं, इस वाक्य में 'अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग' है कि इन्हीं चरणों के स्पर्श से शिला स्त्री हो गई; तब मेरे हाथ और सिर के भूषणों में जो रत्न हैं यदि पाँव छू जाने पर वे सब स्त्री हुए तो बहु भार्य्या होने से स्वामी की प्रीति मुझ पर न्यून रहेगी। यह व्यङ्ग कठिनता से देख पड़ती है; किन्तु जान लेने से बहुत ही सरल है। 'अलौकिक' शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि पाँव पड़ते ही यहाँ से चल देना पड़ेगा, फिर स्वामी के दर्शन का वियोग होगा। सीताजी के हार्दिक अभिप्राय को समझ कर रामचन्द्रजी मन में हँसे, प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हँसे कि लोक मर्य्यादा भङ्ग हो जाती। अथवा यह सोच कर हँसे कि ये इतनी भोली हो गई हैं कि अपनी और हमारी प्राचीन प्रीति को भुला कर व्यर्थ ही भ्रम में पड़ी हैं।

चौ०—तब सिय देखि भूप अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥१॥

तब सीताजी को देख कर राजा लोग उन्हें पाने के आकांक्षी हुए, क्रूर, कपूत और मूर्ख मन में क्रोधित हुए। वे अभागे कवच पहन कर जहाँ तहाँ से उठ उठ कर गाल बजाने लगे॥१॥

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप-बालक दोऊ॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिँ सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥२॥

कोई कहता है सीता को छुड़ा लो और दोनों राजपुत्रों को पकड़ कर बाँध लो। धनुष तोड़ने से लालसा पूरी न होगी, हमारे जीते जी कुमारी को कौन ब्याहेगा?॥२॥

जौँ बिदेह कछु करइ सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥
साधु-भूप बोले सुनि बानी। राज-समाजहि लाज लजानी॥३॥

यदि विदेह कुछ सहायता करे तो दोनों भाइयों (सीरध्वज, कुशध्वज) के सहित इन्हें युद्ध में जीत लो। सज्जन राजा यह सुन कर बोले कि इस राजमण्डली को देख कर लाज भी लजा गई है॥३॥

लाज लजानी से 'तुम लोग निर्लज्ज हो' यह प्रकट होना 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग' है।

बल प्रताप बीरता बड़ाई । नाक पिनाकहि सङ्ग सिधाई ॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई । असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई ॥४॥

बल, प्रताप, वीरता और बड़ाई की मर्य्यादा तो धनुष के साथ ही चली गई। वही शूरता या कि अब कहीं पा गये हो? ऐसी बुद्धि है तभी ब्रह्मा ने मुख में कालिख लगाया है ॥४॥

बल, प्रताप, वीरता और बड़ाई की प्रतिष्ठा धनुष के साथ ही चली गई, यह मनोरञ्जन वर्णन 'सहोक्ति अलंकार' है। काकु से शूरता का बाध होकर 'कापुरुषता' व्यञ्जित होना गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०—देखहु रामहिँ नयन भरि, तजि इरषा मद कोहु ।
लखन-रोष पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु ॥२६६॥

ईर्ष्या, घमण्ड और क्रोध छोड़ कर रामचन्द्रजी को आँख भर देखो। लक्ष्मणजी का क्रोध प्रचंड अग्नि रूप है, जान बूझ कर पाँखी मत हो ॥२६६॥

लक्ष्मणजी का कोप पहले देख चुके हैं इससे वर्जन करते हैं कि यह डींग हाँकना एक न चलेगा, भस्मीभूत हो जाओगे। पं० रामबकश पाँड़े की प्रति में 'मद मोह' पाठ है।

चौ०—बैनतेय बलि जिमि चह कागू । जिमि ससु चहइ नाग-अरि भागू ॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही । सब सम्पदा चहइ सिव-द्रोही ॥१॥

गरुड़ का भाग जैसे कौआ चाहे और सिंह का भाग जैसे खरहा चाहे, बेमतलब क्रोध करने वाला जैसे कल्याण चाहे और शिवजी का विरोधी जिस तरह सब सम्पत्ति की इच्छा करे ॥१॥

लोभी लोलुप कीरति चहई । अकलङ्कता कि कामी लहई ॥
हरि-पद-बिमुख सुगति जिमि चाहा । तस तुम्हार लालच नरनाहा ॥२॥

कञ्जूस और लालची कीर्त्ति चाहे, क्या व्यभिचारी निष्कलङ्कता पा सकता है? (कदापि नहीं) भगवान् के चरणों से विमुखी जैसे सुन्दर गति की चाहना करे, हे नरेश्वरो! तुम लोगों का लालच ऐसा ही है ॥२॥

लोभी और लोलुप पर्य्यायवाची शब्द हैं, इससे पुनरुक्ति सा प्रतीत होता है, परन्तु पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि एक कृपण का बोधक है और दूसरा लालची का, यह 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है। गुटका में 'लोभ लोलुप कल कीरति चहई' पाठ है।

कोलाहल सुनि सीय सकानी । सखी लेवाइ गई जहँ रानी ॥
राम सुभाय चले गुरु पाहीँ । सिय-सनेह बरनत मन माहीँ ॥३॥

हल्लागुल्ला सुन कर सीताजी डरीं, तब सखियाँ उन्हें जहाँ रानी हैं वहाँ लिवा ले गईं। रामचन्द्रजी स्वभाव से गुरु के पास चले और मन में सीताजी का स्नेह बखानते जाते हैं ॥३॥

राजाओं का शोर गुल सुनकर जानकीजी का डरना 'शङ्का सञ्चारी भाव' है।

रानिन्ह सहित सोच बस सीया । अब धौं बिधिहि काह करनीया ॥
भूप बचन सुनि इत उत तकहीं । लखन राम-डर बोलि न सकहीं ॥४॥

सीताजी के सहित सब रानियाँ सोच के वश होकर कहने लगीं कि अब न जाने ब्रह्मा को क्या करना है? राजाओं की बात सुन कर लक्ष्मणजी इधर उधर निहारते हैं, परन्तु रामचन्द्रजी के डर से बोल नहीं सकते हैं ॥ ४ ॥

रानियों के मन में इस आकस्मिक दुर्घटना द्वारा बने हुए काम में बिगड़ने की सम्भावना से इष्टहानि का सोच उत्पन्न होना त्रास, उग्रता, विषाद, आवेग और शङ्का सञ्चारीभाव है। लक्ष्मणजी के मन में राजाओं के अहंकार को नष्ट करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होना 'अमर्ष सञ्चारी भाव' है।

दो०—अरुन-नयन भृकुटी-कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप ।
मनहुँ मत्त-गज-गन निरखि, सिंह किसोरहि चोप ॥२६७॥

आँखें लाल और भौंहें टेढ़ी हुई क्रोध से राजाओं की ओर देख रहे हैं। ऐसे मालूम होते हैं मानों किशोर अवस्था का सिंह मतवाले हाथियों के झुण्ड को उमङ्ग से निहारता हो ॥२६७॥

सिंह मस्त हाथियों के समूह को चाव से देखता ही है, उसी तरह चोप से लक्ष्मणजी नरेशों की ओर निहारते हैं। यह वीररस पूर्ण 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—खरभर देखि बिकल पुर-नारी । सब मिलि देहिँ महीपन्ह गारी ॥
तेहि अवसर सुनि सिव-धनु-भङ्गा । आयउ भृगुकुल-कमल-पतङ्गा ॥१॥

खलभली (हलचल) देख कर नगर की स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं, सब मिलकर राजाओं को गाली देती हैं। उसी समय शिव-धनु टूटने का शब्द सुन कर भृगुकुल रूपी कमल के सूर्य्य (परशुरामजी) आये ॥ १ ॥

देखि महीप सकल सकुचाने । बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥
गौर शरीर भूति भलि भ्राजा । भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥२॥

उन्हें देख कर समस्त राजा सिकुड़ गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बाज़ की झपट से बटेर लुकते हों। परशुरामजी का शरीर गौर वर्ण है; उस पर विभूति अच्छी तरह शोभित है और विशाल माथे पर त्रिपुण्ड विराजमान है ॥ २ ॥

सीस—जटा ससि-बदन सुहावा । रिस-बस कछुक अरुन होइ आवा ॥
भृकुटी-कुटिल नयन रिस राते । सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥३॥

सिर पर जटा और चन्द्रमा के समान सुहावना मुख क्रोध से कुछ लाल हो आया है। भौंहें टेढ़ी और आँखें गुस्से से लाल हो गई हैं, सहज ही निहारते हैं तो ऐसा मालूम होता है मानों रुष्ट होकर देख रहे हों ॥ ३ ॥

धनुष भंग की ध्वनि सुन कर परशुरामजी को अभी अल्प क्रोध स्थायी है, उसकी अल्पता 'कछुक' शब्द द्वारा प्रकट की गई है। आगे चलकर वह पूर्ण रस रूप होगा।

वृषभ कन्ध उर-बाहु बिलासा । चारु जनेउ माल मृगछाला ॥
कटि मुनि-बसन तून दुइ बाँधे । धनु-सर-कर कुठार-कल-काँधे ॥४॥

बैल के समान ऊँचे कन्धे, छाती और भुजाएँ विशाल हैं; सुन्दर जनेऊ और माला पहने, मृगचर्म लिये हैं। कमर में मुनियों के वस्त्र और दो तरकस बाँधे हैं, हाथ में धनुष-बाण तथा कन्धे पर सुन्दर कुल्हाड़ा रक्खे हैं ॥ ४ ॥

दो०--सान्त बेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप ।
धरि मुनि तनु जनु बीररस, आयउ जहँ सब भूप ॥२६८॥

शान्त वेष और कठोर करनीवाले हैं, जिनका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसा मालूम होता है मानों वीररस, मुनि का शरीर धारण करके जहाँ सब राजा हैं—आया हो ॥२६८॥

परशुरामजी शूरवीर के वेष में हैं; किन्तु वीररस शरीरधारी नहीं होता, यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। ऋचीक मुनि के पुत्र जमदग्निजी हैं, इनका विवाह प्रसेनजित् राजा की कन्या रेणुका से हुआ था। उसके गर्भ से वसुभान आदि आठ पुत्र हुए। उनमें सब से छोटे परशुरामजी हैं। ऋचीक मुनि के आशीर्वाद से ये ब्राह्मण होने पर भी क्षत्रिय-धर्मी शूरवीर और युद्ध-प्रिय हुए उन्होंने पिता की हत्या करनेवाले सहस्रबाहु सरीखे बहुराड योद्धा का बाहु-छेदन किया था। ये चौबीस अवतारों में से विष्णु के एक अवतार माने जाते हैं। सभा की प्रति में 'सन्त वेष' पाठ है।

चौ०--देखत भृगुपति बेष कराला । उठे सकल भय-बिकल भुआला ॥
पितु समेत कहि कहि निज नामा । लगे करन सब दंड-प्रनामा ॥१॥

परशुरामजी के भयङ्कर वेष को देखते ही सम्पूर्ण राजा भय से विकल हो उठ खड़े हुए। पिता के सहित अपना अपना नाम कह कर सब दण्ड-प्रणाम करने लगे ॥१॥

भय के कारण राजाओं को सहसा चित्त-भ्रम होना 'आवेग सञ्चारीभाव' है।

जेहि सुभाय चितवहिँ हित जानी । सो जानइ जनु आयु खुटानी ॥
जनक बहोरि आइ सिर नावा । सीय बोलाइ प्रनाम करावा ॥२॥

जिसको स्वाभाविक हित जान कर देखते हैं, उसको ऐसा मालुम होता है मानों आयुष्य समाप्त हो गई हो। फिर जनकजी ने आ कर सिर नवाया और सीताजी को बुला कर प्रणाम कराया ॥२॥

जिसे अच्छी निगाह से देखते हैं, उसकी आयु खोटाना असिद्ध आधार है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

आसिष दीन्हि सखी हरषानी । निज समाज लइ गईँ सयानी ॥
बिस्वामित्र मिले पुनि आई । पद-सरोज मेले दोउ भाई ॥३॥

आशीर्वाद दिया, चतुर सखियाँ प्रसन्न हो कर अपनी मण्डली में ले गईं। फिर विश्वामित्रजी आ कर मिले और दोनों भाइयों को कमल-चरणों में प्रणाम कराया ॥३॥

परशुराम-आगमन ।

अति रिस बोले बचन कठोरा । कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू । उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू ॥

राम लखन दसरथ के ढोटा । दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥
रामहिँ चितइ रहे थकि लोचन । रूप अपार-मार-मद मोचन ॥४॥

विश्वामित्रजी ने कहा—रामलक्ष्मण राजा दशरथ के पुत्र हैं, अच्छी जोड़ी देख कर (परशुरामजी ने) आशीर्वाद दिया । असंख्यों कामदेव के घमण्ड को छुड़ानेवाला रामचन्द्रजी का रूप आँख से देख कर मोहित हो रहे हैं ॥४॥

सभा की प्रति में पाठ है कि—"देखि असीस दीन्ह भल जोटा, और रामहिँ चितइ रहे भरि लोचन ।"

दो०—बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर ।
पूछत जानि अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर ॥२६९॥

फिर राजा जनक की ओर देख कर उनसे बोले—कहो, बड़ी भीर क्यों हुई है ? जान कर भी अनजान जैसे पूछते हैं और शरीर में क्रोध व्याप गया ॥२६९॥

चौ०—समाचार कहि जनक सुनाये । जेहि कारन महीप सब आये ॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे । देखे चाँप-खंड महि डारे ॥१॥

जिस कारण सब राजा आये हैं, जनकजी ने वह समाचार कह सुनाया । उनकी बात सुनते ही घूम कर दूसरी ओर निहारा तो देखा कि धनुष के टुकड़े धरती पर पडे हैं ॥१॥

अपने गुरु का पूजनीय धनुष टूटा हुआ और ज़मीन पर निरादर से फेंका देखकर हृदय का चञ्चल होना 'चपलता संचारीभाव' है ।

अति रिस बोले बचन कठोरा । कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू । उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू ॥२॥

अत्यन्त क्रोध से कठोर वचन बोले—अरे मूर्ख जनक ! कह तो सही, धनुष किसने तोड़ा है ? रे नादान ! जल्दी दिखादे, नहीं तो आज मैं जहाँ तक तेरा राज्य है इस धरती को उलट दूँगा ॥२॥

परशुरामजी जनक के प्रति जो निर्दयता-पूर्ण कठोर वचन कहते हैं, वह 'उग्रता सञ्चारीभाव' है ।

अति डर उतर देत नृप नाहीं । कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥
सुर मुनि नाग नगर नर-नारी । सोचहिँ सकल त्रास उर भारी ॥३॥

अत्यन्त डर से राजा जनक उत्तर नहीं देते हैं, यह देख कर दुष्ट राजा मन में प्रसन्न हुए । देवता, मुनि, नाग, नगर के स्त्री-पुरुष सब के हृदय में भारी त्रास उत्पन्न है, वे सोचते हैं (कि अब क्या होगा ?) ॥३॥

वीर पुरुष की शूरता के भय से लोगों का सचिन्त होना 'त्रास सञ्चारी भाव' है ।

मन पछिताति सीय-महँतारी। बिधि अब सबरी बात बिगारी॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध-निमेष कलप सम बीता॥४॥

सीताजी की माता मन में पछताती हैं कि अब विधाता ने सारी बातें बिगाड़ दीं। परशुरामजी का स्वभाव सुन कर सीताजी को आधे पल का समय कल्प के समान बीता ॥ ४ ॥

दो०-सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीर।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीर ॥ २७० ॥

सब लोगों को भयभीत देखा और जानकीजी को डरी हुई जान कर हृदय में हर्ष विषाद कुछ नहीं, स्वभावतः श्रीरघुनाथजी बोले ॥ २७० ॥

चौ०-नाथ सम्भु-धनु भञ्जनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥
आयसु काह कहिय किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥१॥

हे नाथ! शिवजी के धनुष का तोड़नेवाला आप का कोई प्रधान दास होगा। क्या आज्ञा है, मुझे क्यों नहीं कहते? यह सुन कर क्रोधी मुनि रिसिया के बोले ॥ १ ॥

वाच्यार्थ के बराबर व्यङ्गार्थ है कि मैं ही आप का दास धनुष तोड़ने वाला हूँ, मेरे लिए क्या आज्ञा है। इतना स्पष्ट कहने पर भी क्रोध के आधीन होने से परशुरामजी नहीं समझ सके।

सेवक सो जो करइ सेवकाई। अरि करनी करि करिय लराई॥
सुनहु राम जेहि सिव-धनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥२॥

सेवक वह है जो सेवकाई करे, शत्रु का काम कर के लड़ाई करना चाहिए। हे राम! सुनो, जिसने शिवजी के धनुष को तोड़ा है, वह सहस्राज्जुन के समान मेरा वैरी है ॥ २ ॥

'सेवक' शब्द सेवकाई के लिये स्वयंसिद्ध है पुनः उसका विधान करना 'विधिअलंकार' है।

प्रश्न—सहस्रबाहु परशुरामजी का शत्रु कैसे हुआ? उत्तर—सहस्राज्जुन माहिष्मती का राजा था, बड़ा बली योद्धा और उस के हजार भुजाएँ थीं। एक बार वह अपनी अनन्त सेना के सहित परशुराम के पिता जमदग्नि के आश्रम में आया। मुनि ने ससैन्य उसका अतिथि-सत्कार किया। राजा को आश्चर्य हुआ कि वनबासी तपस्वी के पास इतना ऐश्वर्य कहाँ से आया। पता लगाने पर मालूम हुआ कि मुनि के पास एक कामधेनु है, यह उसी की करामात है। राजा ने मुनि को बहुत सा प्रलोभन दे कर गौ को लेना चाहा। बिरानी थाती समझ कर मुनि ने देना स्वीकार नहीं किया। अन्त में उसने जमदग्नि की हत्या कर के गऊ ले ली। उस समय परशुरामजी आश्रम में नहीं थे। कामधेनु तो जोरावरी से रक्षकों का संहार कर स्वर्ग को चली गई, राजा खाली हाथ माहेश्वरीपुरी में गया। परशुरामजी आये तो माता को विलाप करते देखा, पिता की मृत्यु का कारण सुन कर अत्यन्त क्रोधित हुए। तुरन्त सहस्राज्जुन के पास पहुँच कर समर में उस की भुजाएँ छिन्न भिन्न कर सिर काट लिया और प्रतिज्ञा कर के इक्कीस बार घूम घूम कर क्षत्रियवंश का निपात किया।

सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। नत मारे जइहैं सब राजा ॥
सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने ॥ ३ ॥

वह राजसमाज को छोड़ कर अलग हो जाय, नहीं तो सब राजा मारे जायँगे। मुनि के वचन सुन कर लक्ष्मणजी मुस्कुराने और भलुहाधारी (परशुराम) के अपमान की बात बोले ॥ ३ ॥

लक्ष्मणजी के मुस्कुराने में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि रामचन्द्रजी के नम्र-निवेदन पर भी इन्होंने दर्प भरी वाणी कही है। मुनि को क्रोधान्ध समझ कर 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्य्यात्' के अनुसार वचन बोले।

बहु धनुहीं तोरी लरकाँई। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गुसाँई ॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुल केतू ॥४॥

लड़कपन में हमने बहुत सी धनुही तोड़ी, पर हे गुसाँई! ऐसी रिस आप ने कभी नहीं की। इसी धनुष पर किस कारण इतनी प्रीति है? यह सुन कर भृगुवंश के पताका क्रोधित होकर बोले ॥ ४ ॥

बालपन में धनुर्विद्या सीखते समय न जाने कितनी धनुहियाँ टूटी थीं, वही बात लक्ष्मण जी ने कही है। यहाँ पर लोग तरह तरह की ऊपरी बातें कहते हैं, वे सब असङ्गत हैं।

दो०-रे नृप-बालक काल-बस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुहीं सम त्रिपुरारि-धनु, बिदित सकल संसार ॥२७१॥

अरे राजपुत्र! तू कालवश हुआ है जो सँभाल कर नहीं बोलता। शिवजी का धनुष सम्पूर्ण जगत में विख्यात है, उसके समान धनुहियाँ हैं? ॥ २७१ ॥

चौ०—लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना ॥
का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नये के भोरे ॥ १ ॥

लक्ष्मणजी ने हँस कर कहा—हे देव! सुनिये, हमारे जान तो सब धनुष बराबर हैं। पुराने धनुष के तोड़ने से क्या हानि लाभ है? रामचन्द्रजी ने तो नये के धोखे में देखा ॥ १ ॥

छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू ॥
बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा ॥२॥

छूते ही टूट गया, इसमें रघुनाथजी का भी दोष नहीं है, हे मुनि! बिना प्रयोजन काहे को क्रोध करते हो। फरसे की ओर निहार कर (परशुरामजी) बोले, रे दुष्ट! तू ने मेरे स्वभाव को नहीं सुना है? ॥२॥

फरसे की ओर देखना भय प्रदर्शन और स्वभाव जानने में अपनी उत्कट शूरता व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

बालक बोलि बधउँ नहिँ तोही । केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥
बाल-ब्रह्मचारी अति कोही । बिस्व-बिदित छत्रिय-कुल-द्रोही ॥३॥

बालक समझ कर तुझे मारता नहीं हूँ। मूर्ख! मुझको केवल मुनि जानता है? मैं बाल-ब्रह्मचारी अत्यन्त क्रोधी हूँ और क्षत्रिय वंश का द्रोही संसार में प्रसिद्ध हूँ ॥३॥

मुनि होने पर भी यह कहना कि मुझे केवल मुनि समझता है, इन वाक्यों में प्रतिषेध की ध्वनि है।

भुज-बल भूमि भूप बिनु कीन्ही । बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥
सहसबाहु-भुज छेदनिहारा । परसु बिलोकु महीप-कुमारा ॥४॥

अपनी भुजाओं के बल से मैं ने पृथ्वी को विना राजाओं के की है और बहुत बार ब्राह्मणों को दे दी है। हे राजकुमार! सहस्रार्जुन के बाहुओं को काटनेवाला यह कुल्हाड़ा देख ॥४॥

औरों की अपेक्षा अपने बल, वीरता को अधिक मानना 'गर्व सञ्चारी भाव' है।

दो०-मातु-पितहि जनि सोच बस, करसि महीप-किसोर ।
गरभन के अरभक दलन, परसु मोर अति घोर ॥२७२॥

हे महीप-कुमार! अपने माता-पिता को सोच वश मत कर। मेरा फरसा गर्भियों के बच्चों तक का नाश करनेमें बड़ा भयङ्कर है ॥२७२॥

परशुरामजी के कहने का तात्पर्य तो यह है कि मैं तुझे मार डालूँगा, पर यह सीधे न कह कर इस प्रकार कहना कि तू अपने माता-पिता को सोच के अधीन मत कर। लक्ष्मणजी का मारा जाना कारण है, माता-पिता का सोच वश होना कार्य्य है। कार्य के बहाने कारण का कथन "कारज निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार' है। यहाँ परशुरामजी का क्रोध स्थायी भाव है। धनुष तोड़नेवाला आलम्बन विभाव है। धनुष को पुराना सड़ा सामान्य कथन निन्दा उद्दीपन विभाव है। आँखें लाल होना, क्षत्रियों की निर्भर्त्सना, कुठार उठाना आदि अनुभाव है। उग्रता, चपलता, गर्व सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर 'रौद्ररस' संज्ञा को प्राप्त हुआ है।

चौ०-बिहँसि लखन बोले मृदुबानी । अहो मुनीस महा भट मानी ॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू । चहत उड़ावन फूँकि पहारू ॥१॥

लक्ष्मणजी हँस कर कोमल वाणी से बोले—अहो मुनिराज! आप बड़े अभिमानी शूरवीर हैं। बार बार मुझे भलुहा दिखा कर फूँक से पहाड़ उड़ाना चाहते हो ॥१॥

पूर्वार्द्ध में प्रत्यक्ष तो प्रशंसा की गयी है; किन्तु मुनिराज का अभिमानी होना निन्दा की विज्ञप्ति 'व्याजनिन्दा अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में लक्ष्मणजी का प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि मैं भी शूरवीर आप से बढ़ कर पराक्रम करनेवाला हूँ, मुझे फरसा दिखा कर डराना चाहते हो। पर ऐसा न कह कर प्रतिबिम्ब मात्र कहना कि फूँक कर पहाड़ उड़ाना चाहते हो 'ललित अलंकार' है।

इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं । जे तरजनी देखि मरि जाहीं ॥
देखि कुठार सरासन बाना । मैं कछु कहेउँ सहित अभिमाना ॥२॥

यहाँ कोई कोहँड़े की बतिया नहीं है जो तर्जनी उँगली देख कर मर जाती है। कुल्हाड़ा और धनुष-बाण (क्षत्रियत्व का चिन्ह) देख कर मैं ने कुछ अभिमान सहित बातें कही हैं ॥२॥

इन वाक्यों से अपनी शूरता व्यञ्जित करना गुणीभूत व्यङ्ग है।

भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी । जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी ॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई । हमरे कुल इन्ह पर न सुराई ॥३॥

भृगु-वंशज (ब्राह्मण,) समझ कर और जनेऊ देख कर जो कुछ कहिए वह क्रोध रोक कर सहूँगा। देवता, ब्राह्मण, हरिभक्त और गैया इन पर हमारे कुल के लोग शूरता नहीं दिखाते ॥३॥

रिस रोक कर सहने का कारण युक्ति से समर्थन करना कि देवता, ब्राह्मणादिकों पर हमारे कुल के लोग शूरता नहीं दिखाते 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। और इन वाक्यों से अपने कुल की धर्म-भीरुता व्यञ्जित करना वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है।

बधे पाप अपकीरति हारे । मारतहूँ पाँ परिय तुम्हारे ॥
कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा । व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥४॥

मार डालने से पाप चढ़ता है और हार जाने से अपकीर्ति होती है, इसलिए मारते हुए भी मैं आप के पाँव पड़ता हूँ। करोड़ों वज्र के समान आप के वचन ही हैं, धनुष-बाण और कुल्हाड़ी व्यर्थ लिये हो ॥४॥

वचन को वज्र की समता देकर धनुष-बाण और कुठार को व्यर्थ ठहराना अर्थात् उपमान के मोक़ाबिले उपमेय को व्यर्थ कहना 'पंचम प्रतीप अलंकार' है।

दो०—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ, छमहु महा मुनि धीर ।
सुनि सरोष भृगुबंस-मनि, बोले गिरा गँभीर ॥ २७३ ॥

हे धीर महामुने! मैंने जो देख कर अनुचित कहा, उसे क्षमा कीजिए। यह सुन कर भृगुवंश-मणि क्रोध से गम्भीर वाणी बोले ॥ २७३ ॥

चौ०—कौसिक सुनहु मन्द यह बालक । कुटिल काल बस निज कुल घालक ॥
भानु-बंस—राकेस कलङ्कू । निपट निरङ्कुस अबुध असङ्कू ॥१॥

हे विश्वामित्रजी! सुनिए, यह बालक नीच, दुष्ट, काल के अधीन और अपने कुल का नाश करनेवाला है। सूर्य्यवंश रूपी चन्द्रमा का कलङ्क रूप है और बिल्कुल स्वेच्छाचारी, नासमझ एवम् शङ्का रहित है ॥ १ ॥

काल-कवलु होइहि छन माहीं । कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं
तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा । कहि प्रताप बल रोष हमारा ॥२॥

क्षण भर में काल का कौर होगा, मैं पुकार कर कहता हूँ मुझे दोष नहीं । आप यदि इसे उबारना चाहते हैं तो मेरा प्रताप, बल और क्रोध कह कर मना कीजिए ॥ २ ॥

कौशिक को निहोरा देने में लक्षणामूलक गुणीभूत व्यङ्ग है कि इसके पिता से आप माँग कर लिवा लाये हैं । यदि यह मार डाला जायगा तो आप की प्रतिष्ठा में धब्बा लगेगा, इसलिए इसको मना कर दीजिए ।

लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा । तुम्हहिं अछत को बरनइ पारा ॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी । बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥३॥

लक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनि ! आप का सुयश आप की उपस्थिति में दूसरा कौन कह कर पार पा सकता है ? अपने मुँह से अपनी करनी का आपने असंख्यों बार बहुत तरह से वर्णन किया ॥ ३ ॥

शब्दार्थ और भावार्थ में भिन्नता है । तुम्हहिं अछत-पद से अन्य वक्ताओं का बोध हो कर डींग हाँकने की शक्ति परशुराम ही में लक्षित हो रही है । यह लक्षणामूलक गुणीभूत व्यङ्ग है ।

नहिं सन्तोष तो पुनि कछु कहहू । जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा । गारी देत न पावहु सोभा ॥४॥

इतने पर भी सन्तोष नहीं है तो फिर कुछ कहिए, क्रोध रोक कर असहनीय दुःख मत सहिए । आप वीरव्रती, साहसी और निर्भीक भट हैं, गाली देते शोभा नहीं पाते हो अर्थात् गाली बकना शूरवीर का काम नहीं है ॥ ४ ॥

दो०—सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप ।
बिद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलाप ॥२७४॥

शूरवीर संग्राम में करनी करते हैं, पर वे अपने मुँह से कह कर जनाते नहीं । शत्रु को रण में उपस्थित पा कर कादर ही प्रलाप करते हैं ॥ २७४ ॥

पहले यह कहना कि शूर समर में करनी कर के खुद नहीं कहते, फिर उपमान वाक्य की भाँति लोकोक्ति कथन कि शत्रु को सामने पाकर डरपोक डींग हाँकते हैं 'छेकोक्ति अलंकार' है । इससे परशुराम की कायरता व्यञ्जित करना तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है कि पुरुषार्थ कर के दिखलाओ, उसे बाकी न रख छोड़ो । गाली बक कर अपने वीरत्व में दाग़ न लगाओ ।

चौ०—तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा । बार बार मोहि लागि बुलावा ॥
सुनत लखन के बचन कठोरा । परसु सुधारि धरेउ कर घोरा ॥१॥

आप ने तो काल को मानों हाँक लगा कर बार बार हमारे लिए बुलाया (पर वह आता नहीं) है । लक्ष्मणजी के कठोर वचन सुनते ही भीषण भलुहे को सीधा कर के हाथ में लिया और बोले—॥ १ ॥

अब जनि देइँ दोष मोहि लोगू । कटुबादी बालक बध जोगू ॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा । अब यह मरनहार भा साँचा ॥२॥

अब मुझे लोग दोष न दें, यह कड़वी बात बकनेवाला बालक मारने ही योग्य है । लड़का जान कर मैं ने इसे बहुत बचाया, पर अब यह सचमुच मरने ही को तुल गया है ॥ २ ॥

कौसिक कहा छमिय अपराधू । बाल दोष-गुन गनहिँ न साधू ॥
कर कुठार मैं अकरन-कोही । आगे अपराधी गुरु-द्रोही ॥३॥

विश्वामित्रजी ने कहा—अपराध क्षमा कीजिए, बालक के गुण-दोष को साधुजन नहीं विचारते । परशुरामजी बोले—हाथ में फरसा है, मैं अकारण ही क्रोधी हूँ और गुरु का द्रोही अपराधी सामने है ॥ ३ ॥

इस कटु वचन पर बालक को मारने के लिए हाथ में भलुहे का रहना काफी कारण है, उस पर अकारण क्रोध, गुरु-अपमानकारी अन्य प्रबल कारण भी विद्यमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है ।

उतर देत छाड़उँ बिनु मारे । केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥
न त एहि काटि कुठार कठोरे । गुरुहि उरिन होतेउँ स्रम थोरे ॥४॥

उत्तर देता है, ऐसी दशा में मैं बिना मारे छोड़ता ? हे विश्वामित्र ! केवल आप के शील से छोड़ता हूँ । नहीं तो इसको कठिन कुल्हाड़े से काट कर थोड़े ही परिश्रम से गुरु से उऋण हो जाता ॥४॥

दो०—गाधि-सूनु कह हृदय हँसि, मुनिहि हरिअरइ सूझ ।
अय-मय-खाँड़ न ऊख-मय, अजहुँ न बूझ अबूझ ॥ २७५ ॥

विश्वामित्रजी मन में हँस कर कहते हैं कि परशुराम को हरियाली ही सूझ रही है । ये (राम-लक्ष्मण) लोह मिश्रित खाँड़ (खड्ग) हैं, ऊख से बने हुए नहीं, अब भी अबूझ की तरह नहीं समझते हैं ॥२७५॥

मुनि को हरियाली ही सूझ रही है अर्थात् जैसे सब क्षत्रिय राजाओं का बध किया वैसा ही राम-लक्ष्मण को भी समझते हैं, जिन्होंने वज्र के समान शिव धनुष को तोड़ डाला । अबूझ हैं अब भी नहीं समझते ? 'खाँड़' शब्द में श्लेष अलङ्कार है, क्योंकि खड्ग खाँड़ दोनों अर्थ प्रकट होता है । ऊख की खाँड़ लोग सहज में खाते हैं; किन्तु लोह का खड्ग जो खायगा वह प्राण गँवावेगा । सभा की प्रति में 'अजगव खण्डेउ ऊख जिमि' पाठ है । उसका अर्थ है—महादेव के धनुष को ऊख की तरह तोर डाला ।

चौ०—कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा । को नहिँ जान बिदित संसारा ॥
माता पितहि उरिन भये नीके । गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के ॥१॥

लक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनि ! आप के शील को कौन नहीं जानता ? वह संसार में प्रसिद्ध है । माता और पिता से अच्छी तरह उऋण हुए हो, गुरु का ऋण बाकी रह गया उसका आपके हृदय में बड़ा सोच है ॥१॥

आप को संसार प्रसिद्ध शील कौन नहीं जानता? इस वाक्य से शील शब्द का वाच्यार्थ छोड़ कर तद्विपरीत अर्थ प्रकट होना कि दुःशील दुनियाँ जानती है। यह अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। परशुराम की माता एकबार पति को जल लेने के लिए गईं, जब जल लेकर आईं तब जमदग्निजी ने ध्यान से उन के विलम्ब का कारण जान लिया। पर पुरुष की रति देखना स्त्री के लिए महान् पाप समझ कर अपने सात पुत्रों को उन्हें बध करने के लिए कहा, परन्तु उन पुत्रों ने वैसा नहीं किया। अन्त में परशुराम को आज्ञा दी, तदनुसार उन्हों ने सातों भाइयों सहित माता का सिर काट डाला। इस पर पिता प्रसन्न हो कर बोले कि वर माँगो—परशुरामजी ने कहा माता और भाइयों को जीवित कर दीजिए, मुनि ने तथास्तु कह कर रेणुका और सातों पुत्रों को जिला दिया। पिता की आज्ञा का पालन कर और माता को पुनः जीवित कर उऋण हुए। यही बात लक्ष्मणजी ने ऊपर कही है। परशुरामजी की उत्पत्ति और युद्धप्रिय होने का विशेष विवरण पीछे २६८ वें और २७० वें दोहे के नीचे दूसरी चौपाई की टिप्पणी देखो।

सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गयउ ब्याज बहु बाढ़ा॥
अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥२॥

वह मानों हमारे ही मत्थे निकाला है; अधिक दिन बीत गया बहुत ब्याज बढ़ा होगा। अब साहूकार (शिव) को बुला लाइए तो मैं तुरन्त थैली खोल दूँ॥२॥

व्यवहरिया बुलाने का कारण यह कि पुराना ऋण होने से सूद ब्याज का जोड़ना झञ्झट है, बुलाइये तो थैली खोलूँ यहाँ गूढ़ व्यङ्ग है कि जब वे पाँच मुख से लेना चाहेंगे तो मैं हज़ार मुख प्रकट कर लेवा देई करूँगा।

सुनि कटु-बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा॥
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचेउ नृप-द्रोही॥३॥

कटुवचन सुनकर फरसा सीधे ऊपर को उठाया, सब सभा के लोग हाय हाय कर के पुकार उठे। लक्ष्मणजी ने कहा—हे भृगुश्रेष्ठ? मुझे कुल्हाड़ा दिखाते हो! हे राजाओं के द्रोही! ब्राह्मण विचार कर मैं तुम्हें बचाता हूँ॥३॥

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज-देवता घरहिं के बाढ़े॥
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहिँ लखन निवारे॥४॥

हे ब्राह्मण-देवता! आप घर ही के बड़े हैं; कभी गहरे संग्राम में अच्छे योधा से नहीं मिले हो। सब लोग अनुचित कह कर पुकारने लगे, तब रघुनाथजी ने इशारे से लक्ष्मणजी को मना किया॥४॥

वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है कि माता और अपने भाइयों को मार कर आप बड़े शूरवीर बनते हैं। घर के सिवा बाहर किस नामी योद्धा से गहरा युद्ध किया है?

दो०—लखन उतर आहुति सरिस, भृगुबर कोप कृसानु ।
बढ़त देखि जल सम बचन, बोले रघुकुल-भानु ॥ २७६ ॥

लक्ष्मणजी का उत्तर आहुति के समान और परशुरामजी का क्रोध अग्नि के तुल्य है। बढ़ते देख कर जल के समान बुझानेवाला बचन रघुकुल के सूर्य्य रामचन्द्रजी बोले ॥ २७६ ॥

चौ०-नाथ करहु बालक पर छोहू । सूध दूध-मुख करिय न कोहू ॥
जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना । तौ कि बराबरि करइ अजाना ॥१॥

हे नाथ! बालक पर दया कीजिए, सीधे दुधमुँहे पर क्रोध न कीजिये। यदि आप के प्रभाव को कुछ जानता तो क्या अनजान की तरह बराबरी करता? ॥ १ ॥

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं । गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
करिय कृपा सिसु सेवक जानी । तुम्ह सम सील धीर मुनि ज्ञानी ॥२॥

यदि लड़के कुछ नटखटी करते हैं तो गुरु, पिता और माता मन में आनन्दित होते हैं। इस बालक को अपना दास जान कर कृपा कीजिए, क्योंकि आप तो समदर्शी, शीलवान, धीर और ज्ञानी मुनि हैं ॥ २ ॥

राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने । कहि कछु लखन बहुरि मुसुकाने ॥
हँसत देखि नख-सिख रिस ब्यापी । राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥३॥

रामचन्द्रजी की बात सुनकर कुछ ठण्ढे हुए, फिर लक्ष्मणजी ने कुछ कह कर मुस्कुरा दिया। हँसते देख कर परशुराम को नख से शिखा पर्य्यन्त क्रोध व्याप गया और बोले—हे राम! तेरा भाई बड़ा पापी है ॥ ३ ॥

परशुरामजी को क्रोध हुआ ही है, लक्ष्मणजी को हँसते देख कर उसका बढ़ना, कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है।

गौर शरीर स्याम मन माहीं । कालकूट-मुख पय-मुख नाहीं ॥
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही । नीच मीचसम देख न मोही ॥४॥

इसका शरीर गोरा है; किन्तु यह मन में काला है। दुधमुँहाँ नहीं ज़हरीले मुखवाला है। स्वभाव ही से टेढ़ तेरी बराबरी का नहीं है, यह नीच मुझे मृत्यु के समान नहीं देखता है ॥ ४ ॥

सत्य दुध-मुख को असत्य ठहरा कर असत्य विष-मुख को सत्य ठहराना 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है।

दो०—लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल ।
जेहि बस जन अनुचित करहिँ, होहिँ बिस्व प्रतिकूल ॥२७७॥

लक्ष्मणजी ने हँस कर कहा—हे मुनि! सुनिए, क्रोध पाप का मूल है। जिसके अधीन होकर लोग अयोग्य काम करते हैं और जगत् से विरुद्ध हो जाते हैं अर्थात् विश्व-विमुखी बन जाते हैं ॥२७७॥

चौ०-मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया । परिहरि कोप करिय अब दाया ॥
टूट चाप नहिं जुरहि रिसाने । बैठिय होइहहिं पाय पिराने ॥१॥

हे मुनिराज ! मैं आपका सेवक हूँ, क्रोध त्याग कर अब दया कीजिए । टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से तो जुड़ न जायगा, बैठ जाइए पाँव पिराते होंगे ॥ १ ॥

जौं अति प्रिय तौ करिय उपाई । जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥
बोलत लखनहिं जनक डेराहीं । मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥२॥

यदि अत्यन्त प्यारा है तो उपाय कीजिए, कोई बड़ा गुणी बुलवा कर जुड़वा दीजिए । लक्ष्मणजी के बोलने में जनक डरते हैं, उन्होंने कहा—अयुक्त कहना अच्छा नहीं चुप रहिए ॥ २ ॥

मुनि की बात सहना ही उचित है, यह व्यङ्ग है ।

थर थर कापहिं पुर-नर-नारी । छोट कुमार खोट अति भारी ॥
भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी । रिस तनु जरइ होइ बल हानी ॥३॥

नगर के स्त्री-पुरुष थर थर काँपते हैं और परस्पर कहते हैं कि लड़का छोटा पर बहुत बड़ा खोटा है । लक्ष्मणजी की निर्भय वाणी सुन सुन कर परशुराम का शरीर क्रोध से जला जाता है और बल की हानि हो रही है ॥ ३ ॥

बोले रामहिं देइ निहोरा । बचउँ बिचारि बन्धु लघु तोरा ॥
मन-मलीन तन सुन्दर कैसे । बिष-रस-भरा कनक-घट जैसे ॥४॥

रामचन्द्रजी को एहसान देकर बोले कि तेरा छोटा भाई विचार कर मैं इसे बचाता हूँ । यह मन का मैला और शरीर का कैसा सुन्दर है, जैसे सुवर्ण के घड़े में विष का रस भरा हो ॥४॥

दो०-सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि, नैन तरेरे राम ।
गुरु समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम ॥२७८॥

सुन कर लक्ष्मणजी फिर हँसे और रामचन्द्रजी ने आँख के इशारे से रोक दिया । सकुचा कर विपरीत वाणी को त्याग कर गुरु के पास चले गये ॥ २७८ ॥

लक्ष्मण को हँसते देख कर रामचन्द्रजी समझ गये कि फिर कुछ कहेंगे, तब आँखों के इशारे से वर्जन करना 'सूक्ष्म अलंकार' है ।

चौ०-अति बिनीत मृदु सीतल बानी । बोले राम जोरि जुग पानी ॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना । बालक बचन करिय नहिं काना ॥

अत्यन्त नम्रता से दोनों हाथ जोड़ कर रामचन्द्रजी कोमल और शीतल वचन बोले । हे नाथ ! सुनिए, आप स्वभाव से ही चतुर हैं, बालक की बात पर कान न कीजिए ॥ १ ॥

बररै बालक एक सुभाऊ । इन्हहिँ न बिदुष बिदूषहिँ काऊ ॥
तेहि नाहीँ कछु काज बिगारा । अपराधी मैँ नाथ तुम्हारा ॥२॥

बर्रै और बालक का स्वभाव एक है, इन्हें धीमान् कभी नहीं छेड़ते । नाथ ! उसने कुछ काम नहीं बिगाड़ा, आपका अपराधी तो मैं हूँ ॥ २ ॥

कृपा कोप बध बन्ध गोसाँई । मो पर करिय दास की नाँई ॥
कहिय बेगि जेहि बिधि रिस जाई । मुनि-नायक सोइ करउँ उपाई ॥३॥

हे स्वामिन् ! कृपा, क्रोध, वध या बन्धन मुझ पर सेवक की भाँति कीजिए । हे मुनिराज ! जिस प्रकार से शीघ्र आप का क्रोध दूर हो कहिए, मैं वही उपाय करूँ ॥ ३ ॥

'दास की नाँई' इस वाक्य में लक्षणामूलक विवक्षितवाच्य ध्वनि है कि सेवक पर कृपा की जाती हो तो दया कीजिए अथवा क्रोध, वध, बन्धन किया जाता हो तो वही कीजिए । जिसमें आप का क्रोध शान्त हो, मैं हर प्रकार यत्न करने को तैयार हूँ ।

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे । अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥
एहि के कंठ कुठार न दीन्हा । तो मैं काह कोप करि कीन्हा ॥४॥

मुनि ने कहा—हे राम ! मेरा क्रोध कैसे जाय ? अब भी तेरा छोटा भाई बुरी निगाह से निहारता है । इसके गले पर कुल्हाड़ा नहीं दिया तो मैं ने क्रोध ही कर के क्या किया ? ॥ ४ ॥

लक्ष्मणजी की चितवन से उनके उत्कर्ष को न सह सकने की अक्षमता 'असूया अञ्चारी-भाव' है ।

दो०—गर्भ स्रवहिँ अवनिप-रवनि, सुनि कुठार-गति-घोर ।
परसु अछत देखउँ जियत, बैरी भूप किसोर ॥२७९॥

जिस कुल्हाड़े की भीषण करनी को सुन कर राजाओं की स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं । वही फरसा मौजूद रहते मैं शत्रु राजकुमार को जीवित देखता हूँ ॥ २७९ ॥

उपायापाय चिन्ताजन्य मनोभङ्ग से 'विषाद और ग्लानि सञ्चारीभाव' है ।

चौ०—बहइ न हाथ दहइ रिस छाती । भा कुठार कुंठित नृप-घाती ॥
भयेउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ । मोरे हृदय कृपा कसि काऊ ॥१॥

हाथ चलता नहीं; क्रोध से छाती जली जाती है, राजाओं का घातक कुल्हाड़ा गोठिल हो गया । विधाता विपरीत हुए जिससे मेरा स्वभाव ही बदल गया, नहीं तो मेरे हृदय में कभी कृपा कैसी ? ॥ १ ॥

मैं दया करनेवाला नहीं हूँ, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है ।

आजु दया दुख दुसह सहावा । सुनि सौमित्रि बिहँसि सिर नावा ॥
बाउ-कृपा मूरति अनुकूला । बोलत बचन झरत जनु फूला ॥२॥

आज दया ने मुझे असहनीय दुःख सहाया, यह सुन कर लक्ष्मणजी ने हँस कर मस्तक नवाया और बोले—मूर्त्ति के अनुसार ही कृपा रूपी वायु है, इसी से जो आप वचन बोलते हैं वह ऐसा मालूम होता है मानों फूल झरता हो ॥ २ ॥

पवन बहने से फूल झरता ही है, मूर्त्ति रूपी वृक्ष से कृपा रूपी पवन के झकोरे को पा कर वचन रूपी फूल झरते हैं। यह रूपक का अङ्गी 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। कृपा, अनुकूल-मूर्त्ति और फूल का झरना अपने अपने वाच्यार्थ को छोड़ कर तद्विपरीत अर्थ अर्थात् कोप, प्रतिकूल-मूर्त्ति और विष झरने का बोध कराते हैं। यह लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि है।

जौँ पै कृपा जरहिँ मुनि गाता । क्रोध भये तनु राखु बिधाता ॥
देखु जनक हठि बालक एहू । कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥३॥

हे मुनि! यदि कृपा से अङ्ग जलते हैं तो क्रोध होने पर शरीर की रक्षा ब्रह्मा ही करते होंगे? परशुरामजी बोले—हे जनक! देखो, यह मूर्ख बालक हठ कर के यमपुरी में घर करना चाहता है ॥ ३ ॥

बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। देखत छोट खोट नृप ढोटा ॥
बिहँसे लखन कहा मन माहीँ । मूँदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीँ ॥४॥

इसको शीघ्र ही आँख की आड़ में क्यों नहीं करते? यह राजकुमार देखने में छोटा है, पर है बड़ा खोटा। लक्ष्मणजी ने हँस कर मन में कहा—आँख मूँदने पर कहीं कोई नहीं है ॥४॥

सभा की प्रति में 'बिहँसे लषन कहा मुनि पाहीँ' पाठ है,वहाँ अर्थ होगा मुनि से कहा—नहीं देखते बनता है तो आँखें बन्द कर लीजिए, इस व्यङ्गार्थ और वाच्यार्थ में तुल्य चमत्कार होने से गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०—परसुराम तब राम प्रति, बोले उर अति क्रोध ।
सम्भु सरासन तोरि सठ, करसि हमार प्रबोध ॥२८०॥

तब परशुराम हृदय में अत्यन्त क्रोध कर के रामचंद्रजी से बोले। अरे मूर्ख! शिवजी का धनुष तोड़ कर तू मुझे समझाता है ॥२८०॥

पूज्य पुरुष पर अयथार्थ क्रोध प्रकाशित करना 'रौद्र'रसाभास' है।

चौ०—बन्धु कहइ कटु सम्मत तोरे । तू छल बिनय करसि कर जोरे ॥
करु परितोष मोर सङ्ग्रामो । नाहिँ त छाड़ु कहाउब रामा ॥१॥

भाई तेरी सलाह से कड़वी बातें कहता है और तू कपट से हाथ जोड़ कर बिनती करता है। युद्ध में मेरी तृप्ति कर, नहीं तो राम कहलाना छोड़ दे ॥१॥

छल तजि करहि समर सिव-द्रोही। बन्धु सहित न त मारउँ तोही॥
भृगुपति बकहिँ कुठार उठाये। मन मुसुकाहिँ राम सिर नाये॥२॥

अरे शिवद्रोही! छल छोड़ कर संग्राम कर, नहीं तो भाई के सहित तुझे मारूँगा। परशुरामजी कुल्हाड़ा उठाये बकते हैं और रामचन्द्रजी सिर नीचे किये मन में मुस्कुराते हैं॥२॥

परशुरामजी के इस अनुचित क्रोध पर रामचन्द्रजी का अनुसन्धान करके मुस्कुराते हुए मन में विचार करना 'मति सञ्चारीभाव' है।

गुनहु लखन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहु तेँ बड़ दोषू॥
टेढ़ जानि सङ्का सब काहू। बक्र चन्द्रमहिँ ग्रसइ न राहू॥३॥

गुनाह लक्ष्मण का और क्रोध हम पर करते हैं। कहीं सीधेपन से भी बड़ा दोष होता है। टेढ़ा जान कर सब को डर होता है, टेढ़े चन्द्रमा को राहु नहीं पकड़ता॥३॥

यह रामचन्द्रजी मन में विचारते हैं कि उत्तर देने का अपराध लक्ष्मण करते हैं, परन्तु परशुरामजी मुझ पर क्रोधित हो रहे हैं। कहीं सिधाई से बड़ा दोष होता है। सीधापन उत्तम गुण है, उसको बड़ा दोष कहना 'लेश अलंकार' है। टेढ़ा समझ कर सब उससे डरते हैं, यह उपमेय वाक्य है और टेढ़े चन्द्रमा को राहु नहीं ग्रसता, यह उपमान वाक्य है। बिना वाचक पद के दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है। कहीं सुधाई से बड़ा दोष होता है, इस साधारण बात का समर्थन विशेष सिद्धान्त से करना कि टेढ़ा जान कर सब भय खाते हैं। टेढ़े चन्द्रमा का ग्रास राहु नहीं करता 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। इस प्रकार यहाँ अलंकारों का सन्देहसङ्कर है। शङ्का—रामचन्द्रजी कह आये हैं कि लक्ष्मण बालक, सीधे, दूध मुखवाले अबोध हैं, वे अपराधी नहीं हैं। फिर उन्हें गुनाहगार कैसे कहते हैं? उत्तर—प्रथम तो यह प्रत्यक्ष कथन नहीं, मन में तर्क करते हैं इससे शङ्का की बात ही नहीं है। दूसरे अर्थ में श्लेष है कि गुनाह लखते नहीं हैं, हम पर नाहक क्रोध करते हैं। वास्तव में सीता धनुष को न उठातीं तो काहे को जनक प्रण करते और किस लिए मैं धनुष तोड़ता? यह व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है।

राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा। कर कुठार आगे यह सीसा॥
जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानिय आपन अनुगामी॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनीश्वर! क्रोध त्याग दीजिए, आप के हाथ में भलुहा है और यह मेरा सिर सामने है। जिस तरह क्रोध जाय मुझे अपना सेवक समझ कर वही कीजिए॥४॥

सिर कटवाने को उद्यत होकर कल्याण चाहना 'विचित्र अलंकार' है।

दो०—प्रभुहि सेवकहि समर कस, तजहु बिप्र-बर रोस।
बेष बिलोकि कहेसि कछु, बालकहू नहिँ दोस॥२८१॥

स्वामी से सेवक का युद्ध कैसा? हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! क्रोध त्याग दीजिए। वेश देख कर उसने कुछ कहा, इसमें बालक का भी दोष नहीं है॥२८१॥

चौ०—देखि कुठार बान-धनु-धारी । भइ लरिकहि रिस बीर बिचारी ॥
नाम जान पै तुम्हहिँ न चीन्हा । बंस सुभाउ उतर तेहि दीन्हा ॥१॥

कुल्हाड़ा, बाण और धनुष धारण किए देख वीर समझ कर लड़के के क्रोध हुआ । नाम जानता है पर आप के पहचाना नहीं, वंश के स्वभावानुसार उत्तर दिया ॥१॥

'वीर विचारी' पद से वीरत्व का बाध हो कर ब्राह्मण मुनि होने की व्यङ्ग है ।

जौँ तुम्ह अवतेहु मुनि की नाँई । पद-रज सिर सिसु धरत गोसाँई ॥
छमहु चूक अनजानत केरी । चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी ॥२॥

यदि आप मुनि की तरह आते तो हे स्वामिन् ! बालक आपके चरणों की धूल सिर पर धारण करता । बिना जाने की भूल को क्षमा कीजिए, ब्राह्मण के हृदय में बड़ी दया होनी चाहिए ॥ २ ॥

हमहिँ तुम्हहिँ सरबरि कस नाथा । कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥
राम मात्र लघु नाम हमारा । परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥३॥

हे नाथ ! हम से और आप से हुज्जत कैसी ? कहिए न ! कहाँ पाँव और कहाँ मस्तक । हमारा नाम छोटा सा राम मात्र है और 'परशु' के सहित आप का बड़ा नाम (परशु-राम) है ॥३॥

अपनी लघुता और परशुराम की श्रेष्ठता व्यञ्जित करने में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि मैं चरण का देवता और आप सिर के देव हैं ।

देव एक गुन धनुष हमारे । नव गुन परम-पुनीत तुम्हारे ॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे । छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥४॥

हे देव ! हमारे तो एक गुण धनुष है और आप के अत्युत्तम पवित्र नौ गुण हैं । हम सब प्रकार से आप से हारे हैं, हे ब्राह्मण ! हमारे अपराध को क्षमा कीजिए ॥४॥

परशुराम के नवों गुणों को, परम पुनीत कहने से अपने एक गुण में अपुनीतता व्यञ्जित करने की ध्वनि है कि वह हत्या करने के सिवा और कुछ नहीं । आप के नौ गुण कोमलता, तपी, सन्तोषी, क्षमावान, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दाता, शूर और दयालु एक से एक बढ़ कर पवित्र हैं ।

दो०—बार बार मुनि बिप्र बर, कहा राम सन राम ।
बोले भृगुपति सरुष हसि, तहूँ बन्धु सम बाम ॥ २८२ ॥

रामचन्द्रजी ने बार बार परशुरामजी को मुनि, विप्रवर कहा (वीर या सुभट का एक बार भी सम्बोधन नहीं किया) तब परशुरामजी क्रुध होकर बोले कि तू भी भाई के समान टेढ़ा है ॥ २८२ ॥

चौ०—निपटहि द्विजकरि जानहि मोही । मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही ॥
चाप-स्रुवा सर-आहुति जानू । कोप मोर अति घोर-कृसानू ॥१॥

तू मुझ को केवल ब्राह्मण ही जानता है ? मैं जैसा ब्राह्मण हूँ वह तुझे सुनाता हूँ । धनुष को स्रुवा (खैरकी लकड़ी का बना कलछा जिससे यज्ञ में आहुति दी जाती है) और बाण को आहुति तथा मेरे क्रोध को अत्यन्त भीषण अग्नि समझो ॥१॥

समिध सेन चतुरङ्ग सुहाई । महा-महीप भये पसु आई ॥
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हे । समर-जज्ञ जग कोटिन्ह कीन्हे ॥२॥

चतुरङ्गिणी सेना होम की सुन्दर लकड़ी है, बड़े बड़े राजा आ कर बलिपशु हुए हैं । मैं ने इसी फरसे से काट कर बलिदान दिया है, संसार में ऐसा करोड़ों समर-यज्ञ किया है ॥२॥

अपनी शूरता वर्णन 'गर्व सञ्चारी भाव' है ।

मोर प्रभाव बिदित नहिँ तोरे । बोलसि निदरि बिप्र के भोरे ॥
भञ्जेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा । अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा ॥३॥

मेरा प्रभाव तुझ को प्रकट नहीं है, ब्राह्मण के धोखे मेरा निरादर कर के बोलता है । धनुष तोड़ डाला इससे बड़ा घमण्ड बढ़ गया ? ऐसा अहङ्कार मालूम होता है मानों जगत् को जीत कर खड़े हो ॥ ३ ॥

राम कहा मुनि कहहु बिचारी । रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥
छुअतहि टूट पिनाक पुराना । मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना ॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि ! विचार कर कहिए, आप का क्रोध बहुत बड़ा है और मेरी चूक थोड़ी है । पुराना धनुष छूने ही टूट गया, मैं अभिमान किस कारण करूँगा ॥ ४ ॥

दो०—जौँ हम निदरहिँ बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भय-बस नावहिँ माथ ॥२८३॥

हे भृगुनाथ ! सुनिए, यदि हम सचमुच ब्राह्मण कह कर निरादर करेंगे तो संसार में ऐसा शूरवीर कौन है ? जिसको मैं डर से मस्तक नवाऊँगा ॥ २८३ ॥

मैं ब्राह्मण के अनादर से डरता हूँ, किसी योद्धा को डर से मस्तक नहीं झुका सकता । मेरा सिर ब्राह्मणों ही के चरणों में झुकता है, योद्धा के नहीं । यह व्यङ्गार्थ और वाच्यार्थ दोनों में समान चमत्कार होने से गुणीभूत व्यंग है ।

चौ०—देव दनुज भूपति भट नाना । सम बल अधिक होउ बलवाना ॥
जौँ रन हमहिँ पचारइ कोऊ । लरहिँ सुखेन काल किन होऊ ॥१॥

देवता, दैत्य और राजाओं में विविध योद्धा चाहे समान बल का हो चाहे अधिक बलवान हो । यदि युद्ध के लिए हमें कोई ललकारे तो काल ही क्यों न हो मैं प्रसन्नता से लड़ूँगा ॥ १ ॥

छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल-कलङ्क तेहि पावर जाना॥
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिँ न रन रघुवंसी॥२॥

क्षत्रिय का शरीर धर कर युद्ध से डरा तो उसको कुल का कलङ्क और अधम जानना चाहिए। मैं कुल की प्रशंसा नहीं करता हूँ वरन् सहज स्वभाव कहता हूँ कि रघुवंशी संग्राम में काल से भी नहीं डरते॥२॥

बिप्र-बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिँ डेराई॥
सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर-मति के॥३॥

ब्राह्मण-वंश की ऐसी महिमा है कि जो आप को डरता है वह निर्भय हो जाता है। रघुनाथजी के अभिप्राय-गर्भित कोमल वचन सुन कर परशुरामजी की बुद्धि का पड़दा खुल गया॥३॥

जो ब्राह्मण को डरता है वह निर्भय हो जाता है, कारण से विरुद्ध कार्य्य का उत्पन्न होना 'पञ्चम विभावना अलंकार' है।

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मोर मिटै सन्देहू॥
देत चाप आपुहि चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥४॥

परशुरामजी ने कहा—हे रामचन्द्र! विष्णु का धनुष लीजिए और इसको खैंच कर चढ़ा दीजिए तो मेरा सन्देह मिट जाय। ऐसा कह कर धनुष देने लगे तो वह आप ही आप रामचन्द्रजी के हाथ में चला गया, यह देख कर परशुरामजी के मन में खेद हुआ (कि मुझ से बड़ी भूल हुई)॥४॥

एक बार विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर परशुरामजी को अपना शार्ङ्ग-धनुष देकर कहा—पृथ्वी पर जो कोई इस धनुष को चढ़ा दे, उसको मेरा अवतार समझ कर तुम यह धनुष दे देना। उस पूर्व वचन का परशुरामजी को याद आना 'स्मरण अलंकार' है। देने के पहले ही धनुष का रामचन्द्रजी के हाथ में स्वयम् चला जाना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है। अपनी भूल से न कहने योग्य बातें कह डालने से चिन्ताजन्य मनोभङ्ग का उत्पन्न होना 'विषाद सञ्चारीभाव' है।

दो०—जाना राम प्रभाव तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन, हृदय न प्रेम अमात॥२८४॥

जब रामचन्द्रजी के प्रभाव को जान लिया तब शरीर प्रेम से पुलकायमान हो गया। हृदय में प्रीति अँटती नहीं (उमड़ी पड़ती) है, हाथ जोड़ कर वचन बोले॥२८४॥

यहाँ 'राम' शब्द श्लेषार्थी है। परशुराम और रामचन्द्रजी दोनों का बोधक है। परशुरामजी के कोपभाव की शान्ति ईश्वरानुराग रूपी रतिभाव के अङ्ग से होना 'समाहित अलंकार' है।

चौ०–जय रघुबंस-बनज-बन-भानू। गहन-दनुज-कुल दहन-कृसानू॥
जय सुर-बिप्र-धेनु-हितकारी। जय मद मोह-कोह-भ्रम-हारी॥१॥

रघुकुल रूपी कमल-वन के सूर्य्य और राक्षसवंश रूपी जङ्गल के जलानेवाले दावानल आप की जय हो। देवता, ब्राह्मण, गैया के हितकारी जय हो, घमण्ड, अज्ञान, क्रोध और भ्रम के हरनेवाले आप की जय हो॥१॥

बिनय-सील करुना-गुन सागर। जयति बचन-रचना अति नागर॥
सेवक-सुखद सुभग सब अङ्गा। जय सरीर छबि कोटि अनङ्गा॥२॥

नम्रता, शील, दया और गुण के समुद्र, बचनों की रचना में बड़े चतुर सेवकों के सुख देनेवाले, सब अङ्ग सुन्दर करोड़ों कामदेव की छबि से युक्त शरीरवाले आप की जय हो॥२॥

करउँ काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस मन मानस हंसा॥
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा-मन्दिर दोउ भ्राता॥३॥

एक मुख से मैं क्या प्रशंसा करूँ, शिवजी के मन रूपी मानसरोवर के हंस आप की जय हो। मैं ने विना जाने बहुत अनुचित बातें कहीं, आप दोनों भाई क्षमा के मन्दिर हैं, क्षमा कीजिये॥३॥

अनजान में अनुचित वचन कहने का परशुरामजी के मन में सङ्कोच उत्पन्न होना व्रीड़ा सञ्चारी भाव है।

कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गये बनहिँ तप-हेतू॥
अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गँवहिँ पराने॥४॥

रघुकुल के पताका रूप रामचन्द्रजी का बारम्बार जय जयकार कर के परशुरामजी तपस्या के लिए बन को गये। यह देख कर दुष्ट राजा अपने ही डर से डरे, वे डरपोक जहाँ तहाँ गँव से भाग गये॥४॥

सभा की प्रति में 'अपभय सकल महीप डेराने' पाठ है।

दो०–देवन्ह दीन्हीं दुन्दभी, प्रभु पर बरषहिँ फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब, मिटा मोह-मय-सूल॥२८५॥

देवता-गण नगारे बजा कर प्रभु रामचन्द्रजी पर फूल बरसाते हैं। नगर के स्त्री-पुरुष सब का अज्ञान से उत्पन्न दुःख मिट गया वे हर्षित हुए॥२८५॥

पहले लोग शोक-भाव में मग्न थे, परशुरामजी को स्तुति कर के जाते देख पहला भाव मिट कर हर्ष सञ्चारी का उदय होना 'भावशान्ति' है।

चौ०–अति गहगहे बाजने बाजे। सबहि मनोहर मङ्गल साजे॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिँ गान कल कोकिल-बयनी॥१॥

अत्यन्त धूम के साथ बाजे बजने लगे, सभी ने मनोहारी मङ्गल साज सजे। सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रवाली कोयल के समान वाणीवाली झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ सुन्दर गान करती हैं॥१॥

सुख बिदेह कर बरनि न जाई । जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई ॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी । जनु बिधु उदय चकोर-कुमारी ॥२॥

विदेह का सुख वर्णन नहीं किया जा सकता, वे ऐसे आनन्दित मालूम होते हैं मानों जन्म का दरिद्री धन की राशि पा गया हो । त्रास रहित होकर सीताजी प्रसन्न हुईं, वे ऐसी जान पड़ती हैं मानों चन्द्रमा के उदय से चकोर की कन्या ख़ुश हो ॥२॥

जन्म का कङ्गाल धन राशि पा कर ख़ुश होना ही है और चन्द्रोदय से चकोर-कुमारी प्रसन्न होती है । यह दोनों 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा । प्रभु प्रसाद धनु भञ्जेउ रामा ॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई । अब जो उचित सो कहिय गोसाँई ॥३॥

राजा जनक ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया और कहा कि आप की कृपा से रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़ा । दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया, हे स्वामिन् ! अब जो उचित हो सो कहिए ॥ ॥

कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना । रहा बिबाह चाप आधीना ॥
टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू । सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥४॥

विश्वामित्र मुनि ने कहा—हे चतुर राजन् ! सुनिए, विवाह तो धनुष के अधीन था । धनुष के टूटते ही विवाह हो गया; यह देवता, मनुष्य और नाग सब को विख्यात है ॥४॥

दो०-तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा बंस ब्यवहार ।
बूझि बिप्र कुल-बृद्ध गुरु, बेद बिदित आचार ॥२८६॥

तो भी आप जा कर अब जैसा कुल व्यवहार हो, ब्राह्मण कुल के वृद्ध और गुरु से पूछ कर वेद-विख्यात आचार कीजिए ॥२८६॥

चौ०-दूत अवधपुर पठवहु जाई । आनहिं नृप दसरथहि बोलाई ॥
मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला । पठये दूत बोलि तेहि काला ॥१॥

जा कर अयोध्यापुरी को दूत भेजो, वे राजा दशरथ को बुला लावें । प्रसन्न होकर राजा जनक ने कहा—बहुत अच्छा दयानिधे, उसी समय दूतों को बुला कर भेजा ॥१॥

आज्ञा होने के साथ ही दूत अयोध्यापुरी को भेजना कारण-कार्य्य का एक सङ्ग होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है ।

बहुरि महाजन सकल बोलाये । आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥
हाट बाट मन्दिर सुर-बासा । नगर सँवारहु चारिहु पासा ॥ २ ॥

फिर सम्पूर्ण महाजनों (रईसों) को बुलवाया, उन सब ने आकर आदर से मस्तक नवाया । राजा ने उन्हें आज्ञा दी कि बाज़ार, गली, (सड़क) मकान और देवालय नगर के चारों ओर सब सजवाओ ॥२॥

हरषि चले निज निज गृह आये । पुनि परिचारक बोलि पठाये ॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई । सिर धरि बचन चले सचु पाई ॥३॥

वे (महाजन) प्रसन्न हो कर चले और अपने अपने घर आये, फिर सेवकों नौकरों) को बुलवा भेजा और उन्हें आज्ञा दी कि विलक्षण मण्डप बना कर तैयार करो, वे सब आज्ञा शिरोधार्य्य कर प्रसन्न हो कर चले ॥३॥

पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना । जे बितान बिधि कुसल सुजाना ॥
बिधिहि बन्दि तिन्ह कीन्ह अरम्भा । बिरचे कनक कदलि के खम्भा ॥४॥

उन (सेवकों) ने अनेक कारीगरों को बुलवा भेजा जो मण्डप बनाने के विधान में निपुण और अच्छे चतुर हैं। ब्रह्मा की वन्दना कर के उन्होंने कार्य्यारम्भ किया, पहले सुवर्ण के केले के खम्भे बनाये ॥४॥

प्रथम ब्रह्मा की वन्दना कर कदली के खम्भ बनाना दोनों बातें साभिप्राय हैं। ब्रह्मा विधान के प्रधान देवता हैं और केले का वृक्ष मांगलीक है। इससे पहले उसी का निर्माण किया।

दो०—हरित-मनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल ।
रचना देखि बिचित्र अति, मन बिरञ्चि कर भूल ॥२८७॥

हरियर-मणियों के पत्ते एवम् फल बनाये और माणिक के (लाल) फूल लगाये। अत्यन्त विलक्षण बनावट को देख कर ब्रह्मा का मन भूल जाता है ॥ २८७ ॥

चौ०—बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हे। सरल सपरन परहिँ नहिँ चीन्हे॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिँ परइ सपरन सुहाई ॥१॥

हरी हरी मणियों के सब बाँस बनाये, वे सीधे पत्तों के सहित पहचाने नहीं जाते हैं। सोने की सुन्दर पान की लता बनाई, वह सुहावनी पत्तों के सहित लखाव में नहीं आती कि बनावटी है ॥ १ ॥

बाँस और नागवल्ली में असली-नकली का भेद न प्रकट होना 'मीलित अलंकार' है।

तेहि के रचि पचि बन्ध बनाये । बिच बिच मुकुता-दाम लगाये ॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥२॥

उन बेलों का निर्माण करके जड़ कर बन्धन बनाया, बीच बीच में मोतियों की सुहावनी मालाएँ लटकाईं। लाल, पन्ना, हीरा और फिरोजा चारों रत्नों को चीर, रेत और जड़ कर कमल बनाये ॥ २ ॥

माणिक-लाल रङ्ग के कमल, मरकत या जमुर्रद-हरित रङ्ग, हीरा-सफेद रङ्ग और पिरोजा के पीले रङ्ग के कमल निर्माण किये।

किये भृङ्ग बहु रङ्ग बिहङ्गा । गुञ्जहिँ कूजहिँ पवन प्रसङ्गा ॥
सुर-प्रतिमा खम्भन्हि गढ़ि काढ़ी । मङ्गल-द्रव्य लिये सब ठाढ़ी ॥३॥

भँवरे और पक्षी बहुत रङ्ग के बनाये, वे हवा के सम्बन्ध से गुञ्जारते और बोलते हैं। देवताओं की मूर्तियाँ खम्भों में गढ़ कर निकालीं, वे माङ्गलीक वस्तु लिये हुए खड़ी हैं ॥ ३ ॥

चौकैं भाँति अनेक पुराई । सिन्धुर-मनि-मय सहज सुहाई ॥४॥

गज-मोतियों के सहज ही सुहावने अनेक तरह के चौक पुरवाये ॥ ४ ॥

दो०-सौरभ-पल्लव सुभग सुठि, किये नीलमनि कोरि ।
हेम-बौर मरकत-घवरि, लसत पाट-मय डोरि ॥२८८॥

नीलमको कोर कर अत्यन्त शोभन आम के पत्ते बनाये। सुवर्ण के बौर (आम के फूल) उनमें पन्ना के फलों के गुच्छे लगाये, वे रेशम की (लाल रङ्ग) डोरी में शोभित हो रहे हैं ॥ २८८ ॥

चौ०-रचे रुचिर बर बन्दनवारे । मनहुँ मनोभव फन्द सँवारे ॥
मङ्गल-कलस अनेक बनाये । ध्वज पताक पट चँवर सुहाये ॥१॥

सुन्दर अच्छे बन्दनवार बनाये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों कामदेव ने फन्दा सजाया हो। असंख्यों मङ्गल के कलशे, ध्वजा, पताका, वस्त्र और सुहावने चँवर बनाये ॥ १ ॥

दीप मनोहर मनि-मय नाना । जाइ न बरनि बिचित्र बिताना ॥
जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही । सो बरनइ असि मति कबि केही ॥२॥

नाना प्रकार के मनोहर मणियों के दीपक बनाये, उन विलक्षण मण्डपों का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस मण्डप में जानकीजी दुलहिन हैं, (जो राजा जनक के महल में बना है) किस कवि की ऐसी बुद्धि है कि उसका वर्णन कर सके ॥ २ ॥

दूलह राम रूप-गुन-सागर । सो बितान तिहुँ लोक उजागर ॥
जनक-भवन कै सोभा जैसी । गृह गृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥३॥

रूप और गुण के समुद्र रामचन्द्रजी दूलह हैं, वह मण्डप तीनों लोकों में विख्यात है। जैसी राजा जनक के महल की शोभा है, नगर में घर घर वैसी ही सजावट देखने में आती है ॥ ३ ॥

जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी । तेहि लघु लाग भुवन दस-चारी ॥
जो सम्पदा नीच गृह सोहा । सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥४॥

जिसने उस समय मिथिलापुरी को देखा, उसको चौदहों लोकों का ऐश्वर्य्य थोड़ा लगा। जो सम्पत्ति नीच के घर में विराज रही है, वह देख कर इन्द्र मोहित हो जाते हैं ॥ ४ ॥

दो०—बसइ नगरजेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष ॥
तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिँ सारद सेष ॥२८९॥

जिस नगर में लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष बना कर रहती हैं । उस नगर की शोभा कहते हुए सरस्वती और शेष सकुचा जाते हैं ॥२८९॥

चौ०—पहुँचे दूत राम-पुर पावन । हरषे नगर बिलोकि सुहावन ॥
भूप-द्वार तिन्ह खबरि जनाई । दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई ॥१॥

रामचन्द्रजी के पवित्र नगर (अयोध्या) में दूत पहुँच गये, सुहावनी पुरी को देख कर प्रसन्न हुए । राजद्वार पर जा कर उन्होंने ख़बर जनाई, सुन कर महाराज दशरथजी ने बुलवा लिया ॥१॥

करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही । मुदित महीप आप उठि लीन्ही ॥
बारि-बिलोचन बाँचत पाती । पुलक गात आई भरि छाती ॥२॥

प्रणाम कर के उन दूतों ने चिट्ठी दी, प्रसन्नता से स्वयम् उठ कर राजा ने ली । पत्रिका बाँचते समय नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया और प्रीति से छाती भर आई ॥२॥

राम-लखन-उर कर-बर-चीठी । रहि गये कहत न खाटी मीठी ॥
पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची । हरषी सभा बात सुनि साँची ॥३॥

राम-लक्ष्मण की मूर्त्ति हृदय में और वह श्रेष्ठ चिट्ठी हाथ में है, खट्टी मीठी कुछ कहते नहीं, चुप रह गये । फिर धीरज धर कर पत्रिका को पढ़ा, सच्ची बात सुन कर सभा प्रसन्न हुई ॥३॥

पत्रिका के पाते ही प्रेम से राजा के चित्त में विवेक शून्यता का उत्पन्न होना 'जड़ता सञ्चारीभाव' है । फिर साहस द्वारा चित्त को दृढ़ करना 'धृति सञ्चारीभाव' है । जड़ता को धृति सञ्चारी ने दबा दिया, यह भाव सबलता है ।

खेलत रहे तहाँ सुधि पाई । आये भरत सहित हित भाई ॥
पूछत अति सनेह सकुचाई । तात कहाँ तेँ पाती आई ॥४॥

भरतजी हितैषी बन्धु के सहित जहाँ खेलते थे वहाँ ख़बर पा कर सभा में आये और अत्यन्त स्नेह से सकुचा कर पूछते हैं कि हे तात ! कहाँ से चिट्ठी आई है ? ॥४॥

'हे तात ! यह पाती कहाँ से आई है ?' इसी प्रश्न से उत्तर भी निकलता है कि तात रामचन्द्र के यहाँ से चिट्ठी आई है । यह 'प्रथम चित्रोत्तर अलंकार' है ।

दो०—कुसल प्रान प्रिय बन्धु दोउ, अहहिँ कहहु केहि देस ।
सुनि सनेह-साने-बचन, बाँची बहुरि नरेस ॥२९०॥

प्राण प्यारे दोनों भाई कहिए किस देश में हैं और कुशल से हैं ? स्नेह से मिले वचन सुन कर राजा ने फिर चिट्ठी बाँच कर सुनाई ॥२९०॥

चौ०--सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता । अधिक सनेह समात न गाता ॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी । सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी ॥१॥

चिट्ठी सुन कर दोनों भाई प्रसन्न हुए, इतना अधिक स्नेह हुआ कि अंगों में समाता नहीं है। भरतजी की पवित्र प्रीति देख कर सारी सभा विशेष आनन्द को प्राप्त हुई ॥१॥

तब नृप दूत निकट बैठारे । मधुर मनोहर बचन उचारे ॥
भैया कहहु कुसल दोउ बारे । तुम्ह नीके निज नयन निहारे ॥२॥

तब राजा ने दूतों को पास में बैठा कर मीठे और मनोहर वचन बोले—हे भइया! कहो, तुमने अपनी आँखों से उन्हें अच्छी तरह देखा है ॥२॥

स्यामल गौर धरे धनु भाथा । बय-किसोर कौसिक मुनि साथा ॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ । प्रेम-बिबस पुनि पुनि कह राऊ ॥३॥

श्यामल गौर वर्ण धनुष और तरकस धारण किए, किशोर अवस्थावाले विश्वामित्र मुनि के साथ हैं। तुम उन्हें पहचानते हो तो उनका स्वभाव कहो, प्रेम के अधीन हो कर राजा बार बार कहते हैं ॥३॥

जा दिन तें मुनि गयउ लेवाई । तब तें आजु साँचि सुधि पाई ॥
कहहु बिदेह कवनि बिधि जाने । सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने ॥४॥

जिस दिन से मुनि लिवा ले गये, तब से आज ही सच्ची खबर मिली है। कहो, विदेह राजा ने उन्हें किस तरह पहचाना? इस प्रकार प्यारी वाणी सुन कर दूत मुस्कुराये ॥ ४ ॥

दूतों का तत्वानुसन्धान द्वारा महाराज के ऐश्वर्य्य, पुत्र-प्रेम और सरलता को विचार कर आश्चर्य्य से मन में मुस्कुराना 'मतिसञ्चारी भाव' है।

दो०--सुनहु महीपति-मुकुट-मनि, तुम्ह सम धन्य न कोउ ।
राम लखन जाके तनय, बिस्व-बिभूषन दोउ ॥२९१॥

दूत बोले—हे राजाओं के मुकुटमणि! सुनिए, आप के समान धन्य कोई नहीं है, जगत् के भूषण रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों जिनके पुत्र हैं ॥ २९१ ॥

चौ०--पूछन जोग न तनय तुम्हारे । पुरुष-सिंह तिहुँ पुर उँजियारे ॥
जिन्ह के जस-प्रताप के आगे । ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥१॥

आप के पुत्र पूछने योग्य नहीं हैं, वे पुरुषों में सिंह और तीनों लोकों में उजागर हैं। जिनके यश एवम् प्रताप के सामने चन्द्रमा मलिन तथा सूर्य्य शीतल लगते हैं ॥ १ ॥

तिन्ह कहँ कहिय नाथ किमि चीन्हे । देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे ॥
सीय-स्वयम्बर भूप अनेका । समिटे सुभट एक तें एका ॥२॥

हे नाथ! आप कहते हैं कि इनको कैसे पहचाना? क्या सूर्य्य को हाथ में दीपक ले कर देखना होता है! सीताजी के स्वयम्बर में असंख्यों राजा एक से एक शूरवीर इकट्ठे हुए थे ॥२॥

प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि आप के पुत्र स्वयम् प्रसिद्ध हैं, उनके यश-प्रताप को कौन नहीं जानता ? पर यह सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कथन करना कि क्यों कोई सूर्य्य को हाथ में चिराग लेकर देखता है ? 'ललित अलंकार' है।

सम्भु-सरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरियारा॥
तीनि लोक महँ जे भट मानी। सब कै सकति सम्भु-धनु भानी॥३॥

शिवजी के धनुष को किसी ने नहीं हटाया, सारे बलवान् वीर हार गये। तीनों लोकों में जो अभिमानी योद्धा थे, शङ्कर-चाप ने सब की शक्ति का नाश कर डाला॥ ३॥

सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू॥
जेहि कौतुक सिव-सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥४॥

जो बाणासुर सुमेरु को उठा सकता है, वह भी हृदय में हार फेरा डाल कर चला गया। जिसने खेल ही में कैलास-पर्वत को उठा लिया था, उस सभा में वह भी हार को प्राप्त हुआ॥ ४॥

रावण का नाम सीधे न ले कर यह कहना कि जिसने शिव-शैल उठाया था वह भी पराजित हुआ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है।

दो०--तहाँ राम-रघुबंस-मनि, सुनिय महा-महिपाल।
भञ्जेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पङ्कज-नाल॥२९२॥

महाराजाधिराज! सुनिए, रघुकुल-मणि रामचन्द्रजी ने उस सभा में बिना परिश्रम ही इस तरह धनुष को तोड़ डाला जैसे हाथी कमल की डण्ठा को तोड़ता है॥ २९२॥

चौ०--सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥
देखि राम बल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥१॥

(धनुष का टूटना) सुन कर क्रोध के साथ परशुरामजी आये और उन्होंने बहुत तरह से आँख दिखाई। रामचन्द्रजी का बल देख कर अपना धनुष दे दिया और बहुत सी बिनती कर के वन को चले गये॥ १॥

राजन राम अतुल बल जैसे। तेज-निधान लखन पुनि तैसे॥
कम्पहिँ भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरि-किसोर के ताके॥२॥

राजन्! जैसे रामचन्द्रजी अतुल पराक्रमी हैं वैसे ही फिर लक्ष्मणजी तेज के स्थान हैं। जिनके निहारने से राजा लोग ऐसे काँपते हैं, जैसे किशोर अवस्थावाले सिंह के देखने से हाथी काँपता है॥ २॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में रामचन्द्र और लक्ष्मणजी के प्रतापवान् होने का वर्णन है। प्रथम उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य है। 'अतुलबल' और 'तेजनिधान' एकार्थवाची शब्दों द्वारा दोनों का एक धर्म कथन 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है।

देव देखि तब बालक दोऊ । अब न आँखि तर आवत कोऊ ॥
दूत बचन-रचना प्रिय लागी । प्रेम-प्रताप-बीररस पागी ॥३॥

हे देव ! आप के दोनों बालकों को देख कर अब कोई आँख के नीचे नहीं आता है । दूतों की वाक्य रचना—प्रेम, प्रताप और वीररस से पगी हुई समझ कर, सब को प्रिय लागी ॥३॥

सभा समेत राउ अनुरागे । दूतन्ह देन निछावरि लागे ॥
कहि अनीति ते मूदहिँ काना । धरम बिचारि सबहि सुख माना ॥४॥

सभा के सहित राजा प्रेम से प्रसन्न होकर दूतों को न्योछावर देने लगे । वे कान मूँद कर कहते हैं कि ऐसा करना नीति के विरुद्ध है, धर्म विचार कर सभा के सब लोग सुख मानते हैं ॥४॥

कन्यापक्ष के मनुष्यों का वर-पक्ष से पुरस्कार लेना अनुचित है । यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है ।

दो०--तब उठि भूप बसिष्ठ कहँ, दीन्हि पत्रिका जाइ ।
कथा सुनाई गुरुहि सब, सादर दूत बोलाइ ॥२९३॥

तब राजा उठ कर वशिष्ठजी के पास गये और उन्हें चिट्ठी दी । आदर के साथ दूतों को बुलवा कर सारी कथा गुरुजी को सुनाई ॥ २९३ ॥

चौ०--सुनि बोले गुरु अति सुख पाई । पुन्य-पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥
जिमि सरिता सागर महँ जाहीँ । जद्यपि ताहि कामना नाहीँ ॥१॥

सुन कर गुरुजी अत्यन्त आनन्दित होकर बोले कि पुण्यात्मा-पुरुष को धरती सुख से छाई रहती है । जैसे नदियाँ समुद्र में जाती हैं, यद्यपि उसको इच्छा नहीं रहती ॥ १ ॥

तिमि सुख सम्पति बिनहि बोलाये । धरमसील पहिँ जाहिँ सुभाये ॥
तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर सेबी । तसि पुनीत कौसल्या देबी ॥२॥

वैसे ही सुख-सम्पत्ति बिना बुलाये धर्मात्मा के पास स्वाभाविक ही जाते हैं । आप जैसे गुरु, ब्राह्मण, गैया और देवता के सेवक हैं, वैसी ही पवित्र कौशल्या देवी हैं ॥ २ ॥

सुकृती तुम्ह समान जग माहीँ । भयउ न है कोउ होनेउँ नाहीँ ॥
तुम्ह तेँ अधिक पुन्य बड़ का के । राजन राम सरिस सुत जा के ॥३॥

आप के समान संसार में पुण्यात्मा न कोई हुआ, न है और न होने ही वाला है । राजन् ! आप से बढ़ कर बड़ा पुण्य किसका है कि जिनके रामचन्द्रजी के समान पुत्र हैं ? ॥ ३ ॥

बीर बिनीत धरम-ब्रत धारी । गुन-सागर बर बालक चारी ॥
तुम्ह कहँ सर्ब काल कल्याना । सजहु बरात बजाइ निसाना ॥४॥

आप के चारों पुत्र सुन्दर शूर, नम्र, धर्मव्रत धारण करनेवाले और गुणों के समुद्र हैं । आप को सदा कल्याण है, डङ्का बजा कर बारात सजवाइए ॥४॥

दो०-चलहु बेगि सुनि गुरु बचन, भलेहि नाथ सिर नाइ ॥
भूपति गवने भवन तब, दूतन्ह बास देवाइ ॥२९४॥

शीघ्र ही चलो, गुरु के वचन को सुन कर राजा ने सिर नवा कर कहा—बहुत अच्छा स्वामिन्। तब दूतों को ठहरने का प्रबन्ध कर आप राजमहल में गये ॥ २९४ ॥

चौ०-राजा सब रनिवास बोलाई। जनक-पत्रिका बाँचि सुनाई ॥
सुनि सन्देस सकल हरषानी। अपर कथा सब भूप बखानी ॥१॥

राजा ने समस्त रनिवास को बुला कर जनकजी की चिट्ठी पढ़ सुनाई। उस सन्देश को सुन कर सब रानियाँ हर्षित हुईं और सब समाचार राजा ने (जो दूतों से ज़बानी मालूम हुआ था) वर्णन किया ॥१॥

प्रेम-प्रफुल्लित राजहिँ रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिद बानी ॥
मुदित असीस देहिँ गुरु नारी। अति आनन्द मगन महँतारी ॥२॥

प्रेम से आनन्दित रानियाँ शोभित हो रही हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों मेघों के शब्द सुन कर मोरनी प्रसन्न हुई हों। बड़ी वृद्ध स्त्रियाँ हर्षित हो कर आशीर्वाद देती हैं, माताएँ अत्यन्त आनन्द में मग्न हैं ॥२॥

लेहिँ परसपर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिँ छाती ॥
राम लखन कै कीरति करनी। बारहि बार भूप-बर बरनी ॥३॥

अत्यन्त प्रिय पत्रिका को बारी बारी से ले कर हृदय में लगा कर छाती ठण्डी करती हैं। रामलक्ष्मण की कीर्त्ति और करनी को भूप वर ने बारम्बार वर्णन किया ॥३॥

'जुड़ावहिँ छाती' से रामचन्द्रजी की विरहाग्नि से तप्त होने की व्यञ्जना अगूढ़ व्यङ्ग है।

मुनि प्रसाद कहि द्वार सिधाये। रानिन्ह तब महिदेव बोलाये ॥
दिये दान आनन्द समेता। चले बिप्र-बर आसिष देता ॥४॥

मुनि (विश्वामित्र) की कृपा का फल कह कर दरवाजे पर बाहर गये, तब रानियों ने ब्राह्मणों को बुलवाया। उन्हें आनन्द के साथ दान दिये, विप्रवर आशीर्वाद देते हुए चले ॥४॥

सो०-जाचक लिये हँकारि, दीन्हि निछावर कोटि बिधि ॥
चिरजीवहु सुत चारि, चक्रवर्त्ति दसरत्थ के ॥२९५॥

मङ्गनों को बुलवा लिये और उन्हें करोड़ों प्रकार की न्योछावरें दीं। वे सब कहते हैं—चक्रवर्ती महाराज दशरथजी के चारों पुत्र चिरञ्जीवी हों ॥२९५॥

चौ०-कहत चले पहिरे पट नाना। हरषि हने गहगहे निसाना ॥
समाचार सब लोगन्ह पाये। लागे घर घर होन बधाये ॥१॥

इस तरह कहते हुए वे नाना प्रकार के वस्त्र पहन कर चले और प्रसन्न होकर धूम से नगारे बजाने लगे। यह समाचार सब लोगों ने पाया, घर घर मङ्गल गान होने लगा ॥१॥

भुवन चारि-दस भरा उछाहू । जनकसुता-रघुबीर बिबाहू ॥
सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे । मग-गृह-गली सँवारन लागे ॥२॥

जनकनन्दिनी और रघुनाथजी के विवाह का उत्साह चौदहों लोकों में भर गया। इस शुभ वृत्तान्त को सुन कर लोग प्रेम में मग्न हो रास्ता, गली और घरों को सजाने लगे ॥२॥

सभा की प्रति में 'भुवन चारि दस भयउ उछाहू' पाठ है।

जद्यपि अवध सदैव सुहावनि । रामपुरी मङ्गल-मय पावनि ॥
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मङ्गल-रचना रची बनाई ॥३॥

यद्यपि रामचन्द्रजी की पुरी अयोध्या, मङ्गल रूप, पवित्र, सदा सुहावनी है तो भी प्रीति की रीति के अनुसार सुन्दर मङ्गल रचनाएँ बना कर सजाई गयीं ॥३॥

अयोध्यापुरी सदा सुहावनी है, यह विशेष बात कही गई। इसका समर्थन साधारण सिद्धान्त से करना कि रामपुरी होने से मङ्गलमय पवित्र है। इतने से सन्तुष्ट न हो कर पुनः विशेष उदाहरण से पुष्ट करना कि तो भी प्रीति की रीति सुन्दर मङ्गल रचना रचवाती है 'विकस्वर अलंकार' है।

ध्वज पताक पट चामर चारू । छावा परम-बिचित्र बजारू ॥
कनक कलस तोरन मनि-जाला । हरद दूब दधि अच्छत माला ॥४॥

बाजार, सुन्दर ध्वजा, पताका, वस्त्र और चँवरों से अतिशय विलक्षण छाया हुआ है। सुवर्ण के कलश, वन्दनवार, रत्न-समूह, हलदी, दूब, दही, अक्षत और माला से ॥४॥

दो०—मङ्गल मय निज निज भवन, लोगन्ह रचे बनाइ ।
बीथी सींची चतुरसम, चौके चारु पुराइ ॥ २९६ ॥

सब लोगों ने अपने अपने घरों को सज कर मङ्गल-रूप बनाये। चतुस्सम से गलियाँ सींची गईं और सुन्दर चौक पुरवाए ॥२९६॥

२ भाग कस्तूरी, ३ भाग कपूर, ३ भाग केसर और ४ भाग चन्दन से बने जल को चतुस्सम कहते हैं। यह सुगन्धित जल मङ्गल कार्य्यों के समय निर्मित किया जाता है।

चौ०-जहँतहँजूथजूथमिलिभामिनि । सजिनव-सपत सकल दुति दामिनि॥
बिधु-बदनीमृग-सावक-लोचनि । निज-सरूप रति-मान-बिमोचनि ॥१॥

जहाँ तहाँ झुण्ड की झुण्ड सम्पूर्ण बिजली की कान्तिवाली स्त्रियाँ मिल कर सोलहों शृङ्गार सजे हुए, चन्द्राननी, बाल मृगनैनी जो अपनी छवि के आगे रति के गर्व को छुड़ाने वाली हैं ॥१॥

सोलहों शृंगार ये हैं—"(१) अङ्गों को पवित्र करना। (२) स्नान। (३) निर्मल वस्त्र धारण। (४) महावर लगाना। (५) बाल गूथना। (६) माँग में सिन्दूर धारण। (७) माथे पर

बिन्दी लगाना। (८) ठोढ़ी पर तिल बनाना। (९) हाथ-पाँव के तलुवों पर मेंहँदी का रङ्ग चढ़ाना। (१०) शरीर में केशरादि से बना जल या इत्र लगाना। (११) रत्न जड़ित भूषण धारण। (१२) दाँत पर मिस्सी। (१३) मुख में पान। (१४) ओठ लाल करना। (१५) आँख में काजल। (१६) हाथ में सुगन्धित फूल लेना।

गावहिँ मङ्गल मञ्जुल बानी। सुनि कल-रव कलकंठ लजानी॥
भूप भवन किमि जाइ बखाना। बिस्व-बिमोहन रचेउ बिताना॥२॥

शोभन वाणी से मङ्गल गाती हैं. उनके सुन्दर स्वर को सुन कर कोयल लजा जाती है। राजा का महल कैसे बखाना जाय, जहाँ जगत् को मोहित करनेवाला मण्डप बनाया गया है॥२॥

मङ्गल-द्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना॥
कतहुँ बिरद बन्दी उच्चरहीं। कतहुँ बेद धुनि भूसुर करहीं॥३॥

नाना प्रकार की माङ्गलीक वस्तुएँ शोभित हो रही हैं और बहुत से नगारे बजते हैं। कहीं वन्दीजन नामवरी उच्चारण करते हैं और कहीं ब्राह्मण वेद-ध्वनि करते हैं॥३॥

गावहिँ सुन्दर मङ्गल गीता। लै लै नाम राम अरु सीता॥
बहुत उछाह भवन अति थोरा। मानहुँ उमगि चला चहुँ ओरा॥४॥

रामचन्द्रजी और सीताजी का नाम ले ले कर सुन्दरियाँ मङ्गल गीत गाती हैं। उत्साह बहुत है और स्थान अत्यन्त थोड़ा है, ऐसा मालूम होता है मानों चारों ओर उमड़ चला है॥४॥

स्थान केवल चौदह लोक है; किन्तु उत्साह बहुत है, इससे मानों वह लोकों से बाहर उमड़ चला है। लोकों के बाहर उत्साह का उमड़ कर जाना कवि की कल्पना मात्र है, वसुधा के अतिरिक्त वह कहाँ जायगा 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्साह आधेय है और लोक आधार है। आधार से आधेय का बड़ा होना 'अधिक अलंकार' है। एक टीकाकार इसे आतङ्क अलंकार कहते हैं; किन्तु आतङ्क नाम का कोई अलंकार देखने में नहीं आता है। यह उत्प्रेक्षा और अधिक का सन्देहसङ्कर है।

दो०—सोभा दसरथ भवन कै, को कबि बरनइ पार।
जहाँ सकल-सुर-सीस-मनि, राम लीन्ह औतार॥२९७॥

दशरथजी के मन्दिर की शोभा वर्णन कर के कौन कवि पार पा सकता है? जहाँ सम्पूर्ण देवताओं के शिरोमणि रामचन्द्रजी ने जन्म लिया है॥२९७॥

राजा दशरथ के महल की शोभा वर्णन कर के कोई कवि नहीं पार पा सकता है। इस बात का युक्ति से समर्थन करना कि जहाँ देवताओं के मुकुटमणि रामचन्द्रजी ने अवतार लिया, वह सर्वथा अवर्णनीय 'काव्यलिंग अलंकार' है।

चौ०—भूप भरत पुनि लिये बोलाई। हय गय स्यन्दन साजहु जाई॥
चलहु बेगि रघुबीर-बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता॥१॥

फिर राजा ने भरतजी को बुला लिया और कहा कि जाकर घोड़े, हाथी, रथ सजवाओ। तुरन्त रघुनाथजी की बरात ले कर चलो, यह सुनते ही दोनों भाई आनन्द से परिपूर्ण हो गये॥१॥

भरत और शत्रुहनजी बारात में चलने के लिए उत्सुक ही थे कि अकस्मात राजा की आज्ञा से वह कार्य्य अत्यन्त सुगम हो गया 'समाधि अलंकार' है।

भरत सकल साहनी बोलाये। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाये॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥२॥

भरतजी ने सब सरदारों को बुलवाया और आज्ञा दी, वे प्रसन्न हो उठ कर दौड़े। उन्होंने प्रीति-पूर्वक जीन सुधार कर घोड़ों को सजाये, भाँति भाँति के अच्छे घोड़े शोभित हो रहे हैं॥२॥

सुभग सकल सुठि चञ्चल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी॥
नाना जाति न जाहिं बखाने। निदरि पवन जनु चहत उड़ाने॥३॥

सब घोड़े बड़े ही सुन्दर और चञ्चल करनीवाले हैं, जलते हुए लोहे के समान धरती पर पाँव धरते हैं। वे अनेक जाति के हैं, बखाने नहीं जा सकते, ऐसे मालूम होते हैं मानों पवन का अनादर कर उड़ना चाहते हों॥३॥

तिन्ह सब छयल भये असवारा। भरत सरिस वय राजकुमारा॥
सब सुन्दर सब भूषन-धारी। कर सर चाप तून-कटि-भारी॥४॥

उन पर सब भरतजी के समान अवस्थावाले सजीले राजकुमार सवार हुए। सब सुन्दर और सभी आभूषण धारण किए, हाथ में धनुष-बाण लिये तथा कमर में भारी तरकस बाँधे हैं॥४॥

दो०—छरे छबीले छैल सब, सूर सुजान नबीन।
जुग पदचर असवार प्रति, जे असि कला प्रबीन॥२९८॥

सब शूरवीर, चतुर, नवयुवक, चुने हुए और छबीले छैले हैं। प्रत्येक सवारों के सङ्ग दो दो पैदल सिपाही हैं जो तलवार की कला में अच्छे कुशल हैं॥ २९८॥

चौ०—बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहिर ठाढ़े॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना॥१॥

गहरे संग्राम के अस्त्र शस्त्र धारण किए योद्धा राजकुमार निकल कर नगर के बाहर खड़े हुए। वे चतुर सवार अनेक चाल से घोड़ों को फेरते हैं और ढोल नगारे के शब्द सुन सुन कर हर्षित होते हैं॥ १॥

रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनि भूषन लाये॥
चँवर चारु किङ्किनि धुनि करहीं। भानु-जान-सोभा अपहरहीं॥२॥

ध्वजा, पताका, रत्न और आभूषणों को लगा कर सारथियों ने रथों को विलक्षण बनाया। सुन्दर चँवर लगे हैं और घण्टियाँ शब्द करती हैं वे रथ ऐसे शोभायमान मालूम होते हैं मानों सूर्य्य भगवान् के रथ की शोभा को छीन लेते हों॥ २॥

स्यामकरन अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्हि सारथिन्ह जोते॥
सुन्दर सकल अलंकृत सोहे। जिन्हहिँ बिलोकत मुनि मन मोहे॥३॥

असंख्यों श्यामकर्ण घोड़े रहे, उन रथों में सारथियों ने उनको जोता। सुन्दर सम्पूर्ण अलंकारों से शोभित जिन्हें देख कर मुनियों के मन मोह जाते हैं॥ ३॥

जे जल चलहिँ थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाईं॥
अस्त्र सस्त्र सब साज बनाईं। रथी सारथिन्ह लिये बोलाईं॥४॥

जो पानी पर भी भूमि की तरह चलते हैं, उनमें इतना अधिक वेग है कि टाप नहीं डूबता। अस्त्र-शस्त्रों से सब समान ठीक कर के सारथियों ने रथ के सवारों को बुला लिया॥ ४॥

दो०— चढ़ि चढ़ि रथ बाहिर नगर, लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुन्दर सबहि, जो जेहि कारज जात॥२९९॥

रथों पर चढ़ चढ़ कर नगर के बाहर बरात इकट्ठी होने लगी। जो जिस कार्य्य के लिए जाते हैं सभी को सुन्दर सगुन होते हैं॥ २९९॥

चौ०—कलित करिवरन्हि परी अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥
चले मत्त-गज घंट बिराजी। मनहुँ सुभग सावन-घन-राजी॥१॥

हाथियों पर सुन्दर अम्बारियाँ पड़ी हैं, जिस प्रकार वे सजाई गयी हैं कही नहीं जा सकती। मतवाले हाथी चले उनके घण्टे शोभित हो रहे हैं, ऐसे मालूम होते हैं मानों सावन में सुन्दर मेघ प्रसन्न हुए (गर्जन करते) हों॥१॥

बाहन अपर अनेक बिधाना। सिबिका सुभग सुखासन जाना॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृन्दा। जनु तनु धरे सकल-स्रुति-छन्दा॥२॥

और अनेक तरह की सुन्दर सवारियाँ पालकी, तामजान और विमानों में चढ़ कर उत्तम ब्राह्मण समूह चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों सम्पूर्ण वेदों के छन्द शरीर धारण किए हों॥ २॥

मागध सूत बन्दि गुन गायक । चले जान चढ़ि जो जेहि लायक ॥
बेसर ऊँट बृषभ बहु जाती । चले बस्तु भरि अगनित भाँती ॥३॥

मागध, सूत, बन्दीजन और गुण गानेवाले जो जिस योग्य हैं, वे सवारियों पर चढ़ कर चले। खच्चर, ऊँट और बहुत जाति के बैलों पर असंख्यों प्रकार की वस्तुएँ भर भर कर सेवक-गण ले चले ॥ ३ ॥

कोटिन्ह काँवरि चले कहारा । बिबिध बस्तु को बरनइ पारा ॥
चले सकल सेवक-समुदाई । निज निज साज समाज बनाई ॥४॥

करोड़ों काँवरि ले कर कहार चले, उनमें तरह तरह की चीजों का वर्णन कर कौन पार पा सकता है? अपनी अपनी तैयारी से समाज बना कर झुण्ड के झुण्ड समस्त नौकर लोग चले ॥ ४ ॥

दो०—सब के उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर ।
कबहि देखिबइ नयन भरि, राम लखन दोउ बीर ॥३००॥

सब के हृदय में हर्ष भरा हुआ है और शरीर पुलक से परिपूर्ण है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों वीरों को आँख भर कब देखूँगा? ॥३००॥

जनकपुर में पहुँचने और युगल बन्धुओं के दर्शन की असमता 'उत्सुकता सञ्चारी भाव' है।

चौ०—गरजहिँ गज घंटा धुनि घोरा । रथ-रव बाजि हिँसहिँ चहुँ ओरा॥
निदरि घनहिँ घुम्मरहिँ निसाना । निज पराइ कछु सुनिय न काना ॥१॥

हाथी गरजते हैं, घण्टे की भीषण ध्वनि, रथों के शब्द और घोड़ों का हिनहिनाना चारों ओर होरहा है। बादलों का निरादर कर के ऊँचे शब्द में नगाड़े बजते हैं, अपना पराया कुछ कान से सुनाई नहीं देता है ॥१॥

महा भीर भूपति के द्वारे । रज होइ जाइ पखान पबारे ॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिँ नारी । लिये आरती मङ्गल थारी ॥२॥

राजा दशरथजी के दरवाजे पर बहुत बड़ी भीड़ हुई, पत्थर फेंका जाय तो धूल हो जायगा। स्त्रियाँ हाथ में मङ्गलीक आरती थारों में लिए अटारियों पर चढ़ी देखती हैं ॥२॥

एक तिलककार ने लिखा कि राजा जनक के द्वारे इतनी भीड़ हुई कि पत्थर डाल दे तो चूर हो जाय पर अभी वर्णन अयोध्यापुरी से बारात के प्रस्थान का हो रहा है, जनकद्वार कहना सर्वथा अप्रासङ्गिक और भ्रान्तिमूलक है।

गावहिँ गीत मनोहर नाना । अति आनन्द न जाइ बखाना ॥
तब सुमन्त्र दुइ स्यन्दन साजी । जोते रबि-हय-निन्दक बाजी ॥३॥

नाना प्रकार के सुन्दर गीत गाती हैं, और बहुत बड़ा आनन्द कहा नहीं जा सकता। तब सुमन्त्र ने दो रथ सजाये और सूर्य्य के घोड़े की निन्दा करनेवाले घोड़े उनमें जोते ॥३॥

दोउ रथ रुचिर भूप पहिँ आने। नहिँ सारद पहिँ जाहिँ बखाने॥
राज-समाज एक रथ साजा। दूसर तेज-पुञ्ज अति भ्राजा॥४॥

दोनों सुन्दर रथ राजा के पास ले आये, वे सरस्वती द्वारा भी नहीं बखाने जा सकते। एक रथ राजसी ठाट से सजाया है और दूसरा तेज की राशि अत्यन्त शोभनीय है॥४॥

दो०—तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहँ, हरषि चढ़ाइ नरेस।
आपु चढ़े स्यन्दन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस॥३०१॥

उस सुन्दर (तेजःपुञ्ज) रथ पर राजा ने प्रसन्नता से वशिष्ठजी को चढ़ाया। शिव-पार्वती, गणेश और गुरु का स्मरण कर आप भी रथ पर चढ़े॥ ३०१॥

चौ०—सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुरगुरु सङ्ग पुरन्दर जैसे॥
करि कुल-रीति बेद-बिधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ॥१॥

वशिष्ठजी के सहित राजा कैसे शोभित हो रहे हैं, जैसे बृहस्पति के साथ इन्द्र शोभायमान होते हैं। राजा कुल की रीति वेद की विधि से कर के और सब को सब तरह से तैयार देख कर॥१॥

सुमिरि राम गुरु आयसु पाई। चले महीपति सङ्ख बजाई॥
हरषे बिबुध बिलोकि बराता। बरषहिँ सुमन सुमङ्गल-दाता॥२॥

रामचन्द्रजी का स्मरण कर के और गुरु से आज्ञा पा कर राजा शङ्ख बजा कर चले। बारात को (पयान करते) देख कर देवता प्रसन्न हुए, वे सुन्दर मङ्गलदायक फूलों की वर्षा करते हैं॥२॥

यात्रा के समय शङ्ख-ध्वनि और पुष्पवृष्टि शुभ-सूचक शकुन हैं।

भयउ कोलाहल हय गय गाजे। ब्योम बरात बाजने बाजे॥
सुर-नर-नारि सुमङ्गल गाई। सरस राग बाजहिँ सहनाई॥३॥

हाथी घोड़ों के गर्जन का बड़ा हल्ला हुआ, आकाश और बरात में बाजे बजते हैं। देवता और मनुष्यों की स्त्रियाँ सुन्दर मङ्गल गाती हैं तथा रसीले राग से सहनाइयाँ बजती हैं॥३॥

सभा की प्रति में 'सुर नर नाग' पाठ है।

घंट घंटि धुनि बरनि न जाहीं। सरव करहिँ पायक फहराहीं॥
करहिँ बिदूषक कौतुक नाना। हास-कुसल कल-गान सुजाना॥४॥

घण्टे और घण्टियों के शब्द वर्णन नहीं किए जाते हैं, झण्डियाँ फहराती हैं उनमें लगे घुँघुरू बोल रहे हैं। भाँड़ लोग नाना तरह के खेल करते हैं, वे हँसी दिल्लगी करने में दक्ष और सुन्दर गाने में चतुर हैं॥ ४॥

दो०—तुरग नचावहिँ कुँअर बर, अकनि मृदङ्ग निसान।
नागर नट चितवहिँ चकित, डगहिँ न ताल बँधान ॥३०२॥

सुन्दर राजकुमार मृदङ्ग और नगारे को सुन कर घोड़ों को नचाते हैं। वे (तुरङ्ग) ताल की गति से डगते नहीं, चतुर नचवैया उन्हें आश्चर्य से देखते हैं ॥ ३०२ ॥

नगर-नटों के मन में घोड़ों का ताल में बँध कर नाचने का आश्चर्य स्थायी भाव है।

चौ०—बनइ न बरनत बनी बराता। होहिँ सगुन सुन्दर सुभ-दाता॥
चारा-चाष बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मङ्गल कहि देई ॥१॥

बरात की सजावट का वर्णन नहीं करते बनता है, सुन्दर मङ्गल-दायक सगुन हो रहे हैं। नीलकण्ठ पक्षी बाँई ओर चारा लेता है, वह ऐसा मालूम होता है मानों सारा मङ्गल कहे देता हो ॥ १ ॥

नीलकण्ठ का यात्रा के समय वाम दिशा में चारा चुगते हुए दिखाई पड़ना अत्यन्त श्रेष्ठ शकुन है। परन्तु पक्षी जड़ है, मनुष्य भाषा बोलने की उस में शक्ति नहीं है। उसमें समस्त मङ्गल कथन की कल्पना करना असिद्ध आधार है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरस सब काहू पावा॥
सानुकूल बह त्रिबिधि बयारी। सघट सबाल आव बर नारी ॥२॥

दाहिने कौआ अच्छे स्थान में सोह रहा है और न्योले का दर्शन सब किसी ने पाया। तीनों प्रकार की हितकर हवा बह रही है, श्रेष्ठ (सौभाग्यवती) स्त्री कलश के सहित गोद में बालक लिये आ रही है ॥ २ ॥

'बर' शब्द में सुहागिन स्त्री व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

लोवा फिरि फिरि दरस देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मङ्गल-गन जनु दीन्हि देखाई ॥३॥

लोमड़ी ने घूम घूम कर दर्शन दिखाया और गैया सामने बछड़े को दूध पिलाती है। दाहिनी ओर घूम कर हरिनों का झुण्ड आया, वह ऐसा जान पड़ता है मानों मङ्गल की राशि दिखा दिया हो ॥ ३ ॥

छेमकरी कह छेम बिसेखी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना ॥४॥

क्षेमकरी (सफेद सिर वाली चील्ह) विशेष क्षेम कह रही है, श्यामा पक्षी वाम दिशा में सुन्दर वृक्ष पर लोगों ने देखी। दही, मछली और दो विद्वान ब्राह्मण हाथ में पुस्तक लिए सामने आये ॥ ४ ॥

क्षेमकरी का क्षेम कहना, कारण के समान कार्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है।

दो०-मङ्गल-मय कल्यान-मय, अभिमत-फल दातार ।
जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार ॥३०३॥

मङ्गलमय कल्याण के रूप मनवाञ्छित फल के देनेवाले सब सगुन मानों सत्य होने के लिए एक साथ ही हुए ॥ ३०३ ॥

जड़ शकुनों में सत्य होने की समता प्राप्ति रूपी फल की इच्छा का होना असिद्ध आधार है और यह कहना कि उसी फल की प्राप्ति के लिए सगुन बरात के सामने प्रकट हुए हैं इस अफल को फल कल्पित करना 'असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

चौ०-मङ्गल सगुन सुगम सब ताके । सगुन-ब्रह्म सुन्दर सुत जा के ।
राम सरिस बर दुलहिन सीता । समधी दसरथ जनक पुनीता ॥१॥

जिनके सगुण-ब्रह्म सुन्दर पुत्र हैं, उनके लिए सभी मंगल शकुन सुलभ हैं । रामचन्द्रजी के समान दूलह और सीताजी दुलहिन, दशरथजी एवम् जनकजी पवित्र समधी हैं ॥ १ ॥

उन्हें सब मङ्गलीक शकुन सुगम हैं, इस का हेतु सूचक बात कह कर समर्थन करना कि जिनके सगुण-ब्रह्म पुत्र हुए हैं 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

सुनि अस ब्याह सगुन सब नाँचे । अब कीन्हे बिरञ्चि हम साँचे ॥
एहि बिधि कीन्ह बरात पयाना । हय गय गाजहिँ हने निसाना ॥२॥

ऐसा ब्याह सुन कर सब सगुन नाचने लगे, उन्होंने सोचा कि अब ब्रह्मा ने हमें सच्चा किया । इस तरह बरात ने कूच किया, हाथी घोड़े गर्जते हैं और डङ्का बजाते जाते हैं ॥ २ ॥

शकुन सब जड़ हैं, उनका यह समझना कि अब विधाता ने मुझे सच्चा किया, इस खुशी में नाचना असिद्ध आधार है । बिना वाचक पद के ऐसी कल्पना करना 'ललितोत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

आवत जानि भानु-कुलकेतू । सरितन्हि जनक बँधाये सेतू ॥
बीच बीच बर बास बनाये । सुरपुर-सरिस सम्पदा छाये ॥३॥

सूर्यकुल के पताका (दशरथजी) को आते हुए जानकर जनकजी ने नदियों में पुल बँधवा दिये । बीच बीच में उत्तम निवासस्थान बनवाये, जिनमें देवलोक के समान सम्पदा छाई हुई है ॥३॥

असन सयन बर बसन सुहाये । पावहिँ सब निज निज मन भाये ॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले । सकल बरातिन्ह मन्दिर भूले ॥४॥

उत्तम भोजन, सेज़ और सुहावने वस्त्र सब अपनी अपनी रुचि के अनुसार पाते हैं । इच्छानुकूल नित्य नया सुख देख कर समस्त बरातियों को घर भुला गया ॥४॥

बरातवालों को अपने घर से बढ़ कर सुपास मिलने की व्यञ्जना अगूढ़ व्यंग है ।

दो०-आवत जानि बरात बर, सुनि गहगहे निसान ।
सजि गज रथ पदचर तुरग, लेन चले अगवान ॥३०४॥

अच्छे धूम के साथ बजते हुए नगारों के शब्द सुन कर बरात का आगमन जान जनक नगर-निवासी हाथी, रथ, पैदल और घोड़े सजा कर अगवानी लेने को चले ॥३०४॥

चौ०-कनक कलस कल कोपर थारा । भाजन ललित अनेक प्रकारा ॥
भरे सुधा सम सब पकवाने । भाँति भाँति नहिँ जाहिँ बखाने ॥१॥

सोने के सुन्दर घड़े और परात, थाल आदि अनेक प्रकार के सुन्दर बरतनों में अमृत के समान स्वादिष्ठ जल और सब तरह तरह के पक्वान्न भरे हैं, जो बखाने नहीं जा सकते ॥१॥

फल अनेक बर बस्तु सुहाई । हरषि भेँट हित भूप पठाई ॥
भूषन बसन महामनि नाना । खग मृग हय गय बहु बिधि जाना ॥२॥

बहुत से उत्तम फल और सुहावनी चीजें राजा जनक ने हर्षित होकर भेंट के लिये भेजवाई । गहना, कपड़ा नाना प्रकार के बड़े रत्न, पक्षी, मृग, घोड़ा, हाथी और बहुत तरह के रथ ॥ २ ॥

मङ्गल सकुन सुगन्ध सुहाये । बहुत भाँति महिपाल पठाये ॥
दधि चिउरा उपहार अपारा । भरि भरि काँवरि चले कहारा ॥३॥

बहुत प्रकार के सुहावने मांगलिक शकुन और सुगन्धित पदार्थ राजा ने भेजवाये । दही, चिउड़ा आदि असंख्यों भेंट की वस्तुएँ काँवरियों में भर कर कहार ले चले ॥३॥

अगवानन्ह जब दीखि बराता । उर आनन्द पुलक भर गाता ॥
देखि बनाव सहित अगवाना । मुदित बराती हने निसाना ॥४॥

जब अगवानियों ने बरात को देखा, तब उनके हृदय में आनन्द भर आया और शरीर पुलकित हो गया । बरातियों ने बनाव के सहित अगवानीवालों को देख प्रसन्न हो कर नगारे बजाये ॥४॥

दो०-हरषि परसपर मिलन हित, कछुक चले बगमेल ।
जनु आनन्द समुद्र दुइ, मिलत बिहाइ सुबेल ॥३०५॥

प्रसन्न हो कर आपस में मिलने के लिए कुछ चले और नगिचा गये । ऐसा मालूम होता है मानों दो आनन्द के सागर अपनी अपनी मर्य्यादा को छोड़ कर मिलते हों ॥३०५॥

दोनों दल और आनन्द के दो समुद्र, मिलनेवालों के झुण्ड और तरङ्ग, संकोच की मर्य्यादा और सुवेल-पर्वत आपस में उपमेय उपमान हैं । प्रथम तो समुद्र मिलते नहीं, उस पर आनन्द के दो सागरों का मिलना वर्णन कवि की कल्पना मात्र है; क्योंकि ऐसा कभी संसार में हुआ नहीं । यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । बगमेल शब्द का अर्थ किसी ने

घोड़ों की बाग ढीली कर के सवारों का चलना कहा है। किसी ने धावा मारना और किसी ने पंक्ति जोड़ कर चलने का अर्थ किया है, परन्तु ये सब कल्पित अर्थ हैं। आरण्य काण्ड में 'आइ गये बगमेल' और 'मदन कीन्ह बगमेल' यह शब्द दो स्थलों में आया है। इसका अर्थ है—"नगची नगचा, बिलकुल समीप में आ जाना, अत्यन्त निकट पहुँचना"। विज्ञजन विचार लें, यहाँ धावा मारने या बाग मिलाने से तात्पर्य नहीं है।

चौ०-बरषि सुमन सुर सुन्दरि गावहिँ। मुदित देव दुन्दुभी बजावहिँ॥
बस्तु सकल राखी नृप आगे। बिनय कीन्ह तिन्ह अति अनुरागे॥१॥

पुष्प-वर्षा कर के देवांगनाएँ गाती हैं और देवता प्रसन्न हो कर नगारे बजाते हैं। सारी वस्तुएँ अगवानियों ने राजा दशरथजी के सामने रख कर बड़े प्रेम से बिनती की॥१॥

प्रेम समेत राय सब लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहँ चले लेवाई॥२॥

राजा ने प्रीति के साथ सब लिये, वह खैरात होकर मंगनों को देदी। पूजा, प्रतिष्ठा और बड़ाई कर के जनवासे को लिवा ले चले॥॥ २॥

बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धन-मद परिहरहीं॥
अति सुन्दर दीन्हेउ जनवासा। जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा॥३॥

विलक्षण वस्त्र पाँव के नीचे पड़ते जाते हैं; जिसे देख कर कुवेर धन का गर्व त्याग देते हैं। अत्यन्त सुन्दर जनवास दिया, जहाँ सब को सब तरह का सुबीता है॥३॥

जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥४॥

सीताजी ने बरात को नगर में आई जान कर अपनी महिमा कुछ प्रकट कर दिखाई। मन में स्मरण कर के सब सिद्धियों को बुलाया और राजा की मेहमानी करने के लिए भेजा॥४॥

दो०-सिधि सब सिय आयसु अकनि, गई जहाँ जनवास।
लिये सम्पदा सकल सुख, सुरपुर-भोग-बिलास॥३०६॥

सब सिद्धियाँ सीताजी की आज्ञा सुन कर जहाँ जनवास है वहाँ गईं। वे सम्पूर्ण देव-लोक के भोग-विलास का ऐश्वर्य्य सुख लिये हुए हैं॥३०६॥

चौ०-निज निज बास बिलोकि बराती। सुर-सुख-सकल सुलभ सब भाँती॥
बिभव-भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिँ बखाना॥१॥

बरातियों ने अपना अपना निवास (डेरा) देखा कि सब तरह से सम्पूर्ण देवताओं के सुख सहज ही प्राप्त हैं। इस ऐश्वर्य्य के भेद को किसी ने कुछ नहीं जाना, सब जनकजी की बड़ाई करते हैं॥१॥

सिय महिमा रघुनायक जानी । हरषे हृदय हेतु पहिचानी ॥
पितु आगमन सुनत दोउ भाई । हृदय न अति आनन्द अमाई ॥

सीताजी की महिमा को रघुनाथजी जान कर उसके कारण को परख मन में प्रसन्न हुए। दोनों भाई पिता का आगमन सुनते ही इतने अधिक प्रसन्न हुए कि वह आनन्द हृदय में समाता नहीं है ॥२॥

हेतु पहचानने में व्यञ्जनामूलक गूढ़ ध्वनि है कि जैसे धनुष तोड़ कर जनकपुर निवासियों को मैं ने सुखी किया, उसी तरह सिद्धियों द्वारा सीता अवधपुरवासियों को आनन्द दे रही हैं। पिता से मिलने के लिए चित्त में प्रसन्नता का होना 'हर्ष सञ्चारीभाव' है।

सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु-दरसन लालच मन माहीं ॥
बिस्वामित्र बिनय बड़ि देखी । उपजा उर सन्तोष बिसेखी ॥३॥

लज्जा वश गुरुजी से कह नहीं सकते, परन्तु पिता के दर्शन की मन में बड़ी लालसा है। विश्वामित्रजी ने दोनों बन्धुओं की अतिशय नम्रता देखी, इससे उनके मन में विशेष सन्तोष उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के सकुच से विश्वामित्रजी उनके मन का अभिप्राय जान गये और उन्हें हृदय से लगा कर जनवासे को चले 'पिहित अलंकार' है।

हरषि बन्धु दोउ हृदय लगाये । पुलक-अङ्ग अम्बक जल छाये ॥
चले जहाँ दसरथ जनवासे । मनहुँ सरोवर तके पियासे ॥४॥

प्रसन्न हो कर दोनों भाइयों को हृदय से लगा लिया, उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों में जल भर आया। जनवासे में जहाँ दशरथजी हैं वहाँ चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों तालाब प्यासे को तक कर जाता हो ॥४॥

प्यासा मनुष्य सरोवर की ताक में जाता है; किन्तु तालाब कभी प्यासे के पास नहीं जाता, यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। यदि ऐसा अर्थ किया जाय कि—"मानो प्यासा तालाब की खोज में जाता हो" तब उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा होगा।

दो०—भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन्ह समेत ।
उठे हरषि सुख-सिन्धु महँ, चले थाह सी लेत ॥३०७॥

राजा ने ज्यों ही पुत्रों के सहित विश्वामित्र मुनि को आते देखा, त्यों ही प्रसन्न हो कर उठे और मानों सुख रूपी समुद्र में थाह लेते हुए के समान चले ॥३०७॥

चौ०—मुनिहि दंडवत कीन्ह महीसा । बार बार पद-रज धरि सीसा ॥
कौसिक राउ लिये उर लाई । कहि असीस पूछी कुसलाई ॥१॥

राजा दशरथजी ने विश्वामित्र मुनि को दण्डवत किया और बार बार उनके चरणों की धूल सिर पर रक्खी। विश्वामित्रजी ने राजा को हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दे कर कुशल-समाचार पूछा ॥ १ ॥

पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुख न समाई॥
सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक-सरीर प्रान जनु भैंटे॥२॥

फिर दोनों भाइयों (राम-लक्ष्मण) को दण्डवत करते देख कर राजा के हृदय में सुख समाता नहीं है। पुत्रों को छाती से लगा कर दुस्सह दुःख दूर किया, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों मुर्दा शरीर प्राण पाया हो॥ २॥

पुनि बसिष्ठ पद सिर तिन्ह नाये। प्रेम मुदित मुनिवर उर लाये॥
बिप्र-बृन्द बन्दे दुहुँ भाई। मनभावती असीसैं पाई॥३॥

फिर उन्होंने वशिष्ठजी के चरणों में सिर नवाया, प्रेम से प्रसन्न हो कर मुनिवर ने हृदय से लगा लिया। दोनों भाइयों ने ब्राह्मणवृन्द की वन्दना की और मनवाञ्छित आशिर्वाद पाये॥ ३॥

भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा॥
हरषे लखन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम-परिपूरित-गाता॥४॥

छोटे भाई शत्रुहन के सहित भरतजी ने प्रणाम किया, रामचन्द्रजी ने उठा कर उन्हें हृदय से लगा लिया। लक्ष्मणजी दोनों भाइयों को देख कर प्रसन्न हुए और प्रेम-परिपूर्ण अङ्ग से मिले॥ ४॥

दो०—पुरजन परिजन जातिजन, जाचक मन्त्री मीत।
मिले जथाबिधि सबहि प्रभु, परम कृपाल बिनीत॥३०८॥

अयोध्या-निवासी प्रजाजन, कुटुम्बी, जाति के लोग, मङ्गन, मन्त्री और मित्र सब से यथायोग्य अत्यन्त कृपालु प्रभु रामचन्द्रजी नम्रता-पूर्वक मिले॥ ३०८॥

चौ०—रामहिँ देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥
नृप समीप सोहहिँ सुत चारी। जनु धन-धरमादिक तनु-धारी॥१॥

रामचन्द्रजी को देख कर बरात शीतल हुई, वह प्रीति की रीति बखानी नहीं जाती है। राजा के समीप चारों पुत्र सोहते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों शरीर धारण किये हुए अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फल शोभित हों॥ १॥

चारों फल शरीरधारी नहीं होते, यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। रामचन्द्रजी-मोक्ष, भरतजी-काम, लक्ष्मणजी-अर्थ और शत्रुहनजी-धर्म हैं।

सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर-नर-नारि बिसेखी॥
सुमन बरषि सुर हनहिँ निसाना। नाक-नटी नाचहिँ करि गाना॥२॥

पुत्रों के सहित दशरथजी को देख कर नगर के स्त्री-पुरुष अधिक प्रसन्न हुए। फूल बरसा कर देवता नगारे बजाते हैं और आकाश में नाचनेवाली (अप्सरायें) नाचती हैं तथा गान करती हैं॥ २॥

सतानन्द अरु बिप्र सचिव गन। मागध सूत बिदुष बन्दीजन॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना॥३॥

अगवानी में आये हुए शतानन्द, ब्राह्मणवृन्द, मागध, पौराणिक, विद्वान् और बन्दीजनों ने बरात के सहित राजा दशरथजी का आदर-सत्कार कर आज्ञा माँग कर लौटे॥ ३॥

प्रथम बरात लगन तें आई। ता तें पुर प्रमोद अधिकाई॥
ब्रह्मानन्द लोग सब लहहीं। बढ़हु दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥४॥

बारात विवाह के मुहूर्त्त से पहले आई, इससे जनकपुर में अधिक आनन्द बढ़ रहा है। सब लोग ब्रह्मानन्द पा रहे हैं और विधाता से मनाते हैं कि दिन रात बड़ी हो॥ ४॥

नगर-निवासी रात दिन बढ़ने को इस लिए मनाते हैं कि जिसमें लग्न का दिन शीघ्र न आ जाय, नहीं तो हमारा यह आनन्द जाता रहेगा। यहाँ वियोग की अक्षमता में 'उत्सुकता सञ्चारीभाव' है।

दो०-राम सीय सोभा अवधि, सुकृत अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिँ अस, मिलि नर-नारि-समाज॥३०९॥

रामचन्द्र-सीताजी शोभा के हद हैं और दोनों राजा (दशरथ, जनक) पुण्य की सीमा हैं। जहाँ तहाँ नगर-निवासी स्त्री-पुरुषों की मंडलियाँ मिल कर आपस में इस तरह कहती हैं॥३०९॥

चौ०-जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम धरे देही॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥१॥

जनकजी के पुण्य की मूर्त्ति जानकीजी हैं और दशरथजी के देहधारी सुकृत रामचन्द्रजी हैं। इन दोनों राजाओं के समान किसी ने शिवजी की उपासना नहीं की और न किसी ने इनके बराबर फल ही पाया है॥१॥

इन्ह सम कोउ न भयउ जग माहीं। है नहिँ कतहूँ होनेउ नाहीं॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी॥२॥

इनके समान संसार में कोई नहीं हुआ, न है और न कहीं होने ही वाला है। हम सब सम्पूर्ण सुकृतों की राशि हैं जो जगत् में जन्म ले कर जनकपुर के निवासी हुए हैं॥ २॥

कोई आगे भी इनके समान होनेवाला नहीं है, इस भावी बात को प्रत्यक्ष को भाँति कहने में 'भाविक अलंकार' है।

जिन्ह जानकी-राम-छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥
पुनि देखब रघुबीर-बिबाहू। लेब भली बिधि लोचन लाहू॥३॥

जिन्होंने जानकी और रामचन्द्रजी की छवि देखी, हमारे बराबर अधिक पुण्यात्मा

कौन होगा ? (कोई नहीं) । फिर रघुनाथजी का विवाह देखेंगे और भली भाँति नेत्रों का लाभ लेंगे ॥३॥

कहहिँ परसपर कोकिल-बयनी । एहि बिबाह बड़ लाभ सुनयनी ॥
बड़े भाग बिधि बात बनाई । नयन अतिथि होइहहिँ दोउ भाई ॥४॥

कोयल के समान वचनवाली स्त्रियाँ आपस में कहती हैं—हे सुनयनी ! इस विवाह में बड़ा लाभ है । बड़े भाग्य से विधाता ने बात बनाई है, दोनों भाई आँखों के मेहमान हुआ करेंगे ॥४॥

दो०—बारहि बार सनेह-बस, जनक बोलउब सीय ।
लेन आइहहिँ बन्धु दोउ, कोटि काम कमनीय ॥३१०॥

जनकजी स्नेह के वश बार बार सीताजी को बुलावेंगे । करोड़ों कामदेवों से सुन्दर दोनों भाई (तब जनकनन्दिनी को) बुलाने के लिए यहाँ आवेंगे ॥३१०॥

ये युगल बन्धु मेरे नेत्रों के अतिथि होंगे । हेतुसूचक बात कह कर इसका युक्ति से समर्थन करना कि प्रीति के कारण सीताजी को राजा जनक बार बार बुलावेंगे और उन्हें लिवाने को दोनों भाई आवेंगे । तब तब हम सब आँख भर इनकी शोभा देखेंगी 'काव्यलिंग अलंकार' है ।

चौ०—बिबिध भाँति होइहि पहुनाई । प्रिय न काहि अस सासुर माई ।
तब तब राम लखनहिँ निहारी । होइहहिँ सब पुर-लोग सुखारी ॥१॥

अनेक प्रकार की मेहमानी होगी, हे माता ! ऐसी ससुराल किसको न प्यारी होगी । तब तब रामचन्द्र और लक्ष्मणजी को देख कर सब पुर के लोग सुखी होंगे ॥१॥

सखि जस राम लखन कर जोटा । तैसइ भूप सङ्ग दुइ ढोटा ॥
स्याम गौर सब अङ्ग सुहाये । ते सब कहहिँ देखि जे आये ॥२॥

हे सखी ! जैसे राम-लक्ष्मण की जोड़ी है, वैसे ही राजा के साथ दो बालक हैं । उनके स्यामल गौर वर्ण और सब अंग सुहावने हैं, जो देख आये हैं वे सब कहते हैं ॥२॥

कहा एक मैं आजु निहारे । जनु बिरञ्चि निज हाथ सँवारे ॥
भरत रामही की अनुहारी । सहसा लखि न सकहिँ नर नारी ॥३॥

एक ने कहा—मैं ने आज ही देखा है, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों विधाता ने उन्हें अपने हाथ से सँवारा है । भरत रामचन्द्रजी के समान हैं, कोई स्त्री-पुरुष उनको जल्दी पहचान नहीं सकते ॥३॥

लखन सत्रुसूदन एक रूपा । नख-सिख तेँ सब अङ्ग अनूपा ॥
मन भावहिँ मुख बरनि न जाहीँ । उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीँ ॥४॥

लक्ष्मण और शत्रुहनजी एक रूप के हैं, नख से चोटी पर्य्यन्त उनके सब अंग अनुपम हैं । मन को सुहाते हैं, पर वर्णन नहीं किए जा सकते, उपमा के लिए तीनों लोकों में कोई नहीं है ॥४॥
लक्ष्मण और शत्रुहन के आकार में भेद न दिखाई पड़ना 'सामान्य अलंकार' है ।

हरिगीतिका-छन्द ।

उपमा न कोउ कह दासतुलसी, कतहुँ कबि कोबिद कहैं ॥
बल-बिनय-बिद्या-सील,-सोभा सिन्धु इन्ह सम एइ अहैं ॥
पुर-नारि सकल पसारि अञ्चल, बिधिहि बचन सुनावहीं ।
ब्याहियहु चारिउ भाइ एहि पुर, हम सुमङ्गल गावहीं ॥२०॥

तुलसीदासजी कहते हैं—इनकी कोई उपमा नहीं है और न कहीं कवि विद्वान् कहते हैं। बल, विनय, विद्या, शील और शोभा के समुद्र इनके समान येही हैं। नगर की सम्पूर्ण स्त्रियाँ आँचर फैला कर ब्रह्मा को बिनती सुनाती हैं कि चारों भाई इसी नगर में ब्याहे जाँय और हम सब सुन्दर मंगल गावें ॥ २० ॥

रामचन्द्र-लक्ष्मण और भरत-शत्रुहन उपमेय के सामने उपमान का अभाव कह कर उन्हीं को उपमान बनाना कि इनके समान येही हैं 'अनन्वय अलंकार' है ।

सो०—कहहिं परसपर नारि, बारि-बिलोचन पुलक-तन ।
सखि सब करब पुरारि, पुन्य-पयोनिधि भूप दोउ ॥३११॥

नेत्रों में जल भर कर पुलकित शरीर से स्त्रियाँ आपस में कहती हैं। हे सखी ! शिवजी सब पूरा करेंगे, क्योंकि दोनों राजा पुण्य के सागर हैं ॥ ३११ ॥

चौ०—एहिबिधि सकल मनोरथ करहीं । आनँदउमगि उमगि उर भरहीं ।
जे नृप सीय-स्वयम्बर आये । देखि बन्धु सब तिन्ह सुख पाये ॥१॥

इस तरह सब अभिलाषा करती हैं, आनन्द की लहरें उमड़ उमड़ कर हृदय में भर रही हैं। जो राजा सीताजी के स्वयम्बर में आये थे, वे सब चारों भाइयों को देख कर सुखी हुए ॥ १ ॥

कहत राम जस बिसद बिसाला । निज निज भवन गये महिपाला ॥
गये बीति कछु दिन एहि भाँती । प्रमुदित पुरजन सकल बराती ॥२॥

रामचन्द्रजी के स्वच्छ विस्तृत यश को कहते हुए राजा लोग अपने अपने घर को गये। इसी तरह कुछ दिन बीत गया, सम्पूर्ण बराती और घराती अतिशय प्रसन्न हैं ॥ २ ॥

मङ्गल मूल लगन-दिन आवा । हिम-रितु अगहन मास सुहावा ॥
ग्रह तिथि नखत जोग बर बारू । लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥३॥

मंगलमूल लग्न का दिन आ गया, हेमन्त ऋतु सुहावना अगहन का महीना, ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग और श्रेष्ठ दिन में लग्न खोज कर ब्रह्मा ने विचारा ॥ ३ ॥

पठइ दीन्हि नारद सन सोई। गनी जनक के गनकन्ह जोई॥
सुनी सकल लोगन्ह यह बाता। कहहिँ जोतिषी अपर बिधाता॥४॥

वही (लग्नपत्रिका) नारदजी के हाथ भेज दी, जिसको जनकजी के ज्योतिषियों ने पहले ही विचार रक्खा था। यह बात सब लोगों ने सुनी, वे कहते हैं कि ज्योतिषी दूसरे ब्रह्मा हैं॥ ४॥

दो०—धेनुधूरि-बेला बिमल, सकल सुमङ्गल-मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन, जानि सगुन अनुकूल॥३१२॥

गोधूली का समय शुद्ध सम्पूर्ण सुन्दर मंगलों का मूल है, अच्छी साइत जान कर ब्राह्मणों ने राजा जनक से कहा॥ ३१२॥

चौ०—उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलम्ब कर कारन काहा॥
सतानन्द तब सचिव बोलाये। मङ्गल सकल साजि सब ल्याये॥१॥

तब राजा जनकजी ने पुरोहित से कहा कि अब देरी करने का क्या कारण है? फिर शतानन्दजी ने मन्त्रियों को बुलाया, वे सम्पूर्ण मङ्गल का सब सामान सजा कर ले आये॥ १॥

सङ्ख निसान पनव बहु बाजे। मङ्गल-कलस सगुन सुभ साजे॥
सुभग सुआसिनि गावहिँ गीता। करहिँ बेद धुनि बिप्र पुनीता॥२॥

शङ्ख, नगारा, ढोल, आदि बहुत से बाजे बजे, मंगल कलश और कल्याणमय शकुनों को सजवाये। सुन्दर सुहागिनी स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं और ब्राह्मण लोग पवित्र वेद-ध्वनि करते हैं॥२॥

लेन चले सादर एहि भाँती। गये जहाँ जनवास बराती॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहिँ सुरराजू॥३॥

इस तरह आदर के साथ लेने चले, जनवास में जहाँ बराती हैं वहाँ गये। अयोध्यानरेश के समाज को देख कर उन्हें इन्द्र बहुत छोटा मालूम होने लगा॥३॥

भयउ समय अब धारिय पाऊ। यह सुनि परा निसानहि घाऊ॥
गुरुहि पूछि करि कुल बिधि राजा। चले सङ्ग मुनि साधु समाजा॥४॥

अभ्यर्थकों ने महाराज दशरथजी से निवेदन किया—महाराज! अब समय आ गया पदार्पण कीजिए, यह सुन कर डङ्के पर चोट पड़ी। गुरु से पूछ कर राजा कुल की रीति कर के मुनि और साधु-समाज के साथ चले॥४॥

दो०—भाग्य बिभव अवधेस कर, देखि देव ब्रह्मादि ।
लगे सराहन सहस-मुख, जानि जनम निज बादि ॥३१३॥

ब्रह्मा आदि देवता अयोध्यानरेश के भाग्य और ऐश्वर्य्य को देख कर अपने जन्म को व्यर्थ जान कर सहस्त्रों मुख से उनकी सराहना करने लगे ॥३१३॥

चौ०—सुरन्ह सुमङ्गल अवसर जाना । बरषहिँ सुमन बजाइ निसाना ॥
सिव ब्रह्मादिक बिबुध-बरूथा । चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा ॥१॥

देवता-गण सुन्दर मंगल का समय जान कर नगाड़ा बजा कर फूल बरसाते हैं । शिव, ब्रह्मा आदिक देवता वृन्द तथा नाना जाति के झुण्ड विमानों पर चढ़े ॥१॥

प्रेम पुलक-तन हृदय उछाहू । चले बिलोकन राम बिआहू ॥
देखि जनकपुर सुर अनुरागे । निज निज लोक सबहि लघु लागे ॥२॥

प्रेम से शरीर पुलकित और हृदय में उत्साह भरे हुए रामचन्द्रजी का विवाह देखने चले जनकपुर देख कर देवता अनुरक्त हुए, सभी को अपने अपने लोक तुच्छ लगे ॥२॥

चितवहिँ चकित बिचित्र बिताना । रचना सकल अलौकिक नाना ॥
नगर-नारि-नर रूप-निधाना । सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥३॥

आश्चर्य से विलक्षण मण्डप को निहारते हैं, सारी रचनाएँ लोकोत्तर नाना प्रकार की हैं । नगर के स्त्री-पुरुष छवि के भण्डार, सलोने, अच्छे धर्मात्मा, सुन्दर शीलवान और चतुर हैं ॥३॥

तिन्हहिँ देखि सब सुर सुरनारी । भये नखत जनु बिधु उँजियारी ॥
बिधिहि भयउ आचरज बिसेखी । निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥४॥

उन्हें देख कर सब देवता और देवाङ्गनाएँ ऐसे मालूम होने लगे मानों चन्द्रमा के उजेले में तारागण फीके पड़ गए हों । ब्रह्मा को इस बात का बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि उन्होंने अपनी कुछ करनी कहीं न देखी ॥४॥

दो०—सिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु ॥
हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय-रघुबीर-बिआहु ॥३१४॥

शिवजी ने सब देवताओं को समझाया कि आश्चर्य्य में मत भूलो । धीरज धर कर हृदय में विचारो, यह सीताजी और रघुनाथजी का विवाह है ॥३१४॥

चौ०—जिन्ह कर नाम लेत जग माहीँ । सकल अमङ्गल-मूल नसाहीँ ॥
करतल होहिँ पदारथ-चारी । तेइ सिय-राम कहेउ कामारी ॥१॥

जिनका नाम लेते ही संसार में सम्पूर्ण अमङ्गल के मूल नष्ट होते हैं । चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मुट्ठी में हो जाते हैं, शिवजी ने कहा—वे ही सीता और रामचन्द्रजी हैं ॥१॥

एहि बिधि सम्भु सुरन्ह समुझावा । पुनि आगे बर-बसह चलावा ॥
देवन्ह देखे दसरथ जाता । महा-मोद-मन पुलकित गाता ॥२॥

इस प्रकार शिवजी ने देवताओं को समझाया, फिर श्रेष्ठ नन्दीश्वर को आगे चलाया। देवताओं ने देखा कि दशरथजी मन में बड़े प्रसन्न और पुलकित शरीर से चले जाते हैं ॥२॥

साधु-समाज सङ्ग महिदेवा । जनु तनु धरे करहिँ सुर सेवा ॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी । जनु अपबरग सकल तनु-धारी ॥३॥

सङ्ग में ब्राह्मण और सज्जन-मण्डली ऐसी मालूम होती है, मानों देवता शरीर धर कर सेवा करते हों। सुन्दर चारों पुत्र साथ में शोभित हो रहे हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों सम्पूर्ण मोक्ष (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य) शरीर धर कर शोभित हों ॥३॥

मरकत कनक बरन तनु जोरी । देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी ॥
पुनि रामहिँ बिलोकि हिय हरषे । नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे ॥४॥

श्याममणि और सुवर्ण रङ्ग के शरीर की जोड़ी देख कर देवताओं को थोड़ी प्रीति नहीं अर्थात् बड़ी प्रीति उत्पन्न हुई। फिर रामचन्द्रजी को देख कर हृदय में हर्षित हुए और राजा की प्रशंसा कर के उन्हों ने फूल बरसाया ॥४॥

दो०--राम रूप नख-सिख-सुभग, बारहि बार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल, उमा समेत पुरारि ॥३१५॥

रामचन्द्रजी के सुन्दर रूप को नख से चोटी पर्य्यन्त बार बार देख पार्वतीजी के सहित शिवजी का शरीर पुलकित और आँखें जल से परिपूर्ण हो गई हैं ॥३१५॥

चौ०--केकि-कंठ-दुति स्यामल अङ्गा । तड़ित बिनिन्दक बसन सुरङ्गा ॥
ब्याह बिभूषन बिबिध बनाये । मङ्गलमय सब भाँति सुहाये ॥१॥

मुरैले के गले की कान्ति के समान श्यामल अङ्ग और सुन्दर पीले रङ्ग के वस्त्र बिजली के अत्यन्त निरादर करनेवाले हैं। विवाह के आभूषण मङ्गल के रूप सब तरह सुहावने अनेक प्रकार के सजे हैं ॥ ॥

सरद-बिमल-बिधु बदन सुहावन । नयन नवल-राजीव लजावन ॥
सकल अलौकिक सुन्दरताई । कहि न जाइ मनही मन भाई ॥२॥

शरत्कालके निर्मल चन्द्रमा के समान सुहावना मुख और नवीन कमल को लज्जित करनेवाले नेत्र हैं। सारी सुन्दरता लोकोत्तर है, मन ही मन भाती है, वह कही नहीं जाती ॥२॥

बन्धु मनोहर सोहहिँ सङ्गा । जात नचावत चपल तुरङ्गा ।
राजकुँअर बर बाजि देखावहिँ । बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिँ ॥३॥

साथ में चञ्चल घोड़ों को नचाते जाते हुए मनोहर बन्धु सोह रहे हैं। राजकुमार घोड़े की सुन्दर चाल दिखाते हैं और मागध वन्दीजन नामवरी सुनाते हैं ॥३॥

जेहि तुरङ्ग पर राम बिराजे । गति बिलोकि खगनायक लाजे ॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा । बाजि बेष जनु काम बनावा ॥४॥

जिस घोड़े पर रामचन्द्रजी विराजमान हैं, उसकी चाल देख कर गरुड़ लजा जाते हैं। वह सब तरह से सुहावना कहा नहीं जाता है, ऐसा मालूम होता है मानों कामदेव ने घोड़े का रूप बनाया हो ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जनु बाजि-बेष बनाइ मनसिज, राम-हित अति-सोहई ।
आपने बय-बल-रूप-गुन-गति, सकल भुवन बिमोहई ॥
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे ।
किङ्किनि-ललाम लगाम-ललित बिलोकि सुर-नर-मुनि ठगे ॥२१॥

मानों घोड़े का वेश बना कर कामदेव रामचन्द्रजी के हेतु अत्यन्त शोभित हो रहा है। अपनी अवस्था, बल, रूप, गुण और चाल से समस्त भूमण्डल को मोहित करता है। सुन्दर मोती, मणि और माणिक लगे जड़ाऊदार जीन की ज्योति जगमगा रही है। मनोहर घुँघुरू लगी ललित लगाम को देख कर देवता, मनुष्य और मुनि ठगे जाते हैं ॥ २१ ॥

दो०—प्रभु मनसहि लयलीन मन, चलत बाजि छबि पाव ।
भूषित उड़गन तड़ित घन, जनु बर बरहि नचाव ॥ ३१६ ॥

प्रभु रामचन्द्रजी की इच्छा में मन लवलीन किये चलने में घोड़ा छवि को प्राप्त हो रहा है। ऐसा मालूम होता है मानों तारागण और बिजली से अलंकृत मेघ अच्छे मुरैले को नचाता हो ॥ ३१६ ॥

रत्नादि और तारागण, पीताम्बर और बिजली, रामचन्द्रजी के श्याम अङ्ग और मेघ, घोड़ा और मोर परस्पर उपमेय उपमान हैं। यह उत्प्रेक्षा कवि की कल्पना मात्र है, क्योंकि ऐसा दृश्य संसार में होते सुना नहीं जाता कि बादल तारागण-बिजली से विभूषित मोर पर सवार हो उसे नचाता हो 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। गुटका में 'चलत चाल छबि पाव' पाठ है।

चौ०-जेहि बर बाजि राम असवारा । तेहि सारदउ न बरनइ पारा ॥
सङ्कर राम-रूप अनुरागे । नयन पञ्चदस अति प्रिय लागे ॥१॥

जिस उत्तम घोड़े पर रामचन्द्रजी सवार हैं, उसका वर्णन कर सरस्वती भी पार नहीं पा सकतीं। शङ्करजी रामचन्द्रजी के रूप में अनुरक्त हुए, उन्हें अपने पन्द्रहों नेत्र अत्यन्त प्यारे लगे ॥ १ ॥

हरि हित सहित राम जब जोहे । रमा समेत रमापति मोहे ॥
निरखि राम छबि बिधि हरषाने । आठै नयन जानि पछिताने ॥२॥

भले घोड़े के सहित जब लक्ष्मीकान्त ने रामचन्द्रजी को देखा, तब लक्ष्मी के समेत वे मोहित हो गये। रामचन्द्रजी की छबि निरीक्षण कर के ब्रह्मा जी प्रसन्न हुए, परन्तु आठ ही नेत्र समझ कर मन में पछताने लगे ॥ २ ॥

'हरि' शब्द अनेकार्थी होने पर भी प्रसङ्ग बल से एक घोड़े की ही अभिधा है, अन्य अर्थों का ग्रहण नहीं है। रामचन्द्रजी घोड़े पर सवार परछन के लिए जनकजी के द्वार पर आ रहे हैं। उसी समय की शोभा का वर्णन है।

सुरसेनप उर अधिक उछाहू । बिधि तेँ डेवढ़ सुलोचन लाहू ॥
रामहि चितव सुरेस सुजाना । गौतम साप परम हित माना ॥३॥

स्वामिकार्तिक के हृदय में अधिक उत्साह है, ब्रह्मा से ड्योढ़ा उन्हें सुन्दर नेत्र लाभ है। चतुर इन्द्र रामचन्द्रजी को चितवते और गौतम के शाप को अत्यन्त हितकारी मानते हैं ॥ ३ ॥

पूर्वार्द्ध में यह कहना कि देवताओं के सेनापति कार्तिकेय को बड़ा उत्साह है, इसका समर्थन हेतुसूचक बात कह कर करना कि उन्हें ब्रह्मा से ड्योढ़ा बढ़ कर नेत्र लाभ है अर्थात् छे मुख में बारह आँखें 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। इन्द्र ने शाप रूपी दोष को राम-दर्शन के लाभ से उसे गुण मान लिया 'अनुज्ञा अलंकार' है। इन्द्र के शाप की कथा इसी काण्ड में २०६ दोहे के नीचे छठीं चौपाई की टिप्पणी देखिए।

देव सकल सुरपतिहि सिहाहीँ । आजु पुरन्दर सम कोउ नाहीँ ॥
मुदित देव गन रामहि देखी । नृप समाज दुहुँ हरष बिसेखी ॥४॥

सम्पूर्ण देवता इन्द्र की बड़ाई करते हैं कि आज देवराज के समान कोई नहीं है। रामचन्द्रजी को देख कर देवतावृन्द प्रसन्न हो रहे हैं, दोनों राज समाज में बड़ा हर्ष छा रहा है ॥ ४ ॥

गूढ़ प्रशंसा की बात यह है कि गौतम के शाप से इन्द्र को जो हजार भग हुए थे, वे रामचन्द्रजी के दर्शन से नेत्र हो गये हैं।

हरिगीतिका-छन्द ।

अति हरष राज-समाज दुहुँ दिसि, दुन्दभी बाजहिँ घनी ।
बरषहिँ सुमन सुर हरषि कहि जय, जयति जय रघुकुलमनी ॥
एहि भाँति जानि बरात आवत, बाजने बहु बाजहीँ ।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मङ्गल साजहीँ ॥२२॥

दोनों ओर राजसमाज में बड़ा आनन्द छाया है और गहरे नगाड़े बजते हैं। देवता लोग प्रसन्न मन हो कर फूल बरसाते हैं और रघुकुल-मणि की जय हो, बार बार जय जयकार मनाते

हैं। इस प्रकार बरात को आती हुई जान कर बहुत से बाजे बजने लगे। सुहागिनी स्त्रियों को बुला कर रानी परछन के लिए मङ्गल साज सजने लगीं ॥ २२ ॥

दो०—सजि आरती अनेक बिधि, मङ्गल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछन करन, गज-गामिनि बर नारि ॥३१७॥

आरती साज कर अनेक प्रकार के सम्पूर्ण मङ्गल साज सजा कर हाथी के समान चालवाली सुन्दर स्त्रियाँ प्रसन्नता से परछन करने चलीं ॥ ३१७ ॥

चौ०-बिधु-बदनी सबसब मृगलोचनि। सबनिजतनुछबि रतिमदमोचनि।
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा ॥१॥

सब चन्द्रमुखी, सब मृग के समान नेत्रोंवाली और सब अपने शरीर की छबि के आगे रति के गर्व को छोड़ानेवाली हैं। रङ्ग रङ्ग की बढ़िया साड़ी पहिने हैं और सम्पूर्ण आभूषण अङ्गों में सजे हैं ॥१॥

सकल सुमङ्गल अङ्ग बनाये। करहिँ गान कलकंठ लजाये ॥
कङ्कन किङ्किनि नूपुर बाजहिँ। चाल बिलोकि काम गज लाजहिँ ॥२॥

सम्पूर्ण श्रेष्ठ मङ्गलों से अङ्ग सजाये कोयल को लजानेवाली मधुर वाणी से गान करती हैं। उनके कङ्कने, करधनी और मञ्जीर बजते हैं, चाल देख कर कामदेव रूपी हाथी लजा जाते हैं ॥२॥

मतवाले हाथी की चाल यों ही प्रशंसनीय होती है, कामदेव यद्यपि उत्कर्ष का हेतु नहीं है, तो भी उसकी कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है।

बाजहिँ बाजन बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमङ्गल चारा।
सची सारदा रमा भवानी। जे सुर-तिय सुचि सहज सयानी ॥३॥

अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं, आकाश और नगर में सुन्दर मङ्गलाचार हो रहा है। इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती और जो सहज पवित्र सयानी देवाङ्गनाएँ हैं ॥३॥

कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई ॥
करहिँ गान कल मङ्गल-बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी ॥४॥

कपट से सुन्दर स्त्रियों के रूप बना कर सब जा कर रनिवास में मिल गईं। मनोहर वाणी से मङ्गल गान करती हैं, सारा रनिवास अत्यन्त हर्ष के आधीन है, किसी ने उन्हें नहीं पहचाना ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

को जान केहि आनन्द-बस सब, ब्रह्म-बर परिछन चलीं ।
कल गान मधुर-निसान बरषहिँ, सुमन सुर सोभा भलीं ॥
आनन्द-कन्द बिलोकि दूलह, सकल हिय हरषित भईं ।
अम्भोज-अम्बक अम्बु उमगि सुअङ्ग पुलकावलि छईं ॥२३॥

'कौन किसको जानता है ? सब आनन्द के बस में हुईं परब्रह्म दूलह के परछन के लिये जा रही हैं । मनोहर गान करती हैं, मधुर ध्वनि से नगाड़े बजते हैं, देवता फूल बरसाते हैं, अच्छी शोभा हो रही है । आनन्द के मूल वर को देख कर सारी स्त्रियाँ हृदय में हर्षित हुईं । उनके कमल रूपी नेत्रों में जल उमड़ कर सुन्दर अङ्गों में पुलकावली छा गई ॥२३॥

हर्ष से स्त्रियों को अश्रु रोमाञ्च का होना सात्विक अनुभाव है ।

दो०-जो सुख भा सिय मातु मन, देखि राम बर बेष ।
सो न सकहिँ कहि कलप-सत, सहस-सारदा-सेष ॥३१८॥

रामचन्द्रजी के उत्तम वेश को देख कर सीताजी की माता (सुनयना) के मन में जो सुख हुआ उसको सहस्रों सरस्वती और शेष सैकड़ों कल्प तक नहीं कह सकते ॥३१८॥

चौ०-नयन नीर हठि मङ्गल जानी । परिछन करहिँ मुदित मन रानी ॥
बेद बिदित अरु कुल आचारू । कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू ॥१॥

मङ्गल का समय जान कर नेत्रों का जल हठ से रोक कर प्रसन्न मन से रानी परछन करती हैं । वेदोक्त और कुल की रीति के सब व्यवहार अच्छी तरह से किये ॥ १ ॥

पञ्च-सबद धुनि-मङ्गल-गाना । पट पाँवड़े परहिँ बिधि नाना ॥
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा । राम गवन मंडप तब कीन्हा ॥२॥

लोगों के शब्द और मङ्गल गान की ध्वनि हो रही है, नाना प्रकार के वस्त्रों के पाँवड़े पड़ते हैं । आरती कर के उन्होंने अर्घ्य दिया, तब रामचन्द्रजी ने मण्डप के नीचे गमन किया ॥२॥

मण्डप के 'नीचे' मुख्यार्थ बाध हो कर गमन कथन में 'रूढ़ि लक्षणा' है । पञ्च शब्द जनसमुदायवाची है, जिससे समूह मनुष्यों के शब्द होने का वर्णन है । कोई कोई 'जय धुनि बन्दी वेद धुनि, मङ्गल-गान निसान' को पञ्चशब्द कहते हैं । अर्घ्य पूजा में देने योग्य वस्तु भेंट करना, जैसे—जल, फल, फूल इत्यादि ।

दसरथ सहित समाज बिराजे । बिभव बिलोकि लोकपति लाजे ॥
समय समय सुर बरषहिँ फूला । सान्ति पढ़हिँ महिसुर अनुकूला ॥३॥

दशरथजी मण्डली सहित बिराजमान हैं, उनके ऐश्वर्य्यको देख कर लोकपाल लज्जित हो जाते हैं । समय समय पर देवता फूल बरसाते हैं, ब्राह्मण कल्याणकारी शान्ति-पाठ करते हैं ॥३॥

नभ अरु नगर कोलाहल होई । आपन पर कछु सुनइ न कोई ॥
एहि बिधि राम मंडपहि आये । अरघ देइ आसन बैठाये ॥४॥

आकाश और नगर में बड़ा हल्ला हो रहा है, कोई अपना पराया कुछ सुनता नहीं है। इस तरह रामचन्द्रजी मण्डप में आये, रानी ने अर्घ्य देकर उन्हें आसन पर बैठाया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

बैठारि आसन आरती करि, निरखि बर सुख पावहीं ।
मनि बसन भूषन भूरि वारहिं, नारि मङ्गल गावहीं ॥
ब्रह्मादि सुरबर बिप्र बेष बनाइ कौतुक देखहीं ।
अवलोकि रघुकुल-कमल-रबि-छबि, सुफल जीवन लेखहीं ॥२४॥

आसन पर बैठा कर आरती कर के वर को देख कर सुखी हो रही हैं। बहुत से रत्न, वस्त्र, आभूषण न्योछावर करती हैं और स्त्रियाँ मङ्गल गाती हैं। ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मण का रूप बना कर आनन्दोत्सव देखते हैं। रघुकुल रूपी कमल-वन के सूर्य्य (रामचन्द्रजी) को देख कर अपने जीवन को सफल मानते हैं ॥२४॥

दो०-नाऊ बारी भाट नट, राम निछावरि पाइ ।
मुदित असीसहिँ नाइ सिर, हरष न हृदय समाइ ॥३१९॥

नाऊ, वारी, भाट और नचनियाँ रामचन्द्रजी की न्योछावरें पा कर प्रसन्नता से सिर झुका कर असीसते हैं उनके हृदयों में हर्ष अमाता नहीं है ॥३१९॥

असंख्यों नेगियों के हृदय रूपी आधार से आनन्द रूपी आधेय को अधिक कहना 'प्रथम अधिक अलंकार' है। इस में व्यङ्ग से यह बात निकलती है कि यह आनन्द इससे भी अधिक स्थानों में फैला है। सूक्ष्म रीति से यहाँ पर्य्यन्त रानियों के परछने का प्रसंग समाप्त हुआ। अब दोनों समधियों का मिलन और देवादिकों द्वारा स्तुति वर्णन और समधी को मण्डप में ले आना कहते हैं।

चौ०-मिले जनक दसरथ अति प्रीती । करि बैदिक लौकिक सब रीती ॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे । उपमा खोजि खोजि कबि लाजे ॥१॥

जनकजी सब वैदिक और लौकिक रीति कर के बड़े प्रेम से दशरथजी से मिले। दोनों महाराज मिलते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं, उनकी उपमा ढूँढ़ ढूँढ़ कर कवि लज्जित हो गया ॥१॥

लही न कतहुँ हारि हिय मानी । इन्ह सम एइ उपमा उर आनी ॥
समधि देखि देव अनुरागे । सुमन बरषि जस गावन लागे ॥२॥

कहीं भी नहीं पाया, तब हृदय में हार मान कर इनके समान उपमान इन्हीं को मन में ले आया। समधियों को देख कर देवता अनुरक्त हुए और फूल बरसा कर यश गाने लगे ॥२॥

जग बिरञ्चि उपजावा जब तेँ । देखे सुने ब्याह बहु तब तेँ ॥
सकल भाँति सब साज समाजू । सम समधी देखे हम आजू ॥३॥

ब्रह्मा ने जब से संसार में उत्पन्न किया तब से हमने बहुत विवाह देखे और सुने, परन्तु सम्पूर्ण प्रकार सब साज-समाज बराबर और समान समधी आज ही देखा है ॥३॥

देव-गिरा सुनि सुन्दर साँची । प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची ॥
देत पाँवड़े अरघ सुहाये । सादर जनक मंडपहि ल्याये ॥४॥

देवताओं की सुन्दर सत्य वाणी सुन कर दोनों ओर अपूर्व प्रीति उत्पन्न हो रही है। सुहावने पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए आदर के साथ जनकजी (समधी को) मण्डप में ले आये ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

मंडप बिलोकि बिचित्र रचना, रुचिरता मुनि मन हरे ।
निज-पानि जनक सुजान सब कहँ, आनि सिंहासन धरे ॥
कुल-इष्ट सरिस बसिष्ठ पूजे, बिनय करि आसिष लही ।
कौसिकहि पूजत परम प्रीति कि, रीति तो न परै कही ॥२५॥

मण्डप की विलक्षण रचना और उसकी सुन्दरता को देख कर मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं। चतुर जनकजी ने सब को अपने हाथ से ला कर सिंहासन रक्खा। इष्टदेवता के समान वशिष्ठजी का पूजन किया और विनय कर के आशीर्वाद पाया। विश्वामित्रजी का पूजन करते समय तो अत्युत्तम प्रीति की रीति कहते नहीं बनती है ॥ २५ ॥

दो०—बामदेव आदिक रिषय, पूजे मुदित महीस ।
दिये दिव्य आसन सबहि, सब सन लही असीस ॥३२०॥

वामदेव आदि ऋषियों की प्रसन्न मन से राजा जनक ने पूजा की और सभी को दिव्य आसन दिए तथा सब से आशीर्वाद पाये ॥ ३२० ॥

चौ०—बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा । जानि ईस सम भाव न दूजा ॥
कीन्हि जोरि कर बिनय बड़ाई । कहि निज-भाग्य बिभव बहुताई ॥१॥

फिर अयोध्यानरेश को ईश्वर के समान जान कर पूजन किया, दूसरा भाव नहीं। हाथ जोड़ कर बिनती और बड़ाई की, अपने भाग्य-विस्तार की सराहना की ॥ १ ॥

जनकजी अपने भाग्य की बड़ाई करते हैं, परन्तु इससे दशरथजी की प्रशंसा व्यञ्जित होना 'लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि' है।

पूजे भूपति सकल बराती। समधी सम सादर सब भाँती ॥
आसन उचित दिये सब काहू। कहउँ कहा मुख एक उछाहू ॥२॥
राजा ने सम्पूर्ण बरातियों का समधी के समान सब तरह आदर के साथ पूजन किया। सब को उचित आसन दिया, मैं एक मुख से उस उत्साह को कैसे कहूँ ॥ २ ॥

आधेय रूप उत्साह बहुत है और आधार रूप मुख कहने के लिये एक ही है। लघु आधार में बड़े आधेय का रखना 'द्वितीय अधिक अलंकार' है।

सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी ॥
बिधि-हरि-हर-दिसिपति-दिनराऊ। जे जानहिँ रघुबीर प्रभाऊ ॥३॥
दान, प्रतिष्ठा और श्रेष्ठ वाणी से बिनती कर के जनकजी ने समस्त बरात का सम्मान किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दिक्पाल और सूर्य आदि जो रघुनाथजी की महिमा जानते हैं ॥३॥

कपट बिप्र-बर बेष बनाये। कौतुक देखहिँ अति सचु पाये ॥
पूजे जनक देव सम जाने। दिये सुआसन बिनु पहिचाने ॥४॥
वे छल से उत्तम ब्राह्मण का रूप बनाये हुए और अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हो कर कुतूहल देखते हैं। जनकजी ने उन्हें देवता के समान जान कर पूजा और बिना पहचाने सुन्दर आसन दिया ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

पहिचान को केहि जान सबहि, अपान सुधि भोरी भई।
आनन्द-कन्द बिलोकि दूलह, उभय-दिसि आनँद मई ॥
सुर लखे राम सुजान पूजे, मानसिक आसन दये।
अवलोकि सील सुभाउ प्रभु को, बिबुध मन प्रमुदित भये ॥२६॥

कौन किसको पहचानता और जानता है? सब को अपनी ही सुधि भूली हुई है। आनन्द के मूल दूलह को देख कर दोनों ओर आनन्द छाया हुआ है। सुजान रामचन्द्रजी ने देवताओं को देखा, मानसिक आसन देकर उनकी पूजा की। प्रभु के शील और स्वभाव को देख कर देवता मन में प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

कौन किसको पहचानता है? इस कथन से समर्थन में हेतु सूचक बात कहना कि सब को अपनी ही सुधि भूली हुई है अर्थात् जब अपने शरीर का ख्याल नहीं तब दूसरे की पहचान कैसे होगी 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। देवताओं के कपट-वेश को रामचन्द्रजी जान गये, उन्हें मानसिक आसन दे कर सत्कार किया 'सूक्ष्म अलंकार' है।

दो०—रामचन्द्र-मुख चन्द्र-छबि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर ॥३२१॥
रामचन्द्रजी के मुख रूपी चन्द्रमा की छवि रूपी किरण को सुन्दर नेत्र रूपी सम्पूर्ण चकोर आदर के साथ पान करते हैं, उन्हें कम प्रीति और आनन्द नहीं है ॥ ३२१ ॥

रामचन्द्रजी के मुख के प्रकाशत्व गुण से उसे चन्द्रमा ठहराना गौणी सारोपा लक्षणा है।

चौ०—समउ बिलोकि बसिष्ठ बोलाये। सादर सतानन्द सुनि आये॥
बेगि कुँअरि अब आनहु जाई। चले मुदित मन आयसु पाई॥१॥

समय देख कर वशिष्ठजी ने शतानन्द को बुलाया, वे सुन कर आदर के साथ आये। वशिष्ठजी ने कहा—अब जा कर जल्दी कुँवरि को ले आइये, आज्ञा पा कर प्रसन्न मन से चले॥१॥

रानी सुनि उपरोहित बानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी॥
बिप्रबधू कुलबृद्ध बोलाई। करि कुल रीति सुमङ्गल गाई॥२॥

बुद्धिमती रानी पुरोहित की वाणी सुन कर सखियों सहित प्रसन्न हुईं। ब्राह्मणों की स्त्रियाँ और कुटुम्ब की वृद्धाओं को बुला कर कुलाचार कर के सुन्दर मंगल गाती हैं॥२॥

नारि बेष जे सुरबर-बामा। सकल सुभाय सुन्दरी स्यामा॥
तिन्हहिँ देखि सुख पावहिँ नारी। बिनु पहिचानि प्रान तेँ प्यारी॥३॥

जो देवताओं की श्रेष्ठ स्त्रियाँ प्राकृत स्त्री के वेश में हैं, सम्पूर्ण स्वभाव से सुन्दरी और सोलह वर्ष की अवस्थावाली हैं। उन्हें देख कर रनिवास की ललनाएँ प्रसन्न हो रही हैं और बिना पहचान के ही वे प्राण से बढ़ कर प्यारी लगती हैं॥३॥

बार बार सनमानहिँ रानी। उमा-रमा-सारद-सम जानी॥
सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मंडपहि चलीँ लेवाई॥४॥

उन्हें पार्वती, लक्ष्मी और सरस्वती के समान जान कर रानी बार बार सम्मान करती हैं। वे देवङ्गनाएँ सीताजी को वस्त्राभूषण से सज कर और अपनी मण्डली बना कर प्रसन्नता से मण्डप में लिवा चलीं॥४॥

हरिगीतिका-छन्द

चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर, सजि सुमङ्गल भामिनी।
नवसप्त साजे सुन्दरी सब, मत्त-कुञ्जर-गामिनी॥
कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिँ, काम-कोकिल लाजहीँ।
मञ्जीर नूपुर कलित कङ्कन, ताल-गति बर बाजहीँ॥२७॥

आदर के साथ सखियाँ सीताजी को लिवा चलीं, उन्होंने सुन्दर मङ्गलीक साजों से अपने को सजाया है। सभी सुन्दरियाँ सोलहो शृङ्गार किये मतवाले हाथी के समान गमन करनेवाली हैं। उनके मनोहर गान को सुन कर मुनि लोग ध्यान छोड़ देते और कामदेव के

कोकिल लज्जित हो जाते हैं। पायजेब, घुघुरू और शोभन कङ्कण ताल की अच्छी गति से बजते हैं ॥२॥

दो०-सोहति बनिता बृन्द महँ, सहज सुहावनि सीय।
छबि ललना गन मध्य जनु, सुखमा तिय कमनीय ॥३२२॥

सहज ही शोभायमान सीताजी स्त्रियों के झुण्ड में शोभित हो रही हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं मानों छबि रूपी स्त्री- मण्डल के बीच में महा छवि रूपी स्त्री शोभित हो ॥३२२॥

चौ०-सिय सुन्दरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई ॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूप-रासि सब भाँति पुनीता ॥१॥

सीताजी की सुन्दरता बखानी नहीं जाती, बुद्धि थोड़ी है और मनोहरता बहुत है। रूप की खान और सब प्रकार से सीताजी को आते हुए बरातियों ने देखा ॥१॥

सबहि मनहिं मन किये प्रनामा। देखि राम भये पूरनकामा ॥
हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँद जेता ॥२॥

सब ने मन ही मन प्रणाम किया, इन्हें (सीताजी को) देख कर रामचन्द्रजी सफल मनोरथ हुए। पुत्रों सहित दशरथजी हर्षित हुए, जितना आनन्द उनके हृदय में हुआ वह कहा नहीं जा सकता ॥२॥

सुर प्रनाम करि बरिसहिँ फूला। मुनि-असीस-धुनि मङ्गल-मूला ॥
गान-निसान-कोलाहल भारी। प्रेम-प्रमोद-मगन नर-नारी ॥३॥

देवता प्रणाम कर फूल बरसाते हैं, मङ्गल के मूल मुनियों के आशीर्वाद की ध्वनि हो रही है। गान और नगाड़े के शब्द का बड़ा शोर हो रहा है, स्त्री-पुरुष सब प्रेम से आनन्द में मग्न हैं ॥ ३ ॥

एहि बिधि सीय मंडपहि आई। प्रमुदित सान्ति पढ़हिँ मुनिराई ॥
तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू। दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू ॥४॥

इस तरह सीताजी मण्डप में आईं, मुनीश्वर लोग प्रसन्न हो कर शान्ति पढ़ते हैं। उस समय के व्यवहार की विधि और कुलाचार सब दोनों कुल-गुरुओं ने किये ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

आचार करि गुरु-गौरि-गनपति, मुदित बिप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिँ देहिँ, असीस अति सुख पावहीं ॥

मधुपर्क मङ्गल-द्रब्य जो जेहि, समय मुनि मन महँ चहैँ।
भरे कनक-कोपर-कलस सो, सब लिये परिचारक रहैँ ॥२८॥

आचार कर के गुरुओं ने गौरि-गणेश का पूजन करवाया और प्रसन्नता से ब्राह्मण पाँव पुजवाते हैं। देवता प्रकट हो कर पूजा लेते हैं और अत्यन्त सुख को प्राप्त हो आशीर्वाद देते हैं। मधुपर्क और अन्यान्य मांगलीक वस्तु जिसको मुनि जिस समय मन में चाहते हैं उस समय उसको सुवर्ण के परात और कलशों में भरे हुए सेवक लोग लिये उपस्थित रहते हैं ॥२८॥

आवश्यकतानुसार मांगलीक वस्तुओं की वशिष्ठजी और शतानन्दजी के मन में चाहना हुई, बिना कहे आशय ताड़ कर लिये हुए सेवकों का उपस्थित रहना 'सूक्ष्म अलंकार' है। घी और मधु एक एक भाग तथा दही तीन भाग मिलाने से मधुपर्क कहलाता है। यथा—"आज्यमेकंपलं ग्राह्यं दधित्रिपलमेवच। मधुना पलमेकन्तु मधुपर्क स उच्यते"।

कुलरीति प्रीति समेत रबि कहि,-देत सब सादर किये।
एहि भाँति-देव पुजाइ सीतहि, सुभग सिंहासन दिये॥
सिय-राम अवलोकनि परसपर, प्रेम काहु न लखि परै॥
मन-बुद्धि-बर-बानी अगोचर, प्रगट कबि कैसे करै ॥२९॥

सूर्य्य भगवान् स्वयम् कुल की रीति कह देते हैं, उसके अनुसार सब आचार आदर से किये जाते हैं। इस प्रकार देवताओं ने पुजाया, और सीताजी को सुन्दर सिंहासन दिया गया। सीता और रामचन्द्रजी का आपस में निहारना और एक पर दूसरे की प्रीति किसी के लखाव में नहीं आती। वह मन, बुद्धि और उत्तम वाणी से परे है उसको कवि कैसे प्रकट कर सकता है? ॥ २९ ॥

रामचन्द्रजी और जानकीजी का परस्पर अवलोकन मानसिक अनुभाव है। प्रेम से उत्पन्न मनोविकार किसी को प्रकट न होने देना, चतुराई से उसको छिपाना 'अवहित्थ सञ्चारीभाव' है गुरुजनों की लज्जा 'ब्रीड़ा सञ्चारीभाव' है।

दो०—होम समय तनु धरि अनल, अति सुख आहुति लेहिँ।
बिप्र बेष धरि बेद सब, कहि बिबाह बिधि देहिँ ॥३२३॥

हवन के समय शरीर धारण कर के अग्नि अत्यन्त प्रसन्नता से आहुति लेते हैं। ब्राह्मण का रूप बना कर सब वेद विवाह की विधि कह देते हैं ॥ ३२३ ॥

ब्राह्मण वेदमन्त्र के अनुसार विवाह कराते हैं, पर यहाँ वेद ही ब्राह्मण वेशधारी हो कर विवाह का विधान कहते हैं। ब्राह्मण की क्रिया वेदों में व र्तमान रहना 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

चौ०-जनक-पाटमहिषी जग जानी। सीय मातु किमि जाइ बखानी॥
सुजस सुकृत सुख सुन्दरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई ॥१॥

जानकजी की पटरानी को संसार जानता है, सीताजी की माता का बखान कैसे किया जा सकता है? सुयश, पुण्य, सुख और सुन्दरता सब बटोर कर मानों ब्रह्मा ने इन्हें रच कर (दिलदेही के साथ) बनाया है ॥ १ ॥

'महिषी' शब्द अनेकार्थी है, पर राजा जनक के संयोग से अभिषिक्त रानी की अभिधा है, भैंस की नहीं।

समउ जानि मुनिबरन्ह बोलाई । सुनत सुआसिनि सादर ल्याई ॥
जनक बाम-दिसि सोह सुनयना । हिम-गिरि सङ्ग बनी जनु मयना ॥२॥

अवसर जान कर मुनिवरों ने बुलवाया, सुनते ही सुहागिनी स्त्रियाँ आदर से लिवा लाईं। जनकजी की बाईं ओर सुनयनाजी सोहती है, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों हिमाचल के साथ मैना विराजती हों ॥ २ ॥

कनक-कलस मनि-कोपर रूरे । सुचि-सुगन्ध-मङ्गल-जल पूरे ॥
निज कर मुदित राय अरु रानी । धरे राम के आगे आनी ॥३॥

सुवर्ण के कलश और मणि के सुन्दर थाल में जो पवित्र सुगन्धित माङ्गलीक जल से भरे हैं, राजा और रानी ने प्रसन्नता-पूर्वक अपने हाथ से ला कर रामचन्द्रजी के सामने रखा ॥३॥

पढ़हिँ बेद मुनि मङ्गल बानी । गगन सुमन झरि अवसर जानी ॥
बर बिलोकि दम्पति अनुरागे । पाय पुनीत पखारन लागे ॥४॥

मङ्गल वाणी से मुनि लोग वेद-पाठ करते हैं और समय जान कर आकाश से फूलों की झड़ी लगी है। दूलह को देख कर राजा-रानी प्रेम से सराबोर हो पवित्र चरणों को धोने लगे ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

लागे पखारन पाय-पङ्कज, प्रेम तनु पुलकावली ।
नभ नगर गान-निसान-जय धुनि, उमगि जनु चहुँ दिसि चली ॥
जे पद-सरोज मनोज अरि उर,-सर सदैव बिराजहीं ।
जे सकृत सुमिरत बिमलता मन, सकल कलिमल भाजहीं ॥३०॥

चरण-कमल धोने लगे, प्रेम से शरीर पुलकित हो गया। आकाश और नगर में गाना, नगाड़ा तथा जयजयकार का शब्द हो रहा है, वह ऐसा मालूम होता है मानों चारों दिशाओं में उमड़ चला हो। जो चरण-कमल कामदेव के वैरी शिवजी के हृदय रूपी मानसर में सदा विराजते हैं। जिनका एक बार भी स्मरण करने से मन निर्मल हो जाता है और सम्पूर्ण पाप भाग जाते हैं ॥३०॥

जे परसि मुनि-बनिता लही गति, रही जो पातक-मई ।
मकरन्द जिन्ह को सम्भु सिर सुचिता, अवधि सुर बरनई ॥

करि मधुप मुनि मन जोगि-जन जे, सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्य-भाजन, जनक जय जय सब कहैं ॥३१॥

जिन चरणों के स्पर्श से मुनि की स्त्री (अहल्या) जो पाप की मूर्त्ति थी, उसने भी अच्छी गति पाई, जिसका रस शिवजी के सिर पर विराजमान है, जिसको पवित्रता की सीमा देवता लोग वर्णन करते हैं। मुनि और योगिजन अपने मन को भ्रमर बना कर जिस (मकरन्द) का सेवन कर वाञ्छित गति पाते हैं, उन्हीं चरणों को भाग्यवान जनक धोते हैं, इससे सब उनका जय जयकार करते हैं ॥३१॥

बर-कुँअरि करतल जोरि साखोच्चार दोउ कुल-गुरु करैं।
भयो पानि-गहन बिलोकि बिधि-सुर-मनुज-मुनि आनँद भरैं ॥
सुख-मूल-दूलह देखि दम्पति, पुलक तनु हुलस्यो हियो।
करि लोक-बेद-बिधान कन्यादान नृप-भूषन कियो ॥३२॥

वर-कन्या की हथेलियों को मिला कर दोनों कुलगुरु शाखोच्चार करने लगे। पाणिग्रहण हुआ देख कर ब्रह्मा आदि देवता, मनुष्य और मुनि आनन्द से भर गये। सुख के मूल दूलह को देख कर राजा-रानी का शरीर पुलकित हो हृदय में उत्साह उमड़ आया। इस तरह लोक और वेद का विधि कर के राजाओं के भूषण जनकजी ने कन्यादान किया ॥३२॥

हिमवन्त जिमि गिरिजा महेसहि, हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहि सिय समरपी, बिस्व कल कीरति नई ॥
क्यों करइ बिनय बिदेह कियउ बिदेह मूरति साँवरी।
करि होम बिधिवत गाँठि जोरी, होन लागी भाँवरी ॥३३॥

जिस प्रकार हिमवान ने शिवजी को उमा और समुद्र ने विष्णु को लक्ष्मी दी थी। उसी तरह जनक ने रामचन्द्रजी को सीताजी को समर्पण किया, जिनकी सुन्दर नवीन कीर्त्ति संसार में फैली है। विदेह राजा कैसे विनती करें, उन्हें श्यामली मूर्त्ति ने बिना सुध बुध की कर दी। विधि-पूर्वक हवन करके गाँठ जोड़ी गई और भाँवरें होने लगीं ॥३३॥

दो०—जय-धुनि बन्दी-बेद-धुनि, मङ्गल-गान निसान।
सुनि हरषहिँ बरषहिँ बिबुध, सुरतरु-सुमन सुजान ॥३२४॥

जयध्वनि, बन्दीध्वनि, वेदध्वनि, मङ्गल गानध्वनि और नगाड़े की ध्वनि सुन कर चतुर देवता हर्षित होते हैं तथा कल्पवृक्ष के फूल बरसाते हैं ॥ ३२४ ॥

चौ०—कुँअर कुँअरि कल भाँवरि देहीं। नयनलाभ सब सादर लेहीं ॥
जाइ न बरनि मनोहरि जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी ॥१॥

कुँवर और कुँवरि सुन्दर भाँवरें देते हैं, सब आदर से नेत्रों का लाभ लेते हैं। मनोहर जोड़ी बखानी नहीं जाती, जो कुछ उपमा कहूँ वह थोड़ी है ॥ १ ॥

राम सीय सुन्दर प्रतिछाहीं। जगमगाति मनि-खम्भन माहीं ॥
मनहुँ मदन-रति धरि बहु रूपा। देखत राम-बिवाह अनूपा ॥२॥

रामचन्द्र और सीताजी की सुन्दर परछाहीं मणियों के खम्भों में झलकती हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं मानों रति और कामदेव बहुत से रूप धारण कर अनुपम राम विवाह देखते हों ॥ २ ॥

रति और कामदेव का अनेक रूप धारण असिद्ध आधार है। राम-जानकी की परछाहीं को कामदेव-रति की कल्पना कर के अहेतु में हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे ॥३॥

दर्शन की लालसा बहुत बड़ी है; और लज्जा भी कम नहीं है, इससे बार बार प्रकट होते और छिप जाते हैं। सब देखनेवाले जनक के समान अपनपौ भूल कर मग्न हो गये ॥ ३ ॥

उत्सुकता और लज्जा भाव की सन्धि है। दर्शन की उत्सुकता से प्रकट होते हैं और अपनी अल्प शोभा समझ लज्जित हो छिप जाते हैं।

प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। नेग सहित सब रीति निबेरी ॥
राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ॥४॥

प्रसन्नता से मुनियों ने भाँवर फिराई और नेग सहित सब रीति निबटाई। रामचन्द्रजी सीताजी के सिर में सिन्दूर देते हैं, वह शोभा किसी तरह नहीं कही जाती है ॥ ४ ॥

अरुन-पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के ॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्ह अनुसासन। बर दुलहिन बैठे एक आसन ॥५॥

(मानों) लाल धूलि को कमल में अच्छी तरह भर कर अमृत के लोभ से साँप चन्द्रमा को अलंकृत करता हो। फिर वशिष्ठजी ने आज्ञा दी, वर और दुलहिन एक आसन पर बैठे ॥ ५ ॥

केवल उपमान कह कर उपमेय का अर्थ प्रकट होता है। अरुण-पराग=सिन्दूर, जलज=हाथ, शशि=सीताजी का मुखमण्डल, सर्प-भुजदण्ड, अमृत=छबि ये सब प्रथम कहे उपमान के उपमेय 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' है और गौणी साध्यवसान लक्षणा है। सिन्दूर अरुण पराग है, हाथ की अँगुलियाँ कमलदल हैं, सिन्दूर लेने से उनका बटुरना सकुचाना है, जानकीजी का मुख-मण्डल चन्द्रमा है, रामचन्द्रजी के भुजदण्ड सर्प हैं, मुख-छबि अमृत है और दर्शन की इच्छा अमृत पान का लोभ है। इसके अतिरिक्त बिना वाचक पद के गम्य 'असिद्ध बिषया फलोत्प्रेक्षा अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द।

बैठे बरासन राम जानकि, मुदित मन दसरथ भये।
तन पुलक पुनि पुनि देखि अपने, सुकृत-सुरतरु-फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाह राम बिबाह भा सबही कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना,-एक यह मङ्गल महा॥३४॥

रामचन्द्र और जानकीजी उत्तम आसन पर बैठे, उन्हें देख कर दशरथजी मन में आनन्दित हुए। शरीर पुलकित हो गया, बार बार अवलोकन कर अपने पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के फल से नम्र हो गये, लोकों में उत्साह भर रहा है, सब कहते हैं कि रामचन्द्रजी का विवाह हुआ। यह महा मङ्गल एक जीभ से किस प्रकार वर्णन करके समाप्त किया जा सकता है? ॥ ३४ ॥

एक जिह्वा आधार है और रामचन्द्रजी के विवाह का उत्साह महा मङ्गल जो लोकों में भर रहा है, वह आधेय है उसका लघु आधार में अटना असम्भव है। अधिक और असम्भव का सन्देहसङ्कर है। दशरथजी का प्रेम से रोमाञ्चित होना सात्विक अनुभाव है। अपने अपूर्व सौभाग्य और मान मर्यादा को देख कर विस्मय से मन में सङ्कुचित होना 'व्रीड़ा सञ्चारी भाव' है।

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु, ब्याह साज सँवारिके।
मांडवी स्रुतिकीरति उर्मिला, कुँअरि लईं हँकारि के॥
कुसकेतु-कन्या प्रथम जो गुन, सील-सुख-सोभा मई।
सब रीत प्रीति समेत करि सो, ब्याहि नृप भरतहि दई॥३५॥

तब वशिष्ठजी की आज्ञा पा कर राजा जनक ने विवाह का सामान सज कर माण्डवी, श्रुतिकीर्त्ति और उर्मिला तीनों कन्याओं को बुला लिया। कुशध्वज की जेठी पुत्री (माण्डवी) जो गुण, शील, सुख और शोभा की रूप है, राजा ने प्रीति सहित सब रीति कर के उसको भरतजी के साथ विवाह दिया॥३५॥

कुशकेतु की प्रथम कन्या कहने से द्वितीय का अर्थ प्रकट होना 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है। राजा जनक का नाम सीरध्वज और छोटे भाई का नाम कुशध्वज है। सीरध्वज की कन्या जानकी और उर्मिला हैं। कुशध्वज की कन्या माण्डवी और श्रुतिकीर्त्ति हैं।

जानकी लघु भगिनी सकल-सुन्दरि-सिरोमनि जानि कै।
सो जनक दीन्हो ब्याहि लखनहिं, सकल बिधि सनमानि कै॥
जेहि नाम स्रुतिकीरति सुलोचनि, सुमुखि सब गुन आगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति, रूप-सील-उजागरी॥३६॥

जनकजी की छोटी बहिन (उर्मिला) को सम्पूर्ण सुन्दरियों की शिरोमणि जान कर सब तरह सन्मान कर के उसको राजा जनक ने लक्ष्मणजी को ब्याह दिया। जिनका श्रुतिकी-

र्त्ति नाम है जो सुन्दर नेत्र और अच्छे मुखवाली, सब गुणों की खान, रूप तथा शील में उजागर हैं, उन्हें राजा ने शत्रुहन को ब्याह दिया ॥३६॥

अनुरूप बर दुलहिन परसपर, लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुन्दरता सराहहिँ, सुमन सुर-गन बरषहीं ॥
सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह सब, एक मंडप राजहीं ।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था, बिभुन्ह सहित बिराजहीं ॥३७॥

दूलह दुलहिन आपस में अपने अपने अनुसार जोड़ी देख और लजा कर मन में प्रसन्न होते हैं। सब लोग आनन्दित हो सुन्दरता की बड़ाई करते हैं और देवता वृन्द फूल बरसाते हैं। सभी सुन्दरियाँ सुन्दर वरों के सहित एक ही मण्डप में शोभित हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं मानों जीव के हृदय में चारों अवस्थाएँ अपने स्वामियों के सहित विराजती हों ॥३७॥

जीव और दशरथजी, उर और मण्डप, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया ये चार अवस्थाएँ और जानकीजी, उर्मिला, माण्डवी, श्रुतिकीर्त्ति चारों बधुएँ। ब्रह्म, विश्व, प्राज्ञ, तैजस ये चारों विभु और रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुहन चारों भाई क्रमशः उपमान उपमेय हैं। सिद्ध होने पर जीवों के हृदय में विभुओं सहित चारों अवस्थाएँ शोभित होती ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—मुदित अवधपति सकल-सुत, बधुन्ह समेत निहारि ।
जनु पायउ महिपाल-मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि ॥३२५॥

अयोध्यानरेश सब पुत्रों को पतोहुओं के सहित देख कर प्रसन्न हुए। राजाओं के शिरोमणि (दशरथजी) ऐसे मालूम होते हैं मानों क्रियाओं समेत चारों फल पा गये हों ॥३२५॥

भक्ति, श्रद्धा, तपस्या, सेवा ये चारों क्रियाएँ और जानकीजी, उर्मिला, माण्डवी, श्रुतिकीर्त्ति, मोक्ष, अर्थ, काम, धर्म ये चारों फल और रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुहन चारों भाई क्रमशः परस्पर उपमान उपमेय हैं। क्रियाओं द्वारा फलों की प्राप्ति होती ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी। सकल कुँअर ब्याहे तेहि करनी ॥
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक-मनि मंडप पूरी ॥१॥

जैसी विधि रघुनाथजी के विवाह की वर्णन हुई है, सम्पूर्ण राजकुमारों का ब्याह उसी कर्म से हुआ। दहेज की अधिकता कुछ कही नहीं जाती है, सुवर्ण और रत्नों से मण्डप भर रहा है ॥ १ ॥

कम्बल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे ॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी ॥२॥

कम्बल वस्त्र और विलक्षण रेशमी कपड़े तरह तरह के जिनका बहुत मूल्य है, थोड़े

दाम के नहीं । हाथी, रथ, घोड़े, सेवक और दासियाँ तथा कामधेनु के समान (इच्छानुसार दूध देनेवाली) अलंकार-युक्त गायें ॥२॥

बस्तु अनेक करिय किमि लेखा । कहि न जाइ जानहिँ जिन्ह देखा ॥
लोकपाल अवलोकि सिहाने । लीन्ह अवधपति सब सुख माने ॥३॥

असंख्यों वस्तुओं की गिनती कैसे की जाय ? वह कही नहीं जाती, जिन्हों ने देखा वे ही जान सकते हैं । जिनको देख कर लोकपाल (इन्द्र, कुवेर आदि) बड़ाई करते हैं अयोध्या-नरेश ने सब प्रसन्नता से ले लिया ॥३॥

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा । उबरा सो जनवासहिँ आवा ॥
तब कर जोरि जनक मृदु बानी । बोले सब बरात सनमानी ॥४॥

जिसको जो अच्छा लगा वह मङ्गनों को दिया, जो बच रहा वह जनवास में आया । तब राजा जनक हाथ जोड़ कर सब बरात का सम्मान करते हुए कोमल वाणी से बोले ॥ ४ ॥

जो बच रहा वह जनवास में आया, इस वाक्य में उपादान लक्षणा है । सुवर्ण, रत्न, वस्त्रादिकों का स्वयम् जनवास में आना असम्भव है, उनका कोई ले जानेवाला है । पर यहाँ मुख्यार्थ सेवक-गणों का नाम वाध कर के अर्थ प्रकट किया है ।

हरिगीतिका-छन्द ।

सनमानि सकल बरात आदर, दान बिनय बड़ाइ कै ।
प्रमुदित महामुनि-बृन्द बन्दे, पूजि प्रेम लड़ाइ कै ॥
सिर नाइ देव मनाइ सब सन, कहत कर सम्पुट किये ।
सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि, तोष जल अञ्जलि दिये ॥३८॥

सम्पूर्ण बरात का आदर, दान, बिनती और बड़ाई कर के सत्कार किया । बड़ी प्रसन्नता से प्रीति बढ़ा कर महा मुनियों की मण्डली की पूजा कर के प्रणाम किया । देवताओं को सिर नवा कर मनाया, सब से हाथ जोड़े हुए कहते हैं । देवता और साधु प्रेम चाहते हैं, क्या अँजुरी से पानी देने से समुद्र तृप्त हो सकता है ? (कदापि नहीं) ॥ ३८ ॥

देवता और साधु भाव चाहते हैं, यह उपमेय वाक्य है । क्या समुद्र अञ्जली से जल देने पर सन्तुष्ट हो सकता है ? यह उपमान वाक्य है । बिना वाचक के दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है । तात्पर्य्य यह कि आप लोग प्रेम से प्रसन्न होनेवाले हैं, मेरा यह तुच्छ दान तो अञ्जली से समुद्र को पानी देने के बराबर है ।

कर जोरि जनक बहोरि बन्धु-समेत कोसलराय सोँ ।
बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सोँ ॥

सम्बन्ध राजन रावरे हम, बड़े अब सब बिधि भये ।
यह राज साज समेत सेवक, जानिबी बिनु गथ लये ॥३९॥

फिर जनकजी भाई के सहित कोशलराज से हाथ जोड़ कर स्वाभाविक शील और स्नेह से सने हुए मनोहर वचन बोले। हे राजन्! आपके सम्बन्ध (नातेदारी) से हम सब तरह बड़े हुए। इस राज-पाट के सहित मुझे बिना मोल लिया हुआ अपना सेवक समझियेगा॥ ३९॥

ये दारिका परिचारिका करि, पालबी करुनामई।
अपराध छमिबो बोलि पठये, बहुत हैाँ ढीठ्यो दई॥
पुनि भानुकुल-भूषन सकल सनमान निधि समधी कियो।
कहि जाति नहिँ बिनती परसपर, प्रेम परिपूरन हियो॥४०॥

इन कन्याओं को अपनी दासी मान कर दया-पूर्वक पालियेगा। मैंने आप को बुला भेजा। हे देव! यह बड़ी ढिठाई हुई, इस अपराध को क्षमा कीजियेगा। फिर सूर्य्यकुल के भूषण (दशरथजी) ने सम्माननीय समधी का सब तरह सत्कार किया। परस्पर प्रेम परिपूर्ण हृदय से बिनती करते हैं, वह कही नहीं जाती है॥ ४०॥

वृन्दारका-गन सुमन बरषहिँ, राउ जनवासहि चले।
दुन्दुभी-जयधुनि बेद-धुनि नभ,-नगर कैातूहल भले॥
तब सखी मङ्गल-गान करत, मुनीस आयसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुन्दरि, चलीं कोहबर ल्याइ कै॥४१॥

राजा जनवास को चले, देववृन्द फूल बरसाते हैं। नगाड़े की ध्वनि, जयध्वनि और वेदध्वनि से आकाश तथा नगर में अच्छा आनन्द छा रहा है। तब मुनीश्वर की आज्ञा पा सखियाँ मङ्गलगान करती हुई सुन्दर दुलहिनियों को दूलहो के सहित कोहबर में लिवा कर चलीं॥ ४१॥

दो०-पुनि पुनि रामहिँ चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छबि, प्रेम पियासे नैन॥३२६॥

सीताजी बार बार रामचन्द्रजी को निहारती और सकुचा जाती हैं, परन्तु उनका मन नहीं सकुचता है। प्रेम के प्यासे नेत्र मनोहर मछली की छबि को हरते हैं॥ ३२६॥

सीताजी का बार बार रामचन्द्रजी को देखना और लजाना दर्शन के लालच से रामचन्द्रजी की ओर देखती हैं और सखियों का स्मरण आते ही लज्जा से सिर नीचे कर लेती हैं। उत्सुकता और लज्जा भाव अपनी ओर खींचते हैं, दोनों भावों की सन्धि है।

चौ०—स्याम सरीर सुभाय सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन ॥
जावक-जुत पद-कमल सुहाये । मुनि-मन-मधुप रहत जिन्ह छाये ॥१॥

श्याम शरीर स्वाभाविक सुहावना है, करोड़ों कामदेवों को लजानेवाली शोभा है । महावर युक्त सुन्दर चरन-कमल हैं जिनमें मुनियों के मन रूपी भ्रमर छाये रहते हैं ॥१॥

पीत पुनीत मनोहर धोती । हरत बाल-रबि दामिनि-जोती ॥
कल किङ्किनि कटिसूत्र मनोहर । बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर ॥२॥

पीले रङ्ग की पवित्र मनोहर धोती है, वह बाल-सूर्य्य और बिजली की कान्ति को हरनेवाली है । शोभन नूपुर मनोहर करधनी और विशाल बाहुओं में सुन्दर आभूषण पहने हैं ॥२॥

पीत जनेउ महाछबि देई । कर-मुद्रिका चोरि चित लेई ॥
सोहत ब्याह साज सब साजे । उर आयत उरु भूषन राजे ॥३॥

पीला जनेऊ बड़ी शोभा दे रहा है, हाथ की मुँदरी चित्तको चुरा लेती है । विवाह का सब साज सज शोभित हो रहे हैं, विशाल वक्षस्थल पर बहुत से गहने विराजमान हैं ॥३॥

पियर उपरना काँखासोती । दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ॥
नयन-कमल कल कुंडल काना । बदन सकल-सौन्दर्ज-निधाना ॥४॥

पीले दुपट्टे की काँखासोती (जनेऊकी तरह कन्धे पर दुपट्टा डालने का ढङ्ग) डाले हैं, उसके दोनों आँचरों में मणि और मोती लगे हैं । कमल के समान नेत्र, कानों में सुन्दर बालियाँ हैं और मुख सारी सुन्दरता का स्थान है ॥४॥

सुन्दर भृकुटि मनोहर नासा । भाल तिलक रुचिरता निवासा ॥
सोहत मौर मनोहर माथे । मङ्गलमय मुकता-मनि गाथे ॥ ५ ॥

भौंहें सुन्दर और नाक मनोहर है, माथे पर तिलक सुन्दरता का स्थान है । मस्तक पर मनोहर मौर मोती और रत्नों से गुथा हुआ मङ्गल रूप शोभित है ॥५॥

हरिगीतिका-छन्द ।

गाथे महामनि मौर मञ्जुल, अंङ्ग सब चित चोरहीं ।
पुर-नारि सुर-सुन्दरी बरहि बिलोकि सब तृन तोरहीं ॥
मनि-बसन-भूषन वारि आरति, करहिं मङ्गल गावहीं ।
सुर सुमन बरिसहिं सूत मागध,-बन्दि सुजस सुनावहीं ॥१२॥

महा मणियों से गुथा हुआ सुन्दर मौर और सब अङ्ग चित्त को चुरा लेते हैं । नगर की स्त्रियाँ और देवताओं की सुन्दरियाँ दूलह को देख कर सब तिनका तोड़ती हैं । रत्न, वस्त्र

और आभूषण न्योछावर कर के आरती करती हैं एवम् मङ्गल गाती हैं। देवता फूल बरसाते हैं और सूत, मागध, बन्दीजन सुयश सुनाते हैं ॥४२॥

कोहबरहि आने कुँअर कुँअरि, सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै ।
अति प्रीति लैाकिक रीति लागीं, करन मङ्गल गाइ कै ॥
लहकौरि गैारि सिखाव रामहिँ, सीय सन सारद कहैँ ।
रनिवास-हास बिलास रस-बस, जनम को फल सब लहैँ ॥४३॥

सुहागिनी स्त्रियाँ आनन्द को प्राप्त हो कर राजकुमार और राजकुमारियों को कोहबर में ले आईं। बड़ी प्रीति से मङ्गल गान कर के लौकिक रीति करने लगीं। रामचन्द्रजी को पार्वती तथा सीताजी को सरस्वतीजी बतासे का ग्रास मुख में देने को सिखा कर कहती हैं। रनिवास हँसी-दिल्लगी के आनन्द वश हो कर सब जन्म का फल ले रही हैं ॥४३॥

कोहबर—वह घर जहाँ विवाह के समय कुलदेवता स्थापित किये जाते हैं। और विवाह के पीछे वर-दुलहिन को वहाँ ले जा कर कई प्रकार की रीतियाँ की जाती हैं। लहकौरि—घी बतासे का ग्रास जो कोहबर में परस्पर दूलह दुलहिन के मुख में और दुलहिन दूलह के मुख में देती है। वर्तमान में अधिकांश दही शक्कर वा दही गुड़ की प्रथा प्रचलित है।

निज-पानि-मनि महँ देखि प्रतिमूरति सरूप-निधान की ।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि, बिरह भय-बस जानकी ॥
कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न, जाइ कहि जानहिँ अली ।
बर कुँअरि सुन्दरि सकल सखी, लिवाइ जनवासहिँ चली ॥४४॥

अपने हाथ की मणियों में सरूपनिधान (रामचन्द्रजी) की परछाहीं को देख कर जानकीजी विरह के भय से बाहु रूपी लता दृष्टि-पथ से हिलाती डुलाती नहीं हैं। वह कुतूहल हँसी दिल्लगी महान् हर्ष और प्रेम कहा नहीं जाता है, उसे सखियाँ ही जानती हैं। सुन्दर वर-वधुओं को सब सखियाँ लिवा कर जनवासे को चलीं ॥४४॥

यहाँ जानकीजी को वियोग का भय देना भयानक रसाभास है, क्योंकि यह डर अयथार्थ है। जब रामचन्द्रजी पास ही में विद्यमान हैं, तब वियोग का भय करना ठीक नहीं है।

तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ, नगर नभ आनँद महा ।
चिरजिअहु जोरी चारु चारिउ, मुदित मन सब ही कहा ॥
जोगीन्द्र-सिद्ध-मुनीस-देव बिलोकि प्रभु दुन्दुभि हनी ।
चले हरषि बरषि प्रसून निज निज,-लोक जय जय जय भनी ॥४५॥

उस समय नगर और आकाश में जहाँ सुनिये वहाँ आशीर्वाद की ध्वनि का बड़ा आनन्द छा रहा है। सभी प्रसन्न मन से कहते हैं कि चारों सुन्दर जोड़ियाँ चिरंजीवी हों। योगीश्वर,

सिद्ध, मुनिराज और देवता प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर दुन्दुभी बजा कर हर्षित हो और फूलों की वर्षा कर के बारम्बार जय जयकार करते हुए अपने अपने लोक को चले ॥४५॥

दो०-सहित बधूटिन्ह कुँअर सब, तब आये पितु पास ।
सोभा मङ्गल मोद भरि, उमगेउ जनु जनवास ॥३२७॥

तब सब कुँवर बहुओं समेत पिता के पास आये। ऐसा मालूम होता है मानों शोभा, मङ्गल और आनन्द से भर कर जनवास उमड़ पड़ा हो ॥३२७॥

चौ०-पुनि जेवनार भई बहु भाँती । पठये जनक बोलाइ बराती ॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा । सुतन्ह समेत गवन किय भूपा ॥१॥

फिर बहुत तरह का भोजन तैयार हुआ, जनकजी ने बरातियों को बुलवा भेजा। पुत्रों सहित राजा दशरथजी ने गमन किया, अपूर्व वस्त्रों के पाँवड़े पड़ते जाते हैं ॥ १ ॥

सादर सब के पाय पखारे । जथाजोग पीढ़न बैठारे ॥
धोये जनक अवधपति चरना । सील सनेह जाइ नहिँ बरना ॥२॥

आदर के साथ सब के पाँव धोये और यथायोग्य पीढ़ों पर बैठाया। जनकजी ने अयोध्या-नरेश का चरण धोया, वह शील और स्नेह कहा नहीं जाता है ॥ २ ॥

बहुरि राम-पद-पङ्कज धोये । जे हर-हृदय-कमल महँ गोये ॥
तीनिउ भाइ राम सम जानी । धोये जनक चरन निज-पानी ॥३॥

फिर रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को धोया जो शिवजी के हृदय रूपी कमल में छिपे रहते हैं। तीनों भाइयों को रामचन्द्रजी के समान जान कर अपने हाथ से जनकजी ने चरण धोया ॥ ३ ॥

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे । बोलि सूपकारक सब लीन्हे ॥
सादर लगे परन पनवारे । कनक-कील मनि पान सँवारे ॥४॥

राजा जनक ने सभी को उचित आसन दिया और सब रसोईदारों को बुला लिया। आदर के साथ पत्तल पड़ने लगे, वे मणियों के पत्तों से सुवर्ण के कील दे कर बनाये गये हैं ॥ ४ ॥

दो०-सूपोदन सुरभी-सरपि, सुन्दर स्वाद पुनीत ।
छन महँ सब के परसि गे, चतुर सुआर बिनीत ॥३२८॥

सुन्दर स्वादिष्ठ दाल, स्वच्छ भात और गाय का घी, चतुर परोसनेवाले नम्रता-पूर्वक सब के सामने क्षण भर में परस गये ॥ ३२८ ॥

चौ०-पञ्चकवलि करि जेवन लागे । गारि गान सुनि अति अनुरागे ॥
भाँति अनेक परे पकवाने । सुधा सरिस नहिँ जाहिँ बखाने ॥१॥

पञ्चकवलि करके भोजन करने लगे, गाली का गाना सुन कर बड़े प्रेम में डूब गये। अनेक तरह के पकान्न पड़े जो अमृत के समान मीठे हैं और बखाने नहीं जाते हैं ॥ १ ॥

गाली दोष है, पर विवाह सम्बन्ध से उसे गुण मान कर प्रसन्न होना 'अनुज्ञा अलंकार' है । पञ्चकवलि—भोजन के पहले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाचों प्राणों को पाँच ग्रास दे कर भोजन करना पञ्चकवलि कहलाता है । अथवा—लक्ष्मी, नारायण, गणेश, शिव-पार्वती और सूर्य्य पञ्चदेवों को पाँच ग्रास अर्पण करना पञ्चकवलि है ।

परसन लगे सुआर सुजाना । बिञ्जन बिबिध नाम को जाना ॥
चारि भाँति भोजन स्रुति गाई । एक एक बिधि बरनि न जाई ॥२॥

चतुर रसोइयाँ नाना प्रकार के व्यञ्जन—जिनका नाम कौन जानता है, परोसने लगे । चार तरह के भोजन वेदों ने कहा है, उनमें एक एक की विधि वर्णन नहीं की जा सकती ॥२॥

भक्ष्य,भोज्य, लेह्य, चोष्य, येही भोजन के चार प्रकार हैं । भक्ष्य—वह जो चबाये जायँ, जैसे—खुरमा, बुनिया, सेव, पापड़ आदि । भोज्य—वह जो खाये जाँय, जैसे—रोटी, भात, दाल, पूड़ी, हलुवा आदि । लेह्य—वह जो चाटे जाँय, जैसे—रबड़ी, चटनी आदि । चोष्य—वह जो चूसे जाँय, जैसे—रायता, चोखा, बनाया हुआ खट्टा जल आदि ।

छरस रुचिर बिञ्जन बहु जाती । एक एक रस अगनित भाँती ॥
जेवत देहिं मधुर धुनि गारी । लइ लइ नाम पुरुष अरु नारी ॥३॥

छओं रस के बहुत तरह के सुन्दर भोजन एक एक रस अनगिनती प्रकार के बने हैं । भोजन करते समय पुरुष और स्त्रियों के नाम ले ले कर जनकपुर की स्त्रियाँ मधुर ध्वनि से गाली देती हैं ॥ ३ ॥

खट्टा, खारा, कडुआ, कषेला, तीता और मीठा यही छः रस हैं ।

समय सुहावन गारि बिराजा । हँसत राउ सुनि सहित समाजा ॥
एहि बिधि सबही भोजन कीन्हा । आदर सहित आचमन दीन्हा ॥४॥

समय के अनुसार सुहावनी गलियाँ शोभित हो रही हैं, उसे सुन कर समाज के सहित राजा दशरथजी हँसते हैं । इस तरह सभी ने भोजन किया और आदर-पूर्वक मुख धोने के लिए शुद्ध जल दिया ॥ ४ ॥

दो०-देइ पान पूजे जनक, दसरथ सहित समाज ।
जनवासे गवने मुदित, सकल-भूप-सिरताज ॥३२९॥

जनकजी ने पान दे कर समाज के सहित दशरथजी का सत्कार किया । सम्पूर्ण राजाओं के शिरोमणि अयोध्यानरेश प्रसन्न हो कर जनवासे को चले ॥३२९॥

चौ०—नित नूतन मङ्गल पुर माहीं । निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं ॥
बड़े भोर भूपत-मनि जागे । जाचक गुन गन गावन लागे ॥१॥

नित्य नया मङ्गल नगर में हो रहा है, रात और दिन पल के बराबर बीते जाते हैं । बड़े प्रातःकाल राजाओं के मणि (दशरथजी) जागे और याचक गुण-खण गाने लगे ॥१॥

देखि कुँअर बर बधुन्ह समेता। किमि कहि जात मोद मन जेता॥
प्रातक्रिया करि गे गुरु पाहीं। महा प्रमोद प्रेम मन माहीं॥२॥

कुँवरों को श्रेष्ठ बधुओं सहित देख कर जितना आनन्द मन में हुआ, वह किस तरह कहा जा सकता है? प्रातः क्रिया कर के हृदय में प्रेम और अतिशय प्रसन्नता से गुरु वशिष्ठ जी के पास गये॥ २॥

करि प्रनाम पूजा कर जोरी। बोले गिरा अमिय जनु बोरी॥
तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयउँ आजु मैं पूरनकाजा॥३॥

प्रणाम करके सत्कार किया और हाथ जोड़ कर बोले, वह वाणी ऐसी मालूम होती है मानों अमृत में डुबोई हो। हे मुनिराज! सुनिए, आप की कृपा से आज मैं पूर्णकाम (सफल मनोरथ) हुआ हूँ॥ ३॥

अब सब बिप्र बोलाइ गोसाँई। देहु धेनु सब भाँति बनाई॥
सुनि गुरु करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठये मुनि बृन्द बोलाई॥४॥

हे स्वामिन्! अब सब ब्राह्मणों को बुला कर और सब तरह से सजा कर गैया दीजिए। यह सुन कर गुरुजी राजा की प्रशंसा कर के फिर मुनि-गणों को बुलवा भेजा॥ ४॥

दो०—बामदेव अरु देवरिषि, बालमीक जाबालि।
आये मुनिबर निकर तब, कौसिकादि तप-सालि॥३३०॥

तब वामदेव और नारद, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र आदि तपोनिधि वृन्द के वृन्द मुनिवर आये॥ ३३०॥

चौ०-दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे॥
चारि लच्छ बर-धेनु मँगाई। कामसुरभि सम सील सुहाई॥१॥

राजा ने सब को दण्डप्रणाम किया और प्रेम से पूजन कर के उत्तम आसन दिया। चार लाख श्रेष्ठ गैया मँगवायी जो कामधेनु के समान अच्छे स्वभाववाली सुहावनी थीं॥१॥

सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही॥
करत बिनय बहु बिधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवन-लाहू॥२॥

सब प्रकार सम्पूर्ण अलंकारों से बिभूषित कर राजा ने प्रसन्न हो ब्राह्मणों को दी। बहुत तरह से नरनाथ बिनती करते हैं कि आज मैं ने संसार में जीने का लाभ पाया॥ २॥

अतिथि सत्कार में अपने सौभाग्य की प्रशंसा करने से आगत पुरुष की बड़ाई प्रकट होती है।

पाइ असीस महीस अनन्दा । लिये बोलि पुनि जाचक-बृन्दा ।
कनक बसन मनि हय गय स्यन्दन । दिये बूझि रुचि रबिकुल-नन्दन ॥३॥

ब्राह्मणों से आशीर्वाद पा कर राजा प्रसन्न हुए, फिर याचक-वृन्द को बुलवा लिया। सुवर्ण, वस्त्र, मणि, घोड़ा, हाथी और रथ सूर्य्यकुल के आनन्दित करनेवाले दशरथजी ने उनकी इच्छा के अनुसार दान दिया ॥ ३ ॥

चले पढ़त गावत गुन गाथा । जय जय जय दिनकर-कुल-नाथा ॥
एहि बिधि राम-बिबाह-उछाहू । सकइ न बरनि सहस-मुख जाहू ॥४॥

पढ़ते और गुण की कथा गान करते सूर्य्यकुल के स्वामी की जय हो, जय जयकार मनाते हुए चले। इस प्रकार रामचन्द्रजी के विवाह का उत्साह (जैसा असाधारण हुआ, वैसा) जिनको हज़ार मुख हैं वे भी नहीं कह सकते ॥ ४ ॥

दो०—बार बार कौसिक चरन, सीस नाइ कह राउ ।
यह सब सुख मुनिराज तव, कृपा-कटाच्छ प्रभाउ ॥३३१॥

बार बार विश्वामित्रजी के चरणों में सिर नवा कर राजा कहते हैं—हे मुनिराज! यह सब सुख आप ही की कृपा-कटाक्ष का फल है ॥ ३३१ ॥

सुख की प्राप्ति में स्वभाग्य कारण है, उसका नाम न ले कर मुनि की कृपा को फल दाता सौभाग्य स्थापन करना 'सारोपा लक्षणा' है।

चौ०-जनक सनेह सील करतूती । नृप सब राति सराहत बीती ॥
दिन उठि बिदा अवधपति माँगा । राखहिँ जनक सहित अनुरागा ॥१॥

जनकजी के स्नेह, शील और करनी की सराहना करते राजा को सारी रात बीत गई। दिन में उठ कर रोज अयोध्यानरेश बिदाई के लिए कहते हैं और जनकजी उन्हें प्रेम से रख लेते हैं ॥ १ ॥

सभा की प्रति में 'नृप सब भाँति सराह बिभूती' पाठ है। वहाँ अर्थ होगा—"राजा दशरथ सब प्रकार जनकजी के ऐश्वर्य की सराहना करते हैं"।

नित नूतन आदर अधिकाई । दिनप्रति सहस-भाँति पहुनाई ॥
नित नव नगर अनन्द उछाहू । दसरथ गवन सोहात न काहू ॥२॥

नित्य नया आदर बढ़ता जाता है, प्रतिदिन सहस्रों प्रकार की मेहमानी होती है। नगर में नित्य ही नवीन आनन्द और उत्साह मनाया जा रहा है, दशरथजी का जाना किसी को सुहाता नहीं है ॥ २ ॥

जनकपुरवासियों के सहित विदेह के मन में रति स्थायीभाव है। राजा दशरथजी आलम्बन विभाव हैं। गमन की चर्चा उद्दीपन विभाव है। वह चपलता, आवेग, चिन्ता, मोह, दैन्य आदि सञ्चारी भावों की सहायता से विस्तृत हुआ है।

बहुत दिवस बीते एहि भाँती । जनु सनेह रजु बँधे बराती ॥
कौसिक सतानन्द तब जाई । कहा बिदेह नृपहि समुझाई ॥३॥

इसी तरह बहुत दिन बीत गये, ऐसा मालूम होता है मानों स्नेह की रस्सी से बराती बँध गये हैं। तब विश्वामित्र और शतानन्दजी ने जा कर राजा जनक को समझा कर कहा ॥ ३ ॥

रस्सी से जीव-जन्तु बन्धन में पड़ते ही हैं, परन्तु स्नेह रस्सी नहीं है जिससे बराती बँधे हैं। यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

अब दसरथ कहँ आयसु देहू । जद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू ॥
भलेहि नाथ कहि सचिव बोलाये । कहि जयजीव सीस तिन्ह नाये ॥४॥

यद्यपि आप स्नेह नहीं छोड़ सकते, तो भी अब दशरथजी को आज्ञा दीजिए। बहुत अच्छा स्वामिन् कह कर जनकजी ने मन्त्री को बुलवाया, वे आये और जयजीव कह कर मस्तक नवाया ॥ ४ ॥

दो०-अवधनाथ चाहत चलन, भीतर करहु जनाउ ।
भये प्रेम-बस सचिव सुनि, बिप्र सभासद राउ ॥३३२॥

जनकजी ने कहा—अयोध्यानाथ चलना चाहते हैं, इसकी ख़बर भीतर (रनिवास में) कर दो। सुन कर मन्त्री, ब्राह्मण सभासदों के सहित राजा जनक स्नेह के वश हो गये ॥ ३३२ ॥

मन्त्री, राजा, सभासद और ब्राह्मणवृन्द अनेक उपमेयों का स्नेह के वश में हो जाना एक ही धर्म कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है।

चौ०-पुरबासी सुनि चलिहि बराता । पूछत बिकल परसपर बाता ॥
सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने । मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने ॥१॥

पुरवासियों ने सुना कि बरात जायगी, वे व्याकुल हो कर एक दूसरे से बात पूछते हैं। जाना सत्य है, यह सुन कर सब उदास हो गये, ऐसे मालूम होते हैं मानों सन्ध्या में कमल सकुचाये हों ॥ १ ॥

जहँ जहँ आवत बसे बराती । तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती ॥
बिबिध भाँति मेवा पकवाना । भोजन साज न जाइ बखाना ॥२॥

जहाँ जहाँ आती बेर बराती टिके थे, वहाँ वहाँ बहुत प्रकार का सिद्ध (रसद सामग्री आटा, चावल, दाल आदि) रवाना हुआ। अनेक तरह के मेवा पकवान भोजन का सामान जो बखाना नहीं जाता ॥ २ ॥

भरि भरि बसह अपार कहारा । पठये जनक अनेक सुआरा ॥
तुरग-लाख रथ-सहस-पचीसा । सकल सँवारे नख अरु सीसा ॥३॥

बैलों पर भर भर कर अपार कहार और असंख्यों रसोई बनानेवालों को जनकजी ने भेजा। एक लाख घोड़े और पचीस हज़ार रथ सब नख से शिखा पर्य्यन्त सजाये हुए ॥३॥

मत्त सहस दस सिन्धुर साजे । जिन्हहिं देखि दिसि-कुञ्जर लाजे ॥
कनक बसन मनि भरि भरि जाना । महिषी धेनु वस्तु बिधि नाना ॥४॥

दस हज़ार सजाये हुए मतवाले हाथी, जिन्हें देख कर दिशाओं के हाथी लजा जाते हैं। सोना, वस्त्र और रत्न गाड़ियों में भर भर कर भैंस, गाय तथा नाना प्रकार की चीज़ें दीं ॥४॥

दिग्गज आठ हैं, यथा—"पूर्वदिशा का ऐरावत, अग्निकोण का पुण्डरीक, दक्षिण का वामन, नैऋतकोण का कुमुद, पश्चिम का अञ्जन, वायुकोण का पुष्पदन्त, उत्तर का सार्वभौम और ईशानकोण का सुप्रतीक"।

दो०-दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह बिदेह बहोरि ।
जो अवलोकत लोकपति, लोकसम्पदा थोरि ॥३३३॥

जनकजी ने फिर अपरिमित दहेज दिया जो कहा नहीं जा सकता। जिसे देख कर लोकपालों को अपने अपने लोकों की सम्पत्ति तुच्छ प्रतीत होती है ॥ ३३३ ॥

लोकपाल दस हैं, यथा—"पूर्वदिशा के इन्द्र, अग्निकोण के अग्नि, दक्षिण के यम, नैऋत के नैऋत, पश्चिम के वरुण, वायव्य के पवन, उत्तर के कुवेर, ईशान के ईश, आकाश के ब्रह्मा और पाताल के अनन्त हैं"।

चौ०—सब समाज एहि भाँति बनाई । जनक अवधपुर दीन्ह पठाई ॥
चलिहि बरात सुनत सब रानी । बिकलमीन-गन जनु लघु पानी ॥१॥

इस तरह सब समाज बना कर जनकजी ने अयोध्यापुरी को भेज दिया। बरात चलने की बात सुनते ही सब रानियाँ विकल हो गईं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों थोड़े जल में मछलियाँ अकुलाई हों ॥ १ ॥

पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं । देइ असीस सिखावन देहीं ॥
होयेहु सन्तत पियहि पियारी । चिर अहिवात असीस हमारी ॥२॥

बार बार सीताजी को गोदी में कर लेती हैं और आशीर्वाद देकर सिखावन देती हैं। सदा अपने प्रीतम की प्यारी (आज्ञाकारिणी) होना, तुम्हारा अहिवात अखण्ड हो; हमारा यही आशीर्वाद है ॥ २ ॥

सासु ससुर गुरु सेवा करेहू । पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥
अति सनेह बस सखी सयानी । नारि-धरम सिखवहिं मृदु-बानी ॥३॥

सासु, श्वसुर, और गुरु की सेवा करना, पति का रुख देख कर उनकी आज्ञा पालन करना। अत्यन्त स्नेह के वश चतुर सखियाँ कोमल वाणी से स्त्री-धर्म सिखलाती हैं ॥ ३ ॥

सादर सकल कुँअरि समुझाई । रानिन्ह बार बार उर लाई ॥
बहुरि बहुरि भेंटहिँ महँतारी । कहहिँ बिरञ्चि रची कत नारी ॥४॥

आदर के साथ सम्पूर्ण पुत्रियों को समझा कर रानियों ने बार बार हृदय से लगाया। माताएँ फिर फिर भेंटती और कहती हैं कि ब्रह्मा ने स्त्रियों को किस लिए बनाया? (जो सदा पराधीन ही रहती हैं) ॥ ४ ॥

चिन्ताजन्य मनोभङ्ग का होना 'विषाद सञ्चारीभाव' है।

दो०— तेहि अवसर भाइन्ह सहित, राम-भानु कुल-केतु ।
चले जनक-मन्दिर मुदित, बिदा करावन हेतु ॥३३४॥

उसी समय भाइयों के सहित सूर्य्यवंश के पताका रामचन्द्रजी बिदा होने के लिए जनकजी के महल में चले ॥ ३३४ ॥

चौ०—चारिउ भाइ सुभाय सुहाये । नगर नारि नर देखन धाये ॥
कोउ कह चलन चहत हहिँ आजू । कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥१॥

चारों भाई सहज सुहावने हैं, नगर के स्त्री-पुरुष देखने को दौड़े। कोई कहता है कि आज ये जाना चाहते हैं, विदेह ने बिदा की तैयारी की है ॥ १ ॥

पुरजन स्वाभाविक बात कहते हैं, परन्तु 'विदेह' शब्द से स्वभावतः यह व्यङ्ग निकलता है कि जो अपने शरीर का ज्ञान नहीं रखते उन्हें प्रिय पाहुनों को विदा करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।

लेहु नयन भरि रूप निहारी । प्रिय पाहुने भूप-सुत-चारी ॥
को जानइ केहि सुकृत सयानी । नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी ॥२॥

आँख भर छबि देख लो, राजा के चारों पुत्र प्यारे मेहमान हैं। हे सयानी! कौन जानता है किस पुण्य से ब्रह्मा ने इन्हें लाकर नेत्रों का अतिथि किया है ॥ २ ॥

मरनसील जिमि पाव पियूखा । सुरतरु लहइ जन्म के भूखा ॥
पाव नारकी हरि-पद जैसे । इन्ह कर दरसन हम कहँ तैसे ॥३॥

मरनेवाला प्राणी जिस तरह अमृत पा जाय और जन्म के भूखे को कल्पवृक्ष मिल जाय; जैसे नरक में बसनेवाला हरिपद (मोक्ष) पावे, हम को इनके दर्शन वैसे ही हैं ॥३॥

निरखि राम सोभा उर धरहू । निज-मन-फनि-मूरति-मनि करहू ॥
एहि बिधि सबहि नयन फल देता । गये कुँअर सब राज-निकेता ॥४॥

रामचन्द्रजी की शोभा को निरख कर हृदय में बसाओ, अपने मन को साँप और इनकी मूर्त्ति को मणि बनाओ। इस प्रकार सब को नेत्रों का फल देते हुए सब कुँवर राजमहल में गये ॥ ४ ॥

दो०—रूप-सिन्धु सब बन्धु लखि, हरषि उठेउ रनिवासु ।
करहिं निछावरि आरती, महा-मुदित मन सासु ॥ ३३५ ॥

शोभा के समुद्र सब भाइयों को देख कर रनिवास प्रसन्न हो उठा। सासुयें अत्यन्त हर्षित हृदय से आरती कर के न्योछावर करती हैं ॥ ३३५ ॥

कुँवरों को देख कर प्रेम से चित्त का प्रसन्न होना 'हर्ष सञ्चारीभाव' है।

चौ०—देखि राम छबि अति अनुरागीं । प्रेम-बिबस पुनि पुनि पद लागीं ॥
रही न लाज प्रीति उर छाई । सहज सनेह बरनि किमि जाई ॥१॥

रामचन्द्रजी की छवि को देख कर अत्यन्त प्रेम-पूर्ण हो प्रीति के वश बार बार पावों में लग रही हैं। हृदय में प्रीति छा गई है इससे लज्जा नहीं रह गई, वह स्वाभाविक स्नेह किस तरह वर्णन किया जा सकता है ॥ १ ॥

भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाये । छरस असन अति हेतु जेँवाये ॥
बोले राम सुअवसर जानी । सील-सनेह-सकुच मय बानी ॥२॥

भाइयों के सहित उबटन कर के स्नान कराये और बड़ी प्रीति से षट्-रस भोजन करवाये। अच्छा समय जान कर रामचन्द्रजी शील, स्नेह और लज्जा भरी वाणी से बोले ॥ २ ॥

राउ अवधपुर चहत सिधाये । बिदा होन हम इहाँ पठाये ॥
मातु मुदित-मन आयसु देहू । बालक जानि करब नित नेहू ॥३॥

राजा अयोध्यापुरी को चलना चाहते हैं, हमें विदा होने के लिए यहाँ भेजा है। हे माता ! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिए और मुझे बालक जान कर सदा स्नेह बनाये रखना ॥ ३ ॥

सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू । बोलि न सकहिँ प्रेम-बस सासू ॥
हृदय लगाइ कुँअरि सब लीन्ही । पतिन्ह सौँपि बिनती अति कीन्ही ॥४॥

इन वचनों को सुनते ही रनिवास उदास हो गया, प्रेम के अधीन हो कर सासुयें बोल नहीं सकती हैं। सब पुत्रियों को हृदय से लगा लिया और पतियों को सौंप कर बहुत बिनती की ॥ ४ ॥

सासुओं का प्रेम वश हो कर बोल न सकना 'स्वरभङ्ग सात्विक अनुभाव' है।

हरिगीतिका-छन्द ।

करि बिनय सिय रामहिँ समरपी, जोरि कर पुनि पुनि कहै ।
बलिजाउँ तात सुजान तुम्ह कहँ, बिदित गति सब की अहै ॥

परिवार पुरजन मोहि राजहि, प्रान प्रिय सिय जानबी ।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज,-किङ्करी करि मानबी ॥४८॥

प्रार्थना कर के सीताजी को रामचन्द्रजी के समर्पण किया और हाथ जोड़ कर बार बार कहती हैं। हे तात ! बलि जाती हूँ, आप चतुर हैं और सब की गति आप को मालूम है। कुटुम्बी, नगर-निवासी, मुझ को और राजा को सीता प्राण के समान प्रिय जानिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि इसकी सुशीलता और स्नेह को देख कर अपनी दासी समझियेगा ॥४८॥

सो०— तुम्ह परिपूरन-काम, जान-सिरोमनि भाव प्रिय ।
जन-गुन-गाहक राम, दोष-दलन करुनायतन ॥३३६॥

आप पूर्ण काम हैं, ज्ञानियों के शिरोमणि और आप को प्रेम प्यारा है। हे रामचन्द्रजी ! आप भक्तों के गुण के चाहनेवाले, दोषों के नाशक और दया के स्थान हैं ॥ ३३६ ॥

चौ०—अस कहि रही चरन गहि रानी । प्रेम पङ्क जनु गिरा समानी ॥
सुनि सनेह सानी बर बानी । बहु बिधि राम सासु सनमानी ॥१॥

ऐसा कह कर रानी पाँव पकड़ कर चुप रह गईं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों उनकी वाणी प्रेम रूपी कीचड़ में समा गई हो। इस तरह स्नेह से सानी श्रेष्ठ वाणी सुन कर रामचन्द्रजी ने सास का बहुत तरह से सम्मान किया ॥ १ ॥

राम बिदा माँगा कर जोरी । कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी ॥
पाइ असीस बहुरि सिर नाई । भाइन्ह सहित चले रघुराई ॥२॥

रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़ कर विदा माँगी और बार बार प्रणाम किया। आशीर्वाद पा कर फिर मस्तक नवाया और भाइयों के सहित रघुनाथजी चले ॥२॥

मञ्जु-मधुर-मूरति उर आनी । भईं सनेह सिथिल सब रानी ॥
पुनि धीरज धरि कुँअरि हँकारी । बार बार भेंटहिं महँतारी ॥३॥

सुन्दर माधुरी मूर्त्ति को हृदय में लाकर सब रानियाँ स्नेह से ढीली हो गईं। फिर धीरज धारण कर के पुत्रियों को बुलाया और माताएँ बारम्बार भेंटने लगीं ॥३॥

पहुँचावहिँ फिरि मिलहिँ बहोरी । बढ़ी परसपर प्रीति न थोरी ॥
पुनि पुनि मिलति सखिन्ह बिलगाई । बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥४॥

पहुँचाती हैं फिर लौट कर मिलती हैं, दोनों ओर परस्पर बड़ी प्रीति बढ़ी। सखियों से बार बार अलगा कर मिलती हैं, जैसे हाल की ब्याई हुई गैया अपने बालक बछड़े से मिलती है ॥४॥

दो०-प्रेम-विबस नरनारि सब, सखिन्ह सहित रनिवास ।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना-बिरह-निवास ॥३३७॥

नगर के सब स्त्री-पुरुष और सखियों के सहित रनिवास प्रेम के अधीन हुए हैं। ऐसा मालूम होता है मानो जनक नगर में करुणा और विरह निवास किये हों ॥३३७॥

पुत्रि-वियोग का शोक स्थायी भाव है। पुत्रियाँ आलम्बन विभाव हैं। उनकी बिदाई उद्दीपन विभाव है। रुदन करना, शिथिल हो कर भूमि पर गिरना, विलखना आदि अनुभाव हैं। वह विषाद; चिन्ता, जड़ता, उन्माद, व्याधि, ग्लानि, निर्वेद, अपस्मारादि सञ्चारी भावों द्वारा पुष्ट होकर 'करुणरस' संज्ञा को प्राप्त हुआ है।

चौ०-सुक सारिका जानकी ज्याये । कनक-पिञ्जरन्हि राखि पढ़ाये ।
व्याकुल कहहिँ कहाँ बैदेही । सुनि धीरज परिहरइ न केही ॥१॥

तोता और मैना जानकीजी ने जिलाया था, उन्हें सोने के पींजड़े में रख कर पढ़ाया था। वे व्याकुल होकर कहते हैं कि विदेहनन्दिनी कहाँ हैं ? उनकी वाणी को सुन कर किसने धीरज नहीं छोड़ दिया अर्थात् सब अधीर हो गये ॥१॥

भये बिकल खग मृग एहि भाँती । मनुज दसा कैसे कहि जाती ॥
बन्धु समेत जनक तब आये । प्रेम उमगि लोचन जल छाये ॥२॥

जब पक्षी और पशु इस तरह विकल हुए, तब मनुष्यों की दशा कैसे कही जा सकती है ? उसी समय भाई के सहित जनकजी वहाँ आये और प्रेम से उमड़ कर उनकी आँखों में आँसू भर आया ॥ २ ॥

पशुपक्षी का प्रेम से व्याकुल होना वर्णन रतिभावाभास है। जब पशुपक्षी व्याकुल हुए तब मनुष्य की दशा कैसे कही जाय ? काव्यार्थापत्ति अलंकार है।

सीय बिलोकि धीरता भागी । रहे कहावत परम-बिरागी ॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी । मिटी महा-मरजाद ज्ञान की ॥३॥

जो परम वैराग्यवान कहे जाते थे, सीताजी को देख कर उनका धीरज भाग गया, राजा ने जानकीजी को हृदय से लगा लिया, उनके ज्ञान की बहुत बड़ी मर्य्यादा मिट गई ॥ ३ ॥

ज्ञानवान विरागी पुरुष को हर्ष या शोक न होना चाहिये। गीता में भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्र ने कहा है—"नप्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नो द्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्" अर्थात् प्रिय वस्तु मिलने पर प्रसन्न न हो और अप्रिय के मिलने से घबरा न जाय। जनकजी पुत्री के वियोग से अधीर होकर शोकातुर हो गये, इससे ज्ञान की मर्य्यादा जाती रही।

समुझावत सब सचिव सयाने । कीन्ह बिचार अनवसर जाने ॥
बारहि बार सुता उर लाई । सजि सुन्दर पालकी मँगाई ॥४॥

सब चतुर मन्त्री समझाते हैं, कुसमय जान कर विचार किया (कि यह अवसर विषाद करने का नहीं है)। बारम्बार पुत्रियों को हृदय से लगा कर सुन्दर सजी हुई पालकी मँगवाई ॥ ४॥

विचार कर के बेमौक़ा समझ कर जनकजी का चित्त को दृढ़ करना 'धृति सञ्चारी-भाव' है।

दो०—प्रेम-बिबस परिवार सब, जानि सुलगन नरेस।
कुँअरि चढ़ाई पालकिन्ह, सुमिरे सिद्ध गनेस ॥३३८॥

सब परिवार प्रेम के अधीन हुआ है, राजा ने अच्छी साइत जान कर सिद्धिदायक गणेशजी का स्मरण कर के कन्याओं को पालकी पर चढ़ाया ॥ ३३८ ॥

चौ०—बहु बिधि भूप सुता समुझाई। नारि-धरम कुल-रीति सिखाई ॥
दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे ॥१॥

राजा ने बहुत तरह से पुत्रियों को समझाया, स्त्री-धर्म और कुल की रीति सिखाई। बहुत से दास और दासियाँ दीं जो सीताजी के प्रिय और पवित्र सेवक हैं ॥ १ ॥

सीय चलत ब्याकुल पुरबासी। होहिँ सगुन सुभ मङ्गल-रासी ॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। सङ्ग चले पहुँचावन राजा ॥२॥

सीताजी के चलते समय नगर-निवासी व्याकुल हो गये, अच्छे मङ्गल के राशि सगुन होते हैं। ब्राह्मण और मन्त्रि-मण्डल के सहित पहुँचाने के लिए राजा जनक साथ चले ॥ २ ॥

समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे ॥
दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान मान परिपूरन कीन्हे ॥३॥

समय देख कर बाजे बजने लगे, रथ, हाथी और घोड़े बरातियों ने सजाये। दशरथजी ने सब ब्राह्मणों को बुलवा लिया, उन्हें दान और सम्मान से सन्तुष्ट किया ॥ ३ ॥

चरन-सरोज-धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा ॥
सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना। मङ्गल-मूल सगुन भये नाना ॥४॥

ब्राह्मणों के चरण-कमलों की धूलि सिर पर रख कर और आशीर्वाद पा कर राजा प्रसन्न हुए। गणेशजी का स्मरण कर के यात्रा की, नाना प्रकार मंगल के मूल सगुन हुए ॥ ४ ॥

दो०—सुर प्रसून बरषहिँ हरषि, करहिँ अपछरा गान।
चले अवधपति अवधपुर, मुदित बजाइ निसान ॥३३९॥

देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं और अप्सराएँ गान करती हैं। अयोध्यानरेश प्रसन्नता-पूर्वक (जनकपुर से) अयोध्यापुरी को डङ्का बजा कर चले ॥ ३३९ ॥

चौ०—नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे ॥
भूषन बसन बाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे ॥ १ ॥

राजा दशरथजी ने बिनती कर के प्रतिष्ठितजनों को लौटाया और सम्पूर्ण मंगनों को बुलवाया। गहना, कपड़ा, घोड़ा, हाथी दिये और प्रेम से सब को सन्तुष्ट कर के खड़ा किया ॥ १ ॥

बार बार बिरदावलि भाखी । फिरे सकल रामहिँ उर राखी ॥
बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं । जनक प्रेम-बस फिरै न चहहीं ॥२॥

बारम्बार नामवरी (वंश की बड़ाई) बखान कर सब रामचन्द्रजी को हृदय में रख कर फिरे। अयोध्यानरेश फिर फिर कहते हैं परन्तु प्रेम के अधीन हुए जनकजी लौटना नहीं चाहते हैं ॥२॥

पुनि कह भूपति बचन सुहाये । फिरिय महीस दूरि बड़ि आये ॥
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े । प्रेम-प्रबाह बिलोचन बाढ़े ॥३॥

फिर राजा दशरथजी ने सुहावने वचन कहे—राजन्! बहुत दूर आ गये, अब लौटिये। फिर अयोध्यानरेश रथ से उतर कर भूमि पर खड़े हो गये और आँखों में प्रेम का सोत बढ़ आया अर्थात् प्रेमाश्रु बहने लगा ॥३॥

तब बिदेह बोले कर जोरी । बचन सनेह-सुधा जनु बोरी ॥
करउँ कवन बिधि बिनय बनाई । महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई ॥४॥

तब जनकजी हाथ जोड़ कर बोले, उनके वचन ऐसे मालूम होते हैं मानों स्नेह रूपी अमृत में सराबोर हों। हे महाराज! मैं किस तरह बना कर बिनती करूँ, आपने मुझे बड़ी बड़ाई दी है ॥४॥

दो०—कोसलपति समधी सजन, सनमाने सब भाँति ।
मिलनि परसपर बिनय अति, प्रीति न हृदय समाति ॥३४०॥

कोशलनाथ दशरथजी ने सज्जन समधी का सब तरह सम्मान किया। वह आपस का मिलना, नम्रता और अत्यन्त प्रीति हृदय में समाती नहीं है ॥३४०॥

चौ०—मुनि-मंडलिहि जनक सिर नावा । आसिरवाद सबहि सन पावा ॥
सादर पुनि भैंटे जामाता । रूप-सील-गुन-निधि सब भ्राता ॥१॥

जनकजी ने मुनि-मण्डली को सिर नवाया और सभी से अशीर्वाद पाया। फिर आदर के साथ रूप, शील और गुण के निधान सब भाई दामादों से मिले ॥१॥

जोरि पङ्करुह-पानि सुहाये । बोले बचन प्रेम जनु जाये ॥
राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा । मुनि-महेस-मन-मानस हंसा ॥२॥

सुन्दर कमल के समान हाथों को जोड़ कर वचन बोले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों प्रेम से उत्पन्न हुए (स्नेह के पुत्र) हों। हे रामचन्द्र! मैं आप की प्रशंसा किस प्रकार से करूँ, आप मुनि और शिवजी के मन रूपी मानसरोवर के हंस हैं ॥२॥

करहिँ जोग जोगी जेहि लागी । कोह मोह ममता मद त्यागी ॥
व्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी । चिदानन्द निरगुन गुन-रासी ॥३॥

योगी लोग जिनके लिए क्रोध, मोह, ममत्व और घमण्ड त्याग कर योग करते हैं। जो सब में स्थित, परब्रह्म, अप्रकट, नाश रहित, चैतन्य, आनन्द स्वरूप, निर्गुण एवम् गुणों की राशि हैं ॥३॥

मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिँ सकल अनुमानी ॥
महिमा निगम नेति कहि कहई । जो तिहुँकाल एकरस अहई ॥४॥

मन के सहित जिनको वाणी नहीं जानती और समस्त अनुमान करनेवाले जिनकी तर्कना नहीं कर सकते, जिनकी महिमा को वेद इति नहीं कह कर प्रतिपादन करते हैं, जो तीनों काल में एक समान रहते हैं ॥४॥

दो०—नयनबिषय मो कहँ भयउ, सो समस्त-सुख-मूल ।
सबइ सुलभ जग जीव कहँ, भये ईस अनुकूल ॥३४१॥

वे ही सम्पूर्ण सुखों के मूल (परमात्मा) मेरे नेत्रों के विषय हुए अर्थात् मैं ने दर्शन पाया ! ईश्वर के अनुकूल होने पर जीवों को संसार में सब कुछ सहज में मिल जाता है ॥३४१॥

चौ०—सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई । निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥
होहिँ सहस-दस सारद सेखा । करहिँ कलप कोटिक भरि लेखा ॥१॥

सभी प्रकार आपने मुझे बड़ाई दी और अपना सेवक जान कर अपना लिया । यदि दस हज़ार सरस्वती और शेष हो जाँय और करोड़ों कल्प पर्य्यन्त गणना करें ॥१॥

मोर भाग्य राउर गुन-गाथा । कहि न सिराहिँ सुनहु रघुनाथा ॥
मैं कछु कहहुँ एक बल मोरे । तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥२॥

मेरा सौभाग्य और आपके गुणों की कथा, हे रघुनाथजी ! वे कह कर समाप्त नहीं कर सकते । मैं कुछ कहता हूँ, मुझे एक ही भरोसा है कि आप बहुत थोड़े स्नेह से प्रसन्न होते हैं ॥२॥

बार बार माँगउँ कर जोरे । मन परिहरइ चरन जनि भोरे ॥
सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे । पूरनकाम राम परितोषे ॥३॥

मैं बार बार हाथ जोड़ कर यह माँगता हूँ कि भूल कर मेरा मन आपके चरणों को न छोड़े । जनकजी के श्रेष्ट वचन सुन कर वे ऐसे मालूम हुए मानो प्रेम से पुष्ट किये हुए हों, पूर्णकाम रामचन्द्रजी सन्तुष्ट हुए ॥३॥

करि बर बिनय ससुर सनमाने । पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥
बिनती बहुत भरत सन कीन्ही । मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही ॥४॥

रामचन्द्रजी ने सुन्दर विनती करके पिता, विश्वामित्र और वशिष्ठजी के समान जान कर श्वसुर का सम्मान किया। जनकजी ने भरतजी से बहुत प्रार्थना की और प्रीति-पूर्वक मिलकर तदन्तर उन्हें आशीर्वाद दिया ॥४॥

सभा की प्रति में 'बिनती बहुरि' पाठ है।

दो०—मिले लखन रिपुसूदनहि, दीन्ह असीस महीस।
भये परसपर प्रेम-बस, फिरि फिरि नावहिँ सीस ॥ ३४२ ॥

लक्ष्मण और शत्रुहनजी से मिलकर राजाने उन्हे आशीर्वाद दिया। एक दूसरे के प्रेमाधीन हो कर बार बार मस्तक नवाते हैं ॥३४२॥

चौ०— बार बार करि बिनय बड़ाई । रघुपति चले सङ्ग सब भाई ॥
जनक गहे कौसिक पद जोई । चरन-रेनु सिर नयनन्हि लाई ॥१॥

बार बार (जनकजी से) विनती और बड़ाई करके रघुनाथजी सब भाइयों के सङ्ग चले। जनकजी ने जाकर विश्वामित्रजी के पाँव पकड़े और चरणों की धूल को सिर और नेत्रों में लगाया ॥१॥

चरण-रज को सिर और आँखों में लगाना अतिशय सम्मान एवम् प्रीति-सूचक अनुभाव है।

सुनु मुनीस बर-दरसन तोरे । अगम न कछु प्रतीति मन मोरे ॥
जो सुख सुजस लोकपति चहहीं । करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥२॥

हे मुनीश्वर! सुनिए, आप के श्रेष्ठ दर्शन से कुछ दुर्लभ नहीं, मेरे मन में ऐसा विश्वास है। जो सुख एवम् सुयश लोकपाल चाहते हैं और मनोरथ करते हुए सकुचाते हैं ॥ २ ॥

सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी । सब सिधि तव दरसन अनुगामी ॥
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिरनाई । फिरे महीस आसिषा पाई ॥३॥

हे स्वामिन्! मुझे वह सुख और सुयश सुलभ हुआ, सारी सिद्धियाँ आप के दर्शन के पीछे चलनेवाली हैं। विनती कर के बार बार मस्तक नवाया और आशीर्वाद पा कर राजा जनक लौटे ॥ ३ ॥

चली बरात निसान बजाई । मुदित छोट बड़ सब समुदाई ॥
रामहिँ निरखि ग्राम-नर-नारी । पाइ नयन-फल होहिँ सुखारी ॥४॥

डङ्का बजा कर बरात चली, छोटी बड़ी सब मण्डलियाँ प्रसन्न हैं। गाँव के स्त्री पुरुष रामचन्द्रजी को देख कर और नेत्रों का फल पा कर सुखी होते हैं ॥ ४ ॥

दो०— बीच बीच बर बास करि, मग लोगन्ह सुख देत।
अवध समीप पुनीत दिन, पहुँची आइ जनेत ॥३४३॥

बीच बीच में सुन्दर टिकान कर के लोगों को सुख देती हुई पवित्र दिन में बरात अयोध्यापुरी के समीप आ पहुँची ॥ ३४३ ॥

चौ०—हने निसान पनव बर बाजे। भेरि सङ्ख धुनि हय गय गाजे ॥
झाँझ बीन डिंडिमी सुहाई। सरस-राग बाजहिं सहनाई ॥१॥

डङ्के पर चोट पड़ी; सुन्दर ढोल बजने लगे; धौंसावाले नगाड़े, शङ्ख-ध्वनि, हाथी और घोड़ों के गर्जन, झाँझ, वीणा, सुहावने डफले तथा रसीले राग में सहनाइयाँ बजती हैं ॥ १ ॥

पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥
निज निज सुन्दर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे ॥२॥

पुरजनों ने बरात का आगमन सुना, सब के शरीर में प्रसन्नता से पुलकावली छा गई। अपने अपने घर, बाज़ार, गली, चौराहा, नगर और द्वार सुन्दर सजाये ॥ २ ॥

गली सकल अरगजा सिँचाई। जहँ तहँ चौके चारु पुराई ॥
बना बजार न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना ॥३॥

सम्पूर्ण गलियाँ अर्गजा से सिँचाई गईं, जहाँ तहाँ सुन्दर चौकें पुरवाई गईं। बन्दनवार, ध्वजा, पताका और मण्डपों से बाज़ार ऐसा सजाया गया कि बखाना नहीं जा सकता ॥ ३ ॥

अरगजा—कपूर, केसर और चन्दन आदि से बना सुगन्धित जल। चौक—मङ्गल के अवसरों पर अँगनाई या अन्य समतल भूमि पर आटा, अबीर आदि की रेखाओं से बना हुआ चौखूँटा क्षेत्र जिसमें कई प्रकार के खाने तथा चित्र बनाये रहते हैं। इसी क्षेत्र के ऊपर देव-पूजन आदि मङ्गल कार्य्य होता है।

सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदम्ब तमाला ॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनि-मय आलबाल कल करनी ॥४॥

फल के सहित सुपारी, केला, आम, मौलसिरी, कदम्ब और तमाल के पेड़ बनाये। वे लगे हुए सुन्दर वृक्ष धरती को छू रहे हैं, उनके थाले मणियों के अच्छी कारीगरी से बनाये गये हैं ॥ ४ ॥

दो०—बिबिध भाँति मङ्गल कलस, गृह गृह रचे सँवारि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब, रघुबर-पुरी निहारि ॥३४४॥

घर घर अनेक प्रकार मङ्गल-कलश सजा कर बनाये गये। ब्रह्मा आदि देवता सब रघुनाथजी की नगरी (अयोध्यापुरी) को देख कर सिहाते हैं ॥ ३४४ ॥

चौ०—भूप भवन तेहि अवसर सोहा । रचना देखि मदन मन मोहा ॥
मङ्गल सगुन मनोहरताई । रिधि सिधि सुख सम्पदा सुहाई ॥१॥

उस समय राजमहल ऐसा शोभित है कि उसकी सजावट को देख कर कामदेव का मन मोहित हो जाता है। सुहावने मङ्गल, सुन्दरता, शकुन, ऋद्धि, सुख और सम्पत्ति—॥ १ ॥

जनु उछाह सब सहज सुहाये । तनु धरि धरि दसरथ गृह आये ॥
देखन हेतु राम वैदेही । कहहु लालसा होइ न केही ॥२॥

ऐसा मालूम होता है मानों सहज सुहावने उत्साह सब शरीर धर धर कर दशरथजी के घर में आये हैं। रामचन्द्र और जानकीजी को देखने के लिये कहिए, किसको लालसा न होगी ? ॥ २ ॥

जूथ जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छबि निदरहिँ मदन-बिलासिनि ॥
सकल सुमङ्गल सजे आरती । गावहिँ जनु बहु वेष भारती ॥३॥

झुण्ड की झुण्ड सुहागिनी स्त्रियाँ मिल कर चलीं, जो अपनी छबि के आगे कामदेव को रमानेवाली रति की शोभा का निरादर करती हैं। सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गल और आरती सजे हुए गान करती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों सरस्वती बहुत रूप धारण किये हों ॥ ३ ॥

भूपति भवन कोलाहल होई । जाइ न बरनि समउ सुख सोई ॥
कौसल्यादि राम महँतारी । प्रेम-बिबस तनु दसा बिसारी ॥४॥

राजमहल में उत्सव का हल्ला हो रहा है, उस समय का आनन्द वर्णन नहीं किया जा सकता। कौशल्या आदि रामचन्द्रजी की माताएँ प्रेम के अधीन हो कर शरीर की सुधि भूल गई हैं ॥ ४ ॥

प्रेम से माताओं का आत्मविस्मृति होकर निश्चेष्ट होना 'प्रलय सात्विक अनुभाव' है।

दो०—दिये दान बिप्रन्ह बिपुल, पूजि गनेस पुरारि ।
प्रमुदित परम दरिद्र जनु, पाइ पदारथ चारि ॥३४५॥

ब्राह्मणों को बहुत सा दान दिया और गणेश तथा शिवजी का पूजन किया। वे ऐसी प्रसन्न मलूम होती हैं मानों अत्यन्त दरिद्री चारों पदार्थ पा गया हो ॥ ३४५ ॥

चौ०—मोद प्रमोद बिबस सब माता । चलहिँ न चरन सिथिल भये गाता ॥
राम-दरस हित अति अनुरागीं । परिछन साज सजन सब लागीं ॥१॥

आनन्द-सुख के अतिशय अधीन हुई सब माताओं के शरीर शिथिल हो गये, वे पाँव से चल नहीं सकती हैं। रामचन्द्रजी के दर्शन के लिए अत्यन्त अनुरक्त हुई परछन का सब समान सजाने लगीं ॥ १ ॥

विविध विधान बाजने बाजे । मङ्गल मुदित सुमित्रा साजे ॥
हरद दूब दधि पल्लव फूली । पान पूगफल मङ्गल-मूला ॥२॥

अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं और सुमित्राजी प्रसन्नता से मङ्गल के सामान सजती हैं । हल्दी, दूब, दही, पत्ते, फूल, पान और सुपारी आदि मङ्गल की मूल चीजें ॥ २ ॥

अच्छत अङ्कुर रोचन लाजा । मञ्जुल मञ्जरि तुलसि बिराजा ॥
छुहे पुरट-घट सहज सुहाये । मदन-सकुन जनु नीड़ बनाये ॥३॥

अक्षत, अँखुए, गोरोचन, लावा और सुन्दर तुलसी की मञ्जरी सुशोभित है । गोबर से छुहे हुए सहज सुहावने सुवर्ण के कलश ऐसे मालूम होते हैं मानों उनमें कामदेव रूपी पक्षी ने घोसले बनाये हों ॥ ३ ॥

गोबर से छुहे हुए सुवर्ण के कलशों में जो चौकोर खाने बने हैं; वे ही उत्प्रेक्षा के विषय हैं । पक्षी रहने के लिए घोसला बनाते ही हैं, परन्तु कामदेव पक्षी नहीं है । प्रौढ़ोक्ति द्वारा यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । सभा की प्रति में 'मदन सकुच जनु नीड़ बनाये' पाठ है । परन्तु 'सकुच' शब्द से उपमा में रोचकता नहीं आती और मदन पक्षी नहीं है जो सकुचा कर घोसला बनाया हो । इससे 'सकुन' पाठ ठीक है ।

सगुनसुगन्ध न जाइ बखानी । मङ्गल सकल सजहिँ सब रानी ॥
रची आरती बहुत बिधाना । मुदित करहिँ कल मङ्गल गाना ॥४॥

सुगन्धित सगुन की वस्तुएँ बखानी नहीं जा सकतीं, सब रानियाँ सम्पूर्ण मङ्गल साज सजती हैं । बहुत तरह की आरती बनायीं और प्रसन्नता से सुन्दर मङ्गल गान करती हैं ॥ ४ ॥

दो०—कनकथार भरि मङ्गलन्हि, कमल-करन्हि लिय मातु ।
चलीँ मुदित परिछन करन, पुलक प्रफुल्लित गातु ॥३४६॥

सुवर्ण के थालों में माङ्गलीक वस्तुओं को भर कर अपने कमल के समान हाथों में लिये माताएँ प्रसन्न हो कर परछन करने चलीं, उनका शरीर पुलक से रोमाञ्चित हो आया है ॥३४६॥

चौ०—धूप-धूप नभ मेचक भयऊ । सावन घन-घमंड जनु ठयऊ ॥
सुरतरु-सुमन-माल सुर बरषहिँ । मनहुँ बलाक-अवलि मन करषहिँ ॥१॥

धूप के धुएँ से आकाश काला हो गया, ऐसा मालूम होता है मानों सावन के मेघ घुमड़ कर अच्छी तरह छाये हों । देवता कल्पवृक्ष के फूल की मालाएँ बरसाते हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों बगुलों की पाँती मन को अपनी ओर खींचती हो ॥ १ ॥

मञ्जुल मनि-मय बन्दनवारे । मनहुँ पाकरिपु-चाप सँवारे ॥
प्रगटहिँ दुरहिँ अटन्हि पर भामिनि । चारु चपल जनु दमकहिँ दामिनि ॥२॥

सुन्दर मणियों के बने बन्दनवार ऐसे मालूम होते हैं मानों इन्द्रधनुष सजाये हों । अटारियों पर स्त्रियाँ प्रकट होती और छिप जाती हैं, वे ऐसी सुन्दर मालूम होती हैं मानों चञ्चल बिजलियाँ चमकती हों ॥ २ ॥

उत्प्रेक्षा द्वारा वर्षा का साङ्ग रूपक वर्णन है। बरसात में इन्द्रधनुष उगता है और बिजली चमकती है। बन्दनवार और इन्द्रधनुष तथा नववधुओं का बार बार कोठे की खिड़कियों के सामने होना एवम् ओट में हो जाना और चञ्चल बिजली का चमकना परस्पर उपमेय उपमान हैं।

दुन्दुभि-धुनि घन-गरजनि घोरा। जाचक चातक-दादुर-मोरा॥
सुर सुगन्ध सुचि बरषहिँ बारी। सुखी सकल ससि पुर नर नारी॥३॥

नगारे की ध्वनि बादलों की भीषण गर्जना है, चातक, मेढक और मुरैला मङ्गन लोग हैं। देवता शुद्ध सुगन्धित जल बरसते हैं, नगर के स्त्री-पुरुष खेती रूपी सब सुखी (लहलहाते) हैं॥३॥

समय जानि गुरु आयसु दीन्हा। पुर प्रबेस रघुकुल-मनि कीन्हा॥
सुमिरि सम्भु-गिरिजा-गनराजा। मुदित महीपति सहित समाजा॥४॥

मुहूर्त्त जान कर गुरुजी ने आज्ञा दी, तब रघुकुल-मणि महाराज दशरथजी ने समाज के सहित शिव-पार्वती और गणेशजी का स्मरण कर के प्रसन्नता से नगर में प्रवेश किया॥४॥

दो०—होहिँ सगुन बरषहिँ सुमन। सुर दुन्दुभी बजाइ।
बिबुध-बधू नाचहिँ मुदित, मञ्जुल मङ्गल गाइ॥३४७॥

सगुन हो रहे हैं, देवता दुन्दुभी बजा कर फूल बरसाते हैं। देवताओं की स्त्रियाँ प्रसन्न हो कर नाचती और सुन्दर मङ्गल गाती हैं॥३४७॥

चौ०—मागध सूत बन्दि नट नागर। गावहिँ जस तिहुँ लोक उजागर॥
जय-धुनि बिमल बेद बर बानी। दस दिसि सुनिय सुमङ्गल सानी॥१॥

मागध, सूत, वन्दीजन, नचवैया और चतुर लोग तीनों लोकों में उजागर (रामचन्द्रजी) का यश गाते हैं। जय ध्वनि, वेदों की निर्मल उत्तम वाणी सुन्दर मङ्गल में सनी हुई दसों दिशाओं में सुनाई पड़ती हैं॥१॥

बिपुल बाजने बाजन लागे। नभ-सुर नगर-लोग अनुरागे॥
बने बराती बरनि न जाहीं। महा मुदित मन सुख न समाहीं॥२॥

बहुत से बाजे बजने लगे, आकाश में देवता और नगर के लोग प्रेम परिपूर्ण हुए हैं। बराती बने ठने हैं वे बखाने नहीं जा सकते, बड़े प्रसन्न हैं उनके मन में सुख समाता नहीं है॥२॥

पुरबासिन्ह तब राउ जोहारे। देखत रामहिँ भये सुखारे॥
करहिँ निछावर मनि-गन चीरा। बारि बिलोचन पुलक सरीरा॥३॥

तब पुरवासियों ने राजा को प्रणाम किया और रामचन्द्रजी को देख कर सुखी हुए। रत्न-समूह और वस्त्र न्योछावर करते हैं, उनकी आँखों में जल भर आया और शरीर पुलकित हुआ॥३॥

आरति करहिँ मुदित पुर नारी । हरषहिँ निरखि कुँअर बर चारी ॥
सिबिका सुभग ओहार उघारी । देखि दुलहिनिन्ह होहिँ सुखारी ॥४॥

नगर की स्त्रियाँ प्रसन्न हो कर आरती करती हैं और चारों श्रेष्ठ कुँवरों को देख कर आनन्दित होती हैं। पालकी का सुन्दर परदा हटा कर दुलहिनों को निहार कर सुखी होती हैं ॥४॥

दो०—एहि बिधि सबही देत सुख, आये राजदुआर ।
मुदित मातु परिछन करहिँ, बधुन्ह समेत कुमार ॥३४८॥

इस तरह सब को सुख देते हुए राजद्वार पर आये, बहुओं सहित राजकुमारों की माताएँ प्रसन्न हो कर परछन करती हैं ॥३४८॥

चौ०—करहिँ आरती बारहिँ बारा । प्रेम प्रमोद कहइ को पारा ॥
भूषन मनि पट नाना जाती । करहिँ निछावरि अगनित भाँती ॥१॥

बारम्बार आरती करती हैं, वह प्रेम और आनन्द कह कर कौन पार पा सकता है। गहना, रत्न, अनेक तरह के वस्त्र असंख्यों प्रकार की चीजें न्योछावर करती हैं ॥१॥

बधुन्ह समेत देखि सुत चारी । परमानन्द मगन महँतारी ॥
पुनि पुनि सीय-राम छबि देखी । मुदित सफल जग जीवन लेखी ॥२॥

पतोहुओं के सहित चारों पुत्रों को देख कर माताएँ परम आनन्द में डूब गईं। बार बार सीताजी और रामचन्द्रजी की छबि को देख अपने जीवन को संसार में सफल मान कर प्रसन्न हो रही हैं ॥२॥

माताओं के हृदय में पुत्र-विषयक रतिभाव पूर्णावस्था को प्राप्त है।

सखी सीय-मुख पुनि पुनि चाही । गान करहिँ निज-सुकृत सराही ॥
बरषहिँ सुमन छनहिँ छन देवा । नाचहिँ गावहिँ लावहिँ सेवा ॥३॥

सखियाँ बार बार सीताजी का मुख अवलोकन कर अपने पुण्य की प्रशंसा का गान करती हैं। देवतावृन्द क्षण क्षण में फूल बरसते हैं, नाचते और गाते हुए अपनी अपनी सेवा जना रहे हैं ॥३॥

देखि मनोहर चारिउ जोरी । सारद उपमा सकल ढँढोरी ॥
देत न बनइ निपट लघु लागी । एकटक रही रूप अनुरागी ॥४॥

चारों मनोहर जोड़ियों को देख कर सरस्वती ने सारी उपमाओं को टटोल कर ढूँढ़ डाला। वे सर्वथा तुच्छ लगती हैं समानता देते नहीं बनती है, (तब हृदय में हार कर और उपमाओं की खोज छोड़ कर वे) रूप में अनुरक्त हो टकटकी लगा कर निहार रही हैं ॥४॥

दो०-निगम-नीति-कुल रीति करि, अरघ पाँवड़े देत ।
बधुन्ह सहित सुत परिछि सब, चलीं लेवाइ निकेत ॥३४९॥

वेदानुकूल व्यवहार और कुल की रीति कर के वधुओं सहित सब पुत्रों की परछन कर अर्घ्य तथा पाँवड़े देते हुए महल में लिवा ले चलीं ॥३४९॥

चौ०-चारि सिंहासन सहज सुहाये । जनु मनोज निज हाथ बनाये ॥
तिन्ह पर कुँअरि कुँअर बैठारे । सादर पाय पुनीत पखारे ॥१॥

सहज सुहावने चार सिंहासन जो ऐसे मालूम होते हैं मानों कामदेव ने अपने हाथ से बनाया हो, उन पर कुँवरि और कुँवरों को बैठा कर आदर के साथ पवित्र चरण धोये ॥१॥

धूप दीप नैबेद बेद-बिधि । पूजे बर-दुलहिन मङ्गल-निधि ॥
बारहिं बार आरती करहीं । ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीं ॥२॥

धूप, दीप और नैवेद्य द्वारा वेद की विधि से मङ्गल-राशि दूलह और दुलहिनों की अच्छी पूजा की । बारम्बार आरती करती हैं और सिर पर सुन्दर पङ्खे तथा चँवर ढलते हैं ॥२॥

बस्तु अनेक निछावरि होहीं । भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥
पावा परम-तत्व जनु जोगी । अमृत लहेउ जनु सन्तत रोगी ॥३॥

अनेक वस्तुएँ न्योछावर होती हैं, माताएँ सब आनन्द से भरी सोहती हैं । वे ऐसी प्रसन्न मालूम होती हैं मानों योगी ब्रह्म-पद को पा गया हो और मानों जन्म के रोगी को अमृत का लाभ हुआ हो ॥३॥

जनम-रङ्क जनु पारस पावा । अन्धहि लोचन लाभ सुहावा ॥
मूक-बदन जनु सारद छाई । मानहुँ समर सूर जय पाई ॥४॥

जन्म का दरिद्री मानों पारस-मणि पा गया हो और अन्धे को सुन्दर नेत्रों का लाभ हुआ हो । गूँगे के मुख में मानों सरस्वती निवास किये हो और शूरवीर मानों युद्ध में विजय पाये हो ॥४॥

सभा की प्रति में 'मूक-बदन जस सादर छाई' पाठ है ।

दो०-एहि सुख तेँ सतकोटि-गुन, पावहिँ मातु अनन्द ।
भाइन्ह सहित बिआहि घर, आये रघुकुल-चन्द ॥

इस सुख से सौ करोड़ गुना बढ़ कर आनन्द माताओं को मिल रहा है । रघुकुल रूपी कुमुदवन के चन्द्रमा (रामचन्द्रजी) भाइयों के सहित विवाह कर के घर आये ॥

लोक-रीति जननी करहिँ, बर दुलहिनि सकुचाहिँ ।
मोद बिनोद बिलोकि बड़, राम मनहिँ मुसुकाहिँ ॥३५०॥

माताएँ लोक रीति करती हैं और दूलह दुलहिन लजाते हैं । वह बड़ा आनन्द और कुतूहल देख कर रामचन्द्रजी मन में मुस्कुराते हैं ॥३५०॥

प्रकट रूप से हँसने में लोक लज्जा नष्ट होती, माताओं की मर्य्यादा के ख्याल से चतुराई के साथ हँसी छिपा कर मन में हँसना 'अवहित्थ सञ्चारी भाव' है।

चौ०-देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी की॥
सबहिं बन्दि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना॥१॥

देवता और पितरों की अच्छी तरह पूजा की, मन की सभी कामनाएँ पूरी हुईं। सब को प्रणाम कर के भाइयों के सहित रामचन्द्रजी के कल्याण का बरदान माँगती हैं॥१॥

अन्तरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अञ्चल भरि लेहीं॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान बसन मनि भूषन दीन्हे॥२॥

देवता अन्तरिक्ष से आशीर्वाद देते हैं और माताएँ प्रसन्नता से आँचर भर कर लेती हैं। राजा ने बारातियों को बुलवा लिया, उन्हें रथ, वस्त्र, मणि और आभूषण दिये॥२॥

आशीर्वाद कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको माता लोग आँचर पसार कर लेती हैं। मुख्यार्थ का बोध है, परन्तु वाक्य जगत्प्रसिद्ध बोलचाल में व्यवहृत होने से 'रूढ़ि लक्षणा' है।

आयसु पाइ राखि उर रामहिं। मुदित गये सब निज निज धामहिं॥
पुर नर नारि सकल पहिराये। घर घर बाजन लगे बधाये॥३॥

आज्ञा पा कर रामचन्द्रजी को हृदय में रख कर सब प्रसन्नता-पूर्वक अपने अपने मन्दिर को गये। नगर के समस्त स्त्री-पुरुषों को राजा ने वस्त्रादि पहनाये, घर घर आनन्द की बधाइयाँ बजने लगीं॥३॥

जाचक-जन जाचहिं जोइ जोई। प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई॥
सेवक सकल बजनियाँ नाना। पूरन किये दान सनमाना॥४॥

याचक लोग जो जो माँगते हैं, राजा प्रसन्न हो कर वही वही देते हैं। समस्त सेवक और बाजेवालों को नाना प्रकार के दान एवम् सम्मान से सन्तुष्ट किया॥४॥

दो०-देहिं असीस जोहारि सब, गावहिं गुन-गन-गाथ।
तब गुरु भूसुर सहित गृह, गवन कीन्ह नरनाथ॥३५१॥

सब प्रणाम कर के आशीर्वाद देते हैं और समूह गुणों की कथा गाते हैं। तब गुरु और ब्राह्मणों के सहित नरनाथ दशरथजी ने महल में गमन किया॥३५१॥

चौ०-जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्हा। लोक बेद बिधि सादर कीन्हा॥
भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी॥१॥

बशिष्ठजी ने जो आज्ञा दी, लोक और वेद के विधान से आदर के साथ राजा ने उसे किया। ब्राह्मणों की भीड़ देख कर सब रानियाँ अपना बड़ा भाग्य समझ कर आदर के साथ उठीं॥१॥

पाय पखारि सकल अन्हवाये । पूजि भली बिधि भूप जेँवाये ॥
आदर दान प्रेम परिपोषे । देत असीस चले मन तोषे ॥ २ ॥

सब के पाँव धो कर स्नान करवाये और राजा ने उनकी अच्छी तरह पूजा कर के भोजन कराया । आदर, दान और प्रेम से सन्तुष्ट किया, वे मन में प्रसन्न हो कर आशीर्वाद देते हुए चले ॥ २ ॥

बहु बिधि कीन्ह गाधिसुत पूजा । नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥
कीन्ह प्रसंसा भूपति भूरी । रानिन्ह सहित लीन्ह पग धूरी ॥३॥

राजा ने बहुत तरह से विश्वामित्रजी की पूजा की और बोले—हे नाथ ! मेरे समान दूसरा कोई धन्य नहीं है । राजा ने उनकी बड़ी बड़ाई की और रानियों के सहित पाँव की धूलि को माथे पर चढ़ाया ॥ ३ ॥

भीतर भवन दीन्ह बर बासू । मन जोगवत रह नृप रनिवासू ॥
पूजे गुरु-पद-कमल बहोरी । कीन्ह बिनय उर प्रीति न थोरी ॥४॥

महल के भीतर उत्तम स्थान ठहरने को दिया और राजा तथा रनिवास उनका मन जोहते रहते हैं । फिर गुरु वशिष्ठ के चरण-कमलों की पूजा की और हृदय में अपार प्रेम से विनती की ॥ ४ ॥

दो०-बधुन्ह समेत कुमार सब, रानिन्ह सहित महीस ।
पुनि पुनि बन्दत गुरु चरन, देत असीस मुनीस ॥३५२॥

बहुओं के सहित सब राजकुमार और रानियों के समेत राजा बार बार गुरु के चरणों की वन्दना करते हैं और मुनिराज आशीर्वाद देते हैं ॥ ३५२ ॥

चौ०-बिनय कीन्ह उर अति अनुरागे । सुत सम्पदा राखि सब आगे ॥
नेग माँगि मुनिनायक लीन्हा । आसिरबाद बहुत बिधि दीन्हा ॥१॥

अत्यन्त प्रेम-पूर्ण हृदय से पुत्र और सारी सम्पत्ति सामने रख कर विनती की (कि ये सब आप के हैं स्वीकार कीजिए) । मुनिराज ने अपना नेग माँग लिया और बहुत तरह से आशीर्वाद दिया ॥ १ ॥

उर धरि रामहिँ सीय समेता । हरषि कीन्ह गुरु गवन निकेता ॥
बिप्र-बधू सब भूप बोलाई । चैल चारु भूषन पहिराई ॥ २ ॥

हृदय में सीताजी के सहित रामचन्द्रजी को रख कर प्रसन्नता से गुरु अपने आश्रम को गये । राजा ने सब ब्राह्मण-बधुओं को बुलवाया, उन्हें सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनाये ॥२॥

बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्ही । रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही ॥
नेगी नेग-जोग सब लेहीं । रुचि अनुरूप भूप-मनि देहीं ॥३॥

फिर सुहावनी स्त्रियों को बुलवा लिया, उनकी रुचि समझ कर पहिरावनी दी। नेगी लोग सब नेगयोग लेते हैं, उनकी इच्छा के अनुसार राजाओं के मणि (दशरथजी) देते हैं ॥३॥

प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने । भूपति भली भाँति सनमाने ।
देव देखि रघुबीर बिबाहू । बरषि प्रसून प्रसंससि उछाहू ॥४॥

जो प्रिय मेहमान थे उन्हें पूजनीय जान कर राजा ने अच्छी तरह सम्मान किया। देवता गण रघुनाथजी का विवाह देख फूल बरसा कर उत्साह की प्रशंसा करते हैं ॥४॥

दो०—चले निसान बजाइ सुर, निज निज पुर सुख पाइ ।
कहत परसपर राम-जस, प्रेम न हृदय समाइ ॥३५३॥

देवतावृन्द प्रसन्न हो कर अपने अपने लोकों को डङ्का बजा कर चले। आपस में रामचन्द्रजी का यश कहते जाते हैं, उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं (उमड़ा पड़ता) है ॥३५३॥

चौ०—सब बिधि सबहि समदि नरनाहू । रहा हृदय भरि पूरि उछाहू ॥
जहँ रनिवास तहाँ पगु धारे । सहित बधूटिन्ह कुँअर निहारे ॥१॥

राजा दशरथजी ने सब प्रकार सब का सम्मान किया और उनके हृदय में भरपूर उत्साह उमड़ रहा है। जहाँ रनिवास है वहाँ गये और बहुओं समेत कुँवरों को देखा ॥१॥

लिये गोद करि मोद समेता । को कहि सकइ भयउ सुख जेता ॥
बधू सप्रेम गोद बैठारी । बार बार हिय हरषि दुलारी ॥२॥

प्रसन्नता-पूर्वक पुत्रों को गोद में कर लिये, उस समय उन्हें जितना सुख हुआ वह कौन कह सकता है? पतोहुओं को प्रीति के साथ गोदी में बैठा कर बार बार हर्षित हृदय से उनका दुलार (प्यार) किया ॥२॥

देखि समाज मुदित रनिवासू । सब के उर अनन्द किय बासू ॥
कहेउ भूप जिमि भयउ बिबाहू । सुनि सुनि हरष होइ सब काहू ॥३॥

समाज (पुत्र-पुत्रबधू आदि) को देख कर रनिवास आनन्दित है, सब के हृदय में प्रसन्नता ने निवास किया है। जिस तरह विवाह हुआ था राजा ने कहा, सुन सुन कर सब को हर्ष हो रहा है ॥३॥

जनकराज गुन सील बड़ाई । प्रीति रीति सम्पदा सुहाई ॥
बहु बिधि भूप भाट जिमि बरनी । रानी सब प्रमुदित सुनि करनी ॥४॥

राजा जनक के गुण, शील, प्रेम, चालचलन और सुन्दर सम्पत्ति की बड़ाई बहुत तरह से राजा भाट जैसे वर्णन किया, जनकजी की करनी सुन कर सब रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं ॥४॥

दो०--सुतन्ह समेत नहाइ नृप, बोलि बिप्र गुरु ज्ञाति ।
भोजन कीन्ह अनेक बिधि, घरी पञ्च गइ राति ॥३५४॥

पुत्रों के सहित स्नान कर के राजा ने ब्राह्मण, गुरु और कुटुम्बियों को बुला कर अनेक प्रकार के (पक्वान्न) भोजन किये और पाँच घड़ी रात बीत गई ॥३५४॥

चौ०-- मङ्गल गान करहिं बर भामिनि । भइ सुखमूल मनोहर जामिनि ॥
अँचइ पान सब काहू पाये । स्रग-सुगन्ध भूषित छबि छाये ॥१॥

सुन्दर स्त्रियाँ मङ्गल गान करती हैं, सुख की मूल मनोहारिणी रात्रि हुई है । सब ने मुँह हाथ धो कर पान खाये और फूलों की माला, सुगन्धद्रव्य (इत्र आदि) से विभूषित छवि को प्राप्त हुए ॥१॥

रामहि देखि रजायसु पाई । निज निज भवन चले सिर नाई ॥
प्रेम प्रमोद बिनोद बड़ाई । समउ समाज मनोहरताई ॥२॥

रामचन्द्रजी को देख और आज्ञा पा कर सिर नवा कर अपने अपने घर चले । उस समय के प्रेम, आनन्द और कुतूहल की बड़ाई तथा समाज की मनोहरता को—॥२॥

कहि न सकहिँ सत सारद सेसू । बेद बिरञ्चि महेस गनेसू ॥
सो मैं कहउँ कवन बिधि बरनी । भूमिनाग सिर धरइ कि धरनी ॥३॥

सैकड़ों सरस्वती, शेष, वेद, ब्रह्मा, शिव और गणेश नहीं कह सकते । उसको मैं किस तरह बखान कर कह सकता हूँ, क्या भूनाग (केचुआ) धरती को सिर पर ले सकता है ? (कदापि नहीं) ॥३॥

नृप सब भाँति सबहिँ सनमानी । कहि मृदु बचन बोलाई रानी ॥
बधू लरिकिनी पर घर आई । राखेउ नयन पलक की नाई ॥४॥

राजा सब तरह सभी का सम्मान कर के कोमल वचन कह कर रानियों को बुलाया और कहा कि बालिका बहुएँ पराये घर आई हैं, इनको नेत्र और पलक की भाँति रखना ॥४॥

दो०--लरिका स्रमित उनीद-बस, सयन करावहु जाइ ।
अस कहि गे बिस्राम-गृह, राम-चरन चित लाइ ॥३५५॥

लड़के थके हुए नींद के वश हो रहे हैं, इन्हें ले जा कर शयन कराओ । ऐसा कह कर रामचन्द्रजी के चरणों में मन लगा कर विश्राम-भवन में गये ॥ ३५५ ॥

चौ०--भूप बचन सुनि सहज सुहाये । जटित कनक-मनि पलँग डसाये ॥
सुभग सुरभि पयफेन समाना । कोमल कलित सुपेती नाना ॥१॥

राजा के स्वाभाविक सुहावने वचन सुन कर मणियों से जड़े सुवर्ण के पलँग बिछवाये । सुन्दर गैया के दूध के फेन के समान कोमल (गद्दे पर) नाना प्रकार की सफेदी (चादरें) सजाई हुई हैं ॥ १ ॥

उपबरहन-बर बरनि न जाहीं । स्रग-सुगन्ध मनि-मन्दिर माहीं ॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा । कहत न बनइ जान जेहि जोवा ॥२॥

उत्तम तकिया वर्णन नहीं की जा सकती, मणियों के मन्दिर में फूलों के माला की सुगन्ध छा रही है। रत्न के दीपक और सुन्दर सुहावने चँदोवे की शोभा कहते नहीं बनती, जिसने देखा वही जान सकता है ॥ २ ॥

उपबरहन—'उपधानं तूपबर्हः इत्यमरः' तकिया। चँदोवा—एक प्रकार का छोटा तम्बू जो राजाओं के पलँग के ऊपर सोने वा चाँदी के चार चोबों के सहारे ताना जाता है।

सेज रुचिर रचि राम उठाये । प्रेम-समेत पलँग पौढ़ाये ॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही । निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥३॥

सुन्दर सेज सजाकर रामचन्द्रजी को उठाया और प्रीति के साथ पलँग पर पौढ़ाया। बार बार भाइयों को आज्ञा दी, तब वे भी अपनी अपनी पलँगों पर सोये ॥ ३ ॥

देखि स्याम मृदु मञ्जुल गाता । कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥
मारग जात भयावनि भारी । केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥४॥

सुन्दर श्यामल कोमल शरीर देख कर सब माताएँ प्रेम से वचन कहती हैं। हे पुत्र ! बड़ी भयावनी ताड़का राक्षसी को मार्ग में जाते हुए तुमने किस प्रकार से मारा ? ॥४॥

दो०--घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु ।
मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु ॥ ॥३५६॥

भयङ्कर राक्षस कठिन योद्धा जो समर में किसी को गिनते ही नहीं। ऐसे दुष्ट मारीच और सुबाहु को उनकी सहायक सेना के सहित कैसे मारा ? ॥ ३५६ ॥

अनुचित चिन्ता का होना 'भावाभास' है।

चौ०--मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरै टारी ॥
मख रखवारी करि दोउ भाई । गुरु-प्रसाद सब बिद्या पाई ॥१

हे पुत्र ! मैं तुम्हारी बलि जाती हूँ; मुनि की कृपा से ईश्वर ने बहुत सी आपत्तियाँ (मुसीबतें) हटाईं। दोनों भाई यज्ञ की रखवाली कर के गुरु के अनुग्रह से सब विद्या पाई ॥१॥

मुनि-तिय तरी लगत पग धूरी । कीरति रही भुवन भरिभूरी ॥
कमठ-पीठि पबि कूट कठोरा । नृप-समाज महँ सिव-धनु तोरा ॥२॥

मुनि की स्त्री चरणों की धूलि लगने से तर गई ! यह कीर्त्ति ब्रह्माण्ड में पूर्ण रीति से भर रही है। कछुए की पीठ, वज्र और लोहदण्ड से भी कठिन शिवजी के धनुष को राज-समाज में तोड़ा ॥ २ ॥

'कूट' शब्द पर्वत और लोहदण्ड दोनों का पर्य्यायी है।

बिस्व-बिजय-जस जानकि पाई । आये भवन ब्याहि सब भाई ॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे । केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥३॥

विश्व-विजय यश के सहित जानकी को पाया और सब भाइयों को ब्याह कर घर आये। आप के सम्पूर्ण कर्म अमानुषिक (मनुष्य की शक्ति से बाहर) हैं, केवल विश्वामित्रजी ने कृपा कर के सुधारा है ॥ ३ ॥

संसार के जीतने का यश इसलिये मिला कि जानकी को पाने के लिये तीनों लोकों के भट पराक्रम कर हार गये। अन्त में रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़ डाला तब विश्व-विजय के साथ सीताजी को पाया।

आजु सुफल जग जनम हमारा । देखि तात बिधु-बदन तुम्हारा ॥
जे दिन गये तुम्हहिँ बिनु देखे । ते बिरञ्चि जनि पारहिँ लेखे ॥४॥

हे पुत्र! आज तुम्हारा चन्द्र-मुख देख कर हमारा संसार में जन्म लेना सफल हुआ। जो दिन आप को बिना देखे बीते हैं, उनको ब्रह्मा गिनती में न लावें ॥ ४ ॥

दो०—राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन ।
सुमिरि सम्भु-गुरु-बिप्र-पद, किये नीँद-बस नैन ॥ ३५७ ॥

रामचन्द्रजी ने नम्रता-पूर्वक श्रेष्ठ वचन कह कर सब माताओं को सन्तुष्ट किया। शिवजी, गुरु और ब्राह्मण के चरणों का स्मरण कर नेत्रों को नींद-वश किया ॥ ३५७ ॥

चौ०—नीँदहु बदन सोह सुठि लोना । मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना ॥
घर घर करहिँ जागरन नारी । देहिँ परसपर मङ्गल गारी ॥१॥

नींद में भी अत्यन्त सुहावना श्रीमुख शोभित है, वह ऐसा मालूम होता है मानों सन्ध्या-काल में कमल का सूतना (सङ्कुचित होना) हो। घर घर स्त्रियाँ जागरण करती हैं और एक दूसरी को मङ्गलमयी गालियाँ देती हैं ॥ १ ॥

पुरी बिराजति राजति रजनी । रानी कहहिँ बिलोकहु सजनी ॥
सुन्दर बधू सासु लेइ सोई । फनिकन्ह जनु सिर-मनि उर गोई ॥२॥

रानी कहती हैं—हे सजनी! देखो, अयोध्यापुरी की सजावट से रात बहुत ही सुहावनी लगती है। सुन्दर बहुओं को लेकर सासु सोई हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों सर्प अपने सिर की मणियों को हृदय में छिपा कर सोये हों ॥ २ ॥

प्रात पुनीत-काल प्रभु जागे । अरुनचूड़ बर बोलन लागे ॥
बन्दि मागधन्ह गुन-गन गाये । पुरजन द्वार जोहारन आये ॥ ३ ॥

सवेरे पवित्र काल (ब्राह्म मुहूर्त) में प्रभु रामचन्द्रजी जागे और मुर्गे बोलने लगे। बन्दी-जन और मागध गुणावली गाने लगे तथा नगर के लोग दरवाजे पर प्रणाम करने को आये ॥३॥

बन्दि बिप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता॥
जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति सङ्ग द्वार पग धारे॥४॥

ब्राह्मण, गुरु, देवता, पिता और माताओं को प्रणाम कर सब भाई आशीर्वाद पा कर प्रसन्न हुए। माताओं ने आदर से मुख देखा, फिर राजा के साथ दरवाजे पर पधारे॥ ४॥

दो०—कीन्ह सौच सब सहज सुचि, सरित पुनीत नहाइ।
प्रातक्रिया करि तात पहिँ, आये चारिउ भाइ॥ ३५८॥

स्वाभाविक पवित्र चारों भाई सब शौच से निवृत्त हो पवित्र नदी (सरयू) में स्नान किया और प्रातःक्रिया करके पिता के पास आये॥ ३५८॥

शौचकर्म स्नानादि पवित्रता के लिए किया जाता है, पर चारों भाई सहज ही शुद्ध हैं। क्रिया का अभिप्राय विशेष्यपद में वर्तमान रहना 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

चौ०—भूप बिलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायसु पाई॥
देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन लाभ अवधि अनुमानी॥१॥

राजा देख कर हृदय से लगा लिये, आज्ञा पा कर चारों भाई प्रसन्न होकर बैठ गये। रामचन्द्रजी को देख कर सारी सभा नेत्रों के लाभ की सीमा अनुमान कर शीतल हुई॥ १॥

पुनि बसिष्ठ मुनि कौसिक आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये॥
सुतन्ह समेत पूजि पग लागे। निरखि राम दोउ गुरु अनुरागे॥२॥

फिर वशिष्ठ मुनि और विश्वामित्रजी आये, राजा ने मुनियों को सुन्दर आसन पर बैठाया। पुत्रों सहित पूजा कर के चरणों में लगे, रामचन्द्रजी को देख कर दोनों गुरु प्रेम से पूर्ण हो गये॥ २॥

कहहिँ बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिँ महीस सहित रनिवासा॥
मुनि मन अगम गाधि सुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥३॥

वशिष्ठजी धार्मिक इतिहास कहते हैं और राजा रनिवास के सहित सुनते हैं। मुनियों के मन में दुर्गम विश्वामित्रजी की करनी को वशिष्ठजी ने बहुत तरह से प्रसन्नता-पूर्वक वर्णन किया॥ ३॥

बोले बामदेव सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माँची॥
सुनि आनन्द भयउ सब काहू। राम-लखन-उर अधिक उछाहू॥४॥

वामदेव मुनि बोले कि सब बातें सत्य हैं, इनकी सुन्दर कीर्त्ति तीनों लोकों में फैली हुई है। यह सुनकर सब को आनन्द हुआ और रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी के हृदय में बड़ा उत्साह हुआ॥ ४॥

गुटका में 'राम लखन उर अतिहि उछाहू' पाठ है।

दो०—मङ्गल मोद उछाह नित, जाहिँ दिवस एहि भाँति ।
उमगी अवध अनन्द भरि, अधिक अधिक अधिकाति ॥३५९॥

नित्य मङ्गल, आनन्द और उत्साह में इसी तरह दिन बीतते जाते हैं । अयोध्या आनन्द से भर कर उमड़ पड़ी, वह (आनन्द) अधिक अधिक बढ़ता जाता है ॥ ३५९ ॥

चौ०—सुदिन सोधि कल कङ्कन छोरे । मङ्गल मोद बिनोद न थोरे ॥
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं । अवध जनम जाचहिँ बिधि पाहीं ॥१॥

सुन्दर दिन (शुभ मुहूर्त्त) शोध कर मनोहर कङ्कण खोले गये, मङ्गल, आनन्द और खेल-तमाशे कम नहीं हुए अर्थात् बड़ा उत्सव मनाया गया । नित्य नया सुख देख कर देवता सिहाते हैं और ब्रह्माजी से अयोध्या में जन्म पाने की याचना करते हैं ॥१॥

कङ्कन—एक धागा जिसमें सरसों आदि की पुटली पीले कपड़े में बाँध कर एक लोहे की मुँदरी के साथ विवाह के समय से कुछ पहले दूलह दुलहिन के हाथ में रक्षार्थ बाँधते हैं, उसको कङ्कण कहते हैं ।

बिस्वामित्र चलन नित चहहीं । राम-सप्रेम-बिनय-बस रहहीं ॥
दिन दिन सयगुन भूपति भाऊ । देखि सराह महा-मुनि-राऊ ॥२॥

विश्वामित्रजी नित्य ही चलना चाहते हैं, पर रामचन्द्रजी के स्नेह और विनती के वश में हो कर रह जाते हैं । राजा दशरथजी का दिन दिन सौगुना प्रेम देख कर महा मुनिराज बड़ाई करते हैं ॥ २ ॥

सभा की प्रति में 'राम-सनेह-बिनय-बस रहहीं' पाठ है ।

माँगत बिदा राउ अनुरागे । सुतन्ह समेत ठाढ़ भये आगे ॥
नाथ सकल सम्पदा तुम्हारी । मैं सेवक समेत सुत नारी ॥३॥

विश्वामित्रजी के बिदा माँगते समय राजा प्रेम में सराबोर हो गये, पुत्रों सहित सामने खड़े हुए और बोले—हे नाथ ! यह सारी सम्पत्ति आप की है और मैं पुत्र तथा रानियों समेत आप का सेवक हूँ ॥ ३ ॥

गुटका में 'सुत-चारी' पाठ है ।

करब सदा लरिकन पर छोहू । दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी । परेउ चरन मुख आव न बानी ॥४॥

सदा लड़कों पर छोह कीजिएगा और मुझे दर्शन देते रहियेगा । ऐसा कह कर राजा, पुत्र और रानियों के सहित पाँव पर गिर पड़े, मुख से वचन नहीं निकलता है ॥ ४ ॥
प्रेमोल्लास से वाणी का रुक जाना स्वरभङ्ग सात्विक अनुभाव है ।

दीन्हि असीस विप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती॥
राम सप्रेम सङ्ग सब भाई। आयसु पाइ फिरे पहुँचाई॥५॥

ब्राह्मण (विश्वामित्रजी) ने बहुत तरह से आशीर्वाद दिया और चले, वह प्रीति की रीति कहीं नहीं जाती है। रामचन्द्रजी सब भाइयों के सङ्ग प्रेम से पहुँचाने चले, कुछ दूर पहुँचा कर आज्ञा पा लौट आये॥ ५॥

दो०-राम-रूप भूपति-भगति, ब्याह-उछाह-अनन्द।
जात सराहत मनहिँ मन, मुदित गाधि-कुल-चन्द॥३६०॥

रामचन्द्रजी की छवि, राजा दशरथजी की भक्ति और विवाहोत्सव के आनन्द को गाधि-कुल के चन्द्रमा (विश्वामित्रजी) मन ही मन प्रसन्न होकर सराहते जाते हैं॥ ३६०॥

चौ०-बामदेव-रघुकुल गुरु ज्ञानी। बहुरि गाधि-सुत कथा बखानी॥
सुनि सुनि सुजस मनहिँ मन राऊ। बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ॥१॥

ज्ञानी मुनि वामदेव और रघुकुल के गुरु वशिष्ठजी ने फिर विश्वामित्र की कथा वर्णन की। उनके सुयश को सुन सुन कर राजा मन ही मन अपने पुण्य की महिमा का बखान करते हैं॥ १॥

वशिष्ठजी ने गाधितनय की कथा वर्णन की कि ये कुशिक राजा के पौत्र और गाधि के पुत्र हैं। एक बार पर्य्यटन करते हुए ससैन्य मेरे आश्रम में आये। मैंने उनका अतिथि-सत्कार किया। क्षत्रिय राजा विश्वामित्र को आश्चर्य्य हुआ कि वनवासी मुनि के पास इतनी सामग्री कहाँ से आई? जब उनको कामधेनु की महिमा मालूम हुई, तब बहुत सा सोना रत्नादि दे कर गौ लेना चाहा, परन्तु मैंने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने जोरावरी से गौ छीन ली, जब उसे ले चले तब वह छुड़ा कर मेरे पास आई और विनय की। मैंने तपोबल से असंख्यों म्लेछ उत्पन्न कर विश्वामित्र की सेना का नाश कर दिया। इस पर वे लज्जित हो हिमालय में जा कर १००० वर्ष तप किया। शिवजी, ने प्रसन्न हो कर उन्हें धनुर्वेद साङ्ग दिया। वहाँ से लौट कर उन्होंने फिर मुझसे युद्ध किया। मैं ने उनके ४२ ब्रह्मास्त्रों को बेकाम कर दिया। तब उन्होंने क्षत्रिय बल को धिक मान कर ब्रह्म-तेज का बल सच्चा समझा और ब्राह्मण होने के लिए घोर तप किया। अन्त में वे तपोबल के प्रभाव से क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए। विश्वामित्रजी का संक्षिप्त परिचय इसी काण्ड के २०५ दोहे के आगे तीसरी चौपाई के नीचे दिया गया है, उसको देखो।

बहुरे लोग रजायसु भयऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गयऊ॥
जहँ तहँ राम ब्याह सब गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा॥२॥

आज्ञा हुई सब लोग घर को लौटे और पुत्रों के सहित राजा महल में गये। जहाँ तहाँ सब रामचन्द्रजी के विवाहोत्सव को गाते हैं, उनका पवित्र यश तीनों लोकों में छाया हुआ है॥ २॥

आये ब्याहि राम घर जब तेँ । बसे अनन्द अवध सब तब तेँ ॥
प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू । सकहिँ न बरनि गिरा अहिनाहू ॥३॥

जब से रामचन्द्रजी विवाह करके घर आये, तब से अयोध्या में सब आनन्द से निवास करते हैं। प्रभु रामचन्द्रजी के विवाह में जैसा उत्साह हुआ, उसको सरस्वती और शेषजी भी नहीं वर्णन कर सकते ॥ ३ ॥

कबि-कुल-जीवन पावन जानी । राम-सीय-जस मंगल-खानी ॥
तेहि तेँ मैँ कछु कहा बखानी । करन पुनीत हेतु निज बानी ॥४॥

राम-जानकी के यश को मङ्गल की खानि और कवि कुल के जीवन को पवित्र करने-वाला जान कर, इसलिए मैंने अपनी वाणी पावन करने के हेतु कुछ वखान कर कहा है ॥४॥

कविजी कहते हैं कि मैंने कुछ रामयश वर्णन किया, इसका समर्थन हेतु-सूचक बात कह कर करना कि सीताराम का यश मङ्गल की खानि है, कविकुल के जीवन को पवित्र करने-वाला है, इससे मैंने अपनी जिह्वा पवित्र करने के लिए कहा 'काव्यलिंग अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द ।

निज गिरा पावनि करन कारन, राम-जस तुलसी कह्यो ।
रघुबीर चरित अपार बारिधि, पार कबि कवने लह्यो ॥
उपबीत ब्याह उछाह मङ्गल, सुनि जे सादर गावहीँ ।
बैदेहि-राम-प्रसाद तेँ जन, सर्बदा सुख पावहीँ ॥४७॥

अपनी वाणी पवित्र करने के लिए तुलसी ने रामचन्द्रजी का यश कहा। रघुनाथजी का चरित्र अपार समुद्र है, किस कवि ने पार पाया है ? (कोई नहीं)। यज्ञोपवीत और विवाहोत्सव के मङ्गल को जो आदर से सुनेंगे एवम् गावेंगे, वे मनुष्य राम-जानकी की कृपा से सदा सुख पावेंगे ॥४७॥

पहले कहा कि अपनी वाणी पवित्र करने के लिए तुलसी ने रामचरित वर्णन किया। फिर उसका निषेध कर के दूसरी बात कहना कि रामचरित अपार समुद्र है किसी कवि ने पार नहीं पाया 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

सो०—सिय रघुबीर बिबाह, जे सप्रेम गावहिँ सुनहि ।
तिन्ह कहँ सदा उछाह, मङ्गलायतन राम जस ॥३६१॥

सीताजी और रघुनाथजी के विवाह को जो प्रेम से गावेंगे और सुनेंगे, उनको सदा उत्साह (आनन्द) मिलेगा, क्योंकि रामचन्द्रजी का यश मङ्गल का स्थान है ॥३६१॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
बिमलसन्तोषसम्पादनो नाम प्रथमः
सोपानः समाप्तः ।

यह कलियुग के समस्त दोषों को नष्ट करनेवाला श्रीरामचरितमानस में निर्मल सन्तोष सम्पादन नाम का पहला सोपान समाप्त हुआ ।

शुभमस्तु मङ्गलमस्तु ।

श्रीगणेशाय नमः

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्रीमद् गोस्वामि तुलसीदास-कृत

रामचरितमानस

द्वितीय सोपान

अयोध्याकाण्ड

शार्दूलविक्रीड़ित-वृत्त ।

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके ।
भाले बाल-विधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ॥
सोयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा ।
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातुमाम् ॥१॥

जिनके वाम भाग में शैलकन्या-पार्वती, मस्तक पर गङ्गाजी, ललाट पर द्वितीया के चन्द्रमा, गले में विष और छाती पर नागराज सुशोभित हैं, वे भस्म का भूषण धारण किये देवताओं में श्रेष्ठ, सबके स्वामी, नित्य, महेश्वर, सर्वव्यापी, कल्याण रूप, चन्द्रमा के समान शुक्ल वर्णवाले श्रीशङ्करजी मेरी रक्षा करें ॥१॥

गुटका में 'सर्वः सर्वगतः' पाठ है, किन्तु सभा और राजापुर की प्रति में शर्वः सर्वगतः है। राजापुर की प्रति में यस्यांके च विभाति भूधरसुता, पाठ है, उसको पुनरुक्ति-दोष के विचार से गुटका और सभा की प्रति के अनुसार 'वामाङ्के' रक्खा गया है। बहुत सम्भव है कि गोस्वामीजी ने काशी की प्रति में इस पाठ का संशोधन किया हो।

वंशस्थविलम्-वृत्त ।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गल प्रदा ॥२॥

जो रघुनाथजी के मुख-कमल की शोभा राज्याभिषेक होने की आशा से प्रसन्नता को नहीं प्राप्त हुई और न वनवास के दुःख से मलिन हुई, वह मेरे लिये सदा सुन्दर मङ्गल की देनेवाली हो ॥२॥

सभा की प्रति में 'मम्ल।' पाठ है ।

इन्द्रवज्रा-वृत्त ।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंश नाथम् ॥३॥

नील-कमल के समान श्याम जिनके कोमल अङ्ग हैं और वाम भाग में सीताजी सुशोभित हैं। जिनके हाथों में सुन्दर धनुष और श्रेष्ठ बाण हैं, उन रघुकुल के स्वामी रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

दो०—श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज, निज-मन-मुकुर सुधारि ।
बरनउँ रघुबर-बिमल-जस, जो दायक फल-चारि ॥१॥

श्रीगुरु महाराज के चरण-कमलों की धूलि से अपने मन रूपी दर्पण को सुधार कर रघुनाथजी का निर्मल यश वर्णन करता हूँ जो चारों फल का देनेवाला है ।

इस दोहे में प्रस्तुत अर्थ के सिवा यह अर्थ भी निकलता है कि अयोध्याकाण्ड में विशेष रूप से भरतजी का चरित्र वर्णन करना है, इसलिए मन-मुकुर को दोबारा स्वच्छ करते हैं 'मुद्रालंकार' है ।

चौ०—जब तें राम ब्याहि घर आये । नित नव मङ्गल मोद बधाये ॥
भुवन चारि-दस भूधर भारी । सुकृत मेघ बरषहिँ सुख-बारी ॥१॥

जब से रामचन्द्रजी विवाह कर के घर आये तब से नित्य नये मङ्गल हो रहे हैं और आनन्द की दुन्दुभी बजती है। चौदहों लोक रूपी भारी पर्वतों पर पुण्य रूपी बादल सुख रूपी जल की वर्षा करते हैं ॥१॥

बालकाण्ड के मानस निरूपण में कह आये हैं कि सातों काण्ड इस सरोवर की सात सीढ़ियाँ हैं। तालाब की निसेनियाँ परस्पर जुड़ी रहती हैं, वैसे ही प्रत्येक काण्डों में कथा प्रसङ्ग का मीलान जोड़ है। जैसे—बालकाण्ड में 'आये ब्याहि राम घर जब तें। बसे अनन्द अवध सब तब तें' कह कर काण्ड की समाप्ति की गई और 'जब तें राम ब्याहि घर आये। नित नव मङ्गल मोद बधाये' वही बात कह कर अयोध्याकाण्ड का प्रारम्भ करना जोड़ है ।

रिधि सिधि सम्पति नदी सुहाई । उमगि अवध-अम्बुधि कहँ आई ॥
मनि-गन पुर-नर-नारि-सुजाती । सुचि अमोल सुन्दर सब भाँती ॥२॥

ऋद्धि, सिद्धि, और सम्पत्ति सुहावनी नदियाँ हैं, वे उमड़ कर अयोध्या रूपी समुद्र में आकर मिली हैं। नगर के स्त्री-पुरुष अच्छी जाति के रत्न-समूह सब तरह से पवित्र, अनमोल और सुन्दर हैं ॥२॥

वर्षा होने पर पर्वतों का जल नदियों में आता है, वे उमड़ कर समुद्र में मिलती हैं। सागर से नाना प्रकार के रत्न उत्पन्न होते हैं। ठीक इसी का साङ्ग रूपक कवि ने बाँधा है। चौदहों लोक पर्वत हैं। सुकृत मेघ हैं, वे सुख रूपी जल बरसते हैं जिससे ऋद्धि-सिद्धि रूपी नदियाँ सुख-जल से भरी अयोध्या रूपी समुद्र को निरन्तर भर रही हैं। नगर-निवासी स्त्री पुरुष रत्नागर में उत्पन्न होनेवाले पवित्र अनमोल सुन्दर रत्न हैं।

कहि न जाइ कछु नगर बिभूती । जनु एतनिअ बिरञ्चि करतूती ॥
सब बिधि सब पुर-लोग सुखारी । रामचन्द मुख-चन्द निहारी ॥३॥

नगर का ऐश्वर्य्य कुछ कहा नहीं जाता, ऐसा मालूम होता है मानों ब्रह्मा की करतूत (हुनर-बाज़ी) इतनी ही है। श्रीरामचन्द्रजी के मुख रूपी चन्द्रमा को देख कर सम्पूर्ण नगर के लोग सब तरह से सुखी हैं ॥३॥

ब्रह्मा की करामात का हद नहीं बाँधा जा सकता, पर कविजी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों ब्रह्मा के रचना-कौशल की यही इतिश्री 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

मुदित मातु सब सखी सहेली । फलित बिलोकि मनोरथ बेली ॥
राम-रूप-गुन-सील-सुभाऊ । प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ ॥४॥

अपनी मनोकामना रूपी लता को फलवती देख कर सब माताएँ और उनकी सखी सहेलियाँ प्रसन्न हैं। रामचन्द्रजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को देख सुन कर राजा (दशरथजी) बहुत ही आनन्दित होते हैं ॥४॥

दो०-सब के उर अभिलाष अस, कहहिँ मनाइ महेस ।
आपु अछत जुबराज-पद, रामहिँ देउ नरेस ॥१॥

सब के हृदय में ऐसी अभिलाषा है कि अपनी मौजूदगी में राजा रामचन्द्रजी को युवराज-पद (राज्याधिकार) दें, वे शिवजी से प्रार्थना कर यही कहते हैं ॥१॥

चौ०-एक समय सब सहित समाजा । राजसभा रघुराज बिराजा ॥
सकल-सुकृत-मूरति नरनाहू । राम-सुजस सुनि अतिहि उछाहू ॥१॥

एक बार सब सभासदों के सहित राजा दशरथजी राजसभा में विराजमान थे। सम्पूर्ण पुण्यों के मूर्त्ति नरपाल, रामचन्द्रजी के सुयश को सुन कर बहुत ही उत्साहित हुए ॥१॥

राजापुर की प्रति में 'सकल-सुकृत-मूरति नरनाहू। राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू' यह आधी चौपाई नहीं है; किन्तु गुटका और सभा की प्रति में है। जान पड़ता है कि नकल करने में वह छूट गई है।

नृप सब रहहिँ कृपा अभिलाखे। लोकप करहिँ प्रीति रुख राखे॥
त्रिभुवन तीनि काल जग माहीँ। भूरि-भाग दसरथ सम नाहीँ॥२॥

सब राजा जिनकी कृपा के आकांक्षी रहते हैं और लोकपाल जिनके प्रीति का रुख रख कर काम करते हैं। तीनों लोक और तीनों काल में दशरथजी के समान बड़ा भाग्यवान संसार में कोई नहीं है॥२॥

मङ्गल-मूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सब तासू॥
राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥३॥

मङ्गल के मूल रामचन्द्रजी जिनके पुत्र हैं, उनके लिये जो कुछ कहा जाय वह सब थोड़ा है। राजा ने स्वभाव से ही हाथ में दर्पण लिया और मुख देख कर मुकुट सीधा किया॥३॥

स्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठ-पन अस उपदेसा॥
नृप जुबराज राम कहँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥४॥

कान के समीप बाल सफ़ेद हो गये हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बुढ़ाई अवस्था उपदेश दे रही है—राजन्! रामचन्द्रजी को युवराज-पद देकर अपने जन्म और जीवन का लाभ क्यों नहीं लेते?॥४॥

बुढ़ाई में बालों का पकना सिद्ध आधार हैं; किन्तु बाल मुखवाले जीव नहीं जो शिक्षा दे सकते हों। इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है

दो०—यह बिचार उर आनि नृप, सुदिन सुअवसर पाइ।
प्रेम-पुलकि-तन मुदित-मन, गुरुहिँ सुनायउ जाइ॥२॥

यह विचार मन में ला कर सुन्दर दिन और शुभ-मुहूर्त्त पा कर राजा प्रेम से पुलकित शरीर और प्रसन्न मन से जा कर गुरुजी को सुनाया॥२॥

चौ०—कहइ भुआल सुनिय मुनिनायक। भये राम सब-बिधि सब-लायक॥
सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमार अरि मित्र उदासी॥१॥

राजा कहने लगे—हे मुनिराज! सुनिए, रामचन्द्रजी सब तरह योग्य हुए हैं। नौकर, मन्त्री और सम्पूर्ण नगर-निवासी जो हमारे शत्रु, मित्र तथा तटस्थ हैं॥१॥

गुटका और सभा की प्रति में 'जे हमरे अरि मित्र उदासी' पाठ है।

सबहिँ राम प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥
बिप्र सहित परिवार गोसाँई। करहिँ छोह सब रौरहि नाँई॥२॥

जिस प्रकार रामचन्द्र मुझे प्यारे हैं उसी तरह सभी को प्रिय हैं, प्रभो! ऐसा मालूम

होता है मानों आप का आशीर्वाद शरीर धारण कर शोभित हो रहा हो। स्वामिन्! सपरिवार ब्राह्मणवृन्द सब आप ही के समान छोह करते हैं ॥२॥

जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥
मोहि सम यह अनुभयउ न दूजे। सब पायउँ रज-पावनि पूजे ॥३॥

जो गुरु के चरणों की धूल मस्तक पर धारण करते हैं, वे मानों समस्त ऐश्वर्यों को अपने वश में कर लेते हैं। यह अनुभव मेरे बराबर दूसरे को न हुआ होगा कि आप के चरणों की पवित्र धूलियों की पूजा कर के ही मैं ने सब कुछ पाया ॥ ३ ॥

अब अभिलाष एक मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे ॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज-सनेहू। कहेउ नरेस रजायसु देहू ॥४॥

हे नाथ! अब एक अभिलाषा मेरे मन में और है, वह भी आप की कृपा से पूरी होगी। मुनिराज को प्रसन्न देख कर राजा ने स्वाभाविक स्नेह से कहा—महाराज! आज्ञा दीजिए (तो वह मन-कामना निवेदन करूँ) ॥४॥

दो०—राजन राउर नाम जस, सब अभिमत-दातार।
फल अनुगामी महिप-मनि, मन-अभिलाष तुम्हार ॥३॥

गुरुजी ने कहा—हे राजन्! आप का नाम और यश सब वाञ्छित का देनेवाला है। हे महिपाल मणि! फल तो आप के मनोभिलाष के पीछे पीछे चलनेवाले हैं ॥३॥

कारण से पहले कार्य्य का प्रकट होना अर्थात् प्रथम फल उसके पीछे मनोभिलाष वर्णन करना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

चौ०—सबबिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहसि मृदु-बानी ॥
नाथ राम करियहि जुबराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू ॥१॥

सब तरह से गुरुजी को मन में प्रसन्न जान कर हर्षित हो राजा कोमल वाणी से बोले। हे नाथ! रामचन्द्र को युवराज करने के लिए कृपा कर कहिए तो तैयारी की जाय ॥१॥

मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिँ लोग सब लोचन लाहू ॥
प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं। यह लालसा एक मन माहीं ॥२॥

मेरी उपस्थिति में यह उत्साह हो, जिससे सब लोग नेत्रों का लाभ पावें। प्रभो! आप के अनुग्रह से शिवजी ने सभी (कामना) पूरी की, अब मन में एक यही लालसा है ॥ २ ॥

पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ ॥
सुनि मुनि दसरथ बचन सुहाये। मङ्गल-मोद-मूल मन भाये ॥३॥

फिर शरीर रहे या चला जाय इसका सोच नहीं, जिसमें पीछे पछतावा न हो। इस तरह आनन्द मङ्गल के मूल दशरथजी के सुहावने वचन सुन कर वे मुनि के मन में बहुत अच्छे लगे ॥ ३ ॥

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं । जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी । राम पुनीत प्रेम अनुगामी ॥४॥

गुरुजी ने कहा—हे राजन्! सुनिए, जिससे विमुख रह कर प्राणी पछताते हैं और जिसके भजन विना (संसार-सम्बन्धी) जलन नहीं जाती । वही सर्वेश्वर रामचन्द्रजी तुम्हारे पुत्र हुए हैं, वे पवित्र प्रेम के पीछे चलनेवाले हैं ॥ ४ ॥

दो०—बेगि बिलम्ब न करिय नृप, साजिय सबइ समाज ।
सुदिन सुमङ्गल तबहिँ जब, राम होहिँ जुबराज ॥४॥

हे राजन्! शीघ्र ही देरी न कीजिए, सभी सामान सजवाइये । शुभ दिन और सुन्दर मङ्गल तभी है, जब रामचन्द्र युवराज हों ॥ ४ ॥

श्लिष्ट शब्दों द्वारा एक और गुप्त अर्थ प्रकट होता है कि जब रामचन्द्र युवराज होंगे तभी शुभ मुहूर्त्त होगा अर्थात् अभी वे राज्याधिकार न ग्रहण करेंगे 'विवृतोक्ति अलंकार' है ।

चौ०—मुदित महीपति मन्दिर आये । सेवक सचिव सुमन्त्र बोलाये ॥
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाये । भूप सुमङ्गल बचन सुनाये ॥१॥

राजा प्रसन्न होकर महल में आये और सेवकों तथा मन्त्री सुमन्त्र को बुलवाया । उन्हों ने जयजीव कह कर मस्तक नवाया, राजा ने सुन्दर माङ्गलीक वचन सुनाया ॥ १ ॥

प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू । रामहिँ राय देहु जुबराजू ॥
जौ पाँचहि मत लागइ नीका । करहु हरषि हिय रामहिँ टीका ॥२॥

आज गुरुजी ने प्रसन्नता-पूर्वक मुझ से कहा—राजन्! रामचन्द्र को युवराज-पद दे दो । यदि पञ्चों को यह सलाह अच्छी लगे तो हर्षित हृदय से रामचन्द्र को राज-तिलक करो ॥२॥

राजापूर की प्रति में इस चौपाई का पूर्वार्द्ध दोनों चरण नहीं है, किन्तु गुटका और सभा की प्रति में है । कदाचित दृष्टि-दोष ही का यह भी परिणाम होगा ।

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी । अभिमत बिरव परेउ जनु पानी ॥
बिनती सचिव करहिँ करजोरी । जियहु जगत-पति बरिस करोरी ॥३॥

इस प्यारी वाणी को सुनते ही मन्त्री ऐसे प्रसन्न हुए मानों मनोरथ रूपी पौधे पर पानी पड़ा हो । मन्त्री हाथ जोड़ कर विनती करते हैं कि हे जगत्पति! आप करोड़ों वर्ष जियें ॥३॥

जग मङ्गल भल काज बिचारा । बेगिय नाथ न लाइय बारा ॥
नृपहिँ मोद सुनि सचिव सुभाखा । बढ़त बौँड़ जनु लही सुसाखा ॥४॥

हे नाथ! आपने संसार के मङ्गल के लिए अच्छा कार्य्य विचारा है, जल्दी कीजिए देरी न लगाइये । मन्त्रियों की सुन्दर वाणी सुन कर राजा को ऐसा आनन्द हुआ मानों बढ़ती हुई लता ने अच्छी डाली पा ली हो ॥४॥

दो०—कहेउ भूप मुनिराज कर, जोइ जोइ आयसु होइ ।
राम-राज-अभिषेक हित, बेगि करहु सोइ सोइ ॥५॥

राजा ने कहा कि रामचन्द्र के राज्याभिषेक के लिए मुनिराज की जो जो आज्ञा हो तुम लोग वह वह तुरन्त करो ॥५॥

चौ०—हरषि मुनीस कहेउ मृदु-बानी । आनहु सकल सुतीरथ पानी ॥
औषध मूल फूल फल पाना । कहे नाम गनि मङ्गल नाना ॥१॥

मुनीश्वर ने प्रसन्न होकर कोमल वाणी से कहा कि समस्त उत्तम तीर्थों के जल ले आओ । नाम गिना कर नाना माङ्गलीक औषधियाँ, जड़, फूल, फल और पत्ते कहे ॥१॥

चामर चरम बसन बहु भाँती । रोम पाट पट अगनित जाती ।
मनि-गन मङ्गल-बस्तु अनेका । जो जग जोग भूप अभिषेका ॥२॥

चँवर, चर्म्म, वस्त्र और बहुत तरह के असंख्यों प्रकार ऊनी और रेशमी कपड़े । रत्न समूह तथा भाँति भाँति की माङ्गलीक वस्तुएँ जो संसार में राज्याभिषेक के योग्य हैं ॥२॥

बेद-बिदित कहि सकल बिधाना । कहेउ रचहु पुर बिबिध-बिताना ॥
सफल रसाल पूगफल केरा । रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा ॥३॥

वेद में विख्यात सम्पूर्ण विधान बता कर कहा कि नगर में अनेक प्रकार के मण्डप बनाओ । आम, सुपारी और केले के वृक्ष फल सहित निर्माण कर चारों ओर नगर की गलियों में लगाओ ॥३॥

रचहु मञ्जु मनि चौकइ चारू । कहहु बनावन बेगि बजारू ॥
पूजहु गनपति-गुरु-कुलदेवा । सब बिधि करहु भूमिसुर-सेवा ॥४॥

सुन्दर मणियों के मनोहर चौक पुरवाओ और तुरन्त बाज़ार सजने को कह दो । श्रीगणेश, गुरु और कुलदेव का पूजन करो, सब तरह से ब्राह्मणों की सेवा करो ॥४॥

दो०—ध्वज पताक तोरन कलस, सजहु तुरग रथ नाग ।
सिर धरि मुनिबर बचन सब, निज निज काजहि लाग ॥६॥

ध्वजा, पताका, वन्दनवार, कलश, रथ, घोड़े और हाथी सब को सजाओ· मुनिवर की आज्ञा शिरोधार्य्य कर सब अपने अपने काम में लग गये ॥ ६ ॥

चौ०—जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा । सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा ॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा । करत राम हित मङ्गल-काजा ॥१॥

मुनिराज ने जिसको जो आज्ञा दी, उस काम को वह मानों पहले ही कर रक्खा हो । राजा दशरथजी ब्राह्मण, सज्जन और देव-पूजन आदि मङ्गल के कार्य्य रामचन्द्रजी की भलाई के लिए करते हैं ॥१॥

सुनत राम अभिषेक सुहावा । बाज गहागह अवध बधावा ॥
राम-सीय-तन सगुन जनाये । फरकहिँ मङ्गल अङ्ग सुहाये ॥२॥

रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक को सुनते ही अयोध्या में सुन्दर धूम के साथ बधाई के बाजे बजने लगे । रामचन्द्र और सीताजी के शरीर में सगुन मालूम होते हैं, सुहावने मङ्गल अङ्ग फरकने लगे ॥ २ ॥

जिस हेतु अवतार हुआ है, उस कार्य्य के करने का उपयुक्त समय आया जान कर महाराज को माङ्गलीक शकुन हुए हैं ।

पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं । भरत आगमन सूचक अहहीं ॥
भये बहुत दिन अति अवसेरी । सगुन प्रतीति भेँट प्रिय केरी ॥३॥

प्रेम से पुलकित हो कर आपस में कहते हैं कि ये सगुन भरत के आने की सूचना देनेवाले हैं । उनको मामा के घर गये—बहुत दिन हुए; बड़ी चिन्ता है, इन शकुनों से विश्वास होता है कि प्यारे (भरत) से भेट होगी ॥ ३ ॥

'अवसेर' शब्द संस्कृत का है । प्रसङ्गानुकूल इसके कई एक अर्थ हैं । जैसे (१) विलम्ब देर, अटकाव । (२) प्रतीक्षा, इन्तजार । (३) उचाट, व्यग्रता, चिन्ता । (४) हैरानी, दुःख ।

भरतसरिस प्रिय को जग माहीँ । इहइ सगुन-फल दूसर नाहीँ ॥
रामहिँ बन्धु सोच दिन राती । अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥४॥

भरत के समान मुझको संसार में कौन प्यारा है ? बस, सगुनों का यही फल है दूसरा नहीं । रामचन्द्रजी को दिन रात भाई का ऐसा सोच है, जिस तरह कछुए का मन अण्डों में लगा रहता है ॥ ४ ॥

दिन रात रामचन्द्रजी को भाई भरत का सोच है, इस बात को विशेष से समता दिखाना कि जिस तरह कछुए का मन अपने अण्डों में लगा रहता है 'उदाहरण अलंकार' है । भरत के समान कौन प्यारा है ? इस वाक्य में काकोक्ति से भिन्न अर्थ 'कोई प्यारा नहीं है' प्रकट होना 'वक्रोक्ति अलंकार' है ।

कछुई अपने अण्डों का सेवन नहीं करती । वह सूखे स्थल में अण्डा देकर उसे रेत या धूल से ढँक कर पानी में चली जाती है और फिर कभी लौट कर अण्डों के पास नहीं आती ! पर मन उसका अंडों ही पर लगा रहता है, जिससे वह पुष्ट होकर जलि में स्वयम् प्रवेश कर जाते हैं । विनयपत्रिका के १०३ पद में यही बात कही है कि "जहाँ तहाँ जनि छोह छाँड़िये, कमठ-अण्ड की नाँई ।" राजापुर की प्रति में और गुटका में "हृदउ" पाठ है ।

दो०—एहि अवसर मङ्गल परम, सुनि रहसेउ रनिवास ।
सोभत लखि बिधु बढ़त जनु, बारिधि बीचि बिलास ॥७॥

इसी समय अतिशय मङ्गल सुन कर रनिवास प्रसन्न हुआ । वह ऐसा मालूम होता है मानों चन्द्रमा को देख कर समुद्र में लहरों का आनन्द बढ़ता हुआ शोभित हो ॥ ७ ॥

मुख्य तात्पर्य तो रनिवास की खुशी वर्णन से है। उसका भाव हृदयङ्गम करने के लिए कविजी अपनी कल्पना से बल-पूर्वक पाठकों का ध्यान समुद्र की उस तरङ्गमाला की ओर खींच कर लिये जाते हैं जो पूर्णचन्द्र को देख कर उसमें लहराती हुई उठती हैं। "उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०-प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये॥
प्रेम पुलकि तन मन अनुरागीं। मङ्गलकलस सजन सब लागीं॥१॥

पहले जा कर जिन्होंने यह बात सुनाई, उन्हें बहुत से गहने और कपड़े मिले। प्रेम से पुलकित शरीर हो मन में प्रेम उमड़ पड़ा, सब मङ्गल-कलश सजाने लगीं ॥ १ ॥

चौकइ चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥
आनँद-मगन राम-महँतारी। दिये दान बहु बिप्र हँकारी॥२॥

सुमित्राजी ने अनेक तरह की बहुत ही सुन्दर मणियों की मनोहर चौकें पूरीं। रामचन्द्रजी की माता आनन्द मग्न हो ब्राह्मणों को बुलवा कर बहुत से दान दिये ॥ २ ॥

पूजी ग्रामदेबि-सुर-नागा। कहेउ बहोरि देन बलि भागा॥
जेहि बिधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू॥३॥

गाँव की देवी, देवता और नागों की पूजा करके फिर पूजा करने की मनौती की कि जिस तरह रामचन्द्रजी का कल्याण हो दया करके वही वरदान दीजिए ॥ ३ ॥

गावहिं मङ्गल कोकिल-बयनी। बिधु-बदनी मृग-सावक-नयनी॥४॥

चन्द्राननी, हिरन के बच्चों के समान नेत्रवाली स्त्रियाँ कोकिल की वाणी में मङ्गल गीत गाती हैं ॥ ४ ॥

दो०-राम राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नर-नारि।
लगे सुमङ्गल सजन सब, बिधि अनुकूल बिचारि॥८॥

रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक को सुन कर स्त्री-पुरुष हृदय में हर्षित हुए। विधाता को प्रसन्न समझ कर सुन्दर मङ्गल सजने लगे ॥ ८ ॥

चौ०-तब नरनाह बसिष्ठ बोलाये। राम-धाम सिख देन पठाये॥
गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥१॥

तब राजा ने वशिष्ठजी को बुलाया और रामचन्द्रजी के महल में उन्हें शिक्षा देने के लिए भेजा। गुरु का आगमन सुनते ही रघुनाथजी ने दरवाजे पर आ कर उनके चरणों में मस्तक नवाया ॥ १ ॥

सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय-सहित बहोरी। बोले राम कमल-कर जोरी॥२॥

आदर के साथ अर्घ्य दे कर घर में ले आये और सोलहों भाँति से पूजा कर के सम्मान

किया। फिर सीताजी के सहित गुरु के पाँव पर पड़े और कमल के समान हाथों को जोड़ कर रामचन्द्रजी बोले ॥ २ ॥

षोड़शोपचार की पूजा वेद में इस प्रकार कही है—आवाहान, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आरती, दक्षिणा, प्रदक्षिणा और विसर्जन। जिनका नित्य आवाहन और विसर्जन नहीं होता, उनका उस स्थान में स्वागत एवम् शयन होता है।

सेवक सदन स्वामि आगमनू। मङ्गल-मूल अमङ्गल-दमनू॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइय काज नाथ असि नीती॥३॥

यद्यपि सेवक के घर में स्वामी का आना मङ्गल का मूल और अमङ्गल का नाश करने-वाला है। तथापि हे नाथ! नीति ते ऐसी है कि कार्य्य के लिए जन को प्रीति के साथ अपने समीप बुलवा भेजना उचित था ॥ ३ ॥

प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यह गेहू॥
आयसु होइ सो करउँ गोसाँई। सेवक लहइ स्वामि सेवकाई॥४॥

प्रभो! आपने अपना प्रभुत्व (साहिबी) छोड़ कर मुझ पर कृपा की, आज यह घर पवित्र हो गया। हे स्वामिन्! जो आज्ञा हो वह करूँ, जिसमें सेवक स्वामी की सेवकाई को पावे ॥ ४ ॥

दो०—सुनि सनेह साने बचन, मुनि रघुबरहि प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस-अवतंस॥६॥

इस प्रकार प्रेम से सने हुए वचन सुन कर वशिष्ठ-मुनि रघुनाथजी की बड़ाई करके बोले। हे रामचन्द्र! आप सूर्य्य कुल के भूषण हैं, फिर ऐसा क्यों न कहें? ॥ ६ ॥

चौ०—बरनि राम गुन सील सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ॥
भूप सजेउ अभिषेक-समाजू। चाहत देन तुम्हहिँ जुबराजू॥१॥

रामचन्द्रजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करके मुनिराज प्रेम से पुलकित हो कर बोले। राजा ने राज्याभिषेक का सामान सजवाया है, वे आपको युवराज-पद देना चाहते हैं ॥ १ ॥

राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहइ काजू॥
गुरु सिख देइ राय पहिँ गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ॥२॥

हे रामचन्द्र! आज से आप सब संयम (ब्रह्मचर्य्यादि व्रत पालन) कीजिये, जो विधाता कुशल से कार्य्य पूरा करे (तो उत्तम है)। गुरुजी शिक्षा देकर राजा के पास गये और राम-चन्द्रजी के हृदय में यह सुन कर आश्चर्य्य हुआ ॥२॥

गुरुजी के कथन में 'जौं विधि कुशल निबाहइ काजू' कार्य्य का निषेध झलक रहा है अर्थात् सब संयम करो, पर यदि ब्रह्मा कुशल से काम निबाह दें। यह सन्दिग्ध गुणीभूत व्यङ्ग है कि संयम कीजिये कौन जाने काम पूरा होगा या नहीं ?

जनमे एक सङ्ग सब भाई। भोजन सयन केलि-लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बियाहा। सङ्ग सङ्ग सब भयउ उछाहा॥३॥

सब भाई एक साथ जन्मे, भोजन, शयन, लड़कपन के खेल, कर्ण-छेदन, यज्ञोपवीत और विवाह सभी उत्सव साथ ही साथ हुए॥३॥

बिमल-बंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन के कुटिलाई॥४॥

इस निर्मल-कुल में यह एक ही अनुचित होता है कि इतने बड़े अभिषेक (राजपद निर्वाचन में) भाइयों को छोड़ दिया जाता है अर्थात् जब सभी उत्सव साथ साथ हुए तब राज्याभिषेक भी चारों भाइयों का सङ्ग ही होना चाहिये। इस तरह रामचन्द्रजी का सुन्दर प्रीति के साथ पछताना भक्तों के मन की कुटिलता को हरता है॥४॥

अन्तिम चौपाई के चरण में लक्षणामूलक गूढ़ ध्वनि है कि जिन भक्तों के हृदय में अन्य देवी, देवता और स्वामियों के प्रति आशा रूपी पिशाचिनी वर्तमान है, वे इस टेढ़ाई को त्याग देंगे। राज्य पाने का समाचार सुन कर प्रसन्न नहीं हुए वरन् भाइयों के लिये पछताने लगे। अपने भक्तों पर इतनी बड़ी कृपा रखते हैं, ऐसा उदार और दयालु स्वामी तीनों लोकों में कोई नहीं है। इस स्वभाव को समझ कर भक्तजन श्रीचरणों के सिवाय भूल कर अन्यत्र प्रेम न करेंगे।

दो०—तेहि अवसर आये लखन, मगन प्रेम आनन्द।
सनमाने प्रिय बचन कहि, रघुकुल-कैरव-चन्द॥१०॥

उसी समय प्रेम और आनन्द में मग्न लक्ष्मणजी आये। रघुकुल रूपी कुमुद वन के चन्द्रमा रामचन्द्रजी ने प्रिय वचन कह कर उनका सम्मान किया॥१०॥

चौ०—बाजहिँ बाजन बिबिध बिधाना। पुर-प्रमोद नहिँ जाइ बखाना॥
भरत आगमन सकल मनावहिँ। आवहु बेगि नयन फल पावहिँ॥१॥

अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं, नगर का आनन्द बखाना नहीं जा सकता। सब लोग भरतजी का आगमन मनाते हैं कि शीघ्र आ जाते तो वे भी नेत्रों का फल पाते॥१॥

हाट बाट घर गली अथाई। कहहिँ परसपर लोग लोगाई॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा॥२॥

बाजार, रास्ता, घर, गली और बैठकों में पुरुष और स्त्रियाँ आपस में यही कहती हैं कि कल वह शुभ-मुहूर्त्त कितने समय है जब विधाता हमारी अभिलाषा पूरी करेंगे ?॥२॥

कनक सिँघासन सीय समेता। बैठहिँ राम होइ चित चेता॥
सकल कहहिँ कब होइहि काली। बिघन मनावहिँ देव कुचाली॥३॥

सुवर्ण के सिंहासन पर सीताजी के सहित रामचन्द्रजी बैठ जाँय, तब चितचाही बात पूरी हो। सम्पूर्ण (अयोध्यावासी) कहते हैं कि कब कल का सबेरा होगा और कुचाली देवता विघ्न मनाते हैं॥३॥

तिन्हहिँ सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चन्दिनि-राति न भावा॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिँ बार पाँय लै परहीं॥४॥

उन्हें अयोध्या में आनन्द की दुन्दुभी बजना अच्छा नहीं लगता है, (जैसे) चोर को चाँदनी रात नहीं सुहाती। सरस्वतीजी का आवाहन कर के देवता विनती करते हैं और बार बार उनके पाँव ले पड़ते हैं॥४॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में प्रथम उपमेय-वाक्य है और द्वितीय उपमान-वाक्य है। 'सोहाइ न' और 'न भावा' एक धर्म पृथक पृथक समानार्थ वाची शब्दों द्वारा कथन करना 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है। देवताओं को अयोध्या का बधावा न सुहाना, उपमेय वाक्य है और चोर को चाँदनी रात का न भाना उपमान वाक्य है। बिना वाचक पद के दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव झलकना अर्थात् अयोध्या का बधावा देवताओं को उसी तरह अच्छा नहीं लगता जैसे चोर को चाँदनी रात, 'दृष्टान्त अलंकार' है। यहाँ दोनों अलंकारों का सन्देह-सङ्कर है।

दो०—बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिय सोइ आजु।
राम जाहिँ बन राज तजि, होइ सकल सुर काज॥११॥

हे माता! हमारी बड़ी विपत्ति को देख कर आज वही कीजिये कि रामचन्द्रजी राज्य को छोड़ कर बन को जाँय तो सम्पूर्ण देवताओं का कार्य्य सिद्ध हो॥११॥

चौ०—सुनि सुर-बिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज-बिपिन हिम-राती॥
देखि देव पुनि कहहिँ निहोरी। मातु तोहि नहिँ थोरिउ खोरी॥१॥

देवताओं की बिनती सुन कर सरस्वती खड़ी होकर पछताती हैं कि मैं कमल वन के लिए पाले की रात हुई हूँ। उनका पछताना देखकर देवता उपकार जनाते हुए फिर कहते हैं कि हे माता! आप को थोड़ा भी दोष न लगेगा॥१॥

सरस्वतीजी को रामराज्याभिषेक में बाधा डालने का पश्चात्ताप होना प्रस्तुत वृत्तान्त है। उसे न कह कर यह कहना कि कमल-वन के लिए पाले की रात बनूँगी अर्थात् प्रतिबिम्ब मात्र कथन कर के असली वृत्तान्त प्रकट करना ललित अलंकार है।

बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥
जीव करम-बस सुख-दुख-भागी। जाइय अवध देव-हित-लागी॥२॥

रघुनाथजी शोक और हर्ष से रहित हैं, आप सब तरह रामचन्द्रजी के प्रभाव को जानती

हो। कर्म के अधीन हो कर जीव सुख और दुःख को भोगता है, इसलिए देवताओं के कल्याण के हेतु अयोध्या को जाइये ॥२॥

बार बार गहि चरन सकोची। चली बिचारि बिबुध-मति-पोची॥
ऊँच निवास नीचि करतूती। देखि न सकहिँ पराइ बिभूती॥३॥

बार बार देवताओं ने पाँव पकड़ कर संकोच में डाला, तब देवताओं की बुद्धि को खोटी अनुमान कर चली। सरस्वती देवि मन में विचारती जाती है कि देवताओं का निवास ऊँचा (स्वर्ग का) है परन्तु इनकी करनी छोटी है, ये पराये का ऐश्वर्य्य नहीं देख सकते ॥३॥

आगिल काज बिचारि बहोरी। करिहहिँ चाह कुसल-कबि मोरी॥
हरषि हृदय दसरथ-पुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥४॥

फिर आगे के काम का विचार कर (कि पृथ्वी, देवता, मुनि, ब्राह्मण, गौ आदि का सङ्कट दूर होगा, इससे) चतुर कवि मेरा आदर करेंगे। प्रसन्न मन से दसरथजी के पुर में आई, ऐसी मालूम होती है मानों असहनीय दुःख देनेवाली ग्रहदशा हो ॥४॥

दो०-नाम मन्थरा मन्द-मति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥१२॥

केकयी की नीच-बुद्धिवाली टहलुनी जिसका नाम मन्थरा है, उसको अपकीर्त्ति की पेटारी (मोनी) बना कर सरस्वती उसकी बुद्धि बदल कर चली गई ॥१२॥

वा इष्ट तो है कारण का कथन कि रामराज्य विध्वंस करने लिए बीज बो दिया, पर उसे सीधे शब्दों में न कह कर मन्थरा को मन्दमति फेरी हुई बुद्धि की कहना, जिस से कार्य्य जनाया जाय, 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

चौ०-दीख मन्थरा नगर बनावा। मञ्जुल मङ्गल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम-तिलक सुनि भा उर दाहू॥१॥

मन्थरा ने नगर के सजावट को देखा, सुन्दर माङ्गलीक बधावा बज रहा है। लोगों से पूछा कौन सा उत्सव है? रामचन्द्रजी का राजतिलक सुन कर उसके हृदय में बड़ी जलन उत्पन्न हुई ॥१॥

करइ बिचार कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाज कवनि बिधि राती॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥२॥

वह खोटी जाति और नीच-बुद्धिवाली दासी विचार करने लगी कि रात ही भर में किस तरह काम बिगड़ सकता है? जिस प्रकार (मक्खी की छात) लगी देख कर दुष्टा भिलिनी घात लगाती हो कि किस तरह मधु को लेऊँ ॥२॥

भरत-मातु पहिँ गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥
ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥३॥

भरतजी की माता के पास उदास होकर गई, रानी ने हँस कर कहा—तू खिन्न काहे को है? मन्थरा कुछ उत्तर नहीं देती है वरन् लम्बी साँस ले रही है और त्रियाचरित्र कर के आँसू ढालती है॥३॥

सभा की प्रति में 'उतरु देइ नहिँ लेइ उसासू' पाठ है, किन्तु राजापुर की प्रति में और गुटका में उपर्युक्त पाठ है।

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥४॥

रानी केकयी ने हँस कर कहा कि तेरी बहुत बड़बड़ाने की आदत है, मेरे मन में ऐसा आता है कि लक्ष्मण ने तुझ को सिखावन दिया है। तब भी वह महा पापिन दासी नहीं बोली, श्वास छोड़ती हुई ऐसी मालूम होती है मानों काली नागिन हो॥४॥

दो०—सभय रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल।
लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर साल॥१३॥

तब रानी ने डर कर कहा—अरी! कहती क्यों नहीं? रामचन्द्र, राजा-दशरथ, लक्ष्मण, भरत और शत्रुहन तो कुशल-पूर्वक हैं? यह सुन कर कुबरी के हृदय में दुःख हुआ॥१३॥

चेरी के शीघ्र न बोलने से रानी को भय हुआ कि कोई विशेष दुर्घटना तो नहीं हुई। रानी ने सर्वप्रथम रामचन्द्रजी का कुशल-समाचार पूछा, इस से कुबरी के मन में बड़ा खेद हुआ।

चौ०—कत सिख देइ हमहिँ कोउ माई। गाल करब केहि कर बल पाई॥
रामहिँ छाड़ि कुसल केहि आजू। जिन्हहिँ जनेस देइ जुबराजू॥१॥

हे माता! हमें कोई काहे को सीख देगा और मैं किस का बल पा कर मुँहजोरी करूँगी? रामचन्द्र को छोड़ कर आज किस का कुशल है कि जिन्हें राजा युवराज-पद देते हैं॥१॥

वक्ता मन्थरा की बातों में आर्थी व्यङ्ग है, क्योंकि वह अपने वचन से रामराज्य नाश करने की क्रिया छिपाती है, यह बात व्यङ्ग से जानी जाती है। राजापुर की प्रति में 'जेहि जनेसु देइजुबराजू' पाठ है। वहाँ जब तक 'जेहि' शब्द के 'ज' अक्षर का दीर्घ उच्चारण न हो तब तक छन्दोभङ्ग सा प्रतीत होगा।

भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मन छोभा॥२॥

कौशल्या के लिए विधाता अत्यन्त अनुकूल हुए हैं, यह देख कर उनके हृदय में गर्व नहीं समाता है। जा कर सब शोभा क्यों नहीं देखती हो जो देख कर मेरा मन व्याकुल हो उठा है॥२॥

वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है कि तुम भी तो रानी ही हो, देखो कौशल्या के मन में घमण्ड नहीं अँटता है। इतने पर भी कारण तुम्हारी समझ में नहीं आया !

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह हमारे॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥३॥

आप के पुत्र परदेश में हैं और तुम्हें कोई सोच नहीं है, (कि तुम्हारे लिए कितना बड़ा षड़यन्त्र रचा गया है) जानती हो कि स्वामी मेरे वश में हैं। आप को पलँग के गद्दे पर नींद बहुत प्यारी है, राजा की कपट-चातुरी को नहीं लखती हो ॥३॥

सुनि प्रिय बचन मलिनमन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥४॥

प्रिय मन्थरा के वचनों को सुन कर और उसको मैले मनवाली जान कर रानी झुकी अर्थात् डाँट कर कहा कि अब चुप रह। फिर कभी ऐसी घर फोड़नेवाली बात कहेगी, तब तेरी जीभ पकड़ कर खिँचवा लूँगी ॥४॥

दो०—काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेष पुनि चेरि कहि, भरत-मातु मुसुकानि॥१४॥

काने और कुबड़े ऐबी मनुष्यों को दुष्ट तथा कुचाल वाले जान कर भरतजी की माता ने फिर उसको स्त्री एवम् विशेष कर के दासी कह कर मुस्कुरा दिया ॥१४॥

एक ऐब रहने से दुष्ट कुचाली होने के लिए काफी कारण है, पर साथ ही स्त्री जाति, उस पर टहलुनी; अन्य हेतु भी उपस्थित है, यह 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है। राजापुर की प्रति में 'तिय विसेषि' पाठ है।

चौ०—प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोप न मोही॥
सुदिन सुमङ्गल-दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥१॥

केकयी ने कहा—हे प्रिय बोलनेवाली! यह मैं ने तुझे शिक्षा दी है; किन्तु तुझ पर मुझे सपने में भी क्रोध नहीं है। सुन्दर मङ्गल-दायक अच्छा दिन वहीं है जिस दिन तेरा कहना सत्य हो ॥१॥

रानी केकयी ने पहिले मन्थरा पर क्रोध कर के डाँटा और ऐबी कुचाली कह कर मुस्कुराई। फिर दूसरी बात कह कर प्रथम कही हुई बात का निषेध करती हैं। 'उक्त चोप अलंकार' है।

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुल-रीति सुहाई॥
राम-तिलक जौं साँचेहुँ काली। देउँ माँगु मन-भावत आली॥२॥

जेठा भाई राजा और छोटा भाई सेवक होते हैं, यह सूर्य्यकुल की सुन्दर रीति ही है। यदि सचमुच कल रामचन्द्र को राज-तिलक होनेवाले है तो प्यारी सखी! जो तेरे मन में भावे वह माँग ले, मैं दूँगी ॥२॥

कौसल्या सम सब महँतारी । रामहिं सहज सुभाय पियारी ॥
मो पर करहिं सनेह बिसेखी । मैं करि प्रीति परीछा देखी ॥३॥

सब माताएँ रामचन्द्र को स्वाभाविक ही कौशल्याजी के समान प्रिय हैं; किन्तु मुझ पर वे अधिक स्नेह करते हैं, मैं ने परीक्षा कर के उनकी प्रीति देखी है ॥३॥

बालपन में होड़ से जब कौशल्या और केकयी रामचन्द्रजी को गोद में लेने के लिये साथ ही बुलाती थीं, तब वे केकयी की गोदी में जा बिराजते थे । वही बात भरतजी की माता कहती हैं । यह 'आत्मतुष्टि प्रमाण अलंकार' है ।

जौं बिधि जनम देइ करि छोहू । होहु राम-सिय पूत-पतोहू ॥
प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे । तिन्ह के तिलक छोभ कस तोरे ॥४॥

यदि ब्रह्मा जन्म दें तो दया करें कि रामचन्द्र पुत्र हों और सीता पतोहू । रामचन्द्र मुझे प्राणों से बढ़ कर प्यारे हैं, उनके तिलक में तुझे क्यों घबराहट हुई है ? ॥ ४ ॥

सभा की प्रति में 'होहिं राम-सिय' पाठ है । इस अन्तिम प्रश्न को केकयी ने देव-माया की प्रेरणा से किया ।

दो०—भरत सपथ तोहि साँच कहु, परिहरि कपट दुराउ ।
हरष समय बिषमय करसि, कारन मोहि सुनाउ ॥१५॥

तुझे भरत की सौगन्द है, छल और छिपाव छोड़ कर सच कह । तू हर्ष के समय विषाद करती है, इसका कारण मुझे सुना ॥ १५ ॥

चौ०—एकहि बार आस सब पूजी । अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥
फोरइ जोग कपार अभागा । भलउ कहत दुख रौरेहि लागा ॥१॥

मन्थरा कहती है—एक ही बार में सब आशाएँ पूरी हो गईं, क्या अब दूसरी जीभ कर के कुछ कहूँगी । मेरा अभागा कपाल फोड़ने योग्य है कि अच्छी बात कहते हुए आप को वह दुखदाई लगी ॥ १ ॥

कहहिं झूठि फुरि बात बनाई । ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई ॥
हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती । नाहिं त मौन रहब दिन राती ॥२॥

हे माता ! जो झूठी सच्ची बातें बना कर कहती हैं वे आप को प्यारी हैं और मैं कड़वी हूँ । अब मैं भी ललोचप्पो की बातें कहूँगी, नहीं तो दिन रात चुप रहूँगी ॥ २ ॥

मन्थरा के कथन में अपने को सत्य बोलनेवाली प्रमाणित करने की ध्वनि है । या तो मुँहदेखी बात बोलूँगी या निरन्तर मौन धारण किये रहूँगी 'विकल्प अलंकार' है ।

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा । बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी । चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ॥३॥

विधाता ने मुझे कुरूप बना कर पराधीन किया है, (इसमें दूसरे का क्या दोष ?) जो

बोया है वह लवती हूँ और जो दिया है वह पाती हूँ। कोई भी राजा हो हमारी कौन सी हानि है, क्या दासी छोड़ कर अब रानी हो जाऊँगी ? ॥ ३ ॥

जारइ जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाय तुम्हारा ॥
ता तें कछुक बात अनुसारी । छमिय देबि बड़ि चूक हमारी ॥४॥

हमारा स्वभाव जलाने योग्य है कि आप का अनभल मुझ से देखा नहीं जाता। हे देवि ! इसी से कुछ बातें मुँह से निकल पड़ी हैं, हमारी इस बड़ी चूक को क्षमा कीजिये ॥ ४ ॥

'क्षमा कीजिये' इस शब्द से आगे कुछ न कहने को कहिए, यह ध्वनि व्यञ्जित होती है।

दो०—गूढ़-कपट प्रिय-बचन सुनि, तीय-अधर-बुधि रानि ।
सुर-माया-बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतियानि ॥१६॥

स्त्रियों की बुद्धि चञ्चल होती है, रानी केकयी उसके गुप्त धोखेबाजी से भरे हुए वचनों को सुन कर देवताओं की माया के अधीन हुई। बैरिन मन्थरा को मित्राणी समझ कर विश्वास मान लिया ॥ १६ ॥

'अधर' शब्द का कोई कोई इस प्रकार अर्थ करते हैं "कि—स्त्रियों की बुद्धि ओठों में होती है अर्थात् कहा सुनी से चल विचल हो जाती है"। प्रथम तो ओंठ बुद्धि के रहने का स्थान नहीं है, इसलिए बलात् उसे ओंठ में स्थापन करना युक्तियुक्त नहीं। दूसरे यहाँ तात्पर्य्य चञ्चलता से है जो एक समान स्थिर न रहे।

चौ०—सादर पुनि पुनि पूछति ओही । सबरी गान मृगी जनु मोही ॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भाबी । रहसी चेरि घात जनु फाबी॥१॥

फिर फिर आदर के साथ उससे पूछती है, ऐसा मालूम होता है मानों सबरी के गान पर मृगी मोहित हुई हो। जैसा होनहार है वैसी बुद्धि बदल गई, ऐसा जान पड़ता है कि मानों अपना दाँव लहा हुआ जान कर चेरी प्रसन्न हुई हो ॥१॥

तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ । धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ ॥
सजि प्रतीति बहु-बिधि गढ़ि छोली । अवध साढ़साती तब बोली ॥२॥

आप पूछती हैं परन्तु मैं कहते हुए डरती हूँ क्योंकि आप ने मेरा नाम घरफोरी रक्खा है। बहुत तरह से गढ़ छोल कर अपना विश्वास जमा लिया तब अयोध्या की साढ़े साती (शनिकी दशा) रूपिणी मन्थरा बोली ॥२॥

प्रिय सिय राम कहा तुम्ह रानी । रामहिँ तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समउ फिरे रिपु होहिँ पिरीते ॥३॥

हे रानी ! आपने कहा कि मुझे सीता और रामचन्द्र प्यारे हैं तथा आप रामचन्द्र को प्रिय हैं, यह बात ठीक है। पर ऐसा पहले था अब वे दिन बीत गये, समय पलटने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥ ३ ॥

अब रामचन्द्र और सीता दोनों तुम्हारे शत्रु हो गये हैं, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

भानु कमल-कुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी॥४॥

सूर्य्य कमल-कुल के पालनेवाले हैं, पर बिना जल के वे ही (सूर्य्य) उसको जला कर भस्म कर देते हैं। आप की जड़ सौत (कौशल्या) उखाड़ना चाहती है, इसलिए उत्तम यत्न रूपी खाँई (घेरा) से घेर कर उसकी रक्षा कीजिए॥४॥

मन्थरा ने पहले विशेष बात कही कि समय फिरने पर मित्र भी शत्रु होते हैं। इसका साधारण दृष्टान्त से समर्थन करती है कि कमल-कुल को पोषण करनेवाले सूर्य्य बिना जल के उसे जला देते हैं। इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर विशेष सिद्धान्त से समर्थन करती है कि तुम्हारी जड़ तुम्हारी सौत उखाड़ना चाहती है, यदि श्रेष्ठ उपाय रूपी खाँई से रक्षा न करोगी तो उखड़ जायगी 'विकस्वर अलंकार' है। गुटका और सभा की प्रति में 'बिनु जर जारि करइ सोइ छारा' पाठ है; किन्तु राजापुर की प्रति में 'जल' पाठ है।

दो०--तुम्हहिँ न सोच सोहाग बल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह-मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ॥१७॥

आप को अहिवात के बल से सोच नहीं है, राजा को अपने वश में समझती हो। पर राजा मन के मैले और मुँह से मीठी बातें करते हैं, आप का सीधा स्वभाव है (इसी से छलबाजी को समझती नहीं हो)॥१७॥

चौ०--चतुर गँभीर राम-महँतारी। बीच पाइ निज बात सँवारी॥
पठये भरत भूप ननिऔरे। राम-मातु मत जानब रौरे॥१॥

रामचन्द्र की माता चतुर और गम्भीर (जिसकी थाह जल्दी न मिले) हैं, अन्तर पा कर अपनी बात बना ली। राजा ने भरत को ननिहाल भेजा, इसको आप राम की माता की सलाह जानें॥१॥

सेवहिँ सकल सवति मोहि नीके। गरबित भरत-मातु बल पी के।
साल तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिँ परइ लखाई॥२॥

वे समझती हैं कि सभी सौतें मेरी अच्छी सेवा करती हैं, परन्तु भरत की माता पति के बल से घमण्ड में चूर रहती है। हे माता! कौशल्या को आप इसी से अखर रही हो; किन्तु चतुरों का कपट जाहिर नहीं होता (इसी से तुम से मुँह पर मीठी बातें करती हैं और पेट में छल की छुरी घुमा रही हैं)॥२॥

राजहिँ तुम्ह पर प्रेम बिसेखी। सवति सुभाउ सकइ नहिँ देखी॥
रचि प्रपञ्च भूपहि अपनाई। राम-तिलक-हित लगन धराई॥३॥

राजा का आप पर अधिक प्रेम है, स्वभाव से ही सौत इसको देख नहीं सकती। जाल रच

कर राजा को अपने वश में कर के रामचन्द्र के राजतिलक के लिए लग्न निश्चित करा लिया ॥ ३ ॥

यह कुल उचित राम कहँ टीका । सबहि सोहाइ मोहि सुठि नीका ॥
आगिल बात समुझि डर मोही । देउ दैव फिरि सो फल ओही ॥४॥

कुल की प्रथा के अनुसार यह उचित ही है कि रामचन्द्र को तिलक हो, यह सभी को सुहाता है और मुझे भी बहुत अच्छा लगता है। पर आगे की बात समझ कर मुझे डर लगता है, (इसी से चाहती हूँ कि) ईश्वर इसका फल उसी (कौशल्या) को दे ॥ ४ ॥

दो०--रचि पचि कोटिक कुटिल-पन, कीन्हेसि कपट प्रबोध ।
कहेसि कथा सत सवति कै, जेहि बिधि बाढ़ बिरोध ॥१८॥

करोड़ों प्रकार से दुष्टता की कल्पना में पूर्ण-रूप से लग कर मन्थरा ने भेदभाव सुझाने का प्रयत्न किया। जिस तरह विरोध बढ़े ऐसी सवतियों की सैकड़ों कथाएँ उसने कहीं ॥१८॥

चौ०--भावी बस प्रतीति उर आई । पूछ रानि पुनि सपथ देवाई ॥
का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना । निज हित अनहित पसु पहिचाना ॥१॥

होनहार वश हृदय में विश्वास आ गया, फिर रानी केकयी उसको सौगन्द दे कर पूछने लगी। मन्थरा ने कहा—क्या पूछती हो? आपने अब भी नहीं जाना! अपने मित्र और शत्रु को पशु भी पहचानते हैं ॥ १ ॥

भयउ पाख-दिन सजत समाजू । तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥
खाइय पहिरिय राज तुम्हारे । सत्य कहे नहिँ दोष हमारे ॥२॥

पन्द्रह दिन समान सजते हो गया, पर आपने आज मुझ से खबर पाई है! (यह छल नहीं तो क्या है?)। मैं आप के राज्य में खाती और पहनती हूँ, सच कहने में हमें कोई दोष नहीं है ॥२॥

जौँ असत्य कछु कहब बनाई । तौ बिधि देइहि हमहिँ सजाई ॥
रामहिँ तिलक कालि जौँ भयऊ । तुम्ह कहँ बिपति-बीज बिधि बयऊ ॥३॥

यदि कुछ बना कर कहूँगी तो विधाता मुझे दण्ड देंगे। जो कल रामचन्द्र को राजतिलक हुआ तो समझ लेना कि ब्रह्मा ने तुम्हारे लिए विपत्ति के बीज बो दिये ॥३॥

रेख खचाइ कहउँ बल भाखी । भामिनि भइहु दूध कै माखी ॥
जौँ सुत सहित करहु सेवकाई । तौ घर रहहु न आन उपाई ॥४॥

हे भामिनी! मैं रेखा खींच कर बल-पूर्वक कहती हूँ कि आप दूध की मक्खी हुई। यदि पुत्र के सहित सेवा करोगी तो घर में रहोगी, दूसरा (उपाय घर में रहने का) नहीं है ॥४॥

पूर्वार्द्ध में मन्थरा का कहना तो है कि अब "तुम घर से बाहर निकाल दी जाओगी" पर इसे सीधे न कह कर केवल उसका प्रतिबिम्ब मात्र घुमा कर कहना 'ललित अलंकार' है

दो०—कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख, तुम्हहिँ कौसिला देब।
भरत बन्दिगृह सेइहहिँ, लखन राम के नेब ॥१९॥

(जैसे) कद्रू ने विनता को दुःख दिया था, उसी तरह तुम्हें कौशल्या कष्ट देगी। भरत बन्दीखाना सेवन करेंगे और लक्ष्मण रामचन्द्र के नायब (युवराज) होंगे॥१९॥

कद्रू और विनता दोनों कश्यप-मुनि की पत्नी हैं। कद्रू के सर्प और विनता के गरुड़ पुत्र हुए। एक बार कद्रू ने पूछा कि सूर्य्य के घोड़े की पूँछ का रङ्ग कैसा है? विनता ने कहा श्वेत है; किन्तु कद्रू ने काले रङ्ग की बतलाया। दोनों में इस पर विवाद बढ़ा और होड़ (बाजी) लगी कि जिसकी बात झूठ हो वह जन्म भर दूसरे की दासी बन कर रहे। कद्रू ने अपने पुत्रों को समझा कर भेज दिया, वे घोड़े की पूँछ में जा लिपटे जिससे पूँछ कालेरङ्ग की देख पड़ने लगी इससे विनता को विवश होकर दासी होना पड़ा और नाना प्रकार का सौत ने उनको कष्ट दिया।

चौ०—कैकय-सुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥
तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी॥१॥

यह कड़वी बात सुनते ही केकयी सहम कर सूख गई, वह कुछ कह नहीं सकती। शरीर पसीने से तर हो गया और केले की तरह काँपने लगी, तब कुबरी ने दाँतों तले जीभ दबाया॥१॥

कुबरी का दाँतों तले जीभ दबाना चेष्टा-सूचक वर्जन का सङ्केत है कि अभी क्या बिगड़ा है? उपाय हाथ में है, सावधानी से उसे कीजिये।

कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥
कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरि उकठि कुकाठू॥२॥

करोड़ों कपट की कहानियाँ कह कह कर रानी को समझाया कि धीरज धरिये (घबराइये नहीं)। दुष्ट पाठ (सबक़) पढ़ा कर उसने केकयी को ऐसा कठोर कर दिया जैसे बुरा काठ (बबूल आदि) सूख जाने पर फिर नहीं नवता॥२॥

फिरा करम प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली॥
सुनु मन्थरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥३॥

भाग्य पलट गया इससे दुष्टता अच्छी लगी; बकुली को हंसिनी मान कर प्रशंसा करती है। हे मन्थरा! सुन, तेरी बात सच्ची है; मेरी दाहिनी आँख नित्य फड़कती है॥३॥

दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥
काह करउँ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥४॥

प्रतिदिन रात में बुरा स्वप्न देखती हूँ परन्तु अपनी अज्ञानता से तुझ से नहीं कहा। क्या करूँ! मेरा सीधा स्वभाव कुछ दाहिना और बायाँ कभी नहीं जानती॥४॥

केकयी की दाहिनी आँख का फड़कना और दुःस्वप्न का देखना अशुभ-सूचक है, पर उसको रामराज्य होने का कारण मानना 'भ्रान्ति अलंकार' है। केकयी के कहने का तात्पर्य तो है कि मैं किसी को अपना शत्रु मित्र नहीं समझती। यह सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कथन करना 'ललित अलंकार' है।

दो०—अपने चलत न आजु लगि, अनभल काहु क कीन्ह ।
केहि अघ एकहि बार मोहि, दइय दुसह दुख दीन्ह ॥२०॥

अपने चलते आज तक मैं ने किसी की बुराई नहीं की। फिर किस पाप से विधना ने मुझको एक साथ ही यह असहनीय दुःख दिया ॥ २० ॥

चौ०—नैहर जनम भरब बरु जाई । जियत न करबि सवति सेवकाई ॥
अरि बस दैव जियावत जाही । मरन नीक तेहि जीव न चाही ॥१॥

बल्कि मैं नैहर में जा कर जन्म बिताऊँगी, पर जीते जी सौत की सेवा न करूँगी। जिसको ईश्वर शत्रु के अधीन रख कर जिलाता है, उसको जीना न चाहिए मर जाना अच्छा है ॥१॥

शत्रु के वश हो कर जीने से मरने को अच्छा समझना अर्थात् वह मृत्यु गुणमयी है जिससे जीवन का असहनीय कष्ट दूर हो 'अनुज्ञा अलंकार' है।

दीन बचन कह बहु बिधि रानी । सुनि कुबरी तिय-माया ठानी ॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना । सुख सोहाग तुम्ह कहँ दिन दूना ॥२॥

रानी केकयी बहुत तरह दीनता भरी वाणी कहती है, सुन कर कुबरी ने स्त्रियों की माया फैलायी। वह बोली—आप अपने मन में हीनता मान कर ऐसा क्यों कहती हैं? आप का सुख और सौभाग्य दिन दूना अर्थात् प्रतिदिन बढ़ता जायगा ॥ २ ॥

इस चौपाई का साधारण अर्थ के सिवा श्लेष से छिपा हुआ दूसरा अर्थ भी प्रकट होता है कि सुख और सोहाग अब तुम्हें दूसरे दिन नहीं, आज ही भर है। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

जेहि राउर अति अनभल ताका । सोइ पाइहि यह फल परिपाका ॥
जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि । भूख न बासर नींद न जामिनि ॥३॥

जिसने आप की बड़ी बुराई चाही है, वही सम्पूर्ण रूप से इसका फल पावेगी। हे स्वामिनी! जब से मैं ने यह खोटा मत सुना है, तब से न दिन में भूख लगती है और न रात में नींद आती है ॥ ३ ॥

मन्थरा अभी राजतिलक की खबर पा कर केकयी के पास आई है, दिन में भूख और रात में नींद न लगने की बात झूठ कहती है। कुछ घड़ी के सिवा दिन रात कहाँ बीता है?

पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची । भरत भुआल होहिँ यह साँची ॥
भामिनि करहु त कहउँ उपाऊ । है तुम्हरी सेवा बस राऊ ॥४॥

मैं ने गुणियों से पूछा तो उन्होंने रेखा खींच कर कहा है कि यह सत्य है, भरत राजा

होंगे । हे भामिनी ! यदि कीजिए तो मैं उपाय बतलाऊँ, क्योंकि राजा आप की सेवा के वश में हैं ॥ ४ ॥

'भुआल' पद में शब्दशक्ति से लक्ष्यक्रम व्यङ्ग है कि भरत धरती में स्थान बना कर रहेंगे । राजापुर की प्रति में 'इह तुम्हरी सेवा बस राऊ' पाठ है ।

दो०—परउँ कूप तव बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि ।
कहसि मोर दुख देखि बड़, कस न करब हित लागि ॥२१॥

केकयी ने कहा—तेरे कहने पर मैं कुएँ में गिर पड़ूँगी, पुत्र और पति को त्याग सकती हूँ । मेरा बड़ा दुःख देख कर तू भले के लिए कहेगी, उसको मैं क्यों न करूँगी? ॥ २१ ॥

तेरे वचन पर कुएँ में गिरूँगी और पुत्र पति का त्याग करूँगी, यह एक वस्तु है । मेरा बड़ा दुःख देख कर कहे क्यों न करूँगी, यह 'वक्रोक्ति अलंकार' है । स्वतः सम्भवी वस्तु से 'अलंकार' व्यङ्ग है ।

चौ०—कुबरी करि कबुली कैकेई । कपट-छुरी उर-पाहन टेई ॥
लखइ न रानि निकट दुख कैसे । चरइ हरित त्रिन बलि-पसु जैसे ॥१॥

कुबरी ने केकयी को क़बूल करनेवाली बना कर कपट रूपी छुरी को अपने हृदय रूपी पत्थर पर टेया अर्थात् शान दिया । रानी समीप के दुःख (वैधव्य और कलंक) को कैसे नहीं लखती है, जैसे बलिदान (वध) होनेवाला पशु (अपना तत्काल मरण न जान कर प्रसन्नता से) हरी घास खाता है ॥ १ ॥

सभा की प्रति में 'कुबरी करी कुबलि कैकेई' पाठ है और सटीक रामायण द्वितीय बार जो १९२२ में छपी है उसमें संशोधन कर उपर्युक्त पाठ रक्खा गया है ।

सुनत बात मृदु अन्त कठोरी । देत मनहुँ मधु माहुर घोरी ॥
कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं । स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं ॥२॥

मन्थरा की बात सुनने में कोमल है परन्तु इसका परिणाम (नतीजा) भयानक है, ऐसा मालूम होता है मानों मीठा विष घोल कर देती हो । उसने कहा—हे स्वामिनी ! आप को याद है या नहीं, जो कथा आप ने मुझ से कही है ॥ २ ॥

केकयी की कही हुई कथा का उसने स्मरण दिलाया कि जब शम्बरासुर से इन्द्र का युद्ध हो रहा था, तब राजा आप को साथ ले कर इन्द्र की सहायता करने गये थे । राजा का सारथी मारा गया और वे मूर्छित हो गये, तब आप सारथी का काम कर रथ को रणभूमि से बाहर भगा लाईं । जब राजा दशरथजी होश में आये, तब आप की अद्भुत करनी पर बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि वर माँगो । उस समय कोई वर न माँग कर दो वरदान धरोहर की भाँति आपने राजा के पास रख कर कह दिया था कि मैं आगे आवश्यक होने पर चाहे जब माँग लूँगी ।

दुइ बरदान भूप सन थाती । माँगहु आजु जुड़ावहु छाती ॥
सुतहि राज रामहिँ बनबासू । देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥३॥

अपने देनों धरोहर वाले वरदान आज राजा से माँग कर छाती ठण्डी करो। पुत्र (भरत) को राज्य और रामचन्द्र को वनवास देकर सौत के सब आनन्द को ले लो ॥ ३ ॥

सवति के पुत्र को वनवास देकर अपना दुःख उसे दे दो और अपने पुत्र को राज्य देकर सवति के हृदय की प्रसन्नता तुम ले लो 'परिवृत अलंकार' है'।

भूपति राम-सपथ जब करई । तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥
होइ अकाज आजु निसि बीते । बचन मोर प्रिय मानेहु जी ते ॥४॥

जब राजा रामचन्द्र की सौगन्ध करें तब वरदान माँगना जिससे बात न टले। (आज की रात में यदि मेरे कहे अनुसार न हुआ और) रात बीत गई तो काम बिगड़ जायगा, मेरी बात को हृदय से भलाई की मानना ॥४॥

वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर है कि आज ही की रात भर समय है, सबेरे रामचन्द्र को राजतिलक हो जायगा, तब सारा काम चौपट होगा। मेरी बात हृदय से भले की मान कर रात ही मे कार्य्य सुधारना 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है।

दो०—बड़ कुघात करि पातकिनि, कहेसि कोप-गृह जाहु ।
काज सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु ॥२२॥

पापिनी मन्थरा ने बड़ा कुदाँव रच कर कहा कि कोपभवन में जाओ और सारा काम खूब सावधानी से सुधारना, झटपट (राजा का) विश्वास न कर लेना ॥२२॥

चौ०—कुबरिहि रानि प्रान-प्रिय जानी । बार बार बड़ि बुद्धि बखानी ॥
तोहि सम हित न मोर संसारा । बहे जात कइ भइसि अधारा ॥१॥

रानी ने कुबरी को प्राण के समान प्यारी समझ कर बारम्बार उसकी बुद्धि की बड़ाई की। कहा कि तेरे समान संसार में मेरा हितू कोई नहीं है, (मैं शोक सागर में) बही जाती थी उसके लिए तू सहारा हो गई है ॥ १ ॥

केकयी का प्रस्तुत कथन तो यह है कि सवति के जाल से मेरा राज-पाट सब चला जाता था, वह सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहा कि तू बहनेवाली के लिए आधार हुई 'ललित अलंकार' है।

जौं बिधि पुरब मनोरथ काली । करउँ तोहि चखपूतरि आली ।
बहु बिधि चेरिहि आदर देई । कोपभवन गवनी कैकेई ॥२॥

हे सखी ! यदि विधाता कल मनोरथ पूरा करेंगे तो तुझे आँख की पुतली बनाऊँगी। बहुत प्रकार चेरी को आदर देकर केकयी कोपभवन में गई ॥२॥

'चखपूतरि' शब्द से बहु सम्मान दान की लक्षणा है।

विपति बीज बरषा-रितु चेरी । भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥
पाइ कपट-जल अङ्कुर जामा । बर दोउ दल दुख-फल परिनामा ॥३॥

विपत्ति रूपी बीज रोपण के लिए केकयी की कुबुद्धि भूमि रूपिणी हुई और चेरी मन्थरा वर्षा-ऋतु है । कपट रूपी जल को पाकर अँखुआ निकला, दोनों वरदान पत्ते हैं और अन्त में दुःख रूपी फल लगेगा ॥ ३ ॥

वर्षा-ऋतु में जिस प्रकार वर्षा होने से बीज-रोपण होकर अङ्कुर निकलता है उसका मन्थरा केकयी की कुबुद्धि पर साङ्गोपाङ्ग रूपक बाँधा गया है । यह साङ्ग रूपक अलंकार है ।

कोप-समाज साजि सब सोई । राज करत निज कुमति बिगोई ॥
राउर नगर कोलाहल होई । यह कुचालि कछु जान न कोई ॥४॥

कोप का सब समाज सज कर सोई है, राज्य करते हुए अपनी कुबुद्धि से सर्वनाश कर डाला । राजमहल और नगर में हल्ला हो रहा है, इस कुचाल को कोई कुछ नहीं जानता ॥४॥

प्रसङ्ग बल से 'राउर' शब्द महल का बोधक है, न कि आप का ।

दो०-प्रमुदित पुर नर नारि सब, सजहिँ सुमङ्गलचार ।
एक प्रबिसहिँ एक निर्गमहिँ, भीर भूप-दरबार ॥२३॥

नगर के सब स्त्री-पुरुष सुन्दर मङ्गलाचार सजते हैं, कोई भीतर जाता है और कोई बाहर आता है, इस तरह राजा के दरबार में भीड़ हुई है अर्थात् आने जानेवालों का ताँता लगा हुआ है ॥२३॥

सब के हृदय में राज्योत्सव की प्रसन्नता छाई हुई हर्ष संचारी भाव है ।

चौ०-बालसखा सुनि हिय हरषाहीं । मिलि दस पाँच राम पहिँ जाहीं ॥
प्रभु आदरहिँ प्रेम पहिचानी । पूछहिँ कुसल-खेम मृदु बानी ॥१॥

बाल-मित्र (राज-तिलक का समाचार) सुन कर हृदय में प्रसन्न होते हैं और दस पाँच मिल कर रामचन्द्रजी के पास जाते हैं । उनके प्रेम को पहचान कर प्रभु रामचन्द्रजी आदर करते हैं और कोमल वाणी से कुशल-क्षेम पूछते हैं ॥ १ ॥

फिरहिँ भवन प्रिय आयसु पाई । करत परसपर राम बड़ाई ॥
को रघुबीर सरिस संसारा । सील सनेह निबाहनिहारा ॥२॥

प्यारे रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर घर को लौटते हैं और आपस में रामचन्द्रजी की बड़ाई करते हैं कि रघुनाथजी के समान संसार में शील और स्नेह का निबाहनेवाला कौन है ? (कोई नहीं है) ॥२॥

जेहि जेहि जोनि करम-बस भ्रमहीं । तहँ तहँ ईस देहु यह हमहीं ॥
सेवक हम स्वामी सिय-नाहू । होउ नात एहि ओर निबाहू ॥३॥

हे ईश्वर ! हम जिस जिस योनि में कर्म के वश भ्रमते फिरें, वहाँ वहाँ यही दीजिये कि हम सेवक हों और सीतानाथ स्वामी हों, बस इसी ओर नाता पूरा हो ॥३॥

स्त्री-पुरुष के मन में इस बात की प्रबल उत्कण्ठा होना कि रामचन्द्रजी से हमारा स्वामी-सेवक का नाता जन्म जन्मान्तर बना रहे । यह रतिभाव की अभिलाष दशा है ।

अस अभिलाष नगर सब काहू । कैकय-सुता हृदय अति दाहू ॥
को न कुसङ्गति पाइ नसाई । रहइ न नीच-मते चतुराई ॥४॥

नगर के सब लोगों की ऐसी अभिलाषा है; किन्तु केकयी के हृदय में बड़ी जलन है। कुसङ्ग पाकर कौन नहीं नष्ट होता? नीच की सलाह से चतुराई नहीं रह जाती ॥४॥

दो०-साँझ समय सानन्द नृप, गयउ कैकई गेह ।
गवन निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह ॥२४॥

सन्ध्या समय राजा आनन्द के साथ केकयी के मन्दिर में गये । ऐसा मालूम होता है मानों निठुरता के समीप स्नेह शरीर धारण कर के जाता हो ॥२४॥

राजा और स्नेह तथा केकयी और निठुरता परस्पर उपमेय उपमान हैं निष्ठुरता और स्नेह शरीरधारी नहीं होते केवल कविजी की कल्पना मात्र अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है ।

चौ०-कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ । भय-बस अगहुँड़ परइ न पाऊ ॥
सुरपति बसइ बाँह-बल जाके । नरपति सकल रहहिँ रुख ताके ॥१॥

कोप-भवन का नाम सुन कर राजा सहम गये, डर के मारे उनका पाँव आगे को नहीं पड़ता है। जिनकी भुजाओं के बल पर इन्द्र बसते हैं और सम्पूर्ण राजा लोग जिनका रुख देखते रहते हैं ॥१॥

सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई । देखहु काम प्रताप बड़ाई ॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन-सर मारे ॥२॥

वे स्त्री का कुपित होना सुन कर सूख गये, काम के प्रताप की बड़ाई देखिये । जो त्रिशूल वज्र और तलवार के सहनेवाले हैं, उन्हें कामदेव ने फूल के बाण मारकर विकल कर दिया ॥२॥

इन्द्र जिनके बाहुबल से बसते हैं और सब राजा जिनका रुख ताकते हैं, इस विशेष बात के समर्थन में सामान्य बात कहते हैं कि काम की महिमा देखो, वे स्त्री का क्रोध सुनकर सहम गये पर इससे भी सन्तुष्ट न होकर फिर विशेष सिद्धान्त से समर्थन करना कि जो शूल, वज्र और तलवार की चोट सह लेते हैं उनको फूल के बाण मार कर कामदेव ने घायल कर दिया 'विकस्वर अलंकार' है ।

सभय नरेस प्रिया पहिँ गयऊ । देखि दसा दुख दारुन भयऊ ॥
भूमि-सयन पट मोट पुराना । दिये डारि तन भूषन नाना ॥३॥

राजा डरते हुए प्रिया केकयी के पास गये, उसकी दशा देख कर उन्हें घोर दुःख हुआ । भूमि पर सोई है और पुराना मोटा कपड़ा पहिने हुए शरीर के अनेक आभूषणों को निकाल कर फेंक दिया है ॥३॥

कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी । अन-अहिवात सूच जनु भावी ॥
जाइ निकट नृप कह मृदु बानी । प्रान-प्रिया केहि हेतु रिसानी ॥४॥

उस कुबुद्धि को कुवेषता (बुरा रूप धरना) कैसी सोह रही है मानों होनहार बिधवापन की सूचना देता हो। समीप में जा कर राजा कोमल वाणी से बोले कि हे प्राणवल्लभे! तू किस कारण कुपित हुई है ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

केहि हेतु रानि रिसानि परसत, पानि पतिहि निवारई ।
मानहुँ सरोष भुअङ्ग-भामिनि, बिषम भाँति निहारई ॥
दोउ बासना-रसना दसन बर, मरम ठाहर देखई ।
तुलसी नृपति भवितब्यता-बस, काम-कौतुक लेखई ॥१॥

हे रानी! किस लिये क्रोधित हो, (यह कह कर राजा ने उसे हाथ से स्पर्श किया, पर वह) पति के हाथ को हटा कर उनकी ओर देखने लगी। ऐसा मालूम होता है मानों क्रोध से भरी साँपिन टेढ़ी निगाह से निहारती हो। दोनों बरदान माँगने की इच्छा दो जीभ हैं और दोनों वर दाँत हैं और काटने के लिये मर्म-स्थान देख रही है। तुलसीदास जी कहते हैं कि राजा होनहार के अधीन हैं और काम-विनोद लिखना निमित्त मात्र है ॥ १ ॥

केकयी और सरोष नागिन, वर माँगने की इच्छा और जीभ, वरदान और दाँत परस्पर उपमेय उपमान हैं। क्रुद्ध हुई साँपिन भीषण-दृष्टि से देखती ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। असली कारण होनहार है, पर उसे न वर्णन कर राजा को काम के अधीन कहा गया जो निमित्त मात्र है। यह 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

सो०—बार बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक-बचनि ।
कारन मोहि सुनाउ, गज-गामिनि निज कोप कर ॥२५॥

राजा बार बार कहते हैं कि हे सुमुखी! हे सुनयनी! हे कोकिल बयनी! हे गजगामिनी! अपने क्रोध का कारण मुझे सुना ॥२५॥

चौ०—अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा । केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ॥
कहु केहि रङ्कहि करउँ नरेसू । कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू ॥१॥

हे प्रिये! किसने तेरा अनिष्ट किया, किसको दूसरा सिर हुआ है और किसको यमराज लेना चाहते हैं? कह तो सही, किस दरिद्र को राजा बनाऊँ और किस राजा को देश से बाहर निकाल दूँ ॥१॥

सकउँ तोर अरि अमरउ मारी । काह कीट बपुरे नर नारी ॥
जानसि मोर सुभाव बरोरू । मन तव आनन-चन्द चकोरू ॥२॥

यदि देवता भी तेरा शत्रु हो तो मैं उसे मार सकता हूँ फिर बेचारे कीड़े की तरह स्त्री-पुरुष क्या चीज हैं? हे सुन्दर जाँघवाली! तू मेरे स्वभाव को जानती है कि तेरे मुख रूपी चन्द्रमा का मेरा मन चकोर है ॥२॥

जब देवता को मार सकता हूँ तब कीट के समान बेचारे स्त्री-पुरुष क्या चीज हैं अर्थात् वे मरे मराये हैं 'काव्यार्थापत्ति अलङ्कार' है ।

प्रिया प्रान-सुत-सरबस मोरे । परिजन-प्रजा-सकल बस तोरे ॥
जौं कछु कहउँ कपट करि तोही । भामिनि राम सपथ सत मोही ॥३॥

हे प्रिये! मेरे प्राण, पुत्र, सर्वस्व कुटुम्बी और सम्पूर्ण प्रजाजन तेरे अधीन हैं अर्थात् ये सब मेरे अधीन हैं और मैं तेरे अधीन हूँ। हे भामिनी! यदि मैं तुझ से कुछ कपट करके कहता होऊँ तो मुझे सौ बार रामचन्द्र की सौगन्ध है ॥३॥

राजापुर की प्रति में चारों तुकान्त (मोरें, तोरें, तोहीं, मोहीं) सानुनासिक हैं ।

बिहँसि माँगु मनभावति बाता । भूषन सजहि मनोहर गाता ॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू । बेगि प्रिया परिहरहि कुबेखू ॥४॥

मनचाही बात को हँस कर माँगो और सुन्दर अङ्गों में आभूषण पहिनो । हे प्रिये! समय कुसमय देख कर मन में समझो! तुरन्त बुरे वेश को त्याग दो ॥४॥

राजा को कहना तो है रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की बात कि ऐसे मङ्गल के समय में अमङ्गल वेश न करना चाहिये । पर इस बात को न कह कर यह कहना कि घरी कुघरी देख कर जी में समझो और कुवेश त्याग दो 'ललित अलङ्कार' है ।

दो०—यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मति-मन्द ।
भूषन सजति बिलोकि मृग, मनहुँ किरातिनि फन्द ॥२६॥

यह सुन कर और बड़े महत्व का सौगन्द विचार कर खोटी बुद्धिवाली केकयी हँस कर उठी । गहना पहनने लगी, ऐसा मालूम होता है मानों मृग को देख कर भीलनी जाल सजती हो ॥२६॥

राजा और मृग, केकयी और किरातिन, ऊपर हँसना पेट में कपट और फन्दा परस्पर उपमेय उपमान हैं। मृग को देख कर उसको फँसाने के लिये भीलनी जाल फैलाती ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

चौ०—पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी । प्रेम पुलकि मृदु मञ्जुल बानी ॥
भामिनि भयउ तोर मन भावा । घर घर नगर अनन्द-बधावा ॥१॥

फिर राजा मन में उसको सुन्दर हृदयवाली जान कर प्रेम से पुलकित होकर मनोहर वाणी से कहते हैं । हे भामिनी! तेरे मन में सुहानेवाली बात हुई, नगर में घर घर आनन्द की दुन्दुभी बज रही है ॥१॥

इस कथन से राजा की निश्छलता व्यञ्जित होती है ।

रामहिँ देउँ कालि जुबराजू । सजहि सुलोचनि मङ्गल-साजू ॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू । जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ॥२॥

हे सुन्दर नेत्रवाली ! मैं कल रामचन्द्र को युवराज-पद दूँगा, तुम मङ्गल साज अङ्गों में सजो । यह सुन कर केकयी का कठिन हृदय काँप उठा, ऐसा मालूम होता है मानों पका हुआ बरतोर फोड़ा छू गया हो ॥२॥

पका हुआ फोड़ा दब जाने पर असह्य वेदना होती ही है । यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । बरतोर फोड़ा होता तो छोटा है, पर उसमें पीड़ा और जलन अधिक होती है और छूने में बड़ा कठोर मालूम पड़ता है ।

ऐसिउ पीर बिहँसि तेहिँ गोई । चोर-नारि जिमि प्रगटि न रोई ॥
लखी न भूप कपट चतुराई । कोटि कुटिल-मनि गुरू पढ़ाई ॥३॥

ऐसी (भयङ्कर) पीड़ा को भी उसने हँस कर इस तरह छिपा लिया, जैसे चोर स्त्री प्रकट में नहीं रोती । राजा इस छल-चातुरी को न लख पाये, करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि गुरु (मन्थरा) ने पढ़ाया है ॥३॥

केकयी ने ऐसी भीषण पीड़ा को भी हँस कर छिपा लिया, इस साधारण बात की विशेष से समता दिखाना कि जैसे चोर-स्त्री अर्थात् जो पति और कुटुम्बियों से छिप कर पराये पुरुष की प्रीति में संलग्न है और उसका जार मृतक हो गया, पर वह लोकलज्जा के भय से प्रकट में नहीं रोती 'उदाहरण अलंकार' है । उत्तरार्द्ध में राजा ने केकयी की कपट-चातुरी को नहीं लखा, इसकी पुष्टि हेतु-सूचक बात कह कर करते हैं कि राजा कैसे लख पाते, जब कि करोड़ों दुष्टों की मणि मन्थरा गुरु ने इसे छल का पाठ पढ़ा रक्खा है । यह 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है । राजापुर की प्रति में 'लखहि न भूप कपट चतुराई' पाठ है ।

जद्यपि नीति-निपुन नर-नाहू । नारि-चरित जलनिधि अवगाहू ॥
कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी । बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी ॥४॥

यद्यपि नरनाथ दशरथजी नीति में दक्ष हैं, परन्तु त्रिया-चरित्र रूपी समुद्र बड़ा अथाह है । फिर केकयी कपट का स्नेह बढ़ा कर हँसती हुई तिरछी चितवन से निहार मुँह मोड़ (विलास-हाव दिखा) कर बोली ॥४॥

पूर्वार्द्ध में राजा को नीति-कुशल कह कर त्रियाचरित्र को अगाध समुद्र का रूपण कर के थाह लगाने में असमर्थ ठहराना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

दो०-माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु ।
देन कहेहु बरदान दुइ, तेउ पावत सन्देहु ॥२७॥

हे प्रिय ! आप माँग माँग तो कहते हैं, पर कभी कुछ न देते हैं न लेते हैं । पहले दो वरदान आपने देने को कहा है, उन्हीं के मिलने में सन्देह है (तब नया वर क्या मिलेगा ?) ॥२७॥

चौ०—जानेउँ मरम राउ हँसि कहई । तुम्हहिँ कोहाब परम प्रिय अहई ॥
थाती राखि न माँगेहु काऊ । बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ ॥१॥

राजा हँस कर बोले कि मैं तुम्हारी अप्रसन्नता का भेद समझ गया, तुमको कोहाना अत्यन्त प्यारा है । तुमने धरोहर रख कर कभी माँगा नहीं, मेरा भूलने का स्वभाव है, इस से भूल गया ॥१॥

झूठेहु हमहिँ दोष जनि देहू । दुइ के चारि माँगि मकु लेहू ॥
रघुकुल-रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु बरु बचन न जाई ॥२॥

झूठ ही हमें दोष मत दो, दो के बदले बल्कि चार (वरदान) माग लो । रघुवंशियों की सदा से यह रीति चली आती है कि प्राण जाय पर बात न जाने पावे ॥२॥

सभा की प्रति में 'माँगि किन लेहू' पाठ है ।

नहिँ असत्य सम पातक-पुञ्जा । गिरि सम होहिँ कि कोटिक गुञ्जा ॥
सत्य-मूल सब सुकृत सुहाये । बेद पुरान बिदित मनु गाये ॥३॥

झूठ के बरावर कोई पाप की राशि नहीं है, क्या करोड़ों घुँघची पहाड़ के समान हो सकती हैं ? (कभी नहीं) । सब अच्छे पुण्यों की जड़ सत्य ही है, वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है और मनुजी ने यही कहा है ॥ ३ ॥

असत्य के बराबर दूसरा बड़ा पाप नहीं यह उपमेय वाक्य है । करोड़ों घुँघची पर्वत के तुल्य नहीं हो सकतीं, यह उपमान वाक्य है । दोनों वाक्यों में बिना वाचक पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना अर्थात् सब पाप घुँघची हैं और असत्य पर्वत है, वे करोड़ों पाप मिलकर असत्य की बराबरी में नहीं तुल सकते 'दृष्टान्त अलंकार' है ।

तेहि पर राम-सपथ करि आई । सुकृत-सनेह-अवधि रघुराई ॥
बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली । कुमत-कुबिहँग कुलह जनु खोली ॥४॥

तिस पर मैं रामचन्द्र की शपथ कर चुका हूँ जो रघुनाथ मेरे पुण्य और स्नेह की सीमा हैं । खूब बात पक्की करके तब वह दुष्ट बुद्धि वाली केकयी हँस कर बोली । ऐसा मालूम होता है मानों कुमत रूपी बुरे पक्षी (बाज) की कुलही खोल दी हो ॥४॥

केकयी का कुमत और बाज, उसकी बोली मुख से बाहर होना और कुलही, राजा का आनन्द और विहङ्ग परस्पर उपमेय उपमान हैं । शिकारी लोग बाज पक्षी की आँखों पर वस्त्र या चमड़े की टोपी लगाये रहते हैं, उस टोपी को कुलही कहते हैं । जब किसी पक्षी पर उसे छोड़ना चाहता है तब टोपी खोल कर बाज को उस ओर उड़ा देता है । बाज एक ही झपट्टे में दिखाये हुए पक्षी को पकड़ लाता है । ऐसा शिकारी करते ही हैं । यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

दो०-भूप मनोरथ सुभग बन, सुख सुबिहङ्ग समाज।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति, बचन भयङ्कर बाज ॥२८॥

राजा का मनोरथ सुन्दर वन है और सुख मनोहर पक्षियों का समुदाय है। केकयी भिल्लिनी जैसी है, वह वचन रूपी भयङ्कर बाज छोड़ना चाहती है ॥२८॥

चौ०-सुनहु प्रान-प्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका ॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥१॥

हे प्राणप्यारे! सुनिए, मेरे मन में सुहानेवाला प्रथम वर दीजिए कि राजतिलक भरत को हो। हे नाथ! दूसरा वर मैं हाथ जोड़ कर माँगती हूँ मेरी इच्छा पूरी कीजिये ॥१॥

तापस-बेष बिसेष उदासी। चौदह बरिस राम बन-बासी ॥
सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससि-कर छुअत बिकल जिमि कोकू ॥२॥

तपस्वी के वेश में विशेष कर उदासीन भाव से चौदह वर्ष तक रामचन्द्र वन में निवास करें। इन कोमल वचनों को सुन कर राजा का हृदय ऐसा शोकान्वित हुआ, जैसे चन्द्रमा की किरणों के छू जाने से चकवा पक्षी विकल होता है ॥२॥

प्रिय पुत्र का वियोग सुन कर राजा के हृदय में जो दुःख हुआ, वह 'शोक स्थायीभाव' है। इस समय का दुःख अल्प है, क्योंकि अभी राजा समझते हैं कि कदाचित रानी ने हँसी की हो। पूरा निश्चय होने पर यह शोक पूर्णावस्था को पहुँचेगा। चौदह वर्ष वन-बास का वर माँगने में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है। (१) रावण की आयु चौदह वर्ष बाकी है, इसलिए भावी की प्रेरणा से चौदह वर्ष का वर माँगा। (२) चौदह दिन से तिलक की तैयारी हो रही है पर केकयी ने आज सुना, इससे चौदह दिन के बदले चौदह वर्ष का वन-बास माँगा। इसके सिवा और भी गूढ़ाशय कहे जाते हैं; किन्तु उनमें विशेष चमत्कार नहीं है।

गयउ सहमि नहिँ कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥३॥

राजा सिकुड़ गये उनसे कुछ कहते नहीं बनता है, ऐसा मालूम होता है मानों बटेर के झुण्ड पर बाज झपटा हो। नरनाथ दशरथजी बिलकुल द्युति-हीन हो गये, ऐसा जान पड़ता है मानों ताड़ के पेड़ को बिजली ने मारा हो ॥३॥

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ॥
मोर मनोरथ सुरतरु-फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥४॥

राजा ने माथे पर हाथ रख कर दोनों आँखों को ढँक लिया, ऐसा मालूम होता है मानों सोच ही शरीर धारण कर के सोचता हो। वे मन में झखते हैं कि हाय—मेरा मनोरथ रूपी कल्पवृक्ष फूला; परन्तु फलते समय जैसे हथिनी ने जड़ से उखाड़ कर नष्ट कर डाला ॥४॥

अवध उजारि कीन्हि कैकेई । दीन्हेसि अचल बिपति कै नेई ॥५॥

कैकई ने अयोध्या को उजाड़ दिया और इसने अचल विपत्ति की नींव दी ॥५॥

दो०—कवने अवसर का भयउ, गयउँ नारि बिस्वास ।

जोग-सिद्धि-फल समय जिमि, जतिहि अबिद्या नास ॥२९॥

किस समय में और क्या हो गया ! मैं स्त्री का विश्वास करने से इस बुरी दशा को पहुँचा कि जैसे योग की सिद्धि का फल पाने के समय संन्यासी को अविद्या नष्ट कर देती है ॥ २६ ॥

सभा की प्रति में 'गयउ नारि विश्वास' पाठ है और उसी के अनुसार अर्थ भी किया गया है । परन्तु जब गोस्वामीजी की हस्तलिखित प्रति में 'गयउँ' पाठ है, तब प्रधानता अन्य को नहीं मिल सकती ।

चौ०—एहि बिधि राउ मनहि मन झाँखा । देखि कुभाँति कुमति मन माँखा ॥

भरत कि राउर पूत न होहीं । आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं ॥१॥

इस तरह राजा मन ही मन बहुत दुःखी हो कर पछताते हैं, यह देख कर वह दुष्ट-बुद्धि बेतरह हृदय में क्रोधित होकर बोली । क्या भरत आप के पुत्र नहीं हैं ? उन्हें मोल लाये हो, या कि मुझे खरीद कर ले आये हो ? ॥ १ ॥

'मोल और बेसाहि' शब्द पर्य्यायवाची हैं, इससे पुनरुक्ति का आभास है, परन्तु विचारने से 'मोल' भरत के लिए और 'बेसाहना' अपने लिए कहा; 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है । काकु से यह प्रकट होना कि भरत भी तुम्हारे पुत्र हैं और मैं भी पटरानी हूँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे । काहे न बोलहु बचन सँभारे ॥

देहु उतर अरु करहु कि नाहीं । सत्य सन्ध तुम्ह रघुकुल माहीं ॥२॥

जो सुन कर तुम्हें बाण ऐसा लगा है, सँभाल कर बात क्यों नहीं बोलते हो । उत्तर दो और या कि नहीं करो, तुम रघुवंशियों में सच्ची प्रतिज्ञावाले हो ॥ २ ॥

देन कहेहु अब जनि बरु देहू । तजहु सत्य जग अपजस लेहू ॥

सत्य सराहि कहेहु बर देना । जानेहु लेइहि माँगि चबेना ॥३॥

आप ही ने देने को कहा, चाहे अब मत दो, सत्य को त्याग कर संसार में अपकीर्त्ति लेओ । सत्य की सराहना कर के वर देने को कह चुके, क्या जानते थे कि चबेना माँग कर लेगी ? ॥ ३ ॥

सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा । तनु धन तजेउ बचन पन राखा ॥

अति कटु-बचन कहति कैकेई । मानहुँ लोन जरे पर देई ॥४॥

राजा शिवि, दधीचि और बलि ने जो कुछ कहा शरीर तथा धन त्याग कर अपने वचन की प्रतिज्ञा को निबाहा । केकयी अत्यन्त कड़वी बातें कहती है, ऐसा मालूम होता है मानों जले घाव पर नमक डालती हो ॥ ४ ॥

शिवि—राजा बड़े धर्मात्मा थे। एक बार वे यज्ञशाला में बैठे यज्ञ करते थे। उनकी परीक्षा लेने के लिए इन्द्र बाज बने और अग्नि को कबूतर बनाया। कृत्रिम बाज कबूतर को खदेड़ता हुआ यज्ञशाला में पहुँचा। वह कबूतर राजा की गोद में जा छिपा और बाज उसे पाने की प्रार्थना करने लगा। राजा ने शरणागत पक्षी को लौटाना स्वीकार नहीं किया। बाज ने कबूतर के बदले में राजा के शरीर का मांस माँगा। राजा इस पर राजी हो गये और शरीर काट काट कर उसे मांस दिया। जब कई बार के देने पर कबूतर के बराबर मांस नहीं तुला, तब स्वयम् तराजू पर बैठ गये और बाज को तृप्त किया।

दधीचि—वृत्रासुर से लड़ते लड़ते इन्द्र थक गये पर वह मरा नहीं, तब ब्रह्मा के कहने से इन्द्र ने दधीचि के पास जा कर उनकी हड्डी माँगी। उन्होंने प्रसन्नता से अपना शरीर गौ से चटवा कर हड्डी दे दी और प्राण त्याग दिया।

बलि—राजा बड़े दानी थे वे महायज्ञ करते थे। इन्द्र की भलाई के लिए विष्णु भगवान् वामन रूप होकर गये और बलि से तीन परग पृथ्वी माँगी। गुरु के मना करने पर बलि ने नहीं ध्यान दिया। प्रसन्नता से सङ्कल्प कर दिया। जब त्रिविक्रम रूप से भगवान् ने दो ही परग में तीनों लोक नाप लिया, तब तीसरे परग के लिए बलि ने पीठ नपा कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

दो०—धरम-धुरन्धर धीर धरि, नयन उघारे राय।
सिर धुनि लीन्हि उसास असि,—मारेसि मोहि कुठाय ॥३०॥

धर्म की धुरा को धारण करनेवाले राजा दशरथजी ने धीरज धर कर नेत्र खोला और सिर पीट कर लम्बी साँस ली, मन में कहा कि इसने मुझे कुजगह में तलवार मारी ॥ ३० ॥

चौ०—आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई ॥१॥

राजा ने सामने देखा कि भारी क्रोध से जलती हुई केकयी बैठी है, वह ऐसी मालूम होती है मानों क्रोध रूपी तलवार म्यान से बाहर निकली हो। जिस (तलवार) की कुबुद्धि मुठिया है, निष्ठुरता धार है और मन्थरा रूपी सिकलीगर ने बना कर सान धर दी है ॥ १ ॥

क्रोध तलवार नहीं है और तलवार का म्यान से निकलना सिद्ध आधार है। इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा ॥
बोलेउ राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती ॥२॥

उस भीषण कठिन तलवार को देख कर राजा ने समझ लिया कि यह या तो मेरा सत्य लेगी या कि जीवन अर्थात् अब दो में से एक को इसने लिया। राजा कड़ी छाती कर के नम्रता के साथ उसे सुहानेवाली वाणी बोले ॥ २ ॥

या तो सत्य लेगी या कि प्राण लेगी 'विकल्प अलंकार' है।

प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥
मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि सङ्कर साखी॥३॥

हे प्रिये! तू मेरा भय, विश्वास और प्रीति नष्ट कर के बुरी तरह बातें काहे को कहती है? मैं शिवजी को साक्षी देकर सत्य कहता हूँ कि भरत और रामचन्द्र दोनों मेरी आँख हैं॥३॥

अवसि दूत मैं पठइब प्राता। अइहहिँ बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई॥४॥

अवश्य मैं प्रातःकाल दूत भेजूँगा और दोनों भाई सुनते ही तुरन्त चले आवेंगे। अच्छी साइत शोध कर सब सामान सजवा डङ्का बजा कर (प्रसन्नता-पूर्वक) भरत को राजपद दूँगा॥४॥

दो०—लोभ न रामहिँ राज कर, बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप-नीति॥३१॥

रामचन्द्र को राज्य का लोभ नहीं है, उनकी भरत पर बड़ी प्रीति है। मैं बड़े छोटे का मन में विचार कर के राजनीति करता था॥३१॥

रामचन्द्र का भरत पर बड़ा प्रेम है, वे भरत का राज-तिलक सुन कर प्रसन्न होंगे। यह वाच्यविशेष व्यङ्ग है। केकयी की प्रसन्नता के लिए राजा का यह कहना कि भरत के राज्याभिषेक होने में रामचन्द्र बाधा न डालेंगे, वे सुन कर प्रसन्न होंगे। यह भाव चपलता और आवेग सञ्चारी है कि किसी प्रकार रामचन्द्र की वनयात्रा वर्जित हो।

चौ०—राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राम-मातु कछु कहेउ न काऊ॥
मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे॥१॥

रामचन्द्र की सौगन्द करके मैं स्वभाव से सच कहता हूँ कि रामचन्द्र की माता ने कभी कुछ नहीं कहा। हाँ—मैंने बिना तुम से पूछे सब किया, इसी से मनोरथ खाली पड़ गया॥१॥

रिस परिहरु अब मङ्गल साजू। कछु दिन गये भरत जुवराजू॥
एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमञ्जस माँगा॥२॥

क्रोध छोड़ कर अब मङ्गल सजो, कुछ दिन बीतने पर भरत युवराज होंगे। एक ही बात से मुझे दुःख लगा है जो दूसरा वर अण्डस का तुमने माँगा है॥२॥

अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचेहु साँचा॥
कहु तजि रोष राम अपराधू। सब कोउ कहइ राम सुठि साधू॥३॥

अब भी मेरा हृदय उसकी आँच से जलता है, क्या तुमने क्रोध से हँसी की है या कि सचमुच सत्य है? क्रोध छोड़ कर रामचन्द्र का अपराध कहो, सब कोई कहते हैं कि रामचन्द्र निरे साधु (सज्जन प्रकृति के) हैं॥३॥

तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ सन्देहू॥
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥४॥

तू भी सराहती और स्नेह करती थी, अब यह सुन कर मुझे सन्देह हुआ है कि जिनका स्वभाव शत्रु के भी अनुकूल रहता है, वे माता के विरुद्ध कार्य्य कैसे करेंगे? ॥४॥

केकयी के क्रोध को शान्त करने के लिए राजा के मन में अच्छी युक्तियों की उपज 'मति सञ्चारीभाव' है।

दो०—प्रिया हास रिस परिहरहि, माँगु बिचारि बिबेक।
जेहि देखउँ अब नयन भरि, भरत राज-अभिषेक॥३२॥

हे प्रिये! यह क्रोध की हँसी त्याग दो और ज्ञान से विचार कर माँगो, जिसमें अब आँख भर मैं भरत का राज्याभिषेक देखूँ॥३२॥

चौ०—जिअइ मीन बरु बारिबिहीना। मनिबिनु फनिक जिअइ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलमनमाहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥१॥

मछली चाहे बिना जल के जीवित रहे और साँप बिना मणि के दुखी-दीन होकर जीता रह जाय! मैं मन में कपट लेकर नहीं स्वभाव ही से कहता हूँ कि मेरा जीना बिना रामचन्द्र के न होगा॥१॥

समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवन राम-दरस आधीना॥
सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई॥२॥

हे चतुर प्रिये! मन में समझ कर देख, मेरा जीवन रामचन्द्र के दर्शन के अधीन है। राजा की कोमल वाणी सुन कर वह कुबुद्धी अत्यन्त जल रही है, ऐसा मालूम होता है मानों आग में घी की आहुति पड़ती हो॥२॥

राजा का कोमल वचन कारण और केकयी का क्रोध बढ़ना कार्य्य हैं। कारण का रूप और तथा कार्य्य का और 'द्वितीय विषम अलंकार' है।

कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपञ्च सोहाहीं॥३॥

कहती है कि करोड़ों उपाय क्यों न करो, यहाँ आप की छलबाजी न लगेगी। मेरा माँगा हुआ दो या कि नहीं करके अपयश लो, मुझे बहुत प्रपञ्च अच्छा नहीं लगता॥३॥

या तो वर देकर अपना वचन सत्य करो या नहीं करके कलङ्की और असत्यवादी बनो 'बिकल्प अलंकार' है।

राम-साधु तुम्ह साधु सयाने। राम-मातु भलि सब पहिचाने॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहि देउँ करिसाका॥४॥

रामचन्द्र साधु हैं, तुम चतुर साधु हो और राम की माता अच्छी हैं, मैं सब को पहचानती हूँ। कौशल्या ने मेरी जैसी भलाई देखी है, मैं वैसा ही फल उन्हें निशान कर के दूँगी॥४॥

राम साधु, तुम सयाने साधु, कौशल्या भली हैं। बार बार पद और अर्थ की आवृत्ति से 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। साधु कहने पर भी व्यङ्गोक्ति से निन्दा प्रकट होना 'व्याजनिन्दा अलंकार' है।

दो०—होत प्रात मुनि बेष धरि, जौँ न राम बन जाहिँ।
मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माहिँ ॥३३॥

सवेरा होते ही मुनिवेश धारण करके यदि रामचन्द्र वन को न जायँगे, तो हे राजन्! मन में निश्चय समझिये कि मेरी मृत्यु और आप को कलङ्क होगा ॥३३॥

चौ०—अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरङ्गिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥१॥

ऐसा कह कर वह दुष्टा उठ कर खड़ी हो गई, ऐसा मालूम होता है मानों क्रोध की नदी बढ़ी हो। वह नदी पाप रूपी पहाड़ से प्रकट हुई और क्रोध रूपी जल से भरी है जो देखी नहीं जाती (बड़ी भयावनी) है ॥१॥

दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन-प्रचारा॥
ढाहत भूप-रूप-तरु मूला। चली बिपति-बारिधि अनुकूला॥२॥

दोनों वर किनारे हैं और कठिन हठ धारा है, कुबरी के उत्तेजक वचन भँवर हैं। राजा का रूप वृक्ष है, उसे जड़ से ढहाते हुए विपत्ति रूपी समुद्र की ओर चली है ॥ २ ॥

लखी नरेस बात सब साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाँची॥
गहि पद बिनय कीन्हि बैठारी। जनि दिनकर-कुल होसि कुठारी॥३॥

राजा ने देखा कि बात सब सच्ची है, स्त्री के बहाने मेरी मौत ही सिर पर नाच रही है। पाँव पकड़ कर बिनती करके बैठाया और कहा—सूर्य्यकुल रूपी वृक्ष के लिए कुल्हाड़ी मत हो ॥३॥

राजा का यह कहना कि स्त्री के बहाने मेरी मौत सिर पर नाचती है 'कैतवापह्नुति अलंकार' है। राजपुर की प्रति में 'लखी नरेस बात फुरि सांची' पाठ है। उसका अर्थ होगा कि—"राजा ने देखा कि बात सचमुच ठीक है"। परन्तु गुटका और सभा की प्रति में उपर्युक्त पाठ है, जिससे यह सम्भव जान पड़ता है कि काशी की प्रति में गोसांईजी ने इस पाठ का संशोधन किया है। क्योंकि दो पर्य्यायवाची शब्दों से पुनरुक्ति दोष आता है।

माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम-बिरह जनि मारसि मोही॥
राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती॥४॥

मेरा मस्तक माँग तो अभी मैं तुझे दे दूँ, पर रामचन्द्र के वियोग से मुझे मत मार। जिस किसी प्रकार से रामचन्द्र को रख ले, नहीं तो जन्म भर छाती जलेगी ॥ ४ ॥

दो०—देखी ब्याधि असाधि नृप, परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन, राम राम रघुनाथ ॥३४॥

राजा ने देखा कि रोग असाध्य है (यह छूट नहीं सकता, तब) अत्यन्त दीन वाणी से हा राम, हा राम, हाय रघुनाथ कहते हुए सिर पीट कर धरती पर गिर पड़े॥ ३४॥

राजा का मन रामचन्द्रजी के विरह की चिन्ता से विकल हो गया 'मोह सञ्चारी-भाव' है।

चौ०—ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥
कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी ॥१॥

व्याकुलता से राजा का सब अङ्ग ढीला पड़ गया, ऐसा मालूम होता है मानों हथिनी ने कल्पवृक्ष का नाश कर दिया हो। उनका गला सूख गया मुँह से बात नहीं निकलती है, ऐसे जान पड़ते हैं मानों बिना पानी के पहिना मछली दुखी हो॥ १॥

पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महँ माहुर देई॥
जौं अन्तहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥२॥

फिर कैकयी कठिन कड़वी बातें कहने लगी, ऐसा मालूम होता है मानों घाव में विष दे रही हो। यदि तुम्हारे हृदय में ऐसा ही करतब था तो माँगो माँगो किस बल से तुमने कहा है?॥ २॥

राजा और घाव, कैकयी की कड़ी बात और ज़हर परस्पर उपमेय उपमान हैं। घाव में विष भरने से भयङ्कर कष्ट होता ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। अहङ्कार पूर्वक पति का अनादर करना 'विव्वोक हाव' है।

दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम-कुसल रौताई ॥३॥

हे राजा! क्या एक साथ ठठा कर हँसना और गाल फुलाना दोनों हो सकता है? दानी कहलाना और कञ्जूसी भी करना! क्या शूरता में कुशल-क्षेम की चाह होती है?॥ ३॥

काकु से वाच्यसिद्ध्याङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि तुमने सवति के मत से मुझे छिपा कर रामचन्द्र को राजतिलक करना चाहा था। मुझ को और कौशल्या को बराबर प्रसन्न रखना चाहते हो तो यह न होगा। सत्यवादी की डींग हाँक कर अब किस मुख से रामचन्द्र को घर रखने के लिए कहते हो! बड़े शोक की बात है।

छाड़हु बचन कि धीरज धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥
तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसन्ध कहँ तृन सम बरनी ॥४॥

या तो बात छोड़ दो या धीरज धरो, स्त्रियों की तरह करुणा मत करो। शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, सम्पत्ति और धरती सत्यवादी पुरुषों के लिए तिनके के समान कही हैं॥ ४॥

या तो वचन छोड़ो या धैर्य्य धारण करो 'विकल्प अलंकार' है।

दो०-मरम बचन सुनि राउ कह, कहु कछु दोष न तोर ।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर ॥३५॥

इस तरह भेद भरी कठोर बातें सुन कर राजा कहते हैं कि चाहे जो कह, इसमें तेरा कुछ दोष नहीं है। जैसे तुझ को पिशाच लगा हो, वही मेरा काल होकर कहलाता है ॥ ३५ ॥

केकयी का सच्चा धर्म (कटु अलपना) इसलिए निषेध किया कि वह धर्म अपने काल रूपी पिशाच में आरोपित करना अभीष्ट है। यह 'पर्यस्तापहुति अलंकार' है।

चौ०-चहत न भरत भूपतहि भोरे । बिधि-बस कुमति बसी उर तोरे ।
सो सब मोर पाप-परिनामू । भयउ कुठाहर जेहि बिधि बामू ॥१॥

भरत तो भूल कर भी राज-पद को नहीं चाहते, तो भी तेरे मन में कुबुद्धि होनहार के वश टिक गई है। वह सब मेरे पाप का फल है जिस से कुसमय में विधाता टेढ़े हुए हैं ॥१॥

सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई । सब गुन धाम राम प्रभुताई ॥
करिहहिँ भाइ सकल सेवकाई । होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई ॥२॥

फिर भी अयोध्या स्वतन्त्र-रूप से सुन्दर बसेगी और सब गुणों के धाम रामचन्द्र राजा होंगे। सब बन्धु-गण उनकी सेवा करेंगे और तीनों लोक में रामचन्द्र की बड़ाई होगी ॥ २ ॥

भविष्य में होनेवाली बातों को प्रत्यक्ष वर्णन करने में 'भाविक अलंकार' है।

तोर कलङ्क मोर पछिताऊ । मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ ॥
अब तोहि नीक लाग करु सोई । लोचन ओट बैठु मुँह गोई ॥३॥

तेरा कलङ्क और मेरा पश्चात्ताप मरने पर भी न मिटेगा और न कभी संसार से जायगा। अब जो तुझे अच्छा लगे वही कर, पर मेरी आँखों की आड़ में मुँह छिपा कर बैठ ॥ ३ ॥

जब लगि जिअउँ कहउँ कर जोरी । तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी ॥
फिरि पछितैहसि अन्त अभागी । मारसि गाइ न हारू लागी ॥४॥

हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि जब तक मैं जीता रहूँ, तब तक तू फिर कुछ मत कह। अरी अभागिनी ! गाय मारने में तुझे पीड़ा नहीं लगती है ? फिर अन्त में (विधवापन और कलङ्क लगने पर) पछतायगी ॥ ४ ॥

अपने दुहंठ के लिए पछतायगी। इस साधारण बात को विशेष उदाहरण से पुष्ट करना कि गाय मारने में दुःख नहीं लगता, गोहत्या सिर आने पर जान पड़ेगा 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। सभा की प्रति में नाहरुहि पाठ है और रामबक्स पाण्डेय ने नाहरू पाठ कर दिया है। उसी प्रकार तरह तरह के अर्थ भी गढ़े गये हैं। पर राजापुर की प्रति जो गोसाँईंजी के हाथ की लिखी अब तक वर्तमान है, उसमें "नहारू" पाठ है। उस प्रति में शब्द विन्यास नहीं है, इससे 'न' अक्षर मिला कर उच्चारण करने से 'नहारू' एक शब्द हो सकता है। यदि उसे 'नहारू' मान लें तो इस तरह अर्थ होगा कि—"तू नहरुआ रोग के लिए गाय मारती है, पर

अन्त में पछतायगी जब इससे रोग न छुटेगा और हत्या रूपी विघ्रवापन लगेगा" । भरत को राज-पद देने की इच्छा और नहरुआ रोग, रामचन्द्र को वन भेजना और गोवध, भरत का राज त्यागना और रोग का अच्छा न होना परस्पर उपमेय उपमान हैं ।

दो०--परेउ राउ कहि कोटि बिधि, काहे करसि निदान ।
कपट सयानि न कहति कछु, जागति मनहुँ मसान ॥३६॥

राजा ने करोड़ों तरह से समझा कर कहा कि, तू किस लिए अन्त (सर्वनाश) करती है, (पर उसे मानते न देख कर व्याकुल हो) धरती पर गिर पड़े। कपट में चतुर केकयी कुछ कहती नहीं है, ऐसा मालूम होता है मानों मसान जगाती हो ॥ ३६ ॥

मसान जगाना सिद्ध आधार है, क्योंकि लोग मौन हो कर मसान जगाते ही हैं। परन्तु केकयी मसान के लिए चुप नहीं है बरन् राजा की बातें उसे सुहाती नहीं हैं इससे वह बोलना नहीं चाहती है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०--राम राम रट बिकल भुआलू । जनु बिनु पङ्ख बिहङ्ग बिहालू ॥
हृदय मनाव भोर जनि होई । रामहिँ जाइ कहइ जनि कोई ॥१॥

राम राम रटते हुए राजा व्याकुल हो गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बिना पक्ष के पखेरू बेहाल हो। हृदय में मनाते हैं कि सबेरा न हो और यह समाचार कोई जा कर रामचन्द्र से न कह दे ॥ १ ॥

रामचन्द्रजी के वियोग के भय से अनहोनी मनौती करना कि सबेरा ही न हो आवेग और जड़ता सञ्चारीभाव है।

उदय करहु जनि रबि रघुकुल-गुर । अवध बिलोकि सूल होइहि उर ॥
भूप-प्रीति कैकइ-कठिनाई । उभय अवधि बिधि रची बनाई ॥२॥

हे रघुकुल के श्रेष्ठ सूर्य्य भगवान् ! आप अपना उदय न करें, अयोध्या को देख कर हृदय में शूल होगा। राजा की प्रीति और केकयी की कठोरता दोनों को ब्रह्मा ने हद तक बनाया। अर्थात् राजा के समान कोई प्रीतिवान नहीं और केकयी के बराबर कोई कठोर नहीं है ॥ २ ॥

बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा । बीना-बेनु-सङ्ख धुनि द्वारा ॥
पढ़हिँ भाट गुन गावहिँ गायक । सुनत नृपहि जनु लागहिँ सायक ॥३॥

इस तरह विलाप करते हुए राजा को सबेरा हो गया, द्वार पर वीणा, बाँसुरी और शङ्ख आदि बाजों के शब्द होने लगे। भाट यश बखानते और गवैया गान करते हैं, सुन कर राजा को वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बाण लगते हों ॥ ३ ॥

बाण का लगना सिद्ध आधार है। पर बाजे की ध्वनि और गान के शब्द बाण नहीं हैं। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

मङ्गल सकल सोहहिँ न कैसे । सहगामिनिहि विभूषन जैसे ॥
तेहि निसि नींद परी नहिँ काहू । राम-दरस लालसा उछाहू ॥४॥

राजा दशरथजी को वे सम्पूर्ण मङ्गल कैसे नहीं सुहाते हैं, जैसे मृतक पति के साथ सती होनेवाली स्त्री को आभूषण अप्रिय लगता है। रामचन्द्रजी के दर्शन को लालसा और उत्साह से उस रात्रि में किसी को नींद नहीं आई ॥ ४ ॥

एक टीकाकार ने 'सहगामिनी' शब्द का अर्थ—सम्भोग करनेवाली स्त्री किया है। सम्भोग का श्रृङ्गार ही मूल कारण है, फिर स्त्री को गहने क्यों अप्रिय होने लगे ?

दो०--द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिँ उदित रवि देखि ।
जागेउ अजहुँ न अवधपति, कारन कवन बिसेखि ॥३७॥

राजद्वार पर मन्त्रियों और सेवकों की भीड़ हुई, वे सूर्योदय देख कर कहते हैं कि कौन सा विशेष कारण है जो अयोध्या नरेश अब तक नहीं जगे ॥ ३७ ॥

राजा दशरथजी स्वभावतः रात्रि के चतुर्थ प्रहर में उठ जाते थे, आज महोत्सव के दिन सूर्योदय होने पर नहीं उठे ! यह सोच कर लोगों के चित्त में विस्मय उत्पन्न होना 'आश्चर्य स्थायीभाव' है ।

चौ०--पछिले पहर भूप नित जागा । आजु हमहिँ बड़ अचरज लागा ॥
जाहु सुमन्त्र जगावहु जाई । कीजिय काज रजायसु पाई ॥१॥

राजा नित्य ही पिछले पहर (ब्राह्म-मुहूर्त्त) में जगते थे, आज हम लोगों को बड़ा आश्चर्य लगता है कि क्यों नहीं जगे हैं । सुमन्त्रजी ! आप जा कर जगावें जिसमें महाराज की आज्ञा पा कर हम सब काम करें ॥१॥

गये सुमन्त्र तब राउर माहीं । देखि भयावन जात डेराहीं ॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा । मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा ॥२॥

तब सुमन्त्र राजमहल में गये, उन्हें सारा महल भयावना दिखाई देता है इससे जाने में डरते हैं । वह (महल) देखा नहीं जाता, ऐसा मालूम होता है मानों दौड़ कर खा लेगा और इस तरह जान पड़ता है मानों विपत्ति-विषाद ने डेरा किया हो ॥२॥

बुरे दिन आने पर अथवा भीषण कुचाल से घर का भयङ्कर होना सिद्ध आधार है, परन्तु मकान चेतन जीव नहीं जो दौड़ कर खा लेगा । इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा' है । सभा की प्रति में 'गये सुमन्त्र तब राउर पाहीं' पाठ है । जिसका अर्थ होगा—"सुमन्त्र राजा के पास गये" परन्तु सुमन्त्र का राजा के पास पहुँचना नीचे की चौपाई में कहा गया है और वह कथन तो—जब महल में प्रवेश कर जाने लगे; किन्तु राजा के पास पहुँचे नहीं, तब का है । यहाँ "राउर" शब्द महल का बोधक है, जैसे—"राउर नगर कोलाहल होई, सुनि नृप-राउर सोर इत्यादि" इन स्थानों में 'राजमहल' के सिवा आपका अर्थ नहीं व्यञ्जित होता है । आपका अर्थ उन स्थानों में प्रकट करता है, जैसे—

"राउर नाम अस। जेहि राउर अति अनभल ताका। यह नइ रीति न राउरि होई, इत्यादि"। पर राउर शब्द राजा का बोधक नहीं और न राजा के अर्थ में कहीं गोस्वामीजी ने प्रयोग किया है।

पूछे कोउ न ऊतरु देई। गय जेहि भवन भूप कैकेयी॥
कहि जयजीव बैठ सिर नाई। देखि भूप गति गयउ सुखाई॥३॥

पूछने पर कोई जवाब नहीं देता है (मानों सब दास-दासियाँ गूँगे बहरे हुए हैं) जिस घर में राजा और केकयी थी वहाँ गये। जयजीव कह सिर झुका कर बैठ गये और राजा की दशा देख सूख गये॥३॥

सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥
सचिव सभीत सकइ नहिँ पूछी। बोली असुभ-भरी सुभ-छूछी॥४॥

राजा सोच से विकल द्युति-हीन होकर धरती पर पड़े हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानो कमल जड़ से उखड़कर मुरझाया हो। मन्त्री भय से पूछ नहीं सके, इतने में शुभ से ख़ाली और अशुभ से भरी हुई केकयी बोली॥४॥

दो०--परी न राजहि नींद निसि, हेतु जान जगदीस।
राम राम रटि भोर किय, कहइ न मरम महीस॥३८॥

राजा को रात में नींद नहीं पड़ी इसका कारण तो ईश्वर जाने। राम राम रट कर सवेरा किया, पर इसका भेद राजा कहते नहीं हैं॥३८॥

केकयी का यह कहना झूठा है कि इसका कारण ईश्वर जाने, क्योंकि वह सब जानती थी। इस झूठ को सत्य करने के लिए दूसरा झूठ कहना कि राजा मर्म नहीं कहते हैं 'मिथ्याध्यवसित अलंकार' है।

चौ०--आनहु रामहिँ बेगि बोलाई। समाचार तब पूछेहु आई॥
चलेउ सुमन्त्र राय रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी॥१॥

रामचन्द्र को तुरन्त बुला लाइये तब आ कर समाचार पूछना। राजा का रुख जान कर सुमन्त्र चले और मन में समझ गये कि रानी ने कुछ कुचाल की है॥१॥

लक्षण देख कर अनुमान बल से केकयी की कुचाल को समझ लेना 'अनुमानप्रमाण अलंकार' है।

सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहिँ बोलि कहहिँ का राऊ॥
उर धरि धीरज गयउ दुआरे। पूँछहिँ सकल देखि मन मारे॥२॥

सुमन्त्र सोच से बेचैन हैं, उनका पाँव रास्ते में सीधे नहीं पड़ता है, सोचते जाते हैं कि रामचन्द्र को बुला कर राजा क्या कहेंगे? हृदय में धीरज धारण करके दरवाजे पर गये, उन्हें मन मारे (उदास) देख सब कारण पूछते हैं॥२॥

समाधान करि सो सबही का । गयउ जहाँ दिन-कर-कुल टीका ॥
राम सुमन्त्रहि आवत देखा । आदर कीन्ह पिता सम लेखा ॥३॥

उन्होंने सब के सन्देह को निवारण किया और वहाँ गये जहाँ सूर्य्यकुल के तिलक (रामचन्द्रजी) थे । रामचन्द्रजी ने सुमन्त्र को आते देखा, उन्हें पिता के समान समझ कर आदर किया ॥३॥

निरखि बदन कहि भूप-रजाई । रघुकुल-दीपहि चलेउ लेवाई ॥
राम कुभाँति सचिव सँग जाहीं । देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं ॥४॥

रामचन्द्रजी के मुखारविन्द को देख राजा की आज्ञा कही और रघुकुल के दीपक (रघुनाथ) को लिवा कर चले । रामचन्द्रजी बुरी तरह (पैदल बिना चँवर छत्र के) मन्त्री के साथ जाते हैं, यह देख कर लोग जहाँ तहाँ विषाद करते हैं ॥४॥

दो०—जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाज ।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराज ॥३९॥

रघुवंश-मणि [रामचन्द्रजी] ने जा कर देखा कि राजा अत्यन्त कुत्सित समान से पड़े हैं । वे ऐसे मालूम होते हैं मानों सिंहिनी को देख कर बुड्ढा हाथी डर से सिकुड़ कर धरती पर पड़ा हो ॥ ३९ ॥

चौ०—सूखहिँ अधर जरहिँ सब अङ्गू । मनहुँ दीन मनि-हीन भुअङ्गू ॥
सरुख समीप दीख कैकेई । मानहुँ मीचु घरी गनि लेई ॥१॥

राजा के ओंठ सूख गये हैं और सब अङ्ग जल रहे हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों मणि के बिना साँप दुखी हो । पास में क्रोध से भरी केकयी को देखा, वह जान पड़ती है मानों मृत्यु की घड़ी गिन लेती हो ॥१॥

मणि खो जाने पर सर्प दुखी होता ही है । यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है ।

करुना-मय मृदु राम सुभाऊ । प्रथम दीख दुख सुना न काऊ ॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी । पूछी मधुर बचन महँतारी ॥२॥

रामचन्द्रजी का स्वभाव कोमल और दयामय है, यह पहले ही दुःख देखा । इस के पूर्व कभी कान से दुःख सुना नहीं था । तो भी समय विचार कर धीरज धारण किया और मीठी वाणी माता से बोले ॥२॥

मोहि कहु मातु तात दुख कारन । करिय जतन जेहि होइ निवारन ॥
सुनहु राम सब कारन एहू । राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥३॥

हे माता ! पिताजी के दुःख का कारण मुझ से कहो, मैं उपाय करूँ जिसमें वह दूर हो । केकयी ने कहा—हे रामचन्द्र ! सुनो, सब कारण यही है कि राजा का तुम पर बहुत स्नेह है ॥ ३ ॥

देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू। छाड़ि न सकहिँ तुम्हार सकोचू॥४॥

मुझे दो वरदान इन्होंने देने को कहा था, जो कुछ मुझे अच्छा लगा वह मैंने माँगा। उसे सुन कर राजा के हृदय में शोक हुआ है, तुम्हारा संकोच छोड़ नहीं सकते हैं॥४॥

दो०--सुत सनेह इत बचन उत, सङ्कट परेउ नरेस।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेस॥४०॥

इधर पुत्र का स्नेह और उधर वचन (प्रतिज्ञा के ख्याल) से राजा सङ्कट में पड़े हैं। यदि तुम कर सकते हो तो आज्ञा शिरोधार्य्य कर के इस कठिन क्लेश को मिटाओ॥४०॥

चौ०-निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥
जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना॥१॥

निःशङ्क (बिना सङ्कोच के) बैठ कर कड़वी वाणी कहती है, जिसको सुन कठोरता भी अत्यन्त घबराती है। जीभ रूपी धनुष से वचन रूपी नाना प्रकार के बाण निकल रहे हैं, ऐसा मालूम होता है मानों महाराज दशरथजी मुलायम निशाने के समान हैं॥१॥

निधड़क कड़वी वाणी सुन कर कठिनता भी घबरा गई, इस कथन में निर्भयता की अत्युक्ति है।

जनु कठोर-पन धरे सरीरू। सिखइ धनुष-बिद्या बर बीरू॥
सब प्रसङ्ग रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई॥२॥

ऐसा मालूम होता है मानों कठोरपन रूपी उत्तम शूरवीर शरीर धारण कर के धनुष-विद्या सीखता हो। सब प्रसङ्ग रघुनाथजी को सुना दिया, वह ऐसी जान पड़ती है मानों निठुरता शरीर धर कर बैठी हो॥२॥

मन मुसुकाइ भानुकुल-भानू। राम सहज आनन्द-निधानू॥
बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मञ्जुल जनु बाग-बिभूषन॥३॥

सूर्य्यवंश के सूर्य्य रामचन्द्रजी सहज ही आनन्द के स्थान हैं। मन में मुस्कुरा कर सब दूषणों से रहित वचन बोले। उनकी सुन्दर कोमल वाणी ऐसी मालूम होती है मानों वह वाणियों का शृङ्गार हो॥३॥

मुस्कुराने में माता के प्रस्ताव पर प्रसन्नता व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

सुनु जननी सोइ सुत बड़-भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥४॥

हे माता! सुनिये, वही पुत्र बड़ा भाग्यमान है जो पितामाता के वचनों में अनुरक्त हो। माता-पिता को सन्तुष्ट करनेवाला पुत्र, हे माता! सम्पूर्ण संसार में दुर्लभ है॥४॥

दो०-मुनि-गन मिलन बिसेष बन, सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर ॥४१॥

अधिक तर वन में मुनि समूह का मिलाप होगा जिससे सभी भाँति मेरी भलाई है। उसमें पिताजी की आज्ञा, फिर हे माता ! तेरी सम्मति है (अवश्य ही इस आज्ञा-पालन में अपने को मैं धन्य मानता हूँ) ॥४१॥

वन जाने के लिए मुनियों का मिलाप एक ही कारण पर्य्याप्त है, उस पर पिता की आज्ञा और माता की सम्मति अन्य प्रबल हेतुओं का कथन 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

चौ०-भरत प्रान-प्रिय पावहिं राजू । बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
जौँ न जाउँ बन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा ॥१॥

प्राण-प्यारे भरत राज्य पावेंगे, आज सब तरह से ब्रह्मा मुझ पर प्रसन्न हैं। यदि ऐसे काम के लिए भी मैं बन को न जाऊँ तो मूर्खों के समाज में पहले मेरी गिनती करनी चाहिए ॥१॥

सेवहिँ अरँडु कलपतरु त्यागी । परिहरि अमृत लेहिँ बिष माँगी ॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीँ । देखु बिचारि मातु मन माहीँ ॥२॥

जो कल्पवृक्ष को छोड़ कर एरण्ड (रेंड़) की सेवा करते हैं और अमृत त्याग कर विष माँग लेते हैं। हे माता ! तू अपने मन में विचार कर देख कि वे भी ऐसा समय पाकर न चूकेंगे ॥ २ ॥

अम्ब एक दुख मोहि बिसेखी । निपट बिकल नर-नायक देखी ॥
थोरिहि बात पितहि दुख भारी । होति प्रतीति न मोहि महँतारी ॥३॥

हे माता ! मुझे एक बात का बड़ा दुःख—नरनाथ को नितान्त व्याकुल देख कर हो रहा है कि इस थोड़ी सी बात के लिए पिताजी को भारी दुःख क्यों हुआ ? माता जी ! इसीसे मुझे विश्वास नहीं होता है ॥३॥

राउ धीर गुन-उदधि अगाधू । भा मोहि तेँ कछु बड़ अपराधू ॥
जा तेँ मोहि न कहत कछु राऊ । मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ ॥४॥

राजा धीरवान और गुण के समुद्र हैं, मुझ से कुछ बड़ा अपराध हुआ है जिससे राजा मुझ से कुछ कहते नहीं हैं, तुझे मेरी सौगन्द है सच कह ॥४॥

सभा की प्रति में 'ता तें मोहि न कहत कछु राऊ' पाठ है।

दो०-सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान ।
चलइ जोँक जल बक्र-गति, जद्यपि सलिल समान ॥४२॥

रघुनाथजी के स्वाभाविक सीधे वचनों को उस कुबुद्धि ने टेढ़ा ही कर के समझा। जोंक जल में टेढ़ी चाल चलती है, यद्यपि पानी समान ही रहता है ॥ ४२ ॥

रामचन्द्रजी की सीधी बात को उसी तरह केकयी टेढ़ी जानती है, जैसे पानी समान रहने पर भी जोंक टेढ़ी चाल चलती है। इसमें पानी का दोष नहीं, जोंक की चाल ही वक्र होती है। सभा की प्रति में 'चलइ जोंक जिमि वक्र गति' पाठ है।

चौ०-रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट-सनेह जनाई॥
सपथ तुम्हार भरत कइ आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना॥१॥

रामचन्द्रजी का रुख पा कर रानी केकयी प्रसन्न हुई और कपट का स्नेह जना कर बोली। तुम्हारी शपथ और भरत की सौगन्द है, दूसरा कारण मैं कुछ नहीं जानती॥ १॥

केकयी झूठा छोह प्रकट कर अपनी वचन चातुरी से आन्तरिक डाह छिपा कर रामचन्द्रजी को ठगना चाहती है। उस की बातों में अपना मतलब गाँठने की चतुराई भरी है, जिसमें रामचन्द्र को वनयात्रा अस्वीकृत न हो जाय। इसी से प्रत्यक्ष में उनकी बड़ाई करने में। 'युक्ति अलंकार' है।

तुम्ह अपराध जोग नहिँ ताता। जननी जनक बन्धु सुख दाता॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु-मातु बचन-रत अहहू॥२॥

हे पुत्र! तुम अपराध के योग्य नहीं हो, तुम तो माता, पिता और भाइयों को सुख देनेवाले हो। हे रामचन्द्र! जो कुछ कहते हो वह सब सत्य है, तुम पिता-माता के वचन (आज्ञा-पालन) में तत्पर हो॥ २॥

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजस न होई॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे॥३॥

मैं तुम्हारी बलैया लेती हूँ, अपने पिता को वही समझा कर कहिये जिससे वृद्धावस्था में कलङ्क न हो। जिस सुकृत ने तुम्हारे समान सुयोग्य पुत्र दिया है, उसका अनादर करना (राजा को) उचित नहीं है॥ ३॥

लागहिँ कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥
रामहिँ मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरि-गत सलिल सुहाये॥४॥

उसके कुत्सित मुख से ये वचन कैसे शुभ लगते हैं, जैसे मगह (अपुनीत) देश में गयादिक तीर्थ स्थान पवित्र हैं। रामचन्द्रजी को माता के सब वचन इस तरह अच्छे लगे जैसे गङ्गाजी में मिलने पर सभी जल पवित्र हो जाते हैं॥ ४॥

दो०-गइ मुरछा रामहिँ सुमिरि, नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव राम आगमन कहि, बिनय समय सम कीन्ह॥४३॥

राजा की मूर्छा दूर हुई, उन्होंने रामचन्द्रजी का स्मरण कर के फिर कर करवट लिया। मन्त्री ने रामचन्द्रजी का आना कह कर समयानुकूल विनती की॥ ४३॥

चौ०-अवनिप अकनि रामपग धारे । धरि धीरज तब नयन उघारे ॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे । चरन परत नृप राम निहारे ॥१॥

तब राजा ने रामचन्द्रजी का पदार्पण सुन कर धीरज धारण कर के नेत्र खोला । मन्त्री ने सँभाल कर राजा को बैठाया और राजा ने रामचन्द्रजी को पाँव पड़ते देखा ॥ १ ॥

लिये सनेह बिकल उर लाई । गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई ॥
रामहिँ चितइ रहेउ नर नाहू । चला बिलोचन बारि प्रबाहू ॥२॥

स्नेह से व्याकुल हो कर हृदय में लगा लिया, ऐसा मालूम होता है मानों खोई हुई मणि को सर्प ने फिर से पाई हो । राजा रामचन्द्रजी को देखते रहे, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली ॥ २ ॥

सोक बिबस कछु कहइ न पारा । हृदय लगावत बारहिँ बारा ।
बिधिहि मनाव राउ मन माहीं । जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं ॥३॥

शोक के अधीन हो कर कुछ कह नहीं सकते, बार बार हृदय से लगाते हैं । राजा मन में विधाता को मनाते हैं, जिससे रघुनाथजी वन को न जाँय ॥ ३ ॥

वियोग के भय से बोल न सकना 'स्वरभङ्ग सात्विक अनुभाव' है ।

सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी । बिनती सुनहु सदासिव मोरी ॥
आसुतोष तुम्ह अवढर-दानी । आरति हरहु दीन जन जानी ॥४॥

शिवजी का स्मरण और निहोरा कर के कहते हैं कि हे सदाशिव ! मेरी बिनती को सुनिये ! आप तुरन्त प्रसन्न होनेवाले और औढ़र (जो शत्रु-मित्र पर बराबर दयालु हो) दानी हैं, मुझे अपना दीन सेवक समझ कर मेरे दुःख को दूर कीजिये ॥४॥

दो०--तुम्ह प्रेरक सब के हृदय, सो मति रामहिँ देहु ।
बचन मोर तजि रहहिँ घर, परिहरि सील सनेहु ॥४४॥

आप सब के हृदय के प्रेरक हैं, रामचन्द्र को ऐसी बुद्धि दीजिये कि वे मेरा शील और स्नेह छोड़ कर तथा वचन त्याग कर घर में रहें (वन में न जाँय) ॥४४॥

चौ०--अजस होउ जग सुजस नसाऊ । नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ ॥
सब दुख-दुसह सहावहु मोहीं । लोचन ओट राम जनि होहीं ॥१॥

संसार में मुझे अयश हो और कीर्त्ति नष्ट हो जाय, नरक में पड़ूँ चाहे स्वर्ग चला जाय अर्थात् देवलोक में निवास न हो । सब असहनीय दुःख मुझे सहाइये, परन्तु रामचन्द्र मेरी आँखों से आड़ में न हों ॥१॥

अस मन गुनइ राउ नहिँ बोला । पीपर पात सरिस मन डोला ॥
रघुपति पितहि प्रेम-बस जानी । पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी ॥२॥

ऐसा मन में विचारते हुए राजा बोलते नहीं हैं, उनका मन पीपल के पत्ते के समान डोल रहा है। रघुनाथजी ने पिता को प्रेम के वश में जाना और अनुमान किया कि माता फिर कुछ कहेगी (तब राजा दुखी होंगे) ॥२॥

मन-उपमेय, पीपरपात-उपमान, सरिस-वाचक और डोलना धर्म, 'पूर्णोपमा अलंकार' है। इससे किसी एक बात पर निश्चय न जमने की ध्वनि व्यञ्जित होती है।

देस काल अवसर अनुसारी । बोले बचन बिनीत बिचारी ॥
तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई । अनुचित छमब जानि लरिकाई ॥३॥

देश, काल और मौके के अनुसार नम्रता-पूर्वक विचार कर बचन बोले। हे पिताजी! मैं कुछ ढिठाई करके कहता हूँ, लड़कपन समझ कर अनुचित क्षमा कीजियेगा ॥३॥

अति लघु बात लागि दुख पावा । काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा ॥
देखि गोसाँइहिँ पूछेउँ माता । सुनि प्रसङ्ग भये सीतल गाता ॥४॥

अत्यन्त तुच्छ बात के लिए आपने इतना दुःख पाया! किसी ने मुझ को पहले ही कह कर प्रकट नहीं किया। आप की व्याकुलता देख कर मैं ने माता से पूछा और वृत्तान्त सुन कर शरीर ठण्डा हुआ ॥४॥

वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है कि इसमें कौन सी कठिनता है जिसके लिये आप अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं।

दो०-मङ्गल समय सनेह-बस, सोच परिहरिय तात ।
आयसु देइय हरषि हिय, कहि पुलके प्रभु गात ॥४५॥

हे पिताजी! मङ्गल के समय स्नेह-वश सोच छोड़ दीजिये। प्रसन्न मन से (मुझे बन जाने के लिये) आज्ञा दीजिये, यह कह कर प्रभु रामचन्द्रजी शरीर से पुलकित हुए ॥४५॥

चौ०-धन्य जनम जगतीतल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ता के । प्रिय पितु-मातु प्रान सम जा के ॥१॥

उन्होंने कहा—पृथ्वीतल पर उसका जन्म धन्य है जिसके चरित्र को सुन कर पिता को आनन्द हो। चारों पदार्थ उसकी मुट्ठी में रहते हैं जिसको माता-पिता प्राण के समान प्यारे होते हैं ॥१॥

आयसु पालि जनम-फल पाई । अइहउँ बेगिहि होउ रजाई ॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी । चलिहउँ बनहिँ बहुरि पग लागी ॥२॥

आज्ञा पालन करके जन्म का फल पाकर तुरन्त ही लौट आऊँगा, आज्ञा होनी चाहिए। माता से बिदा माँग आऊँ, फिर चरणों में लग कर बन को जाऊँगा ॥२॥

अस कहि राम गवन तब कीन्हा । भूप सोक-बस उतर न दीन्हा ॥
नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी । छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी ॥३॥

ऐसा कह कर तब रामचन्द्रजी ने वहाँ से गमन किया और राजा ने शोक के वश उत्तर नहीं दिया । यह अत्यन्त तीखी बात नगर में फैल गई, ऐसा जान पड़ता है मानों डङ्क के छू जाते ही सारे शरीर में बीछू का विष चढ़ गया हो ॥३॥

बिच्छू का डंक लगते ही उसका ज़हर शरीर भर में फैल ही जाता है, यह 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

सुनि भये बिकल सकल नर नारी । बेलि बिटप जिमि देखि दवारी ॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई । बड़ बिषाद नहिँ धीरज होई ॥४॥

यह समाचार सुन कर सारे स्त्री-पुरुष ऐसे व्याकुल हुए जैसे लता और वृक्ष दावानल को देख कर मुरझा जाते हैं । जो जहाँ सुनता है वह वहीं सिर पीटने लगता है, बड़ा बिषाद बढ़ा किसी को धीरज नहीं होता है ॥४॥

दो०--मुख सुखाहिँ लोचन स्रवहिँ, सोक न हृदय समाइ ।
मनहुँ करुन-रस-कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥४६॥

सबके मुख सूख गये और आँखों से आँसू बहते हैं, शोक हृदय में समाता नहीं (उमड़ा पड़ता) है । ऐसा मालूम होता है मानों डङ्का बजा कर करुणा-रस की सेना अयोध्या में उतरी हो ॥४६॥

करुण-रस का ससैन्य उतरना कवि की कल्पना मात्र है, क्योंकि वह शरीर धारी नहीं है । यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं, उनकी वनयात्रा का समाचार और वियोग से उत्पन्न हुआ शोकस्थायी भाव है । रामचन्द्रजी के शील, स्वभाव, सुन्दरता, कोमलता आदि गुणों का स्मरण उद्दीपन विभाव है । रोना, सिर पीटना, विलपना आदि अनुभाव है । वह मोह, विषाद, चिन्ता, उग्रतादि सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर 'करुण-रस' हुआ है ।

चौ०--मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी । जहँ तहँ देहिँ कैकइहि गारी ॥
एहि पापिनिहिँ बूझि का परेऊ । छाइ भवन परपावक धरेऊ ॥१॥

या विधाता ! इसने मिल कर बीच में बात बिगाड़ दी, जहाँ तहाँ केकयी को गाली देते हैं । कहते हैं—इस पापिनी को क्या समझ पड़ा कि छाये हुए घर पर अग्नि रख दिया ॥१॥

पुरवासियों के कहने का असली मतलब तो यह है कि केकयी ने रामचन्द्रजी को वनवास देकर अयोध्या का नाश कर दिया, परन्तु इसे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कथन करना कि छाये हुए मकान में आग लगा दी 'ललित अलंकार' है । यहाँ पापिन' विश्वासघातिन और घर फूँकनेवाली कहना ही गाली है ।

निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिष चाहत चीखा॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस-बेनु बन आगी॥२॥

अपने हाथ से अपनी आँखों को निकाल कर देखना चाहती है और अमृत फेंक कर विष का स्वाद लेना चाहती है। दुष्टा, कठोर, कुबुद्धी और अभागिनी केकया सूर्य्यवंश रूपी बाँस के वन के लिए अग्नि रूपिणी हुई है॥ २॥

अपनी आँख फोड़ कर देखने की इच्छा करना 'विचित्र अलंकार' है। केकयी का नाम न लेकर उपमान को प्रधान बनाने में साध्यवसान लक्षणा है।

पालव बैठि पेड़ एहि काटा। सुख महँ सोक-ठाट धरि ठाटा॥
सदा राम एहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिल-पन ठाना॥३॥

इसने पत्ते पर बैठ कर पेड़ को काट डाला, सुख में शोक का ठाट ठट लिया। इसको रामचन्द्रजी सदा प्राण के समान प्यारे थे, कौन सा कारण है कि ऐसी दुष्टता ठानी?॥३॥

सत्य कहहिँ कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगह अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिम्ब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥४॥

कवि लोग सत्य कहते हैं कि स्त्री का स्वभाव सब तरह से पकड़ के बाहर, अथाह, और कपट से भरा रहता है। चाहे अपनी बरछाहीं पकड़ी जाय, परन्तु हे भाई! स्त्रियों की गति नहीं जानी जाती॥४॥

दो०--काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ॥४७॥

अग्नि क्या नहीं जला सकती और समुद्र में क्या नहीं समाता? प्रचण्ड अबला (स्त्री) क्या नहीं करती और काल संसार में किसको नहीं खाता?॥४७॥

चौ०--का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा।
एक कहहिँ भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहिँ कुमतिहि दीन्हा॥१॥

हाय! विधाता ने क्या सुना कर क्या सुनाया और क्या दिखा कर क्या दिखाना चाहते हैं। एक कहते हैं कि राजा ने अच्छा नहीं किया कि जो उस कुबुद्धी को बिना विचारे वर दे दिया॥ १॥

पुरवासियों के कहने का असली प्रयोजन तो यह है कि कहाँ सुना था रामराज्य होगा, उसके स्थान में वनयात्रा सुनते हैं, कहाँ आनन्द-मङ्गल देख रहे थे और कहाँ भीषण विषाद देख रहे हैं। परन्तु इस बात को सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलंकार' है।

जो हठि भयउ सकल-दुख-भाजन । अबला-बिबस ज्ञान-गुन-गाजन ।
एक धरम-परमिति पहिचाने । नृपहि दोस नहिँ देहिँ सयाने ॥२॥

जो (वरदान) हठ से सम्पूर्ण दुःखों का पात्र हुआ, शोक ! स्त्री के वशीभूत होने से राजा का ज्ञान और गुण नाश हो गया ! दूसरे जो धर्म की मर्य्यादा को पहचानते हैं वे चतुर मनुष्य राजा को दोष नहीं देते ॥ २ ॥

पुरबासियों में राजा के सहसा प्रकृति परिवर्तन पर विस्मय उत्पन्न होना 'आश्चर्य्य स्थायीभाव' है । राजापुर की प्रति में 'भाजनु और गाजनु' पाठ है । यद्यपि 'न' अक्षर की मात्रा वैसा ही है जैसे गोसाँईजी ने दुखु, सुखु, धोखु, वदनु आदि शब्दों में मात्रा लगाई है उसी प्रकार गाजन को गाजनु लिखा है । परन्तु 'जनु' शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक है, इससे यह अर्थ—"स्त्री के अधीन होने से ऐसा मालूम होता है मानों राजा का ज्ञान और गुण चला गया" भी प्रसङ्गानुकूल प्रतीत होता है ।

सिबि दधीचि हरिचन्द कहानी । एक एक सन कहहिँ बखानी ॥
एक भरत कर सम्मत कहहीँ । एक उदास-भाय सुनि रहहीँ ॥३॥

राजा शिवि, दधीचि-मुनि और हरिश्चन्द्र नरेश का इतिहास एक दूसरे से बखान कर कहते हैं । एक भरतजी की सम्मति कहते हैं, दूसरे सुन कर उदास-भाव रह जाते हैं अर्थात् हाँ या ना कुछ नहीं कहते ॥ ३ ॥

शिवि, दधीचि और हरिश्चन्द्र की कहानी बखान कर कहने में 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग' है कि सत्यवादी पुरुष अपनी प्रतिज्ञा को तन, प्राण और सर्वस्व देकर पूरी करते हैं, इसमें राजा को कोई दोष नहीं है । राजा शिवि और दधीचि की दानशीलता तथा सत्य-पालन का संक्षिप्त वृत्तान्त इसी काण्ड में २६ वें दोहे के आगे चौथी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखिये । अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र की कथा प्रसिद्ध है । इन्होंने अपना सर्वस्व राज्यभण्डार विश्वामित्र मुनि को दान देकर भूसीदक्षिणा चुकाने के लिए आप डोम के हाथ काशी में बिके और अत्यन्त भयङ्कर कष्ट सहन कर अपना सत्य निबाहा ।

कान मूँदि कर रद गहि जीहा । एक कहहिँ यह बात अलीहा ॥
सुकृत जाहिँ अस कहत तुम्हारे । राम भरत कहँ प्रान-पियारे ॥४॥

कोई हाथ से कान मूँद कर और दाँत से जीभ दबा कर कहता है कि यह बात झूठ है । ऐसा कहने से तुम्हारे सारे पुण्य नष्ट हो जाँयगे, क्योंकि भरत को रामचन्द्रजी प्राण के समान प्यारे हैं ॥ ४ ॥

कान मूँद कर दाँतों तले जीभ दबाने में वजन की चेष्टा और आश्चर्य्य-सूचक सङ्केत प्रकट करना है कि—अरे ! यह क्या कहते हो ?

दो०—चन्द चवइ बरु अनल-कन, सुधा होइ बिष-तूल ।
सपनेहुँ कबहुँ कि करहिँ किछु, भरत राम-प्रतिकूल ॥४८॥

चाहे चन्द्रमा से आग की चिनगारियाँ टपकने लगें और अमृत विष के बराबर हो जाय परन्तु क्या सपने में भी भरतजी कभी कुछ रामचन्द्रजी के विरुद्ध करेंगे (कदापि नहीं) ॥४८॥

भरतजी कभी कुछ रामचन्द्रजी के प्रतिकूल न करेंगे, इसकी उत्कर्षता के लिए जो जो असम्भव-पूर्ण हेतु कल्पित किये गये हैं, वास्तव में वे उत्कर्ष के कारण नहीं है। यह तो स्वयम् सिद्ध बात है कि भरतजी जैसे परम भागवत रामचन्द्रजी के विपरीत कार्य्य नहीं कर सकते, तो भी उसकी कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार है।

चौ०-एक बिधातहि दूषन देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिष जेहीं ॥
खरभर नगर सोच सब काहू। दुसह दाह उर मिटा उछाहू ॥१॥

कोई विधाता को दोष देता है, जिसने अमृत दिखा कर विष दिया। नगर में खलबली पड़ गई सब के हृदय में शोक से असहनीय दाह हुआ और उत्साह मिट गया ॥१॥

प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि विधाता ने राजतिलक की तैयारी दिखा कर वनबास दे दिया। परन्तु इसे सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कथन 'ललित अलंकार' है।

बिप्र-बधू कुल-मान्य-जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी ॥
लगीं देन सिख सील सराही। बचन बान सम लागहिं ताही ॥२॥

ब्राह्मणों की स्त्रियाँ और कुल की पूजनीय जेठी वृद्धाएँ जो केकयी की बड़ी प्यारी थीं, वे केकयी के शील की बड़ाई कर के शिक्षा देने लगीं, परन्तु उनकी बातें उसको बाण के समान लगती हैं ॥२॥

भरत न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यह सब जग जाना ॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आजु बन देहू ॥३॥

तुम तो सदा कहती थीं कि रामचन्द्रजी के समान मुझ को भरत प्यारे नहीं हैं, इसको सब संसार जानता है। रामचन्द्र पर स्वाभाविक स्नेह करती रही हो, आज किस अपराध से उन्हें वन देती हो ? ॥३॥

कबहुँ न कियेहु सवतियारेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू ॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥४॥

तुमने कभी सवतियाडाह (डाँजारेसी) नहीं की, तुम्हारी आपस की प्रीति और विश्वास को सारा देश जानता है। अब कौशल्या ने क्या बिगाड़ा, जिसके लिए तुम नगर पर वज्र ढाह रही हो ? ॥४॥

दो०-सीय कि पिय सँग परिहरिहि, लखन कि रहिहहिं धाम।
राज कि भूँजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥४९॥

क्या सीताजी प्रीतम का साथ छोड़ेंगी ? क्या लक्ष्मणजी घर रहेंगे ? क्या भरतजी अयोध्या में राज्य भोगेंगे और क्या राजा बिना रामचन्द्र के जीवित रहेंगे ? (कदापि नहीं) ॥ ४९ ॥

चौ०—अस बिचारि उर छाड़हु कोहू । सोककलङ्क कोठि जनि होहू ॥
भरतहि अवसि देहु जुबराजू । कानन काह राम कर काजू ॥१॥

ऐसा हृदय में विचार कर क्रोध त्याग दो, शोक और कलङ्क का गञ्ज (बखार) मत बनो। अवश्य ही भरत को युवराज-पद दो परन्तु रामचन्द्र का वन में कौन सा काम है ? ॥१॥

नाहिँ न राम राज के भूखे । धरम-धुरीन बिषय-रस रूखे ॥
गुरु गृह बसहु राम तजि गेहू । नृप सन अस बर दूसर लेहू ॥२॥

रामचन्द्रजी राज्य के भूखे नहीं हैं, वे धर्म के बोझ को उठाने वाले और विषय के आनन्द से उदासीन हैं। घर छोड़ कर रामचन्द्रजी गुरु के स्थान में निवास करें, ऐसा दूसरा वरदान राजा से माँग लो ॥२॥

सभा की प्रति में 'गुरु गृह बसहिँ' पाठ है।

जौँ नहिँ लगिहहु कहे हमारे । नहिँ लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥
जौँ परिहास कीन्हि कछु होई । तौ कहि प्रगट जनावहु सोई ॥३॥

यदि हमारे कहने में न लगोगी तो तुम्हारे हाथ कुछ न लगेगा। यदि कुछ हँसी की हो तो उसे भी प्रत्यक्ष कह कर जना दो ॥३॥

राम सरिस सुत कानन जोगू । काह कहिहि सुनि तुम्ह कहँ लोगू ॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई । जेहि बिधि सोक-कलङ्क नसाई ॥४॥

रामचन्द्रजी के समान पुत्र वन के योग्य हैं, यह सुन कर तुमको लोग क्या कहेंगे ? इसलिए तुरन्त उठो और वही उपाय करो जिस प्रकार शोक तथा कलङ्क का नाश हो ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जेहि भाँति सोक कलङ्क जाइ, उपाय करि कुल पालही ।
हठि फेरु रामहिँ जात बन, जनि बात दूसरि चालही ॥
जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तनु चन्द बिनु, जिमि जामिनी ।
तिमि अवध तुलसीदास-प्रभु बिनु, समुझि धौँ जिय भामिनी ॥२॥

जिस तरह शोक और कलङ्क जाय, वही उपाय कर के कुल की रक्षा करो। रामचन्द्रजी को वन जाते समय हठ करके लौटाओ, दूसरी बात मत चलाओ। जैसे सूर्य के बिना दिन, प्राण के बिना शरीर और चन्द्रमा के बिना रात नहीं सोहती वैसे तुलसीदास के स्वामी रामचन्द्र के बिना अयोध्या अशोभन होगी, हे कोपने ! भला तू मन में समझ ॥२॥

सो०-सखिन्ह सिखावन दीन्ह, सुनत मधुर परिनाम हित ।
तेइ कछु कान न कीन्ह, कुटिल प्रबोधी कूबरी ॥५०॥

सखियों ने वह सिखावन दिया जो सुनने में मधुर और जिसका फल कल्याणकारी है। परन्तु उसने कुछ कान नहीं दिया अर्थात् ध्यान ही न दिया, क्योंकि दुष्टा कूबरी की सिखाई (चेलिनी) है ॥५०॥

चौ०-उतरु न देइ दुसह रिस रूखी । मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी । चलीं कहत मति-मन्द अभागी ॥१॥

केकयी अत्यन्त कष्टदायक क्रोध से भरी उत्तर नहीं देती है, ऐसा मालूम होता है मानों हरनियों की ओर भूखी बाघिन निहारती हो। असाध्य रोग जान कर उन सभों ने सिखाना छोड़ दिया और अभागिनी नीच बुद्धिवाली कहती हुई चलीं ॥ १ ॥

राज करत यह दैव बिगोई । कीन्हेसि अस जस करइ न कोई ॥
एहि बिधि बिलपहिँ पुर-नर-नारी । देहिँ कुचालिहि कोटिक गारी ॥२॥

इसको राज्य करते हुए होनहार ने नष्ट कर दिया, तभी तो ऐसा अनिष्ट किया जैसा कोई न करेगा। इस तरह नगर के स्त्री-पुरुष विलाप करते हैं और उस कुचालिनी को करोड़ों गालियाँ देते हैं ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी के बिरह से सब के हृदय में उपायापाय चिन्ताजन्य मनोभङ्ग होना 'विषाद सञ्चारीभाव' है।

जरहिँ बिषम-जर लेहिँ उसासा । कवनि राम बिनु जीवन आसा ॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी । जनु जलचरगन सूखत पानी ॥३॥

विषम ज्वर से जलते हुए उलटी साँस लेते हैं और कहते हैं कि बिना रामचन्द्रजी के जीने की कौन सी आशा है ? सारी प्रजा वियोग के अपार दुःख से घबरा गई, ऐसा मालूम होता है मानों पानी के सूखने से जलजीवों का समुदाय बेचैन हो रहा हो ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी का वियोग और विषमज्वर, नगर निवासी और जलजीव, वनयात्रा और जल का सूखना परस्पर उपमेय उपमान हैं। जल सूखने पर जलजीव व्याकुल होते ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। विषम ज्वर पाँच प्रकार का होता है—सन्तत, सतत, अन्येद्यु, तिजारी और चौथिया। इन पाँचों ज्वरों में पहले कम्प और पीछे दाह होता है तथा दम फूलने लगता है। यहाँ वियोग का भय कम्प है, तज्जनित सन्ताप दाह है, ज्वर से पीड़ित होने पर रोगी अधीर और जीवन से निराश हो जाता है उसी तरह सब स्त्री-पुरुष अधीर तथा जीवन से निराश हो रहे हैं।

अति बिषाद-बस लोग लोगाई । गये मातु पहिँ राम गोसाँई ॥
मुख प्रसन्न चित-चौगुन चाऊ । मिटा सोच जनि राखइँ राऊ ॥४॥

इस तरह पुरुष और स्त्रियाँ अत्यन्त विषाद के वश में हो रहे हैं, उधर स्वामी रामचन्द्रजी माता के पास गये । उनका मुख प्रसन्न है और मन में चौगुना उत्साह है, यह सोच मिट गया कि राजा रख न लें अर्थात् माता कैकयी ने वर माँग लिया इससे माता पिता दोनों की आज्ञा हो गई तो अब रुकावट नहीं पड़ सकती ॥ ४ ॥

दो०—नव गयन्द रघुबीर मन, राज अलान समान ।
छूट जानि बन-गमन सुनि, उर अनन्द अधिकान ॥५१॥

रघुनाथजी का मन नया (जङ्गली पकड़ा हुआ) हाथी के समान है और राज्य सीकड़ (बन्धन) के बराबर है । वनयात्रा सुन कर अपने को उस बन्धन से छूटा हुआ समझ कर हृदय में बड़ा आनन्द हुआ ॥ ५१ ॥

रघुनाथजी का मन और जङ्गली नवीन पकड़ा हुआ हाथी, राज्य और हाथी बाँधने का सीकड़ परस्पर उपमेय उपमान हैं । समान-वाचक तथा वन-गमन सुन कर छूट जाना जान कर अधिक प्रसन्न होना—धर्म 'पूर्णोपमा अलंकार' है । दोनों वाक्यों में विना वाचक पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव प्रकट होना 'दृष्टान्त अलंकार' है अर्थात् जैसे बेड़ी छूटने से जङ्गली हथी ख़ुश होता है, वैसे वन-गमन सुन कर रामचन्द्रजी प्रसन्न हैं । दोनों अलंकारों का सन्देहसङ्कर है ।

चौ०—रघुकुल-तिलक जोरि दोउ हाथा । मुदित मातु-पद नायउ माथा ॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे । भूषन-बसन निछावरि कीन्हे ॥१॥

रघुकुल के शिरोमणि रामचन्द्रजी ने दोनों हाथ जोड़ कर प्रसन्नता से माता के चरणों में मस्तक नवाया । माताजी ने आशीर्वाद देकर उन्हें हृदय से लगा लिया और गहने-कपड़े न्योछावर किये ॥ १ ॥

बार बार मुख चुम्बति माता । नयन-नेह-जल पुलकित-गाता ॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये । स्रवत प्रेम-रस पयद सुहाये ॥२॥

माताजी बार बार मुख चूमती हैं, उनकी आँखों में प्रेम से जल भर आया और शरीर पुलकित हो गया । गोद में बैठा कर फिर छाती से लगा लिया, पयोधरों से प्रेम और आनन्द के कारण सुन्दर दूध बहने लगा ॥ २ ॥

माता कौशल्याजी के हृदय का अपूर्व प्रेम पुत्र-विषयक रतिभाव है । वह भाव रामचन्द्रजी के मुख की प्रसन्नता को देख कर एवम् रघुनाथजी के पाँव पड़ने से उद्दीपित होकर गोद में लेना, बार बार चूमना और हृदय से लगाना, अश्रुपात, रोमाञ्च आदि अनुभाव तथा हर्ष, चपलता और मति सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ है ।

प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई । रङ्क धनद-पदवी जनु पाई ॥
सादर सुन्दर बदन निहारी । बोली मधुर बचन महँतारी ॥३॥

उनका प्रेम और आनन्द कुछ कहा नहीं जाता है, वे ऐसी प्रसन्न मालूम होती हैं मानों कङ्गाल ने कुबेरकी पदवी पाई हो। आदर के साथ सुन्दर मुख देख कर माता जी मीठी वाणी से बोलीं ॥३॥

दरिद्री मनुष्य कुवेर का ओहदा पाता नहीं यह केवल कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। हाँ—यदि इसको देश कोटी में इस प्रकार कहें कि मानो रङ्क बहुत बड़े धनी का दर्जा पा गया हो, तब 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' होगा।

कहहु तात जननी बलिहारी । कबहिं लगन मुद-मङ्गलकारी ॥
सुकृत-सील सुख सींव सुहाई । जनम-लाभ कइ अवधि अघाई ॥४॥

हे पुत्र ! माता बलैया लेती है—कहिये, वह आनन्द-मङ्गलकारी शुभ-मूहूर्त्त कब है ? जो मेरे पुण्यों की पराकाष्ठा और सुन्दर सुखों की सीमा है, जिससे मैं जन्म के लाभ की अन्तिम सीमा से अघाऊँगी ॥४॥

दो०—जेहि चाहत नर नारि सब, अति आरत एहि भाँति ।
जिमि चातक चातकि तृषित, बृष्टि सरद-रितु स्वाति ॥५२॥

जिस (लग्न) को सब स्त्रीपुरुष इस तरह अत्यन्त दीन होकर चाहते हैं जैसे पपीहा-पपिहरी शरद ऋतु में स्वाती नखत की जल-वृष्टि के प्यासे होते हैं ॥५२॥

चौ०—तात जाउँ बलि बेगि नहाहू । जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥
पितु समीप तब जायहु भैया । भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥१॥

हे पुत्र ! मैं बलि जाती हूँ, शीघ्र स्नान कीजिये और जो मन में भावे कुछ मीठा खा लीजिये। हे भैया ! तब पिता के पास जाना, माता बलैया लेती है (जल पान के लिये तुम्हें) बड़ी देरी हुई ॥ १ ॥

संस्कार-विधान और सम्पूर्ण आनन्दोत्सवों में देव-पूजन की क्रिया सम्पन्न हुए बिना अन्न भोजन वर्जित है, इसीसे माता मिठाई खाने को कहती हैं।

मातु बचन सुनि अति अनुकूला । जनु सनेह सुरतरु के फूला ॥
सुख-मकरन्द भरे स्त्रिय-मूला । निरखि राम-मन-भँवर न भूला ॥२॥

माताजी के अत्यन्त अनुकूल बचन सुन कर वे रामचन्द्रजी को ऐसे मालूम हुए मानों स्नेहरूपी कल्पवृक्ष के फूल हों। सुखरूपी मकरन्द (पुष्प-रस) से भरे जिसकी जड़ राजलक्ष्मी है; ऐसे फूल को देख कर रामचन्द्रजी का मन रूपी भ्रमर भूला नहीं ॥ २ ॥

स्नेह वृक्ष नहीं है जो उसमें फूल लगता हो यह केवल कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। माता पर कल्पलता का उनके बचनों पर फूल का, सुख पर

मकरन्द का, श्रीमूल अर्थात् राज्यप्राप्ति की अभिलाषा से परिपूर्ण पर मधुरता का और रामचन्द्रजी के मन पर भौंरे का आरोपण करना 'परम्परित रूपक अलङ्कार' है। भ्रमर मकरन्द का लोभी उसमें लुब्ध होता है, परन्तु रामचन्द्रजी का मन रूपी भ्रमर लुब्ध नहीं हुआ, यह द्वितीय विषम अलङ्कार की ध्वनि है।

धरम-धुरीन धरम-गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदुबानी॥
पिता दीन्ह मोहि कानन-राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥३॥

धर्म-धुरन्धर रामचन्द्रजीने धर्मकी गति जानकर अत्यन्त कोमल वाणीमें मातासे कहा—हे माताजी! पिताजी ने मुझे वन का राज्य दिया है, जहाँ सब तरह से मेरा बड़ा काम है॥३॥

बड़े काम में गौ, ब्राह्मण, पृथ्वी और देवताओं की भलाई व्यञ्जित है।

आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद-मङ्गल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरे। आनँद अम्ब अनुग्रह तोरे॥४॥

हे माताजी! प्रसन्न मनसे आज्ञा दीजिये जिससे मेरी वन-यात्रा आनन्द-मङ्गलकारी हो। तू स्नेह के वश भूल कर डर मत, हे माता! तेरी कृपा से मुझे आनन्द ही होगा (भय की कोई बात नहीं है)॥४॥

दो०—बरष चारि-दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥५३॥

चार और दस वर्ष वन में रह कर पिता जी के वचन को प्रमाणित करके फिर आकर चरणों का दर्शन करूँगा, तू अपना मन खेदित न कर॥५३॥

चौदह वर्ष की अवधि को चार और दस वर्ष रामचन्द्रजी ने इसलिए कहा कि माता के कोमल हृदय पर गहरी चोट न लगे तथा जाने के साथ ही आना कहने में 'चपलातिशयोक्ति अलङ्कार' है।

चौ०—बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परे पावस पानी॥१॥

रघुनाथजी के नम्रता-युक्त वचन माता के हृदय में बाण के समान लगे और पीड़ा उत्पन्न किया। शीतल वाणी सुन सहम कर सूख गईं, जैसे जवासा पर बर्षा का पानी पड़े और वह झुलस जाय॥१॥

कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि-नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु मापी॥२॥

उनके हृदय का विषाद कुछ कहा नहीं जाता, ऐसी मालूम होती हैं मानों सिंह की गर्जना सुन कर हरिनी बिकल हो। आँखों में आँसू आ गया और शरीर थर थर काँपने लगा, ऐसी जान पड़ती हैं मानों माँझा खा कर मछली व्याकुल हो॥२॥

माँजा—एक प्रकार के मछलियों का रोग है। वह प्रायः वर्षा के प्रथम जल पड़ने पर होता है। उससे मछलियाँ बेहोश होकर पानी के ऊपर आ कर अधिकांश मर जाती हैं।

धरि धीरज सुत-बदन निहारी। गदगद-बचन कहति महँतारी॥
तात पितहि तुम्ह प्रान-पियारे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥३॥

धीरज धर कर पुत्र के मुख की ओर निहार कर माताजी गद्गद कण्ठ से वचन कहती हैं। हे पुत्र! आप तो पिता को प्राण के समान प्यारे हैं, तुम्हारे चरित्र को देख कर वे नित्य प्रसन्न होते थे॥३॥

राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर-कुल भयउ कृसानू॥४॥

राज्य देने के लिए शुभ दिन सोधवाया था, फिर किस अपराध से वन जाने को कहा? हे पुत्र! इसका मूल-कारण मुझे सुनाओ कि सूर्य्यवंश में कौन अग्नि हुआ॥४॥

पहले राज्य देना चाहते थे, फिर उसके विपरीत वनबास दिया 'तृतीय असंगति अलंकार' है। सूर्य्यकुल में कौन अग्नि रूप पैदा हुआ? आश्चर्य्य स्थायीभाव है।

दो०—निरखि रामरुख सचिव-सुत, कारन कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसङ्ग रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ॥५४॥

रामचन्द्र का रुख ताड़ कर मंत्री के पुत्र (सुमती) ने सब कारण समझा कर कह दिया। उस बात को सुन कर चुप रह गईं, उनकी जैसी दशा हुई वह वर्णन नहीं की जा सकती॥५४॥

चौ०—राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि-गति बाम सदा सब काहू॥१॥

न तो रख सकती हैं और न जाने को कह सकती हैं, दोनों तरह से हृदय में भीषण दाह है। मन में पछताती हैं कि विधाता की चाल सब के लिए सदा उलटी रहती है; तभी चन्द्रमा लिखते हुए लिखा गया राहु?॥१॥

राज्याभिषेक होनेवाला था वह न होकर उलटे हुआ वनबास! माताजी के कहने का असली प्रयोजन तो यह है। परन्तु उसे सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र चन्द्रमा के स्थान में राहु का लिखा जाना कहना 'ललित अलंकार' है।

धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छछुन्दरि केरी।
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बन्धु-बिरोधू॥२॥

धर्म और स्नेह दोनों से बुद्धि घिर गई, उनकी दशा साँप और छछुन्दर की हुई। सोचती हैं कि यदि मैं आग्रह से बाधा डाल कर पुत्र को रख लेती हूँ तो मेरा धर्म जाता रहेगा और भाई भाई में विरोध बढ़ेगा॥ २ ॥

धर्म के विचार से रोक नहीं सकतीं और स्नेह के कारण जाने को नहीं कह सकतीं। ठीक वही दशा हुई, जैसे साँप छछूँदर को पकड़ कर छोड़ दे तो अन्धा हो जाय और निगले तो मर जाय। उसको इन दोनों बातों का परिज्ञान रहता है, इससे महान् असमञ्जस में पड़ जाता है।

कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। सङ्कट-सोच बिबस भइ रानी।
बहुरि समुझि तिय-धरम सयानी। राम भरत दोउ सुत सम जानी ॥३॥

जो बन जाने को कहती हूँ तो बड़ी हानि है, इस प्रकार सङ्कट और सोच के अधीन रानी हुईं। फिर सयानी (कौशल्याजी) ने मन में स्त्री-धर्म को समझ कर रामचन्द्रजी और भरतजी दोनों पुत्रों को बराबर जाना ॥ ३ ॥

सरल सुभाउ राम महँतारी। बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरम क टीका ॥४॥

रामचन्द्रजी की माता सीधे स्वभाव से बड़ा धीरज धर कर वचन बोलीं। पुत्र! मैं तुम्हारी बलि जाती हूँ; तुमने अच्छा किया; पिता की आज्ञा पालन करना सब धर्मों का शिरोमणि है ॥ ४ ॥

जिन रामचन्द्रजी के मुख की शोभा राजतिलक होने की सूचना से प्रसन्नता को नहीं प्राप्त हुई और वनवास सुन कर लेश मात्र मलिन नहीं हुई। उनकी माता ऐसे भीषण आपत्काल में भी यथार्थ वचन बोलीं, यह योग्य ही है। कारण के समान कार्य्य का वर्णन होना 'द्वितीय सम अलंकार' है।

दो०—राज देन कहि दीन्ह बन, मोहि न सो दुख लेस ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेस ॥५५॥

राज्य देने को कह कर वनवास दिया, मुझे इसका लेशमात्र दुःख नहीं है। परन्तु तुम्हारे बिना भरत को, राजा को और प्रजा को भयङ्कर कष्ट होगा ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष में माताजी ने कहा कि आपने बहुत अच्छा किया पिता की आज्ञा का पालन प्रधान धर्म है अवश्य कीजिये। पर इसमें छिपा हुआ निषेध भी है कि आप के बिना भरत, राजा, प्रजा सब को कठिन क्लेश होगा 'व्यक्ताक्षेप अलंकार' है।

चौ०—जौं केवल पितु-आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥१॥

हे पुत्र! यदि केवल पिता की आज्ञा है तो मुझे बड़ी माता समझ कर मत जाइये। जो पिता-माता ने वन जाने को कहा है तो वन सैकड़ों अयोध्या के समान है ॥ १ ॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि पिता ने वन जाने को कहा है तब मैं रोकती हूँ, मत जाइये। क्योंकि पुत्र के लिए पिता से बढ़ कर माता का गौरव मान्य है। उत्तरार्द्ध में जो पिता-माता दोनों ने कहा है तो धर्मशास्त्र का वचन है कि—"पितुर्दशगुणा

माता गौरवादितिरिच्यते । मातुर्दशगुणामान्या विमाता धर्मभीरुणा' माता पिता से दसगुना बढ़ कर मानने योग्य है और जिसे धर्म का डर है उसके लिए अपनी माता से दसगुना अधिक सौतेली माता का मान करना चाहिए । अवश्य जाइये, आप के लिए सैकड़ों अयोध्या के बराबर वन है ।

पितु-बन देव मातु बन-देवी । खग-मृग चरन-सरोरुह सेवी ॥
अन्तहु उचित नृपहि बनबासू । बय बिलोकि हिय होइ हरासू ॥२॥

पिता वन के देवता और माता वन की देवियाँ हैं, पक्षी-मृग चरण-कमलों के सेवक हैं । अन्त में राजा को वनबास ही उचित है, परन्तु अवस्था देख कर हृदय में दुःख हो रहा है ॥२॥

बड़भागी बन अवध अभागी । जो रघुबंस तिलक तुम्ह त्यागी ॥
जौँ सुत कहउँ सङ्ग मोहि लेहू । तुम्हरे हृदय होइ सन्देहू ॥३॥

हे रघुकुल-भूषण ! जो आपने अयोध्या को त्याग दिया तो यह बड़ी अभागिनी है और वन बड़ा भाग्यवान है । हे पुत्र ! यदि मैं कहूँ कि मुझे साथ ले चलो तो तुम्हारे हृदय में सन्देह होगा ॥ ३ ॥

अपनी शङ्का पर आप ही विचार करना कि आप सन्देह करेंगे मेरी माता आपरकाल में पति का साथ छोड़ना चाहती है, क्या वह पतिव्रता नहीं है ? वितर्क सञ्चारीभाव है ।

पूत परम-प्रिय तुम्ह सबही के । प्रान प्रान के जीवन जी के ॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ । मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ ॥४॥

हे पुत्र ! आप तो सभी के परम प्यारे हैं, प्राण और जीवों के जीवन हैं । वेही आप कहते हैं कि माता मैं वन जाऊँ और मैं इन वचनों को सुन कर बैठी हुई पछताती हूँ ? ॥ ४ ॥

पहले माताजी ने कहा—पुत्र ! तुम सभी के परम प्यारे हो, अपने इस कथन की पुष्टि में ज्ञापक हेतु दिखाना कि प्राण के प्राण और जीव के जीव होने से सभी के प्रिय हो 'काव्य-लिंग अलंकार' है । उत्तरार्द्ध में यह कहना कि मैं इस बात को सुन कर बैठी पछताती हूँ अर्थात् इस भीषण शब्द के कान में पड़ते ही शरीर से प्राण निकले नहीं तो झूठी प्रीति दिखा कर अपने प्रेम की व्यर्थ बातें क्या कहूँ ? काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग है, क्योंकि माता के हृदय में अपार प्रेम है; किन्तु उसे मिथ्या ठहराकर मुकरना काकु है ।

दो०—यह बिचारि नहिँ करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ ॥५६॥

यह बिचार कर झूठा स्नेह बढ़ा कर हठ नहीँ करती हूँ । बलैया लेती हूँ, माता का नाता मान कर मेरी सुध भूल न जाय ॥ ५६ ॥

चौ०_देव पितर सब तुम्हहिं गोसाँई । राखहुँ पलक नयन की नाँई ॥
अवधि अम्बु प्रियपरिजन मीना । तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना ॥१॥

देवता, पितर और प्रभु सब आप ही को मान कर पलक तथा नेत्रों की तरह रखती हैं। (१४ वर्ष की) अवधि जल रूप है और प्यारे कुटुम्बी मछली रूप हैं, आप दया-निधान और धर्म धुरन्धर हैं ॥१॥

अस बिचारि सोइ करहु उपाई । सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई ॥
जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ । करि अनाथ पुर परिजन गाऊँ ॥२॥

ऐसा समझ कर (अवधि बीत जाने पर कोई जीते न रहेंगे) वही उपाय करना जिसमें सब के जीते जी आ कर मिल जाना। मैं आप की बलि जाती हूँ, कुटुम्बियों की बस्ती और नगर को अनाथ कर के सुख से वन को जाइये ॥२॥

प्रत्यक्ष में यह कहना कि प्रसन्नता से वन को जाइये किन्तु इसमें छिपा हुआ निषेध भी है। आप के वन जाने से कुटुम्बी और अयोध्या नगरी अनाथ हो जायगी 'व्यक्ताक्षेप अलंकार' है।

सब कर आजु सुकृत-फल बीता । भयउ कराल-काल बिपरीता ॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी ॥३॥

आज सब के पुण्यों का फल जाता रहा, भीषण समय ही उलटा हो गया है। बहुत तरह विलाप कर के चरणों में लिपट गईं और अपने को बड़ी अभागिनी समझा ॥३॥

दारुन दुसह दाह उर ब्यापा । बरनि न जाहिं बिलाप-कलापा ॥
राम उठाइ मातु उर लाई । कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई ॥४॥

भयङ्कर असहनीय दाह हृदय में उत्पन्न हुआ, वे विलाप-समूह कहे नहीं जा सकते हैं। रामचन्द्रजी ने माता को उठा कर छाती से लगा लिया और फिर कोमल वचन कह कर समझाया ॥४॥

सभा की प्रति में 'बरनि न जाइ विलाप कलापा' पाठ है; किन्तु राजापुरकी प्रति में 'जाहिं' है

दो०-समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ ।
जाइ सासु पद-कमल जुग, बन्दि बैठि सिर नाइ ॥५७॥

उस समय समाचार सुन कर सीताजी व्याकुल हो उठीं। उन्होंने जा कर सासुके दोनों चरण-कमलों को प्रणाम किया और सिर नीचे किये बैठ गई गईं ॥५७॥

चौ०-दीन्हि असीस सासु मृदु बानी । अति सुकुमारि देखि अकुलानी ॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता । रूप-रासि पति-प्रेम पुनीता ॥१॥

सासु ने कोमल वाणी से आशीर्वाद दिया और उनकी अत्यन्त सुकुमारता देख कर घबरा गईं। रूप की खानि और पति के प्रेम में पवित्र सीता जी बैठ कर नीचे मुख किये सोचती हैं ॥१॥

चलन चहत बन जीवननाथू । केहि सुकृती सन होइहि साथू ॥
की तनु-प्रान कि केवल प्राना । बिधि करतब कछु जाइ न जाना ॥२॥

प्राणनाथ वन को चलना चाहते हैं, देखना है किस पुण्यवान से साथ होता है? या तो शरीर और प्राण दोनों साथ जाँयगे या कि केवल प्राण ही जायगा, विधाता की करनी कुछ जाना नहीं जाती ॥२॥

साथ में स्वामी ने लिया तब तो शरीर और प्राण दोनों साथ जाँयगे और साथ में न लेंगे तो केवल प्राण जायगा, शरीर नहीं। या तो दोनों जाँयगे या एक ही, किसी एक बात का निश्चय न होना 'सन्देह अलंकार' है। या तो शरीर-प्राण दोनों जाँयगे और ऐसा न हुआ तो खाली प्राण जायगा 'विकल्प अलंकार' है। दोनों अलंकारों का सन्देहसङ्कर है।

चारु चरन नख लेखति धरनी । नूपुर-मुखर मधुर कवि बरनी ॥
मनहुँ प्रेम-बस बिनती करहीं । हमहिँ सीय-पद जनि परिहरहीं ॥३॥

अपने सुन्दर चरण के नखों से धरती पर लिखने लगीं, नूपुरों के मधुर शब्द को कवि वर्णन करते हैं। वे ऐसे मालूम होते हैं मानों प्रेम के अधीन होकर बिनती करते हैं कि सीताजी के चरण हमें न त्यागें ॥३॥

जड़ नूपुरों में चरणों के सङ्ग रहने की इच्छा का होना असिद्ध आधार है। इस अफल में फल की कल्पना करना 'असिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा अलंकार' है।

मञ्जु बिलोचन मोचति बारी । बोली देखि राम-महँतारी ॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी । सासु ससुर परिजनहिँ पियारी ॥४॥

सीताजी सुन्दर नेत्रों से जल बहाती हैं, उनकी दशा देख कर रामचन्द्रजी की माता बोलीं। हे पुत्र! सुनिये, सीता अत्यन्त सुकुमारी हैं और सासु ससुर तथा कुटुम्बीजनों की प्यारी हैं ॥४॥

दो०-पिता जनक भूपाल-मनि, ससुर भानुकुल-भानु ।
पति रबिकुल-कैरव-बिपिन, बिधु गुन-रूप-निधानु ॥५८॥

जिनके पिता राजाओं के शिरोमणि जनकजी और सूर्य्यकुल के सूर्य्य (दशरथजी) ससुर हैं; सूर्य्यवंश रूपी कुमुद-वन के चन्द्रमा तथा गुण और रूप के स्थान (आप) स्वामी हैं ॥५८॥

चौ०-मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई । रूप-रासि गुन-सील सुहाई ॥
नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई । राखेउँ प्रान जानकिहि लाई ॥१॥

फिर मैं ने रूप की खानि और सुन्दर गुण शीलवाली प्यारी पतोहू पाई। इन्हें आँखों की पुतली बना कर प्रीति बढ़ाई और जानकी में ही प्राण लगा रक्खा है ॥१॥

जानकीजी को नेत्र की पुतली स्थापन करना 'सारोपा लक्षणा' है।

कलपबेलि जिमि बहु बिधि लाली । सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा । जानि न जाइ काह परिनामा ॥२॥

कल्पलता जैसी बहुत तरह प्यार के साथ मैं ने स्नेह रूपी जल से सींच कर (जानकी का) पालन-पोषण किया। फूलने फलने के समय विधाता टेढ़े हो गये, जाना नहीं जाता कि इसका परिणाम (नतीजा) क्या होगा? ॥ २ ॥

पलँग-पीठ तजि गोद हिँडोरा । सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा ॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ । दीप-बाति नहिँ टारन कहऊँ ॥३॥

पलँग का आसन, गोद और हिण्डोला छोड़ कर सीता ने कठिन धरती पर पाँव नहीं रक्खा। मैं सञ्जीवनी जड़ी जैसी इनकी रखवाली करती हूँ, कभी दीपक की बत्ती हटाने को नहीं कहती ॥ ३ ॥

'पीठ' शब्द का कुछ लोग 'पीढ़ा' अर्थ करते हैं। यहाँ तात्पर्य्य कोमल आसन से है किन्तु पीढ़ा कोई नरम आसन नहीं है। आगे 'चरन-पीठ करुना निधान के' पाठ आया है, वहाँ केवल खड़ाऊँ का अर्थ ग्रहण होता है। न कि खड़ाऊँ और पीढ़ा। उसी प्रकार यहाँ 'पलँग-पीठ' से केवल शय्यासन का ग्रहण है, पीढ़ा नहीं। अमरकोश में 'पीठमासनम्' पीठ शब्द आसन का पर्य्यायी कहा गया है।

सोइ सिय चलन चहति बन साथा । आयसु काह होइ रघुनाथा ॥
चन्दकिरन-रस रसिक चकोरी । रबि-रुख नयन सकइ किमि जोरी ॥४॥

हे रघुनाथ! वही सीता आप के साथ वन को चलना चाहती हैं, उन्हें क्या आज्ञा होती है? चन्द्रमा के किरणों के आनन्द को चाहनेवाली चकोरी सूर्य्य की ओर आँख कैसे जोड़ सकती है? ॥ ४ ॥

माताजी के कहने का असली प्रयोजन तो यह है कि सीता वन-पर्वतों में कदापि रहने योग्य नहीं हैं, परन्तु इस बात को सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कथन करना 'ललित अलंकार' है।

दो०—करि केहरि निसिचर चरहिँ, दुष्ट-जन्तु बन भूरि ।
बिष-बाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवनि-मूरि ॥५९॥

वन में हाथी, सिंह, राक्षस और बहुत से दुष्ट जीव फिरते रहते हैं। हे पुत्र! क्या सुन्दर सञ्जीवनी बूटी विष के बगीचे में शोभा देती है? (कदापि नहीं) ॥ ५९ ॥

चौ०—बनहित कोल-किरात-किसोरी । रची बिरञ्चि बिषय-सुख-भोरी ॥
पाहन-कृमिजिमिकठिन सुभाऊ । तिन्हहिँ कलेस न कानन काऊ ॥१॥

बन के लिए ब्रह्मा ने कोल-भीलों की लड़कियों को बनाया है जो भोग-विलास के सुख को जानती ही नहीं। पत्थर के कीड़े जैसा उनका कठोर स्वभाव होता है, उन्हें कभी वन में क्लेश नहीं होता ॥ १ ॥

कै तापस-तिय कानन-जोगू । जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू ॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती । चित्र लिखित कपि देखि डेराती ॥२॥

या तो तपस्वियों की स्त्रियाँ वन के योग्य हैं, जिन्होंने तप के लिए सब भोग विलास त्याग दिया है। परन्तु हे पुत्र! सीता किस तरह वन में रहेंगी जो तसवीर में लिखे बन्दर को देख कर डरती हैं ॥ २ ॥

सीता वन में डरेंगी, वहाँ वे कैसे निवास करेंगी, हेतुसूचक बात कह कर इसकी पुष्टि करना कि जो चित्र में बनाये हुए बन्दर को देख कर भयभीत हो जाती हैं, उनका भीषण वन में रहना कठिन होगा 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

सुर-सर सुभग बनज-बनचारी । डाबर जोग कि हंस-कुमारी ॥
अस बिचारि जस आयसु होई । मैं सिख देउँ जानकिहि सोई ॥३॥

देव-सरोवर के सुन्दर कमल-वन में विहार करनेवाली हंस की कुमारी क्या गड़ही के योग्य हो सकती है? ऐसा समझकर जैसी आज्ञा हो वैसी मैं जानकी को शिक्षा दूँ ॥ ३ ॥

जौं सिय भवन रहइ कह अम्बा । मोहि कहँ होइ बहुत अवलम्बा ॥
सुनि रघुबीर मातु प्रिय-बानी । सील-सनेह-सुधा जनु सानी ॥४॥

माताजी कहती हैं कि यदि सीता घर रह जाँय तो मुझ को बहुत आधार हो। माता की प्यारी वाणी सुन कर वह रघुनाथजी को ऐसी मालूम हुई मानों शील और स्नेह रूपी अमृत से सनी हुई हो ॥ ४ ॥

दो०—कहि प्रिय बचन बिबेक-मय, कीन्हि मातु परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहि, प्रगटि बिपिन गुन-दोष ॥६०॥

विचार पूर्ण प्रिय वचन कह कर माता को सन्तुष्ट किया और जङ्गल के गुण दोष कह कर जानकीजी को समझाने लगे ॥ ६० ॥

चौ०—मातु समीप कहत सकुचाहीं । बोले समउ समुझि मन माहीं ॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू । आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू ॥१॥

माता के समीप जानकीजी से कहते सकुचाते हैं, परन्तु मन में अवसर समझ कर बोले—हे राजकुमारी! मेरा सिखावन सुनो, अपने मन में और तरह कुछ न सोचो ॥ १ ॥

'दूसरी तरह मन में कुछ न विचारो' इस वाक्य में वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि जैसा मैं कहता हूँ, वैसा ही करो।

आपन मोर नीक जौं चहहू । बचन हमार मानि गृह रहहू ॥
आयसु मोर सासु सेवकाई । सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥२॥

यदि अपनी और मेरी भलाई चाहती हो तो हमारी बात मान कर घर रहो। मेरी आज्ञा है कि सासु की सेवकाई करो। हे भामिनी! इसमें तुम्हारा सब तरह घर में कल्याण होगा ॥ २ ॥

पति आज्ञा का पालन और सासु की सेवा दोनों महान् धर्म घर में रहने से सुलभ होंगे, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है ।

एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा । सादर सासुर-ससु-पद-पूजा ॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी । होइहि प्रेम-बिकल मति भोरी ॥३॥

इससे बढ़ कर दूसरा धर्म नहीं है कि आदर-पूर्वक सासु और ससुर के चरणों की सेवा करो । जब जब माताजी मेरी सुध करेंगी और प्रेम से विकल होकर उनकी बुद्धि भोली हो जायगी ॥ ३ ॥

तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी । सुन्दरि समुझायेहु मृदु-बानी ॥
कहउँ सुभाय सपथ सत मोही । सुमुखि मातु-हित राखउँ तोही ॥४॥

हे सुन्दरी ! तब तब तुम पुरानी कथाओं को कोमल वाणी से कह कर समझाना । हे सुमुखी ! मुझे सैकड़ों सौगन्द है, यह मैं स्वभाव से ही कहता हूँ कि तुमको माता के लिए घर में रखता हूँ ॥ ४ ॥

दो०--गुरु-स्रुति सम्मत धरम-फल, पाइय बिनहिँ कलेस ।
हठ-बस सब सङ्कट सहे, गालव नहुष-नरेस ॥६१॥

गुरु और वेद की सम्मति से बिना क्लेश के धर्म-फल मिलता है । हठ (दुराग्रह) के अधीन होकर सब ने सङ्कट ही सहा है, गालवमुनि और नहुष राजा को देखो (कितना कष्ट उठाया) ॥ ६१ ॥

हठ न करो नहीं गालव, नहुष की तरह कष्ट उठाओगी, इस वाच्यार्थ में असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग है । गालव मुनि ने विश्वामित्रजी से विद्या पढ़ी, अन्त में गुरु से दक्षिणा माँगने के लिए आग्रह किया । विश्वामित्रजी ने कहा जाओ, मैं तुमसे गुरु-दक्षिणा नहीं चाहता । पर गालव ने बार बार हठ किया, विश्वामित्रजी ने ८०० श्यामकर्ण घोड़े माँगे । उसे इकट्ठा करने में गालव को बड़े बड़े कष्ट उठाने पड़े ।

नहुष राजा—बड़े ज्ञानी, सन्तोषी और धर्मात्मा थे । एक बार इन्द्र ब्रह्महत्या के कारण छिप गये और इन्द्रासन खाली हो गया । उस समय राजा नहुष इन्द्र हुए । उन्होंने इन्द्राणी की सेज पर जाने के लिए बड़ा दुराग्रह किया । शची ने अपने बचाव के लिए सुर-गुरु की सम्मति लेकर नहुष के पास कहला भेजा कि अवाहन पर चढ़ कर आओ तो मैं पति भाव से स्वीकार करूँगी । राजा ने सप्तर्षियों से प्रार्थना की, वे परोपकार मान कर पालकी कन्धे पर लेकर पहुँचाने चले । कामातुर राजा ने कहा 'सर्प सर्प' अर्थात् जल्दी जल्दी चलो । मुनियों ने कुपित हो पालकी फेंक दी और शाप दिया कि तू जा कर सर्प हो । राजा नहुष सर्प हो कर बहुत काल पर्यन्त दुःख उठाया, द्वापर युग में राजा युधिष्ठिर के साथ प्रश्नोत्तर होने से उनका शापोद्धार हुआ ।

चौ०--मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा । सुन्दरि सिखवन सुनहु हमारा ॥१॥

हे सयानी, सुन्दर मुखवाली ! सुनो, फिर मैं भी तो पिता की बात सत्य कर के तुरन्त लौट आऊँगा । दिन जाते देरी न लगेगी, हे सुन्दरी ! हमारा सिखावन सुनो ॥१॥

१४ वर्ष के दिन को इस ढङ्ग से कहना मानों जाने के साथ ही लौट आना होगा, चपलातिशयोक्ति की ध्वनि है ।

जौं हठ करहु प्रेम-बस बामा । तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा ॥
कानन कठिन भयङ्कर भारी । घोर घाम हिम बारि बयारी ॥२॥

हे वामा ! यदि प्रेम के अधीन होकर हठ करोगी तो तुम अन्त में दुःख पाओगी । वन बड़ा कठिन भयङ्कर होता है उसमें विकराल घाम (गरमी) और जाड़ा पड़ता है, वर्षा होती है तथा लू चलती है ॥२॥

कुस कंटक मग काँकर नाना । चलब पयादेहि बिनु पदत्राना ॥
चरन-कमल मृदु-मञ्जु तुम्हारे । मारग अगम भूमिधर भारे ॥३॥

रास्ते में कुशा, काँटे और कङ्कड़ तरह तरह के रहते हैं, बिना जूते के पैदल चलना होगा । तुम्हारे चरण-कमल सुन्दर कोमल हैं, किन्तु मार्ग दुर्गम और बड़े बड़े पर्वत हैं ॥३॥

कन्दर खोह नदी नद नारे । अगम अगाध न जाहिं निहारे ॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा । करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥४॥

गुफाएँ, पहाड़ों के गड्ढे, छोटी नदियाँ, बड़े नद और नाले ऐसे दुर्गम गहरे मिलेंगे जो देखे नहीं जाते (भयावने होते हैं) । वहाँ भालू, बाघ, भिगवा, सिंह और हाथी शब्द करते हैं, जिसको सुन कर धीरज भाग जाता है ॥४॥

'नाग' शब्द सर्प और हाथी दोनों का बोधक होने पर भी 'नाद' शब्द से अर्थप्रकरण द्वारा एकमात्र 'हाथी' की अभिधा है, सर्प की नहीं, क्योंकि गर्जन (घोर शब्द) करने में साँप असमर्थ है । सर्प का वर्णन नीचे आया है ।

दो०--भूमि-सयन बलकल-बसन, असन कन्द फल मूल ।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबइ समय अनुकूल ॥६२॥

धरती पर सोना, पेड़ों की छाल का वस्त्र, कन्द मूल और फल का भोजन होगा । वे भी क्या सदा सब दिन मिलते हैं ? सभी समय के अनुकूल प्राप्त होते हैं ॥६२॥

सभा की प्रति में 'समय समय अनुकूल' पाठ है ।

चौ०--नर-अहार रजनीचर चरहीं । कपट-बेष बिधि कोटिक करहीं ॥
लागइ अति पहार कर पानी । बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ॥१॥

मनुष्य के खानेवाले वहाँ राक्षस फिरते हैं जो छल से करोड़ों तरह के रूप बना लेते हैं ।

पहाड़ का पानी बड़ा लागन (शरीर में विकार उत्पन्न करनेवाला) होता है, वन की विपत्ति बखानी नहीं जा सकती ॥१॥

व्याल-कराल बिहँग बन घोरा । निसिचर-निकर नारि-नर-चोरा ॥
डरपहिँ धीर गहन सुधि आये । मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये ॥२॥

भीषण सर्प और भयावने पक्षी वन में रहते हैं, झुण्ड के झुण्ड राक्षस स्त्री-पुरुषों को चुरानेवाले घूमा करते हैं। हे मृगनयनी ! तुम तो स्वभाव ही से डरपोक हो, वन का याद होते ही धीरवान भी डर जाते हैं ॥२॥

इन वाक्यों में वनवास की असमर्थता व्यञ्जित करना अगूढ़ व्यङ्ग है ।

हंस-गवनि तुम्ह कानन जोगू । सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू ॥
मानस-सलिल-सुधा प्रतिपाली । जिअइ कि लवन-पयोधि मराली ॥३॥

हे हंसगमनी ! तुम वन के योग्य नहीं हो; सुन कर मुझे लोग कलङ्क देंगे । मानसरोवर के अमृत रूपी जल से पली हुई राजहंसिनी क्या खारे समुद्र में जीवित रह सकती है ? ॥३॥

गुटका में 'हंस गवनि तुम्ह नहिँ बन जोगू' पाठ है ।

नव-रसाल-बन बिहरन-सीला । सोह कि कोकिल-बिपिन करीला ॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी । चन्द-बदनि दुख कानन भारी ॥४॥

नवीन आम के वन में विहार करनेवाली कोयल क्या करील के जंगल में शोभित हो सकती है ? हे चन्द्राननी ! ऐसा मन में विचार कर तुम घर रहो, वन में बड़ा दुःख है ॥४॥

वक्रोक्ति द्वारा कोयल पर ढार कर यह बात कहना कि सुकुमार और सुखभोगिनी स्त्रियाँ वनवास का दुःख नहीं सह सकतीं 'विशेष निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार' है ।

दो०--सहज सुहृद-गुरु-स्वामि सिख, जो न करइ सिर मानि ।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित-हानि ॥६३॥

जो स्वभाव ही मित्र, गुरु और स्वामी का सिखावन शिरोधार्य्य कर नहीं मानता उसके हित की अवश्य हानि होती है और उसका हृदय पश्चाताप से भर जाता है ॥६३॥

चौ०--सुनि मृदु बचन मनोरथ पियके । लोचन ललित भरे जल सिय के ॥
सीतल-सिख दाहक भइ कैसे । चकइहि सरद-चन्द-निसि जैसे ॥१॥

प्यारे के मनोहर कोमल बचन सुन कर सीताजी के सुन्दर नेत्रों में जल भर आये । यह शीतल शिक्षा उन्हें कैसी दाहक हुई, जैसे चकई को शरद् कालकी चाँदनी रात होती है ॥१॥

कोमल मनोहर शिक्षापूर्ण प्रीतम के वचन से दाह का होना अर्थात् अच्छे उद्योग से बुरा फल 'तृतीय विषम अलंकार' है ।

राजापुर की प्रति, सभा की प्रति और गुटका तीनों में 'लोचन ललित' पाठ है, पर कहीं कहीं लोगों ने 'लोचन नलिन' बना लिया है।

उतर न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी॥२॥

जानकीजी विकल हो गईं; उनसे कुछ जवाब नहीं देते बनता है, उन्हें यह सोच कर बड़ा उद्वेग हुआ कि पवित्र स्नेही स्वामी मुझे त्यागना चाहते हैं। पृथ्वी की कन्या (सीताजी) हृदय में धीरज धारण कर नेत्रों के जल को ज़ोरावरी से रोका॥२॥

सीताजी पृथ्वी की कन्या हैं जो अचला, स्थिरा और बसुन्धरा कहलाती है, आपत्काल में उसे धीरज धरना योग्य ही है। कारण के समान कार्य्य का होना 'द्वितीय सम अलंकार' है।

लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥३॥

सासु के पाँवों में लग कर हाथ जोड़ कर कहती हैं, हे देवि! मेरी इस बड़ी ढिठाई को क्षमा कीजिये। प्राणनाथ ने मुझे वही शिक्षा दी है कि जिस तरह मेरा परम कल्याण हो॥३॥

मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय बियोग सम दुख जग नाहीं॥४॥

फिर मैं मन में समझ कर देखती हूँ तो पति-वियोग के समान संसार में कोई दुःख नहीं है॥४०॥

दो०—प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद बिधु, सुरपुर—नरक समान॥६४॥

हे प्राणनाथ, दया के स्थान, सुन्दर सुख देनेवाले, सुजान, रघुकुल रूपी कुमुद-वन के चन्द्रमा! आप के बिना देवलोक भी नरक के समान है॥६४॥

यहाँ सीताजी का रामचन्द्रजी के प्रति प्रेम रति स्थायीभाव है। रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं। उनका माता से वन जाने के लिए बिदा माँगना, सीताजी को घर रहने का उपदेश करना उद्दीपन विभाव है। सीताजी का व्याकुल होना, नेत्रों में आँसू आना, बोल न सकना, साथ चलने के लिए प्रार्थना करना अनुभाव है। चपलता, मोह, विषाद, आवेगादि सञ्चारी भाव हैं। कुछ काल आनन्द से जीवन व्यतीत करते करते सहसा अचिन्त्य भावी वियोग की बात सुन कर जो व्याकुलता हुई है वही भविष्य विप्रयोग 'शृङ्गार रस' है।

चौ०—मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥१॥

माता, पिता, बहिन, प्रियबन्धु, प्यारे कुटुम्बी, मित्र-मण्डली, सासु ससुर, गुरु, नातेदार, सहायक और सुन्दर सुशील सुख दायक पुत्र॥१॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ता॥
तन धन धाम धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोकसमाजू॥२॥

हे नाथ! जहाँ तक स्नेह और नाते हैं, विना पति के स्त्री को वे सूर्य से बढ़ कर तपानेवाले हैं। शरीर, सम्पत्ति, घर धरती, नगर और राज्य सब प्रीतम के बिना शोक के समाज हैं॥२॥

'पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते' इस चरण में एक मात्रा अधिक होने से उच्चारण सखटक है। यदि मुझे मूल पाठ संशोधन का अधिकार होता तो 'पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते' बना देता।

भोग रोग सम भूषन भारू। जम-जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माँही। मो कहँ सुखद कतहु कछु नाहीं॥३॥

भोगविलास रोग के समान और गहने बोझ हैं। संसार यमराज की दी हुई सासति है। हे प्राणनाथ! आप के बिना जगत में मुझ को कहीं कुछ भी सुखदायी नहीं है॥३॥

भोग को रोग और आभूषणों को बोझ के समान तथा संसार को यमदण्ड के बराबर वर्णन में 'लेश अलंकार' है।

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारे॥४॥

जैसे जीव के विना शरीर और जल के विना नदी, हे नाथ! वैसे ही पुरुष के बिना स्त्री को जानना चाहिए। स्वामिन्! आप के साथ में रह कर शरदकाल के निर्मल चन्द्रमा के समान मुख को देख कर मुझे सम्पूर्ण सुख मिलेगा॥४॥

दो०—खग-मृग-परिजन नगर-बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर-सदन सम, परन-साल सुख-मूल॥६५॥

पक्षी और मृग कुटुम्बी हैं, वन नगर है और वृक्षों की छाल निर्मल वस्त्र है। स्वामी के साथ में पत्तों की कुटिया सुख की जड़ देवताओं के मन्दिर के समान है॥६५॥

चौ०—बन-देवी बन देव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा॥
कुस-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभु सँग मञ्जु मनोज तुराई॥१॥

वन की देवियाँ और वन के देवता श्रेष्ठ सासु ससुर के समान भलाई करेंगे। कुशा और कोमल पत्रों की सुन्दर गोनरी स्वामी के साथ में कामदेव के गद्दे की तरह मनोहर होगी॥१॥

बनदेवी-बनदेव और सासु ससुर उपमान उपमेय हैं, सम-वाचक तथा सार-धर्म है। इसी प्रकार कुशा-किशलय की साथरी-उपमेय, कामदेव की शय्या-उपमान, मञ्जु सुहाई धर्म है; किन्तु वाचक नहीं है। पूर्वार्द्ध में पूर्णोपमा और उत्तरार्द्ध में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है।

कन्द-मूल-फल अमिय अहारू। अवध-सौध सत सरिस पहारू॥
छिन छिन प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥२॥

कन्द, मूल और फल का आहार ही अमृत होगा, अयोध्या के राजमहल के समान सौगुने सुहावने पहाड़ होंगे। क्षण क्षण स्वामी के चरणकमलों को देख कर मैं ऐसी प्रसन्न रहूँगी, जैसी दिन में चकई आनन्दित रहती है॥ २॥

बन-दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिँ न कृपानिधाना॥३॥

हे नाथ! आप ने भय, विषाद और घना सन्ताप वन के बहुत से दुःख कहे हैं। परन्तु हे कृपानिधान! वे सब मिल कर स्वामी के वियोग के क्लेश के बराबर लवलेश मात्र भी नहीं हो सकते॥ ३॥

प्रभु-वियोग का दुःख उपमेय और वन के कहे हुए समस्त क्लेश उपमान हैं। उपमेय की बराबरी में उपमान का न तुलना 'चतुर्थ प्रतीप अलंकार' है।

अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइअ सङ्ग मोहि छाड़िअ जनि॥
बिनती बहुत करउँ का स्वामी। करुना-मय उर-अन्तरजामी॥४॥

हे चतुर-शिरोमणि स्वामिन्! ऐसा मन में विचार कर मुझे सङ्ग लीजिए, छोड़िये नहीं। मैं बहुत बिनती क्या करूँ, आप दया के रूप और हृदय के बीच की बात को जानने-वाले हैं॥ ४॥

'सुजान शिरोमणि-करुणामय और उर अन्तर्य्यामी' संज्ञाएँ साभिप्राय हैं, क्योंकि सुजान शिरोमणि ही होनेवाले परिणाम को जान सकता है। दया-स्वरूप ही आरत के दुःख को मिटाता है। उर अन्तर्य्यामी ही हृदय की यथार्थ वेदना को समझ सकता है। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

दो०–राखिअ अवध जो अवधि लगि, रहत न जानिअ प्रान।
दीनबन्धु सुन्दर सुखद, सील-सनेह-निधान॥६६॥

हे दीनबन्धु, सुन्दर सुख देनेवाले, शील और स्नेह के स्थान स्वामिन्! जो अवधि पर्यन्त मुझे अयोध्या में रखियेगा तो जानती हूँ कि मेरे प्राण न रहेंगे॥ ६६॥

गुटका और सभा की प्रति में 'रहत जानिअहि प्रान' पाठ है। इसका अर्थ होगा—"जो आप अवधि (१४ वर्ष) तक प्राण रहना समझें तो मुझे अयोध्या में रहने दें"। इस प्रकार के कथन में व्यक्ताक्षेप अलंकार' होगा। परन्तु राजापुर की प्रति गोस्वामीजी के हाथ की लिखी है, यद्यपि इन प्रतियों के पाठ सराहनीय हैं तो भी हमने प्रधानता कविजी के हस्तलिखित पाठ को ही दी है। सम्भव है कि काशीजी की प्रति में उन्होंने इस पाठ का संशोधन किया हो।

चौ०—मोहि मग चलत न होइहि हारी । छिन छिन चरन-सरोज निहारी ॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग-जनित सकल स्रम हरिहौं ॥१॥

आप के चरण-कमलों को क्षण क्षण अवलोकन करने से मुझे राह चलने में थकावट न होगी। हे स्वामिन्! मैं सभी तरह आप की सेवा करूँगी और मार्ग-गमन से उत्पन्न परिश्रम को दूर करूँगी ॥१॥

पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥
स्रमकन-सहित स्याम-तनु देखे । कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे ॥२॥

वृक्ष की छाया में बैठ कर पाँव धोकर मन में प्रसन्न हो हवा करूँगी। पसीने के बिन्दुओं सहित श्याम शरीर देख कर प्राणनाथ के अवलोकन से मुझे दुःख का अवसर कहाँ रहेगा ? ॥२॥

सम महि तृन तरु पल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही । लागिहि ताति बयारि न मोही ॥३॥

समतल भूमि पर घास और वृक्षों के पत्ते बिछा कर यह सेवकिनी सारी रात पाँव दबावेगी। बार बार कोमल मूर्ति देख कर मुझे गरम हवा (लू) न लगेगी ॥३॥

को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा । सिंघ बधुहि जिमि ससक सियारा ॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥४॥

स्वामी के साथ में मुझे कौन देखनेवाला है ? जैसे सिंह की स्त्री (सिंहिनी) को खरहा और सियार कुदृष्टि से नहीं निहार सकते। हे नाथ ! मैं सुकुमारी हूँ और आप वन के योग्य हैं ? आप को तप करना उचित है और मुझ को भोगविलास ? ॥४॥

दो०—ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौं न हृदय बिलगान ।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख, सहिहहिं पाँवर प्रान ॥६७॥

ऐसे कठोर वचनों को सुन कर भी यदि मेरा हृदय नहीं फट गया तो मेरे नीच प्राण स्वामी के वियोग का भीषण दुःख सहन करेंगे ॥६७॥

जो कठिन वचन सुन कर छाती नहीं फटी तो स्वामी के भयङ्कर वियोग के दुःख को नीच प्राण सहेंगे 'सम्भावना अलंकार' है।

चौ०—अस कहि सीय बिकल भइ भारी । बचन बियोग न सकी सँभारी ॥
देखि दसा रघुपति जिय जाना । हठि राखे नहिं राखिहि प्राना ॥१॥

ऐसा कह कर सीताजी बहुत ही व्याकुल हुई, वे वचन के वियोग को नहीं सँभाल सकीं। (तब सच्चे वियोग को कैसे सहन कर सकती थीं) उनकी दशा देख कर रघुनाथजी ने जी में समझा कि हठ कर रखने से ये प्राण न रक्खेंगी ॥१॥

सीताजी वचन-वियोग से अत्यन्त व्याकुल हुई' कि अपने को सँभाल न सकीं । उनकी व्याकुलता को देखकर अनुमान बल से रघुनाथजी ने जान लिया कि जोर देकर घर में रखने से ये प्राण त्याग देंगी 'अनुमानप्रमाण अलंकार' है।

कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा । परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥
नहिँ बिषाद कर अवसर आजू । बेगि करहु बन-गमन समाजू ॥२॥

सूर्य्यकुल के स्वामी कृपालु रामचन्द्रजी ने कहा कि सोच त्याग कर वन में साथ चलो। आज विषाद का समय नहीं है, जल्दी वन को चलने की तैयारी करो ॥ २ ॥

कहि प्रिय-बचन प्रिया समुझाई । लगे मातु-पद आसिष पाई ॥
बेगि प्रजा-दुख मेटब आई । जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥३॥

प्रिय वचन कह कर प्रिया को समझाया और माताजी के चरणो में लग कर आशीर्वाद पाया। कौशल्याजी ने कहा —जल्दी आकर प्रजा का दुःख दूर करना और यह निर्दय माता भूल न जाय ॥ ३ ॥

फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी । देखिहउँ नयन मनोहर जोरी ॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि । जननी जियत बदन-बिधु जोइहि ॥४॥

या विधाता ! क्या कभी मेरी दशा फिर लौटेगी कि इस मनोहर जोड़ी को आँख से मैं देखूँगी ? हे पुत्र ! वह सुन्दर दिन और शुभ घड़ी कब होगी कि जीते जी माता मुख-चन्द्र का अवलोकन करेगी ? ॥ ४ ॥

दो०—बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात ।
कबहिँ बोलाइ लगाइ हिय, हरषि निरखिहौँ गात ॥६८॥

फिर वत्स, लाल, रघुपति, रघुवर, और पुत्र कह कर कहती हैं कि कब आप को बुला कर हृदय से लगाऊँगी और शरीर को देख कर प्रसन्न हूँगी ॥ ६८ ॥

वत्स, लाल, रघुपति, रघुवर, और तात कई एक सम्बोधनों में आदर की विप्सा है।

चौ०—लखि सनेह कातरि महँतारी । बचन न आव बिकल भइ भारी ॥
रामप्रबोध कीन्ह बिधि नाना । समउ सनेह न जाइ बखाना ॥१॥

माताजी को स्नेह से अधीर और बहुत घबराई हुई देख कर कि उनके मुख से बात नहीं निकलती है। रामचन्द्रजी ने अनेक प्रकार से समझाया, उस समय का परस्पर स्नेह वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥

तब जानकी सासु पग लागी । सुनिय माय मैं परम अभागी ॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा । मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ॥२॥

तब जानकीजी ने सासु के चरणों में लग कर कहा—हे माता ! सुनिये, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। सेवा के समय प्रारब्ध ने मुझे वन दे दिया, मेरा मनोरथ सफल नहीं किया ॥२॥

तजब छोभ जनि छाड़िअ छोहू । करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥
सुनि सियबचन सासु अकुलानी । दसा कवनि विधि कहउँ बखानी ॥३॥

आप शोक त्याग दें और मुझ पर का स्नेह न छोड़ेंगी, मेरा कुछ दोष नहीं कर्म की गति कठोर है। सीताजी के वचन सुन कर कौशल्याजी घबरा गईं; उनकी दशा किस तरह बखान कर कहूँ ॥ ३ ॥

वारहिं बार लाइ उर लीन्ही । धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही ॥
अचल होउ अहिवात तुम्हारा । जब लगि गङ्ग-जमुन-जलधारा ॥४॥

वारम्बार सीताजी को हृदय से लगा लिया, धीरज धर कर सिखाया और आशीर्वाद दिया कि जब तक गङ्गाजी और यमुनाजी में जल की धारा बहे तब तक तुम्हारा अहिवात अटल हो ॥ ४ ॥

दो०—सीतहि सासु असीस सिख, दीन्हि अनेक प्रकार ।
चली नाइ पद-पदुम सिर, अतिहित वारहि बार ॥६९॥

सीताजी को सासु ने अनेक प्रकार की शिक्षा और आशीर्वाद दिये। वे वारम्बार सासु के चरणकमलों में अत्यन्त प्रेम से सिर नवा कर चलीं ॥ ६८ ॥

चौ०—समाचार जब लछिमन पाये । ब्याकुल बिलखि वदन उठिधाये ॥
कम्प-पुलक-तन नयन-सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा ॥१॥

जब लक्ष्मणजी ने यह समाचार पाया, तब वे व्याकुल होकर उदास मुँह से उठ कर दौड़े। उनका पुलकित शरीर काँपता है और आँखों में जल भर आया है, अत्यन्त प्रेम से अधीर होकर रामचन्द्रजी के पाँव पकड़ लिये ॥ १ ॥

कम्प, अश्रु और गद्गदता का होना सात्विक अनुभाव है। सभा की प्रति और गुटका में 'बिलप-बदन' पाठ है।

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े । मीन दीन जनु जल तेँ काढ़े ॥
सोच हृदय बिधि का होनिहारा । सब सुख सुकृत सिरान हमारा ॥२॥

कुछ कह नहीं सकते खड़े होकर निहारते हैं, ऐसे मालूम होते हैं मानों जल से निकाली हुई मछली दुखी हो। हृदय में सोचते हैं कि या विधाता! क्या होनेवाला है? हमारा सब सुख और पुण्य चुक गया? ॥ २ ॥

मो कहँ काह कहब रघुनाथा । रखिहहिँ भवन कि लेइहहिँ साथा ॥
राम बिलोकि बन्धु कर जोरे । देह गेह सब सन तृन तोरे ॥३॥

मुझे रघुनाथजी क्या कहेंगे? घर रक्खेंगे या कि साथ ले चलेंगे? रामचन्द्रजी ने देखा कि भाई लक्ष्मण शरीर और घर सब से नाता तोड़ कर हाथ जोड़े खड़े हैं ॥३॥

किसी एक बात। का निश्चय न होना 'सन्देह अलंकार' है। 'तृन तोरे' शब्द में अर्थ प्रकरण से सम्बन्ध त्यागने की अभिधा है न कि केवल तिनका तोड़ने का तात्पर्य्य है।

बोले बचन राम नय-नागर। सील सनेह सरल सुख-सागर॥
तात प्रेम-बस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥४॥

नीति में प्रवीण और शील, स्नेह, सिधाई तथा सुख के समुद्र रामचन्द्रजी बोले—हे तात! प्रेम के अधीन होकर मत डरो, अन्त के आनन्द के। मन में समझो॥४॥

दो०—मातु-पिता-गुरु-स्वामि सिख, सिर धरि करहिँ सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनम जग जाय॥७०॥

माता, पिता, गुरु और स्वामी की शिक्षा जो स्वभाव ही से सिर पर धारण करते हैं, उन्होंने जन्म का लाभ पाया, नहीँ ते संसार में जन्म लेना वृथा है॥७०॥

चौ०—असजियजानिसुनहुसिखभाई। करहु मातु-पितु-पद सेवकाई॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीँ। राउ बृद्ध मम दुख मन माहीँ॥१॥

हे भाई! ऐसा हृदय में समझ कर मेरा सिखावन सुनिये, आप माता-पिता के चरणों की सेवा करिये। घर में भरत-शत्रुहन नहीँ हैं और राजा वृद्ध हैं उस पर मेरे विछोग का दुःख उनके मन में है॥१॥

राज्य और घर के प्रबंध में राजा का वृद्धपन ही पर्य्याप्त बाधक है, उस पर पुत्र वियोग का शोक दूसरा प्रबल कारण भी विद्यमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

मैं बन जाउँ तुम्हहिँ लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख-भारू॥२॥

मैं तुम्हें साथ लेकर वन जाऊँ ते अयोध्या सभी तरह अनाथ हो जायगी। गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार सब के असहनीय दुःख का बोझ पड़ेगा॥२॥

रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥३॥

घर रहो और सब के। सन्तुष्ट करो, नहीँ ते हे बन्धु! बड़ा दोष होगा। जिस राजा के राज्य में प्यारी (नीतिज्ञ) प्रजा दुःखी होती है, वह राजा अवश्य नरक का अधिकारी होता है॥३॥

पहले साधारण बात कह कर फिर विशेष उदाहरण से उसका समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

रहहु तात अस नीति बिचारी। सुनत लखन भये व्याकुलभारी॥
सिअरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे ॥४॥

हे तात! ऐसी नीति विचार कर घर रहो। यह सुनते ही लक्ष्मणजी बहुत व्याकुल हुए। शीतल वचन सुन कर कैसे सूख गये जैसे पाला के छू जाने से कमल सूख जाता है ॥४॥

दो०—उतर न आवत प्रेम-बस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त कहा बसाइ ॥७१॥

लक्ष्मणजी से उत्तर नहीं देते बना, प्रेम के अधीन हो घबरा कर पाँव पकड़ लिया और बोले—हे नाथ! मैं सेवक हूँ और आप स्वामी हैं, त्याग देते हैं तो मेरा क्या वश है ॥७१॥

साथ चलने का कार्य्यसाधन विरुद्ध क्रिया से करना कि आप स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ, यदि त्याग देते हो तो क्या वश है 'द्वितीय व्याघात अलंकार' है।

चौ०—दीन्हिमोहिसिखनीक गोसाँई। लागि अगम अपनी कदराई॥
नर बर धीर धरम-धुर-धारी। निगम नीति कहँ ते अधिकारी॥१॥

स्वामी ने मुझे अच्छी शिक्षा दी है, परन्तु मुझे अपनी कादरता से वह दुर्गम लगती है। धीरवान श्रेष्ठ मनुष्य जो धर्म के भार को उठानेवाले हैं, वे वेद की नीति के अधिकारी हैं ॥१॥

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मन्दर मेरु कि लेहिं मराला॥
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥२॥

मैं स्वामी के स्नेह से पाला बालक हूँ, क्या हंस मन्दराचल और सुमेरु को उठा सकते हैं? हे नाथ! स्वभाव ही से कहता हूँ विश्वास मानिये कि मैं दूसरे किसी को गुरु और माता-पिता करके नहीं जानता ॥२॥

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निपुनाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उरअन्तरजामी ॥३॥

जहाँ तक संसार में स्नेह के नाते हैं, जिन्हें वेद, प्रीति और विश्वास की कुशलता कहते हैं। हे दीनों के सहायक और हृदय के बीच की बात जाननेवाले स्वामिन्! मेरे एक आप ही सब हैं ॥३॥

गुरु, पिता, माता आदि के उत्कृष्ट गुणों को एक रामचन्द्रजी में स्थापन करना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है

धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति-भूति-सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन-रत होई। कृपासिन्धु परिहरिय कि सोई ॥४॥

धर्म, और नीति का उपदेश उसको करना चाहिए जिसको कीर्त्ति, ऐश्वर्य और अच्छी

गति प्यारी हो। पर जो मन, कर्म, वचन से चरणों में अनुरक्त हो, हे दयासिन्धु! क्या उसको त्यागना चाहिए? ॥ ४ ॥

दो०—करुनासिन्धु सुबन्धु के, सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥७२॥

दयासागर रामचन्द्रजी ने श्रेष्ठ बन्धु के कोमल नम्रतायुक्त वचन सुन और उन्हें स्नेह से भयभीत जान हृदय में लगा कर समझाया कि खेद का काम नहीं है ॥७२॥

चौ०—माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥
मुदित भये सुनि रघुबर बानी। भयउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी ॥१॥

हे भाई! जाकर माताजी से बिदा माँग आओ और जल्दी वन को चलो। रघुनाथजी के वचन सुन कर लक्ष्मणजी प्रसन्न हुए, उन्हें बड़ा लाभ हुआ और बड़ी हानि दूर हुई ॥१॥

हरषित बदन मातु पहिं आये। मनहुँ अन्ध फिरि लोचन पाये॥
जाइ जननि-पग नायउ माथा। मन रघुनन्दन जानकि साथा ॥२॥

प्रसन्न चित्त से माता के पास आये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों अन्धे ने फिर से आँख पाई हो। जाकर माता के चरणों में मस्तक नवाया; किन्तु मन इनका रघुनाथजी और जानकीजी के साथ हैं ॥ २ ॥

पूछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेखी॥
गईं सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा ॥३॥

उदास मन देख कर माताजी ने पूछा, तब लक्ष्मणजी ने सब कथा विस्तार से कही। इस कठोर वचन को सुन कर सहम गईं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों मृगी चारों ओर दावानल देख कर भयभीत हो ॥ ३ ॥

लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहि सनेहबस करब अकाजू॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ॥४॥

लक्ष्मणजी ने सोचा कि आज अनर्थ हुआ, यह स्नेहवश अकाज करेगी। विदा माँगते हुए डरते और सकुचाते हैं कि, या विधाता! साथ जाने को कहती है या नहीं ॥ ४ ॥

सुमित्राजी को शोक रामचन्द्रजी के वनवास पर हुआ कि केकयी ने तो सर्वनाश कर डाला, परन्तु लक्ष्मणजी ने सोचा कि यह मेरे वन जाने के सम्बन्ध में व्याकुल हुई है। और बात को और मान लेना 'भ्रान्ति अलंकार' है। वन को जाने के लिये कहेगी या नहीं, एक भी मन में निश्चय न होना 'सन्देह अलंकार' है।

दो० समुझि सुमित्रा राम सिय, रूप-सुसील-सुभाउ।
नृप सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिनि दीन्ह कुदाउ ॥७३॥

रामचन्द्रजी और सीताजी के सुन्दर रूप, शील और स्वभाव को समझ कर तथा राजा के स्नेह को विचार कर सुमित्रा जी ने सिर धुना कि इस पापिन (केकयी) ने बड़ा कुदाँव (बुरा सङ्कट) दिया ॥ ७३ ॥

सुमित्राजी के मन में अनिष्ट की सम्भावना से जो शोक उत्पन्न हुआ वह स्थायीभाव है। रामचन्द्र और सीताजी तथा राजा दशरथ आलम्बन विभाव हैं। रामचन्द्रजी का वन-गमन और राजा की मृत्यु की दृढ़ सम्भावना उद्दीपन विभाव है। तात्पर्य से सोचना कि सीता-राम सुन्दर रूप, शील के स्थान और सरल स्वभाव हैं, उनके प्रति केकयी की यह कुटिलता ! इसने सब राज्य और सौभाग्य-सुख को चौपट कर दिया। इससे दीर्घ निःश्वास लेकर अकुलाना, सिर पीटना, पछताना अनुभाव है। विषाद, चिन्ता, ग्लानि, उन्माद, निर्वेदादि सञ्चारी भावों से बढ़ कर 'करुण-रस' हुआ है।

चौ०—धीरज धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी॥
तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता-राम सब भाँति सनेही ॥१॥

कुसमय जान कर धीरज धारण किया और स्वाभाविक हितभरी कोमल वाणी बोलीं। हे पुत्र ! तुम्हारी माता जानकी और सब तरह स्नेह करनेवाले रामचन्द्र पिता हैं ॥ १ ॥

अवध तहाँ जहँ राम-निवासू। तहइँ दिवस जहँ भानु-प्रकासू॥
जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥२॥

अयोध्या वहीं है जहाँ रामचन्द्र निवास करेंगे, दिन वहीं होता है जहाँ सूर्य्य प्रकाश करते हैं। यदि सीता और रामचन्द्र वन को जाते हैं तो अयोध्या में तुम्हारा कुछ काम नहीं है ॥ २ ॥

गुरु पितु मातु बन्धु सुर साँईं। सेइअहि सकल प्रान की नाँईं॥
राम प्रान-प्रिय-जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के ॥ ३ ॥

गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी सब की सेवा प्राण के समान करनी चाहिए। प्राणप्यारे रामचन्द्र तो जीव के भी जीवन हैं और बिना प्रयोजन सभी के मित्र हैं ॥ ३ ॥

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहि राम के नाते॥
अस जिय जानि सङ्ग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥ ४

जहाँ तक अत्युत्तम प्यारे पूजनीय हैं, सब को रामचन्द्र ही के नाते मानना चाहिए। ऐसा मन में समझ कर वन जाओ, हे पुत्र ! संसार में जीने का लाभ लो ॥ ४ ॥

सुमित्राजी ने पहले विशेष बात कही कि गुरु पिता आदि की सेवा प्राण की तरह करनी चाहिए। फिर उसका सामान्य से समर्थन करना कि रामचन्द्र जीवन प्राणप्यारे स्वार्थ रहित सब के मित्र हैं। अवश्य उनकी सेवा करो। इतने ही से सन्तुष्ट न हो कर फिर विशेष से पुष्ट करना कि जहाँ तक परम प्रिय पूजनीय हैं, सब को रामचन्द्र के नाते मानना 'विकस्वर अलंकार' है।

दो०—भूरि भाग भाजन भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह राम-पद ठाउँ ॥ ७४ ॥

मैं तुम्हारी बलि जाती हूँ, तुम तो मेरे सहित बहुत बड़े सौभाग्य के पात्र हुए । यदि छल छोड़ कर तुम्हारे मन ने रामचन्द्र के चरणों में स्थान किया है ॥ ७४ ॥

चौ०—पुत्रवती जुवती जग सोई । रघुपति भगत जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुततेँ हित जानी ॥१॥

संसार में पुत्रवाली स्त्री वही है जिसका पुत्र रघुनाथजी का भक्त हो । नहीं तो बाँझ अच्छी है, राम-विमुखी पुत्र से अपनी भलाई जान कर उसको जन्माना व्यर्थ है ॥ १ ॥

सुमित्राजी ने पहले विशेष बात कह कर फिर उसका साधारण सिद्धान्त से समर्थन करती हैं कि राम-विमुखी पुत्र से माता की भलाई नहीं होती 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है । सभा की प्रति में 'राम-विमुख सुत ते हित हानी' पाठ है; किन्तु गुटका और राजापुर की प्रति में उपर्युक्त पाठ है ।

तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीँ । दूसर हेतु तात कछु नाहीँ ॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू । राम-सीय-पद सहज सनेहू ॥२॥

हे पुत्र ! रामचन्द्र तुम्हारे ही भाग्य से वन जाते हैं, इसमें दूसरा कारण कुछ नहीं है । सारे पुण्यों का एक यही बड़ा फल है कि रामचन्द्र और सीताजी के चरणों में सहज स्नेह हो ॥ २ ॥

रामन्चद्रजी के वन जाने का असली कारण तो केकयी का वर माँगना है । उसको सुमित्राजी कहती हैं दूसरा कारण कुछ नहीं है, इसमें केवल तुम्हारा सौभाग्य कारण है । क्योंकि अब तक सेवक सेवकिनियाँ टहल करती थीं, किन्तु वन में सब प्रकार की सेवा एकमात्र तुम्हीं को करना होगा 'हेत्वापन्हुति अलंकार' है । यहाँ यह भी भावार्थ किया जाता है कि तुम शेष हो, पृथ्वी राक्षसों के बोझ से दब रही है । रामचन्द्र राक्षसों का संहार करेंगे जिससे तुम्हारे सिर का भार हलका होगा ।

राग रोष इरिषा मद मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥३॥

राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह इनके वश में सपने में भी मत होना । सम्पूर्ण प्रकार के दोषों को त्याग कर मन, कर्म और वचन से सेवकाई करना ॥३॥

राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह इन शब्दों में लक्षणा-मूलक ध्वनि है । राग—रामजानकी के अतिरिक्त दूसरे में प्रीति न करना । रोष—रामचन्द्र की आज्ञा पालन में समय कुसमय का विचार कर क्रोध न करना । ईर्ष्या—अपने को बराबर मानने की कभी ईर्ष्या न करना । मद—अच्छी सेवा करने पर भी घमण्ड न करना । मोह—रामचन्द्र की विलक्षण लीलाओं को देख कर अज्ञान में मत पड़ना ।

तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू । सँग पितु-मातु राम-सिय जासू ॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥४॥

तुमको वन में सब तरह सुबीता है जिसके साथ में पिता रामचन्द्र और माता सीता हैं। जिससे रामचन्द्र वन में क्लेश न पावें, हे पुत्र ! तुम वही करना हमारा यही उपदेश है ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

उपदेस यह जेहि तात तुम्हरे, राम-सिय सुखपावहीं ।
पितु मातुप्रिय परिवार पुर सुख, सुरति बन बिसरावहीं ॥
तुलसी सुतहि सिख देइ आयसु, दीन्ह पुनि आसिष दई ।
रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित नित नई ॥३॥

हे पुत्र ! तुम्हारे लिए मेरा यही उपदेश है कि जिसमें रामचन्द्र और सीताजी सुख पावें। पिता, माता, प्यारे कुटुम्बी और अयोध्यापुरी के सुख की सुधि वन में भूल जावें। तुलसीदासजी कहते हैं कि पुत्र को शिक्षा देकर वन जाने की आज्ञा दी, फिर आशीर्वाद दिया कि सीता और रघुनाथजी के चरणों में तुम्हारी नित्य नित्य नवीन निर्मल और अटूट प्रीति हो ॥३॥

गुटका और सभा की प्रति में 'उपदेश यह जेहि जात तुम्हरे' पाठ है। उसका अर्थ होगा कि—"मेरा यही उपदेश है कि तुम्हारे जाने पर जिसमें राम-जानकी सुख पावें', परन्तु राजापुर की प्रति में 'तात' पाठ है। सम्भव है कि काशी की प्रति में गोस्वामीजी ने इसका संशोधन कर 'जात' बना दिया हो।

सो०—मातु चरन सिर नाइ, चले तुरत सङ्कित हृदय ।
बागुर बिषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भाग-बस ॥७५॥

माता के चरणों में सिर नवा कर मन में डरते हुए तुरन्त चले। ऐसा मालूम होता है मानों भीषण जाल (बन्धन) को भाग्य वश मृगा तुड़ा कर भाग निकला हो ॥७५॥

लक्ष्मणजी और मृग, माता के रोकने की आशङ्का और विषमजाल, जाने की आज्ञा होना और जाल का तुड़ाना, माता कहीं फिर न पलट जाय और पुनः बन्धन का भय परस्पर उपमेय उपमान हैं। मृगा, जाल से छूट कर प्रसन्न होता ही है। यह उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

चौ०—गये लखन जहँ जानकिनाथू । भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू ॥
बन्दि राम-सिय-चरन सुहाये । चले सङ्ग नृप-मन्दिर आये ॥१॥

जहाँ जानकीनाथ थे वहाँ लक्ष्मणजी गये और प्यारे का सङ्ग पा कर मन में प्रसन्न हुए। रामचन्द्र और सीता के सुहावने चरणों को प्रणाम कर साथ में चले और राजमन्दिर में आये ॥१॥

कहहिँ परसपर पुर-नर नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥
तनकृस मन-दुख बदन-मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने॥२॥

नगर के स्त्री-पुरुष आपस में कहते हैं कि विधाता ने बात अच्छी बनाकर बिगाड़ दी सब का शरीर दुर्बल मन दुखी और मुख उदास है। वे ऐसे मालूम होते हैं मानों मधु छिन जाने से मक्खियाँ विकल हुई हों॥२॥

पूर्वार्द्ध में रामराज्याभिषेक चितचाही बात नहीं हुई, उलटे वनवास हुआ। बनी बात ब्रह्मा ने विगाड़ दी 'विषादन अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में रामराज्य और मधु, नगर के स्त्री-पुरुष और मक्खी मधु-परस्पर उपमेय उपमान हैं। मधु छिन जाने पर मक्खियाँ व्याकुल होती ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कर मीजहिँ सिर धुनि पछिताहीँ। जनु बिनु पङ्ख बिहँग अकुलाहीँ॥
भइ बड़ि भीर भूप-दरबारा। बरनि न जाइ बिषाद अपारा॥३॥

हाथ मलते और सिर पीट कर पछताते हैं ऐसा मालूम होता है मानों बिना पर के पक्षी व्याकुल हो। राज-दरबार में बड़ी भीड़ हुई है, अपार विषाद कहा नहीं जा सकता॥३॥

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रिय बचन राम पगु धारे॥
सिय समेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भयउ भूमिपति भारी॥४॥

मन्त्री ने राजा को उठा कर बैठाया और प्यारे वचन कहे कि रामचन्द्रजी आये हैं। सीताजी के सहित दोनों पुत्रों को देख कर राजा बहुत ही व्याकुल हुए॥४॥

राजा की व्याकुलता के लिए एक रामचन्द्रजी का वन-गमन ही पर्याप्त था। उस पर दो और प्रबल कारण सीताजी और लक्ष्मणजी का वन जाना देख कर भारी व्याकुलता का होना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

दो०—सीय सहित सुत सुभग दोउ, देखि देखि अकुलाइ।
बारहिँ बार सनेह बस, राउ लेइ उर लाइ॥७६॥

सीताजी के समेत सुन्दर दोनों पुत्रों को देख कर राजा घबरा कर स्नेह वश बार बार छाती से लगा लेते हैं॥७६॥

चौ०—सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोक-जनित उर दारुन दाहू॥
नाइ सीस पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा॥१॥

राजा व्याकुलता से बोल नहीं सकते हैं, उनके हृदय में शोक से भीषण जलन उत्पन्न हुई। तब रघुनाथजी ने अत्यन्त प्रेम से चरणों में सिर नवा उठ कर बिदा माँगी॥१॥

रामचन्द्रजी ने विचारा कि जबतक मैं यहाँ रहूँगा तबतक महाराज को उत्तरोत्तर कष्ट बढ़ता जायगा, मेरा चलना ही ठीक है 'वितर्क सञ्चारीभाव' है।

पितु असीस आयसु मोहि दीजै । हरष समय बिसमउ कत कीजै ॥
तात किये प्रिय प्रेम प्रमादू । जस जग जाइ होइ अपबादू ॥२॥

हे पिताजी ! मुझे आशीर्वाद और आज्ञा दीजिये, हर्ष के समय आप शोक काहे को करते हैं ? हे तात ! प्रेम के वश होकर मनचाही असावधानता करने से यश संसार से चला जायगा और निन्दा होगी ॥२॥

सुनि सनेह-बस उठि नरनाँहा । बैठारे रघुपति गहि बाँहा ॥
सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं । राम चराचर-नायक अहहीं ॥३॥

यह सुन राजा स्नेह वश उठ कर रघुनाथजी की बाँह पकड़ बैठाया । कहने लगे-हे तात ! आप को मुनि लोग कहते हैं कि रामचन्द्र जड़-चेतन के स्वामी हैं ॥ ३ ॥

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईस देइ फल हृदय बिचारी ॥
करइ जो करम पाव फल सोई । निगम नीति असि कह सब कोई ॥४॥

शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर हृदय में विचार कर (जीवों को) फल देता है । जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है, ऐसी वेद की नीति सब कोई कहते हैं ॥ ४ ॥

शुभाशुभ कर्मानुसार ईश्वर का जीव को फल देना स्वयम् सिद्ध अर्थ है, परन्तु राजा दशरथजी ने फिर उसका विधान किया कि जो जैसा कर्म करता वह वैसा फल पाता 'विधि अलंकार' है ।

दो०-और करइ अपराध कोउ, और पाव फल-भोग ।
अति बिचित्र भगवन्त गति, को जग जानइ जोग ॥७७॥

अपराध दूसरा कोई करे और उसका फल दूसरा कोई भोगे ! ईश्वर की गति बड़ी अद्भुत है, उसको जानने योग्य संसार में कौन है ? ॥७७॥

अपराध मैं ने किया और उसका फल तुम्हें भोगना पड़ता है, कारण कहीं और कार्य-कहीं 'प्रथम असङ्गति अलंकार' है । ईश्वर की गति कौन जानने योग्य है, काकु से यह व्यञ्जित होना कि कोई नहीं जानने योग्य हो सकता अर्थात् जिसने कर्म किया उसे फल भोगना चाहिए, यह अगूढ़ व्यङ्ग है ।

चौ०-राय राम राखन हित लागी । बहुत उपाय किये छल त्यागी ॥
लखी राम रुख रहत न जाने । धरम धुरन्धर धीर सयाने ॥१॥

राजा ने रामचन्द्रजी को रखने के लिए छल छोड़ कर बहुत उपाय किये, परन्तु देखा कि रामचन्द्रजी का रुख रहने का नहीं है, यह जान कर धर्म के बोझ को उठानेवाले, धीरवान और (चतुर राजा ने धर्म को रक्खा) ॥१॥

'छलत्यागी' शब्द में लक्षणामूलक व्यङ्ग है कि मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो जाय; किन्तु रामचन्द्र वन में न जाँय। बहुत उपाय ऊपर कहे हुए वचन ही हैं। जब समझ गये कि रामचन्द्र सत्यसन्ध हैं न रहेंगे, तब धर्म को चतुराई से सँभाला अर्थात् रामचन्द्र रह जाँय तो धर्म भले ही चला जाय, पर जब रामचन्द्र नहीं रहते हैं तब धर्म न जाने पावे। सभा की प्रति में 'लखा राम रुख रहत न जाने' पाठ है।

तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अति हित बहुत भाँति सिख दीन्ही॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाये। सासु ससुर पितु सुख समुझाये॥२॥

तब राजा ने सीताजी को हृदय से लगा लिया और अत्यन्त प्रेम से बहुत तरह की शिक्षायें दीं। वन के असहनीय दुःखों को कह कर सुनाया और सासु, ससुर, पिता के सुख को समझाया॥२॥

सचिव-नारि गुरु-नारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी॥
तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह बनबासू। करहु जो कहहिं ससुर-गुरु-सासू॥३॥

मन्त्रियों की स्त्रियाँ, गुरुपत्नी (अरुन्धती) और अन्य चतुर स्त्रियाँ स्नेह के सहित कोमल वाणी से कहती हैं कि तुम को तो वनवास दिया नहीं है, इसलिए जो ससुर, गुरु और सासुएँ कहती हैं वह करो॥३॥

दो०—सिख सीतलि हित मधुर मृदु, सुनि सीतहि न सोहानि।
सरद-चन्द-चन्दिनि लगत, जनु चकई अकुलानि॥७८॥

यह शीतल, स्नेहयुक्त, मधुर और कोमल शिक्षा सुन कर सीताजी को अच्छी नहीं लगी। वे ऐसी मालूम होती हैं मानों शरद्काल के चन्द्रमा की किरणों के लगने (छू जाने) से चकवी व्यग्र हुई हो॥७८॥

चाँदनी के स्पर्श से चकई व्याकुल होती ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—सीय सकुच बस उतर न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई॥
मुनि-पट-भूषन-भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥१॥

सीताजी संकोच वश उत्तर नहीं देती हैं, यह सुन केकयी क्रोधित होकर तेजी से उठी। मुनियों के वस्त्र, भूषण और बर्तन (कौपीन, मूज-मेखला, कमण्डलु) लाकर आगे रख दिया और कोमल वाणी से बोली॥१॥

नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥
सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ॥२॥

हे रघुवीर! आप राजाको प्राण प्यारे हैं, वे भय से शील और स्नेह न छोड़ेंगे। चाहे

सुकृत, सुयश और परलोक नष्ट हो जाय पर राजा आप को वन जाने के लिए कभी न कहेंगे ॥२॥

अस बिचारि सोइ करहु जो भावा । राम जननिसिख सुनि सुख पावा ॥
भूपहि बचन बान सम लागे । करहिँ न प्रान पयान अभागे ॥३॥

ऐसा विचार कर जो अच्छा लगे वही कीजिये । माता का सिखावन सुन कर रामचन्द्रजी सुखी हुए । राजा को वे वचन वाण के समान लगे, पर अभागे प्राण पयान नहीं करते हैं ॥३॥

लोग बिकल मुरछित नरनाहू । काह करिय कछु सूझ न काहू ॥
राम तुरत मुनि-बेष बनाई । चले जनक जननिहि सिर नाई ॥४॥

राजा मूर्छित हो गये और लोग व्याकुल होकर सोचते हैं कि क्या करूँ ? पर किसी को कुछ सूझता नहीं । रामचन्द्रजी ने तुरन्त मुनि का वेष बनाया और पिता-माता को सिर नवा कर चले ॥४॥

रामचन्द्रजी के वियोग से राजा का आत्मविस्मृति होकर निश्चेष्ट होना 'प्रलय सात्विक अनुभाव' है । लोगों का निरुपाय होकर पश्चात्ताप करना विषाद, दैन्य, चपलता, आवेग, मोह आदि सञ्चारीभाव हैं ।

दो०—सजि बन-साज-समाज सब, बनिता बन्धु समेत ।
बन्दि बिप्र-गुरु-चरन प्रभु, चले करि सबहि अचेत ॥७९॥

वन का सब सामान सज कर सीताजी और लक्ष्मण के सहित प्रभु रामचन्द्रजी ब्राह्मण और गुरु के चरणों में प्रणाम कर सम्पूर्ण समाज को अचेत कर के चले ॥७९॥

चौ०—निकसि बसिष्ठ द्वार भये ठाढ़े । देखे लोग बिरह दव दाढ़े ॥
कहि प्रिय बचन सकल समुझाये । बिप्र-बृन्द रघुबीर बोलाये ॥१॥

राजमहल से निकल कर वशिष्ठजी के दरवाज़े पर खड़े हुए, देखा कि सब लोग विरह की अग्नि से झुलस रहे हैं । प्रिय वचन कह कर सब को रघुनाथजी ने समझाया और ब्राह्मण-समूह को बुलाया ॥१॥

गुरु सन कहि बरषासन दीन्हे । आदर-दान-बिनय बस कीन्हे ॥
जाचक दान मान सन्तोषे । मीत पुनीत प्रेम परितोषे ॥२॥

गुरुजी से कह कर वर्ष भर के लिए भोजन दिया और आदर, दान, विनती से उन्हें वश किया । मङ्गनों को दान सम्मान से सन्तुष्ट कर के मित्रों को पवित्र प्रेम से प्रसन्न किया ॥२॥

दासी दास बोलाइ बहोरी । गुरुहि सौंपि बोले कर जोरी ॥
सब कै सार सँभार गोसाँई । करबि जनक-जननी की नाँई ॥३॥

फिर दास दासियों को बुला कर गुरुजी को सपुर्द कर के हाथ जोड़ कर बोले—हे स्वामिन् ! सब की रक्षा और बचाव पिता-माता की तरह करते रहियेगा ॥३॥

बारहिँ बार जोरि जुग पानी। कहत राम सब सन मृदु बानी॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रहइ भुआल सुखारी॥४॥

बारम्बार दोनों हाथ जोड़ कर सब से रामचन्द्रजी कोमल वाणी से कहते हैं कि मेरा सब तरह से वही हितकारी है जिससे राजा सुखी रहें॥४॥

दो०—मातु सकल मोरे बिरह, जेहि न होहिँ दुख दीन॥
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब, पुरजन परम प्रबीन॥८०॥

सब माताएँ मेरे वियोग के दुःख में जिससे दुःखी न हों, परम प्रवीण पुरजनों! तुम सब वही उपाय करना॥८०॥

चौ०—एहि बिधि राम सबहि समुझावा। गुरु-पद-पदुम हरषि सिर नावा॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥१॥

इस तरह रामचन्द्रजी ने सभी को समझाया और प्रसन्न होकर गुरुजी के चरण-कमलों में मस्तक नवाया। गणेशजी, पार्वतीजी और शिवजी को मना कर सब से आशीर्वाद पाकर रघुनाथजी चले॥१॥

राम चलत अति भयउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरतनादू॥
कुसगुन लङ्क अवध अति सोकू। हरष-बिषाद बिबस सुरलोकू॥२॥

रामचन्द्रजी के चलते समय बड़ा विषाद हुआ, नगर का आर्त्तनाद सुना नहीं जाता है। लङ्का में कुसगुन और अयोध्या में अत्यन्त शोक हो रहा है, देवता लोग हर्ष-विषाद के वश हो रहे हैं॥२॥

एक रामचन्द्रजी के वन-गमन से दो विरुद्ध कार्य्य होना कि लङ्का में असगुन, अयोध्या में अत्यन्त शोक 'प्रथम व्याघात अलंकार' है। जब रामचन्द्रजी वन की ओर चलते, तब देवता प्रसन्न होते हैं और जब नगर-निवासियों के स्नेह के वश हो उन्हें समझाने लगते हैं, तब विषाद होता है। देवताओं के हृदय में हर्ष-विषाद दोनों भावों का साथ ही उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

गइ मुरछा तब भूपति जागे। बोलि सुमन्त्र कहन अस लागे॥
राम चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तन माहीं॥३॥

जब राजा की बेहोशी दूर हुई तब वे सचेत हुए और सुमन्त्र को बुला कर ऐसा कहने लगे। रामचन्द्र वन को चले गये परन्तु मेरे प्राण नहीं जाते हैं, न जाने किस सुख के लिए शरीर में ठहरे हैं॥३॥

एहि तेँ कवन ब्यथा बलवाना। जो दुख पाइ तजहिं तनु प्राना॥
पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू। लेइ रथ सङ्ग सखा तुम्ह जाहू॥४॥

इससे ज़ोरावर कौन पीड़ा होगी कि जो दुःख पाकर प्राण शरीर को त्यागेंगे? फिर धीरज धर कर राजा कहने लगे कि हे मित्र! रथ लेकर तुम साथ जाओ॥४॥

दो०—सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनक-सुता सुकुमारि ।
रथ चढ़ाइ देखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि ॥८१॥

दोनों कुमार अत्यन्त सुकुमार और जानकी सुकुमारी हैं। रथ पर चढ़ा कर और वन दिखाकर चार दिन के बाद लौट आना ॥ ८१ ॥

सुकुमार और सुकुमारी शब्दों से वनवास के अयोग्य होने की व्यञ्जना अगूढ़ व्यंग है।

चौ०—जौँ नहिँ फिरहिँ धीर दोउ भाई । सत्यसन्ध दृढ़व्रत रघुराई ॥
तव तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी । फेरिय प्रभु मिथिलेस-किसोरी ॥१॥

दोनों भाई रघुराज, धीर, सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़ नियम वाले हैं, यदि वे न लौटें तो तुम हाथ जोड़ कर विनती करना कि, हे प्रभो ! जनकनन्दिनी को लौटा दीजिये ॥ १ ॥

जव सिय कानन देखि डेराई । कहेहु मोरि सिख अवसर पाई ॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू । पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू ॥२॥

जब सीता वन देख कर डरें तब तुम समय पाकर मेरी शिक्षा कहना कि हे पुत्री ! सासु ससुर ने ऐसा सन्देशा कहा है कि वन में बहुत कष्ट होगा, घर लौट चलो ॥ २ ॥

पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी । रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥
एहि बिधि करेहु उपाय कदम्बा । फिरइ त होइ प्रान अवलम्बा ॥३॥

कभी पिता के घर कभी ससुराल में जहाँ तुम्हारी इच्छा हो रहना। इस प्रकार समूह यत्न करना यदि लौटेंगी तो प्राणों का आधार होगा ॥ ३ ॥

नाहिँ त मोर मरन परिनामा । कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥
अस कहि मुरछि परा महि राऊ । राम लखन सिय आनि देखाऊ ॥४॥

नहीं तो अन्त में मेरी मृत्यु ही है, कुछ वश नहीं विधाता टेढ़े हुए हैं। रामचन्द्र लक्ष्मण और सीता को लाकर मुझे दिखाओ, ऐसा कह कर राजा मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े ॥ ४ ॥

दुःख से मुर्छित होकर राजा का भूमि पर गिरना 'अपस्मार सञ्चारी भाव' है।

दो०—पाइ रजायसु नाइ सिर, रथ अति बेग बनाइ ॥
गयउ जहाँ बाहेर नगर, सीय सहित दोउ भाइ ॥८२॥

सुमन्त्र आज्ञा पा कर सिर नवाया और अत्यन्त वेगवान रथ तैयार कर के वहाँ गये जहाँ नगर के बाहर सीताजी के सहित दोनों भाई थे ॥ ८२ ॥

चौ०—तब सुमन्त्र नृप-बचन सुनाये । करि बिनती रथ राम चढ़ाये ॥
चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई । चले हृदय अवधहि सिरनाई ॥१॥

तब सुमन्त्र ने राजा के वचन कह सुनाये और बिनती करके रामचन्द्रजी को रथ पर

चढ़ाया। सीताजी के सहित दोनों भाई रथ पर चढ़ और मन में अयोध्यापुरी को सिर नवा कर चले ॥ १ ॥

चलत राम लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥
कृपासिन्धु बहु बिधि समुझावहिँ। फिरहिँ प्रेम-बस पुनि फिरि आवहिँ॥२॥

रामचन्द्रजी के चलने से अयोध्या को अनाथ जान कर सब लोग व्याकुल हो सङ्ग में लग गये। कृपासागर रघुनाथजी बहुत तरह समझाते हैं, जिससे फिरते हैं; किन्तु फिर लौट आते हैं ॥ २ ॥

पुनि और फिरि शब्द पर्यायवाची हैं, परन्तु अर्थ भिन्न है। दोनों में पुनरुक्ति का आभास रहने से 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
घोर जन्तु सम पुर-नर-नारी। डरपहिँ एकहि एक निहारी॥३॥

अयोध्यापुरी बहुत ही डरावनी लगती है, ऐसी मालूम होती है मानों अन्धकार मयी कालरात्रि हो। नगर के स्त्री-पुरुष भीषण जन्तु के समान हैं, वे एक दूसरे को देख कर डरते हैं ॥ ३ ॥

कालरात्रि (मृत्यु की रात्रि) भयावनी होती ही है। 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीँ। सरित सरोवर देखि न जाहीँ॥४॥

घर मसान और कुटुम्बी मानों प्रेत हैं, पुत्र, हितैषी तथा मित्र ऐसे मालूम होते हैं मानों वे यमदूत हों। बागों में वृक्ष-लताएँ कुम्हिला गई हैं, नदी-तालाब देखे नहीं जाते हैं ॥ ४ ॥

श्मसान के पिशाच और मसान-स्थल भयावना होता ही है। यमदूत अप्रिय और दुःख देनेवाले प्रसिद्ध ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। बिटप, बेलि, नदी, तालाब का कुम्हिलाना तथा शोभा-हीन होना वर्णन कर इनके सम्बन्ध से शोक कथन में अतिशयोक्ति की गई है।

दो०-हय गय कोटिन्ह केलि-मृग, पुर-पसु चातक मोर।
पिक रथाङ्ग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥८३॥

हाथी, घोड़े आदि करोड़ों प्रकार खेलवाड़ के मृग, नगर के पशु, पपीहा, मुरैला, कोयल, चकवा, सुग्गा, मैना, सारस, हंस और चकोर पक्षी ॥ ८३ ॥

चौ०-राम-बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥
नगर सफल-बन-गहबर भारी। खग-मृग बिपुल सकल नर नारी॥१॥

रामचन्द्रजी के वियोग से व्याकुल सब जहाँ तहाँ खड़े हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों

लिख कर तसवीर खींचे हों। नगर फला हुआ घना दुर्गम जङ्गल है और सारे स्त्री-पुरुष पक्षी तथा मृगों के समुदाय हैं ॥ १ ॥

सभा की प्रति में 'नगर सकल घन गहबर भारी' पाठ है, वहाँ 'सकल' शब्द में पुनरुक्ति दोष है।

बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही । जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्ही ॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी । चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥२॥

ब्रह्मा ने केकयी को भीलनी बनाया जिसने दसों दिशाओं में अत्यन्त दुखदायी दावानल लगा दिया। रघुनाथजी की विरहाग्नि को लोग नहीं सह सके, सब व्याकुल होकर भाग चले ।२॥

ऊपर की चौपाई में नगर पर फूले वन का आरोप और पुरवासी स्त्री-पुरुषों पर खगमृग का आरोप किया। केकयी पर किरातिनी का आरोप और रघुनाथजी के बिरह पर दावाग्नि का आरोपण करना 'परम्परित रूपक' है।

सबहिँ बिचार कीन्ह मन माहीँ । राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीँ॥
जहाँ राम तहँ सबइ समाजू । बिनु रघुबीर अवध नहिँ काजू ॥३॥

सभी ने मन में विचार किया कि बिना रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के सुख नहीं है। जहाँ रामचन्द्रजी रहेंगे वहीं (सुख का) सारा समाज है। बिना रघुनाथजी के अयोध्या किसी काम की नहीं है ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के बिना सुख नहीं तथा अयोध्या काम की नहीं 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है।

चले साथ अस मन्त्र दृढ़ाई । सुर-दुर्लभ सुख-सदन बिहाई ॥
राम-चरन-पङ्कज प्रिय जिन्हहीँ । बिषयभोग-बस करहिँ कि तिन्हहीँ ॥४॥

ऐसा मन्त्र पक्का कर के देवताओं को दुर्लभ सुखवाले घरों को त्याग साथ चले। जिन्हें रामचन्द्रजी के चरण-कमल प्यारे हैं, क्या उन्हें विषयों का भोगविलास वश में कर सकता है? (कदापि नहीं) ॥ ४ ॥

पूर्वार्द्ध में विरह की व्याकुलता से नगर-निवासियों का तत्वज्ञान द्वारा यह निश्चय करना कि जहाँ रामचन्द्रजी हैं वहीं सब सुखों का समाज है। ऐसा सोच कर दुर्लभ सुख के निकेतों का त्यागना 'निर्वेद सञ्चारीभाव' है।

दो०—बालक बृद्ध बिहाय गृह, लगे लोग सब साथ ।
तमसा तीर निवास किय, प्रथम दिवस रघुनाथ ॥८४॥

बालक और बूढ़े घर छोड़ कर सब लोग साथ में लग गये। पहले दिन रघुनाथजी ने तमसानदी के किनारे निवास किया ॥ ८४ ॥

चौ०—रघुपति प्रजा प्रेम-बस देखी। सदय हृदय दुख भयउ बिसेखी॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥१॥

रघुनाथजी ने प्रजा को प्रेम के अधीन देखा, वे दयामय हैं अतः उनके हृदय में बड़ा दुःख हुआ। समर्थ रामचन्द्रजी कृपा के रूप हैं, पराई पीड़ा को तुरन्त जान जाते हैं॥१॥

'सदय-हृदय और करुणा-मय' शब्द साभिप्राय हैं; क्योंकि दयायुक्त हृदयवाला दूसरे के प्रेम को पहचान सकता है और करुणा का रूप ही पराई पीड़ा को जान कर दुखी हो सकता है। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाये। बहु बिधि राम लोग समुझाये॥
किये धरम-उपदेस घनेरे। लोग प्रेम-बस फिरहिँ न फेरे॥२॥

सुन्दर प्रेम के साथ कोमल वचन कह कर रामचन्द्रजी ने लोगों को बहुत तरह से समझाया। घनेरे धर्मोपदेश किये, पर लोग प्रेम के अधीन हुए फेरने से नहीं फिरते हैं॥२॥

सील-सनेह छाड़ि नहिँ जाई। असमञ्जस-बस भे रघुराई॥
लोग सोग-स्त्रम-बस गये सोई। कछुक देव-माया मति मोई॥३॥

शील और स्नेह छोड़े नहीं जाते हैं, इससे रघुनाथजी असमञ्जस के अधीन हो गये। लोग शोक तथा थकावट के वश सो गये, उनकी बुद्धि कुछ एक (थोड़ी) देवताओं की माया से करमोई गई॥३॥

लोग शोक और श्रम के वश थे ही, उस पर देव-माया ने उन्हें मूर्छित कर रामचन्द्रजी के वन-गमन कार्य्य को सुगम कर दिया 'समाधि अलंकार' है।

'मोई' शब्द का लोग 'मोहित होना' अर्थ करते हैं, पर मोवना शब्द देश भाषा है जिसका अर्थ करमोना, भिगोना मिलाना आदि है।

जबहिँ जाम जुग जामिनि बीती। राम सचिव सन कहेउ सप्रीती॥
खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिँ बाता॥४॥

जब दो पहर रात बीत गई, तब रामचन्द्रजी ने प्रीति-पूर्वक मन्त्री से कहा कि, हे तात! दूसरे उपाय से बात न बनेगी, पता छिपा कर रथ हाँकिये॥४॥

दो०—राम-लखन-सिय जान चढ़ि, सम्भु चरन सिर नाइ।
सचिव चलायउ तुरत रथ, इतउत खोज दुराइ॥८५॥

रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी शङ्करजी के चरणों में सिर नवा कर रथ पर चढ़े। मन्त्री ने तुरन्त रथ चलाया और इधर उधर से पता छिपा दिया॥८५॥

तात्पर्य्य यह कि पहले नगर की ओर रथ चलाया और वहाँ से ऐसे रास्ते से निकले कि जहाँ पहिये का चिह्न कुछ दूर तक प्रत्यक्ष नहीं होने पाया।

चौ०—जागे सकल लोग भये भोरू । गे रघुनाथ भयउ अति सोरू ॥
रथकर खोज कतहुँ नहिँ पावहिँ । राम रामकहि चहुँ दिसि धावहिँ ॥१॥

सवेरा होने पर सब लोग जागे, बड़ा हल्ला हुआ कि रघुनाथजी चले गये । रथ का पता कहीं नहीं पाते हैं, चारों ओर राम राम कह कर दौड़ते हैं ॥१॥

मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू । भयउ बिकल बड़ बनिक-समाजू ॥
एकहि एक देहिँ उपदेसू । तजे राम हम जानि कलेसू ॥२॥

ऐसा मालूम होता है मानों समुद्र में जहाज़ डूब गया जिससे व्यापारियों की मण्डली बड़ी व्याकुल हुई हो । एक दूसरे को सिखाते हैं कि रामचन्द्रजी ने हम लोगों के कष्ट को जान कर त्याग दिया (साथ में नहीं लिया) ॥२॥

रामचन्द्रजी का वन-गमन और जहाज़ का डूबना, प्रजा और वणिक-समाज परस्पर उपमेय उपमान हैं । जहाज़ डूबने पर उसके मालिक व्यापारियों का मण्डल विकल होता ही है । यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । एक दूसरे को उपदेश देते हैं, इसमें रामचन्द्रजी की कृपालुता व्यञ्जित करने की ध्वनि है । यदि यह अर्थ किया जाय कि—"हम लोगों को दुःखदायी जान कर छोड़ दिया" तब भाव बिगड़ जाता है । रामचन्द्रजी की नगर-निवासी प्रशंसा करते हैं न कि निन्दा । हाँ—यह अर्थ हो सकता है कि—"रामचन्द्रजी के त्याग देने से हम लोगों को क्लेश ही जानना चाहिए अर्थात् साथ लेते तो किसी प्रकार का कष्ट न होता" ।

निन्दहिँ आपु सराहहिँ मीना । धिग जीवन रघुबीर बिहीना ॥
जौँ पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा । तौ कस मरन न माँगे दीन्हा ॥३॥

अपनी निन्दा कर के मछली की बड़ाई करते हैं और कहते हैं कि बिना रघुनाथ जी के जीना धिक्कार है । यदि ब्रह्मा ने प्यारे का वियोग किया तो माँगने से मृत्यु क्यों नहीं देते हैं ? ॥३॥

मछली की सराहना करते हैं कि वह जड़ होकर अपने प्रेमी जल का वियोग होते ही प्राण तज देती है । हम लोग चेतन हैं और प्यारे के वियोग से जीते जागते हैं तो इस जीवन पर धिक्कार है । चमत्कार में वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर होने से 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

एहि बिधि करत प्रलाप-कलापा । आये अवध भरे परितापा ॥
बिषम बियोग न जाइ बखाना । अवधि आस सब राखहिँ प्राना ॥४॥

इस तरह सन्ताप से भरे समूह विलाप करते हुए अयोध्या में आये । भीषण वियोग का दुःख कहा नहीं जाता । सब अवधि (१४ वर्ष बाद रामचन्द्रजी लौटेंगे, इस) आशा से प्राण रखते हैं ॥४॥

दो०—राम-दरस-हित नेम ब्रत, लगे करन नर नारि ।
मनहुँ कोक-कोकी-कमल, दीन बिहीन तमारि ॥८६॥

रामचन्द्रजी के दर्शनार्थ स्त्री-पुरुष नेम और व्रत करने लगे। वे सब ऐसे दुःखी मालूम होते हैं मानों चकवा-चकवी और कमल बिना सूर्य्य के दीन हों ॥८६॥

चौ०—सीता सचिव सहित दोउ भाई । सृङ्गबेरपुर पहुँचे जाई ॥
उतरे राम देवसरि देखी । कीन्ह दंडवत हरष बिसेखी॥१॥

सीताजी और मन्त्री के सहित दोनों भाई जाकर शृङ्गवेरपुर पहुँचे। गङ्गाजी को देख कर रामचन्द्रजी रथ से उतर पड़े और बड़े हर्ष से दण्डवत किया ॥१॥

लखन सचिव सिय किये प्रनामा । सबहिँ सहित सुख पायउ रामा ॥
गङ्ग सकल मुद-मङ्गल-मूला । सब सुख-करनि हरनि सब सूला ॥२॥

लक्ष्मणजी, सुमन्त और सीताजी ने प्रणाम किया, सब के सहित रामचन्द्रजी सुखी हुए और बोले—गङ्गाजी सम्पूर्ण आनन्द-मङ्गलों की मूल हैं, सब सुख देनेवाली और समस्त पीड़ाओं की हरनेवाली हैं ॥२॥

गङ्गाजी दुःख को हर कर बदले में सुख देती हैं 'परिवृत्त अलंकार' है।

कहि कहि कोटिक कथा प्रसङ्गा । राम बिलोकहिँ गङ्ग-तरङ्गा ॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई । बिबुधनदी महिमा अधिकाई ॥३॥

करोड़ों कथाओं की बात कह कह कर रामचन्द्रजी गङ्गाजी की लहरों को देखते हैं। मन्त्री, छोटे भाई और प्रिया-सीताजी को देवनदी की बहुत बड़ी महिमा सुनायी ॥३॥

मज्जन कीन्ह पन्थ स्रम गयऊ । सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ॥
सुमिरत जाहि मिटइ स्रम-भारू । तेहि स्रम यह लौकिक ब्यवहारू ॥४॥

स्नान किया जिससे रास्ते की थकावट दूर हुई और पवित्र जल पी कर मन में प्रसन्न हुए। जिनका स्मरण करने से परिश्रम का बोझ (जीव का संसार में बार बार जन्म, मृत्यु और गर्भवास) मिट जाता है, उनकी थकावट मिटी! यह केवल लोक व्यवहार है ॥४॥

पहले कही हुई बात कि स्नान करने से मार्गश्रम मिट गया इसका निषेध करके दूसरी बात कहना कि जिनका नाम स्मरण करने से थकावट का भार मिटता है, उनको थका हुआ लोक मर्यादा के अनुसार कहा गया 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

दो०—सुद्ध सच्चिदानन्द-मय, कन्द भानुकुल-केतु ।
चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु ॥८७॥

शुद्ध सत् चित् आनन्द कन्द (मेघ) के रूप सूर्य्यकुल के पताका मनुष्य लीला के अनुसार चरित करते हैं, जो संसार रूपी समुद्र के लिए पुल है ॥ ८७ ॥

चौ०—यह सुधि गुह-निषाद जब पाई । मुदित लिये प्रिय-बन्धु बोलाई॥
लिय फल मूल भेँट भरि भारा । मिलन चलेउ हिय हरष अपारा॥१॥

जब यह ख़बर गुह-निषाद ने पाई, तब प्रसन्न होकर प्यारे कुटुम्बियों को बुला लिया। फल-मूल का बोझ भेंट के लिए काँवरियों में भरवा कर मन में अपार हर्ष से मिलने चला॥१॥

करि दंडवत भेँट धरि आगे । प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे॥
सहज-सनेह-बिबस रघुराई । पूछी कुसल निकट बैठाई॥२॥

दण्डवत कर के भेंट की चीज़ें सामने रख दी और अत्यन्त प्रेम से प्रभु रामचन्द्रजी को निहारने लगा। रघुनाथजी उसके स्वाभाविक स्नेह के वश हो समीप में बैठा कर कुशल-भलाई पूछी॥२॥

राजापुर की प्रति में इस चौपाई का उत्तरार्द्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह नकल करने से छूट गया है, क्योंकि काशी की प्रति में यह चौपाई विद्यमान है और इसके बिना प्रसङ्ग में विरोध पड़ता है।

नाथ कुसल पद-पङ्कज देखे । भयउँ भाग-भाजन जन लेखे॥
देव धरनि-धन-धाम तुम्हारा । मैं जन नीच सहित परिवारा॥३॥

गुह कहने लगा—हे नाथ! चरण-कमलों को देखने से कुशल है, मैं भाग्यवान् मनुष्यों में गिने जाने योग्य हुआ। हे देव! मेरी धरती, सम्पत्ति और घर आपका है और मैं परिवार सहित आप का नीच दास हूँ॥३॥

कृपा करिय पुर धारिय पाऊ । थापिय जन सब लोग सिहाऊ॥
कहेहु सत्य सब सखा सुजाना । मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥४॥

कृपा कर के गाँव में पाँव रखिये और मुझे अपना दास बनाइये, जिसमें लोग मेरे भाग्य की प्रशंसा करें। रामचन्द्रजी ने कहा—हे सुजान मित्र! जो तुमने कहा वह सत्य है, परन्तु पिताजी ने मुझे और ही आज्ञा दी है॥४॥

पहले रामचन्द्रजी ने कहा कि जो तुम कहते हो तुम्हारी धरती, धन, धाम सब मेराही है पधारने में मुझे प्रसन्नता है। फिर दूसरी बात कह कर अपनी कही हुई प्रथम बात का निषेध करते हैं कि पिताजी ने दूसरी आज्ञा दी है, इससे ग्राम में प्रवेश न करूँगा 'उक्ता-क्षेप अलंकार' है।

दो०—बरष चारि-दस बास बन, मुनि-ब्रत-बेष-अहार।
ग्राम-बास नहिँ उचित सुनि, गुहहि भयउ दुख-भार॥८८॥

चौदह वर्ष पर्य्यन्त मुनियों के व्रत, वेश और भोजन करते हुए वन में निवास करूँ। गाँव में बसना उचित नहीं, यह सुन कर गुह को भारी दुःख हुआ॥८८॥

चौ०—राम-लखन-सिय रूप निहारी । कहहिँ सप्रेम ग्राम नर-नारी ॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥१॥

रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीताजी के रूप को निहार कर गाँव के पुरुष और स्त्रियाँ प्रेम के साथ कहती हैं। हे सखी! कहो तो वे पिता-माता कैसे हैं जिन्हों ने ऐसे बालकों को वन में भेजा है? ॥१॥

जिन्हें राजमहल में रखना चाहता था उन्हें वन में भेज दिया व्यङ्गार्थ द्वारा 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' प्रकट होता है। सुकुमार पुत्रों को वन में भेजा, वे माता-पिता कैसे (कठोर) हैं? इसमें राजा-रानी की निर्दयता व्यञ्जित होना 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग' है।

एक कहहिँ भल भूपति कीन्हा । लोचन लाहु हमहिँ बिधि दीन्हा ॥
तब निषाद-पति उर अनुमाना । तरु सिंसुपा मनोहर जाना ॥२॥

एक कहते हैं कि राजा ने अच्छा किया हमें नेत्रों के लाभ का विधान दिया। तब निषाद-राज मन में विचार कर जाना कि सीसम का वृक्ष मनोहर है ॥२॥

लेइ रघुनाथहि ठाँउ देखावा । कहेउ राम सब भाँति सुहावा ॥
पुरजन करि जोहार घर आये । रघुबर सन्ध्या करन सिधाये ॥ ३ ॥

रघुनाथजी को ले जाकर वह स्थान दिखाया, रामचन्द्रजी ने कहा कि सब तरह सुन्दर है। पुर के लोग प्रणाम करके अपने अपने घर आये और रघुनाथजी सन्ध्या-वन्दन करने को चले ॥३॥

गुह सँवारि साथरी डसाई । कुस किसलय मय मृदुल सुहाई ॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी । दोना भरि भरि राखेसि आनी ॥४॥

गुह ने कुश और कोमल पत्तों की सुन्दर मुलायम गोनरी तैयार कर के बिछाई। पवित्र, मीठे और नरम फल तथा मूल समझ कर दोनों में भर भर और लाकर रख दिया ॥४॥

दो०—सिय सुमन्त्र भ्राता सहित, कन्द मूल फल खाइ ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ ॥ ८९ ॥

सीताजी, सुमन्त और भाई लक्ष्मण के सहित कन्द, मूल, फल खा कर रघुवंश-मणि (रामचन्द्रजी) ने शयन किया, तब लक्ष्मणजी पाँव दबाने लगे ॥८९॥

चौ०—उठे लखन प्रभु सोवत जानी । कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी ॥
कछुक दूरि सजि बान-सरासन । जागन लगे बैठि बीरासन ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी को सोते हुए जान कर लक्ष्मणजी उठे और कोमल वाणी से मंत्री को सोने के लिए कहा। आप धनुष-बाण सज कर कुछ दूर पर वीरासन से बैठ कर जागने लगे ॥१॥

गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती । ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती ॥
आपु लखन पहिँ बैठेउ जाई । कटि भाथी सर चाप चढ़ाई ॥२॥

गुह ने विश्वासी पहरेदारों को बुला कर बड़ी प्रीति से उनको जगह जगह रक्षा के लिए रख दिया। आप कमर में तरकस बाँध और धनुष पर बाण चढ़ा कर लक्ष्मणजी के पास जा बैठा ॥२॥

सभा की प्रति में 'कटि भाथा सर चाप चढ़ाई' पाठ है, परन्तु गुटका और राजापुर की प्रति में 'भाथी' है। कविजी ने जान बूझ कर यहाँ भाथी शब्द इसलिए रक्खा है कि लक्ष्मणजी के त्रोण के समक्ष निषादराज के तरकस की लघुता व्यञ्जित करना अभीष्ट है।

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू । भयउ प्रेम-बस हृदय बिषादू ॥
तनु पुलकित जल लोचन बहई । बचन सप्रेम लखन सन कहई ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी को (धरती पर) सोते हुए देख कर निषाद प्रेम के अधीन हो गया, उसके हृदय में खेद हुआ। शरीर पुलकित हो गया और आँखों से जल बहने लगा, प्रीति के साथ लक्ष्मणजी से वचन कहने लगा ॥३॥

निषादराज के हृदय में चिन्ताजन्य मनोभङ्ग का होना 'विषाद सञ्चारीभाव' है। प्रेम के कारण शरीर रोमाञ्चित होना आँखों से आँसू बहना, लक्ष्मण से वचन कहना अनुभाव है।

भूपति भवन सुभाय सुहावा । सुरपति सदन न पटतर आवा ॥
मनि-मय रचित चारु चौबारे । जनु रति-पति निज-हाथ सँवारे ॥४॥

राजा दशरथजी के महल स्वाभाविक सुहावने हैं, जिनकी बराबरी में इन्द्र-भवन नहीं आ सकता। मणियों से बनी सुन्दर बैठकें (बँगले) ऐसी मालूम होती हैं मानों कामदेव ने उन्हें अपने हाथ से बनायी हो ॥४॥

पूर्वार्द्ध में राजमन्दिर के मोकाबिले इन्द्रभवन को हीन कहना कि वह बराबरी के योग्य नहीं 'तृतीय प्रतीप अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में कोठे के ऊपर की वह कोठरी जिसमें चारों ओर दरवाज़े रहते हैं, उसको चौबारा, बँगला वा बालाखाना कहते हैं। बैठक की सुन्दरता सिद्ध आधार है किन्तु कामदेव राजगीर नहीं जो घर बनाया हो। प्रौढ़ोक्ति द्वारा इस अहेतु को हेतु स्थापन करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—सुचि सुबिचित्र सुभोग-मय, सुमन सुगन्ध सुबास ।
पलँग-मञ्जु मनि-दीप जहँ, सबबिधि सकल सुपास ॥९०॥

जो बड़ा ही पवित्र विलक्षण सुन्दर भोगविलास की सामग्रियों से परिपूर्ण और फूलों के सुगन्ध से सुवासित रहता है। जहाँ सब तरह सम्पूर्ण सुबीता है, मनोहर पलँग और मणियों के दीपक जलते हैं ॥ ९० ॥

चौ०-बिबिध बसन उपधान तुराई । छीर-फेन मृदु बिसद सुहाई ॥
तहँ सिय राम सयन निसि करहीं । निज छबि रति-मनोज मद हरहीं ॥१॥

दूध के फेन के समान कोमल सफेद और सुहावने जहाँ तरह तरह के वस्त्र, तकिया और तोशक बिछे रहते हैं । वहाँ सीताजी और रामचन्द्रजी रात में सोते हैं और अपनी छबि से रति तथा कामदेव के गर्व को हर लेते हैं ॥ १ ॥

पूर्वार्द्ध में विविध वस्त्र, तोशक, तकिया-उपमेय, क्षीरफेन-उपमान, मृदु विशद सुहावना-धर्म है; किन्तु सम-वाचक लुप्त है । यह 'वाचकलुप्तोपमा अलंकार' है । उत्तरार्द्ध में सीताजी और रामचन्द्रजी-उपमेय, रति और मनोज-उपमान है । उपमान की सुन्दरता का प्रहार कर उपमेय की बराबरी में व्यर्थ होना 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है ।

ते सिय-राम साथरी सोये । स्रमित बसन बिनु जाहिँ न जोये ॥
मातु पिता परिजन पुरबासी । सखा सुसील दास अरु दासी ॥२॥

वही सीताजी और रामचन्द्रजी साथरी पर सोये हैं, थके हुए बिना वस्त्र के जो देखे नहीं जाते हैं । माता, पिता, कुटुम्ब के लोग, नगर-निवासी, मित्र, सुन्दर स्वभाव के दास और दासियाँ ॥ २ ॥

जोगवहिँ जिन्हहिँ प्रान की नाँई । महि सोवति तेइ राम गोसाँई ॥
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ । ससुर सुरेस-सखा रघुराऊ ॥३॥

जिन्हें प्राण की तरह रक्षित रखते थे, वही स्वामी रामचन्द्रजी भूमि पर सोते हैं । पिता जिनके जनकजी का प्रभाव संसार में विख्यात है और ससुर रघुराज दशरथजी इन्द्र के मित्र हैं ॥ ३ ॥

रामचन्द्र पति सो बैदेही । सोवति महि बिधि बाम न केही ॥
सिय-रघुबीर कि कानन जोगू । करम-प्रधान सत्य कह लोगू ॥४॥

रामचन्द्रजी जिनके स्वामी हैं, वही विदेह-नन्दिनी धरती पर सो रही हैं, विधाता किसको टेढ़े नहीं होते ? क्या सीताजी और रघुनाथजी वन के योग्य हैं ? लोग सच कहते हैं कि कर्म ही प्रधान है ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी जिनके पति हैं वह जानकी धरती पर सोती हैं ? अपने इस कथन का समर्थन हेतु-सूचक बात कहकर करता है कि ब्रह्मा किसके टेढ़े नहीं होते 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है । क्या सीताजी और रघुनाथजी वन-बास के योग्य हैं ? काकु से भिन्न अर्थ भासित होना कि ये वन-बास के योग्य नहीं हैं 'वक्रोक्ति अलंकार' है । लोग सत्य कहते हैं कर्म ही प्रधान है, यहाँ कर्म-प्रधान सिद्ध अर्थ है उसको फिर से सत्य कहना 'विधि अलंकार' है । व्यङ्गार्थ में असङ्गति और विषम अलंकार की झलक है । इस प्रकार यहाँ अलंकारों का सन्देहसङ्कर है ।

दो०—कैकय-नन्दिनि मन्द-मति, कठिन कुटिल-पन कीन्ह ।
जेहि रघुनन्दन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह ॥९१॥

नीच बुद्धिवाली केकयी ने भीषण कुटिलता की, जिसने रघुनाथजी और जानकीजी को सुख के समय में दुःख दिया ॥ ९१ ॥

'मन्दमति' विशेषण साभिप्राय है, क्योंकि नीच बुद्धिवाली ही कठिन कुटिलता कर सकती है। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है । केकयी की कुटिलता और नीचता का इस हेतु-सूचक बात से समर्थन करना कि जिसने रामचन्द्र और सीताजी को सुख के समय अनायास ही दुःख दिया 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

चौ०—भइ दिनकर-कुल-बिपट कुठारी । कुमतिकीन्हसबबिस्वदुखारी ॥
भयउ बिषाद निषादहि भारी । राम-सीय महि सयननिहारी॥१॥

यह सूर्य्यकुल रूपी वृक्ष के लिए कुल्हाड़ी हुई, इस दुर्बुद्धि ने सारे संसार को दुःखी किया। रामचन्द्रजी और सीताजी को भूमि पर सोते हुए देख कर निषाद को बड़ा भारी विषाद हुआ ॥ १ ॥

राम-जानकी का भूमि में सोना कारण और निषाद को विषाद होना कार्य्य है। कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है ।

बोले लखन मधुर मृदु-बानी । ज्ञान-बिराग भगति-रस सानी ॥
काहु न कोउ सुखदुखकर दाता । निज कृत करम भोग सुनु भ्राता ॥२॥

लक्ष्मणजी कोमल मधुर वाणी से बोले, जो ज्ञान, वैराग्य और भक्तिरस में सनी हुई है। हे भाई ! सुनो, कोई किसी को सुख वा दुःख देनेवाला नहीं है, सब अपने ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है ॥ २ ॥

कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता, इस साधारण बात का विशेष से समर्थन करना कि सब अपने किये कर्मों का फल भोगते हैं 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

जोग बियोग भोग भल मन्दा । हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा ॥
जनम मरन जहँ लगि जगजालू । सम्पति बिपति करम अरु कालू॥३॥

मिलना-बिछुड़ना, भला और बुरा फल भोगना, शत्रु-मित्र-मध्यस्थ का भ्रम-पूर्ण बन्धन, जन्म-मृत्यु, सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म और काल जहाँ तक संसार के जाल हैं ॥ ३ ॥

धरनि धाम धन पुर परिवारू । सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू ॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥४॥

धरती, गृह, धन, गाँव, परिवार, स्वर्ग और नरक का जहाँ तक व्यवहार है। जो देखने, सुनने में आते हैं और मन में विचारे जाते हैं सब का अज्ञान ही कारण है, इनमें पारलौकिक कार्य्य (मोक्ष साधन का उपाय) नहीं है ॥ ४ ॥

अनेक क्रियाओं का कर्त्ता (कारण) एक अज्ञान को कहना 'कारक दीपक अलंकार' है।

दो०-सपने होइ भिखारि नृप, रङ्क नाकपति होइ ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोइ ॥ ९२ ॥

जैसे सपने में राजा भिक्षुक हो जाय और कङ्गाल इन्द्र की पदवी पा जाय परन्तु जागने पर लाभ हानि कुछ नहीं अर्थात् भिखारी भिखारी ही और राजा राजा ही रहता है, वैसे ही संसार को मन में (स्वप्नवत) समझना चाहिए ॥ ९२ ॥

चौ०—अस बिचारि नहिँ कीजिय रोषू । काहुहि बादि न देइय दोषू ॥
मोह-निसा सब सोवनिहारा । देखिय सपन अनेक प्रकारा ॥१॥

ऐसा विचार कर क्रोध न कीजिये और किसी को व्यर्थ दोष मत दीजिये । अज्ञान रूपी रात्रि में सब (जीव) सोनेवाले हैं, वे अनेक प्रकार के मिथ्या स्वप्न देखा करते हैं ॥ ॥

एहि जग-जामिनि जागहिँ जोगी । परमारथी प्रपञ्च बियोगी ॥
जानिय तबहिँ जीव जग जागा । जब सब बिषय-बिलास बिरागा ॥२॥

इस संसार रूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं, वे तत्वदर्शी होते हैं और दुनिया की छलबाजी से अलग रहते हैं। (यहाँ तक ज्ञानोपदेश है, आगे वैराग्य प्रतिपादन करते हैं) जगत में जीव को तभी जगा हुआ जानो जब सब विषयानन्दों का त्यागी हो जाय ॥२॥

जब सब बिषय-विलासों से विराग हो, तब जानो कि जीव संसारी रात से जगा है। ऐसा हो तब ऐसा जानो 'सम्भावना अलंकार' है।

होइ बिबेक मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
सखा परम परमारथ एहू । मन क्रम बचन राम-पद नेहू ॥३॥

ज्ञान होने पर अज्ञान की भ्रान्ति दूर हो जाती है, तब रघुनाथजी के चरणों में प्रेम होता है। हे मित्र ! अत्युत्तम परमार्थ (सारवस्तु) यही है कि मन, कर्म और वचन से रामचन्द्रजी के चरणों में स्नेह हो ॥ ३ ॥

साधारण बात कह कर विशेष सिद्धान्त से उसका समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। वैराग्य कह कर अब भक्ति निरूपण करते हैं।

राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहिँ बेदा ॥४॥

रामचन्द्रजी परब्रह्म, परमार्थ के रूप, अनिर्वचनीय, अप्रत्यक्ष, आदि रहित और अनुपम हैं। सम्पूर्ण विकारों से हीन और भेद से अलग हैं, जिनको नित्य-स्वरूप इति नहीं कह कर वेद प्रकाश करते हैं ॥ ४ ॥

शरीरधारी रामचन्द्रजी को परब्रह्म, अलख, अप्राप्य कहने में 'विरोधाभास अलंकार' है

दो०—भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिँ जग जाल ॥९३॥

कृपालु रामचन्द्रजी अपने भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, गैया और देवताओं के कल्याण के लिए मनुष्य-देह धारण कर चरित करते हैं, जिसे सुन कर संसार के बन्धन नष्ट हो जाते हैं ॥९३॥

चौ०—सखा समुझि अस परिहरि मोहू । सिय-रघुबीर-चरन-रत होहू ॥
कहत राम-गुन भो भिनुसारा । जागे जग मङ्गल-सुख दारा ॥१॥

हे मित्र ! ऐसा समझ कर मोह को त्याग दो और सीता-रघुनाथजी के चरणों में अनुरक्त हो। रामचन्द्रजी का गुण वर्णन करते सवेरा हो गया, जगत को मङ्गल और सुख देनेवाले (जानकीनाथ) जाग उठे ॥ १ ॥

सभा की प्रति में 'जागे जग-मङ्गल दातारा' पाठ है, परन्तु गुटका और राजापुर की प्रति में सुख 'दारा' है 'दारा' शब्द पत्नी, भार्य्या, स्त्री का पर्यायी है, इसी भ्रम से पाठ बदला गया होगा। परन्तु 'दारु' शब्द दानशील, देनेवाला का भी पर्यायी है।

सकल सौच करि राम नहावा । सुचि सुजान बट-छीर मँगावा ॥
अनुज सहित सिर जटा बनाये । देखि सुमन्त्र नयन-जल छाये ॥२॥

शुद्ध सुजान रामचन्द्रजी ने सम्पूर्ण शौच-कर्म करके स्नान किया और बड़ का दूध मँगवाया। छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित सिर पर जटाएँ बनाईं, यह देख कर सुमन्त्र की आँखों में जल भर आया ॥ २ ॥

हृदय दाह अति बदन मलीना । कह कर जोरि बचन अति दीना ॥
नाथ कहेउ अस कोसलनाथा । लै रथ जाहु राम के साथा ॥३॥

उनके हृदय में बड़ी जलन हुई और मुख उदास हो गया, हाथ जोड़ कर अत्यन्त दुःख से वचन कहने लगे—हे नाथ ! कोशलेन्द्र दशरथजी ने ऐसा कहा कि तुम रथ लेकर रामचन्द्र के साथ जाओ ॥ ३ ॥

बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई । आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई ॥
लखन-राम-सिय आनेहु फेरी । संसय सकल सकोच निबेरी ॥४॥

वन दिखा कर और गङ्गाजी में स्नान कराकर दोनों भाइयों को जल्दी लौटा लाना। लक्ष्मण, रामचन्द्र और सीता को सम्पूर्ण संशय सङ्कोच छुड़ा कर फेर लाना ॥ ४ ॥

दो०—नृप अस कहेउ गोसाँइ जस, कहिय करउँ बलि सोइ ।
करि बिनती पायन्ह परेउ, दीन्ह बाल जिमि रोइ ॥९४॥

हे स्वामी ! मैं आपकी बलि जाता हूँ राजा ने ऐसा कहा है। अब आप जैसा कहिये वही करूँ। बिनती कर के पाँवों पर गिरपड़े और जैसे बालक रोते हैं उसी तरह रो दिया ॥ ९४ ॥

चौ०—तात कृपा करि कीजिय सोई। जातेँ अवध अनाथ न होई॥
मन्त्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम-मत तुम्ह सब सोधा॥१॥

हे तात! कृपा कर के वही कीजिये जिससे अयोध्या अनाथ न हो। मन्त्री को उठा कर रामचन्द्रजी ने समझाया कि हे तात! आपने धर्म के सभी सिद्धान्तों की खोज की है अर्थात् धर्म के मर्म को अच्छी तरह जानते हो॥१॥

गुटका में 'धरम-मग' पाठ है, किन्तु सभा और राजापुर की प्रति में 'मत' है।

सिबि दधीच हरिचन्द नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रन्तिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि सङ्कट नाना॥

देखिये—दधीचि मुनि, राजा शिवि और हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिए अपार कष्ट सहे। चतुर भूपाल रन्तिदेव और बलि ने नाना प्रकार के सङ्कटों को सह कर धर्म रक्खा॥ २॥

धर्म-पालन में कष्ट होता ही है और धर्मात्मा प्राणी उसे सहर्ष शिरोधार्य करते हैं। यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है। धर्म-धरेउ में अनुप्रास है। शिवि, दधीचि और बलि का वृत्तान्त इसी काण्ड के २६ वें दोहे के बाद चौथी चौपाई के नीचे और हरिश्चन्द्र का इतिहास ४७ वें दोहे के आगे तीसरी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखिये। राजा रन्तिदेव की कथा श्रीमद्भागवत में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। वे बड़े धर्मात्मा थे, उनकी ब्राह्मण और अतिथि-सत्कार में अपार श्रद्धा थी। राज्य छोड़ कर स्त्री और पुत्र के सहित राजा वन में तपस्या करने गये। एक बार ४८ दिन पर थोड़ा सा अन्न मिला। उसको सिद्ध कर ज्यों ही भोग लगाना चाहा त्यों ही एक क्षुधार्त्त भिक्षुक ने आकर भोजन माँगा। राजा, रानी और पुत्र ने प्रसन्नता से अपना अपना भाग उसे दे दिया। उनकी महान् उदारता और धर्मपटुता देख कर विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया तथा उन्हें परम-धाम को भेजा।

धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजे तिहूँ पुर अपजस छावा॥३॥

सत्य के बराबर दूसरा धर्म नहीं, वेद, शास्त्र और पुराण यही कहते हैं। इसी धर्म को मैं ने सुगमता से पाया, अब इसको त्यागने से तीनों लोकों में मेरी अपकीर्त्ति फैलेगी॥ ३॥

आप धर्म की सूक्ष्म गति को जानते हैं, मेरा धर्म न छुड़ाइये यह अर्थान्तर संक्रमित अगूढ़ व्यङ्ग है।

सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिये उतर फिरि पातक लहऊँ॥४॥

यशस्वी को कलङ्क मिलना करोड़ों मृत्यु के बराबर भीषण सन्ताप उत्पन्न करनेवाला है। हे तात! मैं आप से बहुत क्या कहूँ, फिर आप को उत्तर देने से भी पाप का भागी बनता हूँ॥४॥

अनुमान बल से यह जानना कि यशस्वी पुरुष को कलङ्क मिलना करोड़ों मृत्यु के समान दुखदाई है, सारोपा लक्षणा द्वारा 'अनुमानप्रमाण अलंकार' है।

दो०–पितु पद गहि कहि कोटि नति, विनय करब कर जोरि।
चिन्ता कवनिहु बात कै, तात करिय जनि मोरि ॥९५॥

पिताजी के चरणों को पकड़ कर बड़ी नम्रता से हाथ जोड़ कर बिनती कीजियेगा कि, हे तात! आप मेरे लिए किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ९५ ॥

चौ०–तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरे। बिनती करउँ तात कर जोरे॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे॥१॥

फिर आप पिताजी के समान मेरे अत्यन्त हितकारी हैं। हे तात! मैं हाथ जोड़ कर बिनती करता हूँ। सब तरह से आपका यही कर्त्तव्य है कि हमारे सोच से पिताजी दुःख को न प्राप्त हों ॥ १ ॥

सुनि रघुनाथ सचिव सम्बादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू॥
पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥२॥

रघुनाथजी और मन्त्री की परस्पर; कहासुनी सुन कर निषाद अपने कुटुम्बियों सहित विकल हो गया। फिर लक्ष्मणजी ने कुछ कड़वी बात कही, परन्तु प्रभु रामचन्द्रजी ने उसे बड़ा अनुचित जान कर मना किया ॥ २ ॥

लक्ष्मणजी के कटुवचन से रघुनाथजी के मन में पिता की मान मर्यादा सोचकर संकोच उत्पन्न होना 'व्रीड़ा सञ्चारीभाव' है। तत्वानुसन्धान द्वारा उसको अनुचित समझ कर वर्जन करना 'मति सञ्चारीभाव' है। लक्ष्मणजी ने कौन सी कड़ी बात कही? जब कविजी ने उसे स्पष्ट नहीं किया, तब अधिक कहना उचित नहीं है।

सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेस कहिय जनि जाई॥
कह सुमन्त्र पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू॥३॥

रामचन्द्रजी ने सकुचा कर मन्त्री को अपनी सौगन्द देकर कहा कि आप वहाँ जाकर लक्ष्मण का सन्देशा मत कहियेगा। फिर सुमन्त्र ने राजा का सन्देशा कहा कि वन के कष्ट को सीता न सहन कर सकेंगी ॥ ३ ॥

जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहिं करनीया॥
नतरु निपट अवलम्ब बिहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना॥४॥

जिस तरह सीता अयोध्या को लौट आवें, वही रघुनाथ को और तुमको करने योग्य है। नहीं तो बिलकुल आधारहीन होने से मैं उसी प्रकार न जिऊँगा जैसे बिना पानी के मछली नहीं जीवित रहती ॥ ४ ॥

दो०—मइके ससुरे सकल सुख, जबहिँ जहाँ मन मान ।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति-बिहान ॥९६॥

नैहर और सासुर में सम्पूर्ण सुख है, जब जहाँ मन चाहै तब वहाँ सुख से सीताजी रहेंगी, जबतक विपत्ति रूपी रात्रि का सवेरा न हो ॥ ९६ ॥

चौदह वर्ष वनवास की अवधि विपत्ति है, इस पर रात्रि का आरोपण करना रूपक है। उसका बीतना सबेरा रूप है।

चौ०—बिनती भूप कीन्ह जेहि भाँती । आरति प्रीति न सो कहि जाती ॥
पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना । सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना ॥१॥

राजा ने जिस तरह दुःखित हो कर बिनती की है, वह प्रीति कही नहीं जाती है। कृपा-निधान रामचन्द्रजी पिता के सन्देशे को सुन कर सीताजी को करोड़ों तरह से समझाया ॥१॥

सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू । फिरहु त सब कर मिटइ खभारू ॥
सुनि पति-बचन कहति बैदेही । सुनहु प्रानपति परम-सनेही ॥२॥

हे प्रिये! यदि तुम लौट जाओ तो सासु, ससुर, गुरु और कुटुम्बीजनों की सारी व्याकुलता मिट जाय। पति के वचन सुन कर विदेहनन्दिनी कहती हैं कि—हे परमप्रेमी प्राणनाथ! सुनिये ॥२॥

प्रभु करुनामय परम बिबेकी । तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी ॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई । कहँ चन्द्रिका चन्द तजि जाई ॥३॥

स्वामिन्! आप दया के रूप और अत्युत्तम ज्ञानी हैं, शरीर को छोड़ कर परछाहीं रोकने से कैसे रह सकती है? सूर्य्य को छोड़कर प्रकाश (घाम) कहाँ जा सकता है और चन्द्रमा को त्याग कर चाँदनी कहाँ जायगी? ॥३॥

सीताजी का प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि मैं आपका साथ छोड़ कर घर न जाऊँगी, उसे न कह कर केवल उसका प्रतिबिम्ब मात्र वर्णन कर अपना तात्पर्य सूचित किया 'ललित अलंकार' है। प्रत्येक वाक्यों में काकु से भिन्न अर्थ प्रकट होना अर्थात् शरीर को छोड़ कर परछाहीं अन्यत्र नहीं रुक सकती, सूर्य्य को छोड़ कर प्रकाश कहीं नहीं जा सकता, चन्द्रमा को त्याग कर चाँदनी कहीं नहीं जा सकती 'वक्रोक्ति अलंकार' है। जिस बात को कहना चाहती हैं उसे स्पष्ट शब्दों में न कह कर इस ढङ्ग से कहती हैं कि असली बात लक्षित हो रही है, यह 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

पतिहि प्रेम-मय बिनय सुनाई । कहति सचिव सन गिरा सुहाई ॥
तुम्ह पितु-ससुर-सरिस हितकारी । उतर देउँ फिरि अनुचित भारी ॥४॥

प्रेम भरी बिनती स्वामी को सुना कर मन्त्री से सुहावनी वाणी में कहती हैं। आप पिता और ससुर के समान मेरे हितकारी हैं, फिर मैं उत्तर देती हूँ बड़ा ही अनुचित है ॥४॥

आप की आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिए, यह वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०--आरति-बस सनमुख भयउँ, बिलग न मानब तात ।
आरज-सुत-पद-कमल बिनु, बादि जहाँ लगि नात ॥९७॥

हे तात ! मैं दुःख के अधीन होकर सामने हुई हूँ इसके लिए भिन्न-भाव न मानियेगा। आर्यपुत्र (रामचन्द्रजी) के चरण-कमलों के बिना जहाँ तक नाते हैं, वे सब व्यर्थ हैं ॥९७॥

जो बात पिता, ससुर और गुरु के सामने न कहनी चाहिए, वह विपत्ति के वश कहती हूँ क्षमा कीजियेगा। बिना रामचन्द्रजी के सब नाते व्यर्थ हैं। यहाँ दोहे के पूर्वार्द्ध में काकु से वर्जन व्यञ्जित होता है कि मेरा सन्देशा सास-ससुर से यथातथ्य कहने योग्य नहीं है॥ आप मेरे पिता और ससुर के समान हितकारी हैं, कृपया सुधार कर कहियेगा। यह 'व्यञ्जना मूलक काकुविशेष व्यङ्ग' है। इसी से सुमन्त्र ने राजा से सीताजी का सन्देशा कुछ नहीं कहा, केवल "कहि प्रनाम कछु कहन लिय. सिय भइ सिथिल सनेह" इतने ही में समाप्त कर दिया।

चौ०--पितु-बैभव-बिलास मैं डीठा । नृप-मनि-मुकुट मिलत पदपीठा ॥
सुख-निधान अस पितु-गृह मोरे । पिय बिहीन मन भाव न भोरे॥१॥

मैं ने पिता के ऐश्वर्य का आनन्द देखा है कि राजशिरोमणियों के मुकुट उनके खड़ाऊँ पर मिलते हैं अर्थात् सम्राट् लोग उन्हें प्रणाम करते हैं। ऐसा सुख का भण्डार मेरे पिता का घर है, परन्तु प्राणनाथ के बिना वह भूल कर भी मेरे मन में नहीं सुहाता ॥ १ ॥

ससुर चक्कवइ कोसलराऊ । भुवन चारि-दस प्रगट प्रभाऊ ॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई । अरध सिंहासन आसन देई ॥२॥

अयोध्या के चक्रवर्ती राज श्वसुर हैं जिनकी महिमा चौदहों लोकों में विख्यात है। जिन्हें इन्द्र आगे होकर लेता (स्वागत करता) है और अपने आधे सिंहासन को बैठने के लिए देता है ॥ २ ॥

चक्रवर्त्ती कोशलराज का प्रभाव चौदहों लोकों में प्रसिद्ध है, इस विशेष बात का साधारण उदाहरण से समर्थन करना कि जिनका देवराज आगे से उठ कर स्वागत करते हैं और अपने सिंहासन पर बैठाते हैं 'अर्थान्तन्यास अलंकार' है।

ससुर एतादृस अवध निवासू । प्रिय परिवार मातु सम सासू ॥
बिनु रघुपति-पद-पदुम-परागा । मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥३॥

ऐसे प्रभावशाली मेरे ससुर और अयोध्यापुरी का रहना जहाँ प्यारे कुटुम्बीजन एवम् माता के समान सासु हैं। बिना रघुनाथजी के चरण-कमल की धूलियों के मुझे कोई स्वप्न में भी सुखदायक नहीं लगते ॥३॥

अगम पन्थ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा॥
कोल किरात कुरङ्ग बिहङ्गा। मोहि सब सुखद प्रानपति सङ्गा॥४॥

वन मार्ग, धरती और पहाड़ दुर्गम हैं, वहाँ असंख्यों हाथी, सिंह, तालाब तथा नदियाँ हैं। कोल, भील, मृग, पक्षी सब मुझे प्राणनाथ के साथ सुखदायी हैं॥४॥

दुःखदायी वस्तुओं को प्राणपति के सङ्ग से सुखदाई मानना 'अनुज्ञा अलंकार' है।

दो०--सासु ससुर सन मोरि हुति, बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोच जनि करिय कछु, मैं बन सुखी सुभाय॥९८॥

मेरी ओर से सासु-ससुर के पाँव पड़ कर बिनती कीजियेगा कि मेरा सोच कुछ भी न करेंगे, मैं वन में स्वाभाविक सुखी रहूँगी॥९८॥

चौ०--प्राननाथ प्रिय-देवर साथा। बीर-धुरीन धरे धनु भाथा॥
नहिं मग स्रम भ्रम दुख मन मोरे। मोहि लगि सोच करिय जनि भोरे॥१॥

मैं प्राणनाथ और प्यारे देवर के साथ हूँ, जो धनुष-बाण धारण किये हुए धुरन्धर शूर-वीर हैं। रास्ते की थकावट का भ्रम-पूर्ण दुःख मेरे मन में नहीं है, इसलिए भूल कर भी मेरे वास्ते सोच न करेंगे॥१॥

'भाथा' शब्द में मुख्यार्थ बाध हो कर बाण में लक्षणा है। सभा की प्रति में 'धीर धुरीन' पाठ है, किन्तु गुटका और राजापुर की प्रति में 'बीर-धुरीन' है।

सुनि सुमन्त्र सिय-सीतलि-बानी। भयउ बिकल जनु फनि-मनि-हानी॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥२॥

सीताजी की शीतल वाणी को सुन कर सुमन्त्र व्याकुल हो गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों साँप की मणि खो गई हो। न आँख से उन्हें सूझता है, न कान से सुनते हैं, बहुत घबरा गये कुछ कह नहीं सकते॥२॥

शीतल वाणी से सुमन्त्र का सन्तप्त होना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है।

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतल छाती॥
जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनन्दन दीन्हे॥३॥

रामचन्द्रजी ने बहुत तरह से समझाया तो भी उनकी छाती ठण्डी नहीं होती है। साथ चलने के लिये अनेक उपाय किये, परन्तु रघुनाथजी ने उचित उत्तर दिये (कि पिताजी व्याकुलता से आप की राह देखते होंगे, ऐसी दशा में आप का मेरे साथ चलना अनर्थमूलक होगा)॥३॥

मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥
राम-लखन सिय पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई॥४॥

रामचन्द्रजी की आज्ञा मेटी नहीं जाती, कर्म की गति कठिन है उस पर कुछ वश नहीं।

चलता। रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के चरणों में सिर नवा कर इस तरह लौटे जैसे व्यापारी मूलधन (सारी पूँजी) खो कर लौटा हो ॥४॥

दो०-रथ हाँकेउ हय राम-तन, हेरि हेरि हिंहिनाहिँ।
देखि निषाद बिषाद-बस, धुनहिँ सीस पछिताहिँ ॥९९॥

सुमन्त्र ने रथ हाँका, परन्तु घोड़े रामचन्द्रजी की ओर देख देख कर हिनहिनाते हैं (आगे को पाँव नहीं रखते हैं)। यह देख कर निषाद विषाद के वश होकर सिर पीटते हैं और पछताते हैं ॥९९॥

घोड़ों की व्याकुलता से निषादों का विकल होना 'द्वितीय उल्लास अलंकार' है।

चौ०-जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिँ कैसे।
बरबस राम सुमन्त्र पठाये। सुरसर-तीर आपु तब आये ॥१॥

जिनके वियोग से पशु इस तरह व्याकुल हैं तो प्रजा-गण और माता-पिता कैसे जियेंगे? रामचन्द्रजी ने बरजोरी से सुमन्त्र को लौटाया, तब आप गङ्गाजी के किनारे पर आये ॥ १ ॥

पशुओं की व्याकुलता का लक्षण देख कर प्रजा, माता और पिता के जीने में वक्रोक्ति द्वारा यह कहना कि वे न जीवित रहेंगे 'अनुमानप्रमाण अलंकार' है।

माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरम मैं जाना॥
चरन कमलरज कहँ सब कहई। मानुष-करनि मूरि-कछु अहई ॥२॥

नाव माँगी पर मल्लाह नौका नहीं लाता है, वह कहता है कि मैं आप के भेद को जानता हूँ। आप के चरण-कमलों की धूलि को सब कहते हैं कि वह मनुष्य करनेवाली कुछ जड़ी-बूटी है ॥ २ ॥

केवट की आन्तरिक इच्छा पाँव धोने की है, उसको छिपाने की इच्छा से बहाने की बात कहना कि आप के चरणों की धूलि पत्थर, काठ को मनुष्य बना देने के लिए जड़ी-बूटी है 'व्याजोक्ति अलंकार' है।

छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तेँ न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जोई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥३॥

जिनके छूते ही पत्थर की चट्टान सुन्दर स्त्री हुई तो पत्थर से बढ़ कर काठ में कड़ाई नहीं होती। नौका भी मुनि की पत्नी हो जायगी, मेरी नाव उड़ जाने से रास्ता पड़ जायगा अर्थात् कोई पथिक पार न जा सकेगा ॥ ३ ॥

जब शिला मुनि पत्नी हुई तब काठ किस लेखे में है, यह तो हुआ बैठा है 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है। मुनि-घरनी कहने में लक्षणामूलक अगूढ़व्यङ्ग है कि मेरे काम न आकर मुनि के काम आवेगी।

एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिँ जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौँ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद-पदुम पखारन कहहू॥४॥

इसी से मैं सब कुटुम्बियों का पालन-पोषण करता हूँ, दूसरा धन्धा (रोज़गार) कुछ नहीं जानता। हे प्रभो! यदि आप अवश्य पार जाना चाहते हैं तो मुझे चरण-कमलों को धोने के लिए कहिये॥४॥

केवट पाँव धोना चाहता है, पर उसे सीधे शब्दों में न कह कर कि 'मैं आप के चरणों को धोऊँगा' बहाने की बात कर के काम साधता है, यह 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार' है। कहता है कि—"केवट की जाति कछू वेद न पढ़ाइ हौँ। दीन वित्त हीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौँ॥ प्रभु सोँ निषाद ह्वै के वाद न बढ़ाइहौँ। बिना पग धोये नाथ नाव न चढ़ाइहौँ॥"

हरिगीतिका-छन्द।

पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव न, नाथ उतराई चहौँ।
मोहि राम रौउरि-आन दसरथ, सपथ सब साँची कहौँ॥
बरु तीर मारहु लखन पै जब, लगि न पाय पखारिहौँ।
तबलगि न तुलसीदास-नाथ, कृपाल पार उतारिहौँ॥४॥

हे नाथ! मैं कुछ उतराई नहीं चाहता; किन्तु चरण-कमलों को धोकर ही नाव पर चढ़ाऊँगा। हे रामचन्द्रजी! मुझे आप की सौगन्द और महाराज दशरथजी की किरिया है, सब सत्य ही कहता हूँ। चाहे लक्ष्मणजी बाण मार दें (प्राण दे दूँगा) परन्तु जबतक पाँव न धो लूँगा तबतक हे कृपालु तुलसीदास के स्वामी! मैं आप को पार न उतारूँगा॥४॥

भविष्य में होनेवाली बात तुलसीदास के नाथ कहने में 'भाविक अलंकार' है।

सो०—सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन, चितइ जानकी लखन-तन॥१००॥

प्रेम से सनी केवट की टेढ़ी बात सुन कर दयानिधान रामचन्द्रजी जानकीजी और लक्ष्मणजी की ओर देख कर हँसे॥१००॥

केवट की बात सुन कर रामचन्द्रजी उसके मन का अभिप्राय समझ गये और सीताजी तथा बन्धु की ओर निहार कर मुस्कुराये जिससे अपना तात्पर्य जता दिया कि पार उतरना ही है, तब इससे पाँव धुलाना चाहिए 'सूक्ष्म अलंकार' है। रामचन्द्रजी के हँसने में कई प्रकार की व्यञ्जनामूलक गूढ़ ध्वनि है। यथा—(१) "उसकी अट पट वाणी सुन कर इस लिए हँस पड़े कि कहीं सीताजी और लक्ष्मणजी इस पर क्रोध न कर बैठें; क्योंकि लक्ष्मणजी के रुख़ को देख कर केवट ने स्पष्ट कह दिया कि चाहे लक्ष्मणजी तीर मार दें। (२) मेरी भक्ति की दृढ़ता को देखिये, यह प्राण देने को तैयार है पर समय चूकना नहीं चाहता। ऐसे दीन दास का सम्मान करना मेरा धर्म है। (३) अब तक आप दोनों चरण सेवी थे; किन्तु आज यह भी उसका हिस्सेदार होना चाहता है। (४) अभी यह पहला भक्त अटपट बोलनेवाला

मिला है, आगे कोल भील आदि बहुत मिलेंगे। सब पर दया करनी होगी (५) जनक ने तुम्हें संकल्प कर के पाँव धोया था, पर यह मुफ्त में धोना चाहता है इत्यादि।"

चौ०-कृपा सिन्धु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलम्ब उतारहि पारू॥१॥

कृपासागर रामचन्द्रजी मुस्कुराकर बोले कि तू वही कर जिससे तेरी नाव न जाय। जल्दी पानी लाकर पाँव धो ले और देरी होती है; पार उतार दे॥ १॥

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिँ नर भव-सिन्धु अपारा॥
सोइ कृपाल केवटहि निहोरा। जेहि जग किय तिहु पगहु ते थोरा॥२॥

एक बार जिनका नाम सुमिरते ही मनुष्य अपार संसार-सागर से पार हो जाते हैं। जिन्हों ने जगत् को तीन परग से भी थोड़ा किया, वही कृपालु रामचन्द्रजी मल्लाह से निहोरा (प्रार्थना) करते हैं॥ २॥

जिनका नाम स्मरण करनेवाले अपार भव-सागर पार कर जाते हैं, ब्रह्माण्ड को जिन्होंने दो परग में नाप लिया, वे गङ्गाजी पार होने के लिए माझी के एहसानमन्द हो रहे हैं। इस विरोधी वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है। यही अलंकार कवित्त-रामायण के इस सवैया में है—"नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी-भव बूड़त काढ़े। जो सुमिरे गिरि मेरु सिला-कन होत अजा-खुर वारिधि वाढ़े॥ जे पद-पङ्कज तें तुलसी प्रकटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े। सो प्रभु हैं सरिता तरिवे कहँ माँगत नाव करार ह्वै ठाढ़े॥" भगवान् के तीनों परग से पृथ्वी नापने की कथा, किष्किन्धाकाण्ड में २६ वें दोहे के नीचे की टिप्पणी देखो।

पद-नख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोहि मति करषी॥
केवट राम-रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन (होत विलम्ब उतारहि पारू) सुन कर गङ्गाजी की बुद्धि मोह की ओर खिँच गई (उन्हें सन्देह हुआ कि क्या ये परमात्मा नारायण नहीं हैं जिनके चरणों से मैं उत्पन्न हुई हूँ? तब चरण-नखों का निरीक्षण कर) पहचान गईं कि अहो! ये तो मेरे स्वामी हैं, ऐसा समझ कर उनके मन में हर्ष हुआ। रामचन्द्रजी की आज्ञा पा कर केवट कठौते में भर कर पानी ले आया॥ ३॥

अति आनन्द उमगि अनुरागा। चरन-सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीँ। एहि सम पुन्य-पुञ्ज कोउ नाहीँ॥४॥

अत्यन्त आनन्द में उमड़ कर प्रेम से चरण-कमलों को धोने लगा। समस्त देवता फूल बरसा कर इसकी बड़ाई करते हैं कि इसके समान पुण्य की राशि कोई नहीं है॥ ४॥

दो०-पद पखारि जल पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार॥१०१॥

पाँव धो परिवार के सहित वह जल (चरणोदक) पान कर के अपने पितरों को

गङ्गा-तरण।

पद पखारि जलपान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार॥

संसार-समुद्र से पार कर फिर प्रसन्न हो प्रभु रामचन्द्रजी को गङ्गाजी के उस पार ले गया ॥ १०१ ॥

प्रभु को पार उतारने के पहले ही अपने पितरों को संसार-सागर से पार कर दिया। कारण से प्रथम ही कार्य्य का प्रकट होना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

चौ०—उतरि ठाढ़ भये सुरसरि-रेता। सीय राम गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिँ कछु दीन्हा॥१॥

सीताजी, लक्ष्मण और गुह-निषाद के सहित नाव से उतर कर रामचन्द्रजी गङ्गाजी की रेत में खड़े हो गये। तब चरण धोनेवाले—मल्लाह ने उतर कर दण्डवत किया, प्रभु रामचन्द्रजी के मन में संकोच हुआ कि इसको मैं ने कुछ दिया नहीं ॥ १ ॥

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि-मुँदरी मन-मुदित उतारी॥
कहेउ कृपालु-लेहु उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥२॥

सीताजी प्रीतम के हृदय को बात जाननेवाली हैं, प्रसन्न मन से मणि की अँगूठी उतार कर स्वामी को दे दी। कृपालु रामचन्द्रजी ने कहा कि उतराई लो, तब उस केवट ने घबरा कर चरणों को पकड़ लिया ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी ने कुछ कहा नहीं, केवल मन में विचार किया और सीताजी ने उनका तात्पर्य्य समझ लिया, तुरन्त मुद्रिका स्वामी के हाथ में दे दी 'पिहित अलंकार' है।

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥३॥

वह मल्लाह कहने लगा—हे नाथ! आज मैं ने क्या नहीं पाया? मेरे दोष, दुःख और दरिद्र की आग मिट गई। मैं ने बहुत काल पर्य्यन्त मजूरी किया पर विधाता ने आज ही भरपूर अच्छी बनी दिया ॥ ३ ॥

जब कि मेरे दोष, दुःख और दरिद्र का दावानल मिट गया, तब मैं ने क्या नहीं पाया? वक्रोक्ति द्वारा काव्यार्थापत्ति की ध्वनि है कि रत्नादि उसी के भीतर आ गये। मैं सब कुछ पा गया

अब कछु नाथ न चाहिय मोरे। दीन दयाल अनुग्रह तोरे॥
फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेबा॥४॥

हे दीनदयाल नाथ! आप की कृपा से अब मुझे कुछ न चाहिए। लौटती बेर जो मुझे दीजियेगा, वह प्रसाद मैं सिर पर धारण कर के लूँगा ॥ ४ ॥

केवट के कथन में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि अभी आप वन जाते हैं इससे कुछ लेना ठीक नहीं, जब राजधानी को लौट आइयेगा तब जो कुछ दीजियेगा मैं प्रसाद रूप उसको शिरोधार्य्य करूँगा।

दो०—बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिँ कछु केवट लेइ ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ ॥१०२॥

प्रभु रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी ने बहुत आग्रह किया परन्तु मल्लाह कुछ नहीं लेता है। तब दयानिधान रघुनाथजी ने उसको निर्मल भक्ति का वर देकर बिदा किया ॥१०२॥

चौ०—तब मज्जन करि रघुकुल नाथा । पूजि पारथिव नायउ माथा ॥
सिय सुरसरिहि कहेउ करजोरी । मातु मनोरथ पुरउबि मोरी ॥१॥

तब रघुकुल के स्वामी रामचन्द्रजी ने स्नान कर के पार्थिव की पूजा कर मस्तक नवाया। सीताजी ने हाथ जोड़ कर गङ्गाजी से प्रार्थना की कि हे माता! मेरी लालसा पूरी करना ॥ १ ॥

पति-देवर-सँग कुसल बहोरी । आइ करउँ जेहि पूजा तोरी ॥
सुनि सिय बिनय प्रेम रस सानी । भइ तब बिमल बारि बर बानी ॥२॥

पति और देवर के साथ फिर कुशल से आ कर जिसमें तुम्हारी पूजा करूँ। प्रेम रस भरी सीताजी की बिनती सुन कर तब निर्मल जल से श्रेष्ठ वाणी हुई ॥२॥

जल के जीभ नहीं जो बोल सके, बिना (जिह्वारूपी) आधार के सुन्दर वाणी का रचित होना प्रथम 'विशेष अलंकार' है ।

सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही । तव प्रभाउ जग बिदित न केही ॥
लोकप होहिँ बिलोकत तोरे । तोहि सेवहिँ सब सिधि कर जोरे ॥३॥

हे रघुनाथजी की प्रियतमा विदेहनन्दिनी! सुनो, तुम्हारी महिमा संसार में किसको विदित नहीं है? जिसको आप दयादृष्टि से देखती हैं वे लोकपाल हो जाते हैं और सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े हुए आप की सेवा करती हैं ॥ ३ ॥

तुम्ह जो हमहिँ बड़ि बिनय सुनाई । कृपा कीन्ह मोहिँ दीन्हि बड़ाई ॥
तदपि देबि मैं देबि असीसा । सफल होन हित निज बागीसा ॥४॥

आपने जो मुझ से बड़ी विनती सुनाई है, वह कृपा करके मुझे बड़ाई दी है। हे देवि! तो भी मैं अपनी वाणी सफल होने के लिए आशीर्वाद दूँगी ॥ ४ ॥

बड़ी बिनती सुना कर आपने कृपा करके मुझे बड़प्पन दिया, इन वाक्यों में 'कैतवापहृति अलंकार' की ध्वनि है। 'देबि' शब्द दो बार आया है जो पुनरुक्ति सा जान पड़ता है, परन्तु पुनरुक्ति नहीं है। एक जानकीजी के लिए सम्बोधन और दूसरा देने का बोधक होने से "यमक अलंकार' है ।

दो०—प्राननाथ देवर सहित, कुसल कोसला आइ ।
पूजिहि सब मनकामना, सुजस रहिहि जग छाइ ॥१०३॥

प्राणनाथ और देवर के सहित आप कुशल से अयोध्या को लौटेंगी। सारी मनोकामनाएँ पूरी होंगी और संसार में सुन्दर यश फैला रहेगा ॥ १०३ ॥

चौ०-गङ्ग बचन सुनि मङ्गल मूला । मुदित सीय सुरसरि अनुकूला ॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू । सुनत सूख मुख भा उर दाहू ॥१॥

मङ्गल के मूल गङ्गाजी के वचन सुन कर और उन्हें अनुकूल जान कर सीताजी प्रसन्न हुईं। तब प्रभु रामचन्द्रजी ने गुह-निषाद से कहा कि तुम भी घर जाओ, सुनते ही उसका मुख सूख गया और हृदय में बड़ा सन्ताप हुआ ॥ १ ॥

दीन बचन गुह कह कर जोरी । बिनय सुनहु रघुकुल-मनि मोरी ॥
नाथ साथ रहि पन्थ देखाई । करि दिन चारि चरन-सेवकाई ॥२॥

गुह हाथ जोड़ कर दीन वचन कहने लगा—हे रघुवंशमणि ! मेरी प्रार्थना सुनिये । मैं स्वामी के साथ रह कर रास्ता दिखा चार दिन चरणों की सेवा कर के ॥ २ ॥

जेहि बन जाइ रहब रघुराई । परन-कुटी मैं करबि सुहाई ॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई । सोइ करिहउँ रघुबीर-दुहाई ॥३॥

हे रघुराज ! जिस वन में जाकर आप रहेंगे, वहाँ मैं पत्तों की सुन्दर कुटी बना दूँगा । तब मुझ को जैसी आज्ञा दीजियेगा, दुहाई रघुनाथजी की—वही करूँगा ॥ ३ ॥

सहज सनेह राम लखि तासू । सङ्ग लीन्ह गुह हृदय हुलासू ।
पुनि गुह ज्ञाति बोलि सब लीन्हे । करि परितोष बिदा तब कीन्हे ॥४॥

उसके स्वाभाविक स्नेह को देख कर रामचन्द्रजी ने साथ ले लिया, गुह मन में प्रसन्न हुआ। फिर गुह-निषाद ने सब जातिवालों को बुला लिया, उन्हें सन्तुष्ट करके तब विदा किया ॥४॥

दो०—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ ।
सखा अनुज सिय सहित बन, गवन कीन्ह रघुनाथ ॥१०४॥

तब गणेश और शिवजी का स्मरण गङ्गाजी को मस्तक नवा कर प्रभु रामचन्द्रजी मित्र-निषाद, छोटे भाई और सीताजी के सहित वन को चले ॥१०४॥

चौ०—तेहि दिन भयउ बिटप तर बासू । लखन सखा सब कीन्ह सुपासू
प्रात प्रातकृत करि रघुराई । तीरथराज दीख प्रभु जाई ॥१॥

(रामचौरा से चल कर) उस दिन पेड़ के नीचे निवास हुआ, लक्ष्मणजी और मित्र निषाद ने सब तरह का सुपास किया । सवेरे प्रातः कर्म (शौच-सन्ध्योपासनादि) करके प्रभु रघुनाथजी ने जाकर तीर्थराज के दर्शन किये ॥ १ ॥

'प्रात' शब्द दो बार आया है, परन्तु अर्थ दोनों का भिन्न भिन्न है । एक प्रातःकाल का ज्ञापक है, दूसरा प्रातःकर्म का 'यमक अलंकार' है ।

सचिवसत्य श्रद्धा प्रियनारी । माधव सरिस मीत हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू । पुन्य प्रदेस देस अति चारू ॥२॥

जिनका मन्त्री सत्य है और श्रद्धा प्यारी स्त्री (पटरानी) है, माधव भगवान् के समान हितकारी मित्र हैं। चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, रत्नादि रूप जिनके) भण्डार में भरा है, पुण्य ही प्रान्त (सूबा) और देश (वह) भू भाग जो राजा के अधीन हो, जिसके अन्तर्गत कई जिले, नगर एवम् ग्राम आदि हों) है ॥२॥

'राजा के समस्त अंगों का आरोप तीर्थराज में करना समस्त वस्तु विषयक 'साङ्ग रूपक अलंकार' है। राजा के जितने अङ्ग हैं, सभी का आरोप किया गया है। जैसे—"राजा, रानी, मन्त्री, मित्र, सेवक, वन्दीजन, सिंहासन, चँवर, छत्र, कोश, किला, सेना, प्रान्त, देश"। देश की व्याख्या केशवदास ने इस प्रकार की है। दोहा—रतन खानि पशु पक्षि वसु, वसन सुगन्ध सुदेश। नदी नगर गढ़ बरनिये, भाषा भूषन देश ॥

छेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा । सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा ॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा । कलुष अनीक दलन रनधीरा ॥३॥

क्षेत्र ही सुन्दर मजबूत दुर्गम किला है, जिसमें सपने में भी शत्रुगण (पाप) प्रवेश नहीं कर पाते। सम्पूर्ण तीर्थ श्रेष्ठ शूरवीरों की सेना है, जो पाप की कटक नाश करने में बड़ी रणधीर है ॥३॥

सङ्गम सिंहासन सुठि सोहा । छत्र अखयबट मुनि मन मोहा ॥
चँवर जमुन अरु गङ्ग तरङ्गा । देखि होहिँ दुख दारिद भङ्गा ॥४॥

(गङ्गा, यमुना, और सरस्वती का) सङ्गम अत्यन्त सुहावना सिंहासन है और मुनियों के मन को मोहित करनेवाला अक्षयवट रूपी छत्र है। गङ्गा और यमुनाजी की लहरें चँवर हैं, जिसको देख कर दुःख और दरिद्र नाश हो जाते हैं ॥४॥

दो०—सेवहिँ सुकृती साधु सुचि, पावहिँ सब मनकाम ।
बन्दी बेद पुरान गन, कहहिँ बिमल गुनग्राम ॥१०५॥

पुण्यात्मा साधु सेवा करनेवाले पवित्र सेवक हैं, वे सेवा करके सब मन-कामना पाते हैं। वेद और पुराण-समूह वन्दीजन रूपी निर्मल गुण-गण बखानते हैं ॥१०५॥

चौ०—को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ । कलुषपुञ्ज कुञ्जर मृगराऊ ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा । सुखसागर रघुबर सुख पावा ॥१॥

प्रयाग की महिमा कौन कह सकता है? वे पापों के झुण्ड रूपी हाथी के लिए सिंह हैं। ऐसे सुन्दर तीर्थराज को देख कर सुख के समुद्र रघुनाथजी ने सुख पाया ॥१॥

कहि सिय लखनहिँ सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥
करि प्रनाम देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा॥२॥

सीताजी, लक्ष्मणजी और मित्र-निषाद से तीर्थराज की बड़ाई श्रीमुख से कह कर सुनाई। प्रणाम कर के वन और बाग़ देखते हुए अत्यन्त प्रेम से माहात्म्य कहते जाते हैं॥२॥

एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमङ्गल-देनी॥
मुदित नहाइ कीन्हि सिव-सेवा। पूजि जथा-बिधि तीरथ-देवा॥३॥

इस तरह आकर त्रिवेणी को देखा, जो स्मरण करते ही सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों की देनेवाली हैं। प्रसन्नता से स्नान कर शिवजी का पूजन किया और विधि-पूर्वक तीर्थ के देवताओं की पूजा की॥३॥

'वेणी' शब्द अनेकार्थी है, परन्तु यहाँ तीर्थराज के साहचर्य्य से 'त्रिवेणी तीर्थ' की अविधा है। चोटी वा जूड़ा की नहीं।

तब प्रभु भरद्वाज पहिँ आये। करत दंडवत मुनि उर लाये॥
मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानन्द-रासि जनु पाई॥४॥

तब प्रभु रामचन्द्रजी भरद्वाज-मुनि के पास आये, दण्डवत करते देख कर मुनि ने हृदय से लगा लिया। भरद्वाजजी के मन में इतना आनन्द हुआ कि वह कुछ कहा नहीं जाता है। वे ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों ब्रह्मानन्द की राशि पा गये हों॥४॥

ब्रह्मानन्द कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी राशि लगती हो, उसका अनुभव केवल बुद्धि और मन द्वारा होता है। यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। फिर रामचन्द्रजी ब्रह्मानन्द की राशि ही हैं, इस प्रकार यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' कहा जायगा।

दो०-दीन्हि असीस मुनीस उर, अति अनन्द अस जानि।
लोचन-गोचर सुकृत-फल, मनहुँ किये बिधि आनि॥१०६॥

मुनीश्वर ने आशीर्वाद दिया, उनके हृदय में ऐसा समझ कर बड़ा आनन्द हुआ कि मानों विधाता ने पुण्य के फल को लाकर आँखों के सामने कर दिया हो॥१०६॥

चौ०-कुसल प्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम-परिपूरन कीन्हे॥
कन्द मूल फल अङ्कुर नीके। दिये आनि मुनि मनहुँ अमी के॥१॥

मुनि ने कुशल पूछ कर आसन दिया और प्रीति के साथ सत्कार कर के पूर्ण तृप्त किया। अच्छे अच्छे कन्द, मूल, फल और अङ्कुर लाकर दिये, वे ऐसे मधुर हैं मानों अमृत के हों॥१॥

कन्द मूलादि का मीठा होना सिद्ध आधार है, परन्तु वे अमृत के कन्द, अमृत के मूल, अमृत के फल और अमृत के अङ्कुर नहीं हैं। इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

सीय लखन जन सहित सुहाये। अति रुचि राम मूल फल खाये॥
भये बिगत-स्रम राम सुखारे। भरद्वाज मृदु-बचन उचारे॥२॥

सीताजी, लक्ष्मणजी और सेवक गुह के सहित रामचन्द्रजी ने सुन्दर मूल-फल को बड़ी रुचि के साथ खाया। थकावट दूर हो गई, जब रामचन्द्रजी सुखी हुए, तब भरद्वाज मुनि कोमल वचन बोले ॥२॥

आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
सफल सकल सुभ-साधन-साजू। राम तुम्हहिँ अवलोकत आजू॥३॥

आज मेरी तपस्या, तीर्थ-निवास और त्याग फलदायक हुआ, जप, योग और वैराग्य आज ही सुन्दर फल देनेवाले हुए। हे रामचन्द्रजी! आज आप के दर्शन से सम्पूर्ण शुभ-साधनों की सामाग्रियाँ सफल हुईं ॥३॥

तप, तीर्थवास, त्याग, जप, योग, वैराग्य और समस्त सत्कर्मों के उत्कृष्ट गुणों की समता एक रामचन्द्रजी के दर्शन में इकट्ठी करनी 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार है।

लाभ-अवधि सुख-अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज-पद-सरसिज सहज सनेहू॥४॥

(आप के दर्शन से बढ़ कर) लाभ का हद और सुख की सीमा दूसरी नहीं है। आप के दर्शन से मेरी सब आशाएँ पूरी हो गयीं। अब कृपा कर के यह वर दीजिए कि आप के चरण-कमलों में मेरा स्वाभाविक स्नेह बना रहे ॥४॥

लाभ और सुख का हद दूसरा नहीं, एक आप का दर्शन ही है। दोनों के धर्म अन्यत्र से निषेध रामदर्शन में स्थापित करना 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

दो०—करम बचन मन छाड़ि-छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहु नहीँ, किये कोटि उपचार॥१०७॥

कर्म, वचन और मन से छल छोड़ कर जब तक मनुष्य आप का दास नहीं होता, तब तक करोड़ों उपाय करने पर सपने में भी सुख नहीं पाता ॥१०७॥

चौ०-सुनि मुनि बचन राम सकुचाने। भाव भगति आनन्द अघाने॥
तब रघुबर मुनि सुजस सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥१॥

मुनि के वचन सुन कर रामचन्द्रजी सकुचा गये, भाव-भक्ति और आनन्द से अघा गये। तब रघुनाथजी ने भरद्वाजमुनि का सुन्दर यश बहुत तरह कह कर सब को सुनाया ॥१॥

सो बड़ सो सब गुन-गन-गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥
मुनि रघुबीर परसपर नवहीँ। बचन-अगोचर सुख अनुभवहीँ॥२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनीश्वर! वहा बड़ा और वही सब गुण-समूह का स्थान है

जिसको आप आदर दें। मुनि और रघुनाथजी एक दूसरे से नम्रता दिखाते हुए जो वचनों से कहा नहीं जा सकता, वह सुख अनुभव कर रहे हैं ॥२॥

मुनि और रघुनाथजी का परस्पर नवना और एक दूसरे की बड़ाई करना 'अन्योन्य अलंकार' है।

यह सुधि पाइ प्रयाग-निवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥
भरद्वाज आस्रम सब आये। देखन दसरथ सुअन सुहाये॥३॥

यह ख़बर पाकर प्रयाग-निवासी, ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब सुन्दर दशरथ-कुमार को देखने के लिए भरद्वाजजी के आश्रम में आये ॥ ३ ॥

राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भये लहि लोचन-लाहू॥
देहिं असीस परम-सुख पाई। फिरे सराहत सुन्दरताई॥४॥

रामचन्द्रजी ने सब को प्रणाम किया, वे नेत्रों का लाभ पाकर प्रसन्न हुए। परम आनन्द को प्राप्त होकर आशीर्वाद देते हैं और सुन्दरता सराहते हुए अपने अपने स्थान को लौट आये ॥ ४ ॥

दो०-राम कीन्ह बिस्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय-लखन-जन, मुदित मुनिहिं सिर नाइ॥१०८॥

रामचन्द्रजी ने रात्रि में विश्राम किया, प्रातःकाल प्रयागराज (त्रिवेणी) में स्नान कर के सीताजी, लक्ष्मणजी और सेवक-गुह के सहित (त्रिवेणी तट से, भरद्वाजजी के आश्रम को) चले; प्रसन्नता-पूर्वक मुनि को सिर नवाया ॥ १०८ ॥

मुनि से विदा होकर वन को चलना नीचे लिखा गया है 'करि प्रनाम रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई'। यहाँ त्रिवेणी तट से मुनि के आश्रम में आने को कहा है। कुछ टीकाकारों ने इसके विपरीत अर्थ कर डाला; परन्तु प्रसङ्ग-विरोध पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

चौ०-राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिय हम केहि मग जाहीं॥
मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं॥१॥

रामचन्द्रजी ने मुनि से प्रेम के साथ कहा कि हे नाथ! कहिए, हम किस मार्ग से जाँय? मुनिजी मन में हँस कर रामचन्द्रजी से कहते हैं कि आप को सभी मार्ग सुगम हैं (चाहे जिस रास्ते से जाइये) ॥१॥

साधारण अर्थ के सिवाय श्लेष से कविजी दूसरा गुप्त अर्थ प्रकट करते हैं कि रामचन्द्रजी ने पूछा—हे मुनिराज! मुझे लोग अनेक पन्थों से बुलाते हैं। बतलाइये हम उनसे किस पथ से मिलें? इस पर मुनि महत्व सूचक उत्तर देते हैं कि आपके लिए सभी पन्थ सुगम हैं 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

साथ लागि मुनि सिष्य बोलाये । सुनि मन मुदित पचासक आये ॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा । सकल कहहिं मग दीख हमारा ॥२॥

साथ जाने के लिए मुनि ने शिष्यों को बुलाया, सुन कर मन में प्रसन्न हो पचासों आये । सभी का रामचन्द्रजी पर अपार प्रेम है, सब कहते हैं कि रास्ता हमारा देखा है ॥२॥

मुनि बटु चारि सङ्ग तब दीन्हे । जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे ॥
करि प्रनाम रिषि-आयसु पाई । प्रमुदित हृदय चले रघुराई ॥३॥

तब मुनि ने चार ब्रह्मचारियों को साथ में कर दिया, जिन्होंने अनेक जन्म पर्यन्त सारे सुकृत किये थे । ऋषि की आज्ञा पाकर और प्रणाम कर के प्रसन्न मन से रघुनाथजी वन को चले ॥३॥

ग्राम निकट निकसहिं जब जाई । देखहिं दरस नारि-नर धाई ॥
होहिं सनाथ जनम-फल पाई । फिरहिं दुखित मन सङ्ग पठाई ॥४॥

जब किसी गाँव के समीप होकर निकलते हैं, तब दर्शन के लिए दौड़ कर स्त्री-पुरुष उन्हें देखते हैं । वे सनाथ हो जन्म फल पाकर मन को उनके साथ भेज आप दुखित होकर लौट आते हैं ॥ ४ ॥

दो०—बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मनकाम ।
उतरि नहाये जमुन-जल, जो सरीर सम स्याम ॥१०९॥

(यमुनाजी के किनारे पहुँच कर) उन ब्रह्मचारियों को बिनती कर के विदा किया, वे मन-वाञ्छित फल पाकर लौटे । पार होकर यमुना-जल में स्नान किया जो शरीर के समान श्याम है ॥१०९॥

शरीर-उपमेय और यमुना-जल उपमान है, परन्तु यहाँ उलट कर उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान करना 'प्रथम प्रतीप अलंकार' है ।

चौ०—सुनत तीर-बासी नर-नारी । धाये निज निज काज बिसारी ॥
लखन-राम-सिय सुन्दरताई । देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई ॥१॥

सुनते ही तीर के रहनेवाले स्त्री-पुरुष अपना अपना काम भूल कर दौड़े । लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और सीताजी की सुन्दरता को देख कर अपने भाग्य की बड़ाई करते हैं ॥ १ ॥

अति लालसा सबहि मन माहीं । नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥
जे तिन्हमहँ बय-बिरिध सयाने । तिन्हकरि जुगुति राम पहिचाने ॥२॥

नाम और ग्राम पूछने की सभी के मन में बड़ी लालसा है, किन्तु पूछने में सकुचाते हैं । उनमें जो वयोवृद्ध और चतुर थे, उन्होंने युक्ति करके रामचन्द्रजी को पहचान लिया ॥ २ ॥

युक्ति यह कि निषादराज से इशारे से पूछ कर परिचय पा गये ।

सकल कथा तिन्ह सबहिँ सुनाई । बनहिँ चले पितु आयसु पाई ॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीँ । रानी राय कीन्हि भल नाहीँ ॥३॥

सम्पूर्ण कथा उन्होंने सब से कह सुनाई कि पिता की आज्ञा से वन को चले जा रहे हैं। सुन कर सब दुःखी हो पछताते हैं कि राजा-रानी ने अच्छा नहीं किया ॥३॥

अत्यन्त सुकुमारता देख कर ग्राम-वासी स्त्री-पुरुषों के मन में चिन्ताजन्य मनोभंग का होना 'विषाद सञ्चारीभाव' है।

तेहि अवसर एक तापस आवा । तेज-पुञ्ज लघु-बयस सुहावा ॥
कबि-अलखित-गति बेष बिरागी । मन क्रम बचन राम-अनुरागी ॥४॥

उसी समय एक तपस्वी आया, वह तेज की राशि, सुहावना और थोड़ी अवस्था का है। उसकी गति कवि (ग्रन्थकर्ता) के लख में नहीं आती है; उसका वेश वैरागी का है और मन, कर्म, वचन से रामानुरागी है ॥ ४ ॥

इस तपस्वी की कथा को बहुत लोग क्षेपक कहते हैं। यहाँ तक कि अवधवासी लाला सीताराम बी० ए० जिन्होंने गोसाईंजी के हाथ की लिखी राजापुर की प्रति से अक्षरशः मिलान कर उसकी प्रतिलिपि छपवाई है; उन्होंने लिख मारा है कि यह प्रसङ्ग बेढङ्गी रीति से घुसा हुआ है। जब गोस्वामीजी के हाथ की लिखी प्रति में यह पाठ वर्तमान है; तब हम यह नहीं समझते कि किसी को क्षेपक या वेढङ्गा कहने का कौन सा अधिकार है? रही यह बात कि आख़िरकार वह तपस्वी कौन था? इस विषय में स्वयम् ग्रन्थकार लिखते हैं कि उसकी गति कवि को अलक्षित है अर्थात् मैं नहीं कह सकता कि वह कौन है। परन्तु कथकड़ लोग यहाँ भी अपनी टाँग अड़ाये बिना नहीं रह सके हैं। कोई वहाँ के कामदनाथ महादेव को, कोई भरद्वाज मुनि के शिष्यों को, कोई गोसाईंजी को ध्यान में जाना कहते हैं और कोई अग्नि को बताते हैं; किन्तु जिसे ग्रन्थकर्त्ता ही अनिश्चित कहते हैं, दूसरों के लिए उसका निश्चय करना सर्वथा असम्भव है।

दो०—सजल नयन तन पुलकि निज, इष्टदेउ पहिचानि ।
परेउ दंड जिमि धरनितल, दसा न जाइ बखानि ॥११०॥

अपने इष्टदेव को पहचान कर उस तपस्वी का शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आया! डण्डे जैसा पृथ्वीतल पर गिरा, उसकी दशा कही नहीं आती है ॥११०॥

प्रेम से तपस्वी को रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, अश्रु और स्तम्भ आदि सात्विक अनुभावों का उदय है।

चौ०—राम सप्रेम पुलकि उर लावा । परम रङ्क जनु पारस पावा ॥
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ । मिलत धरे तन कह सब कोऊ ॥१॥

रामचन्द्रजी ने प्रेम से पुलकित होकर उसको हृदय से लगा लिया, वह ऐसा प्रसन्न

हुआ मानों महा दरिद्री पारस-पत्थर पा गया हो। सब कोई कहते हैं मानों प्रेम और परमार्थ दोनों शरीर धारण कर के मिलते हों ॥१॥

प्रेम और परमार्थ शरीरधारी नहीं हैं, यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा । लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ॥
पुनि सिय-चरन-धूरि धरि सीसा । जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा॥२॥

फिर वह लक्ष्मणजी के चरणों में लगा, उन्होंने प्रेम से उमड़ कर उठा लिया। तब उसने सीताजी के चरणों की धूलि सिर पर धारण की, माताजी ने बालक समझ कर आशीर्वाद दिया ॥ २ ॥

कीन्ह निषाद दंडवत तेही । मिलेउ मुदित लखि राम-सनेही ॥
पियत नयन-पुट रूप-पियूखा । मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥३॥

निषाद ने उस तपस्वी को दण्डवत किया, तपस्वी ने उसे रामचन्द्रजी का प्रेमी जान प्रसन्नता पूर्वक हृदय से लगा लिया। वह तापस नेत्र रूपी दोने से छबि रूपी अमृत पान करता है, जैसे भूखा मनुष्य अच्छा भोजन पाकर प्रसन्न होता है ॥३॥

यहाँ तपस्वी के सम्बन्ध की बात समाप्त हुई, अब जहाँ से कथा—प्रसङ्ग छूटा है वहीं से फिर उठाते हैं। इस तपस्वी का नाम लेने में न जाने कविजी के हृदय में कौन सा गूढ़भाव था, इसका जानना कठिन है। इसीसे प्रायः लोग क्षेपक कह बैठते हैं कि प्रसङ्ग से बिल्कुल मेल नहीं है।

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥
राम-लखन-सिय रूप निहारी । होहिँ सनेह बिकल नर-नारी ॥४॥

ग्राम-निवासी स्त्रियाँ आपस में कहती हैं, हे सखी ! वे पिता-माता कैसे हैं, जिन्होंने ऐसे सुकुमार बालकों को वन में भेजा है ? रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के रूप को देख कर स्त्री-पुरुष प्रेम से विकल हो जाते हैं ॥४॥

जो अत्यन्त सुकुमार सुहावने पुत्र और पुत्र-वधू राजमहल में रखने योग्य हैं, उन्हें बन में भेजना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है। पूर्वार्द्ध की ठीक अर्द्धाली इसी काण्ड के ८८ दोहे के नीचे, प्रथम चौपाई में वर्तमान है।

दो०—तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहि सिखावन दीन्ह ।
राम-रजायसु सीस धरि, भवन गवन तेइँ कीन्ह ॥१११॥

तब रघुनाथजी ने मित्र-निषाद को बहुत तरह से सिखावन दिया। रामचन्द्रजी की आज्ञा सिर पर धर कर वह अपने घर को चला ॥१११॥

चौ०--पुनि सिय-राम-लखन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनाम बहोरी॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥१॥

फिर सीताजी, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़ कर यमुना को फिर से प्रणाम किया। दोनों भाई प्रसन्नता-पूर्वक सीताजी के सहित यमुनाजी की बड़ाई करते हुए चले॥१॥

पथिक अनेक मिलहिँ मग जाता। कहहिँ सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥
राज-लछन सब अङ्ग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे॥२॥

रास्ते में जाते हुए बहुतेरे यात्री मिलते हैं, वे दोनों भाइयों को देख कर प्रेम से कहते हैं कि आप लोगों के अङ्ग में सब राजलक्षण देख कर हमारे हृदय में बड़ा सोच होता है॥२॥

इस बात के कहनेवाले पथिक ज्योर्विद हैं, इसलिए वे आश्चर्य्य मानते हैं।

मारग चलहु पयादेहिँ पाये। ज्योतिष झूठ हमारेहि भाये॥
अगम पन्थ गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी॥३॥

आप लोग पाँव से पैदल ही रास्ता चलते हैं, इससे हमारी समझ में ज्योतिष शास्त्र झूठा प्रतीत होता है। भारी जंगल और पहाड़ का मार्ग बड़ा दुर्गम है, उस पर आप के संग में कोमलाङ्गी बाला है॥३॥

पूर्वार्द्ध में आप पैदल चलते हैं इससे मेरे विचार से (मानो) ज्योतिष शास्त्र ही झूठा 'गम्योत्प्रेक्षा अलंकार' है। अत्यन्त सुकुमारता कारण और दुर्गम वन-पहाड़ का रास्ता चलना कार्य्य दोनों भिन्न रूप होने से 'द्वितीय विषम अलंकार' है।

करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिँ जो आयसु होई॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहिँ सिर नाई॥४॥

हाथी और सिंह इस वन में रहते हैं जो देखा नहीं जाता। (वहाँ बड़ा ख़तरा है) यदि आज्ञा हो तो हम साथ चलें। जहाँ तक जाइयेगा वहाँ पहुँचा कर फिर आप को सिर नवाकर लौट आवेंगे॥४॥

दो०--एहि बिधि पूछहिँ प्रेम-बस, पुलक-गात जल-नैन।
कृपासिन्धु फेरहिँ तिन्हहिँ, कहि बिनीत मृदु-बैन॥११२॥

इस तरह (यात्री-गण) पुलकित शरीर से नेत्रों में जल भर कर प्रेम वश पूछते हैं और कृपासिन्धु रामचन्द्रजी नम्रता-पूर्वक कोमल वाणी कह कर उन्हें फेरते हैं॥११२॥

चौ०--जे पुर गाँव बसहिँ मग माँहीं। तिन्हहिँ नाग-सुर नगर सिहाहीं॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्य मय परम सुहाये॥१॥

रास्ते में जो नगर और गाँव बसे हैं उनकी बड़ाई नागों की पुरी और देवलोक करते हैं। वे कहते हैं कि किस पुण्यात्मा ने किस घड़ी में बसाया था, ये परम सुहावने पुण्य के रूप धन्य हैं॥१॥

धरती के नगर गाँव से नागलोक और देवलोक कहीं बढ़ कर हैं, उनकी अयोग्यता प्रगट कर के नगर-गावों की अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। व्यङ्गार्थ द्वारा प्रथम उल्लास अलंकार की संसृष्टि है, क्योंकि रामचन्द्रजी के चरण-स्पर्श से वे पुण्य रूप और धन्य हुए हैं।

जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुन्य पुञ्ज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर बासी॥२॥

जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी चरण से चल कर जाते हैं, उन गाँवों के समान इन्द्र की पुरी नहीं है। रास्ते के समीप रहनेवाले स्त्री-पुरुष पुण्य की राशि हैं, उन्हें देवलोक-बासी सराहते हैं॥२॥

जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लखन सहित घनस्यामहिं॥
जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देवसर सरित सराहहिं॥३॥

जो सीताजी, लक्ष्मणजी और मेघ के समान श्याम रामचन्द्रजी को आँख भर देखते हैं और जिन तालाब, नदियों में रामचन्द्रजी स्नान करते हैं, उन्हें देवताओं के सरोवर और नदियाँ सराहती हैं॥३॥

जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥
परसि राम-पद-पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥४॥

जिस पेड़ के नीचे प्रभु रामचन्द्रजी बैठ जाते हैं, उन वृक्षों की बड़ाई कल्पवृक्ष करता है। रामचन्द्रजी के चरण-कमलों की धूलि को छू कर पृथ्वी अपने को बड़ी भाग्यवती मानती है॥४॥

दो०–छाँह करहिं घन बिबुधगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं॥
देखत गिरि बन बिहँग मृग, राम चले मग जाहिं॥११३॥

बादल छाँह करते हैं और देवता-वृन्द फूल बरसाते जाते हैं तथा बड़ाई करते हैं। इस तरह पहाड़, वन, पक्षी और मृगों को देखते हुए रामचन्द्रजी मार्ग में चले जाते हैं॥११३॥

बादलों के छाँह करने और देवताओं के फूल बरसाने से रामचन्द्रजी को इन आकस्मिक कारणों से मार्ग चलने में सुगमता का होना 'समाधि अलंकार' है।

चौ०–सीता-लखन-सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर-नारी। चलहिं तुरत गृह-काज बिसारी॥१॥

सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित रघुनाथजी जब जाकर गाँव के पास निकलते हैं, तब यह सुन कर सब बालक, बुड्ढे, स्त्री-पुरुष घर का काम भूल कर तुरन्त चल देते हैं॥१॥

राम-लखन-सिय रूप निहारी। पाइ नयन-फल होहिँ सुखारी॥
सजल-बिलोचन पुलक-सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥२॥

रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के रूप को देख आँखों का फल पाकर सुखी होते हैं। दोनों वीरों को देख कर सब के नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया और प्रेम में मग्न हो गये॥२॥

ग्राम-निवासियों के मन में अनुराग से अश्रु, रोमाञ्च, प्रलय और स्वरभङ्ग सात्विक अनुभावों का उदय है। इसी काण्ड में ११० वें दोहे के आगे चौथी चौपाई का तीसरा चरण 'राम-लखन-सिय रूपी निहारी' यथातथ्य है।

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रङ्कन्ह सुरमनि-ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एही॥३॥

उनकी दशा कही नहीं जाती है, ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों कङ्गालों ने चिन्तामणि की राशि पाई हो। एक दूसरे को बुला कर शिक्षा देते हैं कि इस क्षण नेत्रों का लाभ लेओ॥३॥

रामचन्द्रजी का दर्शन उपमेय और देवमणि की ढेरी पाना उपमान है। पुस्तकों में देवमणि की चर्चा है किन्तु संसार में वह देखने में नहीं आती। उसका मिलना; वह भी एक दो नहीं राशि, केवल कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

रामहिँ देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिँ सँग लागे॥
एक नयन-मग छबि उर आनी। होहिँ सिथिल-तन-मन-बर-बानी॥४॥

कोई रामचन्द्रजी को देख कर प्रेमासक्त हुए उन्हें निहारते सङ्ग लगे चले जाते हैं। कोई आँखों की राह से उनकी छबि को हृदय में लाकर शरीर, मन और उत्तम वाणी से विह्वल (ध्यानावस्थित) हो जाते॥४॥

दो०–एक देखि बट-छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिँ गँवाइय छिनक स्रम, गवनब अबहिँ कि प्रात॥११४॥

कोई बड़ के पेड़ की अच्छी छाया देख वहाँ नरम घास पत्ते बिछा कर कहते हैं कि एक क्षण थकावट मिटा लीजिये फिर चाहे अभी अथवा सबेरे चले जाइयेगा॥११४॥

चौ०–एक कलस भरि आनहिँ पानी। अँचइय नाथ कहहिँ मृदु बानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेषी॥१॥

कोई घड़ा भर कर पानी ले आते हैं और कोमल वाणी से कहते हैं कि—हे नाथ! जल-पान कर लिजिये। उनके प्रिय वचन सुन और अत्यन्त प्रेम देख कर कृपालु रामचन्द्रजी बड़े ही अच्छे शीलवान हैं (स्वीकार करते हैं)॥१॥

जानी स्रमित सीय मन माहीं । घरिक बिलम्ब कीन्ह बट-छाहीं ॥
मुदित नारि नर देखहिँ सोभा । रूप अनूप नयन मन लोभा ॥२॥

मन में सीताजी को थकी हुई जान कर घड़ी भर बड़ की छाँह में देरी (विश्राम) किया। स्त्री-पुरुष प्रसन्न होकर शोभा देखते हैं, अनुपम रूप में उनके नेत्र और मन लुभा गये हैं ॥२॥

एक-टक सब सोहहिँ चहुँओरा । रामचन्द्र-मुख-चन्द चकोरा ॥
तरुन-तमाल-बरन तनु सोहा । देखत कोटि मदन मन मोहा ॥३॥

सब टकटकी लगाये हुए रामचन्द्रजी के मुख रूपी चन्द्रमा को चकोर रूप होकर निहारते हुए चारों ओर शोभित हो रहे हैं। नवीन तमाल-वृक्ष के रङ्ग का शरीर (श्याम) सोहता है, जिसको देखते ही करोड़ों कामदेव मन में मोहित हो जाते हैं ॥३॥

दामिनि-बरन लखन सुठि नीके । नखसिख सुभग भावते जी के ॥
मुनि-पट कटिन्ह कसे तूनीरा । सोहहिँ कर-कमलनि धनु तीरा ॥४॥

बिजली के रङ्ग के समान लक्ष्मणजी नख से शिखा पर्यन्त बहुत ही अच्छे सुन्दर मन को सुहानेवाले हैं। दोनों बन्धु मुनियों के वस्त्र कमरों में कसे हैं और हाथ रूपी कमलों में धनुष और बाण शोभित हो रहे हैं ॥४॥

हाथ में धनुष-बाण सोहना न कह कर उपमान-कमलों में कहना अर्थात् उपमेय द्वारा की जानेवाली क्रिया को उपमान द्वारा किया जाना कथन 'परिणाम अलंकार' है।

दो०—जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर-भुज-नयन-बिसाल ।
सरद-परब-बिधु-बदन बर, लसत स्वेद-कन-जाल ॥११५॥

मस्तकों पर सुन्दर जटाओं के मुकुट हैं, छाती, भुजाएँ और नेत्र विशाल हैं। शरदकाल के पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उत्तम मुखों पर पसीने की बूँदों की पंक्तियाँ शोभित हो रही हैं ॥११५॥

चौ०—बरनि न जाइ मनोहर जोरी । सोभा बहुत थोरि मति मोरी ॥
राम लखन सिय सुन्दरताई । सब चितवहिँ चित मन मति लाई ॥१॥

यह मनोहर जोड़ी बखानी नहीं जा सकती, क्योंकि शोभा बहुत है और मेरी बुद्धि थोड़ी है। रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी की सुन्दरता सब चित्त, मन एवम् मति लगा कर निहारते हैं ॥१॥

शोभा अधिक और बुद्धि अल्प होनेसे उसका वर्णन असम्भव ठहराना 'अल्प अलंकार' है।

थके नारि नर प्रेम प्रियासे । मनहुँ मृगीमृग देख दिया से ॥
सीय समीप ग्रामतिय जाहीं । पूछत अति सनेह सकुचाहीं ॥२॥

प्रेम के प्यासे स्त्री-पुरुष मोहित हो रहे हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों हरिण और हरिणी दीपक से मुग्ध हुए हों। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के समीप जाती हैं, परन्तु अत्यन्त स्नेह के कारण पूछते हुए लजाती हैं ॥२॥

बार बार सब लागहिँ पाये। कहहिँ बचन मृदु सरल सुभाये॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय-सुभाय कछु पूछत डरहीं॥३॥

सब स्त्रियाँ बार बार पावों में लगती हैं और सहज ही सीधे कोमल वचन कहती हैं। हे राजकुमारी! मैं कुछ बिनती करना चाहती हूँ, परन्तु स्त्री-स्वभाव से पूछते हुए डरती हूँ॥३॥

स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलग न मानबि जानि गँवारी॥
राजकुँअर दोउ सहज सलोने। इन्हतेँ लहि दुति मरकत सोने॥४॥

हे स्वामिनी! हमारी ढिठाई क्षमा कीजिये, हमें गँवारी समझ कर भिन्न न मानिये। दोनों स्वाभाविक सुन्दर राजकुमार जिनके शरीर से पन्ना (श्यामरत्न) और सोना कान्ति पाते हैं॥४॥

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के शरीर-उपमेय, मरकत-मणि और सुवर्ण उपमान हैं। यहाँ उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान करना 'प्रथम प्रतीप अलंकार' है।

दो०-स्यामल गौर किसोर बर, सुन्दर सुखमाअयन।
सरद सर्बरीनाथ-मुख, सरद-सरोरुह-नयन॥११६॥

श्यामल गौर उत्तम वर्ण किशोर अवस्थावाले सुन्दर शोभा के स्थान, शरद्काल के पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख और शरदऋतु के कमल के समान नेत्र हैं॥११६॥

चौ०-कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिँ तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मञ्जुल-बानी। सकुची सिय मन महँ मुसुकानी॥१॥

हे सुन्दर मुखवाली! कहिये, करोड़ों कामदेव को लजानेवाले आप के कौन हैं? उनकी स्नेहमयी सुन्दर वाणी सुन सीताजी सकुचा कर मन में मुस्कुराईं॥१॥

सभा की प्रति में 'सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी' पाठ है।

तिन्हहिँ बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल-मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिक-बयनी॥२॥

उन स्त्रियों को देख कर धरती की ओर निहारती हैं, उत्तम वर्ण वाली जनकनन्दिनी दोनों सकोच से सकुचाती हैं। बाल-मृग के समान नेत्रवाली और कोकिल के समान वाणीवाली लजाती हुई प्रेम के साथ मधुर वचन बोलीं॥२॥

'धरती' शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि पृथ्वी मेरी माता है, इसके सामने मैं कैसे कहूँ कि ये मेरे पति हैं और नहीं बतलाती हूँ तो इन स्त्रियों का प्रेम-भङ्ग होगा! युक्ति से स्वामी का परिचय कराना मन में निश्चय कर के बोलीं।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन-बिधु अञ्चल ढाँकी। पिय-तन चितइ भौंह करि बाँकी॥३॥

जो सहज स्वभाववाले सुन्दर गौर शरीर हैं, उनका लक्ष्मण नाम है और वे मेरे छोटे

देवर हैं। फिर अपने चन्द्र-मुख को आँचर से छिपा कर प्रीतम की ओर निहार भौंहें टेढ़ी कर के (विकृत हाव द्वारा) ॥३॥

लघु देवर कहने से सीताजी का गूढ़ अभिप्राय यह है कि इनसे बड़े देवर भी हैं। यह कल्पित प्रश्न का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

खञ्जन मञ्जु तिरीछे नयननि । निजपतिकहेउ तिन्हहिँ सिय सयननि ॥
भईं मुदित सब ग्राम-बधूटी । रङ्कन्ह राय-रासि जनु लूटी ॥४॥

खञ्जन के समान सुन्दर नेत्रों के तिरछी चितवन में इशारे से सीताजी ने उनसे कहा कि ये हमारे स्वामी हैं। सब ग्राम निवासिनी स्त्रियाँ प्रसन्न हुईं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों दरिद्रों ने राजभण्डार लूट में पाया हो ॥४॥

स्वामी का परिचय सीताजी ने आँख के इशारे से कराया, मुख से बोलीं नहीं। पर वे स्त्रियाँ समझ कर प्रसन्न हुईं 'युक्ति अलंकार' है।

दो०-अति सप्रेम सिय पाय परि, बहु बिधि देहिँ असीस ।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहि-सीस ॥११७॥

अत्यन्त प्रेम के साथ सीताजी के पाँव में पड़ कर बहुत तरह आशीर्वाद देती हैं कि जब तक पृथ्वी शेष के सिर पर रहे तब तक आप सदा सोहागिनी हो ॥११७॥

चौ०- पारबती सम पति प्रिय होहू । देबि न हम पर छाड़ब छोहू ॥
पुनि पुनि बिनय करिय कर जोरी । जौं एहि मारग फिरिय बहोरी ॥१॥

आप पार्वतीजी के समान पति को प्यारी हो, हे देवि! हम पर स्नेह न छोड़ना। बार बार हाथ जोड़ कर बिनती करती हूँ कि यदि फिर इसी मार्ग से लौटिये तो ॥१॥

दरसन देब जानि निज-दासी । लखी सीय सब प्रेम-पियासी ।
मधुर बचन कहि कहि परितोषी । जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी ॥२॥

हमें अपनी दासी समझ कर दर्शन देना, सीताजी ने सब को प्रेम की प्यासी देखा, तब मीठे वचन कह कह कर सन्तुष्ट किया, वे ऐसी मालूम होती हैं मानो कुमुदिनी को चाँदनी ने खिला दी हो ॥२॥

तबहिँ लखन रघुबर रुख जानी । पूछेउ मग लोगन्हि मृदु बानी ॥
सुनत नारि-नर भये दुखारी । पुलकित गात बिलोचन बारी ॥३॥

तब रघुनाथजी का रुख जान कर लक्ष्मणजी ने कोमल वाणी में लोगों से रास्ता पूछा। सुनते ही स्त्री-पुरुष दुःखी हुए, उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों में जल भर आया ॥३॥

रघुनाथजी ने न तो कुछ कहा और न प्रत्यक्ष कोई संकेत किया, परन्तु लक्ष्मणजी उनकी मानसिक चेष्टा को ताड़ कर लोगों से आगे जाने का मार्ग पूछा 'सूक्ष्म अलंकार' है।

मिटा मोद मन भये मलीने । बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने ॥
समुझि करम-गति धीरज कीन्हा । सोधिसुगममग तिन्हकहि दीन्हा ॥४॥

आनन्द मिट गया; मन में उदास हुए, उन्हें ऐसा मालूम होता है मानों विधाता सम्पत्ति देकर छीने लेता है । कर्म की गति समझ कर धीरज धारण किया और सोच कर उन्हें सीधा रास्ता बता दिया ॥४॥

दो०—लखन-जानकी-सहित तब, गवन कीन्ह रघुनाथ ।
फेरे सब प्रिय बचन कहि, लिये लाइ मन साथ ॥११८॥

तब लक्ष्मणजी और जानकीजी के सहित रघुनाथजी ने यात्रा किया । सब को प्रिय वचन कह कर लौटाया और उनके मन को अपने साथ में ले लिया ॥११८॥

चौ०-फिरत नारि-नर अति पछिताहीं । दइअहि दोष देहिं मन माहीं ।
सहित बिषाद परसपर कहहीं । बिधि करतब उलटे सब अहहीं ॥१॥

फिरते हुए स्त्री-पुरुष बहुत पछताते हैं और मन में दैव को दोष देते हैं वे आपस में विषाद के साथ कहते हैं कि विधाता के सभी कर्त्तव्य उलटे हैं ॥ १ ॥

निपट निरङ्कुस निठुर निसङ्कू । जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलङ्कू
रूख-कलपतरु सागर-खारा । तेहि पठये बन राजकुमारा ॥२॥

विधाता बिल्कुल स्वतंत्र, निर्दय और निडर है जिसने चन्द्रमा को रोगी एवम् कलङ्की बनाया । कल्पवृक्ष को पेड़ और समुद्र को खारा किया, उसी ने राजकुमारों को वन में भेजा है ॥ २ ॥

जो दोष केकयी को देना चाहिये वह ब्रह्मा पर लगाना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है । जिसने चन्द्रमा को रोगी-सदोष, कल्पतरु को वृक्ष और समुद्र को खारा बनाया, उसी ने ऐसा किया, 'सम्भव प्रमाण अलंकार' है ।

जौं पै इन्हहिं दीन्ह बनबासू । कीन्हि बादि बिधि भोग-बिलासू ॥
ये बिचरहिं मग बिनु पदत्राना । रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥३॥

यदि इन्हें वनबास दिया तो विधाता ने भोग विलास व्यर्थ ही बनाया । ये बिना पनहों के रास्ता चलते हैं तो नाना प्रकार की सवारियों को ब्रह्मा ने नाहक रचा ॥ ३ ॥

ये महि परहिं डासि कुस पाता । सुभग-सेज कत सृजत बिधाता ॥
तरुबर-बास इन्हहिं बिधि दीन्हा । धवल-धाम रचि रचि स्रम कीन्हा ॥४॥

ये कुश और पत्ता बिछा कर धरती पर सोते हैं तो न जाने सुन्दर पलँग विधाता किस लिये बनाता है । इन्हें वृक्ष के नीचे ब्रह्मा ने निवास दिया तब सफ़ेद महलों को बना कर व्यर्थ ही परिश्रम किया ॥ ४ ॥

दो०—जौँ ये मुनि-पट-धर जटिल, सुन्दर सुठि सुकुमार ।
बिबिध भाँति भूषन बसन, बादि किये करतार ॥११९॥

ये अत्यन्त सुन्दर सुकुमार यदि मुनियों के वस्त्र और जटा धारण किये हैं तो नाना प्रकार के गहने और कपड़े ब्रह्मा ने नाहक ही बनाये ॥ ११९ ॥

चौ०—जौँ ये कन्द मूल फल खाहीं । बादि सुधादि असन जग माहीं ॥
एक कहहिँ ये सहज सुहाये । आपु प्रगट भये बिधि न बनाये ॥१॥

यदि ये, कन्द, मूल, फल खाते हैं तो संसार में अमृत आदि भोजन व्यर्थ हैं। कोई कहते हैं कि ये सहज सुहावने आप ही प्रकट हुए हैं, इन्हें विधाता ने नहीं बनाया है ॥ १ ॥

ये ब्रह्मा के बनाये नहीं हैं, इस शुद्धापह्नुति में यह कारण दिखाना कि ऐसी सुन्दरता ब्रह्मा नहीं बना सकते ये स्वयम् प्रकट हुए हैं 'हेत्वापह्नुति अलंकार' है ।

जहँ लगि बेद कही बिधि करनी । स्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥
देखहु खोजि भुअन दस-चारी । कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥२॥

जहाँ तक वेदों ने ब्रह्मा की करनी कही है और कान, आँख तथा मन से प्राप्त होना कहा है। चौदहों लोकों में खोज कर देखो ऐसा पुरुष कहाँ और ऐसी स्त्री कहाँ है ॥ २ ॥

इन्हहिँ देखि बिधि मन अनुरागा । पटतर जोग बनावन लागा ॥
कीन्ह बहुत स्रम अइक न आये । तेहि इरिषा बन आनि दुराये ॥३॥

इन्हें देख कर ब्रह्मा के मन में प्रीति हुई और बराबरी के योग्य (पुरुष-स्त्री) बनाने लगे। बहुत परिश्रम किया पर अइक (अटकल) नहीं आया, इसी डाह से इन्हें वन में लाकर छिपाया है ॥३॥

रामचन्द्रजी के वन में आने की बात को हेतु-सूचक युक्तियों से समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। व्यङ्गार्थ में 'ललितोत्प्रेक्षा' है ।

एक कहहिँ हम बहुत न जानहिँ । आपुहि परम धन्य करि मानहिँ ॥
ते पुनि पुन्य-पुञ्ज हम लेखे । जे देखहिँ देखिहहिँ जिन्ह देखे ॥४॥

कोई कहते हैं हम बहुत नहीं जानते, अपने को अतिशय धन्य कर के मानते हैं, फिर हमारे लेखे वे पुण्य की राशि हैं जो इन्हें देखते हैं, आगे देखेंगे और पहले देखा है ॥ ४ ॥

दो०—एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिँ नयन भरि नीर ।
किमि चलिहहिँ मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

इस तरह प्रिय वचन कह कह कर उनकी आँखों में आँसू भर आते हैं और आपस में कहते हैं कि—ये अत्यन्त सुकुमार शरीरवाले दुर्गम रास्ते में कैसे चलेंगे ? ॥ १२० ॥

चौ०-नारि सनेह बिकल सब होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं॥
मृदु पद-कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहइँ बर बानी॥१॥

स्त्रियाँ स्नेह के वश विकल हो जाती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों सन्ध्याकाल में चकवी (दुखित) सोहती हो। कोमल चरण-कमल और कठोर मार्ग समझ कर व्याकुल चित्त से श्रेष्ठ वाणी में कहती हैं॥१॥

परसत मृदुल-चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥
जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमन-मय मारग कीन्हा॥२॥

इनके कोमल लाल चरणों के छू जाने से पृथ्वी उसी तरह सकुचाती है जैसे हमारा हृदय सकुच रहा है। यदि जगदीश्वर ने इन्हें वनवास ही दिया तो रास्ते को फूल-मय क्यों नहीं बनाया?॥२॥

शङ्का निवारणार्थ विचार करना कि यदि ईश्वर ने इन्हें वनवास ही दिया तो पुष्प रूप मार्ग क्यों नहीं किया 'वितर्क सञ्चारीभाव' है।

जौं माँगा पाइय बिधि पाहीं। ये रखियहि सखि आँखिन्ह माहीं॥
जे नर नारि न अवसर आये। तिन्ह सिय राम न देखन पाये॥३॥

हे सखी! यदि विधाता से माँगने पर मिले तो इन्हें मैं आँखों में रक्खूँ। जो स्त्री-पुरुष उस समय नहीं आये वे सीताजी और रामचन्द्रजी को नहीं देख पाये॥३॥

सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गये कहाँ लगि भाई॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फल पाई॥४॥

उनकी सुहावनी छबि सुन कर बेचैनी से पूछते हैं कि—हे भाई! अब तक वे कहाँ पर्यन्त गये होंगे? बलवाले (युवा-पुरुष) दौड़ कर जाते और दर्शन करते हैं जन्म का फल पाकर प्रसन्नता से लौट आते हैं॥४॥

दो०-अबला-बालक-बृद्धजन, कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेम-बस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं॥१२१॥

स्त्री बालक और बूढ़े मनुष्य (जो दौड़ नहीं सकते वे) हाथ मल कर पछताते हैं। इसी तरह जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी जाते हैं, वहाँ वहाँ लोग प्रेम के अधीन होते हैं॥१२१॥

चौ०-गाँव गाँव अस होइ अनन्दू। देखि भानुकुल-कैरव-चन्दू॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप-रानिहि दोष लगावहिं॥१॥

सूर्य्यकुल रूपी कुमुद के चन्द्रमा (रामचन्द्रजी) को देख कर गाँव गाँव में ऐसा आनन्द होता है। जो कुछ समाचार सुन पाते हैं वे राजा-रानी को दोष लगाते हैं॥१॥

सभा की प्रति में 'जे यह समाचार सुनि पावहिं' पाठ है।

कहहिँ एक अति भल नरनाहू । दीन्ह हमहिँ जेइ लोचन लाहू ॥
कहहिँ परसपर लोग लुगाईं । बातैं सरल सनेह सुहाईं ॥२॥

कोई कहते हैं कि राजा बहुत अच्छे हैं जिन्हों ने हमें नेत्रों का लाभ दिया । इस प्रकार स्त्री-पुरुष आपस में सुन्दर स्नेह से भरी सीधी बातें कहते हैं ॥२॥

व्यङ्गार्थद्वारा राजा का रामचन्द्रजी को वनवास देना दोष रूप है, परन्तु अपने दर्शन-लाभ से उसको गुण रूप मानना 'अनुज्ञा अलंकार' है ।

ते पितु-मातु धन्य जिन्ह जाये । धन्य सो नगर जहाँ ते आये ॥
धन्य सो देस-सैल-बन-गाऊँ । जहँ जहँ जाहिँ धन्य सोइ ठाऊँ ॥३॥

वे पिता-माता धन्य हैं जिन्हों ने इन्हें उत्पन्न किया और वह नगर धन्य है जहाँ से ये आये हैं । वह देश, पर्वत, वन, गाँव और जहाँ जहाँ जाते हैं वह स्थान धन्य है ॥३॥

सुख पायउ बिरञ्चि रचि तेही । ये जेहि के सब भाँति सनेही ॥
राम-लखन-पथि कथा सुहाई । रही सकल मग कानन छाई ॥ ४ ॥

जिनके ये सब तरह से स्नेही हैं उन्हें रच कर विधाता ने सुख पाया । रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दोनों पथिकों की सुहावनी कथा सम्पूर्ण रास्ते में और वन में छा रही है ॥४॥

मार्ग और वन बड़ा आधार है, उसमें युगल-बन्धुओं की कथा आधेय है । वह सारे देश, समस्त राह, गाँव, नगर, वन में भर गई 'प्रथम अधिक अलंकार' हैं । इनके स्नेहियों की रचना से ब्रह्मा को सुख मिला, इन वाक्यों से रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी की अपार सुन्दरता एवम् सुकुमारता व्यञ्जित होना 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

दो०-एहि बिधि रघुकुल-कमल-रबि, मग लोगन्ह सुख देत ।
जाहिँ चले देखत बिपिन, सिय सौमित्रि समेत ॥ १२२ ॥

इस तरह रघुवंश रूपी कमल के सूर्य्य रामचन्द्रजी मार्ग के लोगों को सुख देते हुए सीताजी और सुमित्रा-नन्दन के सहित वन देखते चले जाते हैं ॥१२२॥

चौ०-आगे राम लखन बने पाछे । तापस-बेष बिराजत काछे ॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे । ब्रह्म जीव बिच माया जैसे ॥१॥

आगे रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी पीछे तपस्वियों का वेश बनाये सोहते हैं । दोनों महा पुरुषों के बीच में सीताजी कैसे शोभित हो रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया सोहती है ॥१॥

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के बीच सीताजी सोहती हैं, इस साधारण बात की विशेष से समता दिखाना कि जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया शोभित हो 'उदाहरण अलंकार' है । इसी से मिलती जुलती अरण्यकाण्ड में छठे दोहे के आगे दूसरी और पहली चौपाइयों की अर्द्धालियाँ हैं । यथा—"आगे राम अनुज पुनि पाछे । मुनिवर वेष बने अति काछे ॥ उभय बीच सिय सोहइ कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी" ॥

बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध-बिधु बिच रोहिनि सोही॥२॥

फिर जैसी छवि मेरे मन में बसती है वह कहता हूँ, ऐसा मालूम होता है मानों ऋतुराज और कामदेव के बीच में कामदेव की स्त्री रति शोभित हो। पुनः हृदय में खोज कर उपमा कहता हूँ, सीताजी ऐसी जान पड़ती हैं माना चन्द्रमा और बुध के बीच में रोहिणी (चन्द्रमा की स्त्री) सोहती हों॥२॥

ऋतुराज और लक्ष्मणजी, मदन और रामचन्द्रजी, सीताजी और रति तथा चन्द्रमा और रामचन्द्रजी, बुध और लक्ष्मणजी, रोहिणी और सीताजी परस्पर उपमान उपमेय हैं। वसन्त और कामदेव मित्र हैं, उनके बीच रति सोहती ही है। चन्द्रमा पिता और बुध पुत्र हैं, पिता पुत्र के बीच रोहिणी शोभित होती ही हैं। यह दोनों 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

प्रभु-पद-रेख बीच बीच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय-राम-पद अङ्क बराये। लखन चलहिँ मग दाहिन लाये॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-चिन्हों के बीच बीच में डर कर पाँव रखती हुई सीताजी मार्ग चल रही हैं। सीताजी और रामचन्द्रजी के पद की रेखाओं को बचा कर लक्ष्मणजी दाहनी ओर लगे रास्ता चलते हैं॥३॥

'सभीता और दाहिन लाये' शब्दों से सीताजी एवम् लक्ष्मणजी की धर्मभीरुता व्यञ्जित होती है। सीताजी पाँव रखने में इसलिये डरती जाती हैं कि कहीं स्वामी के चरणचिन्हों पर मेरे पाँव न पड़ जाँय। लक्ष्मणजी भी इसी हेतु दाहिनी ओर से चलते हैं कि रामचन्द्रजी और जानकीजी के पद-अङ्कों पर मेरा चरण न पड़े। सभा की प्रति में "दाहिन बाँये" पाठ है। किन्तु गुटका और राजापुर की प्रति में 'दाहिन लाये" है।

राम-लखन-सिय प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥
खग-मृग-मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोहीं॥४॥

रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी की सुहावनी प्रीति वचनों से प्रगट करने योग्य नहीं, फिर वह कैसे कही जा सकती है। पक्षी और मृग शोभा को देख कर मग्न होते हैं, पथिक रामचन्द्रजी ने उनके चित्तों को चुरा लिये॥४॥

दो०—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक-प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ।
भव-मग अगम अनन्द तेइ, बिनु स्रम रहे सिराइ॥१२३॥

जिन जिन लोगों ने प्यारे पथिक दोनों भाइयों को सीताजी के सहित देखे, उनके संसार के दुर्गम मार्ग बिना परिश्रम ही खो गये और वे आनन्दित हुए॥१२३॥

दैवयोग से रामचन्द्रजी के दर्शन द्वारा अकस्मात भव-मार्ग का मिट जाना 'समाधि अलंकार' है।

चौ०—अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ । बसहिं लखन-सिय-राम बटाऊ ॥
रामधाम-पथ पाइहि सोई । जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥१॥

अब भी जिनके हृदय में कभी सपने में भी लक्ष्मणजी, सीताजी और रामचन्द्रजी बटोही बसते हैं, वे रामचन्द्रजी के धाम वैकुंठ का मार्ग पावेंगे जिस रास्ते को कभी कोई मुनि पाते हैं ॥१॥

अब भी ये बटोही स्वप्न में जिनके हृदय में बसते हैं, इस विशेष बात का सामान्य से समर्थन करना कि वह रामचन्द्रजी के धाम का पथ पावेगा। इतने से सन्तुष्ट न होकर फिर विशेष से समर्थन करना कि जिस पथ को कभी कोई मुनि पाते हैं 'विकस्वर अलंकार है'।

तब रघुबीर स्रमित सिय जानी । देखि निकट बट सीतल पानी ॥
तहँ बसि कन्द मूल फल खाई । प्रात नहाइ चले रघुराई ॥ २ ॥

तब रघुनाथजी ने सीताजी को थकी हुई समझ कर पास ही बड़ का पेड़ और ठंढा पानी देख वहीं ठहर गये। कन्द, मूल और फल खा (विश्राम कर) सवेरे स्नान कर के रघुनाथजी चले ॥२॥

देखत बन सर सैल सुहाये । बालमीकि आस्रम प्रभु आये ॥
राम दीख मुनि-बास सुहावन । सुन्दर गिरि कानन जल पावन ॥ ३ ॥

सुन्दर वन तालाव और पर्वत को देखते हुए प्रभु रामचन्द्रजी वाल्मीकि मुनि के आश्रम में आये। रामचन्द्रजी ने सुन्दर पहाड़, वन और पवित्र जल मुनि के सुहावने स्थान में देखा ॥३॥

सरनि सरोज बिटप बन फूले । गुञ्जत मञ्जु मधुप रस भूले ॥
खग-मृग-बिपुल कोलाहल करहीं । बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥४॥

तालावों में कमल और वन में वृक्ष फूले हुए हैं मकरन्द में भूले भ्रमर सुन्दर गुञ्जारते हैं। पक्षी और मृगों के झुंड शोर करते हैं तथा वैर त्याग कर प्रसन्न मन से फिरते हैं ॥४॥

दो०—सुचि सुन्दर आस्रम निरखि, हरषे राजिव-नैन ।
सुनि रघुबर आगमन मुनि, आगे आयउ लेन ॥ १२४ ॥

पवित्र और सुन्दर आश्रम देख कर कमल-नयन रामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। रघुनाथजी का आगमन सुन कर वाल्मीकि मुनि उन्हें लेने के लिए आगे आये ॥१२४॥

चौ०—मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा । आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा ॥
देखि राम-छबि नयन जुड़ाने । करि सनमान आस्रम महँ आने ॥१॥

मुनि को रामचन्द्रजी ने दंडवत किया और ब्राह्मणोत्तम ने उन्हें आशीर्वाद दिया। रामचन्द्रजी की छवि को देख कर उनके नेत्र शीतल हुए, सत्कार करके आश्रम में ले आये ॥१॥

मुनिबर अतिथि प्रान-प्रिय पाये। तब मुनि आसन दिये सुहाये॥
कन्द मूल फल मधुर मँगाये। सिय-सौमित्रि-राम फल खाये॥२॥

मुनिवर ने प्राण प्रिय मेहमानों को पाया, तब उन्होंने सुहावना आसन दिया। कन्द मूल और फल मीठे मीठे मँगवाये, सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित रामचन्द्रजी ने फल खाये॥२॥

बालमीकि मन आनँद भारी। मङ्गल-मूरति नयन निहारी॥
तब कर-कमल जोरि रघुराई। बोले बचन स्रवन सुखदाई॥३॥

रामचन्द्रजी की मंगल-मूर्त्ति आँखों से देख कर वाल्मीकि मुनि के मन में बड़ा आनन्द हुआ, तब रघुनाथजी अपने कर-कमलों को जोड़ कर कानों को सुख देनेवाले वचन बोले॥३॥

तुम्ह त्रिकाल-दरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हारे हाथा॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी॥४॥

हे मुनिनाथ! आप त्रिकालदर्शी हैं, संसार बेर के फल जैसा आप की मुट्ठी में है। ऐसा कह कर प्रभु रामचन्द्रजी ने सब कथा कही जिस जिस प्रकार रानी ने वन दिया॥४॥

दो०—तात-बचन पुनि मातु-हित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य प्रभाउ॥१२५॥

पिता की आज्ञा, फिर माता का कल्याण और भरत ऐसे भाई को राज्य। हे प्रभो! मुझे आप का दर्शन होना यह सब मेरे पुण्यों का प्रभाव है॥१२५॥

एक पिता की आज्ञा ही वनवास के लिए पर्याप्त कारण है. तिस पर माता का कल्याण, भाई को राज्य, मुझे आपके दर्शन होने का सौभाग्य अन्य प्रबल हेतुओं का वर्तमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

चौ०—देखि पाय मुनि-राय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावइ कोई॥१॥

हे मुनिराज! आप के चरणों को देख कर हमारे सब सुकृत सुफल हुए। अब जहाँ आप की आज्ञा हो, जिसमें किसी मुनि के चित्त को आकुलता न प्राप्त हो॥१॥

मुनि-तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मङ्गल-मूल बिप्र-परितोषू। दहइ कोटि-कुल भूसुर रोषू॥२॥

मुनि और तपस्वी जिन से दुःख पाते हैं वे राजा बिना अग्नि के जलते हैं। ब्राह्मण का सन्तुष्ट होना ही मंगल का मूल है, ब्राह्मणों का क्रोध करोड़ों कुलों को भस्म करता है॥२॥

अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय-सौमित्रि-सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन-तृन-साला। बास करउँ कछु काल कृपाला॥३॥

ऐसा मन में समझ कर वह स्थान बतलाइये जहाँ सीता और लक्ष्मण के सहित मैं जाऊँ। हे कृपालु! वहाँ पत्ते और घास की सुन्दर कुटी बना कर कुछ काल तक निवास करूँ॥३॥

सहज सरल सुनि रघुबर बानी । साधु साधु बोले मुनि-ज्ञानी ॥
कस न कहहु अस रघुकुल-केतू । तुम्ह पालक सन्तत स्रुति-सेतू ॥४॥

रघुनाथजी की सहज सीधी वाणी को सुन कर ज्ञानीमुनि बोले कि सत्य है ! सत्य है । हे रघुकुल के पताका ! क्यों न ऐसा कहिये ? आप वेद की मर्यादा के निरन्तर पालनेवाले हैं ॥ ४ ॥

'साधु साधु' शब्द में जो व्यङ्ग है, वह क्रमानुसार नीचे स्पष्ट कथन करते हैं ।

हरिगीतिका-छन्द ।

स्रुति-सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जग पालति हरति रुख, पाइ कृपानिधान की ॥
जो सहस सीस-अहीस महिधर, लखन सचराचर धनी ।
सुर काज धरि नरराज तनु चले, दलन खल निसिचर अनी ॥५॥

हे रामचन्द्रजी ! आप वेदों की मर्यादा के रक्षक जगदीश्वर हैं और जानकीजी आप की माया हैं । हे कृपानिधान ! जो आप का रुख पाकर संसार को उत्पन्न, पालन और संहार करती हैं । जो सहस्र सिरवाले शेष धरणी-धर जड़ चेतन के स्वामी हैं, वही लक्ष्मणजी हैं । आप मनुष्य राजा का शरीर धारण कर देवताओं के काय के लिये दुष्ट राक्षसों के समुदाय का नाश करने चले हैं ॥ ५ ॥

सो०-राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर ।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥ १२६ ॥

हे रामचन्द्रजी ! आप का स्वरूप वाणी से कहने के योग्य नहीं और बुद्धि से परे है । न जानने योग्य, वर्णन के बाहर और सीमा रहित है जिसको वेद सदा इति नहीं, अन्त नहीं कहते हैं ॥ १२६ ॥

अयोध्याकाण्ड की रचना में प्रत्येक पचीसवें दोहे पर एक हरिगीतिका-छन्द और एक सोरठा का नियम कविजी ने निबाहा है । परन्तु इस स्थान पर वह नियम भङ्ग हुआ है, क्योंकि यह छन्द और सोरठा छब्बीसवें दोहे पर आया है । आगे सर्वत्र ठीक पचीसवें दोहे पर छन्द सोरठा काण्ड की समाप्ति पर्यन्त आए हैं ।

चौ०-जग-पेखन तुम्ह देखनिहारे । बिधि हरि सम्भु नचावनिहारे ॥
तेउ न जानहिँ मरम तुम्हारा । अउर तुम्हहिँ को जाननिहारा ॥१॥

यह जगत तमाशा है और आप उसके देखनेवाले (दर्शक) हैं; जो ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को नचानेवाले हैं वे (त्रिदेव) भी आप के भेद को नहीं जानते, फिर दूसरा आप को कौन जाननेवाला है ? ॥ १ ॥

सोइ जानइ जेहि देउ जनाई । जानत तुम्हहिँ तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिँ रघुनन्दन । जानहिँ भगत भगत उर-चन्दन॥२॥

वही जानता है जिसको आप जना देते हैं और आप को जानते ही वे आप के रूप हो जाते हैं। हे भक्तों के हृदय के चन्दन रघुनन्दन! आप ही की कृपा से भक्त-जन आप को जानते हैं ॥ २ ॥

इस चौपाई में पद और अर्थ दोनों की बार बार आवृत्ति होने से 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। 'भगत' शब्द दो बार आया है; किन्तु अर्थ पृथक पृथक होने से 'यमक अलंकार' है।

चिदानन्द-मय देह तुम्हारी । बिगत-बिकार जान अधिकारी ॥
नर तनु धरेउ सन्त-सुर-काजा । कहहु करहु जस प्राकृत-राजा ॥ ३ ॥

आप का शरीर चैतन्य और आनन्द का रूप है, इसको शुद्ध अन्तःकरण वाले अधिकारी ही जानते हैं। सज्जन और देवताओं के कार्य्य के लिये आपने मनुष्य का तन धारण किया है, इसीसे मनुष्य राजा की तरह कहते और करते हो ॥ ३ ॥

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिँ बुध होहिँ सुखारे ।
तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा । जस काछिय तस चाहिय नाचा ॥४॥

हे रामचन्द्रजी! आप के चरित्र को सुन कर मूर्ख मोहित होते हैं और ज्ञानवान प्रसन्न होते हैं। आप जो कहते और करते हैं वह सब सत्य है, क्योंकि जैसी कछनी कांछे वैसी नाच नाचना चाहिये ॥ ४ ॥

एक रामचन्द्रजी के चरित्र को देख सुन कर मूर्खों को अज्ञान और बुद्धिमान को प्रसन्नता (ज्ञान) का होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

दो०—पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिँ देखावउँ ठाउँ ॥ १२७ ॥

आप ने मुझ से पूछा कि मैं कहाँ रहूँ किन्तु मैं पूछने में सकुचाता हूँ। जहाँ आप न हों वहाँ कह दीजिये तो आप को मैं स्थान दिखाऊँ ॥ १२७ ॥

रामचन्द्रजी ने पूछा मैं कहाँ रहूँ ? वाल्मीकिजी ने कहा जहाँ आप न हों वह स्थान बतलाइये तब मैं रहने को जगह बताऊँ अर्थात् आप तो सभी जगह वर्तमान सर्वव्यापी हैं, आप से कोई स्थान खाली नहीं है। यहाँ किये हुए प्रश्न ही उत्तर होने से 'चित्रोत्तर अलंकार' है।

चौ०—सुनि मुनि बचन प्रेम-रस-साने । सकुचि राम मन महँ मुसुकाने ॥
बालमीकि हँसि कहहिँ बहोरी । बानी मधुर अमिय-रस बोरी ॥१॥

प्रेम रस से भरे मुनि के वचन सुन कर रामचन्द्रजी सकुचा कर मन में मुस्कुराये। फिर वाल्मीकिजी हँस कर अमृत रस से सराबोर मीठी वाणी बोले ॥ १ ॥

सुनहु राम अब कहहुँ निकेता । जहाँ बसहु सिय-लखन-समेता ॥
जिन्ह के स्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥२॥

हे रामचन्द्रजी ! सुनिये, अब रहने योग्य स्थान कहता हूँ जहाँ सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित बसिये । जिनके कान समुद्र के समान हैं और आप की सुन्दर कथा नाना नदियाँ हैं ॥ २ ॥

पहले स्थान बतलाने से इनकार करके कि आप से कोई स्थान खाली ही नहीं है, मैं कौन सी जगह बतलाऊँ । फिर रहने के लिये ठाँव दिखाना 'निषेधाक्षेप अलंकार' है ।

भरहिँ निरन्तर होहिँ न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे ॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिँ दरस-जलधर अभिलाखे ॥३॥

वे निरन्तर भरती हैं तो भी भरते नहीं, उनके हृदय आप के लिये सुहावने मन्दिर हैं । जिन्हों ने अपने नेत्रोंको चातक बना रक्खा है और आप के रूप रूपी मेघ के दर्शन के अभिलाषी रहते हैं ॥ ३ ॥

सदा भरते रहने पर भी न भरना 'विशेषोक्ति अलंकार' है । जिस तरह नदियों के भरने से समुद्र नहीं भरता, उसी तरह आप के गुणों को सुन कर अघाते नहीं । इन वाक्यों में 'दृष्टान्त' का भाव है ।

निदरहिँ सरित-सिन्धु-सर भारी । रूप-बिन्दु-जल होहिँ सुखारी ॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक । बसहु बन्धु-सिय-सह रघुनायक ॥४॥

जो भारी तालाब, नदियाँ और समुद्र का तिरस्कार कर के आप के रूप रूपी जल के बुन्द से सुखी होते हैं । हे रघुनाथजी ! उनके हृदय सुखदायी भवन हैं, सीताजी, लक्ष्मणजी के सहित वहीं बसिये ॥ ४ ॥

जैसे पपीहा नदी—समुद्रादि का जल त्याग कर स्वाती के बिन्दु मात्र जल से प्रसन्न होता है, तैसे अन्य के रूप हृदय में नहीं लाते आप की छवि के आभास मात्र से सुखी होते हैं । इन दोनों वाक्यों में बिना वाचक पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है ।

दो०—जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुनगन चुनइ, राम बसहु हिय तासु ॥ १२८ ॥

आप का निर्मल यश मानसरोवर रूप है और जिसकी जिह्वा रूपी हंसिनी गुण समूह रूपी मोतियों को चुनती (एक एक कर के इकट्ठा करती) है, हे रामचन्द्रजी ! आप उसके हृदय में निवास करें ॥ १२८ ॥

चौ०—प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहिँ निबेदित भोजन करहीँ । प्रभु-प्रसाद पट भूषन धरहीँ ॥१॥

पवित्र सुन्दर सुगन्धित (पुष्पादि) आप के प्रसाद को आदर के साथ जिनकी नासिका ग्रहण करती है । आप को अर्पण कर भोजन करते हैं और स्वामी के प्रसाद रूप वस्त्राभूषण पहनते हैं ॥ १ ॥

सीस नवहिँ सुर-गुरु-द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी॥
कर नित करहिँ राम-पद-पूजा। राम-भरोस हृदय नहिँ दूजा॥२॥

जिनके मस्तक देवता, गुरु और ब्राह्मण को देख कर नवते हैं और बड़ी नम्रता के साथ, बिनती करते हैं। जिनके हाथ नित्य रामचन्द्रजी के चरणों की पूजा करते हैं और रामचन्द्रजी को छोड़ कर हृदय में दूसरे का भरोसा नहीं रखते॥२॥

चरन राम-तीरथ चलि जाहीँ। राम बसहु तिनके मन माहीँ॥
मन्त्रराज नित जपहिँ तुम्हारा। पूजिहिँ तुम्हहिँ सहित परिवारा॥३॥

जिनके चरण रामतीर्थों में चल कर जाते हैं; हे रामचन्द्रजी! आप उनके मन में बसिये। जो आप के मन्त्रराज (षड़क्षर-तारकमन्त्र) को नित्य जपते हैं और कुटुम्ब के समेत आप का पूजन करते हैं॥३॥

तरपन होम करहिँ बिधि नाना। बिप्रजेँवाइ देहिँ बहु दाना॥
तुम्हतेँ अधिक गुरुहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिँ सनमानी॥४॥

जो तर्पण और नाना प्रकार के हवन करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन करा कर बहुत सा दान देते हैं। आप से बढ़कर गुरु को मन में समझते हैं और सब तरह से सम्मान कर उनकी सेवा करते हैं॥४॥

दो०—सब करि माँगहिँ एक फल, राम-चरन रति होउ।
तिन्ह के मन-मन्दिर बसहु, सिय-रघुनन्दन दोउ॥१२९॥

सब कर के एक ही फल माँगते हैं कि रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम हो। हे रघुनन्दन! आप उनके मन रूपी मन्दिर में सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित बसिये॥१२९॥

चौ०—काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्हके कपट दम्भ नहिँ माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥१॥

जिन्हें काम, क्रोध, मद, अभिमान और अज्ञान नहीं है, न लोभ है, न विषयासक्ति है, न द्रोह है। जिनके कपट, दम्भ और माया नहीं है, हे रघुनाथजी! आप उनके हृदय में बसिये॥१॥

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिँ सत्य प्रिय-बचन-बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥२॥

जो सब के प्यारे और सब के हितकारी हैं, दुःख, सुख, बड़ाई और गाली बराबर समझते हैं। सत्य और प्रिय वचन बिचार कर कहते हैं, जागते सोते आपकी शरण में हैं॥२॥

दुःख, सुख, प्रशंसा और गाली को समान जानना 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार' है।

तुम्हहिँ छाड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
जननी सम जानहिँ पर-नारी । धन पराव बिष तेँ बिष भारी ॥३॥

आप को छोड़ कर जिन्हें दूसरे का सहारा नहीं, हे रामचन्द्रजी ! आप उनके मन में बसिये । जो पराई स्त्री को माता के समान जानते हैं और पराये धन को विष से भी बढ़ कर विष समझते हैं ॥ ३ ॥

पर-स्त्री-उपमेय माता-उपमान, सम-वाचक और समझना-धर्म 'पूर्णोपमा अलंकार' है ।

जे हरषहिँ पर-सम्पति देखी । दुखित होहिँ पर-बिपति-बिसेखी ॥
जिन्हहिँ राम तुम्ह प्रान-पियारे । तिन्ह के मन सुभ-सदन-तुम्हारे ॥४॥

जो दूसरे की सम्पत्ति देखकर प्रसन्न होते हैं और पराये की विपत्ति से विशेष दुःखित होते हैं । हे रामचन्द्रजी । जिन्हें आप प्राण-प्यारे हैं, उनके मन आप के लिये अच्छे मन्दिर हैं ॥४॥

दो०—स्वामि-सखा-पितु-मातु-गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात ।
मन-मन्दिर तिन्ह के बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात ॥१३०॥

हे तात ! जिनके स्वामी, मित्र, पिता, माता और गुरु सब आप ही हैं । उनके मन रूपी मन्दिर में सीताजी के सहित दोनों भाई बसिये ॥१३०॥

चौ०—अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । बिप्र-धेनु-हित सङ्कट सहहीं ॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका ॥१॥

अवगुण त्याग कर सबके गुण ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गैया के कल्याण के लिये सङ्कट सहते हैं । नीति-कुशलता में जिनकी जगत में मर्यादा है, उनका मन आप का सुन्दर भवन है ॥१॥

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
रामभगत प्रिय लागहिँ जेही । तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥२॥

जो गुण आप का और दोषों को अपना समझते हैं, जिनको सब तरह से आप ही का भरोसा है । जिनको रामभक्त प्यारे लगते हैं, विदेह-नन्दिनी के समेत उनके हृदय में बसिये ॥२॥

जाति पाँति धन धरम बड़ाई । प्रिय-परिवार सदन-सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहिँ रहइ लउ लाई । तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥३॥

जो जाति, पाँति, धन और धर्म की बड़ाई, प्रिय-कुटुम्ब तथा सुखदायी घर सब को त्याग कर आप ही में लव लगाये रहते हैं; हे रघुनाथजी ! आप उनके हृदय में रहिये ॥३॥

राजापुर की प्रति में सब तजि तुम्हहिँ रहइ उर लाई' पाठ है । वहाँ अर्थ होगा—"सब को त्याग कर आप ही में हृदय लगाये रहते हैं" ।

सरग नरक अपबरग समाना । जहँ तहँ देख धरे धनु बाना ॥
करम-बचन-मन राउर चेरा । राम करहु तेहि के उर डेरा॥४॥

जिन्हें स्वर्ग, नरक और मोक्ष बराबर है, जहाँ रहें वहाँ धनुष-बाण धारण किये आपको देखते हैं । हे रामचन्द्रजी ! कर्म, वचन और मन से आप के दास हैं उनके हृदय में डेरा कीजिये ॥४॥

दो०-जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह ।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो राउर निज-गेह ॥१३१ ॥

जिनको कभी कुछ न चाहिए, केवल आप से सहज स्नेह चाहते हैं । उनका मन आपका निजी घर है, उसमें निरन्तर निवास कीजिये ॥ १३१ ॥

'निज गेह' शब्द में लक्षणामूलक व्यङ्ग है कि जैसे राजा महाराजाओं के बहुत से महल रहते हैं; उनमें वे समयानुसार जाते हैं परन्तु सदा सोने, बैठने के लिये ख़ास महल (विश्राम-गृह) में निवास करते हैं । उसी तरह निष्काम भजन करनेवाले भक्तों के मन आप के रहने के प्रधान भवन हैं ।

चौ०-एहि-बिधि मुनिबर भवन देखाये । बचन सप्रेम राम मन भाये ॥
कह मुनि सुनहु भानुकुल-नायक । आस्रम कहउँ समय-सुख-दायक॥१॥

इस तरह मुनिश्रेष्ठ ने घर दिखाये, उनके प्रेम भरे वचन रामचन्द्रजी के मन में अच्छे लगे । मुनि ने कहा—हे सूर्य्यकुल के स्वामी ! सुनिये, समयानुसार सुखदायी आश्रम कहता हूँ ॥ १ ॥

चित्रकूट-गिरि करहु निवासू । तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू ॥
सैल सुहावन कानन चारू । करि केहरि मृग बिहग बिहारू ॥२॥

चित्रकूट-पर्वत पर निवास कीजिये, वहाँ आप को सब तरह सुभीता (आराम) रहेगा । वह पहाड़ सुहावना और वन सुन्दर है, उसमें हाथी, सिंह, मृग और पक्षियों के झुंड विहार करते हैं ॥ २ ॥

नदी पुनीत पुरान बखानी । अत्रि-प्रिया निज तप-बल आनी ॥
सुरसरि-धार नाउँ मन्दाकिनि । जो सब पातक-पोतक-डाकिनि ॥३॥

वहाँ पवित्र नदी है जिसका वर्णन पुराणों ने किया है कि अत्रि मुनि की भार्य्या (अनुसूया) ने अपनी तपस्या के बल से उसको ले आई हैं । वह गङ्गाजी की धारा मन्दाकिनी नाम है, जो समस्त पाप के बालकों की डाइन है ॥ ३ ॥

डाकिनी (ग्रहबाधा) बालकों को नाश करने में प्रसिद्ध है । पाप के बच्चों का नाश करने के लिये उपमान-डाकिनी का गुण उपमेय-मन्दाकिनी में स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है ।

अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं। करहिँ जोग जप तप तन कसहीं॥
चलहु सफल स्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिवरहू॥४॥

अत्रि आदि बहुत से मुनिवर वहाँ वसते हैं, वे योग जप और तप कर के शरीर को शुद्ध करते हैं। हे रामचन्द्रजी! वहाँ चल कर सब के परिश्रम को सफल कीजिये और पर्वत को भी बड़ाई दीजिये॥ ४॥

दो०–चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाने सरित-बर, सिय समेत दोउ भाइ॥ १३२॥

महामुनि वाल्मीकि ने चित्रकूट की बहुत बड़ी महिमा बखान कर कही। सीताजी के सहित दोनों बन्धुओं ने आकर श्रेष्ठनदी (मन्दाकिनी) में स्नान किया॥ १३२॥

चौ०–रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अवठाहर ठाटू॥
लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥१॥

रघुनाथजी ने कहा—लक्ष्मण! यह घाट अच्छा है, कहीं ठहरने का प्रबन्ध करो। लक्ष्मणजी ने पयस्विनी-नदी के उत्तर किनारे को देखा "वहाँ चारों ओर धनुष जैसा नाला फिरा हुआ है॥ १॥

सभा की प्रति में 'करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू' पाठ है। यद्यपि अर्थ दोनों का एक ही है, इसमें 'अब' समयानुकूल शब्द निकलता है। परन्तु 'अवठाहर' एक शब्द है, जैसे—अवगाहन, अवस्थापन अवलेप, अवघात आदि।

नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष-कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥२॥

(नाला धनुष है और) नदी प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) है और सम, दम, दान बाण रूप हैं, कलि के सम्पूर्ण पाप नाना प्रकार के सँवजा (शेर, चीता, तेँदुआ आदि शिकार के जन्तु) हैं। ऐसा मालूम होता है मानों चित्रकूट पर्वत अचल शिकारी है, वह निशाना मारता है कि वार चूकता नहीं॥ २॥

अहेरी और चित्रकूट (कामतानाथ) का कवि ने साङ्ग रूपक बाँधा है और उसी की उत्प्रेक्षा की है। इस पवित्र स्थल में पापों का नाश होता ही है, परन्तु जड़ पर्वत का निशाना लगाना असिद्ध आधार है। इस अहेतु में शिकारीपन के हेतु की कल्पना करना 'असिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है 'मुठभेरी' शब्द सामने का पर्य्यायी है।

अस कहि लखन ठाउँ दिखरावा। थल बिलोकि रघुबर सुख पावा॥
रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति-प्रधाना॥३॥

ऐसा कह कर लक्ष्मणजी ने स्थान दिखलाया, उस जगह को देख कर रघुनाथजी प्रसन्न हुए। देवताओं ने समझा रामचन्द्रजी का मन यहाँ रमा, तब वे प्रतिष्ठित करने में प्रधान देवता (विश्वकर्मा आदि) के सहित चित्रकूट को चले॥३॥

सभा की प्रति में 'चले सहित सुरपति परधाना' पाठ है। सुरपति के साथ 'परधाना' शब्द निरर्थक प्रतीत होता है, क्योंकि सुरपति देवताओं का प्रधान हई है। गुटका और राजापुर की प्रति में 'थपति-प्रधाना' पाठ है।

कोल-किरात-बेष सब आये। रचे परन-तृन-सदन सुहाये॥
बरनि न जाहिँ मञ्जु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥४॥

सब कोल-भीलों के रूप में वहाँ आये और पत्ते घास की सुहावनी कुटियाँ बनाईं। वे दोनों सुन्दर शालाएँ वर्णन नहीं की जा सकतीं, उनमें एक मनोहर छोटी और दूसरी बड़ी है॥४॥

दो०—लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनि बेष जनु, रति-रितुराज-समेत॥१३३॥

लछमणजी और सीताजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी सुन्दर पर्णशाला में शोभायमान हैं। वे ऐसे मालूम होते हैं मानों मुनि का वेष बनाये वसन्त और रति के सहित कामदेव सोहता हो॥१३१॥

रामचन्द्रजी और कामदेव, लछमणजी और ऋतुराज, सीताजी और रति परस्पर उपमेय उपमान हैं। रति और वसन्त के साथ काम सोहता ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू॥१॥

देवता, नाग, किन्नर और दिशिपाल उस समय चित्रकूट में आये। सब किसी ने रामचन्द्रजी को प्रणाम किया और नेत्रों का लाभ पाकर सुर-गण प्रसन्न हुए॥१॥

बरषि सुमन कह देव-समाजू। नाथ सनाथ भये हम आजू॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाये। हरषित निज निज सदन सिधाये॥२॥

फूलों की वर्षा कर देव-समाज कह रहा है कि—हे नाथ! आज हम लोग सनाथ हुए। विनती करके अपना दुस्सह दुःख सुनाये और प्रसन्न होकर अपने अपने घरों को गये॥२॥

चित्रकूट रघुनन्दन छाये। समाचार सुनि सुनि मुनि आये॥
आवत देखि मुदित मुनि-बृन्दा। कीन्ह दंडवत रघुकुल-चन्दा॥३॥

चित्रकूट में रघुनाथजी के टिकने का समाचार सुन सुन कर ऋषि लोग आये। रघुकुल के चन्द्रमा रामचन्द्रजी मुनि-मंडली को आते देखकर प्रसन्नता के साथ प्रणाम किया॥३॥

मुनि रघुबरहि लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं॥
सिय-सौमित्रि-रामछबि देखहिँ। साधन सकल सफल करि लेखहिँ॥४॥

मुनिजन रघुनाथजी को छाती से लगा लेते हैं और सफल होने के लिये आशीर्वाद देते हैं। सीताजी, लछमणजी और रामचन्द्रजी की छबि देखते हैं जिससे अपने सम्पूर्ण साधनों को सार्थक समझते हैं॥४॥

दो०–जथाजोग सनमानि प्रभु, बिदा किये मुनि-बृन्द ।
करहिँ जोग जप जाग तप, निज आस्रमनि सुछन्द ॥१३४॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने यथायोग्य सम्मान कर मुनि-मण्डली को बिदा किया । वे सब अपने अपने आश्रमों में स्वतन्त्रता-पूर्वक योग, जप, यज्ञ और तप करते हैं ॥१३४॥

चौ०–यह सुधि कोल किरातन्ह पाई । हरषे जनु नव-निधि घर आई ॥
कन्द मूल फल भरि भरि दोना । चले रङ्क जनु लूटन सोना ॥१॥

यह ख़बर कोल किरातों ने पाई, वे ऐसे प्रसन्न हुए मानों उनके घर में नवों निधि आ गई हो । कन्द, मूल और फल दोनों में भर भर कर चले, ऐसा मालूम होता है मानों कंगालों का झुंड सुवर्ण लूटने को दौड़ा जाता हो ॥ १ ॥

कुवेर के नौ प्रकार के रत्न को निधि कहते हैं । उनके नाम ये हैं—"पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और वर्च्च" । निधि घर में आने से ख़ुशी होती ही है तथा स्वर्ण की लूट सुन कर कँगले वेतहाशा दौड़ते हैं । यह दोनों 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता । अपर तिन्हहिँ पूछहिँ मगजाता ॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई । आइ सबन्हि देखे रघुराई ॥ २ ॥

उनमें जिन्हों ने दोनों भाइयों को देखा था, मार्ग जाते हुए उनसे दूसरे पूछते हैं । इस तरह रघुनाथजी की सुन्दरता कहते सुनते सब ने आकर रामचन्द्रजी को देखा ॥ २ ॥

करहिँ जोहार भेँट धरि आगे । प्रभुहि बिलोकहिँ अति अनुरागे ॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े । पुलक-सरीर नयन जल बाढ़े ॥३॥

सामने भेंट रख कर प्रणाम करते हैं और बड़े प्रेम से प्रभु रामचन्द्रजी को देखते हैं । उनके शरीर पुलकित हो गये और आँखों में जल (प्रेमाश्रु) बढ़ आये ॥ ३ ॥

राम सनेह मगन सब जाने । कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी । बचन बिनीत कहहिँ करजोरी ॥४॥

रामचन्द्रजी ने सब को स्नेह में डूबा हुआ जान कर प्यारी वाणी कह कर सभी का सम्मान किया । प्रभु को बार बार प्रणाम कर हाथ जोड़ नम्रता से वचन कहते हैं ॥४॥

दो०–अब हम नाथ सनाथ सब, भये देखि प्रभु पाय ।
भाग हमारे आगमन, राउर कोसलराय ॥ १३५ ॥

हे नाथ ! अब हम सब स्वामी के दर्शन पाकर सनाथ हुए ! हे कोशलराज ! आप का आगमन हमारे भाग्य से हुआ है ॥ १३५ ॥

चौ०-धन्य भूमि बन पन्थ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥
धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भये तुम्हहिं निहारी॥१॥

हे नाथ! जहाँ जहाँ आप ने पदार्पण किया वह धरती, वन, रास्ता और पहाड़ धन्य है। वन में विचरनेवाले पक्षी और मृग धन्य हैं, आप को देख कर इनके जन्म सफल हो गये॥१॥

हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥२॥

हम सब परिवार के सहित आँख भर आप के दर्शन कर के धन्य हुए हैं। अच्छी जगह विचार कर आपने निवास किया, यहाँ सब ऋतुओं में सुखी रहियेगा॥२॥

हम सब भाँति करबि सेवकाई। करि-केहरि-अहि-बाघ बराई।
बन बेहड़ गिरि कन्दर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥३॥

हम लोग हाथी सिंह, साँप और बाघ बरा कर (वर्जन कर के) सब तरह से सेवा करेंगे। हे प्रभो! यहाँ बीहड़ वन, पर्वत, गुफाएँ और खोह सब परग परग हमारे देखे हैं॥३॥

जहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब। सर निरभर भल ठाउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥४॥

जहाँ तहाँ आप को शिकार खेलावेंगे तालाब, झरना और अच्छे अच्छे स्थान दिखावेंगे। हे नाथ! कुटुम्बियों सहित हम आप के सेवक हैं, आज्ञा देने में संकोच न कीजियेगा॥४॥

दो०-बेद-बचन मुनि-मन-अगम, ते प्रभु करुना अयन।
बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन॥१३६॥

प्रभु रामचन्द्रजी जो वेद वाक्य और मुनियों के मन की पहुँच के बाहर हैं, वे ही दया-निधान किरातों की बातें इस तरह सुनते हैं, जैसे पिता बालकों की बातें (प्रीति से) सुनता है॥१३६॥

जो वेद और मुनियों को दुर्गम हैं, वे किरातों से बातचीत करते हैं। इस वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है।

चौ०-रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥१॥

रामचन्द्रजी को केवल प्रेम प्यारा है, जो जाननेवाले हों वे जान लें तब रामचन्द्रजी ने सम्पूर्ण वनचरों को प्रेम से भरे कोमल वचन कह कर सन्तुष्ट किया॥१॥

इस चौपाई के पूर्वार्द्ध में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है कि देखिये, कोल-भीलों से अधम दूसरा कौन होगा? प्रेम के नाते उन्हें बालक की तरह स्नेह जनाते हुए अपना मानते हैं। इस उदाहरण से जाननेवाले समझ लें कि यहाँ निचाई ऊँचाई कोई चीज़ नहीं है। "प्रीति पहिचान यह रीति दरबार की" के अनुसार प्रेमी ही को अपना मानते हैं।

बिदा किये सिर नाइ सिधाये । प्रभु गुन कहत सुनत घर आये ॥
एहि बिधि सिय समेत दोउ भाई । बसहिँ बिपिन सुर-मुनि-सुखदाई ॥२॥

कोल-भीलों को बिदा किये, वे सिर नवा कर चले और प्रभु रामचन्द्रजी के गुण कहते सुनते घर आये। इस तरह सीताजी के सहित दोनों भाई देवता और मुनियों को सुख देने-वाले वन में निवास करते हैं ॥ २ ॥

जब तेँ आइ रहे रघुनायक । तब तेँ भयउ बन मङ्गल दायक ॥
फूलहिँ फलहिँ बिटप बिधि नाना । मञ्जु-बलित-बर-बेलि-बिताना ॥३॥

जब से रघुनाथजी आकर ठहरे; तब से वन मङ्गल-दायक हुआ है। नाना प्रकार के वृक्ष फूलते और फलते हैं, उन पर लिपटी हुई सुन्दर लताओं के अच्छे मंडप तने हुए हैं ॥ ३ ॥

सुरतरु सरिस सुभाय सुहाये । मनहुँ बिबुध बन परिहरि आये ॥
गुञ्ज मञ्जु-तर मधुकर-स्रेनी । त्रिबिधि बयारि बहइ सुख देनी ॥४॥

वे कल्पवृक्ष के समान स्वाभाविक सुहावने हैं, ऐसा मालूम होता है मानों देवताओं के बाग़ को छोड़ कर आये हों। भँवरों की पंक्तियाँ बहुत ही मनोहर गुञ्जार करती हैं और शीतल, मन्द, सुगन्धित तीनों प्रकार की सुख देनेवाली हवा बहती है ॥ ४ ॥

जड़ वृक्षों का स्वर्ग त्याग कर चित्रकूट के वन में आना असिद्ध आधार है। जंगली पेड़ों में कल्पवृक्ष की कल्पना करना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर ।
भाँति भाँति बोलहिँ बिहग, स्रवन-सुखद चित-चोर ॥ १३७ ॥

मोर, कोयल, तोता, पपीहा, चकवा और चकोर तरह तरह के पक्षी कानों को सुख देने-वाली एवम् चित्त को चुरानेवाली बोली बोलते हैं ॥ १३७ ॥

चौ०—करि केहरि कपि कोल कुरङ्गा । बिगत बैर बिचरहिँ सब सङ्गा ॥
फिरत अहेर राम छबि देखी । होहिँ मुदित मृगबृन्द बिसेखी ॥१॥

हाथी, सिंह, बन्दर, सुअर और हरिन वैर त्याग कर सब साथ में विचरते हैं। शिकार में फिरते हुए रामचन्द्रजी की छवि को देख कर मृगों के झुंड विशेष प्रसन्न होते हैं ॥ १ ॥

स्वाभाविक वैर त्याग कर वन के जीवों का साथ में विचरण वर्णन करने में राम-चन्द्रजी की महिमा व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

बिबुध-बिपिन जहँ लगि जग माहीं । देखि राम-बन सकल सिहाहीं ॥
सुरसरि सरसइ दिनकर-कन्या । मेकल सुता गोदावरि धन्या ॥२॥

जहाँ तक देवताओं के और जगत में वन हैं, वे सब रामचन्द्रजी के वन को देख कर सराहते हैं। गङ्गा, सरस्वती, यमुना, नर्वदा और गोदावरी धन्य नदियाँ ॥ २ ॥

सब सर सिन्धु नदी नद नाना। मन्दाकिनि कर करहिँ बखाना॥
उदय-अस्त-गिरि अरु कैलासू। मन्दर मेरु सकल-सुर-बासू॥३॥

सब तालाब, समुद्र, नदी और नाना नद मन्दाकिनी-नदी की बड़ाई करते हैं। उदयाचल, अस्ताचल, कैलास; मन्दराचल, और सुमेरु आदि सम्पूर्ण देवताओं के रहने के पहाड़॥३॥

सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिँ तेते॥
बिन्धि मुदित मन सुख न समाई। स्रम बिन बिपुल बड़ाई पाई॥४॥

हिमालय आदिक जितने पर्वत हैं, वे सब चित्रकूट का यश गान करते हैं। बिना परिश्रम बहुत बड़ी बड़ाई पाने से विन्ध्याचल मन में इतना प्रसन्न है कि उसका सुख हृदय में समाता नहीं है॥४॥

दो०—चित्रकूट के बिहग मृग, बेलि बिटप तृन-जाति।
पुन्य-पुञ्ज सब धन्य अस, कहहिँ देव दिन राति॥१३८॥

चित्रकूट के पक्षी, मृग, लता, वृक्ष और तृण की जातियों को दिन रात देवता यह कहते हैं कि ये सब पुण्य की राशि धन्य हैं॥१३८॥

देवताओं के धन्यवाद और बड़ाई करने के सम्बन्ध से चित्रकूट के पक्षी; मृगादिकों की अतिशय प्रशंसा करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

चौ०—नयनवन्त रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिँ बिसोकी॥
परसि चरन-रज अचर सुखारी। भये परम-पद के अधिकारी॥१॥

आँखवाले जीव रघुनाथजी को अवलोकन कर जन्म का फल पाकर शोक रहित होते हैं। अचर (पृथ्वी, पर्वत, तृणादि) चरणों की धूलि के छू जाने से सुखी हो परम-पद (मोक्ष) के अधिकारी हुए हैं॥१॥

सो बन सैल सुभाय सुहावन। मङ्गल-मय अति पावन पावन॥
महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥२॥

वह वन-पर्वत सहज सुहावना, मंगल का रूप और अत्यन्त पवित्र से भी पवित्र है। उसकी महिमा किस प्रकार वर्णन करूँ, जहाँ सुख के समुद्र (रामचन्द्रजी) ने निवास किया है॥२॥

पय-पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय-लखन-राम रहे आई॥
कहि न सकहिँ सुखमा जसि कानन। जैाँ सत-सहस होहिँ सहसानन॥३॥

क्षीरसागर को त्याग और अयोध्यापुरी को छोड़ कर जहाँ सीताजी, लक्ष्मणजी और रामचन्द्रजी आकर ठहरे हैं। उस वन की जैसी शोभा हो रही है उसको यदि सौ हज़ार शेषनाग हो जायँ तो भी नहीं कह सकते॥३॥

सो मैं बरनि कहउँ बिधि केहीं । डाबर कमठ कि मन्दर लेहीं ॥
सेवहिं लखन करम-मन-बानी । जाइ न सील सनेह बखानी ॥४॥

वह मैं किस प्रकार वर्णन कर कहूँ, क्या गड़ही में रहनेवाला कछुआ मन्दराचल उठा सकता है? (कदापि नहीं) । लक्ष्मणजी कर्म, मन, वाणी से सेवा करते हैं, उनका शिष्टाचार और स्नेह नहीं बखाना जा सकता ॥४॥

वह मैं किस तरह कहूँ, यह उपमेय वाक्य है । क्या गड़ही का कछुआ मन्दर ले सकता है। यह उपमान वाक्य है । प्रथम वर्णन की अशक्तता कह कर फिर उपमान वाक्य में काकु से अशक्तता प्रकट करना, दोनों वाक्यों का एक ही धर्म 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है ।

दो०—छिन छिन लखि सिय-राम-पद, जानि आपु पर नेह ।
करत न सपनेहु लखन चित, बन्धु-मातु-पितु-गेह ॥१३९॥

क्षण क्षण सीताजी और रामचन्द्रजी के चरणों को देख तथा अपने ऊपर उनका स्नेह समझ कर लक्ष्मणजी स्वप्न में भी भाई, माता, पिता और घर की ओर मन नहीं करते हैं ॥१३९॥

चौ०—राम सङ्ग सिय रहति सुखारी । पुर-परिजन-गृह-सुरति बिसारी ॥
छिनछिन प्रिय बिधु-बदन निहारी । प्रमुदित मनहुँ चकोरकुमारी ॥१॥

रामचन्द्रजी के साथ में सीताजी नगर, कुटुम्बीजन और घर की सुध भूल कर सुखी रहती हैं । क्षण क्षण प्यारे के मुख रूपी चन्द्रमा को देख कर ऐसी प्रसन्न मालूम होती हैं मानों चकोर की कन्या आनन्दित हो ॥१॥

नाह नेह नित बढ़त बिलोकी । हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ॥
सिय मन राम-चरन अनुरागा । अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥२॥

स्वामी का स्नेह नित्य बढ़ता देख कर ऐसी प्रसन्न रहती हैं जैसे दिन में चकवी आनन्दित रहती है । सीताजी के मन में रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम है, इसलिए सहस्रों अयोध्या के समान उन्हें वन प्यारा लगता है ॥२॥

परन-कुटी प्रिय प्रियतम सङ्गा । प्रिय परिवार कुरङ्ग बिहङ्गा ॥
सासु-ससुर-सम मुनि-तिय मुनिबर । असन अमिय सम कन्दमूल फर ॥३॥

प्रीतम के साथ में पत्तों की कुटी ही प्यारी लगती है और हरिण पक्षी ही प्यारे कुटुम्बी हैं । मुनियों की स्त्रियाँ सासु और मुनिवर ससुर के समान हितकारी हैं, कन्द, मूल और फल ही अमृत के समान भोजन है ॥३॥

नाथ साथ साथरी सुहाई । मयन-सयन-सय-सम सुखदाई ॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू । तेहि कि मोहि सक बिषय-बिलासू ॥४॥

स्वामी के सङ्ग में सुहावनी गोनरी कामदेव की शय्या से सौगुनी सुखदायी हो रही है । जिनकी कृपादृष्टि से लोकपाल होते हैं, क्या उनको विषयानन्द मोहित कर सकता है? (कदापि नहीं) ॥४॥

दो०—सुमिरत रामहिँ तजहिँ जन, तृन सम बिषय-बिलासु ।
राम-प्रिया जग-जननि-सिय, कछु न आचरज तासु ॥ १४० ॥

रामचन्द्रजी को सुमिरते ही मनुष्य तिनके के बराबर विषय-विलास को त्याग देते हैं। उन्हीं रामचन्द्रजी की प्रियतमा जगत की माता सीताजी हैं, उनके लिये यह कुछ आश्चर्य नहीं है ॥ १४० ॥

जिसका नाम स्मरण कर लोग विषयानन्द तज देते हैं, उनकी प्रियतमा के लिये विषय त्यागिणी होना कुछ अचरज नहीं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

चौ०—सीय-लखन जेहि बिधि सुख लहहीं । सोइ रघुनाथ करहिँ सोइ कहहीं ॥
कहहिँ पुरातन कथा कहानी । सुनहिँ लखन सिय अति सुख मानी ॥१॥

सीताजी और लक्ष्मणजी जिस तरह सुख पाते हैं वही रघुनाथजी करते हैं और वही कहते हैं। पुरानी कथा कहानियों को कहते हैं, उसे बड़ी प्रसन्नता से लक्ष्मणजी और सीताजी सुनती हैं ॥ १ ॥

जब जब राम अवध सुधि करहीं । तब तब बारि बिलोचन भरहीं ॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई । भरत सनेह सील-सेवकाई ॥२॥

जब जब रामचन्द्रजी अयोध्यापुरी की सुधि करते हैं तब तब आँखों में जल भर लेते हैं। माता, पिता, कुटुम्बी और भाई भरत के स्नेह, शील और सेवाओं की याद कर के ॥ २ ॥

पिता-माता, कुटुम्बी और भाइयों के साथ पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण होना 'स्मृति सञ्चारी भाव' है।

कृपासिन्धु प्रभु होहिँ दुखारी । धीरज धरहिँ कुसमउ बिचारी ॥
लखि सिय-लखन बिकल होइ जाहीं । जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाहीं ॥३॥

दयासागर प्रभु रामचन्द्रजी दुःखी हो जाते हैं, परन्तु कुसमय विचार कर धीरज धरते हैं। स्वामी की दशा देख कर सीताजी और लक्ष्मणजी विकल हो जाते हैं, जैसे पुरुष के अनुसार परछाहीं हिलती डोलती है ॥३॥

प्रिया-बन्धुगति लखि रघुनन्दन । धीर कृपाल भगत-उर चन्दन ॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता । सुनि सुख लहहिँ लखन अरु सीता ॥४॥

भक्तों के हृदय को शीतल करने में चन्दन रूप रघुनाथजी प्रिया-जानकी और भाई की दशा देख कर कुछ पवित्र कथा कहने लगते हैं, उसको सुन कर सीताजी और लक्ष्मणजी सुखी हो जाते हैं ॥ ४ ॥

सीताजी और लक्ष्मणजी के हृदयों में दैन्य और विषाद भाव उत्पन्न होकर बढ़ने नहीं पाया कि रामचन्द्रजी के द्वारा पवित्र इतिहास सुन कर लय को प्राप्त हुआ और हर्ष सञ्चारी प्रबल हो उठा 'भावशान्ति' है।

दो०—राम-लखन-सीता सहित, सोहत परन-निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयन्त समेत ॥ १४१ ॥

लक्ष्मणजी और सीताजी के सहित पर्णकुटी में रामचन्द्रजी ऐसे सोहते हैं, जैसे-शची (इन्द्राणी) और जयन्त के सहित अमरावती में इन्द्र निवास करता है ॥ १४१ ॥

चौ०—जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसे। पलक-बिलोचन-गोलक जैसे ॥
सेवहिं लखन सीय-रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी-पुरुष सरीरहि ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी सीताजी और लक्ष्मणजी की कैसे रक्षा करते हैं, जैसे-पलकें आँख की पुतलियों की रखवाली करती हैं। लक्ष्मण और सीताजी रघुनाथजी की इस तरह सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी पुरुष शरीर की करते हैं ॥ १ ॥

एहि बिधि प्रभु बन बसहिँ सुखारी। खग-मृग-सुर-तापस हितकारी ॥
कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा। सुनहु सुमन्त्र अवध जिमि आवा ॥२॥

इस तरह पक्षी, मृग, देवता और तपस्वियों के हितकारी प्रभु रामचन्द्रजी सुख से वन में निवास करते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं:—मैं ने रामचन्द्रजी की सुहावनी वनयात्रा वर्णन की अब जिस तरह सुमन्त्र अयोध्यापुरी को आये, वह सुनिये ॥ २ ॥

जिस वनयात्रा से अयोध्या नगर में महान शोक छा गया है, उसको कविजी सुहावनी क्यों कहते हैं? उत्तर-इसी से पृथ्वी, गैया, ब्राह्मण, मुनि और देवता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कल्याण होगा, इसलिए सुहावनी कहा है।

फिरेउ निषाद प्रभुहि पहुँचाई। सचिव सहित रथ देखेसि आई ॥
मन्त्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयउ बिषादू ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी को पहुँचा कर निषाद लौटा, उसने घर आकर मन्त्री के सहित रथ को देखा। मन्त्री को बेचैन देख कर निषाद को जैसा दुःख हुआ वह कहा नहीं जा सकता ॥ ३ ॥

राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी ॥
देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पङ्ख बिहँग अकुलाहीं ॥४॥

(निषाद को देखते ही सुमन्त्र) हा रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को पुकार कर बड़ी व्याकुलता से धरती पर गिर पड़े। दक्षिण दिशा की ओर देख कर घोड़े हिनहिनाते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों विना पङ्ख के पखेरू अकुलाते हों ॥ ४ ॥

शोक से व्यथित-हृदय होकर सुमन्त्रका धरती पर गिरना 'मोह और 'अपस्मार सञ्चारीभाव' है।

दो०—नहिँ तृन चरहिँ न पियहिँ जल, मोचहिँ लोचन बारि।
ब्याकुल भयउ निषाद सब, रघुबर-बाजि निहारि ॥१४२॥

घास नहीं चरते हैं और न पानी पीते हैं, आँखों से जल बहाते हैं। रघुनाथजी के सब घोड़ों को देख कर निषाद विकल हो गया ॥ १४२ ॥

घोड़ों को व्याकुल देख कर निषाद का बेचैन होना मित्रपक्षीय 'प्रत्यनीक अलंकार' है। सभा की प्रति में 'व्याकुल भयउ निषाद तब' पाठ है।

चौ०—धरि धीरज तब कहइ निषादू। अब सुमन्त्र परिहरहु बिषादू॥
तुम्ह पंडित परमारथ-ज्ञाता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता॥१॥

तब धीरज धारण कर निषाद कहने लगा—हे सुमन्त्र! अब विषाद को त्याग दीजिये। आप परमार्थ के जाननेवाले पंडित हो, विधाता को प्रतिकूल समझ कर धीरज धरिये॥ १॥

बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी॥
सोक-सिथिल रथ सकइ न हाँकी। रघुबर-बिरह-पीर उर बाँकी॥२॥

अनेक प्रकार की कथा कोमल वाणी से कह कह कर ज़ोरावरी से लाकर रथ पर बैठाया; परन्तु सुमन्त्र के हृदय में रघुनाथजी के विरह की टेढ़ी पीड़ा उत्पन्न है, वे शोक से शिथिल (ढीले) हो गये हैं रथ नहीं हाँक सकते॥ २॥

चरफराहिँ मग चलहिँ न घोरे। बन-मृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अढ़ुकि परहिँ फिरि हेरहिँ पीछे। राम-बियोग बिकल दुख तीछे॥३॥

घोड़े रास्ता नहीं चलते तड़फड़ाते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों जङ्गली जानवर लाकर रथ में जोते गये हों। ठोकर लेकर गिर पड़ते हैं और फिर कर पीछे देखते हैं, रामचन्द्रजी के विरह से उत्पन्न तीक्ष्ण दुःख से बेचैन हैं॥ ३॥

जो कह राम लखन बैदेही। हिकरि हिकरि हित हेरहिँ तेही॥
बाजि-बिरह-गति किमि कहि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती॥४॥

जो कोई रामचन्द्र, लक्ष्मण और जानकी कहता है, हिहिना हिहिना कर प्रीति से उसकी ओर देखते हैं। घोड़ों के विरह की दशा कैसे कही जा सकती है? वे ऐसे बेचैन हैं जिस तरह विना मणि के साँप विकल होता है॥ ४॥

दो०—भयउ निषाद बिषाद-बस, देखत सचिव तुरङ्ग।
बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी सङ्ग॥ १४३॥

मन्त्री और घोड़ों को देखते ही निषाद विषाद के वश हो गया। तब चार अच्छे सेवकों को बुला कर सुमन्त्र के साथ कर दिया॥ १४३॥

चौ०—गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरह बिषाद बरनि नहिँ जाई।
चले अवध लेइ रथहि निषादा। होहिँ छनहिँ छन मगन बिषादा॥१॥

गुह सारथी को पहुँचा कर लौटा, उसके विरह का दुःख वर्णन नहीं किया जा सकता। रथ को लेकर निषाद अयोध्या की ओर चले, वे (सुमन्त्र की व्याकुलता देख कर) क्षण क्षण दुःख में मग्न हो रहे हैं॥ १॥

सोच सुमन्त्र बिकल दुख-दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥
रहिहि न अन्तहु अधम सरीरू। जस न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥२॥

सुमन्त्र शोक से व्याकुल और दुःख से कातर होकर कहते हैं कि विना रघुनाथजी के जीना धिक्कार है। यह अधम शरीर अन्त को न रहेगा, पर रामचन्द्रजी के बिछुड़ने पर यश नहीं लिया॥२॥

भये अजस-अघ-भाजन प्राना। कवन हेतु नहिँ करत पयाना॥
अहह मन्द-मन अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥३॥

मेरे प्राण निन्दा और पाप के पात्र हुए हैं, फिर न जाने किस कारण पयान नहीं करते हैं? अरे मूर्ख मन! खेद है कि तू समय पर चूक गया, अब भी हृदय दो टुकड़े नहीं हो जाता?॥३॥

सुमन्त्र के पश्चात्ताप में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है कि—महाराज दशरथजी ने इसका पूर्ण अधिकार मन्त्रि-मंडल को दे दिया था "जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिँ टीका"। मैंने यह जानते हुए कि कैकयी ने कुछ कुचाल की है, उसी के कहने पर बिना राजतिलक किये रामचन्द्रजी को बुला कर राजा के सामने खड़ा कर दिया। इस अनर्थ का मूल मैं ही हूँ। यदि राज्याभिषेक कर के केकयी के मन्दिर में लिवा ले जाता तो राजा की आज्ञा सब पर और राजा पर किसी की आज्ञा नहीं चलती, इस नीति के अनुसार रामचन्द्रजी को वनवास नहीं हो सकता था। मैं ने बड़ी भूल की, समय हाथ से खो दिया।

मीँजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहुँ कृपन धन-रासि गँवाई॥
बिरद बाँधि बर बीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥४॥

हाथ मल कर और सिर पीट कर पछताते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों सूमड़े ने धन की राशि गँवा दी हो। फिर ऐसा जान पड़ता है मानो अच्छा वीर कहा कर और योद्धा का बाना बाँध कर सुभट संग्राम से भाग चला हो॥४॥

दो०—बिप्र बिबेकी बेद-बिद, सम्मत-साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति॥१४४॥

जैसे सुन्दर कुलीन, ज्ञानी, वेदज्ञ और साधु-मत का ब्राह्मण धोखे से मदिरा पीकर ग्लानि-पूर्ण पश्चात्ताप करे, मन्त्री को ठीक उसी प्रकार का सोच है॥१४४॥

चौ०—जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम-मन-बानी॥
रहइ करम-बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥१॥

जैसे कुलीन, साध्वी, चतुर और कर्म, मन, वचन से पतिव्रता स्त्री प्रारब्ध के अधीन पति को छोड़ कर जीवित रहे, मन्त्री के हृदय में उसी तरह भीषण दाह है॥१॥

लोचन सजल डीठि भइ थोरी । सुनइ न स्रवन बिकल मति भोरी ॥
सूखहिँ अधर लागि मुँह लाटी । जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी ॥२॥

आँखों में आँसू भरे दृष्टि थोड़ी हो गई है, कान से सुनते नहीं और व्याकुलता से बुद्धि भोली हो गई। ओंठ सूख गये हैं और मुख में लाटी (थूक का अभाव) लग गई है, पर अवधि (१४ वर्ष) रूपी किवाड़ों ने जीव को हृदय में रोक रक्खा है, वह निकलने नहीं पाता है ॥२॥

प्राण निकलने के सभी लक्षण आ गये तो भी शरीर में प्राण बने हैं। शरीर में जीव बने रहने का हेतुसूचक बात कह कर समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

बिबरन भयउ न जाइ निहारी । मारेसि मनहुँ पिता महँतारी ॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी । जमपुर पन्थ सोच जिमि पापी ॥३॥

शरीर की कान्ति ऐसी फीकी पड़ गई कि वह देखी नहीं जाती, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों पिता और माता को मार डाला हो। इस हानि से मन में बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई, उन्हें ऐसा सोच हुआ जैसे यमपुरी के रास्ते में पापी को सोच होता है ॥३॥

बचन न आव हृदय पछिताई । अवध काह मैं देखब जाई ॥
राम रहित रथ देखिहि जोई । सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई ॥४॥

मुख से वचन नहीं निकलता हृदय में पछताते हैं, कि मैं अयोध्या में जा कर क्या देखूँगा? जो कोई बिना रामचन्द्रजी के रथ को देखेगा, वही मुझे देखते ही सिकुड़ जायगा ॥४॥

मैं नगर-निवासियों के दुःख का कारण बनूँगा, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०—धाइ पूछिहहिँ मोहि जब, बिकल नगर नर नारि ।
उतर देब मैं सबहि तब, हृदय बज्र बैठारि ॥१४५॥

जब नगर के स्त्री-पुरुष व्याकुलता से दौड़ कर पूछेंगे, तब मैं छाती पर वज्र बैठा कर सब को उत्तर दूँगा कि रामचन्द्रजी को पहुँचा कर मैं कुशल-पूर्वक लौट आया ॥१४५॥

चौ०—पुछिहहिँ दीन दुखित सब माता । कहब काह मैं तिन्हहिँ बिधाता ॥
पूछिहि जबहि लखन महँतारी । कहिहउँ कवन सँदेस सुखारी ॥१॥

जब सब दुखित माताएँ दीनता से पूछेंगी, तब या विधाता! मैं उनसे क्या कहूँगा? जब लक्ष्मणजी की माता पूछेंगी तब मैं कौन सा सुख का सन्देशा कहूँगा? ॥१॥

राम-जननि जब आइहि धाई । सुमिरि बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥
पूछत उतर देब मैं तेही । गे बन राम-लखन-बैदेही ॥२॥

जैसे तुरन्त की ब्याई गऊ बछड़े की याद कर दौड़ती है, तैसे जब रामचन्द्रजी की माता दौड़ कर आवेंगी और पूछेंगी, तब मैं उनको उत्तर दूँगा कि रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता वन को गये ॥२॥

जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब यह सुख लेबा॥
पूछिहि जबहि राउ दुख दीना। जिवन जासु रघुनाथ अधीना॥३॥

जो कोई पूछेगा उसको यही उत्तर दूँगा, अयोध्या में जाकर अब यह सुख लेना है? दुःख से कातर राजा जब पूछेंगे, जिनका जीवन रघुनाथजी के अधीन है॥३॥

देहउँ उतर कवन मुँह लाई। आयउँ कुसल कुँअर पहुँचाई॥
सुनत लखन-सिय-राम सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू॥४॥

उनको मैं कौन मुँह लाकर उत्तर दूँगा कि कुँवरों को कुशल से पहुँचा आया? लक्ष्मण, सीता और रामचन्द्र का सन्देशा सुनते ही राजा तृण की तरह शरीर त्याग देंगे॥४॥

दो०—हृदय न बिदरेउ पङ्क जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, यह जातना शरीर॥१४६॥

जैसे कीचड़ अपने प्रियतम जल के बिछुड़ते ही फट जाता है, तैसे मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हुआ तो मैं जानता हूँ कि विधाताने मुझे यह शरीर सांसति भोगनेही के लिये दिया है॥१४६॥

अभीष्ट की हानि से चिन्ताजन्य मनोभङ्ग का होना 'दैन्य और विषाद सञ्चारीभाव' है।

चौ०—एहि बिधि करत पन्थ पछितावा। तमसा-तीर तुरत रथ आवा॥
बिदा किये करि बिनय निषादा। फिरे पाँव परि बिकल-बिषादा॥१॥

इस तरह रास्ते में पश्चात्ताप करते हुए तुरन्त रथ तमसा के किनारे आया। विनती कर के निषादों को बिदा किया, वे पाँव पड़ कर दुःख से बेचैन लौटे॥१॥

पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु-बाँभन-गाई॥
बैठि बिटप तर दिवस गँवावा। साँझ समय तब अवसर पावा॥२॥

नगर में पैठते हुए मन्त्री लजाते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों गुरु, ब्राह्मण और गैया की हत्या की हो। पेड़ के नीचे (नगर के बाहर) बैठ कर दिन बिताया, सन्ध्या समय (जब अँधेरा हुआ) तब नगर-प्रवेश का अवसर मिला॥२॥

अवध प्रबेस कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथ राखि दुआरे।
जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाये। भूपद्वार रथ देखन आये॥३॥

अँधेरा हो जाने पर अयोध्या में प्रवेश किया, दरवाजे पर रथ छोड़ कर महल में गये। जिन जिन लोगों ने यह समाचार सुन पाया वे राजद्वार पर रथ देखने को आये॥३॥

रथ पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिँ गात जिमि आतप ओरे॥
नगर नारि-नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीन-गन जैसे॥४॥

रथ पहचान कर और घोड़ों को व्याकुल देख कर कि उनके शरीर ऐसे गल रहे हैं, जैसे घाम में ओले गलते हैं। नगर के स्त्री-पुरुष कैसे बेचैन हो गये जिस तरह पानी के घटते समय मछलियों का समुदाय विकल होता है॥४॥

दो०-सचिव आगमन सुनत सब, बिकल भयउ रनिवास ॥
भवन भयङ्कर लाग तेहि, मानहुँ प्रेत-निवास ॥ १४७ ॥

मन्त्री का आगमन सुनते ही सब रनिवास व्याकुल हुआ। उसको राजमहल ऐसा भयावना मालूम होने लगा मानों प्रेतों का निवास (श्मशान) हो ॥१४७॥

दुखदायी घटना से घर का भयंकर लगना सिद्ध आधार है, परन्तु राजमहल श्मशान नहीं है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०-अति आरति सब पूछहिं रानी। उतर न आव बिकल भइ बानी ॥
सुनइ न स्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृप जेहि तेहि बूझा ॥१॥

अत्यन्त दुःख से सब रानियाँ पूछती हैं, पर सुमन्त्र से जवाब नहीं आता। उनकी वाणी विकल हो गई। न कान से सुनते हैं और न आँख से सूझता है, जिससे तिससे पूछते हैं कि राजा कहाँ हैं? ॥१॥

दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्या-गृह गईं लेवाई ॥
जाइ सुमन्त्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चन्द बिराजा ॥२॥

दासियों ने मन्त्री की व्याकुलता देखी, फिर उन्हें कौशल्याजी के मन्दिर में लिवा ले गईं। सुमन्त्र ने जाकर राजा को देखा, वे कैसे मालूम होते हैं मानों बिना अमृत के चन्द्रमा विराजते हों ॥२॥

चन्द्रमा का भूमि पर अमृत-हीन विराजना केवल कवि की कल्पना मात्र है। ऐसा दृश्य जगत में दृश्यमान नहीं 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। 'अमिय रहित' शब्द से आयु की अल्पता सूचित करना तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना ॥
लेइ उसास सोच एहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती ॥३॥

आसन, शय्या और आभूषणों से रहित निरे उदास धरती पर पड़े हैं। सोच से लम्बी साँस लेते हैं, वे इस तरह मालूम होते हैं मानों देवलोक से ययाति गिरे हों ॥३॥

पुराणोक्ति के अनुसार राजा ययाति स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरे ही थे। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। राजा ययाति अपने सत्कर्मों के प्रभाव से स्वर्ग में गये। इन्द्र को भय हुआ कि इन्द्रासन के अधिकारी राजा का वहाँ रहना ठीक नहीं। इन्द्र ने चालाकी से पूछा कि आपने कौन कौन से पुण्य किये जिससे इस पद को पहुँचे हैं। राजा ययाति ने इस धोखेबाजी को सोचा नहीं, अपने सम्पूर्ण सुकृतों का वर्णन किया। अपने मुख से अपना सुकृत कहने से उनका पुण्य नष्ट हो गया, तब इन्द्र ने उन्हें पुनः धरती पर ढकेलवा दिया जिससे राजा को बड़ा भारी सन्ताप हुआ।

लेत सोच भरि छिन छिन छाती । जनु जरि पङ्ख परेउ सम्पाती ॥
राम राम कह राम-सनेही । पुनि कह राम-लखन-वैदेही ॥४॥

सोच से क्षण क्षण छाती भर लेते हैं, राजा ऐसे मालूम होते हैं, मानों पंख जल जाने से सम्पाती पड़ा हो । रामानुरागी-दशरथजी राम राम कहते हैं, फिर फिर रामचन्द्र, लक्ष्मण और जानकीजी का नाम लेते हैं ॥ ४ ॥

सम्पाती की कथा किष्किन्धाकाण्ड में २७ वें दोहे के आगे की चौपाई देखिये ।

दो०—देखि सचिव जयजीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनाम ।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति, कहु सुमन्त्र कहँ राम ॥ १४८ ॥

राजा को देख कर मन्त्री ने जयजीव (एक प्रकार का अभिवादन जिसका अर्थ है जय हो और जिओ) कह कर दण्डवत-प्रणाम किया । सुनते ही राजा अकुला कर उठे और बोले कि—सुमन्त्र ! रामचन्द्र कहाँ हैं ? ॥ १४८ ॥

चौ०--भूप सुमन्त्र लीन्ह उर लाई । बूड़त कछु अधार जनु पाई ॥
सहित सनेह निकट बैठारी । पूछत राउ नयन भरि बारी ॥१॥

राजा ने सुमन्त्र को छाती से लगा लिया, उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानों बूड़ते हुए कुछ आधार पा गये हों । स्नेह के साथ पास में बैठा कर राजा नेत्रों में आँसू भर कर पूछते हैं ॥१॥

राम कुसल कहु सखा-सनेही । कहँ रघुनाथ लखन वैदेही ॥
आने फेरि कि बनहिँ सिधाये । सुनत सचिव लोचन जल छाये ॥२॥

हे प्यारे मित्र ! रामचन्द्र का कुशल-समाचार कहो, रघुनाथजी, लक्ष्मण और जानकी कहाँ हैं ? लौटा लाये हो या कि वन को चले गये, यह सुनते ही मन्त्री की आँखों में आँसू भर आया ॥ २ ॥

लौटा लाये या कि वन को गये, किसी एक बात का निश्चय न होना 'सन्देहालंकार' है ।

सोक बिकल पुनि पूछ नरेसू । कहु सिय राम लखन सन्देसू ॥
राम-रूप-गुन-सील-सुभाऊ । सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥३॥

शोक से व्याकुल होकर राजा फिर पूछते हैं कि सीता, रामचन्द्र और लक्ष्मण का सन्देशा कहो । रामचन्द्रजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को बारम्बार याद करके राजा हृदय में सोचते हैं ॥ ३ ॥

राज सुनाइ दीन्ह बन-बासू । सुनि मन भयउ न हरष हरासू ॥
सो सुत बिछुरत गये न प्राना । को पापी बड़ मोहि समाना ॥४॥

मैं ने राज्य सुना कर वनबास दिया, वह सुन कर जिनके मन में हर्ष या विषाद नहीं हुआ । ऐसे पुत्र के बिछुड़ते ही प्राण नहीं गये तो मेरे समान बड़ा पापी दूसरा कौन होगा ? (कोई नहीं) ॥ ४ ॥

दो०—सखा राम-सिय-लखन जहँ, तहाँ मोहि पहुँचाउ ।
नाहिँ त चाहत चलन अब, प्रान कहउँ सतिभाउ ॥१४९॥

हे सखा! रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण जहाँ हैं वहाँ मुझे पहुँचा दो। नहीं तो सच कहता हूँ, अब मेरे प्राण ही चलना चाहते हैं ॥ १४९ ॥

चौ०—पुनि पुनि पूछत मन्त्रिहि राऊ । प्रियतम सुअन सँदेस सुनाऊ ॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ । राम-लखन-सिय नयन देखाऊ॥१॥

बार बार राजा मन्त्री से पूछते हैं कि प्यारे पुत्रों का सन्देशा सुनाओ। हे मित्र! शीघ्र वही उपाय करो कि जिससे रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को आँख से दिखा दो ॥ १ ॥

सचिव धीर धरि कह मृदु बानी । महाराज तुम्ह पंडित ज्ञानी ॥
बीर सुधीर-धुरन्धर देवा । साधु-समाज सदा तुम्ह सेवा ॥२॥

मन्त्री धीरज धर कर कोमल वाणी से बोले—महाराज! आप तो पंडित और ज्ञानी हैं। हे देव! अच्छे धैर्य्य धारियों में प्रधान और शूरवीर हैं, आपने सदा सज्जनों के समाज की सेवा की है ॥ २ ॥

जनम मरन सब दुख-सुख भोगा । हानि लाभ प्रिय-मिलन बियोगा ॥
काल-करम बस होहिँ गोसाँई । बरबस राति दिवस की नाँई ॥३॥

जन्म, मृत्यु, दुःख और सुख के भोग, हानि, लाभ, प्यारे का मिलना और बिछुड़ना, हे स्वामिन्! यह सब काल तथा कर्म के अधीन दिन-राति की भाँति जोरावरी से होते हैं ॥३॥

सुख हरषहिँ जड़ दुख बिलखाहीँ । दोउ सम धीर धरहिँ मन माहीँ ॥
धीरज धरहु बिबेक बिचारी । छाड़िय सोच सकल-हितकारी ॥४॥

अज्ञानी सुख से प्रसन्न और दुःख से दुःखी होते हैं, धीरवान्! (ज्ञानी) दोनों को मन में बराबर समझते हैं। इसलिये हे सब के कल्याण करनेवाले महाराज! सोच छोड़ दीजिये, ज्ञान से विचार कर धीरज धरिये ॥ ४ ॥

दो०—प्रथम बास तमसा भयउ, दूसर सुरसरि तीर ।
न्हाइ रहे जलपान करि, सिय समेत दोउ बीर ॥१५०॥

पहला निवास तमसा के किनारे और दूसरा गङ्गाजी के तीर पर हुआ (पहिले दिन तमसा के किनारे) सीताजी के सहित दोनों वीर स्नान कर केवल जल पीकर वहाँ रात में रहे ॥ १५० ॥

चौ०—केवट कीन्ह बहुत सेवकाई । सो जामिनि सिगरौर गँवाई ॥
होत प्रात बटछीर मँगावा । जटा-मुकुट निज सीस बनावा ॥१॥

(दूसरे दिन गङ्गाजी के किनारे) निषाद ने बड़ी सेवा की, वह रात्रि शृङ्गबेरपुर में बिताई। सवेरा होते ही बड़ का दूध मँगवाया और अपने सिर पर जटा का मुकुट बनाया ॥ १ ॥

रामसखा तब नाव मँगाई । प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥
लखन बान-धनु धरे बनाई । आपु चढ़े प्रभु आयसु पाई ॥२॥

तब रामचन्द्रजी के मित्र (गुह) ने नाव मँगवाई, सीताजी को चढ़ा कर रघुनाथजी चढ़े। धनुष-बाण सज कर लिये हुए प्रभु रामचन्द्रजी की आज्ञा पा कर लक्ष्मणजी भी सवार हो गये ॥ २ ॥

बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा। बोले मधुर बचन धरि धीरा ॥
तात प्रनाम तात सन कहेहू । बार बार पद-पङ्कज गहेहू ॥३॥

मुझे व्याकुल देख कर रघुनाथजी धीरज धारण कर के मधुर वचन बोले। हे तात! पिताजी से मेरा प्रणाम कहना और बार बार उनके चरण-कमलों को पकड़ना ॥ ३ ॥

'तात' शब्द में पुनरुक्ति का आभास है किन्तु पुनरुक्ति नहीं है। एक सुमन्त्र के लिये सम्बोधन और दूसरा पिता का बोधक होने से 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

करबि पायपरि बिनय बहोरी । तात करिय जनि चिन्ता मोरी ॥
बन-मग मङ्गल-कुसल हमारे । कृपा-अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥४॥

फिर पाँव पड़ कर विनती करना कि—हे पिताजी! आप मेरी चिन्ता न कीजिये। आप के कृपा-अनुग्रह और पुण्य से वन के मार्ग में हमारे लिये कुशल-मङ्गल है ॥४॥

कुशल-मङ्गल और कृपा-अनुग्रह शब्द एकार्थवाची होने पर भी साथ आये हैं। इसमें आदर की विप्सा और पुनरुक्तिवदाभास का सन्देहसङ्कर है।

हरिगीतिका-छन्द ।

तुम्हरे अनुग्रह तात कानन, जात सब सुख पाइहौं ।
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन, पाय पुनि फिरि आइहौं ॥
जननी सकल परितोषि परि परि, पाँय करि बिनती घनी ।
तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिं कोसल-धनी ॥६॥

हे पिताजी! आप की कृपा से वन जाते हुए मैं सब तरह से सुख पाऊँगा। आज्ञा पालन करके कुशल से लौट आकर फिर आप के चरणों का दर्शन करूँगा। सम्पूर्ण माताओं के पाँव पड़ पड़ कर घनी विनती कर के उन्हें सन्तुष्ट करना। तुलसीदासजी कहते हैं कि—वही उपाय करना जिससे अयोध्यानरेश कुशल से रहें ॥ ६ ॥

'पुनि फिरि' शब्दों में पुनरुक्ति का आभास है, किन्तु अर्थ भिन्न होने से 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

सो०—गुरु सन कहब सँदेस, बार बार पद-पदुम गहि ।
करब सोइ उपदेस, जेहि न सोच मोहि अवधपति ॥१५१॥

बार बार चरण-कमलों को पकड़ कर गुरुजी से मेरा सन्देशा कहना कि वे वही उपदेश करेंगे, जिसमें अयोध्यानाथ मेरा सोच न करें ॥ १५१ ॥

चौ०-पुरजन परिजन सकल निहोरी । तात सुनायेउ बिनती मोरी ॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी । जा तें रह नरनाह सुखारी ॥१॥

हे तात ! सम्पूर्ण नगर-निवासी और कुटुम्बी जनों से निहोरा कर के मेरी बिनती सुनाना कि वही मेरा सब तरह हितकारी है, जिससे राजा सुखी रहें ॥ १ ॥

कहब सँदेस भरत के आये । नीति न तजिय राज-पद पाये ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी । सेयेहु मातु सकल सम जानी ॥२॥

भरत के आने पर उनसे मेरा सन्देशा कहना कि नीति से पाये हुए राज-पद को वे न त्यागेंगे । कर्म, मन, वचन से प्रजा-पालन करेंगे और सम्पूर्ण माताओं को बराबर समझ कर उनकी सेवा करेंगे ॥ २ ॥

'नीति' शब्द में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है कि—"वेद विहित सम्मत सब ही का । जेहि पितु देइ सो पावइ टीका" ॥ पुनः—"लोक वेद सम्मत सब कहई । जेहि पितु देइ राज सो लहई" के अनुसार भरत को पितादत्त राज्य मिला है । मैं भी प्रसन्नता से अनुमति देता हूँ कि उसको वे सहर्ष स्वीकार करें, परित्याग करना उचित नहीं है । सब माताओं को बराबर समझ कर सेवा करने के लिये कहने में गूढ़ाशय यह है कि केकयी का अनादर न करेंगे । इस चौपाई का बहुतों ने ऐसा अर्थ किया है कि—भरत के आने पर सन्देशा कहना राज्यपद पा कर नीति को न छोड़ेंगे । भरतजी के सम्बन्ध में रामचन्द्रजी का यह विश्वास है कि—"कही तात तुम्ह नीति सुहाई । सब तें कठिन राज-मद भाई ॥ जो अँचवत माँतहिँ नृप तेई । नाहिँ न साधु सभा जेहि सेई ॥ सुनहु लखन भल भरत सरीसा । बिधि प्रपञ्च महँ सुना न दीसा ॥ दोहा०—भरतहि होइ न राज-मद, बिधि हरिहर पद पाइ । कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीर-सिन्धु बिनसाइ ॥ २३१ ॥ चौ०—तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगन मगन मकु मेघहि मिलई ॥ गोपद जल बूड़हिँ घटजोनी । सहज छमा बरु छाड़इ छोनी ॥ १ ॥ मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृप-मद भरतहि भाई ॥ लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबन्धु नहिँ भरत समाना ॥ २ ॥" इत्यादि भला ! तब रामचन्द्रजी ऐसा सन्देशा कैसे कहलावेंगे कि राज्य पाकर भरत नीति न त्यागेंगे । इस विरोधी अर्थ को अर्थ नहीं अनर्थ कहना चाहिये ।

अउर निबाहेहु भायप भाई । करि पितु-मातु सुजन सेवकाई ॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ । सोच मोर जेहि करइ न काऊ ॥३॥

और भाइयों के साथ भाईपन निबाहना, पिता-माता तथा सज्जनों की सेवकाई करना । हे तात ! राजा को उसी तरह रखना जिससे वे कभी मेरा सोच न करें ॥ ३ ॥

लखन कहे कछु बचन कठोरा । बरजि राम पुनि मोहि निहोरा ॥
बार बार निज सपथ देवाई । कहबि न तात लखन-लरिकाई ॥४॥

लक्ष्मण ने कुछ कठोर वचन कहे, फिर रामचन्द्रजी ने उन्हें मना कर के मुझ से निहोरा किया । बार बार अपनी सौगन्द देकर कहा कि—हे तात ! लक्ष्मण का लड़कपन न कहना ॥ ४ ॥

दो०—कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह ।
थकित-बचन लोचन-सजल, पुलक-पल्लवित-देह ॥१५२॥

सीताजी प्रणाम कह कर कुछ कहने लगीं, परन्तु स्नेह से वे शिथिल हो गईं। उनकी वाणी रुक गई, नेत्रों में जल भर आया और शरीर रोमाञ्चित होकर फूल आया ॥ १५२ ॥

शंका—लक्ष्मणजी के सन्देश को न कहने के लिये रामचन्द्रजी ने शपथ दिला कर कहा था, उसकी चर्चा सुमन्त्र ने कर ही दी। सीताजी ने लम्बा सन्देशा कहा था; किन्तु उसे बिलकुल उड़ा दिया कुछ नहीं कहा, इसका क्या कारण है ? उत्तर—लक्ष्मणजी के सन्देशे की चर्चा इसलिये किया कि उससे रामचन्द्रजी की पितृभक्ति, विचारशीलता और दूरदर्शिता प्रकट होती है। सीताजी ने सन्देशा कहते समय काकु से वर्जन किया था, क्योंकि उससे ससुर-सासु, पिता-माता, परिवार और नगर-निवासियों से स्वामी के बिना वैराग्य-भाव प्रकट करना स्नेह का बाधक हो सकता है, इससे सुमन्त्र ने सीताजी के स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु और स्वरभङ्ग सात्विक अनुभावों के सिवा सन्देशा कुछ भी नहीं कहा।

चौ०—तेहि अवसर रघुबर-रुख पाई । केवट पारहि नाव चलाई ॥
रघुकुल-तिलक चले एहि भाँती । देखेउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती ॥१॥

उस समय रघुनाथ का रुख पाकर केवट पार को नाव ले चला। रघुकुल के शिरोमणि इस तरह चले और मैं छाती पर वज्र रख कर खड़ा देखता रहा ॥१॥

मैं आपन किमि कहउँ कलेसू । जियत फिरेउँ लेइ राम सँदेसू ॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयऊ । हानि-गलानि-सोच-बस भयऊ ॥२॥

मैं अपना कष्ट किस तरह कहूँ जब कि रामचन्द्रजी का सन्देशा लेकर जीता लौटा आया हूँ। ऐसा वचन कह कर मन्त्री हानि, ग्लानि और सोच के वश हो चुप रह गये ॥२॥

रामचन्द्रजी को वन जाते देख कर मुझे मर जाना चाहता था, जब मैं सन्देशा लेकर जीता जागता लौट आया तब अपना मिथ्या क्लेश क्या कहूँ। यहाँ शोक और हानिजन्य शिथिलता का वर्णन ग्लानि 'सञ्चारीभाव' है।

सूत बचन सुनतहि नरनाहू । परेउ धरनि उर दारुन-दाहू ॥
तलफत बिषम-मोह मन मापा । माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा ॥३॥

सारथी के वचनों को सुनते ही राजा के हृदय में भीषण ज्वाला उत्पन्न हुई, धरती पर गिर पड़े। उनके मन में भयङ्कर मोह ने प्रभाव किया जिससे वे तड़पने लगे, ऐसा मालूम होता है मानों मछली को माँजा व्याप गया हो ॥३॥

माँजा रोग फैलने पर मछलियाँ बेहोश हो ही जाती हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। माँजा—शब्द की व्याख्या इसी काण्ड में ५३ वें दोहा के आगे दूसरी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखिये।

करि बिलाप सब रोवहिँ रानी । महा बिपति किमि जाइ बखानी ॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा । धीरजहू कर धीरज भागा ॥४॥

विलाप कर के सब रानियाँ रोती हैं, वह भारी विपत्ति कैसे कही जा सकती है। रुदन सुन कर दुःख को भी दुःख लग रहा है और धीरज का भी धीरज भाग गया ॥४॥

दुःख भी दुःखी हुआ और धैर्य्य का भी साहस छूट गया, इस कथन में 'अत्युक्ति अलंकार' है।

दो०-भयउ कोलाहल अवध अति, सुनि नृप-राउर सोर ।
बिपुल बिहँग-बन परेउ निसि, मानहुँ कुलिस कठोर ॥१५३॥

राजमहल का शोर सुन कर सारी अयोध्या में बड़ी चिल्लाहट हुई। ऐसा मालूम होता है मानों बहुत से पक्षियों के झुण्ड पर रात्रि में वज्रपात हुआ हो ॥१५३॥

राजमहल की रोआई सुनते ही बात की बात में नगर में कोलाहल मचना 'चपलातिशयोक्ति अलंकार' है। पक्षियों के समुदाय पर रात में बिजली पड़ने से वे बेचैन हो कर शोरगुल करते ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है 'नृप-राउर' शब्द का राजमहल अर्थ है।

चौ०-प्रान कंठगत भयउ भुआलू । मनि-बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥
इन्द्री सकल बिकल भइँ भारी । जनु सर सरसिज-बन बिनु बारी ॥१॥

राजा का प्राण गले में आया हुआ है, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बिना मणि के साँप व्याकुल हो। सारी इन्द्रियाँ बहुत ही विह्वल हुई हैं, इस तरह प्रतीत होता है मानों तालाब में बिना पानी के कमल का वन मुरझाया हो ॥१॥

कौसल्या नृप दीख मलाना । रबिकुल-रबि अथयउ जिय जाना ॥
उर धरि धीर राम महँतारी । बोली बचन समय अनुसारी ॥२॥

कौशल्याजी ने राजा को दुःखी देख कर मन में जान लिया कि सूर्य्यकुल के सूर्य्य अस्त हुए। तब रामचन्द्रजी की माता हृदय में धीरज धर कर समयानुकूल वचन बोलीं ॥२॥

लक्षणों को देख कर कौशल्याजी को राजा की भावी मृत्यु का ज्ञान होना 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है।

नाथ समुझि मन करिय बिचारू । राम बियोग पयोधि अपारू ॥
करनधार तुम्ह अवध-जहाजू । चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ॥३॥

हे नाथ ! मन में समझ कर विचार कीजिये कि रामचन्द्र का वियोग अपार समुद्र है। अयोध्या जहाज है और आप कर्णधार (खेवैया) हैं, सम्पूर्ण प्यारे यात्रियों का समाज चढ़ा है ॥३॥

धीरज धरिय त पाइय पारू । नाहिँ त बूड़िहि सब परिवारू ॥
जौँ जिय धरिय बिनय पिय मोरी । राम-लखन-सिय मिलहिँ बहोरी ॥४॥

धीरज धरिये तो पार पाइयेगा नहीं तो सारा परिवार डूब जायगा। हे प्यारे ! यदि मेरी विनती मन में लाइये तो रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता फिर मिलेंगे ॥४॥

दो०-प्रिया बचन मृदु सुनत नृप, चितयउ आँखि उघारि ।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचत सीतल बारि ॥ १५४॥

प्यारी कौशल्याजी के कोमल वचन सुनते ही राजा आँख खोलकर ताक दिये। वे वचन उन्हें ऐसे मालूम हुए मानों जल बिना तड़पती दुःखी मछली को किसी ने ठंढे जल से सींच दिया हो ॥ १५४ ॥

सभा की प्रति में 'सींचेउ सीतल बारि' पाठ है।

चौ०-धरि धीरज उठि बैठि भुआलू । कहु सुमन्त्र कहँ राम-कृपालू ॥
कहाँ लखन कहँ राम सनेही । कहँ प्रिय-पुत्रवधू वैदेही ॥१॥

राजा धीरज धर कर उठ बैठे और बोले—हे सुमन्त्र ! कहो, कृपालु रामचन्द्र कहाँ हैं? लक्ष्मण कहाँ हैं ? हमारे स्नेही रामचन्द्र कहाँ हैं ? प्यारी पतोहू जानकी कहाँ हैं ? ॥ १ ॥

बिलपत राउ बिकल बहु भाँती । भइ जुग सरिस सिराति न राती ॥
तापस-अन्ध साप सुधि आई । कौसल्यहि सब कथा सुनाई ॥२॥

राजा विकल होकर बहुत तरह विलाप करते हैं, रात बीतती नहीं युग के बराबर हो गई है। अन्धे तपस्वी के शाप की सुध हो आई, वह सब कथा कौशल्याजी से कह सुनाई ॥ २ ॥

युग के समान रात बीतती नहीं, 'पूर्णोपमा अलंकार' है। समयानुसार शाप की सुध हो आना 'स्मरण अलंकार' है। राजा ने कहा—हे प्रिये ! सुनो, एक बार मैं तमसा के किनारे शिकार को गया था। वहाँ रात में अपने अन्धे माता-पिता को पानी लेने श्रवण वैश्य-कुमार आया। मैं ने समझा कि हाथी पानी पीता है, इससे शब्दवेधी बाण मारा। जब वह हाय हाय करता हुआ गिर पड़ा, तब मुझे ज्ञात हुआ कि कोई मनुष्य है। मैं दौड़ कर उसके पास गया और उसे देख कर पछताने लगा। उसने कहा मुझे अपने मरने की चिन्ता नहीं, पर प्यासे माता-पिता मर जायँगे इस का बड़ा दुःख है। आप उन्हें जाकर जल पिला दें, यह कह कर वह परलोकगामी हो गया। मैं जल लेकर गया और दम्पति अन्धी-अन्धे को चुपचाप जल पिलाना चाहा, पर बिना बोले उन्हों ने पानी नहीं पिया। विवश हो मुझे सब वृत्तान्त कहना पड़ा। सुनते ही दोनों तड़पने लगे और मुझे शाप दिया कि जैसे पुत्र-वियोग के दुःख से हम लोग मरते हैं, उसी तरह तुम्हारी भी मृत्यु होगी। बस तपस्वी के शाप सत्य होने का समय आ पहुँचा, अब मेरी मृत्यु ही होगी।

भयउ बिकल बरनत इतिहासा । राम रहित धिग जीवन आसा ॥
सो तनु राखि करबि मैं काहा । जेहि न प्रेम-पन मोर निबाहा ॥३॥

यह इतिहास वर्णन करते राजा व्याकुल हो गये और पश्चात्ताप करने लगे कि बिना रामचन्द्र के जीने की आशा को धिक्कार है। उस शरीर को रख कर मैं क्या करूँगा जिसने मेरे प्रेम की प्रतिज्ञा को पूरी नहीं किया ॥ ३ ॥

शरीर सब को आदरणीय है, परन्तु जिसने रामचन्द्र में प्रेम-प्रण नहीं निबाहा, इस विशेष दोष के कारण उसे त्याग देने का निश्चय करना 'तिरस्कार अलंकार' है।

हा रघुनन्दन प्रान-पिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित-चातक-जलधर॥४॥

हाय प्राणप्यारे रघुनन्दन! तुम्हारे बिना मुझे बहुत दिन जीते बीत गये। हा जानकी, हा लक्ष्मण, हाय! पिता के चित्त रूपी चातक के लिये मेघरूपी रघुवर॥ ४॥

दो०—राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह, राउ गयउ सुरधाम॥१५५॥

राम राम कह कर; राम कह कर; राम राम राम कह कर रघुनाथजी के विरह में राजा शरीर त्याग कर देवलोक को पधारे। १५५॥

वार वार आदर-पूर्वक रामचन्द्रजी का नाम उच्चारण करना 'विप्सा अलंकार' है। वन्दन पाठक ने अपनी शङ्कावली में छे वार 'राम' कहने पर बहुत सी बातें कही हैं। शङ्का इस वात की है कि—"मरतउ जासु नाम मुख आवा। अधमौ मुक्त होइ श्रुति गावा।" फिर मरती वेर राजा ने बार बार राम राम उच्चारण किया ते। भी देवलोक में जाना कहा, मोक्ष नहीं वर्णन किया, यह क्यों? उत्तर—राजा को रामचन्द्रजी के दर्शन की हृदय में प्रबल इच्छा थी, किन्तु कारण वश शरीर त्यागना पड़ा, इसी से मोक्ष नहीं वर्णन किया। उनकी यह कामना युद्ध के बाद लङ्काकाण्ड में पूर्ण होना कहा है। फिर सगुन उपासक मोक्ष न लेहीं" के अनुसार राजा ने स्वयम् मोक्ष स्वीकार नहीं किया।

चौ०—जियन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥
जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम-बिरह करि मरन सँवारा॥१॥

जीने और मरने का फल दशरथजी ने पाया, अनेक ब्रह्माण्डों में उनका निर्मल यश छा गया। जीते जी रामचन्द्रजी के मुख रूपी चन्द्रमा को देखा और रामचन्द्रजी का वियोग कर के मरण सुधार लिया॥ १॥

मृत्यु रूपी दोष को रामचन्द्रजी के विरह में होने से उसको गुण रूप वर्णन करना 'लेश अलंकार' है।

सोक बिकल सब रोवहिँ रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥
करहिँ बिलाप अनेक प्रकारा। परहिँ भूमितल बारहिँ बारा॥२॥

शोक से व्याकुल होकर सब रानियाँ रोती हैं, उनके रूप, शील, बल और तेज को बखानती हैं। अनेक प्रकार रुदन करती हैं और बार बार धरती पर गिरती हैं॥ २॥

बिलपहिँ बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदन करहिँ पुरबासी॥
अथयउ आजु भानुकुल-भानू। धरम-अवधि गुन-रूप-निधानू॥३॥

दास और दासियाँ विकल होकर विलपते हैं और घर घर नगर-निवासी रुदन करते हैं। कहते हैं कि—धर्म के अवधि, गुण और रूप के भण्डार, सूर्य्य कुल के सूर्य्य आज अस्त हो गये॥ ३॥

राजा दशरथजी आलम्बन विभाव हैं। उन के मरण से उत्पन्न हुआ शोक स्थायीभाव है। उनके रूप, शील, पराक्रम, प्रताप का स्मरण उद्दीपन विभाव है । रोना धरती पर गिरना अनुभाव है। विषाद, चिन्ता, मोह, चपलता, आवेग, अपस्मार, उन्माद, त्रास' आदि सञ्चारी भावों से बढ़ कर शोक पूर्णावस्था को पहुँच कर 'करुण-रस' हुआ है।

गारी सकल कैकइहि देहीं। नैन बिहीन कीन्ह जग जेहीं॥
एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ज्ञानी॥४॥

सब स्त्रियाँ कैकयी को गाली देती हैं, जिसने संसार को बिना नेत्र का कर दिया। इस प्रकार बिलाप करते रात बीत गई, प्रातःकाल सम्पूर्ण बड़े बड़े ज्ञानी, मुनि आये ॥ ४ ॥

प्रस्तुत वृत्तान्त तो यह है कि इसने राजा को मार डाला जिससे संसार को अनाथ कर दिया। इस बात को सीधे न कह कर उसका प्रतिविम्ब मात्र कहना 'ललित अलंकार' है।

दो०–तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।
सोक निवारेउ सबहि कर, निज बिज्ञान प्रकास ॥१५६॥

तब वशिष्ठ मुनि ने समयानुसार बहुत तरह के इतिहास कह कर अपने विज्ञान के प्रकाश से सब का शोक दूर किया ॥ १५६ ॥

शोक भाव वशिष्ठजी के ज्ञान प्रकाश से दब कर धृति भाव का प्रबल होना भावसबलता है। यहाँ अनेक इतिहास कहने में पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने दो ढाई पन्ने रङ्ग डाले हैं।

चौ०–तेल नाव भरि नृप-तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा॥
धावहु बेगि भरत पहिँ जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू॥१॥

तेल से नाव भरवा कर उस में राजा का शरीर (लाश) रखवा दिया, फिर दूतों को बुला कर ऐसा कहा-शीघ्र दौड़ कर भरत के पास जाओ और राजा की खबर कहीं किसी से मत कहना ॥ १ ॥

एतनेइ कहेउ भरत सन जाई। गुरु बोलाइ पठयउ दोउ भाई॥
सुनि मुनि आयसु धावन धाये। चले बेगि बर-बाजि लजाये॥२॥

जाकर भरत से इतना ही कहना कि दोनों भाइयों को गुरु ने बुला भेजा है। मुनि की आज्ञा सुन वे दूत अच्छे घोड़े को लज्जित कर दौड़ते हुए तुरन्त चले ॥ २ ॥

आज्ञा सुनते ही दूतों को तुरन्त दौड़ पड़ना 'चपलातिशयोक्ति अलंकार' है। चाल में श्रेष्ठ घोड़े को लज्जित करना 'पञ्चम प्रतीप' है।

अनरथ अवध अरम्भेउ जब तें। कुसगुन होहिँ भरत कहँ तब तें॥
देखहिँ राति भयानक सपना। जागि करहिँ कटु कोटि कलपना॥३॥

जब से अयोध्या में अनर्थ होना आरम्भ हुआ तब से भरतजी को कुसगुन होते हैं। रात में भयानक स्वप्न देखते हैं और जाग कर करोड़ों तरह की अनिष्ट कल्पनायें करते हैं ॥ ३ ॥

बिप्र जेँवाइ देहिँ दिन दाना। सिव अभिषेक करहिँ बिधि नाना॥
माँगहिँ हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥४॥

प्रतिदिन ब्राह्मण-भोजन कराकर दान देते हैं और नाना प्रकार से शिवजी का पूजन (रुद्राभिषेक) करते हैं। शंकरजी को मन में मना कर माता, पिता, कुटुम्बी और भाइयों का कल्याण चाहते हैं॥४॥

दो०–एहि बिधि सोचत भरत मन, धावन पहुँचे आइ।
गुरु-अनुसासन स्रवन सुनि, चले गनेस मनाइ॥१५७॥

इस तरह भरतजी मन में सोच ही रहे थे कि दूत आ पहुँचे। गुरुजी की आज्ञा कान से सुन कर गणेशजी को मना कर चले॥१५७॥

चौ०–चले समीर-बेग हय हाँके। नाँघत सरित सैल बन बाँके॥
हृदय सोच बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिँ जिय जाउँ उड़ाई॥१॥

पवन के वेग के समान घोड़ों को हाँक कर नदी, पर्वत तथा विकट जङ्गलों को लाँघते हुए चले। हृदय में बड़ा सोच है कुछ सोहाता नहीं, मन में ऐसा विचारते हैं कि उड़ कर पहुँच जाऊँ॥१॥

शीघ्र अयोध्या में पहुँचने की अक्षमता का उद्वेग 'उत्सुकता सञ्चारीभाव' है।

एक निमेष बरष सम जाई। एहि बिधि भरत नगर नियराई॥
असगुन होहिँ नगर पैठारा। रटहिँ कुभाँति कुखेत करारा॥२॥

एक पल एक वर्ष के समान बीतता है, इस तरह भरतजी नगर के समीप में आ गये। अयोध्या में प्रवेश करते समय असगुन होते हैं, कौवे कुजगह में बैठ कर बुरी तरह रटते हैं॥२॥

खर सियार बोलहिँ प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥
स्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेष भयावन लागा॥३॥

गदहा और सियार विपरीत बोलते हैं, वह सुन सुन कर भरतजी के मन में दुःख हो रहा है। तालाब, नदी, वन और बगीचा द्युति-हीन हो गये हैं और नगर बड़ा ही भयावना लगता है॥३॥

खग मृग हय गय जाहिँ न जोये। राम-बियोग-कुरोग बिगोये॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब सम्पति हारी॥४॥

पक्षी, मृग, घोड़े और हाथी देखे नहीं जाते हैं, वे रामचन्द्रजी के वियोग रूपी बुरे रोग से सताये हुए हैं। नगर के स्त्री-पुरुष अत्यन्त दुखी हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों सब ने सारी सम्पत्ति हार दी हो॥४॥

दो०-पुरजन मिलहिँ न कहहिँ कछु, गँवहिँ जोहारहिँ जाहिँ ।
भरत कुसल पूछि न सकहिँ, भय बिषाद मन माहिँ ॥१५८॥

नगर के लोग मिलते हैं पर वे कुछ कहते नहीं, गवँ से प्रणाम कर चले जाते हैं । यह देख कर भरतजी के मन में भय और विषाद बढ़ता जाता है, वे किसी से कुशल-समाचार नहीं पूछ सकते हैं ॥१५८॥

इष्टहानि के सोच से भरतजी के मन में शङ्का सञ्चारी भाव है, इससे पूछ नहीं सकते हैं ।

चौ०-हाट बाट नहिँ जाइ निहारी । जनु पुर दहदिसि लागि दवारी ॥
आवत सुत सुनि कैकयनन्दिनि । हरषी रबिकुल-जलरुह-चन्दिनि ॥१॥

बाज़ार और रास्ता देखा नहीं जाता है, ऐसा मालूम होता है मानों नगर के दसों दिशाओं में आग लगी हो । सूर्य्यकुल रूपी कमल की चाँदनी केकयी पुत्र को आते सुन कर प्रसन्न हुई ॥१॥

सजि आरती मुदित उठि धाई । द्वारेहि भेँटि भवन लेइ आई ॥
भरत दुखित परिवार निहारा । मानहुँ तुहिन बनज-बन मारा ॥२॥

आरती सज कर प्रसन्नता से उठ दौड़ी और द्वार ही पर मिल कर घर में लिवा लाई । भरतजी ने कुटुम्बियों को दुखी देखा वे ऐसे मालूम होते हैं मानों कमल के वन को पाले ने मारा हो ॥२॥

कैकेई हरषित एहि भाँती । मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥
सुतहि ससोच देखि मन मारे । पूछति नैहर कुसल हमारे ॥ ३ ॥

केकयी इस तरह हर्षित है मानों वन में आग लगा कर भीलनी प्रसन्न हो । सोच से मन मारे पुत्र को उदास देख कर पूछती है कि हमारे नैहर में कुशल क्षेम है ? ॥४॥

सकल कुसल कहि भरत सुनाई । पूछी निज-कुल कुसल भलाई ॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता । कहँ सिय-राम-लखन प्रिय भ्राता ॥४॥

भरतजी ने सब कुशल कह सुनायी फिर अपने कुल की कुशल-भलाई पूछी । कहे, पिताजी कहाँ हैं और सब माताएँ कहाँ हैं, सीताजी और प्यारे भाई रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी कहाँ हैं ? ॥४॥

दो०-सुनि सुत-बचन सनेहमय, कपट नीर भरि नयन ।
भरत स्रवन-मन-सूल-सम, पापिनि बोली बयन ॥१५९॥

पुत्र के स्नेह भरे वचनों को सुन कर कपट से आँखों में आँसू भर कर भरतजी के कान और मन को शूल के समान पापिन-केकयी वचन बोली ॥१५९॥

चौ०-तात बात मैं सकल सँवारी । भइ मन्थरा सहाय बिचारी ॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ । भूपति सुरपति-पुर पगु धारेउ ॥१॥

हे पुत्र ! मैं ने सारी बातें सुधार ली है, बेचारी मन्थरा सहाय हुई । बीच में विधाता ने कुछ कार्य बिगाड़ दिया, कि राजा अमरलोक (स्वर्ग) को चले गये ॥ १ ॥

राजा की मृत्यु पर केकयी ने दिखौआ आँसू आँखों में भर लिये; किन्तु वह अयथार्थ शोक होने से करुणारसाभास है। 'बिचारी' शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि यदि यह विचारनेवाली न जताती तो मुझे न सूझता; मैं ने सब काम बनाया। बीच में ब्रह्मा ने एक बात बिगाड़ दिया, इससे गुण अपना और दोष विधाता का व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

सुनत भरत भये बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरि नादा॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी॥२॥

सुनते ही भरतजी विषाद के वश हो गये वे ऐसे मालूम होते हैं मानों सिंह का गर्जन सुनकर हाथी डर गया हो। हाय पिता! हाय तात! हाय पिता! पुकार कर बहुत ही व्याकुलता से धरती पर गिर पड़े॥२॥

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहिँ सौँपेहु मोही॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महँतारी॥३॥

चलते समय मैं आपको देख न पाया, हाय पिताजी! आपने मुझे रामचन्द्रजी को सौंपा नहीं। फिर धीरज धारण करके सँभाल कर उठे और बोले—हे माता! पिता के मरने का कारण कह॥३॥

माता ने पहले कहा है कि कुछ काज ब्रह्मा ने बीच में बिगाड़ा, भरतजी को होश आया कि कोई इससे भी बढ़कर तो अनिष्ट नहीं हुआ। इस शङ्का के निवारणार्थ माता से पूछना 'वितर्क सञ्चारीभाव' है।

सुनि सुत बचन कहति कैकेई। मरम पाँछि जनु माहुर देई॥
आदिहु तेँ सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥४॥

पुत्र के वचन सुन केकयी कहती है, ऐसा मालूम होता है मानों घाव को चीर कर माहुर (विष) लगाती हो। कुटिला और कठोर बुद्धिवाली प्रसन्न मन से अपनी करनी आदि से लेकर अन्त तक सब कह गई॥४॥

राजा की मृत्यु कह भरतजी के हृदय में घाव कर दिया। अब रामचन्द्रजी का बनवास वर्णन कर उस घाव में ज़हर का भरना है। घाव में विष का देना सिद्ध आधार है, परन्तु केकयी के वचन में विष की कल्पना कर इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। पाँछि शब्द का चीरना अर्थ है, सभा की प्रति में 'पाछि' पाठ है। अर्थ उसका भी यही है।

दो०--भरतहि बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम-बन-गौन।
हेतु अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥१६०॥

रामचन्द्रजी का वनगमन सुनते ही भरतजी को पिता का मरना भूल गया। इस अनर्थ का कारण अपने को मन में जान कर व्याकुलता से अवाक् हो गये॥१६०॥

चौ०—बिकलबिलोकिसुतहिसमुझावति। मनहुँ जरे पर लोन लगावति॥
तात राउ नहिँ सोचइ-जोगू। बिढ़इ सुकृत जस कीन्हेउ भोगू॥१॥

पुत्र को व्याकुल देखकर समझाती हैं, ऐसा मालूम होता है मानों जले पर नमक लगाती हो। हे पुत्र! राजा सोचने योग्य नहीं हैं, उन्होंने पुण्य और यश उपार्जन करके उसका भोग किया ॥१॥

जीवत सकल जनम-फल पाये। अन्त अमरपति-सदन सिधाये॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥२॥

जीते जी जन्म के सम्पूर्ण फल पाये और अन्त में इन्द्रलोक को गये। ऐसा विचार कर सोच त्याग दो, समाज के सहित नगर में राज्य करो ॥२॥

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अँगारू॥
धीरज धरि भरि लेहिँ उसासा। पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥३॥

माता की बात सुन कर राजकुमार अत्यन्त भय-विह्वल हो गये, ऐसा मालूम हुआ मानों पके फोड़े में उसने आग लगा दी हो। धीरज धर कर लम्बी साँस लेते हैं और मन में विचारते हैं कि इस पापिनी ने सब तरह कुल का नाश ही कर डाला ॥३॥

पके व्रण में आग लगाने से दुस्सह पीड़ा होती है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जियन निति बारि उलीचा॥४॥

तब भरतजी प्रकट बोले:—यदि तुझे इतनी बड़ी कुरुचि (दुष्ट इच्छा) थी तो जन्मते ही मुझे क्यों नहीं मार डाला? तैं ने पेड़ काट कर पत्तों को सींचा है और मछली के जीने के निमित्त पानी (सरोवर से बाहर) फेंकती है? ॥४॥

भरतजी को कहना तो यह है कि तू राजा का मृत्यु-मुख में और रामचन्द्रजी, सीताजी, लक्ष्मण को वन भेज कर मुझे राज्य करने को कहती है? उसे सीधे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलंकार' है।

दो०—हंस-बंस दसरथ-जनक, राम-लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ॥१६१॥

मैं सूर्य्यकुल में उत्पन्न हुआ, दशरथ पिता और रामचन्द्र-लक्ष्मण के समान भाई हैं। परन्तु हे माता! तू मेरी माता हुई! विधाता से कुछ वश नहीं ॥१६१॥

कुल, पिता और बन्धुओं की महान् श्रेष्ठता और माता की अतिशय नीचता व्यञ्जित करना व्यङ्ग है। व्यङ्गार्थ से अपने और माता में अनमेल का भाव प्रकट करना 'प्रथम विषम अलंकार' है।

चौ०—जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥१॥

अरी कुबुद्धी ! जब तैं ने ऐसा कुमत मन में ठाना, तब तेरा हृदय टुकड़े टुकड़े नहीं हो गया ? वर माँगते मन में पीड़ा नहीं हुई, जीभ गल नहीं गई और मुख में कीड़े नहीं पड़ गये ! ॥ १ ॥

भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही । मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही ॥
बिधिहु न नारि हृदय गति जानी । सकल कपट-अघ-अवगुन-खानी ॥२॥

राजा ने तेरा विश्वास कैसे किया, मरणकाल आने से विधाता ने उनकी बुद्धि हर लिया । स्त्री के हृदय की गति (कुचाल) को ब्रह्मा भी नहीं जानते, क्योंकि वह सम्पूर्ण कपट, पाप और दोषों की खान होती है ॥ २ ॥

स्त्री के मन की गति विधाता नहीं जानते, इसका समर्थन हेतु सूचक बात कह कर करना कि वह सारी धोखेबाज़ी, अत्याचार और अवगुणों की खानि होती है 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। स्त्री की निन्दा से राजा और ब्रह्मा में अनभिज्ञता का दोष प्रकट होना 'द्वितीय व्याजनिन्दा अलंकार' है।

सरल सुसील धरम-रत राऊ । सो किमि जानइ तीय सुभाऊ ॥
अस को जीव-जन्तु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं ॥३॥

राजा सीधे स्वभाव के शीलवान और धर्म में तत्पर, फिर वे स्त्री के स्वभाव (छलबाज़ी) को कैसे जानते ! ऐसा कौन जीव-जन्तु संसार में है जिसको रघुनाथजी प्राण-प्रिय नहीं हैं ॥३॥

ऊपर कह आये हैं कि राजा ने तेरा विश्वास कैसे किया, मरते समय ब्रह्मा ने उनकी बुद्धि हर ली । इस कथन का निषेध कर दूसरी बात कहना कि वे सीधे, सुशील, धर्मात्मा थे कपट की चाल को कैसे जानते 'उक्ताक्षेप अलंकार' है । 'जीव-जन्तु' शब्द में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है ।

भे अति अहित राम तेउ तोही । को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥४॥

वे ही रामचन्द्रजी तुझे बड़े शत्रु (अप्रिय) हुए तो तू कौन है ? मुझ से सत्य कह । जो है सो है, मुख में कालिख लगा कर उठ जा और मेरी आँख की आड़ में बैठ ॥ ४ ॥

दो०—राम-बिरोधी-हृदय तैं, प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ।
मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहि ॥१६२॥

रामचन्द्रजी के बिरोधी हृदय से ब्रह्मा ने मुझे उत्पन्न किया है, मेरे समान दूसरा कौन पापी है ? मैं तुझे व्यर्थ ही क्यों कुछ कहूँ ॥ १६२ ॥

केकयी के उदर से जन्म लेने के कारण भरतजी का अपने को पापात्मा स्थापित करना 'अर्थापत्ति प्रमाण अलंकार' है ।

चौ०—सुनि सत्रुघन मातु कुटिलाई । जरहिँ गात रिस कछु न बसाई ॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई । बसन बिभूषन बिबिध बनाई ॥१॥

माता की कुटिलता को सुन कर शत्रुहनजी के अङ्ग क्रोध से जल रहे हैं, पर कुछ वश नहीं चलता है। उसी समय वहाँ अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण से सजी हुई कुबरी आई ॥ १ ॥

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई । बरत अनल घृत आहुति पाई ॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा । परि मुँह भरि महि करत पुकारा ॥२॥

उसे देख कर लक्ष्मणजी के छोटे भाई (शत्रुहनजी) क्रोध से भर गये, ऐसा मालूम होता है मानों जलती हुई आग घी की आहुति पा गई हो। उछल कर कूबर को ताक कर लात मारा जिससे चिल्लाती हुई वह मुँह के बल धरती पर गिर पड़ी ॥ २ ॥

बिना वाचक पद के उत्प्रेक्षा है। शत्रुहनजी माता की कुटिलता पर कुपित हो रहे थे, अग्नि में घी की आहुति पड़ने से ज्वाला प्रचण्ड होती ही है। 'यह ललित उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। शत्रुहनजी का लात मारना और मन्थरा का मुँह के बल गिरना, कारण और कार्य्य एक साथ प्रकट होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

कूबर टूटेउ फूट कपारू । दलित-दसन मुख रुधिर-प्रचारू ॥
आह दइव मैं काह नसावा । करत नीक फल अनइस पावा ॥३॥

कूबर टूटा, कपाल फूट गया, दाँत गिर गये और मुख से रक्त बहने लगा! वह बोली—हाय दैव! मैं ने क्या बिगाड़ा? अच्छा करते बुरा फल पाया! ॥३॥

सुनि रिपुहन लखि नख-सिख खोटी । लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ॥
भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई । कौसल्या पहिँ गे दोउ भाई ॥४॥

उसकी बात सुन कर शत्रुहनजी ने देखा कि यह नख से शिखा पर्यन्त खोटी है, तब उसकी झोंटी (बाल) पकड़ पकड़ कर घसीटने लगे। दयानिधान भरतजी ने छुड़ा दिया और दोनों भाई कौशल्याजी के पास गये ॥४॥

दो०—मलिन-बसन बिबरन बिकल, कृस सरीर दुख भार ।
कनक कलप बर बेलि बन, मानहुँ हनी तुसार ॥ १६३ ॥

मैला वस्त्र पहिने, द्युति हीन, दुर्बल शरीर, दुःख के बोझ से विकल हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं मानों सुवर्ण-निर्मित श्रेष्ठ लता-समूह को पाले ने मार दिया हो ॥१६३॥

सुवर्ण से बनी लता का वन होता नहीं, यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—भरतहि देखि मातु उठि धाई । मुरछित अवनि परी झइँ आई ॥
देखत भरत बिकल भये भारी । परे चरन तन दसा बिसारी ॥१॥

भरतजी को देख कर माता उठ कर दौड़ीं; किन्तु झलमला कर मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ीं। देखते ही भरतजी बहुत व्याकुल हुए, शरीर की सुध भूल कर चरणों में पड़े ॥१॥

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय-राम-लखन दोउ भाई॥
कइकइ कत जनमी जग माँझा। जौँ जनमित भइ काहे न बाँझा॥२॥

हे माता! पिताजी कहाँ हैं? मुझे दिखा दे; सीताजी, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं? केकयी संसार में काहे को जन्मी? यदि जन्मी तो बाँझ क्यों न हुई? ॥२॥

कुल-कलङ्क जेहि जनमेउ मोही। अपजस-भाजन प्रिय-जन-द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥३॥

जिसने मुझे कुल का कलङ्की, अपयश का पात्र और प्रियजनों का द्रोही जनमाया। हे माता! तीनों लोकों में मेरे समान अभागा कौन होगा? जिसके लिये तेरी यह दशा हुई है॥३॥

पितु सुरपुर बन रघुबर-केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु-बन-आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥४॥

पिताजी देवलोक और रघुकुल के श्रेष्ठ पताका वन को गये, सब अनर्थों का कारण केवल मैं ही हूँ। मुझे धिक्कार है कि बाँस के वन की आग हुआ और दुःसह दाह, दुःख, दोषों का भागी हूँ ॥४॥

दो०—मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिये उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति बारि॥ १६४॥

भरतजी के कोमल वचनों को सुन कर माताजी फिर सँभल कर उठीं। आँखों से आँसू बहाते हुए पुत्र को उठा कर हृदय से लगा लिया॥१६४॥

चौ०—सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहुँ राम फिरि आये॥
भैंटेउ बहुरि लखन-लघु-भाई। सोक-सनेह न हृदय समाई॥१॥

माताजी ने अत्यन्त प्रीति के साथ सीधे स्वभाव से हृदय में लगा लिया, वे ऐसी प्रसन्न मालूम होती हैं मानों रामचन्द्रजी लौट आये हों। फिर लक्ष्मणजी के छोटे भाई (शत्रुहनजी) से मिलीं, शोक और स्नेह हृदय में अमाता नहीं है॥१॥

शोक और स्नेह दोनों भावों का साथ ही हृदय में उमड़ना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

देखि सुभाउ कहत सब कोई। राम-मातु अस काहे न होई॥
माता भरत गोद बैठारे। आँसु पोँछि मृदु बचन उचारे॥२॥

कौशल्याजी का स्वभाव देख कर सब कोई कहते हैं कि रामचन्द्रजी की माता ऐसी काहे न हों। माताजी ने भरत को गोद में बैठा लिया और आँसू पोंछ कर कोमल वचन बोलीं॥२॥

रामचन्द्रजी की माता ऐसी सरल क्यों न हों, कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है।

अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू । कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी । काल-करम-गति अघटित जानी॥३॥

हे पुत्र! बलैया लेती हूँ; अब भी धीरज धरो कुसमय समझ कर शोक त्याग दो। मन में हानि और ग्लानि मत माने, काल और कर्म की गति के अमिट जाने ॥३॥

काहुहि दोस देहु जनि ताता । भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥
जो एतेहु दुख मोहि जियावा । अजहुँ के जानइ का तेहि भावा ॥४॥

हे पुत्र! किसी को दोष मत दो, सब तरह से मुझपर विधाता टेढ़ा हुआ है। जो इतने दुख पर भी मुझे जिला रहा है, अब भी कौन जाने उसे क्या अच्छा लग रहा है ॥४॥

दो०—पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर ।
बिसमउ हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर ॥ १६५ ॥

हे तात! पिता की आज्ञा से रघुनाथजी ने गहने और कपड़े त्याग दिये। वृक्ष की छाल के वस्त्र पहने, उनके हृदयमें हर्ष या विषाद कुछ नहीं हुआ ॥१६५॥

चौ०—मुख प्रसन्न मन राग न रोषू । सब कर सब बिधि करि परितोषू ॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी । रहइ न राम-चरन-अनुरागी ॥१॥

प्रसन्न मुख मन में ममता या क्रोध नहीं, सबका सब तरह संतोष करके वन को चले। सुन कर सीता उनके साथ लग गईं, रामचन्द्र के चरणों की प्रेमिनी रोकने से रह न सकी ॥१॥

सुनतहि लखन चले उठि साथा । रहहिं न जतन किये रघुनाथा ॥
तब रघुपति सबही सिर नाई । चले सङ्ग सिय अरु लघु भाई ॥२॥

सुनते ही लक्ष्मण उठ कर साथ चले, रघुनाथजी ने यत्न किये पर वे घर नहीं रहे। तब रामचन्द्र सभी को सिर नवा कर साथ में सीता और छोटे भाई को लिये चले ॥ २ ॥

राम-लखन-सिय बनहिं सिधाये । गइउँ न सङ्ग न प्रान पठाये ॥
यह सब भा इन्ह आँखिन्ह आगे । तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥३॥

रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण वन को चले गये, मैं न साथ गई और न प्राण ही भेजा! यह सब इन्हीं आँखों के सामने हुआ, तो भी अभागे जीव ने शरीर को नहीं छोड़ा ॥ ३ ॥

प्राणप्यारे रामचन्द्र के वन जाने पर भी प्राण शरीर से नहीं निकले, प्राण निकलने का कारण विद्यमान रहते जीव का शरीर से भिन्न न होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है। सभा की प्रति में 'तउ न तजा तनु प्रान अभागे' पाठ है।

मोहि न लाज निज नेह निहारी । राम-सरिस-सुत मैं महँतारी ॥
जिअइ मरइ भल भूपति जाना । मोर हृदय सत-कुलिस-समाना ॥४॥

अपना स्नेह देख कर मुझे लाज नहीं है कि रामचन्द्र के समान पुत्र की मैं माता हूँ। मरना उत्तम राजा ने जाना, मेरा हृदय सैकड़ों वज्र के समान कठोर है ॥ ४ ॥

दो०—कौसल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनिवास ।
व्याकुल बिलपत राजगृह, मानहुँ सोक-निवास ॥१६६॥

कौसल्याजी के बचनों को सुन कर भरतजी के सहित रनिवास व्याकुल हो कर विलाप करने लगा। ऐसा मालूम होता है मानों राजमहल में शोक ने डेरा किया हो ॥१६६॥

राजा की मृत्यु और रामचन्द्रजी के बनवास से भयानक शोक होना सिद्ध आधार है। परन्तु शोक कोई सदेह जीव नहीं जो राजमहल में निवास किये हो। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

चौ०—बिलपहिँ भरत बिकल दोउ भाई। कौसल्या लिये हृदय लगाई ॥
भाँति अनेक भरत समुझाये। कहि बिबेक-मय बचन सुहाये ॥१॥

भरत-शत्रुहन दोनों भाई बिकल होकर बिलाप करते हैं, कौशल्याजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। अनेक प्रकार से विचार-पूर्ण सुहावने बचन कह कर भरतजी को समझाया ॥ १ ॥

भरतहु मातु सकल समुझाई। कहि पुरान-स्रुति कथा सुहाई ॥
छलबिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी ॥२॥

भरतजी ने सम्पूर्ण माताओं को पुराण और वेदों के सुहावने इतिहास कह कर समझाये। तब दोनों हाथ जोड़ कर भरतजी छल-रहित, पवित्र, सीधी और सुन्दर वाणी से बोले ॥२॥

जे अघ मातु-पिता-सुत मारे। गाइगोठ महिसुर-पुर जारे ॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥ ३ ॥

जो पाप माता पिता और पुत्र के मारने से होता है, गोशाला तथा ब्राह्मणों का गाँव जलाने से होता है। जो पाप स्त्री और बालक की हत्या करने से, मित्र तथा राजा को विष देने से होता है ॥३॥

जे पातक उपपातक अहहीँ। करम बचन मन भव कबि कहहीँ ॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौँ यह होइ मोर मत माता ॥४॥

जो बड़े पाप और छोटे पाप हैं कर्म, वचन तथा मन से उत्पन्न होना कवि लोग कहते हैं। हे माता! यदि यह मेरा मत हो तो विधाता (को साक्षी देता हूँ) मुझे वही पाप लगे ॥४॥

दो०—जे परिहरि हरि-हर-चरन, भजहिँ भूत-गन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौँ जननी मत मोर ॥ १६७ ॥

जो विष्णु और शिवजी के चरणों को छोड़ कर भयानक जीवों वा पिशाचों की सेवा करते हैं। हे माता! यदि इसमें मेरी सलाह हो तो ब्रह्मा मुझे उनकी गति दें ॥१६७॥

चौ०—बेचहिँ बेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलह-प्रिय क्रोधी। बेद-बिदूषक बिस्व-बिरोधी॥१॥

जो वेद को बेचते हैं, धर्म को दुह लेते हैं और चुगुलख़ोर पराये पाप को कह देते हैं। छली, कुटिल, कलह-प्रेमी, क्रोधी, वेद की निन्दा करनेवाले और जगत भरके विरोधी॥१॥

वेद का बेंचना तनख़्वाह लेकर या किसी प्रकार की वस्तु आदि लेने की बात ठहरा कर वेद को पढ़ाना। धर्म का दुहना—कन्या-विक्रय करना, अथवा लड़की बेंचनेवाले और ख़रीदनेवाले के बीच अगुआई करके द्रव्य लेना, दोनों प्रकार के मनुष्य धर्म के दुहनेवाले कहे जाते हैं।

लोभी लम्पट लोलुप-चारा। जे ताकहिँ पर-धन पर-दारा॥
पावउँ मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी यह सम्मत मोरा॥२॥

जो लोभी, व्यभिचारी और लालच के दास हैं, पराये धन और परायी-स्त्री को देखते (अपनाने का उद्योग करते) हैं। हे माता! यदि यह मेरा सम्मत हो तो उनकी विकराल गति को मैं पाऊँ॥२॥

जे नहिँ साधु-सङ्ग अनुरागे। परमारथ-पथ बिमुख अभागे॥
जे न भजहिँ हरि नर-तनु पाई। जिन्हहिँ न हरि-हर-सुजस सुहाई॥३॥

जिनका सज्जनों के सङ्ग में प्रेम नहीं और जो अभागे परमार्थ के रास्ते से विमुख हैं। जो मनुष्य का शरीर पाकर भगवान् को नहीं भजते हैं, जिनको विष्णु और शिवजी का सुयश नहीं अच्छा लगता॥३॥

तजि स्रुति-पन्थ बाम-पथ चलहीं। बञ्चक बिरचि बेष जग छलहीं॥
तिन्ह कइ गति मोहि सङ्कर देऊ। जननी जौं यह जानउँ भेऊ॥४॥

जो वेदमार्ग को त्याग कर वाममार्ग में चलते हैं और अच्छा वेश बना कर संसार को धोखा देकर ठगते हैं। हे माता! यदि मैं इसका भेद जानता होऊँ तो शङ्करजी मुझे उनकी गति दें॥४॥

वेदपथ—सनातन-धर्म, वर्ण के अनुसार सात्विकीवृत्ति में अनुरक्त पवित्र आचरण करना। वामपथ—मदिरापान, मांस भक्षण, परस्त्री-गमन आदि दुष्कर्मों में अनुरक्त होकर उसे मोक्ष का साधन मानना।

दो०—मातु भरत के बचन सुनि, साँचे सरल सुभाय।
कहति राम-प्रिय तात तुम्ह, सदा बचन मन काय॥१६८॥

भरतजी के स्वाभाविक सच्चे सीधे वचनों को सुन कर माताजी कहती हैं कि—हे पुत्र! आप सदा मन कर्म वचन से रामचन्द्र के प्यारे हैं॥१६८॥

चौ०—राम प्रान तेँ प्रान तुम्हारे । तुम्ह रघुपतिहि प्रान तेँ प्यारे ॥
बिधु बिष चवइ स्रवइ हिम आगी । होइ बारिचर बारि बिरागी ॥१॥

रामचन्द्र तो तुम्हारे प्राणों के भी प्राण हैं और तुम रघुनाथजी को प्राण से बढ़ कर प्यारे हो । चाहे चन्द्रमा विष चुआने लगे, पाला से आग बहने (निकलने) लगे और मछली पानी से प्रीति छोड़ दे ॥१॥

भरतजी और रामचन्द्रजी परस्पर उपमेय उपमान हैं, तीसरी सदृश वस्तु का अभाव है । यह 'उपमेयोपमा अलंकार' है । राजापुर की प्रति में 'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे' पाठ है । किन्तु एक अक्षर 'हु' अधिक हो जाने से छन्द की गति में लघु उच्चारण करने पर भी अन्तर पड़ता है । इसीसे सभा की प्रति के पाठ को हमने प्रधान में रक्खा है । कथा-प्रेमी सज्जन चाहे जिसको अपनावें ।

भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू । तुम्ह रामहिँ प्रतिकूल न होहू ॥१॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीँ । सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीँ ॥२॥

चाहे ज्ञान होने पर भी अज्ञान न नष्ट हो, पर आप रामचन्द्र के प्रतिकूल नहीं-हो सकते । जो संसार में कहेंगे कि यह तुम्हारा मत है, वे स्वप्न में भी सुख और सुन्दर गति नहीं पावेंगे ॥२॥

चन्द्रमा का विष चुआना, पाले से अग्नि निकलना, मछली का पानी से विरागी होना, ज्ञान होने पर अज्ञान का न मिटना 'विरोधाभास अलंकार' है ।

अस कहि मातु भरत हिय लाये । थन पय स्रवहिँ नयन जल छाये ॥
करत बिलाप बहुत एहि भाँती । बैठेहि बीति गई सब राती ॥ ३ ॥

ऐसा कह कर माता ने भरतजी को हृदय से लगा लिया, उनके स्तनों से दूध बहने लगा और आँखों में आँसू भर आया । इस तरह बहुत सा विलाप करते सारी रात बैठे ही बैठे बीत गई ॥३॥

बामदेउ बसिष्ठ तब आये । सचिव महाजन सकल बोलाये ॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे । कहि परमारथ बचन सुदेसे ॥४॥

तब वामदेव और वशिष्ठजी आये, उन्होंने मन्त्रियों और समस्त रईसों को बुलवाये । मुनि ने बहुत तरह सुन्दर समयानुकूल परमार्थ के वचन कह कर भरतजी को उपदेश दिया ॥४॥

दो०—तात हृदय धीरज धरहु, करहु जो अवसर आज ॥
उठे भरत गुरु बचन सुनि, करन कहेउ सब साज ॥१६९॥

हे तात ! मन में धीरज धारण करो और आज जो करने का अवसर है वह करो । गुरु के वचनों को सुन कर भरतजी उठे और सब तैयारी करने को कहा ॥ १६९ ॥

सभा की प्रति में 'करन कहेउ सब काज' पाठ है ।

चौ०—नृप-तनु बेद-बिहित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमान बनावा ॥
गहि पद भरत मातु सब राखी । रहीं राम-दरसन अभिलाखी ॥१॥

राजा के शरीर को वेदोक्ति स्नान कराया और अत्यन्त विलक्षण विमान (रथ) बनवाया। भरतजी ने सब माताओं के पावों में पड़ कर उन्हें सती होने से रोक रक्खो, रामचन्द्र जी के दर्शन की अभिलाषा से वे सब रह गईं ॥ १ ॥

चन्दन अगर भार बहु आये। अमित अनेक सुगन्ध सुहाये ॥
सरजु-तीर रचि चिता बनाई । जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई ॥२॥

चन्दन और अगर के काठ बहुत बोझ आये और असंख्यों भाँति भाँति के सुहावने सुगन्धित द्रव्यों से सज कर सरजू के किनारे चिता बनाई गई, वह ऐसी मालूम होती है मानों देवलोक की सीढ़ी हो ॥ २ ॥

स्वर्ग जाने के लिये कभी किसी को संसार में निसेनी नहीं तैयार हुई । यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

एहि बिधि दाहक्रिया सब कीन्ही । बिधिवत न्हाइ तिलाञ्जुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना । कीन्ह भरत दसगात बिधाना ॥३॥

इस प्रकार सबने दाह-क्रिया की और विधिवत स्नान कर के तिलाञ्जलि दिये । सम्पूर्ण स्मृतियाँ, वेद और पुराणों में खोज कराकर भरतजी ने दशगात्र-विधान किये ॥३॥

दशगात्र-मृतक सम्बन्धी कर्म को कहते हैं, जैसे-पिण्डदान, तिलाञ्जलि, क्षौरकर्म, विविध प्रकार के दान उपदान इत्यादि ।

जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा । तहँ तस सहसभाँति सब कीन्हा ॥
भये बिसुद्ध दिये सब दाना । धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥४॥

मुनिवर ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ वैसा सब (भरतजी ने) सहस्रों प्रकार से किया । गैया, घोड़े, हाथी, नाना तरह की सवारियाँ और समस्त दान (अन्न,वस्त्र,आभूषणादि ग्यारहवें दिन) दे कर शुद्ध हुए ॥४॥

दो०—सिंहासन भूषन बसन, अन्न धरनि धन धाम ।
दिये भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन-काम ॥१७०॥

सिंहासन, गहने, कपड़े, अनाज, धरती, धन और घर भरतजी ने दिया उसको, पाकर ब्राह्मण लोग इच्छापूर्ण हो (सन्तुष्ट) हुए ॥१७०॥

चौ०—पितु-हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिँ बरनी ॥
सुदिन सोधि मुनिबर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥१॥

पिता के लिये भरतजी ने जैसी करनी की; लाखों मुख से नहीं वर्णन की जा सकती ।

तब अच्छा दिन सोध कर मुनि श्रेष्ठ वशिष्ठजी (राजसभा में) आये और सम्पूर्ण मन्त्रियों तथा उत्तम जनों को बुलवाया ॥ १ ॥

बैठे राजसभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई॥
भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरम-मय बचन उचारे॥२॥

सब जाकर राजसभा में बैठे, (तब गुरुजी ने) भरत-शत्रुहन दोनों भाइयों को बुलवा भेजा बशिष्ठजी ने भरतजी को पास में बैठा लिया और नीति तथा धर्म से मिले हुए बचन बोले ॥ २ ॥

प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी॥
भूप धरम-व्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा॥३॥

मुनिश्रेष्ठ-वशिष्ठजी ने पहले वह सब कथा वर्णन की, जैसी कुटिल करनी केकयी ने की थी। फिर राजा के धर्म-व्रत और सत्य की सराहना की जिन्होंने शरीर त्याग कर प्रेम को निवाहा ॥३॥

कहत राम-गुन-सील-सुभाऊ। सजल-नयन पुलके मुनिराऊ॥
बहुरि लखन-सिय-प्रीति बखानी। सोक-सनेह-मगन मुनि-ज्ञानी॥४॥

रामचन्द्र के गुण, शील और स्वभाव कहते हुए मुनिराज के नेत्रों में जल भर आया एवम् शरीर पुलकित हो गया। फिर लक्ष्मणजी और सीताजी की प्रीति बखानते हुए ज्ञानी-मुनि शोक और स्नेह में डूब गये ॥४॥

ज्ञानीमुनि का शोक और स्नेह में मग्न होना 'विरोधाभास अलंकार' है।

दो०—सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥१७१॥

मुनिनाथ ने दुखी होकर कहा कि— हे भरत! सुनो, भावी बड़ी जबरदस्त है। हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश और अपयश का विधान उसी के हाथ है (उसकी करतूत पर किसी की कुछ नहीं चलती) ॥१७१॥

हानि-लाभ, जीना-मरना और यश अपयश जीव को भावी की इच्छानुसार होता है। यह सिद्ध अर्थ है। गुरुजी फिर उसी अर्थ का विधान करते हैं, 'यह विधि अलंकार' है। 'बिलखि' श्लेषार्थी शब्द द्वारा गुरुजी एक गुप्त अर्थ दूसरा भी प्रगट करते हैं कि—हे भरत! ऐसा ख़्याल न करो कि मेरी विद्यमानता में इतने बड़े अनर्थ अयोध्या में कैसे हुए? मैंने खूब विचार कर देख लिया कि नगरबासियों की हानि; बनवासियों को लाभ, सुग्रीवादि को जीवन, दशरथ रावणादि का मरण, हनूमानादि को यश और केकयी को कलंक अवश्यम्भावी है, इससे कुछ कर न सका 'यह विवृतोक्ति अलंकार' है।

चौ०—अस बिचारि केहि देइय दोसू । ब्यरथ काहि पर कीजिय रोसू ॥
तात बिचार करहु मन माहीं । सोच जोग दशरथ-नृप नाहीं ॥१॥

ऐसा विचार कर किसको दोष दिया जाय और व्यर्थ ही किस पर क्रोध किया जाय। हे पुत्र! मन में विचार करो, राजा दशरथ सोचने योग्य नहीं हैं ॥१॥

सोचिय बिप्र जो बेद-बिहीना । तजि निज-धरम बिषय लयलीना ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥२॥

जो ब्राह्मण वेद न जानता हो और अपने धर्म त्याग कर विषयों में लवलीन हो, वह सोचने योग्य है। जो राजा नीति न जानता हो और जिसको प्रजा प्राण के समान प्यारी न हो, वह सोचने योग्य है ॥२॥

सोचिय बयस कृपन धनवानू । जो न अतिथि-सिव-भगति सुजानू ॥
सोच सूद्र बिप्र अवमानी । मुखर मान-प्रिय ज्ञान-गुमानी ॥३॥

जो धनी होकर भी कञ्जूस हो और अतिथि-सत्कार तथा शिवभक्ति में सुचतुर न हो वह वैश्य सोचने योग्य है। जो ब्राह्मण का अनादर करता हो, बकवादी, प्रतिष्ठा का इच्छुक और ज्ञान का घमण्डी हो वह शूद्र सोचने योग्य है ॥३॥

सोचिय पुनि पति-बञ्चक नारी । कुटिल कलह-प्रिय इच्छा चारी ॥
सोचिय बटु निज-ब्रत परिहरई । जो नहिँ गुरु आयुस अनुसरई ॥४॥

फिर पति को ठगनेवाली (कुलटा) स्त्री, कुटिला कलहप्रेमिनी और स्वेच्छाचारिणी के लिये सोच करना चाहिये। जो ब्रह्मचारी अपना व्रत त्याग कर गुरु की आज्ञा के अनुसार न चलता हो वह सोचने योग्य है ॥४॥

दो०—सोचिय गृही जो मोह बस, करइ करम-पथ त्याग ।
सोचिय जती प्रपञ्च-रत, बिगत बिवेक-बिराग ॥ १७२ ॥

जो गृहस्थ अज्ञानता से कर्म-मार्ग का त्याग करदे, वह सोचने योग्य है। जो सन्यासी ज्ञान वैराग्य से हीन संसार के झंझटों में अनुरक्त हो, वह सोचने योग्य है ॥ १७२ ॥

चौ०—बैखानस सोइ सोचइ जोगू । तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥
सोचिय पिसुन अकारन-क्रोधी । जननि जनक गुरु बन्धु बिरोधी ॥१॥

वह वाणप्रस्थ सोचने योग्य है जिसको तप छोड़ कर विषय-भोग अच्छा लगे। चुगलखोर, विना कारण ही क्रोध करनेवाला और माता-पिता, गुरु, भाई का वैरी सोचने योग्य है ॥ १ ॥

सब बिधि सोचिय पर-अपकारी । निज-तनु-पोषक निरदय भारी ॥
सोचनीय सबही बिधि सोई । जो न छाड़ि छल हरिजन होई ॥२॥

पराये की बुराई करनेवाला, अपने ही शरीर का पोषक और भारी निर्दय मनुष्य सब

तरह सोचने योग्य हैं। जो छल (स्वार्थ) त्याग कर हरिभक्त न हो, वही सभी प्रकार सोचने के लायक़ है॥ २॥

सोचनीय नहिँ कोसलराऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥३॥

कोशलेन्द्र-दशरथजी सोच करने योग्य नहीं हैं जिनकी महिमा चौदहों लोकों में विख्यात है। हे भरत! जैसे तुम्हारे पिता (यशस्वी) हुए हैं, वैसा राजा संसार में न कोई हुआ, न है और न अब आगे होने ही वाला है॥ ३॥

बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिँ सब दसरथ गुन-गाथा॥४

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र और लोकपाल आदि सब दशरथजी के गुणों की कथा वर्णन करते हैं॥ ४॥

दो०—कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु।
राम लखन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुअन सुचि जासु॥१७३॥

हे पुत्र! कहो तो सही? उनकी बड़ाई कोई किस तरह कर सकता है जिनके रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुहन के समान पवित्र पुत्र हैं॥१७३॥

चौ०—सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषाद करिय तेहि लागी॥
यह सुनि समुझि सोच परिहरहू। सिर धरि राज-रजायसु करहू॥१॥

राजा सब प्रकार बड़े भाग्यवान थे, उनके लिये विषाद करना व्यर्थ है। यह सुन कर और समझ कर सोच त्याग दो, राजा की आज्ञा शिरोधार्य करो॥१॥

राय राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता-बचन फुर चाहिय कीन्हा॥
तजे राम जेहि बचनहिँ लागी। तनु परिहरेउ राम-बिरहागी॥२॥

राजा ने तुमको राज्य-पद दिया है, पिता के वचन को सत्य करना चाहिये। जिस वचन के लिये रामचन्द्र को त्याग दिया बरन् रामचन्द्र के विरह की अग्नि में शरीर तज दिया, किन्तु बात नहीं छोड़ी॥२॥

नृपहि बचन-प्रिय नहिँ प्रियप्राना। करहु तात पितु-बचन प्रवाना॥
करहु सीस धरि भूप-रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥३॥

राजा को वचन प्रिय था किन्तु प्राण प्यारा नहीं था, हे पुत्र! पिता की बात को प्रमाणित करो। राजा की आज्ञा सिर पर धारण कर राज्य करो, इसमें तुमको सब तरह भलाई है॥३॥

परसुराम पितु-अज्ञा राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥
तनय जजातिहि जौबन दयऊ। पितु-अज्ञा अघ-अजस न भयऊ॥४॥

परशुराम ने पिता की आज्ञा मान कर माता को मार डाला, सारा लोक इसका साक्षी

है । राजा ययाति के पुत्र ने पिता के कहने से अपनी युवावस्था पिता को दे दी, परन्तु पाप वा कलङ्क कुछ नहीं हुआ ॥४॥

परशुराम की कथा बालकाण्ड २७१ वें दोहे के आगे पहली चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखो । राजा ययाति के दो रानियाँ थीं । एक शुक्राचार्य की कन्या देवयानी और दूसरी वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा थी । विवाह के समय शुक्राचार्य ने राजा से प्रतिज्ञा करा ली थी कि वे शर्मिष्ठा से सम्भोग न करें । पर जब शर्मिष्ठा के पुत्र हुआ तब शुक्राचार्य ने कुपित होकर राजा को शाप दिया कि तू जर्जर वृद्ध हो जा । बहुत प्रार्थना करने पर अवस्था बदलने का नियम कर दिया । राजा ने अपने सभी पुत्रों से अवस्था बदलने को कहा; परन्तु अधर्म विचार कर किसी ने स्वीकार नहीं किया । अन्त में छोटे लड़के पुरु ने पिता के वचन का महत्व समझ कर अपनी जवानी दे दी और बुढ़ाई आप ले ली । यह कथा महाभारत के आदि पर्व में विस्तार से वर्णित है।

दो०—अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु बयन ।
ते भाजन सुख-सुजस के, बसहिँ अमरपति-अयन ॥१७४॥

अनुचित-उचित का विचार छोड़ कर जो पिता के वचनों का पालन करते हैं । वे सुख और सुन्दर यश के पात्र बन कर इन्द्रलोक में निवास करते हैं ॥१७४॥

चौ०—अवसि नरेस बचन फुर करहू । पालहु प्रजा सोक परिहरहू ॥
सुरपुर नृप पाइहि परितोषू । तुम्ह कहँ सुकृत सुजस नहिँ दोषू ॥१॥

अवश्य राजा की बात को सत्य करो , प्रजा को पालो और शोक त्याग दो । इससे देवलोक में राजा सन्तोष को प्राप्त होंगे और तुमको पुण्य तथा सुयश मिलेगा, दोष न होगा ॥१॥

बेद-बिदित सम्मत सबही का । जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥
करहु राज परिहरहु गलानी । मानहु मोर बचन हित जानी ॥२॥

वेद में प्रसिद्ध है और सभी का मत है कि जिसको पिता दे वही राजतिलक पावे । इस लिये ग्लानि त्याग कर राज्य करो, मेरा वचन हितकारी समझ कर मान लो ॥२॥

सुनि सुख लहब राम बैदेही । अनुचित कहब न पंडित केही ॥
कौसल्यादि सकल महँतारी । तेउ प्रजा-सुख होहिँ सुखारी ॥३॥

रामचन्द्र और जानकी सुन कर सुख पावेंगे, कोई विद्वान इसे अनुचित न कहेगा । कौशल्या आदि सम्पूर्ण माताएँ भी प्रजा के सुख से सुखी होंगी ॥३॥

मरम तुम्हार राम कर जानिहि । सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ॥
सौंपेहु राज राम के आये । सेवा करेहु सनेह सुहाये ॥४॥

जो तुम्हारा और रामचन्द्र का छिपा भेद जानेगा, वह सब तरह तुम से भला मानेगा । रामचन्द्र के आने पर राज्य सौंप देना और सुन्दर प्रेम से उनकी सेवा करना ॥४॥

सभा की प्रति में 'प्रेम तुम्हार राम कर जानहि' पाठ है ।

दो०—कीजिय गुरु आयसु अवसि, कहहिँ सचिव कर जोरि ।
रघुपति आये उचित जस, तस तब करब बहोरि ॥१७५॥

मन्त्री लोग हाथ जोड़ कर कहते हैं कि अवश्य ही गुरुजी की आज्ञा पालन कीजिये। रघुनाथजी के आने पर जैसा उचित समझियेगा तब फिर वैसा कीजियेगा ॥१७५॥

चौ०—कौसल्या धरि धीरज कहई । पूत पथ्य गुरु आयसु अहई ॥
सो आदरिय करियहितमानी। तजिय बिषाद काल-गति जानी॥१॥

कौशल्याजी धीरज धारण कर कहती हैं, हे पुत्र! गुरुजी की आज्ञा योग्य और हितकारी है। अपनी भलाई मान कर उसका आदर कीजिये और काल की गति को जान कर विषाद त्याग दीजिये ॥ १ ॥

बन-रघुपति सुरपुर-नरनाहू । तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥
परिजन प्रजा सचिव सब अम्बा। तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलम्बा॥२॥

हे पुत्र! रघुनाथजी बन में हैं और राजा स्वर्ग पधारे, तुम इस तरह कचियाते हो। हे तात! कुटुम्बी, प्रजा, मन्त्री और समस्त माताएँ सब के एकमात्र तुम्हीं आधार हो ॥ २ ॥

लखि बिधि बाम काल कठिनाई । धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू । प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू ॥३॥

विधाता की प्रतिकूलता और काल की कठोरता को देख कर धीरज धरो, माता बलि जाती है। गुरु की आज्ञा सिर पर धारण कर वैसा ही करो, प्रजापालन कर पुरवासियों का दुःख दूर करो ॥ ३ ॥

गुरु के बचन सचिव अभिनन्दन । सुने भरत हिय हित जनु चन्दन ॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी । सील सनेह सरल रस सानी ॥४॥

गुरुजी के वचन और मन्त्रियों की विनीत प्रार्थना को भरतजी ने सुनी, वह उनके हृदय में ऐसी मालूम हुई मानों चन्दन हो। फिर माता की शील, स्नेह, सिधाई और प्रीति से सनी कोमल वाणी सुनी ॥ ४ ॥

चन्दन लेप में शीतल और खाने में कड़ुवा होता है।

हरिगीतिका-छन्द ।

सानी सरल रस मातु बानी, सुनि भरत ब्याकुल भये ।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत, बिरह उर अङ्कुर नये ॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की ।
तुलसी सराहत सकल सादर, सींव सहज सनेह की ॥७॥

सिधाई और प्रेम से भरी माताजी की वाणी को सुन कर भरतजी व्याकुल हो गये। उनके कमल नेत्रों से जल बहने लगा, हृदय के बिरह रूपी अँखुए को सींच कर उसने नया कर दिया।

उस समय भरतजी की वह दशा देखते सभी को अपने शरीर की सुध भूल गई। तुलसी-दासजी कहते हैं कि—सम्पूर्ण सभासद आदर से सहज स्नेह—महिमा की सराहना करते हैं ॥ ७ ॥

सो०—भरत कमल कर जोरि, धीर-धुरन्धर धीर धरि।
वचन अमिय जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि ॥१७५॥

धैर्यवानों में प्रधान भरतजी धीरज धारण कर के कर-कमलों को जोड़ वचन बोले। ऐसा मालूम होता है मानों अमृत में सराबोर सब को उचित उत्तर देते हों ॥ १७५ ॥

वचन का अमृत में सराबोर कहना कवि की कल्पनामात्र है, क्योंकि वचन ऐसा पदार्थ नहीं जो रस में बोरा जा सके। यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव सम्मत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥१॥

गुरुजी ने मुझे उत्तम उपदेश दिया और यही सम्मति प्रजा, मन्त्री आदि सब की है। माताजी ने उचित समझ कर वही आज्ञा दी तो अवश्य ही शिरोधार्य कर उसे मैं करना चाहता हूँ ॥ १ ॥

गुरु-पितु-मातु-स्वामि हितबानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक-भारू॥२॥

क्योंकि गुरु, पिता, माता और स्वामी की कल्याण भरी वाणी सुन कर उसको अच्छी समझ कर प्रसन्न मन से करना चाहिये। उचित है या अनुचित ऐसा विचार करने से धर्म नष्ट होता है और सिर पर पाप का बोझ चढ़ता है ॥ २ ॥

पहली चौपाई में साधारण बात कह कर फिर दूसरी चौपाई में विशेष सिद्धान्तों से उसके समर्थन का भाव 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

तुम्ह तउ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥३॥

आप सब तो मुझे वही सीधी शिक्षा देते हैं जो करने से मेरी भलाई हो। यद्यपि यह अच्छी तरह समझता हूँ, तो भी मन को सन्तोष नहीं होता है ॥ ३ ॥

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष-गुन गनहिं न साधू॥४॥

अब आप लोग मेरी विनती को सुन लीजिये और मेरे योग्य शिक्षा दीजिये। उत्तर देता हूँ; अपराध क्षमा कीजिये, क्योंकि सज्जन दुखीजनों के दोष गुण को नहीं गिनते ॥ ४ ॥

दो०—पितु सुरपुर सिय-राम बन, करन कहहु मोहि राज ।
एहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज ॥१७७॥

पिताजी देवलोक गये, सीताजी और रामचन्द्रजी वन में निवास करते हैं, (इतने पर भी आप लोग) मुझे राज्य करने को कहते हैं? भला यह तो कहिये—कि इससे मेरा हित समझते हो या कि अपना कोई बड़ा कार्य्य होना अनुमान करते हो ॥ ॥१७७॥

राजा होने में यदि मेरा कल्याण समझते हो तो यह भूल है, क्योंकि—

चौ०—हित हमार सिय-पति-सेवकाई । सो हरि लीन्ह मातु-कुटिलाई ॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं । आन उपाय मोर हित नाहीं ॥१॥

मेरा हित तो सीतानाथ की सेवकाई में है, वह माता की कुटिलता ने हर लिया। मैं ने विचार कर देखा कि दूसरे उपायों से मेरी भलाई नहीं है ॥१॥

शोक-समाज-राज केहि लेखे । लखन-राम-सिय-पद बिनु देखे ॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू । बादि बिरति बिनु ब्रह्म-बिचारू ॥२॥

लक्ष्मण, रामचन्द्र और सीताजी के चरणों को बिना देखे शोक का समाज राज्य किस गिनती में है? बिना वस्त्र के बोझों गहना व्यर्थ है और बिना ब्रह्मज्ञान के वैराग्य वृथा है ॥२॥

सरुज सरीर बादि बहु भोगा । बिनु हरिभगति जाय जप जोगा ॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई । बादि मोर सब बिनु रघुराई ॥३॥

रोगी शरीर हो तो बहुत सा भोग-विलास वृथा है, बिना हरिभक्ति के जप योग व्यर्थ है। बिना जीव के सुहावनी देह निरर्थक है, उसी प्रकार बिना रघुनाथजी के मेरा सब निष्फल है ॥३॥

वस्त्र के बिना गहना पहनना, ब्रह्मज्ञान के बिना वैराग्य, बिना जीव के देह की सुन्दरता आदि एक के बिना दूसरे को हीन कहना 'विनोक्ति अलंकार' है।

जाउँ राम पहिँ आयसु देहू । एकहि आँक मोर हित एहू ॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू । सोउ सनेह जड़ता बस कहहू ॥४॥

मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं रामचन्द्रजी के पास जाऊँ, मेरा हित तो एक इसी बात से है। यदि मुझे राजा बना कर अपना भला चाहते हो? वह स्नेह के कारण अज्ञानता वश कहते हो ॥४॥

दो०—कैकइ सुअन कुटिल मति, राम-बिमुख गत-लाज ।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस, मोहि से अधम के राज ॥१७८॥

कुटिल बुद्धिवाली केकयी का मैं पुत्र राम-विमुखी और लाज से रहित हूँ। मुझ से अधम के राज्य में अज्ञान वश आप सब सुख चाहते हैं? ॥१७८॥

दुखदाई राज्य होने के लिये राजा का अधम होना ही पर्याप्त कारण है, तिस पर अन्य प्रबल हेतुओं की उपस्थिति 'द्वितीय समुच्चय अलंकार है' ।

चौ०—कहउँ साँच सब सुनि पतियाहू । चाहिय धरम-सील नरनाहू ॥
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥१॥

मैं सब सत्य कहता हूँ सुन कर विश्वास करो कि राजा धर्मात्मा होना चाहिये । ज्यों ही हठ कर मुझे राज्य दोगे, त्यों ही धरती रसातल को चली जायगी ॥१॥

'रसा' शब्द दो बार आया है; किन्तु अर्थ दोनों का पृथक् पृथक् होने से 'यमक' अलंकार है । राजापुर की प्रति में 'राज रसातल जाइहि तबहीं' पाठ है ।

मोहि समान को पाप निवासू । जेहि लगि सीय-राम-बनबासू ॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा । बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥२॥

मेरे समान पाप का स्थान कौन है? जिसके कारण सीताजी और रामचन्द्रजी को बनवास हुआ है । राजा ने रामचन्द्रजी को वन दिया, उनके बिछुड़ते ही आप स्वर्ग यात्रा की ॥२॥

मैं सठ सब अनरथ कर हेतू । बैठ बात सब सुनउ सचेतू ॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू । रहे प्रान सहि जग उपहासू ॥३॥

मैं ही दुष्ट सब अनर्थों का कारण हूँ, इसी से सावधान बैठकर सारी बातें सुनता हूँ । बिना रघुनाथजी के घर को देख मेरे प्राण जगत की निन्दा सह कर शरीर में बने ही हैं ॥३॥

लक्षणामूलक प्रस्तावविशेष व्यङ्ग है कि जब इतनी बड़ी लोकनिन्दा सह कर प्राण शरीर में बने हैं, तब आप लोगों का राज्य भोगने के लिये आग्रह करना उससे बढ़ कर अपवाद नहीं है ।

राम पुनीत बिषय-रस रूखे । लोलुप भूमि भोग के भूखे ॥
कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई । निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई ॥४॥

रामचन्द्रजी तो पवित्र और विषयानन्द से उदासीन हैं, लालची धरती तथा भोग-विलास के भूखे होते हैं । मैं अपने हृदय की कठोरता को कहाँ तक कहूँ, जिसने वज्र का तिरस्कार कर बड़ाई पाई है ॥४॥

कठोरता में वज्र का निरादर कर हृदय ने बड़प्पन पाया 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है । यहाँ भी लक्षण-मूलक प्रस्तावविशेष व्यङ्ग है कि स्वामी राज्य से उदासीन हैं और मैं उसका लोभी हूँ । इसी से सभी हितचिन्तक एक स्वर से राज्य-भोग को कहते हैं । यह सुन कर छाती नहीं फटती है, इसने कठिनता में वज्र को मात कर रक्खा है ।

दो०—कारन तेँ कारज कठिन, होइ दोस नहिँ मोर ।
कुलिस अस्थि तेँ उपल तेँ, लोह कराल कठोर ॥ १७९ ॥

कारण से कार्य्य कठोर होता ही है, इसमें मेरा दोष नहीं । वज्र हड्डी से और लोहा पत्थर से भयङ्कर कठिन होता है ॥१७९॥

भरतजी ने पहले सामान्य बात कही कि कारण से कार्य्य कठिन होता ही है, अर्थात्, केकयी से मैं उत्पन्न हूँ तो उससे बढ़ कर मेरा कठोर होना ठीक ही है । इसको विशेष प्रमाण द्वारा पुष्ट करना कि हड्डी से वज्र, पत्थर से लोहा पैदा होता है पर उससे भीषण कठोर होता है, यह 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

चौ०—कैकेई-भव तनु अनुरागे । पाँवर प्रान अघाइ अभागे ॥
जौँ प्रिय-बिरह प्रान प्रिय लागे । देखब सुनब बहुत अब आगे ॥१॥

केकयी से उत्पन्न शरीर के प्रेमी मेरे नीच प्राण दुर्भाग्य से अघावेंगे । यदि प्यारे का वियोग प्राणों को अच्छा लगा है तो अभी आगे बहुत कुछ देखूँगा और सुनूँगा ॥१॥

लखन-राम सिय कहँ बन दीन्हा । पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा ॥
लीन्ह बिधवपन अपजस आपू । दीन्हेउ प्रजहि सोक सन्तापू ॥२॥

लक्ष्मण, रामचन्द्रजी और सीताजी को वनवास दिया, स्वर्ग भेज कर पति की भलाई की । आप विधवापन और कलङ्क लिया, प्रजा को शोक और सन्ताप दिया ॥२॥

मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू । कीन्ह कैकई सब कर काजू ॥
एहि तेँ मोर काह अब नीका । तेहि पर देन कहहु तुम टीका ॥३॥

मुझे सुख, सुयश और सुन्दर राज्य दिया, केकयी ने सब का काम किया । इससे अच्छा अब मेरे लिये क्या होगा ? तिस पर आप लोग राज-तिलक करने को कहते हैं ॥३॥

केकयीने रामचन्द्र, लक्ष्मण और जानकीजी को वन भेज कर उनकी भलाई की । पति को देवलोक भेज कर उनका कल्याण किया । मुझे सुख, सुयश, स्वराज्य दिया । इससे बढ़ कर मेरी भलाई क्या होगी जो आप सब टीको देने को कहते हैं । यहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर द्वारा भासित होता है कि जिस राज्य के लोभ में पड़ कर केकयी ने सारे अनर्थों को कर डाला, उसी को आप सब मुझे स्वीकार करने को कहते हैं बड़े खेद की बात है । यह लक्षणामूलक अवि-वक्षितवाच्य ध्वनि है ।

कैकइ जठर जनमि जग माहीँ । यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीँ ॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई । प्रजा पाँच कत करहु सहाई ॥ ४ ॥

केकयी के उदर से मैं संसार में जन्मा हूँ तो यह मुझ को कुछ अयोग्य नहीं है । मेरी बात सब बिधाता ही ने बनाई है, फिर प्रजा और पञ्च काहे को सहाय करते हो ॥४॥

वाच्यार्थ के समान व्यङ्गार्थ है कि ब्रह्मा ने कैकेयी जैसी मुझे कुमाता देकर मेरी बात बना दी । उसने राजतिलक का मेरे लिये वर माँग रक्खा है, तब उसके लिये आप सब व्यर्थ ही क्यों मेरी सहायता करते हैं । यह 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

दो०—ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार ।
ताहि पिआइय बारुनी, कहहु कवन उपचार ॥ १८० ॥

ग्रहों से जकड़ा फिर वातव्याधि के अधीन, तिस पर पीछे बिच्छू ने डङ्क मारा हो । उसको मदिरा पिलाइये तो भला कहिये यह कौन सी चिकित्सा है ? ॥१८०॥

दुःख के लिये ग्रहों का विरुद्ध होना पर्य्याप्त कारण है, उस पर वातव्याधि बिच्छू का डङ्क मारना अन्य प्रबल हेतुओं का विद्यमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है । कैकेयी के उदर का निवास, ग्रहों की जकड़न है । राजा की मृत्यु वातव्यधि है, रामचन्द्रजी की वनयात्रा बिच्छू का डङ्क मारना है । राजतिलक देने की बात मदिरा पिलाना है ! राजापुर की प्रति में 'तेहि पिआइय बारुनी' पाठ है, परन्तु उच्चारण में एक मात्रा की कमी से खटक आती है ।

चौ०—कैकइ सुअन जोग जग जोई । चतुर बिरञ्चि दीन्ह मोहि सोई ॥
दसरथ तनय राम लघु भाई । दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई ॥१॥

कैकेयी के योग्य जो पुत्र संसार में होना चाहिये, चतुर विधाता ने मुझे वैसा ही दिया । पर दशरथजी का पुत्र और रामचन्द्रजी का छोटा भाई, यह बड़ाई ब्रह्मा ने मुझे व्यर्थ ही दिया ॥१॥

तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका । राय-रजायसु सब कहँ नीका ॥
उतर देउँ केहि बिधि केहि केही । कहहु सुखेन जथारुचि जेही ॥२॥

आप अब तिलक खिँचवाने को कहते हैं, राजाज्ञा सब के लिये अच्छी है । मैं किस प्रकार किसको किस को उत्तर दूँ, जिसकी जैसी रुचि हो प्रसन्नता से कहिये ॥२॥

मोहि कुमातु समेत बिहाई । कहहु कहिहि के कीन्ह भलाई ॥
मो बिनु को सचराचर माहीं । जेहि सियराम प्रानप्रिय नाहीं ॥३॥

मेरी कुमाता के सहित मुझे छोड़ कर कहिये, और कौन कहेगा कि भरत ने अच्छा किया ? मेरे सिवाय जड़ चेतन जीवों में कौन ऐसा है जिसको सीताजी और रामचन्द्रजी प्राण के समान प्यारे नहीं हैं ॥३॥

परम-हानि सब कहँ बड़ लाहू । अदिन मोर नहिँ दूषन काहू ॥
संसय-सील प्रेम बस अहहू । सबइ उचित सब जो कछु कहहू ॥४॥

जिससे मेरी अत्यन्त हानि है वही सब को बड़ा लाभ दिखाई देता है, किसी का दोष नहीं; मेरे दुर्दिन का फेर है । आप सब संशय, शील और स्नेह के अधीन हैं जो कुछ कहिये सभी उचित है ॥४॥

संशय—बिना राजा के अराजकता आदि उपद्रवों का डर। शील—लघु का अनादर न हो। स्नेह-मुझ पर अत्यन्त प्रेम और वात्सल्यभाव। यहाँ पर्यन्त उत्तर प्रजा और मन्त्रियों की ओर लक्ष्य कर दिया। अब माताजी को विनय सुनाते हैं।

दो०-राममातु सुठि सरल चित, मो पर प्रेम बिसेखि।
कहइ सुभाय सनेह बस, मोरि दीनता देखि ॥ १८१ ॥

रामचन्द्रजी की माता अत्यन्त सरल चित्त है, उसका मुझ पर विशेष प्रेम है। स्वाभाविक स्नेह के वश होकर मेरी दीनता देख कहती है ॥१८१॥

चौ०-गुरु बिबेक सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना ॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ ॥१॥

गुरुजी ज्ञान के समुद्र हैं; इसको संसार जानता है कि जिनके हाथ में ब्रह्माण्ड बेर के फल के समान है। वे भी हमारे लिये तिलक का साज सजरहे हैं! विधाता के प्रतिकूल होने से सब कोई विपरीत हो जाते हैं ॥१॥

भरतजी कहते तो गुरुजी से हैं, परन्तु विमुख होने की बात दूसरों के प्रति कह कर गुरुजी को सूचित करना 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है। गुरुजी का ऐसा कहना आश्चर्यमय है कि ईश्वर के विपरीत, शिष्य को संसार की ओर लगने को कहें 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है।

परिहरि राम सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अन्तहु कीच तहाँ जहँ पानी ॥२॥

रामचन्द्रजी और सीताजी को छोड़ कर संसार में कोई न कहेगा कि इसमें मेरी सलाह नहीं थी। वह मैं सुख मान कर सुनूँगा और सहूँगा, जहाँ पानी रहता है अन्त को वहाँ कीचड़ होता ही है ॥२॥

डर न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिं न सोचू ॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम दुखारी ॥३॥

मुझे इसका डर नहीं कि संसार बुरा कहेगा, परलोक का भी सोच नहीं है। एक ही असहनीय दावानल हृदय में बसा है कि मेरे कारण रामचन्द्रजी और सीताजी दुखी हुए हैं ॥ ३ ॥

जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम-चरन मन लावा ॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछताउँ अभागी ॥४॥

जन्म लेने का लक्ष्मण ने अच्छा लाभ पाया कि सब त्याग कर रामचन्द्रजी के चरणों में मन लगाया। मेरा जन्म रघुनाथजी को वनवास के लिये हुआ, फिर मैं अभागा झूठमूठ क्या पछताऊँ ॥ ४ ॥

दो०—आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहि सिर नाइ ।
देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ ॥१८२॥

मैं अपनी कठिन दीनता सब को मस्तक नवा कर कहता हूँ कि बिना रघुनाथजी के चरणों को देखे मेरे जी की जलन न जायगी ॥ १८२॥

चौ०—आन उपाय मोहि नहिँ सूझा । को जिय कै रघुबर बिनु बूझा ॥
एकहि आँक इहइ मन माहीँ । प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीँ ॥१॥

दूसरा उपाय मुझे नहीं सूझता है, रघुनाथजी के बिना मन की बात कौन समझ सकता है ? मन में एक यही निश्चय होता है कि सवेरे मैं प्रभु रामचन्द्रजी के पास चलूँगा ॥१॥

जद्यपि मैं अनभल अपराधी । भइ मोहि कारन सकल उपाधी ॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहिँ कृपा बिसेखी ॥२॥

यद्यपि मैं बुराई का अपराधी हूँ, सारा उपद्रव मेरे ही कारण हुआ है । तथापि शरण में आया सामने मुझे देख सब क्षमा कर के विशेष कृपा करेंगे ॥ २ ॥

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ । कृपा-सनेह-सदन रघुराऊ ॥
अरिहु कअनभल कीन्ह न रामा । मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥३॥

रघुनाथजी शीलवान, संकोची, अत्यन्त सीधे स्वभाववाले, दया और स्नेह के स्थान हैं। रामचन्द्रजी ने शत्रु की भी बुराई नहीं की, यद्यपि मैं टेढ़ा हूँ तो भी बालक सेवक हूँ (क्षमा करेंगे) ॥३॥

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी । आयसु आसिष देहु सुबानी ॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी । आवहिँ बहुरि राम रजधानी ॥४॥

पर आप पञ्च लोग इसी में मेरी भलाई मान सुन्दर वाणी से आज्ञा और आशीर्वाद दीजिये कि जिसमें बिनती सुन कर और मुझे अपना सेवक जान कर रामचन्द्रजी राजधानी में लौट आवें ॥४॥

दो०—जद्यपि जनम कुमातु तेँ, मैं सठ सदा सदोस ।
आपन जानि न त्यागिहहिँ, मोहि रघुबीर भरोस ॥१८३॥

यद्यपि कुमाता से मेरा जन्म है और मैं दुष्ट सदा दोषों से भरा हूँ । पर मुझे रघुनाथजी का भरोसा है कि अपना जान कर न त्यागेंगे ॥ १८३ ॥

चौ०—भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे । राम-सनेह-सुधा जनु पागे ॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे । मन्त्र सबीज सुनत जनु जागे ॥१॥

भरतजी के वचन सब को प्रिय लगे, ऐसा मालूम होता है मानों वह रामचन्द्रजी के स्नेह

रूपी अमृत से सना हो। लोग विरह रूपी भीषण विष से जलते थे, ऐसा जान पड़ता है मानों प्रभावशाली मन्त्र सुन कर सचेत हो गये हों ॥१॥

स्नेह कोई द्रव पदार्थ नहीं जो वचनों को सान सके, यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। विष से मूर्छित मनुष्य प्रभावशाली मन्त्र से चैतन्य होते ही हैं 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। राजापुर की प्रति में चौपाई का दूसरा और तीसरा चरण नहीं है। मालूम होता है नक़ल करते समय छूट गया है।

मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥
भरतहि कहहिँ सराहि सराही। राम-प्रेम मूरति तनु आही॥२॥

माताएँ, मन्त्री, गुरु और नगर के स्त्री-पुरुष सब स्नेह से भारी विकल हुए। बार बार भरतजी की सराहना कर के कहते हैं कि भरत रामचन्द्रजी के प्रेम के साक्षात् मूर्त्तिमान शरीर ही हैं ॥२॥

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥
जो पाँवर अपनी जड़ताई। तुम्हहिँ सुगाइ मातु कुटिलाई॥३॥

हे तात भरत! ऐसा क्यों न कहो, आप रामचन्द्रजी को प्राण के समान प्रिय हो। जो नीच अपनी मूर्खता से माता की कुटिलता का सन्देह तुम्हारे ऊपर करेगा ॥३॥

सो सठ कोटिक-पुरुष समेता। बसहिँ कलप-सत नरक-निकेता॥
अहि-अघ अवगुन नहिँ मनि गहई। हरइ गरल दुख-दारिद दहई॥४॥

वे दुष्ट करोड़ों पुरुषों (सम्बन्धियों) के सहित सौ कल्प पर्यन्त नरक स्थान में बसते हैं। साँप के पाप और दुर्गुणों को मणि नहीं ग्रहण करती, वह विष और दुःख-दरिद्र का नाश कर देती है ॥४॥

साँप की मणि विष के साथ रहती है; किन्तु विषका गुण नहीं ग्रहण करती। उलटे साँप के ज़हर को हरती और दुःख-दरिद्र का नाश कर देती है, 'अतद्गुण अलंकार' है। केकयी और सर्प, रामविरह और विष, पाप और राजहिंसा, दुर्गुण और परोत्कर्ष का असहन क्रोध, भरत के विचार और विष-दुःख-दरिद्र का नाश परस्पर उपमेय उपमान हैं। जिनके वचन सुन मृतप्राय अयोध्यावासी सजीव हो गये।

दो०—अवसि चलिय बन रामजहँ, भरत मन्त्र भल कीन्ह।
सोक सिन्धु बूड़त सबहि, तुम्ह अवलम्बन दीन्ह॥१८४॥

हे भरतजी! आपने बहुत अच्छी सलाह की, जहाँ रामचन्द्रजी वन में हैं अवश्य ही वहाँ चलिये। शोकसागर में डूबते हुए आपने सभी को सहारा दिया ॥१८४॥

चौ०—भा सब के मन मोद न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक-मोरा॥
चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरत प्रान-प्रिय भे सबही के॥१॥

सब के मन में थोड़ा आनन्द नहीं हुआ, वे ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों मेघ का शब्द

सुन कर चातक और मोर आनन्दित हैं। सवेरे चलने का अच्छी तरह निर्णय देख कर भरतजी सभी को प्राण-प्रिय हुए ॥ १ ॥

मुनिहिँ बन्दि भरतहि सिर नाई । चले सकल घर बिदा कराई ॥
धन्य भरत जीवन जग माहीँ । सील सनेह सराहत जाहीँ ॥ २ ॥

मुनि को प्रणाम कर भरतजी को सिर नवा सब विदा होकर घर चले। रास्ते में भरतजी के शील, स्नेह को सराहते जाते हैं कि संसार में भरतजी का जीवन धन्य है ॥ २ ॥

कहहिँ परसपर भा बड़ काजू । सकल चलइ कर साजहिँ साजू ॥
जेहि राखहिँ रहु घर रखवारी । सो जानइ जनु गरदनि मारी ॥३॥

आपस में कहते हैं कि बड़ा कार्य्य हुआ, सब चलने का सामान सजते हैं। जिसको घर की रखवाली के लिए रखते हैं, उसको ऐसा जान पड़ता है मानों गर्दन मार दी गई हो ॥ ३ ॥

कोउ कह रहन कहिय जनि काहू । को न चहइ जग जीवन-लाहू ॥४॥

कोई कहता है कि किसी को रहने के लिए मत कहो, जगत में जीवन का लाभ कौन नहीं चाहता ? (सभी चाहते हैं) ॥ ४ ॥

दो०—जरउ सो सम्पति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहज सहाइ ॥ १८५ ॥

वह धन, घर का आनन्द, मित्र माता, पिता और भाई जल जाय जो रामचन्द्रजी के चरणों के सन्मुख होते हुए स्वाभाविक सहायता न करें ॥ १८५ ॥

रामचन्द्रजी के चरणों के सामने होने में सहज सहायक न हों तो इस दोष से आदरणीय को भी त्याग योग्य समझना 'तिरस्कार अलंकार' है ।

चौ०—घर घर साजहिँ बाहन नाना । हरष हृदय परभात पयाना ॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू । नगर बाजि गज भवन भँडारू ॥१॥

घर घर लोग नाना प्रकार की सवारियाँ सजते हैं, सवेरे प्रस्थान होगा इसका मन में हर्ष है। भरतजी ने महल में जाकर विचार किया कि नगर, घोड़ा, हाथी, मन्दिर और कोश ॥ १ ॥

सम्पति सब रघुपति कै आही । जौँ बिनु जतन चलउँ-तजि ताही ॥
तो परिनाम न मोरि भलाई । पाप सिरोमनि साइँ दोहाई ॥२॥

सब सम्पत्ति रघुनाथजी की है, यदि उसकी रक्षा का प्रबन्ध किये बिना छोड़ कर चलता हूँ तो इसका परिणाम (नतीजा) मेरे लिये अच्छा न होगा, एक तो यों ही पाप-शिरोमणि हूँ तिस पर स्वामि-द्रोही कहलाऊँगा ॥ २ ॥

'साइँ-दोहाई' शब्द स्वामि-द्रोहता का सूचक है न कि स्वामी की सौगन्द खाने का। विनयपत्रिका में ऐसा ही है—"हौं तो साइँदोही पै सेवक हित साँई" । साइँदोह मोहि कीन्ह कुमाता-इत्यादि ।

करइ स्वामि हित सेवक सोई । दूषन कोटि देइ किन कोई ॥
अस बिचारि सुचि सेवक बोले । जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ॥३॥

सेवक वही है जो स्वामी का हित करे, चाहे कोई उसको करोड़ों दोष क्यों न दे। ऐसा विचार कर पवित्र (ईमानदार) सेवकों को बुलवाये जो स्वप्न में भी अपने (सेवा) धर्म से डगे नहीं हैं ॥ ३ ॥

कहि सब मरम धरम भल भाखा । जो जेहि लायक सो तहँ राखा ॥
करि सब जतन राखि रखवारे । राम-मातु पहिँ भरत सिधारे ॥४॥

सब भेद कह अच्छी तरह धर्म वर्णन किये, जो जिस लायक थे उसे वहीं रक्खा। सब रक्षकों को यत्न-पूर्वक रख कर भरतजी रामचन्द्रजी की माता के समीप गये ॥ ४ ॥

दो०—आरत जननी जानि सब, भरत सनेह सुजान ।
कहेउ बनावन पालकी, सजन सुखासन जान ॥१८६॥

सब माताओं के दुःखी समझ कर स्नेह में चतुर भरतजी ने पालकी बनाने को और तामजान आदि सवारियाँ सजने को कहा ॥ १८६ ॥

माताएँ रघुनाथजी के दर्शन के लिये कातर हुई हैं, भरतजी स्नेह में चतुर हैं उनकी कातरता को समझ गये और साथ चलने के लिये निवेदन किया।

चो०—चक्क चक्कि जिमि पुर-नर-नारी । चहत प्रात उर आरत भारी ॥
जागत सब निसि भयउ बिहाना । भरत बोलाये सचिव सुजाना ॥१॥

चकवी चकवा जैसे नगर के स्त्री-पुरुष सबेरा होने की चाह से मन में बहुत दुःखी हैं। सारी रात जागते ही प्रातःकाल हुआ, भरतजी ने चतुर मन्त्रियों को बुलवाया ॥१॥

कहेउ लेहु सब तिलक-समाजू । बनहिँ देब मुनि रामहिँ राजू ॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे । तुरत तुरग रथ नाग सँवारे ॥२॥

उनसे कहा कि तिलक का सब सामान साथ ले चलो, वन ही में मुनिराज रामचन्द्रजी को राज्य देंगे। जल्दी चलो, यह सुन कर मन्त्री ने प्रणाम किया और जाकर तुरन्त घोड़े रथ हाथी सजवाये ॥२॥

अरुन्धती अरु अगिनि समाऊ । रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ ॥
बिप्रबृन्द चढ़ि बाहन नाना । चले सकल तप तेज निधाना ॥३॥

अरुन्धती और अग्निहोत्र के समान सहित रथ पर चढ़ कर पहले मुनिराज वशिष्ठजी चले। नाना प्रकार की सवारियों पर चढ़कर तप और तेज के स्थान समस्त ब्राह्मण समूह चले ॥३॥

अरुन्धती-वशिष्ठजी की धर्मपत्नी का नाम है। सभा की प्रति में तुकान्त 'समाजू मुनिराजू' है।

नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥
सिबिका सुभग न जाहिँ बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥४॥

नगर के सब लोग सवारियों को सज सज कर चित्रकूट को पयान किये। सुन्दर पालकी जो बखानी नहीं जाती हैं, उन पर चढ़ चढ़ कर सब रानियाँ चलीं ॥४॥

दो०—सौंपि नगर सुचि सेवकनि, सादर सबहि चलाइ।
सुमिरि राम सिय चरन तब, चले भरत दोउ भाइ॥१८७॥

विश्वासी सेवकों को नगर सौंप कर आदर के साथ सब को चला कर तब भरत-शत्रुहन दोनों भाई रामचन्द्रजी और सीताजी के चरणों को स्मरण कर चले॥१८७॥

चौ०—राम दरस बस सब नर नारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी॥
बन सिय-राम समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहि जाहीं॥१॥

रामचन्द्रजी के दर्शन की प्यास के वश सब स्त्री-पुरुष चले जारहे हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों हाथी और हथिनी जलाशय देख कर उसकी ओर प्यास बुझाने चले हों। मन में सीता जी और रामचन्द्रजी को वन में समझ कर भरतजी छोटे भाई शत्रुहन के सहित पैदल जाते हैं ॥१॥

देखि सनेह लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राममातु मृदुबानी बोली॥२॥

भरतजी के स्नेह को देख कर लोग अनुरक्त हुए और घोड़े, हाथी रथों को त्याग उतर कर पैदल चले। रामचन्द्रजी की माता अपनी पालकी भरतजी के समीप ले जाकर कोमल वाणी से बोलीं॥२॥

तात चढ़हु रथ बलि महँतारी। होइहि प्रिय परिवार दुखारी॥
तुम्हरे चलत चलिहि सब लोगू। सकल सोक कृस नहिँ मग जोगू॥३॥

हे पुत्र! माता बलि जाती है; रथ पर चढ़िये नहीं तो प्रिय कुटुम्बीजन दुखी होंगे। तुम्हारे चलते सब लोग पैदल चलेंगे, सम्पूर्ण शोक से खिन्न हैं, राह के योग्य नहीं हैं ॥३॥

सिर धरि बचन चरन सिरनाई। रथ चढ़ि चलत भये दोउ भाई॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमति तीर निवासू॥४॥

माता की आज्ञा शिरोधार्य्य कर चरणों में मस्तक नवा दोनों भाई रथ पर चढ़ कर चले। पहले दिन तमसा के किनारे टिके और दूसरे दिन गोमती के तट पर निवास हुआ॥४॥

दो०—पयअहार फलअसन एक, निसिभोजन एक लोग।
करत राम हित नेम-ब्रत, परिहरि भूषन भोग॥१८८॥

कोई दूध पीकर, कोई फल खाकर और कुछ लोग रात्रि में भोजन करके रामचन्द्रजी के दर्शन के लिये गहना और भोग-विलास त्याग कर नेम व्रत करते हैं ॥१८८॥

चौ०-सई तीर बसि चले बिहाने । सृङ्गबेरपुर सब नियराने ॥
समाचार सब सुने निषादा । हृदय बिचार करइ सबिषादा ॥१॥

सई के किनारे रह कर सवेरे चले और सब शृंगवेरपुर के समीप पहुँचे। निषाद ने सब समाचार सुना, वह दुःख से मन में विचार करने लगा ॥१॥

कारन कवन भरत बन जाहीं । है कछु कपट-भाउ मन माहीं ॥
जौं पै जिय न होति कुटिलाई । तौ कत लीन्ह सङ्ग कटकाई ॥२॥

भरत वन जाते हैं, इसका क्या कारण है ? कुछ कपट-भाव उनके मन में है। यदि जी में कुटिलता न होती तो सेना साथ में काहे को लेते ॥२॥

जानहिँ सानुज रामहिँ मारी । करउँ अकंटक राज सुखारी ॥
भरत न राजनीति उर आनी । तब कलङ्क अब जीवन हानी ॥३॥

समझते हैं कि छोटे भाई लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी को मार कर सुख से बेखटके राज्य करूँ। भरत ने मन में राजनीति नहीं लाई, तब कलङ्क हुआ था अब जीवन नाश होगा ॥३॥

सकल-सुरासुर जुरहिँ जुझारा । रामहि समर न जीतनिहारा ॥
का आचरज भरत अस करहीं । नहिँ बिष बेलि अमिय फल फरहीं ॥४॥

सम्पूर्ण लड़ाके देवता और दैत्य जुट कर समर में रामचन्द्रजी को जीतने योग्य नहीं हैं। भरत ऐसा करते हैं तो क्या आश्चर्य्य है ? विष की लता अमृत का फल नहीं फलती ॥४॥

दो०—अस बिचारि गुह ज्ञाति सन, कहेउ सजग सब होहु ।
हथवासहु बोरहु तरनि, कीजिय घाटारोहु ॥१८९॥

ऐसा विचार कर गुह ने जातिवालों से कहा कि सब लोग होशियार हो जाओ। हथवांसों को डुबा दो और नावों को घाट के ऊपर चढ़ा दो ॥१८९॥

डाँड़ को पानी में गाड़ना और नाव को अवघट में घाट के ऊपर चढ़ाना जिससे सहसा पार होने का साधन नष्ट हो जाय। नाव डुबाने से निकालना कठिन हो जाता है, इससे नौकाओं को डुबाने के लिये नहीं कहता है।

चौ०—होहु सँजोइल रोकहु घाटा । ठाटहु सकल मरइ के ठाटा ॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ । जियत न सुरसरि उतर न देऊँ ॥१॥

सावधान होकर घाट को रोको और सब कोई मरने की पक्की तैयारी करो। मैं भरत से सामने लोहा लेऊँगा और जीते जी गङ्गाजी न उतरने दूँगा ॥१॥

समर-मरन पुनि सुरसरि-तीरा । राम-काज छनभङ्ग-सरीरा ॥
भरत भाइ-नृप मैं जन नीचू । बड़े भाग असि पाइय मीचू ॥२॥

युद्ध में मरण फिर गङ्गाजी के किनारे, रामचन्द्रजी का कार्य्य, क्षणभङ्गुर शरीर। भरत राजा रामचन्द्रजी के भाई और मैं नीच जन हूँ, ऐसी मृत्यु बड़े भाग्य से मिलती है ॥२॥

अच्छी मृत्यु के लिये एक समर में मरना ही पर्याप्त है, तिस पर अन्य प्रबल हेतुओं का विद्यमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है। मृत्यु अङ्गीकार करने योग्य वस्तु नहीं है, पर रामकार्य के लिये प्रसन्नता से उसे स्वीकार करना 'अनुज्ञा अलंकार' दोनों समप्रधान हैं।

स्वामि काज करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दस चारी ॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे । दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे ॥ ३ ॥

स्वामी के कार्य्य के लिये रण में युद्ध करूँगा और चौदहों लोकों में निर्मल यश फैलाऊँगा। रघुनाथजी के उपकार के लिये प्राण त्याग दूँगा, मेरे दोनों हाथों में आनन्द के लड्डू हैं ॥३॥

साधु समाज न जा कर लेखा । रामभगत महँ जासु न रेखा ॥
जाय जियत जग सो महि भारू । जननी जौबन बिटप कुठारू ॥ ४ ॥

साधुमण्डली में जिसकी गिनती न हुई और रामभक्तों में जिसका चिह्न (बड़ाई) नहीं। वह पृथ्वी का बोझ रूप व्यर्थ ही संसार में जीता है, माता के यौवन रूपी वृक्ष का कुल्हाड़ा है ॥४॥

दो०—बिगत बिषाद निषादपति, सबहि बढ़ाइ उछाह ।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत, तरकस धनुष सनाह ॥१९०॥

विषाद रहित होकर निषादराज ने सब के उत्साह को बढ़ाया और रामचन्द्रजी का स्मरण करके तुरन्त अपना तरकस, धनुष और कवच मँगवाया ॥ १९० ॥

निषादराज के मन में विषाद सञ्चारी भाव का शान्ति युद्धानुराग रूपी उत्साह के अङ्ग से हुई, यह 'समाहित अलंकार' है।

चौ०—बेगहि भाइहु सजहु सँजोऊ । सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ ॥
भलेहि नाथ सब कहहिँ सहरषा । एकहि एक बढ़ावहिँ करषा ॥१॥

हे भाइयो! शीघ्र ही सब सामान सजो, मेरी आज्ञा को सुन कर कोई डरे नहीं। सब निषादों ने हर्ष के साथ कहा, बहुत अच्छा स्वामिन्! एक दूसरे से लड़ाई के जोश को बढ़ानेवाली बातें करते हैं ॥ १ ॥

चले निषाद जोहारि जोहारी । सूर सकल रन रूचइ रारी ॥
सुमिरि राम-पद-पङ्कज-पनहीं । भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं ॥२॥

निषाद प्रणाम कर कर चले, वे सब शूरवीर हैं जिनको लड़ाई अच्छी लगती है। रामचन्द्रजी के चरणकमल की जूतियों को स्मरण कर तरकस बाँधा और धनुष के रोदे चढ़ाये ॥ २ ॥

सभा की प्रति में 'भाथी के स्थान में भाथा' पाठ है।

अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं । फरसा बाँस सेल सम करहीं ॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़े । कूदहिँ गगन मनहुँ छिति छाँड़े ॥३॥

बखतर पहन कर सिर पर पथरी धरते हैं, भलुहा, बाँस और बरछी को सुधारते हैं। कोई ढाल तलवार की कला में बड़े प्रवीण कूदते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों पृथ्वी को छोड़ कर आकाश में उड़ते हों ॥३॥

निज निज साज समाज बनाई । गुह राउतहिं जोहारे जाई ॥
देखि सुभट सब लायक जाने । लै लै नाम सकल सनमाने ॥४॥

अपने अपने साज सज कर और टोली बना कर गुह सरदार के पास जाकर प्रणाम किये। सब योद्धाओं को देख कर उन्हें युद्ध के योग्य समझ कर गुह ने सब का नाम ले ले कर सम्मान किया ॥ ४ ॥

दो०—भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।
सुनि सरोष बोले सुभट, बीर अधीर न होहि ॥१९१॥

गुह ने कहा—भाइयो! धोखा न लगाना, आज मेरा बड़ा काम है। यह सुन कर योद्धा-निषाद दर्प के साथ बोले—हे वीर! अधीर न हो ॥१९१॥

चौ०—राम-प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटक बिनु भट बिनु घोरे ॥
जीवत पाउँ न पाछे धरहीं। रुंड-मुंड-मय-मेदिनि करहीं ॥१॥

हे नाथ! रामचन्द्रजी के प्रताप और आप के बल से हम लोग सेना को बिना योद्धा और बिना घोड़े की कर देंगे। जीते जी पीछे पाँव न धरेंगे, धरती को धड़ और सिरों से भर देंगे अर्थात् मेदिनी नाम सार्थक करके दिखा देंगे ॥१॥

निषादों के मन में युद्ध के लिये उत्साह स्थायीभाव है। भरतजी आलम्बन विभाव हैं। रामचन्द्रजी की प्रसन्नता का विचार, विजय की आशा, बल का दर्प, रण में गङ्गाजी के तटपर राजा के भाई द्वारा मरण आदि उद्दीपन विभाव है। शस्त्र धारण, वीरों की प्रशंसा, उछलना, कूदना आदि अनुभाव है। आवेग, उग्रता, धृति आदि सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर 'वीररस' हुआ है।

देखि निषाद-नाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू ॥
एतना कहत छींक भइ बायें। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहायें ॥२॥

निषादराज ने अच्छी गोल देख कर कहा कि जुझाऊ ढोल बजाओ। इतना कहते ही बाईं ओर छींक हुई, सगुनियों ने कहा—सुन्दर दिशा में छींक हुई (जीत होगी) ॥२॥

बूढ़ एक कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिय न होइहि रारी ॥
रामहिं भरत मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीं ॥३॥

एक बुड्ढे ने सगुन विचार कर कहा कि भरतजी से मिलो लड़ाई न होगी। रामचन्द्रजी को भरत मनाने जाते हैं, सगुन ऐसा ही कहता है इसमें विरोध नहीं है ॥३॥

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा । सहसा कर पछिताहिँ बिमूढ़ा ।
भरत सुभाउ सील बिनु बूझे । बड़ि हितहानि जानिबिनु जूझे ॥४॥

सुन कर गुह ने कहा—बुड्ढा अच्छा कहता है, जल्दबाज़ी कर के मूर्ख पीछे पछताते हैं। भरतजी का स्वभाव और शील बिना समझे जाने युद्ध करने से बड़ी हित-हानि है ॥४॥

दो०—गहहु घाट भट समिटि सब, लेउँ मरम मिलि जाइ ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति, तब तस करिहउँ आइ ॥१९२॥

सब योद्धा इकट्ठे होकर घाट छेंक लो, मैं जाकर उनसे मिल कर भेद लेऊँ। शत्रु, मित्र और मध्यस्थ का ढङ्ग समझ कर, तब आकर वैसा करूँगा ॥१९२॥

चौ०—लखब सनेह सुभाय सुहाये । बैर प्रीति नहिँ दुरइ दुराये ॥
अस कहि भेँट सँजोवन लागे । कन्द मूल फल खगमृग माँगे ॥१॥

उनके स्वाभाविक सुहावने स्नेह की परख लूँगा, बैर और प्रीति छिपाने से नहीं छिपती। ऐसा कह कर भेंट सजवाने लगा, कन्द, मूल, फल, पक्षी और मृग मँगवाया ॥१॥

मीन पीन पाठीन पुराने । भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥
मिलन साज सजि मिलन सिधाये । मङ्गल-मूल सगुन सुभ पाये ॥२॥

कहारों ने कावरियों में भर भर कर पुराने मोटे पहिना मछली ले आये। मिलने का सामान सज कर मिलने के लिये पयान किया, मङ्गल-मूल सुन्दर सगुन मिले ॥२॥

निषादराज युद्ध की तैयारी को भेंट की वस्तुओं द्वारा भरतजी से छिपाने की क्रिया करता है जिसमें उन्हें वह बात प्रगट न हो 'युक्ति अलंकार' है। भेंट की चीज़ों में भी शत्रु मित्र मध्यस्थ भाव परखने की युक्ति है। कन्द मूल फल सात्विकी पदार्थ हैं, खग-मृग राजसी और मछली तामसी है। मित्रभाव का ज्ञान सात्विकी पदार्थ ग्रहण से, मध्यस्थ का राजसी और शत्रुभाव का ज्ञान तामसी वस्तु ग्रहण करने से होगा।

देखि दूरि तेँ कहि निज नामू । कीन्ह मुनीसहि दंडप्रनामू ॥
जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा । भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥३॥

मुनिराज वशिष्ठजी को दूर ही से देख कर निषाद ने अपना नाम कह कर दंडवत प्रणाम किया। मुनीश्वर ने उसको रामचन्द्रजी का प्रेमी जान कर आशीर्वाद दिया और भरतजी को समझा कर कहा कि—यह रामसखा है ॥३॥

रामसखा सुनि स्यन्दन त्यागा । चले उतरि उमगत अनुरागा ॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई । कीन्ह जोहार माथ महि लाई ॥४॥

रामचन्द्रजी का मित्र सुन कर रथ त्याग दिया, उतर कर प्रेम में उमड़ते हुए चला। गुह ने अपना नाम, जाति और गाँव सुना कर धरती पर मस्तक रख प्रणाम किया ॥४॥

पहिले निषाद ने केवल अपना नाम कह कर गुरुजी को प्रणाम किया था। जब भरतजी उसकी ओर बढ़े तब उसे शङ्का हुई कि मैं अस्पृश्य जाति का नीच हूँ, कहीं भरतजी को धोखा न हो जाय जिससे पीछे मन में पश्चात्ताप हो। इस शङ्का के निवारणार्थ अपना नाम ग्राम और जाति बतला कर प्रणाम किया।

दो०—करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ॥१९३॥

उसको दंडवत करते देख कर भरतजी ने छाती से लगा लिया। प्रेम हृदय में समाता नहीं है, ऐसा मालूम होता है मानों लक्ष्मणजी से भेंट हुई हो॥१९३॥

चौ०—भेंटत भरत ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मङ्गल-मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥१॥

भरतजी उससे अत्यन्त प्रीति से मिलते हैं, लोग प्रेम की रीति की बड़ाई करते हैं। देवता मङ्गल-मूल शब्द धन्य धन्य कह कर उसकी सराहना करके फूल बरसाते हैं॥१॥

लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥
तेहि भरि अङ्क राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥२॥

जो लोक और वेद में सब तरह से नीच गिना जाता है, जिसकी परछाहीं छू जाने पर पानी से शरीर सींच लेना पड़ता है। उसको रामचन्द्रजी के लघु-बन्धु अँकवार भर पुलक से परिपूर्ण शरीर हो कर मिलते हैं॥२॥

राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप-पुञ्ज समुहाहीं॥
एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा॥३॥

जो राम राम कह कर जँभाई लेते हैं, पाप की राशि उनका सामना नहीं करती। इसको तो रामचन्द्रजी ने हृदय से लगा लिया जिससे इसने संसार में अपने कुल सहित (केवटमात्र) को पवित्र कर दिया॥३॥

करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥
उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥४॥

कर्मनाशा का पानी गङ्गाजी में पड़ता है, भला कहो—उसको कौन न सिर पर धरेगा? संसार जानता है कि उलटा नाम जपने से वाल्मीकिजी ब्रह्म के समान हो गये॥४॥

दो०—स्वपच सबर खस जमन जड़, पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन बिख्यात॥१९४॥

चाण्डाल; शबर; खस; म्लेच्छ; कोल, भील आदि मूर्ख नीच, राम कहते ही अत्यन्त पवित्र हुए, यह संसार में प्रसिद्ध है॥१९४॥

चौ०—नहिं अचरज जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई ॥
राम-नाम महिमा सुर कहहीं । सुनि सुनि अवध-लोग सुख लहहीं ॥१॥

यह आश्चर्य नहीं, युग युगान्तर (यह रीति) से चली आती है कि, रघुनाथजी ने किसको बड़ाई नहीं दी । इस तरह देवता लोग राम नाम की महिमा कहते हैं, उसको सुन सुन कर अयोध्या निवासी सुख पाते हैं ॥ १ ॥

रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा । पूछी कुसल सुमङ्गल खेमा ॥
देखि भरत कर सील-सनेहू । भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥ २ ॥

भरतजी प्रेम के साथ राम-सखा से मिल कर उसका कुशल-क्षेम और मङ्गल पूछा । भरतजी का शील-स्नेह देख कर निषाद उस समय विदेही हो गया अर्थात् उसको अपने शरीर की सुध भूल गई ॥ २ ॥

सकुच सनेह मोद मन बाढ़ा । भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा ॥
धरि धीरज पद बन्दि बहोरी । बिनय सप्रेम करत कर जोरी ॥३॥

उसके मन में लज्जा, स्नेह और आनन्द बढ़ा, टकटकी लगाये खड़ा होकर भरतजी को निहारता है। फिर धीरज धर कर चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर प्रेम से विनती करने लगा ॥ ३ ॥

निषाद के मन में लाज, प्रीति और हर्ष तीनों भाव साथ ही उदय हुए 'प्रथम समुच्चय अलंकार' हैं । लज्जा इस बात की कि रामचन्द्रजी के परम स्नेही भरतजी से मैं भ्रम में पड़ कर लड़ने को तैयार हो गया था । स्नेह-भरतजी के विशुद्ध आचरण को देख कर प्रेम में मग्न हो गया । मोद इस बात का कि अच्छा हुआ जो आकर मिला, नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ हो जाता जो सुधारे न सुधरता । इस बुड्ढे ने अच्छी सुझाई ।

कुसल-मूल पद-पङ्कज पेखी । मैं तिहुँ-काल कुसल निज लेखी ॥
अब प्रभु परम-अनुग्रह तोरे । सहित कोटि-कुल-मङ्गल मोरे ॥४॥

कुशल-मूल आप के चरण-कमलों को देख कर मैं ने तीनों काल में अपना कुशल समझ लिया है। हे स्वामिन् ! अब आप की अत्यन्त कृपा से मेरे यहाँ करोड़ों कुल सहित मङ्गल है ॥ ४ ॥

आपके दर्शन से बढ़ कर हमारे लिये दूसरा कुशल-मङ्गल क्या होगा ? यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है ।

दो०—समुझि मोरि करतूति कुल, प्रभु महिमा जिय जोइ ।
जो न भजइ रघुबीर-पद, जग बिधि बञ्चित सोइ ॥१९५॥

मेरी करनी और कुल को समझ कर एवम् प्रभु रामचन्द्रजी की महिमा को मन में विचार कर जो रघुनाथजी के चरणों की सेवा नहीं करते, वे संसार में विधाता द्वारा ठगे गये हैं अर्थात् उनके समान हतभाग्य कोई नहीं है ॥ १९५ ॥

चौ०-कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह आपन जबही तेँ। भयउँ भुवन-भूषन तबही तेँ॥१॥

मैं छली, कादर, कुबुद्धि और नीच-जाति लोक वेद से सब तरह बाहर हूँ, पर जब से रामचन्द्रजी ने अपना किया, तब से मैं जगत का भूषण (माननीय) हुआ हूँ॥१॥

अपनी हीनता अस्पृश्यता कह कर रामचन्द्रजी के अपनाने पर भुवन-भूषण होना वर्णन स्वामी का महान गौरव व्यञ्जित करने की ध्वनि है।

देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई। मिलेउ बहोरि लखन लघु भाई॥
कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी॥२॥

गुह की प्रीति को देख कर और उसकी सुहावनी बिनती सुन कर लक्ष्मणजी के छोटे भाई (शत्रुहनजी) फिर से मिले। निषाद ने सुन्दर वाणी से अपना नाम कह कर आदरपूर्वक सम्पूर्ण रानियों को प्रणाम किया॥२॥

जानि लखन सम देहिँ असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा॥
निरखि निषाद नगर-नर-नारी। भये सुखी जनु लखन निहारी॥३॥

लक्ष्मणजी के समान समझ कर आशीर्वाद देती हैं कि सौ लाख वर्ष तक सुख से जिओ। नगर के स्त्री-पुरुष निषाद को देख कर ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों लक्ष्मणजी को देख कर खुश हों॥३॥

कहहिँ लहेउ एहि जीवन-लाहू। भेँटेउ राम-भद्र भरि बाहू॥
सुनि निषाद निज-भाग बड़ाई। प्रमुदित मन लइ चलेउ लेवाई॥४॥

सब कहते हैं कि इसने जीने का लाभ पाया, कल्याण रूप रामचन्द्रजी से बाँह भर कर मिला है। निषाद अपने भाग्य की बड़ाई सुन कर प्रसन्न मन से लिवा ले चला॥४॥

इसने जीवन का लाभ पाया, इसका समर्थन हेतुसूचक बात कह कर करना कि कल्याण-स्वरूप रामचन्द्रजी से अङ्क भर मिला 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

दो०-सनकारे सेवक सकल, चले स्वामि रुख पाइ।
घर तरु-तर सर बाग बन, बास बनायन्हि जाइ॥१९६॥

गुह ने सम्पूर्ण सेवकों को सनकी (इशारे) से समझा दिया, वे स्वामी का रुख पा कर चले। घर, वृक्षों के नीचे, तालाबों के किनारे, बगीचे और बनों में जाकर ठहरने योग्य (बटोर बटार सफाई करके) बनाया॥१९६॥

निषाद पहले युद्ध के लिये सेवकों को तैयार कर चुका है, उसको छिपाने की इच्छा से उन्हें इशारे से समझा दिया कि युद्ध नहीं, मेहमानी करनी होगी। उसके सङ्केत को समझ कर सेवक गण तदनुसार कार्य में लग गये 'युक्ति अलंकार' है।

चौ०-सृङ्गबेर पुर भरत दीख जब। भे सनेह-बस अङ्ग सिथिल तब॥
सोहत दिये निषादहि लागू। जनु तनु धरे बिनय अनुरागू॥१॥

जब भरतजी ने शृङ्गवेरपुर को देखा, तब स्नेह के वश उनके अङ्ग शिथिल हो गये। निषाद

को लग दिये अर्थात् बगल में लिये हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों विनय और अनुराग शरीर धारण किये हों ॥१॥

निषाद और विनय, भरतजी और अनुराग परस्पर उपमेय उपमान हैं। विनय और अनुराग शरीरधारी नहीं होते, यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

एहि बिधि भरत सेन सब सङ्गा । दीख जाइ जग-पावनि गङ्गा ॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू । भा मन मगन मिले जनु रामू ॥२॥

इस प्रकार भरतजी सब सेना के साथ जाकर जगत को पवित्र करनेवाली गङ्गाजी को देखा। रामघाट को प्रणाम किया, उनका मन आनन्द में मग्न हो गया, ऐसा मालूम हुआ मानों रामचन्द्रजी मिले हों ॥२॥

करहिँ प्रनाम नगर नर-नारी । मुदित ब्रह्म-मय-बारि निहारी ॥
करि मज्जन माँगहिँ कर जोरी । रामचन्द्र-पद प्रीति न थोरी ॥३॥

नगर के स्त्री-पुरुष प्रणाम करते हैं और ब्रह्म-रूप जलको देख कर प्रसन्न होते हैं। स्नान कर के हाथ जोड़ कर वर माँगते है कि रामचन्द्रजी के चरणों में हमारी प्रीति कभी कम न हो ॥३॥

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू । सकल सुखद सेवक सुरधेनू ॥
जोरि पानि बर माँगउँ एहू । सीय-राम-पद सहज सनेहू ॥ ४ ॥

भरतजी ने कहा—हे गङ्गाजी ! तुम्हारी रेणुका सेवकों के लिये कामधेनु रूपिणी सम्पूर्ण सुखों को देनेवाली है। हाथ जोड़ कर यही वर माँगता हूँ कि सीताजी और रामचन्द्रजी के चरणों में स्वाभाविक स्नेह बना रहे ॥४॥

दो०-एहि बिधि मज्जन भरत करि, गुरु अनुसासन पाइ ।
मातु नहानी जानि सब, डेरा चले लेवाइ ॥ १९७ ॥

इस प्रकार भरतजी ने स्नान कर और यह जान कर कि सब माताएँ स्नान कर चुकीं, गुरुजी की आज्ञा पाकर डेरा को लिवा ले चले ॥१९७॥

चौ०-जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा । भरत सोध सब ही कर लीन्हा ॥
गुरु सेवा करि आयसु पाई । राम-मातु पहिँ गे दोउ भाई ॥१॥

जहाँ तहाँ लोगों ने डेरा किया, भरतजी ने सभी की खोज लिया कि सब सुबीते से ठहर गये हैं। गुरुजी की सेवा करके और उनकी आज्ञा पा कर दोनों भाई रामचन्द्रजी की माता-कौशल्याजी के पास गये ॥१॥

राजापुर की प्रति में और सभा की प्रति में 'सुर सेवा करि आयसु पाई' पाठ है। इस पाठ से आगे का 'आयुस पाई' निरर्थक हो जाता है। सभा की प्रति के टीकाकार ने अर्थ में

खींच तान कर वही बात कही है। यथा—"फिर देव-पूजा करके गुरूजी की आज्ञा पा कर दोनों भाई रामचन्द्रजी की माता के पास गये"। प्रसङ्ग तो यही पुकार रहा है कि गुरु-सेवा करने के बाद दोनों बन्धु मातु-सेवा करने को पधारे। इसी से हमने गुटका का पाठ प्रधान में रक्खा है।

चरन चाँपि कहि कहि मृदु बानी। जननी सकल भरत सनमानी ॥
भाइहि सौँपि मातु-सेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई ॥२॥

पाँव दबा कर और कोमल वाणी कह कह कर भरतजी ने सम्पूर्ण माताओं का सन्मान किया। भाई-शत्रुहनजी को माताओं की सेवकाई सौंप कर आप निषाद को बुला लिया ॥ २ ॥

चले सखा कर सौँ कर जोरे। सिथिल सरीर सनेह न थोरे।
पूछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ ॥३॥

मित्र के हाथ से हाथ मिलाये हुए चले, उनके अङ्ग अत्यन्त स्नेह से शिथिल हो गये हैं। मित्र से पूछते हैं कि वह स्थान दिखाओ जिसमें आँख और मन की जलन तनिक ठंढी हो ॥ ३ ॥

जहँ सिय-राम-लखन निसि सोये। कहत भरे जल लोचन कोये ॥
भरत बचन सुनि भयउ बिषादू। तुरत तहाँ लेइ गयउ निषादू ॥४॥

जहाँ सीताजी, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी रात में सोये थे, इतना कहते आँखों के कोनों में जल भर आया। भरतजी के वचन को सुन कर निषाद दुःखी हुआ और तुरन्त वहाँ ले गया ॥ ४ ॥

दो०—जहँ सिंसुपा पुनीत तरु, रघुबर किय बिस्राम।
अति सनेह सादर भरत, कीन्हेउ दंड प्रनाम ॥१९८॥

जहाँ पवित्र सीसम के वृक्ष के नीचे रघुनाथजी ने विश्राम किया था। भरतजी ने अदार के साथ अत्यन्त स्नेह से दण्डवत-प्रणाम किया ॥ १९८ ॥

चौ०—कुस साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥१॥

कुशा की सुहावनी सोनरी देखकर उसकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया। चरण-चिन्ह की धूलि आँखों में लगाई, प्रीति की अधिकता कहते नहीं बनती है ॥ १ ॥

कनकबिन्दु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥
सजल बिलोचन हृदय गलानी। कहत सखा सन बचन सुबानी ॥२॥

सीताजी के भूषणों से जो दो चार सुवर्ण के रवे गिरे थे, उन्हें देख कर जानकीजी के समान समझ कर सिर पर रख लिये। नेत्रों में जल भर आया और ग्लानि-पूर्ण हृदय से सुन्दर वाणी में सखा से वचन कहते हैं ॥ २ ॥

श्रीहत सीय-बिरह दुति-हीना । जथा अवध नर-नारि मलीना ॥
पिता जनक देउँ पटतर केही । करतल भोग जोग जग जेही ॥३॥

सीताजी के वियोग से ऐसे कान्ति-हीन हुए हैं, जैसे अयोध्या के स्त्री-पुरुष उदास हैं। पिता राजा जनक की बराबरी किसको दूँ, संसार में भोगविलास और योगाभ्यास जिनकी मुट्ठी में है ॥ ३ ॥

ससुर भानुकुल-भानु भुआलू । जेहि सिहात अमरावति-पालू ॥
प्राननाथ रघुनाथ गोसाँई । जो बड़ होत सो राम बड़ाई ॥४॥

जिनके ससुर सूर्य्यकुल के सूर्य राजा दशरथजी, जिनको इन्द्र सिहाते हैं। समर्थ रघुनाथजी जिनके प्राणेश्वर हैं; जो बड़ा होता है वह रामचन्द्रजी की दी हुई बड़ाई से होता है ॥ ४ ॥

दो०-पतिदेवता सुतीय मनि, सीय साथरी देखि ।
बिहरत हृदय न हहरि हर, पबि तें कठिन बसेखि ॥१९९॥

सुन्दर पतिव्रता स्त्रियों में रत्न रूपिणी सीताजी की गोनरी देख कर भी मेरा हृदय हहर कर फट नहीं जाता, या शङ्कर ! यह वज्र से भी बढ़ कर कठोर है ! ॥ १९९ ॥

चौ०-लालन जोग लखन लघु लोने । भे न भाइ अस अहहिं न होने ॥
पुरजन प्रिय पितु-मातु दुलारे । सिय-रघुबीरहि प्रान-पियारे ॥१॥

सुन्दर लघु बन्धु लक्ष्मण प्यार करने योग्य हैं, ऐसा भाई न हुआ न है और न आगे होनेवाला है। जो नगर-निवासियों के प्यारे, माता-पिता के दुलारे और सीताजी रघुनाथजी के प्राणप्यारे हैं ॥ १ ॥

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ । तात बाउ तन लाग न काऊ ॥
ते बन सहहिँ बिपति सब भाँती । निदरे कोटि कुलिस एहि छाती ॥२॥

कोमल शरीर सुकुमार स्वभाव जिनकी देह में कभी गरम हवा तक नहीं लगी। वे वन में सब तरह की विपत्तियों को सहते हैं, मेरी छाती करोड़ों वज्रों का निरादर करनेवाली है अर्थात् यह जान कर भी टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाती ॥२॥

राम जनमि जग कीन्ह उजागर । रूप-सील-सुख सब गुन सागर ॥
परिजन पुरजन गुरु पितु माता । राम सुभाउ सबहि सुख-दाता ॥३॥

रूप, शील, सुख और सब गुणों के समुद्र रामचन्द्रजी ने जन्म लेकर जगत को उँजेला किया। नगर निवासी, कुटुम्बी, गुरु पिता और माता सब के लिये रामचन्द्रजी का स्वभाव सुखदायी है ॥३॥

बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सादर कोटि कोटि सत सेखा। करि न सकहिं प्रभु-गुन-गन लेखा॥४॥

शत्रु भी रामचन्द्रजी की बड़ाई करते हैं, उनकी बोली, मिलनसारी और नम्रता मन को हर लेती है। सौ सौ करोड़ शेषनाग आदर-पूर्वक प्रभु रामचन्द्रजी के गुण समूह का लेखा करना चाहें तो भी वे नहीं कर सकते॥४॥

सभा की प्रति में 'सारद कोटि कोटि सत सेखा' पाठ है।

दो०—सुख सरूप रघुबंस-मनि, मङ्गल-मोद-निधान।
ते सोवत कुस डासि महि, बिधि गति अति बलवान॥२००॥

सुख के स्वरूप, मङ्गल और आनन्द के स्थान रघुकुल के रत्न रामचन्द्रजी हैं। वे कुश बिछा कर धरती पर सोते हैं! विधाता की गति बड़ी बलवान् है॥२००॥

जिनको रत्न-जटित पलँग पर सोना चाहिये वे ज़मीन पर सोते हैं 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है।

चौ०—राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन-तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
पलक नयन फनि-मनि जेहि भाँती। जोगवहिँ जननि सकल दिन राती॥१॥

रामचन्द्रजी ने दुःख कभी कान से नहीं सुना, राजा उनको जीवन-वृक्ष जैसे रक्षित रखते थे। जिस तरह पलक आँखों की और सर्प मणि की रखवाली करते हैं, उसी प्रकार दिन रात सम्पूर्ण माताएँ रक्षा करती थीं॥१॥

ते अब फिरत बिपिन पद-चारी। कन्द-मूल-फल-फूल अहारी॥
धिग कैकई अमङ्गल मूला। भइसि प्रान-प्रियतम प्रतिकूला॥२॥

वे अब पैदल वन में फिरते हैं और कन्द, मूल, फल, फूल भोजन करते हैं। अमङ्गलों की मूल केकयी को धिक्कार है, जो प्राण-प्यारे के विपरीत हुई॥२॥

मैं धिग धिग अघ-उदधि अभागी। सब उतपात भयहु जेहि लागी॥
कुल-कलङ्क करि सृजेउ बिधाता। साँइ-दोह मोहि कीन्ह कुमाता॥३॥

मैं पाप का समुद्र और अभागा हूँ, मुझ को बार बार धिक्कार है कि जिसके कारण यह सब उत्पात हुआ। ब्रह्मा ने मुझे कुल का कलङ्क बना कर पैदा किया और कुमाता-केकयी ने स्वामिद्रोही बनाया॥३॥

सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिय कत बादि बिषादू॥
राम तुम्हहिँ प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिँ। यह निरजोस दोस बिधि बामहिँ॥४॥

सुन कर प्रेम से निषाद समझाता है—हे नाथ! व्यर्थ विषाद काहे को कर रहे हो? रामचन्द्रजी आप को प्रिय हैं और आप रामचन्द्रजी को प्यारे हैं यह निश्चय है, दोष तो विधाता की टेढ़ाई का है॥४॥

अन्तिम चरण में कवि इच्छित अर्थ के अतिरिक्त शब्दों की गम्भीर गठन के कारण एक दूसरा अर्थ भी भासित होता है, क्योंकि 'विधि बामहिं' शब्द श्लिष्ट है। यह निश्चय है कि दोष ब्रह्मा की स्त्री सरस्वती का 'समासोक्ति अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द ।

बिधि बाम की करनी कठिन जेहि, मातु कीन्ही बावरी ।
तेहि राति पुनि पुनि करहिँ प्रभु, सादर सरहना रावरी ॥
तुलसी न तुम्ह सोँ राम प्रीतम, कहत हैाँ सैाहैँ किये ।
परिनाम मङ्गल जानि अपने, आनिये धीरज हिये ॥८॥

यह विधाता के भार्य्या की कठोर करतूत है जिसने माता (केकयी) को पगली बना दिया। उस रात प्रभु रामचन्द्रजी बार बार आदर के साथ आप की प्रशंसा करते थे। तुलसीदासजी कहते हैं कि आप के समान रामचन्द्रजी को कोई प्यारा नहीं है, इस बात को मैं सौगन्द करके कहता हूँ, परिणाम मङ्गल-मय जान कर अपने हृदय में धीरज लाइये ॥८॥

सो०-अन्तरजामी राम, सकुच सप्रेम कृपायतन ।
चलिय करिय बिस्राम, यह बिचार दृढ़ आनि मन ॥२०१॥

रामचन्द्रजी अन्तर्यामी, सङ्कोची, प्रेमी और कृपा के स्थान हैं। ऐसा दृढ़ विचार मन में ला कर चलिये विश्राम कीजिये ॥२०१॥

'अन्तार्यामी, संकोची, प्रेमी और दयानिकेत' सभी संज्ञायें साभिप्राय हैं। अन्तः कारण की बात जाननेवाले से कोई बात छिपी नहीं रह सकती। सङ्कोची-कभी शील को छोड़ नहीं सकते। प्रेमी हैं, इससे प्रीति भूल नहीं सकते। दया के स्थान हैं, तो अवश्य ही दया करेंगे।

चौ०-सखा बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा ॥
यह सुधि पाइ नगर नर-नारी। चले बिलोकन आरत भारी ॥१॥

मित्र के वचन सुन कर हृदय में धीर धारण कर रघुनाथजी का स्मरण करते हुए डेरे की ओर चले। यह ख़बर पा कर नगर के स्त्री-पुरुष बड़ी आतुरता से देखने चले ॥१॥

परदछिना करि करहिँ प्रनामा। देहिँ कैकइहि खोरि निकामा ॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीँ। बाम बिधातहि दूषन देहीँ ॥२॥

प्रदक्षिणा करके प्रणाम करते हैं और केकयी को अत्यन्त दोष देते हैं। आँखों में आँसू भर भर कर ब्रह्मा की प्रतिकूलता पर दूषण देते हैं ॥२॥

एक सराहहिँ भरत सनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू ॥
निन्दहिँ आपु सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि ॥३॥

कोई भरतजी के स्नेह की बड़ाई करते हैं, कोई कहते हैं राजा ने स्नेह को निबाहा।

कोई निषाद की प्रशंसा करके अपनी निन्दा करते हैं, उस समय के मोह और विषाद को कौन कह सकता है? (कोई नहीं) ॥३॥

एहि बिधि राति लोग सब जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा॥
गुरुहिं सुनाव चढ़ाइ सुहाई। नई नाव सब मातु चढ़ाई॥४॥

इस तरह सब लोग रात में जगे, सबेरा होने पर पार उतरने का काम लगा। गुरुजी को सुन्दर नाव पर चढ़ा कर सब माताओं को अच्छी नवीन नौका पर सवार कराया ॥४॥

दंड चारि महँ भा सब पारा। उतरि भरत तब सबहि सँभारा॥५॥

चार घड़ी में सब पार हो गये, तब नाव से उतर कर भरतजी ने सभी का सँभाल किया अर्थात् कोई छूट तो नहीं गया है ॥५॥

दो०-प्रातक्रिया करि मातु-पद, बन्दि गुरुहिं सिर नाइ।
आगे किये निषाद-गन, दीन्हेउ कटक चलाइ॥२०२॥

प्रातःकर्म करके माताओं के चरणों का वन्दन कर गुरुजी को मस्तक नवा निषादों को आगे करके सेना को चला दिया ॥२०२॥

निषाद-गण पथ-दर्शक रूप में आगे किये गये।

चौ०-कियेउ निषादनाथ अगुआई। मातु पालकी सकल चलाई॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवन गुरु कीन्हा॥१॥

निषाद राज ने अगुआई किया, सम्पूर्ण माताओं की पालकियाँ चलवाईं। छोटे भाई शत्रुहनजी को बुला कर साथ में कर दिया, ब्राह्मणों के सहित गुरुजी ने गमन किया ॥१॥

आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लखन सहित सिय-रामू॥
गवने भरत पयादेहि पाये। कोतल सङ्ग जाहिँ डोरि आये॥२॥

आप गङ्गाजी को प्रणाम किया; लक्ष्मणजी के सहित सीताजी और रामचन्द्रजी का स्मरण कर भरतजी पाँव से पैदल ही चले। सजे सजाये घोड़े साथ में बागडोरी लगाये सेवक-गण ख़ाली लिये जाते हैं ॥२॥

कहहिँ सुसेवक बारहिँ बारा। होइय नाथ अस्व असवारा॥
राम पयादेहि-पाय सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये॥३॥

अच्छे सेवक बार बार कहते हैं, हे नाथ! घोड़े पर सवार हो लीजिये। भरतजी उत्तर देते हैं कि—रामचन्द्रजी (इसी मार्ग में) उबेने पाँव पैदल गये हैं और हमारे लिये रथ, हाथी, घोड़े बने हैं? ॥३॥

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तेँ सेवक-धरम कठोरा॥
देखि भरत-गति सुनि मृदु बानी। सब सेवक-गन गरहिँ गलानी॥४॥

मुझे तो ऐसा उचित है (जिस रास्ते में स्वामी पैदल गये हैं उसमें) सिर के बल जाऊँ,

सेवक का धर्म सब से कठिन है। भरतजी की दशा देख कर और उनकी कोमल वाणी सुन कर सब सेवक-गण ग्लानि से गले जाते हैं ॥४॥

भरतजी ने सेवकों से नहीं कहा, कि तुम भी जूते उतार डालो। परन्तु उनकी किया मात्र से सेवकों को मनस्ताप होना कि राजकुमार उवेने पाँव पैदल चलें और हम लोग जूते पहन, मुझे धिक्कार है। यह लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्यध्वनि है।

दो०—भरत तीसरे पहर कहँ, कीन्ह प्रवेस प्रयाग।
कहत रामसिय रामसिय, उमगि उमगि अनुराग ॥ २०३ ॥

भरतजी तीसरे पहर को प्रयाग में प्रवेश किया। प्रेम में उमड़ उमड़ कर सीताराम सीताराम कहते जाते हैं ॥२०३॥

चौ०—झलका झलकत पायन्ह कैसे। पङ्कज-कोस ओस-कन जैसे।
भरत पयादेहि आये आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू ॥१॥

भरतजी के पाँवों में फफोले कैसे झलकते हैं, जैसे कमल के सम्पुट में ओस की बूँदे हों। आज भरतजी पैदल आये, यह सुनकर सारा समाज दुखी हुआ ॥१॥

भरतजी के कष्ट को विचार कर और अपनी भूल समझ कर सारा समाज दुखी हुआ कि जिस मार्ग में रामचन्द्रजी पैदल गये हैं, उस में हम लोग सवारियों में बैठ कर आये; बड़ी भूल हुई। यहाँ भी अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।

खबरि लीन्ह सब लोग नहाये। कीन्ह प्रनाम त्रिबेनिहि आये ॥
सबिधि सितासित-नीर नहाने। दिये दान महिसुर सनमाने ॥ २ ॥

सब लोगों के स्नान करने का पता भरतजी ने लिया, फिर आप त्रिवेणी तट पर आये और प्रणाम किया। विधि-पूर्वक गङ्गा-यमुना के जल में स्नान किया और ब्राह्मणों का सत्कार कर दान दिया ॥२॥

देखत स्यामल-धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत करजोरे ॥
सकल काम-प्रद तीरथराऊ। बेद-बिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥ ३ ॥

श्यामल-यमुनाजी की और सफेद-गंगाजी की लहरों को देख कर पुलकित शरीर से भरतजी हाथ जोड़ कर बोले। हे तीर्थराज! सम्पूर्ण कामनाओं के देनेवाले हैं आप की महिमा वेदों में विख्यात और संसार में प्रसिद्ध है ॥३॥

माँगउँ भीख त्यागि निज-धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिँ जग जाचक बानी ॥४॥

मैं अपने धर्म को त्याग कर भीख माँगता हूँ, दुखी मनुष्य कौन सा कुकर्म नहीं करते। ऐसा मन में समझ कर अच्छे चतुर दानी संसार में मङ्गनों की वाणी को सफल करते हैं ॥४॥

अनन्य भक्त को अपने इष्टदेव के सिवा दूसरे से याचना करना अधर्म समझ कर भरतजी अपना धर्म त्यागना कहते हैं। पुनः मङ्गनता क्षत्रिय-धर्म के विरुद्ध है। इसी से उसको कुकर्म कहा है।

दो०—अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम-पद, यह बरदान न आन॥ २०४॥

न अर्थ, न धर्म, न काम की इच्छा है और न मोक्ष ही चाहता हूँ। जन्म जन्म रामचन्द्रजी के चरणों में मेरी प्रीति हो, इस वरदान के सिवा दूसरा कुछ मुझे न चाहिये॥२०४॥

चौ०—जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु-साहिब-द्रोही॥
सीता-राम-चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥ १॥

रामचन्द्र मुझ को कुटिल ही कर के जानें और लोग गुरु एवम् स्वामी का द्रोही कहें। पर आपकी कृपा से दिन दिन मेरे मन में सीताजी रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम बढ़े॥१॥

जलद जनम-भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पबि पाहन डारउ॥
चातक-रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥ २॥

मेघ जन्म भर सुध भुला दे और जल माँगते हुए वज्र तथा पत्थर बरसावे। परन्तु चातक की रटनि घटने से उसकी मर्यादा घट जायगी, उसकी सब तरह भलाई प्रेम बढ़ने ही में है॥२॥

यहाँ एकाङ्गी प्रीति वर्णन है, स्वामी कुटिल ही समझें और लोग गुरु-स्वामिद्रोही कहें पर मेरी प्रीति स्वामी के चरणों में बढ़े। इसका दृष्टान्त बादल और पपीहा से देते हैं कि मेघ चाहे जितनी निष्ठुरता करे किन्तु चातक की प्रशंसा अपनी टेक न त्यागने ही में है।

कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद नेम निबाहे॥
भरत बचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदु-बानि सुमङ्गल देनी॥ ३॥

जैसे तपाने पर सोने में कान्ति चढ़ती है, तैसे ही स्वामी के चरणों में नेम निबाहने से सेवक की बड़ाई होती है। भरतजी के वचनों को सुन कर त्रिवेणी के मध्य (जल धारा) से सुन्दर मङ्गल देनेवाली कोमल वाणी हुई॥३॥

जल के जिह्वा नहीं जो बोल सके, बिना जीभ रूपी आधार के सुन्दर वाणी का रञ्जित होना 'प्रथम विशेष अलंकार है'।

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। रामचरन अनुराग अगाधू॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहिँ कोउ प्रिय नाहीं॥४॥

हे प्रिय भरत! तुम सब तरह से साधु हो और रामचन्द्रजी के चरणों में तुम्हारा अथाह प्रेम है। व्यर्थ ही मन में ग्लानि करते हो, तुम्हारे समान रामचन्द्रजी को कोई प्रिय नहीं है॥४॥

दो०—तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि, बेनि बचन अनुकूल ।
भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहिँ फूल ॥२०५॥

त्रिवेणी के अनुकूल वचन सुन कर भरतजी का शरीर पुलकित हो आया और मन में प्रसन्न हुए। देवता भरतजी को धन्य धन्य कह आनन्दित होकर फूल बरसाते हैं ॥२०५॥

देवताओं को सन्देह था कि भरतजी हम लोगों का अनिष्ट करने जाते हैं, परन्तु निष्काम वर माँगने से वह शङ्का जाती रही। तब धन्य धन्य कह कर फूल बरसाने लगे।

चौ०—प्रमुदित तीरथराज-निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी ॥
कहहिँ परस्पर मिलि दस पाँचा। भरत सनेह सील सुचि साँचा ॥१॥

तीर्थराज में रहनेवाले वाणप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और सन्यासी चारों आश्रम के लोग दस पाँच आपस में मिल कर कहते हैं कि भरतजी का स्नेह पवित्र और शील सच्चा है ॥१॥

सुनत राम गुनग्राम सुहाये। भरद्वाज मुनिवर पहिँ आये ॥
दंड प्रनाम करत मुनि देखे। मूरतिवन्त भाग्य निज लेखे ॥२॥

रामचन्द्रजी के सुहावने गुण-समूह सुनते हुए मुनिवर भरद्वाजजी के पास आये। मुनि ने भरतजी को दण्डवत-प्रणाम करते देखा, उन्हें अपना मूर्त्तिमान सौभाग्य समझा ॥२॥

शङ्का—प्रयाग-निवासी तो भरतजी के शील-स्नेह की प्रशंसा करते थे, फिर भरतजी ने राम-गुण-ग्राम कैसे सुना? । उत्तर—रामचन्द्रजी में शुद्ध प्रेम होने ही से लोग बड़ाई करते हैं, इसको भरतजी स्वामी की प्रशंसा मानते हैं; अपनी नहीं।

धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे ॥
आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे ॥३॥

भरद्वाजजी ने दौड़ कर भरतजी को उठा कर हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दे कृतार्थ किया। आसन दिया; भरतजी नीचे सिर करके बैठ गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों भाग कर लाज के घर में पैठना चाहते हों ॥३॥

लाज का घर नहीं होता जिसमें कोई घुस सके। यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

मुनि पूछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सील सँकोचू ॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई ॥४॥

भरतजी को यह बड़ा सोच हुआ कि मुनिजी कुछ पूछेंगे, (तब मैं क्या उत्तर दूँगा?) इस शील सङ्कोच को लख कर ऋषि बोले। हे भरत! सुनिये, हम सब ख़बर पा चुके हैं, विधाता की करनी पर कुछ वश नहीं, वह अनिवार्य्य है ॥४॥

भरथजी ने प्रत्यक्ष में कुछ कहा नहीं, लज्जा से सिर नीचे करके आसन पर बैठ गये और सोचने लगे कि मुनिजी कुछ पूछेंगे, तब मैं क्या कहूँगा? मुनिजी इस छिपे वृत्त को समझ गये

और विधि की करनी पर ढार कर उन्हें समझाने लगे। यह कल्पित प्रश्न का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

दो०—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातु करतूति ।
तात कैकइहि दोष नहिँ, गई गिरा मति धूति ॥२०६॥

माता की करनी को समझ कर आप मन में ग्लानि मत करो। हे तात! केकयी का दोष नहीं, उसकी बुद्धि सरस्वती द्वारा ठगी गई ॥२०६॥

केकयी के दोष का निषेध मुनिजी इसलिये करते हैं कि उसका धर्म सरस्वती में आरोपित करना अभीष्ट है, उसी ने केकयी की मति को ठग लिया 'पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

चौ०—यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ । लोक-बेद बुध सम्मत दोऊ ॥
तात तुम्हार बिमल-जस गाई । पाइहि लोकहु-बेद बड़ाई ॥१॥

यह कहने में भी कोई अच्छा न कहेगा, क्योंकि लोक और वेद दोनों की बातें पंडितों को मान्य होती हैं। हे तात! आप का निर्मल यश गान करके लोक और वेद बड़ाई पावेंगे ॥१॥

लोक बेद सम्मत सब कहई । जेहि पितु देइ राज सो लहई ॥
राउ सत्य-ब्रत तुम्हहिँ बोलाई । देत राज-सुख धरम बड़ाई ॥ २ ॥

लोक और वेद की सम्मति को सब कहते हैं कि जिसको पिता दे वही राज्य पाता है। राजा सत्यव्रती थे, (जो वर दिया उसके अनुसार) तुम्हें बुला कर राज्य-सुख देते थे, यह उनके धर्म की प्रशंसा है ॥२॥

राम-गवन-बन अनरथ-मूला । जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥
सो भावी-बस रानि अयानी । करि कुचाल अन्तहु पछितानी ॥३॥

रामचन्द्रजी का वन-गमन अनर्थ का मूल हुआ जो सुन कर सारे संसार को पीड़ा हुई। वह होनहार के वश रानी-केकयी ने मूर्खता की, कुचाल करके अन्त को पछताई ॥३॥

तहउँ तुम्हार अलप अपराधू । कहइ सो अधम अयान असाधू ॥
करतेहु राज त तुम्हहिँ न दोसू । रामहिँ होत सुनत सन्तोसू ॥४॥

वहाँ भी जो तुम्हारा थोड़ा अपराध कहे, वह नीच, मूर्ख और दुष्ट है। यदि राज्य करते तो तुम्हें दोष नहीं था और यह सुन कर रामचन्द्रजी को संतोष होता ॥४॥

दो०—अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहिँ उचित मत एहु ।
सकल सुमङ्गल-मूल जग, रघुबर चरन सनेहु ॥ २०७ ॥

हे भरत! अब आपने बहुत अच्छा किया, आपको यही मत उचित है। रघुनाथजी के चरणों का स्नेह संसार में सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों का मूल है ॥२०७॥

चौ०—सो तुम्हार धन जीवन प्राना। भूरि-भाग को तुम्हहिँ समाना॥
यह तुम्हार आचरज न ताता। दसरथ-सुअन राम-प्रिय-भ्राता॥१॥

वह (राम-चरणानुराग) आप का जीवन-धन और प्राण है. आप के समान बड़ा भाग्य-वान कौन है? हे तात! आप के लिये यह आश्चर्य्य नहीं है, क्योंकि आप दशरथजी के पुत्र और रामचन्द्रजी के प्यारे बन्धु हैं॥१॥

सुनहु भरत रघुबर मन माहीँ। प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीँ॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिँ सराहत बीती॥२॥

हे भरत! सुनो, रघुनाथजी के मन में आपके समान प्रेम का भाजन दूसरा कोई नहीं है। लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और सीताजी को अत्यन्त प्रीति से सारी रात आपही की सराहना करते बीती॥२॥

जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिँ तुम्हरे अनुरागा॥
तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुखजीवन जग जस जड़ नर के॥३॥

प्रयागराज में स्नान करते समय, मैं ने इस भेद को जाना कि आप के प्रेम में मग्न हो रहे थे। रघुनाथजी का स्नेह आप पर ऐसा है, जैसे संसार में मूर्ख मनुष्य को सुख से जीवन प्रिय है॥३॥

नहात प्रयागा में कोई कोई 'भरत खंडे' सङ्कल्प में भरतजी का नाम सुन कर प्रसन्न होना कहते हैं। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि दुःख का जीवन ज्ञानी अज्ञानी मूर्ख विद्वान किसी को प्रिय नहीं, फिर ऐसा उदाहरण क्यों दिया? । उत्तर—ज्ञानी सुख और दुःख में हर्ष विषाद नहीं मानते। मूर्ख सुख में सुखी और दुःख में दुखी होते हैं। इसी से वह सुख की चाहना करता है; किन्तु ज्ञानी किसी की चाहना वा उपेक्षा नहीं करते। बस यही दोनों में अन्तर है।

यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत-कुटुम्ब-पाल रघुराई॥
तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम-सनेहू॥४॥

रघुनाथजी की यह अधिक बड़ाई नहीं है, क्योंकि वे शरणागतों के कुटुम्ब के पालक हैं। हे भरत! मेरा यह सिद्धान्त है कि आप तो ऐसे मालूम होते हैं मानों शरीर धारण किये हुए रामचन्द्रजी के स्नेह हों॥४॥

स्नेह शरीरधारी नहीं होता, यह मुनि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—तुम्ह कहँ भरत कलङ्क यह, हम सब कहँ उपदेस।
रामभगति-रस सिद्धि-हित, भा यह समउ गनेस॥२०८॥

हे भरत! आप को यह कलङ्क हम सब को उपदेश है। रामचन्द्रजी की भक्ति का आनन्द वाञ्छित-लाभ के लिये यह समय ही श्रीगणेश हुआ है॥२०८॥

व्यङ्गार्थ से यह प्रकट होता कि जब आपने रामचन्द्रजी की भक्ति के लिये इतने बड़े राज्य-सुख को पा कर तिनके की भाँति त्याग दिया, तब हम सब ब्राह्मण तपस्वियों को इस अनुपम वैराग्य ने ईश्वर की ओर लगने का शुभ-उपदेश देनेवाला है। यह समय रामभक्ति प्राप्ति के लिये श्रीगणेश (प्रारम्भकाल) है। आप के इस आचरण से रामानुरागी होने के लिये हम लोगों को शिक्षा मिल रही है।

चौ०—नव-बिधु-बिमल तात जस तोरा। रघुबर-किङ्कर-कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥१॥

हे तात! आप का निर्मल यश नवीन चन्द्रमारूप है और रघुनाथ जी के दास कुमुद-पुष्प तथा चकोर हैं। वह कभी अस्त न होगा और न घटेगा, संसार रूपी आकाश में दिन दिन दूनी वृद्धि के साथ सदा उदय रहेगा ॥१॥

भरतजी का यश-उपमेय और चन्द्रमा-उपमान है। उपमेय में उपमान से अधिक गुण दिखा कर एकरूपता स्थापित करना 'अधिकअभेदरूपक अलंकार' है। चन्द्रमा नित्य नये नहीं रहते; कलङ्कयुक्त हैं, सदा उदय नहीं अस्त होते और घटते बढ़ते रहते वो आकाशचारी हैं। यश रूपी चद्रमा में अधिकता यह है कि वह रोज़ नया, निर्मल सदा उदय; कभी अस्त नहीं होता, संसार रूपी आकाश का विहारी है। चन्द्रमा से कुमुद चकोर प्रेम करते हैं, यहाँ यश रूपी चन्द्रमा के रघुवर-भक्त कुमुद-चकोर हैं।

कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं। प्रभु प्रताप-रबिछबिहि न हरिहीं॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥२॥

(मुक्त, मुमुक्षु, विषयी) तीनों प्रकार के लोग चकवापक्षी रूपी अत्यन्त प्रीति करेंगे, प्रभु रामचन्द्रजी का प्रताप रूपी सूर्य्य इसकी शोभा (प्रकाश) को न हरेगा। रात्रि दिन सब को सदा सुखदायक होगा, केकई का कर्त्तव्य रूपी राहु नहीं ग्रसेगा ॥२॥

चन्द्रमा से चकवा प्रेम नहीं करता, सूर्य्य उसके प्रकाश को हर लेते हैं, चन्द्रमा रात दिन सब को सुखदायी नहीं होते और राहु ग्रसता है। परन्तु यश रूपी चन्द्रमा के गुण इसके बिपरीत अधिकत्व पूर्ण हैं।

पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुरु-अपमान दोष नहिँ दूषा॥
रामभगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥३॥

रामचन्द्रजी के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत से भरपूर है, इसको गुरुके अपमान का दोष कलङ्कित नहीं कर सका। हे रामभक्तो! अब अमृत से अघाते जाओ, भरतजी ने यह अमृत पृथ्वी-तल पर मिलने योग्य किया है ॥३॥

चन्द्रमा में अमृत है, यश रूपी चन्द्रमा में रामचन्द्रजी का सुन्दर प्रेम अमृत है। चन्द्रमा में गुरु के अपमान का दूषण है किन्तु भरतजी ने गुरु की बात नहीँ मानी, तो भी यशरूपी चन्द्रमा कलङ्कित नहीं हुआ। चन्द्रमा आकाश में टँगा है, उसमें अमृत सुना जाता है और यश रूपी चन्द्रमा का अमृत वसुधातल पर सुलभ है। सभी अधिकत्व दिखाने का भाव है।

भूप भगीरथ सुरसरि आनी । सुमिरत सकल सुमङ्गल-खानी ॥
दसरथ-गुन-गन बरनि न जाहीं । अधिक कहा जेहि सम जगनाहीं ॥४॥

राजाभागीरथ गङ्गाजी को ले आये, जिनका स्मरण सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों की खानि है। दशरथजी के गुण वर्णन नहीं किये जा सकते, बढ़ कर तो क्या ? जिनके समान संसार में कोई नहीं है ॥४॥

दो०—जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आइ ।
जे हर-हिय-नयननि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ ॥२०९॥

जिनके स्नेह और संकोच वश रामचन्द्रजी आकर धरती पर प्रकट हुए, जिन्हें हृदय की आँखों से निरख कर शिवजी कभी अघाते नहीं ॥२०६॥

चौ०—कीरति-बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा । जहँ बस राम-प्रेम मृग-रूपा ॥
तात गलानि करहु जिय जाये । डरहु दरिद्रहि पारस पाये ॥१॥

आपने कीर्त्ति रूपी अनुपम चन्द्रमा प्रकट किया, जहाँ रामचन्द्रजी का प्रेम रूपी मृग निवास करता है। हे तात! अपने मन में व्यर्थ ही ग्लानि करते हो, पारस-पत्थर पा कर दरिद्र से डरते हो ॥१॥

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं । उदासीन तापस बन रहहीं ॥
सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसन पावा ॥२॥

हे भरत! सुनिये, हम झूठ नहीं कहते, क्योंकि उदासीनभाव, तपस्वी और वन में रहते हैं। सब साधनों का सुन्दर सुहावना फल रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी का दर्शन पाना है ॥२॥

झूठ न कहने का कारण एक उदासीन भाव ही पर्याप्त है, तिस पर तपस्वी, वनबासी आदि अन्य प्रबल हेतुओं का वर्तमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा । सहित प्रयाग सुभाग हमारा ॥
भरत धन्य तुम्ह जग जस जयऊ । कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ ॥३॥

उस फल का फल आप का दर्शन है, प्रयाग के सहित हमारा सौभाग्य है। हे भरत! आप धन्य हैं जो संसार में ऐसा निर्मल यश उत्पन्न किया, यह कह कर मुनि प्रेम में मग्न हो गये ॥ ३ ॥

सुनि मुनि बचन सभासद हरषे । साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥
धन्य धन्य धुनि गगन प्रयागा । सुनि सुनि भरत मगन अनुरागा ॥४॥

मुनि के वचन सुन कर सभा के लोग हर्षित हुए और देवता सत्य सत्य कह कर बड़ाई करके फूल बरसाते हैं। आकाश और प्रयाग में धन्य धन्य का शब्द भर गया, सुन सुन कर भरतजी प्रेम में मग्न हो रहे हैं ॥४॥

दो०—पुलक-गात हिय-रामसिय, सजल सरोरुह नयन ।
करि प्रनाम मुनि मंडलिहि, बोले गदगद बयन ॥ २१० ॥

भरतजी का शरीर पुलकित हो गया, उनके हृदय में रामचन्द्रजी और सीताजी विराजमान हैं, कमल नेत्रों में आँसू भरा है । मुनि-मण्डली को प्रणाम करके अत्यन्त प्रेम-पूर्ण वचन बोले ॥२१०॥

चौ०-मुनि समाज अरु तीरथराजू । साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू ॥
एहि थल जौं किछु कहिय बनाई । एहि सम अधिक न अघ अधमाई ॥१॥

मुनि-मण्डली और तीर्थराज के बीच सच्ची सौगन्द खाने से भरपूर हानि होती है । इस स्थान में यदि कुछ बना कर कहा जाय तो इसके समान अधिक पाप और नीचता नहीं है ॥ १ ॥

झूठ न बोलने के योग्य एक मुनि-मण्डली के बीच में कहना काफ़ी है, तिस पर तीर्थराज में, अन्य प्रबल हेतु का वर्तमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है ।

तुम्ह सर्बज्ञ कहउँ सतिभाऊ । उर-अन्तरजामी रघुराऊ ॥
मोहि न मातु करतब कर सोचू । नहिँ दुख जिय जग जानहि पोचू ॥२॥

सत्य कहता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं और रघुनाथजी हृदय की बात जाननेवाले हैं । मुझे माता के कर्त्तव्य का सोच नहीं है और न इसी बात का मन में दुःख है कि संसार नीच समझेगा ॥२॥

'सर्वज्ञ और उर-अन्तर्य्यामी' संज्ञायें साभिप्राय हैं, क्योंकि सर्वज्ञ ही सत्य-झूठ जानने में समर्थ और उर अन्तर्यामी ही हृदय की बात जानने में समर्थ हो सकता है ।

'जग' जड़ है उसको समझने की शक्ति नहीं है । परन्तु बोलचाल में ऐसा कथन प्रसिद्ध है, यह उपादान लक्षणा है जिससे जगत के लोगों का बोध होता है ।

नाहिँ न डर बिगरिहि परलोकू । पितहु मरन कर मोहि न सोकू ॥
सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाये । लछिमन राम सरिस सुत पाये ॥३॥

परलोक के बिगड़ने का डर नहीं है और पिता के मरने का भी मुझे शोक नहीं है । उनका सुन्दर पुण्य और सुहावना यश भूमण्डल में छाया है, जो लक्ष्मण और रामचन्द्रजी के समान पुत्र पाये ॥ ३ ॥

राम-बिरह तजि तनु छनभङ्गू । भूप सोच कर कवन प्रसङ्गू ॥
राम-लखन-सिय बिनु पग पनहीँ । करि मुनि बेष फिरहिँ बन बनहीँ ॥४॥

क्षणभङ्गी शरीर को रामचन्द्रजी के बियोग में तज दिया, फिर राजा के लिये सोच की कौन सी बात है । रामचन्द्र, लक्ष्मणजी और सीताजी मुनि का वेश बना कर पाँव में विना पनहीं के जङ्गल जङ्गल फिरते हैं ॥ ४ ॥

दो०—अजिन-बसन फल-असन महि,—सयन डासि कुस पात ।
बसि तरु-तर नित सहत हिम, आतप बरषा बात ॥ २११ ॥

छाल के वस्त्र पहनते, फल खाते और धरती पर कुश-पात बिछा कर सोते हैं। नित्य वृक्ष के नीचे रह कर जाड़ा, घाम, वर्षा और लू सहते हैं ॥ २११ ॥

चौ०—एहि दुख दाह दहइ दिन छाती । भूख न बासर नींद न राती ॥
एहि कुरोग कर औषध नाहीं । सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं ॥१॥

इस दुःख के जलन से नित्य मेरी छाती जलती है, न दिन में भूख और न रात में नींद लगती है। इस कुरोग की औषधि नहीं है, मैं ने अपने मन में सारे ब्रह्माण्ड को ढूँढ़ डाला ॥ १ ॥

मातु कुमत बढ़ई अघ-मूला । तेहि हमार हित कीन्ह बसूला ॥
कलि-कुकाठ कर कीन्ह कुजन्त्रू । गाड़ि अवध पढ़ि कठिन कुमन्त्रू ॥२॥

माता का कुमत पाप का मूल बढ़ई है उस ने हमारे हित को बसुला बनाया। कलह रूपी बुरे काठ का निषिद्ध यन्त्र निर्माण कर और कठिन कुमन्त्र पढ़ कर अयोध्यापुरी में गाड़ दिया ॥२॥

माता केकयी की कुमन्त्रणा पर पाप-मूल बढ़ई का आरोप, अपने हित पर बसुला का आरोप, कलह पर बबुर बहेड़ा आदि बुरे काठ का आरोप, रामचन्द्रजी के वनवास पर कठिन कुमन्त्र का आरोपण इस लिये किया कि बढ़ई कुकाठ को बसुले से छील कर यन्त्र (पटरी) बनता है और तान्त्रिक उस को आमन्त्रित कर के अनिष्ट साधन की इच्छा से जिस गाँव या घर में गाड़ देता है वहाँ भीषण उत्पात मच जाता है। यह समअभेद का ढङ्ग लिये हुए 'परम्परित रूपक अलंकार' है ।

मोहि लगि यह कुठाट तेहि ठाटा । घालेसि सब जग बारहबाटा ॥
मिटइ कुजोग राम फिरि आये । बसइ अवध नहिँ आन उपाये ॥३॥

मेरे लिये यह निन्दित प्रबन्ध उसने रचा, जिसने सब संसार को तहस-नहस करके नष्ट किया। यह कुयोग तो रामचन्द्रजी के लौटने से ही मिटेगा, दूसरे उपायों से अयोध्या नहीं बस सकती ॥३॥

यद्यपि 'बारहबाटा' शब्द का तहस-नहस वा छिन्नभिन्न अर्थ है; परन्तु कुछ विद्वानों ने बारह की संख्या गिनायी है। यथा—"मोहो दैन्यं भयं हासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो व्यथाऽकीर्तिर्वाटाह्यते हि द्वादश। सोरठा-दैन्य मोह भय हास, छुधा छोभ पीड़ा मरन। हानि गलानि पियास, अपजस बारहबाट ये ॥" इसका उदाहरण राजा, रानी, मन्त्री और नगर निवासियों में जगह जगह मिलेगा ।

भरत बचन सुन मुनि सुख पाई । सबहि कीन्हि बहु भाँति बड़ाई ।
तात करहु जनि सोच बिसेखी । सब दुख मिटिहि राम-पग देखी ॥४॥

भरतजी के वचनों को सुन कर मुनि प्रसन्न हुए और सभी ने बहुत तरह से बड़ाई की।

भरद्वाज मुनि ने कहा—हे तात! अधिक सोच मत करो, रामचन्द्रजी के चरणों को देख कर सब दुःख मिट जायगा ॥४॥

दो०—करि प्रबोध मुनिबर कहेउ, अतिथि प्रेम-प्रिय होहु।
कन्द मूल फल फूल हम, देहिँ लेहु करि छोहु ॥२१२॥

इस तरह उपदेश करके मुनिवर ने कहा कि आज आप हमारे प्रेम के प्यारे मेहमान हैं। कन्द, मूल, फल, फूल जो हम देवें; कृपा कर स्वीकार कीजिए ॥२१२॥

चौ०—सुनि मुनि बचन भरत हिय सोचू। भयउ कुअवसर कठिन सँकोचू॥
जानि गरुइ गुरु गिरा बहोरी। चरन-बन्दि बोले करजोरी॥१॥

मुनि के वचन सुन कर भरतजी के हृदय में सोच हुआ कि इस कुसमय में कठिन सङ्कोच की बात आ पड़ी। फिर गुरु की बात का गरुआपन समझ चरणों में प्रणाम कर हाथ जोड़ कर बोले ॥१॥

कुअवसर यह कि—स्वामी वन वन फिरें और मैं मेहमानी का आनन्द भोगूँ। अथवा तीर्थराज में मुनि से सेवा लेना धर्म-विरुद्ध कार्य है। पर इस से भी बढ़ कर मुनि की बात का महत्व है।

सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥
भरत बचन मुनिबर मन भाये। सुचि सेवक सिष निकट बोलाये॥२॥

हे नाथ! हमारा परम-धर्म है कि आप की आज्ञा को सिर पर धर कर करें। भरतजी के वचन मुनिवर के मन में अच्छे लगे, उन्हों ने शुद्धाचरण वाले सेवक और शिष्यों को पास में बुलाया ॥२॥

चाहिय कीन्हि भरत पहुनाई। कन्द मूल फल आनहु जाई॥
भलेहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाये। प्रमुदित निज निज काज सिधाये॥३॥

भरतजी की मेहमानी करनी चाहिये, तुम लोग जा कर कन्द, मूल और फल ले आओ। बहुत अच्छा स्वामिन् कह कर उन्हों ने मस्तक नवाया और प्रसन्नता से अपने अपने काम के लिये चले ॥३॥

मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिय जस देवता।
सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आईं। आयसु होइ सो करहिँ गोसाईं॥४॥

मुनि को चिन्ता हुई कि हमने बड़े मेहमान को न्योता दिया, जैसा देवता हो वैसी पूजा होनी चाहिये। तब उन्होंने सिद्धियों का स्मरण किया—सुन कर अणिमादिक सिद्धियाँ सारी सम्पदा लिये हुए आईं और बोलीं कि—हे स्वामिन्! जो आज्ञा हो हम सब करें ॥४॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व यही आठों सिद्धियों के नाम हैं। ऋद्धि समृद्धि को कहते हैं।

दो०-राम-बिरह ब्याकुल भरत, सानुज सहित समाज ।
पहुनाई करि हरहु स्रम, कहा मुदित मुनिराज ॥२१३॥

रामचन्द्रजी के वियोग में भरतजी छोटे भाई शत्रुहन और समाज के सहित व्याकुल हैं। उनकी मेहमानी करके थकावट दूर करो, इस प्रकार प्रसन्न होकर मुनिराज ने सिद्धियों से कहा ॥२१३॥

चौ०-रिधि-सिधि सिर धरि मुनिबर बानी । बड़भागिनि आपुहि अनुमानी ॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाई । अतुलित अतिथि रामलघु भाई ॥१॥

ऋद्धि-सिद्धियों ने मुनिवर की वाणी माथे चढ़ा कर अपने को बड़ी भाग्यशालिनी समझा। सब सिद्धियाँ आपस में कहती हैं कि रामचन्द्रजी के छोटे भाई (भरतजी) अद्वितीय मेहमान हैं अर्थात् उनको प्रसन्न करना हम लोगों की शक्ति से बाहर है ॥१॥

मुनि-पद बन्दि करिय सोइ आजू । होइ सुखी सब राज-समाजू ॥
अस कहि रचे रुचिर गृह नाना । जो बिलोकि बिलखाहिँ बिमाना ॥२॥

मुनि के चरणों की वन्दना करके आज वही करना चाहिये कि सब राजसमाज सुखी हो। ऐसा कह कर उन्हों ने नाना प्रकार के सुन्दर घर बनाये, जिन्हें देख कर विमान भी उदास हो जाते हैं ॥२॥

भोग-बिभूति भूरि भरि राखे । देखत जिन्हहिँ अमर अभिलाखे ॥
दासी दास साज सब लीन्हे । जोगवत रहहिँ मनहिँ मन दीन्हे ॥३॥

भोगविलास का बहुत सा सामान उन घरों में ऐश्वर्य्य-पूर्ण भर रक्खा, जिन्हें देख कर देवता ललचाते हैं। दास दासियाँ सब वस्तु लिये लोगों के मन से मन लगाये आदर करती रहती हैं ॥३॥

सब समाज सजि सिधि पल माहीँ । जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीँ
प्रथमहिँ बास दिये सब केही । सुन्दर सुखद जथारुचि जेही ॥४॥

सिद्धियों ने सब समाज के लिये पल भर में तैयारी की, जो सुख देवलोक में स्वप्न में भी नहीं है ॥ पहले ही सब को जिसकी जैसी इच्छा थी उसको वैसा सुन्दर सुखदायी ठहरने को स्थान दिया ॥४॥

दो०-बहुरि सपरिजन भरत कहँ, रिषि अस आयसु दीन्ह ।
बिधि-बिसमय-दायक बिभव, मुनिबर तप बल कीन्ह ॥२१४॥

फिर कुटुम्बीजनों के सहित भरतजी के लिये ऐसी आज्ञा दी कि ब्रह्मा को आश्चर्य्य उत्पन्न करनेवाला ऐश्वर्य्य मुनिवर ने तपोबल से प्रगट किया ॥२१४॥

चौ०-मुनि प्रभाव जब भरत बिलोका । सब लघु लगे लोकपति लोका ॥
सुख समाज नहिँ जाइ बखानी । देखत बिरति बिसारहिँ ज्ञानी ॥१॥

मुनिके प्रभाव को जब भरतजी ने देखा, तब उन्हें सब लोकपालों के लोक तुच्छ लगे। सुख की सामग्रियाँ बखानी नहीं जाती हैं, उन्हें देख कर ज्ञानी भी वैराग्य भूल जाते हैं ॥१॥

आसन सयन सुबसन बिताना । बन बाटिका बिहग मृग नाना ॥
सुरभि-फूल फल-अमिय समाना । बिमल जलासय बिबिध बिधाना ॥२॥

आसन, सेज, अच्छे वस्त्र और चँदोवा, वन, बगीचा, पक्षी, नाना प्रकार के मृग, सुगन्धित फूल, अमृत के समान फल, अनेक प्रकार के निर्मल जलाशय ॥२॥

असन पान सुचि अमिय अमी से । देखि लोग सकुचात जमी से ॥
सुर-सुरभी सुरतरु सबही के । लखि अभिलाष सुरेस सची के ॥३॥

पवित्र भोजन और जलपान अमृत के समान मधुर हैं, देख कर लोग संयमी के समान सकुचा रहे हैं। कामधेनु और कल्पवृक्ष सभी के डेरे में हैं, उनको देख कर इन्द्र-इन्द्राणी को इच्छा होती है कि ऐसा ऐश्वर्य हमें कभी नहीं सुलभ हुआ ! ॥३॥

रितु-बसन्त बह त्रिबिध बयारी । सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥
स्रक चन्दन बनितादिक भोगा । देखि हरष-बिसमय बस लोगा ॥४॥

वसन्त ऋतु शोभित है, शीतल-मन्द-सुगन्धित तीनों प्रकार की बयारि बहती है, सब को चारों पदार्थ सुलभ हो रहा है। मालायें, चन्दन और स्त्री आदि भोग-विलासों को देख कर लोग हर्ष और विस्मय के वश हो रहे हैं ॥४॥

सब के हृदयों में हर्ष और विस्मय साथ ही दोनों भावों का होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। हर्ष-मुनि का प्रभाव देख कर हुआ। विस्मय-अपने संयमी होने का है कि भोग विलास में कैसे अनुरक्त होऊँ। शङ्का-अर्थ, काम प्राप्त ही है और मुनि की आज्ञापालन धर्म है, किन्तु मोक्ष कैसे सुलभ है ? उत्तर-स्वामिव्रत-पालन में उस ऐश्वर्य्य में रह कर भी न भोगने में मोक्ष है। इस प्रकार चारों पदार्थ सुलभ हैं।

दो०-सम्पति-चकई भरत-चक, मुनि-आयसु खेलवार ।
तेहि निसि आस्रम पिञ्जरा, राखे भा भिनुसार ॥२१५॥

सम्पत्ति चकवी है, भरतजी चकवा हैं और मुनि की आज्ञा खेलवाड़ करने-वाला बहेलिया है। उस रात को आश्रम रूपी पींजड़े में बन्द कर रक्खा, सवेरा हो गया ॥२१५॥

सम्पत्ति पर चकवीपक्षी का आरोप, भरतजी पर चकवा का आरोप, मुनि की आज्ञा पर खेलाड़ी बहेलिये का आरोप और आश्रम पर पिंजरे का आरोपण किया गया है। चकवा-चकवी का रात्रि में संयोग नहीं होता, ऐसा विधि का विधान है। यदि कोई खेलवाड़ी रात में उन्हें पींजड़े में बन्द कर संयोगी बनाना चाहे तो भी दोनों के मुख प्रतिकूल दिशा में रहेंगे और वियोग दशा में सवेरा होगा। इसी प्रकार भरतजी ऐश्वर्य्य से वियोगी रहे और सबेरा हो गया।

चौ०—कीन्ह निमज्जन तीरथराजा । नाइ मुनिहि सिर सहित समाजा ॥
रिषिआयसु असीस सिर राखी । करि दंडवत बिनय बहु भाखी ॥१॥

तीर्थराज में स्नान किया और समाज के सहित मुनि को मस्तक नवाया । ऋषि की आज्ञा और आशीर्वाद को सिर पर रख कर दण्डवत करके बहुत प्रार्थना की ॥ १ ॥

पथ-गति-कुसल साथ सब लीन्हे । चले चित्रकूटहि चित दीन्हे ॥
राम-सखा कर दीन्हे लागू । चलत देह धरि जनु अनुरागू ॥२॥

रास्ते की चाल में प्रवीण मनुष्यों को साथ लिये सब चित्रकूट की ओर मन लगाये चले । निषादराज का हाथ पकड़े उसको बगल में लिये भरतजी चलते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों प्रेम शरीर धारण कर जाता हो ॥ २ ॥

अनुराग शरीरधारी नहीं होता, यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

नहिँ पदत्रान सीस नहिँ छाया । प्रेम नेम ब्रत धरम अमाया ॥
लखन-राम-सिय पन्थ-कहानी । पूछत सखहि कहत मृदु बानी ॥३॥

पाँव में पनहीं नहीं और सिर पर छाता नहीं है, प्रेम, नेम, व्रत और धर्म कपट-रहित है । लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और सीताजी की रास्ते की कथा सखा से पूछते हैं, वह कोमल वाणी से कहता जाता है ॥ ३ ॥

राम-बास-थल बिटप बिलोके । उर अनुराग रहत नहिँ रोके ॥
देखि दसा सुर बरिसहिँ फूला । भइ मृदु महि मग मङ्गलमूला ॥४॥

रामचन्द्रजी के टिकने की जगह और वृक्ष को देख कर हृदय में प्रेम रोकने से नहीं रुकता (उमड़ा पड़ता) है । भरतजी की दशा देख कर देवता फूल बरसाते हैं और पृथ्वी कोमल हुई रास्ता मङ्गलमूल हो गया ॥ ४ ॥

दो०—किये जाहिँ छाया जलद, सुखद बहइ बर बात ।
तस मग भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात ॥२१६॥

बादल छाँह किये जाते हैं और सुख देनेवाली अच्छी हवा बहती है । वैसा रास्ता रामचन्द्रजी को नहीं हुआ जैसा भरतजी के जाते समय सुगम हुआ ॥ २१६ ॥

देवताओं का फूल बरसा कर मार्ग बतलाना, धरती का कोमल होना, रास्ता मङ्गलीक, मेघों का छाँह करना, सुखदायी बयार का चलना, इस आकस्मिक कारणान्तर के योग से भरतजी को राह चलने में सुगमता होना 'समाधि अलंकार' है । पहले देवताओं को सन्देह था कि भरतजी रामचन्द्रजी को लौटाने जाते हैं, इससे प्रयागराज के पूर्व मार्ग में सभी कष्ट-दायक उद्योग किये । भरतजी के पाँवों में फफोले पड़ गये, लू चली, धरती कठोर हुई इत्यादि । पर तीर्थराज में भरतजी का वरदान माँगना सुन कर वह सन्देह दूर हो गया । इसी से अब मार्ग में सब तरह की सुगमता कर रहे हैं ।

चौ०—जड़ चेतन मग जीव घनेरे । जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥
ते सब भये परम-पद-जोगू । भरत-दरस मेटा भव रोगू ॥१॥

रास्ते के असंख्यों जड़ और चेतन जीव जिसको प्रभु रामचन्द्रजी ने देखा और जिन्हों ने रामचन्द्रजी के दर्शन किये । वे सब परम-पद (मोक्ष) के योग्य हुए; किन्तु भरतजी के दर्शन से उनका संसार सम्बन्धी रोग मिट गया अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो गये ॥१॥

यहाँ व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि रामचन्द्रजी के दर्शन से और उनके निहारने से जड़-चेतन जीव मोक्षाधिकारी हुए । उन्हों ने सुना कि राज्य-सुख अन्य पुत्र को देने के निमित्त माता-पिता ने इन्हें वनवास दिया है । तब उनको ऐश्वर्य्य ही प्रधान आदरणीय प्रतीत हुआ । यह भव-रोग लग जाने से अधिकारी मात्र हुए । जब राज्य-सुख को त्याग कर भरतजी को रामचन्द्रजी के चरणों में अनुरक्त हुए जाते देखा तब उन्हें निश्चय हो गया कि राम-प्रेम के सामने राज्य कोई चीज़ नहीं है । तभी तो भरतजी इतने बड़े सुख का परित्याग करके रामचन्द्रजी की शरण में जाते हैं । इससे भवरोग से छुटकारा पा गये ।

यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं । सुमिरत जिन्हहिं राम मन माहीं ॥
बारक राम कहत जग जेऊ । होत तरन-तारन नर तेऊ ॥२॥

भरतजी के लिये यह बड़ी बात नहीं है, जिन्हें रामचन्द्रजी मन में स्मरण करते हैं । जो संसार में एक बार भी 'राम' कहते हैं वे मनुष्य स्वयम् संसार से तर जाते हैं और दूसरों को भी तार देते हैं ॥२॥

भरतजी के लिये यह बड़ी बात नहीं, इसका समर्थन विशेष सिद्धान्त से करना कि जिन्हें मन में रामचन्द्रजी स्मरण करते हैं 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

भरत राम प्रिय पुनि लघु भ्राता । कस न होइ मग मङ्गल-दाता ॥
सिद्ध साधु मुनिबर अस कहहीं । भरतहि निरखि हरष हिय लहहीं ॥३॥

भरतजी रामचन्द्रजी को प्यारे हैं फिर उनके छोटे भाई हैं, उन को मार्ग मङ्गलदायक क्यों न हो ? सिद्ध, साधु और मुनिवर ऐसा कहते हैं और भरतजी को देख कर हृदय में प्रसन्न होते हैं ॥३॥

देखि प्रभाव सुरेसहि सोचू । जग भल भलेहि पोच कहँ पोचू ॥
गुरु सन कहेउ करिय प्रभु सोई । रामहिं भरतहि भेंट न होई ॥४॥

भरतजी के प्रभाव (प्रेम की महिमा) को देख कर इन्द्र को सोच हुआ, संसार भले को भला और बुरे को बुरा दिखाई देता है । देवपति ने गुरु से कहा—प्रभो ! वही उपाय कीजिये जिसमें रामचन्द्रजी से भरत की भेंट न हो ॥४॥

भले को भला तथा पोच को पोच, इन वाक्यों में पद और अर्थ की आवृत्ति होने से 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है ।

दो०-राम सकोची प्रेम-बस, भरत सुप्रेम पयोधि ।
बनी बात बिगरन चहति, करिय यतन छल-सोधि ॥२१७॥

रामचन्द्रजी सङ्कोची और प्रेम के अधीन हैं, भरत सुन्दर प्रेम के समुद्र हैं। बनी हुई बात बिगड़ना चाहती है, इसलिये छल से खोज कर कोई उपाय करना चाहिये ॥२१७॥

चौ०-बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने । सहस-नयन बिनु लोचन जाने ॥
कह गुरु बादि छोभ छल छाँडू । इहाँ कपट करि होइय भाँडू ॥१॥

इन्द्र के वचन सुन कर बृहस्पतिजी मुस्कुराये और मन में कहा कि—हज़ार नेत्र होने पर भी इन्द्र बिना आँख का है। तब गुरु ने प्रत्यक्ष में कहा कि:—व्यर्थ की घबराहट और छल करने का विचार छोड़ दो, यहाँ कपट करके भाँड़ होना पड़ेगा अर्थात् एक भी छल न चलेगा सदा के लिये उपहासास्पद होगे ॥१॥

इस चौपाई का उत्तरार्द्ध राजापुर की प्रति में नहीं है; किन्तु गुटका और सभा की प्रति में है। इससे जान पड़ता है कि वह अर्द्धाली नकल करने से छूट गई।

मायापति-सेवक सन माया । करइ त उलटि परइ सुरराया ॥
तब किछु कीन्ह राम-रुख जानी । अब कुचालि करि होइहि हानी ॥२॥

हे देवराज! माया-नाथ रामचन्द्रजी के सेवक-भरतजी से माया करने पर वह उलटी करनेवाले पर पड़ेगी। तब जो कुछ किया उसमें रामचन्द्रजी का रुख समझ कर किया था, अब कुचाल करने से हानि होगी ॥२॥

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ । निज अपराध रिसाहिँ न काऊ ॥
जो अपराध भगत कर करई । राम-रोष-पावक सो जरई ॥३॥

हे सुरेश! सुनो, रघुनाथजी का ऐसा स्वभाव है कि अपने अपराध से कभी अप्रसन्न नहीं होते। पर जो उनके भक्तों का अपराध करता है, वह रामचन्द्रजी के क्रोध रूपी अग्नि में जलता है ॥३॥

लोकहु बेद बिदित इतिहासा । यह महिमा जानहिँ दुरबासा ॥
भरत सरिस को राम-सनेही । जग जप राम राम जप जेही ॥४॥

वेद और लोक में भी इतिहास प्रसिद्ध है, इस महिमा को दुर्वासा ऋषि जानते हैं। भरतजी के समान रामचन्द्रजी का प्रेमी कौन है? सारा संसार रामचन्द्रजी को जपता है और रामचन्द्रजी भरतजी को जपते हैं ॥४॥

जगत रामचन्द्र को जपता है और रामचन्द्र भरत को जपते हैं; यह 'मालादीपक अलंकार' है। राजा अम्बरीष अनन्य हरिभक्त थे। एक बार द्वादशी तीथि को प्रातःकाल शिष्योंसहित उनके यहाँ दुर्वासा मुनि आये। राजा ने मुनि को निमन्त्रित किया। दुर्वासा ने स्नानार्थ नदी तट पर जाकर द्वादशी का अन्त करना चाहा। इधर राजा अम्बरीष द्वादशी का अन्त होते देख गुरु की आज्ञा से चरणामृत पान कर पारण किया और मुनि के आने पर वह धर्म-सङ्कट निवेदन किया। इस पर मुनि कुपित हो कर राजा को भस्म करना चाहा। भगवान् ने सुद-

र्शन चक्र को राजा की रक्षा के लिये भेजा । चक्र को देखते ही मुनि डर कर भगे और चक्र ने पीछा किया । तीनों लोकों में दौड़ते फिरे पर कहीं ठिकाना न लगा । अन्त में जब अम्बरीष की शरण आये, तब उन्होंने प्राण-रक्षा की । इस ईर्ष्या से घोर तप किया, भगवान् प्रकट होकर बोले वर माँगो । मुनि ने वर माँगा कि अम्बरीष को दस हज़ार जन्म लेना पड़े । भगवान् ने कहा वह मेरा सच्चा सेवक है, तुम नाहक द्वेष मान कर उसका अनिष्ट चाहते हो । दूसरे जीवों का एक हज़ार बार जन्म लेना और मेरा एक बार दोनों बराबर है । अम्बरीष के लिये मैं दस बार जन्म लूँगा, पर भक्त को कष्ट न होने दूँगा ।

दो०—मनहुँ न आनिय अमरपति, रघुबर-भगत अकाज ।
अजस-लोक परलोक-दुख, दिन दिन सोक-समाज ॥२१८॥

हे देवराज ! रघुनाथजी के भक्त का अकाज मन में भी न ले आइये । इससे लोक में अपकीर्त्ति और परलोक में दुःख तथा दिन दिन शोक-समूह बढ़ेगा ॥२१८॥

चौ०—सुनु सुरेस उपदेस हमारा । रामहिँ सेवक परम-पियारा ॥
मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक-बैर बैर-अधिकाई ॥ १ ॥

हे देवपति ! हमारा उपदेश सुनो, रामचन्द्रजी को सेवक अत्यन्त प्यारे हैं । भक्त की सेवा करने से वे प्रसन्न होते हैं और सेवक से विरोध करने पर बड़ा भारी बैर मानते हैं ॥१॥

जद्यपि सम नहिँ राग न रोषू । गहहिँ न पाप पुन्य गुन दोषू ॥
करम-प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥२॥

यद्यपि समदर्शी हैं; उनमें ममता नहीं और न क्रोध है, पाप, पुण्य, गुण, दोष नहीं ग्रहण करते । संसार को कर्म-प्रधान बना रक्खा है, जो जैसा करता है वह वैसा फल पाता है ॥२॥

विश्व तो कर्म-प्रधान का क्षेत्र स्वयम् सिद्ध अर्थ है; परन्तु सुरगुरु का पुनः उसी का विधान करना 'विधि अलंकार' है ।

तदपि करहिँ सम बिषम बिहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥
अगुन अलेप अमान एकरस । राम सगुन भये भगत-प्रेम-बस ॥३॥

तथापि भक्त अभक्तों के हृदयानुसार सम और विषम रूप से व्यवहार करते हैं । जो रामचन्द्रजी निर्गुण, निर्लेप, निरभिमान और एकरस हैं, वे ही भक्तों के प्रेम के अधीन होकर सगुण (शरीरधारी) हुए हैं ॥३॥

विरोधी गुण और क्रिया का वर्णन अर्थात् समदर्शी होकर भी विषम विहार, निर्गुण-निर्लेप होकर शरीरधारी होना 'विरोधाभास अलंकार' है । सभा की प्रति में 'अगुन अलेप अमान एकरस' पाठ है ।

राम सदा सेवक रुचि राखी । बेद पुरान साधु सुर साखी ॥
अस जिय जानि तजहु कुटिलाई । करहु भरत-पद-प्रीति सुहाई ॥४॥

रामचन्द्रजी सदा से सेवकों की रुचि रखते आये हैं, इस बात के वेद, पुराण, साधु

और देवता साक्षी हैं। ऐसा मन में समझ कर, कुटिलता को त्याग दो और भरतजी के चरणों में सुन्दर प्रीति करो ॥४॥

दो०—राम-भगत परहित-निरत, पर दुख दुखी दयाल ।
भगत-सिरोमनि भरत तें, जनि डरपहु सुरपाल ॥२१९॥

रामभक्त पराये की भलाई में तत्पर रहते हैं, और पराये के दुःख से दयावश दुःखी होते हैं। हे देवराज ! भक्तों के शिरोमणि भरतजी से तुम डरो मत ॥२१९॥

चौ०—सत्यसन्ध प्रभु-सुर-हितकारी । भरत राम-आयसु अनुसारी ॥
स्वारथ-बिबस बिकल तुम्ह होहू । भरत दोष नहिँ राउर मोहू ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी सत्यसङ्कल्प और देवताओं के हितकारी हैं, भरतजी रामचन्द्रजी की आज्ञानुसार चलनेवाले हैं। तुम स्वार्थवश विकल होते हो, इसमें भरतजी का दोष नहीं; यह आपका अज्ञान है ॥१॥

भरतजी का अपार प्रेम देख कर इन्द्र को भ्रम हुआ कि रामचन्द्रजी प्रेम के अधीन हैं, कहीं भरत ने लौटने को कहा तो वे इनकार न कर सकेंगे। इस भ्रम से उत्पन्न हुई शङ्का को बृहस्पतिजी ने सच्ची बातें कह कर दूर कर दी 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

सुनि सुरबर सुरगुरु-बर-बानी । भा प्रमोद मन मिटी गलानी ॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ । लगे सराहन भरत सुभाऊ ॥२॥

बृहस्पतिजी की श्रेष्ठवाणी को सुन कर इन्द्र के मन में बड़ा हर्ष हुआ और ग्लानि मिट गई। देवराज ने प्रसन्न होकर फूल बरसा और भरतजी के स्वभाव की प्रशंसा करने लगे ॥२॥

इन्द्र के मन से शङ्का भाव की शान्ति गुरुजी के सदुपदेश मति भाव द्वारा हुई है। यह 'समाहित अलंकार' है।

एहि बिधि भरत चले मग जाहीँ । दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीँ ॥
जबहिँ राम कहि लेहिँ उसासा । उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥३॥

इस प्रकार भरतजी मार्ग में चले जाते हैं, उनकी दशा देख कर मुनि और सिद्ध बड़ाई करते हैं। जब 'राम' कह कर लम्बी साँस लेते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों चारों ओर प्रेम उमड़ता हो ॥३॥

प्रेम कोई जल, नदी या तालाब नहीं जो उमगता हो। यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

द्रवहिँ बचन सुनि कुलिस पखाना । पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥
बीच बास करि जमुनहिँ आये । निरखि नीर लोचन जल छाये ॥४॥

भरतजी के वचन सुन कर वज्र और पत्थर पिघल जाते हैं, पुरजनों का प्रेम कहा नहीं जा सकता। बीच में निवास कर यमुनाजी के किनारे आये और उनका श्याम-जल देख कर आँखों में जल भर आया ॥४॥

बात सुन कर वज्र और पत्थर का पिघलना अनहोनी बात 'असम्भव अलंकार' है। श्याम-जल देख कर रामचन्द्रजी का स्मरण हो आया जिससे आँखों में जल भर आया 'स्मरण अलंकार' है। कहना तो था कि यमुना के किनारे आये, परन्तु वैसा न कह कर 'जमुनहिँ आये' कहा, जिसका अर्थ है यमुना में आये। यहाँ लक्षित लक्षणा द्वारा यमुना-तट का अर्थ ग्रहण होता है।

दो०—रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज़ ॥२२०॥

रघुनाथजी के शरीर के रङ्ग का श्रेष्ठ जल देख कर समाज के सहित भरतजी ज्यों ही विरह रूपी समुद्र में डूबने लगे, त्यों ही ज्ञान रूपी जहाज पर चढ़े तब रक्षा हुई ॥२२०॥

यमुना जल उपमान को उलट कर उपमेय बनाना 'प्रथम प्रतीप अलंकार है'।

चौ०—जमुन-तीर तेहि दिन करि बासू। भयउ समय सम सबहि सुपासू॥
रातिहि घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिँ न बरनी॥१॥

उस दिन यमुनाजी के किनारे निवास किया, समयनुकूल सभी तरह का सुबीता हुआ। रात ही में घाट घाट की नौकाएँ आईं, वे अनगिनती वर्णन नहीं की जा सकतीं ॥१॥

प्रात पार भये एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई॥२॥

प्रातःकाल एक ही खेवा में पार हो गये, रामचन्द्रजी के मित्र (गुह) की सेवा से भरतजी प्रसन्न हुए। स्नान कर नदी को सिर नवा निषादराज के साथ दोनों भाई चले ॥२॥

आगे मुनिबर बाहन आछे। राज-समाज जाइ सब पाछे॥
तेहि पाछे दोउ बन्धु पयादे। भूषन बसन बेष सुठि सादे॥३॥

आगे मुनिवर की उत्तम सवारी है, पीछे सब राज-समाज जा रहा है। उसके पीछे दोनों भाई भूषण और वस्त्र से अत्यन्त सादे वेश में पैदल चल रहे हैं ॥३॥

सेवक सुहृद सचिव-सुत साथा। सुमिरत लखन-सीय-रघुनाथा॥
जहँ जहँ राम बास बिस्रामा। तहँ तहँ करहिँ सप्रेम प्रनामा॥४॥

सेवकों, मित्रों और मन्त्री-सुवन के साथ लक्ष्मणजी, सीताजी और रघुनाथजी का स्मरण करते हैं। जहाँ जहाँ रामचन्द्रजी ने निवास वा विश्राम किया था, वहाँ वहाँ प्रीति-पूर्वक प्रणाम करते हैं ॥४॥

दो०—मग-बासी नर-नारि सुनि, धाम काम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह बस, मुदित जनम फल पाइ ॥२२१॥

मार्ग में बसनेवाले स्त्री-पुरुष सुन कर घर का काम त्याग कर दौड़े। वे सब सुन्दर रूप देख स्नेह के अधीन हो जन्म का फल पा कर प्रसन्न होते हैं ॥२२१॥

चौ०—कहहिँ सप्रेम एक एक पाहीं । राम-लखन सखि होहिँ कि नाहीं ॥
बय बपु बरन रूप सोइ आली । सील-सनेह-सरिस सम-चाली ॥१॥

स्त्रियाँ प्रेम के साथ एक दूसरी से कहती हैं कि—हे सखी ! ये राम-लक्ष्मण हैं या नहीं? हे आली ! अवस्था, शरीर, रङ्ग और रूप वही है, शील-स्नेह बराबर, चाली भी उन्हीं के समान है ॥१॥

राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुहन की अवस्था, शरीर, रङ्ग, रूप, शील, स्नेह और चाल में भेद न दिखाई देना 'सामान्य अलंकार' है ।

बेष न सो सखि सीय न सङ्गा । आगे अनी चली चतुरङ्गा ॥
नहिँ प्रसन्न-मुख मानस-खेदा । सखि सन्देह होइ एहि भेदा ॥२॥

कोई कहती है—हे सखी ! इनका वैसा वेश नहीं है, सीताजी साथ में नहीं हैं और आगे चतुरङ्गिनी सेना चली जा रही है । ये प्रसन्न-मुख नहीं हैं मन में खेद है, हे सहेली ! इन अन्तरों से सन्देह होता है ॥२॥

अवस्था आदि में भेद नहीं है, पर वह वेष नहीं, सीताजी साथ नहीं, आगे सेना चल रही है, मुख प्रसन्न नहीं, मन में खेद है । इन कारणों से भेद ज्ञात होना 'विशेषकोन्मीलित अलंकार' है ।

तासु तरक तिय-गन मन मानी । कहहिँ सकल तोहि सम न सयानी ॥
तेहि सराहि बानी फुरि पूजी । बोली मधुर बचन तिय दूजी ॥३॥

उसकी विवेचना (हेतु-पूर्ण युक्ति) को स्त्रियों ने मन में मान लिया, सब कहती हैं कि तेरे समान कोई चतुर नहीं है । उसकी वाणी सत्य होने की सराहना करती हुई दूसरी स्त्री मधुर वचन बोली ॥३॥

कहि सप्रेम सब कथा-प्रसङ्गू । जेहि बिधि राम-राज-रस-भङ्गू ॥
भरतहि बहुरि सराहन लागी । सील सनेह सुभाय सुभागी ॥४॥

जिस तरह रामचन्द्रजी के राजतिलक का आनन्द नष्ट हुआ वह सब कथा-प्रसङ्ग प्रेम के साथ कह कर फिर वह सौभाग्यवती भरतजी के शील, स्नेह और स्वभाव की प्रशंसा करने लगी ॥४॥

दो०—चलत पयादे खात फल, पिता-दीन्ह तजि राज ।
जात मनावन रघुबरहि, भरत सरिस को आज ॥ २२२ ॥

पैदल चलते, फल खाते, पिता का दिया हुआ राज्य त्याग कर रघुनाथजी को मनाने के लिये आते हैं, आज भरतजी के समान (धन्य) कौन है ? ॥२२२॥

चौ०—भायप भगति भरत आचरनू । कहत सुनत दुख-दूषन-हरनू ॥
जो किछु कहब थोर सखि सोई । राम-बन्धु अस काहे न होई ॥१॥

भरतजी का भाईचारा, भक्ति और व्यवहार कहने सुननेवालों के दुःख-दोष का हरने-

वाला है। हे सखी! इनकी प्रशंसा में जो कुछ कहा जाय वह थोड़ा ही है, रामचन्द्रजी के भाई ऐसे क्यों न हों? ॥१॥

रामचन्द्रजी के भाई हैं फिर वे ऐसे क्यों न हों? कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है।

हम सब सानुज भरतहि देखे। भइन्ह धन्य जुबती-जन लेखे॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं। कैकइ जननि जोग सुत नाहीं॥२॥

छोटे भाई शत्रुहन के सहित भरतजी को देख कर हम सब स्त्रियों की गिनती में धन्य हुई हैं। भरतजी के गुण को सुन कर और उनकी दशा देख कर पछताती हैं तथा कहती हैं कि ये केकयी माता के योग्य पुत्र नहीं हैं॥२॥

कोउ कह दूषन रानिहि नाहिन। बिधि सब कीन्ह हमहिँ जो दाहिन॥
कहँ हम लोक-बेद-बिधि हीनी। लघु-तिय कुल-करतूति मलीनी॥३॥

कोई कहती है कि रानी का दोष नहीं है, विधाता ने सब किया जो हम लोगों पर अनुकूल है। कहाँ हम लोक और वेद की रीति से हीन, तुच्छ स्त्री, कुल तथा करनी से मलिन (नापाक) हैं॥३॥

केकयी के सच्चे दोष को इसलिये निषेध किया कि उसका धर्म अपने ऊपर ब्रह्मा की अनुकूलता में आरोपित करना अभीष्ट है। यह 'पर्यस्तापन्हुति अलंकार' है।

बसहिँ कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ यह दरस पुन्य-परिनामा॥
अस अनन्द अचरज प्रति-ग्रामा। जनु मरु-भूमि कलपतरु जामा॥४॥

बुरे देश और बुरे गाँव में बसनेवाली खोटी स्त्री हैं और कहाँ यह अपूर्व दर्शन बड़े पुण्यों का फल है। ऐसा आनन्द और आश्चर्य प्रत्येक गाँव में हो रहा है, ऐसा मालूम होता है मानों मरु देश की धरती पर कल्पवृक्ष जमा हो॥४॥

कल्पवृक्ष देव लोक के सिवा भूमि पर नहीं होता, सो भी मारवाड़ जैसे निर्मल रेतीले देश में उसका उगना असम्भव है, यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—भरत दरस देखत खुलेउ, मग-लोगन्ह कर भाग।
जनु सिंहल-बासिन्ह भयउ, बिधि-बस सुलभ प्रयाग॥२२३॥

भरतजी का रूप देखते ही मार्ग के लोगों का भाग्य खुल गया, ऐसा मालूम होता है मानों लङ्का-निवासियों को दैवयोग से तीर्थराज प्राप्त हुए हों॥२२३॥

'दरस और देखत' शब्द पर्यायवाची हैं इससे पुनरुक्ति का आभास है, परन्तु अर्थ भिन्न है, एक रूप का ज्ञापक और दूसरा देखने का बोधक होने से 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है। सिंहल द्वीप-निवासियों को दैवयोग से प्रयाग प्राप्त होते ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—निज गुन सहित राम-गुन-गाथा। सुनत जाहिँ सुमिरत रघुनाथा॥
तीरथ मुनि-आस्रम सुर-धामा। निरखि निमज्जहिँ करहिँ प्रनामा॥१॥

अपने गुणों के सहित रामचन्द्रजी के गुण की कथा सुनते और रघुनाथजी का स्मरण करते चले जाते हैं। तीर्थस्थान, मुनियों के आश्रम और देव-मन्दिर जो मार्ग में पड़ते हैं वहाँ स्नान, प्रणाम और दर्शन करते हैं ॥१॥

पहले तीर्थ, मुनिआश्रम और फिर देव-मन्दिर कहा, इनका क्रम से स्नान, प्रणाम, दर्शन करना कहना चाहता था। क्योंकि तीर्थों में स्नान, मुनियों को प्रणाम, देव-मन्दिरों में मूर्ति का दर्शन होता है, परन्तु चौपाई में दर्शन, स्नान, प्रणाम कहा गया है। यह भङ्गक्रम 'यथासंख्य अलंकार' है।

मनही मन माँगहिँ बर एहू। सीय-राम-पद-पदुम सनेहू॥
मिलहिँ किरात कोल बन-बासी। बैषानस बटु जती उदासी॥२॥

मन ही मन यही वर माँगते हैं कि सीताजी और रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में स्नेह हो। कोल, भील वाणप्रस्थ, ब्रह्मचारी, सन्यासी और विरक्त-पुरुष वन में बसनेवाले जो मिलते हैं॥ २॥

करि प्रनाम पूछहिँ जेहि तेही। केहि बन लखन-राम-बैदेही॥
ते प्रभु समाचार सब कहहीँ। भरतहि देखि जनम-फल लहहीँ॥३॥

प्रणाम करके जिससे तिससे पूछते हैं कि लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और जानकीजी किस वन में हैं? वे प्रभु रामचन्द्रजी को सब हाल कहते हैं और भरतजी को देख कर जन्म का फल पाते हैं॥३॥

जे जन कहहिँ कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे॥
एहि बिधि बूझत सबहि सुबानी। सुनत राम-बनबास कहानी॥४॥

जो मनुष्य कहते हैं कि हमने कुशल से देखा है, उनको रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के समान प्रिय समझते हैं। इस तरह सभी से सुन्दर वाणी में रामचन्द्रजी के वन में रहने का वृत्तान्त पूछते और सुनते जाते हैं॥४॥

दो०—तेहि बासर बसि प्रातही, चले सुमिरि रघुनाथ।
राम-दरस की लालसा, भरत सरिस सब साथ॥२२४॥

उस दिन टिक कर सवेरे ही रघुनाथजी का स्मरण कर चले। साथ के सब लोगों को भरतजी के समान ही रामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा है॥२२४॥

चौ०—मङ्गल सगुन होहिँ सब काहू। फरकहिँ सुखद बिलोचन बाहू॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिँ राम मिटिहि दुख-दाहू॥१॥

सब को मङ्गल-सूचक सगुन होते हैं और सुखदायी नेत्र तथा भुजाएँ फड़कती हैं। समाज के सहित भरतजी को उत्साह हो रहा है कि रामचन्द्रजी मिलेंगे और दुःख की ज्वाला मिटेगी॥१॥

करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिँ सनेह सुरा सब छाके॥
सिथिल-अङ्ग पग मग डगि डोलहिँ। बिहबल बचन प्रेम-बस बोलहिँ॥२॥

जिसके मन में जैसी भावना है मनोरथ करते सब स्नेह रूपी मदिरा से छके (मस्त) चले जाते हैं। उनके शरीर ढीले पड़ गये, रास्ते में पाँव रखते डगमगाते हैं और प्रेम के अधीन हुए विह्वल (व्याकुलता भरे) वचन बोलते हैं॥२॥

स्नेह पर मन्दिरा का आरोप और भरतजी के सहित सम्पूर्ण समाज पर पान करने वाले का आरोपण किया गया है। जैसे अधिक मद-पान करने से अङ्ग ढीला पड़ जाता है, रास्ते में सीधे पाँव नहीं पड़ता, मुख से स्पष्ट और ठिकाने की बात नहीं निकलती। उसी प्रकार सारा समाज समीप पहुँचने पर अधिक स्नेह से मतवाला हो गया, अङ्ग शिथिल पड़ गये, रास्ते में सीधे पग नहीं पड़ता, प्रेम-वश घबराहट की बात अस्पष्ट बोलते हैं। यह 'समअभेदरूपक अलंकार' है। यद्यपि राजापुर की प्रति और गुटका में उपर्युक्त पाठ है; किन्तु सभा की प्रति में 'जाहिँ सनेह सुधा सब छाके' पाठ है और अर्थ भी वैसा ही किया गया है कि—"सभी लोग स्नेह रूपी अमृत से छके जाते थे"। सुधा-पान के लक्षण कविजी ने नहीं कहे, यहाँ तो मद-पान के लक्षण कहे गये हैं।

राम-सखा तेहि समय देखावा। सैल-सिरोमनि सहज सुहावा॥
जासु समीप सरित-पय-तीरा। सीय समेत बसहिँ दोउ बीरा॥३॥

उस समय रामसखा-गुह ने स्वाभाविक सुन्दर पर्वतों के शिरोमणि (कामतानाथ) को दिखाया। जिसके समीप पयस्विनी-नदी के किनारे सीताजी के सहित दोनों वीर निवास करते हैं॥३॥

देखि करहिँ सब दंड-प्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा॥
प्रेम मगन अस राज-समाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥४॥

देख कर सब दण्डवत-प्रणाम करते हैं और जानकी-जीवन रामचन्द्रजी की जय जयकार मनाते हैं। राज-समाज ऐसा प्रेम में मग्न मालूम होता है मानों रघुनाथजी अयोध्या को लौट चले हों॥४॥

पर्वत का दर्शन उत्प्रेक्षा का विषय है। रघुनाथजी समय पर अयोध्या को लौटेंगे। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—भरत प्रेम तेहि समय जस, तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख, अहमम मलिन जनेषु॥२२५॥

उस समय भरतजी को जैसा प्रेम हुआ वैसा शेषजी भी नहीं कह सकते। कवि को तो उसका कहना कैसे दुर्गम है जैसे अहम्मति (अविद्या-माया) से मलिन मनुष्य को ब्रह्मानन्द का अनुभव दुर्लभ है॥२२५॥

चौ०—सकल सनेह शिथिल रघुबर के । गये कोस दुइ दिनकर ढरके ॥
जल थल देखि बसे निसि बीते । कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते ॥१॥

सब लोग रघुनाथजी के स्नेह में शिथिल हैं, दो कोस जाने पर सूर्य्य अस्त हो गये। जल का ठिकाना देख कर टिक गये, रात बीतने पर रघुनाथजी के प्यारे (भरतजी) ने गमन किया ॥१॥

उहाँ राम रजनी-अवसेखा । जागे सीय सपन अस देखा ॥
सहित समाज भरत जनु आये । नाथ बियोग ताप तन ताये ॥२॥

वहाँ रात्रि के अन्त में रामचन्द्रजी जागे, सीताजी ने ऐसा स्वप्न देखा। वे रामचन्द्रजी से कहने लगीं:—हे नाथ! समाज के सहित मानों भरतजी आये हैं, उनका शरीर विरह की ज्वाला से सन्तप्त है ॥२॥

सकल मलिन मन दीन दुखारी । देखी सासु आन अनुहारी ॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन । भये सोच-बस सोच-बिमोचन ॥३॥

सब लोगों के मन उदास, दीन और दुखी हैं, सासुओं की दूसरी ही सूरत देखी। सीताजी के स्वप्न को सुन कर नेत्रों में जल भर आये, सोच के छुड़ानेवाले रामचन्द्रजी सोच के अधीन हुए ॥३॥

सोच छुड़ानेवाले का स्वयम् सोच वश होना विरोधी वर्णन 'विरोधाभास अलंकार' है।

लखन सपन यह नीक न होई । कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥
अस कहि बन्धु समेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥४॥

हे लक्ष्मण! यह स्वप्न अच्छा नहीं है, कोई भयङ्कर अनिष्ट की बात सुनाई पड़ेगी। ऐसा कह कर भाई के सहित स्नान किये और शिवजी का पूजन करके साधुओं का सम्मान किया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

सनमानि सुर मुनि-बृन्द बैठे, उतर दिसि देखत भये ।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे, बिकल प्रभु आस्रम गये ॥
तुलसी उठे अवलोकि कारन, काह चित सचकित रहे ।
सब समाचार किरात कोलन्हि, आइ तेहि अवसर कहे ॥९॥

देवता और मुनियों का सम्मान कर बैठे, फिर उत्तर दिशा की ओर देखा। आकाश में धूल भर रही है, पक्षी और मृगों के झुंड अत्यन्त घबराहट से भागते हुए प्रभु के आश्रम में गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि इस कारण को देख कर रामचन्द्रजी उठे और विचारने लगे कि सब जीव-जन्तु क्यों चकपकाये हैं। उसी समय कोल भीलों ने आकर सब हाल कहे ॥९॥

सो०—सुनत सुमङ्गल बैन, मन-प्रमोद तन-पुलक-भर ।
सरद सरोरुह नैन, तुलसी भरे सनेह-जल ॥२२६॥

सुन्दर मङ्गलीक वचन सुनते ही मन में बड़ा आनन्द हुआ और शरीर पुलक से भर गया। तुलसीदासजी कहते हैं कि शरदकाल के कमल के समान नेत्रों में स्नेह से जल भर आये ॥२२६॥

चौ०—बहुरि सोच बस भे सिय-रवनू । कारन कवन भरत आगवनू ॥
एक आइ अस कहा बहोरी । सेन सङ्ग चतुरङ्ग न थोरी ॥१॥

तब सीतारमण सोच वश हुए कि भरत के आने का क्या कारण है ? फिर एक ने आकर ऐसा कहा कि साथ में चतुरङ्गिनी सेना थोड़ी नहीं अर्थात् बहुत बड़ी है ॥१॥

सो सुनि रामहिँ भा अति सोचू । इत पितु बच उत बन्धु सकोचू ॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीँ । प्रभु-चित हित-थिति पावत नाहीँ ॥२॥

वह सुन कर रामचन्द्रजी को बड़ा सोच हुआ, इधर पिता की बात; उधर भाई का सङ्कोच (एक भी त्यागने योग्य नहीं)। भरतजी के स्वभाव को मन में समझ कर प्रभु का चित्त कहीं ठहरने योग्य स्थान नहीं पाता है ॥२॥

पिताजी की आज्ञा-भङ्ग होने का चिन्ताभाव और भाई भरतजी के सकोच का स्नेहभाव अपनी अपनी ओर खींच रहे हैं। किसे ग्रहण करूँ और किसे त्यागूँ कुछ निश्चय नहीं होता है। दोनों भाव सम बली होने से भावसन्धि है।

समाधान तब भा यह जाने । भरत कहे महँ साधु सयाने ॥
लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू । कहत समय सम नीति-बिचारू ॥३॥

तब यह जानकर सन्देह दूर हुआ कि भरत मेरे कहने में, सत्पुरुष और चतुर हैं। लक्ष्मणजी ने लखा कि स्वामी के हृदय में खलबली हुई है, वे समय के अनुसार विचार कर नीति कहने लगे ॥३॥

रामचन्द्रजी के हृदय में पूर्वोक्त दोनों भाव ज्यों ही उदय हुए और वे बढ़ने नहीं पाये कि तबतक मति सञ्चारीभाव प्रबल होकर पूर्वोत्पन्न भावों को शान्त कर दिया। यह 'भावशान्ति' है।

बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाँई । सेवक समय न ढीठ ढिठाई ॥
तुम्ह सर्बज्ञ-सिरोमनि स्वामी । आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥४॥

हे स्वामिन्! मैं बिना पूछे कुछ कहता हूँ (क्षमा कीजियेगा, क्योंकि) सेवा के योग्य समय पर ढिठाई करनेवाला सेवक ढीठ नहीं कहा जाता। हे नाथ! आप तो सर्वज्ञों के शिरोमणि हैं, यह-दास अपनी समझ के अनुसार कहता है ॥४॥

दो०—नाथ सुहृद सुठि सरल-चित, सील-सनेह-निधान ।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आपु समान ॥२२७॥

हे नाथ! आप शुद्ध हृदय, अत्यन्त सीधे चित्तवाले, शील और स्नेह के स्थान हैं। इससे प्रीति और विश्वास सब के ऊपर जी में अपने ही समान समझते हैं ॥२२७॥

चौ०—बिषयी जीव पाइ प्रभुताई । मूढ़ मोह-बस होहिँ जनाई ॥
भरत नीति-रत साधु सुजाना । प्रभु-पद-प्रेम सकल जग जाना॥१॥

परन्तु विषयी प्राणी प्रभुता पाकर अज्ञान वश मूर्खता में ज़ाहिर हो जाते हैं। भरत नीति में तत्पर, सज्जन, चतुर और स्वामी के चरणों के प्रेमी हैं, इसको सारा संसार जानता है ॥१॥

तेऊ आज राज-पद पाई । चले धरम-मरजाद मिटाई ॥
कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी । जानि राम बन-बास एकाकी ॥२॥

वे भी आज राज्यपद पाकर धर्म की मर्य्यादा को मिटा कर चले हैं। ये कपटी, दुष्ट भाई, बुरा समय देख कर जाना कि रामचन्द्रजी वन में अकेले निवास करते हैं ॥२॥

करि कुमन्त्र मन साजि समाजू । आये करइ अकंटक राजू ॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आये दल बटोरि दोउ भाई ॥३॥

खोटा मत मन में करके समाज सज कर अकण्टक राज्य करने आये हैं। करोड़ों प्रकार की कुटिलता की कल्पना करके दोनों भाई दल बटोर कर आये हैं ॥३॥

'अकंटक' शब्द में व्यंगार्थ यह है कि चौदह वर्ष बाद रामचन्द्र राज्य के दावेदार होंगे, इस काँटे को निर्मूल कर अकंटक राज्य करना चाहिये।

जौं जिय होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली ॥
भरतहि दोष देइ को जाये । जग बौराइ राज-पद पाये ॥ ४ ॥

यदि मन में कपट और कुचाल न होती तो रथ, घोड़े और हाथियों का झुण्ड किसको सुहाता? भरत को व्यर्थ ही कौन दोष दे, राज्य-पद पाने से संसार ही पागल हो जाता है ॥४॥

'जग' जड़ है वह क्या पागल होगा? जग के लोग कहना चाहिए। वह न कह कर 'जग बौराइ' कहा। रूढ़ि लक्षणा द्वारा जगत के मनुष्य का ग्रहण होता है। हाथी, घोड़े, सेना आदि चिह्नों को देख कर भरतजी का युद्धार्थ आगमन लक्ष्मणजी का समझना 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है।

दो०—ससि गुरु-तिय-गामी नहुष, चढ़ेउ भूमिसुर जान ।
लोक बेद तैं बिमुख भा, अधम न बेन समान ॥ २२८ ॥

चन्द्रमा ने गुरु-पत्नी से गमन किया, नहुष ब्राह्मणों को कहार बना कर पालकी पर चढ़े। बेन के समान अधम और लोक-वेद से विमुख कोई नहीं हुआ ॥२२८॥

चन्द्रमा के गुरु बृहस्पति हैं और बृहस्पति की स्त्री का नाम तारा है। एक बार त्रिलोक विजय करके चन्द्रमा राजसूययज्ञ करने लगे, उसमें सपत्नीक गुरु को निमन्त्रित किया और गुरु-पत्नी की सुन्दरता पर मोहित होकर उनके साथ व्यभिचार किया। बृहस्पति ने इन्द्र से पुकार मचायी, इन्द्र ने चन्द्रमा से कहा कि गुरु-पत्नी को लौटा दो। जब चन्द्रमा ने नहीं माना तब घोर युद्ध हुआ, राक्षसों ने चन्द्रमा का साथ दिया। अन्त में ब्रह्मा ने बीच में पड़ कर तारा बृहस्पति को दिलवा दी और उससे उत्पन्न पुत्र (बुध) को चन्द्रमा ने लिया, तब कलह शान्त हुआ। यह केवल राजमद ही का कारण है।

राजा नहुष का वृत्तान्त इसी काण्ड में ६१ वें दोहा के नीचे की टिप्पणी देखिये।

राजा वेन बड़ा उपद्रवी, बाचाल और दुष्ट प्रकृति था। इसने राज्य पाकर घोर उत्पात मचाया। सब कर्म धर्म रोक कर ब्राह्मणों से कहा कि मेरी पूजा करो; ईश्वर दूसरा कौन है? पहले ब्राह्मणों ने समझाया, न मानने पर शाप देकर भस्म कर दिया।

चौ०—सहसबाहु सुरनाथ त्रिसङ्कू। केहि न राजमद दीन्ह कलङ्कू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रञ्च न राखब काऊ॥१॥

सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशङ्कु किसको राजमद ने कलंक नहीं दिया। भरत ने यह उचित उपाय किया कि शत्रु रूपी ऋण का शेष कभी थोड़ा भी न रक्खे॥१॥

भरतजी की प्रशंसा करने पर भी निन्दा प्रगट होना 'व्याजनिन्दा अलंकार' है। सहस्रबाहु का वृत्तान्त बालकाण्ड में २७० दोहा के आगे दूसरी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखो। इन्द्र एक बार राज्यासन पर विराजमान थे, गुरुजी आये पर मदान्धता के कारण प्रणाम नहीं किया। बृहस्पतिजी अप्रसन्न होकर चले गये। इन्द्र पर इस महापाप के कारण विपत्ति आई। दैत्यों से लड़ कर पराजित हुए। ब्रह्मा के आदेश से बहुत प्रयत्न करने पर तब रक्षा हुई। राजा त्रिशङ्कु ने मदोन्मत्त हो सशरीर स्वर्ग जाना चाहा। गुरु वशिष्ठ का तिरस्कार कर विश्वामित्र को गुरु बनाया। उन्हों ने सदेह स्वर्ग भेजा, पर स्वर्ग-वासियों ने धक्का देकर नीचे ढकेला, विश्वामित्र ने अपने तपोबल से बीच ही में रोक दिया। वह न इधर का हुआ न उधर का, आकाश में टँगा है।

एक कीन्हि नहिँ भरत भलाई। निदरे राम जानि असहाई॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेखी। समर सरोष राम-मुख पेखी॥२॥

भरत ने एक ही बात अच्छी नहीं की कि रामचन्द्रजी को असहाय समझ कर अनादर किया। वह भी आज उन्हें ख़ूब समझ पड़ेगा जब संग्राम में रामचन्द्रजी का क्रोध-पूर्ण मुख देखेंगे॥२॥

एतना कहत नीति-रस भूला। रन-रस-बिटप पुलक मिस फूला॥
प्रभु-पद बन्दि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बल भाखी॥३॥

इतना कहते नीति रस-भूल गया, युद्ध-रस रूपी वृक्ष पुलक के बहाने फूल आया। प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम कर उनकी धूल मस्तक पर चढ़ा अपना सच्चा स्वभाविक बल कहते हुए बोले॥३॥

नीति की बात कहते हुए लक्ष्मणजी के हृदय में समयानुकूल वीररस का उदय हो आया। इसको बहाने से और का और कहना कि युद्ध-रस रूपी वृक्ष रोमाञ्चित होने के बहाने फूल आया 'कैतवापह्नुति अलंकार' है।

अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिँ उपचार न थोरा॥
कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे॥४॥

हे नाथ! मेरा कहना अनुचित न मानिये, भरत से हमारे पास कम साधन नहीं है। कहाँ तक सहूँ और मन को दबाये रहूँ, मैं भी स्वामी के साथ में हूँ तथा मेरे हाथ में भी धनुष है॥४॥

दो०—छत्रि-जाति रघुकुल-जनम, राम-अनुज जग जान।
लातहु मारे चढ़ति सिर, नीच को धूरि समान॥२२९॥

क्षत्रिय जाति, रघुकुल में जन्म, रामचन्द्रजी का छोटा भाई संसार जानता है। धूल के समान नीच कौन है? वह भी लात के मारने से सिर पर चढ़ती है॥२२९॥

दूसरे का बल प्रयोग अत्याचार न सहने के लिए एक क्षत्रिय जाति ही प्रय्याप्त कारण है, तिस पर रघुकुल में जन्म, राम-बन्धु, स्वामी का साथ और धनुष हाथ में रहना अन्य प्रबल हेतुओं की उपस्थिति 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

चौ०—उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीररस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन-सायक हाथा॥१॥

उठ कर हाथ जोड़ आज्ञा माँगी, ऐसा मालूम होता है मानों वीररस सोते से जाग पड़ा हो। सिर पर जटा बाँध और कमर में तरकस कस कर हाथ में धनुष बाण सज कर—बोले॥१॥

वीररस कोई शरीरधारी योधा नहीं जो सोते से जाग उठा हो, वह तो वीरों के मन का विकार मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

आजु राम-सेवक जस लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फल पाई। सोवहु समर-सेज दोउ भाई॥२॥

आज मैं रामचन्द्रजीका सेवक होने का यश लूँगा, भरत को युद्ध की शिक्षा दूँगा। रामचन्द्रजी के अनादर का फल पाकर दोनों भाई समर-शय्या पर सोवेंगे॥२॥

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥३॥

सब सामान आकर अच्छा बन गया है, पिछला क्रोध आज मैं प्रकट करूँगा। जिस तरह हाथी के झुण्ड का सिंह विनाश करता है और जैसे बटेर को बाज़ लपेट लेता है॥३॥

पिछला क्रोध जो केकयी की क्रूरता पर अयोध्या में हुआ था और उसे मसोस कर सह लेना पड़ा, उस समय कुछ कर नहीं सके थे।

तैसेहि भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौँ सहाय कर सङ्कर आई । तौ मारउँ रन राम-दोहाई ॥४॥

उसी तरह सेना सहित और छोटे भाई शत्रुहन समेत भरत का तिरस्कार कर रणक्षेत्र में संहार कर डालूँगा। यदि शङ्करजी आकर सहायता करेंगे तो भी मैं रामचन्द्रजी की सौगन्ध करता हूँ कि रण में उन्हें मारूँगा ॥४॥

दो०—अति सरोष माँखे लखन, लखि सुनि सपथ प्रवान ।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान ॥ २३० ॥

लक्ष्मणजी को माँख से अत्यन्त क्रुद्ध देख और प्रमाणिक शपथ सुन कर लोग भयभीत हुए तथा सब लोकपाल डर कर अपने अपने लोकों से भागजाना चाहते हैं ॥२३०॥

भरतजी के समान शान्त, पूज्य-पुरुष पर लक्ष्मणजी का अयथार्थ क्रोध प्रकाशित करना 'रौद्र रसाभास' है।

चौ०—जग भय मगन गगन भइ बानी । लखन बाहु-बल बिपुल बखानी ॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा । को कहि सकइ को जान निहारा ॥१॥

संसार भय में मग्न हो गया और लक्ष्मणजी के बाहु बल की भूरिभूरि प्रशंसा करते हुए आकाश-वाणी हुई। हे तात! आप के प्रताप और महिमा को कौन कह सकता है तथा कौन जाननेवाला है? ॥१॥

अनुचित उचित काज कछु होऊ । समुझि करिय भल कह सब कोऊ ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं । कहहिँ बेद-बुध ते बुध नाहीं ॥२॥

'अनुचित या उचित कुछ भी कार्य्य हो समझ कर करने से सब कोई अच्छा कहते हैं। जो जल्दबाज़ी करके पीछे पछताते हैं, वेद और पण्डित कहते हैं कि वे दूरदर्शी नहीं हैं ॥२॥

सुनि सुर-बचन लखन सकुचाने । राम-सीय सादर सनमाने ॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई । सब तेँ कठिन राज-मद भाई ॥३॥

देवताओं के वचन सुन कर (अपनी भूल जान कर) लक्ष्मणजी लजा गये, रामचन्द्रजी और सीताजी ने आदर से सम्मान किया। रामचन्द्रजी बोलेः—हे तात! आपने अच्छी नीति कही है, भाई! राजमद सब से कठिन है ॥३॥

जो अँचवत मातहिँ नृप तेई । नाहिँ न साधु-सभा जेहि सेई ॥
सुनहु लखन भल भरत सरीसा । बिधि प्रपञ्च महँ सुना न दीसा ॥४॥

जो पी कर वही राजा मतवाले होते हैं जिन्होंने सज्जन-मण्डली की सेवा नहीं की है। हे लक्ष्मण! सुनो, भरत के समान उत्तम पुरुष हमने ब्रह्मा की सृष्टि में न सुना और न देखा है ॥४॥

दो०-भरतहि होइ न राजमद, बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीर-सिन्धु बिनसाइ ॥२३१॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश का पद पा कर भी भरत को राजमद न होगा । क्या कभी काँजी के अल्प-विन्दुओं से क्षीरसागर बिगड़ (जम) सकता है ? (कदापि नहीं) ॥२३१॥

पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्द्ध वक्रोक्ति द्वारा उपमान वाक्य है । दोनों वाक्यों में विना वाचक पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है । काँजी कई प्रकार से बनाई जाती है, वह एक प्रकार का खट्टा पानी है ।

चौ०-तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगन मगन मकु मेघहि मिलई ॥
गो-पद जल बूड़हिँ घटजोनी । सहज छमा बरु छाड़इ छोनी ॥१॥

चाहे मध्याह्न के सूर्य्य को अन्धकार निगल जाय, चाहे आकाश में बादलों को रास्ता न मिले । (समुद्र को सुखा देनेवाले) अगस्त्यमुनि चाहे गौ के खुर बराबर जल में डूब जाँय, स्वाभाविक क्षमाशील पृथ्वी चाहे क्षमा को छोड़ दे ॥१॥

'गगन मग न मकु मेघहि मिलई' अधिकांश अर्थकर्त्ता 'मग न' को एक शब्द मान कर यह अर्थ करते हैं कि—"आकाश चाहे बादलों में मिल जाय" । राजापुर की प्रति में शब्दों का अलगाव नहीं है 'मगन' और 'मग न' मानना पाठकों की इच्छा पर निर्भर है । परन्तु यदि कविजी को ऐसा कहना होता तो विशेषता यह थी कि लघु तारा में आकाश का मिलना कहते । यहाँ तो उनके कहने का तात्पर्य्य यही प्रतीत होता है कि चाहे इतने बड़े अनन्त आकाश में मेघों को चलने का रास्ता न मिले ।

मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृप-मद भरतहि भाई ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबन्धु नहिँ भरत समाना ॥२॥

चाहे मसा के फूँक से सुमेरु-पर्वत उड़ जाय, पर हे भाई ! भरत को राजमद नहीं हो सकता । हे लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिता की सौगन्द करके कहता हूँ कि भरत के समान सुन्दर पवित्र भाई नहीं है ॥२॥

सगुन-छीर अवगुन-जल ताता । मिलइ रचइ परपञ्च बिधाता ॥
भरत हंस रबि-बंस-तड़ागा । जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा ॥३॥

हे तात ! सुन्दर गुण रूपी दूध और अवगुण रूपी जल को संसार में मिला हुआ विधाता ने रचा । सूर्यकुल रूपी सरोवर में हंस रूपी भरत ने जन्म ले कर गुण और दोष को अलग अलग कर दिया ॥३॥

प्रस्तुत वृत्तान्त को सीधे न कहने में व्यङ्गार्थ द्वारा ललित अलंकार है कि केकयी के उदर से भरत उत्पन्न हैं जिसमें दुर्गुण रूपी जल भरा है, पर उन्होंने दुर्गुणों को त्याग कर गुण रूपी दूध ही ग्रहण किया ।

गहि गुन-पय तजि अवगुन-बारी । निज जस जगत कीन्हि उँजियारी ॥
कहत भरत गुन-सील-सुभाऊ । प्रेम-पयोधि मगन रघुराऊ ॥ ४ ॥

गुण रूपी दूध को ग्रहण कर अवगुण रूपी जल को त्याग दिया, अपने यश से जगत में उँजेला किया । भरतजी का गुण, शील और स्वभाव कहते हुए रघुनाथजी प्रेम के सागर में डूब गये ॥४॥

दो०—सुनि रघुबर-बानी बिबुध, देखि भरत पर हेतु ।
सकल सराहत राम सोँ, प्रभु को कृपानिकेतु ॥ २३२ ॥

रघुनाथजी की वाणी सुन कर और भरतजी पर उनका स्नेह देख कर सम्पूर्ण देवता सराहते हैं कि रामचन्द्रजी के समान दयानिधान स्वामी कौन है ? ॥२३२॥

चौ०—जैाँ न होत जग जनम भरत को । सकल धरम-धुर-धरनि धरत को ॥
कबि-कुल-अगम भरत-गुनगाथा । को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥१॥

यदि संसार में भरतजी का जन्म न होता तो सम्पूर्ण धर्म के भार को धरती पर कौन धारण करता ? भरतजी के गुणों की कथा कहने में कविकुल के लिये दुर्गम है, हे रघनाथजी ! आप के विना उसको दूसरा कौन जान सकता है ? (कोई नहीं) ॥१॥

लखन-राम-सिय सुनि सुर-बानी । अति सुख लहेउ न जाइ बखानी ॥
इहाँ भरत सब सहित सहाये । मन्दाकिनी पुनीत नहाये ॥२॥

देवताओं की वाणी सुन कर लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और सीताजी अत्यन्त सुखी हुए, जो कहा नहीं जा सकता । यहाँ सब समाज के सहित भरतजी पवित्र मन्दाकिनी गंगा में स्नान किये ॥२॥

सरित समीप राखि सब लोगा । माँगि मातु गुरु सचिव नियोगा ॥
चले भरत जहँ सिय-रघुराई । साथ निषादनाथ लघु भाई ॥३॥

सब लोगों को नदी के समीप ठहरा कर माता, गुरू और मन्त्रियों से आज्ञा माँग जहाँ सीताजी और रघुनाथजी हैं, साथ में निषादराज तथा छोटे भाई शत्रुहन के सहित भरतजी चले ॥३॥

समुझि मातु करतब सकुचाहीं । करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥
राम-लखन-सिय सुनि मम नाऊँ । उठि जनि अनत जाहिँ तजि ठाऊँ ॥४॥

माता की करनी समझ कर सकुचाते हैं और करोड़ों कुतर्क मन में करते हैं । सोचते हैं कि मेरा नाम सुन कर रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजी वह स्थान त्याग कहीं दूसरी जगह उठ कर न चले जाँय ॥४॥

दो०—मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु करहिँ सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिँ, समुझि आपनी ओर ॥२३३॥

माता के मत में मुझे मानें तो जो कुछ करें वह थोड़ा ही है। मेरे पाप और अवगुणों को क्षमा कर यदि आदर करें तो अपनी ओर समझ कर करेंगे ॥२३३॥

माता के कर्त्तव्य को सोच कर मन में भयभीत होना 'त्रास सञ्चारी भाव' है। दोषों को क्षमा कर यदि आदर करेंगे तो वह अपनी उदारता, सरलता से करेंगे 'वितर्क सञ्चारी भाव' है।

चौ०—जौँ परिहरहिँ मलिन मन जानी। जौँ सनमानहिँ सेवकमानी॥
मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ॥१॥

चाहे मलिन मन जान कर त्याग दें, चाहे सेवक मान कर सम्मान करें। मुझे रामचन्द्रजी की जूतियों का सहारा है, रामचन्द्रजी सुन्दर स्वामी हैं दोष सब दास का (मेरा) ही है ॥१॥

जग जस-भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता ॥२॥

जगत में पपीहा और मछली यश के पात्र हैं जो अपने नेम तथा प्रेम में नित्य नये प्रवीण हैं। ऐसा मन में विचारते मार्ग में चले जाते हैं, सकुच और स्नेह से सब अंग ढीले पड़ गये हैं ॥२॥

चातक का नियम है कि स्वाति-विन्दु के सिवा दूसरा जल नहीं पीता। मछली का प्रेम है कि जल का वियोग होने पर प्राण तज देती है। इन उदाहरणों से अपने में हीनता व्यञ्जित करने का भाव है कि ये दोनों जड़ होकर भी नेम प्रेम में पक्के हैं। मैंने चेतन होकर न तो नेम ही निवाहा, क्योंकि जगह जगह बर माँगा। प्रेम भी नहीं निबाहा कि स्वामी का वियोग होने पर प्राण ही तज दिया हो, अतएव मैं इनसे भी गयाबीता हूँ।

फेरति मनहिँ मातु-कृत खोरी। चलत भगति-बल धीरज-धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ ॥३॥

माता के किये हुए दोष मन को पीछे लौटाते हैं, पर भक्ति का बल उन्हें धीरज से इस बोझ का उठाने वाला बना कर आगे चलाता है। जब रघुनाथजी के स्वभाव को समझते हैं (कि—कोटि बिप्र बध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहिँ ताहू) तब रास्ते में जल्दी जल्दी पाँव पड़ने लगता है ॥३॥

भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जलप्रबाह जल-अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोच सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥४॥

उस समय भरतजी की कैसी दशा है, जैसे जल की धारा में पानी के भँवर की चाल होती है। भरतजी का सोच और स्नेह देख कर निषाद उस समय विदेही होगया अर्थात् शरीर की सुध बुध भुला गई ॥४॥

जलअलि-शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो पानी का भँवर जो बहते हुए जल में छोटा बड़ा गोलाकार उत्पन्न होता है। दूसरा पानी पर तैरनेवाला काले रंग का भ्रमर। इन दोनों की चाल एक समान होती है, कभी एक स्थल पर रुक जाते और कभी तेज़ी से आगे बढ़ते हैं।

दो०—लगे होन मङ्गल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।
मिटिहि सोच होइहि हरष, पुनि परिनाम बिषाद ॥ २३४ ॥

मङ्गल सूचक सगुन होने लगे, उन्हें सुन और विचार निषाद ने कहा। सोच मिटेगा, हर्ष होगा फिर अन्त में विषाद होगा ॥२३४॥

सगुन दो प्रकार के हैं, शब्द और दृश्य। शब्दवाले शकुनों को सुन कर और दर्शनवाले शकुनों को देख कर फलाफल कहता है।

चौ०—सेवक बचन सत्य सब जाने। आस्रम निकट जाइ नियराने ॥
भरत दीख बन सैल समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू ॥१॥

सेवक के वचन सब सत्य जान कर आश्रम के समीप जा नियरा गये। भरतजी ने वन और पर्वत-समूह को देखा, वे ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों भूखा मनुष्य सुन्दर अन्न पा गया हो ॥१॥

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिधि ताप पीड़ित ग्रह मारी ॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरतगति तेहि अनुहारी ॥२॥

ईतिभीति, तीनों ताप और भारी ग्रह बाधाओं से पीड़ित हुई दुःखित प्रजा मानों सुन्दर राज्य और अच्छे देश में जाकर सुखी हो, भरतजी की दशा उसी के अनुसार हो रही है ॥२॥

ईतिभीति के सात प्रकार हैं। यथा—"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैताईतयः स्मृताः" ॥ अर्थात् अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहा, टिड्डी, शुक का लगना, ससैन्य अपने राजा वा पर राज्य के राजा का गमन खेती की ईतिभीति हैं।

राम-बास बन सम्पति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ॥
सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू ॥३॥

रामचन्द्रजी के निवास से वन ऐश्वर्य्य से शोभायमान हो रहा है, ऐसा मालूम होता है मानों सुन्दर राजा पाकर प्रजा सुखी हो। ज्ञान राजा का वैराग मन्त्री है और सुहावना वन पवित्र देश है ॥३॥

विवेक पर राजा का आरोप करके अच्छे राजा के जितने अङ्ग हैं अर्थात् मन्त्री, रानी, राजधानी, मित्र, योद्धा, डङ्का, निशान, नाचगान, मङ्गलाचार, चतुरङ्गिनी सेना, प्रजा, नगर, गाँव, पुरवा, देश, प्रदेश, शत्रु आदि सभी का कवि जी ने साङ्गोपाङ्ग रूपक बाँधा है।

भट जम-नियम सैल-रजधानी। सान्ति सुमति सुचि सुन्दर रानी ॥
सकल अङ्ग सम्पन्न सुराऊ। राम चरन आस्रित चित चाऊ ॥४॥

संयम नियमादि योद्धा हैं, पर्वत राजधानी है, शान्ति और सुमति सुन्दर पवित्र रानियाँ

हैं। यह श्रेष्ठ राजा सम्पूर्ण अङ्गों से भरपूर है और रामचन्द्रजी के चरणों में भरोसा रख कर मन में प्रसन्न रहता है ॥४॥

दो०—जीति मोहि-महिपाल दल, सहित बिबेक भुआल ।
करत अकंटक राज्य पुर, सुख सम्पदा सुकाल ॥२३५॥

अज्ञान रूपी राजा की सेना के सहित जीत कर ज्ञान रूपी राजा अपनी राजधानी में अकंटक (शत्रुहीन) राज्य करता है, उसके राज्य में सुख सम्पत्ति और सुकाल छाया हुआ है ॥२३५॥

चौ०—बन प्रदेस मुनि-बास घनेरे । जनु पुर नगर गाउँ-गन खेरे ॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना । प्रजा-समाज न जाइ बखाना ॥१॥

वन रूपी प्रान्त में मुनियों के बहुत से निवासस्थान हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों शहर कसबा, गाँव और छोटी छोटी पुरहाई हों। नाना प्रकार के असंख्यों विलक्षण पक्षी और मृग प्रजा का समुदाय है जो बखाना नहीं जा सकता ॥१॥

खगहा करि हरि बाघ बराहा । देखि महिष बृष साज सराहा ॥
बयर बिहाय चरहिँ एक सङ्गा । जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरङ्गा ॥२॥

गैंड़ा, हाथी, सिंह बाघ, सुअर, भैंसा और बैलों की सजावट देख कर सराहते ही बनता है। स्वाभाविक बैर त्याग कर एक साथ विचरते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों जहाँ तहाँ चतुरङ्गिनी सेना हो ॥२॥

झरना झरहिँ मत्त गज गाजहिँ । मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिँ ॥
चक चकोर चातक सुक पिकगन । कूजत मञ्जु मराल मुदित मन ॥३॥

झरनों से जल गिरता है और मतवाले हाथी गर्जते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों नगाड़े और अनेक प्रकार के बाजे बजते हों। चकवा, चकोर, पपीहा, सुग्गा कोयल और हंस झुंड के झुंड प्रसन्न मन से सुहावनी सुन्दर बोली बोलते हैं ॥३॥

अलि-गन गावत नाचत मोरा । जनु सुराज मङ्गल चहुँ ओरा ॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला । सब समाज मुद-मङ्गल-मूला ॥४॥

भ्रमरों के झुण्ड गान करते और मुरैले नाचते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों अच्छे राज्य में चारों ओर मङ्गल होता हो। लता, वृक्ष और घास (छोटे छोटे पौधे) फूले फले हैं, सब समाज आनन्द मंगल का मूल है ॥४॥

दो०—राम-सैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम ।
तापस तप-फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम ॥२३६॥

रामचन्द्रजी के पर्वत की शोभा को देख कर भरतजी के हृदय में अत्यन्त प्रेम हुआ। वे ऐसे सुखी हुए जैसे तपस्वी तप का फल पा कर नियम समाप्त होने से सुखी होता है ॥२३६॥

चौ०—तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
नाथ देखियहि बिटप बिसाला। पाकरि जम्बु रसाल तमाला॥१॥

तब केवट दौड़ कर ऊँचे पर चढ़ गया और भुजा उठाकर भरतजी से कहा। हे नाथ! देखिये, पाकर, जामुन, आम और तमाल के विशाल वृक्ष हैं॥१॥

तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा। मञ्जु बिसाल देखि मन मोहा॥
नील-सघन-पल्लव फल-लाला। अबिचल छाँह सुखद सब काला॥२॥

उन चारों वृक्षों के बीच में सुन्दर विशाल बड़ का पेड़ शोभायमान है, जिसको देख कर मन मोहित हो जाता है। उसके नीले रङ्ग के घने पत्ते और फल लाल हैं, उसकी छाँह सब काल में सुखदायी और अविचल (कभी चलनेवाली नहीं) है॥२॥

मानहुँ तिमिर-अरुन-मय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुखमा सी॥
ये तरु सरित समीप गोसाँई। रघुबर परन-कुटी जहँ छाई॥३॥

ऐसा मालूम होता है मानों अन्धकार (श्यामता) और ललाई मिली हुई शोभा की राशि के समान एकट्ठी करके ब्रह्मा ने बनाई हो। हे स्वामिन्! ये वृक्ष नदी के समीप में हैं, जहाँ रघुनाथजी की पत्तों की कुटी छाई है॥३॥

पत्ते फल स्वतः वृक्ष में लगे हैं, उसको रचकर ब्रह्मा का बनाया कहना कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

तुलसी तरुबर बिबिध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाये॥
बट-छाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि-सरोज-सुहाई॥४॥

नानाप्रकार के सुहावने तुलसी के श्रेष्ठ वृक्ष कहीं कहीं सीताजी और कहीं लक्ष्मणजी लगाये हैं। बड़ की छाया में सीताजीने अपने कमल-हाथों से सुन्दर वेदी बनाई है॥४॥

दो०—जहाँ बैठि मुनि-गन सहित, नित सिय राम सुजान।
सुनहिँ कथा इतिहास सब, आगम-निगम-पुरान॥२३७॥

जहाँ मुनि-मण्डली के सहित सीताजी और सुजान रामचन्द्रजी नित्य बैठ कर वेद, शास्त्र पुराणों की कथा का सब इतिहास सुनते हैं॥२३७॥

कथा और इतिहास शब्द पर्यायवाची होने से पुनिरुक्ति का आभास है, परन्तु अर्थ दोनों का भिन्न भिन्न है अतः पुनिरुक्ति नहीं है। पहला धर्म विषयक व्याख्यान और दूसरा बीती हुई प्रसिद्ध घटनाएँ और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों के काल-क्रम का वर्णन 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

चौ०—सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥१॥

मित्र के वचन को सुन कर वृक्ष को देखा, भरतजी के नेत्रों में आँसू उमड़ आये। दोनों भाई प्रणाम करते हुए चले, उनकी प्रीति कहते हुए सरस्वती सकुचा जाती हैं॥१॥

हरषहिं निरखि राम-पद-अङ्का । मानहुँ पारस पायेउ रङ्का ॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं । रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥२॥

रामचन्द्रजी के चरणों के चिन्ह देख कर प्रसन्न होते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों महादरिद्री ने पारस-पत्थर पाया हो । वहाँ की धूल को सिर पर रख कर हृदय और नेत्रों में लगाते हैं, उससे रघुनाथजी के मिलने के बराबर सुख पाते हैं ॥२॥

देखि भरत-गति अकथ अतीवा । प्रेम-मगन खग-मृग जड़ जीवा ॥
सखहि सनेह-बिबस मग भूला । कहि सुपन्थ सुर बरषहिं फूला ॥३॥

भरतजी की अत्यन्त अकथनीय दशा देख कर पक्षी मृग जड़ जीव भी प्रेम में मग्न हो गये । मित्र (गुह) प्रेम के अधीन होकर रास्ता भूल गया, सुन्दर मार्ग बतला कर देवता फूल बरसाते हैं ॥३॥

जब पशु पक्षी आदि जड़ जीव प्रेम में निमग्न हो गये, तब निषाद तो मनुष्य था उसका प्रेमासक्त होकर मार्ग भूल जाना कोई आश्चर्य नहीं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है ।

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे । सहज सनेह सराहन लागे ॥
होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ॥४॥

स्वाभाविक स्नेह को देख कर सिद्ध और साधक अनुरक्त हो सराहना करने लगे । यदि पृथ्वीतल में भरतजी का प्रेम न प्रगट होता तो जड़ को चेतन और चेतन को जड़ कौन करता ? ॥४॥

दो०—प्रेम-अमिय मन्दर-बिरह, भरत-पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर-साधु हित, कृपासिन्धु रघुबीर ॥२३८॥

भरतजी अथाह समुद्र रूप हैं, उनका प्रेम अमृत है और रामचन्द्रजी का विरह मन्दराचल है । साधु रूपी देवताओं के लिये दया-सागर रघुनाथजी ने मथ कर (इस अमृत-रत्न को संसार में) प्रगट किया ॥२३८॥

चौ०—सखा समेत मनोहर जोटा । लखेउ न लखन सघन बन ओटा ॥
भरत दीख प्रभु आस्रम पावन । सकल सुमङ्गल-सदन सुहावन ॥१॥

मित्र के सहित मनोहर जोड़ी को घने जंगल की आड़ में लक्ष्मणजी ने नहीं लखा । भरतजी ने प्रभु के पवित्र आश्रम को देखा जो सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों का सुहावना स्थान है ॥१॥

करत प्रबेस मिटे दुख दावा । जनु जोगी परमारथ पावा ॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे । पूछे बचन कहत अनुरागे ॥२॥

आश्रम में प्रवेश करते ही दुःख की जलन मिट गई, ऐसा मालूम होता है मानों योगी परमार्थ (सम्यक ज्ञान) पा गया हो । भरतजी ने देखा कि स्वामी के सामने खड़े होकर लक्ष्मणजी कुछ पूछी हुई बात को प्रेम से कहते हैं ॥२॥

सीस-जटा कटि-मुनि-पट बाँधे । तून कसे कर सर धनु-काँधे ॥
बेदी पर मुनि-साधु-समाजू । सीय सहित राजत रघुराजू ॥३॥

उनके सिर पर जटा है और कमर में मुनियों के वस्त्र से कस कर तरकस बाँधे हैं, हाथ में बाण और कन्धे पर धनुष है। सीताजी के सहित मुनि और साधु-मण्डली के बीच चबूतरे पर रघुनाथजी विराजमान हैं ॥३॥

बलकल-बसन जटिल तनु स्यामा । जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा ॥
कर कमलनि धनु सायक फेरत । जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥४॥

बक्कल का वस्त्र, जटाधारी और श्याम शरीर ऐसे मालूम होते हैं मानों रति तथा कामदेव ने मुनि का वेष बनाया हो। कर-कमलों से धनुष बाण फेरते हैं, और जिसकी ओर हँस कर निहारते हैं उसके जी की जलन हर लेते हैं ॥४॥

रतिकामदेव शृङ्गार के रूप, वे मुनि वेष क्यों धारण करने लगे, यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में 'कर' के उपमान 'कमल' द्वारा धनुष-बाण का फेरना कहा गया जो वास्तव में कर द्वारा होना चाहिये 'परिणाम अलंकार' है।

दो०—लसत मञ्जु मुनि-मंडली, मध्य सीय-रघुचन्द ।
ज्ञान-सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानन्द ॥ २३९ ॥

मुनि-मण्डली के बीच में सीताजी और रघुकुल-कुमुद के चन्द्रमा रामचन्द्रजी सुन्दर शोभायमान हो रहे हैं। वे ऐसे मालूम होते हैं मानों ज्ञान की सभा में भक्ति और परब्रह्म शरीर धारण किये विराजते हों ॥२३९॥

मुनि-मण्डली और ज्ञान-सभा, भक्ति और सीताजी, सच्चिदानन्द और रामचन्द्रजी परस्पर उपमेय उपमान हैं। ज्ञान-सभा, भक्ति और परब्रह्म शरीरधारी नहीं होते, कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—सानुज सखा समेत मगन मन । बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख गन॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाँई । भूतल परे लकुट की नाँई ॥ १ ॥

छोटे भाई शत्रुहन और मित्र-निषाद के सहित मन में मग्न हो गये, हर्ष, शोक, सुख और दुःख समूह भुला गये। हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे स्वामिन्! रक्षा कीजिये, कह कर धरती पर डंडे की तरह गिर पड़े ॥१॥

बचन सप्रेम लखन पहिचाने । करत प्रनाम भरत जिय जाने ॥
बन्धु सनेह सरस एहि ओरा । उत साहिब सेवा बरजोरा ॥ २ ॥

प्रेम के साथ निकले हुए वचन को लक्ष्मणजी पहचान गये और मन में जान लिया कि भरतजी प्रणाम करते हैं। इस ओर भाई (भरतजी) के स्नेह की अधिकता और उधर स्वामी की सेवा की प्रबलता (न तो दौड़ कर भरतजी से मिल सकते हैं और न स्वामी द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर ही दे सकते हैं) ॥२॥

यहाँ दोनों भावों की खींचातानी में भावसन्धि है।

मिलि न जाइ नहिँ गुदरत बनई । सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चङ्ग जनु खैंच खेलारू ॥३॥

न भरतजी से मिलते बनता है और न स्वामी से कहते बनता है, अच्छे कवि लक्ष्मणजी के मन की गति को कहते हैं, कि सेवा-धर्म पर बोझ रख छोड़ा अर्थात् स्वामी को बिना जनाये और आज्ञा पाये भरतजी से मिलना उचित नहीं (मन को भरतजी की ओर से सावधानी से क्रमशः खींचा) ऐसा मालूम होता है मानों ऊँचे चढ़ी हुई पतङ्ग को नीचे उतारने के लिए क्रम क्रम से बचा कर खेलाड़ी खींचता हो ॥३॥

लक्ष्मणजी ने मन को क्रम क्रम से भरतजी की ओर से खींचा, यही उत्प्रेक्षा का विषय है। आकाश में चढ़ी हुई पतंग को नीचे उतारते समय खेलाड़ी वार वार ढील दे सम्हाल कर उतारते ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा । भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषङ्ग धनु तीरा ॥४॥

धरती में मस्तक नवा कर प्रेम से कहते हैं, हे रघुनाथजी ! भरतजी प्रणाम करते हैं। सुन कर रामचन्द्रजी प्रेम में अधीर हो उठे, कहीं वस्त्र, कहीं तरकस और कहीं धनुष-बाण रह गये ॥४॥

दो०—बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि, बिसरा सबहि अपान ॥२४०॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी ने ज़ोरावरी से भरतजी को उठा कर हृदय से लगा लिया। भरतजी और रामचन्द्रजी का मिलनो देख कर सभी अपने को भुला कर (प्रेम मुग्ध हो गये) ॥२४०॥

चौ०—मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी । कबि-कुल-अगम करम मन बानी ॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई । मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥१॥

मिलाप की प्रीति कैसे बखानी जा सकती है, वह कर्म, मन और वाणी से कवि-कुल के लिये दुर्गम है। दोनों भाई मन, बुद्धि चित्त और अहङ्कार भूल कर प्रेम में भरे हैं ॥ १ ॥

कहहु सुप्रेम प्रगट को करई । केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥
कबिहि अरथ आखर बल साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नट नाँचा ॥२॥

कहो इस सुन्दर प्रेम को कौन प्रगट करे ? किसकी छाया से कवि की बुद्धि कह सकती है ? कवि को अक्षर और अर्थ का सच्चा बल है, ताल की गति के अनुसार ही नचवैया नाचता है ॥ २ ॥

अक्षरों में इतना अर्थबल नहीं है कि उस प्रेम को यथातथ्य प्रगट कर सकें, यह लक्षणा-मूलक वाच्यविशेष व्यङ्ग है।

अगम सनेह भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मन बिधि-हरि-हर को ॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती । बाज सुराग कि गाँड़र ताँती ॥ ३ ॥

भरतजी और रघुनाथजी का परस्पर स्नेह अगम है, जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश का मन नहीं पहुँचता । उसको मैं कुबुद्धि किस तरह कह सकता हूँ, क्या भेड़ की ताँत से अच्छा राग वज सकता है ? (कभी नहीं) ॥३॥

उपमेय रूपी प्रथम वाक्य में वर्णनकी अशक्ता कही गई है और उपमानरूपी उत्तरार्द्ध वाक्य में काकु से उदाहरण द्वारा अशक्तता प्रगट है । यह 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है । गाँड़र शब्द भेड़ और खस दोनों का पर्यायवाची है ।

मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की । सुर-गन सभय धकधकी धर की ॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे । बरसि प्रसून प्रसंसन लागे ॥४॥

भरतजी और रघुनाथजी का मिलना देख कर देवताओं की डर से छाती धड़कने लगी । देवगुरु (बृहस्पति) ने समझाया, तब वे नासमझी से सावधान हुए और फूलों की वर्षा करके प्रशंसा करने लगे ॥४॥

दो०—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिँ, केवट भेंटेउ राम ।
भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम ॥२४१॥

रामचन्द्रजी प्रेम के साथ शत्रुहन से मिलकर केवट से मिले । लक्ष्मणजी को प्रणाम करते देख कर भरतजी बड़े प्रेम से उनसे मिले ॥२४१॥

चौ०—भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई । बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥
पुनि मुनि-गन दुहुँ भाइन्ह बन्दे । अभिमत आसिष पाइ अनन्दे ॥१॥

लक्ष्मणजी अत्यन्त चाह से छोटे भाई शत्रुहनजी से मिले, फिर निषाद को हृदय से लगा लिया । तब दोनों भाई (भरत-शत्रुहन) मुनि-मण्डली को प्रणाम किया और वाञ्छित आशीर्वाद पा कर प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

सानुज भरत उमगि अनुरागा । सिर धरि सिय-पद-पदुम-परागा ॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये । सिर कर-कमल-परसि बैठाये ॥२॥

छोटे भाई के सहित भरतजी प्रेम में उमड़ कर सीताजी के चरण रूपी कमलों की धूलि को माथे पर चढ़ाया । बार बार प्रणाम करते हुए उन्हें सीताजी ने उठाया और सिर पर अपने कर-कमलों को फेर कर बैठाया ॥२॥

सीय असीस दीन्हि मन माहीं । मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥
सब बिधि सानुकूल लखि सीता । भे निसोच उर अपडर बीता ॥३॥

सीताजी ने मन में आशीर्वाद दिया, (प्रत्यक्ष बोल न सकीं, क्योंकि वे) स्नेह में मग्न हैं, उन्हें शरीर की सुध नहीं है । सब प्रकार सीताजी को प्रसन्न देख कर भरतजी सोच से रहित हो गये, उनके हृदय का कल्पित भय जाता रहा ॥३॥

सीताजी ने मन में आशीर्वाद दिया वे बोल न सकीं, हेतुसूचक बात कह कर इसकी पुष्टि करना कि स्नेह में मग्न होनेके कारण उन्हें देहकी सुध नहीं थी 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज-गति छूछा॥
तेहि अवसर केवट धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनाम करि॥४॥

न कोई कुछ कहता है; न कोई कुछ पूछता है, सब का मन प्रेम से भरा और अपनी गति (चञ्चलता) से खाली है। उस समय केवट धीरज धर प्रणाम करके हाथ जोड़ बिनती करने लगा॥४॥

दो०—नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब, आये बिकल बियोग॥२४१॥

हे नाथ! मुनिराज (वशिष्ठजी) के साथ सम्पूर्ण माताएँ, नगर के लोग, सेवक, सेनापति और मन्त्री सब विरह से व्याकुल आये हैं॥२४१॥

चौ०—सीलसिन्धु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥
चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम-धुर दीनदयाला॥१॥

शील के समुद्र, धीरवान, धर्मधुरीण, दीनदयाल रामचन्द्रजी गुरु का आगमन सुन कर सीताजी के समीप में शत्रुहनजी को रख कर उसी समय शीघ्रता से चले॥१॥

गुरुहि देखि सानुज अनुरागे। दंड-प्रनाम करन प्रभु लागे॥
मुनिबर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमगि भैंटे दोउ भाई॥२॥

गुरुजी को देख कर छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित प्रभु राजचन्द्रजी प्रेम से दण्डवत-प्रणाम करने लगे? मुनिवर ने दौड़ कर छाती से लगा लिया और प्रेम में उमड़ कर दोनों भाइयों से मिले॥२॥

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तैं दंड-प्रनामू॥
राम-सखा रिषि बरबस भैंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा॥३॥

प्रेम से पुलकित होकर अपना नाम कह कर केवट ने दूर ही से दण्डवत-प्रणाम किया। रामचन्द्रजी के मित्र (निषाद) से ऋषिराज ज़ोरावरी से मिले; ऐसा मालूम होता है मानों धरती पर लोटते हुए स्नेह को उन्हों ने बटोर कर उठा लिया हो॥३॥

स्नेह कोई रत्नादि दृश्य पदार्थ नहीं है जिसको लोटते में बटोर कर उन्हों ने उठाया हो। यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। निषाद मुनिराज के साथ साथ शृङ्गवेर पुर से आया है। स्नेह वश उसे यह भूल गया, इससे दंड-प्रणाम किया।

रघुपति-भगति सुमङ्गल-मूला। नभ सराहि सुर बरिषहिँ फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥४॥

रघुनाथजी की भक्ति सुन्दर मङ्गल की मूल है, इस तरह आकाश में सराहना करके देवता

फूल बरसाते हैं। कहते हैं कि इसके समान निषाद नीच कोई नहीं और वशिष्ठजी के बराबर संसार में बड़ा कौन है? (जो रामचन्द्रजी के गुरु हैं) ॥ ४ ॥

दो०—जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥२४३॥

जिसको देख कर मुनिराज लक्ष्मणजी से बढ़ कर प्रसन्नता के साथ मिले। वह सीतानाथ के भजन की महिमा का प्रताप प्रत्यक्ष है ॥ २४३ ॥

पहिले विशेष बात कह कर फिर सामान्य उदाहरण से उसको दृढ़ करना कि यह सीतानाथ के भजन का प्रभाव है 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

चौ०—आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी ॥१॥

दया की खान, चतुर भगवान् रामचन्द्रजी ने सब लोगों को दुःखी जाना। जो जिस भाव से मिलने के अभिलाषी थे, उनकी उनकी वैसी वैसी इच्छा पूरी की ॥ १ ॥

सानुज मिलि पल महँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख-दारुन-दाहू ॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट-कोटि एक रबि छाहीं ॥२॥

छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित पल भर में सब किसी से मिल कर भीषण दुःख की ज्वाला दूर की। रामचन्द्रजी के लिये यह बड़ी बात नहीं है, जैसे करोड़ों (जल से भरे) घड़े में एक ही सूर्य्य का प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई देता है ॥ २ ॥

एक रामचन्द्रजी को सब अयोध्यावासियों से साथ ही मिलना अर्थात् युक्ति से अनेक स्थल में वर्णन करना 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

मिलि केवटहि उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिँ भागा ॥
देखी राम दुखित महँतारी। जनु सुबेलि-अवली हिम मारी ॥३॥

सम्पूर्ण पुर के लोग प्रेम में उमड़ कर केवट से मिल कर अपने भाग्य की बड़ाई करते हैं। रामचन्द्रजी ने माताओं को दुखी देखा, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों सुन्दर लता-पंक्ति को पाले ने मार दिया हो ॥ ३ ॥

प्रथम राम भैंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई ॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥४॥

सीधे स्वभाव और भक्ति-रस-पूर्ण बुद्धि से पहले रामचन्द्रजी केकयी से मिले। पाँव पड़ कर फिर काल, कर्म और विधाता के सिर दोष रखकर समझाया ॥ ४ ॥

दो०—भैंटी रघुबर मातु सब, करि प्रबोध परितोष।
अम्ब ईस आधीन जग, काहु न देइय दोष ॥२४४॥

रघुनाथजी सब माताओं से मिले और उन्हें समझा बुझा कर सन्तुष्ट किया कि—हे माता! जगत ईश्वर के आधीन है, किसी को दोष न देना चाहिये ॥२४४॥

रामचन्द्रजी के तपस्वी रूप को देख कर दुःख से सब माताएँ केकयी को दोष देने लगीं। तब रामचन्द्रजी ने उन्हें समझाया कि दोष किसी को न देना चाहिये 'लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग' है।

चौ०—गुरु तिय पद बन्दे दुहु भाई। सहित बिप्र तिय जे सँग आई॥
गङ्ग गौरि सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदु बानी॥१॥

गुरुपत्नी (अरुन्धती) के चरणों की और सम्पूर्ण ब्राह्मण की स्त्रियों के सहित जो साथ में आई थीं, दोनों भाइयों ने वन्दना की। उन्हें गङ्गा और पार्वतीजी के समान समझ कर सब के सत्कार किये, वे प्रसन्न होकर कोमल वाणी से अशीर्वाद देती हैं॥ १॥

गहि पद लगे सुमित्रा अङ्का। जनु भेंटी सम्पति अति रङ्का॥
पुनि जननी चरनन्हि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता॥२॥

सुमित्राजी के पाँव पकड़ कर प्रणाम किये; उन्होंने छाती से लगा लिया, ऐसा मालूम होता है मानों महा दरिद्री को बहुत बड़ी सम्पदा मिली हो। फिर दोनों भाई प्रेम से सर्वाङ्ग विह्वल होकर माता-कौशल्याजी के चरणों पर पड़े॥२॥

अति अनुराग अम्ब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये॥
तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू॥३॥

माता-कौशल्याजी ने अत्यन्त प्रेम से हृदय में लगा लिये और आँखों के स्नेह-जल से स्नान कराये। उस समय का हर्ष और विषाद कवि कैसे नहीं कह सकता, जैसे गूँगा मनुष्य व्यञ्जनों के स्वाद को नहीं वर्णन कर सकता॥३॥

हर्ष रामचन्द्रजी से मिलने का और विषाद तपस्वी रूप देख कर, दोनों भावों का एक साथ हृदय में उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुरु सन कहेउ कि धारिय पाऊ॥
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरे लोगू॥४॥

छोटे भाई लक्ष्मण के सहित रघुनाथजी माता से मिल कर गुरुजी से कहा कि, स्वामिन्! आश्रम में पदार्पण कीजिये। मुनीश्वर की आज्ञा पा कर पुर के लोग जल का ठिकाना लख लख कर जहाँ तहाँ उतरे अर्थात् डेरा डाल दिया॥४॥

दो०—महिसुर मन्त्री मातु गुरु, गने लोग लिय साथ।
पावन आस्रम गवन किय, भरत लखन रघुनाथ॥ २४५॥

ब्राह्मण, मन्त्री, माताएँ, गुरुजी और कुछ गिने लोगों को साथ लिये भरतजी, लक्ष्मणजी और रघुनाथजी ने पवित्र आश्रम में गमन किया॥२४५॥

चौ०—सीय आइ मुनिबर पग लागी । उचित असीस लही मन माँगी॥
गुरु-पतिनिहि मुनि-तियन्ह समेता । मिली प्रेम कहि जाइ न जेता ॥१॥

सीताजी आकर मुनीश्वर के चरणों में लगीं और मन में माँगा हुआ उचित आशीर्वाद पाया । मुनियों की स्त्रियों के सहित गुरुपत्नी से मिलीं, उन्हें जितना आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता ॥१॥

बन्दि बन्दि पग सिय सबही के । आसिरबचन लहे प्रिय जी के ॥
सासु सकल जब सीय निहारी । मूँदे नयन सहमि सुकुमारी ॥२॥

सीताजी ने सभी के चरणों की वन्दना कर करके मनको प्रिय लगनेवाला आशीर्वाद पाया । जब सुकुमारी सीताजी ने सम्पूर्ण सासुओं को देखा, तब सहम कर उन्हों ने आँखें बन्द कर लीं ॥२॥

परी बधिक बस मनहुँ मराली । काह कीन्ह करतार कुचाली ॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा । सो सब सहिय जो दैउ सहावा ॥३॥

उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानों राजहंसिनी व्याधा के वश में पड़ी हो, मन में पछताने लगीं कि—विधाता ने यह कौन सी कुचाल की ? सासुओं ने सीताजी को देख कर बहुत अधिक दुख पाया, सोचतीं हैं कि—जो दैव सहाता है वह सब सहना ही पड़ता है ॥३॥

यदि सुख दुःख दैवाधीन न होता तो इस घोर वन में सीताजी काहे को कष्ट उठातीं । यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है ।

जनक-सुता तब उर धरि धीरा । नील-नलिन-लोयन भरि नीरा ॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई । तेहि अवसर करुना महि छाई ॥४॥

तब जनकनन्दिनी ने हृदय में धीर धर कर और नीले कमल के समान नेत्रों में जल भर कर सम्पूर्ण सासुओं से सीताजी जा कर मिलीं, उस समय धरती पर करुणा छा गई ॥४॥

यहाँ आँखों की उपमा नीले कमल से देने में आशय यह है कि जानकीजी के हृदय में करुणारस प्रधान है । उसका रङ्ग कबूतर जैसा नीला-धुमैला साहित्य शास्त्र में कहा है ।

दो०—लागि लागि पग सबनि सिय, भेँटति अति अनुराग ।
हृदय असीसहिँ प्रेम-बस, रहिहहु भरी सोहाग ॥२४६॥

सभी सासुओं के चरणों में लग लग कर सीताजी अत्यन्त प्रेम से मिलती हैं । वे प्रेम से विह्वल हुई मन में आशीर्वाद देती हैं कि सौभाग्य से भरपूर रहोगी ॥ २४६॥

गद्गद होने के कारण सासुएँ बोल नहीं सकतीं इससे मन में आशीर्वाद देती हैं ।

चौ०—बिकल सनेह सीय सब रानी । बैठन सबहि कहेउ गुरु ज्ञानी ॥
कहि जग-गति मायिक मुनिनाथा । कहे कछुक परमारथ-गाथा ॥१॥

सीताजी और सब रानियाँ स्नेह से विकल हैं, ज्ञानी गुरु वशिष्ठजी ने सब को बैठने के लिये कहा। मुनिराज ने माया से की हुई संसार की गति को (मिथ्या) कह कर फिर कुछ परमार्थ की कथा कही ॥१॥

इन वाक्यों में व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि राज्योत्सव भङ्ग होने से नगर के लोगों को जो दुःख हुआ वह झूठा मायिक है। राजा का सत्यव्रत पालन और आप का पिता के वचनानुसार धर्म में अनुरक्त होना परमार्थ है।

नृप कर सुरपुर-गवन सुनावा । सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा ॥
मरन-हेतु निज-नेह बिचारी । भे अति बिकल धीर-धुर-धारी ॥२॥

राजा का देवलोक-गमन सुनाया, सुन कर रघुनाथजी असहनीय दुःख को प्राप्त हुए। मरने का कारण अपना स्नेह विचार कर धीर धुरन्धर रामचन्द्रजी बहुत ही व्याकुल हुए ॥२॥

कुलिस-कठोर सुनत कटु बानी । बिलपत लखन सीय सब रानी ॥
सोक बिकल अति सकल समाजू । मानहुँ राज अकाजेउ आजू ॥३॥

वज्र के समान कठोर कड़वी वाणी सुनते ही लक्ष्मणजी, सीताजी और सब रानियाँ रुदन करने लगीं। सम्पूर्ण समाज अत्यन्त शोक से विकल हो गया, ऐसा मालूम होता है मानों राजा का शरीरान्त आज ही हुआ हो ॥३॥

मुनिबर बहुरि राम समुझाये । सहित समाज सुसरित नहाये ॥
व्रत निरम्बु तेहि दिन प्रभु कीन्हा । मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा ॥४॥

फिर मुनिवर ने रामचन्द्रजी को समझाया; समाज के सहित सुन्दर (मन्दाकिनी) नदी में स्नान किया। उस दिन प्रभु रामचन्द्रजी ने निर्जल व्रत किया और मुनि के कहने से किसी ने जल नहीं ग्रहण किया अर्थात् गुरुजी ने कहा कि जब रघुनाथजी निर्जल व्रत करते हैं, तब हम लोगों को भी वैसा ही करना चाहिये, जलपान करना उचित नहीं ॥४॥

सभा की प्रति में 'सुरसरित न्हाये' पाठ है, उपर्युक्त पाठ का छक्कनलाल का पाठ मान कर अप्रधानता दी गई है, किन्तु राजापुर की प्रति में 'सुसरित नहाये' पाठ है जिससे सभा की प्रति का पाठ बनावटी सिद्ध होता है। तिलककार ने चौपाई के अन्तिम चरण का बहुत ही विलक्षण अर्थ किया है कि—"यद्यपि वशिष्ठजी ने कहा तो भी किसी ने जल नहीं पिया।" रामचन्द्रजी निर्जल व्रत करें और ज्ञानी गुरु ऐसे गये बीते ठहरे कि अयोध्या वासियों को जलपान का उपदेश दें और पुरजन गुरु के आदेश का तिरस्कार कर निर्जल व्रत करें। जिन गुरुजी की आज्ञा रामचन्द्रजी नहीं टाल सकते, उनकी बात पुरवासी न मानें! कैसा गुरु-सम्मान का भाव-पूर्ण अर्थ है।

दो०—भोर भये रघुनन्दनहिं, जो मुनि आयसु दीन्ह ।
सद्धा भगति समेत प्रभु, सो सब सादर कीन्ह ॥ २४७ ॥

सवेरा होने पर मुनि ने जो आज्ञा रघुनाथजी के दी, वह सब आदर-पूर्वक श्रद्धा और भक्ति के सहित प्रभु रामचन्द्रजी ने किया ॥२४७॥

चौ०—करि पितु क्रिया बेद जसि बरनी । भे पुनीत पातक-तम-तरनी ।
जासु नाम-पावक अघ-तूला । सुमिरत सकल सुमङ्गल-मूला ॥१॥

जैसी वेद ने वर्णन की है, पाप रूपी अन्धकार के सूर्य्य रामचन्द्रजी तदनुसार पिता की अन्तेष्टिक्रिया करके शुद्ध हुए । जिनका नाम पाप रूपी रूई के भस्म करने के लिये अग्नि रूप है और जिसका सुमिरन सम्पूर्ण श्रेष्ठ मङ्गलों का मूल है ॥ १ ॥

सुद्ध सो भयउ साधु-सम्मत अस । तीरथ आवाहन सुरसरि जस ॥
सुद्ध भये दुइ बासर बीते । बोले गुरु सन राम पिरीते ॥२॥

वे शुद्ध हुए, ऐसी सज्जनों की सम्मति है कि जैसे गङ्गाजी में तीर्थों का आवाहन किया जाता है अर्थात् जहाँ सब तीर्थमयी गङ्गाजी वर्तमान हैं फिर वहाँ अन्य तीर्थों के बुलाने की कौन सी आवश्यकता है ? पर नहीं, साधु-मत से वैसा किया जाता है । उसी प्रकार रघुनाथजी के लिये शुद्ध होना कहा गया है । शुद्ध हुए दो दिन बीत गये, तब गुरुजी से प्रीति-पूर्वक रामचन्द्रजी बोले ॥२॥

नाथ लोग सब निपट दुखारी । कन्द मूल फल अम्बु अहारी ॥
सानुज भरत सचिव सब माता । देखि मोहि पल जिमि जुग जाता ॥३॥

हे नाथ ! सब लोग कन्द, मूल, फल और जल का आहार कर निरे दुखी हैं; छोटे भाई शत्रुहन के सहित भरत, मन्त्री और सब माताओं को देख कर मुझे पल युग जैसा बीत रहा है ॥३॥

सब समेत पुर धारिय पाऊ । आपु इहाँ अमरावति राऊ ॥
बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई । उचित होइ तस करिय गोसाँई ॥४॥

सब के सहित अयोध्यापुरी को पधारिये, आप यहाँ हैं और राजा इन्द्रलोक में गये (राजधानी सूनी पड़ी है) । मैं ने बहुत कहा; सब ढिठाई किया, स्वामिन् ! जो उचित हो वैसा कीजिये ॥४॥

दो०—धरम-सेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम ।
लोग दुखित दिन दुइ दरस, देखि लहहुँ बिस्राम ॥ २४८ ॥

गुरुजी ने कहा ! हे रामचन्द्रजी ! आप ऐसा क्यों न कहें ? क्योंकि आप धर्म के रक्षक और दया के स्थान हैं । लोग दुखी हैं, परन्तु दो दिन से आप के रूप को देख कर चैन पा रहा हूँ अर्थात् हम लोगों को आप के दर्शन ही से आराम मिलता है ॥२४८॥

चौ०—राम बचन सुनि सभय समाजू । जनु जलनिधि महँ बिकलजहाजू ॥
सुनि गुरु गिरा सुमङ्गल-मूला । भयउ मनहुँ मारुत अनुकूला ॥१॥

रामचन्द्रजी के वचन सुन कर समाज भयभीत हुआ, ऐसा मालूम होता है मानों समुद्र में जहाज़ विकल (डूबना चाहता) हो। पर गुरुजी की सुन्दर मङ्गल की मूल वाणी सुन कर ऐसा जान पड़ता है मानों वायु अनुकूल हुआ हो ॥१॥

पावन पय तिहुँ काल नहाहीं । जो बिलोकि अघ-ओघ नसाहीं ॥
मङ्गल-मूरति लोचन भरि भरि । निरखहिँ हरषि दंडवत करि करि ॥२॥

पवित्र जल में तीनों काल नहाते हैं। जो देख कर पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं। रामचन्द्रजी की मङ्गल-मूर्त्ति आँख भर भर कर देखते हैं और दण्डवत कर करके प्रसन्न होते हैं ॥२॥

राम-सैल-बन देखन जाहीं । जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ॥
झरना झरहिँ सुधा सम बारी । त्रिबिधि तापहर त्रिबिधि बयारी ॥३॥

रामचन्द्रजी के पर्वत और वन को देखने जाते हैं, जहाँ सम्पूर्ण सुख है और समस्त दुःख नहीं है। झरना अमृत के समान जल गिराते हैं, तीनों तापों को हरनेवाली तीनों प्रकार की बयारि चलती है ॥३॥

बिटप बेलि तृन अगनित जाती । फल प्रसून पल्लव बहु भाँती ॥
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं । जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं ॥४॥

अनगिनती जाति के वृक्ष, लता, तृण उनमें बहुत तरह के फल फूल और पत्ते हैं। सुन्दर चट्टान और सुखदायी वृक्षों की छाया है, वन की शोभा किस से वर्णन की जा सकती है? (किसी से नहीं) ॥४॥

दो०—सरनि-सरोरुह जलबिहग, कूजत गुञ्जत भृङ्ग ।
बैर-बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहङ्ग बहु रङ्ग ॥२४९॥

तालाबों में कमल फूले हैं, जल के पक्षी बोलते हैं और भँवरे गुञ्जार करते हैं। बहुत तरह के मृग और पक्षी वैर त्याग कर वन में विहार करते हैं ॥२४९॥

चौ०—कोल किरात भिल्ल बन बासी । मधु सुचि सुन्दर स्वाद सुधासी ॥
भरि भरि परन-पुटी रचि रूरी । कन्द मूल फल अङ्कुर-जूरी ॥१॥

वन के रहनेवाले कोल, किरात और भील पवित्र मधु सुन्दर अमृत के समान स्वादिष्ट पत्तों के सुहावने दोने बना कर उनमें भर भर कर और कन्द, मूल, फल तथा अँखुओं के गट्ठे बाँध बाँध कर ॥१॥

सबहि देहिँ करि बिनय प्रनामा । कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा ॥
देहिँ लोग बहु मोल न लेहीँ । फेर राम दोहाई देहीँ ॥२॥

सब के स्वाद, भेद, गुण और नाम कह कह कर प्रार्थना-पूर्वक प्रणाम करके देते हैं। लोग बहुत सा मूल्य देते हैं, पर वे लेते नहीं, तब नगर-निवासी चीज़ें लौटा देते हैं, इस पर कोल भिल्लादि रामचन्द्रजी की दुहाई देते हैं ॥२॥

कहहिँ सनेह मगन मृदु बानी । मानत साधु प्रेम पहिचानी ॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा । पावा दरसन रामप्रसादा ॥३॥

वे स्नेह में मग्न होकर कोमल वाणी से कहते हैं कि सज्जन लोग प्रेम की चिन्हारी मानते हैं। आप सब पुण्यात्मा और हम नीच चाण्डाल हैं, रामचन्द्रजी की कृपा से हम लोगों को आप के दर्शन मिले हैं ॥३॥

हमहिँ अगम अति दरस तुम्हारा । जस मरु-धरनि देवधुनि-धारा ॥
राम-कृपाल गरीब नेवाजा । परिजन प्रजउ चहिय जस राजा ॥४॥

आप के दर्शन हम लोगों को अत्यन्त दुर्लभ हैं, जैसे मारवाड़ की धरती में गङ्गाजी की धारा। दयालु रामचन्द्रजी ने ग़रीबों पर कृपा की है, कुटुम्बी और प्रजा भी वैसे ही होने चाहिये जैसे राजा हैं ॥४॥

दो०–यह जिय जानि सकोच तजि, करिय छोह लखि नेहु ।
हमहिँ कृतारथ करन लगि, फल-तृन-अङ्कुर लेहु ॥२५०॥

यह जी में समझ कर सङ्कोच दूर करके हमारे प्रेम को देख दया कीजिये। हमलोगों को कृतार्थ करने के लिये फल, तृण और अङ्कुरों को लीजिये ॥२५०॥

चौ०–तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे । सेवा जोग न भाग हमारे ॥
देब काह हम तुम्हहिँ गोसाँई । ईँधन पात किरात मिताई ॥१॥

आप प्यारे मेहमान वन में आये हैं, सेवा के योग्य हमारे भाग्य ही नहीं हैं। हे स्वामिन् हम आप को क्या देंगे? किरातों की मित्रता लकड़ी और पत्तों की है ॥१॥

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिँ न बासन बसन चोराई ॥
हम जड़-जीव जीव-गन-घाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥२॥

हमारी यही बहुत बड़ी सेवकाई है कि आप के बर्तन और कपड़े न चुरा लेवें। हम सब जड़-जीव हैं, जावों की हत्या करनेवाले, कुटिल, कुचाली, कुबुद्धी और नीच जाति ॥२॥

पाप करत निसि-बासर जाहीँ । नहिँ पट कटि नहिँ पेट अघाहीँ ॥
सपनेहुँ धरम-बुद्धि कस काऊ । यह रघुनन्दन-दरस प्रभाऊ ॥३॥

पाप ही करते रात-दिन बीतते हैं, कमर में वस्त्र नहीं और न पेट भर भोजन पाते हैं।

हम लोगों को स्वप्न में भी कभी धर्म-बुद्धि कैसी ? यह रघुनाथजी के दर्शन का प्रभाव है (जो मनुष्य की तरह हम आप से बातें करते हैं) ॥३॥

जब तें प्रभु-पद-पदुम निहारे । मिटे दुसह-दुख-दोष हमारे ॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे । तिन्ह के भाग सराहन लागे ॥४॥

जब से प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को देखा है तब से हमारे कठिन दुःख और दोष मिट गये। भीलों के वचन सुन कर अयोध्या-निवासी अनुरक्त हुए और उन के भाग्य की बड़ाई करने लगे ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं ॥
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन सनेह लखि सुख पावहीं ।
नर-नारि निदरहिँ-नेह निज सुनि, कोल-भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंस-मनि की, लोह लै लौका तिरा ॥१०॥

सब उनके भाग्य की प्रशंसा करते हैं और प्रेम-भरे वचन सुनाते हैं। उनकी बोलचाल, मिलनसारी, सीताजी और रामचन्द्रजी के चरणों में स्नेह देख कर सुख पाते हैं। कोल भीलों की वाणी सुन कर स्त्री-पुरुष अपने स्नेह को तुच्छ मानते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि रघुवंशमणि की कृपा से लोहा लौकी को लेकर उतराया है ॥१०॥

नागरों का स्नेह लौका है, कोलभील आदि जङ्गली मनुष्यों की प्रकृति लोह है, वे स्नेह जानते ही नहीं। उनके स्नेह को नगर-निवासी बड़ा समझें और अपने को तुच्छ अनुमान करें, यही लौका को लेकर लोह का उतराना है। लौका का कार्य है जल पर उतराना और लोह का कार्य है डूब जाना। पर यहाँ लोह का कार्य्य लौकी में और लौकी का कार्य्य लोह में स्थापन करना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है। न और ल अक्षरों की आवृत्ति में अनुप्रास है। सभा की प्रति में 'लोह लेइ नौका तिरा' पाठ है। जहाज लोह ही के बनते हैं और वे पानी पर उतराते हैं, तब नौका में लगे लोह यदि जल में तिरते हैं तो इस उपमा में कौन सी विशेषता है। फिर राजापुर की प्रति में 'लौका' पाठ है, कविजी के पाठ को मिटा कर अपनी टाँग अड़ाना ठीक नहीं।

सो०- बिहरहिँ बन चहुँ ओर, प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब ।
जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम ॥२५१॥

सब लोग प्रतिदिन प्रसन्नता से चारों ओर वन में विहार करते हैं। वे ऐसे हृष्टपुष्ट दिखाई देते हैं, जैसे वर्षा के प्रथम जल से मेढक और मुरैला मोटे होते हैं ॥२५१॥

चौ०—पुरजन नारि मगन अति प्रीती । बासर जाहिँ पलक सम बीती ॥
सीय सासु प्रति बेष बनाई । सादर करइ सरिस सेवकाई ॥१॥

नगर के पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रीति में मग्न हैं, उनके दिन पलक के समान बीतते हैं। सीताजी प्रत्येक सासुओं के प्रति रूप बना कर आदर के साथ सब की बराबर सेवा करती हैं ॥१॥

सीताजी एक ही हैं, उन्हें प्रत्येक सासुओं की सेवा करने में साथ ही समान रूप से वर्णन करना 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

लखा न मरम राम बिनु काहूँ । माया सब सिय-माया माहूँ ॥
सीय सासु सेवा बस कीन्ही । तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥२॥

रामचन्द्रजी के सिवा इस भेद को किसी ने नहीं लखा, कैसे लख पावे? सारी माया सीताजी की माया के अन्तर्गत हैं (जिसको वे छिपाना चाहती हैं फिर उसको कोई कैसे जान सकता है?) सीताजी ने सासुओं को सेवा से वश में कर लिया, उन्होंने सुखी होकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया ॥२॥

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥
अवनि जमहि जाँचति कैकेई । महि न बीच बिधि मीच न देई ॥३॥

सीताजी के सहित दोनों भाइयों के निष्कपट व्यवहार को देख कर कुटिलबुद्धि रानी केकयी पछतावे से अघा गई। केकयी पृथ्वी और यमराज से याचना करती है कि—हे धरती माता! तू बीच क्यों नहीं देती अर्थात् फट जा तो मैं समा जाऊँ और हे कृतान्त! तुम मुझे मृत्यु का विधान क्यों नहीं देते (जिससे प्राण शीघ्र ही शरीर को त्याग दें) ॥३॥

पहले पृथ्वी और यम का नाम लेकर फिर उसी क्रमसे बीच और मीच की याचना करना अर्थात् धरती बीच क्यों नहीं देती मैं उसमें समा जाऊँ और यमराज मृत्यु की व्यवस्था क्यों नहीं करते जिससे मृतक हो जाऊँ 'यथासंख्य अलंकार' है। यहाँ 'बिधि' शब्द का विधाता अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि केकयी का माँगना पृथ्वी और यम से है न कि विधाता से।

लोकहु बेद बिदित कबि कहहीं । राम-बिमुख थल नरक न लहहीं ॥
यह संसउ सब के मन माहीं । राम गवन बिधि अवध कि नाहीं ॥४॥

लोक तथा वेद में प्रसिद्ध है और कवि लोग कहते हैं कि राम-विमुखी प्राणी नरक में भी ठिकाना नहीं पाते (इस तरह केकई मन में पछताती है)। सब (अयोध्या-वासियों) के मन में यह सन्देह है कि—या विधाता! रामचन्द्रजी अयोध्या को चलेंगे या नहीं ॥४॥

कोई एक बात का निश्चय न होना 'सन्देह अलंकार' है।

दो०—निसि न नींद नहिँ भूख दिन, भरत बिकल सुठि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस, मीनहि सलिल सँकोच ॥२५२॥

भरतजी अत्यन्त सोच से व्याकुल हैं उन्हें न रात में नींद आती है और न दिन में भूख लगती है। जैसे नीच जल कीचड़ के बीच मग्न होता है और पानी के सकोच (सूखने वा घटने) से मछली का दुःख बढ़ता जाता है ॥२५२॥

ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों भरतजी के हृदय में व्याकुलता बढ़ रही है। इस सामान्य बात की विशेष से समता दिखानी कि जैसे नीच जल कीचड़ में मिलता जाता है उसे मछली के मरने जीने की परवाह नहीं, परन्तु जल के घटने से मछली की व्याकुलता बढ़ती जाती है 'उदाहरण अलंकार' है। जल को नीच इसलिये कहा कि वह अपने प्रेमी के दुःख की परवा नहीं करता, उसी तरह समय बीतता जाता है उसे भरतजी के व्याकुलता की चिन्ता नहीं। चित्रकूट में अल्पकाल रहने का समय और जल, भरतजी और मछली, रामचन्द्रजी के लौटने का असमञ्जस और कीचड़, समय का बीतना और जल का सूखना परस्पर उपमेय उपमान हैं।

चौ०—कीन्ह मातु मिस काल कुचाली। ईतिभीति जस पाकत साली।
केहि बिधि होइ राम-अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥१॥

माता के बहाने काल ने कुचाल की, जैसे धान के पकने में ईति (खेती को हानि पहुँचाने वाले उपद्रवों) का भय रहता है। किस तरह रामचन्द्रजी को राज्याभिषेक हो, मुझे एक भी उपाय नहीं सूझता है ॥ १ ॥

माता के बहाने काल की कुचाल कथन करना 'कैतवापन्हुति अलंकार' है।

अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। राम-जननि हठ करबि कि काऊ॥२॥

गुरुजी की आज्ञा मान कर अवश्य लौटेंगे, फिर मुनि ऐसा काहेको करेंगे? वे रामचन्द्रजी की रुचि समझ कर कहेंगे। माताजी के कहने पर भी रघुनाथजी लौट चलेंगे, पर रामचन्द्रजी की माता क्या कभी हठ करेंगी? (कदापि नहीं) ॥ २ ॥

मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥
जौँ हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥३॥

मुझ सेवक की कितनी बात है? तिसपर कुसमय है और विधाता विपरीत हैं। यदि हठ करता हूँ तो निरा खोटा कर्म होगा, क्योंकि सेवक का धर्म कैलास-पर्वत से अधिक गरुआ है ॥३॥

'हर-गिरि' शब्द के श्लेष से कविजी एक गुप्त अर्थ प्रकट करते हैं कि सेवक के धर्म की गुरुता शिवजी और विन्ध्याचल पर्वत से प्रसिद्ध है। सेवा-धर्म की रक्षा के लिये शिवजी ने सती जैसी पतिव्रता स्त्री को त्याग दिया और विन्ध्याचल गुरु अगस्त्यजी की आज्ञा मान कर अब तक धरती पर पड़ा है। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई॥४॥

एक भी युक्ति मन में न ठहरी, भरतजी को सोचते ही रात बीत गई। प्रातःकाल स्नान करके प्रभु रामचन्द्रजी को प्रणाम कर आसन पर बैठते ही ऋषियों ने बुलवा भेजा॥४॥

दो०--गुरु-पद-पदुम प्रनाम करि, बैठे आयसु पाइ।
बिप्र-महाजन सचिव सब, जुरे सभासद आइ॥२५३॥

गुरुजी के चरण-कमलों को प्रणाम कर के आज्ञा पा कर बैठ गये। ब्राह्मण, श्रेष्टलोग, मंत्री और सब सभा के सभ्य आ कर इकट्ठे हुए॥ २५३॥

चौ०--बोले मुनिबर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा राम स्वबस भगवानू॥१॥

मुनिवर वशिष्ठजी समय के अनुसार वचन बोले कि--हे चतुर भरत और सभासदो! सुनिये। रामचन्द्रजी धर्म-धुरन्धर, सूर्य्यकुल के सूर्य्य, राजा, स्वतंत्र और भगवान् हैं॥१॥

अयोध्या न लौटने के लिए एक धर्म-धुरन्धरता रूपी कारण पर्य्याप्त है। तिसपर सूर्य्य-कुल के प्रकाशक, राजा, स्वतंत्र और भगवान् अन्य प्रबल हेतुओं का वर्तमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है। सभी विशेषणों में काकु से विपरीत ध्वनि है। धर्म-धुरन्धर को धर्म त्यागने के लिये कहना उचित नहीं। सूर्य्यकुल के सूर्य्य हैं अर्थात् जिस कुल के राजा, सत्यवादी जगत प्रकाशक होते आये हैं, उनको केवल अयोध्या में प्रकाश करने के लिये विवश करना अन्यत्र नहीं, ऐसा कहना अनर्थ है। राजा की आज्ञा सब पर किन्तु राजा किसी की आज्ञा के अधीन नहीं। स्वतन्त्र जो किसी के वश में नहीं। भगवान् षड़ैश्वर्य्य से परिपूर्ण हैं उन पर कौन शासन कर सकता है?।

सत्यसन्ध पालक-स्रुतिसेतू। राम-जनम जग मङ्गल हेतू॥
गुरु पितु मातु बचन अनुसारी। खल दल-दलन देव हितकारी॥२॥

सत्यसङ्कल्प, वेद की मर्यादा के रक्षक हैं। रामचन्द्रजी का जन्म जगत के मङ्गल के लिये है। गुरु, पिता और माता के वचनानुसार चलनेवाले, दुष्ट-समूह के नाशक और देवताओं के हितकारी हैं॥२॥

सत्यव्रती को सत्य त्यागने के लिये कैसे कहा जाय? वेद की मर्यादा रहे, यही कहना ठीक होगा। रामचन्द्रजी जगत के कल्याणार्थ शरीर धरे हैं, केवल अयोध्या के लिये नहीं। फिर पिता-माता की आज्ञा मान कर वन में आये हैं। खलों के विनाश और देवताओं के कल्याण का सङ्कल्प कर चुके हैं। इन सब प्रबल कारणों का एक ही तात्पर्य्य निकलता है कि फिर रामचन्द्र को लौटने के लिये कैसे कहा जाय?

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥
बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥३॥

नीति (उचित व्यवहार) प्रीति (परस्पर का प्रेम) परमार्थ (श्रेष्ठ निमित्त) और स्वार्थ (अपना प्रयोजन) रामचन्द्र के समान कोई भी यथार्थ नहीं जानता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्रमा, सूर्य्य, दिकपाल, माया, जीव, सम्पूर्ण कर्म और काल ॥३॥

अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग-सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥४॥

शेष, राजा आदि जहाँ तक प्रभुता (बड़ाई) है, योग की सिद्धि जिसको वेद शास्त्रों ने गाई है। अपने मन में अच्छी तरह विचार कर देखिये रामचन्द्र की आज्ञा सब के सिर पर है ॥४॥

यहाँ यह व्यञ्जित होना कि रामचन्द्रजी सब के एकमात्र प्रेरक हैं, उन्हें कौन आज्ञा दे सकता है ? उनकी आज्ञा सभी को मान्य है। तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०-राखे राम-रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब, सब मिलि सम्मत सोइ॥२५४॥

रामचन्द्र की आज्ञा का रुख रखने ही से हम सब का कल्याण होगा। यह समझ कर अब सब सयाने मिल कर सलाह करो तो वही की जाय ॥२५४॥

चौ०-सब कहँ सुखद राम-अभिषेकू। मङ्गल-मोद-मूल मग एकू॥
केहि बिधि अवध चलहिँ रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ॥१॥

रामचन्द्र का राज्याभिषेक होना सब को सुखदायी है, एक यही मार्ग मङ्गल और आनन्द का मूल है। रघुनाथजी किस प्रकार अयोध्या को लौट चलेंगे ? समझ कर कहिये तो मैं वही उपाय करूँ ॥१॥

सब सादर सुनि मुनिबर बानी। नय-परमारथ-स्वारथ सानी॥
उतर न आव लोग भये भोरे। तब सिर नाइ भरत कर जोरे॥२॥

सब ने मुनिवर की वाणी आदर से सुनी, जो नीति, परमार्थ और स्वार्थ से मिली हुई है। लोग भोले (हक्केबक्के) हो गये; कुछ उत्तर नहीं आता है, तब सिर नवा कर और हाथ जोड़ कर भरतजी बोले ॥२॥

नीति—धर्मधुरीण हैं उन पर उलटो बोझ लादना ठीक नहीं। परमार्थ-जगत के कल्याणकारी हैं अकेले हमारे ही नहीं। स्वार्थ-लौटना, राजतिलक होना आनन्द का मूल है।

भानु-बंस भये भूप घनेरे। अधिक एक तेँ एक बड़ेरे॥
जनम हेतु सब कहँ पितु-माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥३॥

सूर्य्यवंश में बहुत से राजा हुए, उनमें एक से एक बढ़कर बड़े हुए हैं। सब के जन्म के कारण माता-पिता हैं और शुभ अशुभ कर्मों के फल देनेवाले विधाता हैं।

भरतजी के कथन में स्वयम्‌लक्षित शब्दध्वनि है कि—महाराज! ऐसा सम्भव नहीं कि सैकड़ों पीढ़ी पर्यन्त सब के कपाल में ब्रह्मा ने उत्तम ही फल लिखा हो, अवश्य ही अशुभ कर्म के अनुसार अशुभ फल भी लिखे होंगे। पर इस वंश में जो सब श्रेष्ठ फल भोगी होते आते हैं उसका एकमात्र कारण यह है (जो नीचे की चौपाई में कहते हैं)।

दलि दुख सजइ सकल कल्याना। असि असीस राउरि जग जाना॥
सो गोसाँइ बिधि-गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥४॥

दुःखों का नाश करके सम्पूर्ण कल्याणों की सजनेवाली ऐसी आपकी आशीष है, इसको संसार जानता है। स्वामिन्! आप वही हैं जिन्हों ने ब्रह्मा की गति (कर्म रेख) को मिटा दिया, फिर जो सङ्कल्प करके उसपर आप अड़ जायँगे तो उसे कौन टाल सकता है? ॥४॥

दो०—बूझिय मोहि उपाउ अब, सो सब मोर अभाग।
सुनि सनेह-मय बचन गुरु, उर उमगा अनुराग॥२५५॥

अब आप मुझसे उपाय पूछते हैं, वह सब मेरा अभाग्य है। इस तरह स्नेहपूर्ण भरतजी के वचनों को सुन कर गुरुजी के हृदय में प्रेम उमड़ आया॥२५५॥

'अब' शब्द से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है कि तब अर्थात् हमारे पूर्वजों के अशुभ-फल मिटाने के समय आपने किसी से उपाय नहीं पूछा, समयानुसार आशीर्वाद देकर शुभ फल दिया! परन्तु आज जब मेरे कल्याण की बारी आई, तब आप दूसरों से उपाय पूछते हैं, वह मेरे दुर्भाग्य की बात है।

चौ०—तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥१॥

गुरुजी बोलेः—हे तात! बात सत्य है; पर वह रामचन्द्र की कृपा ही से हुई थी और रामचन्द्र के विरुद्ध कार्य्य की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती। हे पुत्र! एक बात कहते हुए मैं सकुचाता हूँ, परन्तु बुद्धिमान सर्वस्व जाते हुए आधा, खुशी से त्याग देते हैं॥१॥

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरियहि लखन-सीय-रघुराई॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥२॥

तुम दोनों भाई वन को जाओ तो मैं लक्ष्मण, सीता रघुनाथ को लौटा ले चलूँ। यह सुन्दर वचन सुन कर दोनों भाई प्रसन्न हुए, उनके शरीर अत्यन्त आनन्द से परिपूर्ण हो गये॥२॥

राजापुर की प्रति में 'सकुचउँ तात कहत एक बाता। भे प्रमोद परिपूरन गाता' पाठ है। मालूम होता है बीच की चौपाइयाँ नकल करने से छूट गई हैं। उनके बिना प्रसङ्ग ही निरर्थक सा हो जाता है।

मन प्रसन्न तनु तेज बिराजा। जनु जिय राउ राम भये राजा॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी॥३॥

मन में प्रसन्न हुए और शरीर में तेज विराजमान हो गया, ऐसा मालूम होता है मानों

राजा जी उठे और रामचन्द्रजी राजा हो गये। नगर के लोगों को लाभ अधिक तथा हानि अल्प जान पड़ी और रानियाँ दुःख सुख बराबर समझ कर रोती हैं ॥३॥

राजा का पुनः जीवित होना असिद्ध आधार है। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कहहिँ भरत मुनि कहा सो कीन्हे। फल जग जीवन अभिमत दीन्हे॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तेँ अधिक न मोर सुपासू ॥४॥

भरतजी कहते हैं कि मुनिराज ने जो कहा वह करेंगे, हमें संसार में जीने का वाञ्छित फल दिया। मैं जन्म भर वन में निवास करूँगा, इससे बढ़ कर मेरे लिये सुबीते की दूसरी बात नहीं है ॥४॥

दो०-अन्तरजामी राम-सिय, तुम्ह सर्बज्ञ-सुजान।
जौँ फुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रवान ॥२५६॥

रामचन्द्रजी और सीताजी हृदय की बात जाननेवाले और आप सब जानने में प्रवीण हैं। यदि मैं सच कहता हूँ तो हे नाथ! अपने वचनों के अनुसार कीजिये ॥२५६॥

'अन्तर्यामी और सर्वज्ञ सुजान' संज्ञायें साभिप्राय हैं, क्योंकि अन्तर्यामी से हृदय की झूठ सच बात छिपी नहीं रह सकती और सर्वज्ञ सुजान ही सब अन्तःकरण के भेद को जान सकते हैं अर्थात् मैं सत्य कहता हूँ या बनावटी, वह आपसे छिप नहीं सकता 'परिकराङ्कुर अलंकार' है। सभा की प्रति में 'जौं फुर कहहु' पाठ है। टीकाकार ने इसका अर्थ किया कि—जो आप यह सच कह रहे हैं तो अपने वचन के अनुसार कीजिये"। इन वाक्यों से ध्वनि निकल रही है कि योगिराज वशिष्ठजी झूठ भी बोला करते थे। भक्त शिरोमणि भरतजी गुरु के प्रति ऐसे कर्णकटु शब्द कैसे कह सकते हैं। इस अर्थ से वशिष्ठजी और भरतजी के मर्य्यादा की बड़ी अवहेलना की गई है।

चौ०-भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भयउ बिदेहू॥
भरत महा महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला सी ॥१॥

भरतजी के वचनों को सुन कर और उनके प्रेम को देख कर सभा के सहित मुनि विदेह हो गये अर्थात् शरीर की सुध भूल गई। भरतजी की महान् महिमा समुद्र रूपिणी है और वशिष्ठ मुनि की मति स्त्री के समान उसके किनारे खड़ी है ॥१॥

मुनि मति-उपमेय, अबला-उपमान, 'सी- वाचक और खड़ी होना-धर्म पूर्णोपमा अलंकार' है। भरतजी के उत्तर से गुरुजी निरुत्तर होगये, बुद्धि चकरा गई कुछ कह नहीं सकते। यही बात नीचे की चौपाई में कहते हैं।

गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥
और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीपि कि सिन्धु समाई ॥२॥

पार जाना चाहती है, उसके लिये हृदय में यत्न ढूँढ़ती है; परन्तु जहाज़, नाव या बेड़ा कुछ भी नहीं पाती है। फिर दूसरा कौन भरतजी की बड़ाई करेगा? क्या तलैया की सुतुही में समुद्र समा सकता है? (कदापि नहीं) ॥२॥

उत्तर ढूँढ़ना पार जाने की इच्छा है। उत्तम, मध्यम और लघु तीन प्रकार के उत्तर क्रमशः जहाज़, नाव और बेड़ा है। कहना यह है कि मुनिजी किसी तरह का उत्तर नहीं दे सके, पर इसे सीधे न कह कर जहाज़ आदि का न पाना कथन 'ललित अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में काकु से विपरीत अर्थ प्रकट होना कि तलैया की सीपी में समुद्र नहीं समा सकता 'वक्रोक्ति अलंकार' है। व्यङ्गार्थ द्वारा दृष्टान्त है कि जैसे सीपी में समुद्र नहीं समा सकता, तैसे कोई भरतजी की बड़ाई नहीं कर सकता। सभा की प्रति में 'सर सीपी की सिन्धु समाई' पाठ है, किन्तु राजापुर की प्रति में ऐसा नहीं है।

भरत मुनिहिँ मन भीतर भाये । सहित समाज राम पहिँ आये ॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसन । बैठे सब सुनि मुनि अनुसासन ॥३॥

भरतजी मुनि के मन में सुहावने लगे और समाज के सहित रामचन्द्रजी के पास आये। प्रभु ने प्रणाम करके गुरुजी को सुन्दर आसन दिया और मुनि की आज्ञा पा कर सब लोग बैठ गये ॥३॥

बोले मुनिवर बचन बिचारी । देस काल अवसर अनुहारी ॥
सुनहु राम सरबज्ञ सुजाना । धरम-नीति-गुन-ज्ञान निधाना ॥४॥

देश काल और मौक़े के अनुसार विचार कर मुनिवर वचन बोले। हे सर्वज्ञ सुजान रामचन्द्र! सुनिये, आप धर्म, नीति, गुण और ज्ञान के भण्डार हैं ॥४॥

दो०—सब के उरअन्तर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ ।
पुरजन-जननी-भरत-हित, होइ सो कहिय उपाउ ॥२५७॥

आप सब के हृदय में बसते हैं और भले बुरे भावों को जानते हैं। पुरवासी, माताएँ और भरत की भलाई का जो उपाय हो वह कहिये ॥२५७॥

चौ०—आरत कहहिँ बिचारि न काऊ । सूझ जुआरिहि आपन दाऊ ॥
सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ । नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ ॥१॥

दुःखी मनुष्य कभी विचार कर बात नहीं कहते, जुआरी को अपना ही दाव सूझता है। मुनि के वचन सुन कर रघुनाथजी कहते हैं कि—हे नाथ! उपाय तो आप ही के हाथ में है ॥१॥

सब कर हित रुख राउरि राखे । आयसु किये मुदित फुर भाखे ॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई । माथे मानि करउँ सिख सोई ॥२॥

आप का रुख़ रखने ही में सब की भलाई है, मैं सच कहता हूँ प्रसन्न हो कर आज्ञा कीजिये। पहले जो मुझ को आज्ञा हो, उस शिक्षा को मैं माथे पर चढ़ा कर करूँ ॥२॥

पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाँई । सो सब भाँति घटिहि सेवकाई ॥
कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाखा । भरत सनेह बिचार न राखा ॥३॥

हे स्वामिन्! फिर जिसको जैसा कहियेगा वह सब तरह से सेवकाई (आज्ञा पालन) करेगा। मुनिने कहा—हे रामचन्द्र! आप सत्य कहते हैं, परन्तु भरत के स्नेह ने मेरे विचार को स्वतन्त्र नहीं रहने दिया ॥३॥

तेहि तेँ कहउँ बहोरि बहोरी । भरत-भगति-बस भइ मति मोरी ॥
मोरे जान भरत रुचि राखी । जो कीजिय सो सुभ सिव साखी ॥४॥

इससे मैं बार बार कहता हूँ कि भरत की भक्ति के वश होकर मेरी बुद्धि भोली हो गई है। मेरे जान भरत की रुचि रख कर जो कीजियेगा वह अच्छा ही होगा, इसके शिवजी साक्षी हैं ॥४॥

दो०—भरत बिनय सादर सुनिय, करिय बिचार बहोरि ।
करब साधु-मत लोक-मत, नृप-नय निगम निचोरि ॥२५८॥

भरत की प्रार्थना आदर के साथ सुनिये, फिर उस पर विचार करिये। राजनीति और वेद के सिद्धान्तानुसार (जो उचित समझ पड़े) ग्रहण वा त्याग कीजिये ॥२५८॥

साधुमत-त्याग और लोक-मत ग्रहण से तात्पर्य्य है। दूसरे चरण का यह अर्थ भी किया जाता है कि—सज्जनों का मत, लोगों की राय, राजनीति और वेद का निचोड़ जो उचित हो वह कीजिये।

चौ०—गुरु अनुराग भरत पर देखी । राम-हृदय आनन्द बिसेखी ॥
भरतहि धरम-धुरन्धर जानी । निज-सेवक-तन-मानस बानी ॥१॥

गुरुजी का प्रेम भरत पर देख कर रामचन्द्रजी के हृदय में बड़ा आनन्द हुआ। भरतजी को धर्म-धुरन्धर और तन मन वचन से अपना सेवक जान कर ॥१॥

बोले गुरु आयसु अनुकूला । बचन मञ्जु मृदु मङ्गल-मूला ॥
नाथ सपथ पितु-चरन दोहाई । भयेउ न भुवन भरत सम भाई ॥२॥

गुरुजी की आज्ञा के अनुकूल सुन्दर मधुर मङ्गल-मूल वचन बोले। हे नाथ! आप की शपथ और पिता के चरणों की सौगन्ध करके कहता हूँ कि संसार में भरत के समान भाई नहीं हुआ ॥२॥

जे गुरु-पद-अम्बुज अनुरागी । ते लोकहु बेदहु बड़ भागी ॥
राउर जा पर अस अनुरागू । के। कहि सकइ भरत कर भागू ॥३॥

जो गुरु के चरण-कमलों के प्रेमी हैं, वे लोक में भी और वेद में भी बड़े भाग्यवान माने जाते हैं। जिस पर आप का ऐसा प्रेम है, फिर भरत के भाग्य को कौन कह सकता है? (कोई नहीं) ॥३॥

लखि लघु-बन्धु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥
भरत कहहिँ सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥४॥

छोटे भाई भरत की मुँह पर बड़ाई करते हुए देख कर बुद्धि लज्जित होती है। जो भरत कहें वही करने में अच्छा है, ऐसा कह कर रामचन्द्रजी चुप हो गये॥४॥

दो०—तब मुनि बोले भरत सन, सब सकोच तजि तात।
कृपासिन्धु प्रियबन्धु सन, कहहु हृदय कै बात॥२५९॥

तब मुनि भरतजी से बोले—हे तात! सब सकोच त्याग कर कृपा के समुद्र प्यारे बन्धु से हृदय की बात कहिये॥२५९॥

यहाँ गुरुजी के कथन में व्यञ्जनामूलक गूढ़ ध्वनि है कि जिसे सुधारने के लिये तुमने मुझे विवश किया, वह सुधार तुम्हारे ही हाथ आ गया है। रामचन्द्रजी तुम्हारी रुचि के अनुसार कार्य्य करने को तैयार हैं। जो चाहते हो निर्भय कहो।

चौ०—सुनि मुनि बचन राम रुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥
लखि अपने सिर सब छरभारू। कहि न सकहिँ कछु करहिँ बिचारू॥१॥

मुनि के वचन सुन और रामचन्द्रजी का रुख पा कर गुरु तथा स्वामी की अनुकूलता से तृप्त हो गये। सब कुबोझ अपने सिर देख कर कुछ कह नहीं सकते, मन में विचार करते हैं॥१॥

पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज-नयन नेह-जल बाढ़े॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तेँ अधिक कहउँ मैँ काहा॥२॥

पुलकित शरीर से सभा में खड़े हुए, कमल-नेत्रों में स्नेह से जल भर आया। बोले—मेरी कहनूत तो मुनिराज ही ने पूरी कर दी, इससे अधिक मैं क्या कहूँगा?॥२॥

मैँ जानउँ निज-नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥३॥

मैं अपने स्वामी का स्वभाव जानता हूँ कि कभी अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते। मुझ पर दया और स्नेह विशेष रखते हैं, मैं ने कभी खेलते में भी नाराज़गी नहीं देखी॥३॥

सिसुपन तेँ परिहरेउ न सङ्गू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भङ्गू॥
मैँ प्रभु कृपा-रीति जिय जोही। हारेहू खेल जितावहिँ मोही॥४॥

लड़कपन से साथ नहीं छोड़ा और कभी मेरा मन हताश नहीं किया। मैं ने स्वामी के कृपा की रीति मन में देखी है कि हारी हुई खेल मुझे जिताते थे॥४॥

दो०—महूँ सनेह-सकोच-बस, सनमुख कहे न बयन ।
दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नयन ॥२६०॥

मैं ने भी स्नेह और सकोच के वश सामने बात नहीं कही। प्रेम के प्यासे नेत्र आज तक दरशन से तृप्त (अघाये) नहीं हुए ॥२६०॥

चौ०—बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा ॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा ॥१॥

विधाता मेरे दुलार को नहीं सह सका, उस नीच ने माता के बहाने भेद डाल दिया। यह कहते हुए भी आज मुझे शोभा नहीं देता, क्योंकि अपनी समझ से पवित्र साधु कौन हुआ है ? ॥१॥

माता की करनी को बहाने से विधि की करतूत कहना 'कैतवापहति अलंकार' है।

मातु मन्द मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली ॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता-प्रसव कि सम्बुक काली ॥२॥

माता नीच और मैं सुन्दर चालवाला सज्जन बनूँ, ऐसा मन में लाना करोड़ों कुचाल के बराबर है। क्या कोदव के पेड़ में उत्तम धान की बालि लग सकती है ? और क्या काली घोंघियों में मोती उत्पन्न हो सकता है ? (कदापि नहीं) ॥२॥

माता नीच और मैं सुचाली साधु, इस अनमेल वर्णन में 'प्रथम विषम अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में काकु से विपरीत अर्थ प्रकट होना कि कोदव में धान की फली और काली घोंघियों में मोती नहीं हो सकते 'वक्रोक्ति अलंकार' है। सभा की प्रति में 'मुकता प्रसव कि सम्बुक ताली' पाठ है, किन्तु राजापुर की प्रति में ऐसा नहीं है।

सपनेहु दोस कलेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥
बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू ॥३॥

स्वप्न में भी दूसरे के दोष से क्लेश नहीं हुआ, यह मेरे अभाग्य रूपी समुद्र की अगाधता है। अपने पाप के फल को बिना समझे मैं ने व्यर्थ ही माता (केकयी) को टेढ़ी बातें कह कर जलाया ॥३॥

हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥
गुरु-गोसाइँ साहिब सिय रामू। लागत मोहि नीक परिनामू ॥४॥

हृदय में सब ओर ढूँढ़ कर मैं हार गया, (पर अपना कुशल कहीं न देखा) एक ही प्रकार मेरी भलाई भले ही जान पड़ी। गुरु समर्थ वशिष्ठजी और स्वामी सीता-रामचन्द्रजी हैं, बस-यही परिणाम मुझे अच्छा लगता है ॥४॥

दो०—साधुसभा गुरु-प्रभु निकट, कहउँ सुथल सतिभाउ ।
प्रेम प्रपञ्च कि झूठ फुर, जानहिँ मुनि रघुराउ ॥२६१॥

सज्जनों की सभा, गुरु और स्वामी के समीप तथा सुन्दर स्थल (तीर्थ) में सत्य कहता हूँ। प्रेमसे, प्रपञ्चसे, झूठहै या सच, उसको मुनि (गुरुजी) और रघुनाथजी जानते हैं ॥२६१॥

चौ०—भूपति मरन प्रेमपन राखी । जननी कुमति जगत सब साखी ॥
देखि न जाहिँ बिकल महँतारी । जरहिँ दुसह जर पुर-नर-नारी ॥१॥

राजा का मरण प्रेम की प्रतिज्ञा रखने को हुआ, मेरी माता की कुबुद्धि का सारा संसार साक्षी है। माताएँ व्याकुल देखी नहीं जाती हैं और नगर के स्त्री-पुरुष असहनीय जलन से जलते हैं ॥१॥

महीं सकल अनरथ कर मूला । सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला ॥
सुनि बन-गवन कीन्ह रघुनाथा । करि मुनि बेष लखन-सिय साथा ॥२॥

मैं ही सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ हूँ, वह सुन कर और समझ कर सब शूलों को सहा। सुना कि रघुनाथजी मुनिका भेष बनाकर लक्ष्मणजी और सीताजी के साथ बन को गमन किया ॥२॥

बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये । सङ्कर साखि रहेउँ एहि घाये ॥
बहुरि निहारि निषाद सनेहू । कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू ॥३॥

बिना जूते नङ्गे पाँव पैदल ही गये हैं, इस घाव से मैं जीता रहा हूँ इसके शङ्करजी साक्षी हैं। फिर निषाद का स्नेह देख कर वज्र से भी कठोर मेरा हृदय बिहर (फट) नहीं गया ॥३॥

अब सब आँखिन्ह देखेउँ आई । जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥
जिन्हहिँ निरखि मग साँपिनि बीछी । तजहिँ बिषम बिष तामस तीछी ॥४॥

अब सब आँखों आकर देखा, जीतेजी जड़ जीव ने सभी सहन कराया। जिन्हें देख कर रास्ते की तीक्ष्ण क्रोधवाली साँपिन और बीछी अपने भीषण विष को त्याग देती हैं ॥४॥

दो०—तेइ रघुनन्दन-लखन-सिय, अनहित लागे जाहि ।
तासु तनय तजि दुसह दुख, दैउ सहावइ काहि ॥२६२॥

वही रघुनाथजी, लक्ष्मणजी और सीताजी जिसको शत्रु जान पड़े, उसके पुत्र को छोड़ कर कठिन दुःख देव किसको सहावेगा ? ॥२६२॥

चौ०—सुनि अति बिकल भरत बर बानी । आरति-प्रीति-बिनय-नय सानी ॥
सोक मगन सब सभा खभारू । मनहुँ कमल-बन परेउ तुसारू ॥१॥

अत्यन्त व्याकुलता, दीनता, प्रीति, विनती और नीति से भरी भरतजी की श्रेष्ठ वाणी को सुन कर सब सभा शोक और खलबली में मग्न हो गई, ऐसा मालूम होता है मानों कमल के वन पर पाला पड़ा हो ॥१॥

कहि अनेक बिधि कथा पुरानी । भरत प्रबोध कीन्ह मुनि-ज्ञानी ॥
बोले उचित बचन रघुनन्दू । दिनकर-कुल-कैरव-बन-चन्दू ॥२॥

ज्ञानीमुनि वशिष्ठजी ने अनेक प्रकार की पुरानी कथाएँ कह कर भरतजी को समझाया सूर्यकुल रूपी कुमुद-वन के चन्द्रमा रघुनाथजी उचित वचन बोले ॥२॥

तात जाय जिय करहु गलानी । ईस अधीन जीव गति जानी ॥
तीनि-काल तिभुवन मत मोरे । पुन्यसिलोक तात तर तोरे ॥३॥

हे तात ! व्यर्थ ही मन में ग्लानि करते हो, जीव की गति ईश्वराधीन समझनी चाहिये । तीनों काल और तीनों लोक में मेरे मत से हे भाई ! पुण्यात्मा-पुरुष आप के नीचे हैं ॥३॥

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई । जाइ लोक-परलोक नसाई ॥
दोस देहिँ जननिहि जड़ तेई । जिन्ह गुरु-साधु सभा नहिँ सेई ॥४॥

हृदय में आप पर कुटिलता ले आने से लोक और परलोक नष्ट हो जायगा । माता को वे ही मूर्ख दोष देंगे जिन्हों ने गुरु और साधु-मण्डली की सेवा नहीं की है ॥४॥

दो०—मिटिहहिँ पाप प्रपञ्च सब, अखिल अमङ्गल भार ।
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥ २६३ ॥

पाप, सारा भवजाल और सम्पूर्ण अमङ्गलों का भार आप का नाम स्मरण करते ही मिट जाँयगे, उस प्राणी को लोक में सुयश और परलोक में सुख होगा ॥२६३॥

भरतजी के नामस्मरण का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन कि जो प्राणी आप के नाम को स्मरण करेंगे, उनके सब पाप, भवजाल, समस्त अमङ्गल नष्ट होंगे । लोक में सुन्दर यश और परलोक में सुख पावेंगे 'सार अलंकार' है ।

चौ०—कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी । भरत भूमि रह राउरि राखी ॥
तात कुतरक करहु जनि जाये । बैर प्रेम नहिँ दुरइ दुराये ॥१॥

हे भरत ! मैं स्वभाव से सत्य कहता हूँ इसके शिवजी साक्षी हैं कि धरती आप ही की रक्षा से रहती है । हे भाई ! व्यर्थ की कुतर्कना मत करो, बैर या प्रेम छिपाने से नहीं छिपता ॥१॥

पृथ्वी आप ही के रखने से रहेगी । इन वाक्यों में व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि मैं स्वीकार कर चुका हूँ जो आप कहेंगे वही करूँगा; किन्तु पृथ्वी दुष्ट राक्षसों के बोझ से दबी जा रही है । यदि आप प्रसन्न मन से मुझे वन जाने को कहेंगे, तभी इसकी रक्षा होगी । दूसरी बात विस्व भरन पोषन कर जोई । ता कर नाम भरत अस होई । आप ही विष्णु रूप पृथ्वी के पालनेवाले हैं ।

मुनि गन निकट बिहग मृग जाहीँ । बाधक बधिक बिलोकि पराहीँ ॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना ॥२॥

पक्षी और मृग मुनियों के समीप जाते हैं; किन्तु बाधा डालनेवाले और बहेलिये (शिकारी) को देख कर भाग जाते हैं । अपने शत्रु और मित्र को पशु पक्षी भी जानते हैं, फिर मनुष्य शरीर तो गुण और ज्ञान का भण्डार है ॥२॥

सभा की प्रति में 'बालक बधिक बिलोकि पराहीं' पाठ है । परन्तु गुटका और राजापुर की प्रति में 'बाधक' पाठ है ।

तात तुम्हहिँ मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमञ्जस जी के॥
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम-पन-लागी॥३॥

हे भाई! मैं आप को अच्छी तरह जानता हूँ, पर क्या करूँ? मेरे जी को बड़ा असमञ्जस है। मुझे त्याग कर राजा ने सत्य को रक्खा और प्रेम का प्रण रखने के लिये शरीर त्याग दिया॥३॥

तासु बचन मेटत बड़ सोचू। तेहि तैं अधिक तुम्हार सँकोचू॥
ता पर गुरु मोहिआयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥४॥

उनका वचन मेटने में बड़ा सोच है, उससे बढ़ कर आप का सङ्कोच है। तिस पर गुरुजी ने मुझे आज्ञा दी है, जो आप कहिये अवश्य ही मैं वही करना चाहता हूँ॥४॥

प्रत्यक्ष में रामचन्द्रजी कहते हैं कि जो आप कहें अवश्य ही मैं उसे करूँगा, परन्तु साथ ही छिपा हुआ निषेध भी है कि ऐसे सत्यवादी पिता की बात मेटने में असमञ्जस है कि जिन्हों ने सत्य के लिये प्राण तज दिया 'व्यक्ताक्षेप अलंकार' है।

दो०--मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज।
सत्यसन्ध रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज॥२६४॥

सकुच छोड़ कर प्रसन्न मन से जो कहिये, आज मैं वही करूँगा। सत्यव्रती रघुनाथजी के वचन सुन कर सारा समाज सुखी हुआ॥२६४॥

रघुनाथजी झूठ बोलनेवाले नहीं, जो कह चुके वह करेंगे। अब भरतजी के कहने की देरी है, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

चौ०--सुर-गन सहित सभय सुरराजू। सोचहिँ चाहत होन अकाजू॥
बनत उपाउ करत कछु नाहीँ। राम-सरन सब गे मन माहीँ॥१॥

देवतावृन्द के सहित देवराज-इन्द्र भयभीत होकर सोचते हैं कि अब अकाज होना ही चाहता है। कुछ उपाय करते नहीं बनता है, सब मन में रामचन्द्रजी की शरण में गये अर्थात् मन ही मन पुकारने लगे कि—प्रभो! रक्षा कीजिये॥१॥

बहुरि बिचारि परसपर कहहीँ। रघुपति भगत-भगति बस अहहीँ॥
सुधि करि अम्बरीष दुरबासा। भे सुर-सुरपति निपट निरासा॥२॥

फिर विचार कर आपस में कहते हैं कि रघुनाथजी भक्तों की भक्ति के वश में हैं। राजा अम्बरीष और दुर्वासा मुनि की याद करके देवता और इन्द्र अत्यन्त निराश हो गये॥२॥

अम्बरीष और दुर्वासा का स्मरण होना 'स्मरण अलंकार' है। अम्बरीष और दुर्वासा का इतिहास इसी काण्ड में २१७ वें दोहे के आगे चौथी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखिये।

सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥
लगि लगि कानकहहिँ धुनि माथा। अब सुर-काज भरत के हाथा॥३॥

कोई कहने लगे कि—देवताओं ने बहुत काल तक दुःख सहा, तब प्रह्लाद ने नृसिंह भग-

वान् को प्रकट किये अर्थात् रामभक्तों से हम लोगों का कल्याण ही होता आया है। सिर पीट कर और कान में लग लग कर एक दूसरे से कहते हैं कि अब देवताओं का कार्य्य भरतजी के हाथ में है ॥ ३ ॥

प्रह्लाद की कथा बालकाण्ड में २५ वें दोहे के आगे दूसरी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखिये।

आन उपाउ न देखिय देवा। मानत राम सुसेवक सेवा॥
हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहि। निज गुन सील राम बस करतहि॥४॥

हे देवताओ! दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है, रामचन्द्रजी अच्छे सेवकों की सेवा से (अपनी सेवकाई) मानते हैं। हृदय में सब कोई प्रेम के साथ भरतजी का स्मरण करो जो अपने गुण और शील से रामचन्द्रजी को वश में किये हैं ॥४॥

दो०—सुनि सुर-मत सुरगुरु कहेउ, भल तुम्हार बड़ भाग।
सकल सुमङ्गल मूल जग, भरत चरन अनुराग ॥२६५॥

देवताओं की सम्मति को सुन कर बृहस्पतिजी ने कहा, तुम लोगों का बड़ा अच्छा भाग्य है : संसार में सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों का मूल भरतजी के चरणों का प्रेम है ॥२६५॥

चौ०—सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय-सरिस सुहाई॥
भरत भगति तुम्हरे मन आई। तजहु सोच बिधि बात बनाई ॥१॥

सीतानाथ के सेवकों की सेवकाई सैकड़ों कामधेनु के समान सुहावनी है। यदि तुम्हारे मन में भरतजी की भक्ति आई तो सोच छोड़ दो विधाता ने बात बना दी ॥१॥

रामभक्तों की सेवा—उपमेय और कामधेनु—उपमान है। उपमान से उपमेय को बढ़ कर कहना अर्थात् सैकड़ों कामधेनु के समान सुहावनी हरिभक्तों की सेवकाई है 'व्यतिरेक अलंकार' है।

देखु देवपति भरत प्रभाऊ। सहज सुभाय बिबस रघुराऊ॥
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहि जानि राम परिछाहीं ॥२॥

हे देवराज! भरतजी के प्रभाव को देखो कि सहज स्वभाव से रघुनाथजी उनके वश में हैं। हे देवताओ! मन स्थिर करो, (डरो मत) भरतजी को रामचन्द्रजी का प्रतिबिम्ब ही समझो ॥२॥

देवताओं के मनमें भरतजी के प्रति भ्रम से जो शङ्का हुई, गुरुजी का सत्य उपदेश द्वारा उसको दूर करना 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

सुनि सुरगुरु सुर सम्मत सोचू। अन्तरजामी प्रभुहि सकोचू॥
निज सिर भार भरत जिय जाना। करत कोटि बिधि मन अनुमाना ॥३॥

देवता और देवगुरु की सलाह सुन कर अंतर्य्यामी प्रभु रामचन्द्रजी को सोच और सकोच हुआ। अपने ही सिर बोझ समझ कर भरतजी मनमें करोड़ों तरह के विचार करते हैं ॥३॥

सोच देवताओं का और सङ्कोच भरतजी का, दोनों भावों का एक साथ ही हृदय में उत्पन्न होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम-रजायसु आपन नीका॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिँ थोरा॥४॥

विचार करके मन में यही पक्का किया कि अपनी भलाई तो रामचन्द्रजी की आज्ञा में है। अपनी प्रतिज्ञा को त्याग कर मेरे पण को रक्खा, यह कम छोह और स्नेह नहीं किया॥४॥

दो०-कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज जुग हाथ॥२६६॥

सीतानाथ ने सब तरहसे बहुत बड़ी कृपा की। तब भरतजी प्रणाम कर के दोनों करकमलों को जोड़ कर बोले॥२६६॥

चौ०-कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा-अम्बुनिधि अन्तरजामी॥
गुरु-प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥१॥

हे स्वामिन्! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहलाऊँ, आप कृपा के समुद्र और अन्तर्यामी हैं (मेरे मन की सब बातें आप जानते हैं)। गुरुजी को प्रसन्न और स्वामी को अनकूल देख कर मेरे मन की उदासी तथा कल्पित शूल नष्ट हो गया॥१॥

अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोस देव दिसि भूले॥
मोर अभाग मातु कुटिलाई। बिधि-गति-बिषम काल-कठिनाई॥२॥

हे देव! मैं अपडर (कल्पित भय) से डर गया, मेरे सोच की कोई जड़ नहीं, दिशा भूल जाने पर सूर्य्य का दोष नहीं। मेरा दुर्भाग्य, माता की कुटिलता, विधाता की भीषण चाल और काल की कठिनता॥२॥

प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि मैं अपने ही कल्पित भय से डर गया था, इसमें आपका दोष नहीं। परन्तु इसे सीधे न कह कर इस दृष्टान्त द्वारा असली बात प्रकट करना कि दिग्भ्रम होने पर सूर्य्य का दोष नहीं 'ललित अलंकार' है।

पाउँ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु बेद बिदित नहिँ गोई॥३॥

सब ने मिलकर दृढ़ता के साथ मुझे बिगाड़ा, परन्तु शरणागतों की रक्षा करने की अपनी प्रतिज्ञा आपने पालन की। यह आप की नयी रीति नहीं है, लोक और वेद में विख्यात किसी से छिपी नहीं है॥३॥

आप शरणागत रक्षक हैं, इससे मुझ सेवक की रक्षा की। नहीं तो बिगाड़नेवालों ने कोई बात उठा नहीं रक्खी, अगूढ़ व्यङ्ग है।

जग अनभल भल एक गोसाँई । कहिय होइ भल कासु भलाई ॥
देव देवतरु सरिस सुभाऊ । सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥४॥

संसार शत्रु हो जाय पर एक स्वामी हितू रहें तो कहिये किसकी भलाई से भला होगा ? देव ! आप का स्वभाव कल्पवृक्ष के समान कभी किसी के अनुकूल वा प्रतिकूल नहीं होता ॥४॥

संसार भले ही शत्रु बना रहे, पर यदि आप कृपालु हैं तो भलाई आप ही की कृपा में है। यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के तुल्य ही है।

दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच ।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रङ्क भल पोच ॥२६७॥

वृक्ष को पहचान कर उस के पास छाँह में जाने से सब सोच का नाश होता है। माँगने से सारा संसार चाहे राजा हो या दरिद्री, भला हो वा बुरा वाञ्छित-फल पाता है ॥२६७॥

चौ०—लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू । मिटेउ छोभ नहिं मन सन्देहू ॥
अब करुनाकर कीजिय सोई । जनहित प्रभुचित छोभ न होई ॥१॥

सब तरह गुरुजी का और स्वामी (आप) का स्नेह अपने ऊपर देख कर क्षोभ मिट गया, अब मन में सन्देह नहीं है। हे दयानिधान ! अब वही कीजिये कि जिसमें इस दास के कारण स्वामी के चित्त में असमञ्जस न हो ॥ १ ॥

जो सेवक साहिबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक-हित साहिब सेवकाई । करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥२॥

जो सेवक स्वामी को सङ्कोच में डाल कर अपनी भलाई चाहता है, उसकी नीच बुद्धि है। सेवक का कल्याण तो सम्पूर्ण सुख और लोभ छोड़ कर स्वामी की सेवकाई करने में है॥ २ ॥

स्वारथ नाथ फिरे सबही का । किये रजाइ कोटि बिधि नीका ॥
यह स्वारथ-परमारथ-सारू । सकल सुकृत-फल सुगति-सिंगारू ॥३॥

हे नाथ ! आप के लौटने में सभी का स्वार्थ है और आज्ञा करने में करोड़ों प्रकार से अच्छा है। यह (आप की आज्ञा) स्वार्थ और परमार्थ का सार है, सम्पूर्ण पुण्यों का फल और सुगति (मोक्ष) का शृङ्गार है ॥ ३ ॥

देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक समाज साजि सब आना । करिय सुफल प्रभु जौं मन माना ॥४॥

हे देव ! मेरी एक प्रार्थना सुन कर फिर जैसा उचित हो वैसा कीजिये। राजतिलक का सब सामान सज कर ले आया हूँ, हे प्रभो ! मन में भावे तो उसे सफल कीजिये ॥ ४ ॥

दो०-सानुज पठइय मोहि बन, कीजिय सबहि सनाथ ।
नतरु फेरियहि बन्धु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ ॥२६८॥

हे नाथ ! छोटे भाई शत्रुहन के सहित मुझे वन में भेज कर सब को सनाथ कीजिये। नहीं तो लक्ष्मण और शत्रुहन दोनों भाइयों को लौटा दीजिये, मैं आप के साथ चलूँ ॥२६८॥

चौ०-नतरु जाहिँ बन तीनिउँ भाई । बहुरिय सीय सहित रघुराई ॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुनासागर कीजिय सोई ॥१॥

नहीं हम तीनों भाई वन को जाँय और सीताजी के सहित आप अयोध्या को लौट जाइये। हे दयासिन्धु ! जिस तरह स्वामी का मन प्रसन्न हो, वही कीजिये ॥ १ ॥

भरतजी का वारबार अपनी प्रथम कही बात का निषेध कर दूसरी बात कहना, 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

देव दीन्ह सब मोहि अभारू । मोरे नीति न धरम बिचारू ॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ॥२॥

हे देव ! आपने सब कुबोझ (जो तुम कहो वही करूँगा) मुझे दिया है; किन्तु मुझ में न नीति है और न धर्म का विचार है। सारी बातें अपने मतलब की कहता हूँ, दुःखी मनुष्यों के चित्त में चेत (ज्ञान) नहीं रहता ॥ २ ॥

सभा की प्रति में 'देव दीन्ह सब मोहि सिर भारू' पाठ है, किन्तु राजापुर की प्रति और गुटका में 'मोहि अभारू' है।

उतर देइ सुनि स्वामि रजाई । सो सेवक लखि लाज लजाई ॥
अस मैं अवगुन-उदधि-अगाधू । स्वामि-सनेह सराहत साधू ॥३॥

जो स्वामी की आज्ञा को सुन कर उत्तर देता है, उस सेवक को देख कर लाज भी लजा जाती है। ऐसा मैं अवगुणों का अगाध समुद्र हूँ, फिर भी स्वामी मेरे स्नेह को साधु (सत्य) कह कर सराहते हैं ॥ ३ ॥

उत्तर देनेवाले सेवक को देख लाज भी लजाती है, निर्लज्जता की अत्युक्ति है। ऐसे अवगुणों का मैं अथाह सागर हूँ, तो भी स्वामी मेरे स्नेह को सच्चा कह कर बड़ाई करते हैं। इस कथन से स्वामी की अपार कृपा अपने ऊपर व्यञ्जित करना व्यङ्ग है।

अब कृपाल मोहि सो मत भावा । सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाऊ । जग-मङ्गल-हित एक उपाऊ ॥४॥

हे कृपालु ! अब मुझे वही मत सुहाता है कि जिसमें स्वामी के मन में जा कर सकोच न प्राप्त हो। प्रभु के चरणों की सौगन्द करके सत्य कहता हूँ कि जगत के मङ्गल के लिए एक ही उपाय है ॥४॥

दो०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देब ।
सो सिर धरि धरि करिहि सब, मिटिहि अनट अवरेब ॥२६९॥

हे प्रभो! प्रसन्न मन से सकोच छोड़ कर आप जिसको जैसी आज्ञा दीजियेगा, वह सब सिर पर धर धर कर करेगा; इससे उपद्रव की उलझन मिट जायगी ॥२६९॥

चौ०—भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे । साधु सराहि सुमन सुर बरषे ।
असमञ्जस-बस अवध-निवासी । प्रमुदित मन तापस बन-बासी ॥१॥

भरतजी के पवित्र वचनों को सुन कर देवता प्रसन्न हुए और साधुता की सराहना करके फूल बरसाने लगे। अयोध्या-निवासी दुबधा के अधीन हो गये, (न जाने रामचन्द्रजी क्या आज्ञा देंगे) तपस्वी और वनवासी लोग मन में बहुत प्रसन्न हुए कि सत्यसङ्कल्प रघुनाथजी वन ही में रहेंगे ॥१॥

चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची । प्रभु गति देखि सभा सब सोची ॥
जनक-दूत तेहि अवसर आये । मुनि बसिष्ठ सुनि निकट बोलाये ॥२॥

रघुनाथजी सङ्कोच से चुप ही रहे, प्रभु की दशा देख कर सब सभा सोच में पड़ गई। उसी समय जनकजी के दूत आये, सुन कर वशिष्ठ मुनि ने पास में बुलवाया ॥२॥

करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे । बेष देखि भये निपट दुखारे ॥
दूतन्ह मुनिबर बूझी बाता । कहहु बिदेह भूप कुसलाता ॥ ३ ॥

प्रणाम करके उन दूतों ने रामचन्द्रजी को देखा, उनका वेश देख कर वे अत्यन्त दुःखी हुए, मुनिवर वशिष्ठजी ने दूतों से बात पूछी कि विदेह राजा का कुशल कहो ॥३॥

'विदेह' शब्द में विवक्षितवाच्य संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग है कि विदेही को किसी पर प्रीति कैसे हो सकती है? इसीसे इतना बड़ा अनर्थ अयोध्या में हुआ और उन्हों ने खबर तक न ली।

सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा । बोले चर-बर जोरे हाथा ॥
बूझब राउर सादर साँई । कुसल-हेतु सो भयउ गोसाँई ॥४॥

यह सुन कर उन श्रेष्ठ दूतों ने लजा कर धरती पर मस्तक नवाया और हाथ जोड़ कर बोले। हे स्वामिन्! आप का आदर के साथ पूछना कि विदेह का कुशल कहो, प्रभो! यही कुशलता का कारण हुआ (नहीं तो कुशल कहाँ है?) ॥४॥

प्रश्न के शब्द ही उत्तर हुए हैं अर्थात् कुशल पूछना कुशल का कारण हुआ 'प्रथम चित्रोत्तर अलंकार' है।

दो०—नाहिँत कोसलनाथ के, साथ कुसल गइ नाथ ।
मिथिला अवध बिसेष तैं, जग सब भयउ अनाथ ॥२७०॥

हे नाथ! नहीं तो कुशलता कोशलनाथ (दशरथजी) के साथ चली गई। वैसे तो सब जगत अनाथ हो गया, पर मिथिला और अयोध्या विशेष करके अनाथ हुई ॥२७०॥

चौ०--कोसलपति गति सुनि जनकौरा । भे सब लोग सोक-बस बौरा ॥
जेहि देखे तेहि समय बिदेहू । नाम सत्य अस लाग न केहू ॥१॥

कोशलनाथ-दशरथजी की मृत्यु सुन कर जनकजी और सभा के लोग शोक वश बावले हो गये। उस समय जिसने विदेह राजा को देखा, किसी को यह (विदेह) नाम सत्य नहीं मालूम हुआ ॥१॥

देही को दुःख होता है विदेही को नहीं, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के साथ ही प्रकट हो रहा है। गुरुजी के कहे व्यङ्ग-पूर्ण 'विदेह' शब्द का उत्तर दूतों ने कैसी मनोहर युक्ति के साथ दिया है।

रानि कुचालि सुनत नरपालहि । सूझ न कछु जस मनि बिनु व्यालहि ॥
भरत-राज रघुबर-बनबासू । भा मिथिलेसहि हृदय हरासू ॥२॥

रानी केकयी की कुचाल सुनते ही राजा को कुछ न सूझ पड़ा, वे ऐसे व्याकुल हुए जैसे मणि बिना साँप बवरा जाता है। भरतजी को राज्य और रघुनाथजी को बनबास सुन कर मिथिलेश्वर के हृदय में दुःख हुआ ॥२॥

नृप बूझे बुध-सचिव-समाजू । कहहु बिचारि उचित का आजू ॥
समुझि अवध असमञ्जस दोऊ । चलिय कि रहिय न कह कछु कोऊ ॥३॥

राजा ने विद्वान और मन्त्रिमण्डल से पूछा कि विचार कर कहो आज क्या करना उचित है। अयोध्या के दोनों अण्डसों को समझ कर चलिये या कि न चलिये; कोई कुछ नहीं कह सके ॥३॥

नृपहि धीर धरि हृदय बिचारी । पठये अवध चतुर चर चारी ॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ । आयेहु बेगि न होइ लखाऊ ॥४॥

राजा ही ने धीरज धर हृदय में विचार कर चार चतुर दूतों को अयोध्या की ओर भेजा और कहा कि भरतके सद्भाव या दुष्टभाव समझ कर जल्दी लौट आना और किसी को लखाव न हो अर्थात् अपना परिचय किसी पर प्रकट न होने देना ॥४॥

दो०--गये अवध चर भरत-गति, बूझि देखि करतूति ।
चले चित्रकूटहि भरत, चार चले तिरहूति ॥२७१॥

वे दूत अयोध्या में गये, भरतजीकी दशा समझ कर और उनकी करनी देखी जब भरतजी चित्रकूट को चले हैं। तब वे धावन जनकपुर की ओर प्रस्थान किये ॥२७१॥

चौ०--दूतन्ह आइ भरत कइ करनी । जनक-समाज जथामति बरनी ॥
सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति । भे सब सोच-सनेह बिकल अति ॥१॥

दूतों ने आकर भरतजी की करनी राजा जनक की सभामें अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन की। सुनकर गुरु शतानन्दजी, कुटुम्बीजन, मन्त्री और राजा सब सोच तथा स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हुए ॥१॥

धरि धीरज करि भरत बड़ाई । लिये सुभट साहनी बोलाई ॥
घर-पुर-देस राखि रखवारे । हय गय रथ बहु जान सँवारे ॥२॥

धीरज धरकर राजाने भरतजी की बड़ाई की और शूरवीर सेनापतियों को बुलवाया। राजमहल, नगर और देश में रक्षकों को रख कर हाथी, घोड़े, रथ और बहुत तरह की सवारियाँ सजवाईं ॥२॥

दुघरी साधि चले ततकाला । किय बिस्राम न मग महिपाला ॥
भोरहिँ आजु नहाइ प्रयागा । चले जमुन उतरन सब लागा ॥३॥

दुघरिया साइत सोध कर तत्काल चल दिये, राजाने मार्ग में कहीं विश्राम नहीं किया। आज सबेरे प्रयाग-स्नान कर चले, जब सब यमुनाजी उतरने लगे ॥३॥

खबरि लेन हम पठये नाथा । तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा ॥
साथ किरात छ सातक दीन्हे । मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे ॥४॥

हे नाथ! तब हम लोगों को ख़बर लेने के लिये भेजा है, उन्हों ने ऐसा कह कर धरती में मस्तक नवाया। मुनिवर वशिष्ठजी ने छ सात किरातों को साथ देकर दूतों को तुरन्त बिदा किया ॥४॥

दो०—सुनत जनक आगवन सब, हरषेउ अवध-समाज ।
रघुनन्दनहिँ सकोच बड़, सोच बिबस सुर-राज ॥२७२॥

जनकजी का आगमन सुनते ही सब अयोध्या का समाज प्रसन्न हुआ। रघुनाथजी को बड़ा सङ्कोच हुआ और देवराज-इन्द्र अत्यन्त सोच के वश हो गये ॥२७२॥

एक जनकजी के आगमन से अयोध्यावासियों का प्रसन्न होना, रघुनाथजी का सङ्कोच में पड़ना और इन्द्र को सोच विरोधी कार्य्य होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है ॥

चौ०—गरइ गलानि कुटिल कैकेई । काहि कहइ केहि दूषन देई ॥
अस मन आनि मुदित नर-नारी । भयउ बहोरि रहब दिन चारी ॥१॥

कुटिल केकयी मनस्ताप से गली जाती है, किससे कहे और किसको दोष दे। स्त्री-पुरुष ऐसा सोच कर मन में प्रसन्न हैं कि फिर चार दिन रहना हुआ ॥१॥

अयोध्यावासी रहना चाहते ही थे, अकस्मात जनकजी के आगमन से वह काम सुगम हो गया 'समाधि अलंकार' है।

एहि प्रकार गत बासर सोऊ । प्रात नहान लाग सब कोऊ ॥
करि मज्जन पूजहिँ नर-नारी । गनप गौरि तिपुरारि तमारी ॥२॥

इस तरह वह दिन भी बीत गया, सवेरे सब कोई स्नान करने लगे। स्नान करके स्त्री-पुरुष गणेशजी, शिवजी, पार्वतीजी और सूर्य्य की पूजा करते हैं ॥२॥

सभा की प्रति में 'गनपति गौरि पुरारि तमारी' पाठ है।

रमा-रमन पद बन्दि बहोरी । बिनवहिँ अञ्जुलि अञ्चल जोरी ॥
राजा राम जानकी रानी । आनँद-अवधि अवध रजधानी ॥३॥

लक्ष्मीकान्त के चरणों की वन्दना कर के फिर पुरुष हाथ जोड़ कर और स्त्रियाँ आँचर पसार कर बिनती करती हैं कि राजा रामचन्द्रजी, रानी जानकीजी हों और आनन्द की सीमा अयोध्या राजधानी हो ॥३॥

सुबस बसउ फिरि सहित समाजा । भरतहि राम करहु जुबराजा ॥
एहि सुख-सुधा सींचि सब काहू । देव देहु जग-जीवन लाहू ॥ ४ ॥

समाज के सहित अयोध्या फिर स्वच्छन्दता-पूर्वक बसे । भरतजी को रामचन्द्रजी युवराज बनावें । हे देव ! इस सुख रूपी अमृत से सब को सींच कर संसार में जीने का लाभ दीजिये ॥४॥

दो०—गुरु समाज भाइन्ह सहित, राम राज पुर होउ ।
अछत राम राजा अवध, मरिय माँग सब कोउ ॥२७३॥

गुरु समाज और भाइयों के सहित अयोध्यापुरी में रामचन्द्रजी का राज्य हो । अयोध्या में रामचन्द्र राजा के विद्यमान रहते हमारी मृत्यु हो, सब कोई यही वर माँगते हैं ॥२७३॥

चौ०—सुनि सनेह-मय पुरजन बानी । निन्दहिँ जोग बिरति मुनि ज्ञानी ॥
एहि बिधि नित्य-करम करि पुरजन । रामहिँ करहिँ प्रनाम पुलकितन ॥१॥

पुरजनों की स्नेह भरी वाणी सुन कर ज्ञानी मुनि अपने योग और वैराग्य की निन्दा करते हैं । इस तरह पुर के लोग नित्य-कर्म करके पुलकित शरीर से रामचन्द्रजी को प्रणाम करते हैं ॥१॥

ऊँच नीच मध्यम नर-नारी । लहहिँ दरस निज निज अनुहारी ॥
सावधान सबही सनमानहिँ । सकल सराहत कृपानिधानहिँ ॥२॥

उत्तम, मध्यम और नीच श्रेणी के स्त्री-पुरुष अपने अपने अनुसार दर्शन पाते हैं । कृपानिधान रामचन्द्रजी सावधानता से सभी का सम्मान करते हैं और वे सम्पूर्ण प्रभु की सराहना करते हैं ॥२॥

लरिकाइहिँ तेँ रघुबर बानी । पालत नीति प्रीति पहिचानी ॥
सील-सकोच-सिन्धु रघुराऊ । सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ॥३॥

लड़कपन ही से रघुनाथजी की बानि है कि नीति का पालन और प्रीति की पहचान करते हैं । रामचन्द्रजी प्रसन्न-बदन, सुन्दर नेत्र, सरल स्वभाव, शील और सङ्कोच के सागर हैं (फिर ऐसा क्यों न करें ?) ॥३॥

कहत राम-गुन-गन अनुरागे । सब निज भाग सराहन लागे ॥
हम सम पुन्य-पुञ्ज जग थोरे । जिन्हहिँ राम जानत करि मोरे ॥४॥

प्रेम से रामचन्द्रजी के गुण-समूह कहते हुए सब अपना भाग्य सराहने लगे। कहते हैं कि—हमारे समान पुण्य की राशि जगत में थोड़े लोग होंगे कि जिन्हें रामचन्द्रजी अपना करके जानते हैं ॥४॥

दो०—प्रेम मगन तेहि समय सब, सुनि आवत मिथिलेस ॥
सहित सभा सम्भ्रम उठेउ, रबिकुल-कमल-दिनेस ॥२७४॥

उस समय सब प्रेम में मग्न हैं, मिथिलेश्वर को आते सुन सूर्य्यकुल रूपी कमल के सूर्य्य रामचन्द्रजी सभा के सहित उतावली से उठे ॥२७४॥

चौ०—भाइ सचिव गुरु पुरजन साथा । आगे गवन कीन्ह रघुनाथा ॥
गिरिबर दीख जनकपति जबहीं । करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं ॥१॥

भाई, मन्त्री, गुरू और पुरजनों के साथ रघुनाथजी आगे गमन किये। राजा जनक ने ज्यों ही गिरिश्रेष्ठ (कामतानाथ) को देखा, त्यों ही प्रणाम करके रथ त्याग दिया ॥१॥

राम-दरस लालसा उछाहू । पथ-स्रम लेस कलेस न काहू ॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तन दुख-सुख सुधि केही ॥२॥

रामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा से उत्साहित किसी को रास्ते की थकावट का लेशमात्र भी कलेश नहीं है। मन वहाँ है जहाँ रघुनाथजी और जानकीजी हैं, बिना मन के शरीर के दुःख सुख की ख़बर किसको हो ? ॥२॥

पूर्वार्द्ध में यह कहा गया कि राम-दर्शन की लालसा से उत्साहित लोगों को ज़रा भी रास्ते का कष्ट नहीं मालूम होता है। इसके समर्थन में हेतुसूचक बात कहना कि मन शरीर में नहीं है बिना मन के देह के सुख दुःख का ज्ञान किसको हो 'काव्यलिंग अलंकार' है

आवत जनक चले एहि भाँती । सहित समाज प्रेम-मति माँती ॥
आये निकट देखि अनुरागे । सादर मिलन परसपर लागे ॥३॥

इस तरह समाज के सहित प्रेम में मति मतवाली हुई जनकजी चले आते हैं। पास में आये देख कर प्रीति-पूर्वक आदर के साथ आपस में (एक दूसरे से) मिलने लगे ॥३॥

लगे जनक मुनिजन-पद बन्दन । रिषिन्ह प्रनाम कीन्ह रघुनन्दन ।
भाइन्ह सहित राम मिलि राजहि । चले लेवाइ समेत समाजहि ॥४॥

जनकजी मुनिजनों के चरणों की वन्दना करने लगे और रघुनाथजी ने ऋषियों को प्रणाम किये। भाइयों के सहित रामचन्द्रजी राजा से मिल कर उन्हें समाज के समेत लिवा कर चले ॥४॥

दो०—आस्त्रम-सागर सान्तरस, पूरन पावन-पाथ ।
सेन मनहुँ करुना-सरित, लिये जाहिँ रघुनाथ ॥२७५॥

आश्रम रूपी समुद्र शान्त-रस रूपी पवित्र जल से भरा है। ऐसा मालूम होता है मानों जनकराजा की मण्डली करुणा की नदी है, उसको रघुनाथजी लिये जाते हैं ॥२७५॥

चौ०—बोरति ज्ञान-बिराग करारे । बचन ससोक मिलत नद नारे ॥
सोच उसास समीर तरङ्गा । धीरज तट तरुबर कर भङ्गा ॥१॥

ज्ञान और वैराग्य रूपी किनारों को डुबो दिया, शोकयुक्त वचन नद और नाले रूप मिलते हैं। लम्बी साँसें वायु रूप तथा सोच लहर रूपी है, धीरज रूपी किनारे के वृक्ष को गिराती जाती है ॥१॥

खूब बढ़ी हुई नदी और करुणानदी का कविजी ने साङ्गोपाङ्ग रूपक बाँधा है। जैसे नदी के दो किनारे होते हैं, बीच बीच में नदी नाले मिलते हैं, हवा बहती है,लहरें उठती हैं और तीर के पेड़ ढहते हैं। यही सब ऊपर करुणा नदी के दिखाये गये हैं।

बिषम बिषाद तोरावति धारा । भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ।
केवट-बुध बिद्या बड़ि नावा । सकहिँ न खेइ अइक नहिँ आवा ॥२॥

भीषण विषाद तोड़नेवाली धारा है, भय रूपी भँवर और भ्रम रूपी अपार हरहरा शब्द है। विद्वान मलाह रूप हैं और विद्या बड़ी नाव रूपी है, वे खे नहीं सकते अधिक बाढ़ से अटकल नहीं आता है ॥२॥

बनचर कोल किरात बिचारे । थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥
आस्त्रम-उदधि मिली जब जाई । मनहुँ उठेउ अम्बुधि अकुलाई ॥३॥

वन के विचरनेवाले बेचारे कोल किरात रूपी यात्री बाढ़ देख हृदय में हार कर टिक गये (पार नहीं जा सकते)। जब यह नदी जा कर आश्रम रूपी समुद्र में मिली, ऐसा मालूम होता है मानों तब समुद्र खलबला उठा ॥३॥

सोक बिकल दोउ राज-समाजा । रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥
भूप-रूप-गुन-सील सराही । रोवहिँ सोक-सिन्धु अवगाही ॥४॥

दोनों राज-समाज शोक से व्याकुल हो गये; न किसी में ज्ञान रहा, न धीरज और लज्जा रह गई। राजा दशरथजी के रूप, गुण और शील की सराहना करके शोक रूपी समुद्र में डूब कर रोते हैं ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

अवगाहि सोक-समुद्र सोचहिँ, नारि नर व्याकुल महा ।
दै दोष सकल सरोष बोलहिँ, बाम बिधि कीन्हो कहा ।

सुर सिद्ध तापस जोगि-जन मुनि, देखि दसा बिदेह की ।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि, सकइ सरित सनेह की ॥११॥

शोक के सागर में डूब कर महा व्याकुलता से स्त्री-पुरुष सोचते हैं । सब क्रोध से विधाता को दोष देकर कहते हैं कि कुटिल ब्रह्मा ने यह क्या किया ? देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगीजन और मुनि लोग राजा विदेह की दशा देख कर—तुलसीदासजी कहते हैं कि स्नेह रूपी नदी को पार करने में कोई भी समर्थ नहीं जो उस पार जा सके ॥११॥

'वाम-विधि' प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त अप्रस्तुत ब्रह्मा की स्त्री सरस्वती का अर्थ निकलना 'समासोक्ति 'अलंकार' है ।

सो०—किये अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिवरन्ह ।
धीरज धरिय नरेस, कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन ॥२७६॥

जहाँ तहाँ लोगों को मुनिवरों ने विविध उपदेश किये । वशिष्ठजी ने राजा जनक से कहा कि—राजन् ! धीरज धरिये ॥२७६॥

चौ०—जासु ज्ञान रबि भव-निसि नासा । बचन किरन मुनि-कमल बिकासा ॥
तेहि कि मोह ममता नियराई । यह सिय-रामसनेह बड़ाई ॥१॥

जिनके ज्ञान रूपी सूर्य्य से संसार रूपी रात्रि का नाश हो जाता है और जिनके वचन रूपी किरणों से मुनि रूपी कमल खिलते हैं । क्या उनके समीप मोह और ममत्व आ सकता है ? (कदापि नहीं) यह सीताजी तथा रामचन्द्रजी के स्नेह की बड़ाई है ॥१॥

बिषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिबिधि जीव जग बेद बखाने ॥
राम-सनेह-सरस मन जासू । साधु सभा बड़ आदर तासू ॥२॥

विषयी, साधक और सिद्ध तीन प्रकार के सयाने जीव संसार में वेदों ने कहे हैं । जिसका मन रामचन्द्रजी के स्नेह में रसीला है, उसका साधुमण्डली में बड़ा आदर होता है ॥२॥

सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू । करनधार बिनु जिमि जलयानू ॥
मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाये । रामघाट सब लोग नहाये ॥३॥

रामचन्द्रजी के प्रेम के बिना ज्ञान नहीं सोहता, जैसे बिना मल्लाह के जहाज़ । मुनि वशिष्ठजी ने राजा जनक को बहुत तरह समझाया, तब सब लोग रामघाट में स्नान किये ॥३॥

सकल सोक-सङ्कुल नर नारी । सो बासर बीतेउ बिनु बारी ॥
पसु-खग-मृगन्ह न कीन्ह अहारू । प्रिय परिजन कर कवन बिचारू ॥४॥

सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष शोक से भरे हैं, वह दिन बिना जलपान के बीता । जब पशु, पक्षी और मृगों ने आहार नहीं किया, तब प्रिय कुटुम्बियों का कौन सा विचार है ? ॥४॥

जब पशु पक्षियों ने कुछ नहीं खाया, तब कुटुम्बियों का क्या कहना 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है ।

दो०—दोउ समाज निमिराज रघु,-राज नहाने प्रात ।
बैठे सब बट बिटप तर, मन मलीन कृस गात ॥२७७॥

निमिराज और रघुराज दोनों समाज प्रातःकाल स्नान करके सब बड़-वृक्ष के नीचे बैठे, उनके मन उदास और अङ्ग दुबले हैं ॥२७७॥

चौ०—जे महिसुर दसरथ पुर बासी । जे मिथिलापति नगर निवासी ॥
हंसबंस गुरु जनक पुरोधा । जिन्ह जग मग परमारथ सोधा ॥१॥

जो अयोध्यावासी ब्राह्मण हैं और जो राजा जनक के नगर के निवासी हैं । सूर्य्यकुल के गुरु वशिष्ठजी और जनकजी के पुरोहित शतानन्द, जिन्हों ने संसार में परमार्थ का मार्ग ढूँढ़ डाला है ॥१॥

लगे कहन उपदेस अनेका । सहित धरम नय बिरति बिबेका ॥
कौसिक कहि कहि कथा पुरानी । समुझाई सब सभा सुबानी ॥२॥

धर्म, नीति, वैराग्य और ज्ञान से पूर्ण अनेक प्रकार के उपदेश कहने लगे । विश्वामित्रजी ने पुरानी कथायें कह कह कर सारी सभा को अच्छी वाणी से समझाया ॥२॥

तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ । नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ ॥
मुनि कह उचित कहत रघुराई । गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई ॥३॥

तब रघुनाथजी ने विश्वामित्रजी से कहा—हे नाथ ! कल सब कोई बिना जल के (निर्जल व्रत) रहे हैं । मुनि ने कहा रघुनाथजी ठीक कहते हैं, ढाई पहर दिन बीत गया है (अब सब को जलपान करना चाहिये) ॥३॥

रिषि रुख लखि कह तिरहुति राजू । इहाँ उचित नहिँ असन अनाजू ॥
कहा भूप भल सबहि सुहाना । पाइ रजायसु चले नहाना ॥४॥

विश्वामित्रजी का रुख देख कर जनकजी ने कहा, यहाँ अन्न भोजन करना उचित नहीं है । यह बात सभी को सुहायी कि राजा ने अच्छी बात कही, आज्ञा पा कर सब लोग स्नान करने चले ॥४॥

दो०—तेहि अवसर फल फूल दल, मूल अनेक प्रकार ।
लइ आये बनचर बिपुल, भरि भरि काँवरि भार ॥२७८॥

उस समय अनेक प्रकार के फल, फूल, पत्ते और जड़ों के बहुत से बोझ बहँगियों में भर भर कर बनचर (कोल भील आदि) ले आये ॥२७८॥

चौ०—कामद भे गिरि रामप्रसादा । अवलोकत अपहरत बिषादा ॥
सर सरिता बन भूमि बिभागा । जनु उमगत आनँद अनुरागा ॥१॥

रामचन्द्रजी की कृपा से पर्वत कामना का देनेवाला और दर्शन से दुःख का हरनेवाला हुआ है । तालाब, नदी, वन और धरती का भाग सब ऐसे मालूम होते हैं मानों आनन्द और प्रेम उनमें उमड़ता हो ॥१॥

आनन्द और अनुराग जल नहीं है जो उमड़ता हो, यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

बेलि बिटप सब सफल सफूला । बोलत खग मृग अलि अनुकूला ॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू । त्रिबिधि समीर सुखद सब काहू ॥२॥

लता और वृक्ष सब फले फूले हैं, पक्षी, मृग और भँवरे सुहावनी बोली बोलते हैं । उस समय वन में बड़ा उत्साह है, सब को सुख देनेवाली तीनों प्रकार की (शीतल, मन्द, सुगन्धित) हवा बहती है ॥२॥

जाइ न बरनि मनोहरताई । जनु महि करति जनक पहुनाई ॥
तब सब लोग नहाइ नहाई । राम-जनक-मुनि आयसु पाई ॥३॥

वह सुन्दरता वर्णन नहीं की जा सकती, ऐसा मालूम होता है मानों वसुन्धरा जनकजी की मेहमानी करती हो । तब सब लोग नहा नहा कर और रामचन्द्रजी, जनकजी, वशिष्ठमुनि की आज्ञा पा कर ॥३॥

जड़ पृथ्वी पहुनाई नहीं कर सकती, यह असिद्ध आधार है । इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है । राजापुर की प्रति में इस चौपाई का दूसरा और तीसरा चरण लेख प्रमाद से लिखने में छूट गया है । मालूम होता है कि उस प्रतिलिपि को गोस्वामी जी ने किसी कथा प्रेमी रामभक्त के लिये तैयार की, किन्तु लिखने के पीछे उसका संशोधन नहीं कर सके । चौपाइयों के छूटने का यही कारण प्रतीत होता है । काशीजी की प्रति में जो चौपाइयाँ हैं और जिनके बिना प्रसंग में त्रुटि झलकती है, उनका इस प्रति में न रहना भूल से छूटने के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

देखि देखि तरुबर अनुरागे । जहँ तहँ पुरजन उतरन लागे ॥
दल फल मूल कन्द बिधि नाना । पावन सुन्दर सुधा समाना ॥४॥

वृक्ष देख देख कर प्रीति से जहाँ तहाँ जनकपुर-निवासी उतरने लगे । शाक, फल, मूल और नाना प्रकार के कन्द पवित्र सुन्दर अमृत के समान मीठे ॥४॥

दो०—सादर सब कहँ राम-गुरु, पठये भरि भरि भार ।
पूजि पितर सुर अतिथि गुरु, लगे करन फलहार ॥२७९॥

रामचन्द्रजी के गुरु वशिष्ठजी ने आदर के साथ बोझों में भर भर कर भेजे । पितर, देवता, अतिथि और गुरु की पूजा करके फलहार करने लगे ॥२७९॥

चौ०--एहिबिधि बासर बीते चारी । राम निरखि नर नारि सुखारी ॥
दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं । बिनु सिय-राम फिरब भल नाहीं ॥१॥

इस तरह चार दिन बीत गये, रामचन्द्रजी को देख कर स्त्री-पुरुष प्रसन्न हैं। दोनों समाजों के मन में ऐसी इच्छा है कि बिना सीताजी और रामचन्द्रजी के लौटना अच्छा नहीं ॥१॥

सीताराम सङ्ग बन-बासू । कोटि अमरपुर सरिस सुपासू ॥
परिहरि लखन-राम-बैदेही । जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥२॥

सीताजी और रामचन्द्रजी के साथ वन में रहना करोड़ों इन्द्रपुरी के समान-सुख दायी है। लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और जानकीजी को छोड़ कर जिसको घर सुहावे उस पर विधाता टेढ़े हैं ॥२॥

दाहिन दइउ होइ जब सबहीं । राम समीप बसिय बन तबहीं ॥
मन्दाकिनि मज्जन तिहुँ काला । रामदरस मुदमङ्गलमाला ॥३॥

जब सभी तरह दैव अनुकूल हो, तभी रामचन्द्रजी के समीप वन में रहना होगा। तीनों काल मन्दाकिनी गंगा में स्नान और रामचन्द्रजी का दर्शन आनन्द-मंगल की राशि है ॥३॥

अटनरामगिरिन तापस थल । असन अमिय सम कन्द मूल फल ॥
सुख समेत सम्बत दुइ साता । पल सम होहिँ न जनियहि जाता ॥४॥

रामचन्द्रजी के पर्वत, वन और तपस्वियों के स्थल में घूमना तथा अमृत के समान कन्द मूल, फलों के भोजन। इस तरह चौदह वर्ष सुख सहित पल के समान होंगे, बीतते मालूम न होगा ॥४॥

दो०--एहि सुख जोग न लोग सब, कहहिँ कहाँ अस भाग ।
सहज सुभाय समाज दुहुँ, राम-चरन अनुराग ॥२८०॥

सब लोग कहते हैं कि इस सुख के योग्य हमारा ऐसा भाग्य कहाँ है? इस प्रकार सहज सुभाव हो दोनों समाज में रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम है ॥२८०॥

चौ०--एहि बिधि सकल मनोरथ करहीं । बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं ॥
सीय मातु तेहि समय पठाई । दासी देखि सुअवसर आई ॥१॥

इस तरह सब मनोरथ करते हैं, उनके प्रेम-युक्त वचन सुननेवालों के मन को हरते हैं। सीताजी की माता ने उस समय दासी को भेजा, वह जा कर अच्छा समय देख आई ॥१॥

सावकास सुनि सब सियसासू । आयउ जनकराज रनिवासू ॥
कौसल्या सादर सनमानी । आसन दिये समय सम आनी ॥२॥

सीताजी की सब सासुओं को अवकाश में सुन कर राजा जनक का रनिवास उनसे

मिलने को आया। कौशल्याजी ने आदर के साथ सत्कार किया और समयानुसार ला कर आसन दिये ॥२॥

सील सनेह सकल दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥३॥

सम्पूर्ण (रानियों में) दोनों ओर शील और स्नेह इतना अधिक है कि जिसे देख सुन कर कठिन वज्र भी पिघल जाता है। उनके शरीर पुलकित और शिथिल हुए आँखों में आँसू भरे हैं, सब सोच करती हुई नख से धरती पर लिखने लगीं ॥३॥

स्त्रियाँ सोच के समय पद-नखों से पृथ्वी खोदने लगती हैं। गुटका में 'सील-सनेह-सरस दुहुँ ओरा' पाठ है, परन्तु राजापुर की प्रति में सरस की जगह सकल है। अर्थ करने में सरस (अधिकत्व) अध्याहार से लाना पड़ता है, उसके बिना रोचकता नहीं आती।

सब सिय-राम प्रेम कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति॥
सीय-मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पय-फेन फोर पबि टाँकी॥४॥

सब सीताजी और रामचन्द्रजी के प्रेम की मूर्त्ति के समान हैं, ऐसी मालूम होती हैं मानों बहुत रूपों से करुणा सिसकती हो। सीताजी की माता ने कहा, विधाता की बुद्धि टेढ़ी है जो दूध के फेन को वज्र की टाँकी से फोड़ता है ॥४॥

दो०—सुनिय सुधा देखिय गरल, सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल॥२८१॥

अमृत सुना जाता है और विष देखने में आता है, ब्रह्मा की सारी करनी भयङ्कर है। कौआ, उल्लू और बकुला जहाँ देखिये वहाँ (दिखाई पड़ते हैं, परन्तु) हंस एक मानसरोवर ही में देखे जाते हैं ॥२८५॥

सुनयनाजी को कहना तो यह है कि केकयी की बुद्धि टेढ़ी है जो उसने रामचन्द्रजी को वनवास दिया। सुना था कि इसके ओठों में अमृत है, उसे पान कर राजा जीते हैं, पर उसी से राजा की मृत्यु आँखों देखी। इस के हृदय-मानस में छल, पाखण्ड, द्वेष आदि कौए उल्लू भरे हैं, एक भरत ही हंस रूप प्रकट हैं। उसे न कह कर ब्रह्मा की करतूत वर्णन कर प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलंकार' है। पुनः कहना तो है कार्य्य रूप रामचन्द्रजी का राज्योत्सव भङ्ग और वनवास, उसे सीधे न कह कर कारण रूप ब्रह्मा की वामता कहना जिससे असली बात प्रकट हो जाय 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' दोनों का सन्देहसङ्कर है।

चौ०—सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा। बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी॥१॥

सुन कर सोच से सुमित्रादेवी ने कहा कि—विधाता की गति बड़ी उलटी और विलक्षण है। जो जगत को उत्पन्न करके पालन करता; फिर संहार कर डालता है, बालकों के खेल के समान ब्रह्मा की बुद्धि भोली (अज्ञान से भरी) है ॥१॥

कौसल्या कह दोस न काहू । करम-बिबस दुख-सुख छति लाहू ॥
कठिन करम-गति जान बिधाता । जो सुभ असुभ सकल फल दाता ॥२॥

कौशल्याजी ने कहा—किसी का दोष नहीं, दुःख, सुख, हानि और लाभ कर्म के अधीन हैं । कठिन कर्म की गति को विधाता जानते हैं, जो उसके अनुसार जीव को सम्पूर्ण शुभ और अशुभ फल देते हैं, इसमें ब्रह्माका कौन सा दोष है ? ॥ २॥

ईस रजाइ सीस सबही के । उतपति थिति लय बिषहु अमी के ॥
देबि मोह-बस सोचिय बादी । बिधि प्रपञ्च अस अचल अनादी ॥३॥

ईश्वर की आज्ञा सभी के सिर पर है, क्या उत्पत्ति, क्या पालन, क्या प्रलय, विष के भी और अमृत के भी (सब पर उसी का प्राधान्य है) । हे देवि ! मोह के अधीन होकर व्यर्थ सोच करती हो, ब्रह्मा का अटल प्रपञ्च अनादि काल से ऐसा ही होता आता है ॥३॥

ब्रह्मा ईश्वराज्ञा के अधीन निर्दोष हैं, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर गुणीभूत व्यङ्ग है ।

भूपति जियब मरब उर आनी । सोचिय सखि लखि निजहित हानी ॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी । सुकृती-अवधि अवधपति-रानी ॥४॥

हे सखी ! राजा का जीना मरना हृदय में विचार कर सोच अपने हितों की हानि देख कर करना है । सीताजी की माता ने सुन्दर वाणी में कहा सत्य है, आप पुण्यात्माओं के हद अयोध्यानरेश की रानी हैं (फिर ऐसा क्यों न कहें) ? ॥४॥

दो०—लखन-राम-सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोच ।
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहि भरत कर सोच ॥२८२॥

लक्ष्मण, रामचन्द्र और सीता वन को जाँय, इसका फल अच्छा होगा बुरा नहीं । दुःखित हृदय से कौशल्याजी कहती हैं कि मुझे भरत की चिन्ता है ॥२८२॥

चौ०—ईस प्रसाद असीस तुम्हारी । सुत सुतबधू देवसरि-बारी ॥
राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ । सो करि कहउँ सखी सतिभाऊ ॥१॥

ईश्वर की कृपा और आप के आशीर्वाद से मेरे पुत्र-पतोहू गंगाजल (के समान पवित्र) हैं । रामचन्द्र की सौगन्द मैं ने कभी नहीं की, हे सखी ! वह करके सत्य कहती हूँ ॥१॥

भरत सील गुन बिनय बड़ाई । भायप-भगति भरोस भलाई ॥
कहत सारदहु कर मति हीचे । सागर सीपि कि जाहिँ उलीचे ॥२॥

भरत का शील, गुण, नम्रता, महिमा, भाईचारा, भक्ति, विश्वास और भलापन कहते सरस्वती की भी बुद्धि खिंच जाती है, क्या सुतुही से समुद्र का जल उलीचा जा सकता है ? (कदापि नहीं) ॥२॥

जानउँ सदा भरत कुल-दीपा । बार बार मोहि कहेउ महीपा ॥
कसे कनक मनि पारिख पाये । पुरुष परिखियहि समय सुभाये ॥३॥

मैं भरत को सदा से कुल का दीपक समझती हूँ, बार बार राजा ने मुझ से कहा था। सोना कसने से और मणि परखने से खरे खोटे की पहचान होती है, पुरुष की स्वाभाविक परीक्षा समय पर होती है (अवसर पड़ने पर भरत ने अपने अनुपम गुणों का परिचय दिया)॥३॥

अनुचित आजु कहब अस मोरा । सोक सनेह सयानप थोरा ॥
सुनि सुरसरि सम पावनि बानी । भईं सनेह बिकल सब रानी ॥४॥

आज मेरा ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि शोक और स्नेह से सयानपन घट गया है। गङ्गाजी के समान पवित्र वाणी सुन कर सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हो गईं ॥४॥

वाणी-उपमेय, गङ्गाजी-उपमान, सम-वाचक और पवित्रता-धर्म 'पूर्णोपमा अलंकार' है।

दो०—कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देबि मिथिलेसि ।
को बिबेक-निधि-बल्लभहि, तुम्हहिँ सकइ उपदेसि ॥२८३॥

कौशल्याजी ने धीरज धर कर कहा—हे देवि मिथिलेश्वरी! सुनिये, आप ज्ञान के निधान (जनकजी) की प्रियतमा हैं, आप को कौन सिखा सकता है ? (कोई नहीं) ॥२८३॥

चौ०-रानि राय सन सवसर पाई । अपनी भाँति कहब समुझाई ॥
रखियहि लखन भरत गवनहिँ बन । जौँ यह मत मानइ महीप मन ॥१॥

हे रानी ! समय पा कर राजा को अपनी ओर से समझा कर कहना कि लक्ष्मण को रख लें और भरत वन जाँय, यदि यह मत उनके मन में जँचे तो अच्छा है ॥१॥

तौ भल जतन करब सुबिचारी । मोरे सोच भरत कर भारी ॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीँ । रहे नीक मोहि लागत नाहीँ ॥२॥

तब वे अच्छी तरह विचार कर प्रयत्न करेंगे, मुझे भरत ही का बड़ा सोच है। भरत के मन में (रामचन्द्र के चरणों में) गूढ़ प्रेम है, उनका घर रहना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥२॥

कहीं भरत की भी राजा की दशा न हो, वह वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है।

लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी । सब भइँ मगन करुनरस सानी ॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि । सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि ॥३॥

कौशल्याजी का स्वभाव लखकर और उनकी सीधी सुन्दर वाणी सुनकर सब करुणारस से सनी मग्न हो गईं। आकाश से फूल बरसा कर देवता धन्य धन्य का शब्द करते हैं और सिद्ध, योगी मुनि स्नेह से शिथिल हो गये ॥ ३ ॥

सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ । तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥
देबि दंड जुग जामिनि बीती । राम-मातु सुनि उठी सप्रीती ॥४॥

सब रनिवास को विमोहित हुआ देख तब सुमित्राजी ने धीरज धर कर कहा—हे देवि! दो घड़ी रात बीत गई, यह सुन कर रामचन्द्रजी की माता प्रीति से उठ खड़ी हुई ॥४॥

दो०—बेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सतिभाय ।
हमरे तौ अब ईस-गति, के मिथिलेस सहाय ॥२८४॥

कौशल्याजी ने स्नेह के साथ सच्चे भाव से कहा—आप शीघ्र ही डेरे को पदार्पण करें। हमारे तो अब शिवजी की गति है या मिथिलेश्वर की सहायता का भरोसा है ॥२८४॥

या तो ईश की गति या मिथिलेश्वर की सहायता 'विकल्प अलंकार' है।

चौ०—लखि सनेह सुनि बचन बिनीता । जनक-प्रिया गहि पाय पुनीता ॥
देबि उचित असि बिनय तुम्हारी । दसरथ-घरनि राम-महँतारी ॥१॥

कौशल्याजी के स्नेह को लखकर और उनके विनीत वचनों को सुन जनकजी की प्रियतमा ने उनके पवित्र चरणों में पड़कर कहा—हे देवि! आप की ऐसी प्रार्थना उचित ही है, क्योंकि आप महाराज दशरथजी की भार्य्या और रामचन्द्रजी की माता हैं ॥१॥

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं । अगिनि-धूम गिरि-सिर-तृन धरहीं ॥
सेवक राउ करम-मन-बानी । सदा सहाय महेस भवानी ॥२॥

स्वामी अपने नीचजन का भी आदर करते हैं, अग्नि धुआँ को और पर्वत तृण को सिर पर रखते हैं। राजा मन, कर्म, वचन से आप के सेवक हैं और सहायक तो शिव-पार्वतीजी हैं ॥२॥

बड़े लोग अपने लघुजनों का भी आदर करते हैं, यह उपमेय वाक्य है। अग्नि धुआँ और पर्वत तृण सिर पर रखते हैं। दोनों उपमान वाक्य हैं। दोनों वाक्यों में विना वाचक पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

रउरे अङ्ग जोग जग को है । दीप सहाय कि दिनकर सोहै ॥
राम जाइ बन करि सुरकाजू । अचल अवधपुर करिहहिं राजू ॥३॥

आप की बराबरी के योग्य संसार में कौन है? क्या सूर्य्य की सहायता के लिये दीपक शोभा दे सकता है? (कदापि नहीं)। रामचन्द्र वन में जाकर देवताओं का कार्य्य करके अयोध्यापुरी में अटल राज्य करेंगे ॥ ३ ॥

अमर नाग नर राम-बाहु-बल । सुख बसिहहिं अपने अपने थल ॥
यह सब जागबलिक कहि राखा । देबि न होइ मुधा मुनि भाखा ॥४॥

रामचन्द्र के बाहु-बल से देवता, नाग और मनुष्य अपने अपने स्थान में सुख से निवास करेंगे। हे देवि! यह सब याज्ञवल्क्य मुनि ने कह रक्खा है, उनकी बात झूठ न होगी ॥ ४ ॥

दो०-अस कहि पग परि प्रेम अति, सिय हित बिनय सुनाइ ।
सिय समेत सिय-मातु तब, चली सुआयसु पाइ ॥२८५॥

ऐसा कह बड़े प्रेम से पाँव पर पड़ कर सीताजी के लिये विनती की। सुन्दर आज्ञा पाकर सीताजी की माता सीताजी के सहित डेरे को चलीं ॥२८५॥

चौ०-प्रिय परिजनहि मिली बैदेही । जो जेहि जोग भाँति तेहि तेही ॥
तापस बेष जानकी देखी । भा सब बिकल बिषाद बिसेखी ॥१॥

प्रिय कुटुम्बीजन जो जिस योग्य थे उनसे उसी तरह जानकीजी मिलीं। जानकीजी को तपस्विनी के वेश में देख कर सब विशेष विषाद से व्याकुल हो गये ॥ १ ॥

जनक राम-गुरु आयसु पाई । चले थलहि सिय देखी आई ॥
लीन्ह लाइ उर जनक जानकी । पाहुनि पावन प्रेम प्रान की ॥२॥

राजा जनक वशिष्ठजी की आज्ञा पा कर चले और डेरे में आ कर सीताजी को देखा। जनकजी ने जानकीजी को हृदय से लगा लिया, वे प्रेम रूपी प्राण की पवित्र मेहमान हैं ॥२॥

उर उमगेउ अम्बुधि अनुरागू । भयउ भूप मन मनहुँ पयागू ॥
सिय-सनेह-बट बाढ़त जोहा । ता पर राम-प्रेम-सिसु सोहा ॥३॥

हृदय में प्रेम रूपी समुद्र उमड़ पड़ा ऐसा मालूम होता है मानों राजा का मन प्रयाग हो गया हो। सीताजी के प्रति स्नेह रूपी वड़का वृक्ष (अक्षयवट) बढ़ता हुआ देख पड़ता है और उस पर रामचन्द्रजी का प्रेम रूपी बालक (मुकुन्दभगवान) शोभित है ॥३॥

पुराणों की उक्ति के अनुसार प्रलय का जल उमड़ना, अक्षयवट का बढ़ना और उसके पत्ते पर अकेले बाल रूप से भगवान् का शयन करना प्रसिद्ध ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चिरजीवी-मुनि ज्ञान बिकल जनु । बूड़त लहेउ बाल-अवलम्बनु ॥
मोह मगन मति नहिँ बिदेह की । महिमा सिय-रघुबर-सनेह की ॥४॥

ऐसा मालूम होता है मानों ज्ञान रूपी चिरजीवी (मार्कण्डेय) मुनि व्याकुल डूबते हुए बालक (राम-प्रेम रूपी मुकुन्द भगवान्) का सहारा पा गये हों। विदेह राजा की बुद्धि अज्ञान में मग्न नहीं है यह सीताजी और रघुनाथजी के प्रेम की बड़ाई है ॥४॥

ज्ञान और मार्कण्डेय मुनि राम प्रेम और बालमुकुन्द भगवान परस्पर उपमेय उपमान हैं। पुराणों के कथनानुसार ऐसी घटना हुई है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। पुराणों में ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक बार मार्कण्डेय ऋषि ने तपस्या करके आग्रह पूर्वक भगवान से वर माँगा कि मैं आपकी माया देखना चाहता हूँ। तुरन्त प्रलयकाल का जल उमड़ा, उसमें मुनि बह चले। बहुत काल तक उसी जल में बहते फिरे, तब मुनि को बड़ी व्याकुलता हुई और मन ही मन भगवान् की स्तुति की कि—प्रभो! रक्षा कीजिये। प्रलयकाल में भी प्रयाग-

राज का नाश नहीं होता। ज्यों ज्यों प्रलय का जल बढ़ता है, त्यों त्यों अक्षयवट पानी के ऊपर उठता जाता है और उसके पत्ते पर बाल रूप से भगवान शयन करते हैं। अन्त में मुनि भगवान के चरणों का सहारा पा।कर प्रसन्न हुए और माया का विस्तार दूर हो गया। फिर पूर्ववत मुनि अपने आश्रम में तप करने लगे।

दो०—सिय पितु-मातु सनेह बस, बिकल न सकी सँभारि।
धरनि-सुता धीरज धरेउ, समउ सुधरम बिचारि ॥२८६॥

सीताजी पिता-माता के स्नेह वश व्याकुलता को नहीं सँभाल सकीं। परन्तु क्षमा रूपिणी पृथ्वी की कन्या हैं, समय और स्वधर्म विचार कर धीरज धारण किया ॥२८६॥

कारण रूप पृथ्वी और कार्य्य रूप सीताजी हैं। जब पृथ्वी क्षमाशील है तो उसकी कन्या धीरज धारिणी होना ही चाहिये। कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है।

चौ०—तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष बिसेखी॥
पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥१॥

सीताजी को तपस्विनी वेष में देखकर जनकजी को प्रेम से विशेष सन्तोष हुआ और बोले। हे पुत्री! तू ने दोनों कुलों को पवित्र कर दिया, तेरे विशुद्ध सुन्दर यश को संसार में सब कोई बखानते हैं ॥१॥

जिति सुरसरि कीरति-सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि-अंड करोरी॥
गङ्ग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहि किय साधु-समाज घनेरे॥२॥

तेरी कीर्ति रूपी नदी ने गङ्गा को जीत लिया, क्योंकि इसने करोड़ों ब्रह्माण्डों में गमन किया है। गङ्गा के पृथ्वी पर तीन बड़े स्थान (हरद्वार, प्रयागराज, गंगासागर) हैं, इस (कीर्ति नदी) ने असंख्यों साधुसमाज बनाया है ॥२॥

'अधिक अभेद रूपक अलंकार' है। गङ्गाजी एकही ब्रह्माण्डमें गमन करती हैं किन्तु कीर्त्ति रूपिणी नदी असंख्यों ब्रह्माण्ड में जा चुकी है। गङ्गा के तीन ही प्रसिद्ध स्थान हैं, इसने असंख्यों साधु-समाज बनाये, यही अधिकता है।

पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महँ मनहुँ समानी॥
पुनि पितु-मातु लीन्हि उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई॥३॥

पिताजी स्नेह से सुन्दर सच्ची वाणी कहते हैं, सीताजी ऐसी मालूम होती हैं मानों सकुच (लाज) में समा गई हों। फिर पिता माता ने हृदय से लगा लिया, हितकारी शिक्षा और सुहावना आशीर्वाद दिया ॥३॥

सकुच कोई स्थान वा घर नहीं है जिसमें कोई समा सकता हो। यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कहति न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ । हृदय सराहत सील सुभाऊ ॥४॥

सीताजी मन में विचारती हैं कि यहाँ रात में रहना अच्छा नहीं, परन्तु लज्जा से कहती नहीं हैं। उन के रुख को लख कर रानी ने राजा को जनाया, उनके शील सुभाव की सराहना राजा रानी हृदय में करते हैं ॥४॥

जानकी के मन की बात विना कुछ कहे या संकेत के रानी सुनयना का समझना और राजा को सचेत करना कि वे उन्हें जाने की आज्ञा प्रदान करें 'पिहित अलंकार' है ।

दो०—बार बार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि ।
कही समय सिर भरत-गति, रानि सुबानि सयानि ॥२८७॥

बार बार मिल भेंट कर सीताजी का सन्मान करके विदा किया। चतुर रानी ने अवसर पा कर सुन्दर वाणी में भरतजी की हालत कही ॥२८७॥

चौ०—सुनि भूपाल भरत ब्यवहारू । सोन सुगन्ध सुधा ससि-सारू ।
मूँदे सजल-नयन पुलके तन । सुजस सराहन लगे मुदित मन ॥१॥

भरतजी का व्यवहार सुन राजा विचारने लगे कि वह सोने में सुगन्ध और चन्द्रमा का सार अमृत है। जल भरे नेत्रों को मूँद लिया, शरीर पुलकायमान हो गया और प्रसन्न मन से उनका सुयश सराहने लगे ॥१॥

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि । भरत कथा भव-बन्ध बिमोचनि ॥
धरम राज-नय ब्रह्म-बिचारू । इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥२॥

हे सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रवाली प्रिये! सावधान, होकर सुनो, भरत की कथा संसार के बन्धन से छुड़ानेवाली है। धर्म, राजनीति और ब्रह्म-विचार इन विषयों में बुद्धि के अनुसार मेरा प्रवेश है ॥२॥

सो मति मोरि भरत महिमाहीं । कहइ काह छलि छुअति न छाहीं ॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद । कबि कोबिद बुध बुद्धि-बिसारद ॥३॥

वह मेरी मति भरत की महिमा को कहेगी क्या? छल कर उसकी परछाहीं भी नहीं छू सकती। ब्रह्मा, गणेश, शेष, शिव, सरस्वती, कवि, विद्वान, पण्डित और बुद्धि-विचक्षण (चतुर) ॥३॥

भरत चरित कीरति करतूती । धरम सील गुन बिमल बिभूती ॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू । सुचि सुरसरि रुचि निदरि सुधाहू ॥४॥

भरत के चरित्र, कीर्त्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मलता का ऐश्वर्य्य समझने तथा सुनने में सब को सुख दायक है, पवित्रता में गङ्गाजी का और स्वाद में अमृत का भी निरादर करनेवाले हैं ॥४॥

भरतजी के गुणों का ऐश्वर्य्य-उपमेय और गङ्गाजी तथा अमृत-उपमान हैं। उपमान से उपमेय में अधिक गुण वर्णन करना 'व्यतिरेक अलंकार' है।

दो०--निरवधि-गुन निरुपम-पुरुष, भरत भरत सम जानि।
कहिय सुमेरु कि सेर सम, कबि-कुल-मति सकुचानि ॥२८८॥

उनके गुणों की सीमा नहीं, वे उपमान रहित पुरुष हैं, भरत के समान भरत ही को जानना चाहिये। क्या सुमेरु-पर्वत को सेर (८० रुपये भर का पत्थर का बटखरा) के समान कहा जा सकता है? इसी से कवि-कुल की बुद्धि लज्जित हो गई ॥२८८॥

भरत के समान भरत ही हैं, यह 'अनन्वय अलंकार' है।

चौ०--अगम सबहि बरनत बर बरनी। जिमि जल-हीन मीन गम धरनी॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिँ राम न सकहिँ बखानी॥१॥

हे श्रेष्ठ वर्णवाली प्रिये! यह वर्णन करने में सभी को दुर्गम है। जैसे बिना जल के मछली का धरती पर चलना। हे रानी! सुनो, भरत की अपार महिमा को रामचन्द्र जानते हैं, परन्तु कहना चाहें तो तो वे भी नहीं बखान कर सकते ॥१॥

वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि रामचन्द्रजी सर्वज्ञ होने से उस महिमा को जानते हैं, परन्तु अपार होने से वे भी नहीं कह सकते।

बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥
बहुरहिँ लखन भरत बन जाहीँ। सब कर भल सब के मन माहीँ॥२॥

प्रीति के साथ भरतजी के प्रभाव को वर्णन कर स्त्री के जी की इच्छा लख कर राजा कहते हैं कि लक्ष्मण लौट चलें और भरत वन को जाँय, इसमें सब की भलाई है, यही सब के मन में है (मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ) ॥२॥

देबि परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिँ तरकी॥
भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि राम सीम समता की ॥३॥

परन्तु हे देवि! भरत और रघुनाथ की प्रीति तथा विश्वास की विवेचना (दलील) नहीं की जा सकती। यद्यपि रामचन्द्र समता के हद हैं, तो भी भरत उनके स्नेह और ममता की अवधि हैं ॥३॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम-पग-नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू ॥४॥

परमार्थ और स्वार्थ सम्बन्धी समस्त सुखों को भरत ने सपने में भी मन से नहीं निहारा। मुझे भरत का सिद्धान्त यही लख पड़ता है। कि सब साधनों की सिद्धि (मन वाञ्छित फल का मिलना) रामचन्द्र के चरणों का स्नेह है ॥४॥

दो०—भोरेहुँ भरत न पेलिहहिँ, मनसहुँ राम रजाइ ।
कहिय न सोच सनेह बस, कहेउ भूप बिलखाइ ॥२८९॥

रामचन्द्र की आज्ञा को भरत भूल कर मन से भी न टालेंगे। राजा ने अच्छी तरह लखा कर कहा कि स्नेह के अधीन होकर सोच न करना चाहिये ॥२८९॥

चौ०—राम-भरत-गुन-गनत सप्रीती । निसि दम्पतिहि पलक सम बीती॥
राजसमाज प्रात जुग जागे । न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे ॥१॥

रामचन्द्र और भरत के गुणों को प्रेम से विचार करते हुए रात राजा-रानी को पलक के समान बीत गई। दोनों राजसमाज प्रातःकाल जगे और नहा नहा कर देव-पूजन करने लगे ॥ १ ॥

गे नहाइ गुरु पहिँ रघुराई । बन्दि चरन बोले रुख पाई ॥
नाथ भरत पुरजन महँतारी । सोक बिकल बनबास दुखारी ॥२॥

रघुनाथजी स्नान कर गुरुजी के पास गये, चरणों की वन्दना करके रुख पाकर बोले। हे नाथ! भरत, नगर के लोग और माताएँ एक तो शोक से विकल, दूसरे वन के निवास से दुःखी हैं ॥२॥

सहित समाज राउ मिथिलेसू । बहुत दिवस भये सहत कलेसू ॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा । हित सबही कर रउरे हाथा ॥३॥

समाज के सहित राजा जनकजी को बहुत दिन कष्ट सहते हो गया। हे नाथ! जो उचित हो वह कीजिये, सभी की भलाई आप ही के हाथ में है ॥३॥

अस कहि अति सकुचे रघुराऊ । मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ ॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा । नरक सरिस दुहुँ राज-समाजा ॥४॥

ऐसा कह कर रघुनाथजी, बहुत लजा गये, उनका शील स्वभाव देख मुनि पुलकित होकर बोले। हे रामचन्द्र! आप के बिना सम्पूर्ण सुख का सामान दोनों राजसमाजों के लिये नरक के बराबर (दुःखदायी) है ॥४॥

दो०—प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम ।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिन्हहिँ तिन्हहिँ बिधि बाम ॥२९०॥

हे रामचन्द्रजी! आप प्राण के प्राण, जीव के जीव और सुख के भी सुख हैं। हे तात! आप को छोड़ कर जिन्हें घर सुहाता हो, उन पर विधाता टेढ़े हैं ॥ २९० ॥

चौ०—सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पङ्कज भाऊ॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिँ राम प्रेम परधानू ॥१॥

वह सुख, कर्म और धर्म जल जाय जहाँ रामचन्द्र के चरण कमलों में प्रीति न हो। वह योग कुयोग है और ज्ञान अज्ञान है जहाँ रामचन्द्र के प्रति प्रेम की प्रधानता नहीं है ॥१॥

सुख, कर्म, धर्म योग और ज्ञान आदरणीय वस्तु हैं, परन्तु रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में प्रीति के बिना अनादर योग्य ठहराना 'तिरस्कार अलंकार है'।

तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेहीं। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केहीं॥
राउर आयसु सिर सबही के। बिदित कृपालहि गति सब नीके॥२॥

जो आप बिना दुःखी और आप ही से सुखी रहते हैं, जिसके जी में जो है वह आप जानते ही हैं। आप की आज्ञा सभी के सिर पर है, हे कृपालु! आप को सब की गति अच्छी तरह मालूम है ॥२॥

यहाँ लक्षणामूलक गूढ़व्यङ्ग है कि आप के धर्मव्रत पालन में (भरत या जनक) कोई भी बाधक न होंगे। आप की आज्ञा शिरोधार्य्य करेंगे, यह आप को अच्छी तरह ज्ञात है।

आपु आस्रमहिँ धारिय पाऊ। भयउ सनेह सिथिल मुनिराऊ॥
करि प्रनाम तब राम सिधाये। रिषि धरि धीर जनक पहिँ आये॥३॥

आप आश्रम में पधारिये, यह कह कर मुनिराज स्नेह से शिथिल हो गये। तब प्रणाम करके रामचन्द्रजी चले आये और वशिष्ठजी धीरज धर कर राजा जनक के पास गये ॥३॥

राम बचन गुरु नृपहि सुनाये। सील सनेह सुभाय सुहाये॥
महाराज अब कीजिय सोई। सब कर धरम सहित हित होई॥४॥

गुरुजी ने शील और स्नेह से भरे सहज सुहावने रामचन्द्रजी के वचन राजा को सुनाये और कहा-महाराज! अब वही कीजिये जिसमें सब का धर्म के सहित कल्याण हो अर्थात् हित भी हो और धर्म भी बना रहे ॥ ४ ॥

दो०—ज्ञान-निधान सुजान सुचि, धरम धीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमञ्जस समन, को समरथ एहि काल ॥२९१॥

ज्ञान के मन्दिर, चतुर, पवित्र धर्मवाले, धीरवान राजा, आप के बिना इस समय असमञ्जस मिटाने में कौन समर्थ है? ॥२९१॥

असमञ्जस मिटाने के लिये एक ज्ञान निधान होना पर्य्याप्त कारण है। तिस पर सुजान, सुचिधर्म, धैर्य्यवान, राजा आदि अन्य प्रबल हेतुओं का विद्यमान रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

चौ०-सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे ॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं । आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं ॥१॥

मुनि के वचनों को सुन कर जनकजी प्रेमासक्त हो गये, उनकी दशा देख कर ज्ञान और वैराग्य को भी विराग हो गया। स्नेह से शिथिल हुए मन में विचारते हैं कि हम यहाँ आये, यह अच्छा नहीं किया ॥१॥

ज्ञान-वैराग्य को विरागी कह कर, राजा के प्रेम वर्णन में 'प्रमात्युक्ति अलंकार' है।

रामहिं राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना ॥
हम अब बन तेँ बनहिं पठाई । प्रमुदित फिरब बिबेक बढ़ाई ॥२॥

राजा दशरथ ने रामचन्द्र को वन जाने के लिये कहा, अपने प्रिय प्रेम को सच्चा किया अर्थात् प्राण त्याग दिया। अब हम वन से भी वन को भेज कर बड़ी प्रसन्नता से ज्ञान बढ़ा कर लौटेंगे ॥२॥

तापस मुनि महिसुर सुनि देखी । भये प्रेम-बस बिकल बिसेखी ॥
समउ समुझि धरि धीरज राजा । चले भरत पहिँ सहित समाजा ॥३॥

तपस्वी, मुनि और ब्राह्मण (राजा का विषाद) देख सुन कर प्रेम के अधीन विशेष व्याकुल हो गये। अवसर समझ राजा धीरज धर कर समाज के सहित भरतजी के पास चले ॥३॥

भरत आइ आगे भइ लीन्हे । अवसर सरिस सुआसन दीन्हे ॥
तात भरत कह तिरहुति-राऊ । तुम्हहि बिदित रघुबीर सुभाऊ ॥४॥

भरतजी आगे से आ कर लिवा गये और समयानुसार सुन्दर आसन दिये। तिरहुति राज ने कहा—हे तात भरत! आप को रघुनाथजी का स्वभाव मालूम है ॥ ४ ॥

दो०—राम सत्यव्रत धरम-रत, सब कर सील सनेहु ।
सङ्कट सहत सकोच बस, कहिय जो आयसु देहु ॥२९२॥

रामचन्द्र सत्यव्रत और धर्म में तत्पर हैं, हम सब के शील-स्नेह के वश सकोच से सङ्कट सहते हैं, इसलिये जो आज्ञा दीजिये वह मैं उनसे कहूँ ॥२९२॥

चौ०—सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरत धीर धरि भारी ॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥१॥

सुन कर पुलकित शरीर से नेत्रों में जल भर कर भारी धीरज धारण करके भरतजी बोले। हे प्रभो! आप मेरे प्रिय-पूज्य माता-पिता के समान हैं और कुल-गुरु वशिष्ठजी के समान हितकारी माता-पिता भी नहीं ॥१॥

पिता-माता का हितकारित्व गुण इसलिये निषेध किया गया कि उसका धर्म कुल-गुरु में स्थापन करना इष्ट है। यह पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार है।

कौसिकादि मुनि सचिव समाजू । ज्ञानअम्बुनिधि आपुन आजू ॥
सिसु-सेवक आयसु अनुगामी । जानि मोहि सिख देइय स्वामी ॥२॥

विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रि मण्डल के सहित आज ज्ञानसागर आप विद्यमान हैं मुझे बालक (अबोध) सेवक आज्ञा के अनुसार चलनेवाला जान कर—हे स्वामिन्! शिक्षा दीजिये ॥२॥

एहि समाज थल बूझब राउर । मौन मलिन मैं बोलब बाउर ॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता । छमब तात लखि बाम बिधाता ॥३॥

इस सभा स्थान में आप का पूछना, मुझ मलिन के लिये चुप रहना ठीक है, बोलना तो पागलपन होगा। हे तात! छोटे मुँह से बड़ी बात कहता हूँ, विधाता को टेढ़ा लख कर क्षमा कीजियेगा ॥ ३ ॥

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवा-धरम कठिन जग जाना ॥
स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू । बैर-अन्ध प्रेमहिं न प्रबोधू ॥४॥

वेद, शास्त्र और पुराणों में विख्यात है और संसार जानता है कि सेवा-धर्म कठिन है। स्वामिधर्म (निःस्वार्थ भाव से स्वामी की सेवा करना) और स्वार्थ (खुद-गरज़ी) से वैसा ही विरोध है, जैसे बैरभाव से अन्धे हुए मनुष्य के हृदय में प्रेम का यथार्थ ज्ञान नहीं होता ॥४॥

उत्तरार्द्ध में प्रथम उपमेय वाक्य है, दूसरा उपमान वाक्य है। दोनों वाक्यों में बिना वाचकपद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

दो०—राखि राम रुख धरम-व्रत, पराधीन मोहि जानि ।
सब के सम्मत सर्ब हित, करिय प्रेम पहिचानि ॥२९३॥

रामचन्द्रजी के रुख, और धर्म-व्रत की रक्षा करके मुझे पराधीन जान कर सब की सम्मति और सब के भलाई की बात प्रेम को पहचान कर कीजिये ॥२९३॥

चौ०—भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ । सहित समाज सराहत राऊ ॥
सुगम अगम मृदु मञ्जु कठोरे । अरथ अमित अति आखर थोरे ॥१॥

भरतजी के वचन सुन कर और उनके स्वभाव को देख कर समाज के सहित राजा सराहते हैं! भरतजी की वाणीः—सुगम है और दुर्गम है, सुन्दर कोमल है और कठिन भी है, अर्थ बड़ा गम्भीर है और अक्षर बहुत थोड़े हैं ॥१॥

ज्यों मुखमुकुर मुकुर निज पानी । गहि न जाइ अस अदभुत बानी ॥
भूप भरत मुनि साधु समाजू । गे जहँ बिबुध-कुमुद-द्विजराजू ॥२॥

जैसे आइने में मुख देख पड़ता है और वह दर्पण अपने हाथ में रहता है, परन्तु पकड़ा

नहीं जाता; ऐसी अद्भुत वाणी है। राजा जनक, भरतजी, वशिष्ठमुनि और साधु-मण्डली जहाँ देवतारूपी कुमुद-वन के चन्द्रमा (रामचन्द्रजी) हैं; वहाँ गये ॥२॥

सुनि सुनि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीन-गन नव जल जोगा॥
देव प्रथम कुल-गुरु गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी ॥३॥

इस (सभा की) खबर के सुन कर सब लोग सोच से विकल हैं, ऐसा मालूम होता है मानों मछलियों का समूह नवीन जल के संयोग से व्याकुल हो। देवता पहले कुलगुरु-वशिष्ठजी की दशा देखी, फिर विदेहजी के विशेष स्नेह के लखा ॥३॥

राम-भगति-मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे॥
सब कोउ राम-प्रेम-मय पेखा। भये अलेख सोच बस लेखा ॥४॥

रामचन्द्रजी की भक्ति में लीन भरतजी के निहारा, अपने मतलबी देवता डर कर हृदय में हार गये। सब किसी के रामचन्द्रजी के प्रेम में तत्पर देखा, इससे देवता अनन्त सोच के अधीन हुए ॥४॥

लेखा अलेख सोच वश हुए 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है।

दो०—राम सनेह सकोच बस, कह ससोच सुरराज।
रचहु प्रपञ्चहि पञ्च मिलि, नाहिं त भयउ अकाज ॥२९४॥

देवराज-इन्द्र सोच से कहते हैं कि रामचन्द्रजी स्नेह और सकोच के वश में हैं (यहाँ सब प्रेमी और सकोची इकट्ठे हुए हैं) सब पञ्च मिल कर छल का विस्तार करो, नहीं तो अकाज हुआ ॥२९४॥

चौ०—सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देबि देव सरनागत पाही॥
फेरि भरत-मति करि निज माया। पालु बिबुध-कुल करि छल छाया ॥१॥

देवताओं ने सरस्वती का स्मरण कर स्तुति की, (वे ब्रह्म लोक से आईं, इन्द्र ने कहा) हे देवि! हम सब देवता आप की शरण आये हैं, रक्षा कीजिये। अपनी माया से भरत की बुद्धि फेर कर छल की छाँह करके देव-कुल का पालन कीजिये ॥१॥

बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी। बोलीं सुर स्वारथ जड़ जानी॥
मो सन कहहु भरत मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू ॥२॥

देवताओं की बिनती सुन कर और उन्हें स्वार्थ में मूर्ख हुए समझ कर चतुर देवि बोली। मुझसे कहते हो कि भरत की बुद्धि पलट दो! हज़ार आँख से भी तुम्हें सुमेरु-पर्वत नहीं सूझता है? ॥२॥

सरस्वती का प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि—हे इन्द्र! भरतजी की महिमा तुम्हें अब भी नहीं देख पड़ी कि गुरुवशिष्ठ, योगिराज जनक और परमात्मा रामचन्द्र उनकी भक्ति के वश में

हुए हैं । इसे न कह कर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहना कि उजार नेत्र से सुमेरु नहीं सूझता 'ललित अलंकार' है ।

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी । सोउ न भरत-मति सकइ निहारी ॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी । चन्दिनि कर कि चंडकर चोरी ॥३॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश की माया बहुत बड़ी है, वह भी भरतजी की बुद्धि की ओर नहीं निहार सकती । उस बुद्धि के मुझ से कहते हो कि भोली कर दे, क्या चाँदनी सूर्य्य की चोरी कर सकती है? (कदापि नहीं) ॥३॥

पूर्वार्द्ध में व्यङ्गार्थ द्वारा काव्यार्थापत्ति अलंकार है कि जब बहुत बड़ी माया विष्णु आदि की उनकी मति के नहीं भुला सकती, तब मेरी तुच्छ माया क्या चीज़ है? सभा की प्रति में चाँदिनि कर कि चन्द कर चोरी पाठ है । उसका अर्थ किया गया है कि—"भला कभी चाँदनी भी चन्द्रमा के चुरा सकती है?" चाँदिनि और चन्दकर दोनों एक ही वस्तु हैं, चन्द्रमा का अर्थ घुमा कर किया गया है । गुटका और राजापुर की प्रति में उपर्युक्त का पाठ है, इससे यही कविकृत विशुद्ध पाठ है ।

भरत हृदय सिय-राम निवासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥
अस कहि सारद गइ बिधि-लोका । बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥४॥

भरतजी के हृदय में सीताराम का निवास है, जहाँ सूर्य्य का प्रकाश है क्या वहाँ अन्धकार रह सकता है? (कदापि नहीं) । ऐसा कह कर शारदा ब्रह्मलोक के चली गई, देवता ऐसे मालूम होते हैं मानों रात में चकवा पक्षी व्याकुल हो) ॥४॥

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमन्त्र कुठाट ।
रचि प्रपञ्च माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाट ॥२९५॥

मलिन मनवाले स्वार्थी देवताओं ने खोटी सलाह करके कुप्रबन्ध कर ही डाला । अपनी प्रबल माया से कपट का जाल रच कर ऐसा किया कि लोगों के भय, भ्रम, मन न लगना और उचाट हो ॥२९५॥

चौ०—करि कुचाल सोचत सुरराजू । भरत हाथ सब काज अकाजू ॥
गये जनक रघुनाथ समीपा । सनमाने सब रबिकुल-दीपा ॥१॥

कुचाल करके इन्द्र सोचते हैं कि सब काज अकाज तो भरतजी के हाथ में है । जनकजी रघुनाथजी के समीप गये, सूर्य्यकुल के दीपक रामचन्द्रजी ने सब का सनमान कर आसन दिये ॥१॥

समय समाज धरम अबिरोधा । बोले तब रघुबंस-पुरोधा ॥
जनक भरत सम्बाद सुनाई । भरत कहाउति कही सुहाई ॥ २ ॥

तब रघुकुल के पुरोहित (वशिष्ठजी) समय, समाज और धर्म के अनुकूल बोले । जनक और भरत का सम्बाद सुनाया, भरतजी की सुहावनी कहनूति कही ॥२॥

तात राम जस आयसु देहू । सो सब करइ मोर मत एहू ॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी । बोले सत्य सरल मृदु बानी ॥३॥

हे प्रिय रामचन्द्र ! जैसी आज्ञा देओ, वह सब करे, मेरी यही सम्मति है । सुन कर रघुनाथजी दोनों हाथ जोड़ कर सच्ची सीधी और कोमल वाणी बोले ॥३॥

बिद्यमान आपुन मिथिलेसू । मोर कहब सब भाँति भदेसू ॥
राउर राय रजायसु होई । राउरि सपथ सही सिर सोई ॥४॥

जहाँ आप और मिथिलेश्वर विराजमान (मौजूद) हैं, वहाँ मेरा कहना सब तरह से भद्दा है । आप की और राजा जनकजी जो आज्ञा हो, मैं आप की सौगन्द कर कहता हूँ मुझे ठीक वही शिरोधार्य होगी ॥४॥

दो०—राम सपथ सुनि मुनि जनक, सकुचे सभा समेत ।
सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत ॥२९६॥

रामचन्द्रजी की सपथ सुन कर वशिष्ठ मुनि, जनकजी सभा के सहित सकुचा गये । सब भरतजी का मुख देखने लगे, किसी से उत्तर देते नहीं बनता है ॥२९६॥

चौ०—सभा सकुच बस भरत निहारी । रामबन्धु धरि धीरज भारी ॥
कुसमउ देखि सनेह सँभारा । बढ़त बिन्धि जिमि घटज निवारा ॥१॥

सभा सकुच वश भरतजी को देख रही है, अथवा भरतजी सभा को सकुच वश निहार कर रामचन्द्रजी के भाई हैं, हृदय में भारी धीरज धारण किया । कुसमय देख कर स्नेह को सम्हाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचल को अगस्त्य मुनि ने निवारण किया था ॥ १ ॥

बढ़ते हुए प्रेम को भरतजी ने सम्हाला, इस सामान्य बात की समता विशेष से दिखाना कि जैसे विन्ध्याचल की बाढ़ को कुम्भज मुनि ने रोका था 'उदाहरण अलंकार' है । पौराणिक कथा है कि एक बार विन्ध्य-पर्वत सूर्य्य का मार्ग रोकने के लिये ऊपर बढ़ा, देवताओं ने निरुपाय समझ कर अगस्त मुनि से प्रार्थना की । क्योंकि विन्ध्याचल उनका शिष्य है; तब मुनि पर्वत के सामने आये, उसने दण्डवत करते हुए पूछा मेरे लिये क्या आज्ञा है ? अगस्तजी ने कहा कि जब तक मैं लौट कर न आऊँ तब तक तुम इसी तरह पड़े रहो । ऐसा कह कर मुनि दक्षिण दिशा को गये और लौटे नहीं ।

सोक कनककलोचन मति छोनी । हरी बिमल गुन-गन जगजोनी ॥
भरत-बिबेक बराह बिसाला । अनायास उधरी तेहि काला ॥२॥

शोक रूपी हिरण्याक्ष ने सभा की बुद्धि रूपिणी धरती को हर लिया, निर्मल गुण-गण रूपी ब्रह्मा से भरतजी के ज्ञान रूपी विशाल शूकर ने उस समय उत्पन्न होकर अनायास ही उद्धार किया ॥२॥

विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत में हिरण्याक्ष का इतिहास इस प्रकार वर्णन है कि वह

बल से मदोन्मत्त हो कर पृथ्वी को लेकर रसातल में चला गया। सृष्टि का कार्य्य बन्द हो जाने से ब्रह्मा चिन्तित हुए। नारायण की स्तुति करने लगे कि, उसी समय उन्हें छींक आई और नाक के छिद्र से एक छोटा सा मक्खी के बराबर शूकर गिरा। देखते ही देखते वह बहुत बड़ा रूप का शूकर होगया। तब ब्रह्मा जान गये कि ये शूकर रूप धारी हरि हैं। शूकर भगवान् पाताल में जा दैत्य का संहार कर पृथ्वी को जहाँ की तहाँ स्थित करके अपने लोक को गये। इसी कथा का साङ्गरूपक ऊपर वर्णन किया गया है।

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥३॥

प्रणाम करके सब को हाथ जोड़कर रामचन्द्रजी, राजा जनक, गुरूजी और सज्जनों का निहोरा करके भरतजी बोले। आज मेरे बड़े अनुचित को क्षमा कीजिये, कोमल मुख से कठोर बातें कहता हूँ॥३॥

हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तेँ मुख-पङ्कज आई॥
बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मञ्जु मराली॥४॥

हृदय में सुन्दर सरस्वती का स्मरण किया, वे मानस से मुख कमल में आई। भरतजी की वाणी निर्मल ज्ञान, धर्म और नीति से मिली हुई मनोहर राजहंसिनी के समान है॥४॥

यहाँ राजहंसिनी की समता देना साभिप्राय है कि जैसे मरालिनी मिले हुए दूध-पानी को अलगा देती है, तैसे भरतजी की वाणी गुण-दोष को पृथक् पृथक् करनेवाली है।

दो०—निरखि बिबेक बिलोचननिह, सिथिल सनेह समाज।
करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय-रघुराज॥२९७॥

ज्ञान रूपी नेत्रों से समाज को स्नेह से शिथिल देख सीताजी और रघुनाथजी का स्मरण कर प्रणाम करके भरतजी बोले॥ २९७॥

चौ०—प्रभुपितुमातुसुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अन्तरजामी॥
सरल सुसाहिब सील-निधानू। प्रनत-पाल सर्बज्ञ सुजानू॥१॥

हे प्रभो! आप मेरे पिता, माता, मित्र, गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितकारी और मन की बात जानने वाले हैं। सीधे, सुन्दर मालिक, शील के स्थान, शरणागतों के रक्षक, चतुर और सब के ज्ञाता हैं॥ १॥

आप मेरे पिता, माता, मित्र, गुरु और स्वामी हैं, बहुतों के उत्कृष्ट गुणों की एक रामचन्द्रजी में समता लाना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है।

समरथ सरनागत हितकारी। गुन-गाहक अवगुन-अघ-हारी॥
स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाँई। मोहि समान मैं साँइ-दोहाई॥२॥

समर्थ शरणागतों के हितकारी, गुणों के ग्राहक, दुर्गुण और पापों के हरनेवाले हैं। स्वामी आप के समान आप ही हैं और स्वामिद्रोही मुझ समान मैं ही हूँ॥२॥

उदार गुणवाले स्वामी आप आप के समान आपही हैं और स्वामिद्रोहियों में मेरे समान मैं ही हूँ। उपमेय ही को उपमान बनाना 'अनन्वय अलङ्कार' है। कुछ टीकाकारों ने 'साँइ दोहाई' शब्द का अर्थ—"मैं स्वामी की सौगन्ध खाकर कहता हूँ" किया है। परन्तु यहाँ सौगन्द से प्रयोजन नहीं है, यह 'स्वामि द्रोहाई' का अपभ्रष्ट रूप है।

प्रभु-पितु-बचन मोह बस पेली। आयेउँ इहाँ समाज, सकेली॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिय अमर-पद माहुर मीचू॥३॥

(इससे बढ़ कर स्वामि-द्रोहिता और क्या हो सकती है कि) स्वामि और पिता की बात को अज्ञान के वश न मान कर उलटे समाज बटोर कर यहाँ आया। संसार में भले, बुरे, ऊँच और नीच जितने हैं अमृत को अमरत्व प्रदान करना तथा विष को मृत्यु कराना (स्वामी की आज्ञा जिसको जैसी है, वह उसी सीमा के भीतर आज्ञानुसार कार्य्य करता) है ॥ ३ ॥

अमिय को अमरपद और माहुर को मीचु, इसमें पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। स्वामी की आज्ञा सुमन्त्र के द्वारा मेरे लिये यह हुई थी कि—"कहब सँदेस भरत के आये। नीति न तजिय राज-पद पाये॥" और पिताजी की आज्ञा थी कि—"सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई॥" मैं ने इन आज्ञाओं के विपरीत कार्य्य किया।

राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥४॥

रामचन्द्रजी की आज्ञा को मन में मेटना कहीं कोई देखा सुना नहीं जाता। वह करके मैं ने सब प्रकार की ढिठाई की अर्थात् रामाज्ञा को मिटा दिया, परन्तु आपने (मेरे उस दुर्गुण को) स्नेह और सेवकाई मान ली ॥४॥

दो०—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर॥२९८॥

हे नाथ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया। दोष आभूषण के समान हुए और चारों ओर सुन्दर यश फैल रहा है॥ २९८॥

स्वामी की कृपा से मेरे दोष भूषण रूप हो गये 'लेश अलंकार' है।

चौ०—राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
क्रूर कुटिल खल कुमति कलङ्की। नीच निसील निरीस निसङ्की॥१॥

आप की रीति, सुन्दर बानि और बड़ाई संसार में प्रसिद्ध है तथा वेद शास्त्रों ने गाई है। निर्दय, कुटिल, दुष्ट, खोटी बुद्धिवाले, कलङ्की, नीच, शील रहित, नास्तिक और बुरा कर्म करने में किसी का डर न माननेवाले ॥१॥

तेउ सुनि सरन सामुहे आये । सकृत प्रनाम किये अपनाये ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधु-समाज बखाने ॥२॥

वे भी यश सुन कर सामने शरण आये और एक बार प्रणाम किया, उन्हें आपने अपना लिया। शरणागतों के दोष आँख से देख कर कभी हृदय में नहीं लाये और सुने सुनाये गुणों को श्रीमुख से साधु-मण्डली में बखान किये ॥२॥

को साहिब सेवकहि नेवाजी । आपु समान साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिय सपने । सेवक सकुच सोच उर अपने ॥३॥

ऐसा दूसरा कौन स्वामी है जो सेवक पर इतनी मिहरबानी करता हो कि उसका सब सामान अपने बराबर बनाता हो। अपने उपकार की करनी को सपने में भी नहीं समझते, उलटे सोच से हृदय में सकुचाते रहते हैं कि मैं ने इसका कोई उपकार नहीं किया ॥३॥

सो गोसाँइ नहिँ दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना । गुन गति नट पाठक आधीना ॥४॥

वह स्वामी (आप के सिवा) दूसरा कोई भी नहीं है, इस बात को मैं भुजा उठा कर और प्रतिज्ञा-पूर्वक कहता हूँ। पशु नाचते हैं और सुआ पढ़ने में प्रवीण होता है, उन दोनों के गुणों की गति नचानेवाले और पढ़ानेवाले के अधीन है ॥४॥

पशु को नाचने में अभ्यस्त करना नट का काम और सुग्गे को पाठ में प्रवीण करने में पाठक प्रशंसा योग्य है न कि पशु और शुक 'यथासंख्य अलंकार' है।

दो०—यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमौर ।
को कृपाल बिनु पालिहै, बिरदावलि बरजोर ॥२९९॥

इस प्रकार आपने इस सेवक को सुधार कर और सम्मान करके साधु-शिरोमणि बना दिया। हे कृपालु ! आप के बिना ऐसी प्रबल नामवरी कौन पालन करेगा? (कोई नहीं)२९९॥

जैसे नट-पाठक पशु-शुक को सुधार कर गुणवान बनाते हैं, तैसे आपने मेरे दुर्गुणों को दूर कर साधुओं का सिरमौर बना दिया। प्रथम चौपाई में उपमेय वाक्य है। दूसरे दोहे के पूर्वार्द्ध में उपमान वाक्य है। विना वाचकपद के दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

चौ०—सोक सनेह कि बाल सुभायँ । आयउँ लाइ रजायसु बायँ ॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा । सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥१॥

शोक से, स्नेह वश या कि बाल-स्वभाव से मैं आप की आज्ञा को बाँये लगा कर यहाँ आया। हे कृपालु ! तब भी आपने अपनी ओर देख कर सभी तरह से मेरी भलाई मान ली ॥१॥

देखेउँ पाय सुमङ्गल-मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू॥२॥

सुन्दर मङ्गल-मूल चरणों को देखा, स्वामी को सहज प्रसन्न जाना। इस बड़े समाज में अपने बड़े भाग्य को देखता हूँ कि बड़ी चूक पर भी स्वामी की इतनी घनिष्ट प्रीति! (मेरा अहोभाग्य है) ॥२॥

कृपा अनुग्रह अङ्ग अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥
राखा मोर दुलार गोसाँई। अपने सील सुभाय भलाई॥३॥

हे कृपानिधान! आपने सब तरह से बड़ी कृपा की, इस अनुग्रह से मेरा अङ्ग परिपूर्ण हो गया। स्वामी ने अपने शील, स्वभाव और भलाई से मेरा दुलार रक्खा॥३॥

नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि-समाज सकोच बिहाई॥
अबिनय बिनय जथा रुचि बानी। छमिहि देउ अति आरत जानी॥४॥

हे नाथ! मैं ने अत्यन्त ढिठाई की कि स्वामी की सभा में लाज छोड़ कर उद्दण्डता और विनती की बातें जैसी मुझे रुची वह कही है, हे देव! अत्यन्त दुःखी जान कर क्षमा कीजिये॥४॥

दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइय देव अब, सबइ सुधारिय मोरि॥३००॥

सुन्दर हृदय, चतुर और अच्छे स्वामी से बहुत कहना बड़ा अपराध है। हे देव! अब आज्ञा दे कर मेरी सब तरह से सुधारिये॥३००॥

यहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर है कि जैसे मेरे सम्पूर्ण दुर्गुणों को गुण मान कर स्वामीने मुझे कृतार्थ किया, तैसे यह भी सुधारिये कि आज्ञा पालन कर मैं कृतकृत्य होऊँ।

चौ०—प्रभु-पद-पदुम-पराग दोहाई। सत्य-सुकृत-सुख-सीँव सुहाई॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥१॥

स्वामी के चरण-कमलों की धूलि जो सत्य पुण्य और सुख की सुन्दर सीमा है, उसका सौगन्द करके अपने हृदय की जागते, सोते और सपने की रुचि कहता हूँ॥१॥

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥२॥

सहज स्नेह से स्वामी की सेवकाई स्वार्थ रूपी छल और चारों फल की इच्छा त्याग कर करूँ! आज्ञा-पालन के समान अच्छे स्वामी की दूसरी सेवा नहीं है, हे देव! वही प्रसाद यह सेवक पावे॥२॥

अस कहि प्रेम बिबस भये भारी । पुलक सरीर बिलोचन बारी ॥
प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई । समउ सनेह न सो कहि जाई ॥३॥

ऐसा कह कर अत्यन्त प्रेम के अधीन हो गये, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आया । अकुला कर स्वामी के चरण-कमलों को पकड़ लिया, उस समय का स्नेह कहा नहीं जाता है ॥३॥

कृपासिन्धु सनमानि सुबानी । बैठाये समीप गहि पानी ॥
भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ । सिथिल सनेह सभा रघुराऊ ॥ ४ ॥

कृपासागर रामचन्द्रजी ने सुन्दर वाणी से सन्मान करके हाथ पकड़ कर समीप में बैठा लिया । भरतजी की बिनती सुन कर और उनका स्वभाव देख कर सभा के सहित रघुनाथजी स्नेह से शिथिल हो गये ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

रघुराउ सिथिल सनेह साधु-समाज मुनि मिथिला-धनी ।
मन महँ सराहत भरत भायप, भगति की महिमा घनी ।
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत, सुमन मानस मलिन से ।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से ॥१२॥

रघुनाथजी, सज्जन-मण्डली, मुनि और मिथिलेश्वर स्नेह से शिथिल हैं । भरतजी का भाईचारा और उनके भक्ति की घनी महिमा मन में सराहते हैं ! देवता भरतजी की प्रशंसा करके फूल बरसाते हैं; किन्तु उनका मन मलिनता से भरा है । तुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग सुन कर व्याकुलता से रात्रि के आगमन में कमल के समान सिकुड़ गये हैं ॥१२॥

दो०—देखि दुखारी दीन, दुहुँ समाज नर नारि सब ।
मघवा महा मलीन, मुये मारि मङ्गल चहत ॥३०१॥

दोनों समाज के सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषों को दीन दुःखी देख कर महा मलिन इन्द्र मुर्दे को मार कर अपना कल्याण चाहता है ॥३०१॥

भावी राम-वियोग के ख़याल से लोग दुःख से यों ही मृतक तुल्य हो रहे हैं, तिस पर स्वार्थी इन्द्र के कपट-प्रयोग मुर्दे को मारना है ।

चौ०—कपट-कुचालि-सीँव सुरराजू । पर अकाज प्रिय आपन-काजू ॥
काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥१॥

देवराज कपट और कुचाल का हद है, उसको पराये का अकाज और अपना काज प्यारा है । इन्द्र की रीति कौए के समान छली, मलिन और कहीं विश्वास न करने की है ॥१॥

प्रथम कुमत करि कपट सकेला । सो उचाट सब के सिर मेला ॥
सुर-माया सब लोग बिमोहे । राम-प्रेम अतिसय न बिछोहे ॥२॥

पहले खोटी सलाह करके कपट इकट्ठा किया, वह उच्चाटन सब के सिर पर डाल रक्खा था। उस देव-माया से सब लोग विमोहित हुए, परन्तु रामचन्द्रजी के अतिशय प्रेम से उनका विछोह नहीं हुआ अर्थात् रघुनाथजी को छोड़ कर कोई भी घर लौटना नहीं चाहते ॥२॥

भय उचाट बस मन थिर नाहीं । छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं ॥
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी । सरित सिन्धु सङ्गम जनु बारी ॥३॥

परन्तु भय और उचाट के वश मन किसी का स्थिर नहीं है, क्षण में वन की इच्छा होती और क्षण में घर चलना अच्छा लगता है। मन की गति दुविधा में पड़ने से प्रजा दुःखी है, ऐसा मालूम होता है मानों नदी और समुद्र के सङ्गम का पानी चञ्चल हो ॥३॥

दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं । एक एक सन मरम न कहहीं ॥
लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू । सरिस स्वान मघवान जुबानू ॥४॥

चित्त में दुविधा होने से कहीं प्रसन्नता नहीं पाते हैं और एक दूसरे से (मन का यह) भेद नहीं कहते हैं। लोगों की दशा देख कर कृपानिधान रामचन्द्रजी हृदय में हँस कर कहते हैं कि कुत्ता, इन्द्र और युवा की प्रकृति बराबर है ॥४॥

इन्द्र-उपमेय और स्वान जवान-उपमान दोनों का एक धर्म चञ्चल प्रकृति कथन करना 'दीपक अलंकार' है। प्रजावर्ग परस्पर मन का भेद इसलिये नहीं कहते हैं कि कोई यह न जान ले कि इन्हें रामचन्द्रजी को छोड़ कर घर सुहा रहा है। 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' अष्टाध्यायी के इस सूत्र में श्वन्, युवन्, मघवन् तीनों शब्दों के रूप एक से बतलाये हैं।

दो०—भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ ।
लागि देव-माया सबहि, जथाजोग जन पाइ ॥३०२॥

भरतजी, राजा जनक, मुनिजन, मन्त्री और चैतन्य महात्माओं को छोड़ कर यथायोग्य मनुष्यों को पा कर न्यूनाधिक्य रूप में सभी को देव-माया लगी ॥३०२॥

एक ही देव-माया के प्रभाव से कुछ लोगों का बच जाना और कुछ का मोहित होना अर्थात् एक ही वस्तु से विरोधी कार्य्य का प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

चौ०—कृपासिन्धु लखि लोग दुखारे । निज सनेह सुरपति छल भारे ॥
सभा राउ गुरु महिसुर मन्त्री । भरत भगति सब कै मति जन्त्री ॥१॥

कृपा के समुद्र रामचन्द्रजी ने देखा कि लोग हमारे स्नेह और इन्द्र के भारी छल से दुःखी हैं। सभासद, राजा जनक, गुरुजी, ब्राह्मण और मन्त्री सब की बुद्धि को भरतजी की भक्ति ने यन्त्रित (जकड़) कर रक्खा है ॥१॥

रामहिँ चितवत चित्र लिखे से । सकुचत बोलत बचन सिखे से ॥
भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई । सुनत सुखद बरनत कठिनाई ॥२॥

लिखी हुई तसवीर के समान रामचन्द्रजी को देख रहे हैं और वचन बोलने में सिखाये हुए के समान सकुचाते हैं। भरतजी की प्रीति, नम्रता, बिनती और बड़ाई सुनने में सुख देनेवाली तथा वर्णन करने में कठिनता है ॥२॥

जासु बिलोकि भगति लवलेसू । प्रेम मगन मुनि-गन मिथिलेसू ॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी । भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी ॥३॥

जिनकी लवलेश मात्र भक्ति को देख कर मुनि-समूह और मिथिलेश्वर प्रेम में मग्न हैं। उनकी महिमा तुलसी कैसे कह सकता है ? यद्यपि स्वाभाविक भक्ति-भाव से (उस महिमा को कहने के लिये) हृदय में सुबुद्धि हुलस रही है ॥३॥

आपु छोटि महिमा बड़ि जानी । कबिकुल-कानि मानि सकुचानी ॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई । मति गति बाल-बचन की नाँई ॥४॥

अपने को छोटी और महिमा को बड़ी समझ कर कविकुल की मर्यादा के ध्यान से लज्जित हो रही है। कह नहीं सकती, गुणों में रुचि बहुत बड़ी है, बुद्धि की गति बालक के वचन के समान हो गई है ॥४॥

दो०—भरत बिमल-जस बिमल-बिधु, सुमति चकोर-कुमारि ।
उदित बिमल जन हृदय नभ, एक टक रही निहारि ॥३०३॥

भरतजी का विमल यश निर्मल चन्द्रमा रूप है, वह इस जन (तुलसीदास) के हृदय रूपी स्वच्छ आकाश में उदय हुआ है। सुबुद्धि रूपिणी चकोरिणी एक टक होकर देख रही है ॥ ३०३ ॥

भरतजी के यश पर निर्मल चन्द्रमा का आरोप, अपनी बुद्धि पर चकोर की कन्या का आरोप करके हृदय पर स्वच्छ आकाश का आरोपण करना परम्परित का ढङ्ग लिये 'अधिक अभेद रूपक अलंकार' है।

चौ०—भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ । लघु मति चापलता कबि छमहूँ ॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को । सीय-राम-पद होइ न रत को ॥१॥

भरतजी का स्वभाव कहना वेदों को भी सहल नहीं है, मेरी तुच्छ बुद्धि की चञ्चलता को कविजन क्षमा करेंगे। भरतजी का सच्चा प्रेम कहने सुनने से सीता और रामचन्द्रजी के चरणों में कौन न अनुरक्त होगा ? अर्थात् सभी प्रीतिवान् होंगे ॥ १ ॥

सुमिरत भरतहि प्रेम राम को । जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को ॥
देखि दयाल दसा सब ही की । राम सुजान जानि जन जी की ॥२॥

भरतजी का स्मरण करने से जिसको रामचन्द्रजी का प्रेम न सुलभ हो, उसके समान

अभागा दूसरा कौन है? दयालु सुजान रामचन्द्रजी ने सब की दशा देख और अन (भरतजी) के मन की बात जान कर कि ये स्पष्ट मेरी आज्ञा पा कर ही सन्तुष्ट होंगे ॥२॥

धरम-धुरीन धीर नय-नागर । सत्य सनेह सील सुख-सागर ॥
देस काल लखि समउ समाजू । नीति प्रीति पालक रघुराजू ॥३॥

धर्म-धुरन्धर, धीरवान्, नीति में चतुर, सत्य, स्नेह, शील और सुख के समुद्र नीति तथा प्रीति के पालनेवाले रघुनाथजी देश, काल, समय और समाज देख कर बोले ॥३॥

बोले बचन बानि सरबस से । हित परिनाम सुनत ससि-रस से ॥
तात भरत तुम्ह धरम-धुरीना । लोक बेद-बिद प्रेम-प्रबीना ॥४॥

वाणी के सर्वस्व सरीखा वचन बोले, जो परिणाम में हितकारी और सुनने में चन्द्रमा के रस (अमृत) के समान है। हे प्यारे भरत ! आप धर्म-धुरन्धर, लोक वेद के ज्ञाता और प्रेम में प्रवीण हैं ॥४॥

सभा की प्रति में 'लोक वेद विद परम-प्रबीना' पाठ है।

दो०—करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात ।
गुरु-समाज लघुबन्धु-गुन, कुसमय किमि कहि जात ॥३०४॥

हे तात ! कर्म, वचन और मन से निर्मल आप के समान आप ही हैं। गुरु-समाज में दुर्दिन के समय छोटे भाई का गुण कैसे कहा जा सकता है? ॥३०४॥

आप के समान आप ही हैं अर्थात् उपमेय ही को उपमान बनाना 'अनन्वय अलंकार' है।

चौ०—जानहु तात तरनि-कुल रीती । सत्यसन्ध पितु कीरति प्रीती ॥
समउ समाज लाज गुरुजन की । उदासीन हित अनहित मन की ॥१॥

हे तात ! आप सूर्य्य कुल की रीति जानते हो और सत्यवादी पिता की कीर्त्ति, उन की प्रीति, समय, समाज, गुरुजनों की लाज, मध्यस्थ, मित्र तथा शत्रु के मन की ॥१॥

तुम्हहिं बिदित सबही कर करमू । आपन मोर परम-हित धरमू ॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा । तदपि कहउँ अवसर अनुसारा ॥२॥

अपना और मेरा परम हितकारी धर्म, आप को सभी के कर्त्तव्य मालूम हैं। मुझे आप का सब तरह भरोसा है, तो भी समय के अनुसार कहता हूँ ॥२॥

तात तात बिनु बात हमारी । केवल गुरु-कुल-कृपा सँभारी ॥
नतरु प्रजा पुरजन परिवारू । हमहिं सहित सब होत खुआरू ॥३॥

हे भाई ! पिताजी के बिना हमारी बात को केवल कुलगुरु की कृपा ने सम्हाला है। नहीं तो प्रजा, पुरवासी और परिवार के सहित हम सब दुर्दशा-ग्रस्त हो जाते ॥३॥

जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू । जग केहि कहहु न होइ कलेसू ॥
तस उतपात तात बिधि कीन्हा । मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा ॥४॥

यदि बिना समय सूर्य्य अस्त हो जाँय तो कहिये, संसार में किसको कष्ट न होगा? विधाता ने वैसा ही उत्पात किया, पर हे तात ! मुनि वशिष्ठजी और मिथिलेश्वर ने सब तरह से रखवाली किया ॥४॥

कहना तो यह है कि बिना समय की मृत्यु से सभी को बड़ा कष्ट हुआ। सीधे इसे न कह कर अनवसर सूर्य्यास्त की बात कह कर असली वृत्तान्त प्रकट करना 'ललित अलंकार' है।

दो०—राजकाज सब लाज पति, धरम धरनि धन धाम ।
गुरु प्रभाउ पालिहि सबहि, भल होइहि परिनाम ॥३०५॥

सब राज्य का कार्य्य, लाज, प्रतिष्ठा, धर्म, धरती, धन और महल गुरुजी के प्रभाव से सभी का पालन कीजिये, इसका फल (नतीजा) अच्छा होगा ॥३०५॥

चौ०—सहित समाज तुम्हार हमारा । घर बन गुरुप्रसाद रखवारा ॥
मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू । सकल धरम धरनी-धर-सेसू ॥१॥

समाज के सहित तुम्हारा हमारा घर वन में रक्षा करनेवाला गुरुजी का अनुग्रह है। माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा जो पालन करता है वह सम्पूर्ण धर्म रूपी धरती का धारण करनेवाला शेषनाग है ॥१॥

सो तुम्ह करहु करावहु मोहू । तात तरनिकुल पालक होहू ॥
साधन एक सकल सिधि देनी । कीरति सुगति भूति-मय बेनी ॥२॥

वह (धर्म-पालन) आप करें और मुझे कराकर सूर्य्यकुल के रक्षक हों। एक यही साधन सम्पूर्ण सिद्धियों का देनेवाला है, कीर्ति; सुन्दर गति (मोक्ष) और ऐश्वर्य्य से भरी त्रिवेणी है ॥२॥

सो बिचारि सहि सङ्कट भारी । करहु प्रजा परिवार सुखारी ॥
बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई । तुम्हहिँ अवधिभरि बड़ि कठिनाई ॥३॥

वह (धर्म) सोच कर भारी सङ्कट सहन करके प्रजा और परिवार को सुखी कीजिये। हे भाई ! आपने मुझ से सभी विपत्ति बाँट ली, अवधि (१४ वर्ष) पर्यन्त आप को बड़ी कठिनता है ॥३॥

सभा की प्रति में 'बाढ़ी विपति' पाठ है और 'बाँटी विपति' को पाठान्तर कहा गया है। परन्तु जब राजापुर की प्रति में 'बाँटी' पाठ है, तब सभा की प्रति का पाठ पाठान्तर सिद्ध होता है

जानि तुम्हहिँ मृदु कहउँ कठोरा । कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥
होहिँ कुठाँय सुबन्धु सहाये । ओड़ियहि हाथ असनि के घाये ॥४॥

आप को कोमल जान कर मैं कठोर वचन कहता हूँ, हे तात ! कुसमय कहलाता है इसमें मेरा दोष नहीं है । अच्छे भाई कुजगह में सहाय होते हैं, (जैसे) वज्र की चोट से शरीर को बचाने के लिये हाथ उसको अपने ऊपर ओजता है ॥४॥

कुजगह में सुन्दर बन्धु सहायक होते हैं, यह उपमेय वाक्य है । वज्र की चोट को हाथ अपने ऊपर ओज लेता है , यह उपमान वाक्य है । दोनों वाक्यों में बिना वाचक पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है । सारांश यह कि सुबन्धु गाढ़े दिन में इस तरह सहायक होते हैं, जैसे शरीर पर वज्र का वार होते देख यह जानते हुए कि मैं नष्ट हो जाऊँगा फिर भी हाथ उसे अपने ऊपर ओज लेता है ।

दो०-सेवक कर-पद-नयन से, मुख सो साहिब होइ ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकबि सराहहिँ सोइ ॥३०६॥

सेवक हाथ, पाँव और नेत्र के समान हो, स्वामी मुख के समान होना चाहिये । तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी प्रीति की रीति को सुन कर अच्छे कवि उसकी बड़ाई करते हैं ॥३०६॥

व्यङ्गार्थ द्वारा दृष्टान्त का भाव है जैसे आँखों ने कोई फल देखा, पाव चल कर उसके समीप गये, हाथ ने उठा कर मुख रूपी मालिक को दे दिया और उसने अकेले उसे खा लिया । परन्तु उससे उसने हाथ, पाँव, नेत्रादि रूपी सेवकों को शक्ति संचार समान रूप से करके वितरण कर दिया ।

चौ०-सभा सकल सुनि रघुबर बानी । प्रेम-पयोधि अमिय जनु सानी ॥
सिथिल समाज सनेह समाधी । देखि दसा चुप सारद साधी ॥१॥

रघुनाथजी की वाणी सुन कर सारी सभा प्रेम के समुद्र में मग्न हो गई, ऐसा मालूम होता है मानों वह अमृत-रस से मिली हो । स्नेह की समाधि से समाज शिथिल हो गया, यह दशा देख कर सरस्वती ने मौन साधन कर लिया (सन्नाटा छा) गया ॥ १ ॥

वाणी ऐसी वस्तु नहीं जो अमृत में सानी जा सके, यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

भरतहि भयउ परम सन्तोषू । सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू । भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ॥२॥

भरतजी को परम सन्तोष हुआ, स्वामी की अनुकूलता से दुःख दोष पीछे पड़ गये । मुख प्रसन्न है और मन का विषाद मिट गया, ऐसे खुश मालूम होते हैं मानों गूँगे को सरस्वती का प्रसाद हुआ हो अर्थात् बोलने की शक्ति आ गई हो ॥ २ ॥

राजापुर की प्रति में इस चौपाई का उत्तरार्द्ध यहाँ नहीं है, वह ३०८ दोहे के पूर्व इस प्रकार है। "सुनि प्रभु वचन भरत सुख पावा। मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा॥ सुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥" किन्तु काशी की प्रति में, गुटका और सभा की प्रति में, यह इसी स्थान में है।

कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानि-पङ्करुह जोरी॥
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनम भये को॥३॥

भरतजी ने फिर प्रेम के साथ प्रणाम किया और कर-कमलों को जोड़ कर बोले। हे नाथ! मुझे आप के साथ चलने का सुख हुआ और संसार में जन्म लेने का लाभ पाया॥३॥

अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलम्ब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई॥४॥

हे कृपालु! अब जैसी आज्ञा होती है, वही आदर के साथ सिर पर धारण करके करूँगा। हे देव! मुझे वह सहारा दीजिये जिसकी सेवा करके अवधि से पार पाऊँ॥४॥

दो०—देव देव अभिषेक हित, गुरु अनुसासन पाइ।
आनेउँ सब तीरथ-सलिल, तेहि कहँ काह रजाइ॥३०७॥

हे देव! आप के राज्याभिषेक के लिये गुरुजी की आज्ञा पा कर सब तीर्थों का जल ले आया हूँ, उसके लिये क्या आज्ञा है?॥३०७॥

चौ०—एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभय सकोच जात कहि नाहीं।
कहहु तात प्रभु आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥१॥

एक बड़ा मनोरथ मन में है, वह भय और सकोच से कहा नहीं जाता है। प्रभु रामचन्द्रजी ने कहा—हे तात! कहिये, आज्ञा पा कर सुन्दर स्नेह भरी वाणी बोले॥१॥

चित्रकूट मुनि-थल तीरथ बन। खग मृग सर सरि निर्झर गिरिगन॥
प्रभु-पद अङ्कित अवनि बिसेखी। आयसु होइ त आवउँ देखी॥२॥

चित्रकूट पर्वत, मुनियों के आश्रम, तीर्थ, वन, पक्षी, मृग, तालाब, नदी, झरना और पर्वत-समूह, विशेष कर स्वामी के चरण-चिह्नित धरती को आज्ञा हो तो देख आऊँ॥२॥

अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत-भय कानन चरहू॥
मुनि प्रसाद बन मङ्गल-दाता। पावन परम सुहावन भ्राता॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे तात! अत्रि मुनि की आज्ञा शिरोधार्य कर अवश्य वन में निर्भय विचरिये। मुनि की कृपा से—हे भाई! यह वन अत्यन्त सुहावना, पवित्र और मङ्गल का देनेवाला है॥३॥

रिषि-नायक जहँ आयसु देहीं । राखेहु तीरथ-जल थल तेहीं ॥
सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा । मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा ॥४॥

ऋषिराज जहाँ आज्ञा दें, इस तीर्थ-जल को उसी स्थान में रखना । प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुन कर भरतजी सुखी हुए और मुनि के चरण-कमलों में प्रसन्नता से सिर नवाया ॥ ४ ॥

दो०—भरत-राम-सम्बाद सुनि, सकल सुमङ्गल-मूल ।
सुर स्वारथी सराहि कुल, बरषत सुरतरु फूल ॥३०८॥

सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों का मूल भरतजी और रामचन्द्रजी का सम्वाद सुन कर स्वार्थी देवता सूर्य्यकुल की प्रशंसा करके कल्पवृक्ष का फूल बरसते हैं ॥ ३०८ ॥

चौ०—धन्य भरत जय राम गोसाँई । कहत देव हरषत बरिआँई ॥
मुनि मिथिलेस सभा सब काहू । भरत बचन सुनि भयउ उछाहू ॥१॥

भरतजी धन्य हैं; स्वामी रामचन्द्रजी की जय हो, देवता ऐसा कहते हुए बरबस प्रसन्न होते हैं । भरतजी के वचनों को सुन कर वशिष्ठ मुनि, मिथिलेश्वर और सब सभासदों को उत्साह हुआ ॥ १ ॥

भरत राम गुन-ग्राम सनेहू । पुलकि प्रसंसत राउ-बिदेहू ॥
सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन । नेम प्रेम अति पावन पावन ॥२॥

भरतजी और रामचन्द्रजी के गुण-समूह तथा स्नेह की पुलकित शरीर से राजा जनक प्रशंसा करते हैं । सेवक और स्वामी का सुहावना स्वभाव एवम् नेम प्रेम अत्यन्त पवित्र से भी पवित्र है ॥ २ ॥

मति अनुसार सराहन लागे । सचिव सभासद सब अनुरागे ॥
सुनि सुनि राम-भरत-सम्बादू । दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू ॥३॥

मन्त्री, सभासद सब प्रेम से अपनी बुद्धि के अनुसार सराहने लगे । रामचन्द्रजी और भरतजी का सम्वाद सुन सुन कर दोनों समाजों के हृदयों में हर्ष और विषाद हो रहा है ॥३॥

हर्ष भरतजी की स्वामि-भक्ति पर और रामचन्द्रजी के न लौटने का विषाद, दोनों भावों का साथ ही हृदय में उत्पन्न होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है ।

राम-मातु दुख सुख सम जानी । कहि गुन राम प्रबोधी रानी ॥
एक कहहिँ रघुबीर बड़ाई । एक सराहत भरत भलाई ॥४॥

रामचन्द्रजी की माता दुःख और सुख को समान समझ कर रामचन्द्रजी के गुणों को कह कर रानियों को समझाया । कोई रघुनाथजी की बड़ाई करते हैं और कोई भरतजी की भलाई को सराहते हैं ॥४॥

दो०-अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल समीप सुकूप ।
राखिय तीरथ तोय तहँ, पावन अमिय अनूप ॥३०९॥

तब अत्रिमुनि ने भरतजी से कहा कि पर्वत के समीप में सुन्दर कुआँ है। तीर्थों का पवित्र जल अमृत रूप अनुपम वहाँ रखिये ॥३०९॥

चौ०-भरत अत्रि अनुसासन पाई । जल-भाजन सब दिये चलाई ॥
सानुज आपु अत्रिमुनि साधू । सहित गये जहँ कूप अगाधू ॥१॥

अत्रिजी की आज्ञा पा कर भरतजी जल के सब पात्रों को सेवकों से भेज दिये। आप छोटे भाई शत्रुहन, अत्रिमुनि और साधुओं के सहित जहाँ गहरा कुआँ है वहाँ गये ॥१॥

पावन-पाथ पुन्यथल राखा । प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा ॥
तात अनादि सिद्ध थल एहू । लोपेउ काल बिदित नहिँ केहू ॥२॥

पवित्र जल को पुण्य-स्थल में रखने के लिये प्रेम के साथ प्रसन्नता से अत्रिजी ने ऐसा कहा। हे तात ! यह अनादि काल से सिद्ध-स्थान है, काल पा कर लुप्त हो गया किसी को मालूम नहीं है ॥२॥

तब सेवकन्ह सरस थल देखा । कीन्ह सुजल हित कूप बिसेखा ॥
बिधि-बस भयउ बिस्व उपकारू । सुगम अगम अति धरम बिचारू ॥३॥

तब सेवकों ने श्रेष्ठ स्थान देखा और सुन्दर जल स्थापन के लिये बड़ा बढ़िया कुआँ बनाया (उसमें विधिवत जल स्थापन किया गया)। दैवयोग से संसार का उपकार हुआ, अत्यन्त दुर्गम धर्म का विचार सुगम हो गया (एक ही स्थान में असंख्यों तीर्थों का फल सहज में प्राप्त हुआ है) ॥३॥

भरतकूप अब कहिहहिँ लोगा । अति पावन तीरथ-जल जोगा ॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी । होइहहिँ बिमल करम मन बानी ॥४॥

अब लोग इसको भरतकूप कहेंगे, तीर्थों के जल के सम्बन्ध से यह अत्यन्त पवित्र हो गया। प्रेम और नियम के साथ स्नान करने से प्राणी कर्म, मन और वाणी से निर्मल हो जायँगे ॥४॥

दो०-कहत कूप महिमा सकल, गये जहाँ रघुराउ ।
अत्रि सुनायउ रघुबरहि, तीरथ पुन्य प्रभाउ ॥३१०॥

कूप की महिमा कहते हुए सब जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ गये अत्रिमुनि ने तीर्थ के पुण्य का प्रभाव रामचन्द्रजी को सुनाया ॥ ३१० ॥

चौ०-कहत धरम इतिहास सप्रीती । भयउ भोर निसि सो सुख बीती ॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई । राम अत्रि गुरु आयसु पाई ॥१॥

प्रीति के साथ धार्मिक इतिहास कहते सबेरा हुआ, वह रात्रि सुख से बीती। भरत-

शत्रुहन दोनों भाई नित्य-कर्म पूरा करके रामचन्द्रजी, अत्रिमुनि और वशिष्ठजी की आज्ञा पा कर ॥ १ ॥

सहित समाज साज सब सादे । चले राम-बन अटन पयादे ॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं । भइ मृदु भूमि सकुचि मनमनहीं ॥२॥

सब समाज के सहित सादे साज (पोशाक) से पैदल रामचन्द्रजी के वन में घूमने चले। कोमल चरणों से बिना पनहीं के चलते हैं, धरती मन ही मन लज्जा कर नरम हो गई ॥२॥

भरतजी कोमल चरणों से बिना जूतियों के पैदल राम-वन में घूमना चाहते ही थे कि अकस्मात् पृथ्वी के मुलायम होने की सहायता से यह काम (मार्गगमन) और भी सुगम हो गया। 'समाधि अलंकार' है।

कुस कंटक काँकरी कुराई । कटुक कठोर कुबस्तु दुराई ॥
महि मञ्जुल मृदु मारग कीन्हे । बहत समीर त्रिबिधि सुख लीन्हे ॥३॥

कुशा, काँटा, कङ्कड़ी, कुराह, कड़वी, कठोर और कुवस्तुओं को छिपा कर पृथ्वी ने सुन्दर मुलायम रास्ता कर दिया, तीनों प्रकार की सुखदाई बयारि बहती है ॥३॥

सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं । बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं ॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी । सेवहिं सकल राम-प्रिय जानी ॥४॥

देवता फूल बरसा कर, बादल छाँह करके, वृक्ष फूल फल कर, घास कोमल होकर, मृग देख कर और पक्षी सुन्दर बोली बोल कर सब रामचन्द्रजी के प्यारे जान भरतजी की सेवा करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु, राम कहत जमुहात ।
राम प्रान-प्रिय भरत कहँ, यह न होइ बड़ि बात ॥३११॥

सामान्य मनुष्य जमुहाते हुए जो राम कहते हैं, सारी सिद्धियाँ उन्हें सुलभ हो जाती हैं। फिर रामचन्द्रजी के प्राणप्यारे भरतजी के लिये यह बड़ी बात नहीं है ॥ ३११ ॥

जब प्राकृत मनुष्यों को जम्हाई लेते समय 'राम' कहने से ये सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। फिर तब रामचन्द्रजी के प्राण-प्रिय भाई के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

चौ०—एहि बिधि भरत फिरत बन माहीं । नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं ॥
पुन्य जलास्रय भूमि बिभागा । खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा ॥१॥

इस तरह भरतजी वन में फिरते हैं; उनका नेम प्रेम देख कर मुनि सकुचा जाते हैं। पवित्र जलाशय, भूखण्ड, पक्षी, मृग वृक्ष, घास, पर्वत, वन और बाग़ ॥ १ ॥

चारु बिचित्र पबित्र बिसेखी । बूझत भरत दिब्य सब देखी ॥
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ । हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ॥२॥

सब सुन्दर विलक्षण पवित्र और अत्यन्त दिव्य देख कर भरतजी पूछते हैं। सुन कर ऋषिराज-अत्रिजी प्रसन्न मन से उनके आदि कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभाव कहते हैं ॥२॥

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा । कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा ॥
कतहुँ बैठि मुनि आयसु पाई । सुमिरत सीय सहित रघुराई ॥३॥

कहीं स्नान और कहीं प्रणाम करते हैं, कहीं दर्शन करके मन में प्रसन्न होते हैं। कहीं मुनि की आज्ञा पा बैठ कर सीताजी के सहित रघुनाथजी का स्मरण करते हैं ॥ ३ ॥

देखि सुभाउ सनेह सुसेवा । देहिं असीस मुदित बनदेवा ॥
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई । प्रभु-पद-कमल बिलोकहिं आई ॥४॥

भरतजी के स्वभाव, स्नेह और सुन्दर सेवा-धर्म को देख कर वन के देवता प्रसन्न हो आशीर्वाद देते हैं। ढाई पहर दिन बीत जाने पर लौटते हैं और आकर प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-कमलों के दर्शन करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—देखे थल तीरथ सकल, भरत पाँच दिन माँझ ।
कहत सुनत हरि-हर-सुजस, गयउ दिवस भइ साँझ ॥३१२॥

भरतजी ने पाँच दिन में सम्पूर्ण तीर्थस्थानों को देखा, हरि और हर का सुयश कहते सुनते (पाँचवाँ) दिन बीत गया, साँझ हुई ॥ ३१२ ॥

चौ०—भोर न्हाइ सब जुरा समाजू । भरत भूमिसुर तिरहुतिराजू ॥
भल दिन आजु जानि मन माहीं । राम कृपाल कहत सकुचाहीं ॥१॥

सवेरे स्नान करके सब समाज भरतजी, राजा जनक और ब्राह्मण वृन्द इकट्ठे हुए। कृपालु रामचन्द्रजी मन में अच्छा दिन जान कर कहते हुए सकुचाते हैं ॥ १ ॥

गुरु नृप भरत सभा अवलोकी । सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥
सील सराहि सभा सब सोची । कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥२॥

गुरु-वशिष्ठजी, राजा जनक, भरतजी और सभा की ओर देख रामचन्द्रजी सकुच कर पृथ्वी की तरफ़ निहारने लगे। शील की प्रशंसा करके सब सभा सोचती है कि रामचन्द्रजी के समान सङ्कोची स्वामी कहीं नहीं है ॥२॥

भरत सुजान राम रुख देखी । उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी ॥
करि दंडवत कहत कर जोरी । राखी नाथ सकल रुचि मोरी ॥३॥

सुजान भरतजी रामचन्द्रजी का रुख देख बड़ा धीरज धर कर प्रेम के साथ उठे। दण्डवत करके हाथ जोड़ कर कहते हैं कि हे नाथ! आपने मेरी सम्पूर्ण रुचि (ख़्वाहिश) रखी ॥३॥

मोहि लगि सहेउ सबहि सन्तापू । बहुत भाँति दुख पावा आपू ॥
अब गोसाँइ मोहि देहु रजाई । सेवउँ अवध अवधि भरि जाई ॥४॥

मुझे लगा कर आपने सभी संताप सहे और बहुत तरह के दुःख पाये। अब हे स्वामिन्! मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अयोध्या में जा कर अवधि पर्य्यन्त उसका सेवन (पालन) करूँ ॥ ४ ॥

दो०—जेहि उपाय पुनि पाय जन, देखइ दीनदयाल ।
सो सिख देइय अवधि लगि, कोसलपाल कृपाल ॥३१३॥

हे दीनदयाल ! जिस उपाय से यह सेवक फिर आप के चरणों को देखे, हे कृपालु कोशलपाल ! अवधि भर के लिये वही सिखावन दीजिये ॥३१३॥

चौ०—पुरजन परिजन प्रजा गोसाँई । सब सुचि सरस सनेह सगाई ॥
राउर बदि भल भव-दुख-दाहू । प्रभु बिनु बादि परम-पद लाहू ॥१॥

हे स्वामिन् ! पुरवासी, कुटुम्बी और प्रजाजनों के सब पवित्र रसीले स्नेह के नाते हैं। आप का कहा कर संसार के दुःख की जलन सहना अच्छा है और आप के बिना परम-पद (मोक्ष) का मिलना व्यर्थ है ॥१॥

आप के सम्बन्ध से संसार का दुःख-दाह सहना अच्छा है। अङ्गीकार न करने योग्य का अङ्गीकार करना 'अनुज्ञा अलंकार' है। कहने का तात्पर्य यह कि आप का आज्ञा से अयोध्या में चौदह वर्ष रहना कुछ कठिन नहीं, वहाँ सब शुद्ध प्रेम करनेवाले हैं। कदाचित भीषण संसारी दुःख भोगना पड़े तो भी मुझे प्रसन्नता है। परन्तु आप से सम्बन्ध न रहने पर ऊँची से ऊँची पदवी प्राप्त होना मेरे लिये नरक रूप है।

स्वामि सुजान जानि सबही की । रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥
प्रनतपाल पालहिँ सब काहू । देउ दुहूँ दिसि ओर निबाहू ॥२॥

हे सुजान स्वामिन् ! सभी की रुचि और सेवक के मन की लालसा एवम् स्थिति समझ कर, हे देव शरणागतों के पालक ! सब की रक्षा कीजिये, घर की ओर तथा वन की ओर दोनों का निबाहना आप ही के हाथ में है ॥२॥

दिसि और ओर शब्दों में पुनरुक्ति का आभास है; किन्तु एक घर और दूसरा वन के हेतु होने से 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो । किये बिचार न सोच खरो सो ॥
आरति मोर नाथ कर छोहू । दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठि हठि मोहू ॥३॥

ऐसा मुझे सब तरह बहुत बड़ा भरोसा है, विचार करने से तृण के समान सोच नहीं है (जब स्वामी रक्षक हैं)। मेरी दीनता और प्रभु का छोह दोनों ने मिल कर हठ से मुझे ढीठ कर दिया है ॥३॥

यह बड़ दोष दूरि करि स्वामी । तजि सकोच सिखइय अनुगामी ॥
भरत बिनय सुनि सबहि प्रसंसी । छीर नीर बिबरन गति हंसी ॥४॥

हे स्वामिन् ! यह बड़ा दोष दूर करके सकोच छोड़ सेवक को सिखाइये। भरतजी की विनती को सुन कर सभी ने प्रशंसा की कि भरतजी की बुद्धि की गति दूध और पानी (गुण-दोष) को अलग करने में हंसिनी के समान है ॥४॥

दो०—दीनबन्धु सुनि बन्धु के, बचन दीन छल हीन।
देस काल अवसर सरिस, बोले राम प्रबीन ॥३१४॥

दीनबन्धु रामचन्द्रजी भाई के दीन छल-हीन वचन सुन कर देश, काल और समय के समान प्रवीण रामचन्द्रजी बोले ॥३१४॥

चौ०—तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिन्ता गुरुहि नृपहि घर बन की ॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहिँ तुम्हहि सपनेहुँ न कलेसू ॥१॥

हे भाई! तुम्हारी, हमारी, कुटुम्बियों की, घर और वन की चिन्ता गुरुजी को तथा राजा को है। जब माथे पर (सरपरस्त) गुरु वशिष्ठ मुनि और मिथिलेश्वर हैं, तब हमें तुम्हें सपने में भी क्लेश नहीं है ॥१॥

मोर तुम्हार परम पुरुषारथ। स्वारथ सुजस धरम परमारथ ॥
पितु-आयसु पालिय दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई ॥२॥

मेरा और आप का अत्युत्तम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ यही है कि दोनों भाई पिता की आज्ञा पालन करें, यह लोक तथा वेद-मत से उत्तम है और राजा की प्रतिष्ठा है अर्थात् परलोक में उनकी आत्मा प्रसन्न होगी ॥२॥

गुरु पितु मातु स्वामि सिख पाले। चलेहु कुमग पग परइ न खाले ॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई ॥३॥

गुरु, पिता, माता और स्वामी का उपदेश मान कर कुडगर में चलने पर भी पाँव खाले (गड्ढे में) नहीं पड़ता। ऐसो विचार कर सब सोच त्याग दीजिये और अवधि पर्यन्त जा कर अयोध्या की रक्षा कीजिये ॥ ३ ॥

देस कोस पुरजन परिवारू। गुरु-पद-रजहि लाग छरभारू ॥
तुम्ह मुनि-मातु-सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी ॥४॥

देश, भण्डार, पुरवासी और कुटुम्बियों का बोझ गुरुजी के चरणों की धूलि में लगा है। आप मुनि, माता और मन्त्रियों की शिक्षा मान कर पृथ्वी, प्रजा तथा राजधानी का पालन करना ॥ ४ ॥

दो०—मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक ॥३१५॥

मुखिया मुख के समान होना चाहिए कि खाना पीना अकेला ही करके—तुलसीदासजी कहते हैं, सम्पूर्ण अङ्गों का पालन पोषण विचार के साथ करे ॥ ३१५ ॥

इसका स्पष्टीकरण पूर्व में ३०६ दोहा के नीचे किया गया है।

चौ०—राज-धरम-सरबस एतनोई । जिमि मन माँह मनोरथ गोई ॥
बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती । बिनु अधार मन तोष न साँती ॥१॥

राज्यधर्म का निचोड़ इतना ही है, जैसे मन में मनोरथ छिपा रहता है। बहुत तरह से भाई को समझाया, परन्तु बिना आधार के उनके मन में सन्तोष और शान्ति नहीं होती है ॥१॥

भरत सील गुरु सचिव समाजू । सकुच सनेह बिबस रघुराजू ॥
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही । सादर भरत सीस धरि लीन्ही ॥२॥

इधर भरतजी का शील, उधर मन्त्री और गुरु समाज के संकोच से (कि पाँवरी कैसे प्रदान करूँ) रघुनाथजी स्नेह के वशीभूत हो गये। प्रभु रामचन्द्रजी ने कृपा करके खड़ाऊँ दिये, भरतजी ने उन्हें आदर से सिर पर रख लिया ॥ २ ॥

चरनपीठ करुनानिधान के । जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ॥
सम्पुट भरत सनेह-रतन के । आखर जुग जनु जीव जतन के ॥३॥

करुणानिधान के खड़ाऊँ ऐसे मालूम होते हैं मानों प्रजा के प्राणों के रक्षक दो पहरेदार हों। भरतजी के स्नेह रूपी रत्न के लिए डब्बे रूप हैं, जीव की रक्षा के लिए ऐसे जान पड़ते हैं मानों दोनों अक्षर (रा-म) हों ॥ ३ ॥

कुल-कपाट कर कुसल करम के । बिमल नयन सेवा सुधरम के ॥
भरत मुदित अवलम्ब लहे तें । अस सुख जस सिय-राम रहे तें ॥४॥

कुल की रक्षा के लिए किवाड़ रूप और कर्मों के हेतु कुशल हाथ रूप हैं, सेवा रूपी सुन्दर धर्म के दर्शानेवाले नेत्र रूप हैं। आधार मिलने से भरतजी प्रसन्न हैं, उनको ऐसा सुख हुआ जैसा सीताजी और रामचन्द्रजी के घर रहने से होता ॥ ४ ॥

खड़ाऊँ मिलने से वह सुख हुआ जो सीताराम के घर रहने से होता 'द्वितीय विशेष अलंकार' है।

दो०—माँगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिये उर लाइ ।
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ ॥३१६॥

भरतजी ने प्रणाम करके विदा माँगी, रामचन्द्रजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। कुटिल इन्द्र ने कुसमय पा कर लोगों पर उच्चाटन किया ॥ ३१६ ॥

चौ०—सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी । अवधि आस सम जीवन जी की ॥
न तरु लखन-सिय-राम बियोगा । हहरि मरत सब लोग कुरोगा ॥१॥

वह कुचाल सब के लिए अच्छी हुई, अवधि पर्यन्त जीव को जीने की आशा के समान हो गई। नहीं तो लक्ष्मणजी, सीताजी और रामचन्द्रजी के वियोग रूपी कुरोग से डर कर सब लोग मर जाते ॥ १ ॥

राम कृपा अवरेब सुधारी। बिबुध-धारि भइ गुनद गोहारी ॥
भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम-प्रेम-रस कहि न परत सो ॥२॥

देवताओं का किया हुआ समूह बिगाड़ रामचन्द्रजी की कृपा से सुधर कर गुणदायक गोहारि (सहायता) हो गई। भाई भरतजी से भुजा भर भेंटते हैं, रामचन्द्रजी के प्रेम से जो आनन्द हुआ वह कहते नहीं बनता है ॥ २ ॥

तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर-धुरन्धर धीरज त्यागा ॥
बारिज लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर-सभा दुखारी ॥३॥

तन, मन और वचन से प्रेम में उमड़ कर धीर धुरन्धर रामचन्द्रजी ने धीरज छोड़ दिया। कमल-नयनों से आँसू बहने लगा, यह दशा देख कर देवमण्डली दुःखी हुई ॥ ३ ॥

मुनिगन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान-अनल मन कसे कनक से ॥
जे बिरञ्चि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये ॥४॥

मुनि मण्डली, गुरुवशिष्ठजी और धैर्यधारियों में धुरन्धर राजा जनक के समान योगिराज जो ज्ञान रूपी अग्नि में मन रूपी सुवर्ण को तपाये से हैं, जो ब्रह्मा के संसार सम्बन्धी प्रपञ्च से ऐसे अछूत हैं, जैसे जल से उत्पन्न कमलपत्र उससे अलग रहता है ॥ ४ ॥

दो०—तेउ बिलोकि रघुबर भरत, प्रीति अनूप अपार।
भये मगन तन मन बचन, सहित बिराग बिचार ॥३१७॥

वे भी रघुनाथजी और भरतजी की अनुपम अपार प्रीति को देख कर तन, मन, वचन, वैराग्य और ज्ञान के सहित मग्न हो गये ॥ ३१७ ॥

चौ०—जहाँ जनक गुरु गति-मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी ॥
बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू ॥१॥

जहाँ राजा जनक, और गुरुजी की बुद्धि की गति भोली हुई है, वहाँ संसारी प्रीति कहने में बड़ा दोष है। रघुनाथजी और भरतजी का वियोग वर्णन करने में लोग उसे सुन कर कवि को कठोर समझेंगे ॥ १ ॥

सो सकोच-रस अकथ सुबानी। समउ सनेह सुमिरि सकुचानी ॥
भेंटि भरत रघुबर समुझाये। पुनि रिपुदवन हरषि हिय लाये ॥२॥

वह सङ्कोच-रस सुन्दर वाणी से भी अकथनीय है, क्योंकि उस समय का स्नेह स्मरण कर (वाणी) लज्जित हो गई है। भरतजी से मिलकर रघुनाथजी ने उन्हें समझाया, फिर प्रसन्नता से शत्रुहनजी को हृदय से लगा लिया ॥ २ ॥

सेवक सचिव भरत रुख पाई । निज निज काज लगे सब जाई ॥
सुनि दारुन दुख दुहूँ समाजा । लगे चलन के साजन साजा ॥३॥

सेवक और मन्त्री भरतजी का रुख पा सब जाकर अपने अपने काम में लग गये। दोनों समाजों को सुनकर भीषण दुःख हुआ, सब चलने की तैयारी करने लगे ॥ ३ ॥

प्रभु-पद-पदुम बन्दि दोउ भाई । चले सीस धरि राम-रजाई ॥
मुनि तापस बनदेव निहोरी । सब सनमानि बहोरि बहोरी ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को प्रणाम करके भरत-शत्रुहन दोनों भाई रामचन्द्रजी की आज्ञा शिरोधार्य कर चले। मुनि, तपस्वी और वनदेवताओं से विनती करके सब का बार बार सम्मान किया ॥ ४॥

दो०—लखनहिं भेंटि प्रनाम करि, सिर धरि सिय-पद धूरि ।
चले सप्रेम असीस सुनि, सकल सुमङ्गल-मूरि ॥३१८॥

लक्ष्मणजी से मिलकर सीताजी को प्रणाम कर उनके चरणों की धूलि सिर पर धारण करके और सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलोंका मूल आशीर्वाद प्रेम से सुनकर (भरतजी और शत्रुहनजी) चले ॥ ३१८ ॥

चौ०—सानुज राम नृपहि सिर नाई । कीन्हि बहुत बिधि बिनय बड़ाई ॥
देव दया-बस बड़ दुख पायेउ । सहित समाज काननहिँ आयेउ ॥१॥

छोटे भाई लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी ने राजा जनक को सिर नवाया और बहुत तरह से विनती करके उनकी बड़ाई की। हे देव ! दयावश आपने बड़ा दुःख पाया कि समाज के सहित वन में आये ॥ १ ॥

पुर पग धारिय देइ असीसा । कीन्ह धीर धरि गवन महीसा ॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने । बिदा किये हरि हर सम जाने ॥२॥

आशीर्वाद दे कर नगर को पधारिये, राजा धीरज धर कर गमन किये। मुनि, ब्राह्मण और सज्जनों का सम्मान विष्णु और शिवजी के समान समझ कर उन्हें बिदा किया ॥ २ ॥

सासु समीप गये दोउ भाई । फिरे बन्दि पग आसिष पाई ॥
कौसिक बामदेव जाबाली । परिजन पुरजन सचिव सुचाली ॥३॥

फिर दोनों भाई (राम-लक्ष्मण) सासु के समीप गये और उनके चरणों की बन्दना कर आशीर्वाद पा कर लौटे। विस्वामित्रजी, वामदेव और याज्ञवल्क्य मुनि, कुटुम्बीजन, पुरवासी, मन्त्री और भी उत्तम आचरणवाले लोग ॥३॥

जथाजोग करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा॥
नारि-पुरुष लघु मध्य बड़ेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे॥४॥

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी ने सब से यथायोग्य बिनती और प्रणाम करके उन्हें विदा किया। स्त्री-पुरुष, लघु, मध्यम और बड़े सब का सम्मान कर कृपानिधान रघुनाथजी ने लौटाया॥४॥

दो०—भरत-मातु-पद बन्दि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी, सकुच सोच सब मेटि॥३१९॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने भरतजी की माता कैकयी के चरणों में प्रणाम कर पवित्र स्नेह से मिल भेंट सब संकुच सोच मिटा कर पालकी सजवा कर बिदा किया॥३१९॥

चौ०—परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरी प्रान-प्रिय प्रेम पुनीता॥
करि प्रनाम भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कबि हिय न हुलासू॥१॥

प्याणप्यारे रामचन्द्रजी के प्रेम में पवित्र सीताजी कुटुम्ब के लोग और पिता-माता से मिल कर लौट आईं। प्रणाम करके सब सासुओं से मिलीं, उस समय की प्रीति कहते हुए कवि के हृदय में ख़ुशी नहीं है॥१॥

सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई॥
रघुपति पटु पालकी मँगाई। करि प्रबोध सब मातु चढ़ाई॥२॥

सासुओं के उपदेश सुन कर और मन वाञ्छित आशीर्वाद पा सीताजी दोनों ओर (सासु और स्वामी) की प्रीति में समा गईं। रघुनाथजी ने सुन्दर पालकी मँगवायी और सब माताओं को समझा बुझा कर उस पर चढ़ाया॥२॥

बार बार हिलिमिलि सब भाई। सम सनेह जननी पहुँचाई॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भूप भरत दल कीन्ह पयाना॥३॥

बार बार दोनों भाई समान स्नेह से हिल मिल कर माताओं को पहुँचाया। घोड़ा, हाथी और नाना प्रकार की सवारियों को सज सज कर राजा जनक और भरतजी के दल ने पयान किया॥३॥

हृदय राम सिय लखन समेता। चले जाहिँ सब लोग अचेता॥
बसह बाजि गज पसु हिय हारे। चले जाहिँ परबस मन मारे॥४॥

हृदय में लक्ष्मणजी के सहित रामचन्द्रजी और सीताजी का रूप वर्तमान है, सब लोग अचेतन दशा में चले जाते हैं। बैल, घोड़े, हाथी आदि पशु हृदय में हारे मन मारे पराधीन चले जाते हैं॥४॥

दो०—गुरु गुरु-तिय-पद बन्दि प्रभु, सीता लखन समेत।
फिरे हरष बिसमय सहित, आये परन-निकेत ॥३२०॥

गुरुजी और गुरु-पत्नी के चरणों की वन्दना करके सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी हर्ष और विस्मय के साथ पर्णशाला में लौट आये ॥३२०॥

हर्ष-विस्मय दोनों भावों का एक साथ हृदय में उत्पन्न होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

चौ०—बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू ॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी ॥१॥

सम्मान करके निषाद को विदा किया, वह वियोग से हृदय में बड़ा दुःखी हो कर चला। कोल, किरात और भील आदि वनचारियों को लौटाया, (जो दूर दूर के जङ्गलों से सेवा के लिये आये थे) वे बार बार प्रणाम करके लौट गये ॥१॥

प्रभु सिय लखन बैठि बट छाहीं। प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं ॥
भरत सनेह सुभाउ सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी ॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी बड़ की छाँह में बैठ कर प्यारे कुटुम्बियों के वियोग से दुखी हो रहे हैं भरतजी के स्नेह और स्वभाव को प्रिया तथा अनुज से सुन्दर वाणी में बखान कर कहते हैं। ॥२॥

प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेम-बस बरनी ॥
तेहि अवसर खग मृग जल-मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना ॥३॥

मन, वचन और कर्म से भरतजी की प्रीति और विश्वास की बड़ाई रामचन्द्रजी ने प्रेमवश श्रीमुख से वर्णन की। उस समय चित्रकूट के पक्षी, मृग और जल की मछलियाँ, जड़, चेतन सब उदास हो गये ॥ ३ ॥

पशु, पक्षी, जड़ में मलिनता वर्णन 'करुण रसाभास' है।

बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की ॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो ॥४॥

देवता-वृन्द रघुनाथजी की दशा देख कर फूल बरसा कर घर घर का हाल कहते हैं। प्रभु रामचन्द्रजी ने प्रणाम करके भरोसा दिया, वे प्रसन्न होकर चले; उनके मन में तिनके के बराबर डर नहीं रह गया ॥ ४ ॥

दो०—सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन-कुटीर।
भगति ज्ञान बैराग्य जनु, सोहत धरे सरीर ॥३२१॥

छोटे भाई लक्ष्मणजी और सीताजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी पत्त की कुटी में विराजते हैं। ऐसा मालूम होता है मानों भक्ति, ज्ञान और वैराग्य शरीर धारण किये सोहते हों ॥ ३२१ ॥

भक्ति और सीताजी, ज्ञान और रामचन्द्रजी, वैराग्य और लक्ष्मणजी परस्पर उपमेय उपमान हैं। भक्ति, और ज्ञान वैराग्य शरीरधारी नहीं होते, कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। राम-बिरह सब साज बिहालू॥
प्रभु गुन-ग्राम गुनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥१॥

मुनि, ब्राह्मण-वृन्द; गुरु वशिष्ठजी, भरतजी और राजा जनक, रामचन्द्रजी के वियोग में सब समाज बेचैन है। प्रभु के गुण-समूह मन में विचारते हुए सब चुपचाप रास्ते में चले जाते हैं॥१॥

जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। राम-सखा सब कीन्ह सुपासू॥२॥

सब यमुना उतर कर पार हुए; वह दिन बिना भोजन के बीत गया। दूसरे दिन गङ्गा पार होकर निवास हुआ, रामसखा निषाद ने सब सुबीता किया॥२॥

सई उतरि गोमती नहाये। चौथे दिवस अवधपुर आये॥
जनक रहे पुर बासर चारी। राजकाज सब साज सँभारी॥३॥

तीसरे दिन सई उतर कर गोमती में स्नान किये और चौथे दिन अयोध्यापुरी में आ गये। जनकजी चार दिन अयोध्या में रहे, राजकाज और सब सामान का सम्हाल करके॥३॥

सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू। तिरहुति चले साजि सब साजू॥
नगर नारि नर गुरु सिख मानी। बसे सुखेन राम-रजधानी॥४॥

मन्त्री, गुरु और भरतजी को राज्य सौंप कर सब तैयारी करके मिथिला को चले। नगर के स्त्री-पुरुष गुरुजी की शिक्षा मान कर सुख पूर्वक रामचन्द्रजी की राजधानी अयोध्या में रहने लगे॥४॥

दो०—राम दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥३२२॥

रामचन्द्रजी के दर्शन के निमित्त सब लोग नेम और व्रत करते हैं। आभूषण और भोग-विलास के सुखों को त्याग कर अवधि की आशा से जीते हैं॥३२२॥

सब को इस बात का भरोसा है कि चौदह वर्ष बीत जाने पर रामचन्द्रजी के दर्शन होंगे। यही आशा जिलाती है, नहीं तो इस भीषण वियोग से जीना कठिन था।

चौ०—सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे॥
पुनि सिख दीन्हि बोलि लघुभाई। सौंपी सकल मातु सेवकाई॥१॥

मन्त्री और चतुर सेवकों को भरतजी ने (कार्यभार) समझा दिया, वे आज्ञा पा कर अपने अपने काम में लग गये। फिर छोटे भाई शत्रुहनजी को बुला कर उपदेश दिया, उन्हें सब माताओं की सेवकाई सौंपी॥१॥

भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे ॥
ऊँच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू ॥२॥

ब्राह्मणों को बुला कर प्रणाम करके हाथ जोड़ भरतजी ने सुन्दर नम्रता से निहोरा किया कि ऊँच, नीच, भला, बुरा कार्य जो आ पड़े उसके लिए आज्ञा दीजियेगा, सङ्कोच न कीजियेगा ॥२॥

परिजन पुरजन प्रजा बोलाये। समाधान करि सुबस बसाये ॥
सानुज गे गुरु-गेह बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी ॥३॥

कुटुम्बीजन, पुरवासी और प्रजाओं को बुलवाया, उन्हें ढारस देकर अच्छे प्रकार रहने का प्रबन्ध कर दिया। छोटे भाई शत्रुहनजी के सहित फिर गुरुजी के मन्दिर में गये, दण्डवत करके हाथ जोड़ कर बोले ॥३॥

आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तन पुलकि सप्रेमा ॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम-सार जग होइहि सोई ॥४॥

आज्ञा हो तो मैं नियम के सहित रहूँ, शरीर से पुलकित होकर वशिष्ठ मुनि प्रेम के साथ बोले। हे भरत! जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे संसार में वही धर्म का सार (तत्त्ववस्तु) होगा ॥४॥

दो०-सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि ॥३२३॥

गुरुजी की शिक्षा सुन कर और बड़ा आशीर्वाद पा कर ज्योतिषियों को बुलवाया, सुन्दर दिन देख प्रभु के खड़ाउओं को निर्विघ्न सिंहासन पर बैठाया ॥३२३॥

चौ०-राम-मातु गुरु-पद सिर नाई। प्रभु-पदपीठ रजायसु पाई ॥
नन्दिगाँव करि परन-कुटीरा। कीन्ह निवास धरम-धुर-धीरा ॥१॥

रामचन्द्रजी की माता और गुरुजी के चरणों में सिर नवा कर, प्रभु रामचन्द्रजी के खड़ाउओं की आज्ञा पा कर धर्म के भार को उठाने में धीर भरतजी नन्दिग्राम में पत्तों की कुटी बना कर निवास करने लगे ॥१॥

जटाजूट सिर मुनि-पट धारी। महि खनि कुस साथरी सँवारी ॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि-धरम सप्रेमा ॥२॥

सिर पर जटा का जूड़ा, शरीर पर मुनियों के वस्त्र धारण किये, धरती खोद उसमें कुश की आशनी बिछा कर रहने लगे। भोजन, वस्त्र, पात्र, व्रत और नियम आदि कठिन ऋषिधर्म को प्रेम के साथ करते हैं ॥२॥

भूषन बसन भोग-सुख-भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥३॥

गहना, कपड़ा, और भोग-विलास के समूह-सुख मन, शरीर और वचन से तिनके के समान सम्बन्ध तोड़ दिया। अयोध्या के राज्य को देख कर इन्द्र सिहाते हैं और दशरथजी के धन को सुन कर कुबेर लजाते हैं॥३॥

इन्द्रलोक का राज्य और कुबेर की सम्पत्ति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इन्द्र के सिहाने और कुबेर के लज्जित होने के सम्बन्ध से अयोध्या के राज्य और कोश की अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चञ्चरीक जिमि चम्पक-बागा॥
रमा-बिलास राम-अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥४॥

इस नगर में भरतजी इस प्रकार बिना ममता के रहते हैं, जैसे चम्पा के बाग़ में भ्रमर उदासीन भाव से निवास करता है। लक्ष्मी सम्बन्धी भोग-विलास को बड़े भाग्यवान रामानुरागी जन ऐसे त्याग देते हैं, जैसे लोग उलटी करके उसे घृणा के साथ त्याग देते हैं अर्थात् उस ओर दृष्टिपात की इच्छा नहीं करते॥४॥

दो०—रामप्रेम-भाजन भरत, बड़े न एहि करतूति।
चातक हंस सराहियत, टेक बिबेक बिभूति॥३२४॥

भरतजी रामचन्द्रजी के प्रेमपात्र हैं, इस करनी से बड़े नहीं हैं। चातक और हंस के टेक तथा ज्ञान की महिमा सराही जाती है॥३२४॥

जब रामानुरागी मनुष्य रमा-विलास को वमन के समान त्याग देते हैं, तब रामचन्द्रजी के प्रेमपात्र भरतजी के लिए लक्ष्मी के ऐश्वर्य्य से विरक्त होना कोई बड़ी बात नहीं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

चौ०—देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटै न तेज बल मुख छबि सोई॥
नित नव राम-प्रेम-पन पीना। बढ़त धरम-दल मन न मलीना॥१॥

दिनोंदिन देह दुबली होती जाती है, परन्तु तेज और बल नहीं घटता है; मुख की छवि वैसी ही है। रामचन्द्रजी के प्रेम की प्रतिज्ञा नित्य नवीन दृढ़ हो रही है, धर्म की सेना बढ़ती है और मन कभी उदास नहीं होता॥१॥

दिनोंदिन शरीर का दुर्बल होना तेज, बल और मुख की कान्ति घटने का कारण विद्यमान है। शरीर के दुर्बल होते हुए भी कार्य्य रूप उसका फल न प्रगट होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है।

जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥
सम दम सञ्जम नियम उपासा। नखत भरत-हिय बिमल अकासा॥२॥

जैसे शरद के आगमन से पानी घटने लगता है, आकाश स्वच्छ हो जाता है और

कमल खिलते हैं उसी तरह भरतजी का हृदय निर्मल आकाश रूप है और शम, दम, संयम, नियम और उपवास आदि तारागण रूपी सदा उदय रहते हैं ॥ २ ॥

ध्रुव बिस्वास अवधि राका सी । स्वामि-सुरति सुरबीथि बिकासी ॥
राम-प्रेम-बिधु अचल अदोखा । सहित समाज सोह नित चोखा ॥३॥

विश्वास ध्रुव-तारा रूप है, अवधि पूर्णिमा की रात्रि के समान है, स्वामी की याद देवडगर रूपी उजाला करनेवाला है। रामचन्द्रजी में प्रेम निश्चल कलंक रहित चन्द्रमा रूप है जो अपने समाज के सहित नित्य उत्तमता-पूर्वक शोभायमान हो रहा है ॥ ३ ॥

भरत रहनि समुझनि करतूती । भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं । सेस-गनेस-गिरा-गम नाहीं ॥४॥

भरतजी की स्थिति, उनकी समझ, करनी भक्ति, वैराग्य, गुण और निर्मल महिमा वर्णन करने में सम्पूर्ण सुकवि लज्जित हो जाते हैं, शेष, गणेश और सरस्वती की पहुँच नहीं है ॥ ४ ॥

दो०—नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति ।
माँगि माँगि आयसु करत, राजकाज बहु भाँति ॥३२५॥

प्रभु रामचन्द्रजी के पादुकाओं की नित्य पूजा करते हैं, हृदय में प्रीति समाती नहीं उमड़ी पड़ती है। आज्ञा माँग माँग कर बहुत तरह के राज्य कार्य्य करते हैं ॥ ३२५ ॥

चौ०—पुलकगात हिय सिय रघुबीरू । जीह नाम जप लोचन-नीरू ॥
लखन राम सिय कानन बसहीं । भरतभवनबसितपतनकसहीं॥१॥

शरीर पुलकायमान है, हृदय में सीताजी और रघुनाथजी का रूप वर्तमान है, जीभ से नाम जपते हैं और नेत्रों में प्रेमाश्रु भरा है। लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और सीताजी वन में बसते हैं और भरतजी घर में रह कर शरीर को तप से कसते हैं ॥ १ ॥

दोउदिसिसमुझिकहतसबलोगू । सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं । देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥२॥

दोनों ओर की दशा समझ कर सब लोग कहते हैं कि भरतजी सब तरह सराहने योग्य हैं। उनके व्रत नेम को सुन कर साधु सकुचाते हैं और हालत देख कर मुनिराज लजा जाते हैं ॥ २ ॥

परम पुनीत भरत आचरनू । मधुर मञ्जु मुद-मङ्गल करनू ॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू । महा-मोह-निसि दलन दिनेसू ॥३॥

भरतजी का परम पवित्र आचरण सुनने में मधुर और सुन्दर आनन्द मङ्गल का करने-वाला है। कलियुग के कठिन पाप और कष्टों का हरनेवाला तथा महा-मोह रूपी रात्रि को नसाने में सूर्य्य है ॥ ३ ॥

पाप पुञ्ज कुञ्जर मृगराजू। समन सकल सन्ताप समाजू॥
जन-रञ्जन भञ्जन भव-भारू। राम-सनेह सुधाकर सारू॥४॥

पापों के पुंज रूपी हाथी के लिए सिंह रूप है, सम्पूर्ण सन्तापों के समाज के लिए यमराज रूप (नाशक) है। भक्तों के मन को प्रसन्न करनेवाला और संसार के भार को चूर चूर करनेवाला तथा रामचन्द्रजी के स्नेह रूपी चन्द्रमा का सार (तत्व वस्तु अमृत) है॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

सिय राम प्रेम पियूष पूरन, होत जनम न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम, बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दम्भ दूषन, सुजस मिस अपहरत को
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि, राम सनमुख करत को॥१३॥

यदि भरतजी का जन्म न होता तो सीताराम के प्रेम रूपी अमृत से पूर्ण मुनियों के मन को दुर्गम संयम, नियम, सम, दम और कठोर व्रत कौन करता? अपने सुयश के बहाने दुःख की ज्वाला, दरिद्रता अहङ्कार आदि दोषों को कौन हरता? इस कलिकाल में तुलसी के समान मूर्ख को हठ से रामचन्द्रजी के सन्मुख कौन करता? (कोई नहीं)॥१३॥

सो०—भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिँ।
सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस बिरति॥३२६॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि जो नियम करके (प्रतिदिन) आदर से भरतजी के चरित्र को सुनेंगे, उन्हें सीताराम के चरणों में प्रेम और संसार-सम्बन्धी विषयों के आनन्द से वैराग्य होगा॥३२६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने
विमल विज्ञान वैराग्य सम्पादनो नाम
द्वितीयः सोपानः
समाप्तः।

यह समस्त कलियुग के पापों का नसानेवाला श्रीरामचरितमानस में शुद्ध वैराग्य का सम्पादन नामवाला दूसरा सोपान समाप्त हुआ।

वन्दन पाठक ने अपनी शङ्कावली में लिखा है कि ग्रन्थकार ने सब काण्डों में इति लगाई परन्तु अयोध्याकाण्ड में नहीं। सूक्ष्मरीति से अरण्यकाण्ड के छठीं चौपाई पर इति लगाई है। जब गोस्वामीजी के हाथ की लिखी राजापुर की प्रति में वह वर्तमान है, तब न जाने पाठकजी को यह स्वप्न कैसे हुआ? अयोध्याकाण्ड का मूल पाठ हमने ठीक ठीक कविजी के हस्त-कमल-लिखित प्रति के अनुसार ही रक्खा है, इसमें पाठान्तर का कोई भ्रम नहीं है।

शुभमस्तु-मङ्गलमस्तु
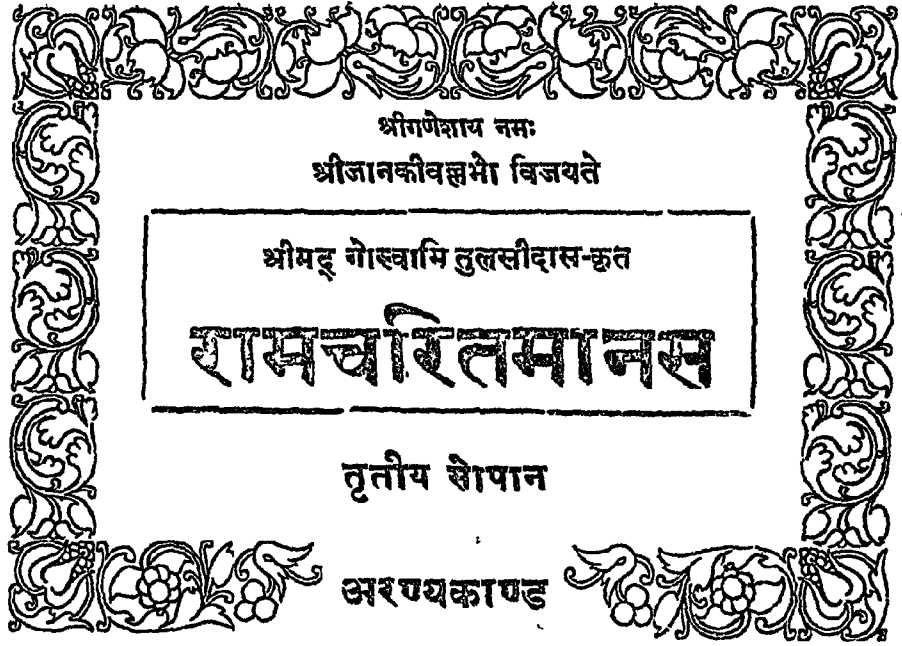
श्रीगणेशाय नमः

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्रीमद् गोस्वामि तुलसीदास-कृत

रामचरितमानस

तृतीय सोपान

अरण्यकाण्ड

शार्दूलविक्रीड़ित-वृत्त ।

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं ।
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनं ध्वान्तापहं तापहम् ॥
मोहाम्भोधर पूगपाटनविधौ स्वः सम्भवं शङ्करं ।
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥१॥

धर्म रूपी वृक्ष के मूल, ज्ञान रूपी समुद्र को आनन्द देनेवाले पूर्ण चन्द्रमा, वैराग्य रूपी कमल के सूर्य्य, पाप-समूह रूपी अन्धकार को दूर करनेवाले, तीनों तापों के छुड़ानेवाले, अज्ञान रूपी बादलों की पाँति विच्छिन्न करने के लिए स्वतः उत्पन्न (पवन) ब्रह्मकुलवाले, कलङ्क के नाशक और श्रीराजा रामचन्द्रजी के प्यारे शङ्कर भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

सभा की प्रति में 'ह्यघघनध्वन्तापहं' और 'श्वासं भवं शङ्करं' पाठ है।

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं ।
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम् ॥
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं ।
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥२॥

सघन आनन्द स्वरूप बादल के समान सुन्दर शरीर और मनोहर पीताम्बर पहने, हाथों में धनुष-बाण लिये, कमर में उत्तम बाणों से भरा तरकस शोभित है। कमल के समान विशाल

नेत्र, जटा का जूड़ा बनाये अच्छी तरह शोभायमान, सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित मार्ग में विचरते हुए आनन्दरूप रामचन्द्रजी को मैं भजता हूँ ॥ २ ॥

सो०—उमा राम-गुन-गूढ़, पंडित मुनि पावहिँ बिरति।
पावहिँ मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धरम-रति ॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! रामचन्द्रजी का चरित्र छिपे भेदों से भरा है; इससे पण्डित और मुनि वैराग्य पाते हैं; किन्तु जो महामूर्ख भगवान से विमुख हैं और जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, वे अज्ञान को प्राप्त होते हैं।

राम गुण गूढ़ से पण्डित मुनि को वैराग्य मिलना और मूर्ख अधर्मियों को अज्ञान प्राप्त, वस्तु एक पर कार्य्य विरुद्ध प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है। इस सोरठा में अरण्य-काण्ड के कथा की सूचना है। अत्रि, सरभङ्ग आदि वैराग्य और खर दूषण रावणादि को मोह प्राप्त होना 'मुद्रा अलङ्कार' है

चौ०—पुर-नर-भरत-प्रीति मैं गाई। मति अनुरूप अनूप सुहाई ॥
अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि भावन ॥१॥

तुलसीदासजी कहते हैं—मैंने अयोध्यानगर-निवासी मनुष्य और भरतजी की सुहावनी अनुपम प्रीति अपनी बुद्धि के अनुसार गान की अब प्रभु रामचन्द्रजी का अत्यन्त पवित्र चरित्र सुनिए, जो वन में देवता, मनुष्य और मुनियों को सुहानेवाला करते हैं ॥ १ ॥

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये ॥
सीतहि पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक-सिला पर सुन्दर ॥२॥

एक बार सुहावने फूलों को चुन कर रामचन्द्रजी ने अपने हाथ से आभूषण बनाये। प्रभु ने उन पुष्पाभरणों को आदर-पूर्वक सीताजी को पहनाये और सुन्दर स्फटिक की चट्टान पर बैठे (शोभायमान हो रहे) हैं ॥२॥

सीताजी के प्रति रामचन्द्रजी के हृदय में प्रीति उत्पन्न हुई, वह रति स्थायीभाव है। सीताजी आलम्बन विभाव हैं। एकान्त स्थल उद्दीपन विभाव है। फूलों को चुन कर उनके गहने बनाना और प्रिया को पहनाना अनुभाव है। चपलतादि सञ्चारी भावों द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर 'संयोग श्रृङ्गार रस' हुआ है।

सुरपति-सुत धरि बायस बेखा। सठ चाहत रघुपति बल देखा ॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महा-मन्द-मति पावन चाहा ॥३॥

इन्द्र का पुत्र (जयन्त) कौए का रूप धारण कर के वह दुष्ट रघुनाथजी का बल देखना (आज़माना) चाहता है। जैसे चींटी समुद्र को थाहना चाहे वैसे ही वह महा नीच-बुद्धि (रघुनाथजी के पराक्रम का थाह) पाना चाहता है ॥३॥

सीता चरन चोँच हति भागा । मूढ़ मन्द-मति-कारन कागा ॥
चला रुधिर रघुनायक जाना । सींक धनुष सायक सन्धाना ॥४॥

वह मूर्ख नीचबुद्धि का हेतु कौआ सीताजी के चरण में चोंच मार कर भगा । जब रक्त बह चला, तब रघुनाथजी ने जाना, धनुष पर सींक का बाण जोड़ा ॥४॥

दो०-अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह ।
ता सन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन-गेह ॥१॥

अत्यन्त कृपालु रघुनाथजी सदा दीनों पर स्नेह करते हैं, वह मूर्ख दुर्गुणों का स्थान (जयन्त) उन से आ कर छल किया ! ॥१॥

चौ०-प्रेरित मन्त्र ब्रह्म-सर धावा । चला भाजि बायस भय पावा ॥
धरि निज-रूप गयउ पितु पाहीँ । रामबिमुख राखा तेहि नाहीँ ॥१॥

मन्त्र से चलाया हुआ ब्रह्मबाण दौड़ा, कौआ भयभीत होकर भाग चला । अपना रूप धारण कर के पिता (इन्द्र) के पास गया, परन्तु रामचन्द्रजी का द्रोही जान कर उन्होंने नहीं रक्खा (रक्षा करने से साफ़ इनकार कर दिया) ॥१॥

भा निरास उपजी मन त्रासा । जथा चक्र-भय रिषि दुर्बासा ॥
ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका । फिरा स्रमित ब्याकुल भय सोका ॥२॥

निराश हो गया, उसके मन में बड़ी त्रास उत्पन्न हुई, जिस प्रकार सुदर्शनचक्र के भय से दुर्वासा ऋषि डरे थे । ब्रह्मलोक कैलास और अन्य सभी लोकों में भागता फिरा, थक कर भय और शोक से व्याकुल हो गया ॥२॥

दुर्वासा ऋषिके चक्र से भयातुर होने की कथा अयोध्या काण्ड में २१७ दोहे के आगे चौथी चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखो ।

काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥
मातु मृत्यु पितु समन समाना । सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना ॥३॥

उसको किसी ने बैठने तक के लिए नहीं कहा, रामचन्द्रजी के द्रोही को कौन रख सकता है ? (कोई नहीं) । कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़ ! सुनिये, उसके लिए माता मृत्यु रूपा और पिता यमराज के समान एवम् अमृत विष हो जाता है ॥ ३ ॥

मित्र करइ सत-रिपु कै करनी । ता कहँ बिबुध-नदी बैतरनी ॥
सब जग तेहि अनलहु तेँ ताता । जो रघुबीर-बिमुख सुनु भ्राता ॥४॥

मित्र सैकड़ों शत्रु की करनी करता है, उसको गङ्गाजी वैतरणी-नदी हो जाती हैं । हे भाई ! सुनिए, जो रघुनाथजी का विरोधी है, उसको सारा संसार अग्नि से भी बढ़ कर तप्त हो जाता है ॥४॥

सभा की प्रति में इस चौपाई के बाद एक दोहा भी है; किन्तु गुटका में वह नहीं है । वह दोहा क्षेपक है ।

नारद देखा बिकल जयन्ता । लागि दया कोमलचित सन्ता ॥
पठवा तुरत राम पहिँ ताही । कहेसि पुकारि प्रनत-हित पाही ॥५॥

नारदजी ने जयन्त को व्याकुल देखा, सन्तों का चित्त कोमल होता है, उन्हें दया लगी। उसको तुरन्त रामचन्द्रजी के पास भेजा, जयन्त ने पुकार कर कहा कि—हे शरणागतों के हितकारी! मेरी रक्षा कीजिए ॥५॥

आतुर सभय गहेसि पद जाई । त्राहि त्राहि दयाल रघुराई ॥
अतुलित-बल अतुलित-प्रभुताई । मैं मति-मन्द जानि नहिँ पाई ॥६॥

इस तरह भयभीत हो शीघ्र जाकर पाँव पकड़ लिया और बार बार कहने लगा कि हे दयालु रघुनाथजी! मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। आप के अनन्त बल और अपार महिमा को मैं नीच-बुद्धि नहीं समझ पाया ॥ ६ ॥

निज कृत करम जनित फल पायउँ । अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥
सुनि कृपाल अति-आरत-बानी । एक नयन करि तजा भवानी ॥७॥

अपने किये कर्मों से उत्पन्न फल को मैं पा गया, हे प्रभो! अब आप की शरण में आश्रय लेने आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। शिवजी कहते हैं—हे भवानी! कृपालु रामचन्द्रजी उसकी अत्यन्त दुःख भरी वाणी सुन कर एक आँख का कर के छोड़ दिया ॥७॥

यहाँ पार्वतीजी ने सन्देह किया कि स्वामिन्! जब उसकी एक आँख फोड़ दी गई, तब कौन सी दया हुई? इस पर शङ्करजी कहते हैं

सो०—कीन्ह मोह-बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर बध उचित ।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर सम ॥ २ ॥

उसने अज्ञान-वश द्रोह किया, यद्यपि उसका वध करना ही उचित था। तो भी प्रभु रामचन्द्रजी ने दया कर के छोड़ दिया, रघुनाथजी के समान दयालु कौन है? ॥२॥

चौ०—रघुपति चित्रकूट बसि नाना । चरित किये स्रुति सुधा समाना ॥
बहुरि राम अस मन अनुमाना । होइहि भीर सबहि मोहि जाना ॥१॥

रघुनाथजी ने चित्रकूट में रह कर नाना तरह के कानों को अमृत के समान (मधुर सुख-दायी) चरित्र किये। फिर रामचन्द्रजी ने मन में ऐसा अनुमान किया कि मुझे सभी ने जान लिया, अब यहाँ भीड़ होगी ॥१॥

साधारण अर्थ के सिवा श्लिष्ट शब्दों द्वारा कविजी एक गुप्त अर्थ को खोल कर कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने मन में विचार किया, मुझे सभी जगह जाना है अब यहाँ रहने से भीर (देरी) होगी 'विवृतोक्ति अलंकार' है।

सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई । सीता सहित चले दोउ भाई ॥
अत्रि के आस्रम जब प्रभु गयऊ । सुनत महामुनि हरषित भयऊ ॥२॥

सम्पूर्ण मुनियों से बिदा होकर सीताजी के सहित दोनों भाई चले। प्रभु रामचन्द्रजी जब अत्रि के आश्रम में गये, सुनते ही महामुनि आनन्दित हुए ॥२॥

पुलकित गात अत्रि उठि धाये । देखि राम आतुर चलि आये ॥
करत दंडवत मुनि उर लाये । प्रेम-बारि दोउ जन अन्हवाये ॥३॥

अत्रिजी पुलकित शरीर से उठ कर दौड़े, मुनि को आते देख कर रामचन्द्रजी तुरन्त आगे बढ़ आये। दण्डवत करते हुए मुनि ने (रामचन्द्रजी को) हृदय से लगा लिया, प्रेम के आँसुओं से दोनों जनों को स्नान कराया ॥३॥

देखि राम छबि नयन जुड़ाने । सादर निज-आस्रम तब आने ।
करि पूजा कहि बचन सुहाये । दिये मूल फल प्रभु मन भाये ॥४॥

रामचन्द्रजी की छवि को देख कर आँखें शीतल हुईं, तब आदर के साथ अपने आश्रम में ले आये। पूजा कर के सुहावने वचन कह कर मूल और फल दिये, वे प्रभु रामचन्द्रजी के मन में अच्छे लगे ॥४॥

सो०—प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन सोभा निरखि ।
मुनिबर परम प्रबीन, जोरि पानि अस्तुति करत ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी आसन पर विराजमान हैं, आँख भर उनकी शोभा देख कर परम प्रवीण मुनिवर (अत्रिजी) हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे ॥३॥

नगस्वरूपिणी-वृत्त ।

नमामि भक्तवत्सलं । कृपालु-शील-कोमलं ॥
भजामि ते पदाम्बुजं । अकामिनां स्वधामदं ॥१॥

हे कृपालु, भक्त वत्सल और कोमल शीलवाले ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। आप के उन चरण-कमलों का सेवन करता हूँ जो कामना-रहित प्राणियों को अपना धाम (वैकुण्ठ) देते हैं ॥१॥

निकाम-श्याम-सुन्दरं । भवाम्बुनाथ-मन्दरं ॥
प्रफुल्ल-कञ्ज-लोचनं । मदादि-दोष-मोचनं ॥२॥

आप का श्यामल शरीर अत्यन्त सुन्दर है, संसार रूपी समुद्र को मथनेवाले आप मन्दर-पर्वत हैं। खिले हुए कमल के समान नेत्र हैं और आप घमण्ड आदि दोषों को छुड़ानेवाले हैं ॥२॥

प्रलम्ब-बाहु-बिक्रमं । प्रभोऽप्रमेय वैभवं ॥
निषङ्ग-चाप-सायकं । धरं त्रिलोक-नायकं ॥३॥

हे प्रभो ! आप की लम्बी भुजाओं का पराक्रम और आप का ऐश्वर्य्य अतुलनीय है। तरकस और धनुष-बाण धारण किये आप तीनों लोकों के स्वामी हैं ॥३॥

दिनेश-वंश-मण्डनं । महेश-चाप-खण्डनं ॥
मुनीन्द्र-सन्त-रञ्जनं । सुरारि-वृन्द-भञ्जनं ॥४॥

आप सूर्य्य-वंश के आभूषण और शिवजी के धनुष को तोड़नेवाले हैं। मुनिराज और सन्तजनों को आनन्दित करनेवाले तथा दैत्य-समूह के नाशक हैं ॥ ४ ॥

मनोजवैरि-वन्दितं । अजादि-देव-सेवितं ।
विशुद्धबोध-विग्रहं । समस्त-दूषणापहं ॥५॥

कामदेव के वैरी (शिवजी) से वन्दनीय और ब्रह्मा आदि देवताओं से सेवा किये गये आप विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप हैं तथा सम्पूर्ण दोषों के हरनेवाले हैं ॥ ५ ॥

नमामि इन्दिरापतिं । सुखाकरं सतां गतिं ॥
भजे सशक्ति सानुजं । शची-पति-प्रियानुजं ॥६॥

हे लक्ष्मीकान्त, सुख की खान, सज्जनों के गति रूप ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। शक्ति (सीताजी) के सहित और छोटे भाई (लक्ष्मण) के समेत मैं आप को भजता हूँ, आप शचीपति (इन्द्र) के छोटे प्रिय-बन्धु हैं ॥ ६ ॥

इन्द्र अदिति के पुत्र हैं। राजा बलि के यज्ञ करते समय उनसे पृथ्वी ले कर इन्द्र को देने के लिए अदिति के व्रत से सन्तुष्ट हो भगवान् ने उसकी कोख से वामन अवतार लिया था। इसी से इन्द्र के अनुज 'उपेन्द्र' कहलाते हैं।

त्वदङ्घ्रि मूल ये नरा । भजन्ति हीन-मत्सराः ॥
पतन्ति नो भवार्णवे । वितर्क-वीचि सङ्कुले ॥७॥

जो मनुष्य डाह रहित हो कर आप के चरण-चिह्नों को भजते हैं। वे कुतर्क रूपी तरङ्गों से खूब भरे हुए संसार रूपी समुद्र में नहीं गिरते ॥ ७ ॥

विविक्तवासिनस्सदा । भजन्ति मुक्तये मुदा ॥
निरस्य इन्द्रियादिकं । प्रयान्ति ते गतिं स्वकं ॥८॥

एकान्तवासी महात्मा मुक्ति के लिए सदा आनन्द से आप को भजते हैं। वे इन्द्रियादि सुखों से उदासीन हो कर अपनी गति (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं । निरीहमीश्वरं विभुं ॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं । तुरीयमेव केवलं ॥९॥

आप अद्वितीय, विलक्षण स्वामी, चेष्टारहित, ईश्वर और समर्थ हैं। जगत् के गुरु, नित्य, तुरीयावस्था (मोक्ष स्वरूप) ही और शुद्ध हैं ॥ ९ ॥

एक रामचन्द्रजी का बहुत तरह से वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है।

भजामि भाववल्लभं । कुयोगिनां सुदुर्लभं ॥
स्वभक्त-कल्पपादपं । समं सुसेव्यमन्वहं ॥१०॥

आप को प्रेम प्रिय है, कुयोगियों (विषयी प्राणियों) को अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तों के लिए कल्पवृक्ष के समान (न किसी के शत्रु न मित्र) और निरन्तर सेवा करने योग्य हैं, मैं आप को भजता हूँ ॥ १० ॥

अनूप रूप भूपतिं । नतोऽहमुर्विजापतिं ॥
प्रसीद मे नमामि ते । पदाब्ज भक्ति देहि मे ॥११॥

राजा का अनुपम रूप लिये, जानकीजी के स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ । आप मुझ पर प्रसन्न हो कर अपने चरण-कमलों में भक्ति दीजिये, मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥

पठन्ति ये स्तवं इदं । नरादरेण ते पदं ॥
व्रजन्ति नात्र संशयः । त्वदीयभक्ति संयुताः ॥१२॥

जो मनुष्य आदर से इस स्तोत्र का पाठ करते हैं, वे आप की भक्ति से युक्त हो कर आप के पद (वैकुण्ठधाम) को चले जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ १२ ॥

दो०—बिनती करि मुनि नाइ सिर, कह कर जोरि बहोरि ।
चरन सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि ॥४॥

मुनि ने विनती करके मस्तक नवाया, फिर हाथ जोड़ कर कहने लगे । हे नाथ ! मेरी बुद्धि आप के चरण-कमलों को कभी न छोड़े ॥ ४ ॥

चौ०—अनसूया के पद गहि सीता । मिली बहोरि सुसील बिनीता ॥
रिषि-पतनी-मन सुख अधिकाई । आसिष देइ निकट बैठाई ॥१॥

फिर सीताजी सुन्दर शील और नम्रता से अनसूया के पाँव पकड़ कर मिलीं । ऋषि-पत्नी के मन में बड़ा आनन्द हुआ, आशीर्वाद दे कर पास में बैठाया ॥ १ ॥

दिव्य बसन भूषन पहिराये । जे नित नूतन अमल सुहाये ॥
कह रिषि-बधू सरस मृदु बानी । नारि-धरम कछु ब्याज बखानी ॥२॥

दिव्य वस्त्र और गहने (सीताजी को) पहनाये जो नित्य नये, निर्मल और सुहावने रहते हैं । ऋषि-पत्नी रसीली कोमल वाणी से कुछ स्त्री-धर्म बहाने से बखान कर कहती हैं ॥२॥
कहती तो सीताजी से हैं, परन्तु उद्देश्य संसार के प्रति 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है ।

मातु-पिता-भ्राता हितकारी । मित-प्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित-दानि भर्त्ता बैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥३॥

हे राजकुमारी ! सुनो, माता पिता और भाई इन सब की हितकारिता तौली हुई है । परन्तु हे विदेहनन्दिनी ! पति बे प्रमाण आनन्द देनेवाला है, वह स्त्री अधम है जो पति की सेवा नहीं करती ॥३॥

धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपदकाल परखियहि चारी॥
बृद्ध रोग-बस जड़ धन-हीना। अन्ध बधिर क्रोधी अतिदीना॥४॥

धीरज, धर्म, मित्र और स्त्री चारों की आपत्काल में प्रतीक्षा करनी चाहिये अर्थात् विपत्ति में भी इनका त्याग न करे। बूढ़ा, रोग के अधीन, मूर्ख, दरिद्री, अन्धा, बहिरा, क्रोधी और अत्यन्त दीन॥४॥

आपदकाल परखियहि चारी, इसका अर्थ कुछ लोग इस प्रकार भी करते हैं—"विपत्ति काल में इन चारों की परीक्षा करनी चाहिए अर्थात् आपद के समय जो साथ रहे वही धैर्य, वही धर्म वही मित्र और वही स्त्री है"।

ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥५॥

ऐसे पति का भी अपमान करने से स्त्री यमपुरी में नाना प्रकार का दुःख पाती है। स्त्रियों के लिए एक ही धर्म एक ही व्रत और एक ही नियम है कि शरीर, वचन एवम् मन से पति के चरणों में प्रीति करे॥५॥

जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान सन्त सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥६॥

वेद, पुराण और सज्जन सब कहते हैं कि संसार में पतिव्रता चार प्रकार की हैं। उत्तम के मन में ऐसा रहता है कि जगत् में दूसरा पुरुष स्वप्न में भी नहीं है॥६॥

ऊपर चार प्रकार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम पतिव्रता कह कर क्रम से उनके लक्षण गिनाते हैं। सभा की प्रति में जग पतिव्रता के आगे एक दोहा भी है, पर वह अनावश्यक और क्षेपक प्रतीत होता है। जब नीचे की चौपाइयों में क्रम से चारों के लक्षण वर्णन हैं, तब दोहा जो पुनरुक्ति दोष लाता है उसकी कोई ज़रूरत नहीं है। इसी प्रकार जयन्त के भागने में 'जिमि जिमि भाजत सक्रसुत, व्याकुल अति दुख दीन इत्यादि दोहा है। ये दोनों दोहे गुटका में नहीं हैं और प्रसङ्ग में मिलते नहीं, इससे क्षेपक जान कर हमने छोड़ दिया है।

मध्यम पर-पति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धरम बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट-तिय स्रुति अस कहई॥७॥

मध्यम पराये पुरुष को कैसे देखती है जैसे अपना भाई, पिता और पुत्र। जो धर्म को विचार और कुल को समझ कर रह जाती है, वेद ऐसा कहता है कि वह निकृष्ट स्त्री है॥७॥

बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई॥
पति-बञ्चक पर-पति रति करई। रौरव-नरक कलप सत परई॥८॥

बिना समय के जो डर से रह जाती है अर्थात् पर-पुरुष से मिलने की इच्छा की; किन्तु मौक़ा न मिलने के कारण भय से बच जाती है, जगत् में उसको अधम पतिव्रता स्त्री जानो।

जो अपने पति को धोखा दे कर पराये पुरुष से प्रेम करती है, वह सौ कल्प पर्य्यन्त रौरव-नरक में पड़ती है ॥८॥

छन सुख लागि जनम सतकोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु स्रम नारि परमगति लहई। पतिब्रत-धरम छाड़ि छल गहई॥९॥

क्षण भर के सुख के लिये जो असंख्यों जन्म के दुःख को नहीं समझतीं, उसके समान खोटी कौन है? बिना परिश्रम स्त्री उत्तम गति पाती है जो छल छोड़ कर पतिव्रत-धर्म ग्रहण करती है ॥९॥

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥१०॥

जो पति के प्रतिकूल होती है, वह जहाँ जा कर जन्म लेती है, जवानी पाने पर विधवा हो जाती है ॥१०॥

सो०—सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जस गावत स्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

स्त्री स्वभाव ही से अपवित्र होती हैं, वे पति की सेवा करने से अच्छी गति पाती हैं। चारों वेद यश गाते हैं, अब भी तुलसी (वृन्दा) भगवान् को प्यारी है।

प्रथम कही हुई बात का हेतुसूचक बात कह कर समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है वृन्दा का संक्षिप्त वृत्तान्त बालकाण्ड में १२३ दोहा देखो।

सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रान-प्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित॥५॥

हे सीता! सुनो, तुम्हारा नाम स्मरण कर स्त्रियाँ पतिव्रत-धर्म-पालन करेंगी। तुम्हें रामचन्द्रजी प्राण-प्रिय हैं, यह कथा मैं ने संसार के हित के लिए कही है ॥५॥

चौ०—सुनि जानकी परम सुख पावा। सादर तासु चरन सिर नावा॥
तब मुनि सन कह कृपानिधाना। आयसु होइ जाउँ बन आना॥१॥

सुन कर जानकजी ने अत्यन्त सुख पाया और आदर के साथ अनसूया के चरणों में सिर नवाया। तब कृपानिधान रामचन्द्रजी ने अत्रि मुनि से कहा कि आज्ञा हो तो दूसरे वन में जाऊँ ॥१॥

सन्तत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥
धरम-धुरन्धर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनिज्ञानी॥२॥

निरन्तर मुझ पर कृपा कीजियेगा सेवक समझ कर स्नेह न छोड़ियेगा। धर्म धुरन्धर प्रभु रामचन्द्रजी की वाणी सुन कर ज्ञानीमुनि प्रेम से बोले ॥२॥

जासु कृपा अज सिव सनकादी । चहत सकल परमारथबादी ॥
ते तुम्ह राम अकाम पियारे । दीनबन्धु मृदु बचन उचारे ॥३॥

'जिसकी कृपा ब्रह्मा, शिव, सनकादि और सम्पूर्ण परमार्थवादी (तत्वज्ञ) चाहते हैं । हे रामचन्द्रजी ! वही आप निष्काम जनों के प्यारे, दीनों के सहायक इस तरह कोमल वचन कहे हैं ॥३॥

अब जानी मैं स्री चतुराई । भजिय तुम्हहिं सब देव बिहाई ॥
जेहि समान अतिसय नहिं कोई । ता कर सील कस न अस होई ॥४॥

अब आप की चतुराई मैं ने समझी कि सब देवताओं को छोड़ कर आप ही को भजना चाहिए । जिसकी बराबरी में बढ़ कर कोई नहीं है, उसका शील ऐसा क्यों न हो ? ॥४॥

वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर है कि जैसे आप सब से बड़े हैं, वैसे ही आप का शील सर्वश्रेष्ठ है । यह तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है ।

केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी । कहहु नाथ तुम अन्तरजामी ॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा । लोचन जल बह पुलक सरीरा ॥५॥

हे स्वामी ! अब यह किस तरह कहूँ कि जाइये, हे नाथ ! आप अन्तर्यामी हैं, आप ही कहिए । ऐसा कह कर प्रभु रामचन्द्रजी को देख धीरमुनि का शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों से जल बहने लगा ॥५॥

प्रेम से नेत्रों द्वारा जल बहना और शरीर रोमाञ्चित होना सात्विक अनुभाव है ।

हरिगीतिका-छन्द ।

तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन, नयन मुख-पङ्कज दिये ।
मन-ज्ञान-गुन-गोतीत प्रभु मैं, दीख जप तप का किये ॥
जप जोग धरम-समूह ते नर, भगति अनुपम पावई ।
रघुबीर-चरित पुनीत निसि दिन, दासतुलसी गावई ॥१॥

शरीर पुलक और पूर्ण-प्रेम से भरा हुआ है तथा नेत्र मुख-कमल में लगाये हैं । विचारते हैं कि जो परमात्मा मन, ज्ञान, गुण और इन्द्रियों से परे हैं; मैं ने उनका दर्शन पाया, वह कौन सा जप तप किया था ? जप, योग और धर्म-समूह कर के मनुष्य जिनकी अनुपम भक्ति को पाते हैं । उन्हीं रघुनाथजी के पवित्र यश को दिन रात तुलसीदास गाते हैं ॥१॥

दो०—कलिमल समन दमन दुख, राम सुजस सुखमूल ।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर, राम रहहिं अनुकूल ॥

रामचन्द्रजी का सुन्दर यश कलि के पापों का नाशक, दुःख को दबानेवाला और आनन्द का मूल है । इसको जो आदर से सुनते हैं उन पर रामचन्द्रजी प्रसन्न रहते हैं ।

सो०—कठिन काल मल-कोस, धरम न ज्ञान न जोग जप ।
परिहरि सकल भरोस, रामहिँ भजहिँ ते चतुर नर ॥६॥

यह कलिकाल बड़े ही कठोर पापों का भण्डार है, इसमें न धर्म, न ज्ञान, न योग और न जप है। सब का भरोसा छोड़ कर जो रामचन्द्रजी को भजते हैं वे ही मनुष्य चतुर हैं ॥ ६ ॥

चौ०—मुनि पद कमल नाइ करि सीसा । चले बनहिँ सुर नर मुनि ईसा ॥
आगे राम अनुज पुनि पाछे । मुनिबर बेष बने अति काछे ॥१॥

देवता, मनुष्य और मुनियों के स्वामी मुनि के चरण-कमलों में मस्तक नवा कर वन को चले। आगे रामचन्द्रजी फिर उनके पीछे छोटे भाई लक्ष्मणजी श्रेष्ठ मुनियों के अत्यन्त सुन्दर वेश बनाये हैं ॥१॥

उभय बीच सिय सोहइ कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥
सरिता बन गिरि अवघट घाटा । पति पहिचानि देहिँ बर बाटा ॥२॥

दोनों भाइयों के बीच में किस तरह सीताजी शोभित हो रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया सोहती है। नदी, वन, पर्वत और दुर्गम घाट स्वामी को पहचान कर सब अच्छा मार्ग कर देते हैं ॥२॥

यही चौपाई अयोध्याकाण्ड में १२२ दोहे के आगे है। वहाँ इस प्रकार पाठ है—"आगे राम लखन बने पाछे। तापस वेष विराजत काछे॥ उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

जहँ जहँ जाहिँ देव रघुराया । करहिँ मेघ तहँ तहँ नभ छाया ॥
मिला असुर बिराध मग जाता । आवतही रघुबीर निपाता ॥३॥

जहाँ जहाँ देव रघुनाथजी जाते हैं, वहाँ वहाँ आकाश में बादल छाया करते हैं। मार्ग में जाते हुए विराध राक्षस मिला, आते ही रामचन्द्रजी ने उसका नाश किया ॥३॥

विराध दैत्य का सामने आना कारण और निपात होना कार्य्य एक साथ ही वर्णन 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है। विराध पूर्वजन्म में गन्धर्व था। कुवेर की सेवा करने में चूक गया, उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तू जा कर राक्षस हो। गन्धर्व के बहुत प्रार्थना करने पर उद्धार बतलाया कि परमात्मा रामचन्द्र के हाथ वध होने से तू अपनी गति पावेगा। आज वह अपनी गति को प्राप्त हुआ।

तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा । देखि दुखी निजधाम पठावा ॥
पुनि आये जहँ मुनि सरभङ्गा । सुन्दर अनुज जानकी सङ्गा ॥४॥

तुरन्त ही उसने सुहावना रूप पाया, उसे दुःखी देख कर अपने लोक को भेजा। फिर सुन्दर छोटे भाई लक्ष्मण और जानकीजी के साथ जहाँ शरभङ्ग-मुनि रहते थे वहाँ आये ॥४॥

दो०—देखि राम-मुख-पङ्कज, मुनिबर-लोचन-भृङ्ग ।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभङ्ग ॥७॥

रामचन्द्रजी के मुख रूपी कमल को देख कर मुनिवर के भ्रमर रूपी नेत्र आदर के साथ (छबि रूपी मकरन्द) पान करते हैं, शरभङ्ग मुनि का जन्म अतिशय धन्य है ॥७॥

चौ०—कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला । सङ्कर मानस राजमराला ॥
जात रहेउँ बिरञ्चि के धामा । सुनेउँ स्रवन बन अइहहिँ रामा ॥१॥

मुनि ने कहा—हे कृपालु रघुवीर! सुनिए, आप शङ्करजी के मन रूपी मानसरोवर के राजहन्स हैं। मैं ब्रह्मा के लोक को जाता था, कान से सुना कि रामचन्द्रजी वन में आवेंगे (तब ब्रह्मधाम जाने का विचार त्याग दिया) ॥ १ ॥

'मानस' शब्द में जब तक श्लेष न मानें और उसके दो अर्थ 'मन' तथा मानसरोवर' न लगावें तब तक रूपक का चमत्कार न भासेगा।

चितवत पंथ रहेउँ दिन राती । अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती ॥
नाथ सकल साधन मैं हीना । कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥२॥

दिन रात मैं रास्ता निहारता था, अब स्वामी को देख कर छाती ठण्ढी हुई। हे नाथ! मैं सम्पूर्ण साधनों से रहित हूँ, आप ने मुझे दीनजन जान कर दया की है ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी का दर्शन चितचाही बात शरभङ्ग मुनि को विना किसी यत्न के बैठे बिठाये हुई 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' है।

सो कछु देव न मोहि निहोरा । निज पन राखेहु जन-मन-चोरा ॥
तब लगि रहहु दीन हित लागी । जबलगि मिलउँ तुम्हहिँ तनु त्यागी ॥३॥

हे देव! वह कुछ मुझ पर एहसान नहीं है, आप भक्तजनों के मन को चुरानेवाले हैं; अपनी प्रतिज्ञा (जो मोहि भजै भजौं मैं ताही) को रक्खा है। इस दीन की भलाईके लिए तब-तक ठहर जाइये जब तक मैं शरीर त्याग कर आप में मिल न जाऊँ ॥३॥

जोग जग्य जप तप जत कीन्हा । प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा ॥
एहि बिधि सर रचि मुनि सरभङ्गा । बैठे हृदय छाड़ि सब सङ्गा ॥४॥

योग, यज्ञ, जप और तपस्या जितनी की थी, वह प्रभु रामचन्द्रजी को अर्पण कर के भक्ति का वरदान लिया। इस तरह चिता रच कर शरभङ्ग मुनि हृदय से सब साथ त्याग कर उस पर बैठे ॥ ४ ॥

दो०—सीता-अनुज समेत प्रभु, नील-जलद-तनु स्याम ।
मम हिय बसहु निरन्तर, सगुन-रूप श्रीराम ॥८॥

शरभङ्ग ऋषि बोले—हे प्रभो! सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित नीले बादल के समान श्याम शरीर सगुण-रूप श्रीरामचन्द्रजी आप सदा मेरे हृदय में निवास कीजिए ॥८॥

चौ०—अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा । रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥
ता तें मुनि हरि लीन न भयऊ । प्रथमहिं भेद-भगति बर लयऊ ॥१॥

ऐसा कह कर योगाग्नि में शरीर जला दिया और रामचन्द्रजी की कृपा से वैकुण्ठ को चले गये। मुनि इसलिए भगवान् में लीन नहीं हुए कि उन्होंने पहले ही भेद-भक्ति (सगुन उपासक मोक्ष न लेहीं) का वर माँग लिया था ॥१॥

भेदभक्ति उसको कहते हैं जिसमें सेवक-सेव्य भाव का सिद्धान्त अटल रहता है।

रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी । सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥
अस्तुति करहिं सकल मुनि बृन्दा । जयति प्रनत-हितकरुनाकन्दा ॥२॥

ऋषि-समुदाय मुनिवर (शरभङ्ग) की गति देख कर अपने हृदय में अधिक सुखी हुए। सम्पूर्ण मुनि-मण्डली स्तुति करती है कि हे भक्तों के हितकारी, दया के मेघ! आपकी जय हो ॥२॥

शरभङ्ग मुनि की गति देख कर ऋषि समुदाय का अधिक प्रसन्न होना तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है। मुनि के हितकारी हैं तो मेरा भी कल्याण करेंगे, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर है।

पुनि रघुनाथ चले बन आगे । मुनिबर बृन्द बिपुल सँग लागे ॥
अस्थिसमूह देखि रघुराया । पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया ॥३॥

फिर रघुनाथजी आगे वन में चले और बहुत से मुनिवरों का झुण्ड उनके साथ लग गया। रघुनाथजी ने हड्डियों की ढेरी देखी; तब उन्हें बड़ी दया लगी और मुनियों से पूछा (यहाँ हाड़ों का ढेर क्यों लगा है?) ॥३॥

करुणा-जनक दृश्य देख कर दयालु रघुनाथजी को दया का होना 'परिकर अलंकार' है।

जानतहू पूछिय कस स्वामी । सबदरसी तुम्ह अन्तरजामी ॥
निसिचर-निकर सकल मुनि खाये । सुनि रघुनाथ नयन जल छाये ॥४॥

ऋषियों ने कहा—हे स्वामिन्! जानते हुए आप क्यों पूछते हैं? आप सब देखनेवाले और अन्तःकरण की बात जाननेवाले हैं। राक्षसों के समुदाय ने समस्त मुनियों को खाया है, यह सुन कर रघुनाथजी के नेत्रों में जल भर आया ॥४॥

दो०—निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आस्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥९॥

रामचन्द्रजी ने भुजा उठा कर प्रतिज्ञा की कि पृथ्वी को मैं बिना राक्षसों की करूँगा। सम्पूर्ण मुनियों के आश्रमों में जा कर उन्हें सुख दिया ॥९॥

मुनि लोग राक्षसों का संहार चाहते ही थे, वही बात बिना किसी प्रयत्न के उनके आश्रमों में जा जा कर रामचन्द्रजी ने पूर्ण करने का प्रण किया। 'प्रथमप्रहर्षण अलंकार' है।

चौ०—मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना । नाम सुतीछन रति भगवाना ॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥१॥

अगस्तमुनि का चतुर शिष्य जिनका सुतीक्ष्ण नाम था और भगवान् के चरणों में उनकी प्रीति थी। मन, कर्म और वचन से वे रामचन्द्रजी के चरणसेवक थे, स्वप्न में भी दूसरे देवता का उन्हें विश्वास नहीं था ॥१॥

प्रभु आगवन स्रवन सुनि पावा । करत मनोरथ आतुर धावा ॥
हे बिधि दीनबन्धु रघुराया । मो से सठ पर करिहहिं दाया ॥२॥

प्रभु रमचन्द्रजी का आगमन कान से सुन पाया, मनोरथ करते हुए शीघ्रता से दौड़ा। हे विधाता! रघुनाथजी दीनबन्धु हैं, क्या मेरे समान दुष्ट पर भी दया करेंगे? ॥२॥

सहित अनुज मोहि राम गोसाँई । मिलिहहिं निज सेवक की नाँई ।
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं । भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं ॥३॥

स्वामी रामचन्द्रजी छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित मुझसे अपने सेवक की तरह मिलेंगे? मेरे हृदय में पक्का भरोसा नहीं है और भक्ति वैराग्य, ज्ञान मन में नहीं है ॥३॥

भरोसा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मुनि के मन में वर्त्तमान है; परन्तु सही बात को काकु से नहीं करना काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग है।

नहिँ सतसङ्ग जोग जप जागा । नहिँ दृढ़ चरन कमल अनुरागा ॥
एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जा के गति न आन की ॥४॥

न तो मैं ने सत्सङ्ग, योग, जप, यज्ञ किया और न चरण-कमलों में दृढ़ प्रेम ही है। दया-निधान रामचन्द्रजी का एक स्वभाव है कि उनको वह प्रिय है जिसको दूसरे का सहारा नहीं है ॥ ४ ॥

होइहहिँ सुफल आजु मम लोचन । देखि बदन-पङ्कज भव-मोचन ॥
निर्भर-प्रेम-मगन मुनि-ज्ञानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥५॥

संसार से छुड़ानेवाले कमल के समान सुन्दर मुख देख कर आज मेरी आँखें सफल होंगी। शिवजी कहते हैं—हे भवानी! ज्ञानीमुनि भरपूर प्रेम में मग्न हैं, उनकी वह दशा कही नहीं जाती है ॥ ५ ॥

दिसि अरु बिदिसि पन्थ नहिँ सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिँ बूझा ॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई । कबहुँक नृतय करइ गुन गाई ॥६॥

दिशा, दिशाओं के कोण और रास्ता नहीं सूझता है, मैं कौन हूँ और कहाँ जाता हूँ; इसका ज्ञान नहीं रह गया। कभी लौट कर फिर पीछे जाते हैं और कभी गुण गान कर नाचने लगते हैं ॥ ६ ॥

अबिरल प्रेम-भगति मुनि पाई । प्रभु देखहिँ तरु ओट लुकाई ॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदय हरन भव भीरा ॥७॥

मुनि प्रेमलक्षणा अविच्छिन्न भक्ति पा कर मग्न हैं, प्रभु रामचन्द्रजी वृक्ष की ओट में छिप कर (उनका कौतुक) देखते हैं। संसार की व्यथा के हरनेवाले रघुनाथजी अत्यन्त प्रीति देख कर मुनि के हृदय में प्रकट हुए ॥ ७ ॥

मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस-फल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आये । देखि दसा निज जन मन भाये ॥८॥

रास्ते में मुनि निश्चल हो कर बैठ गये, उनका शरीर कटहल के फल की तरह रोमाञ्चित हो गया। तब रघुनाथजी चल कर पास आये और अपने भक्त की दशा देख कर मन में प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान-जनित सुख पावा ॥
भूप-रूप तब राम दुरावा । हृदय चतुर्भुज-रूप देखावा ॥९॥

रामचन्द्रजी ने मुनि को बहुत तरह से जगाया, पर वे सचेत नहीं हुए, क्योंकि ध्यान से होनेवाले आनन्द को प्राप्त हैं। तब रामचन्द्रजी ने उनके हृदय से राजा का स्वरूप छिपा कर चतुर्भुज रूप दिखाया ॥ ९ ॥

पहले सुतीक्ष्ण मुनि के हृदय में राजा रामचन्द्र का रूप था, फिर क्रम से विष्णु भगवान का चतुर्भुज रूप आया 'द्वितीय पर्य्याय अलंकार' है।

मुनि अकुलाइ उठा पुनि कैसे । बिकल हीन-मनि फनिवर जैसे ॥
आगे देखि राम तन-स्यामा । सीता अनुज सहित सुख-धामा ॥१०॥

फिर मुनि कैसे व्याकुल हो उठे, जैसे मणि के बिना साँप घबरा जाता है। सुख के धाम श्याम शरीर रामचन्द्रजी को सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित सामने देख कर— ॥ १० ॥

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी । प्रेम-मगन मुनिवर बड़भागी ।
भुज-बिसाल गहि लिये उठाई । परम-प्रीति राखे उर लाई ॥११॥

बड़े भाग्यवान मुनिश्रेष्ठ प्रेम में मग्न हो लकड़ी की तरह भूमि पर गिर कर चरणों में लगे। रामचन्द्रजी ने अपनी विशाल भुजाओं से पकड़ उन्हें उठा लिया और अत्यन्त प्रीति-पूर्वक छाती से लगा रक्खा ॥ ११ ॥

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला । कनकतरुहि जनु भेंट तमाला ॥
राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा । मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा ॥१२॥

कृपालु रामचन्द्रजी मुनि से मिलते हुए ऐसे शोभित हो रहे हैं, मानों सुवर्ण के वृक्ष से तमाल का पेड़ भेंटता हो। मुनि खड़े हो रामचन्द्रजी का मुख देखते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों तसवीर में लिख कर उरेहे हों ॥ १२ ॥

तमाल वृक्ष और रामचन्द्रजी, सोने का पेड़ और मुनिवर परस्पर उपमान उपमेय हैं। सुवर्ण का विटप नहीं होता और वृक्ष जड़ हैं वे आपस में मिलते नहीं, केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार ।
निज-आस्रम प्रभु आनि करि, पूजा बिबिध प्रकार ॥१०॥

तब मुनि ने हृदय में धीरज धर कर बार बार पाँव पकड़े। अपने आश्रम में प्रभु रामचन्द्रजी को ले आ कर नाना प्रकार से पूजन किया ॥१०॥

चौ०—कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करउँ कवन बिधि तोरी ॥
महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सनमुख खद्योत अँजोरी ॥१॥

मुनि ने कहा हे—स्वामिन्! मेरी बिनती सुनिए, मैं किस प्रकार आप की स्तुति करूँ। आप की महिमा बहुत बड़ी है और मेरी बुद्धि थोड़ी है, सूर्य्य के सामने जुगुनू का प्रकाश (कैसे हो सकता है?) ॥ १ ॥

महिमा बड़ी और बुद्धि थोड़ी है, यह उपमेय वाक्य है। सूर्य्य के सम्मुख खद्योत का प्रकाश उपमान वाक्य है। बिना बाचक पद के समता दिखलाई जाती है। दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकता है अर्थात् जैसे अल्पबुद्धि से बड़ी महिमा नहीं कही जा सकती, वैसे सूर्य्य की प्रभा के आगे जुगुनू प्रकाशित नहीं हो सकता। यह "दृष्टान्त अलंकार" है।

स्याम तामरस दाम सरीरं। जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं ॥
पानि चाप सर कटि तूनीरं। नौमि निरन्तर श्रीरघुबीरं ॥२॥

श्याम कमल की माला के समान शरीर, जटा का मुकुट बनाये और मुनियों के वस्त्र पहने हुए, हाथ में धनुष-बाण लिये, कमर में तरकस कसे श्रीरघुनाथजी को मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥२॥

मोह बिपिन घन गहन कृसानुः। सन्त सरोरुह-कानन-भानुः ॥
निसिचर करिबरूथ मृगराजः। त्रातु सदा नो भव-खग बाजः ॥३॥

मोह रूपी कठिन दुर्भेद्य वन के लिये अग्नि, सन्त रूपी कमल-वन के सूर्य्य, राक्षस रूपी हाथी के झुण्ड के लिये सिंह और संसार रूपी पक्षी के हेतु बाज रूपी आप मेरी रक्षा कीजिए ॥ ३ ॥

अरुन-नयन-राजीव सुबेसं। सीता नयन-चकोर निसेसं ॥
हर-हृदि-मानस राजमरालं। नौमि राम उर-बाहु-बिसालं ॥४॥

लाल कमल के समान नेत्र, सुन्दर वेष और सीताजी के लोचन रूपी चकोर के चन्द्रमा, शिवजी के हृदय रूपी मानसरोवर के राजहंस, विशाल छाती तथा भुजाओंवाले रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४॥

संसय-सर्प ग्रसन उरगादः । समन सुकर्कस-तर्क-बिषादः ॥
भव-भञ्जन रञ्जन-सुर-यूथः । त्रातु सदा नो कृपा-बरूथः ॥५॥

संशय रूपी साँप को ग्रसने के लिये गरुड़, अत्यन्त कठोर तर्कों के दुःख के नसानेवाले, संसार की बाधा को चूर चूर करनेवाले, देवतावृन्द को प्रसन्न कारक, कृपा के राशि रामचन्द्रजी सदा हमारी रक्षा कीजिये ॥५॥

निर्गुन-सगुन बिषम-सम-रूपं । ज्ञान-गिरा-गोतीतमनूपं ॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं । नौमि राम भञ्जन-महि-भारं ॥६॥

निर्गुण, सगुण, विषम और सम रूप, ज्ञान तथा इन्द्रियों से परे अनुपम हो। निर्मल, सम्पूर्ण, निर्दोष, अत्यन्त, धरती का बोझ नसानेवाले रामचन्द्रजी को नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

निर्गुण भी और सगुण भी, विषम रूप भी और सम रूप भी। इस वर्णन में विरोध सा भासता है; किन्तु विरोध नहीं है, क्योंकि ईश्वर का रूप वेदों ने ऐसा ही वर्णन किया है। यह 'विरोधाभास अलंकार' है।

भक्त-कल्पपादप-आरामः । तर्जन क्रोध-लोभ-मद-कामः ॥
अति-नागर भवसागर सेतुः । त्रातु सदा दिनकर कुल केतुः ॥७॥

भक्तों के लिये कल्पवृक्ष के बगीचा, क्रोध, लोभ, घमण्ड और काम को डरानेवाले, अत्यन्त चतुर, संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिये सेतु, सूर्य्य कुल के पताका रामचन्द्रजी सदा मेरी रक्षा कीजिए ॥ ७ ॥

अतुलित-भुज-प्रताप-बल-धामं । कलिमल बिपुल बिभञ्जन नामं ॥
धर्म बर्म नर्मद गुन-ग्रामं । सन्तत सन्तनोतु मम रामं ॥८॥

आप की भुजाओं का अतुलनीय प्रताप है वे बल की आगार हैं, आप का नाम अपरिमित पापों को नसानेवाला है। धर्म के लिये कवच रूप; जिनके गुण-समूह आनन्द देनेवाले हैं, ऐसे रामचन्द्रजी सदा मेरा कल्याण कीजिए ॥८॥

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी । सब के हृदय निरन्तर बासी ॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी । बसतु मनसि मम कानन चारी ॥९॥

यद्यपि आप विशुद्ध, सर्वव्यापी, नाश रहित और सब के हृदय में निरन्तर बसनेवाले हैं। तथापि—हे खर के शत्रु ! छोटे भाई लक्ष्मण और श्रीजानकीजी के सहित मेरे मन रूपी वन में विवास कर के विचरिये ॥९॥

पहले कह चुके कि आप सब के हृदय में सदा बसनेवाले सर्व व्यापक हैं। इस सामान्य कथन में 'काननचारी' द्वारा भेद प्रकट करना अर्थात् इस वन में विचरनेवाले रूप से मेरे मन में बसिये 'विशेषक अलंकार' है। खरारी कहते हैं, परन्तु अभी खर का वध रामचन्द्रजी ने किया नहीं, भविष्य की बात को वर्तमान की भाँति कहना 'भाविक अलंकार' है।

जे जानहिँ ते जानहु स्वामी । सगुन अगुन उर-अन्तरजामी ॥
जो कोसलपति राजिव-नैना । करउ सो राम हृदय मम अैना ॥१०॥

हे स्वामिन् ! आप हृदय की बात जाननेवाले हैं, (मैं सत्य कहता हूँ) जो आप को सगुण वा निर्गुण रूप जानते हैं वे जानें । मेरे हृदय में वही कमल-नैन रामचन्द्रजी स्थान करें जो अयोध्या के राजा हैं ॥१०॥

अस अभिमान जाइ जनि भोरे । मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥
सुनि मुनि बचन राम मन भाये । बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये ॥११॥

मेरा ऐसा अभिमान भूल कर भी न जावे कि मैं सेवक हूँ और रघुनाथजी मेरे स्वामी हैं । मुनि के वचन सुन कर रामचन्द्रजी के मन में वे अच्छे लगे, प्रसन्न हो कर फिर उन्होंने मुनिवर को हृदय से लगा लिया ॥११॥

परम-प्रसन्न जानु मुनि मोही । जो बर माँगहु देउँ सो तोही ॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा । समुझि न परइ झूठ का साँचा ॥१२॥

रामचन्द्रजी बोले—हे मुनि ! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जान कर जो वर माँगो वही तुम को दूँगा । मुनि ने कहा—प्रभो ! मैं ने कभी वर माँगा नहीं, इससे यह नहीं समझ पड़ता कि क्या झूठ और क्या सच है ॥१२॥

तुम्हहिँ नीक लागइ रघुराई । सो मोहि देहु दास सुखदाई ॥
अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना । होहु सकल गुन-ज्ञान-निधाना ॥१३॥

हे रघुनाथजी ! जो आप को अच्छा लगे वही मुझ को दीजिये क्योंकि आप अपने दासों को सुख देनेवाले हैं । रामचन्द्रजी बोले—अविचल भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुणों के तुम भण्डार हो ॥१३॥

प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा । अब सो देहु मोहि जो भावा ॥१४॥

मुनि ने कहा—हे प्रभो ! आपने जो वर दिया वह मैं ने पाया । अब उस वर को दीजिये जो मुझे अच्छा लगता है ॥१४॥

पहले निषेध कर आये हैं कि मैंने कभी वर माँगा नहीं, इससे सच झूठ नहीं समझ पड़ता । फिर उसी बात को कहना कि जो मुझे अच्छा लगता है वह वरदान दीजिये 'निषेधाक्षेप अलंकार' है ।

दो०—अनुज-जानकी सहित प्रभु, चाप-बान-धर राम ।
मम-हिय-गगन इन्दु इव, बसहु सदा यह काम ॥११॥

हे प्रभु रामचन्द्रजी ! छोटे भाई लक्ष्मण और जानकीजी के सहित आप धनुष-बाण धारण किये मेरे हृदय रूपी आकाश में सदैव चन्द्रमा के समान निवास कीजिये, यही अभिलाषा है ॥११॥

सभा की प्रति में 'बसहु सदा निःकाम' पाठ है। उसका अर्थ होगा निष्काम भाव से बसिये।

चौ०-एवमस्तु कहि रमानिवासा। हरषि चले कुम्भज-रिषि पासा॥
बहुत दिवस गुरु दरसन पाये। भये मोहि एहि आस्रम आये॥१॥

लक्ष्मीनिवास-रामचन्द्रजी ने ऐसा ही हो कह कर प्रसन्नता से अगस्त्य मुनि के पास चले। सुतीक्ष्ण मुनि बोले—प्रभो! गुरुजी के दर्शन पाये बहुत दिन हुए, जब से इस आश्रम में आये तब से मुझे दर्शन-लाभ नहीं हुआ॥१॥

अब प्रभु सङ्ग जाउँ गुरु पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये सङ्ग बिहँसे दोउ भाई॥२॥

अब प्रभु (आप) के साथ गुरुजी के पास जाऊँगा, हे नाथ! आप पर इसका एहसान नहीं है। कृपानिधान-रामचन्द्रजी मुनि की चातुर्य्यता देख कर दोनों भाई हँसे और उन्हें संग में ले लिया॥२॥

मुनि को रामचन्द्रजी के साथ चलना अभीष्ट है, परन्तु इस इच्छित कार्य्य को गुरु-दर्शन के बहाने साधन का उद्योग करना "द्वितीय पर्य्यायोक्ति अलंकार" है।

पन्थ कहत निज-भगति अनूपा। मुनि आस्रम पहुँचे सुरभूपा॥
तुरत सुतीछन गुरु पहिँ गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥३॥

देवताओं के राजा रामचन्द्रजी मार्ग में अपनी अनुपम भक्ति कहते हुए मुनि के आश्रम में पहुँचे। तुरन्त ही सुतीक्ष्ण गुरु के पास गये और दण्डवत कर के ऐसा कहते भये कि॥३॥

नाथ कोसलाधीस कुमारा। आये मिलन जगत-आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिन देव जपत हहु जेही॥४॥

हे नाथ! कोशलनरेश (दशरथजी) के पुत्र जगत के आधार रामचन्द्रजी अपने छोटे भाई लक्ष्मण और विदेह-नन्दिनी के सहित मिलने आये हैं, हे देव! जिनको आप दिन रात जपते हैं॥४॥

पहले सुतीक्ष्ण ने विशेष बात कही कि जगत के आधार स्वरूप कोशलेशकुमार मिलने आये हैं। फिर इसका साधारण सिद्धान्त से समर्थन करते हैं कि जिनको आप दिन रात जपते हैं 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

सुनत अगस्त तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये॥
मुनि पद कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई॥५॥

सुनते ही अगस्तजी तुरन्त उठ कर दौड़े और रामचन्द्रजी को देख उनकी आँखों में जल भर आया। मुनि के चरण-कमलों में दोनों भाई गिरे, ऋषि ने बड़े प्रेम से उन्हें छाती से लगा लिया॥५॥

सादर कुसल पूछि मुनिज्ञानी । आसन बर बैठारे आनी ॥
पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा । मोहि सम भाग्यवन्त नहिँ दूजा ॥६॥

ज्ञानीमुनि अगस्त्यजी ने आदर के साथ कुशल पूछ कर और उन्हें ला कर उत्तम आसन पर बैठाया। फिर प्रभु रामचन्द्रजी की बहुत तरह से पूजा कर के बोले कि मेरे समान दूसरा कोई भाग्यवान नहीं है ॥६॥

जहँ लगि रहे अपर मुनिवृन्दा । हरषे सब बिलोकि सुखकन्दा ॥७॥

जहाँ तक दूसरे मुनिवृन्द थे, सब आनन्द के मेघ (रामचन्द्रजी) को देख कर प्रसन्न हुए ॥७॥

दो०—मुनि-समूह महँ बैठे, सनमुख सब की ओर ।
सरद-इन्दु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर ॥१२॥

मुनि-समूह में सब की ओर मुख सामने किये (रामचन्द्रजी) बैठे हैं । (मुनि लोग टकटकी लगाये हुए देखते हैं) वे ऐसे मालूम होते हैं मानों शरद्काल के चन्द्रमा की ओर चकोरों का झुण्ड निहारता हो ॥१२॥

एक रामचन्द्रजी को सब की ओर सन्मुख बैठे हुए कहना अर्थात् पीठ किसी की ओर नहीं 'तृतीय विशेष अलंकार' है ।

चौ०—तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं । तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं ॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ । ता तैं तात न कहि समुझायेउँ ॥१॥

तब रघुनाथजी ने मुनि से कहा—हे प्रभो ! आप से कुछ छिपाव नहीं है । जिस कारण से मैं आया हूँ वह आप जानते हैं, हे तात ! इसी से कह कर नहीं समझाता हूँ ॥१॥

अब सो मन्त्र देहु प्रभु मोही । जेहि प्रकार मारउँ मुनि द्रोही ॥
मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी । पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥२॥

हे स्वामिन् ! अब मुझे वह मन्त्र दीजिये, जिस तरह मुनि-द्रोहियों (राक्षसों) को मारूँ । प्रभु रामचन्द्रजी की वाणी सुन कर मुनि मुस्कुराये और बोले—हे नाथ ! आप मुझे क्या समझ कर पूछते हैं ? (मैं आप को क्या सम्मति दे सकता हूँ) ॥२॥

तुम्हरेइ भजन-प्रभाव अघारी । जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी ॥
ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥३॥

हे अघारी ! आप के ही भजन के प्रभाव से मैं आप की कुछ महिमा जानता हूँ । आप की माया विशाल गूलर का वृक्ष है, अनेक ब्रह्माण्ड ही उसके समूह फल हैं ॥३॥

जीव चराचर जन्तु समाना । भीतर बसहिँ न जानहिँ आना ॥
ते फल भच्छक कठिन कराला । तव भय डरत सदा सोउ काला ॥४॥

स्थावर-जङ्गम जीव मच्छड़ के समान उसके भीतर बसते हैं, वे और (ब्रह्माण्डों) का

हाल नहीं जानते। उन फलों का खानेवाला कठिन भयंकर काल है, वह भी आप के भय से सदा डरता है ॥४॥

ते तुम्ह सकल-लोकपति-साँईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाँईं ॥
यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री-अनुज-समेता ॥५॥

वही आप सम्पूर्ण लोकपालों के स्वामी मुझ से मनुष्य की तरह पूछते हो। हे कृपा निधान! मैं यह वर माँगता हूँ कि सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित मेरे हृदय में निवास कीजिये ॥५॥

अबिरल भगति बिरति सतसङ्गा। चरन-सरोरुह प्रीति अभङ्गा ॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनन्ता। अनुभव गम्य भजहिँ जेहि सन्ता ॥६॥

अविच्छिन्न-भक्ति, वैराग्य, सतसङ्ग और चरण-कमलों में अटूट प्रेम दीजिये। यद्यपि आप ब्रह्म, अखण्ड, अनन्त हैं और ज्ञान से प्राप्त होनेवाले जिन्हें सन्तजन भजते हैं ॥६॥

अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥
सन्तत दासन्ह देहु बड़ाई। ता तेँ मोहि पूछेहु रघुराई ॥ ७ ॥

ऐसा आप का रूप वर्णन करता हूँ और जानता हूँ; किन्तु फिर फिर सगुण ब्रह्म में प्रीति मानता हूँ। हे रघुनाथजी! आप अपने सेवकों को सदा बड़ाई देते हैं, इसी से मुझ से पूछते हो ॥७॥

है प्रभु परम-मनोहर ठाऊँ। पावन पञ्चवटी तेहि नाऊँ ॥
दंडक-बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र-साप मुनिबर कर हरहू ॥८॥

हे प्रभो! अत्यन्त मनोहर पवित्र स्थान है, उसका पञ्चवटी नाम है। स्वामिन्! दण्डक वन को पवित्र कीजिये और मुनिवर के घोर शाप को हरिये ॥८॥

राजा दण्डक इक्ष्वाकु के छोटे पुत्र हैं, उन्होंने गुरु कन्या (अरजा,) से बलात्कार किया। उसने अपने पिता शुक्राचार्य्य से कह दिया। उन्होंने क्रुद्ध हो शाप दिया, राजा समाज सहित ठूँठा वन हुआ और दण्डकारण्य कहलाने लगा। पुराणों में एक यह भी कथा है कि गौतम-मुनि के शाप से वह वन ठूँठा होकर राक्षसों का निवासस्थान हुआ था। रामचन्द्रजी के पदार्पण से फिर हराभरा हो गया।

बास करहु तहँ रघुकुल-राया। कीजिय सकल मुनिन्ह पर दाया ॥
चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहि पञ्चबटी नियराई ॥९॥

हे रघुकुल के राजा! वहाँ निवास करके सम्पूर्ण मुनियों पर दया कीजिये। अगस्त्यमुनि की आज्ञा पा कर रामचन्द्रजी चले और तुरन्त ही पञ्चवटी के समीप पहुंच गये ॥९॥

चलने के साथ ही तुरन्त पञ्चवटी के पास पहुंचना, कारण और कार्य्य का एक साथ वर्णन 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

दो०—गीधराज सोँ भैँट भइ, बहु बिधि प्रीति दृढ़ाइ ।
गोदावरी निकट प्रभु, रहे परन-गृह छाइ ॥ १३ ॥

गिद्धराज (जटायु) से भेंट हुई, उन से बहुत तरह प्रीति दृढ़ कर के प्रभु रामचन्द्रजी गोदावरी के समीप पत्तों की कुटी छा कर रहने लगे ॥१३॥

'गुटका में 'बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ' पाठ है ।

चौ०—जब तेँ राम कीन्ह तहँ बासा । सुखी भये मुनि बीती त्रासा ॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाये । दिन दिन प्रति अति होहिँ सुहाये ॥१॥

जब से वहाँ रामचन्द्रजी ने निवास किया, तब से मुनियों का डर जाता रहा वे सुखी हुए। पर्वत, वन, नदी और ताल सब में शोभा छा गई, वे दिन दिन बहुत ही सुहावने होने लगे ॥१॥

खग-मृग-बृन्द अनन्दित रहहीँ । मधुप मधुर गुञ्जत छबि लहहीँ ॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा । जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा ॥२॥

पक्षी और मृगों के झुण्ड आनन्दित रहते हैं, मधुर-ध्वनि से गुञ्जार करते हुए भ्रमर शोभा पा रहे हैं। जहाँ प्रत्यक्ष रघुनाथजी विराजमान हैं, उस वन का वर्णन शेषनाग भी नहीं कर सकते ॥२॥

एक बार प्रभु सुख-आसीना । लछिमन बचन कहे छल हीना ॥
सुर नर मुनि सचराचर साँईं । मैँ पूछउँ निज प्रभु की नाँईं ॥३॥

एक बार प्रभु रामचन्द्रजी सुख-पूर्वक बैठे थे, लक्ष्मणजी छल रहित वचन बोले। हे देवता, मनुष्य, मुनि, जङ्गम और स्थावर के स्वामी ! मैं अपने मालिक की तरह आप से पूछता हूँ अर्थात् मैं अबोध सेवक हूँ और आप सर्वज्ञ स्वामी हैं, इसलिए पूछता हूँ ॥ ३ ॥

'छल-हीन' शब्द में शङ्का होती है कि क्या पहले लक्ष्मणजी छल-युक्त वचन कहते थे ? उत्तर—जानी हुई बात को परीक्षार्थ पूछना छलमय है, लक्ष्मणजी सब बातें जानते थे, स्वामी से पूछ कर उसे और भी निश्चय करना चाहते हैं। परीक्षार्थ प्रश्न नहीं किया है, इसी से छल-हीन कहा है।

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करउँ चरन-रज सेवा ॥
कहहु ज्ञान बिराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥४॥

हे देव ! मुझे वह समझा कर कहिये जिससे सब छोड़ कर मैं आप के चरण की धूलियों का सेवन करूँ। ज्ञान, वैराग्य और माया का निरूपण कीजिये और वह भक्ति कहिये जिससे आप दया करते हैं ॥ ४ ॥

दो०—ईस्वर जीवहि भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ ।
जा तें होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ ॥१४॥

हे प्रभो ! ईश्वर और जीव का सम्पूर्ण भेद समझा कर कहिये । जिससे आप के चरणों में प्रीति हो और शोक, मोह, भ्रम दूर हो जाय ॥ १४ ॥

पाँच प्रश्न लक्ष्मणजी ने किया । (१) ज्ञान का रूप क्या है । (२) वैराग्य । (३) माया । (४) भक्ति । (५) ईश्वर और जीव में क्या अन्तर है । परन्तु उत्तर रामचन्द्रजी ने भङ्गक्रम से दिया है । पहले माया का वर्णन कर फिर ज्ञान-वैराग्य कहा, उसके पीछे ईश्वर जीव का भेद और सब से अन्त में भक्ति का वर्णन है ।

चौ०—थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई । सुनहु तात मति मन चित लाई ॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे तात ! मैं थोड़े ही में समझा कर सब कहता हूँ, आप बुद्धि, मन और चित्त लगा कर सुनिये । मैं और मेरा, तैं और तेरा माया है, जिसने समस्त जीवों को अपने वश में कर रक्खा है ॥ १ ॥

'मन और चित्त' दोनों शब्द पर्यायवाची हैं, पहली दृष्टि में एक ही अर्थ 'मन' भासता है । परन्तु वास्तव में अर्थ है—"मन और अन्तःकरण की वृत्ति लगा कर सुनिये" 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है ।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ॥२॥

जहाँ तक इन्द्रियों की प्राप्त (जिसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है) और जहाँ तक मन जाता है, हे भाई ! वह सब माया ही जानना । अब उसका जो भेद है तुम वह भी सुनो, एक विद्या-माया और दूसरी अविद्या-माया है ॥ २ ॥

एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा । जा बस जीव परा भव-कूपा ॥
एक रचइ जग गुन-बस जा के । प्रभु प्रेरित नहिं निज-बल ता के ॥३॥

एक अविद्या-माया अत्यन्त दुष्टा और दुःख रूपिणी है, जिसके अधीन हो कर जीव संसार रूपी कुएँ में पड़ा रहता है । दूसरी विद्या-माया जो जगत की रचना करती है और समस्त गुण जिसके वश में हैं, उसको अपना बल नहीं है ईश्वर की प्रेरणा से सब करती है ॥ ३ ॥

विद्या-माया के रचनात्मक गुण का निषेध कर के उसका धर्म प्रभु प्रेरणा में स्थापन करना 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है ।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥
कहिय तात सो परम-बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥४॥

ज्ञान वह कहलाता है जहाँ एक भी मान नहीं है और सब में समान ब्रह्म देखे । हे तात !

उसको परम वैराग्यवान कहना चाहिये जो सिद्धियों और तीनों गुणों को तिनके के समान त्याग दिये हो ॥ ४ ॥

दो०—माया ईस न आप कहँ, जान कहिय सो जीव ।
बन्ध मोच्छ-प्रद सर्ब पर, माया-प्रेरक सीव ॥१५॥

माया, ईश्वर को न जान कर जो (ममत्व में पड़ा हुआ) अपने ही को जानता हो उसे जीव कहना चाहिये । बाँधनेवाला, मोक्षदेनेवाला, सब से परे और माया को आज्ञा देनेवाला ईश्वर है । ॥ १५ ॥

जीव परतन्त्र मायाधीन है और ईश्वर स्वतन्त्र माया-प्रेरक है, जीव तथा ईश्वर में यही अन्तर है । इस दोहे का रामायणी लोग बड़ा लम्बा चौड़ा अर्थ करते हैं, परन्तु उनका विस्तार हम कुछ भी करना नहीं चाहते । यहाँ मतान्तरों के झगड़े से कोई प्रयोजन नहीं है ।

चौ०—धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना । ज्ञान मोच्छ-प्रद बेद बखाना ॥
जा तें बेगि द्रवउँ मैं भाई । सो मम भगति भगत-सुखदाई ॥१॥

धर्म से वैराग्य, वैराग्य से योग और योग से ज्ञान होता है, वेद बखानते हैं कि ज्ञान मोक्ष का देनेवाला है । हे भाई ! जिससे मैं जल्दी दया करता हूँ वह हमारी भक्ति भक्तों को सुख देनेवाली है ॥ १ ॥

धर्म कारण, वैराग्य कार्य्य , फिर वैराग्य कारण, योग कार्य्य पुनः योग कारण और ज्ञान कार्य्य हुआ है । इस प्रकार कारण से उत्पन्न कार्य्य का बार बार कारण होना 'कारण-माला अलंकार' है ।

सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना । तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो सन्त होहिँ अनुकूला ॥२॥

वह (भक्ति) स्वाधीन है; उसको दूसरे का सहारा नहीं है, ज्ञान और विज्ञान उसके अधीन हैं । हे तात ! भक्ति सुख की जड़ अनुपमेय है, जो सन्त दया करें तब वह मिलती है ॥ २ ॥

भगति क साधन कहउँ बखानी । सुगम-पन्थ मोहि पावहिँ प्रानी ॥
प्रथमहिँ बिप्र चरन अति प्रीती । निज निज धरम निरत स्रुति रीती ॥३॥

भक्ति का साधन बखान कर कहता हूँ, इस सुगम मार्ग से प्राणी मुझे पाते हैं । पहले ब्राह्मण के चरण में अत्यन्त प्रेम हो और वेद की रीति से अपने अपने धर्म में तत्परता हो ॥३॥

एहि कर फल मन बिषय बिरागा । तब मम धरम उपज अनुरागा ॥
स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं । मम लीला रति अति मन माहीं ॥४॥

इसका फल यह है कि विषयों से मन विरक्त हो जायगा, तब मेरे धर्म में प्रेम उत्पन्न होगा । श्रवणादिक नव प्रकार की भक्ति दृढ़ होगी, मेरी लीलाओं पर मन में अत्यन्त प्रीति होगी ॥४॥

श्रीमद्भागवत में नवधा-भक्ति इस प्रकार वर्णन की गई है—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

सन्त-चरन-पङ्कज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥५॥

सन्तों के चरण-कमलों में अत्यन्त प्रेम हो, मन, कर्म और वचन से भजन का पक्का नियम हो। गुरु, पिता-माता, भाई, स्वामी और देवता सब मुझे जान कर दृढ़ सेवा करे॥५॥

मम गुन-गावत पुलक सरीरा। गद्गद-गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दम्भ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके॥६॥

मेरा गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय और वाणी गद्गद होकर नेत्रों में जल बहने लगे। जिसके काम आदि (क्रोध, लोभ, मात्सर्य्य, ईर्ष्या) मद और दम्भ नहीं है, हे भाई! सदा मैं उसके वश में रहता हूँ॥६॥

दो०—बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय-कमल महँ, करउँ सदा बिस्राम॥१६॥

वचन, कर्म और मन से जिनको मेरा ही अवलम्ब है एवम् निष्काम भाव से भजन करते हैं। उनके हृदय रूपी कमल में मैं सदा विश्राम करता हूँ॥१६॥

चौ०—भगति-जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरननिह सिर नावा॥
एहि बिधि गये कछुक दिन बीती। कहत बिराग ज्ञान गुन नीती॥१॥

भक्तियोग सुन कर लक्ष्मणजी को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ, उन्होंने प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में सिर नवाया। इस प्रकार वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति कहते कुछ दिन बीत गये॥१॥

सूपनखा रावन के बहिनी। दुष्ट-हृदय दारुन जसि अहिनी॥
पञ्चबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥२॥

रावण की बहन शूर्पणखा जो दुष्ट-हृदया नागिन जैसी भीषण थी। वह एक बार पञ्चवटी में गई और दोनों कुमारों को देख कर (काम-भाव से) व्याकुल हुई॥२॥

सूप के समान नख होने से इसका शूर्पणखा नाम पड़ा। यह कालकञ्ज के वंस में उत्पन्न बड़ा प्रतापी राक्षस विद्युज्जिह्व के साथ व्याही गई थी। रावण ने एक बार क्रुद्ध होकर विद्युज्जिह्व को लड़ाई में मार डाला। जब शूर्पणखा विधवा हो गई, तब रावण के पास आ कर विलाप करने लगी। रावण के हृदय में दया आई, चौदह हज़ार राक्षस इसकी रक्षा के लिए साथ में दे कर दण्डकारण्य में सुख-पूर्वक निवास करने की आज्ञा दी। तब से यह वृद्ध डरावनी राक्षसी इस वन में विचरती हुई विहार करने लगी।

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ बिकल सक मनहिँ न रोकी । जिमि रबि-मनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥३॥

कागभुसुण्डजी कहते हैं—हे पन्नगारि ! चाहे भाई हो, पिता हो अथवा पुत्र हो, सुन्दर पुरुष को देखते ही स्त्रियाँ विकल होकर मन को नहीं रोक सकतीं, (वे काम-भाव से ऐसी आसक्त हो जाती हैं) जैसे सूर्य्य को देख कर सूर्य्यकान्त मणि पसीजने लगती है ॥३॥

समान अवस्थावाला भाई के समान है, अधिक वयवाला पिता और छोटी उमर का पुरुष पुत्र के बराबर है। कोई भी मनोहर पुरुष हो, स्त्रियाँ देखते ही मन को न रोक कर विकल हो जाती हैं, तभी तो जन्म की विधवा-वृद्धा सूर्पणखा व्याकुल हो उठी !

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिँ जाई । बोली बचन बहुत मुसुकाई ॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥४॥

(माया से) सुन्दर रूप धारण कर प्रभु रामचन्द्रजी के पास जा कर बहुत मुस्कुराती हुई वचन बोली। आप के समान मनोहर पुरुष और मेरे समान स्त्री (कोई नहीं है) यह संयोग ब्रह्मा ने सोच कर बनाया है ॥ ४ ॥

यथायोग्य का सङ्ग वर्णन 'प्रथम सम अलंकार' है ।

मम अनुरूप पुरुष जग माहीँ । देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीँ ॥
ता तेँ अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहिँ निहारी ॥५॥

जगत में मेरे योग्य कोई पुरुष नहीं है, मैंने तीनों लोकों में खोज कर देखा। इससे अब तक कुँवारी रही हूँ, तुम्हें देख कर कुछ मन चाहा है ॥ ५ ॥

तीनों लोकों में खोज डाला, मेरे योग्य सुन्दर पुरुष संसार में नहीं है । इस मिथ्या बात को सत्य करने के लिये दूसरी झूठी बात कहना कि इसी से अब तक बिना ब्याही रह गई 'मिथ्याध्यवसित अलंकार' है ।

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता । अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ॥
गइ लछिमन रिपुभगिनी जानी । प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ॥६॥

सीताजी को देख कर प्रभु रामचन्द्रजी ने बात कही कि मेरा छोटा भाई कुँवारा है। यह सुनकर लक्ष्मणजी के पास गई, वे उसको शत्रु की बहन जान कर, प्रभु की ओर देख कोमल वाणी से बोले ॥६॥

लक्ष्मणजी ने स्वामी की ओर देखा, उनका रुख ताड़ कर शूर्पणखा से विनोद-पूर्ण मधुर वचन बोले। यह 'पिहित और सूक्ष्म अलंकार' का सन्देहसङ्कर है। सीताजी की ओर निहारने में कई प्रकार की व्यञ्जनामूलक गूढ़ ध्वनि है। (१) शूर्पणखा ने कहा है कि तीनों लोकों में मेरे बराबर सुन्दर स्त्री कोई नहीं हैं, इस पर सीताजी की ओर निहार कर रामचन्द्रजी सूचित करते हैं कि इनको देख; तुझसे सहस्रगुनी बढ़ कर ये सुन्दरी हैं। (२) शूर्पणखा को देख कर रामचन्द्रजी सीताजी की ओर निहारने लगे, इससे उपेक्षा भाव प्रकट कर यह

जनाया कि तेरा मन मुझ पर कुछ मान गया है, पर मेरा मन तुझ पर कुछ नहीं माना है। (३) सीताजी को दिखाकर ज़ाहिर करते हैं कि हमारे पास यह रूपवती भार्य्या है, मैं तुझ से विवाह न करूँगा इत्यादि। लक्ष्मणजी बिना ब्याहे नहीं हैं, फिर रामचन्द्रजी ने कुँवारा क्यों कहा ? उत्तर—इसमें भी व्यङ्ग है कि जैसे विधवा होकर तू कुँवारी बनी है, तैसे विवाहित होने पर साथ के स्त्री न रहने से वे भी कुँवारे हैं। प्रकट रूप से अभी रावण से शत्रुता नहीं हुई, फिर शत्रु क्यों कहा? । उत्तर—भुज उठाइ पन कीन्ह, इस प्रतिज्ञा के साथ ही शत्रुता ठन गई। बिना कहे लक्ष्मणजी कैसे जान गये कि यह शत्रु-रावण की बहन है ? उत्तर—शूर्पणखा ने कहा कि मैंने तीनों लोकों में खोजा पर मेरे योग्य पति नहीं मिला। इससे लक्ष्मणजी जान गये कि यह राक्षसी है, क्योंकि तीनों लोकों में गमन करना मानवी शक्ति से बाहर की बात है।

सुन्दरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा॥
प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिँ उन्हहिँ सब छाजा॥७॥

हे सुन्दरी ! सुनो, मैं उनका सेवक हूँ, पराये अधीन में रह कर तुझे सुबीता न होगा। प्रभु रामचन्द्रजी अयोध्यानगरी के राजा और समर्थ हैं, जो करें उन्हें सब सोहेगा ॥७॥

कोशलपुर के राजा अनेक स्त्री रखते आये हैं, वे सब कुल की स्त्री स्वीकार करने में समर्थ हैं। यह शाब्दी व्यङ्ग है।

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ-गति बिभिचारी॥
लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥८॥

सेवक होकर सुख की इच्छा करे, भिक्षुक प्रतिष्ठा चाहै, दुर्व्यसनवाला सम्पति और पर-स्त्रीगामी अच्छी गति चाहता हो। लोभी यश तथा टहलू घमंडवाला हो तो ये प्राणी आकाश से दूध दुहना चाहते हैं ॥८॥

सेवक (नौकर) का सुख चाहना, मङ्गन का मान चाहना, व्यसनी का धन, व्यभिचारी का मोक्ष और लोभी का यश चाहना तथा टहलू का घमंडी होना यह सब उपमेय वाक्य है। आकाश से दूध दुहने की कामना उपमान वाक्य है। दोनों वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकता है अर्थात् जैसे आकाशसे दूध दुहना असम्भव है, वैसे उपर्युक्त प्राणियों की चाहना असाध्य जाननी चाहिये 'दृष्टान्त अलंकार' है।

पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहँ बहुरि पठाई॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई॥९॥

फिर वह लौट कर रामचन्द्रजी के पास आई, प्रभु ने पुनः उसको लक्ष्मणजी के समीप भेजा। लक्ष्मणजीने कहा कि तुझको वही ब्याहेगा जो लज्जा को तिनके की तरह तोड़ कर त्याग देगा ॥९॥

पुनि और फिरि शब्द पर्यायवाची हैं, इससे पुनरुक्ति का आभास है, परन्तु पुनरुक्ति नहीं है। एक का अर्थ है—फिर और दूसरेका अर्थ है—लौट कर "पुनरुक्तिवदाभास अलंकार"

है। दुश्चरित्रा स्त्री को रामचन्द्रजी ने एक सच्चरित्र पुरुष के पास भेजा, यह हास्य रसाभास है। लक्ष्मणजी के कोरे उत्तर से शूर्पणखा ताड़ गई कि दोनों हमारी मसखरी करते हैं।

तब खिसिआनि राम पहिँ गई। रूप भयङ्कर प्रगटत भई॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥१०॥

तब खिसिया कर रामचन्द्रजी के पास गई और अपना भीषण रूप प्रगट किया। सीताजी को भयभीत देख कर रघुनाथजी ने छोटे भाईको इशारेसे समझा कर कहा (कि इसके नाक और कान काट डालो) ॥१०॥

सीताजी ने भय-सूचक चेष्टा की, तब उनके समाधान के लिये रामचन्द्रजी ने भाई को सङ्केत से नाक कान काटने का आदेश किया। इशारे से बात करना 'सूक्ष्म अलंकार' है। बरवा रामायण में गोस्वामीजी ने इस संकेत को इस प्रकार प्रगट किया है—"वेद नाम कहि अँगुरिन खण्डि अकास। पठयो सूपनखाहि लखन के पास"। अँगुलियों को दिखा कर वेद का नाम कहा अर्थात् चार अँगुली दिखा कर श्रुति (कान) और आकाश (नाक) का खंडन करना सूचित किया।

दो०-लछिमन अतिलाघव सोँ, नाक कान बिनु कीन्हि।
ता के कर रावन कहँ, मनहुँ चुनौती दीन्हि॥१७॥

लक्ष्मणजी ने बड़ी शीघ्रता से उसको बिना नाक और कान की कर दिया। ऐसा मालूम होता है मानों उसके हाथ रावण को युद्ध के लिये ललकारा हो ॥१७॥

नाक कान काट कर लक्ष्मणजी ने रावण को संग्राम के लिए उत्तेजित किया ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०-नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥
खर दूषन पहिँ गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥१॥

नाक कान के बिना विकराल हो गई, ऐसा मालूम होता है मानों पहाड़ से गेरू की धारा बह चली हो। विलाप करती हुई खर और दूषण के पास गई, वहाँ जाकर कहने लगी—भाई! तुम्हारे पुरुषार्थ और बल को धिक्कार है, धिक्कार है ॥१॥

तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई॥
धाये निसिचर-निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल-गिरि जूथा॥२॥

उसने पूछा क्या बात है; तब शूर्पणखा ने सब समझा कर कहा, सुनकर राक्षस ने सेना तैयार की। राक्षस-समूह झुंड के झुंड दौड़े, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों पक्षधारी काले पहाड़ों के समुदाय हों ॥२॥

नाना बाहन नानाकारा । नानायुध-धर घोर अपारा ॥
सूपनखा आगे करि लीनी । असुभ-रूप स्रुति नासा हीनी ॥३॥

अनेक प्रकार की सवारियों में तरह तरह की सूरतवाले विविध प्रकार के असंख्यों भीषण हथियार धारण किये हैं । कान और नाक से रहित अमङ्गल रूप शूर्पणखा को आगे कर लिया ॥३॥

असगुन अमित होहिँ भयकारी । गनहिँ न मृत्यु बिवस सब भारी ॥
गर्जहिँ तर्जहिँ गगन उड़ाहीँ । देखि बिकट भट अति हरषाहीँ ॥४॥

बहुत से भयङ्कर असगुन होते हैं, पर सारा समुदाय मृत्यु के अधीन हुआ उसे कुछ नहीं समझता है । गर्जते हैं, डाटते हैं और आकाश में उड़ते (उछलते) हैं, भीषण शूरवीरों को देख कर परस्पर प्रसन्न होते हैं ॥४॥

कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई । धरि मारहु तिय लेहु छुड़ाई ॥
धूरि पूरि नभ-मंडल रहा । राम बोलाइ अनुज सन कहा ॥५॥

कोई कहता है दोनों भाइयों को जीते जी पकड़ लो, कोई कहता है पकड़ कर मार डालो और स्त्री को छीन लो । जब आकाश-मण्डल धूल से भर गया, तब रामचन्द्रजी ने छोटे भाई लक्ष्मणजी को बुला कर कहा ॥५॥

लेइ जानकिहि जाहु गिरि-कन्दर । आवा निसिचर कटक भयङ्कर ॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी । चले सहित स्त्री सर धनु पानी ॥६॥

जानकी को लेकर तुम पहाड़ की गुफा में चले जाओ, राक्षसों का भयङ्कर दल समीप आ गया है । सावधान रहना, प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुन कर लक्ष्मणजी हाथ में धनुष बाण लिए हुए सीताजी के सहित चले ॥६॥

देखि राम रिपु-दल चढ़ि आवा । बिहँसि कठिन कोदंड चढ़ावा ॥७॥

रामचन्द्रजी ने देखा कि शत्रु की सेना चल कर समीप आ गई, तब हँस कर अपने कठिन धनुष को चढ़ाया ॥७॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों ।
मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सोँ जुग भुजग ज्यों ॥
कटि कसि निषङ्ग बिसाल भुज गहि, चाप बिसिख सुधारि कै ।
चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज-घटा निहारि कै ॥१॥

कठोर धनुष को चढ़ा कर सिर पर जटा का जूड़ा बाँधते हुए कैसे शोभित हो रहे हैं । ऐसा मालूम होता है मानों नीलमणि के पहाड़ पर करोड़ों बिजलियों से दो साँप लड़ते हों ।

कमर में तरकस कस कर और विशाल भुजाओं में धनुष-बाण सुधार कर लिये हुए प्रभु रामचन्द्रजी राक्षसी सेना की ओर निहार रहे हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों हाथियों के झुण्ड की ओर देख कर सिंह चोप से निहारता हो ॥२॥

रामचन्द्रजी का शरीर और श्याममणि का पर्वत, जटा का अग्रभाग और बिजली, दोनों हाथ और सर्प परस्पर उपमेय उपमान है। नीले पहाड़ पर करोड़ों बिजलियों से दो साँप लड़ते हों, ऐसा दृश्य संसार में होते दिखाई नहीं देता। यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्तरार्द्ध में उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

सो०—आइ गये बगमेल, धरहु धरहु धावत सुभट ।
जथा बिलोकि अकेल, बाल रबिहि घेरत दनुज ॥१८॥

धरो धरो करते दौड़ते हुए सब योद्धा अत्यन्त समीप में आ गये। जैसे बाल-सूर्य्य को अकेला देख कर दानव घेरते हैं (उसी तरह चारों ओर से रामचन्द्रजी को राक्षसों ने घेर लिया) ॥१८॥

हेमाद्रि आदि ग्रन्थों में लिखा है कि सवेरे सूर्य्योदय होने पर बीस हज़ार राक्षस सूर्य्य को घेर लेते हैं। सन्ध्या करनेवालों के अर्घ्य के पानी के बुन्द बाण होकर उन्हें लगते हैं उससे उनका नाश हो जाता है। बगमेल-शब्द की व्याख्या बालकाण्ड में ३०५ दोहा के नीचे की टिप्पणी देखो।

चौ०—प्रभु बिलोकि सर सकहिँ न डारी। थकित भई रजनीचर-धारी ॥
सचिव बोलि बोले खर दूषन। यह कोउ नृप-बालक नर-भूषन ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर राक्षसों की सेना मोहित हो गई, वे बाण नहीं मार सकते हैं। मंत्री को बुला कर खर दूषण ने कहा—यह कोई राजकुमार मनुष्यों के भूषण हैं ॥ १ ॥

शत्रु का मोहित होना अनुचित भाव 'ऊर्जस्वित अलंकार' है।

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिँ असि सुन्दरताई ॥२॥

नाग, दैत्य, देवता, मनुष्य और मुनि जितने हैं, कितने ही को हमने देखा, जीत लिया और मार डाला। पर हे सब भाइयो ! सुनो, हमने जन्म भर ऐसी सुन्दरता नहीं देखी ॥२॥

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिँ पुरुष अनूपा ॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीवत भवन जाहु दोउ भाई ॥३॥

यद्यपि हमारी बहिन को इन्होंने कुरूपा कर दिया है, तथापि ये अनुपम पुरुष बध करने योग्य नहीं हैं। अपनी छिपाई हुई स्त्री को तुरन्त दे देवें तो जीते जी दोनों भाई अपने घर चले जायँ ॥ ३ ॥

मोर कहा तुम्ह ताहि सुनावहु । तासु बचन सुनि आतुर आवहु ॥
दूतन्ह कहा राम सन जाई । सुनत राम बोले मुसुकाई ॥४॥

मेरा कहना तुम उसको सुनाओ और उसकी बात सुन कर जल्दी लौट आओ। दूतों ने आ कर रामचन्द्रजी से कहा, सुन कर मुस्कुराते हुए रामचन्द्रजी बोले ॥ ४ ॥

हम छत्री मृगया बन करहीं । तुम्ह से खल-मृग खोजत फिरहीं ॥
रिपु बलवन्त देखि नहिँ डरहीं । एक बार कालहु सन लरहीं ॥५॥

हम क्षत्रिय हैं और वन में अहेर करते हैं, तुम्हारे समान दुष्ट मृगों को ढूँढ़ते फिरते हैं। बलवान शत्रु को देख कर डरते नहीं, एक बार काल से भी लड़ते हैं ॥ ५ ॥

जद्यपि मनुज दनुज-कुल-घालक । मुनि-पालक खल-सालक बालक ॥
जौँ न होइ बल घर फिरि जाहू । समर बिमुख मैँ हतउँ न काहू ॥६॥

यद्यपि मैं मनुष्य हूँ तथापि राक्षस वंश का नाश करनेवाला हूँ, मुनियों को पालना करनेवाला और खलों को दुःख देनेवाला बालक हूँ। यदि बल न हो तो घर लौट जाओ, युद्ध से मुँह फेरनेवालों में से किसी को मैं न मारूँगा ॥ ६ ॥

रन चढ़ि करिय कपट चतुराई । रिपु पर कृपा परम कदराई ॥
दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ । सुनि खर-दूषन उर अति दहेऊ ॥७॥

युद्ध के लिए चढ़ कर कपट-चतुरई करना और शत्रु पर दया दिखलाना बड़ी कायरता है। दूतों ने जा कर तुरन्त सब कहा, सुन कर खर तथा दूषण का हृदय अत्यन्त (क्रोध से) जल गया ॥७॥

हरिगीतिका-छन्द ।

उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाये, बिकट भट रजनीचरा ।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसु धरा ॥
प्रभु कीन्ह धनुष टकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा ।
भये बधिर ब्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा ॥३॥

हृदय से जल कर कहा कि पकड़ो,—भीषण राक्षस योधा बाण-धनुष, भाला, बरछी, त्रिशूल, तलवार, लोहे की गदा और भलुहा लिये हुए दौड़े। प्रभु रामचन्द्रजी ने पहले धनुष का कठिन भयङ्कर गहरा टङ्कार शब्द किया। उसे सुन कर राक्षस बहरे और विकल हो गये, उस समय किसी को होश नहीं रह गया ॥३॥

यहाँ वीर और भयानक रस यद्यपि परस्पर के विरोधी हैं तथापि भिन्न देश में वर्णित होने के कारण दूषित नहीं हैं। रामचन्द्रजी में वीर रस और राक्षसों में भयानक रस का वर्णन हुआ है।

दो०—सावधान होइ धाये, जानि सबल आराति ।
लागे बरषन राम पर, अस्त्र सस्त्र बहु भाँति ॥

शत्रु को बलवान समझ कर सचेत हो दौड़े और बहुत तरह के अस्त्र शस्त्र रामचन्द्रजी पर बरसने (चलाने) लगे ।

तिन्ह के आयुध तिल सम, करि काटे रघुबीर ।
तानि सरासन स्रवन लगि, पुनि छाड़े निज तीर ॥१९॥

उनके हथियारों को रघुनाथजी ने तिल के बराबर टुकड़े करके काट डाले । फिर कान पर्य्यन्त धनुष खींच कर अपने बाण छोड़े ॥१९॥

तोमर-छन्द ।

तब चले बान कराल । फुङ्करत जनु बहु ब्याल ।
कोपेउ समर स्रीराम । चले बिसिख निसित निकाम ॥१॥

तब भीषण बाण चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों फुफकारते हुए साँप जा रहे हों । श्रीरामचन्द्रजी युद्ध में क्रोधित हुए, उनके अत्यन्त चोखे बाण चले ॥१॥

ऊपर कहा गया कि भीषण बाण चले, बाण जड़ हैं, वे स्वयम् नहीं चल सकते । उनके चलानेवाले रामचन्द्रजी हैं । यह उपादान लक्षणा है ।

अवलोकि खर तर तीर । मुरि चले निसिचर बीर ।
भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ । जो भागि रन तेँ जाइ ॥२॥

अत्यन्त तीव्र बाणों को देख कर राक्षस वीर मुड़ भाग चले । यह देख कर कि तीनों भाई (खर, दूषण और त्रिशिरा) क्रोधित हो बोले कि जो लड़ाई से भाग जायगा ॥२॥

तेहि बधब हम निज पानि । फिरे मरन मन महँ ठानि ।
आयुध अनेक प्रकार । सनमुख ते करहिँ प्रहार ॥३॥

उसको हम अपने हाथ से मार डालेंगे, तब वे मन में मरना निश्चित कर लौट पड़े । अनेक प्रकार के हथियार सामने आ कर चलाने लगे ॥३॥

रिपु परम कोपे जानि । प्रभु धनुष सर सन्धानि ।
छाड़े बिपुल नाराच । लगे कटन बिकट पिसाच ॥४॥

शत्रु को अत्यन्त क्रोधित जान कर प्रभु रामचन्द्रजी ने धनुष पर बाणों का सन्धान किया । बहुत से बाण छोड़े, उससे भीषण राक्षस कटने लगे ॥४॥

उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन।
चिक्करत लागत बान। धर परत कुधर समान॥५॥

छाती, सिर, भुजा, हाथ और पाँव कट कर जहाँ तहाँ धरती पर गिरने लगे। बाण लगते ही ज़ोर से चिल्लाते हैं उनकी धड़ें पर्वत के समान पृथ्वी पर गिरती हैं॥५॥

भट कटत तन सत-खंड। पुनि उठत करि पाखंड।
नभ उड़त बहु भुज मुंड। बिनु मौलि धावत रुंड॥६॥

योद्धाओं के शरीर कट कर सौ सौ टुकड़े होते, फिर वे पाखण्ड कर के उठते हैं। आकाश में बहुत सी भुजाएँ और मस्तक उड़ते हैं, विना सिर की धड़ें दौड़ती हैं॥६॥

खग कङ्क काक सृगाल। कटकटहिं कठिन कराल॥७॥

चील्ह और काग पक्षी तथा सियार कठिन भीषण कटकटाहट करते हैं॥७॥

हरिगीतिका-छन्द।

कटकटहिं जम्बुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर सञ्चहीं।
बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नञ्चहीं॥
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं, भटन्ह के उर भुज सिरा।
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धरु धरु-धरु करहिं भयकर गिरा॥४॥

सियार दाँत पीसते हैं, भूत-प्रेत और पिशाच खोपड़ियों को सञ्चते हैं। वेताल गण वीरों के मुण्डों को बजा कर ताल देते हैं तथा योगिनियाँ नाचती हैं रघुनाथजी के प्रचण्ड बाण योद्धाओं की छाती, भुजाएँ और सिरों को काटते हैं। वे जहाँ तहाँ गिरते हैं, उठ कर लड़ते हैं और पकड़ो पकड़ो धरो भयंकर शब्द करते हैं॥४॥

अन्तावरी गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम-पुर-बासी मनहुँ बहु, बाल गुड़ी उड़ावहीं॥
मारे पछारे उर बिदारे, बिपुल भट कहँरत परे।
अवलोकि निज दल बिकल भट त्रिसिरादि खरदूषन फिरे॥५॥

आँतों को पकड़ कर गीध उड़ते हैं और पिशाच उसे हाथ से पकड़ कर दौड़ते हैं। वह ऐसा मालूम होता है मानों संग्राम रूपी नगर के रहनेवाले बालक पतङ्ग उड़ाते हों। कितने ही योद्धा मारे गये, पछाड़े गये, छाती फाड़ डाली गई वे पड़े पड़े कराह रहे हैं। अपनी सेना को व्याकुल देख कर खर, दूषण और त्रिशिरा आदि भट रामचन्द्र जी की ओर फिरे॥५॥

सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
करि कोप श्रीरघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं॥
प्रभु निमिषमहँ रिपु सर निवारि प्रचारि डारे सायका।
दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचर-नायका॥६॥

बाण, बरछी, भाला, भलुहा, त्रिशूल और तलवार एक ही बार में श्रीरघुनाथजी पर क्रोध कर के असंख्यों राक्षस चलाते हैं। प्रभुरामचन्द्रजी ने शत्रु के बाणों को क्षणमात्र में दूर कर अपने बाण ललकार कर चलाये। सम्पूर्ण राक्षसपतियों के हृदय में दस दस बाण मारे॥६।

महि परत उठि भट भिरत मरत न, करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध-धनी॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि माया,-नाथ अति कौतुक कर्‌यो।
देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु-दल लरि मर्‌यो॥७॥

वे धरती पर गिरते हैं, फिर उठ कर लड़ते हैं, राक्षस भट मरते नहीं हैं; बड़ी गहरी माया करते हैं। एक अयोध्यानरेश और चौदह हज़ार प्रेतों को देख कर देवता डरते हैं। देवता और मुनियों को भयभीत देख कर मायाधीश प्रभुरामचन्द्रजी ने बड़ा ही आश्चर्य्य-जनक खेल किया। वे राक्षस आपस में (एक दूसरे को) राम देखने लगे, इस तरह रणभूमि में शत्रु दल लड़ कर मर गया॥७॥

राक्षसों का रामबाणों से कट कर गिरना और फिर उठ कर लड़ना, एक दूसरे को राम रूप समझना अद्भुत रस है। उनके उठने से देवता मुनियों के मन में भय का सञ्चार होना कि ये राक्षस किस प्रकार मरेंगे? क्या रामचन्द्रजी हार जायँगे? भयानक रस है। राक्षस-वध में रघुनाथजी का उत्साहित होना वीररस है। एक ही छन्द में उपर्युक्त तीनों रस स्वतन्त्रता पूर्वक पाये जाते हैं। यह 'स्वतन्त्र-रस सङ्कर' है। ये चौदहों हज़ार राक्षस तप कर के वर माँग लिया था कि हम तीनों लोक के किसी योद्धा के अस्त्र शस्त्र से न मरें, जब आपस में युद्ध करें तब मरें। उन्हों ने सोच रक्खा था कि हम लोग काहे को आपस में युद्ध करेंगे और काहे को मरेंगे। रामचन्द्रजी माया के स्वामी हैं, ऐसी माया किया कि वे आपसही में एक दूसरे को राम समझ कर लड़ने लगे। इस तरह चौदहों हजार राक्षस लड़कर मर गये। कारण के समान कार्य्य का वर्णन अर्थात् रामचन्द्रजी मायानाथ हैं, इसलिये ऐसी माया किया कि वे परस्पर राम समझ कर लड़ मरे 'द्वितीय सम अलंकार' है।

दो०—राम राम कहि तनु तजहिं। पावहिं पद निर्बान।
करि उपाय रिपु मारे, छन महँ कृपानिधान॥

राम राम कह कर शरीर त्यागते और मोक्ष-पद को पाते हैं। इस तरह कृपानिधान रामचन्द्रजी ने उपाय कर के एक क्षण में शत्रुओं को मार डाला।

उपाय से शत्रुओं का संहार किया, पराक्रम से नहीं। केवल मुख से राम राम कह कर मोक्ष-पद पाते हैं अर्थात् अत्यल्प क्रियारम्भ से लाभ वर्णन करना 'द्वितीय विशेष अलंकार' है।

हरषित बरषहिँ सुमन सुर, बाजहिँ गगन निसान।
अस्तुति करि करि सब चले, सोभित बिबिध बिमान ॥२०॥

देवता प्रसन्न होकर फूल बरसते हैं और आकाश में नगारे बजते हैं। इस तरह स्तुति कर के सब देवता अनेक प्रकार के विमानों में शोभायमान होकर चले ॥२०॥

चौ०—जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते॥
तब लछिमन सीतहि लेइ आये। प्रभु पद परत हरषि उर लाये ॥१॥

जब रघुनाथजी ने युद्ध में शत्रु को जीत लिया तो देवता, मनुष्य और मुनि सब का डर जाता रहा, तब लक्ष्मणजी सीताजी को ले कर आये और प्रभु रामचन्द्रजी के पाँव पर पड़े उन्होंने प्रसन्न होकर हृदय से लगा लिया ॥१॥

सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥
पञ्चबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर-मुनि सुखदायक ॥२॥

सीताजी श्यामल कोमल अंगों को बड़े प्रेम से निहार रही हैं, उनकी आँखें तृप्त नहीं होती हैं। श्रीरघुनाथजी पञ्चवटी में निवास कर देवता और मुनियों को सुख देनेवाले चरित करते हैं ॥२॥

धुआँ देखि खर दूषन केरा। जाइ सुपनखा रावन प्रेरा॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥३॥

खर और दूषण का विनाश देख कर शूर्पणखा ने जा कर रावण को प्रेरित किया। भारी क्रोध कर के बोली—हे रावण! तू ने देश और भण्डार की सुध भुला दी ॥३॥

करसि पान सोवसि दिन राती। सुधि नहिँ तव सिर पर आराती॥
राजनीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सत-कर्मा ॥४॥

मदिरा पी कर दिन रात सोता है, तुझ को खबर नहीं कि शत्रु तेरे सिर पर आ पहुँचा है। नीति के विना राज्य, धर्म के विना धन और विना भगवान को समर्पण किये सत्कर्म ॥४॥

बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। स्रम-फल पढ़े किये अरु पाये॥
सङ्ग तेँ जती कुमन्त्र तेँ राजा। मान तेँ ज्ञान पान तेँ लाजा ॥५॥

विना विचार उत्पन्न हुए विद्या पढ़ने, सत्कर्म करने, धन और राज्य पाने में परिश्रम ही फल है। सङ्ग से सन्यासी, दुष्ट सलाह से राजा, अभिमान से ज्ञान, मद-पान से लज्जा ॥५॥

बिना नीति के राज्य, बिना धर्म के धन, बिना विष्णु भगवान को अर्पण किये सत्कर्म, बिना विवेक उत्पन्न हुए विद्या का न्यूनता कथन 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है। राज्य, धन, सत्कर्म और विद्या चार वस्तुएँ कही गई हैं। फिर कहा गया कि इनके साथ यदि ये चार गुण न हों तो विद्या का पढ़ना, सत्कर्म का करना, धन और राज्य का पाना केवल श्रम मात्र है। वर्ण्य वस्तुओं के ठीक विपरीत वर्णन में विपरीतक्रम 'यथासंख्य अलंकार' है।

प्रीति प्रनय बिनु मद तेँ गुनी। नासहिँ बेगि नीति असि सुनी॥६॥

नम्रता के बिना प्रीति और अहंकार से गुणी तुरन्त नष्ट होते हैं, हमने ऐसी नीति सुनी है॥६॥

राजा वर्ण्य है, शेष सब अवर्ण्य हैं। कारण भिन्न भिन्न हैं। सब का एक धर्म 'नासहिँ' कहना 'दीपक अलंकार' है।

सो०—रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन॥

शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, स्वामी और साँप को छोटा कर के न समझना चाहिये। ऐसा कह कर अनेक प्रकार का विलाप कर के रोने लगी।

शत्रु, वर्ण्य है. रोग, अग्नि, पाप स्वामी और साँप अवर्ण्य हैं। सब का एक ही धर्म छोटा न समझना कहना 'दीपक अलंकार' है।

दो०—सभा माँझ परि ब्याकुल, बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जियत दसकन्धर, मोरि कि असि गति होइ॥२१॥

सभा में व्याकुल हो गिर पड़ी और रो कर बहुत तरह से कहने लगी। हे दशानन! तेरे जीते जी क्या मेरी ऐसी गति हो? (मैं नकटी बूची होकर जिऊँ और अपराधी अरण्य-वन में स्वच्छन्द विहार करे)॥२१॥

चौ०—सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई॥
कह लङ्केस कहसि किन बाता। केइ तव नासा कान निपाता॥१॥

सुनते ही सभासद घबरा कर उठे, उसकी बाँह पकड़ कर उठाया और समझाया। लङ्केश्वर ने कहा—तू बात क्यों नहीं कहती? किसने तेरी नाक और कान का विध्वंस किया?॥१॥

अवध-नृपति-दसरथ के जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये॥
समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहिँ धरनी॥२॥

शूर्पणखा कहने लगी—अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र पुरुषों में सिंह रूप वन में (अहेर) खेलने आये हैं। मुझे उनकी करनी समझ पड़ती है कि वे धरती को बिना राक्षसों की कर देंगे॥२॥

जिन्ह कर भुज-बल पाइ दसानन । अभय भये बिचरत मुनि कानन॥
देखत बालक काल समाना । परम धीर धन्वी गुन नाना ॥३॥

हे दशानन ! जिनकी भुजाओं का बल पा कर मुनि लोग निर्भय हो वन में विचरते हैं। देखने में बालक हैं, पर वे काल के समान बड़े ही धीर और अनेक प्रकार के धनुर्विद्या के गुण के ज्ञाता हैं ॥ ३ ॥

अतुलित बलप्रताप दोउ भ्राता । खल-बध-रत सुर-मुनि-सुख-दाता ॥
सोभा-धाम राम अस नामा । तिन्ह के सङ्ग नारि एक स्यामा ॥४॥

दोनों भाइयों का बल और प्रताप अतोल है, दुष्टों के संहार में तत्पर और देवता तथा मुनियों को सुख देनेवाले हैं। शोभा के स्थान जिनका राम ऐसा नाम है, उनके सङ्ग में एक सोलह वर्ष की अवस्थावाली स्त्री है ॥ ४ ॥

रूप-रासि बिधि नारि सँवारी । रति सतकोटि तासु बलिहारी ॥
तासु अनुज काटे स्रुति नासा । सुनि तव भगिनि करहिँ परिहासा ॥५॥

उस रूप की राशि स्त्री को ब्रह्मा ने सँवारा है, असंख्यों रति उसकी शोभा पर न्योछावर है। उसके छोटे भाई ने मेरी नाक और कान काटा है, वे तुम्हारी बहिन सुन कर मुझ से हँसी करने लगे ॥ ५ ॥

खर-दूषन सुनि लगे पुकारा । छन महँ सकल कटक उन्ह मारा ॥
खर-दूषन-त्रिसिरा कर घाता । सुनि दससीस जरे सब गाता ॥६॥

मेरी पुकार सुन कर खर और दूषण (गोहार करने में) लगे, उन्होंने समस्त सेना को क्षणभर में मार डाला। खर, दूषण और त्रिशिरा का वध सुन कर रावण के सब अङ्ग जल गये ॥६॥

'रावण के सब अङ्ग जले' इस वाक्य में मुख्यार्थ बाध हो कर क्रोध से तप्त होना अर्थ प्रकट करने में 'रूढ़ि लक्षणा' है।

दो०—सूपनखहि समुझाइ करि, बल बोलेसि बहु भाँति ।
गयउ भवन अति सोच बस, नीँद परइ नहिँ राति ॥२२॥

बहुत तरह से अपना बल बखान शूर्पणखा को समझा महल में गया। अत्यन्त सोच के अधीन होने से रात में नींद नहीं आई ॥ २२ ॥

चौ०—सुर नर असुर नाग खग माहीँ । मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीँ ॥
खर दूषन मोहि सम बलवन्ता । तिन्हहिँ को मारइ बिनु भगवन्ता ॥१॥

पलँग पर पड़े पड़े सोचता है कि देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और पक्षियों में मेरे नौकरों की बराबरी का कोई नहीं है। खर और दूषण मेरे समान बली थे, बिना भगवान् के उनको कौन मार सकता है ? ॥ १ ॥

सुर-रञ्जन भञ्जन-महि-भारा । जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बयर हठि करऊँ । प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ ॥२॥

देवताओं को प्रसन्न करनेवाले भगवान् ने यदि धरती का बोझा चूर चूर करने के लिए जन्म लिया है तो मैं जा कर हठ से शत्रुता करूँगा, स्वामी के बाणों से प्राण त्याग कर संसार से पार हो जाऊँगा ॥ २ ॥

रावण का शङ्का निवारणार्थ विचार करना 'वितर्क सञ्चारीभाव' है ।

होइहि भजन न तामस-देहा । मन क्रम बचन मन्त्र दृढ़ एहा ॥
जौं नर-रूप भूप-सुत कोऊ । हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥३॥

तमोगुणी शरीर (राक्षस-तनु) से भजन न होगा, मन, कर्म और वचन से यही मत पक्का है । यदि मनुष्य रूप में कोई राजपुत्र होंगे तो दोनों को लड़ाई में जीत कर स्त्री को हर लूँगा ॥३॥

जो ईश्वर अवतरे होंगे तो उनके बाण से प्राण त्याग कर संसार से पार होऊँगा । जो मनुष्य राजा होंगे तो रण में जीत कर स्त्री हर लूँगा । यह निश्चय न होना कि ईश्वर हैं या मनुष्य, संशय बना रहना 'सन्देह अलंकार' है ।

चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ । बस मारीच सिन्धु-तट जहवाँ ॥
इहाँ राम जसि जुगुति बनाई । सुनहु उमा सो कथा सुहाई ॥४॥

अकेले विमान पर चढ़ कर वहाँ चला जहाँ समुद्र के किनारे मारीच रहता था । शिवजी कहते हैं—हे उमा ! वह सुन्दर कथा सुनो, जैसी युक्ति यहाँ रामचन्द्रजी ने रची ॥४॥

दो०—लछिमन गये बनहिं जब, लेन-मूल-फल-कन्द ।
जनक-सुता सन बोले, बिहँसि कृपा-सुख-बृन्द ॥२३॥

जब लक्ष्मणजी वन में कन्द, मूल, फल लेने गये, तब जनक-नन्दिनी से हँस कर कृपा और सुख के समूह रामचन्द्रजी बोले ॥२३॥

चौ०—सुनहु प्रिया ब्रत-रुचिर सुसीला । मैं कछु करब ललित नर लीला ॥
तुम्ह पावक महँ करहु निवासा । जौं लगि करउँ निसाचर नासा ॥१॥

हे सुन्दर व्रतवाली प्रिये, सुशीले ! सुनो, मैं कुछ सुहावनी मनुष्य-लीला करूँगा । तुम तब तक अग्नि में निवास करो जब तक मैं राक्षसों का विनाश न कर डालूँ ॥१॥

जबहिं राम सब कहा बखानी । प्रभु पद धरि हिय अनल समानी ॥
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता । तैसइ सील रूप सुबिनीता ॥२॥

जब रामचन्द्रजी ने सब बखान कर कहा, तब स्वामी के चरणों को हृदय में रख कर अग्नि में समा गईं । सीताजी ने अपना प्रतिबिम्ब वहाँ रख छोड़ा, वैसा ही शील, शोभा और

सुन्दर नम्रता (उस प्रतिमूर्त्ति में है जैसी कि जानकीजी में थी) ॥२॥

जानकीजी के आकार और प्रतिबिम्ब में कोई अन्तर न दिखाई पड़ना 'सामान्य अलंकार' है।

लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचेउ भगवाना॥
दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथ रत नीचा॥३॥

जो कुछ चरित्र भगवान् ने किया, उसका भेद लक्ष्मणजी ने भी नहीं जाना। नीच रावण स्वार्थ में तत्पर मस्तक नवाये वहाँ गया जहाँ मारीच रहता था ॥३॥

मारीच अनुचर है और रावण राजा है, इसलिये मारीच को मस्तक नहीं नवाया। स्वार्थी लोग अकर्तव्य करने में नहीं हिचकते, स्वार्थ वश सिर नवाया। दोनों प्रकार का अर्थ किया जा सकता है।

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अङ्कुस धनु उरग बिलाई॥
भय-दायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥४॥

नीचों की नम्रता अत्यन्त दुःख देनेवाली है, जैसे अङ्कुश, धनुष, साँप और बिल्ली का नवना। शिवजी कहते हैं—हे भवानी! खलों की प्रिय वाणी भयदाई है, जैसे—अकाल (बिना समय का) फूल फूलना ॥४॥

दो०—करि पूजा मारीच तब, सादर पूछी बात।
कवन हेतु मन ब्यग्र अति, अकसर आयहु तात॥२४॥

तब मारीच ने पूजा करके आदर-पूर्वक बात पूछी। हे तात! किस कारण आप व्याकुल मन से अकेले आये हैं ॥२४॥

चौ०—दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे॥
होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप नारी॥१॥

अभागे रावण ने अभिमान के साथ सारी कथा उसके सामने कही। फिर बोला कि तुम छल करनेवाला कपट-मृग बनो, जिस प्रकार मैं राजा की स्त्री को हर लाऊँ ॥१॥

तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर-रूप चराचर-ईसा॥
ता सों तात बयर नहिं कीजै। मारे मरिय जिआये जीजै॥२॥

फिर मारीच ने कहा—हे दशानन! सुनो, वे मनुष्यदेह लिये चराचर के स्वामी हैं। हे तात! उनसे बैर मत कीजिये, जिनके मारने से मृत्यु और जिलाने से जीना होता है ॥२॥

मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयर किये भल नाहीं॥३॥

ये राजकुमार मुनि की यज्ञ-रक्षा करने के लिए गये थे, वहाँ रघुनाथजी ने बिना फर के

बाण से मुझे मारा। मैं क्षण भर में चार सौ कोस आ गया, उनसे वैर करने में अच्छा नहीं है॥ ३॥

भइ मम कीट भृङ्ग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाईं॥
जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥४॥

मेरी दशा कीड़े और भँवरी की तरह हुई, जहाँ तहाँ मैं दोनों भाइयों को देखता था। हे तात! यदि वे मनुष्य हैं तो भी बड़े शूरवीर हैं, उनसे विरोध करने से पूरा न पड़ेगा॥४॥

भ्रमरी (भिलनी) एक प्रकार की मक्खी है। वह अण्डा नहीं देती, छोटे कीड़ों को अपनी छात में उठा लाती है और उसको काट कूट अधमरा कर के ऊपर से भनभनाने लगती है। भय विह्वल कीड़े को सारा जगत भ्रमरी मय दीखने लगता है। अन्त को वह भी भ्रमरी रूप हो जाता है। बस यही उस मक्खी का अण्डा देना है।

दो०—जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर-को दंड।
खर-दूषन-त्रिसिरा-बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड॥२५॥

जिन्हों ने ताड़का और सुबाहु को मार डाला, शिवजी के धनुष को तोड़ा। खर, दूषण और त्रिशिरा का वध किया, क्या मनुष्य ऐसा बलवान होगा? (कदापि नहीं)॥२५॥

इतना बली मनुष्य नहीं होता, ये ईश्वर हैं। बात ही में यह व्यङ्ग निकलना वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है।

चौ०—जाहु भवन कुलकुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी॥
गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥१॥

अपने कुल का कल्याण विचार कर घर लौट जाइये, सुन कर रावण जल उठा और मारीच को बहुत सी गालियाँ दीं। कहने लगा—अरे मूर्ख! तू गुरु जैसा मुझे ज्ञानोपदेश करता है भला यह तो कह कि संसार में मेरे समान कौन योद्धा है?॥१॥

परोत्कर्ष न सह सकना और बल में दूसरों की अपेक्षा अपने को सर्वोपरि समझना असूया तथा गर्व सञ्चारी भाव है।

तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधे नहिँ कल्याना॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बन्दि कबि मानस-गुनी॥२॥

तब मारीच ने मन में विचारा कि नव से विरोध करने में कल्याण नहीं होता। (१) शस्त्रधारी, (२) भेदिया अर्थात् अपनी छिपी बातों को जाननेवाला, (३) स्वामी, (४) दुष्ट वा मूर्ख, (५) धनवान्, (६) वैद्य, (७) बन्दीजन, (८) कवि और (९) मन की बात जानने में गुणी (दैवज्ञ)॥ २॥

उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकेसि रघुनायक सरना॥
उतर देत मोहि बधब अभागे। कस न मरउँ रघुपति-सर लागे॥३॥

जब दोनों तरह से अपना मरण देखा, तब रघुनाथजी की शरण जाना निश्चय किया।

मारीच ने मन में सोचा कि उत्तर देते ही अभागा-रावण मुझे मार डालेगा तो रघुनाथजी के बाण लगने से क्यों न मरूँ ॥ ३ ॥

अस जिय जानि दसानन सङ्गा । चला राम-पद-प्रेम अभङ्गा ॥
मन अति हर्ष जनाव न तेही । आजु देखिहउँ परम सनेही ॥४॥

ऐसा मन में समझ कर रावण के साथ चला और रामचन्द्रजी के चरणों में अखण्ड प्रेम उत्पन्न हुआ । उसके मन में बड़ी प्रसन्नता है; परन्तु उस हर्ष को रावण को नहीं प्रकट होने दिया, विचारता जाता था कि आज परमस्नेही राघव को देखूँगा ॥ ४ ॥

मारीच प्रेम से उत्पन्न हर्ष को रावण से इस लिए छिपाया कि वह दुष्ट जान लेने पर वध कर डालेगा 'अवहित्थ संचारी भाव' है ।

हरिगीतिका-छन्द ।

निज परम प्रीतम देखि लोचन, सुफल करि सुख पाइहौं ।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत-पद मन लाइहौं ॥
निर्बान-दायक क्रोध जा कर, भगति अबसहि बस करी ।
निजपानि सर सन्धानि सो मोहि, बधिहि सुखसागर हरी ॥८॥

अपने परम प्यारे को देख आँखों को सफल कर के सुख पाऊँगा । सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित कृपानिधान के चरणों में मन लगाऊँगा । जिनका क्रोध मोक्ष देनेवाला है और जिनकी भक्ति अवश (ईश्वर) को वश में करती है, वही सुख के समुद्र भगवान् अपने हाथ से बाण सन्धान कर मुझे मारेंगे ॥ ८ ॥

दो०—मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान ।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥२६॥

मेरा पीछा पकड़े धनुष बाण लिये दौड़ेंगे, मैं फिर फिर कर स्वामी को देखूँगा; मेरी बराबरी का दूसरा कोई धन्य नहीं है ॥ २६ ॥

चौ०—तेहि बन निकट दसानन गयऊ । तब मारीच कपट-मृग भयऊ ॥
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई । कनक-देह मनि रचित बनाई ॥१॥

जब रावण उस वन के समीप गया, तब मारीच छल से मृग बन गया । वह बड़ा विलक्षण कुछ वर्णन नहीं किया जाता, सुवर्ण का शरीर रत्नों से जड़ा हुआ बनाया ॥ १ ॥

सीता परम रुचिर मृग देखा । अङ्ग-अङ्ग-सुमनोहर-बेखा ॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला । एहि मृग कर अति-सुन्दर छाला ॥२॥

सीताजी ने अत्युत्तम सुन्दर मृग को देखा, उसके अङ्ग अङ्ग के वेष अतीव मनोहर थे । उन्होंने रामचन्द्रजी से कहा—हे कृपालु रघुबीर देव ! सुनिये, इस मृग का चर्म बहुत ही सुहावना है ॥ २ ॥

सत्यसन्ध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥
तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर-काज सँवारन ॥३॥

हे सत्यसङ्कल्प स्वामिन्! इस का वध कर के चर्म ले आइये, जब जानकीजी ने ऐसा कहा। तब सब कारणों को जानते हुए रघुनाथजी देवताओं का कार्य्य सुधारने के लिए प्रसन्न हो कर उठे ॥ ३ ॥

मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साधा ॥
प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥४॥

मृग को देख कर कमर में फेंटा बाँधा और हाथों में सुन्दर धनुष-बाण सजाया। प्रभु रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को समझा कर कहा कि हे भाई! वन में बहुत से राक्षस फिरते हैं ॥४॥

सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥
प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाये राम सरासन साजी ॥५॥

तुम बुद्धि, ज्ञान और बल से अवसर समझ कर सीता की रखवाली करना। प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर मृग भाग चला और रामचन्द्रजी धनुष सज कर उसके पीछे दौड़े ॥५॥

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया-मृग पाछे सो धावा ॥
कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छिपाई ॥६॥

(जिन परमात्मा की महिमा वर्णन करने में) वेद अन्त नहीं कहते और जिनको शिवजी ध्यान में नहीं पाते, वे ही माया (बनावटी) मृग के पीछे दौड़ते हैं! वह मृग कभी समीप में आता; फिर कभी दूर भाग जाता है, कभी प्रत्यक्ष होता और कभी छिप जाता है ॥ ६ ॥

प्रगटत दुरत करत छल भूरी। एहि बिधि प्रभुहि गयउ लेइ दूरी ॥
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर चिकारा ॥७॥

इस तरह प्रकट होते और छिपते बहुत सा छल करते हुए प्रभु को दूर ले गया। तब रामचन्द्रजी ने लक्ष्य कर के कठिन बाण मारा, भीषण चीत्कार कर के वह धरती पर गिर पड़ा ॥७॥

लछिमन कर प्रथमहिँ लेइ नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा ॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज-देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा ॥८॥

(उसने ज़ोर से चिल्ला कर) पहले लक्ष्मणजी का नाम लिया, पीछे रामचन्द्रजी को मन में स्मरण किया। प्राण त्यागते समय अपना शरीर प्रकट कर दिया और प्रीति के सहित रामचन्द्रजी का सुमिरन किया ॥ ८ ॥

अन्तर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना ॥९॥

सुजान रामचन्द्रजी ने उसके अन्तःकरण का प्रेम पहचान कर जो गति मुनियों को दुर्लभ है, वह दी ॥ ९ ॥

जो राक्षस जन्म का पापी था, वह क्षण मात्र के प्रेम से नाम स्मरण कर के उस गति को प्राप्त हुआ जो मुनियों को दुर्लभ है। यह 'द्वितीय विशेष अलंकार' है।

दो०—बिपुल सुमन सुर बरषहिँ, गावहिँ प्रभु-गुन-गाथ।
निज-पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबन्धु रघुनाथ ॥२७॥

देवता बहुत सा फूल बरसते हैं और प्रभु रामचन्द्रजी के गुणों की कथा गान करते हैं कि रघुनाथजी दीनों के सहायक हैं, तभी राक्षस को अपना पद दिया है ॥२७॥

चौ०—खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। सोह चाप कर कटि तूनीरा॥
आरत गिरा-सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता॥१॥

दुष्ट राक्षस का वध कर के रघुनाथजी तुरन्त लौटे; उनके हाथ में धनुष और कमर में तरकस शोभित हो रहा है। जब सीताजी ने दीन वाणी सुनी तब, वे अत्यन्त भयभीत होकर लक्ष्मणजी से कहने लगीं ॥१॥

सीताजी ने मारीच की आर्त्त वाणी को भ्रम से रामचन्द्रजी का पुकारना समझा, यह 'भ्रान्ति अलंकार' है।

जाहु बेगि सङ्कट अति भ्राता। लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ सङ्कट परइ कि सोई॥२॥

तुम्हारे भाई बड़े संकट में हैं, जल्दी जाओ, लक्ष्मणजी ने हँस कर कहा—हे माता! सुनिये। जिनकी भृकुटी के घुमाने से ब्रह्माण्ड का नाश होता है, क्या उनको स्वप्न में भी सङ्कट पड़सकता है? (कदापि नहीं) ॥२॥

मरम बचन जब सीता बोली। हरि प्रेरित लछिमन मति डोली॥
बन-दिसि-देव सौँपि सब काहू। चले जहाँ रावन-ससि-राहू॥३॥

जब सीताजी ने भेदकी बात कही, तब भगवान की प्रेरणा से लक्ष्मणजी का मन डगमग हो गया। उन्होंने वन और दिशा के देवताओं को सौंप कर जहाँ रावण रूपी चन्द्रमा को ग्रसने वाले राहु (रामचन्द्रजी) हैं वहाँ चले ॥३॥

सीताजी ने मर्म की बात कही, जिससे लक्ष्मणजी का मन डोल गया। पर उस बात को प्रत्यक्ष न कह कर सन्दिग्ध गुणीभूत व्यङ्ग है। पण्डित रामबकस पाण्डेय की प्रति में उपर्युक्त पाठ है और व्याकरण की रीति से यही शुद्ध प्रतीत होता है; किन्तु गुटका और सभा की प्रति में 'सीता बोला-लछिमनमन डोला' पाठ है।

सून बीच दसकन्धर देखा। आवा निकट जती के बेखा॥
जा के डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥४॥

इसी बीच में रावण ने सूना देखा, तब सन्यासी के भेष में सीताजी के समीप आया

जिसके डर से देवता दैत्य डरते हैं, उन्हें रात में निद्रा नहीं आती और दिन में भूख नहीं लगती ॥४॥

सो दससीस स्वान की नाईं । उत इत चितइ चला भड़िहाईं ॥
इमि कुपन्थ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥५॥

वही रावण कुत्ते की तरह इधर उधर देखता हुआ चोरी करने को चला है। काग-भुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज! इसी प्रकार कुमार्ग में पाँव रखते ही शरीर में तेज, बुद्धि और बल लेशमात्र नहीं रह जाते हैं ॥५॥

नाना बिधि कहि कथा सुहाई । राजनीति भय प्रीति देखाईं ॥
कह सीता सुनु जती गोसाँईं । बोलेहु बचन दुष्ट की नाँईं ॥६॥

अनेक प्रकार की सुन्दर कथा कह कर राजनीति, डर और प्रीति देखाया। सीताजी ने कहा—हे यती गोसाँईं! सुनिये, आप ने तो दुष्ट के समान वचन कहे हैं ॥६॥

राजनीति—यह कि ऐसी कोमलाङ्गीबाला को वन में अकेले छोड़ना नीति विरुद्ध है। भय—इस जङ्गल में भयङ्कर जीवजन्तु और राक्षस निवास करते हैं। प्रीति—यदि तुम मुझ से प्रेम करो तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।

तब रावन निज-रूप देखावा । भई सभय जब नाम सुनावा ॥
कह सीता धरि धीरज गाढ़ा । आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा ॥७॥

तब रावण ने अपना रूप दिखाया और जब नाम बतलाया तब सीताजी भयभीत हुईं। उन्हों ने अच्छी तरह धीरज धर कर कहा—अरे दुष्ट! खड़ा रह, स्वामी आगये ॥७॥

जिमि हरि-बधुहि छुद्र सस चाहा । भयेसि काल-बस निसिचर-नाहा ॥
सुनत बचन दससीस लजाना । मन महँ चरन बन्दि सुख माना ॥८॥

जैसे सिंह की भार्य्या को तुच्छ खरहा चाहता हो, अरे राक्षसपति! उसी तरह तू काल के अधीन हुआ है। सीताजी की बात सुन कर दशानन लज्जित हुआ और मन में उनके चरणों को नमस्कार कर के प्रसन्न हुआ ॥८॥

दो०–क्रोधवन्त तब रावन, लीन्हेसि रथ बैठाइ ॥
चला गगन-पथ आतुर, भय रथ हाँकि न जाइ ॥ २८ ॥

तब (प्रत्यक्ष में) रावण क्रोधित होकर रथ पर उन्हें बैठा लिया और शीघ्रता-पूर्वक अकाश-मार्ग से चला, परन्तु डर के कारण रथ हाँका नहीं जाता है ॥२८॥

रावण का मन में लजाना, चरणों की वन्दना कर के सुख मानना, क्रोधित होना और डरना, बहुत भावों का एक साथ उदय 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। भय के आगे ऊपर कहे हुए सभी भाव शान्त हो गये, इसलिए भावशान्ति भी है।

चौ०—हा जगदेक-बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया॥
आरति-हरन सरन-सुख-दायक। हा रघुकुल-सरोज-दिननायक॥१॥

सीताजी विलपने लगीं—हाय! जगत में एक ही वीर रघुराज, किस अपराध से दया भुला दी! हाय! रघुकुल रूपी कमल-वन के सूर्य्य! आप शरणागतों के दुःख को दूर कर उन्हें सुख देनेवाले हैं॥१॥

हा लछिमन तुम्हार नहिँ दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही॥२॥

हाय लक्ष्मण! तुम्हारा दोष नहीं, जैसा मैं ने क्रोध किया, वैसा फल पाया। इस तरह जानकीजी अनेक प्रकार का विलाप करती हैं, वे कहती हैं कि बहुत बड़ी कृपा और स्नेह करनेवाले स्वामी दूर हो गये!॥२॥

बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी॥३॥

मेरी विपत्ति कौन स्वामी को सुनावेगा? यज्ञ के भाग को गदहा खाना चाहता है! सीताजी के भारी विलाप को सुन कर स्थावर जङ्गम सब जीव दुःखी हुए॥३॥

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुल-तिलक-नारि पहिचानी॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछ-बस कपिला-गाई॥४॥

गीधों के राजा जटायु ने दुःख भरी वाणी सुन कर पहचाना कि ये रघुकुल के भूषण (रामचन्द्रजी) की स्त्री हैं। अधम राक्षस कैसे लिये जाता है जैसे कसाई के वश में कपिला गाय पड़ी हो॥४॥

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥
धावा क्रोधवन्त खग कैसे। छूटइ पबि पर्वत कहँ जैसे॥५॥

जटायु ने पुकारा—हे सीते पुत्रि! तू डर न कर, मैं राक्षस का नाश करूँगा। ऐसा कह कर वह पक्षी क्रोधित हो कैसे दौड़ा जैसे पर्वत की ओर वज्र छूटता है॥५॥

रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही। निर्भय चलेसि न जानेहि मोही॥
आवत देखि कृतान्त समाना। फिरि दसकन्धर कर अनुमाना॥६॥

जटायु ने रावण को ललकारा—अरे दुष्ट! रे अधम! खड़ा क्यों नहीं होता? निडर हो कर चला है, मुझ को नहीं जानता? काल के समान आता हुआ देख कर रावण उसकी ओर फिर कर अनुमान करने लगा॥६॥

की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥
जाना जरठ जटायू एहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा॥७॥

या तो मैनाक होगा अथवा गरुड़ होगा, परन्तु ये दोनों मेरे बल को अपने मालिकों के

सहित जानते हैं । समीप आने पर—जाना कि यह बुड्ढा जटायु है, मेरे हाथ रूपी तीर्थ में शरीर त्यागेगा ॥७॥

सुनत गीध क्रोधातुर धावा । कह सुनु रावन मोर सिखावा ॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू । नाहिँत अस होइहि बहुबाहू ॥८॥

सुनते ही गीध क्रोधित होकर दौड़ा और कहा—हे रावण ! मेरा सिखावन सुन । जानकी को छोड़ कर कुशल से घर जाओ, नहीं तो हे बहुत भुजावाले ! ऐसा होगा कि—॥ ८ ॥

शंका—रावण ने अनुमान के सिवा प्रत्यक्ष में कुछ नहीं कहा, फिर बिना कुछ कहे जटायु ने कैसे सुन लिया ? उत्तर कथा भाग में कहीं प्रश्न से उत्तर की और उत्तर से प्रश्न की कल्पना होती है । यहाँ 'सुनत गीध' से रावण का कहना सूचित होता है । गीध का गूढ़ अभिप्राय रावण का दम्भ निवारण कर सीताजी को छुड़ाना है । यह कल्पित प्रश्न का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है ।

राम-रोष-पावक अति-घोरा । होइहि सलभ सकल-कुल तोरा ॥
उतर न देत दसानन जोधा । तबहिँ गीध धावा करि क्रोधा ॥९॥

रामचन्द्रजी का क्रोध अत्यन्त भीषण अग्नि रूप है, उस में तेरा सम्पूर्ण कुटुम्ब पाँखी रूपी होकर भस्म होगा । योद्धा रावण ने जब उत्तर नहीं दिया, तब गीध क्रोध कर के दौड़ा ॥ ९ ॥

धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा । सीतहि राखि गीध पुनि फिरा ॥
चोचन मारि बिदारेसि देही । दंड एक भइ मुरछा तेही ॥१०॥

रावण के बाल पकड़ कर बिना रथ के कर दिया वह धरती पर जा गिरा, सीताजी को (अपने स्थान पर) रख कर फिर गीध लौटा । चोंच से मार कर शरीर फाड़ डाला, रावण को एक घड़ी तक मूर्च्छा हुई ॥ १० ॥

तब सक्रोध निसिचर खिसियाना । काढ़ेसि परम कराल कृपाना ॥
काटेसि पङ्ख परा खग धरनी । सुमिरि राम करि-अद्भुत-करनी ॥११॥

(जब मूर्च्छा से जगा) तब वह राक्षस क्रोध से खिसिया गया और अत्यन्त भीषण तलवार म्यान से निकाला । जटायु के पङ्ख काट डाले, वह पक्षी अद्भुत करनी कर के रामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ११ ॥

'करि अद्भुत करनी' में शब्दार्थ शक्ति से जटायु की अतिशय शूरता व्यञ्जित होना व्यङ्ग है । रावण जैसे विकट योद्धा को चोंच की मार से विदीर्ण और व्याकुल कर के तब धरती पर गिरा, सहज में नहीं । इस चौपाई का जो यह अर्थ किया जाता है कि—"रामचन्द्रजी की अद्भुत करनी स्मरण कर के जटायु धरती पर गिर पड़ा" सर्वथा भ्रान्ति-मूलक है ।

सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी । चला उताइल त्रास न थोरी ॥
करति बिलाप जाति नभ सीता । ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता ॥१२॥

फिर सीताजी को रथ पर चढ़ा कर शीघ्रता से चला, उसके मन में बड़ी त्रास उत्पन्न हुई। सीताजी विलाप करती हुई आकाश में जाती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं मानों व्याधा के वश में मृगी भयभीत हो ॥ १२ ॥

गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी । कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी ॥
एहि बिधि सीतहि सो लेइ गयऊ । बन असोक महँ राखत भयऊ ॥१३॥

पर्वत पर बैठे बन्दरों को देख भगवान् का नाम ले कर अपना वस्त्र गिरा दिया। इस तरह सीताजी को वह ले गया और अशोक वन में रक्खा ॥ १३ ॥

दो०—हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति देखाइ ।
तब असोक-पादप तर, राखेसि जतन कराइ ॥

दुष्ट रावण बहुत तरह भय और प्रीति दिखा कर हार गया, (जब सीताजी ने उसकी बातें स्वीकार नहीं की) तब अशोक वृक्ष के नीचे रक्षक नियत कर यत्न-पूर्वक रक्खा।

अशोक वृक्ष के नीचे रखने में लक्षणामूलक व्यङ्ग है, क्योंकि अशोक शोक को दूर कर देता है। अथवा सीताजी की तपश्चर्य्या में किसी प्रकार का विघ्न न हो। अथवा अशोक के नीचे रख कर यह सूचित किया कि आप शोक न करें, स्वामी शीघ्र आवेंगे इत्यादि।

जेहि बिधि कपट-कुरङ्ग-सँग, धाइ चले श्रीराम ।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि-नाम ॥२९॥

जिस प्रकार कपट-मृग के साथ श्रीरामचन्द्रजी दौड़ कर चले थे। उस छबि को सीताजी हृदय में रख कर भगवान् का नाम रटती रहती हैं ॥ २६ ॥

चौ०—रघुपति अनुजहि आवत देखी । बाहिज चिन्ता कीन्ह बिसेखी ॥
जनक-सुता परिहरेहु अकेली । आयहु तात बचन मम पेली ॥१॥

रघुनाथजी ने छोटे भाई लक्ष्मणजी को आते देख कर बाहरी (दिखौआ) बहुत ही चिन्ता की। उन्होंने कहा—हे भाई ! मेरी बात टाल कर जनक-नन्दिनीको अकेलो छोड़ आये ॥ १ ॥

निसिचर-निकर फिरहिँ बन माहीँ । मम मन सीता आस्रम नाहीँ ॥
गहि पद-कमल अनुज कर जोरी । कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी॥२॥

झुण्ड के झुण्ड राक्षस वन में फिरते हैं, मेरा मन कहता है सीता आश्रम में नहीं हैं। लक्ष्मणजी ने चरण-कमलों को पकड़ कर और हाथ जोड़ कर कहा—हे नाथ ! इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है ॥ २ ॥

अनुज समेत गये प्रभु तहवाँ। गोदावरि-तट आस्रम जहवाँ॥
आस्रम देखि जानकी हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना॥३॥

छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी वहाँ गये जहाँ गोदावरी नदी के किनारे आश्रम था। जानकीजी से हीन आश्रम को देख कर ऐसे व्याकुल हुए जैसे प्राकृत (मामूली विषयी मनुष्य) दुःखी हो॥३॥

हा गुनखानि जानकी सीता। रूप-सील ब्रत नेम पुनीता॥
लछिमन समुझाये बहुभाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥४॥

हाय! गुणों की खानि जानकी, हाय! रूप, शील, व्रत और नियमों से पवित्र सीता (तू कहाँ गई)। लक्ष्मणजी ने बहुत तरह से समझाया, तब वृक्ष और लता-पंक्तियों से पूछते हुए चले॥४॥

सीताजी के विरह से व्याकुल होकर जड़ चेतन के सम्बन्ध में तुल्यवृत्ति धारण कर लेना, वृक्षों से पूछना 'उन्माद संचारी भाव' है। सभा की प्रति में 'लता तरु पाती' पाठ है। वहाँ लता, वृक्ष और पक्षी अर्थ होगा।

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
खञ्जन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥५॥

हे पक्षियो! हे मृगो! हे भ्रमरों की श्रेणियो! तुमने मृग-नयनी सीता को देखा है? उनकी आँखें खञ्जरीट-हरिण और मछली को, नासिका-कीर को, ग्रीवा-कबूतर को, बाल-भ्रमर समूह को तथा कण्ठ प्रवीण कोकिल को! लज्जित करनेवाले हैं!॥५॥

इस पाँचवीं चौपाई के उत्तरार्द्ध से नीचे की सातवीं चौपाई पर्य्यन्त केवल उपमान का नाम कह कर उपमेयों का बोध कराना 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' है।

कुन्द कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
बरुनपास मनोजधनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥६॥

दाँत-कुन्द की कला और अनारदाने के समान, कान्ति बिजली की तरह, मुख-शरत्काल के कमल एवम् चन्द्रमा, चोटी-नागिन की भाँति, कण्ठ रेखा-वरुण के फन्दे के तुल्य, भौंह-कामदेव के धनुष के बराबर, चाल हंस और हाथी की, कमर सिंह जैसी पतली है। (जिनके बिना आज ये सब उपमान मेरे मुख से) अपनी बड़ाई सुनते हैं॥६॥

स्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न सङ्क सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥७॥

पयोधर-बेल के समान, शरीर का रङ्ग-सुवर्ण और जङ्घा-कदली, सभी उपमान उपमेय के बिना मन में प्रसन्न हैं, इनको ज़रा भी शङ्का नहीं है। हे जानकी! सुनो, आज तुम्हारे बिना ये सम्पूर्ण (उपमान) ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानो इन्हें राज्य मिल गया हो॥७॥

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥८॥

हे प्रिये ! इस तरह रुष्ट होना तुमसे कैसे सहा जाता है ? जल्दी प्रकट क्यों नहीं होती हो। इस प्रकार स्वामी रामचन्द्रजी विलाप करते हुए सीताजी को ढूँढ़ते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बड़े विरही और अत्यन्त कामी-पुरुष हों ॥८॥

यहाँ रामचन्द्रजी के हृदय में सीताजी विषयक रति स्थायी भाव है। जानकीजी आलम्बन विभाव हैं। खञ्जनादि का दर्शन उद्दीपन विभाव है। विरह व्यथा से विकल होकर प्रलाप करना अनुभाव है। वृक्ष लतादिकों से उनका पता पूछना उन्माद सञ्चारी भाव से पुष्ट हो कर 'विप्रलम्भ शृङ्गाररस' हुआ है।

पूरनकाम-राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी ॥
आगे परा गीध-पति देखा। सुमिरत राम-चरन जिन्ह रेखा ॥९॥

रामचन्द्रजी पूर्णकाम (इच्छारहित) और सुख के राशि हैं, वे अजन्मे एवम् अविनाशी हैं, मनुष्य चरित करते हैं। आगे गिद्धराज को पड़ा देखा जो रामचन्द्रजी के चरण-चिह्नों का स्मरण करता था ॥९॥

दो०-कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिन्धु रघुबीर ।
निरखि राम छबि-धाम-मुख, बिगत भई सब पीर ॥३०॥

कृपासागर रघुनाथजी ने अपने कर-कमलों को जटायु के मस्तक पर स्पर्श कर के फेरा। शोभा के स्थान रामचन्द्रजी के मुख को देख कर उसकी सब पीड़ा जाती रही ॥३०॥

चौ०-तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहु राम भञ्जन-भव-भीरा ॥
नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनक-सुता हरि लीन्ही ॥१॥

तब गीध धीरज धर कर वचन बोला—हे संसारी भय को चूर चूर करनेवाले रामचन्द्रजी ! सुनिये। हे नाथ ! मेरी यह दशा रावण ने की है, उसी दुष्ट ने जनकनन्दिनी को हर लिया है ॥१॥

लेइ दच्छिन-दिसि गयउ गोसाँई। बिलपति अति कुररी की नाँई ॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना ॥२॥

हे स्वामिन् ! उन्हें ले कर वह दक्षिण दिशा में गया है, सीताजी टिटिहरी-पक्षी की तरह बहुत विलाप करती थीं। हे कृपानिधान प्रभो ! आप का दर्शन करने के लिये मैं ने अब तक प्राण रक्खे, पर अब वे चलना चाहते हैं ॥२॥

राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता ॥
जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ स्रुति गावा ॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे तात ! शरीर रखिये, जटायु ने मुख में मुस्कुरा कर बात कही।

मरते समय जिनका नाम मुख से निकलने पर वेद कहते हैं कि अधम भी हो तो उसकी मुक्ति हो जाती है ॥३॥

सो मम लोचन-गोचर आगे। राखउँ देह नाथ केहि खाँगे ॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात करम निज तें गति पाई ॥४॥

वही (परमात्मा) मेरी आँखों के सामने खड़े हैं, हे नाथ! अब क्या कमी है जिसके लिये शरीर रक्खूँ? नेत्रों में जल भर कर रघुनाथजी कहते हैं—हे तात? आप ने अपने कर्म से अच्छी गति पाई है ॥४॥

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह, तुम्ह पूरनकामा ॥५॥

जिनके मन में परोपकार बसता है, उनको संसार में कुछ भी दुलभ नहीं है। हे तात! शरीर त्याग कर आप मेरे धाम (वैकुण्ठ) को जाइये, मैं क्या दूँ, आप के हृदय में किसी वस्तु की इच्छा नहीं है ॥५॥

आपने अपने कर्म से गति पाई—इस बात की पुष्टि हेतु-सूचक बात कह कर करना कि जिनके मन में परोपकार बसता है, उनको जगत में कुछ भी दुर्लभ नहीं 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

दो०-सीता-हरन तात जनि, कहेहु पिता सन जाइ ॥
जौं मैं राम त कुल सहित, कहिहि दसानन आइ ॥३१॥

हे तात! सीताहरण पिताजी से जाकर मत कहना। जो मैं राम हूँ तो परिवार सहित रावण स्वयम् आकर कहेगा ॥३१॥

रामचन्द्रजी ने सीधे यह नहीं कहा कि मैं रावण को मारूँगा। उसी बात को घुमा कर कहते हैं कि यदि मैं राम हूँ तो सकुटुम्ब आ कर रावण ही कहेगा 'प्रथम पर्य्यायोक्ति अलंकार' है।

चौ०-गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा ॥
स्याम-गात बिसाल भुज-चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥१॥

गीध ने शरीर त्याग कर भगवान् का रूप धारण किया, बहुत से आभूषण और अनुपम पीताम्बर पहने हुए, श्यामल शरीर और विशाल चार भुजायें हैं, नेत्रों में जल भर कर स्तुति करने लगा ॥१॥

हरिगीतिका-छन्द।

जय राम रूप अनूप निर्गुन, सगुन गुन प्रेरक सही।
दससीस बाहु-प्रचंड-खंडन, चंड-सर मंडन मही ॥
पाथोद-गात सरोज-मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि राम कृपाल बाहु बिलास भव-भय मोचनं ॥१॥

हे रामचन्द्रजी! आप का रूप अनुपम है, सगुण और निर्गुण स्वरूप; स्वच्छ गुणों के

प्रेरक (प्रदान करनेवाले) आपकी जय हो । अपने प्रचण्ड बाणों से रावण की प्रखर भुजाओं के काटने वाले आप धरती को शोभित करते हैं । श्याम मेघ के समान शरीर, कमल-मुख और खिले हुए लाल कमल के समान आप के नेत्र हैं । हे कृपालु रामचन्द्रजी ! आप अज्ञान वायु और संसार-सम्बन्धी भय को छुड़ानेवाले हैं, मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ ॥९॥

बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं ।
गोबिन्द गो-पर द्वन्द-हर विज्ञान-घन धरनी-धरं ॥
जे राममन्त्र जपन्त सन्त अनन्त जन मन रञ्जनं ।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि-खल-दल-गञ्जनं ॥१०॥

आप अप्रमेय बली, अनादि, अजन्मे, अप्रकट, अद्वितीय और इन्द्रियों को अप्राप्य हैं। आप इन्द्रियों के स्वामी, इन्द्रियातीत, विग्रह को हरनेवाले; विज्ञान के मेघ और धरती को धारण करनेवाले हैं । जो राममन्त्र जपते हैं उन अनन्त सन्तजनों के मन को आप प्रसन्न करनेवाले हैं । हे रामचन्द्रजी ! आप को निष्काम (कामना से रहित) जन प्यारे हैं, आप काम आदि दुष्टों के दल के नाश करते हैं, मैं आप को नित्य नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥

जेहि स्रुति निरगुन ब्रह्म ब्यापक, बिरज अज कहि गावहीं ।
करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं ॥
सो प्रगट करुनाकन्द सोभा,-वृन्द अग जग मोहई ।
मम-हृदय-पङ्कज-भृङ्ग अङ्ग अनङ्ग बहु छबि सोहई ॥११॥

श्रुतियाँ जिनको माया से निर्लिप्त ब्रह्म, व्यापक निर्मल और अजन्मा कह कर गाती हैं। अनेक प्रकार का योग, वैराग्य और ज्ञान कर के मुनि लोग जिन्हें ध्यान में पाते हैं। वही (परमात्मा) करुणाकन्द, शोभा के पुञ्ज प्रकट होकर चराचर को मोहित कर रहे हो । आप के अङ्ग में बहुत से कामदेव की छवि शोभित है, मेरे हृदय रूपी कमल में आप सदा भ्रमर रूप से विहार करें ॥११।

जो अगम सुगम सुभाव निर्मल, असम सम सीतल सदा ।
पस्यन्ति जं जोगी जतन करि, करत मन गो बस जदा ॥
सो राम रमानिवास सन्तत, दास-बस त्रिभुवन-धनी ।
मम उर बसहु सो समन संसृति, जासु कीरति पावनी ॥१२॥

जो दुर्गम और सुगम हैं, स्वाभाविक निर्मल, विषम भी तथा सम भी एवम् सदा शीतल हैं । जिनको योगी यत्न कर के देखते हैं, जिस समय वे मन और इन्द्रियों को वश में करते हैं। हे रामचन्द्रजी ! आप वही लक्ष्मीकान्त तीनों लोकों के मालिक और निरन्तर भक्तों के वश में रहते हैं । जिनकी पवित्र कीर्त्ति संसार के तापों को नष्ट करती है, वे ही (परमात्मा रामचन्द्रजी) आप मेरे हृदय में निवास कीजिये ॥१२॥

दो०—अबिरल भगति माँगि बर, गीध गयउ हरि धाम ।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम ॥३२॥

सदा एक समान रहनेवाली भक्ति का वर माँग कर गीध बैकुण्ठ को चला गया । उसकी क्रिया (दशगात्र विधान) यथायोग्य रामचन्द्रजी ने अपने हाथों से की ॥३२॥

चौ०—कोमल चित अति दीनदयाला । कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥
गीध अधम खग आमिषभोगी । गति दीन्ही जो जाँचत जोगी ॥१॥

कृपालु रघुनाथजी अत्यन्त कोमल हृदय और बिना कारण ही दीनों पर दया करनेवाले हैं । अधम पक्षी गिद्ध, मांस का खानेवाला, उसको वह गति दी जिसे योगीजन चाहते हैं ॥१॥

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥
पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई । चले बिलोकत बन बहुताई ॥२॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! सुनो, वे लोग भाग्यहीन हैं जो भगवान् रामचन्द्रजी को छोड़ कर विषयों के प्रेमी होते हैं । फिर दोनों भाई सीताजी को ढूँढ़ते और वन की अधिकता को देखते हुए चले ॥२॥

सङ्कुल लता बिटप घन कानन । बहु खग मृग तहँ गज पञ्चानन ॥
आवत पन्थ कबन्ध निपाता । तेहि सब कही साप कै बाता ॥३॥

लता और वृक्षों से भरपूर घना जङ्गल जिसमें बहुत से पक्षी, मृग, हाथी और सिंह बिहार करते हैं । रास्ते में आते हुए कबन्ध-राक्षस का नाश किया, उसने अपने शाप की सब बात कही ॥३॥

दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा । प्रभु-पद-पेखि मिटा सो पापा ॥
सुनु गन्धर्ब कहउँ मैं तोही । मोहि न सुहाइ ब्रह्म-कुल-द्रोही ॥४॥

मुझे दुर्वासा ने शाप दिया था, हे प्रभो ! वह पाप आप के चरणों के दर्शन से मिट गया । रामचन्द्रजी ने कहा—हे गन्धर्व ! जो मैं तुझ से कहता हूँ वह सुन, मुझे ब्राह्मण-कुल का द्रोही नहीं सुहाता ॥४॥

गन्धर्व ने अपने शाप की बात रामचन्द्रजी से इस प्रकार वर्णन की । स्वामिन् ! एक बार मैं ने इन्द्र की सभा में मनोहर गान किया, सारी सभा प्रसन्न होकर वाह वाह करने लगी । दुर्वासा ऋषि भी वहाँ बैठे थे, उन्हों ने कुछ भी प्रसन्नता नहीं प्रकट की । उनके इस रूखेपन पर तिरस्कार सूचक भाव से मैं हँस पड़ा । मुनि ने कुपित होकर शाप दिया कि तू राक्षस होगा । जब मैंने राक्षस होकर बड़ा उपद्रव मचाया, तब इन्द्र ने मुझ पर वज्र मारा, जिससे मेरा मस्तक पेट में धँस गया; किन्तु मरा नहीं । जब भोजन बिना मरने लगा, तब इन्द्र ने दया कर के मेरी भुजायें योजन भर की लम्बी कर दीं । उसी से जीवों को पकड़ कर खाता था ।

दो०—मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव ।
मोहि समेत बिरञ्चि सिव, बस ताके सब देव ॥३३॥

मन, कर्म और वचन से कपट त्याग कर जो ब्राह्मण की सेवा करता है उसके वश में मेरे सहित ब्रह्मा, शिव तथा सब देवता रहते हैं ॥३३॥

एक ब्राह्मण की सेवा में बहुत से उत्कृष्ट गुणों की समता देना कि सम्पूर्ण देवताओं के सहित उसके वश में मैं रहता हूँ 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है ।

चौ०—सापत ताड़त परुष कहन्ता । बिप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता ॥
पूजिय बिप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना ॥१॥

शाप देनेवाला, मारनेवाला और कटु वचन कहनेवाला ब्राह्मण पूजने योग्य है, ऐसा सन्त लोग कहते हैं । अच्छी चालचलन और गुण से हीन ब्राह्मण को पूजना चाहिये; किन्तु समूह गुणों से युक्त एवम् ज्ञान में निपुण शूद्र को न पूजना चाहिए ॥१॥

कहि निज धर्म ताहि समुझावा । निज पद प्रीति देखि मन भावा ॥
रघुपति चरन कमल सिर नाई । गयउ गगन आपनि गति पाई ॥२॥

इस प्रकार अपना धर्म कह कर उसको समझाया और अपने में उसकी प्रीति देख कर मन में प्रसन्न हुए । रघुनाथजी के चरण-कमलों में मस्तक नवा कर अपनी गति (गन्धर्व शरीर) को पाकर आकाश को चला गया ॥२॥

ताहि देइ गति राम उदारा । सबरी के आस्रम पग धारा ॥
सबरी देखि राम गृह आये । मुनि के बचन समुझि जिय भाये ॥३॥

उसको गति दे कर उदार रामचन्द्रजी ने शबरी के आश्रम में पदार्पण किया । शबरी रामचन्द्रजी को घर आये देख और मुनि के वचन समझ कर मन में प्रसन्न हुई ॥३॥

'उदार' शब्द में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि राक्षस, गिद्ध, कबन्ध को गति दे कर अब शबरी के आश्रम में उसे मुक्ति देने आये हैं । मतङ्ग ऋषि का यहाँ निवास था, शबरी ने लकड़ी, पत्तल आदि लाकर बहुत काल तक मुनियों की सेवा की । जब मतंग ऋषि परमधाम जाने लगे तब शबरी से कहा कि—इसी स्थान में रह कर भगवान् रामचन्द्रजी का मार्ग देखना । वे स्वयम् तेरी कुटी में आ कर दर्शन देंगे और तुझे मोक्ष प्रदान करेंगे । तब से वह दस हज़ार वर्ष तक राह देखती रही । आज रामचन्द्रजी के दर्शन से मुनि की बात याद आई ।

सरसिज लोचन बाहु बिसाला । जटा मुकुट सिर उर बनमाला ॥
स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई । सबरी परी चरन लपटाई ॥४॥

कमल के समान नेत्र, विशाल भुजाएँ, सिर पर जटा का मुकुट और हृदय में वनमाल शोभित है । दोनों भाई सुन्दर श्यामल गौर हैं, देखते ही शबरी चरणों पर गिर कर लिपट गई ॥४॥

शबरी-मिलाप ।

कन्द मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाये, बारम्बार बखानि ॥

प्रेममगन मुख बचन न आवा । पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥
सादर जल लेइ चरन पखारे । पुनि सुन्दर आसन बैठारे ॥५॥

प्रेम में मग्न हो गई; उसके मुख से वचन नहीं निकलता है, बार बार चरण कमलों में सिर नवाती है। आदर के साथ जल ले कर पाँव धोये, फिर सुन्दर आसन पर बैठाया ॥५॥

दो०—कन्द मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाये, बारम्बार बखानि ॥३४॥

उसने अत्यन्त स्वादिष्ट कन्द, मूल और फल ला कर रामचन्द्रजी को दिये। प्रभु रामचन्द्रजी ने उन्हें बार बार बखान कर प्रेम के सहित खाये ॥३४॥

कुछ प्रेमी भक्त कह बैठते हैं कि रामचन्द्रजी ने शवरी के जूठे फल खाये। पर ऐसा कहना परम भक्त शवरी की पवित्र भक्ति को कलङ्कित करना और मर्य्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की निर्मल कीर्ति पर धब्बा लगाना है। क्या शवरी भगवान् को जूठा फल अर्पण कर सकती थी ? (कदापि नहीं)। हाँ—यह हो सकता है कि जिन जिन वृक्षों के फल खाया हो, उनमें जो उसे स्वादिष्ठ जान पड़े, उन्हीं के फलों का सञ्चय किया हो। पर जूठे फल का अर्पण करना सर्वथा अयुक्त है। वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण में भी कन्द मूल फल देना लिखा है; किन्तु जूठे फल देने का उल्लेख नहीं है।

चौ०—पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी । प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि बिधि अस्तुति करउँ तुम्हारी । अधम जाति मैं जड़मति भारी ॥१॥

हाथ जोड़ कर सामने खड़ी हुई, प्रभु को देख कर उसके मन में अत्यन्त प्रीति बढ़ी। बोली—मैं आप की किस प्रकार स्तुति करूँ, एक तो अधम जाति की दूसरे भारी मूर्ख-बुद्धि हूँ ॥ १ ॥

अधम तेँ अधम अधम अतिनारी । तिन्ह महँ मैं मतिमन्द अघारी ॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ॥२॥

हे पाप के शत्रु ! नीच से नीच अत्यन्त नीच स्त्री हैं, उनमें मैं नीच बुद्धिवाली हूँ। रघुनाथजी ने कहा—हे भामिनि ! मेरी बात सुन, मैं एक भक्ति का नाता मानता हूँ ॥ २ ॥

शवरी का उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष कथन करना 'सार अलंकार' है।

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥३॥

जाति, पाँति, कुल-धर्म का बड़प्पन, धन-बल, कुटुम्ब-बल, गुण और चातुर्य्यता सब हो। परन्तु भक्ति हीन मनुष्य कैसे सोहता है, जैसे बिना पानी के बादल शोभा रहित दिखाई देता है ॥ ३ ॥

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति सन्तन्ह कर सङ्गा । दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा ॥४॥

मैं तुझ से नौ प्रकार की भक्ति कहता हूँ, सावधान होकर सुन और मन में रख । मेरी प्रथम भक्ति सन्तों का सङ्ग है और दूसरी मेरे कथा-प्रसङ्ग में प्रीति है ॥ ४ ॥

दो०—गुरु-पद-पङ्कज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम-गुन-गन, करइ कपट तजि गान ॥३५॥

तीसरी भक्ति अभिमान रहित हो कर गुरु के चरण-कमलों की सेवा करना और चौथी भक्ति कपट छोड़ कर मेरे गुण-गणों का गान करना है ॥ ३५ ॥

चौ०—मन्त्र-जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पञ्चम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम-सील बिरति बहु कर्मा । निरत निरन्तर सज्जन-धर्मा ॥१॥

मेरा मन्त्र (राम-नाम) जपने में दृढ़ विश्वास रखना, यह पाँचवाँ भजन (भक्ति) वेद में प्रसिद्ध है । छठीं भक्ति इन्द्रिय-दमनशील, कर्म-समूह का त्याग और सदा सज्जनों के धर्म में तत्पर रहना है ॥ १ ॥

सातवँ सम मोहि मय जग देखा । मो तें सन्त अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा ॥२॥

सातवीं भक्ति समान दृष्टि से मुझ से व्याप्त जगत को देखना और मुझ से अधिक सन्तों को समझना है । आठवीं भक्ति-जो लाभ हो उसी में सन्तुष्ट रहना और सपने में भी पराये दोष को न देखना है ॥ २ ॥

नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हिय हरष न दीना ॥
नव महँ एकउ जिन्ह के होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥३॥

नवीं भक्ति सब से निष्कपट और सीधा रहना है, हर्ष या दीनता मन में न ला कर मेरा भरोसा रक्खे । नवों भक्ति में जिनके एक भी हो, स्त्री-पुरुष और जड़ चेतन में चाहे कोई हो ॥ ३ ॥

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ।
जोगि-बृन्द दुर्लभ-गति जोई । तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥४॥

हे भामिनी ! वही मुझे अतिशय प्यारा है, तुझ में तो सम्पूर्ण (नवों) प्रकार की अटल भक्ति है । जो गति योगियों को दुर्लभ है, आज वही तुझे सुलभ हुई है ॥ ४ ॥

मम दरसन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज सरूपा ॥
जनकसुता कै सुधि भामिनी । जानहि कहु करिबर-गामिनी ॥५॥

मेरे दर्शन का अतिशय अनुपम फल है कि जीव अपने स्वाभाविक रूप (मोक्ष) को पाता है । हे भामिनी ! गज गामिनी ! जनकनन्दिनी की ख़बर जानती हो, वह कहो ॥ ५ ॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि मेरे दर्शन से जीव मोक्ष पाता है, तुझे भी मोक्षपद प्राप्त होगा।

पम्पासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहू पूछहु मतिधीरा॥६॥

शवरी ने कहा—हे रघुराज! पम्पासर को जाइये, वहाँ सुग्रीव से मित्रता होगी। हे मतिधीर रघुवीर देव! वह सब कहेगा, सब जानते हुए भी आप मुझ से पूछते हैं!॥६॥

बार बार प्रभु पद सिर नाई। प्रेम सहित सब कथा सुनाई॥७॥

बारम्बार प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में सिर नवा कर प्रेम के साथ सब कथा कह सुनायी (जो रामायण की कथा पूर्व में मतङ्ग ऋषि से सुना था)॥७॥

हरिगीतिका-छन्द।

कहि कथा सकल बिलोकि हरि-मुख, हृदय पद-पङ्कज धरे।
तजि जोग-पावक देह हरि पद, लीन भइ जहँ नहिँ फिरे॥
नर बिबिध-कर्म अधर्म बहु-मत, सोक-प्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दासतुलसी, राम-पद अनुरागहू॥१३॥

सम्पूर्ण कथा कह कर और रामचन्द्रजी के मुख को देख उनके चरण-कमलों को हृदय में धारण किया। योग की अग्नि में शरीर त्याग कर भगवान् के चरणों में लीन हुई और वहाँ पहुँची जहाँ से जीव लौटते नहीं अर्थात् सायुज्य मोक्ष को प्राप्त हुई। तुलसीदासजी कहते हैं—हे मनुष्यो! नाना प्रकार के कर्म, अधर्म और सब शोकदायक बहुमतों को त्याग दो। विश्वास कर के रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम करो॥१३॥

दो०—जाति-हीन अघ-जनम-महि, मुकुत कीन्ह असि नारि।
महा-मन्द-मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि॥३६॥

जाति से रहित (कुजाति) और पाप की जन्मभूमि (जहाँ पापों का जन्म होता है) ऐसी स्त्री को जिन्होंने (संसार के बन्धन से) मुक्त कर दिया! अरे मन! ऐसे स्वामी को भुला कर सुख चाहता है? तू महा नीच है॥३६॥

उपदेश अपने मन को देते हैं, पर उद्देश्य इसका संसार भर के स्त्री-पुरुषों के लिए हैं जिसमें वे सुन कर समझें और रामानुरागी बनें। यह 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है।

चौ०—चले राम त्यागा बन सोऊ। अतुलित बल नर केहरि दोऊ॥
बिरही इव प्रभु करत बिषादा। कहत कथा अनेक सम्बादा॥१॥

उस वन को भी त्याग कर रामचन्द्रजी चले, दोनों भाई अतुल बलवान और मनुष्यों में सिंह हैं। प्रभु रामचन्द्रजी वियोगी नरों के समान विषाद करते हैं तथा अनेक भाँति (विरह की) कथा का समाचार कहते हैं॥१॥

लछिमन देखु बिपिन कै सोभा । देखत केहि कर मन नहिँ छोभा ॥
नारि सहित सब खग-मृग-बृन्दा । मानहुँ मोरि करत हहिँ निन्दा ॥२॥

हे लक्ष्मण ! वन की शोभा देखो, इसको देख कर किस (विरही) का मन विचलित न होगा ? पक्षी और मृगों का झुण्ड सब स्त्री समेत रह कर ऐसे मालूम होते हैं मानों वे मेरी निन्दा करते हों ॥२॥

हमहिँ देखि मृग-निकर पराहीँ । मृगी कहहिँ तुम्ह कहँ भय नाहीँ ॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग-जाये । कञ्चन मृग खोजन ये आये ॥३॥

हम को देख कर मृगों के झुण्ड भागते हैं, हरिणियाँ कहती हैं तुम को डर नहीं है । हे मृग पुत्र ! तुम आनन्द करो, ये सोने का मृग ढूँढ़ने आये हैं ॥३॥

'मृगजाये' शब्द में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है कि तुम मृग के जाये सच्चे मृग हो, इससे तुम्हें न मारेंगे । ये माया-मृग के मारनेवाले हैं । यहाँ रामचन्द्रजी मृगियों के ताने की बात कह कर अपनी अल्पज्ञता सूचित करते हैं । यह 'अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

सङ्ग लाइ करिनी करि लेहीँ । मानहुँ मोहि सिखावन देहीँ ।
सास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय । भूप सुसेवित बस नहिँ लेखिय ॥४॥

हाथी हथिनियों को साथ में लगा लेते हैं, ऐसा मालूम होता मानों वे मुझे सिखावन देते हैं कि अच्छी तरह स्मरण किये हुए शास्त्र को वार वार देखना चाहिये और राजा की सुन्दर सेवा करने पर भी उसको अपने वश में न समझना चाहिये ॥४॥

राखिय नारि जदपि उर माहीँ । जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीँ ॥
देखहु तात बसन्त सुहावा । प्रिया-हीन मोहि भय उपजावा ॥५॥

यद्यपि स्त्री को हृदय में रखिये तो भी स्त्री, शास्त्र और राजा किसी के वश में नहीं रहते । हे भाई ! देखो; वसन्त कैसा सुहावना लगता है, परन्तु प्यारी (सीता) के बिना मुझे डर उत्पन्न करता है ॥५॥

पहले तीन वस्तुओं का नाम लिया—शास्त्र, राजा और स्त्री । नीचे भी उसी क्रम से कहना चाहता था, पर वैसा न कह कर स्त्री, शास्त्र और राजा का नाम लेना भङ्गक्रम 'यथासंख्य अलंकार' है । युवती, शास्त्र और नृपति तीनों उपमेयों का 'धर्म' वश में नहीं होते कथन करना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है । सुहावने वसन्त को भय उपजानेवाला कहना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है । प्यारी के विना सुहावना वसन्त भयङ्कर हुआ 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है । यहाँ अलंकारों का सन्देहसङ्कर है ।

दो०—बिरह-बिकल बल-हीन मोहि, जानेसि निपट अकेल ।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्हि बगमेल ॥

मुझको विरह से व्याकुल, बल-हीन और सब प्रकार से अकेला जान कर कामदेव भ्रमर तथा पक्षियों के सहित वन में (मुझे जीतने की इच्छा से) मेरे अत्यन्त समीप पहुँचा ।

रामचन्द्रजी के हृदय में सीताजी-विषयक रति स्थायीभाव है। सीताजी आलम्बन विभाव हैं और शुक, कपोत, खञ्जन भ्रमरादिकों का दर्शन उद्दीपन विभाव है। विरह व्यथा से व्याकुल होना अनुभाव है। सीताजी की सुन्दरता का स्मरण, वृक्षादिकों को काम-दल मानना उन्माद सञ्चारी भाव से पुष्ट होकर भूतप्रवास विप्रलम्भ शृङ्गाररस हुआ है। 'बगमेल' शब्द की व्याख्या बालकाण्ड में ३०५ दोहे के नीचे की टिप्पणी देखिये।

देखि गयउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटक हटकि मनजात ॥३७॥

जब उसका दूत मुझे भाई के सहित देख गया कि मैं अकेला नहीं हूँ, तब यह बात सुन कर ऐसा मालूम होता है मानों कामदेव ने सेना को (चढ़ाई करने से) मना कर के पड़ाव डाल दिया हो ॥३७॥

कामदेव घेरा नहीं डाले है, केवल मन की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—बिटप-बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥
कदलि ताल बर धवजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ॥१॥

बड़े बड़े वृक्षों पर लताएँ लपटी हुई ऐसी मालूम होती हैं मानों अनेक प्रकार के तम्बू तान दिये हों। केले और ताल के पेड़ सुन्दर ध्वजा; पताका हैं, इन्हें देख कर जिनका मन मोहित न हो वह धीरजवान है ॥१॥

बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥
कहुँ कहुँ सुन्दर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाये ॥२॥

तरह तरह के वृक्ष नाना प्रकार से फूले हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बहुत वेषवाले नामी योद्धा सजे हों। कहीं कहीं (अकेले) सुन्दर वृक्ष शोभित हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों अलग अलग हो कर वीर टिके हों ॥२॥

कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥
मोर-चकोर-कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी ॥३॥

कोकिल बोलते हैं वे ऐसे मालूम होते हैं मानों मतवाले हाथी हों, सारस पक्षी, ऊँट और महोख खच्चर हैं। मुरैला, चकोर और सुग्गा श्रेष्ठ घोड़े हैं, कबूतर तथा राजहंस सब ताजी घोड़े हैं ॥३॥

तीतर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥
रथ गिरि सिला दुन्दुभी झरना। चातक बन्दी गुन-गन बरना ॥४॥

तीतर और बटेर पैदलों के झुण्ड हैं, कामदेव की सेना का वर्णन नहीं किया जा सकता। पर्वतों की चट्टानें रथ हैं, झरने नगारे हैं और पपीहा बन्दीजन हैं जो उसके गुणगण बखानते हैं ॥४॥

मधुकर-मुखर भेरि सहनाई । त्रिबिध बयारि बसीठी आई ॥
चतुरङ्गिनी सेन सँग लीन्हे । बिचरत मनहुँ चुनौती दीन्हे ॥५॥

भ्रमरों का बोलना नगारा और सहनाई है, तीनों प्रकार (शीतल, मन्द, सुगन्धित) की हवा दूत का आगमन है। इस तरह साथ में चतुरङ्गिनी सेना लिये हुए विचरता है, ऐसा मालूम होता है मानों लड़ाई के लिये उत्तेजना देता हो ॥५॥

लछिमन देखत काम अनीका । रहहिँ धीर तिन्ह कै जग लीका ॥
एहि के एक परम-बल नारी । तेहि तेँ उबर सुभट सोइ भारी ॥६॥

हे लक्ष्मण! कामदेव की सेना को देख कर जिनके मन में धीरज बना रहे, उनकी संसार में गणना होती है अर्थात् वे धन्य कहे जाते हैं। इसका एक बड़ा बल स्त्री है, उससे जो बच जाय वही भारी योद्धा है ॥६॥

दो०—तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि बिज्ञान-धाम मन, करहिँ निमिष महँ छोभ ॥

हे भाई! काम, क्रोध और लोभ ये तीनों अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। विज्ञान के स्थान मुनियों के मन में क्षणमात्र में खलबली कर देते हैं।

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि ।
क्रोध के परुष-बचन बल, मुनिबर कहहिँ बिचारि ॥३८॥

लोभ का बल इच्छा और अहंकार है, काम का बल केवल स्त्री है। क्रोध का बल कठोर वचन है, मुनिवर विचार कर ऐसा कहते हैं ॥३८॥

चौ०—गुनातीत सचराचर-स्वामी । राम उमा सब अन्तरजामी ॥
कामिन्ह कै दीनता देखाई । धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! रामचन्द्रजी गुणों से परे, जड़-चेतन के स्वामी और सब के भीतर की बात जाननेवाले हैं (उनके लिए विरह कैसा?)। उन्होंने कामी पुरुष की व्याकुलता दिखायी और धीरवानों के मन में वैराग्य दृढ़ किया ॥१॥

पहले शिवजी ने रामचन्द्रजी की वियोग-दशा का वर्णन किया, फिर गुणातीत सर्वान्तर्यामी कह कर उसका निषेध करते हैं। यह 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिँ सकल राम की दाया ॥
सो नर इन्द्रजाल नहिँ भूला । जा पर होइ सो नट अनुकूला ॥२॥

क्रोध, काम, लोभ, अहंकार और माया ये सम्पूर्ण रामचन्द्रजी की दया से छूटते हैं। वह मनुष्य इन्द्रजाल में नहीं भूलता, जिस पर वह (इन्द्रजाल करनेवाला) मदारी प्रसन्न रहता है ॥२॥

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥
पुनि प्रभु गये सरोबर तीरा। पम्पा नाम सुभग गम्भीरा॥३॥

हे पार्वती! मैं अपना अनुभव (परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान) कहता हूँ कि हरिभजन सच्चा और सब जगत सपना (झूठा) है। फिर प्रभु रामचन्द्रजी पम्पा नामक सुन्दर गहरे तालाब के किनारे गये॥३॥

शिवजी को अपने अनुभव से पार्वतीजी को ज्ञान सिखाना 'चतुर्थ निदर्शना अलंकार है।

सन्त हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥
जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार-गृह जाचक भीरा॥४॥

उसमें ऐसा निर्मल जल है जैसे सन्तों का हृदय स्वच्छ होता है, चारों घाट सुन्दर पक्के बँधे हुए हैं। जहाँ तहाँ अनेक प्रकारके मृग (पशु) पानी पीते हैं, वह ऐसा मालूम होता है मानों दाता के घर याचकों की भीड़ हो॥४॥

दाता के द्वार पर मङ्गनों की भीड़ होती ही है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—पुरइन सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥

घनी पुरइन (कमल पत्र) की आड़ में शीघ्र जल का पता नहीं मिलता, जैसे माया से ढँके हुए प्राणी निर्गुन-ब्रह्म को नहीं देख सकते।

सुखी मीन सब एकरस, अति अगाध जल माहिँ।
जथा धर्म-सीलन्ह के, दिन सुख-सञ्जुत जाहिँ॥३९॥

अत्यन्त गहरे जल में सब मछलियाँ एक समान इस प्रकार सुखी हैं, जैसे धर्मात्मा प्राणियों के दिन सुख-पूर्वक जाते हैं॥३९॥

चौ०—बिकसे सरसिज नाना रङ्गा। मधुर मुखर गुञ्जत बहु भृङ्गा॥
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥१॥

रङ्ग रङ्ग के कमल खिले हुए हैं, बहुत से भ्रमर मीठी आवाज़ से गुञ्जारते हैं। जलमुर्ग और राजहंस बोलते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर उनकी प्रशंसा करते हैं॥१॥

पक्षी अपनी साधारण बोली बोल रहे हैं न कि प्रशंसा करते हैं। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चक्रबाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिँ जाई॥
सुन्दर-खग-गन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥२॥

चकवा और बकुले आदि पक्षियों का समुदाय देखतेही बनता है, वर्णन नहीं किया जा सकता। सुन्दर पक्षी गणों की सुहावनी बोली ऐसी मालूम होती है मानों वे राह चलते हुए बटोही को बुला लेते हों॥२॥

ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये । चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये ॥
चम्पक बकुल कदम्ब तमाला । पाटल पनस परास रसाला ॥३॥

ताल के समीप में मुनियों की कुटियाँ छाई हैं, उनके चारों ओर वन के वृक्ष शोभायमान हो रहे हैं। चम्पा, मौलसिरी, कदम्ब, तमाल, गुलाब, कटहर, पलास और आम ॥३॥

नव पल्लव कुसुमित तरु नाना । चञ्चरीक-पटली कर गाना ॥
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ । सन्तत बहइ मनोहर बाऊ ॥४॥

नवीन पत्तों और फूलों से लदे नाना प्रकार के वृक्ष सुहा रहे हैं, उनमें झुण्ड के झुण्ड भ्रमर गुञ्जारते हैं। शीतल, मन्द और सुगन्धित स्वाभाविक मनोहर वायु सदा बहती है ॥४॥

कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥५॥

कोयल कुहू कुहू की ध्वनि करती हैं, उनकी रसीली बोली सुन कर मुनियों के ध्यान छूट जाते हैं ॥५॥

दो०-फल भारन्ह नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ ॥
परउपकारी-पुरुष जिमि, नवहिं सुसम्पति पाइ ॥४०॥

फलों के बोझ से सब वृक्ष नय कर धरती के समीप नियरा रहे हैं। वे ऐसे लटक रहे हैं जैसे परोपकारी पुरुष अच्छी सम्पत्ति पा कर नवते हैं ॥४०॥

यहाँ पर गोस्वामीजी ने प्रकृति सौन्दर्य्य कितना मनोहर वर्णन किया है

चौ०-देखि राम अति रुचिर तलावा । मज्जन कीन्ह परम सुख पावा ॥
देखी सुन्दर तरुबर छाया । बैठे अनुज सहित रघुराया ॥१॥

रामचन्द्रजी ने अत्यन्त शोभन तालाब देख कर स्नान किया और बहुत सुख को प्राप्त हुए। सुन्दर वृक्ष की अच्छी छाया में छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित रघुनाथजी बैठ गये ॥१॥

तहँ पुनि सकल देव मुनि आये । अस्तुति करि निज धाम सिधाये ॥
बैठे परम प्रसन्न कृपाला । कहत अनुज सन कथा रसाला ॥२॥

फिर वहाँ सम्पूर्ण देवता और मुनि आये, वे स्तुति कर के अपने अपने स्थान को चले गये। कृपालु रामचन्द्रजी अतिशय प्रसन्न बैठे हुए छोटे भाई से रसीली कथा कहते हैं ॥२॥

बिरहवन्त भगवन्तहि देखी । नारद मन भा सोच बिसेखी ॥
मोर साप करि अङ्गीकारा । सहत राम नाना दुख भारा ॥३॥

भगवान् को विरही देख कर नारदजी के मन में बड़ा सोच हुआ। उन्होंने विचारा कि मेरा शाप अङ्गीकार करके रामचन्द्रजी नाना तरह के दुःखों का बोझ सहते हैं ॥३॥

ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसर आई॥
यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना॥४॥

ऐसे स्वामी को चल कर देखूँ, फिर ऐसा समय आ कर न जुटेगा। यह विचार कर नारदजी हाथ में बीणा लिये हुए जहाँ प्रभु रामचन्द्रजी सुख से बैठे हैं, वहाँ गये॥४॥

'फिर ऐसा मौका हाथ न आवेगा' इस वाक्य में अगूढ़ व्यङ्ग है कि जब मैं स्त्री-वियोग से विकल हुआ था, तब उन्होंने मुझे बहुत ज्ञानोपदेश दिया था। अब वही आपदा उनके सिर पर पड़ी है, इस समय के क्लेश की दशा पूछनी चाहिये। गोसाँईजी ने बालकाण्ड में शिवजी के द्वारा कहलाया है—"अपर हेतु सुन सैल कुमारी। कहउँ विचित्र कथा विस्तारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोशलपुर भूपा।" इससे स्पष्ट है कि नारदजी ने शाप दिया था, उस अवतार की कथा यह नहीं है। फिर यहाँ नारदजी के मुख से ऐसा क्यों कहलाया? उत्तर—एक अवतार की प्रधान रूप से और अन्य तीनों अवतारों की कथा गौण रूप से मिला कर रामचरितमानस का वर्णन हुआ है। इसके बहुत प्रमाण मिलेंगे, यह कल्पभेद है।

गावत रामचरित मृदु बानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥
करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥५॥

प्रेम सहित बहुत तरह कोमल वाणी से बखान कर रामचन्द्रजी का यश गाते हुए पहुँचे। दण्डवत करते देख कर उन्हें रामचन्द्रजी ने उठा लिया और बहुत देर तक हृदय में लगा रक्खा॥५॥

स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥६॥

कुशल-समाचार पूछ कर पास में बैठाया और लक्ष्मणजी ने आदर के साथ उनके पाँव धोये॥६॥

दो०—नाना बिधि बिनती करि, प्रभु प्रसन्न जिय जानि।
नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह-पानि॥४१॥

नाना प्रकार से विनती कर के प्रभु रामचन्द्रजी को जी में प्रसन्न जानकर, तब नारदजी अपने कर-कमलों को जोड़ कर वचन बोले॥४१॥

चौ०—सुनहु उदार परम रघुनायक। सुन्दर अगम सुगम बर-दायक॥
देहु एक बर माँगउँ स्वामी। जद्यपि जानत अन्तरजामी॥१॥

हे परम उदार रघुनायक! सुनिये, आप दुर्लभ वर देने में सुन्दर सहज दानी हैं। हे स्वामिन्! यद्यपि आप मेरे मन की बात जानते हैं तो भी एक वर माँगता हूँ, दीजिये॥१॥

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी॥२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि! आप मेरे स्वभाव को जानते हैं, क्या कभी मैं भक्तों से

छिपाव करता हूँ ? (कदापि नहीं) । हे मुनिवर ! कौन ऐसी वस्तु मुझे प्रिय लगनेवाली है जो आप माँग नहीं सकते ? ॥२॥

जन कहँ कछु अदेय नहिँ मोरे । अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥
तब नारद बोले हरषाई । अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई ॥३॥

भक्तों के लिये मेरे पास कुछ भी न देने योग्य वस्तु नहीं है, ऐसा विश्वास भूल कर भी मत छोड़िये । तब नारदजी प्रसन्न हो कर बोले, मैं ढिठाई करके यह वर माँगता हूँ ॥३॥

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । स्रुति कह अधिक एक तेँ एका ॥
राम सकल नामन्ह तेँ अधिका । होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका ॥४॥

यद्यपि प्रभु (आप) के अनेक नाम हैं, वेद उनको एक से एक बढ़कर कहते हैं । तो भी हे नाथ ! 'राम' नाम सम्पूर्ण नामों से बढ़कर पाप रूपी पक्षी वृन्द के लिये व्याधा रूप हो ॥४॥

दो०-राकारजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहु भगत-उर-ब्योम ॥

वही राम नाम रूपी चन्द्रमा, आपकी भक्ति रूपिणी पूर्णिमा की रात्रि में अन्य नाम रूपी तारागणों के सहित भक्तों के हृदय रूपी निर्मल आकाश में निवास करे ।

एवमस्तु मुनि सन कहेउ, कृपासिन्धु रघुनाथ ।
तब नारद मन हरष अति, प्रभु-पद नायउ माथ ॥४२॥

कृपा के समुद्र रघुनाथजी ने मुनि से कहा ऐसा ही हो । तब नारदजी ने मन में अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक नवाया ॥४ ॥

चौ०-अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी । पुनि नारद बोलेउ मृदु बानी ॥
राम जबहिँ प्रेरेहु निज माया । मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ॥१॥

रघुनाथजी को अत्यन्त प्रसन्न जानकर फिर नारदजी कोमल वाणी से बोले । हे रघुराज रामचन्द्रजी ! सुनिये, जब अपनी माया को आज्ञा दे कर आपने मुझे मोहित किया ॥१॥

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा । प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा ॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिँ जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥२॥

तब मैं विवाह करना चाहा, पर स्वामी ने किस कारण नहीं करने दिया ? रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनि ! सुनिये, मैं आप से प्रसन्नता के साथ कहता हूँ कि जो सारा भरोसा छोड़ कर मुझे भजते हैं ॥२॥

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालकहि राख महँतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखइ जननी अरु गाई ॥३॥

मैं सदा उनकी रक्षा करता हूँ, जैसे माता बालक की रक्षा करती है । अबोध बालक और बछड़ा आग तथा साँप को पकड़ने के लिए दौड़ता है, वहाँ माता और गाय उसकी रक्षा करती हैं ॥ ३ ॥

पण्डित रामबक्स पांडेय की प्रति में 'तहँ राखइ जननी अरगाई' पाठ है । इसका अर्थ उन्हों ने इस प्रकार किया, कि—"जैसे बालक आग और साँप धरने लगता है तहाँ उसकी माता अलगा लेती है नहीं पकड़ने देती" पर रामचरित मानस में जहाँ जहाँ 'अरगाई' शब्द आया है, वहाँ 'चुप होने' के सिवा अलगाना अर्थ नहीं ग्रहण होता है ।

गुटका और सभा की प्रति में उपर्युक्त पाठ है

प्रौढ़ भये पर सुत तेहि माता । प्रीति करइ नहिँ पाछिल बाता ॥
मोरे प्रौढ़-तनय-सम ज्ञानी । बालक-सुत सम दास अमानी ॥४॥

उन्हीं पुत्रों को जवान होने पर पहले की तरह माता प्रेम नहीं करती। मेरे ज्ञानवान भक्त युवा पुत्र के समान हैं और निरभिमानी भक्त छोटे बालक के समान हैं ॥४॥

जनहिँ मोर बल निज-बल ताही । दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पायेहु ज्ञान भगति नहिँ तजहीं ॥५॥

भक्त को मेरा बल और ज्ञानियों को अपना बल रहता है, परन्तु काम और क्रोध दोनों ही के शत्रु हैं । यह विचार कर पण्डित लोग मुझे भजते हैं; वे ज्ञान पाने पर भक्ति को नहीं छोड़ते ॥५॥

भक्त और ज्ञानी दोनों मेरे पुत्र हैं । अन्तर इतना ही है कि भक्तों को हर बातों में मेरा बल रहता है और ज्ञानियों को अपने ज्ञान का बल 'विशेषक अलंकार' है ।

दो०—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि ॥४३॥

काम, क्रोध, लोभ और अहंकार आदि बड़ी प्रबल मोह की सेना हैं । उसमें अत्यन्त भीषण दुखदाई माया रूपिणी स्त्री है ॥४३॥

चौ०—सुनु मुनि कह पुरान स्रुति सन्ता । मोह बिपिन कहँ नारि बसन्ता ॥
जप तप नेम जलासय झारी । होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी ॥१॥

हे मुनि! सुनिये, पुराण वेद और सन्त कहते हैं कि मोह रूपी वन के लिए स्त्री वसन्त-ऋतु रूपिणी है । जप, तप और नियमादि समूह जलाशय (नदी, तालाब, बावली, कूप) हैं, सब को स्त्री ग्रीष्म ऋतु होकर सोख लेती है ॥१॥

काम क्रोध मद मत्सर भेका । इन्हहिँ हरष-प्रद बरषा एका ॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई । तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥२॥

काम, क्रोध, मद और मात्सर्य्य आदि मेढकों के लिये हर्ष प्रदान करनेवाली एक स्त्री वर्षाऋतु रूपिणी है । दुर्वासना (बुरी इच्छा) रूपी कुमुदों के समुदाय को सदा सुख देनेवाली स्त्री शरदऋतु-रूपिणी है ॥२॥

धर्म सकल सरसीरुह-बृन्दा । होइ हिम तिन्हहिं देति सुख-मन्दा ॥
पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहइ नारि सिसिर-रितु पाई ॥३॥

सम्पूर्ण धर्म रूपी कमल-वन के लिये स्त्री हिमऋतु होकर उन्हें निकम्मा सुख देती है, अर्थात् प्रत्यक्ष में शीतलता सुख प्रतीत होता है; किन्तु अन्त में उसी से कमल जल जाता है। फिर ममता रूपी यवासे की बहुतायत को स्त्री शिशिर ऋतु हो कर उसे हरा भरा कर देती है ॥३॥

पाप उलूक निकर सुखकारी । नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना । बनसी सम तिय कहहिं प्रबीना ॥४॥

पाप रूपी उल्लुओं के झुण्डको स्त्री घोर अँधेरी रातके समान सुख देनेवाली है। बुद्धि, बल, शील और सत्य सब मछली रूप हैं, पण्डित लोग कहते हैं कि उन्हे फँसाने के लिए स्त्री बंसी (उस काँटा को कहते हैं जिसमें शिकारी मछली फँसाकर जलके बाहर खींच लेता है) के समान है ॥४।

दो०—अवगुन-मूल सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख खानि ।
ता तें कीन्ह निवारन, मुनि म यह जिय जानि ॥४४॥

स्त्री सब दोषा की जड़, पीड़ा देनेवाली और दुःखों की खानि है। हे मुनि! इसी लिए मन में यह जान कर मैंने आप को उससे दूर किया ॥४४॥

चौ०—सुनि रघुपति के बचन सुहाये । मुनि तन पुलक नयन भरि आये
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती । सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥१॥

रघुनाथजी के सुहावने वचन सुन कर मुनि का शरीर पुलकित हो गया। और आँखों में जल भर आया। नारदजी बोले—हे प्रभो! कहिये, आप की यह कौन सी रीति है कि सेवकों पर इतना घना ममत्व और प्रेम रखते हैं ॥१॥

जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी । ज्ञान-रङ्क नर मन्द अभागी ॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद । सुनहु राम बिज्ञान बिसारद ॥२॥

जो ऐसे स्वामी को भ्रम छोड़ कर नहीं भजते, वे मनुष्य ज्ञान के दरिद्र, नीच और अभागे हैं, फिर आदर-पूर्वक नारद मुनि बोले—हे विज्ञान में श्रेष्ठ रामचन्द्रजी! सुनिये ॥२॥

सन्तन्ह के लच्छन रघुबीरा । कहहु नाथ भञ्जन भव भीरा ॥
सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ । जिन्ह तें मैं उन्ह के बस रहऊँ ॥३॥

हे रघुनाथजी! संसारी भय को चूर चूर करनेवाले, महाराज! सन्तों के लक्षण कहिये। रामचन्द्रजी बोले—हे मुनि! सुनिये, मैं सन्तों के गुण कहता हूँ, जिन गुणों से उनके वश में रहता हूँ ॥३॥

नारदजी के पूछने पर रघुनाथजी सन्तों के लक्षण कहते हैं। इसमें गूढ़ अभिप्राय सज्जनों की महिमा वर्णन करने का है। यह प्रश्न सहित 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

षट-बिकार-जित अनघ अकामा। अचल अकिञ्चन सुचि सुख-धामा॥
अमित-बोध अनीह मित-भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी॥४॥

जो छओं विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य्य) को जीते हुए, निष्पाप, इच्छा रहित, अचञ्चल, धन के त्यागी, पवित्र और सुख के स्थान होते हैं। जिनका ज्ञान अनन्त; चेष्टा रहित, अल्पभोगी, सत्य के सार रूप, कवि, विद्वान और योगी होते हैं॥४॥

सावधान मानद मद-हीना। धीर भगति-पथ परम-प्रबीना॥५॥

अपने कर्त्तव्य पालन में सचेत, दूसरों को मान देनेवाले, आप मान से रहित, धीरवान, भक्ति-मार्ग में बड़े निपुण होते हैं॥ ५॥

दो०-गुनागार संसार-दुख,-रहित बिगत सन्देह।
तजि मम चरन-सरोज प्रिय, जिन्ह कहँ देह न गेह॥४५॥

गुणों के स्थान, संसार-सम्बन्धी दुःखों से रहित और बिना सन्देह होते हैं। जिनको मेरे चरण-कमलों को छोड़ कर शरीर और घर प्यारा नहीं है॥ ४५॥

चौ०-निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिँ त्यागहिँ नीती। सरल सुभाव सबहि सन प्रीती॥१॥

अपना गुण कान से सुन कर सकुचाते हैं और दूसरे का गुण सुन कर बहुत प्रसन्न होते हैं। समान और शान्त रह कर नीति नहीं त्यागते, सीधा स्वभाव तथा सब से प्रेम करते हैं॥ १॥

जप तप ब्रत दम सञ्जम नेमा। गुरु-गोबिन्द-बिप्र-पद प्रेमा॥
स्रद्धा छमा मइत्री दाया। मुदिता मम-पद-प्रीति अमाया॥२॥

जप, तप व्रत, इन्द्रिय दमन, विषयों से संयम नियम रखते और गुरु, ईश्वर, ब्राह्मण के चरणों में प्रेम रखते हैं। श्रद्धा, (गुरु, वेद, शास्त्रों के वचनों में आस्तिक बुद्धि से विश्वास) क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता-युक्त मेरे चरणों में निष्कपट प्रेम करते हैं॥ २॥

बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दम्भ मान मद करहिँ न काऊ। भूलि न देहिँ कुमारग पाऊ॥३॥

वैराग्य, ज्ञान, नम्रता, विज्ञान से पूर्ण और वेद पुराणों का यथार्थ ज्ञान रखते हैं। पाखण्ड अभिमान और पागलपन कभी नहीं करते, भूल कर भी कुमार्ग में पाँव नहीं देते॥ ३॥

गावहिँ सुनहिँ सदा मम लीला। हेतु रहित पर-हित-रत-साला॥
सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिँ सारद स्रुति तेते॥४॥

सदा मेरी लीला गाते और सुनते हैं, स्वार्थ रहित पराये की भलाई करने में लगे रहते

हैं। हे मुनि! सुनिये, साधुओं के जितने गुण हैं, उनको सरस्वती और वेद भी कह कर इति नहीं लगा सकते ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कहि सक न सारद सेष नारद, सुनत पद-पङ्कज गहे ।
अस दीनबन्धु कृपाल अपने, भगत गुन निज-मुख कहे ॥
सिर नाइ बारहि बार चरनन्हि, ब्रह्मपुर नारद गये ।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रये ॥१४॥

सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते, यह सुन कर नारदजी ने चरण-कमलों को पकड़ लिया। कृपालु दीनबन्धु ने अपने भक्तों के गुण को ऐसा (अनन्त महत्वशाली) अपने मुख से कहा है! बारम्बार चरणों में सिर नवा कर नारदजी ब्रह्मलोक को चले गये। तुलसीदास जी कहते हैं कि वे मनुष्य धन्य हैं जो संसार की सभी आशाओं को त्याग कर भगवान के रङ्ग में रँगे हुए हैं ॥ १४ ॥

दो०—रावनारि-जस पावन, गावहिँ सुनहिँ जे लोग ।
रामभगति दृढ़ पावहिँ, बिनु बिराग जप जोग ॥

रावण के शत्रु श्रीरामचन्द्रजी का यश जो लोग गावेंगे और सुनेंगे वे बिना वैराग्य, जप और योग के दृढ़ रामभक्ति पावेंगे।

'रावणारि' नाम रामचन्द्रजी का क्रियावाचक है। बिना वैराग्य, जप, योग के किये केवल रामचरित गान करने से दुर्लभ रामभक्ति का मिलना अर्थात् थोड़े ही आरम्भ से अलभ्य लाभ होना 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। यह दोहा आशीर्वादात्मक है।

दीप-सिखा सम जुबति तन, मन जनि होसि पतङ्ग ।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसङ्ग ॥४६॥

स्त्री का शरीर दीपक की लौ के समान है, हे मन! तू उसका पाँखी मत हो। काम और मद का त्याग कर के रामचन्द्रजी का भजन और सदा सत्सङ्ग कर ॥ ४६ ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्य सम्पादनो नाम तृतीयः सोपानः

समाप्तः ।

इस प्रकार कलियुग के सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानस में विमल वैराग्य सम्पादन नामवाला यह तीसरा सोपान समाप्त हुआ।

(शुभमस्तु-मङ्गलमस्तु)
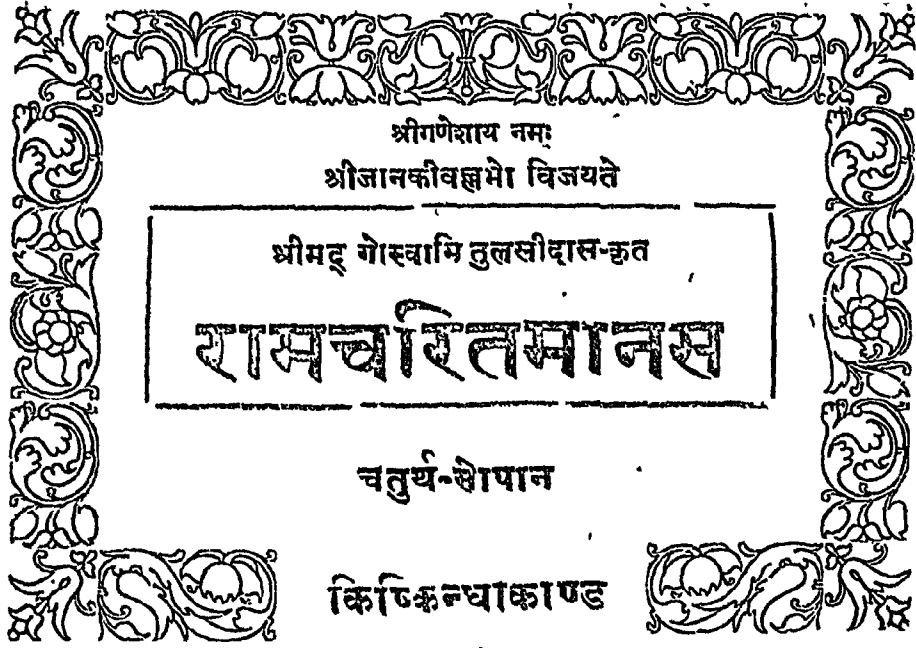
शार्दूलविक्रीडित-वृत्त ।

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ ।
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ ॥
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्म्मौ हितौ ।
सीतान्वेषण तत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हिनः ॥१॥

कुन्द के फूल और श्यामकमल के समान सुन्दर, अत्यन्त बलवान, विज्ञान के स्थान, शोभा सम्पन्न, अच्छे धनुर्धर; वेदों से प्रशंसित, गौ और ब्राह्मण-वृन्द के प्यारे, माया से मनुष्य रूपधारी, रघुकुल में श्रेष्ठ, सद्धर्म के रक्षक हितकारी, सीताजी के खोजने में तत्पर, मार्ग में विचरते हुए वे दोनों राम और लक्ष्मण हमारे लिए निश्चय ही भक्ति के देनेवाले हों ॥१॥

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययम् ।
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं संशोभितं सर्वदा ।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनम् ।
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥२॥

वे पुण्यवान धन्य हैं जो वेद रूपी समुद्र से उत्पन्न, पापों को सर्वथा नष्ट करनेवाले, अक्षय, श्रीशिवजी के मुखचन्द्र में अच्छी तरह श्रेष्ठ सुन्दर सब काल में शोभायमान, संसार

रूपी रोग की औषधि, सुख देनेवाले; श्रीजानकीजी के प्राणाधार, श्रीरामचन्द्र के नाम रूपी अमृत को निरन्तर पान करते हैं ॥ २ ॥

सो०—मुक्ति जन्म-महि जानि, ज्ञान खानि अघहानि कर।
जहँ बस सम्भु भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥

मोक्ष की जन्मभूमि; ज्ञान की खान और पापों को नाश करनेवाली जान कर जहाँ शिव-पार्वतीजी निवास करते हैं, उस काशीपुरी की सेवा क्यों न कीजिए ? अर्थात् अवश्य ही काशी का सेवन करना चाहिए।

'मुक्ति जन्म-महि' में कई प्रकार की ध्वनि है। जैसे—जो मोक्ष की जन्म-भूमि है, जहाँ की भूमि मुक्ति जन्म है, जहाँ बसने से मुक्ति होती है, जहाँ मरने से मुक्ति होती है, जो मुक्ति की देनेवाली है और जिसका नाम लेने से मुक्ति होती है इत्यादि। कोई कोई इस सोरठा में 'राम' की वन्दना का अर्थ करते हैं कि 'म' को निश्चय ही मुक्ति का जन्मदाता और 'र' को ज्ञान का भण्डार तथा पाप नाशक जान कर, जो शोक को नसाने के लिए तलवार है और जिसमें शिव-पार्वती का मन बसता है, उस रामनाम का सेवन क्यों नहीं करते ? पर यह यथार्थ नहीं है।

जरत सकल सुर-बृन्द, बिषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मन मन्द, को कृपाल सङ्कर सरिस ॥

सम्पूर्ण देवता-गण के जलते समय जिन्होंने भीषण विष पान किया, अरे नीच मन ! तू उन्हें नहीं भजता। शिवजी के समान दयालु कौन है ? (कोई नहीं)।

यहाँ काकु द्वारा कण्ठध्वनि से और ही अर्थ (कोई नहीं) निकलना 'वक्रोक्ति अलंकार' है। जब देवता और दैत्यों ने मिल कर अमृत प्राप्त करने की इच्छा से समुद्र को मथा, तब अमृत के पीछे हलाहल विष निकला। उसकी ज्वाला से सब जलने लगे। शिवजी की शरण जा कर पुकार मचायी। शिवजी ने दया वश विष पान कर के सब की रक्षा की।

चौ०—आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक-पर्बत नियराया ॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवाँ। आवत देखि अतुल-बल-सींवाँ ॥

रघुनाथजी फिर आगे चले और ऋष्यमूक-पर्वत के समीप पहुँचे। वहाँ मन्त्रियों सहित सुग्रीव रहते थे, उन्होंने अप्रमेय बल के हद्द (राम-लक्ष्मण) को आते हुए देख कर ॥ १ ॥

अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल-रूप-निधाना ॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सैन बुझाई ॥२॥

अत्यन्त भयभीत होकर कहा—हे हनूमान ! सुनिए; ये दोनों पुरुष बल और रूप के स्थान हैं। तुम ब्रह्मचारी का रूप धारण कर के जा कर देखो (यदि मेरा सन्देह) मन में और समझना तो इशारे से समझा कर कहना ॥२॥

इष्टहानि के भय से सुग्रीव का भयभीत होना 'शङ्का संचारीभाव' है। ब्राह्मण अवध्य होते हैं, इसलिए ब्रह्मचारी का रूप धारण करने को कहा।

पठये बालि होहिँ मन मैला। भागउँ तुरत तजउँ यह सैला॥
बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥३॥

बाली के भेजे हुए ये मन के मैले (कपटी) हों तो मैं तुरन्त इस पर्वत को छोड़ कर भाग जाऊँ। हनूमानजी ब्राह्मण का रूप धारण कर के वहाँ गये और मस्तक नवा इस तरह पूछते भये॥३॥

शंका—रामचन्द्रजी क्षत्रिय शरीर में हैं और हनूमानजी ब्राह्मण के रूप में आये, फिर भी उन्होंने रघुनाथजी को प्रणाम किया, इसका क्या कारण है? उत्तर—ईश्वर के सम्मुख कपट नहीं चलता, अपूर्व तेज देख कर सिर झुक गया। अथवा आश्रम के विचार से रघुनाथजी वाणप्रस्थ हैं और हनूमानजी ब्रह्मचारी हैं, इससे प्रणाम किया। अथवा धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि तीर्थ या वन में कोई तेजस्वी देख पड़े तो उसमें देव-बुद्धि मान कर उसे नमस्कार करना चाहिये, एतदर्थ प्रणाम किया। इसके अतिरिक्त भी बहु प्रकार के तर्क विद्वान् करते हैं।

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन-भूमि कोमल-पद-गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥४॥

श्यामल-गौर शरीरवाले, क्षत्रिय रूप, वीर पुरुष, वन में फिरते हुए आप लोग कौन हैं? कठोर धरती पर कोमल चरणों से गमन करते हैं, हे स्वामिन्! किस कारण से जंगल में विचर रहे हैं॥४॥

मृदुल मनोहर सुन्दर गाता। सहत दुसह बन आतप-बाता॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर-नारायन की तुम्ह दोऊ॥५॥

आप के कोमल मनोहर सुन्दर अंग हैं, वन के न सहने योग्य घाम और लू सहते हैं। क्या आप ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवों में से कोई हैं? या कि आप दोनों नर-नारायण हैं?॥५॥

दो०—जग-कारन तारन-भव, भञ्जन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल-भुवन-पति, लीन्ह मनुज अवतार॥१॥

जगत् के कारण, संसार से पार उतारनेवाले, धरती का बोझ नसानेवाले और सम्पूर्ण लोकों के स्वामी; क्या आप मनुष्य का अवतार लिये हैं?॥१॥

हनूमानजी का यह कहना कि आप त्रिदेवों में कोई हैं? या नरनारायण हैं? या जगत् के कारण अखिल भुवनेश्वर मनुष्य अवतार लिये हैं? किसी एक बात का निश्चय न होना 'संदेह अलंकार' है।

चौ०—कोसलेस दसरथ के जाये । हम पितु बचन मानि बन आये ॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई । सङ्ग नारि सुकुमारि सुहाई ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हम अयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र हैं और पिता के वचन को मान कर वन में आये हैं। राम और लक्ष्मण नाम है, हम दोनों भाई हैं, हमारे साथ सुन्दर सुकुमारी स्त्री थी ॥१॥

इहाँ हरी निसिचर बैदेही । बिप्र फिरहिँ हम खोजत तेही ॥
आपन चरित कहा हम गाई । कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ॥२॥

यहाँ विदेहनन्दिनी को किसी राक्षस ने हर लिया, हे ब्राह्मण! हम उन्हीं को ढूँढ़ते फिरते हैं। हमने अपना चरित तो गा कर कहा, हे विप्र! अब आप अपना वृत्तान्त समझा कर कहिए ॥२॥

हनूमानजी के पूछने पर अपना परिचय ईश्वरत्व दर्शाने का गूढ़ भाव 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है और गूढ़ ध्वनि भी है कि मुझ पर तो यह आपदा आ पड़ी जिससे वन में फिरता हूँ; किन्तु आप पर कौन सा सङ्कट है जो अपने पवित्र व्रत विद्याध्ययन और गुरु सेवा से विरत हो इस भीषण वन में फिर रहे हो?।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना । सो सुख उमा जाइ नहिँ बरना ।
पुलकित तन मुख आव न बचना । देखत रुचिर बेष कै रचना ॥३॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! प्रभु रामचन्द्रजी को पहचान कर हनूमान चरणों में लिपट गये, वह सुख कहा नहीं जा सकता। उनका शरीर पुलकित हो गया और मुख से वचन नहीं निकलता है, सुन्दर वेष की रचना (टकटकी लगा) देखते ही रह गये ॥३॥

यहाँ हनूमानजी को हर्ष रोमांच हो आया और वाणी रुक गई, यह स्वरभंग सात्विक अनुभाव का उदय है। शेष प्रश्नों का उत्तर रामचन्द्रजी ने नहीं दिया कि मैं जगत् का कारण नर नारायण ईश्वर हूँ, फिर हनूमान ने उन्हें कैसे पहचान लिया? उत्तर—जब रामचन्द्रजी विश्वामित्र के साथ चले थे तब हनूमानजी से वन में मिलने का वचन हुआ था और ब्रह्मा ने वानर रूप होने का निर्देश करते समय रामचन्द्रजी का वन आना कह रक्खा था। तदनुसार परिचय मिलने पर हनूमानजी ने पहचान लिया। अथवा "कुशलानां समूहः कौशलं तस्य ईशः कौशलेसः, स चासौ दशरथश्च" अर्थात् जो सकल-कल्याण-भाजन गरुड़वाहन विष्णु के अवतार और सम्पूर्ण जगत् के पिता हैं, वे वन में आये हैं। रामचन्द्रजी के वचनों का यह अर्थ समझ कर हनूमानजी ने उन्हें पहचान लिया।

पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही । हरष हृदय निज-नाथहि चीन्ही ॥
मोर न्याउ मैं पूछा साईं । तुम्ह पूछहु कस नर का नाईं ॥४॥

फिर धीरज धारण कर के स्तुति की, अपने स्वामी को पहचान कर मन में प्रसन्न हुए। हनूमानजी ने कहा—हे स्वामिन्! मैं ने जो पूछा, वह मेरा न्याय ही है अर्थात् मैं जीव

हूँ; जीव को भ्रम होना स्वाभाविक है, पर आप तो ईश्वर हैं फिर मनुष्य की तरह आप कैसे पूछते हैं ? ॥४॥

तव माया बस फिरहिँ भुलाना। तातेँ मैं नहिँ प्रभु पहिचाना ॥५॥

आप की माया के अधीन हो कर भूला फिरता हूँ, इससे मैं ने स्वामी को नहीं पहचाना ॥५॥

दो०—एक मैं मन्द मोह बस, कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ, दीनबन्धु भगवान ॥२॥

एक तो मैं मूर्ख मोह के अधीन, कुटिल-हृदय और अज्ञानी हूँ। हे दीनबंधु भगवन्! प्रभो! आप ने मुझे भुला दिया (तब कैसे सचेत रह सकता हूँ) ॥२॥

भूलने का एक ही कारण मूर्खता पर्य्याप्त है, तिस पर मोहाधीन, कुटिल हृदय, अज्ञानी होना और स्वामी का भूलना कई एक हेतु उपस्थित हैं; द्वितीय' समुच्चय अलंकार' है।

चौ०-जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे॥
नाथ जीव तवमाया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ॥१॥

हे नाथ! यद्यपि मुझ में बहुत अवगुण हैं, परन्तु मालिक को सेवक की भूल न पड़नी चाहिए। हे स्वामिन्! जीव आप की माया से मोहित रहता है, वह आप ही की कृपा से छुटकारा पाता है ॥ १ ॥

अपना दुर्गुण एवम् जीवत्व तथा स्वामी के गुण और ईश्वरत्व कथन में अपनी ओर कृपा सम्पादित करने का भाव गूढ़ व्यङ्ग है।

तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिँ कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ॥२॥

तिस पर मैं रघुवीर की सौगन्द खा कर कहता हूँ कि कुछ भी भजन के उपायों को नहीं जानता। सेवक स्वामी के भरोसे और बालक माता के भरोसे निश्चिन्त रहते हैं, हे स्वामिन्। उन्हें (स्वामी और माता को) उनका पालन करना ही पड़ता है ॥ २ ॥

रघुनाथजी की सौगन्द कर के भजन के उपायों से हनूमानजी का मुकर जाना, एकमात्र स्वामी की महान् उदारता प्रकट करने का भाव 'प्रतिषेध अलंकार' है। यथा संख्य भी है।

अस कहि परेउ चरन लपटाई। निज-तनु प्रगटि प्रीतिउर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज-लोचन-जल सींचि जुड़ावा ॥३॥

ऐसा कह कर चरणों पर गिर कर लिपट गये; हृदय में प्रीति छा गई, अपना शरीर प्रकट कर दिया। तब रघुनाथजी ने उठा कर हृदय से लगा लिया और अपने नेत्रों के जल से सींच कर उन्हें ठण्डा किया ॥३॥

प्रथम बार प्रभु को पहचान कर ब्रह्मचारी के रूप में पाँव पड़े थे तब रामचन्द्रजी ने हृदय से नहीं लगाया; किन्तु जब छिपाव त्याग कर पैर पर पड़े तब भगवान् ने उठा कर छाती से लगा लिया। प्रभु सचाई से प्रसन्न होते हैं, छल से नहीं।

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना ।
समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य-गति सोऊ ॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे हनूमान! सुनो, मन में अपने को थोड़ा न मानो, तू मुझे लक्ष्मण से दूना प्यारा है। मुझे सब कोई समदर्शी कहते हैं, पर जिन सेवकों की अनन्यगति (दूसरे का भरोसा नहीं) है, वे ही मुझे प्यारे हैं ॥ ४ ॥

शंका—मिलते ही रामचन्द्रजी ने कहा कि तुम मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो, इसका क्या कारण है? उत्तर—(१) लक्ष्मण अकेले मेरे सेवक हैं और तू मेरा तथा लक्ष्मण दोनों का सेवक है। (२) लक्ष्मण के रहते जानकी हरी गई और तेरे द्वारा मिलेंगी। (३) लक्ष्मण से प्यार में दो नहीं अर्थात् तुल्य ही प्रिय हो इत्यादि।

दो०-सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त ॥३॥

हे हनूमान! जिसकी ऐसी बुद्धि नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और चराचर समेत (दृश्य-मानमात्र) मेरे स्वामी भगवान् के रूप हैं, वह अनन्य भक्त है ॥ ३ ॥

चौ०-देखि पवन सुत पति अनुकूला । हृदय हरष बीती सब सूला ॥
नाथ सैल पर कपिपति रहई । सो सुग्रीव दास तव अहई ॥१॥

स्वामी को अनुकूल देख कर पवनकुमार मन में प्रसन्न हुए और सब चिन्ता मिट गई। उन्होंने कहा—हे नाथ! पर्वत पर वानरराज रहता है, वह सुग्रीव आप का सेवक है ॥ १ ॥

तेहि सन नाथ मइत्री कीजे । दीन जानि तेहि अभय करीजे ॥
सो सीता कर खोज कराइहि । जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि ॥२॥

हे स्वामिन्! उससे मित्रता कीजिए और उसे दुखी जान अभय कर दीजिए। वह जहाँ तहाँ करोड़ों बन्दर भेज कर सीताजी की खोज करावेगा ॥ २ ॥

एहि बिधि सकल कथा समुझाई । लिये दुअउ जन पीठि चढ़ाई ॥
जब सुग्रीव राम कहँ देखा । अतिसय जनम धन्य करि लेखा ॥३॥

इस प्रकार सारी कथा समझा कर दोनों जनों को पीठ पर चढ़ा लिया। जब सुग्रीव ने रामचन्द्रजी को देखा, तब उन्होंने अपने जन्म को अतिशय धन्य कर के माना ॥ ३ ॥

सादर मिलेउ नाइ पद माथा । भैंटेउ अनुज सहित रघुनाथा ॥
कपि कर मन बिचार एहि रीती । करिहहिं बिधि मोसन ये प्रीती ॥४॥

चरणों में मस्तक नवा कर आदर से मिले, छोटे भाई लक्ष्मण के सहित रघुनाथजी ने सुग्रीव को हृदय से लगाया। सुग्रीव मन में इस तरह विचार करते हैं कि, या विधाता! मुझ से ये प्रेम (मित्रता) करेंगे? ॥ ४ ॥

दो०—तब हनुमन्त उभय दिसि,-की सब कथा सुनाइ ।
पावक साखी देइ करि, जोरी प्रीति दृढ़ाइ ॥४॥

तब हनूमानजी ने दोनों ओर की सब कथा कह सुनाई और अग्नि को साक्षी देकर दृढ़तापूर्वक प्रीति जोड़ी ॥ ४ ॥

सीताजी के अपहरण का समाचार सुग्रीव से और सुग्रीव के दुःख का हाल रामचन्द्र-जी से कह कर परस्पर सहायता के लिए हनूमानजी ने निवेदन किया। अग्निदेव को साक्षी देने का कारण यह है कि उनमें दाहक शक्ति है और सब के उदर में वे निवास करते हैं। मित्रता के अनन्तर जिसके मन में विकार होगा उसे अग्निदेव जला देंगे। अथवा रामचरित-मानस में सर्वत्र अग्नि ही की प्रधानता है इसलिए उन्हीं को साक्षी बना कर मित्रता भी हुई है।

चौ०—कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन राम चरित सब भाखा॥
कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथलेस-कुमारी ॥१॥

प्रीति कर के कुछ अन्तर नहीं रक्खा, लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी का सब चरित्र कह दिया। नेत्रों में जल भर कर सुग्रीव ने कहा, हे नाथ जनकनन्दिनी मिलेंगी ॥ १ ॥

मन्त्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥
गगन-पन्थ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता ॥२॥

एक बार मैं मन्त्रियों के सहित बैठा हुआ यहाँ विचार कर रहा था। मैं ने उन्हें आकाश-मार्ग में पराधीनता में पड़ी बहुत विलपती हुई जाते देखा ॥ २ ॥

राम राम हा राम पुकारी। हमहिँ देखि दीन्हेउँ पट डारी॥
माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ॥३॥

वे राम! राम! हा राम! पुकारती थीं, हमलोगों को देख कर वस्त्र गिरा दिया। राम-चन्द्रजी ने उसे माँगा; सुग्रीव ने तुरन्त ला कर दिया, उस वस्त्र को हृदय से लगा कर बड़ा सोच किया ॥ ३ ॥

उस चीर को देख कर प्रिय संयोगजात पूर्वानुभुक्त वस्तु का ज्ञान होना विप्रलम्भ शृङ्गा-रान्तर्गत 'स्मरण दशा' है।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥४॥

सुग्रीव ने कहा—हे रघुवीर! सुनिए, सोच छोड़ कर मन में धीरज लाइये। जिस तरह जानकीजी आ कर मिलेंगी, मैं सब प्रकार की सेवकाई करूँगा ॥ ४ ॥

दो०—सखा बचन सुनि हरषे, कृपासिन्धु बल-सीवँ ।
कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीवँ ॥५॥

कृपासागर बल के सींव रामचन्द्रजी मित्र की बात सुन कर प्रसन्न हुए और बोले—हे सुग्रीव! आप वन में किस कारण निवासकरते हैं? मुझ से कहिए ॥५॥

चौ०-नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई । प्रीति रही कछु बरनि न जाई ॥
मय-सुत मायावी तेहि नाऊँ । आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ ॥१॥

हे नाथ ! बाली और मैं दोनों भाई हैं, हमलोगों में परस्पर इतनी प्रीति थी कि वह कुछ कही नहीं जाती। हे स्वामिन्! मयदैत्य का पुत्र जिसका मायावी नाम था, वह हमारे गाँव (किष्किन्धापुरी) में आया ॥ १ ॥

रामचन्द्रजी के पूछने पर मायावी की कथा कह कर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का गूढ़भाव 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

अर्धराति पुर-द्वार पुकारा । बाली रिपु-बल सहइ न पारा ॥
धावा बालि देखि सो भागा । मैं पुनि गयउँ बन्धु सँग लागा ॥२॥

उसने आधीरात में नगर के द्वार पर पुकारा, बाली शत्रु के बल को नहीं सह सकता था। दौड़ा; बाली को देखकर वह दानव भागा, फिर मैं भी भाई के सङ्ग लग गया ॥२॥

गिरिबर-गुहा पैठ सो जाई । तब बाली मोहि कहा बुझाई ॥
परखेसु मोहि एक पखवारा । नहिँ आवउँ तब जानेसु मारा ॥३॥

वह दैत्य जाकर पर्वत की एक अच्छी गुफा में पैठ गया, तब बालीने मुझे समझा कर कहा कि एक पखवारा (पन्द्रह दिन) तुम मेरी राह देखना, जब मैं न आऊँ तब जान लेना कि मैं मारडाला गया (तुम घर चले जाना) ॥३॥

मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी । निसरो रुधिर धार तहँ भारी ॥
बालि हतेसि मोहि मारिहि आई । सिला देइ तहँ चलेउँ पराई ॥४॥

हे खर के शत्रु ! मैं वहाँ महीने दिन रहा, उस गुफा से रक्त की बड़ी धारा निकली। मैं ने सोचा कि बाली को तो उसने मार ही डाला अब आकर मुझे भी मारेगा, गुफा के द्वार पर पत्थर का टुकड़ा देकर मैं वहाँ से भाग चला ॥४॥

मन्त्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं । दीन्हेउँ मोहि राज बरिआईं ॥
बाली ताहि मारि गृह आवा । देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा ॥५॥

मन्त्रियों ने बिना राजा का नगर देख कर मुझे जबर्दस्ती राज्य दे दिया। बाली उसको मार कर घर आया और मुझे देख मन में भेद बढ़ाया (कि इसने मुझे मार डालने की इच्छा से गुफा पर पत्थर लगाया, इसी से राजा बन बैठा है) ॥५॥

रिपु सम मोहि मारेसि अतिभारी । हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी ॥
ता के भय रघुबीर कृपाला । सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ॥६॥

उसने शत्रु के समान मुझे बहुत बड़ी मार मारी, मेरा सर्वस्व और स्त्री हर ली। हे कृपालु रघुबीर ! उसके भय से बेचैन होकर मैं समस्त भूमण्डल में फिरा ॥६॥

इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥
सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला॥७॥

यद्यपि यहाँ साप के अधीन वह नहीं आता, तो भी मन में भयभीत रहता हूँ सेवक के दुख को सुन कर दीनदयाल रामचन्द्रजी की दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं॥७॥

शाप रूपी प्रतिबन्धक के रहते हुए सुग्रीव का डर बना रहना 'तृतीय विभावना अलंकार' है। यहाँ 'दीनदयाल' शब्द साभिप्राय है, क्योंकि दीनोंपर दया करनेवालेकी भुजाएँ दीन के दुःख को सुनकर दयावीरता से फड़कती हैं, 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

दो०—सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म-रुद्र सरनागत, गये न उबरिहि प्रान॥६॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे सुग्रीव! सुनो, मैं बाली को एकही बाण से मारूँगा। फिर ब्रह्मा और रुद्र की शरण जाने पर भी उसके प्राण न बचेंगे॥६॥

चौ०-जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज-दुख-गिरि-सम रज करि जाना। मित्र क दुखरज मेरु समाना॥१॥

जो मित्र के दुःख से दुखी नहीं होते, उन्हें देखने से भारी पाप लगता है। पहाड़ के बराबर अपने दुःख को धूल के समान जाने और धूल के तुल्य मित्र के दुःख को सुमेरु-पर्वत के समान समझे॥१॥

जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपन्थ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनहिं दुरावा॥२॥

जिनको सहजही ऐसी बुद्धि नहीं आती, वे मूर्ख काहे को हठ करके मित्रता करते हैं? मित्र का तो धर्म यह है कि—बुरे रास्ते से छुड़ाकर अच्छे मार्ग पर चलावे, गुण को प्रसिद्ध करे और अवगुणों को छिपावे॥२॥

देत लेत मन सङ्क न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। स्रुति कह सन्त मित्र गुन एहा॥३॥

देने लेने में मन में सन्देह न रक्खे, बल और विचार से सदा भलाई करे। आपदकाल में सौगुना स्नेह करे, मित्र का यह गुण वेद तथा सन्तजन कहते हैं॥३॥

आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥
जाकर चित अहिगति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई॥४॥

जो सामने मीठे वचन बनाकर कहता हो और पीठ पीछे मन में कुटिलता रख कर बुराई करता हो। हे भाई! जिसके चित्त की चाल साँप के समान है, ऐसे दुष्ट मित्र को त्यागने ही में भलाई है॥४॥

सेवक-सठ नृप-कृपिन कुनारी। कपटी-मित्र सूल सम चारी॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥५॥

मूर्ख सेवक, कञ्जूस राजा, दुष्टा स्त्री और कपटी मित्र ये चारों शूल के समान हैं। हे मित्र! तुम मेरे बल के भरोसे पर सोच छोड़ दो, मैं सब तरह तुम्हारे काम को पूरा करूँगा॥५॥

मूर्ख सेवक, कृपण राजा, दुष्टा, स्त्री और छली मित्र इन चारों का एक ही धर्म शूल के समान होना कथन 'प्रथम 'तुल्ययोगिता अलंकार' है।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति-रनधीरा॥
दुन्दुभि अस्थि ताल देखराये। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाये॥६॥

सुग्रीव ने कहा—हे रघुवीर। सुनिए, बाली महाबली और अत्यन्त रणधीर है। दुन्दुभी की हड्डी और ताल के वृक्षों को दिखाया, रघुनाथजी ने बिना परिश्रम ही उन्हें ढहा दिया॥६॥

सुग्रीव ने रामचन्द्रजी के बल की परीक्षा लेनी चाही। कहा कि बाली को वही मार सकेगा जो दुन्दुभी दैत्य की हड्डी हटावेगा और सातों ताल के वृक्षों को एक बाण से बेध देगा। रामचन्द्रजी तुरन्त परीक्षा देकर उत्तीर्ण हुए, 'तृतीय सम अलंकार' है।

एक बार दुन्दुभी दैत्य भैंसे का रूप बना कर किष्किन्धा के पास आकर गर्जा। बाली ने दौड़ कर तुरन्त ही उसे मार डाला और उसका सिर तोड़ कर ऋष्यमूक पर्वत पर फेंक दिया। वह मतंग ऋषि के आश्रम में गिरा जिससे वहाँ रक्त की धारा बह चली। ऋषि ने कुपित होकर शाप दिया कि यदि बाली इस पर्वत पर आवेगा तो उसका सिर फट जायगा और वह मृत्यु को प्राप्त होगा। इसी से बाली उस पहाड़ पर नहीं जाता था। दैत्य के सिर की हड्डी कोई उठा नहीं सकता था उसको पैर के ठोकर से रामचन्द्रजी ने चालीस कोस की दूरी पर फेंक दिया। सातों ताल के वृक्ष जो बाली के सिवाय किसी से हिल भी नहीं सकते थे, उन्हें एक ही बाण से रामचन्द्रजी ने ज़मीन पर गिरा दिया।

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥
बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥७॥

अतुल पराक्रम देख कर प्रीति बाढ़ी और विश्वास हुआ कि ये बाली को मार डालेंगे। बारम्बार चरणों में सिर नवाते हैं, स्वामी को जान कर वानरराज-सुग्रीव मन में प्रसन्न हुए॥७॥

उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥
सुख सम्पति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥८॥

जब सुग्रीव को ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वे वचन बोले—हे नाथ। आप की कृपा से मेरा मन अचञ्चल (शान्त) हो गया। सुख, सम्पत्ति, कुटुम्ब और बड़प्पन सब त्याग कर आप की सेवकाई करूंगा॥८॥

तत्वानुसन्धान द्वारा सुग्रीव को ज्ञानलाभ होना 'मति सञ्चारीभाव' है।

ये सब राम-भगति के बाधक । कहहिं सन्त तव पद अवराधक ॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं । माया कृत परमारथ नाहीं ॥९॥

आप के चरणों की आराधना करनेवाले सन्तजन कहते हैं कि ये सब रामभक्ति के बाधक हैं। शत्रु मित्र, सुख और दुःख संसार में माया के किये हुए हैं, इनसे (जीव को) मोक्ष नहीं प्राप्त होता ॥९॥

सुख-सम्पत्ति आदि आदरणीय वस्तुओं को रामभक्ति में बाधा उपस्थित करनेवाला मान कर त्याग योग्य ठहराना 'तिरस्कार अलंकार' है। तत्वानुसन्धान द्वारा ऐहिक पदार्थों के विषय में तिरस्कार उत्पन्न होना 'निर्वेद स्थायीभाव' है।

बालि परम-हित जासु प्रसादा । मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ॥
सपने जेहि सन होइ लराई । जागे समुझत मन सकुचाई ॥१०॥

हे रामचन्द्रजी ! बाली मेरा परम हितैषी है; जिसकी कृपा से दुःख के नसानेवाले आप मुझे मिले। जिससे सपने में लड़ाई हो; किन्तु जागने पर समझ कर मन सकुचा जाता है (मेरी बाली के सम्बन्ध में ठीक यही दशा) हुई है ॥१०॥

बाली के शत्रुता रूपी दोष को हितैषिता रूपी गुण कहना 'लेश अलंकार' है।

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करउँ दिन राती॥
सुनि बिराग सञ्जुत कपि बानी । बोले बिहँसि राम धनु-पानी ॥११॥

हे प्रभो ! अब इस तरह कृपा कीजिये कि सब त्याग कर दिन रात आप का भजन करूँ। सुग्रीव की वैराग्य संयुक्त वाणी सुन कर हाथ में धनुष धारण करनेवाले रामचन्द्रजी हँस कर बोले ॥११॥

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई । सखा बचन मम मृषा न होई ॥
नट मरकट इव सबहि नचावत । राम खगेस बेद अस गावत ॥१२॥

जो कुछ कहते हो वह सब सत्य ही है, पर हे सखे ! मेरा वचन झूठा नहीं होता। काग-भुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुण ! वेद ऐसा गान करते हैं कि रामचन्द्रजी सब को नट मर्कट की तरह नचाते हैं ॥१२॥

लै सुग्रीव सङ्ग रघुनाथा । चले चाप-सायक गहि हाथा ॥
तब रघुपति सुग्रीव पठावा । गर्जेसि जाइ निकट बल पावा ॥१३॥

रघुनाथजी हाथ में धनुष बाण लिये हुए सुग्रीव को साथ में ले कर चले। तब राम-चन्द्रजी ने सुग्रीव को भेजा, वह बल पाकर नगर के समीप जाकर गर्जा ॥१३॥

सुनत बालि क्रोधातुर धावा । गहि कर चरन नारि समुझावा ॥
सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा । ते दोउ बन्धु तेज-बल-सींवाँ ॥१४॥

सुनते ही बाली क्रोध से अधीर होकर दौड़ा, उसका पाँव हाथ से पकड़ कर स्त्री (तारा)

ने समझाया। हे स्वामिन्! सुनिये, सुग्रीव जिनसे मिला है, वे दोनों भाई तेज और बल के अवधि हैं ॥१४॥

कोसलेस-सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिँ संग्रामा ॥१५॥

वे कोशल के राजा दशरथजी के पुत्र लक्ष्मण और रामचन्द्र काल को भी लड़ाई में जीत सकते हैं ॥१५॥

दो०—कह बाली सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ ॥
जौं कदाचि मोहि मारहिँ, तौ पुनि होउँ सनाथ ॥७॥

बाली ने कहा—हे डरनेवाली प्रिये! सुन, रघुनाथजी समदर्शी हैं। जो कदाचित मुझे मारेंगे तो फिर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा ॥७॥

रघुनाथजी समदर्शी हैं वे मुझे काहे को मारेंगे? यह कह कर मारने का निषेध किया फिर कदाचित कह कर उसी बातको ठहराना 'निषेधाक्षेप' है।

चौ०—असकहिचला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी ॥
भिरे उभौ बाली अति तरजा। मुठिका मारि महाधुनि गरजा ॥१॥

ऐसा कह कर वह महा अभिमानी सुग्रीव को तृण के समान समझ कर चला। दोनों भिड़ गये, बाली ने बहुत डाँट कर घूँसा मारा और बड़े ज़ोर से गर्जा ॥१॥

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि-प्रहार बज्र सम लागा ॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बन्धु न होइ मोर यह काला ॥२॥

तब सुग्रीव व्याकुल होकर भगे, मूके की चोट उन्हें वज्र के समान लगी। रामचन्द्रजी के पास आकर बोले—हे कृपालु रघवीर! मैं ने जो कहा था कि यह भाई नहीं मेरा काल है (वही हुआ; अब मैं उसके प्रहार से मरना चाहता हूँ) ॥२॥

सत्य बन्धुत्व को असत्य ठहराकर उपनाम रूपी असत्य कालत्व का स्थापन 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है।

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तेँ नहिँ मारेउँ सोऊ ॥
कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा ॥३॥

रामचन्द्रजी ने कहा—तुम दोनों भाई एक ही रूप के हो, इसी भ्रम से मैं ने उसे नहीं मारा। इतना कह कर—सुग्रीव के शरीर पर हाथ फेर दिया, जिससे उनका शरीर बज्र हो गया और सब पीड़ा चली गई ॥३॥

सुग्रीव और बाली के आकार में अन्तर न दिखाई पड़ना 'सामान्य अलंकार' है। सुग्रीव ने कहा था कि बाली मेरा परम हितैषी है, इससे रघुनाथजी ने बाण नहीं चलाया, परन्तु इस बात को छिपा कर 'एकरूपता के भ्रम से उसको नहीं मारा' बहाने की बात कहना व्याजोक्ति अलंकार' है। जब सुग्रीव बाली को अपना काल कहेंगे, तब रघुनाथजी बाण मारेंगे जिससे यह कहने का अवसर न रहे कि हितू को मारा।

बाली-सुग्रीव युद्ध ।

पुनि नाना विधि भई लराई । बिटप ओट देखहिँ रघुराई ॥

पृष्ठ ७५१
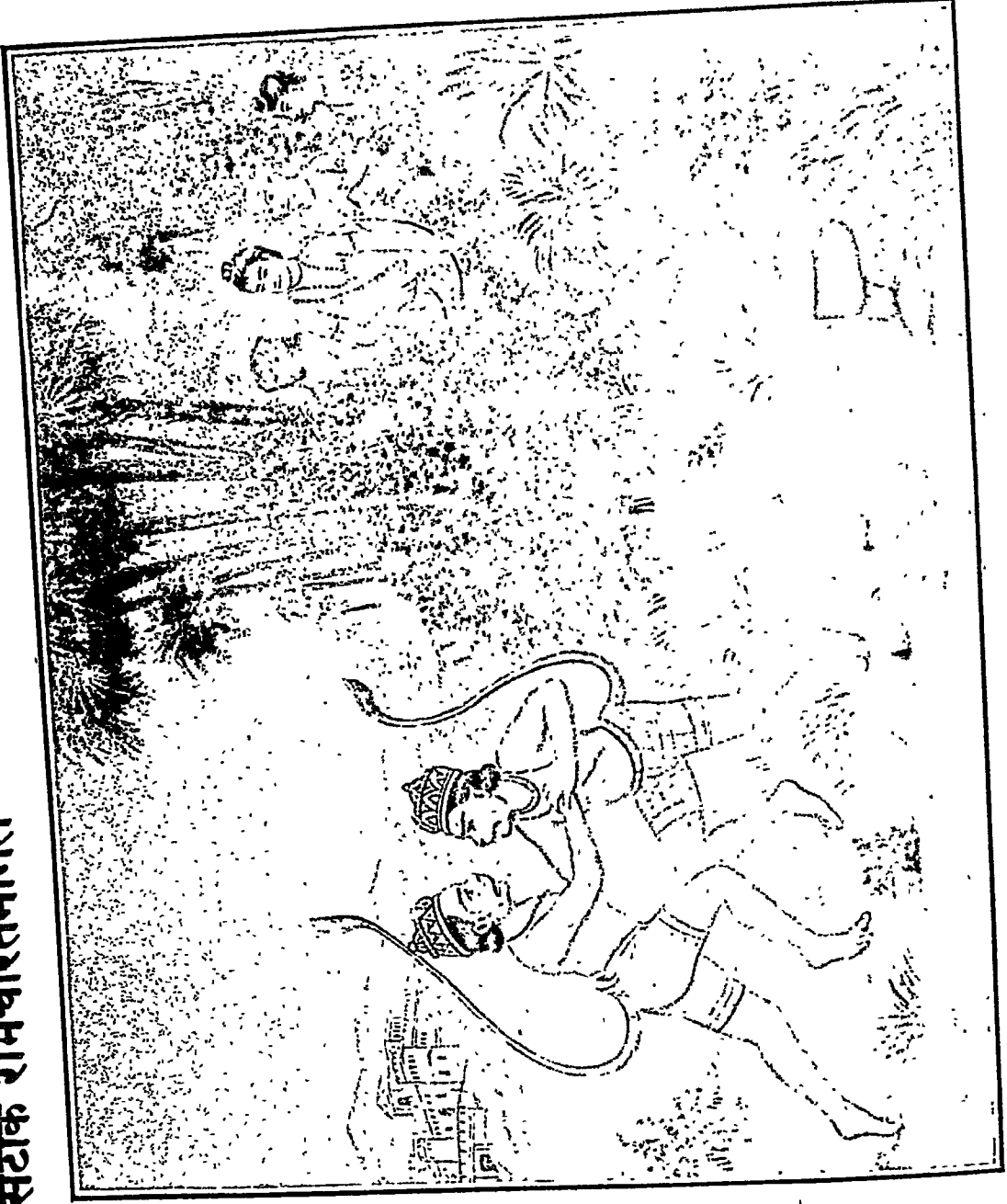
बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

मेली कंठ सुमन कै माला । पठवा पुनि बल देइ बिसाला ॥
पुनि नाना बिधि भई लराई । बिटप ओट देखहिँ रघुराई ॥४॥

रामचन्द्रजी ने सुग्रीव के गले में फूल की माला पहनायी और विशाल बल (भरोसा) देकर फिर भेजा। तब दोनों की अनेक तरह लड़ाई हुई और पेड़ की आड़ में खड़े रघुनाथजी देख रहे हैं ॥ ४ ॥

तारा के समझाने पर वाली ने रघुनाथजी को समदर्शी कहा था, इसलिये सुग्रीव के गले में माला डाल कर अपनी उपस्थिति सूचित करते हुए जनाया कि सुग्रीव मेरा आश्रित और मैं उसका रक्षक हूँ। यदि तू इससे वैर त्याग मित्रता कर लेगा तो मैं तुझे न मारूँगा। इस गूढ़ मर्म के सूचित करने में 'युक्ति अलंकार' है।

दो०—बहु छल बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब, हृदय माँझ सर तानि ॥८॥

जब सुग्रीव बहुतेरा छल बल कर के हार गया और मन में भयभीत हुआ, तब रामचन्द्रजी ने धनुष तान कर वाली की छाती में बाण मारा ॥८॥

चौ०-परा बिकल महि सर के लागे । पुनि उठि बैठि देखि प्रभु आगे ॥
स्याम गात सिर ज़टा बनाये । अरुन नयन सर चाप चढ़ाये ॥१॥

बाण के लगने से व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़ा, फिर उठ कर बैठ गया और प्रभु रामचन्द्रजी को सामने देखा। श्याम शरीर, सिर पर जटा बनाये, लाल नेत्र और धनुष पर बाण चढ़ाये हैं ॥ १ ॥

यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि रघुनाथजी का धनुष पर बाण चढ़ाना निष्फल नहीं जाता, फिर उसकी अमोघता क्या हुई? उत्तर—रामचन्द्रजी सत्यसङ्कल्प हैं, जब प्रतिज्ञा के साथ धनुष पर बाण चढ़ाते हैं तब वे निष्फल नहीं जाते। वाली राजा है, इसके बहुत सहायक हैं इस लिए स्वभावतः धनुष पर बाण चढ़ाये हैं। अथवा बाण हाथ में लिए हैं और धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाये हैं। सन्देह का कोई कारण नहीं है।

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा । सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा ॥
हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा । बोला चितइ राम की ओरा ॥२॥

बार बार देख कर चरणों में चित्त दिया और स्वामी को पहचान कर जन्म सुफल माना। हृदय में प्रेम और मुख से कठोर वचन रामचन्द्रजी की ओर देख कर बोला ॥ २ ॥

मन में प्रेम रूपी कारण के विपरीत कठोर वचन रूपी कार्य्य का प्रकट होना 'द्वितीय विषम अलंकार' है।

धरम हेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥
मैं बैरी सुग्रीव पियारा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥३॥

हे गुसाईं! आप तो धर्म की रक्षा के लिए अवतरे हैं, पर मुझे व्याधा की तरह छिप कर

मारा (यह कौन सी धर्म-रक्षा है ?) हे नाथ ! मैं वैरी और सुग्रीव प्यारा हुआ ? कौन से अपराध के कारण आप ने मुझे मारा है ? ॥ ३ ॥

धर्म के लिए अवतार लेना और अधर्म का काम करना अर्थात् प्रथम सङ्कल्प के विरुद्ध कार्य्य 'तृतीय असङ्गति अलंकार' है ।

अनुज-बधू भगिनी सुत-नारी । सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥
इन्हहिँ कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधे कछु पाप न होई ॥४।

रामचन्द्रजी ने कहा—अरे मूर्ख ! सुन, छोटे भाई की स्त्री, बहिन, पुत्रवधू और लड़की ये चारों बराबर हैं । जो कोई इन्हें बुरी निगाह से देखता है, उसको मार डालने से कुछ भी पाप नहीं होता ॥ ४ ॥

चारों का एक ही धर्म कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है ।

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करेसि न काना ॥
मम भुजबल आस्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥५॥

अरे मूर्ख ! तुझे बहुत बड़ा अभिमान है, तू ने स्त्री के सिखाने पर कान नहीं दिया ! क्यों रे नीच घमण्डी ! सुग्रीव को मेरी भुजाओं के बल से रक्षित जान कर भी उसे मारना चाहता था ? ॥५॥

दो०-सुनहु राम स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि ।
प्रभु अजहूँ मैं पापी, अन्तकाल गति तोरि ॥९॥

बाली ने कहा—हे रामचन्द्रजी ! सुनिये, स्वामी से मेरी चतुराई नहीं चल सकती । पर हे स्वामी ! मैं अब भी पापी हूँ जब कि अन्तकाल में आप की गति प्राप्त हुई है ? ॥ ९ ॥

चौ०-सुनत राम अति कोमल बानी । बालि सीस परसेउ निज पानी ॥
अचल करउँ तनु राखहु प्राना । बालि कहा सुनु कृपानिधाना ॥१॥

अत्यन्त कोमल वाणी सुनते ही रामचन्द्रजी ने बाली के सिर पर अपना हाथ स्पर्श करके कहा कि मैं तुम्हारे शरीर को अचल कर दूँ; तुम प्राण रक्खो । बाली ने कहा—हे कृपा निधान ! सुनिये ॥ १ ॥

जनम जनम मुनि जतन कराहीँ । अन्त राम कहि आवत नाहीँ ॥
जासु नाम बल सङ्कर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ॥२॥

जन्म जन्मान्तर मुनि लोग यत्न करते हैं, पर जिन रामचन्द्रजी का अन्त कहने में नहीं आता और जिनके नाम के बल से शिवजी काशी में सब को समान अक्षय गति (मोक्ष) देते हैं ॥ २ ॥

'अन्त राम कहि आवत नाहीं' इस चौपाई का लोग कई तरह से अर्थ करते हैं । जैसे—अन्त में राम कह कर फिर वे संसार में नहीं आते । अथवा—मुनि लोग जन्म जन्म यत्न करते

हैं, परन्तु अन्त में किसी के समक्ष आकर रामचन्द्र खड़े नहीं होते जैसा कि मेरे सामने खड़े हैं। अथवा अन्तकाल में 'राम' नहीं कहते बनता सो आप प्रत्यक्ष विद्यमान हैं इत्यादि।

मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥३॥

वही परमात्मा मेरी आँखों के सामने आ कर प्राप्त हैं, हे नाथ! क्या ऐसा बनाव फिर बन सकता है? (कदापि नहीं) ॥३॥

हरिगीतिका-छन्द।

सो नयन गोचर जासु गुन नित, नेति कहि स्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि, ध्यान कबहुँक पावहीं ॥
मोहि जानि अति अभिमान बस, प्रभु कहेहु राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु, बारि करहि बबूरही ॥१॥

वे परमेश्वर आँखों को प्रत्यक्ष हुए हैं, जिन के गुणों को वेद इति नहीं कह कर निरन्तर गान करते हैं। मुनि लोग श्वास को जीत कर, मन को इन्द्रियों से विरक्त कर के जिन्हें कभी ध्यान में पाते हैं। हे प्रभो! मुझे अत्यन्त अहङ्कार के अधीन समझ कर ही आपने शरीर रखने के लिये कहा। भला ऐसा कौन मूर्ख होगा? जो हठ कर के कल्पवृक्ष को काट बबूर में पानी देगा! ॥१॥

उपमेय वाक्य 'शरीर रखना' और उपमान वाक्य कल्पवृक्ष काट कर बबूर में पानी' देना है। दोनों वाक्यों में विम्ब प्रतिबिम्ब भाव अर्थात् अब शरीर रखना कल्पतरु काट कर बबूर सींचने के बराबर होगा 'दृष्टान्त अलंकार' है।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु, देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जनमउँ कर्म बस, तहँ राम-पद अनुरागऊँ ॥
यह तनय मम सम बिनय बल कल्यान प्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर-नर नाह आपन, दास अङ्गद कीजिये ॥२॥

हे नाथ! अब दया कर के मेरी ओर देखिये और जो मैं माँगता हूँ वह बर दीजिये। मैं अपने कर्मों के अधीन होकर जिस योनि में जन्म लेऊँ, वहाँ आप के चरणों में प्रेम करूँ। हे कल्याण के देनेवाले स्वामी! यह मेरा पुत्र विनय और बल में मेरे समान है, इसको लीजिये। हे देवता और मनुष्यों के नाथ! अङ्गद की बाँह पकड़ कर इसको अपना दास कीजिए ॥२॥

दो०-राम चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन-माल जिमि कंठ तेँ, गिरत न जानइ नाग ॥१०॥

रामचन्द्रजी के चरणों में दृढ़ प्रेम कर के बाली ने शरीर त्याग किया। (उसने बिना कष्ट के इस तरह शरीर छोड़ा) जैसे फूल की माला गले से गिरने में हाथी को न मालूम हो ॥१०॥

चौ०-राम बालि निज धाम पठावा । नगर लोग सब व्याकुल धावा ॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा । छूटे केस न देह सँभारा ॥१॥

रामचन्द्रजी ने वाली को अपने धाम (वैकुंठ) को भेज दिया, नगर के सब लोग व्याकुल होकर दौड़े । तारा अनेक प्रकार विलाप करने लगी, उसके बाल छूट गये हैं और शरीर की सुध बुध नहीं है ॥१॥.

पति के प्राणनाश से तारा के मन में शोक स्थायीभाव है । रोदन, नाना विलाप अनुभाव और विषाद, चिन्ता, ग्लानि, अपस्मारादि सञ्चारीभावों से पुष्ट हो 'करुणा रस' संज्ञा को प्राप्त हुआ है ।

तारा बिकल देखि रघुराया । दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया ॥
छिति जल पावक गगन समीरा । पञ्च-रचित अति अधम सरीरा ॥२॥

तारा को व्याकुल देख कर रघुनाथजी ने उसे ज्ञान देकर अज्ञान को हर लिया । उन्होंने कहा—पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन्हीं पाँचों से यह अत्यन्त अधम शरीर बना है ॥२॥

प्रगट सो तनु तव आगे सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥
उपजा ज्ञान चरन तब लागी । लीन्हेसि परम भगति बर माँगी ॥३॥

वह शरीर तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष सो रहा है और जीव अविनाशी है (उसका कभी नाश ही नहीं होता, फिर) तुम किसके लिए रोती हो ? तारा को ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब वह चरणों में लगी और श्रेष्ठ भक्ति का वर माँग लिया ॥ ३ ॥

उमा दारु-जोषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ॥
तब सुग्रीवहिँ आयसु दीन्हा । मृतक-कर्म बिधिवत सब कीन्हा ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! स्वामी रामचन्द्रजी सभी को कठपुतली की तरह नचाते हैं । तब सुग्रीव को आज्ञा दी, उन्हों ने मृतक-कर्म सब विधि-पूर्वक किया ॥ ४ ॥

राम कहा अनुजहि समुझाई । राज देहु सुग्रीवहिँ जाई ॥
रघुपति चरन नाइ करि माथा । चले सकल प्रेरित रघुनाथा ॥५॥

रामचन्द्रजी ने लघु बन्धु लक्ष्मण को समझा कर कहा कि जा कर सुग्रीव को राज-तिलक दे आओ । रघुनाथजी की आज्ञानुसार सब उनके चरणों में सिर नवा कर चले ॥ ५ ॥

दो०-लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन बिप्र-समाज ।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अङ्गद कहँ जुबराज ॥११॥

लक्ष्मणजी ने तुरन्त पुरवासीजन और ब्राह्मण वृन्द को बुलवा कर सुग्रीव को राज्य और अङ्गद को युवराजपद दिया ॥ ११ ॥

अङ्गद को युवराज पद इसलिए दिया कि जिसमें सुग्रीव के पीछे अङ्गद ही राज्याधिकारी हों। अन्त समय में बाली बाँह पकड़ा गया था, उसका निर्वाह स्वामी की ओर से हुआ है।

चौ०-उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बन्धु प्रभु नाहीं ॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिँ सब प्रीती ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! संसार में रामचन्द्रजी के समान हितकारी गुरु, पिता, माता, भाई और मालिक कोई नहीं है। देवता, मनुष्य और मुनि सब की यह रीति है कि ये सब अपने मतलब के लिए प्रेम करते हैं (निःस्वार्थ प्रेम केवल रामजी करते हैं) ॥ १ ॥

बालि त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिन्ता जर छाती ॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ ॥२॥

जो बाली के डर से दिन रात व्याकुल रहता था, शरीर में बहुत से फोड़े हुए और चिन्ता से छाती जलती थी; उसी सुग्रीव को वानरों का राजा बना दिया, रघुनाथजी स्वभाव से ही बड़े दयालु हैं ॥ २ ॥

जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं ॥
पुनि सुग्रीवहिँ लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृप-नीति सिखाई ॥३॥

जो जानते हुए भी ऐसे स्वामी को त्याग देते हैं, वे मनुष्य विपत्ति के जाल में क्यों न पड़ेंगे? (अवश्य पड़ेंगे)। फिर सुग्रीव को बुला लिया और बहुत प्रकार की राजनीति सिखायी ॥ ३ ॥

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस-चारि बरीसा ॥
गत ग्रीषम बरषा-रितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने कहा—हे वानरराज सुग्रीव! सुनिए, मैं चौदह वर्ष तक नगर में न जाऊँगा। ग्रीष्म ऋतु गई और वर्षा ऋतु आई है, पास ही पर्वत पर कुटी छा कर रहूँगा ॥४॥

अङ्गद सहित करहु तुम्ह राजू। सन्तत हृदय धरेहु मम काजू ॥
जब सुग्रीव भवन फिरि आये। राम प्रबरषन गिरि पर छाये ॥५॥

तुम अङ्गद समेत राज्य करो, पर मेरे कार्य्य को सदा हृदय में रखना। जब सुग्रीव घर लौट आये, तब रामचन्द्रजी ने प्रवर्षण पहाड़ पर डेरा किया ॥ ५ ॥

दो०-प्रथमहिँ देवन्ह गिरिगुहा, राखी रुचिर बनाइ।
राम कृपानिधि कछुक दिन, बास करहिंगे आइ ॥१२॥

देवताओं ने पहले ही पर्वत में सुन्दर गुफा बना रक्खी थी। उन्हें यह मालूम था कि कृपानिधान रामचन्द्रजी आ कर कुछ दिन यहाँ निवास करेंगे ॥ १२ ॥

चौ०–सुन्दर बन कुसुमित अति सोभा । गुञ्जत मधुप निकर मधु लोभा॥
कन्द मूल फल पत्र सुहाये । भये बहुत जब तेँ प्रभु आये ॥१॥

सुन्दर वन फूल कर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है, भँवरों के झुण्ड मकरन्द में लुब्ध हो कर गूँज रहे हैं। जब से प्रभु रामचन्द्रजी (पर्वत पर) आये, तब से वहाँ कन्द, मूल, फल और पत्ते अधिक सुहावने हो गये हैं ॥ १ ॥

देखि मनोहर सैल अनूपा । रहे तहँ अनुज सहित सुरभूपा ॥
मधुकर-खग-मृग-तनु धरि देवा । करहिँ सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा ॥२॥

देवताओं के राजा रामचन्द्रजी सुन्दर अनुपम पर्वत को देख कर छोटे भाई लक्ष्मण के सहित वहाँ रहने लगे। देवगण भ्रमर, पक्षी और मृगों का रूप धारण करके तथा सिद्ध मुनि स्वामी की सेवा करते हैं ॥ २ ॥

मङ्गल-रूप भयउ बन तब तेँ । कीन्ह निवास रमापति जब तेँ ॥
फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई । सुख-आसीन तहाँ दोउ भाई ॥३॥

जब से लक्ष्मीकान्त रामचन्द्रजी ने निवास किया, तब से वह वन मङ्गल का रूप हो गया। अत्यन्त सुहावना सफेद स्फटिक का चट्टान है, वहाँ दोनों भाई सुख से विराजमान हैं ॥ ३ ॥

'रमापति' संज्ञा साभिप्राय है, क्योंकि लक्ष्मीकान्त ही अनैश्वर्य्यवान को ऐश्वर्य्यवान और मङ्गल रूप कर सकते हैं। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है। स्फटिक एक प्रकार का पत्थर है, जो सफ़ेद रङ्ग का; चिकना और मुलायम होता है।

कहत अनुज सन कथा अनेका । भगति बिरति नृप-नीति बिबेका ॥
बरषाकाल मेघ नभ छाये । गरजत लागत परम-सुहाये ॥४॥

भक्ति, वैराग्य, राजनीति और ज्ञान की नाना कथाएँ छोटे भाई लक्ष्मणजी से कहते हैं। वर्षाकाल के मेघ आकाश में छाये हैं, वे गरजते हैं जो परम सुहावना लगता है ॥ ४ ॥

दो०–लछिमन देखहु मोर-गन, नाचत बारिद पेखि ।
गृही बिरति-रत हरष जस, बिष्नुभगत कहँ देखि ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! देखो, बादलों को देख कर मुरैले कैसे नाच रहे हैं, जैसे रामभक्त को देख कर वैराग्य में तत्पर गृहस्थाश्रमी प्राणी प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥

चौ०–घन घमंड नभ गरजत घोरा । प्रिया हीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमक रह न घनमाहीँ । खल कै प्रीति जथा थिर नाहीँ॥१॥

आकाश में बादल गर्व से भीषण गर्जना करते हैं, जिससे प्रिया विहीन होने के कारण मेरा मन डरता है। बिजली की चमक बादलों में कैसे नहीं ठहरती है, जैसे दुष्टों की प्रीति स्थिर नहीं रहती ॥ १ ॥

वर्षा-वर्णन।

लछिमन देखहु मोर-गन, नाचत वारिद पेखि।
गृही विरति-रत हरष जस, विष्णुभगत कहँ देखि॥

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

बरषहिं जलद भूमि नियराये । जथा नवहिं बुध बिद्या पाये ॥
बुन्द-अघात सहहिं गिरि कैसे । खल के बचन सन्त सह जैसे ॥२॥

पृथ्वी के समीप आकर बादल इस तरह वर्षा करते हैं, जैसे पण्डित लोग विद्या पाकर नम्र हो जाते हैं। बूँदों की चोट पर्वत कैसे सहते हैं, जैसे सन्तजन दुष्टों के कठोर वचन सह लेते हैं ॥ २ ॥

छुद्र-नदी भरि चली तोराई । जस थोरेहु धन खल इतराई ॥
भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहि माया लपटानी ॥३॥

छोटी नदियाँ जल से भर कर सीमा तोड़ ऐसी बह चली हैं जैसे दुष्ट लोग थोड़े ही धन से मदान्ध हो जाते हैं। भूमि पर पड़ते ही पानी ऐसा मटमैला हो गया है मानों जीव को माया लिपटी हो ॥ ३ ॥

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा । जिमि सदगुन सज्जन पहिँ आवा ॥
सरिता जल जलनिधि महँ जाई । होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥४॥

बटुर बटुर कर पानी तालाबों में भरता है, जैसे धीरे धीरे सद्गुण सज्जनों के पास आते हैं। नदियों का जल समुद्र में जाता है, जैसे परमात्मा को प्राप्त (लीन) होकर जीव निश्चल हो जाता है ॥ ४ ॥

दो०—हरितभूमि तृन-सङ्कुल, समुझि परहिँ नहिँ पन्थ ।
जिमि पाखंड-बिबाद तेँ, गुप्त होहिँ सदग्रन्थ ॥१४॥

घासों की परिपूर्णता से धरती हरी भरी हुई है, जिससे रास्ता नहीं समझ पड़ता। जैसे पाखण्ड की बातों से सद्ग्रन्थ छिप जाते हैं ॥ १४ ॥

चौ०-दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई । बेद पढ़हिँ जनु बटु समुदाई ॥
नव पल्लव भये बिटप अनेका । साधक मन जस मिले बिबेका ॥१॥

चारों दिशाओं में मेढकों का शब्द ऐसा सुहावना लग रहा है, मानों ब्रह्मचारियों के समुदाय वेद पढ़ते हों। नाना प्रकार के वृक्ष नवीन पत्तों से कैसे जान पड़ते हैं, जैसे साधना करनेवाले का मन ज्ञान प्राप्त होने से (परिपूर्ण) होता है ॥१॥

कविजी उत्प्रेक्षा करते हैं कि दादुरों की बोल समझ में नहीँ आती वैसे ही वेदपाठ सर्वसाधारण की समझ में नहीं आता उक्तविषया 'वस्तूत्प्रेक्षा' है।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ । जस सुराज खल उद्यम गयऊ ॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिँ धूरी । करइ क्रोध जिमि धर्महिँ दूरी ॥२॥

मदार और जवासे के वृक्ष बिना पत्ता के हो गये, जैसे अच्छे राज्य में दुष्टों का उद्योग (रहने नहीं पाता) चला जाता है। खोजने से भी कहीं धूल नहीं मिलती है, जैसे क्रोध धर्म को दूर भगा देता है ॥२॥

ससि-सम्पन्न सोह महि कैसी । उपकारी कै सम्पति जैसी ॥
निसितम घन खद्योत बिराजा । जनु दम्भिन्ह कर मिला समाजा ॥३॥

कृषी से भरीपूरी पृथ्वी कैसी शोभित हो रही है, जैसे उपकारी पुरुष की सम्पत्ति सोहती हो । रात के अँधेरे में जुगनुओं का समूह ऐसा विराज रहा है, मानों पाखण्डियों का समाज एकत्रित हो ॥३॥

महाबृष्टि चलिफूटि कियारी । जिमि सुतन्त्र भये बिगरहिं नारी ॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना । जिमि बुध तजहिं मोह-मद माना ॥४॥

भारी वर्षा से क्यारियाँ कैसे फूट चली हैं, जैसे स्वतन्त्र होने पर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं । चतुर किसान खेती को इस प्रकार निराते हैं, जसे बुद्धिमान लोग मोह, मद और अभिमान को दूर करते हैं ॥४॥

देखियत चक्रबाक खग नाहीं । कलिहि पाइ जिमि धरम पराहीं ॥
ऊसर बरसइ तृन नहिंजामा । जिमि हरिजन हिय उपज न कामा ॥५॥

चकवापक्षी नहीं देख पड़ते हैं, जैसे कलियुग को पाकर धर्म (पृथ्वी से) भाग जाते हैं । ऊसर में वर्षा होने पर भी घास कैसे नहीं जमती, जैसे हरिभक्तों के हृदय में कामवासना नहीं उत्पन्न होती ॥५॥

बिबिध जन्तु सङ्कुल महि भ्राजा । प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना । जिमि इन्द्रियगन उपजे ज्ञाना ॥६॥

अनेक प्रकार के जीवों से पृथ्वी ऐसी परिपूर्ण होकर शोभित है, जैसे अच्छे (धर्मात्मा और नीतज्ञ) राजा को पा कर प्रजा बढ़ती है । नाना यात्री जहाँ तहाँ ऐसे टिक गये हैं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं ॥६॥

दो०-कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं ।
जिमि कपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं ॥

कभी ज़ोरदार हवा के चलने से जह तहाँ बादल कैसे लोप हो जाते, जैसे कुपुत्र के उत्पन्न होने से कुल के श्रेष्ठ धर्म नष्ट हो जाते हैं ।

कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम, कबहुँक प्रगट पतङ्ग ।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसङ्ग सुसङ्ग ॥ १५ ॥

कभी दिन में घना अन्धकार छा जाता और कभी सूर्य्य प्रकट होते हैं । जैसे कुसंग पा कर ज्ञान नष्ट होता और सुसङ्ग पाकर बढ़ता है ॥१५॥

चौ०-बरषा बिगत सरदरितु आई । लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूले कास सकल महि छाई । जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई ॥१॥

हे लक्ष्मण ! देखो, वर्षाऋतु व्यतीत हुई और शरदऋतु आगई, यह बहुत ही सुहावनी

लगती है। सारी पृथ्वी पर कास फूल कर छाई हुई है, वह मानों वर्षा की बुढ़ाई प्रगट कर रही है ॥१॥

शरीरधारियों का वृद्ध होकर बाल श्वेत होना सिद्ध आधार है, परन्तु वर्षाऋतु शरीरधारी जीव नहीं है जो उसके बाल सफ़ेद होकर बुढ़ाई प्रगट करेंगे। फूला हुई कास के द्वारा इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

उदित अगस्त पन्थ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ सन्तोखा ॥
सरिता-सर निर्मल जल सोहा। सन्त हृदय जस गत-मद मोहा ॥२॥

अगस्त्य तारा का उदय हुआ और रास्ते का पानी कैसे सूख गया, जैसे लोभ को सन्तोष सुखा देता है। नदी और तालाबों का पानी ऐसा निर्मल शोभित हो रहा है, जैसे मद-मोह से रहित सन्तों का हृदय स्वच्छ रहता है ॥२॥

रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिँ जिमि ज्ञानी ॥
जानि सरद-रितु खञ्जन आये। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये ॥३॥

धीरे धीरे नदी और तालाबों का पानी इस तरह सूख चला है, जैसे ज्ञानी मनुष्य क्रमशः ममता को त्यागते हैं। शरदऋतु जान कर खञ्जन पक्षी आ गये, जैसे समय पाकर अच्छी करनी सुहावनी लगती है ॥३॥

पङ्क न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥
जल सङ्कोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना ॥४॥

बिना कीचड़ और धूल के धरती ऐसी सुहावनी लगती है, जैसे नीति निपुण राजा की करनी शोभित होती है। पानी के घटने से मछलियाँ इस तरह व्याकुल हुई हैं, जैसे मूर्ख कुटुम्बी धनहीन हो जाने पर अकुलाता है ॥४॥

बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥५॥

बिना बादलों के निर्मल आकाश शोभायमान हो रहा है, हरिभक्तों के समान सारी आशाएँ त्याग कर (जैसे वे स्वच्छ शोभित होते हैं)। कहीं कहीं शरदऋतु की थोड़ी वर्षा हो जाती है, जैसे कोई एक प्राणी मेरी भक्ति पाता है ॥५॥

दो०--चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरिभगति पाइ स्रम, तजहिँ आस्रमी चारि ॥१६॥

राजा, तपस्वी, वनिए और भिक्षुक प्रसन्न हो नगर छोड़ कर ऐसे चले हैं जैसे हरि-भक्ति पा कर चारों आश्रमवाले परिश्रम त्याग देते हैं ॥१६॥

चौ०-सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा ॥
फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुनब्रह्म सगुन भये जैसा ॥१॥

जो मछलियाँ गहरे पानी में हैं वे ऐसी प्रसन्न हैं, जैसे भगवान् की शरण में कोई भी

दुःख नहीं रहता। तालाबों में कमल कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे निर्गुण-ब्रह्म शरीरधारी होने पर सोहता है ॥१॥

गुञ्जत-मधुकर मुखर अनूपा । सुन्दर खग रव नाना रूपा ॥
चक्रबाक मन दुख निसि पेखी । जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी ॥२॥

भँवरों के गुञ्जार का अनुपम शब्द हो रहा है और सुन्दर पक्षी तरह तरह की बोली बोल रहे हैं। रात्रि को देख कर चकवा पक्षी मन में ऐसा दुखी है, जैसे दुष्ट प्राणी पराये की सम्पदा देख कर जलते हैं ॥२॥

चातक रटत तृषा अति ओही । जिमि सुख लहइ न सङ्कर द्रोही ॥
सरदातप निसि ससि अपहरई । सन्त दरस जिमि पातक टरई ॥३॥

पपीहा रटता है उसको बड़ी प्यास है, जैसे शिव द्रोही सुख नहीं पाता वैसे वर्षा होने पर भी वह प्यासा ही रहता है)। शरदऋतु के ताप (घाम के विष) को रात में चन्द्रमा कैसे हर लेते हैं, जैसे सन्तों के दर्शन से पाप दूर हो जाता है ॥३॥

देखि इन्दु चकोर-समुदाई । चितवहिँ जिमि हरिजन हरि पाई ॥
मसक-दंस बीते हिम त्रासा । जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा ॥४॥

चकोरों का समुदाय चन्द्रमा को देख कर ऐसी प्रसन्नता से निहार रहा है, जैसे हरिभक्त जन भगवान् को पा कर चाव से देखते हैं। मच्छड़ और डाँस जाड़े के डर से ऐसे नष्ट हो गये, जैसे ब्राह्मण के द्रोह से कुल का नाश हो जाता है ॥४॥

दो०-भूमि जीव सङ्कुल रहे, गये सरदरितु पाइ ।
सदगुरु मिले जाहिँ जिमि, संसय-भ्रम-समुदाइ ॥१७॥

पृथ्वी पर जो समूह जन्तु थे वे शरदऋतु पा कर ऐसे चले गये, जैसे अच्छे गुरु के मिलने पर सन्देह और भ्रम का समूह भाग जाता है ॥१७॥

वर्षा और शरद वर्णन में उदाहरण का बाहुल्य है।

चौ०-बरषा गत निर्मल रितु आई । सुधि न तात सीता कै पाई ॥
एक बार कैसेहु सुधि जानउँ । कालहु जीति निमिष महँ आनउँ ॥१॥

हे तात! बरसात बीत गई और स्वच्छ शरद ऋतु आई, परन्तु सीता की ख़बर नहीं मिली। एक बार किसी तरह से भी पता मालूम हो जाय तो पलमात्र में काल को भी जीत कर ले आऊँ ॥ १ ॥

कतहुँ रहउ जौँ जीवति होई । तात जतन करि आनउ सोई ॥
सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी । पावा राज-कोस-पुर-नारी ॥२॥

हे तात! कहीं भी हो यदि जीवित हो तो प्रयत्न कर के उसे तुम ले आओ। राज्य, भण्डार, नगर और स्त्री को पा कर सुग्रीव ने भी मेरी सुध भुला दी ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी ने अपने प्रति तो यह कहा कि यदि कालवश हुई हो तो काल को जीत कर मैं ले आऊँ और जीती हो चाहे कहीं भी हो तब तुम उपाय कर के ले आवो।

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली॥
जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा। ता कहँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥३॥

जिस बाण से मैं ने बाली को मारा, उसी बाण से कल्ह मूर्ख सुग्रीव को भी मारूँगा। शिवजी कहते हैं—हे उमा! जिनकी कृपा से मद मोह छूट जाते हैं, क्या उनको स्वप्न में क्रोध हो सकता है? (कदापि नहीं) ॥ ३ ॥

जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥
लछिमन क्रोधवन्त प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥४॥

ज्ञानीमुनि इस चरित्र को जानते हैं, जिन्होंने रघुनाथजी के चरणों में प्रीति मान ली है। लक्ष्मणजी ने स्वामी को क्रुद्ध जान धनुष चढ़ा कर हाथ में बाण लिया ॥ ४ ॥

दो०—तब अनुजहि समुझावा, रघुपति करुनासीवँ।
भय देखाइ लेइ आवहु, तात सखा सुग्रीवँ॥१८॥

तब करुणासीम रघुनाथजी ने छोटे भाई को समझाया—हे तात! सुग्रीव मित्र (अदण्डनीय) है, उसे भय दिखा कर लिवा लाओ ॥१८॥

चौ०—इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। राम-काज सुग्रीव बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिर नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥१॥

यहाँ पवनकुमार ने मन में सोचा कि सुग्रीव ने रामचन्द्रजी के कार्य को भुला दिया। पास जाकर चरणों में मस्तक नवाकर चारों तरह (साम, दाम, दण्ड, भेद के अनुसार) कह कर उन्हें समझाया ॥१॥

सुनि सुग्रीव परम-भय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना॥
अब मारुत-सुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर-जूहा॥२॥

सुनकर सुग्रीव बहुत ही भयभीत हुए, उन्हों ने कहा—विषय ने मेरा ज्ञान हर लिया। हे पवनकुमार! अब समूह दूत झुंड के झुंड बन्दर जहाँ तहाँ भेजो ॥२॥

कहेहु पाख महँ आव न जोई। मोरे कर ता कर बध होई॥
तब हनुमन्त बोलाये दूता। सब कर करि सनमान बहूता॥३॥

कह देना कि जो कोई पन्द्रह दिन में न लौट आवेगा, उसका वध मेरे हाथ से होगा। तब हनूमानजी ने दूतों को बुलाया और सब का बहुत सम्मान कर के ॥ ३ ॥

भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिर नाई॥
एहि अवसर लछिमन पुर आये। क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाये॥४॥

भय, प्रीति और नीति दिखाया, सब चरणों में सिर नवा कर चले। इसी समय लक्ष्मण-

जी नगर में आये, उन्हें क्रोधित देख कर बन्दर जहाँ तहाँ दौड़े (कुछ सुग्रीव के पास, कितने ही ने हनूमानजी और अङ्गद को खबर दी) ॥ ४ ॥

हनुमानजी ने सब बन्दरों को यह भय दिखाया कि—पक्ष के भीतर न लौट आने पर मार डाले जाओगे। प्रीति—यह कि राजा के प्रेमपात्र हो कर पुरस्कार पाओगे। नीति यह कि स्वामी की आज्ञा पालन करना सेवक का परम धर्म है।

दो०—धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।
व्याकुल नगर देखि तब, आयउ बालिकुमार ॥१९॥

तब लक्ष्मणजी ने धनुष चढ़ा कर कहा कि मैं पुर को जला कर भस्म कर दूँगा। नगर को व्याकुल देख कर तब वालिकुमार- अङ्गद-आये ॥ १९ ॥

नगर जड़ है, वह क्या व्याकुल होगा? इससे नगर-निवासी का अर्थ ग्रहण होना 'लक्षित लक्षणा' है।

चौ०—चरन नाइ सिर बिनती कीन्ही। लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्हीं॥
क्रोधवन्त लछिमन सुनि काना। कह कपीस अतिभय अकुलाना॥१॥

चरणों में सिर नवाकर विनती की, लक्ष्मणजी ने उन्हें अभय-बाँह दी। लक्ष्मणजी को क्रोध से भरा हुआ कान से सुनकर सुग्रीव अत्यन्त भय से घबरा गये, कहा—॥१॥

सुनु हनुमन्त सङ्ग लेइ तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥
तारा सहित जाइ हनुमाना। चरन बन्दि प्रभु सुजस बखाना॥२॥

हे हनूमान? सुनिए साथ में तारा को लेकर जाइये और विनती कर के कुमार को समझाइये। तारा के सहित जाकर हनूमानजी ने चरणों की बन्दना कर के स्वामी का सुन्दर यश (जेहि करुणा कर कीन्ह न कोहू) बखान किया ॥२॥

तारा के भेजने में सुग्रीव का हार्दिक अभिप्राय यह है कि अवध्य अबला को देख कर क्षमा करेंगे और इस के रूपलावण्य को देखकारण विचार कर मुझ पर दया भाव से द्रवीभूत हो जाँयगे 'युक्ति अलंकार' है।

करि बिनती मन्दिर लेइ आये। चरन पखारि पलँग बैठाये॥
तब कपीस चरनन्हि सिर नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥३॥

प्रार्थना करके उन्हें घर ले आये और पाँव धोकर पलँग पर बैठाया। तब सुग्रीव ने चरणों में सिर नवाया, लक्ष्मणजी ने बाँह पकड़ कर गले से लगा लिया ॥३॥

नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं॥
सुनत बिनीत बचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहु बिधि समुझावा॥४॥

सुग्रीव ने कहा—हे नाथ! विषय के बराबर और कोई मद (नशा) नहीं है; जो क्षणमात्र में मुनियों के मन में मोह उत्पन्न करता है। इस तरह नम्रता की बात सुन कर लक्ष्मणजी प्रसन्न हुए और बहुत भाँति से सुग्रीव को समझाया ॥४॥

पवन-तनय सब कथा सुनाई । जेहि बिधि गये दूत समुदाई ॥५॥

जिस प्रकार दूतों का समुदाय भेजा गया था, पवनकुमार ने वह सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥५॥

दो०--हरषि चले सुग्रीव तब, अङ्गदादि कपि साथ ।
रामानुज आगे करि, आये जहँ रघुनाथ ॥२०॥

तब सुग्रीव अङ्गद आदि बन्दरों को साथ ले प्रसन्नता से लक्ष्मणजी को आगे करके चले और जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ आये ॥२०॥

चौ०--नाइ चरन सिर कह कर जोरी । नाथ मोहि कछु नाहिँ न खोरी ॥
अतिसय प्रबल देव तव माया । छूटइ राम करहु जौँ दाया ॥१॥

चरणों में सिर नवा हाथ जोड़ कर बोले···हे नाथ! मेरा कुछ दोष नहीं है। हे देव! आपकी माया बड़ी ही जोरावर है, यदि आप दया करें तो वह छूट सकती है ॥१॥

बिषय-बस्य- सुर-नर मुनि स्वामी । मैं पामर पसु कपि अति कामी ॥
नारि नयनसर जाहि न लागा । घोरक्रोध-तम-निसि जो जागा ॥२॥

हे स्वामिन्! देवता, मनुष्य और मुनि विषय के वश में हैं, फिर मैं तो अत्यन्त कामी, अधम पशु बन्दर हूँ। स्त्री के नयन बाण जिन्हें नहीं लगे और जो क्रोध-रूपी अँधेरी रात में जागते हैं अर्थात् क्रोध के वश में नहीं होते ॥२॥

जब देवता, मुनि, मनुष्य विषय के अधीन हैं तो मैं नीच पशु किस गिनती में हूँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार, है।

लोभ पास जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥
यह गुन साधन तेँ नहिँ होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥३॥

हे! रघुराज लोभ के बन्धन से जिसने अपना गला नहीं बँधवाया, वह मनुष्य आप के बराबर है। ये गुण साधना से नहीं होते, आप की कृपा से कोई कोई पाते हैं ॥३॥

तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ॥
अब सोइ जतन करहु मन लाई । जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥४॥

तब रघुनाथजी मुसकुरा कर बोले—हे भाई! तुम मुझे वैसे ही प्यारे हो जैसे भरत प्रिय हैं। अब मन लगा कर वह उपाय करो जिस तरह सीता की ख़बर मिले ॥४॥

दो०-एहि बिधि होत बतकही, आये बानर जूथ ।
नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस बरूथ ॥२१॥

इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि झुण्ड के झुण्ड बन्दर आये। अनेक रङ्ग के सब दिशाओं में बानरों ही की गोल दिखाई देती है ॥२१॥

चौ०-बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा ॥
आइ रामपद-नावहिँ माथा। निरखि बदन सब होहिँ सनाथा ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! मैंने बानरों की सेना देखी थी, उसकी जो गिनती करना चाहे वह मूर्ख है। सब आ कर रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं और श्रीमुख अवलोकन कर कृतार्थ होते हैं ॥१॥

अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं ॥
यह कछु नहिँ प्रभु कै अधिकाई। बिस्व-रूप व्यापक रघुराई ॥२॥

ऐसा एक भी बन्दर सेना में नहीं रह गया, जिससे रामचन्द्रजी ने कुशल न पूछी हो। प्रभु रघुनाथजी की यह कुछ बड़ी महिमा नहीं है, क्योंकि वे विस्वरूप और सर्व व्यापक हैं ॥२॥

ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई ॥
राम-काज अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥३॥

वे सब आज्ञा पाने के लिए जहाँ तहाँ खड़े हैं, सुग्रीव सब को समझा कर कहने लगे कि रामचन्द्रजी का कार्य्य है और मुझ पर एहसान है, वानर-वृन्द चारों ओर जाते जाओ ॥३॥

जनक-सुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयहु भाई ॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनिहि सो मोहि मराये ॥४॥

भाइयो! जा कर जानकीजी को ढूँढ़ो और महीने दिन में लौट आना। जो बिना ख़बर पाये अवधि बिता कर आवेगा, वह मुझ से अवश्य ही मरवा डाला जायगा ॥४॥

दो०-बचन सुनत सब बानर, जहँ तहँ चले तुरन्त ।
तब सुग्रीव बोलाये, अङ्गद नल हनुमन्त ॥२२॥

आज्ञा सुनते ही सब बानर जहाँ तहाँ तुरन्त चल पड़े। तब सुग्रीव ने अङ्गद, नल और हनूमानजी को बुलाया ॥२२॥

चौ०-सुनहु नील अङ्गद हनुमाना। जामवन्त मतिधीर सुजाना ॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूछेहु सब काहू ॥१॥

सुग्रीव ने कहा—हे मतिधीर और सुजान नील, अङ्गद, हनूमान, जाम्बवान्! सुनिए, आप सब योद्धा मिल कर दक्षिण जाइये और सीताजी का पता सब किसी से पूछना ॥१॥

मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु । रामचन्द्र कर काज सँवारेहु ॥
भानु पीठि सेइय उर आगी । स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी ॥२॥

मन, कर्म और वचन से वही उपाय सोचना जिसमें रामचन्द्रजी का कार्य्य पूरा कर सको। सूर्य्य को पीठ से और अग्नि को हृदय से सेवन करना चाहिये, परन्तु स्वामी की सेवा सब तरह का छल छोड़ कर स्नेह-पूर्वक करनी चाहिये ॥२॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में साधारण बात कह कर फिर उसका समर्थन विशेष प्रमाणों द्वारा करना, 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार' है। इस चौपाई के अर्थ में लोग तरह तरह के दृष्टकूट गढ़ते हैं, परन्तु वह सब सार हीन है।

तजि माया सेइय परलोका । मिटहिँ सकल भव-सम्भव-सोका ॥
देह धरे कर यह फल भाई । भजिय राम सब काम बिहाई ॥३॥

कपट छोड़ कर परलोक की सेवा करनी चाहिये, जिस में संसार से उत्पन्न सम्पूर्ण शोक मिट जाँय। भाइयो! शरीर धारण करने का यही फल है कि सब काम त्याग कर रामचन्द्रजी को भजिए ॥३॥

सोइ गुनज्ञ सोई बड़ भागी । जो रघुबीर-चरन-अनुरागी ॥
आयसु माँगि चरन सिर नाई । चले हरषि सुमिरत रघुराई ॥४॥

वही गुणवान और वही बड़ा भाग्यवान है, जो रघुनाथजी के चरणों का प्रेमी है। आज्ञा माँग चरणों में मस्तक नवा कर प्रसन्न हो रघुवीर का स्मरण करते हुए चले ॥४॥

पाछे पवन-तनय सिर नावा । जानि काज प्रभु निकट बोलावा ॥
परसा सीस सरोरुह-पानी । कर-मुद्रिका दीन्हि जन जानी ॥५॥

पीछे पवनकुमार ने मस्तक नवाया, कार्य्य के योग्य समझ कर प्रभु ने समीप बुलाया। अपने कमल-हाथ उनके सिर पर स्पर्श कर के अपना सेवक जान कर हाथ की अँगूठी उतार कर दी ॥ ५ ॥

यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि रामचन्द्रजी तपस्वी वेष में थे; उन्हों ने आभूषणों को त्याग दिया था फिर मुद्रिका कहाँ थी जो दिया ? उत्तर—गङ्गाजी के पार उतरने पर जानकीजी ने केवट को उतराई के बदले अँगूठी स्वामी के हाथ में दी; किन्तु उसने नहीं ली; वही मुद्रिका महाराज के पास थी।

बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु ॥
हनुमत जनम सुफल करि मोना । चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना ॥६॥

रामचन्द्रजी ने कहा—बहुत तरह से सीता को समझाना, मेरे बल और वियोग को कह कर तुम जल्दी लौट आना। हनूमानजी ने अपना जन्म सफल कर के माना और हृदय में कृपानिधान रामचन्द्रजी को रख कर चले ॥ ६ ॥

जद्यपि प्रभु जानत सब बाता । राजनीति राखत सुर-त्राता ॥७॥

यद्यपि प्रभु सब बात जानते हैं, तो भी देवताओं के रक्षक भगवान् राजनीति का पालन करते हैं ॥ ७ ॥

दो०—चले सकल बन खोजत, सरिता सर गिरि खोह ।
राम-काज लयलीन मन, बिसरा तन कर छोह ॥२३॥

सब वन, नदी, तालाब, पर्वत और खोह खोजते हुए चले। रामचन्द्रजी के कार्य्य में मन लवलीन है; इससे शरीर का प्रेम भुला गया ॥ २३ ॥

चौ०—कतहु होइ निसिचर सौँ भैंटा । प्रान लेहिँ एक एक चपेटा ॥
बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिँ । कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिँ ॥१॥

कहीं राक्षस से भेंट होती है तो एक तमाचे में उसके प्राण ले लेते हैं। बहुत तरह पहाड़ और जङ्गल में ढूँढ़ते हैं, कोई मुनि मिलता है तो सब उसे घेर लेते हैं ॥ १ ॥

लागि तृषा अतिसय अकुलाने । मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना । मरन चहत सब बिनु-जल-पाना ॥२॥

बड़ी प्यास लगी; जिस से सब व्याकुल हो गये, पानी मिलता नहीं, घने जङ्गल में भुला गये। हनूमानजी ने मन में विचार किया कि सब बिना जलपान ही मरना चाहते हैं ! ॥२॥

चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा । भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ॥
चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं । बहुतक खग प्रबिसहिँ तेहि माहीं ॥३॥

पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर चारों ओर देखा, धरती के बिल में एक कुतूहल (आश्चर्य-जनक तमाशा) दिखाई दिया। उसके ऊपर चकवा, बगुला और हंस उड़ते हैं तथा बहुत से पक्षी उसमें घुस रहे हैं ॥ ३ ॥

गिरि ते उतरि पवन-सुत आवा । सब कहँ लेइ सोइ बिबर देखावा ॥
आगे करि हनुमन्तहि लीन्हा । पैठे बिबर बिलम्ब न कीन्हा ॥४॥

पवनकुमार पर्वत से उतर आये और सब को ले कर उस बिल को दिखाया। बन्दरों ने हनूमानजी जी को आगे कर लिया और बिना विलम्ब के उस बिबर में पैठ गये ॥ ४ ॥

दो०—दीख जाइ उपबन बर, सर बिकसित बहु कञ्ज ।
मन्दिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुञ्ज ॥२४॥

भीतर जा कर देखा; वहाँ सुन्दर बगीचा है और तालाब में बहुत से कमल खिले हुए हैं। एक सुहावना मन्दिर है, उस में तप की राशि स्त्री बैठी है ॥ २४ ॥

चौ०—दूरि तेँ ताहि सबन्हि सिर नावा । पूछे निज बृत्तान्त सुनावा ॥
तेहि तब कहा करहु जलपाना । खाहु सुरस सुन्दर फल नाना ॥१॥

सब ने दूर ही से उसे सिर नवाया और पूछने पर अपना हाल कह सुनाया, तब उसने कहा—तुम सब जलपान करो और नाना प्रकार के सुन्दर मीठे फल खाते जाओ ॥ १ ॥

सटीक रामचरितमानस

तपस्विनी स्वयंप्रभा ।

मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये । तासु निकर पुनि सब चलि आये ॥
तेहि सब आपनि कथा सुनाई । मैं अब जाब जहाँ रघुराई ॥

पृष्ठ ७७३

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये॥
तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहाँ रघुराई॥२॥

स्नान करके मीठे फल खाये फिर सब चल कर उस तपस्विनी के पास आये। उसने अपनी सारी कथा कह सुनाई और कहा कि अब मैं जहाँ रघुनाथजी हैं; वहाँ जाऊँगी॥ २॥

उसने अपना वृत्तान्त इस प्रकार कहा—मैं दिव्य नामक गन्धर्व की पुत्री हूँ और मेरा नाम स्वयंप्रभा है। विश्वकर्मा की रूपवती कन्या हेमा ने शिवजी को प्रसन्न कर के यह प्रदेश पाया था। मेरी उससे मित्रता थी। जब वह ब्रह्मलोक जाने लगी तब उसने मुझे समझा कर कहा कि तुम यहीं रह कर तपस्या करो। त्रेता युग में परब्रह्म का मनुष्यावतार होगा। वे पिता की आज्ञा मान कर स्त्री और छोटे भाई के सहित वन में आवेंगे और उनकी स्त्री को राक्षस हर ले जायगा। तब उन्हें ढूँढ़ने के लिए रामचन्द्रजी बहुत से बानर दूत भेजेंगे। वे बन्दर तुझे मिलेंगे, तू आदर-पूर्वक उन्हें बिदा कर के परमात्मा रामचन्द्रजी के दर्शन करना तो अपनी श्रेष्ठगति को प्राप्त होगी। आज वह हेमा की कही हुई बात सच्ची हुई।

मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥
नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिन्धु के तीरा॥३॥

आँख बन्द कर लो तो बिल छोड़ कर बाहर जा निकलोगे, सीताजी को पाओगे, पछताओ मत। फिर सब वीरों ने आँख मूँद कर देखा तो समुद्र के किनारे खड़े हैं॥३॥

बिना आधार अर्थात् पाँव से चले नहीं, पर समुद्र के किनारे पहुँच गये 'प्रथम विशेष अलंकार' है।

सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल-पद नायेसि माथा॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्ही। अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही॥४॥

फिर वह तपस्विनी जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ गई और जा कर चरण-कमलों में मस्तक नवाया। उसने नाना प्रकार से बिनती की, प्रभु रामचन्द्रजी ने उसे अपनी अटल भक्ति दी॥४॥

दो०—बदरीबन कहँ सो गई, प्रभु अज्ञा धरि सीस।
उर धरि राम-चरन जुग, जे बन्दत-अज-ईस॥२५॥

प्रभु रामचन्द्रजी की आज्ञा शिरोधार्य्य कर के और उनके युगल चरण—जिनकी बन्दना ब्रह्मा और शिवजी करते हैं, हृदय में धर कर वह बदरी वन (प्रयाग) चली गई॥२५॥

चौ०—इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं॥
सब मिलि कहहिं परसपर बाता। बिनु सुधि लिये करब का भ्राता॥१॥

यहाँ बन्दर मन में विचारते हैं कि अवधि बीत गई, पर काम कुछ नहीं हुआ। सब मिल कर परस्पर यह बात कहते हैं कि भाई! बिना पता लगाये हम क्या करेंगे? (इस तरह लौटने से राजाज्ञा के अनुसार मृत्यु होगी क्योंकि अवधि बीत गयी है)॥१॥

जानकीजी के न मिलने की 'चिन्ता' और प्राणनाश के भय से वानरों के मन में 'आवेग सञ्चारी भाव' का उदय है।

कह अङ्गद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारिहि कपिराई॥२॥

अङ्गद आँखों में आँसू भर कर कहने लगे—हमारी दोनों तरह मृत्यु हुई। यहा जानकी जी की ख़बर नहीं मिली और वहाँ जाने पर वानरराज मार ही डालेंगे॥२॥

मृत्यु के लिए एक ही कारण स्वामी का कार्य्य न होना पर्य्याप्त है, साथ ही सुग्रीव द्वारा मारे जाने का भय कथन 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥
पुनि पुनि अङ्गद कह सब पाहीं। मरन भयेउ कछु संसय नाहीं॥३॥

पिता के मारे जाने पर वे मुझे भी मार डालते, पर मेरी रक्षा रामचन्द्रजी ने की, इसमें सुग्रीव का पहसान नहीं है। बार बार अङ्गद सब से कहते हैं कि मरण हुआ, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है॥३॥

अङ्गद को आकस्मिक भावोत्पन्न से चित्त विक्षेप होना 'त्रास सञ्चारी भाव' है।

अङ्गद बचन सुनत कपि बीरा। बोलि न सकहिँ नयन बह नीरा॥
छन एक सोच मगन होइ गयऊ। पुनि अस बचन कहत सब भयऊ॥४॥

अङ्गद की बात सुन कर वानर वीर बोल नहीं सकते, सब की आँखों से आँसू बह रहा है। एक क्षण भर सोच में डूब गये, फिर सब इस तरह वचन कहते भये॥४॥

यहाँ सोक स्थायीभाव है। अङ्गदजी के वचन उद्दीपन विभाव और अवाक होकर आँखों से आँसू बहाना अनुभाव है। विषाद, चिन्ता, ग्लानि आदि सञ्चारी भावों के योग से 'करुण रस' हुआ है। गुटका में 'सोच मगन होइ रहे' और 'बचन कहत सब भये' पाठ है।

हम सीता कै सोध बिहीना। नहिँ जैहहिँ जुबराज प्रबीना॥
अस कहि लवन-सिन्धु-तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥५॥

हे प्रवीण युवराज! सुनिए, हम लोग सीताजी की खोज लिए बिना लौट कर न जायँगे। ऐसा कह कर क्षार समुद्र के तीर जा सब वानर कुशा बिछा कर बैठ गये॥५॥

गुटका में 'हम सीता कै सुधि लीन्हे बिना' पाठ है।

करुणा के प्रवाह को साहस द्वारा रोक कर मन में यह दृढ़ करना कि बिना पता लिए न लौटेंगे अर्थात् अवश्य खोज लगावेंगे, आप घबरावें नहीं 'धृति सञ्चारी भाव' है।

जामवन्त अङ्गद दुख देखी। कही कथा उपदेस बिसेखी॥
तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥६॥

अङ्गदजी का दुःख देख कर जाम्बवान ने बहुत सी शिक्षा की बात कही। उन्होंने कहा हे तात! रामचन्द्रजी को मनुष्य मत मानिए उन्हें निर्गुण-ब्रह्म, जन्म के बन्धन से रहित और अपराजित (जो किसी से जीता न गया हो) समझो॥६॥

हम सब सेवक अति-बड़ भागी। सन्तत सगुन-ब्रह्म-अनुरागी ॥७॥

हम सब निरन्तर सगुण-ब्रह्म की सेवा के अनुरागी होने से बहुत बड़े भाग्यवान हैं ॥७॥

दो०—निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर-महि-गो-द्विज लागि।
सगुन उपासक सङ्ग तहँ, रहहिँ मोच्छ-सुख त्यागि ॥२६॥

प्रभु रामचन्द्रजी देवता, पृथ्वी, गौ और ब्राह्मणों के हित अपनी इच्छा से जन्म लेते हैं। सगुण के उपासक-भक्त उनके साथ वहाँ मोक्ष-सुख त्याग (शरीरधारी हो) कर रहते हैं ॥ २६ ॥

चौ०—एहि बिधि कथा कहहिँ बहु भाँती। गिरि-कन्दरा सुनी सम्पाती ॥
बाहेर होइ देखि बहु कीसा। मोहि अहार दीन्ह जगदीसा ॥१॥

इस तरह विविध प्रकार की कथा कह रहे थे, पहाड़ की गुफा में पड़े हुए सम्पाती ने सुनी। उसने बाहर हो कर बहुत से बन्दरों को देखा कहने लगा"'जगदीश्वर ने मुझे भोजन दिया ॥१॥

आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चल अहार बिनु मरऊँ ॥
कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा ॥२॥

आज सब को भक्षण करूँगा, बहुत दिन बीत गया बिना भोजन के मरता हूँ। कभी भर पेट आहार नहीं मिला, आज विधाता ने एक ही बार दे दिया ॥२॥

गुटका में 'दिन बहु चलेउ' और 'कबहुँ न मिलै' पाठ है। उसमें छन्दोभङ्ग दोष है।

डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना ॥
कपि सब उठे गीध कहँ देखी। जामवन्त मन सोच बिसेखी ॥३॥

गीध के बचन कान से सुन कर बन्दर डर गये, वे कहने लगे कि अब हम जान गये सचमुच मरण हुआ। गिद्ध को देख कर सब वानर उठे, जाम्बवान के मन में बड़ा सोच हुआ ॥३॥

वानरों के मन में भय स्थायीभाव है। गीध दर्शन और उसका समीप आना उद्दीपन विभाव है, काँपना अनुभाव और शङ्का, चिन्ता, मोह आवेग आदि द्वारा भयानक रस हुआ है।

कह अङ्गद बिचारि मन माहीँ। धन्य जटायू सम कोउ नाहीँ ॥
राम-काज-कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम-बड़भागी ॥४॥

अङ्गद ने मन में विचार कर कहा कि जटायु के समान कोई धन्य नहीं है। उसने रामचन्द्रजी के कार्य में शरीर त्याग कर दिया और बहुत बड़ा भाग्यवान था जो भगवान् के लोक (वैकुण्ठ) को गया ॥४॥

बन्दरों के प्रति अङ्गदजी का कहना सम्पाती को विशेष सूचना देने के अर्थ है, जिससे वह सुन कर समझे और अपना अनिष्ट विचार त्याग दे 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है ।

सुनि खग हरष सोक जुत बानी । आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥
तिन्हहिँ अभय करि पूछेसि जाई । कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥५॥

अङ्गद की वाणी को सुन कर सम्पाती हर्ष और शोक युक्त होकर समीप आया जिससे वानर डरे। उसने जा कर बन्दरों को निर्भय कर के पूछा, अङ्गद ने सारी कथा (जिस तरह जटायु रावण के हाथ मारा गया था) कह सुनाई ॥५॥

हर्ष इस बात का हुआ कि परोपकार और राम कार्य में शरीर छोड़ा । शोक-बन्धु की मृत्यु सुन कर, हर्ष और शोक साथ ही होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है । पूछने पर जटायु का हाल कहने में वानरों का गूढ़ अभिप्राय उसकी कृपा सम्पादन करने का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है ।

सुनि सम्पाति बन्धु कै करनी । रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी ॥६॥

सम्पाती ने भाई की करनी सुन कर बहुत तरह रघुनाथजी की महिमा का वर्णन किया ॥६॥

दो०—मोहि लेइ जाहु सिन्धु तट, देउँ तिलाञ्जलि ताहि ।
बचन सहाय करबि मैं, पइहहु खोजहु जाहि ॥२७॥

मुझे समुद्र के किनारे ले चलते जाओ जिसमें मैं उसे तिलाञ्जलि देदूँ । मैं तुम लोगों की वचन से सहायता करूँगा, जिनकी खोज करते हो; उन्हें पाओगे (घबराओ नहीं) ॥ २७ ॥

चौ०-अनुज क्रिया करि सागर तीरा । कह निज कथा सुनहु कपि बीरा ॥
हम दोउ बन्धु प्रथम तरुनाई । गगन गये रबि निकट उड़ाई ॥१॥

समुद्र के किनारे छोटे भाई की क्रिया (श्राद्ध आदि प्रेत-कर्म) कर के वह अपनी कथा कहने लगा—हे वानर वीरो ! सुनिए । हम दोनों भाई पहले जब जवान थे; तब आकाश में उड़ कर सूर्य्य के पास गये ॥ १ ॥

तेज न सहि सक सो फिरि आवा । मैं अभिमानी रबि नियरावा ॥
जरे पङ्ख अति तेज अपारा । परेउँ भूमि करि घोर चिकारा ॥२॥

वह तेज नहीं सह सका लौट आया और मैं अभिमानी सूर्य्य के निकट जा पहुँचा । अत्यन्त अपार आँच से पङ्ख जल गये, मैं भीषण चीत्कार कर के धरती पर गिर पड़ा ॥२॥

मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही । लागी दया देखि करि मोही ।
बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा । देह-जनित-अभिमान छुड़ावा ॥३॥

एक चन्द्रमा नामक मुनि थे, मुझे देख कर उन्हें दया लगी । उन्होंने बहुत तरह मुझे ज्ञानोपदेश सुनाया और शरीर से उत्पन्न घमण्ड को दूर कर दिया ॥ ३ ॥

चन्द्रमा अत्रि के पुत्र अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हैं । दत्तात्रेय और दुर्वासा इनके सगे भाई हैं ।

त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिहीं । तासु नारि निसिचर-पति हरिहीं ॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता । तिन्हहिं मिले तैं होब पुनीता ॥४॥

उन्होंने कहा—त्रेतायुग में परमात्मा मनुष्य-देह धारण करेंगे उनकी भार्य्या को राक्षस-राज हर लेगा। उनकी खबर के लिए प्रभु रामचन्द्रजी दूत (वानरवृन्द) भेजेंगे, उनसे मिलने पर तू पवित्र होगा ॥ ४ ॥

जमिहहिं पङ्ख करसि जनि चिन्ता । तिन्हहिं देखाइ दिहेसु तैं सीता ॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू । सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू ॥५॥

चिन्ता न कर, तेरे पङ्ख जम आवेंगे, तू उन्हें सीताजी को दिखा देना। मुनि की वह वाणी आज सत्य हुई, मेरा वचन सुन कर तदनुसार स्वामी का कार्य्य करो (अवश्य सफलता होगी) ॥ ५ ॥

गिरि-त्रिकूट ऊपर बस लङ्का । तहँ रह रावन सहज असङ्का ॥
तहँ असोक-उपबन जहँ रहई । सीता बैठि सोच-रत अहई ॥६॥

त्रिकूट पर्वत के ऊपर लङ्कानगरी बसी हुई है, स्वभाव से निर्भय रावण वहाँ रहता है। उसमें जहाँ अशोकवाटिका है वहाँ सीताजी रहती हैं, वे बैठी हुई सोच में पड़ी हैं ॥ ६ ॥

दो०—मैं देखउँ तुम्ह नाहीं, गीधहि दृष्टि अपार ।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ, कछुक सहाय तुम्हार ॥२८॥

मैं उन्हें देखता हूँ गीधों की निगाह बहुत दूर की होती है, परन्तु आप सब नहीं देख सकते। क्या करूँ ? मैं बूड्ढा हो गया, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता ॥ २८ ॥

सहायता न कर सकने के कारण 'सम्पाती के हृदय में चिन्ताजन्य मनोभङ्ग 'विषाद सञ्चारी भाव' है।

चौ०—जो नाँघइ सतजोजन सागर । करइ सो राम-काज मति-आगर ॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा । राम-कृपा कस भयउ सरीरा ॥१॥

जो कोई बुद्धि का स्थान सौ योजन (चार सौ कोस) समुद्र लाँघेगा, वही रामचन्द्रजी के कार्य्य को सिद्ध करेगा। रामचन्द्रजी की कृपा से मेरा शरीर कैसा (नवीन पङ्खों से युक्त) हो गया ! मुझे देख कर मन में धीरज धरिए ॥ १ ॥

पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं । अति-अपार-भव-सागर तरहीं ॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई । राम हृदय धरि करहु उपाई ॥२॥

पापी भी जिनका नाम स्मरण कर के अत्यन्त अपार भवसागर से पार हो जाते हैं। तुम उनके दूत हो, कादरता छोड़ कर रामचन्द्रजी को हृदय में रख कर उपाय करो ॥ २ ॥

अस कहि उमा गीध जब गयऊ । तिन्ह के मन अति बिसमय भयऊ ॥
निज निज बल सब काहू भाखा । पार जाइ कर संसय राखा ॥३॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! ऐसा कह कर जब गीध चला गया; तब बन्दरों के मन में

बड़ा आश्चर्य्य हुआ। अपना अपना बल सब ने कहा, परन्तु पार जाने में सन्देह ही रक्खा अर्थात् सौ योजन लाँघना किसी ने नहीं कहा ॥ ३ ॥

जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा । नहिं तनु रहा प्रथम-बल-लेसा ॥
जबहिं त्रिबिक्रम भयउ खरारी । तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी ॥४॥

जाम्बवान् ने कहा—अब मैं बुड्ढा हो गया, शरीरमें पहिले का बल थोड़ा भी नहीं रह गया है। जब विष्णु भगवान् वामन हुए थे, तब मैं बड़ा बली और युवा था ॥४॥

दो०—बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाइ ।
उभय घरी महँ दीन्हीं, सात प्रदच्छिन धाइ ॥२९॥

बलि राजा को बाँधने के लिये भगवान् बढ़े, वह शरीर वर्णन नहीं किया जा सकता। उस समय दो घड़ी में दौड़ कर मैंने सात प्रदक्षिणा दी थी ॥२९॥

एक बार बलि ने इन्द्र की पदवी पाने के लिये सौ यज्ञ का सङ्कल्प किया। जब ९९ यज्ञ हो चुका, तब इन्द्र को बड़ी घबराहट हुई। देवताओं को साथ ले कर वैकुण्ठ में गये और विष्णु भगवान् से पुकार मचाई, भगवान् ने कहा—बलि मेरा परमभक्त है, उसके अनुष्ठान में विघ्न डालना बड़ा कठिन है तो भी मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। भगवान् वामन रूपधारी ब्राह्मण होकर यज्ञशाला में गये और तीन परग पृथ्वी माँगी, बलि ने दे दी। तब विराट रूप से दो ही परग में सारा ब्रह्माण्ड नाप लिया. तीसरे परग के लिए बलि ने अपनी पीठ नपवा दी। उस समय भगवान् ने जो बड़ा शरीर लिया था, उसी का वर्णन जाम्बवान् ने किया है।

चौ०—अङ्गद कहइ जाउँ मैं पारा । जिय संसय कछु फिरती बारा ॥
जामवन्त कह तुम्ह सब लायक । किमि पठइय सबही कर नायक ॥१॥

अङ्गद ने कहा—मैं पार जाऊँगा, पर लौटती बार के लिए मन में कुछ सन्देह है। जाम्बवान् ने कहा—आप सब योग्य हैं और सभी के प्रधान हैं, फिर आप को मैं कैसे भेज सकता हूँ ? (यह उचित नहीं कि नौकर चाकर बैठ कर मौज उड़ावें और राजकुमार धावन का काम करे) ॥१॥

अङ्गदजी ने पहिले कहा कि मैं समुद्र के उस पार चला जाऊँगा। फिर यह कह कर कि लौटने के लिये मन में कुछ सन्देह है, अपनी ही प्रथम कही हुई बात का निषेध करना 'उक्ताक्षेप अलंकार' है। अङ्गद के सन्देह पर लोग कई तरह के तर्क करते हैं। कुछ लोगों का कहना है—अङ्गद कहते हैं कि मैं लङ्का में अक्षयकुमार के साथ पढ़ता था। एक दिन मैंने उसे खूब पीटा, उसने जाकर गुरुजी से निवेदन किया। गुरु ने मुझे शाप दिया कि अक्षयकुमार के एक ही घूँसे से तेरी मृत्यु होगी, तब मैं किष्किन्धा को चला आया। अब यदि मैं लङ्का में जाऊँ और वह मुझे मार डाले तो फिर कर कौन लौटेगा? यही सन्देह है। सम्भव है कि यही संशय रहा हो, इसी से हनूमानजी ने अक्षयकुमार का वध कर के अङ्गद को आगे लङ्का में जाने का रास्ता साफ़ कर दिया था। (२) किसीके विचार से अङ्गद का यह कहना है कि— जो शक्ति के सम्मुख जाता है, वह असमर्थ भी समर्थ होता है और शक्ति के विपरीत चलनेवाला शक्तिमान भी अशक्त हो जाता है। इसके प्रमाण में अगस्त्य रामायण के इस श्लोक को उपस्थित करते हैं "अशक्ताः शक्ति सम्पन्नाः येच शक्ति पराङ्मुखाः। असमर्थाः समर्थाःस्युः

शक्ति सन्मुख गामिनः" परन्तु यदि यही बात ठीक होती तो हनुमानजी जा कर कैसे लौट आते ? (३) अङ्गद कहते हैं—मैं राजकुमार हूँ, जब स्वामी की कोई ख़ास आज्ञा नहीं हुई, तब केवल बुताई करके लौट आना ठीक न होगा। उचित तो यह है कि रावण का वध कर के जानकीजी को साथ ले कर लौट आऊँ। परन्तु रावण साधारण योद्धा नहीं है, कदाचित् उसने मुझे मार डाला, तब सन्देश ले कर कौन लौटेगा ? इससे लौटने में सन्देह है। (४) अङ्गद कहते हैं—चलती बेर रामचन्द्रजी ने मुद्रिका प्रदान कर पवनकुमार को आज्ञा दी है। मेरे लिये प्रभु की आज्ञा नहीं है। यदि मैं स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध लङ्का में जाऊँगा तो अवश्य ही असफलता होगा, फिर कौन मुँह ले कर लौटूँगा यही मन में सन्देह है। (५) जैसे अन्य बन्दरों ने अपना अपना बल कहते हुए पार जाने में संशय रख छोड़ा था, वैसे अङ्गद ने उन लोगों से कुछ अधिक बल अर्थात् पार जाना कह कर लौटने में सन्देह रख छोड़ा। (६) कोई कोई यह भी कहते हैं कि बाली और रावण से मित्रता थी, कहीं प्रेम के बन्धन में फँस कर रावण के अधीन न हो जाऊँ। अथवा लङ्का में रूपवती स्त्रियाँ भरी हैं और मैं युवा हूँ, कहीं उनके प्रेम में न फस जाऊँ। परन्तु ये दोनों उक्तियाँ अत्यन्त गर्हित हैं, ऐसा कहना अङ्गद की योग्यता और निश्छल स्वामिभक्ति पर कलङ्क लगाना है। इसी तरह की और भी बहुत सी बातें कही जाती हैं, उनमें कुछ का उल्लेख किया गया है, विज्ञ पाठक जिसको ठीक समझें, उसको स्वीकार करें।

कहइ रिच्छपति सुनु हनुमाना । का चुप साधि रहेउ बलवाना ॥
पवन-तनय बल पवन समाना । बुधि-बिबेक-बिज्ञान-निधाना ॥२॥

जाम्बवान ने कहा—हे हनुमानजी ! सुनिए, आप बलवान हो कर क्यों चुप साध रहे हैं। आप पवन के पुत्र, पवन ही के समान बल, बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान के स्थान हैं ॥२॥

कवन सो काज कठिन जग माहीं । जो नहिँ तात होइ तुम्ह पाहीं ॥
राम-काज-लगि तव अवतारा । सुनतहि भयउ पर्बताकारा ॥३॥

हे तात ! संसार में कौन सा वह कठिन काम है ? जो आप से न हो सकता हो। तुम्हारा जन्म ही रामचन्द्रजी के कार्य्य के लिए हुआ है, यह सुनते ही हनुमानजी पर्वताकार (विशाल शरीरवाले) हो गये ॥३॥

रामचन्द्रजी के कार्य्य के लिए तुम्हारा अवतार है, यह सुन कर हनुमानजी का प्रसन्नता से फूल उठना उत्साह स्थायी भाव है।

कनक-बरन-तन तेज बिराजा । मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा ॥
सिंहनाद करि बारहि-बारा । लीलहि नाँघउँ जलधि अपारा ॥४॥

सुवर्ण के रङ्ग के समान शरीर में तेज विराजमान है, ऐसे मालूम होते हैं मानों दूसरे पर्वत-राज (सुमेरु) हैं। बारम्बार सिंह के समान गर्जना कर के बोले—अपार समुद्र को मैं खेल ही में लाँघ जाऊँगा ॥४॥

रामचन्द्रजी के कार्य्य करने का उत्साह स्थायीभाव है, जाम्बवान् के वचन उद्दीपन विभाव और प्रसन्न होना, बल सम्भाषण आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्षादि संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट होकर 'वीर रस' हुआ है।

सहित सहाय रावनहिँ मारी । आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥
जामवन्त मैँ पूछउँ तोही । उचित सिखावन दीजेहु मोही ॥५॥

सहायकों समेत रावण को मार कर और त्रिकूट-पर्वत को उखाड़ कर यहाँ ले आऊँ । हे जाम्बवान् ! मैं आप से पूछता हूँ, मुझे उचित सिखावन दीजिए (वह करूँ) ॥ ५ ॥

एतना करहु तात तुम जाई । सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥
तब निज-भुज-बल राजिवनयना । कैतुक लागि सङ्ग कपि-सैना ॥६॥

जाम्बवान् ने कहा—हे तात ! आप जा कर इतना करें कि सीताजी को देख कर आवें और उनकी ख़बर कहें । तब कमल-नैन भगवान कुतूहल के लिए साथ में वानरों की सेना ले कर अपनी भुजाओं के बल से (सीताजी को ले चलेंगे) ॥ ६ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कपि सेन सङ्ग सँघारि निसिचर, राम सीतहि आनिहैं ।
त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि, नारदादि बखानिहैं ॥
जो सुनत गावत कहत समुझत, परमपद नर पावई ।
रघुबीर-पद-पाथोज मधुकर, दासतुलसी गावई ॥३॥

वानरों की सेना के साथ राक्षसों का संहार कर के रामचन्द्रजी सीताजी को ले आवेंगे । त्रिलोकी को पवित्र करनेवाले उनके शुद्ध यश को देवता, और नारद आदि मुनीश्वर बखान करेंगे । उसको जो मनुष्य सुनेंगे, गावेंगे, कहेंगे और समझेंगे वे परम-पद (मोक्ष) पावेंगे । उस (यश) को रघुनाथजी के चरण-कमलों का भ्रमर तुलसीदास गान करता है ॥ ३ ॥

दो०—भव-भेषज रघुनाथ-जस, सुनहिँ जे नर अरु नारि ।
तिन्ह कर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिँ त्रिसिरारि ॥

संसार रूपी रोग के लिए रघुनाथजी का यश औषध रूपी है, उसको जो पुरुष और स्त्री सुनेंगी । उनके सम्पूर्ण मनोरथ शिवजी पूरा करेंगे ।

सो०—नीलोत्पल-तन-श्याम, काम-कोटि-सोभा अधिक ।
सुनिय तासु गुन-ग्राम, जासु नाम अघ-खग-बधिक ॥३०॥

जिनका शरीर नील कमल के समान श्याम है और जिनकी शोभा करोड़ों कामदेव से बढ़ कर है । उनके गुण-समूह सुनिए, जिनका नाम पाप रूपी पक्षियों के लिए व्याधा रूप (वधकरनेवाला) है ॥ ३० ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने
विशुद्ध सन्तोष सम्पादनो नाम चतुर्थः सोपानः समाप्तः

इस प्रकार समस्त कलिके पातक को ध्वस्त करनेवाला श्रीरामचतिमानस में विशुद्ध सन्तोष-सम्पादन नामवाला चतुर्थ सोपान समाप्त हुआ ।

शुभमस्तु-मङ्गलमस्तु
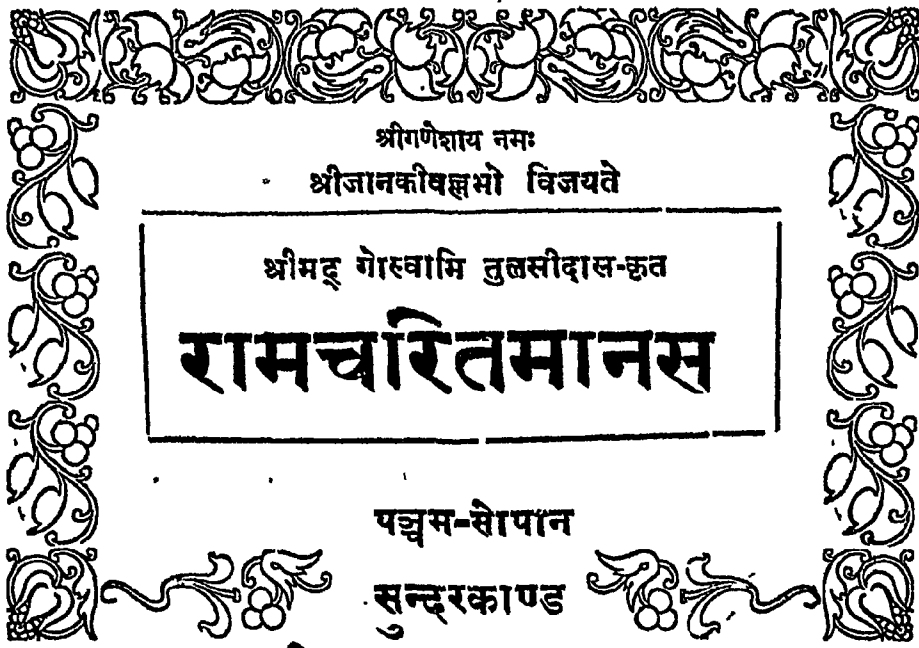
श्रीगणेशाय नमः

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्रीमद् गोस्वामि तुलसीदास-कृत

रामचरितमानस

पञ्चम-सोपान

सुन्दरकाण्ड

शार्दूलविक्रीडित-वृत्त ।

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाण शान्तिप्रदं ।
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ॥
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं ।
बन्देहं करुणाकरं रघुवरं भूपाल चूड़ामणिम् ॥१॥

शान्त स्वरूप, सनातन, अगाध, निष्पाप, देवताओं को शान्ति देनेवाले, ब्रह्मा, शिव और शेष से सदा सेवनीय, वेदान्त से जानने योग्य, समर्थ, संसार के स्वामी, देवों के गुरु, स्वेच्छा से मनुष्य शरीर धारण किये हुए, करुणा के खानि (दयालु) रघुवंशियों में श्रेष्ठ, राजों के सिरमौर राम नाम धारी परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

सभा की प्रति में 'निर्वाणशान्तिप्रदम्' पाठ है। वहाँ मोक्ष द्वारा शान्ति के देनेवाले, अर्थ होगा।

वसन्ततिलका-वृत्त ।

नान्यास्पृहा रघुपतेहृदयेस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गवनिर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥२॥

हे रघुनाथजी! मेरे मन में दूसरी इच्छा नहीं है, यह सत्य कहता हूँ, आप सब के अन्तर्यामी हैं। हे रघुकुल में श्रेष्ठ-रामचन्द्रजी! मुझे अपनी पूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे हृदय को काम आदि दोषों से रहित कीजिये ॥२॥

मालिनी-वृत्त।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥३॥

अप्रमेय बल के स्थान, सुमेरु पर्वत के समान शरीरवाले, राक्षस रूपी वन के जलाने वाले अग्नि, ज्ञानियों में आगे गिने जानेवाले, समस्त गुणों के भण्डार, वानरों के स्वामी, रघुनाथजी के श्रेष्ठ दूत पवनकुमार को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

चौ०—जामवन्त के बचन सुहाये। सुनि हनुमन्त हृदय अति भाये॥
तब लगि मोहि परिखहु तुम्ह भाई। सहि दुख कन्द मूल फल खाई॥१॥

(किष्किन्धाकाण्ड के अन्त में कहे हुए) जाम्बवान् के सुहावने वचन सुन कर हनूमानजी के मन में वे बहुत अच्छे लगे। उन्हों ने कहा—भाइयो आप लोग दुःख सह कर और कन्द, मूल, फल खा कर तब तक मेरी राह देखना ॥१॥

जब लगि आवउँ सीतहि देखी। होइ काज मोहि हरष बिसेखी॥
अस कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥२॥

जब तक मैं सीताजी को देखकर आ जाऊँ, मुझे बड़ी प्रसन्नता है (इस से विश्वास हो रहा है कि) कार्य्य सिद्ध होगा। ऐसा कह कर सब को मस्तक नवा कर प्रसन्न हो हृदय में रघुनाथजी का ध्यान धर कर चले ॥२॥

सिन्धु तीर एक भूधर सुन्दर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर॥
बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन-तनय बल भारी॥३॥

समुद्र के किनारे एक सुन्दर नाम का पर्वत था; खेल ही में कूद कर उसके ऊपर चढ़ गये। बार बार रघुनाथजी का स्मरण कर महाबली पवनकुमार उछले ॥३॥

वाल्मीकीय रामायण में महेन्द्राचल पर से कूदना लिखा है किन्तु गोस्वामीजी सुन्दर नामक पर्वत से उछलना लिखते हैं। इस काण्ड की यहीं से कथा प्रारम्भ हुई है, इसी से इसका नाम 'सुन्दरकाण्ड' हुआ। यदि महेन्द्राचल ही माना जाय तो 'सुन्दर' शब्द उसका विशेषण होगा।

जेहि गिरि चरन देइ हनुमन्ता। चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। तेही भाँति चला हनुमाना॥४॥

जिस पर्वत पर पाँव रख कर हनूमानजी चले, वह (अत्यन्त बोझ से दब कर) तुरन्त पाताल को चला गया अर्थात् नीचे ज़मीन में धँस गया। जिस प्रकार रघुनाथजी के बाण अचूक (धनुष से छूट कर खाली न जानेवाले) हैं, उसी तरह हनूमानजी चले ॥४॥

समुद्रोलङ्घन

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। तेही भाँति चला हनुमाना॥

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
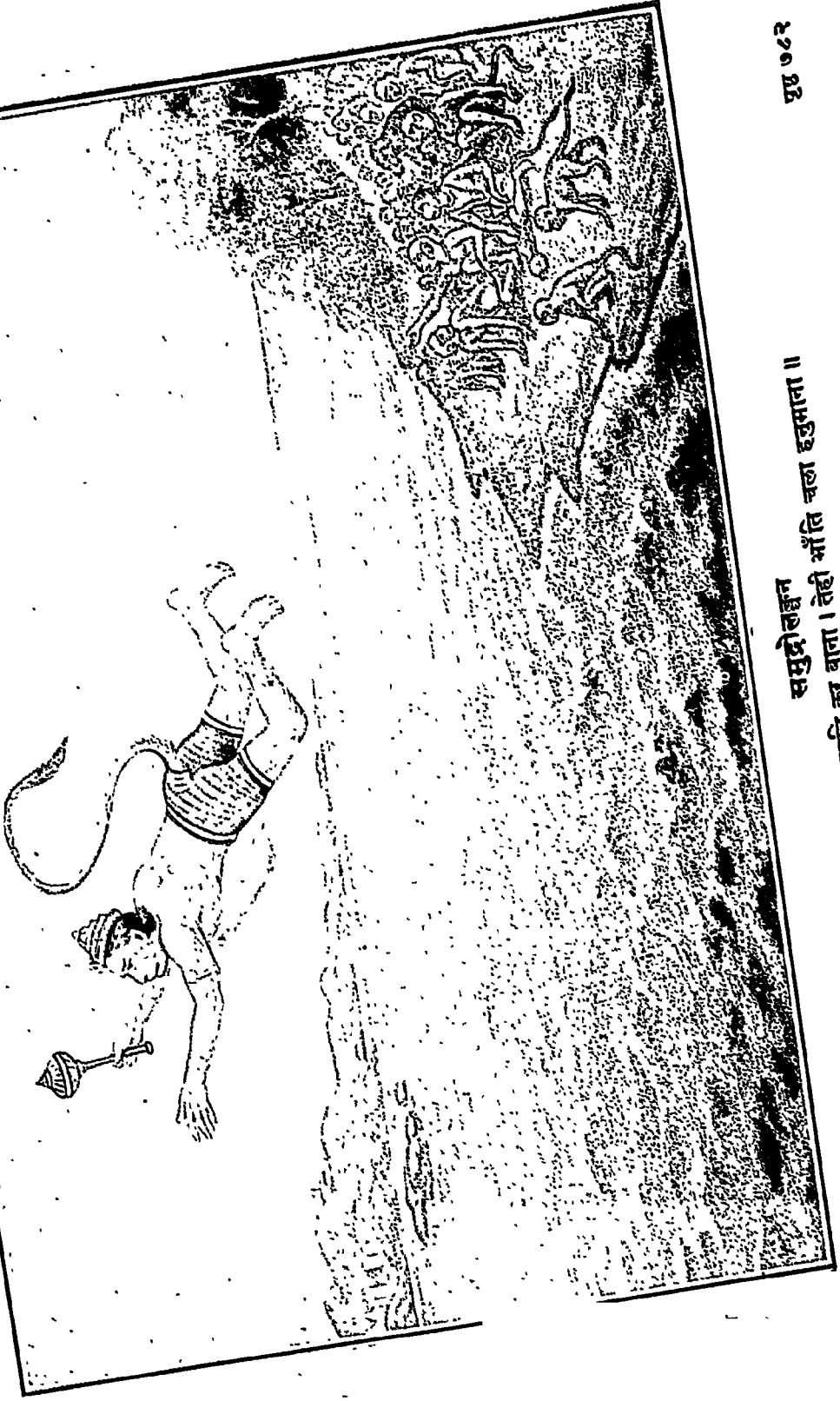
यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि आगे समुद्र पार जाने पर हनूमानजी ने जिस पर्वत पर चढ़ कर लंका का निरीक्षण किया, वह क्यों नहीं पाताल को गया ? पर यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि इसी सुन्दर पर्वत पर पहले जब कुतूहल से हनूमानजी चढ़ गये, तब वह नहीं धँसा। जिस समय पूरी शक्ति से ऊपर को उछले हैं, असहनीय भार पा कर वह पहाड़ नीचे को धँस गया। इसी तरह आगे के पर्वत पर खेल के साथ चढ़े थे; इस से वह नहीं धँसा।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी । तैं मैनाक होइ स्रम हारी ॥५॥

समुद्र ने रघुनाथजी का दूत समझ कर मैनाक-पर्वत से कहा कि तुम हनुमानजी की थकावट हरने वाले हो (बनो) ॥५॥

समुद्र के कथन में आशय का श्लेष है। उसने सोचा कि मैं सगर के पुत्रों से उत्पन्न हूँ और रामचन्द्रजी उन्हीं के वंशज हैं। हनूमान उनके दूत हैं। रामकार्य्य के निमित्त वे लङ्कापुरी को जा रहे हैं, इन्हें विश्राम देना मेरा कर्त्तव्य है। दूसरे जब इन्द्र ने पर्वतों के पङ्ख काटने की प्रतिज्ञा की; तब मैनाक को बचाने में पवनदेव सहायक हुए थे, उन्हों ने उसे उड़ा कर मेरे उदर (समुद्र) में छिपा दिया। इस समय पवन के पुत्र आकाश-मार्ग में जा रहे हैं, समुद्र ने मैनाक को उनके साथ प्रत्युपकार करने का परामर्श दिया, तब मैनाक पानी से निकल कर हनूमान के पास आया और विश्राम करने की प्रार्थना की।

दो०—हनूमान तेहि परसा, कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
राम-काज कीन्हे बिनु, मोहि कहाँ बिस्राम ॥१॥

हनूमानजी ने उसको हाथ से छू कर फिर प्रणाम किया और कहा कि रामचन्द्रजी का कार्य्य किये बिना मुझे विश्राम कहाँ है ? ॥१॥

यह दोहा १२—११ मात्राओं के विश्राम से है; इसी से पहले और तीसरे चरण के उच्चारण में एक मात्रा की कमी मालूम होती है।

चौ०—जात पवन-सुत देवन्ह देखा । जानइ कहँ बल बुद्धि बिसेखा ॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता । पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥१॥

देवताओं ने पवनकुमार को जाते हुए देखा, (उनके मन में सन्देह हुआ कि लङ्का में असंख्यों बड़े बड़े मायावी राक्षसभट निवास करते हैं, वहाँ प्रवेश कर सकुशल लौट आना आसान नहीं है इस लिए उन्हों ने हनूमानजी के) बल और बुद्धि की विशेषता (महत्व) जानने के लिए सर्पों की माता सुरसा नाम्नी सर्पिणी को भेजा। उसने आकर यह बात कही ॥१॥

आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा । सुनत बचन कह पवन-कुमारा ॥
राम-काज करि फिरि मैं आवउँ । सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावउँ ॥२॥

आज देवताओं ने मुझे भोजन दिया है, यह वचन सुनकर पवनकुमार ने कहा—मैं राम कार्य्य कर के लौट आऊँ और सीता का ख़बर प्रभु रामचन्द्रजी को सुना दूँ ॥२॥

४

तब तव बदन पइठिहौं आई । सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥
कवनेहुँ जतन देइ नहिँ जाना । ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना ॥३॥

हे माता! तब मैं आ कर तेरे मुख में प्रवेश करूँगा, सच कहता हूँ मुझे जाने दे। जब किसी उपाय से वह नहीं जाने देती, तब हनूमानजी ने कहा—फिर मुझे क्यों नही ग्रस लेती ॥३॥

'ग्रससि न मोहि' शब्द श्लेषार्थी है, कवि इच्छित अर्थ के अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी निकलता है। हनूमानजी ने कहा कि तू मुझे ग्रस न सकेगी 'श्लेष अलंकार, है। कहने के सिवाय हनूमानजी ने और कोई यत्न तो किया नहीं, फिर कवनेहुँ जतन देइ नहिँ जाना' क्यों कहा गया।? (१) रामकार्य के लिए जाता हूँ। (२) सीताजी के संकट की खबर स्वामी को सुना दूँ। (३) सच कहता हूँ लौट कर तेरे मुख में पैठूँगा। (४) माई शब्द बड़ा ही करुणा वाचक है। इन वचनों ही में यत्न भरा है अर्थात् राम काज सुनकर यह बाधक न होगी। सुरसा स्त्री है, सीताजी की विपत्ति में सहायक होने की बात सुनकर दया करेगी। सच कहता हूँ लौट कर मुख में पैठूँगा, इस सच्चाई पर रहम करेगी। अन्त में माता इस लिए कहा जिस में वह अवश्यही दयार्द्र हो जाय।

जोजन भरि तेहि बदन पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ । तुरत पवन-सुत बत्तिस भयऊ ॥४॥

(हनूमानजी को ग्रसने के लिए) उसने चार कोस का लम्बा मुँह फैलाया, तब हनूमान जी ने अपने शरीर का विस्तार दूना कर लिया। उसने सोलह योजन का मुख बनाया, तुरन्त ही पवनकुमार बत्तीस योजन के हो गये ॥४॥

जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दून कपि रूप देखावा ॥
सत जोजन तेहि आनन कीन्हा । अति लघु रूप पवन-सुत लीन्हा ॥५॥

जैसे जैसे सुरसा मुँह बढ़ाती गई, उसका दूना हनूमानजी ने अपना रूप दिखाया। जब उसने चार सौ कोस का मुख किया, तब पवकुमार ने अपना रूप अत्यन्त छोटा कर लिया ॥ ५ ॥

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा । माँगा बिदा ताहि सिर नावा ॥
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा । बुधि-बल-मरम तोर मैं पावा ॥६॥

उसके मुख में पैठ कर फिर बाहर आ गये और सुरसा को प्रणाम करके बिदा माँगी कि (तू मुझे ग्रसना चाहती थी, मैं तेरे मुख में जा कर बाहर निकल आया, अब तेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गई मुझे जाने दे)। तब सुरसा ने कहा—मुझे देवताओं ने जिस लिये भेजा, तदनुसार मैं ने तुम्हारे बल और बुद्धि का भेद पा लिया ॥ ६ ॥

दो०—रामकाज सब करिहहु, तुम्ह बल-बुद्धि-निधान ।
आसिष देइ गई सो, हरषि चलेउ हनुमान ॥२॥

आप बल और बुद्धि के स्थान हैं, सब तरह से रामकार्य्य करेंगे । यह कह कर आशीर्वाद देकर वह चली गई और हनूमानजी प्रसन्न हो कर आगे चले ॥ २ ॥

चौ०—निसिचरि एक सिन्धु महँ रहई । करि माया नभ के खग गहई ॥
जीव-जन्तु जे गगन उड़ाहीं । जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं ॥१॥

समुद्र में एक राक्षसी रहती थी, वह माया करके आकाश के पक्षियों को पकड़ लेती थी । जो जीव-जन्तु आकाश में उड़ते थे उनकी परछाहीं पानी में देख कर ॥ १ ॥

गहइ छाँह सक सो न उड़ाई । एहि बिधि सदा गगन-चर खाई ॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा । तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा ॥२॥

छाया को पकड़ लेती थी; फिर वे उड़ नहीं सकते थे, इसी तरह सदा आकाशचारियों को खाती थी । वही छल उसने हनूमानजी से किया, उसके कपट को पवनकुमार ने तुरन्त ही पहचान लिया ॥ २ ॥

सिंहिका नाम की राक्षसी समुद्र में रहती थी । बाली के डर से सुग्रीव सारी धरती पर भागते फिरे थे, इससे उनको इस राक्षसी की माया विदित थी । उन्होंने इसका वृत्तान्त चलते समय हनूमानजी को समझा कर कह दिया था । इस से वे तुरन्त जान गये ।

ताहि मारि मारुत-सुत बीरा । बारिधि पार गयउ मतिधीरा ॥
तहाँ जाइ देखी बन सोभा । गुञ्जत चञ्चरीक मधु लोभा ॥३॥

धीरबुद्धि वीर पवनकुमार उस राक्षसी को मार कर समुद्र के पार गये । वहाँ जा कर वन की शोभा देखी, जहाँ मकरन्द (फूलों के रस) में लुभाये हुए भौंरे गूँज रहे हैं ॥ ३ ॥

नाना तरु फल फूल सुहाये । खग मृग बृन्द देखि मन भाये ॥
सैल बिसाल देखि एक आगे । ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे ॥४॥

अनेक प्रकार के वृक्ष; फल और फूलों से सुहावने हो रहे हैं, झुण्ड के झुण्ड पक्षी और मृगों को देख कर मन में प्रसन्न हुए । सामने एक विशाल पर्वत देख उस पर निर्भयता से दौड़ कर चढ़ गये ॥ ४ ॥

'भय त्यागे' शब्द में शङ्का की जाती है कि क्या अब तक हनूमानजी को भय था ? उत्तर—समुद्र में दो विघ्न हुए, इसलिये पार होने तक और विघ्न न मिले इसका सन्देह था, पर वह पार आ जाने से दूर हो गया । (२) अब तक भय हनूमानजी का साहस देखने के लिये साथ था, किन्तु सिन्धु पार होने पर वह हार मान कर चला गया, इस से निर्भय हुए ।

उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥
गिरि पर चढ़ि लङ्का तेहि देखी । कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेखी ॥५॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! इसमें हनूमान की कुछ बड़ाई नहीं है, यह प्रभु रामचन्द्रजी का प्रताप है जो काल को भी खा जाता है। पर्वत पर चढ़ कर उसने लङ्कापुरी देखी, अत्यन्त दुर्गम (जहाँ जाना सहज न हो) होने की विशेषता कही नहीं जाती है ॥ ५ ॥

शिवजी ने हनूमानजी के पराक्रम का निषेध इसलिये किया कि उसका धर्म प्रभु-प्रताप' में स्थापित करना मञ्जूर है जो काल को भी भक्षण कर जाता है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

अति उतङ्ग जलनिधि चहुँ पासा । कनक-कोट कर परम प्रकासा ॥६॥

बहुत ऊँचा सुवर्ण का प्राचीर (शहरपनाह) अत्यन्त प्रकाशमान है, जिस के चारों ओर समुद्र है ॥ ६ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कनक-कोट बिचित्र मनि-कृत, सुन्दरायतना घना ।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी, चारु पुर बहु बिधि बना ॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर, रथ बरूथन्हि को गनै ।
बहु रूप निसिचर जूथ अतिबल, सेन बरनत नहिँ बनै ॥१॥

सोने का बना राजमन्दिर मणियों से जड़ा हुआ अधिक विलक्षण सुन्दरता का स्थान है। चौक, बाज़ार, सड़क और गलियों से नगर बहुत तरह मनोहर बना है। हाथी, घोड़े, खच्चर, पैदलों के समूह और रथों के झुण्ड को कौन गिन सकता है ? अनेक रूपधारी महाबली राक्षसों के समुदाय की सेना वर्णन नहीं करते बनती है ॥ १ ॥

ऊपर की चौपाई में 'कोट' शब्द का शहरपनाह अर्थ किया गया है। छन्द में राजप्रासाद का अर्थ देख कर एक हितैषी सज्जन ने सम्मति प्रदान की कि यहाँ भी शहरपनाह का ही अर्थ होना चाहिये। कोट शब्द के—गढ़, शहरपनाह, राजमन्दिर और यूथ पर्य्यायी शब्द हैं। जब चौक बाज़ार आदि का वर्णन है, तब यहाँ प्राचीर से प्रयोजन नहीं है। शहरपनाह पर मणि का जड़ा जाना अयुक्त है, इससे लक्षणा राजमन्दिर ही को व्यञ्जित करती है।

बन बाग उपबन बाटिका सर, कूप बापी सोहहीँ ।
नर-नाग-सुर-गन्धर्ब कन्या, रूप मुनि मन मोहहीँ ॥
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीँ ।
नाना अखारेन्ह भिरहिँ बहु बिधि, एक एकन्ह तर्जहीँ ॥२॥

बन, बगीचा, छोटे छोटे जङ्गल और फुलवारियाँ, तालाब, कुआँ, बावलियाँ शोभित हैं। मनुष्य, नाग, देवता और गन्धर्वों की कन्याएँ अपनी छबि से मुनियों के मन को मोहित कर

लेती हैं। कहीं पर्वत के समान विशाल शरीरवाले अत्यन्त बलवान मल्ल गर्जते हैं। वे अनेक अखाड़ों में भिड़ रहे हैं और बहुत तरह से एक दूसरे को डाँटते हैं ॥ २ ॥

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन, नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज, खल निसाचर भच्छहीं ॥
एहि लागि तुलसीदास इन्ह की, कथा कछुयक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि, त्यागि गति पइहैं सही ॥३॥

करोड़ों विकराल शरीरवाले योद्धा बड़े यत्न के साथ चारों ओर से नगर की रखवाली करते हैं। कहीं दुष्ट राक्षस भैंसा, मनुष्य, गैया, गदहा और बकरे आदि जीवों को भक्षण कर रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी कथा हमने इसलिए कुछ थोड़ी सी कही है कि ये सब रघुनाथजी के बाण-रूपी तीर्थ में शरीर त्याग कर शुद्ध गति (मोक्ष) पावेंगे ॥ ३ ॥

हमने इन राक्षसों का वृत्तान्त कुछ थोड़ा सा कहा है, हेतु—सूचक बात कह कर संक्षेप में कहने के कारण का समर्थन करना कि रघुवीर के बाण-तीर्थ में शरीर त्याग कर ये सब मोक्ष को प्राप्त होंगे। इससे विस्तार की आवश्यकता नहीं 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

दो०—पुर रखवारे देखि बहु, कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरउँ निसि, नगर करउँ पइसार ॥३॥

बहुत से नगर-रक्षकों को देख कर हनुमानजी ने मन में विचार किया कि मैं अत्यन्त छोटा रूप धारण करके रात्रि को नगर में प्रवेश करूँ ॥ ३ ॥

दिन को लङ्कापुरी में घुसना कठिन है, इस शङ्का के निवारणार्थ हनूमानजी का मन में यह विचारना कि रात्रि में सूक्ष्म रूप से पैठना ठीक होगा 'वितर्क सञ्चारी भाव' है।

चौ०—मसक समान रूप कपि धरी। लङ्कहि चलेहु सुमिरि नरहरी ॥
नाम लङ्किनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निन्दरी ॥१॥

मसा के समान बन्दर का रूप धारण करके मनुष्यों में सिंह (रामचन्द्रजी) का स्मरण कर लङ्का की ओर चले। एक लङ्किनी नाम की राक्षसी (जो शहरपनाह के फाटक की रक्षक थी, उस) ने कहा कि तू मेरा निरादर करके चला जा रहा है? ॥ १ ॥

यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि मसा के बराबर रूप बना कर मुद्रिका कैसे ली? उत्तर—जिन को मसा के समान रूप कर लेने की शक्ति है, उन्हें मुँदरी लिये रहना कौन से अचरज की बात है? मसा के समान रूप कहने से तात्पर्य्य अत्यन्त छोटे रूप का है। अध्यात्म रामायण में केवल छोटा रूप लेना लिखा है और वाल्मीकीय में भी अपने स्वाभाविक रूप से बिलकुल छोटा बिल्ली के बराबर बन्दर का रूप लेने का उल्लेख है। इतना लघु रूप किया जिससे अँगूठी पेट में लिये रहे, इसलिये यह शङ्का व्यर्थ है। योरप में नारवे प्रदेश के उत्तरी भाग में अब भी गौरैया पक्षी के बराबर मसा होते हैं। यदि वहाँ के निवासी रात में खुली

जगह में रहें तो उन मसों से उनके प्राण ही न बचे। गौरैया के बराबर बन्दर का रूप होकर मुद्रिका साथ रखना कुछ भी आश्चर्य्य की बात नहीं है। "नरहरि" शब्द का कोई कोई नृसिंह भगवान् का अर्थ करते हैं, वह इसलिये कि हनूमानजी का विचार लङ्का-निवासी राक्षसों के संहार करने का है, एतदर्थ नृसिंह का स्मरण किया।

जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँलगि चोरा॥
मुठिका एक महा-कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥२॥

अरे मूर्ख! तू मेरे भेद को नहीं जानता कि जहाँ तक (लङ्का में आनेवाले) चोर हैं वे मेरे आहार हैं ? । यह सुनते ही महाबली हनूमानजी ने उसको एक घूसा मारा, जिससे वह रक्त उगलती हुई धरती पर लुढ़क पड़ी ॥२॥

एक विद्वान ने सम्मति प्रदान की कि 'जहाँलगि' के स्थान में 'लङ्क कर' पाठ ठीक है। अर्थ में उनकी आज्ञा का पालन कर दिया गया, किन्तु मूल पाठ हम सभा की प्रति और गुटका के आधार पर रखते हैं, उन दोनों में 'जहाँ लगि' पाठ है। मूल बदलने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

पुनि सम्भारि उठी सो लङ्का। जोरि पानि कर बिनय ससङ्का॥
जब रावनहिं ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरञ्चि कहा मोहि चीन्हा॥३॥

फिर वह लङ्किनी सम्हल कर उठी और हाथ जोड़ कर डरती हुई बिनती करने लगी। उसने कहा कि जब ब्रह्मा ने रावण को वरदान दिया था, तब चलती बेर विधाता ने मुझ से (रावण के विनाशकाल का) पहचान बतलाया ॥३॥

लङ्किनी के कोप रूप भाव की शान्ति हनूमानजी के रुष्ट भाव से होना 'समाहित अलंकार' है।

बिकल होसि तैं कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर सङ्घारे॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥४॥

उन्हों ने कहा—जब तू बन्दर के मारने से व्याकुल हो जाय, तब जान लेना कि राक्षसों के नाश का समय आ गया। हे तात! मेरा बहुत बड़ा पुण्य है कि रामदूत को मैं ने आँख से देखा ॥४॥

हनूमानजी के बिना पूछे ही लङ्किनी सब बातें कह चली इसमें उसका गूढ़ अभिप्राय सच्ची बात कह कर रामदूत की कृपा सम्पादन करने का है। यह कल्पित प्रश्न का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

दो०—तात स्वर्ग अपबर्ग सुख, धरिय तुला एक अङ्ग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसङ्ग॥४॥

हे तात! स्वर्ग और मोक्ष के सुख को तराजू के एक पलड़े में रक्खे और दूसरे में पलक भर सत्सङ्ग का सुख रख कर तौले तो वे सब (दोनों) मिल कर जो लवमात्र सत्सङ्ग का सुख है, उसके बराबर नहीं हो सकते ॥४॥

पुराणों में एक कथा प्रसिद्ध है कि किसी समय वशिष्ठजी और विश्वामित्र में विवाद हुआ। वशिष्ठजी सत्सङ्ग को और विश्वामित्रजी तप को बड़ा कहने लगे। इसका निर्णय कराने के लिये दोनों ऋषिवर शेषजी के पास गये। शेषजी ने कहा कि आप दोनों में से कोई थोड़ी देर के लिये पृथ्वी को थाम लें तो मैं उत्तर दूँ। विश्वामित्रजी को अपनी तपस्या का बड़ा गर्व था, उन्हों ने सारी तपस्या का फल लगा कर पृथ्वी ले ली। पर शेषजी के मस्तक हटाते ही वह सम्हल न सकी, तब वशिष्ठजी पल भर सत्सङ्ग के फल से दो घड़ी पर्य्यन्त पृथ्वी को हाथ से उठाये रहे। यह देख कर विश्वामित्रजी लज्जित हो गये और सत्सङ्ग को बड़ा मान कर लौट आये।

चौ०–प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर-राजा॥
गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गो-पद सिन्धु अनल सितलाई॥१॥

आप अयोध्यापुरी के राजा रामचन्द्रजी को हृदय में रख कर नगर में प्रवेश करके सब काम कीजिये। उसके लिये विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्रता करता है, समुद्र गाय के खुर की बराबर होता और आग शीतल हो जाती है॥१॥

शङ्का—हनूमानजी केवल एक कार्य्य सीताजी को ढूँढ़ना चाहते हैं और लङ्किनी कहती है कि सब काम कीजिये, अन्य कौन से कार्य्य थे? उत्तर—(१) सीताजी का पता लगा कर सुग्रीव की प्रतिज्ञा पूरी करना। (२) रामकार्य्य। (३) वानरों का श्रम सफल करना। (४) सीताजी के वियोग-जनित दुःख को दूर करना। (५) विभीषण की अभीष्ट सिद्धि। (६) राक्षसों का मान-मर्दन और लङ्का-दहन आदि।

गरुअ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥
अति लघु रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना॥२॥

गरुआ सुमेरु पर्वत धूल के समान (हलका) हो जाता है, जिसको रामचन्द्रजी ने कृपा की दृष्टि से देखा। तब अत्यन्त छोटा रूप धारण करके और भगवान् रामचन्द्रजी का स्मरण कर हनूमानजी ने लङ्का-नगर में प्रवेश किया॥२॥

विष का अमृत होना, शत्रु का मित्र बन जाना, समुद्र का गाय के खुर के तुल्य होना, अग्नि में शीतलता आना और सुमेरु का रजकण के समान हरुआ होना, यहाँ विरोधी पदार्थ और गुणों के वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है। इससे रामकृपा की उत्कृष्टता सूचित होती है जो असम्भव को भी सम्भव कर देती है। ये सभी बातें हनूमानजी पर घटती हैं। विष की राशि सुरसा ने आशीर्वाद दिया, लङ्किनी शत्रु से मित्र बन गई, समुद्र गो-खुर के समान हो गया, लङ्का जलाते समय उन्हें अग्नि शीतल हुई और रावण का मान-मर्दन लङ्का दहन सुमेरु था, वह धूल के बराबर हलका (सहल) हो गया।

मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥
गयउ दसानन मन्दिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥३॥

प्रत्येक मन्दिरों में खोज कर देखा, जहाँ तहाँ अनगिनती योद्धा दिखाई पड़े। रावण के महल में गये, वह बड़ा ही विलक्षण है जो कहा नहीं जा सकता॥३॥

१०

सयन किये देखा कपि तेही । मन्दिर महँ न दीख बैदेही ॥
भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरिमन्दिर तहँ भिन्न बनावा ॥४॥

हनूमानजी ने रावण को सोते हुए देखा, पर उस घर में भी जनकनन्दिनी नहीं देख पड़ी । फिर एक सुहावना गृह दिखाई पड़ा, वहाँ भगवान् का मन्दिर अलग बना हुआ है ॥४॥

दो०—रामायुध अङ्कित गृह, सोभा बरनि न जाइ ॥
नव तुलसिका-वृन्द तहँ, देखि हरष कपिराइ ॥५॥

उस मन्दिर में रामचन्द्रजी के हथियार (धनुष, बाण, चक्रादि) के चिन्ह बने हैं जिसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती । वहाँ नये नये तुलसी के वृक्ष-समूह को देख वानरराज हनूमानजी प्रसन्न हुए ॥५॥

चौ० लङ्का निसिचर निकर निवासा । इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥
मन महँ तरक करइ कपि लागा । तेही समय बिभीषन जागा ॥१॥

हनूमानजी मन में विचारने लगे कि लङ्का तो राक्षस-समूह के रहने की जगह है, यहाँ सज्जन का बसेरा कैसे हुआ ? उसी समय विभीषण जाग उठे ॥१॥

शङ्का निवारणार्थ पवनकुमार का मन में विचार करना 'वितर्क सञ्चारीभाव' है। हनूमानजी परिचय करना चाहते ही थे कि अकस्मात विभीषणके जाग पड़ने से वह कार्य्य सुगम हो गया 'समाधि अलंकार' है।

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा । हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी । साधु तें होइ न कारज हानी ॥२॥

उन्होंने राम राम स्मरण किया, उन्हें सज्जन पहचान कर हनूमानजी हृदय में प्रसन्न हुए और सोचा कि इन से हठ कर पहचान करूँगा, क्योंकि साधु से कार्य्य की हानि नहीं होती ॥२॥

बिप्र रूप धरि बचन सुनाये । सुनत बिभीषन उठि तहँ आये ॥
करि प्रनाम पूछी कुसलाई । बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥३॥

ब्राह्मण का रूप धारण कर वचन सुनाये, सुनते ही विभीषण उठ कर वहाँ आये । प्रणाम करके कुशलता पूछी और कहा कि-हे ब्राह्मण ! अपना वृत्तान्त मुझे समझा कर कहिये (रात्रि के समय इस राक्षसपुरी में आप का विचरण कुतूहलजनक है) ॥३॥

की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई । मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥
की तुम्ह राम दीन-अनुरागी । आयहु मोहि करन बड़-भागी ॥४॥

क्या आप हरिभक्तों में से कोई हैं ? आप के प्रति मेरे हृदय में बड़ी प्रीति हो रही है । या कि आप दीनजनों पर प्रेम करनेवाले रामचन्द्रजी हैं ? जो मुझे बड़ा भाग्यवान बनाने आये हैं ॥४॥

दो०-तब हनुमन्त कही सब, राम-कथा निज नाम ।
सुनत जुगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुन ग्राम ॥६॥

तब हनुमानजी ने रामचन्द्रजी का सब समाचार कह कर अपना नाम बतलाया। सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गये, रघुनाथजी के गुण-समूह को स्मरण कर मन में मग्न हुए ॥६॥

चौ०-सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिँ कृपा भानुकुल-नाथा॥१॥

विभीषण ने कहा—हे पवनकुमार! हमारी रहने की रीति सुनिये, जैसे दाँतों के बीच में बेचारी जीभ रहती है। हे तात! मुझे अनाथ जान कर सूर्य्य कुल के स्वामी रामचन्द्रजी कभी कृपा करेंगे? ॥१॥

बिना हनूमानजी के पूछे ही विभीषण अपने दुःख की कहानी कहने लगे। इसमें गूढ़ अभिप्राय अपनी दीनता दिखा कर रामदूत की कृपा सम्पादन करने का है। यह कल्पित प्रश्न का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद-सरोज मन माहीं ॥
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता। बिनु हरि कृपा मिलहिँ नहिँ सन्ता ॥२॥

मेरा तमोगुणी शरीर है (स्वामी को प्रसन्न करने योग्य मेरे पास) कुछ साधन नहीं है और न मन में चरण-कमलों में प्रीति ही है। परन्तु हे हनूमानजी! अब मुझे यह भरोसा हो रहा है कि बिना भगवान की कृपा के सन्त-जन नहीं मिलते ॥२॥

तत्वानुसन्धान द्वारा विभीषण का यह निश्चय करना कि बिना भगवान की कृपा के सन्तजन नहीं मिलते 'मति सञ्चारीभाव' है। उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष कथन करने में 'सार अलंकार है। एक सज्जन का कथन है कि अपकर्ष में सार होता ही नहीं। अधिकांश अलंकारशास्त्रियों का यही मत है कि उत्तरोत्तर उत्कर्ष कथन में ही सार अलंकार होता है। परन्तु रसगङ्गाधर के मत से उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी सार अलंकार माना गया है।

जौँ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा ॥
सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिँ सदा सेवक पर प्रीती ॥३॥

जब रघुनाथजी ने कृपा की, तभी आप ने मुझे हठ कर (बिना बुलाये आ कर और रात में सोते से जगा कर) दर्शन दिया। हनूमानजी ने कहा—हे विभीषण! सुनिये, प्रभुरामचन्द्रजी की यह रीति है कि वे सेवक पर सदा प्रीति करते हैं ॥३॥

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चञ्चल सबही बिधि हीना ॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलइ अहारा ॥४॥

कहिये, मैं कौन से अत्युत्तम कुल का हूँ, बन्दर की जाति, चञ्चलबुद्धि और सभी तरह

१२
से निन्दनीय हूँ। जो हमारा नाम सवेरे ले ले तो उस दिन उसको भोजन न मिले (इस से बढ़ कर हीनता क्या होगी ?) ॥४॥

दो०—अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुबीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर ॥७॥

हे मित्र ! सुनिये, मैं ऐसा अधम हूँ, तो भी रघुनाथजी ने मुझ पर कृपा की है (तब आप पर भी अवश्य करेंगे)। स्वामी के गुणों का स्मरण कर आँखों में जल भर आया ॥७॥

चौ०—जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी ॥
एहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिस्रामा ॥१॥

जानते हुए भी ऐसे स्वामी को भुला कर जो विषयों में भटकते फिरते हैं वे दुखी क्यों न हों ? इस तरह रामचन्द्रजी के गुण गणों को कहते हुए उन्हें अकथनीय आनन्द मिला ॥१॥

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनक-सुता तहँ रही ॥
तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता। देखा चहउँ जानकी माता ॥२॥

फिर जिस तरह जानकी अशोक वाटिका में रहती थीं, वह सब कथा विभीषन ने कही। तब हनूमानजी ने कहा—भाई ! सुनिये, मैं जानकी माता को देखना चाहता हूँ ॥२॥

जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवन-सुत बिदा कराई ॥
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहँवा। बन असोक सीता रह जहँवा ॥३॥

विभीषण ने (अशोकवन में प्रवेश करने का) सारा उपाय कह सुनाया, हनूमानजी उन से बिदा माँग कर चल दिये। फिर वही छोटा रूप बना कर वहाँ गये जहाँ अशोकवन में सीता जी रहती थीं ॥३॥

देखि मनहिं महँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा।
कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति गुन स्रेनी ॥४॥

उन्हें देख कर मन में ही प्रणाम किया, जानकी जी को रात्रि के पहर बैठे ही बीत जाते हैं। उनका शरीर दुबला है और सिर पर जटा की एक वेणी (चोटी) हो गई है, हृदय में रघुनाथजी की गुणावली जपती हैं ॥४॥

दो०—निज पद नयन दिये मन, राम-चरन महँ लीन ।
परम दुखी भा पवन-सुत, देखि जानकी दीन ॥८॥

आँखें अपने पाँव की ओर लगाये हुए और मन रामचन्द्रजी के चरणों में लीन है। जानकीजी को दैन्यावस्था में देख कर पवनकुमार अत्यन्त दुखी हुए ॥८॥

चौ०—तरु पल्लव महँ रहा लुकाई । करइ बिचार करउँ का भाई ॥
तेहि अवसर रावन तहँ आवा । सङ्ग नारि बहु किये बनावा ॥१॥

वृक्ष के पत्तों में छिप रहे और विचार करने लगे कि भाई! क्या करूँ? उसी समय वहाँ रावण आया, उसके साथ में बहुत सी स्त्रियाँ शृङ्गार किये हुए शोभित थीं ॥१॥

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा । साम दाम भय भेद देखावा ।
कह रावन सुनु सुमुखि सयानी । मन्दोदरी आदि सब रानी ॥२॥

उस दुष्ट ने बहुत तरह सीताजी को समझाया तथा साम, दाम, दण्ड और भेद दिखाया। रावण ने कहा—हे सयानी, सुन्दर मुखवाली! सुनो, मन्दोदरी आदि सब रानियों को ॥२॥

विरोधी मनुष्य को वश में करने के लिए राजनीति की साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार प्रकार की चालें हैं। साम—समता का उपाय अर्थात् समझा बुझा कर वश में करना। दाम—धन दे कर वश में लाना। भय—दण्ड देकर वशीभूत करना। भेद—अलगाव डालकर अर्थात् दो चार वा अधिक का एक गुट्ट है, उस में विरोध उत्पन्न करा कर आधीन करना। रावण ने सीताजी को अपने वश में लाने के लिये इन चारों का प्रयोग किया, पर उसे सफलता नहीं हुई।

तव अनुचरी करउँ पन मोरा । एक बार बिलोकु मम ओरा ॥
तृन धरि ओट कहति बैदेही । सुमिरि अवधपति परम-सनेही ॥३॥

तुम्हारी दासी बनाऊँगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है कि एक बार तू मेरी ओर देख। अपने परम प्यारे अयोध्यानाथ रामचन्द्रजी का स्मरण करके जानकीजी तिनके की ओट ले कर कहती हैं ॥३॥

'मेरी ओर देख' रावण के इस कथन में प्रकट और गुप्त दो प्रकार का अर्थ है। प्रकट तो यह कि कामवासना से कहता है। गुप्त अर्थ—सीताजी को अपनी इष्ट देवी मानता है, इसलिये कहता है कि अब मेरी ओर कृपा की दृष्टि से देख कर मुझे मुक्त करो। जैसा कि सीता-हरण के समय "मन महँ चरन बन्दि सुख माना" कहा है। यहाँ तिनके की आड़ लेने में हेतु यह है कि पतिव्रता स्त्री पराये पुरुष से बिना परदे के नहीं बोलतीं। पर वहाँ परदा कहाँ था? इसलिये तृण हाथ में लेकर उसे ही ओट की वस्तु मान लिया। अथवा हाथ में तिनका लेकर यह सूचित करती हैं कि तेरी ओर देखना कैसा? मैं स्वामी के वियोग में अपना प्राण तृण के समान त्याग दूँगी। अथवा तृण लेकर यह सूचित करती हैं कि तू रामचन्द्रजी के आगे तिनके की तरह तुच्छ है। अथवा तुझको मैं तृण के बराबर समझती हूँ इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने इस स्थल पर सैकड़ों प्रकार की ध्वनियों के तर्क किये हैं।

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥
अस मन समुझु कहति जानकी । खल सुधि नहिँ रघुबीर बान की ॥४॥

हे दशानन! सुन, क्या कभी जुगुनू की चमक से कमलिनी खिलती है? (कभी नहीं)।

१५
जानकीजी कहती हैं कि तू अपने मन में ऐसा ही समझ । अरे दुष्ट ! तुझ को रघुबीर के बाणों की सुध नहीं है ? ॥४॥

रामचन्द्रजी और सूर्य्य, जानकीजी और कमलिनी, रावण और खद्योत परस्पर उपमेय उपमान हैं । जानकीजी का कहना तो यह है कि मैं तुझ पर दृष्टि न डालूँगी, इस प्रस्तुत वृत्तान्त को कमलिनी पर ढार कर अप्रस्तुत वर्णन द्वारा प्रकट करना 'सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा वा अन्योक्ति अलंकार' है। क्या कभी जुगुनू की चमक से कमलिनी खिलती है ? इस वाक्य में काकु से विपरीत अर्थ भासित होना कि नहीं खिलती 'वक्रोक्ति अलंकार' है। रावण का सीताजी विषयक रति भाव एकाङ्गी होने से 'शृङ्गार रसाभास' है । वह सीताजी के कोप रूप भाव के अङ्ग से आया 'ऊर्जस्वित अलंकार' है। इस प्रकार यहाँ अलंकारों की संसृष्टि है "रघुवीर के बाणों की सुध नहीं है ?" इसके सम्बन्ध में कई प्रकार की बातें कही जाती हैं। (१) लक्ष्मणजी ने बाणों की रेखा खींच दी थी, वह तुझ से लाँघी नहीं गई' फिर तू क्या बढ़ कर बातें करता है । (२) रघु के वीर पुत्र अज के बाण के भय, से तू लङ्का में स्त्रियों के बीच छिप रहा था, तब तेरे प्राण बचे । (३) रामचन्द्रजी की बान (स्वभाव) जो दासों के साथ अपराध करने से अपराधी को कदापि क्षमा नहीं करते अर्थात् भक्तद्रोही का शीघ्र ही सर्वनाश करते हैं, तुझे इसका स्मरण नहीं है ? इत्यादि ।

सठ सूने हरि आनेहि मोही । अधम निलज्ज लाज नहिँ तोही ॥५॥

अरे दुष्ट, नीच निर्लज्ज ! तुझे लज्जा नहीं है ? मुझे सूने में हर ले आया (अब घर ला) कर निलज्जता भरी बातें बकता है ? ॥५॥

दो०—आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहिँ भानु समान ।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान ॥९॥

अपने को जुगुनू के बराबर और रामचन्द्रजी को सूर्य्य के समान सुन कर एवम् पूर्वकथित कठोर वचनों को सुन रावण बहुत ही खिसिया गया और म्यान से तलवार खींच कर बोला ॥९॥

कठोर वचन कारण और क्रोधित हो—कर तलवार खींचना कार्य्य, दोनों का साथ ही वर्णन 'हेतु अलंकार' है ।

चौ०—सीता तैं मम कृत अपमाना । कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥
नाहिँ त सपदि मानु मम बानी । सुमुखि होत न त जीवन हानी ॥१॥

हे सीता ! तू ने मेरा अपमान किया, इसलिये मैं विकराल तलवार से तेरा सिर काट डालूँगा । नहीं तो तुरन्त मेरी बात मान ले, हे सुमुखी ! अन्यथा तेरे जीवन का नाश होगा (क्यों व्यर्थ ही प्राण गँवाती है ?) ॥ १ ॥

स्याम-सरोज-दाम सम सुन्दर । प्रभु भुज करि कर सम दसकन्धर ॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा । सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा ॥२॥

सीताजी ने कहा—हे दसकन्धर ! श्यामकमल की माला के समान सुन्दर और हाथी के सूँड़ के बराबर (उतार चढ़ाव) जो स्वामी की भुजाएँ हैं । या तो वे मेरे गले में लगगी या कि तेरी भीषण तलवार ! अरे दुष्ट ! सुन, मेरी ऐसी निश्चित प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

अशोक वाटिका।

त्रिजटा नाम राक्षसी एका। राम चरन-रति निपुन विवेका॥
सबन्हौं बोलि सुनायेसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥

गुटका में 'सुनु सठ अस प्रवान मन मोरा' पाठ है। उसका अर्थ होगा अरे दुष्ट! सुन, मेरे मन का ऐसा ही निश्चय है।

चन्द्रहास हर मम परितापं। रघुपति-बिरह-अनल सञ्जातं॥
सीतल निसि तव असि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥३॥

हे चन्द्रहास! रघुनाथजी की विरहाग्नि से उत्पन्न मेरे ताप को तू हर ले। सीताजी कहती हैं कि हे तलवार! तेरी श्रेष्ठ धार शीतल (चाँदनी) रात के समान है, तू मेरे इस भारी दुःख को हर ले॥३॥

कहना तो रावण से है, परन्तु उस से न कह कर तलवार से निवेदन करना जिस में वह जान लेवे 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है। यह बात चन्द्रहास पर ढार कर रावण से कही गई है जो उसको हाथ में लिये है; किन्तु मारता नहीं है। जानकीजी का प्रस्तुत कथन रावण से है और तलवार का वृत्तान्त अप्रस्तुत 'सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है। एक प्राचीन प्रति में 'सीतल निसित बहसि बर धारा, पाठ है। उसका अर्थ होगा-"शीतल चोखी श्रेष्ठ धारा बहती (चलती) है"।

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मय-तनया कहि नीति बुझावा॥
कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई॥४॥

फिर वचन सुनते ही मारने दौड़ा, तब मन्दोदरी ने नीति कह कर समझाया कि स्त्री अवध्य है। रावण ने सम्पूर्ण राक्षसियों को बुला कर कहा कि तुम सब जाकर सीता को बहुत तरह से डराओ॥४॥

मास-दिवस महँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥५॥

महीने भर में कहना न माना तो मैं तलवार खींच कर इसे मार डालूँगा॥५॥

दो०-भवन गयउ दसकन्धर, इहाँ पिसाचिनि बृन्द।
सीतहि त्रास देखावहिं, धरहिं रूप बहु मन्द॥१०॥

यह कह कर रावण राजमहल में गया, यहाँ झुण्ड की झुण्ड पिशाचिनी राक्षसियाँ बहुत खोटा रूप धारण करके सीताजी को भय दिखाती हैं॥१०॥

चौ०-त्रिजटा नाम राक्षसी एका। राम-चरन रति निपुन बिबेका॥
सबन्हौं बोलि सुनायेसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥१॥

एक त्रिजटा नाम की राक्षसी थी. वह रामचन्द्रजी के चरणों की प्रीति में प्रवीण और समझदार थी। उसने सभी राक्षसियों को बुला कर अपना स्वप्न सुनाया और कहा कि तुम सब सीताजी की सेवा करके अपना कल्याण करो॥१॥

सपने बानर लङ्का जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥२॥

(आज स्वप्नमें) बन्दर ने लङ्का जलाई और सब राक्षसों की सेना का संहार कर डाला।

१६

रावण नङ्गा हो कर गधे पर सवार है, उसका सिर मुँड़ा हुआ और बीसों भुजायें कटी हुई हैं ॥२॥

एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लङ्का मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥३॥

इस तरह वह दक्षिण दिशा को जा रहा है, ऐसा मालूम होता है मानों लङ्का का राज्य विभीषण को मिला हो। नगर में रघुनाथजी की दुहाई फिर गई है, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने सीताजी को बुलवा भेजा है ॥३॥

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनक-सुता के चरनन्हि परीं॥४॥

मैं पुकार कर कहती हूँ कि यह सपना चार दिन के बाद ही सत्य होगा। उसकी बात सुन कर वे सब राक्षसियाँ डर गईं और जानकीजी के पावों पड़ीं ॥४॥

त्रिजटा को अभीष्ट तो है सीताजी की रक्षा करना और राक्षसियों को हटा देना जिस में हनूमानजी को बातचीत का अवसर मिले। परन्तु इस बात को सीधे न कह स्वप्न द्वारा रावण का विनाश कह राक्षसियों को भयभीत करके कार्य साधन करना 'पर्यायोक्ति अलंकार' है। 'गये दिन चारी' में ऐसी लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि देख लेना यह बात चार दिन में सच्ची होगी, पर इसे कोई ठीक ठीक चार दिन की संख्या नहीं मान लेता। वही त्रिजटा ने कहा है, लोग यहाँ शङ्का करते हैं कि त्रिजटा की कही हुई बात अधिकांश सवेरा होते ही सत्य हुई और शेष महीनों के अन्तर से सच्ची हुई, तब चार दिन का कथन यथार्थ नहीं है। इसी बात को लेकर तरह तरह के अर्थ गढ़े जाते हैं। जैसे—गये दिन चारी—सूर्योदय होने पर यह होगा। अथवा गये दिन अर्थात् रात्रिचारी कह कर त्रिजटा ने राक्षसियों का सम्बोधन किया है। अथवा दिन चारी-बन्दर के जाने पर। अथवा दिनचारी राम-लक्ष्मण के लङ्का में आने पर इत्यादि। यह सब तर्कनाएँ निर्मूल हैं।

दो०—जहँ तहँ गईं सकल मिलि, सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि, मारिहि निसिचर पोच॥११॥

वे समस्त राक्षसियाँ मिल कर जहाँ तहाँ चली गईं और सीताजी मन में सोच करने लगीं कि महीने के दिन बीतने पर नीच राक्षस मुझे मार डालेगा ॥११॥

चौ०—त्रिजटा सन बोलीं करजोरी। मातु बिपति सङ्गिनि तैं मोरी॥
तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥१॥

तब सीताजी—त्रिजटा से हाथ जोड़ कर बोलीं, हे माता! तू मेरी विपत्ति की साथिन है। ऐसा उपाय कर दे जिससे मैं जल्दी शरीर त्याग दूँ, अब यह असहनीय वियोग नहीं सहा जाता है ॥१॥

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनइ को स्रवन सूल सम बानी॥२॥

हे माता! तू लकड़ी ला कर चिता बना दे, फिर उसमें आग लगा दे। हे सयानी! मेरे प्रति अपने प्रेम को सच करे, यह शूल के समान वचन कानों से कौन सुने?॥२॥

सुनत बचन पद गहि समुझायेसि। प्रभु प्रताप-बल-सुजस सुनायेसि॥
निसि न अनल मिलु सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी॥३॥

सीताजी की बातें सुन कर त्रिजटा ने उनके पाँव पकड़ कर समझाया, प्रभु रामचन्द्रजी का प्रताप बल और सुन्दर यश सुनाया। उसने कहा—हे सुकुमारी! सुनिये, रात में आग न मिलेगी, ऐसा कह कर वह अपने घर चला गई॥३॥

प्रताप यह कि रघुनाथजी ने आप ही के लिये जयन्त पर सींक का बाण छोड़ा, वह चौदहों लोकों में भागता फिरा पर कहीं रक्षा नहीं हुई। बल...आप ही के हेतु कठिन शिव—चाप को तोड़ा और खर-दूषण आदि चौदह हज़ार राक्षसों को अकेले वध किया। सुयश—एक नारी-व्रत और पिता वचन पालन में अनुरक्त, सत्य सङ्कल्प हैं। वे आप के दुःख को दूर करेंगे, ख़बर पाते ही यहाँ आवेंगे घबराइये नहीं। रात में आग न मिलने का बहाना कर तुरन्त घर इसलिये चल दिया कि जब तक मैं यहाँ रहूँगी तब तक हनुमानजी प्रगट न होंगे।

कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥
देखियत प्रगट गगन अङ्गारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥४॥

सीताजी कहती हैं कि मुझ पर विधाता ही प्रतिकूल हुआ है, (तभी तो त्रिजटा ने मेरी बात अनसुनी कर दी) न आग मिलेगी और न यह वेदना मिटेगी। आकाश में प्रत्यक्ष अङ्गारे दिखाई पड़ते हैं; किन्तु वे एक भी तारे ज़मीन पर नहीं आते हैं॥४॥

अङ्गार उपमान और तारागण-उपमेय हैं। उपमान के गुण उपमेय में स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥
सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥५॥

चन्द्रमा अग्नि के रूप ही हैं पर वे आग नहीं गिराते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों मुझे अभागिन समझ कर ऐसा नहीं करते हैं। हे अशोक वृक्ष! मेरी प्रार्थना सुन ले, अपना नाम सत्य करके मेरे शोक को हर ले॥५॥

चन्द्रमा अग्नि नहीं है, न आग बरसाता है और न वियोगिन को अभागिन समझता है। यह अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। शोक नष्ट करने का अभिप्राय अशोक शब्द में वर्तमान रहने से 'परिकराङ्कुर अलंकार दोनों की संसृष्टि है।

१८

नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि तन करहि निदाना ॥
देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥६॥

तेरे नवीन कोमल पत्ते अग्नि के समान हैं, अग्नि दे कर मेरे शरीर को अन्त कर दे । सीताजी को विरह से अत्यन्त व्याकुल देख वह क्षण हनूमानजी को कल्प के बराबर बीता ॥६॥

सभा की प्रति में 'देहि अगिन जनि करहि निदाना, पाठ है । वहाँ इस तरह अर्थ होगा कि—"मुझे अग्नि देने में तू किसी तरह का कारण मत ढूँढ़" ।

सो०—कपि करि हृदय बिचार, दीन्हि मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अङ्गार, दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥१२॥

तब हनूमानजी ने (अच्छा अवसर) मन में विचार कर मुँदरी नीचे गिरा दी। सीताजी को ऐसा मालूम हुआ मानों अशोक ने अङ्गार दिया हो, प्रसन्नता से उठ कर हाथ में ले लिया ॥१२॥

चौ०--तब देखी मुद्रिका मनोहर । राम-नाम-अङ्कित अति सुन्दर ॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी । हरष बिषाद हृदय अकुलानी ॥१॥

तब उस मनोहर मुद्रिका को देखा कि राम नाम से चिह्नित बड़ी ही सुन्दर है। मुँदरी को पहचान कर विस्मय से उसकी ओर देखने लगीं, हर्ष और विषाद से हृदय में अकुला उठीं ॥१॥

आश्चर्य्य, हर्ष, विषाद और व्याकुलता कई एक भावों का साथ ही हृदय में उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है, आश्चर्य्य यह कि—मुद्रिका रामचन्द्रजी से अलग कैसे हुई ? हर्ष—स्वामी के वस्तु का दर्शन होना। विषाद—अनिष्ट की सम्भावना से, व्याकुलता—क्या रावण ने छल से प्रभु को जीत लिया ? यह ध्वनि विचारने पर प्रकट होती है, सहसा नहीं । इस लिये 'अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

जीति को सकइ अजय रघुराई । माया तेँ असि रचि नहिँ जाई ॥
सीता मन बिचार कर नाना । मधुर बचन बोलेउ हनुमाना ॥२॥

रघुनाथजी अजीत हैं उन्हें कौन जीत सकता है ? और माया से ऐसी बनाई नहीं जा सकती। सीताजी मन में नाना प्रकार के विचार कर रही हैं, उसी समय हनूमानजी मधुर वचन बोले ॥२॥

सीताजी के मन में शङ्का निवारणार्थ तरह तरह के विचारों का उत्पन्न होना 'वितर्क सञ्चारीभाव' है ।

रामचन्द्र गुन बरनइ लागा । सुनतहि सीता कर दुख भागा ॥
लागी सुनइ स्रवन मन लाई । आदिहु तेँ सब कथा सुनाई ॥३॥

रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन करने लगे, सुनते ही सीताजी का दुःख भाग गया।

कान और मन लगा कर सुनने लगीं, आदि ही से सब कथा (पिता की आज्ञा से वन में आना, चित्रकूट निवास, खरदूषणवध, सीता हरण आदि) कह सुनाई ॥३॥

रामचन्द्रजी का गुण वर्णन कारण और सीताजी का दुःख सुनते ही भाग जाना कार्य्य 'चपलातिशयोक्ति अलंकार' है। सीताजी रामचन्द्रजी का सन्देशा सुनना चाहती थीं, वही बात हनूमानजी बिना किसी आग्रह के कह चले। इस चितचाही बात का होना 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' दोनों की संसृष्टि है।

स्रवनामृत जेहि कथा सुनाई। कहि सो प्रगट होत किन भाई ॥
तब हनुमन्त निकट चलि गयऊ। फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ ॥४॥

सीताजी ने कहा—भाई! जिसने कानों को अमृत के समान कथा कह कर सुनाई है, वह प्रकट क्यों नहीं होता? तब हनूमानजी समीप चले गये, उन्हें देख मन में खेद हुआ, इस से मुँह फेर कर बैठ गईं ॥४॥

सीताजी के मन में छली रावण की करतूत का सन्देह हुआ, उन्होंने अनिष्ट प्राप्ति की शङ्का से मुँह दूसरी ओर फेर लिया, 'विषाद सञ्चारीभाव' है।

राम-दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की ॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी ॥५॥

हनूमानजी ने कहा—हे माता जानकी! मैं करुणानिधान रामचन्द्रजी की सौगन्द खाकर कहता हूँ, मैं सचमुच उन्हीं का भेजा हुआ दूत हूँ। हे माता! इस मुद्रिका को मैं ही ले आया हूँ, आप को (प्रतीति होने के लिये) रामचन्द्रजी ने यह पहचान की चीज़ दी है (मैं कपटी रावण नहीं हूँ; आपका सेवक हूँ, मुझ पर विश्वास कीजिये) ॥५॥

नर बानरहि सङ्ग कहु कैसे। कही कथा भइ सङ्गति जैसे ॥६॥

सीताजी ने पूछा—कहो, मनुष्य और वानर का सङ्ग कैसे हुआ? तब हनूमानजी ने वह सब कथा जिस तरह साथ हुआ था कह सुनाई ॥६॥

हनूमानजी का गूढ़ अभिप्राय सीताजी के मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कराने का है। उनके पूछने पर उत्तर देना प्रश्न युक्त 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

दो०—कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिन्धु कर दास ॥१३॥

हनूमानजी के प्रेम-युक्त वचन सुन कर जानकीजी के मन में विश्वास उत्पन्न हुआ। उन्होंने समझ लिया कि यह मन, कर्म और वचन से कृपासिन्धु रघुनाथजी का सेवक है ॥१३॥

चौ०—हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी ॥
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयेउ तात मो कहँ जलजाना ॥१॥

हनूमानजी को रामभक्त समझ कर सीताजी के हृदय में बड़ी प्रीति बढ़ी, आँखों में जल भर आया और शरीर पुलकित होकर रोमावलियाँ खड़ी हो गईं। उन्हों ने कहा—हे हनूमान पुत्र! विरह रूपी समुद्र में डूबते हुए मुझे तुम जहाज रूप होकर मिले हो ॥१॥

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी । अनुज सहित सुख-भवन-खरारी ॥
कोमल चित कृपाल रघुराई । कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥२॥

मैं अब तुम्हारी बलि जाती हूँ, खर के वैरी सुख के स्थान रामचन्द्रजी को छोटे भाई लक्ष्मण के सहित कुशल कहो । हे हनूमान ! रघुनाथजी तो कोमल-चित और दयालु हैं, इतनी निर्दयता उन्हों ने किस कारण धारण की है ? ॥२॥

सहज बानि सेवक सुखदायक । कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहहिँ निरखि स्याम-मृदु-गाता ॥३॥

जिनका सहज स्वभाव सेवकों को सुख देने का है, वे रघुनाथजी कभी मेरी सुध करते हैं ? हे तात ! उनके श्यामल कोमल अङ्गों को देख कर कभी मेरे नेत्र शीतल होंगे ? ॥३॥

बचन न आव नयन भरि बारी । अहह नाथ हौँ निपट बिसारी ॥
देखि परम बिरहाकुल सीता । बोला कपि मृदु बचन बिनीता ॥४॥

उनकी वाणी रुक गई, आँखों में आँसू भर कर कहने लगीं...हाय नाथ ! आपने मुझे सब प्रकार से भुला दिया । सीताजी को अत्यन्त विरह से व्याकुल देख कर हनूमानजी नम्रतापूर्वक कोमल वाणी से बोले ॥४॥

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता । तव दुख दुखी सुकृपा-निकेता ॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना । तुम्ह तेँ प्रेम राम के दूना ॥५॥

हे माता ! स्वामी रामचन्द्रजी छोटे भाई के सहित कुशल-पूर्वक हैं, किन्तु सुन्दर दया के स्थान आप के दुःख से दुःखी हैं । हे जननी ! आप अपने मन में कुछ भी हीनता न मानें, आप से दूना प्रेम रामचन्द्रजी को है ॥५॥

दो०—रघुपति कर सन्देस अब, सुनु जननी धरि धीर ।
असकहि कपि गदगद भयउ, भरे बिलोचन नीर ॥१४॥

हे माता ! अब धीरज धर कर रघुनाथजी का सन्देशा सुनिये, ऐसा कह कर हनूमानजी गद्गद कण्ठ हो गये और आँखों में आँसू भर आया ॥ १४ ॥

हनूमानजी को स्वामी की बात स्मरण कर स्वरभङ्ग और अश्रु सात्विक अनुभाव का उदय हो आया ।

चौ०—कहेउ राम बियोग तव सीता । मो कहँ सकल भये बिपरीता ॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू । कालनिसा सम निसि ससि-भानू ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा है—हे सीता ! तुम्हारे वियोग में मुझ को सब उलटे हुए हैं । नये वृक्षों के कोमल लाल पत्ते ऐसे मालूम होते हैं मानों अग्नि हों, रात कालरात्रि के समान और चन्द्रमा सूर्य्य के तुल्य हो रहे हैं ॥१॥

कुवलय बिपिन कुन्त बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिधि समीरा॥२॥

कुमुद के वन भाला के जङ्गल के समान हो गये हैं, वर्षा ऐसी मालूम होती है मानों बादल तपाया हुआ तेल बरसते हों। जो हितकारी (सुख देनेवाले) थे वे ही दुःख दे रहे हैं, तीनों प्रकार के (शीतल, मन्द, सुगन्धित) पवन साँप के फुफकार के समान लगते हैं॥२॥

सभा की प्रति में 'जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा' पाठ है। उसका अर्थ होगा कि—"जिस वृक्ष के नीचे रहता हूँ, वही दुःख देते हैं"।

कहेहू तेँ कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥३॥

कहने से भी कुछ दुःख की घटती होती है; परन्तु किससे कहूँ, इस दुःख को कोई जानता नहीं। हे प्रिये! हमारे और तुम्हारे प्रेम के तत्व (यथार्थता) को एक मेरा ही मन जानता है॥३॥

सो मन सदा रहत तोहि पाहीँ। जानु प्रीति रस एतनेहिँ माहीँ॥
प्रभु सन्देस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिँ तेही॥४॥

वह मन सदा तुम्हारे पास रहता है, बस! इतने में प्रीति का रस (स्वाद) जान लेना। इस तरह स्वामी के सन्देशे को सुन कर जानकीजी प्रेम में मग्न हो गईं, उनको अपने शरीर की सुध नहीं रही॥४॥

प्रीति-रस का जाननेवाला मन मेरे पास नहीं है, हेतुसूचक बात कह कर पुष्टि करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। प्रेममय स्वामी के सन्देशे को सुन कर प्रीति और अभिलाषा से सीताजी की कर्मेन्द्रियों की गति रुक जाना स्तम्भ सात्विक अनुभाव है।

कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुख दाता॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥५॥

हनूमानजी ने कहा—हे माता! हृदय में धीरज धरिये, सेवकों के सुख देने वाले रामचन्द्रजी का स्मरण कीजिये। रघुनाथजी की महिमा को हृदय में ले आइये और मेरी बात सुन कर कादरता को त्याग दीजिये॥५॥

दो०—निसिचर निकर पतङ्ग सम, रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥१५॥

राक्षसवृन्द पाँखी के समान हैं और रघुनाथजी के बाण अग्नि रूप हैं। हे माता! हृदय में धीरज धरिये और राक्षसों को जला हुआ समझिये॥१५॥

बाण अभी चले नहीं, पर शत्रुओं को उससे जला हुआ कहना अर्थात् कारण के पहले ही कार्य्य का प्रकट होना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

२२

चौ०—जौं रघुबीर होति सुधि पाई । करते नहिं बिलम्ब रघुराई ॥
राम बान रबि उये जानकी । तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥१॥

यदि रघुनाथजी आप की ख़बर पाये होते तो वे रघु-कुल के राजा हैं, देरी न करते । हे जानकीमाता ! राक्षसों के समुदाय रूपी अन्धकार के लिये रामचन्द्रजी के बाण रूपी सूर्य उदय हो चुके हैं (तभी तो आरण्यवन में चौदह हज़ार प्रेतों का संहार हुआ) ॥१॥

'रघुराई' शब्द में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है कि रघुकुल के राजा धर्मात्मा, सत्य सङ्कल्प, परोपकारी, साहसी, शूरवीर और दीन दुःखहारी होते आये हैं । रामचन्द्रजी उन गुणों में अद्वितीय हैं । ख़बर पाये होते तो आपकी रक्षा करने में देरी न करते ।

अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई । प्रभु आयसु नहिं राम-दोहाई ॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा ॥२॥

हे माता ! मैं अभी आप को लिवा ले चलता, पर स्वामी की आज्ञा नहीं है; इस बात को मैं रामचन्द्रजी की सौगन्द खा कर कहता हूँ । हे माता ! कुछ दिन धीरज धारण कीजिये, वानरों के सहित रघुनाथजी यहाँ आवेंगे ॥२॥

निसिचर मारि तोहि लेइ जइहहिं । तिहुँ पुर नारदादि जस गइहहिं ॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना । जातुधान भट अति बलवाना ॥३॥

राक्षसों को मार कर आप को ले जायँगे और इस यश को तीनों लोकों में नारद आदि महर्षि-गण गावेंगे । इस प्रकार वायुनन्दन की बात को सुन कर सीताजी ने कहा—हे पुत्र ! क्या सब बन्दर तुम्हारे ही समान हैं ? यहाँ राक्षस बड़े बलवान योद्धा हैं ॥३॥

हनूमानजी के छोटे रूप को देख कर और राक्षसों की शूरता का अनुमान करके सीताजी के मन में सन्देह हुआ कि लघु बन्दर राक्षस वीरों को कैसे जीत सकेंगे ? 'शङ्का सञ्चारी भाव' है ।

मोरे हृदय परम सन्देहा । सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ॥
कनक-भूधराकार सरीरा । समर-भयङ्कर अति बल-बीरा ॥४॥

मेरे मन में बहुत बड़ा सन्देह है, यह सुन कर हनूमानजी ने अपना रूप प्रकट किया । उनका सुमेरु-पर्वत के आकार का शरीर, युद्ध में महाबली वीरों को भी भय उत्पन्न करनेवाला है ॥४॥

सीता मन भरोस तब भयऊ । पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ ॥५॥

तब सीताजी के मन में भरोसा हुआ, फिर पवन-कुमार ने छोटा रूप कर लिया ॥५॥

दो०—सुनु माता साखामृग, नहिं बल-बुद्धि बिसाल ।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल ॥१६॥

हनुमानजी ने कहा—हे माता ! सुनिये, बन्दर न तो बली हैं और न विशाल बुद्धिवाले हैं । स्वामी रामचन्द्रजी के प्रताप से अत्यन्त छोटा साँप भी गरुड़ को खा सकता है ॥१६॥

हनूमानजी ने वानरों की बुद्धि और बल का इसलिये निषेध किया कि वह धर्म 'प्रभु प्रताप' में स्थापन करना अभीष्ट है । यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है ।

चौ०—मन सन्तोष सुनत कपि बानी । भगति-प्रताप-तेज-बल-सानी ॥
आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना । होहु तात बल-सील-निधाना ॥१॥

भक्ति, प्रताप, तेज और बल से सनी हुई हनूमानजी की वाणी सुनते ही सीताजी के मन में सन्तोष हुआ । रामचन्द्रजी का प्रेमी जान कर आशीर्वाद दिया कि—हे पुत्र ! तुम बल और शुद्धाचरण के स्थान हो ॥ १ ॥

हनूमानजी की वाणी को भक्ति, प्रताप, तेज और बल से मिली हुई कहा, इसका प्रमाण पूर्वकथित दोहा चौपाइयों में विद्यमान है । यथा भक्ति—सुमिरु राम सेवक-सुख-दाता । प्रताप—प्रभु प्रताप तें गरुड़हि, खाइ परम लघु व्याल । तेज—राम बान रवि उये जानकी । बल—उर आनहु रघुपति प्रभुताई धो निसिचर मारि तोहि लेइ जइहहिँ ।

अजर अमर गुन-निधि सुत होहू । करहिँ बहुत रघुनायक छोहू ॥
करहिँ कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥२॥

बुढ़ाई रहित, चिरजीवी और गुणों के समुद्र हो, हे पुत्र ! तुम पर रघुनाथजी बहुत कृपा करें । प्रभु रामचन्द्रजी दया करें, ऐसा कान से सुन कर हनूमानजी भरपूर प्रेम में मग्न हो गये ॥ २ ॥

गुटका में दोनों जगह 'करहु' पाठ है ।

बार बार नायेसि पद सीसा । बोला बचन जोरि कर कीसा ॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता । आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥३॥

बारम्बार चरणों में सिर नवा कर और हाथ जोड़ कर हनूमानजी वचन बोले । हे माता ! अब मैं कृतार्थ (सफल-मनोरथ) हो गया, आप का आशीर्वाद निष्फल न होनेवाला प्रसिद्ध है (वह मुझे प्राप्त हुआ) ॥ ३ ॥

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागि देखि सुन्दर फल रूखा ॥
सुनु सुत करहिँ बिपिन रखवारी । परम सुभट रजनीचर भारी ॥४॥

हे माता ! सुनिये, इन वृक्षों में सुन्दर फल लगे देख कर मुझे बड़ी भूख लग आई है । सीताजी ने कहा—हे पुत्र ! सुनो, इस बगीचे की रखवाली बड़े बड़े भारी योद्धा राक्षस करते हैं (ऐसी दशा में तुम कैसे फल खा सकोगे ?) ॥ ४ ॥

सुन्दर फलों का देखना कारण और भूख का लगना कार्य्य, कारण के समान कार्य्य का वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है ।

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं । जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥५॥

हनूमानजी ने कहा—हे माताजी ! मुझे उन राक्षसों का डर नहीं है, यदि आप मन में सुख मानें (प्रसन्न होकर आज्ञा दें) ॥ ५ ॥

२४

दो०—देखि बुद्धि-बल-निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।
रघुपति-चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥१७॥

हनूमानजी को बुद्धि और बल में कुशल देखकर जानकीजी ने कहा—हे तात! जाओ, रघुनाथजी के चरणों को हृदय में रख कर मीठे फल खाओ ॥ १७ ॥

चौ०—चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा ॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे ॥१॥

तब हनूमानजी—सिर नवा कर चले और बाग में घुस गये, फल खा कर पेड़ों को तोड़ने लगे। वहाँ बहुत से वीर रक्षक थे, कुछ को मार डाले और कुछ रक्षकों ने जा कर प्रतिकार के लिये चिल्लाहट मचाई ॥ १ ॥

नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोकबाटिका उजारी ॥
खायेसि फल अरु बिटप उजारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे ॥२॥

उन राक्षसों ने कहा—हे नाथ! एक भारी बन्दर आया है, उसने अशोकवाटिका को उजाड़ डाला। फल खाया और वृक्षों को उखाड़ कर फेंक दिया, रखवारों को मल मल कर धरती में गिरा दिया ॥ २ ॥

सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहिँ देखि गर्जेउ हनुमाना ॥
सब रजनीचर कपि सङ्घारे। गये पुकारत कछु अधमारे ॥३॥

सुन कर रावण ने विविध वीरों को भेजा, उन्हें देख कर हनूमानजी गर्जे। पवनकुमार ने सब राक्षसों का संहार कर डाला, कुछ अधमारे पुकारते हुए गये ॥ ३ ॥

पुनि पठयेउ तेहि अछयकुमारा। चला सङ्ग लै सुभट अपारा ॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥४॥

फिर उसने अक्षयकुमार को भेजा, वह अपार योद्धाओं को साथ लेकर चला। उसे आते देख कर हाथ में वृक्ष ले कर डाँटते हुए (हनूमानजी) झपटे और उसका संहार कर बड़े ज़ोर से गर्जे ॥ ४ ॥

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे, प्रभु मर्कट बल-भूरि ॥१८॥

कुछ को मार डाले, कुछ को पीस डाले और कुछ को पकड़ कर धूल में मिला दिये। फिर कुछ राक्षसों ने जा कर पुकार मचाई कि—राजन्! वह बन्दर बड़ा बलवान है (उसने सेना सहित अक्षयकुमार को मार डाला।) ॥१८॥

चौ०—सुनि सुत बध लङ्केस रिसाना। पठयेसि मेघनाद बलवाना ॥
मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिय कपिहि कहाँकर आही ॥१॥

पुत्र का वध सुन कर लङ्केश्वर क्रोधित हुआ और बलवान मेघनाद को भेजा। उसने कहा हे पुत्र! उसको मारना मत; बाँध लेना, देखूँ तो कहाँ का बन्दर है? ॥१॥

चला इन्द्रजित अतुलित जोधा । बन्धु निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥
कपि देखा दारुन भट आवा । कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥२॥

इन्द्रजीत को भाई का नाश सुन कर क्रोध उत्पन्न हुआ, वह बे-शुमार वीरों को साथ ले कर चला। हनूमानजी ने देखा कि इस बार विकट योद्धा आया है, वे कटकटा कर गर्जे और दौड़े ॥२॥

अति बिसाल तरु एक उपारा । बिरथ कीन्ह लङ्केसकुमारा ॥
रहे महाभट ताके सङ्गा । गहि गहि कपि मर्दइ निज अङ्गा ॥३॥

एक बहुत बड़ा वृक्ष उखाड़ लिया, और उसे चला कर लंकेशकुमार-मेघनाद को बिना रथ के कर दिया। उसके साथ में बड़े बड़े योद्धा थे, उन्हें पकड़ पकड़ कर हनूमानजी अपने शरीर में मल देते हैं ॥३॥

तिन्हहिँ निपाति ताहि सन बाजा । भिरे जुगल मानहुँ गजराजा ॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई । ताहि एक छन मुरछा आई ॥४॥

उन राक्षस भटों का नाश कर मेघनाद से भिड़ गये, ऐसा मालूम होता है मानों दो मतवाले हाथी लड़ते हों। घूँसा मार कर पेड़ पर जा चढ़े, उसको एक क्षण भर मूर्छा आ गई ॥४॥

उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया । जीति न जाइ प्रभञ्जन-जाया ॥५॥

फिर उठ कर उसने बहुत सी माया की, परन्तु पवनकुमार जीते नहीं जाते हैं ॥५॥

दो०—ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार ।
जौँ न ब्रह्म-सर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥१९॥

उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, तब हनूमानजी ने मन में सोचा कि यदि ब्रह्म-बाण को नहीं मानता हूँ तो इसकी अपार महिमा नष्ट हो जायगी ॥१६॥

चौ०—ब्रह्मबान कपि कहँ तेहि मारा । परतिहु बार कटक सङ्घारा ॥
तेहि देखा कपि मुर्छित भयऊ । नागपास बाँधेसि लेइ गयऊ ॥१॥

उसने हनूमानजी को ब्रह्मबाण मारा, उन्होंने धरती पर गिरते हुए भी राक्षसी दल का नाश किया। मेघनाद ने देखा कि बन्दर मूर्छित हो गया, तब नागपाश से बाँध कर राजसभा में ले गया ॥१॥

हनूमानजी के बन्धन से पार्वतीजी को आश्चर्य हुआ। उन्हों ने शङ्करजी से पूछा कि—स्वामिन्! हनूमान मेघनाद के बँधुये हो गये? वे तो त्रिलोकी के अस्त्र शस्त्र से मुक्त हैं, फिर मेघनाद ने कैसे बाँध लिया?

जासु नाम जपि सुनहु भवानी । भव-बन्धन काटहिँ नर ज्ञानी ॥
तासु दूत कि बन्ध तर आवा । प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा ॥२॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी! सुनो, जिनके नाम को जप कर ज्ञानी मनुष्य संसार

बन्धन को काटते हैं। उनका दूत क्या बन्धन के नीचे आ सकता है? (कदापि नहीं)। स्वामी के कार्य्य के लिये हनूमान ने स्वयम् अपने को बँधुआ बनाया ॥२॥

कपि-बन्धन सुनि निसिचर धाये। कौतुक लागि सभा सब आये ॥
दसमुख-सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥३॥

बन्दर का बाँधा जाना सुन कर राक्षस दौड़े और तमाशा देखने के लिये सब दरबार में आये। हनूमानजी ने जा कर रावण की कचहरी देखी, उस की बहुत बड़ी महिमा कही नहीं जाती है ॥३॥

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥
देखि प्रताप न कपि मन सङ्का। जिमि अहि-गन महँ गरुड़ असङ्का ॥४॥

देवता और दिगपाल सब नम्रता से भयभीत हाथ जोड़े हुए भौंह का रुख देखते हैं। यह प्रताप देख कर भी हनूमानजी के मन में शङ्का नहीं हुई, वे ऐसे निर्भय हैं जैसे साँपों के झुण्ड में गरुड़ निर्भय रहते हैं ॥४॥

दो०—कपिहि बिलोकि दसानन, बिहँसा कहि दुर्बाद ।
सुत-बध-सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय बिषाद ॥२०॥

हनूमानजी को देख दुर्वचन कह कर रावण हँसा, फिर पुत्र के मारे जाने की याद करके उस के मन में विषाद उत्पन्न हुआ ॥२०॥

वानर को बँधुआ हुआ देख कर प्रसन्नता और पुत्र बध के स्मरण से दुःख, दोनों भावों का एक साथ हृदय में उत्पन्न होना प्रथम समुच्चय अलंकार है।

चौ०—कह लङ्केस कवन तैं कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥
कीधौं स्रवन सुने नहिं मोही। देखउँ अति असङ्क सठ तोही ॥१॥

रावण ने कहा—अरे बन्दर! तू कौन है? किस के बल से मेरे बगीचे को नष्टभ्रष्ट कर डाला? अथवा तू ने मुझे कान से सुना नहीं? अरे दुष्ट! तुझको मैं बड़ा निडर देखता हूँ ॥१॥

मारे निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा ॥
सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥२॥

तू ने राक्षसों को किस अपराध से मारा? अरे मूर्ख! कह तो सही, क्या तुझे अपने प्राणों की पीड़ा नहीं है? यह सुन कर हनूमानजी बोले—हे रावण! सुन, जिनका बल पाकर माया अनेक ब्रह्माण्डों की रचना करती है ॥२॥

रावण ने हनूमानजी से पाँच प्रश्न किया। (१) तू कौन है? (२) किसके बल से बगीचा नसाया? (३) मुझे कान से नहीं सुना तुझे मैं बड़ा निडर देखता हूँ। (४) राक्षसों को किस अपराध से मारा? (५) क्या तुझे अपने प्राणों का भय नहीं है? इसका उत्तर हनू-

मानजी ने इस तरह दिया है। कि दूसरे प्रश्न को प्रथम और पहले को दूसरे में परिवर्त्तित कर के शेष का उत्तर यथाक्रम कह चले हैं गूढ़ोत्तर और भंगक्रम यथासंख्य का संकर है।

जाके बल बिरञ्चि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥३॥

हे दशानन ! जिन के बल से ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टि को उत्पन्न करते, पालते और संहार करते हैं। जिन के बल से शेषनाग पर्वत और वन के सहित धरती को मस्तक पर रखते हैं॥३॥

धरइ जो बिबिध देह सुर-त्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता॥
हर-कोदंड कठिन जेहि भञ्जा। तेहि समेत नृप-दल मद गञ्जा॥४॥

जो देवताओं के रक्षार्थ तरह तरह के शरीर धारण करते हैं और तुम सरीखे दुष्टों को शिक्षा (दंड) देनेवाले हैं। जिन्होंने कठोर शिव-धनुष को तोड़ डाला और तुम्हारे सहित राजाओं के समूह का अभिमान चूर चूर कर दिया॥४॥

खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल-साली॥५॥

जिन्हों ने अप्रमाण बलशाली खर, दूषण, त्रिशिरा और बाली आदि सब का वध किया है॥५॥

दो०--जाके बल लवलेस तेँ, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैँ जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि॥२१॥

जिनके लवलेशमात्र बल से तुम ने सम्पूर्ण चराचर को जीत लिया है। मैं उन्हीं का दूत हूँ, जिनकी प्यारी स्त्री को तू हर ले आया है॥२१॥

हनूमानजी ने सीधे शब्दों में यह नहीं कहा कि मैं रामचन्द्रजी का दूत हूँ। इस बात को रचना के साथ घुमा कर स्वामी के महत्व और करनी को जता कर परिचय देना 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है। ऊपर की तीसरी चौपाई से लेकर इस दोहे पर्यन्त यही अलंकार है। तू कौन है? और किस के बल से बाग नसाया? रावण के इन दोनों प्रश्नों का उत्तर हो चुका।

चौ०--जानउँ मैँ तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥
समर बालि सन करि जस पावा। सुनि कपि बचन बिहँसि बहरावा॥१॥

मैं तुम्हारी प्रभुता को जानता हूँ तुम से सहस्रार्जुन से लड़ाई हुई थी। बाली से युद्ध करके तुम ने कीर्ति पाई है। हनूमानजी की बात सुन कर रावण ने उसे हँसी में बहला दिया॥१॥

हनूमानजी के कथन में प्रत्यक्ष तो प्रशंसा प्रकट हो रही है, परन्तु विचारने से निन्दा सूचित होती है; क्योंकि वह सहस्रार्जुन और बाली से युद्ध में हार गया था। यह 'व्याजनिन्दा

२८

अलंकार' है। यश पाने के स्थान में काकु से विपरीत अर्थ 'अयश पाना' भासित होना 'वक्रोक्ति अलंकार' है। यह तीसरे प्रश्न का उत्तर है।

खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा॥
सब के देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहिं कुमारग-गामी॥२॥

हे राजन! मुझे भूख लगी थी इस से फल खाया और बन्दर का सभाव चञ्चल होता है इससे वृक्षों को तोड़ा। राजन्! सब को अपना शरीर प्यारा है, ये कुचाली राक्षस मुझे मारने लगे॥२॥

जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥३॥

जिन्होंने मुझे मारा मैं ने भी उनको मारा, तिस पर तुम्हारे पुत्र (मेघनाद) ने मुझे बाँध लया। मुझे वन्धन की कुछ लज्जा नहीं है, मैं अपने स्वामी का कार्य्य करना चाहता हूँ॥३॥

राक्षसों को किस अपराध से मारा और तुझे अपने प्राणों का डर नहीं है? इस चौथे और पाँचवे प्रश्न का उत्तर यहाँ तक पूरा हो गया। अब प्रार्थना-पूर्वक शुभ उपदेश देते हैं।

बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥
देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत भयहारी॥४॥

हे रावण! मैं हाथ जोड़ कर विनती करता हूँ, अभिमान छोड़ कर मेरा सिखावन सुनो। अपने कुल को विचार कर देखो, (तुम विश्रवामुनि के पुत्र और पुलस्त्यऋषि के नाती हो) भ्रम त्याग कर भक्त-भयहारी रामचन्द्रजी का भजन करो॥४॥

जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासोँ बैर कबहुँ नहिँ कीजे। मोरे कहे जानकी दीजे॥५॥

जिनके डर से महाकाल भी डरता है जो देवता, दैत्य और जड़-चेतन को खा जाता है। उनसे कभी वैर न कीजिये, मेरे कहने से जानकीजी को उन्हें दे दीजिये॥५॥

दो०–प्रनतपाल रघुनायक, करुनासिन्धु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहहिँ, तव अपराध बिसारि॥२२॥

रघुकुल के स्वामी, शरणागतों के रक्षक, दया के समुद्र, खर के वैरी, प्रभु रामचन्द्रजी शरण जाने पर तुम्हारे अपराधों को भुला कर रक्षा करेंगे॥२२॥

चौ०–राम चरन-पङ्कज उर धरहू। लङ्का अचल राज तुम्ह करहू॥
रिषि पुलस्ति जस बिमल मयङ्का। तेहि ससि महँ जनि होहु कलङ्का॥१॥

रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को हृदय में रख कर तुम लङ्का में अचल राज्य करो। पुलस्त्य ऋषि का यश निर्मल चन्द्रमा रूप है, उस चन्द्रमा में कलङ्क मत हो॥१॥

राम नाम बिनु गिरा न सोहा । देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥
बसन हीन नहिँ सोह सुरारी । सब भूषन भूषित बर नारी ॥२॥

राम-नाम के विना वाणी नहीं सोहती, गर्व और अज्ञान को छोड़ विचार कर देखो । हे सुरारि ! सब गहनों से सजी हुई सुन्दर स्त्री बिना वस्त्र के नहीं शोभित होती ॥ २ ॥

रामनाम के विना वाणी की शोभा नहीं, यह उपमेय वाक्य है । सब गहनों से सजी सुन्दर स्त्री बिना कपड़े के नहीं सोहती, यह उपमान वाक्य है । शोभित न होना, दोनों वाक्यों का एक धर्म है, जो 'न सोहा और नहिँ सोह' समानार्थवाची शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है । यह 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार है' ।

राम बिमुख सम्पति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई ॥
सजल-मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं । बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं ॥३॥

रामचन्द्रजी के प्रतिकूल होने से सम्पत्ति और प्रभुता जो तू ने पाई है उसको बिना पाई समझ, वह जाती रही । जिन नदियों की जड़ सजल नहीं है अर्थात् किसी बड़े जलाशय से नहीं निकली हैं, वे पानी बरस जाने पर फिर तुरन्त ही सूख जाती हैं ॥ ३ ॥

इस चैापाई का पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य है । दोनों वाक्यों में विना वाचक-पद के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकता है अर्थात् जैसे जलाशय हीन नदियाँ वर्षा के बाद सुख जाती हैं, तैसे राम-विमुखी की सम्पत्ति अल्पकाल में ही नष्ट हो जाती है । यह 'दृष्टान्त अलंकार' है । गुटका में 'सरितमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं' पाठ है । पर अर्थ दोनों का एक ही है । इस चैापाई का लोग कई प्रकार से अर्थ करते हैं । जैसे—'(१) जो सम्पत्ति और प्रभुता मिली है और जो भविष्य में मिलनेवाली है, वह दोनों जाती रही । (२) पाई' पाँव वाले हाथी, घोड़े, सेना आदि और बिनुपाई—स्थावर सम्पत्ति महल, बगीचे, भूमि आदि सब जाती रहेगीं । (३) सम्पत्ति और प्रभुता दोनों जा रही है और 'बिनु पाई' जो अब तक तुझे विपत्ति नहीं मिली है, वह प्राप्त होगी इत्यादि ।

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी । बिमुख राम त्राता नहिँ कोपी ॥
सङ्कर सहस बिष्नु अज तोही । सकहिँ न राखि राम कर द्रोही ॥४॥

हे दशानन ! सुन, मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि राम-विमुखी की रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है । रामचन्द्रजी का द्रोही होने से तुझे हजारों शङ्कर, विष्णु और ब्रह्मा नहीं बचा सकते ॥४॥

दो०—मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान ।
भजहु राम रघुनायक, कृपासिन्धु भगवान ॥२३॥

अज्ञान की जड़, बहुत तरह के दुःखों के देनेवाला, अन्धकार रूप अभिमान को त्याग कर तुम रघुकुल के स्वामी, दयासागर भगवान् रामचन्द्रजी का भजन करो ॥२३॥

चौ०-जदपि कही कपि अति हित बानी । भगति-बिबेक-बिरति-नय-सानी ॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी । मिला हमहिँ कपि गुरु बड़ ज्ञानी ॥१॥

यद्यपि हनूमानजी ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और नीति से भरी हुई अत्यन्त हित की बात कही, तो भी महा अहङ्कारी रावण (तिरस्कार सूचित करते हुए) हँस कर बोला कि हमें यह बन्दर बड़ा ज्ञानी गुरु मिला है ॥१॥

मृत्यु निकट आई खल तोही । लागेसि अधम सिखावन मोही ॥
उलटा होइहि कह हनुमाना । मति-भ्रम तोहि प्रगट मैं जाना ॥२॥

अरे दुष्ट, अधम बन्दर ! तू मुझे सिखाने लगा है, तेरी मृत्यु समीप आ गई है । हनूमानजी ने कहा—इसका उलटा होगा, क्योंकि तुझे बुद्धि-भ्रम हुआ है इससे मैंने प्रत्यक्ष जान लिया ॥२॥

जिसका काल समीप आता है, उसकी बुद्धि मारी जाती है । मेरी नहीं तेरी मौत समीप आ गई है, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है ।

सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना । बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥
सुनत निसाचर मारन धाये । सचिवन्ह सहित बिभीषन आये ॥३॥

हनूमानजी के वचनों को सुन कर रावण बहुत क्रोधित हुआ और कहा कि इस मूर्ख बन्दर का प्राण शीघ्र ही क्यों नहीं हर लेते ? अर्थात् तुरन्त मार डालो । सुनते ही राक्षस मारने दौड़े, उसी समय मन्त्रियों सहित विभीषण आ गये ॥३॥

नाइ सीस करि बिनय बहूता । नीति बिरोध न मारिय दूता ॥
आन दंड कछु करिय गोसाँई । सबही कहा मन्त्र भल भाई ॥४॥

उन्होंने प्रणाम करके बहुत प्रार्थना की कि दूत को न मारिये, यह नीति से विरुद्ध है । हे स्वामिन् ! कुछ दूसरा ही दण्ड दीजिये, सभी ने कहा—भाई ! यह सलाह अच्छी है ॥४॥

सुनत बिहँसि बोला दसकन्धर । अङ्गभङ्ग करि पठवहु बन्दर ॥५॥

सुनते ही रावण हँस कर बोला कि बन्दर का कोई अङ्ग नष्ट करके भेजना चाहिये ॥५॥

दो०-कपि कै ममता पूँछि पर, सबहि कहेउ समुझाइ ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि, पावक देहु लगाइ ॥२४॥

रावण ने सब को समझा कर कहा कि बन्दर की पूँछ पर बड़ी प्रीति है । उस में वस्त्र लपेट कर फिर तेल में डुबो कर आग लगा दो ॥२४॥

चौ०-पूँछ हीन बानर तहँ जाइहि । तब सठ निज नाथहि लेइ आइहि ॥
जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई । देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई ॥१॥

जब बिना पूछ का (बाँड़ा) होकर बन्दर वहाँ जायगा, तब यह दुष्ट अपने मालिक को ले आवेगा । जिनकी इसने बहुत बड़ाई की है, मैं उनकी प्रभुता देखूँगा ॥१॥

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना । भइ सहाइ सारद मैं जाना ॥
जातुधान सुनि रावन बचना । लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना ॥२॥

वचन सुनते ही हनूमानजी मन में मुस्कुराये और विचारने लगे कि मैं समझता हूँ सरस्वती सहायक हुई (तभी रावण ने ऐसी आज्ञा दी है)। रावण की आज्ञा को सुन कर मूर्ख राक्षस वही रचना रचने लगे ॥२॥

पूँछ में आग लगना स्वीकार योग्य नहीं है, परन्तु आगे कार्य्य की सुगमता विचार उसे अंगीकार योग्य मानना 'अनुज्ञा 'अलंकार' है। यहाँ 'मूर्ख' में शाब्दी व्यङ्ग है कि वे मूढ़ यह नहीं जानते हैं कि इसी रचना से हम लोगों का सर्वनाश होगा।

रहा न नगर बसन घृत तेला । बाढ़ी पूँछि कीन्ह कपि खेला ॥
कौतुक कहँ आये पुर-बासी । मारहिँ चरन करहिँ बहु हाँसी ॥३॥

हनूमानजी ने खेल किया, उनकी पूँछ इतनी बढ़ी कि नगर भर में वस्त्र, घी और तेल नहीं रह गया। तमाशा देखने के लिये नगर-निवासी आये, वे हनूमानजी को लात मार कर बहुत हँसी करते हैं ॥३॥

लोग शङ्का करते हैं कि क्या इतनी विशाल लङ्कानगरी में वस्त्र, घी तेल नहीं रह गया? उत्तर—जब हनूमानजी ने ऐसा खेल ही किया, तब वस्त्रादि का घट जाना कौन से आश्चर्य्य की बात है। यहाँ कवि का उद्देश्य पवनकुमार की महिमा प्रदर्शित करने का है। कोई कोई इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अर्थ ही घुमा कर करते हैं कि "हनूमानजी ने वस्त्र घी तेल के लिये पूँछ बढ़ा कर जो खेल किया, उससे लङ्का-नगर ही नहीं रह गया"। पर यह अर्थ यथार्थ नहीं है।

बाजहिँ ढोल देहिँ सब तारी । नगर फेरि पुनि पूँछि प्रजारी ॥
पावक जरत देखि हनुमन्ता । भयउ परम लघुरूप तुरन्ता ॥४॥

ढोल बज रहे हैं और सब हाथ की ताली पीटते हैं, इस तरह नगर में घुमा कर फिर पूँछ को जला दिया। अग्नि को जलती देख कर हनूमानजी ने तुरन्त अत्यन्त छोटा रूप बना लिया ॥४॥

नगर में फिराने का तात्पर्य्य यह है कि जिन घरों के राक्षस भट मारे गये हैं, उनके कुटुम्बी बन्दर की दुर्दशा देख कर छाती ठण्डी करेंगे।

निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी । भईं सभीत निसाचर-नारी ॥५॥

(छोटा रूप होने से बन्धन ढीला पड़ गया, इससे बन्धन से) निकल कर हनूमानजी सुवर्ण की अटारियों पर चढ़ गये, उन्हें देख कर राक्षसों की स्त्रियाँ भयभीत हुईं ॥५॥

दो०—हरि-प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास ।
अट्टहास करि गर्जा, कपि बढ़ि लाग अकास ॥२५॥

भगवान् की प्रेरणा से उस समय उनचासों पवन चले, यह सुयोग देख हनूमानजी खिलखिला कर हँसे और गर्जन करके बढ़ कर आकाश में लग गये ॥२५॥

हनूमानजी लङ्का को जलाना ही चाहते थे; परन्तु मन में सन्देह हुआ कि कहीं मेरा यह कार्य्य स्वामी की इच्छा के विरुद्ध न हो। इतने ही में अकस्मात् उनचासों पवन के चलने से कार्य्य में सुगमता का होना, जिससे हरि आज्ञा का अनुमान हुआ 'समाधि अलंकार' है।

चौ०-देह बिसाल परम हरुआई। मन्दिर तेँ मन्दिर चढ़ धाई ॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट लपट बहु कोटि कराला ॥१॥

शरीर तो बहुत बड़ा है पर अत्यन्त हलका है, एक मकान से दूसरे घर पर चढ़ जाते हैं (उनकी छतें भार से टूटती नहीं)। नगर जलने लगा; लोग बेचैन हो गये, बड़ी विकराल समूह लपटों की झपट बढ़ रही हैं ॥१॥

तात मात हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिँ उबारा ॥
हम जो कहा यह कपि नहिँ होई। बानर रूप धरे सुर कोई ॥२॥

हाय बाप और हाय मा की चिल्लाहट सुनाई पड़ती है, लोग कहते हैं—इस समय हमें कौन बचावेगा? हमने जो कहा था कि यह बन्दर नहीं है, कोई देवता वानर का रूप धरे है (ठीक वही हुआ) ॥२॥

सत्य वानरत्व को असत्य ठहरा कर, असत्य उपमान देवता को बन्दर ठहराना 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है।

साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरइ नगर अनाथ कर जैसा ॥
जारा नगर निमिष एक माहीँ। एक बिभीषन कर गृह नाहीँ ॥३॥

सज्जनों के अनादर का फल ऐसा ही होता है कि लङ्का अनाथ की नगरी जैसी जल रही है। हनूमानजी ने एक पल भर में नगर जला दिया; किन्तु एक विभीषण का घर नहीं जलाया (उसको बचा दिया) ॥३॥

साधु के तिरस्कार का ऐसा ही फल मिलता है, इस साधारण बात का समर्थन यह कह कर करना कि तभी लङ्का जैसी दुर्गम नगरी अनाथ के गाँव की तरह जलती है 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। यहाँ पार्वतीजी ने प्रश्न किया कि—स्वामिन्! हनूमान की पूँछ में आग लगाई गई और जलती हुई अग्नि में दौड़ धूप करते रहे; पर वे नहीं जले, इसका क्या कारण है?

ता कर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो तेहि कारन गिरजा ॥
उलटि पलटि लङ्का सब जारी। कूदि परा पुनि सिन्धु मँझारी ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! हनूमान उनका दूत है जिन्हों ने अग्नि को उत्पन्न किया है, इसी कारण वह नहीं जला। घूम फिर कर (चारों ओर से) सारी लङ्का जलाई; फिर समुद्र में कूद पड़ा ॥४॥

हनूमानजी के न जलने के कारण को शिवजी ने हेतुसूचक बात कह कर पुष्ट किया 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। कुछ टीकाकारों ने 'दूत' के स्थान में 'भक्त' पाठबदल कर

बदल कर इस प्रकार अर्थ किया है कि "विभीषण उनका भक्त है जिन्हों ने अग्नि को पैदा किया है, इसी से उसका घर नहीं जला"। ऊपर तीसरी चौपाई में कहा गया है कि हनूमान जी ने पल भर में सारी लंका जलाई, पर एक विभीषण का घर नहीं जलाया, उसको बचा दिया। जब जलानेवाले ने स्वयम् विभीषण का घर नहीं जलाया, जान बूझ कर उसे बचाया तब पार्वतीजी को इस में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। हनूमानजी के साथ में विभीषण ने जो उपकार किया था उसको पार्वतीजी सुन चुकी हैं, प्रत्युपकार करना हनूमानजी का धर्म है। अतः यहाँ शङ्का करने की कोई बात नहीं है। अध्यात्म रामायण में शिवजी ने कहा है कि..."यन्नामसंस्मरणधूत समस्तपापा स्तापत्रयानलमपीह तरन्तिसद्यः। तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः संतप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन ॥ अर्थात् जिनका नाम स्मरण करनेसे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और प्राणी तीनों तापोंसे तुरन्त पार पा जाते हैं। उन्हीं रामचन्द्रजी का हनूमान प्यारा दूत है, फिर वह साधारण अग्नि में कैसे जल सकता है? वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ५४ में २८ वें श्लोक से लेकर ३३ वें श्लोक पर्यन्त पूँछ में अग्नि प्रज्वलित होने पर हनूमानजी ने स्वयम् तर्क वितर्क किया है कि अग्नि इतने वेग से जलती है किन्तु वह मुझे नहीं जलाती है इसका क्या कारण है? यद्यपि भयङ्कर ज्वाला देख पड़ती है तो भी पूँछ में ठण्डक प्रतीत होती है। जब रामचन्द्रजी की कृपा से आती बेर समुद्र में मैनाक पर्वत विश्राम देने को सामने आया, तब क्या अग्निदेव कुछ भी अनुग्रह न करेंगे। अग्नि मेरे पिता के मित्र हैं, रामचन्द्रजी के प्रताप और सीताजी के अनिन्दित्व के प्रभाव से वे मुझे नहीं जलाते हैं। इस आवश्यक प्रश्न को भला गोस्वामीजी कब छोड़नेवाले थे, उन्हों ने एक ही चौपाई में कह दिया। पं० ज्वालाप्रसाद की टीका के भक्त एक रामायणी ने विभीषण के घर के सम्बन्ध में बड़ा जोर दिया। इस कारण यहाँ इतने विस्तार की आवश्यकता हुई। इसका निर्णय कथा प्रेमी पाठकों के विचार पर निर्भर है। 'उलटि-पलटि' शब्दों के शब्दार्थ को छोड़ कर लोग शनि आदि की बाहरी कथा घुसेड़ कर पाण्डित्य प्रदर्शित करते हैं। उलटना पीछे मुड़ना और पलटना-लौटना का बोधक है। इसका मुख्यार्थ हुआ 'घूम फिर कर'।

दो०-पूँछि बुझाइ खोइ स्रम, धरि लघुरूप बहोरि।
जनक-सुता के आगे, ठाढ़ भयउ कर जोरि ॥२६॥

पूँछ बुझा कर और थकावट मिटा कर फिर छोटा रूप धारण कर के जानकीजी के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हुये ॥२६॥

चौ०-मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ। हरष समेत पवन-सुत लयऊ ॥१॥

हे माताजी! मुझे कुछ पहचान, की चीज़ दीजिये जैसे रघुनाथजी ने दिया था। तब जानकीजी ने चूड़ामणि उतार कर दे दी और हनूमानजी ने प्रसन्नता के साथ उसको ले ली ॥१॥

३४

कहेउ तात अस मोर प्रनामा । सब प्रकार प्रभु पूरनकामा ॥
दीनदयाल बिरद सम्भारी । हरहु नाथ मम सङ्कट भारी ॥ २ ॥

सीताजी ने कहा—हे तात! स्वामी से मेरा प्रणाम निवेदन कर ऐसा कहना कि आप सब तरह पूर्णकाम (इच्छा रहित) हैं। परन्तु हे नाथ! अपनी दीनदयालुता की नामवरी स्मरण कर मेरे बड़े सङ्कट को दूर कीजिये ॥ २ ॥

तात सक्र-सुत कथा सुनायेहु । बान प्रताप प्रभुहि समुझायेहु ॥
मास दिवस महँ नाथ न आवा । तौ पुनि मोहि जियत नहिँ पावा ॥३॥

हे तात! इन्द्र के पुत्र (जयन्त) का वृत्तान्त सुना कर स्वामी को बाण का प्रताप समझाना और कहना कि—हे नाथ! यदि आप महीने दिन में न आवेंगे तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे ॥ ३ ॥

जयन्त की कथा सुनाने का तात्पर्य्य यह कि उसको रामचन्द्रजी और जानकीजी के सिवाय तीसरा कोई नहीं जानता था। बाण प्रताप-समझाने में ध्वनि है कि चरण में चोंच मारने पर ऐसा बाण मारा कि वह तीनों लोकों में भागता फिरा, पर कहीं उसकी रक्षा न हुई। रावण मुझे प्रत्यक्ष हर ला कर नाना तरह का कष्ट देता है, इसकी ओर इतनी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? ॥

कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना । तुम्हहूँ तात कहत अब जाना ॥
तोहि देखि सीतल भइ छाती । पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥४॥

कहो हनूमान! मैं किस तरह प्राण रक्खूँगी, हे पुत्र! अब तुम भी जाने को कहते हो। तुझे देखकर छाती ठण्डी हुई, फिर मुझको वही दिन और वही रात होगी ॥४॥

वही रात और वही दिन कहने में व्याकुलता व्यञ्जित होती है, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर होने से 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है।

दो०—जनक-सुतहि समुझाइ करि, बहु बिधि धीरज दीन्ह ।
चरन-कमल सिर नाइ कपि, गवन राम पहिँ कीन्ह ॥२७॥

जानकीजी को बहुत तरह से समझा कर धीरज दिया। फिर हनुमानजी उनके चरण-कमलों में प्रणाम करके रामचन्द्रजी के पास चले ॥२७॥

चौ०—चलत महाधुनि गर्जेसि भारी । गर्भ स्रवहिँ सुनि निसिचर-नारी ॥
नाँघि सिन्धु एहि पारहि आवा । सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥१॥

चलते समय महाध्वनि से भारी गर्जना की, उसे सुन कर राक्षसियों के गर्भ गिर गये। समुद्र लाँघ कर इस पार आये और वानरों को किलकारी का शब्द (हर्षसूचक ध्वनि) सुनाये ॥१॥

हनूमानजी के भीषण गर्जन रूपी दोष से राक्षसियों को गर्भपात का विकार हो जाना "द्वितीय उल्लास अलंकार" है।

हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा॥२॥

हनूमानजी को देख कर सब प्रसन्न हुए; तब वानरों ने अपना नया जन्म समझा। देखा कि पवनकुमार का मुख प्रसन्न है और शरीर में तेज विराजमान है, इस से जान लिया कि रामचन्द्रजी का कार्य्य इन्होंने किया॥२॥

मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जनु बारी॥
चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥३॥

सब बन्दर हनूमानजी से मिल कर अत्यन्त सुखी हुए, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बिना पानी के तड़पती हुई मछली जल पा गई हो। प्रसन्न होकर रघुनाथजी के पास चले, लंका का नवीन समाचार बन्दर पूछते हैं और हनूमानजी कहते जाते हैं॥३॥

तब मधुबन भीतर सब आये। अङ्गद सम्मत मधु-फल खाये॥
रखवारे जब बरजइ लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे॥४॥

तब सब मधुवन (सुग्रीव के बाग) के भीतर आये और अङ्गद की सलाह से मीठे फल खाये। जब रक्षक मना करने लगे, तब उन्हें घूसा से मारा वे सब भागे॥४॥

सभा की प्रति में, बरजइ के स्थान में बरजन' पाठ है।

दो०—जाइ पुकारे ते सब, बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु काज॥२८॥

वे सब जा कर सुग्रीव से पुकार किये कि युवराज ने बन को उजाड़ डाला। सुन कर सुग्रीव प्रसन्न हुए, उन्हों ने जान लिया कि बन्दर स्वामी का कार्य्य करके आये हैं॥२८

बग़ीचा उजाड़ने के लक्षण से सुग्रीव को यह निश्चय होना कि बन्दर स्वामी का कार्य्य कर आये 'अनुमानप्रमाण अलंकार' है॥

चौ०—जौं न होतिसीतासुधि पाई। मधुबन के फल सकहिँ कि खाई॥
एहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गये कपि सहित समाजा॥१॥

यदि सीताजी की ख़बर न मिली होती तो क्या (बन्दर) मधुबन के फल खा सकते थे? (कदापि नहीं)। इस तरह वानरराज विचार कर ही रहे थे कि समाज के सहित अङ्गदजी आ गये॥१॥

आइ सबहिँ नावा पद सीसा। मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥
पूछी कुसल कुसल पद देखी। राम कृपा भो काज बिसेखी॥२॥

सबने आ कर चरणों में मस्तक नवाया, कपिराज सभी से अत्यन्त प्रीति के साथ मिले।

३६

उनकी कुशल पूछी, अङ्गदजी ने कहा—राजन्! आपके चरणों को देख कर सब कुशल है, रामचन्द्रजी की कृपा से बहुत बढ़कर कार्य्य हुआ ॥२॥

कुशल शब्द दोबार आया, पर अर्थ भिन्न होने से 'यमक अलंकार' है। 'विशेष' शब्द में ध्वनि है कि सीताजी की ख़बर मिलने के अतिरिक्त शत्रु के असंख्यों प्रमुख योद्धा मारे गये, उसकी राजधानी भस्मीभूत हुई और उसे पुत्रशोक का भीषण दुःख भोगना पड़ा। सभा की प्रति में 'मिले सबहि अति प्रेम कपीला' पाठ है।

नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्ह सहित रघुपति पहँ चलेऊ॥३॥

हे नाथ हनूमानजी ने कार्य्य किया और सम्पूर्ण बन्दरों के प्राण बचाये। यह सुन कर सुग्रीव फिर हनूमानजी से मिले और वानरों के सहित रघुनाथजी के पास चले ॥३॥

राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरष बिसेखा॥
फटिकसिला बैठे दोउ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥४॥

जब रामचन्द्रजी ने वानरों को आते देखा, तब वे समझ गये कि बन्दरों के मन में बड़ी प्रसन्नता है, उन्हों ने कार्य्य किया। दोनों भाई स्फटिक की चट्टान पर बैठे हैं, सब वानर जा कर चरणों में गिरे ॥४॥

दो०-प्रीति सहित सब भेंटे, रघुपति करुना पुञ्ज।
पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद-कञ्ज ॥२९॥

दया की राशि रघुनाथजी प्रीति के साथ सब से मिले और उनकी कुशल पूछी। सुग्रीव ने कहा—हे नाथ! अब आप के चरण-कमलों को देख कर कुशल है ॥२९॥

चौ०-जामवन्त कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरन्तर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥१॥

जाम्बवान ने कहा—हे स्वामिन् रघुनाथजी! सुनिये, जिस पर आप दया करते हैं उसका सदा कल्याण और निरन्तर कुशल है। देवता, मनुष्य और मुनि उस पर सब प्रसन्न होते हैं ॥१॥

सोइ बिजई बिनई गुन-सागर। तासु सुजस त्रय लोक उजागर॥
प्रभु की कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सुफल भा आजू॥२॥

वही विजेता, नम्र, नीतिमान और गुणों का समुद्र है, उसी का सुन्दर यश तीनों लोकों में विख्यात है (जिस पर आपकी दया है)। स्वामी की कृपा से सब कार्य्य हुआ, हमारा जन्म आज सफल हो गया ॥२॥

नाथ पवन-सुत कीन्हि जो करनी । सहसहु मुख न जाइ सो बरनी ॥
पवन-तनय के चरित सुहाये । जामवन्त रघुपतिहि सुनाये ॥३॥

हे नाथ ! पवनकुमार ने जो करनी की है, वह हज़ारों मुख से भी नहीं कही जा सकती। वायुनन्दन के सुहावने चरित्र को जाम्बवान् ने रघुनाथजी से कह सुनाये ॥३॥

सुनत कृपानिधि मन अति भाये । पुनि हनुमान हरषि हिय लाये ॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी । रहति करति रच्छा स्व प्रान की ॥४॥

सुन कर कृपानिधान रामचन्द्रजी के मन में हनूमानजी बहुत प्रिय लगे, प्रसन्न होकर फिर से उन्हें हृदय से लगा लिये। पूछने लगे कि—हे तात ! कहो, जानकी किस तरह वहाँ रहती हैं और अपने प्राणों की रक्षा करती हैं ॥४॥

दो०—नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जन्त्रित, जाहिँ प्रान केहि बाट ॥३०॥

(हनूमानजी ने कहा—स्वामिन् ! जानकीजी की प्राणरक्षा के लिये आप का) नाम दिन रात पहरेदार है और आप के रूप का ध्यान किवाड़ है। अपने पाँवों की ओर नेत्रों का लगना ताला रूप है, ऐसी दशा में प्राण किस रास्ते से जा सकते हैं ॥३०॥

जानकीजी के शरीर से प्राण न निकल सकने का समर्थन हनूमानजी ने कैसी हेतुपूर्ण मनोहर उक्तियों से किया, यह 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। नाम पर पाहरू का, ध्यान पर किवाड़ का और नेत्रों पर ताले का आरोपण किया गया है। गुटका में 'नाम पाहरू राति दिन' पाठ है।

चौ०—चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही । रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही ॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी । बचन कहे कछु जनक-कुमारी ॥१॥

चलते समय मुझे चूड़ामणि दी है, उसको लेकर रघुनाथजी ने हृदय से लगा लिया। हनूमानजी ने कहा—हे नाथ ! दोनों आँखों में आँसू भर कर जनकनन्दिनी ने कुछ वचन कहे हैं ॥१॥

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना । दीनबन्धु प्रनतारति हरना ॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी । केहि अपराध नाथ हौँ त्यागी ॥२॥

छोटे भाई लक्ष्मण के सहित स्वामी के चरणों को पकड़ कर कहना कि—हे दीनबन्धु, शरणागतों के दुःख हरनेवाले, नाथ ! मैं मन, कर्म और वचन से चरणों की प्रेमिनी हूँ, किस अपराध से आप ने मुझे त्याग दिया ॥२॥

लोग शङ्का करते हैं कि लक्ष्मणजी को आशीर्वाद देना उचित था; किन्तु पाँव पड़ने को क्यों कहा ? उत्तर—सीताजी ने कहा—हे हनूमान् ! तुम लक्ष्मण समेत मेरी ओर से स्वामी के चरणों को पकड़ कर, क्षमा-प्रार्थना करना। लक्ष्मणजी के पाँव पकड़ने को नहीं कहा। यह इसलिये कहा कि लक्ष्मणजी के प्रति महारानी के हृदय में दृढ़ विश्वास है कि वे

३८

अवश्य ही मेरी ओर से क्षमा के लिये प्रार्थना करेंगे। अथवा यही मान लिया जाय कि लक्ष्मणजी के पाँव पकड़ने को कहा तो सीताजी परम आर्त्त हैं 'रहत न आरतके चित चेतू' के अनुसार जो कुछ कह दें अनुचित नहीं है। अथवा मारीच के चिल्लाने पर हमने लक्ष्मण का कहना नहीं माना उलटे उन्हें दुर्वचन कहा, मेरे उस अपराध को क्षमा करेंगे। इसलिये लक्ष्मणजी के चरणों को पकड़ने के लिये कहा।

अवगुन एक मोर मैं जाना । बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा । निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ॥३॥

मेरा एक ही अवगुण है उसको मैं जानती हूँ कि वियोग होते ही प्राणों ने पयान नहीं किया अर्थात् वे शरीर ही में बने हैं। हे नाथ! वह दोष नेत्रों का है, वे प्राण निकलने में हठ कर रुकावट करते हैं ॥३॥

शरीर से प्राणों के न निकलने के कारण को सीताजी ने कैसी मनोहर हेतु-सूचक युक्ति से पुष्ट किया कि इसके अपराधी नेत्र हैं, वे दर्शन के लोभ से प्राणों को शरीर से बाहर नहीं होने देते 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छन माँह सरीरा ॥
नयन स्रवहिँ जल निज हित लागी । जरइ न पाव देह बिरहागी ॥४॥

विरह रूपी अग्नि से शरीर रूपी रूई श्वास रूपी हवा से क्षणमात्र में शरीर जल जाता; परन्तु नेत्र अपने हित के लिये जल बहाते हैं, इसी से विरहाग्नि में शरीर जलने नहीं पाता है ॥४॥

सीता कै अति बिपति बिसाला । बिनहिँ कहे भलि दीनदयाला ॥५॥

हे दीनदयाल! सीताजी की बहुत बड़ी विपत्ति न कहने ही में अच्छी है ॥५॥

'दीनदयाल' शब्द में अगूढ़ व्यङ्ग है कि आप दीनों पर दया करनेवाले हैं और सीताजी अत्यन्त दीनावस्था में हैं। उनका दुःख सुन कर आप से न रहा जायगा, इस से न कहने ही में अच्छा है ॥

दो०—निमिष निमिष करुनानिधि, जाहिँ कलप सम बीति ।
बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुज बल खल दल जीति ॥३१॥

हे करुणानिधे! सीताजी को एक एक निमेष (आँख बन्द कर खोलने का समय) कल्प के समान बीत जाता है। स्वामिन्! शीघ्र चलिये और भुजाओं के बल से दुष्टों के दल को जीत कर सीताजी को ले आइये ॥ ३१ ॥

चौ०—सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आये जल राजिव-नयना ॥
बचन काय मन मम गति जाही । सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही ॥१॥

सीताजी के दुःख को सुन कर सुख के स्थान प्रभु रामचन्द्रजी के कमलनयनों में जल भर आये। उन्हों ने कहा—वचन, तन और मन से जिस को मेरी गति है, उसको क्या स्वप्न में

भी विपति समझनी चाहिये अथवा क्या उसे स्वप्न में विपति पूछ सकती है ? 'कदापि नहीं' ॥ १ ॥

सीताजी के दुःख को सुन कर सुख के स्थान स्वामी रामचन्द्रजी के नेत्रों में करुणा से प्रेमाश्रु उमड़ आये 'अश्रु सात्विक अनुभाव' है ।

कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई । जब तव सुमिरन भजन न होई ॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की । रिपुहि जीति आनिबी जानकी ॥२॥

हनूमानजी ने कहा—हे नाथ ! विपत्ति वही है जब आप का स्मरण और भजन न हो । स्वामिन् ! राक्षसों की कितनी बात है ? शत्रु को जीत कर जानकीजी को ले आइए ॥२॥

हनूमानजी के साहस-पूर्ण कथन में 'उत्साह स्थायीभाव' है ।

सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिँ कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥
प्रतिउपकार करउँ का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥३॥

हे हनूमान ! सुनो, तुम्हारे समान उपकार करनेवाला शरीरधारियों में देवता, मनुष्य और मुनि कोई नहीं है। मैं कौन सा तुम्हारा प्रत्युपकार (भलाई के बदले में भलाई) करूँ, इस से मेरा मन सामने नहीं हो सकता (तुम से लज्जित हो रहा है) ॥३॥

स्वामी की ओर से कृतज्ञता की इति है। इन वाक्यों में गूढ़ ध्वनि है कि प्रत्युपकार तो उसके साथ किया जाता है जिसके मन में कोई इच्छा वर्तमान हो, परन्तु तुम्हारे हृदय में किसी प्रकार के स्वार्थ का लेश भी नहीं है, तब मैं क्या कर सकता हूँ ।

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता । लोचन नीर पुलक अति गाता ॥४॥

हे पुत्र ! सुनो, मैं ने अपने मन में विचार कर देख लिया कि तुम से मैं उऋण (ऋण-मुक्त) नहीं हूँ। देवताओं के रक्षक रामचन्द्रजी बार बार हनूमानजी की ओर निहारते हैं, उनकी आँखों में आँसू भर आये और शरीर अत्यन्त पुलकित हो गया ॥४॥

स्वामी के मन में हनूमानजी के उपकार से जो सकोच उत्पन्न हुआ और उस से दब कर प्रेमाधीन हो नेत्रों में जल भर पुलकित शरीर से बारम्बार उनकी ओर देखना, कुछ बोल न सकना स्वरभङ्ग, अश्रु, रोमाञ्च आदि सात्विक अनुभावों का उदय है। विनय-पत्रिका के १०० वें पद में यही बात गोसाँईजी ने कही है। "कपि सेवा बस भये कनौड़े कहेउ पवनसुत आउ। देबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ ॥"

दो०-सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमन्त ।
चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवन्त ॥३२॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचनों को सुन कर और श्रीमुख देख कर हनूमानजी का शरीर आनन्द से भर गया। वे प्रेम में अधीर हो कर चरणों में गिर पड़े, कहने लगे कि—भगवन्त ! मेरी रक्षा कीजिये, मुझे बचाइये ॥३२॥

हनूमानजी के उपकार से स्वामी के मन में जो सकोच हुआ और उससे भूरि भूरि कृतज्ञता प्रकाश कर ऋणी बने, इससे हनुमाजी के हृदय मे व्रीड़ा, हर्ष, चपलता, आवेग-त्रास आदि सञ्चारीभावों का उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। व्रीड़ा—स्वामी प्रदत्त विशेष मान-मर्य्यादा से। हर्ष—स्वामी की प्रसन्नता से। चपलता—अत्यन्त प्रेम से। आवेग—मुझे मान न उत्पन्न हो, इस भय से। त्रास-चित्त की विह्वलता से। प्रेम में मग्न होकर स्वामी के पाँव पर पड़ना और त्राहि त्राहि पुकारना, इन दोनों अनुभावों से उपर्युक्त भावों की पुष्टि होती है।

चौ०—बार बार प्रभु चहहिँ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥
प्रभु कर पङ्कज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी बार बार उठाना चाहते हैं, किन्तु प्रेम में मग्न हनूमानजी को उठना नहीं सुहाता है। स्वामी का कर-कमल हनूमानजी के मस्तक पर है, उस दशा को स्मरण कर शिवजी प्रेम में मग्न हो गये॥१॥

सावधान मन करि पुनि सङ्कर। लागे कहन कथा अति सुन्दर॥
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥२॥

फिर शङ्करजी मन को सावधान करके अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे। प्रभु रामचन्द्रजी ने हनुमान को उठा कर हृदय से लगा लिया और हाथ पकड़ कर बहुत समीप में बैठाया॥२॥

कहु कपि रावन पालित लङ्का। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बङ्का॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥३॥

रामचन्द्रजी पूछने लगे—हे हनुमान! कहो, लङ्कापुरी रावण द्वारा रक्षित है और उसका किला बहुत ही टेढ़ा (दुर्गम) है, उसको तुमने किस तरह जलाया? स्वामी को प्रसन्न जान कर हनूमानजी अभिमान रहित वचन बोले॥३॥

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तेँ साखा पर जाई॥
नाँघि सिन्धु हाटक-पुर जारा। निसिचर-गन बधि बिपिन उजारा॥४॥

बन्दर का बड़ा पुरुषार्थ यही है कि एक डाल से कूद कर दूसरी डाली पर चला जाय। समुद्र लाँघ कर सुवर्ण की नगरी को जलाया, राक्षसगण का संहार किया और बगीचा उजाड़ा—॥४॥

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥५॥

हे रघुनाथजी! वह सब आप के प्रताप ने किया, स्वामिन्! इसमें मेरी कुछ बड़ाई नहीं है॥५॥

हनूमानजी ने अपने पुरुषार्थ और बड़ाई का इसलिये निषेध किया कि उसको धर्म 'प्रभु प्रताप' में आरोपित करना अभीष्ट है। यह 'पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

दो०-ताकहँ प्रभु कछु अगम नहिँ, जापर तुम्ह अनुकूल ।
तव प्रभाव बड़वानलहि, जारि सकइ खलु तूल ॥३३॥

हे स्वामिन् ! जिस पर आप प्रसन्न हैं उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आप के प्रताप से निश्चय ही रूई बड़वानल को जला सकती है ॥३३॥

रूई जलनेवाली वस्तु है और बड़वानल जलानेवाला । प्रभु प्रताप से रूई का गुण बड़वानल में और बड़वानल का गुण रूई में स्थापन करना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है ।

चौ०-नाथ भगति अति सुखदायनी । देहु कृपा करि अनपायनी ॥
सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी । एवमस्तु तब कहेउ भवानी ॥१॥

हे नाथ ! कृपा करके अत्यन्त सुख देनेवाली अपनी निश्चल-भक्ति मुझे दीजिये । शिवजी कहते हैं—हे भवानी । हनूमान की अत्यन्त सीधी वाणी सुनकर तब प्रभु रामचन्द्र ने कहा ऐसा ही हो अर्थात् यह बरदान हमने तुम्हें दिया ॥१॥

उमा राम सुभाव जेहि जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ॥
यह सम्बाद जासु उर आवा । रघुपति-चरन-भगति सोइ पावा ॥२॥

हे उमा ! जिसने रामचन्द्रजी के स्वभाव को जान लिया उसको भजन छोड़ कर और कुछ नहीं अच्छा लगता । यह सम्बाद जिसके हृदय में आवेगा, वह रघुनाथजी के चरणों की भक्ति (प्रीति) पावेगा ॥२॥

सुनि प्रभु बचन कहहिँ कपि बृन्दा । जय जय जय कृपाल सुखकन्दा ॥
तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा । कहा चलइ कर करहु बनावा ॥३॥

प्रभु के वचन सुन कर वानर वृन्द कह रहा है कि कृपालु सुख के बरसानेवाले मेघ रामचन्द्रजी की जय हो, जय हो । तब रघुनाथजी ने सुग्रीव को बुलाया और कहा कि चलने की तैयारी करो ॥३॥

अब बिलम्ब केहि कारन कीजै । तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै ॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी । नभ तेँ भवन चले सुर हरषी ॥४॥

अब किस कारण देरी की जाय ? तुरन्त वानरों को आज्ञा दीजिये । यह कुतूहल (आनन्द मूलक खेल) देख कर देवता प्रसन्न हो आकाश से बहुत से फूलों की वर्षा करके अपने अपने स्थानों को चले ॥४॥

दो०—कपिपति बेगि बोलाये, आये जूथप जूथ ।
नाना बरन अतुल बल, बानर भालु बरूथ ॥३४॥

सुग्रीव ने शीघ्र ही यूथपतियों को बुलाया, वे झुण्ड के झुण्ड आये । अनेक रङ्ग के अप्रमेय बलवाले बन्दर और भालुओं का समुदाय है ॥३४॥

४२

चौ०—प्रभु पद-पङ्कज नावहिँ सीसा । गर्जहिँ भालु महाबल कीसा ॥
देखी राम सकल कपि सैना । चितइ कृपा करि राजिव-नैना ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में मस्तक नवाते हैं और महाबली वानर भालु गर्जना करते हैं। रामचन्द्रजी ने सब वानरीसेना को देखा और कमल नयनों से कृपा कर उनकी ओर अवलोकन किया ॥१॥

राम-कृपा बल पाइ कपिन्दा । भये पच्छजुत मनहुँ गिरिन्दा ॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भये सुन्दर सुभ नाना ॥२॥

रामचन्द्रजी की कृपा का बल पा कर वे सेनापति बन्दर ऐसे मालूम होते हैं मानों पक्ष सहित पर्वतराज हों। तब रामचन्द्रजी ने प्रसन्नता से पयान किया, नाना प्रकार के कल्याण-सूचक सुन्दर सगुन हुए ॥२॥

जासु सकल मङ्गल-मय कीती । तासु पयान सगुन यह नीती ॥
प्रभु पयान जाना बैदेही । फरकि बाम अँग जनु कहि देही ॥३॥

जिनकी कीर्त्ति सम्पूर्ण मङ्गलों से भरी है-उनके पयान में सगुनों का वर्णन यह नीति है। प्रभु के प्रस्थान को जानकीजी जान गईं, ऐसा मालूम होता है मानों बायाँ अङ्ग फड़क कर उनसे कहे देता हो ॥३॥

स्त्री के वाम अङ्ग का फड़कना कल्याण सूचक है; इससे स्वामी के प्रस्थान का अनुमान होना ठीक ही है, परन्तु अङ्गों को जीभ नहीं जिससे वे कहते हों यह कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई । असगुन भयउ रावनहिँ सोई ॥
चला कटक को बरनइ पारा । गर्जहिँ बानर भालु अपारा ॥४॥

जो जो सगुन जानकीजी को हुए, वही रावण को असगुन हुए। अपार सेना चली, उसका वर्णन कर कौन पार पा सकता है? (उत्साह से भरे हुए) वानर भालू अपार गर्जना करते हैं ॥४॥

जो जो अङ्ग जानकीजी के फड़के, वही वही अङ्ग रावण के भी फड़के। वस्तु एक ही पर एक के लिये सगुन और दूसरे को असगुन होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है। ज्योतिष के मत से स्त्री का वाम अङ्ग फड़कना शुभ और पुरुष के लिये अशुभ माना जाता है।

नख आयुध गिरि पादप धारी । चले गगन महि इच्छाचारी ॥
केहरिनाद भालु कपि करहीं । डगमगाहिँ दिग्गज चिक्करहीं ॥५॥

जिनके नख ही हथियार हैं, पर्वत और वृक्षों को लिये हुए आकाश तथा धरती पर अपनी अपनी इच्छा के अनुसार (रास्ते से) चले। वानर-भालू सिंह के समान शब्द करते जाते हैं, दिशाओं के हाथी विचलित होकर चिग्घाड़ते हैं ॥५॥

बिना आधार के वानरों का आकाश-मार्ग से गमन करना 'प्रथम विशेष अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द ।

चिक्करहिँ दिग्गज डोल महि गिरि, लोल सागर खरभरे ।
मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि, नाग किन्नर दुख टरे ॥
कटकटहिँ मर्कट बिकट भट बहु, कोटि कोटिन्ह धावहीँ ।
जय राम प्रबल प्रताप कोसल,-नाथ गुन गन गावहीँ ॥४॥

दिग्गज चिग्घाड़ते हैं, पृथ्वी डगमग हो रही है, पहाड़ हिलते हैं और समुद्र खलभला उठे। सूर्य, चन्द्रमा, देवता, मुनि, नाग और किन्नरों के मन में हर्ष हुआ, उनके दुःख दूर हुए। बहुत से विकराल योद्धा बन्दर कटकटाते हैं और करोड़ों करोड़ों वीर दौड़ते जाते हैं। महाबली प्रतापवान कोशलनाथ रामचन्द्रजीके गुण-समूह गाते हुए जय-जयकार करते हैं ॥४॥

वानरी दलके सहित रामचन्द्रजी का प्रयाण वस्तु एक ही है, उससे दिग्गजों का चिल्लाना आदि और देवताओं की प्रसन्नता विरोधी कार्य्य का वर्णन होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है। दिग्गज चिक्कार, पृथ्वी का डगमगाना, पर्वतों का हिलना और समुद्र में खल-बली पड़ना कह कर वानरी-सेना के पराक्रम की अतिशय प्रशंसा करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहि मोहई ।
गह दसन पुनि पुनि कमठ-पृष्ठ, कठोर सो किमि सोहई ॥
रघुबीर रुचिर पयान प्रस्थिति, जानि परम सुहावनी ।
जनु कमठ-खर्पर सर्पराज सो, लिखत अबिचल पावनी ॥५॥

इस महान बोझे को शेषनाग नहीं सह सके, वे बार बार मूर्छित हो रहे हैं। कछुए की कठिन पीठ को फिर फिर दाँतों से पकड़ते हैं, वह कैसा शोभित हो रहा है मानों रघुनाथजी की मङ्गलीक यात्रा को बहुत काल पर्य्यन्त ठहरनेवाली और अत्यन्त सुहावनी जान कर सर्पों के मालिक कच्छप की खोपड़ी पर उसकी निश्चल पवित्रता लिखते हों ॥५॥

शेषनाग बोझ से दब कर दाँतों से बार बार कछुए की पीठ इसलिये पकड़ना चाहते हैं कि मैं फिसल न पड़ूँ। कमठ की कठोर पीठ में दाँत चुभते नहीं; बार बार पकड़ने की चेष्टा करने से उस पर निशान हो रहे हैं, किन्तु कछुए की पीठ काग़ज़ नहीं है और न शेषजी के दाँत लेखनी हैं, यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—एहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर तीर ।
जहँ तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥३५॥

इस प्रकार कृपानिधान रामचन्द्रजी जाकर समुद्र के किनारे उतरे (डेरा किया)। असंख्यों शूरवीर भालु और बन्दर जहाँ तहाँ फल खाने लगे ॥३५॥

चौ०—उहाँ निसाचर रहहिँ ससङ्का । जब तेँ जारि गयउ कपि लङ्का ॥
निज निज गृह सब करहिँ बिचारा । नहिँ निसिचर कुल केर उबारा ॥१॥

वहाँ जब से हनुमानजी लङ्का जला गये, तभी से राक्षस भयभीत रहते हैं । सब अपने अपने घरोँ में विचार करते हैं कि अब राक्षस-वंश का बचाव नहीं है ॥१॥

भय से प्रजावर्ग का ग्रस्त होना 'त्रास सञ्चारी भाव, है ।

जासु दूत बल बरनि न जाई । तेहि आये पुर कवन भलाई ॥
दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी । मन्दोदरी अधिक अकुलानी ॥२॥

जिस के दूत का पराक्रम वर्णन नहीं किया जा सकता, उनके नगर में आने से कौन सी भलाई होगी ? नगर-निवासियों की बात दूतियों के मुख से सुन कर मन्दोदरी बहुत घबरा गई ॥२॥

दूत की बड़ाई से मालिक की प्रशंसा व्यञ्जित होना 'व्याजस्तुति अलंकार' है ।

रहसि जोरि कर पति पद लागी । बोली बचन नीति-रस पागी ॥
कन्त करष हरि सन परिहरहू । मोर कहा अति हित हिय धरहू ॥३॥

एकान्त में हाथ जोड़ कर पति के पावों में पड़ी और नीति रस से मिली हुई बात बोली । हे कन्त ! आप भगवान से बैर करना छोड़ दीजिये, मेरा कहना अत्यन्त हितकारी जान कर हृदय में रखिये ॥३॥

समुझत जासु दूत कइ करनी । स्त्रवहिँ गर्भ रजनीचर-घरनी ॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई । पठवहु कन्त जौँ चहहु भलाई ॥४॥

जिस के दूत की करनी समझते ही राक्षसियों के गर्भ गिर जाते हैं । हे प्राणनाथ ! यदि अपना कल्याण चाहते हो तो मन्त्रियों को बुला कर उनकी स्त्री भेज दो ॥४॥

दूत की करनी से रामचन्द्रजी की प्रशंसा व्यञ्जित होना 'व्याजस्तुति अलंकार' है ।

तव कुल कमल-बिपिन दुखदाई । सीता सीत-निसा सम आई ॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे । हित न तुम्हार सम्भु अज कीन्हे ॥५॥

तुम्हारे कुल रूपी कमल-वन को दुःख देनेवाली सीता शीतकाल (जाड़े) की रात्रि के समान आई है । हे नाथ ! सुनिये, सीताजी को बिना दिये आप की भलाई शिवजी और ब्रह्माजी के करने से न होगी ॥५॥

दो०—राम बान अहिगन सरिस, निकर निसाचर भेक ।
जबलगि ग्रसत न तबलगि, जतन करहु तजि टेक ॥३६॥

रामचन्द्रजी के बाण समूह सर्प के समान हैं और राक्षसों के झुण्ड मेढक रूप हैं । जब तक वे ग्रसते नहीं हैं, तबतक जिद छोड़ कर उपाय करो ॥ ३६ ॥

चौ०—स्रवन सुनी सठ ताकरि बानी । बिहँसा जगतबिदित अभिमानी ॥
सभय सुभाव नारि कर साँचा । मङ्गलमहँ भय मन अति काँचा ॥१॥

जगत्प्रसिद्ध अभिमानी दुष्ट रावण उसकी बात कान से सुन कर हँसा और बोला । सचमुच स्त्रियों का स्वभाव डरपोक होता है, मङ्गल के समय में डर ! बड़ा कच्चा मन है ॥१॥

जौं आवइ मरकट कटकाई । जियहिं बिचारे निसिचर खाई ॥
कम्पहिं लोकप जाकी त्रासा । तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा ॥२॥

यदि वानरों की सेना आवे तो बेचारे राक्षस उसको खा कर जियेंगे । जिसके डर से लोकपाल काँपते हैं, उसकी स्त्री भयभीत हो बड़ी हँसी की बात है ॥२॥

जिसके पति के डर से इन्द्रादि काँपते हैं, उसकी स्त्री का वानरों से डरना उपहास की बात है । कारण और रूप का, कार्य्य दूसरे रूप का 'द्वितीय विषम अलंकार' है ।

असकहि बिहँसि ताहि उर लाई । चलेउ सभा ममता अधिकाई ॥
मन्दोदरी हृदय कर चिन्ता । भयउ कन्त पर बिधि बिपरीता ॥३॥

ऐसा कह कर हँसा और उसको हृदय से लगा कर बड़े अभिमान के साथ सभा को चला । मन्दोदरी मन में चिन्ता करने लगी कि स्वामी पर विधाता प्रतिकूल हुए हैं ॥३॥

बैठेउ सभा खबरि असि पाई । सिन्धु पार सेना सब आई ॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू । ते सब हँसे मष्ट करि रहहू ॥४॥

सभा में बैठते ही ऐसी ख़बर मिली कि समुद्र के उस पार वानरों की सारी फौज आ गई । मन्त्रियों से पूछा कि मुनासिब सलाह कहो, (अब क्या करना चाहिये) वे सब हँसे और बोले कि आप चुप रहिये ॥४॥

जितेहु सुरासुर तब स्रम नाहीं । नर बानर केहि लेखे माहीं ॥५॥

आपने देवता और दैत्यों को जीत लिया; किन्तु श्रम (थकावट) नहीं हुआ, तब मनुष्य और बन्दर किस गिनती में हैं ? ॥५॥

जब सुरासुर को जीत लिया, तब मनुष्य और बन्दर उनसे बढ़ कर नहीं वे तो जीते जिताये हैं, यह 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है ।

दो०—सचिव बैद गुरु तीनि जौं, प्रिय बोलहिं भय आस ।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ बेगिही नास ॥३७॥

मन्त्री, वैद्य और गुरु ये तीनों यदि डर कर आशा (सहायता पाने की इच्छा) से प्रिय लगनेवाली (मुँहदेखी) बात कहते हैं, तब राज्य, धर्म और शरीर तीनों का तुरन्त ही नाश हो जाता है ॥३७॥

४६ सचिव, वैद्य, गुरु कह कर उसी क्रम से राज्य, शरीर और धर्म कहना चाहता था। क्योंकि मन्त्री के लल्लोचप्पो से राज्य, वैद्य के मुँहदेखी कहने से शरीर और गुरु के कथन से धर्म नष्ट होता है। वह न कह कर राज्य, धर्म, तन कहना 'भङ्गक्रम यथासंख्य अलंकार' है।

चौ०–सोइ रावन कहँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥
अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तिन्ह नावा॥१॥

वही रावण की सहायता बन आई है, (झूठी तारीफ) सुना सुना कर मन्त्री लोग बड़ाई करते हैं। समय जान कर विभीषण आया, उसने भाई के चरणों में सिर नवाया॥१॥

पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥
जौं कृपाल पूछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता॥२॥

प्रणाम करके फिर अपने आसन पर बैठ गया, रावण की आज्ञा पा कर वचन बोला! हे कृपालु-बन्धु! यदि आप मुझ से सलाह पूछते हैं तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आप के कल्याण की बात कहता हूँ॥ २॥

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥
सो पर-नारि लिलार गोसाँई। तजइ चौथि के चन्द कि नाँई॥३॥

जो अपना कल्याण, सुयश, सुबुद्धि, सुन्दरगति (मोक्ष) और नाना प्रकार के सुखों को चाहे, वह पराई स्त्री का माथा, (मुख) चौथ के चन्द्रमा, की तरह (कलङ्कप्रद जान कर) त्याग दे॥३॥

विभीषण उपदेश तो रावण को देते हैं, परन्तु वह बड़ा बन्धु और राजा है; इसलिये वह सीधे न कह कर कि आप बुरे कर्मों को छोड़ दें, अन्य के प्रति उद्देश्य कर कहते हैं जिसमें वह समझ कर अपने को सुधार ले 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है।

पुराणों की कथा है कि भादों सुदी ४ के चन्द्रमा को देखने से कलङ्क लगता है, इसलिये उस दिन कोई चन्द्रमा को नहीं देखता। इसी कारण श्रीकृष्ण भगवान् को स्यमन्तकमणि चुराने का कलङ्क लगा था। यदि इस चन्द्रमा पर दृष्टि पड़ जाय तो दोष परिहार के लिये स्यमन्तकोपाख्यान को बाँचते और सुनते हैं।

चौदह भुवन एक पति होई। भूत-द्रोह तिष्ठइ नहिँ सोई॥
गुनसागर नागर नर जोऊ। अलप-लोभ भल कहइ न कोऊ॥४॥

चौदहों लोकों का अकेला स्वामी हो, किन्तु जीव मात्र से विरोध करके वह भी नहीं ठहर सकता। जो मनुष्य चतुर और गुण का समुद्र है, उस में थोड़े भी लोभ को कोई अच्छा नहीं कहता॥४॥

दो०–काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पन्थ।
सब परिहरि रघुबीरही, भजहु भजहिँ जेहि सन्त॥३८॥

हे नाथ! काम, क्रोध, मद और लोभ ये सब नरक के मार्ग हैं। सब का त्याग करके रघुनाथजी को भजिये जिन्हें सन्त लोग भजते हैं॥३८॥

काम क्रोधादि के विषय में तिरस्कार उत्पन्न कराकर जिन्हें सन्तजन भजते हैं, उनका भजन करो 'निर्वेद स्थायीभाव' है।

चौ०-तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता। व्यापक अजित अनादि अनन्ता॥१॥

हे भाई! रामचन्द्रजी मनुष्य राजा नहीं हैं, वे सम्पूर्ण लोकों के स्वामी और काल के भी काल हैं। ब्रह्म, निर्दोष, जन्म रहित, ऐश्वर्य्यवान, सर्वव्यापक, नहीं जानने योग्य, अनादि और अनन्त हैं॥ १॥

सत्य नर राजत्व को छिपा कर कि रामचन्द्रजी मनुष्य राजा नहीं हैं, भुवनेश्वर काल के काल, ब्रह्म उपमान का स्थापन करना 'शुद्धापन्हुति अलंकार' है।

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिन्धु मानुष तनु धारी॥
जन रञ्जन भञ्जन खल ब्राता। बेद-धर्म रच्छक सुनु भ्राता॥२॥

गौ, ब्राह्मण, पृथ्वी और देवताओं के कल्याणार्थ कृपासागर (रामचन्द्रजी) ने मनुष्य-देह धारण किया है। हे भाई! सुनिये, वे भक्तसज्जनों को प्रसन्न करनेवाले, दुष्ट-समुदाय के नाशक और वैदिक धर्म के रक्षक हैं॥ २॥

ताहि बयर तजि नाइय माथा। प्रनतारति भञ्जन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥३॥

उन से वैर त्याग कर सिर नवाइये, रघुनाथजी शरणागतों के दुःख को नसानेवाले हैं। हे नाथ! प्रभु (रामचन्द्रजी) को जानकी दे दीजिये और बिना कारण स्नेह करनेवाले (रामचन्द्रजी) को भजिये॥ ३॥

सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥
जासु नाम त्रय ताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥४॥

शरण जाने पर प्रभु रामचन्द्रजी उसे नहीं त्यागते जिसको सारे संसार से द्रोह करने का पाप लगा हो। हे रावण! जी में समझो, जिनका नाम तीनों तापों को नष्ट करने-वाला है वे ही जगदीश्वर प्रकट हुए हैं॥ ४॥

दो०-बार बार पद लागउँ, बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान-मोह-मद, भजहु कोसलाधीस॥

हे दशनान! मैं बार बार चरणों में लग कर बिनती करता हूँ कि आप अभिमान, मोह और मतवालेपन को छोड़ कर कोशलेन्द्र रामचन्द्रजी को भजो।

मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात॥३९॥

हे तात! पुलस्त्यमुनि (आप के पितामह) ने अपने शिष्य से यह बात कहला भेजी है। तुरन्त ही मैं ने स्वामी (आप) से अच्छा समय पा कर कही है॥ ३९॥

४८ पहले विभीषण ने विशेष धर्म-नीतियुक्त रावण के कल्याण की बात कही, फिर सामान्य से उसका समर्थन करते हैं कि पुलस्त्यजी ने अभी अपने शिष्य से कहला भेजा, वही बात मैं ने कही 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

चौ०—माल्यवन्त अति सचिव सयाना । तासु बचन सुनि अति सुख माना ॥
तात अनुज तव नीति-बिभूषन । सो उर धरहु जो कहत बिभीषन ॥१॥

माल्यवान नाम का एक बड़ा चतुर मन्त्री था, विभीषण की बात सुन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ और बोला । हे तात ! आप के छोटे भाई नीति के भूषण हैं, जो विभीषण कहते हैं वही हृदय में रखिये ॥ १ ॥

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ । दूरि न करहु इहाँ है कोऊ ॥
माल्यवन्त गृह गयउ बहोरी । कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी ॥२॥

रावण ने कहा—ये दोनों मूर्ख शत्रु की बड़ाई करते हैं, यहाँ कोई है ! इन को दूर क्यों नहीं कर देते ? तब माल्यवान अपने घर चला गया और विभीषण फिर हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ २ ॥

सुमति कुमति सब के उर रहहीं । नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥३॥

हे नाथ ! सुबुद्धि और कुबुद्धि सब के हृदय में रहती हैं, ऐसा पुराण और वेद कहते हैं । जहाँ सुमति रहती है वहाँ नाना प्रकार की सम्पत्ति और जहाँ कुबुद्धि होती है वहाँ अन्त में विपत्ति निवास करती है ॥ ३ ॥

पहले विभीषण ने गूढ़ोक्ति द्वारा विनती की थी, परन्तु रावण को उनकी बातें नहीं रुचीं, तब प्रत्यक्ष सीधे शब्दों द्वारा उपदेश देने लगे ।

तव उर कुमति बसी बिपरीता । हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥
कालराति निसिचर-कुल केरी । तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥४॥

तुम्हारे हृदय में कुबुद्धि से प्रतिकूलता टिक गई है, इसी से हित को अनहित मान रहे हो और शत्रु पर प्रीति करते हो । सीताजी राक्षस-कुल की कालरात्रि हैं, उस पर इतनी बड़ी प्रीति ! ॥ ४ ॥

दो०—तात चरन गहि माँगउँ, राखहु मोर दुलार ।
सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार ॥४०॥

हे तात ! मैं आप के पाँव पकड़ कर माँगता हूँ, इतना मेरा दुलार रखिये । सीता रामचन्द्रजी को दे दीजिये जिसमें आप का अमङ्गल न हो ॥ ४० ॥

चौ०—बुध-पुरान-स्रुति-सम्मत बानी । कही बिभीषन नीति बखानी ॥
सुनत दसानन उठा रिसाई । खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ॥१॥

विभीषण ने व्यवहार की रीति बखान कर पण्डित, पुराण और वेद से स्वीकृत वचन

कहे। सुनते ही रावण क्रोधित होकर उठा और बोला कि अरे दुष्ट! अब तेरी मौत समीप आ गई है ॥ १ ॥

विभीषण ने नम्रता-पूर्वक हित के प्रमाणिक वचन कहे; जिससे रावण को प्रसन्न होना चाहता था, परन्तु वैसा नहीं हुआ उलटे वह क्रोधित हो गया। कारण के विरुद्ध कार्य्य का उत्पन्न होना 'पञ्चम विभावना अलंकार' है।

जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा ॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुज बल जाहि जिता मैं नाहीं ॥२॥

क्यों रे दुष्ट! तू सदा मेरा जिआया जी रहा है मूर्ख! तुझ को शत्रु का पक्ष सुहाता है? अरे अधम! कह तो सही, संसार में ऐसा कौन है जिसे मैं ने अपनी भुजाओं के बल से न जीत लिया हो? ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी की प्रशंसा सुन कर रावण को असहनीय होना 'असूया सञ्चारी' है और पराक्रम में अपने को अधिक मानना 'गर्व सञ्चारीभाव' है। सभा की प्रति में 'भुज बल जेहि जीता मैं नाहीं' पाठ है।

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती ॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा ॥३॥

मेरी नगरी में रह कर तपस्वियों पर प्रेम? अरे कपटी! तू उन्हीं से जा कर मिल और नीति कह। ऐसा कह कर रावण ने लात मारा, लघुबन्धु-विभीषण बार बार उसके पाँव पकड़ कर (पछताने लगे कि मेरा शरीर कठोर और आप के चरण अत्यन्त कोमल हैं चोट लगी होगी) ॥३॥

पार्वतीजी ने प्रश्न किया कि—स्वामिन्! विभीषण राजा का भाई और योद्धा था, रावण के दुर्वचन कहने और लात मारने पर भी उसे क्रोध नहीं हुआ, क्या कारण है?

उमा सन्त कइ इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई ॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! सन्तों की यही बड़ाई है जो उनके साथ नीचता करता है, वे उसकी भलाई करते हैं। विभीषण ने कहा—हे नाथ! आप मेरे पिता के समान हैं, मुझको भले ही मार दिया, पर आप का कल्याण रामचन्द्रजी के भजने ही में है ॥४॥

सन्तों का मित्र और शत्रु दोनों के साथ भलाई करना 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार' है।

सचिव सङ्ग लेइ नभ-पथ गयऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ ॥५॥

अपने मन्त्रियों को साथ लेकर विभीषण आकाश-मार्ग में गये और सब को सुना कर ऐसा कहा ॥५॥

बिना पङ्खवाले प्राणियों को गमन करने के लिये प्रसिद्ध आधार स्थल है, उसे छोड़ कर निराधार आकाश-मार्ग में मन्त्रियों के सहित विभीषण का जाना 'प्रथम विशेष अलंकार' है।

दो०-राम सत्यसङ्कल्प प्रभु, सभा काल-बस तोरि ।
मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि ॥४१॥

प्रभु रामचन्द्रजी सत्यसङ्कल्प हैं। (उन्हों ने राक्षस-वंश के संहार की प्रतिज्ञा की है, वह झूठी नहीं हो सकती इसी से) तेरी मण्डली काल-वश हुई है। अब मैं रघुनाथजी की शरण में जाता हूँ, मुझे दोष न देना ॥४१॥

चौ०—अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयू-हीन भये सब तबहीं ॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥१॥

ऐसा कह कर ज्यों ही विभीषण वहाँ से चले; त्यों ही सब राक्षस आयु हीन हो गये। शिवजी कहते हैं—हे भवानी! साधु पुरुष का अनादर करना सम्पूर्ण कल्याणों का नाश कर देता है ॥१॥

पहले एक विशेष बात कही कि ज्यों ही विभीषण लङ्का से चला त्योंही सब आयुर्बल रहित हुए। फिर इसे साधारण सिद्धान्त से दृढ़ करना कि साधुओं का अपमान करना समस्त कल्याणों को नसाता है 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

रावन जबहिँ बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहिँ अभागा ॥
चलेउ हरषि रघुनायक पाहीँ। करत मनोरथ बहु मन माहीँ ॥२॥

ज्यों ही रावण ने विभीषण को त्याग दिया त्योंही वह अभागा बिना ऐश्वर्य्य का हो गया। विभीषण बहुत तरह के मन में मनोरथ करते हुए प्रसन्न होकर रघुनाथजी के पास चले ॥२॥

देखिहउँ जाइ चरन-जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुख-दाता ॥
जो पद परसि तरी रिषि-नारी। दंडक-कानन पावन-कारी ॥३॥

मैं जाकर उन लाल कोमल चरण-कमलों को देखूँगा जो सेवकों को सुख देनेवाले हैं। जिन चरणों को छू कर ऋषि-पत्नी (गौतमजी की स्त्री) तर गई और जो दण्डक-वन के पवित्र करनेवाले हैं (उनके दर्शन करूँगा) ॥३॥

विभीषण के सभी मनोरथ साभिप्राय हैं, अरुण मृदुल कोमल-चरण कहने में अरुण शब्द रजोगुण का सूचक है। इस से राज पाने की इच्छा और कोमल शब्द से अल्प साधन द्वारा मिलने का अभिप्राय प्रकट होता है। मैं जड़ पापी हूँ, उन्होंने पत्थर की स्त्री और वन को पावन किया तब मेरा भी उद्धार करेंगे। यहाँ विभीषण के मन में ईश्वर दर्शन की इच्छा से अपूर्व उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है वह देवविषयक रति स्थायीभाव है।

जे पद जनक-सुता उर लाये। कपट कुरङ्ग सङ्ग धर धाये ॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य हौँ देखिहउँ तेई ॥४॥

जिन चरणों को जनकनन्दिनी हृदय में धारण किये हैं और जो कपटी मृग का साथ

पकड़ कर दौड़े हैं। जो शिवजी के हृदय रूपी मानसरोवर में कमल रूप हो कर निवास करते हैं, अहोभाग्य है कि मैं उन्हीं चरणों के दर्शन करूँगा ॥४॥

जनकनन्दिनी का नाम लेने में आशय यह है कि यदि दूर ही रक्खेंगे तो सीताजी की भाँति उनके चरणों को हृदय में धारण करूँगा। मैं कपटी हूँ, कदाचित त्याग करें ? इस पर सन्तोष प्रकट करते हैं कि; वे कपटी मृग के पीछे दौड़े हैं। परम्परा की ओर देख कर विचारते हैं कि हमारे कुल के गुरुदेव शिव भगवान के हृदय में बसते हैं। आज मैं उन्हीं चरणों के दर्शन करूँगा, अहोभाग्य है।

दो०—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि, भरत रहे मन लाइ ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥४२॥

जिन चरणों के खड़ाउओं में भरतजी मन लगाये हुए हैं, अब मैं जाकर आज उन्हीं चरणों को इन आँखों से देखूँगा ॥४२॥

भरतजी के स्मरण से ऐश्वर्य्य मद त्याग कर निरन्तर तपस्थल में निवास कर चरणों में लय लगाने का मनसूबा बाँधते हैं।

चौ०—एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिन्धु एहि पारा॥
कपिन्ह बिभीषन आवत देखा। जाना कोउ रिपु दूत बिसेखा ॥१॥

इस तरह प्रेम के साथ विचार करते हुए तत्काल समुद्र के इस पार आ गये। बन्दरों ने विभीषण को आते देख कर समझा कि यह शत्रु का कोई बड़ा (ख़ास) दूत है ॥१॥

लङ्का से विभीषण का चलना और बिना विलम्ब बात की बात में वानरीदल के समीप पहुँच जाना अर्थात् कारण और कार्य्य का एक साथ कथन होना 'प्रथम हेतु अलंकार' है।

ताहि राखि कपीस पहिँ आये। समाचार सब ताहि सुनाये ॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन भाई ॥२॥

उनको वहीं रोक कर वानरराज के पास आये और सब समाचार उनसे कह सुनाया। सुग्रीव ने कहा—हे रघुराज ! सुनिये, रावण का भाई आप से मिलने आया है ॥२॥

कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहइ कपीस सुनहु नरनाहा ॥
जानि न जाइ निसाचर माया। काम-रूप केहि कारन आया ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने कहा—हे मित्र ! (उसके आने का प्रयोजन) क्या समझते हो ? सुग्रीव ने कहा—हे नरनाथ ! सुनिये, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसों का कपट जाना नहीं जाता कि किस कारण आया है ? ॥३॥

भेद हमार लेन सठ आवा। राखिय बाँधि मोहि अस भावा ॥
सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत-भय-हारी ॥४॥

जान पड़ता है कि यह दुष्ट हमारा भेद लेने आया है, मुझे ऐसा सुहाता है कि (युद्ध

समाप्ति पर्य्यन्त जिसमें लङ्का में लौटने न पावे) बाँध कर रख लिया जाय । रामचन्द्रजी ने कहा—हे मित्र ! आपने अच्छी नीति विचारी है, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा शरणागतों के भय को दूर करने की है ॥४॥

रामचन्द्रजी का पहले यह कहना कि आपने नीति की अच्छी बात सोची है, फिर दूसरी बात कह कर अपनी प्रथम कही हुई बात का निषेध करना कि मेरी प्रतिज्ञा शरणागतों के भय को हरने की है । कदाचित् वह शरण आया हो तो बँधुआ बनाना बड़ा अनर्थ होगा 'उक्ताक्षेप अलंकार' है ।

सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना । सरनागत बच्छल भगवाना ॥५॥

प्रभु के वचन सुन कर भगवान् को शरणागत वत्सल जान हनूमानजी प्रसन्न हुए ॥५॥
गुटका में यह अर्द्धाली चौपाई नहीं है, मालूम होता है छापे के दोष से छूट गई है ।

दो०—सरनागत कहँ जे तजहिँ, निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहिँ बिलोकत हानि ॥४३॥

शरण आये हुए को अपनी हानि विचार कर जो त्याग देते हैं, वे मनुष्य नीच और पाप के रूप हैं उनको देखने से हानि होती है ॥४३॥

चौ०—कोटि बिप्रबध लागइ जाहू । आये सरन तजउँ नहिँ ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहिँ तबहीं ॥१॥

करोड़ों ब्रह्म-हत्या जिसको लगी हो, शरण आने पर मैं उसे भी नहीं त्यागता । जिस समय जीव मेरे सन्मुख होता है, उसी समय उसके करोड़ों जन्म के पाप नाश हो जाते हैं ॥१॥

पापवन्त कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥
जौँ पै दुष्ट हृदय सोइ होई । मोरे सनमुख आव कि सोई ॥२॥

पापियों का सहज स्वभाव है कि उनको कभी मेरा भजन नहीं अच्छा लगता । यदि वह (विभीषण) दुष्ट-हृदय होता तो क्या वह मेरे सामने आता ? ॥२॥

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल-छिद्र न भावा ॥
भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥३॥

जो मनुष्य निर्मल मन का है वही मुझे पाता है, मुझ को दम्भ और कपट का व्यवहार अच्छा नहीं लगता । हे वानरेन्द्र ! यदि रावण ने भेद ही लेने के लिये भेजा है तो भी कुछ डर वा हानि नहीं ॥३॥

जग महँ सखा निसाचर जेते । लछिमन हनइँ निमिष महँ तेते ॥
जौँ सभीत आवा सरनाई । रखिहउँ ताहि प्रान की नाँई ॥४॥

हे सखा ! संसार में जितने राक्षस हैं उन सब को पलक भर में लक्ष्मण मार सकते हैं। यदि भयभीत होकर शरण आया है तो मैं उस को प्राण के समान (रक्षित) रक्खूँगा ॥४॥

दो०--उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपा-निकेत ।
जय कृपाल कहि कपि चले, अङ्गद हनू समेत ॥४४॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी ने हँस कर कहा—उसको दोनों तरह से (भेद लेने आया हो या शरण) ले आओ। अङ्गद और हनूमानजी के सहित बन्दर कृपालु रामचन्द्रजी की जय हो कह कर चले ॥४४॥

चौ०--सादर तेहि आगे करि बानर । चले जहाँ रघुपति करुनाकर ॥
दूरिहि तेँ देखेउ दोउ भ्राता । नयनानन्द दान के दाता ॥१॥

बानर वृन्द आदर के साथ विभीषण को आगे करके वहाँ चले जहाँ दया की खानि रघुनाथजी हैं। नेत्रों को आनन्ददान के दाता दोनों भाइयों को विभीषण ने दूर ही से देखा ॥१॥

बहुरि राम छबि-धाम बिलोकी । रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी ॥
भुजप्रलम्ब कञ्जारुन लोचन । स्यामल गात प्रनत भय मोचन ॥२॥

फिर शोभा के धाम रामचन्द्रजी को देख कर स्तम्भित हो टकटकी लगाये पलकों को रोक कर निहारने लगे। लम्बी भुजाएँ, लाल कमल के समान नेत्र, श्यामल शरीर और शरणागतों के भय को छुड़ानेवाले हैं ॥२॥

प्रेम मुग्ध होकर विभीषण का जड़त्व को प्राप्त होना स्तम्भ सात्विक अनुभाव है।

सिंह कन्ध आयत उर सोहा । आनन अमित मदन मन मोहा ॥
नयन नीर पुलकित अति गाता । मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥३॥

सिंह के समान ऊँचे कन्धे, चौड़ी छाती सोहती है, मुख की छवि पर असंख्यों कामदेवों का मन मोहित होता है। नेत्रों में जल भरे, अत्यन्त पुलकायमान शरीर से मन में धीरज धर कर विभीषण मधुर वाणी से बोले ॥३॥

नाथ दसानन कर मैं भ्राता । निसिचर बंस जनम सुरत्राता ॥
सहज पापप्रिय तामसदेहा । जथा उलूकहि तम पर नेहा ॥४॥

हे नाथ ! मैं रावण का भाई हूँ, हे देवरक्षक ! मेरा जन्म राक्षस-कुल में हुआ है। मैं तमोगुणी शरीर का सहज ही पाप का प्रेमी हूँ, जैसे उल्लू पक्षी का अँधेरे पर स्नेह होता है ॥४॥

निश्चर-वंश कहने में अपनी लघुता सूचित करने की ध्वनि है । यह व्यङ्गार्थ और वाच्यार्थ बराबर होने से तुल्य-प्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है । यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि विभीषण ऋषिकुल में उत्पन्न है, फिर राक्षस-वंश क्यों कहा ? उत्तर—विभीषण को अपनी लघुता प्रदर्शित करनी अभीष्ट है; रावण का भाई होने से ऐसा कहा । अथवा विभीषण की माता असुर की कन्या थी, माता के सम्बन्ध से अपने को राक्षस कुल में कहा है ।

दो०—स्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भञ्जन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥४५॥

हे प्रभो ! आप का सुयश कान से सुन कर आया हूँ कि आप संसार के भयों को चूर चूर करने वाले हैं । हे शरणागतों के सुख देनेवाले रघुनाथजी ! आप दीन दुःखहारी हैं, मेरी रक्षा कजिये, रक्षा कीजिये ॥४५॥

विभीषण के कथन में सम अलंकार की ध्वनि है कि संसारी त्रास दूर करने में आपकी कीर्ति है और मैं रावण द्वारा त्रस्त हूँ । आप आर्त्ति हरण हैं, मैं आर्त्त हूँ । आप शरण सुखद हैं, मैं शरण आया हूँ । आप रघुकुल के वीर हैं, मैं आप की भुजाओं की छाया में रहना चाहता हूँ इत्यादि ।

चौ०—अस कहि करत दंडवत देखा । तुरत उठे प्रभु हरष बिसेखा ॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा । भुज बिसाल गहि हृदय लगावा ॥१॥

ऐसा कह कर दण्डवत करते देखा, प्रभु रामचन्द्रजी तुरन्त बड़े हर्ष से उठे । दीन वचन सुन कर वे स्वामी के मन में बहुत अच्छे लगे, विशाल भुजाओं से पकड़ कर हृदय में लगाया । ॥१॥

अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी । बोले बचन भगत भय-हारी ॥
कहु लङ्केस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥२॥

छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित मिल कर पास में बैठा लिया और भक्तों के भयहारी वचन बोले । हे लंकेश्वर ! सपरिवार अपनी कुशल कहो, क्योंकि तुम्हारा निवास अच्छी जगह में नहीं है ॥२॥

खल-मंडली बसहु दिन राती । सखा धरम निबहइ केहि भाँती ॥
मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती । अति नयनिपुन न भाव अनीती ॥३॥

हे मित्र ! दिन रात खलों की मण्डली में निवास करते हो, आप का धर्म किस तरह निबहता है ? मैं तुम्हारी सब रीति जानता हूँ कि बड़े नीतिज्ञ हो, अन्याय नहीं अच्छा लगता ॥३॥

बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट सङ्ग जनि देइ बिधाता ॥
अब पद देखि कुसल रघुराया । जौँ तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया ॥४॥

हे तात ! वरिक नरक का बसना अच्छा है; किन्तु दुष्टों का संग विधाता न दे । विभी-

षण ने कहा—हे रघुनाथजी ! अब श्रीचरणों के दर्शन से कुशल है, यदि आपने अपना सेवक समझ कर दया की है ॥४॥

दुष्टों की संगति महा दुखदाई है, यद्यपि नरक का वास अङ्गीकार करने योग्य नहीं है, तो भी दुष्ट संग की अपेक्षा उसको गुणकारी मान कर स्वीकार करना 'अनुज्ञा अलंकार' है। मानुकवि ने इस चौपाई में द्वितीय उल्लास माना है। पर द्वितीय उल्लास तो वह है कि दूसरे के दोष से दूसरे में दोष उत्पन्न हो।

दो०—तबलगि कुसल न जीव कहँ, सपनेहुँ मन बिस्राम ॥
जबलगि भजत न राम कहँ, सोक-धाम तजि काम ॥४६॥

जीव को तबतक कुशल नहीं और स्वप्न में भी मन को चैन नहीं मिलता, जब तक वह शोक के स्थान मनोरथों को त्याग कर रामचन्द्रजी को नहीं भजता ॥४६॥

चौ०—तबलगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जबलगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ॥१॥

तब तक हृदय में लोभ, अज्ञान, ईर्ष्या, मतवालापन और घमण्ड आदि अनेक दुष्ट बसते हैं। हे रघुनाथजी ! जब तक हाथ में धनुष-बाण लिये और कमर में तरकस कसे हुए हृदय में आप निवास नहीं करते ॥१॥

ममता तरुन तमी अँधियारी । राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
तबलगि बसति जीव मन माहीं । जबलगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥२॥

मोह रूपी घोर रात की अँधेरी राग और द्वेष रूपी उल्लुओं को सुख उत्पन्न करनेवाली तब तक जीव के मन में बसती है जब तक आप के प्रताप रूपी सूर्य्य का उदय नहीं होता ॥२॥

अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि राम-पद-कमल तुम्हारे ॥
तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिबिधि भव सूला ॥३॥

हे रामचन्द्रजी ! आप के चरण-कमलों को देख कर मेरा भारी भय मिट गया, मैं कुशल से हूँ। हे कृपालु ! जिस पर आप प्रसन्न होते हैं, उसको तीनों प्रकार के संसारी दुःख (जन्म, मृत्यु, गर्भवास) नहीं सताते ॥३॥

मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ । सुभ आचरन कीन्ह नहिँ काऊ ॥
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा । तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा ॥४॥

मैं अत्यन्त नीच स्वभाव का राक्षस हूँ, कभी शुभाचरण नहीं किया। जिन के रूप का ध्यान मुनियों के मन में नहीं आता, वे ही स्वामी प्रसन्न होकर मुझे हृदय से लगाया। ॥४॥

दो०—अहोभाग्य मम अमित अति, राम कृपा सुख पुञ्ज ।
देखेउँ नयन बिरञ्चि सिव, सेब्य जुगल पदकञ्ज ॥४७॥

हे कृपा और सुख के राशि रामचन्द्रजी ! मेरा बहुत बड़ा प्रशंसनीय भाग्य है कि मैं ने उन दोनों चरण कमलों को आँखों से देखा, जिनकी सेवा ब्रह्मा और शिवजी करते हैं ॥४७॥

५६

चौ०--सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ । जान भुसुंडि सम्भु गिरिजाऊ ॥
जौँ नर होइ चराचर द्रोही । आवइ सभय सरन तकि मोही ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे मित्र! सुनिये, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ जिस को काग-भुशुण्ड, शिवजी और पार्वती भी जानती हैं । यदि संसार भर का द्रोही मनुष्य हो और मेरी ओर देख कर भयभीत हो शरण आवे ॥ १ ॥

तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा । तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥२॥

परन्तु घमण्ड, मोह, भेदभाव और तरह तरह के छल छोड़ कर (आवे तो) तुरन्त उसको मैं सज्जन-पुरुषों के समान कर देता हूँ । माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, सम्पत्ति, घर, मित्र और कुटुम्बी ॥ २ ॥

सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिँ बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिँ मन माहीं ॥३॥

सब का ममत्व रूपी तागा इकट्ठा करके डोरी बट कर मन को मेरे चरणों में बाँधे अर्थात् सब मुझ को ही जाने । समदर्शी हो, कुछ इच्छा न रक्खे, हर्ष, शोक और भय मन में न लावे ॥ ३ ॥

अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसइ धन जैसे ॥
तुम्ह सारिखे सन्त प्रिय मोरे । धरउँ देह नहिँ आन निहोरे ॥४॥

ऐसे सज्जन मेरे हृदय में कैसे निवास करते हैं, जैसे लोभी मनुष्यों के मन में धन बसता है । आप के समान सन्त मुझे प्यारे हैं, मैं दूसरे के निहोरे शरीर नहीं धारण करता हूँ ॥ ४ ॥

दो०--सगुन उपासक पर-हित, निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज-पद प्रेम ॥४८॥

सगुण ब्रह्म के उपासक, पराये के हित में तत्पर, नीतिवान और नियम में पक्के रहते हैं । वे मनुष्य मुझे प्राण के समान प्रिय हैं जिनकी ब्राह्मण के चरणों में प्रीति है ॥ ४८ ॥

चौ०--सुनु लङ्केस सकल गुन तोरे । तातेँ तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे ॥
राम बचन सुनि बानर-जूथा । सकल कहहिँ जय कृपा-बरूथा ॥१॥

हे लङ्केश्वर! सुनिये, उपर्युक्त सभी गुण तुम्हारे में हैं, इसी से आप मुझे अत्यन्त प्रिय हो । रामचन्द्रजी के वचन सुन कर सम्पूर्ण वानर वृन्द कहते हैं कि कृपा की राशि कोशलेन्द्र भगवान की जय हो ॥ १ ॥

सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिँ अघात स्रवनामृत जानी ॥
पदअम्बुज गहि बारहि बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा ॥२॥

प्रभु की वाणी सुन कर उसको कानों के लिये अमृत रूप जान कर विभीषण तृप्त नहीं होते हैं। बार बार चरण-कमलों को पकड़ रहे हैं, अपार प्रेम उनके मन में समाता नहीं है ॥२॥

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अन्तरजामी ॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही ॥३॥

विभीषण बोले—हे सचराचर के स्वामी देव! सुनिये, आप शरणागतों के रक्षक और हृदय की बात जाननेवाले हैं। मेरे मन में पहले कुछ (राज्य पाने की) इच्छा थी, पर वह स्वामी के चरणों की प्रीति रूपी नदी में बह गई ॥ ३ ॥

'अन्तर्यामी' शब्द में ध्वनि है कि आप से छिपाव क्या? आप मन की बात जानने-वाले हैं, इसी से साफ कहे देता हूँ।

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मनभावनी ॥
एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिन्धु कर नीरा ॥४॥

हे कृपालु! अब मुझे अपनी पवित्र भक्ति जो सदा शिवजी के मन में अच्छी लगती है, दीजिये। रणधीर प्रभु रामचन्द्रजी ने कहा ऐसा ही हो, तुरन्त समुद्र का जल मँगवाया ॥४॥

'रणधीर' संज्ञा साभिप्राय है, क्योंकि रण में पूर्ण साहसी पुरुष रावण जैसे प्रबल शत्रु के लङ्का राजधानी में राज्य करते हुए उसे वध करने का दृढ़निश्चय करके ही विभीषण को राज्य दे सकता है। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं ॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा ॥५॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे सखा! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तथापि मेरा दर्शन संसार में निष्फल जानेवाला नहीं है। ऐसा कह कर रामचन्द्रजी ने उसको तिलक किया, आकाश से अपार फूलों की वर्षा हुई ॥५॥

दो०—रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥

रावण के क्रोध रूपी अग्नि में अपने श्वास रूपी प्रचण्ड वायु से जलते हुए विभीषण की रक्षा करके अखण्ड राज्य दिया।

जो सम्पति सिव रावनहिँ, दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ सम्पदा बिभीषनहिँ, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥४९॥

जो सम्पत्ति शिवजी ने रावण को दसों मस्तक चढ़ाने पर दी थी, वही सम्पदा विभीषण को रघुनाथजी ने सकुच कर दी ॥४९॥

जो सम्पति शिवजी ने दस मस्तक देने पर दी, वही सम्पति विभीषण को सकुचते हुए रघुनाथजी ने दी। यहाँ उपमेय रामचन्द्रजी और उपमान शिवजी हैं। उपमान से उपमेय में अधिकत्व वर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है। 'सकुच' शब्द में गुणीभूत व्यङ्ग है कि लङ्का इसी की है, रावण के बाद इसके सिवाय कौन पाता? फिर हमने इसे क्या दिया? कुछ नहीं।

चौ०—अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना।
निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा॥१॥

ऐसे स्वामी को छोड़ कर जो दूसरे की सेवा करते हैं, वे मनुष्य बिना पूँछ और सींग के पशु हैं। अपना दास जान कर विभीषण को शरण में ले लिया, स्वामी का यह स्वभाव वानर-वंश के मन में बहुत अच्छा लगा॥१॥

पुनि सर्बज्ञ सर्ब उर बासी। सर्बरूप सब रहित उदासी॥
बोले बचन नीति प्रतिपालक। कारन मनुज दनुज कुल घालक॥२॥

फिर सब जाननेवाले, सब के हृदय-निवासी, सर्वरूप, सब से रहित और उदासीन (न किसी के शत्रु न मित्र) नीति के पालनेवाले, कारण से मनुष्य रूपधारी राक्षस कुल के नाशक रामचन्द्रजी वचन बोले॥२॥

सब रूप और सब से रहित, इस विरोधी कथन में 'विरोधाभास अलंकार' है।

सुनु कपीस लङ्कापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गम्भीरा॥
सङ्कुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती॥३॥

हे वीर सुग्रीव और विभीषण! सुनिये, इस गहरे समुद्र से किस प्रकार पार उतरना होगा? मगर, साँप और नाना जाति की मछलियों से भरा बहुत ही अथाह और सभी भाँति पार करने में कठिन है॥३॥

कह लङ्केस सुनहु रघुनायक। कोटि सिन्धु सोषक तव सायक॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिय सागर सन जाई॥४॥

विभीषण ने कहा—हे रघुनायक! सुनिये, यद्यपि आप के बाण करोड़ों समुद्रों को सुखानेवाले हैं। तथापि नीति इस तरह कहती है कि आप चल कर समुद्र से बिनती कीजिये (तो वह मार्ग का उपाय बतलावेगा)॥४॥

दो०—प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालु-कपि धारि॥५०॥

हे प्रभो! समुद्र आप का कुल-गुरु है, विचार कर उपाय कहेगा। जिससे बिना परिश्रम भालु-बन्दरों की सारी सेना समुद्र के पार उतर जायगी॥५०॥

समुद्र को कुल-गुरु इसलिये कहा कि राजा-सगर के पुत्रों के खोदने से सागर की उत्पत्ति हुई है।

चौ०--सखा कही तुम्ह नीकि उपाई । करिय दइव जौं होइ सहाई ॥
मन्त्र न यह लछिमन मन भावा । राम बचन सुनि अति दुख पावा ॥१॥

रामचन्द्रजी ने कहा...हे मित्र! आपने अच्छा उपाय कहा, वही करूँगा यदि दैव सहायक हो (तो कार्य्य सिद्ध हो सकता है)। यह सलाह लक्ष्मणजी के मन में नहीं अच्छी लगी, रामचन्द्रजी के वचन को सुन कर उन्हें बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

नाथ दैव कर कवन भरोसा । सोखिय सिन्धु करिय मन रोसा ॥
कादर मन कहँ एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥२॥

लक्ष्मणजी ने कहा...हे नाथ! दैव का कौन सा भरोसा (दूसरा दैव कौन है?) मन में क्रोध कर के समुद्र को सुखा दीजिये। डरपोक आलसी के मन को एक दैव दैव पुकारने का आधार है (किन्तु कर्तव्य-शील शूरवीरों को दैव का भरोसा कैसा?) ॥२॥

सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा । ऐसेइ करब धरहु मन धीरा ॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई । सिन्धु समीप गये रघुराई ॥३॥

सुनते ही रघुनाथजी हँस कर बोले कि ऐसा ही करूँगा मन में धीरज धरिये। ऐसा कह कर प्रभु रामचन्द्रजी ने छोटे भाई को समझाया, फिर समुद्र के पास गये ॥ ३ ॥

प्रथम प्रनाम कीन्ह सिर नाई । बैठे पुनि तट दर्भ डसाई ॥
जबहिँ बिभीषन प्रभु पहिँ आये । पाछे रावन दूत पठाये ॥४॥

पहले समुद्र को मस्तक नवा कर प्रणाम किया, फिर कुशा बिछा कर किनारे पर बैठ गये। जिस समय विभीषण रामचन्द्रजी के पास आये, उसके बाद ही रावण ने गुप्तचर भेजे ॥४॥

दो०--सकल चरित तिन्ह देखे, धरे कपट कपि देह ।
प्रभु गुन हृदय सराहहिँ, सरनागत पर नेह ॥५१॥

उन दूतों ने छल से बन्दर की देह धारण करके सम्पूर्ण चरित्र देखे। शरणागत पर स्नेह करना प्रभु के इस गुण की हृदय में बड़ाई करते हैं ॥ ५१ ॥

चौ०--प्रगट बखानहिँ राम सुभाऊ । अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ॥
रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने । सकल बाँधि कपीस पहिँ आने ॥१॥

वे अत्यन्त प्रेम के साथ प्रगट में रामचन्द्रजी का स्वभाव बखानते हैं, (प्रेम की दशा में कपट रह नहीं सकता, इससे) छिपाव भूल गया। तब बन्दरों ने जाना कि ये शत्रु के दूत हैं, उन सब को बाँध कर सुग्रीव के पास ले आये ॥ १ ॥

कह सुग्रीव सुनहु सब बानर । अङ्गभङ्ग करि पठवहु निसिचर ॥
सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये । बाँधि कटक चहुँ पास फिराये ॥२॥

सुग्रीव ने कहा—सब बन्दर सुनते जाओ, इन राक्षसों के अङ्गभङ्ग करके भेजो। सुग्रीव की आज्ञा सुन कर बन्दर दौड़े और बाँध कर सेना के चारों ओर घुमाया ॥ २ ॥

रावण ने जैसा व्यवहार हनूमानजी के साथ किया था, सुग्रीव ने भी दूतों के प्रति वैसी ही आज्ञा प्रदान की।

बहु प्रकार मारन कपि लागे । दीन पुकारत तदपि न त्यागे ॥
जो हमार हर नासा काना । तेहि कोसलाधीस कै आना ॥२॥

बहुत तरह से वानर उन्हें मारने लगे, यद्यपि वे दीनता से पुकारते हैं तथापि बन्दर छोड़ते नहीं (मारते ही जाते) हैं। दूतों ने पुकार मचाई कि जो हम लोगों के नाक-कान काटे उसको कोशलाधीश भगवान की शपथ है ॥ २ ॥

वानरों ने कहा नहीं कि नाक कान काट लो, परन्तु दूतों ने गुहार मचाई। गुहार मचाने ही से प्रश्न की कल्पना होती है। कोशलाधीश की सौगन्द देने में दूतों का गूढ़ अभिप्राय यह है कि मेरे नाक कान कटने से बच जाँयगे। यह कल्पित प्रश्न का 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाये । दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये ।
रावन कर दीजेहु यह पाती । लछिमन बचन बाँचु कुलघाती ॥४॥

पुकार सुन कर लक्ष्मणजी को दया लगी; सब को समीप बुलाया और हँस कर तुरन्त छुड़ा दिया। लक्ष्मणजी ने दूतों से कहा—यह चिट्ठी रावण के हाथ में देना और कहना कि अरे कुल का नाशक! लक्ष्मण के वचनों को पढ़ ॥ ४ ॥

दो०—कहेहु मुखागर मूढ़ सन, मम सन्देस उदार ।
सीता देइ मिलहु न त, आवा काल तुम्हार ॥५२॥

उस मूर्ख से मेरा यह श्रेष्ट सन्देशा ज़बानी कहना कि सीताजी को दे कर मिलो, नहीं तो तुम्हारा काल आ गया ॥५२॥

चौ०—तुरत नाइ लछिमन पद माथा । चले दूत बरनत गुन-गाथा ॥
कहत राम जस लङ्का आये । रावन चरन सीस तिन्ह नाये ॥१॥

तुरन्त लक्ष्मणजी के चरणों में मस्तक नवा कर दूत चले, रास्ते में गुणावली वर्णन करते और रामचन्द्रजी का यश कहते लङ्का में आये, उन्होंने रावण के चरणों में सिर नवाया ॥१॥

बिहँसि दसानन पूछी बाता । कहसि न सुक आपनि कुसलाता ॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी । जाहि मृत्यु आई अति नेरी ॥२॥

रावण ने हँस कर बात पूछी—रे शुक! अपनी कुशलता क्यों नहीं कहता? फिर विभीषण की ख़बर कहै, जिसकी मौत अत्यन्त समीप आ गई है ॥ २ ॥

करत राज लङ्का सठ त्यागी । होइहि जव कर कीट अभागी ॥
पुनि कहु भालु-कीस कटकाई । कठिन काल प्रेरित चलि आई ॥३॥

उस मूर्ख ने राज्य करते हुए लङ्का को त्याग दिया, वह अभागा जौ का कीड़ा होगा। फिर भालु-बन्दरों की सेना का हाल कहै, जो कठिन काल की प्रेरणा से चल कर आई है ॥३॥

जिन्ह के जीवन कर रखवारा । भयउ मृदुल चित सिन्धु बेचारा ॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी । जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी ॥४॥

जिनके जीवों का रक्षक कोमल-हृदय बेचारा सिन्धु हो रहा है, फिर उन तपस्वियों की बात कहो, जिनके मन में मेरा बहुत बड़ा डर है ॥४॥

दो०—की भइ भेंट कि फिरि गये, स्रवन सुजस सुनि मोर ।
कहसि न रिपु दल तेज बल, बहुत चकित चित तोर ॥५३॥

भेंट हुई या कि कान से मेरा सुयश सुन कर लौट गये ? शत्रु का तेज और सेना का बल कहता क्यों नहीं, तेरा चित्त बहुत चकपकाया हुआ है ! ॥५३॥

यहाँ रावण ने शुक से पाँच प्रश्न किया है । (१) अपनी कुशल कह । (२) विभीषण का समाचार कह । (३) वानर-भालुओं की सेना का बल । (४) शत्रु तपस्वियों का तेज (५) भेंट हुई या लौट गये । शुक ने पहले दूसरे प्रश्न का और पहले का उत्तर संक्षेप में दिया, फिर क्रम से ३, ४, ५ वें का उत्तर विस्तार से दिया ।

चौ०—नाथ कृपाकरि पूछेउ जैसे । मानहु कहा क्रोध तजि तैसे ॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा । जातहि राम तिलक तेहि सारा ॥१॥

शुक ने कहा—हे नाथ ! जैसे कृपा करके आपने पूछा, वैसे क्रोध त्याग कर मेरा कहना मानिये । जब आप के छोटे भाई जा कर मिले, जाते ही रामचन्द्रजी ने उन्हें राजतिलक कर दिया ॥१॥

तिलक सारने से रावण के बध करने की दृढ़ता व्यञ्जित करना व्यङ्ग है । यह दूसरे प्रश्न का उत्तर है नीचे की चौपाई में पहले प्रश्न का उत्तर देता है ।

रावन दूत हमहिं सुनि काना । कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना ॥
स्रवन नासिका काटइ लागे । राम सपथ दीन्हे हम त्यागे ॥२॥

हम लोगों को रावण के दूत कान से सुन कर बन्दरों ने बाँध कर नाना तरह के दुःख दिये । कान और नाक काटने लगे, मैं ने रामचन्द्रजी की सौगन्द दी, तब हमें छोड़ा ॥२॥

कहने का तात्पर्य्य यह कि मेरी कुशल आप क्या पूछते हैं ? किसी तरह प्राण बच गये ।

पूछेउ नाथ राम कटकाई । बदन कोटिसत बरनि न जाई ॥
नाना बरन भालु कपि धारी । बिकटानन बिसाल भय-कारी ॥३॥

हे नाथ ! आपने रामचन्द्रजी की सेना का हाल पूछा, वह असंख्यों मुखों से नहीं वर्णन किया जा सकता (फिर एक मुँह से मैं कैसे कह सकता हूँ ?) अनेक रङ्ग के भालु और बन्दरों की फ़ौज है, उनके भयङ्कर मुख बड़े ही डरावने हैं ॥३॥

जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा । सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा ॥
अमित नाम भट कठिन कराला । अमित नाग बल बिपुल बिसाला ॥४॥

जिस बन्दर ने आप के पुत्र को मारा और नगर जलाया, उसका बल समस्त बन्दरों में

६२

थोड़ा है। असंख्यों नाम के कठिन भयानक योद्धा हैं, उनमें असंख्यों हाथियों का बहुत बड़ा बल है ॥४॥

दो०--द्विबिद मयन्द नील नल, अङ्गदादि बिकटासि ।
दधिमुख केहरि कुमुद गव, जामवन्त बल रासि ॥५४॥

द्विविद, मयन्द, नील, नल, अङ्गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, कुमुद, गव और जामवन्त आदि बल के राशि हैं ॥५४॥

गुटका में 'दधिमुख केहरि निसठ सठ' पाठ है।

चौ०--ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥
रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं ॥१॥

ये सब बन्दर सुग्रीव के समान हैं, इनके समान करोड़ों अनेक नाम के हैं जिन्हें कौन गिन सकता है? रामचन्द्रजी की कृपा से उनमें बे-प्रमाण बल है, वे तीनों लोकों को तिनके के बराबर समझते हैं ॥१॥

अस मैं स्रवन सुना दसकन्धर। पदुम अठारह यूथप बन्दर ॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिँ जीतइ रन माहीं ॥२॥

हे दशानन! मैंने ऐसा कान से सुना है कि अठारह पद्म सेनापति बन्दर हैं। हे नाथ! उस सेना में वैसा कोई वानर नहीं है जो आप को युद्ध में न जीत लेवे ॥ २ ॥

एक एक यूथपतियों के साथ दस दस पाँच पाँच करोड़ वानरों की सेना है। जब अठारह पद्म केवल सेनापति हैं, तब सेनापतियों की सेना का शुमार कैसे किया जा सकता है?

परम क्रोध मीँजहिँ सब हाथा। आयसु पै न देहिँ रघुनाथा ॥
सोखहिँ सिन्धु सहित झष ब्याला। पूरहिँ न त भरि कुधर बिसाला ॥३॥

अत्यन्त क्रोध से सब हाथ मलते हैं, (कि समुद्र का नाम मिटा दूँ) पर रघुनाथजी आज्ञा नहीं देते हैं। वे मछली और सर्पों के सहित समुद्र के जल को सोख लेंगे, नहीं तो बड़े बड़े पर्वतों से भर कर पाट देंगे ॥ ३ ॥

मर्दि गर्द मिलवहिँ दससीसा। ऐसइ बचन कहहिँ सब कीसा ॥
गर्जहिँ तर्जहिँ सहज असङ्का। मानहुँ ग्रसन चहत हहिँ लङ्का ॥४॥

सब बन्दर ऐसा ही वचन कहते हैं कि रावण को मल कर धूल में मिला दूँगा। वे स्वाभाविक निडर गर्जते हैं, और डपटते हैं, उनकी चेष्टाओं से ऐसा मालूम होता है मानों लङ्का को खा जाना चाहते हैं ॥४॥

मुख्य अर्थ लङ्का को नष्ट करने का है, वह बाध हो कर ग्रसना कहना रूढ़ि लक्षणा है।

दो०—सहज सूर कपि भालु सब, पुनि सिर पर प्रभु राम ।
रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिँ संग्राम ॥५५॥

सब बन्दर और भालु सहज ही शूरवीर हैं, फिर उनके सिर पर मालिक (रक्षक) रामचन्द्रजी हैं । हे रावण ! वे करोड़ों काल को भी युद्ध में जीत सकते हैं ॥५५॥

यहाँ रावण के तीसरे प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ, अब चौथे प्रश्न का उत्तर देता है ।

चौ०—राम तेज-बल-बुधि बिपुलाई । सेष सहस-सत सकहिँ न गाई ॥
सक सर एक सोखि सत सागर । तव भ्रातहि पूछेउ नय-नागर ॥१॥

रामचन्द्रजी के प्रताप, बल और बुद्धि की अधिकता को सौ हज़ार शेष भी नहीं कह सकते (जिन्हें दो हज़ार जीभ है, फिर एक मुख से मैं कैसे वर्णन कर सकता हूँ) । सैकड़ों समुद्र को वे एक बाण से सुखा सकते हैं, तो भी नीति में चतुर रघुनाथजी ने आप के भाई से पूछा (कि समुद्र कैसे उतरना होगा ? उन्हों ने कहा बिनती कीजिये) ॥१॥

तासु बचन सुनि सागर पाहीं । माँगत पन्थ कृपा मन माहीं ॥
सुनत बचन बिहँसा दससीसा । जौं असि मति सहाय कृत कीसा ॥२॥

उनकी बात सुनकर समुद्र से रास्ता माँग रहे हैं, रामचन्द्रजी के मन में दया है (वे चाहते हैं कि सेना पार हो जाय और सागर की मर्य्यादा बनी रहे) । यह वचन सुनते ही रावण हँसा और बोला कि जब बन्दर सहायक हैं तभी ऐसी बुद्धि है ॥ २ ॥

यहाँ पाँचवें प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ ।

सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई । सागर सन ठानी मचलाई ॥
मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई । रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई ॥३॥

स्वाभाविक डरपोंक बातों की दृढ़ता दिखा कर नादान बालकों की तरह समुद्र से हठ ठाने है । इससे मैं शत्रु की बुद्धि और बल का थाह पा गया, अरे मूर्ख ! तू क्या उस की झूठी बड़ाई करता है ॥३॥

सचिव सभीत बिभीषन जाके । बिजय बिभूति कहा जग ताके ॥
सुनि खल बचन दूत रिस बाढ़ी । समय बिचारि पत्रिका काढ़ी ॥४॥

डरपोंक विभीषण जिसका मन्त्री है, उसको संसार में विजयलक्ष्मी कहाँ से मिल सकती है ! दुष्टता के वचन सुन कर दूत को क्रोध बढ़ आया, मौका समझ कर उसने चिट्ठी निकाल कर दी ॥४॥

रामानुज दीन्ही यह पाती । नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन । सचिव बोलि सठ लाग बँचावन ॥५॥

शुक ने कहा—हे नाथ ! रामचन्द्रजी के छोटे भाई ने यह पत्रिका दी है, इसको पढ़वा

६४
कर छाती ठण्ढी कीजिये । रावण ने हँस कर बाँयें हाथ से ली और मन्त्री को बुला कर वह मूर्ख चिट्ठी पढ़वाने लगा ॥ ५ ॥

"छाती ठण्डी कीजिये" इस वाक्य में ध्वनि है कि जो आप कहते हैं भेंट हुई या कि लौट गये ? इस पत्रिका से विश्वास कीजिये कि वे लौटनेवाले हैं ।

दो०--बातन्ह मनहिँ रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस ।
राम बिरोध न उबरसि , सरन बिष्नु अज ईस ॥

(पत्रिका में लिखा है कि) अरे मूर्ख ! बातों से मन को प्रसन्न करके तू अपने कुल का नाश मत कर । रामचन्द्रजी के विरोध से विष्णु, ब्रह्मा और शिव की शरण जाने पर भी तेरा बचाव न होगा ।

की तजि मान अनुज इव, प्रभु-पद-पङ्कज भृङ्ग ।
होइ कि राम सरानल, खल कुल सहित पतङ्ग ॥५६॥

या तो अपने छोटे भाई की तरह अभिमान छोड़ कर प्रभु के चरण-कमलों का भ्रमर हो । अथवा अरे दुष्ट ! रामचन्द्रजी के बाण रूपी अग्नि में परिवार सहित पाँखी हो (कर भस्मीभूत हो) ॥ ५६ ॥

चौ०--सुनत सभय मन मुख मुसुकाई । कहत दसानन सबहि सुनाई ॥
भूमि परा कर गहत अकासा । लघु तापस कर बाग-बिलासा ॥१॥

सुनते ही रावण मन में भयभीत हुआ, परन्तु प्रत्यक्ष में मुख से मुस्कुरा कर और सब को सुना कर कहने लगा कि बड़ा तपस्वी (राम) धरती पर पड़ा हुआ आकाश पकड़ता है अर्थात् स्वयम् राज्य से निकाला गया जङ्गल पहाड़ों में भटकता है और दूसरों को राज्य देता फिरता है, छोटे तपस्वी का यह वाग्विलास ! (कैसी लम्बी डींग हाँकी है ?) ॥ १ ॥

मुख से मुस्कुरा कर राम-लक्ष्मण का उपहास करने में रावण का गूढ़ अभिप्राय अपना भय छिपाने का है । लघु से बड़े तपस्वी की कल्पना होना 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है ।

कह सुक नाथ सत्य सब बानी । समुझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी ॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा । नाथ राम सन तजहु बिरोधा ॥२॥

शुक ने कहा--हे नाथ ! यह सब वाणी सत्य है, आप अहङ्कारी प्रकृति छोड़ कर समझिये । स्वामिन् ! मेरी बात क्रोध त्याग कर सुनिये, रामचन्द्रजी से विरोध त्याग दीजिये ॥२॥

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ । जद्यपि अखिल लोक कर राऊ ॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहीं । उर अपराध न एकउ धरिहीं ॥३॥

यद्यपि रघुनाथजी सम्पूर्ण लोकों के मालिक हैं, तथापि उन का स्वभाव बहुत कोमल है । प्रभु रामचन्द्रजी मिलते ही आप पर कृपा करेंगे और एक भी अपराध को मन में न ले आवगे ॥ ३ ॥

जनक-सुता रघुनाथहि दीजै । एतना कहा मोर प्रभु कीजै ॥
जब तेहि देन कहा बैदेही । चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही ॥४॥

हे प्रभो ! इतना मेरा ही कहना कीजिये कि जानकीजी को रघुनाथजी को दे दीजिये। जब उसने जनकनन्दिनी को देने को कहा, तब दुष्ट रावण ने उसे लात मारा ॥ ४ ॥

नाइ चरन सिर चला सो तहाँ । कृपासिन्धु रघुनायक जहाँ ॥
करि प्रनाम निज कथा सुनाई । राम कृपा आपनि गति पाई ॥५॥

वह रावण के चरणों में सिर नवा कर वहाँ चला जहाँ दयासागर रघुनाथजी थे। प्रणाम करके अपनी कथा कह सुनाई और रामचन्द्रजी की कृपा से अपनी गति पाई ॥ ५ ॥

रिषि अगस्ति के साप भवानी । राच्छस भयउ रहा मुनि ज्ञानी ॥
बन्दि राम-पद बारहि बारा । मुनि निज आस्त्रम कहँ पग धारा ॥६॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! शुक ज्ञानी मुनि था, अगस्त्य ऋषि के शाप से राक्षस हुआ था। बार बार रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम करके मुनि अपने आश्रम को चले गये ॥ ६ ॥

शुक की कथा अध्यात्म रामायण में इस प्रकार है—ये ब्रह्मनिष्ठ मुनि थे। एक बार यज्ञ करके अगस्त्य मुनि को निमन्त्रित किया। शुकमुनि से वैर रखनेवाला वज्रदंष्ट्र नाम का राक्षस अगस्त्यजी का रूप धारण कर भोजन से पूर्व ही मिला और कहा कि सामिष भोजन बनवाना। उधर शुकमुनि की स्त्री को माया से छिपा कर आप उसका रूप लेकर सामिष पाक बनाया और उसमें मनुष्य का मांस मिला दिया। अगस्त्यमुनि भोजन करने बैठे, उन्हें तपोबल से मालूम हो गया कि नरमांस है। इस राक्षसीपन से क्रुद्ध होकर शुक को राक्षस होने का शाप दिया। शुक के प्रार्थना करने पर कहा यद्यपि तुम निर्दोष हो, पर पहले नहीं बोले, अब तुम्हें राक्षस होना ही पड़ेगा। उस शरीर से तुम्हें परमात्मा रामचन्द्रजी के दर्शन होंगे, तब शाप मुक्त होकर अपनी गति पाओगे।

दो०—बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति ॥५७॥

तीन दिन बीत गये, पर जड़ समुद्र ने विनती नहीं स्वीकार की। तब रामचन्द्रजी क्रोध से वचन बोले कि बिना भय के प्रीति नहीं होती ॥ ५७ ॥

चौ०—लछिमन बान सरासन आनू । सोखउँ बारिधि बिसिख-कृसानू ॥
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपन सन सुन्दर नीती ॥१॥

हे लक्ष्मण ! धनुष-बाण ले आओ, मैं अग्नि-बाण से समुद्र को सुखा दूँगा। दुष्ट से बिनती, कपटी से प्रीति, स्वाभाविक कञ्जूस से सुन्दर नीति कहना ॥ १ ॥

ममता रत सन ज्ञान कहानी । अति लोभी सन बिरति बखानी ॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा । ऊसर बीज बये फल जथा ॥२॥

अज्ञानी से ज्ञान की कथा, अत्यन्त लोभी से वैराग्य वर्णन, क्रोधी से सौम्यता और

६६
कामियों से हरिकथा का कहना वैसा ही निष्फल है, जैसे ऊसर (रेहँवाली परती ज़मीन) में बीज बोने का फल होता है ॥२॥

असकहि रघुपति चाप चढ़ावा । यह मत लछिमन के मन भावा ॥
सन्धानेउ प्रभु बिसिख कराला । उठी उदधि उरअन्तर ज्वाला ॥३॥

ऐसा कह कर रघुनाथजी ने धनुष चढ़ाया, यह मत लक्ष्मणजी के मन में अच्छा लगा। प्रभु ने विकराल बाण का सन्धान किया, साथ ही समुद्र के हृदय में ज्वाला उठी ॥३॥

बाण का सन्धान करना कारण; समुद्र में ज्वाला उत्पन्न होना कार्य्य, दोनों का साथ ही प्रकट होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

मकर उरग झष-गन अकुलाने । जरत जन्तु जलनिधि जब जाने ॥
कनकथार भरि मनि गन नाना । बिप्र रूप आयेउ तजि माना ॥४॥

मगर, साँप और मच्छ आदि जीवगण व्याकुल हो उठे; जब समुद्र ने उन्हें जलते जाना, तब सुवर्ण के थाल में नाना प्रकार के मणियों को भर कर अभिमान त्याग ब्राह्मण के रूप में सामने आया ॥४॥

ब्राह्मण का वेष लेने में अवध्य होने की ध्वनि है।

दो०-काटेहि पै कदली फरइ, कोटि जतन कोउ सींच ।
बिनय न मान खगेस सुनु- डाटेहि पै नव नीच ॥५८॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज! सुनिये, केला काटने ही पर फलता है चाहे कोई करोड़ों यत्न से सींचे। नीच बिनती नहीं मानते, वे डाटने ही पर नवते हैं ॥५८॥

कदली काटने ही पर फलता-उपमेय वाक्य है और नीच डाटने ही पर नवता-उपमान वाक्य है। बिना वाचक पद के केलावृक्ष और नीच पुरुष में समता दिखाने का भाव प्रतिबिम्बित होना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

चौ०-सभय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे । छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥
गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥१॥

समुद्र भयभीत हो प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों को पकड़ कर कहने लगा—हे नाथ! मेरे सब अपराधों को क्षमा कीजिये। स्वामिन्! आकाश, पवन, अग्नि, पानी और पृथ्वी इन का स्वाभाविक जड़ करनी है अर्थात् ये पाँचो जड़ में गिने जाते हैं ॥१॥

समुद्र के कथन में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है कि जड़ की जड़ता क्षमा योग्य है, प्रकृति के निर्माणकर्त्ता आप ही हैं। आपने इन्हें जड़ बनाया है, फिर मेरा कौन सा दोष है?

तव प्रेरित माया उपजाये । सृष्टि हेतु सब ग्रन्थन्हि गाये ॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जसि अहई । सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥२॥

आप की आज्ञा से माया ने सृष्टि के लिये इन्हें उत्पन्न किया है, इस को सभी ग्रन्थों ने कहा है। प्रभु की आज्ञा जिसको जैसी है, वह उसी तरह रहने से सुख पाता है ॥२॥

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही । मरजादा पुनि तुम्हरिय कीन्ही ॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥३॥

स्वामी ने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी, फिर मेरी मर्य्यादा भी तो आप ही की बनाई है। ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री ये सभी ताड़ना के अधिकारी हैं ॥३॥

समुद्र ने पहले विशेष बात कही कि स्वामी ने मुझे शिक्षा दे कर अच्छा किया। फिर उसके समर्थन में सामान्य बात कहता है कि मेरी मर्य्यादा भी तो आप ही की बनाई है। पर इतने से भी सन्तुष्ट न हो कर विशेष उदाहरण से समर्थन करता है कि ढोल आदि ताड़ना ही के अधिकारी हैं 'विकस्वर अलंकार है।

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई । उतरिहि कटक न मोरि बड़ाई ॥
प्रभु आज्ञा अपेल स्रुति गाई । करउ सो बेगि जो तुम्हहिँ सुहाई ॥४॥

स्वामी के प्रताप से मैं सूख जाऊँगा और सेना उतर जायगी, पर इसमें मेरी बड़ाई (मर्य्यादा की रक्षा) नहीं है। प्रभु की आज्ञा को वेदों ने अटल कही है जो आप को अच्छा लगे वह कीजिये ॥४॥

मेरे लिये आप की आज्ञा है कि मैं मर्य्यादा का त्याग न करूँ अर्थात् न सूखूँ और न उमड़ूँ अपनी सीमा पर स्थिर रहूँ। यह लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है।

दो०—सुनत बिनीत बचन अति, कह कृपाल मुसुकाइ ।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटक, तात सो कहहु उपाइ ॥५९।

समुद्र के अत्यन्त नम्र वचन सुनते ही कृपालु रामचन्द्रजी ने मुस्कुरा कर कहा कि हे तात! जिस प्रकार वानरी सेना उतरे वही उपाय कहो? ॥५८॥

चौ०—नाथ नील नल कपि दोउ भाई । लरिकाई रिषि आसिष पाई ॥
तिन्ह के परस किये गिरि भारे । तरिहहिँ जलधि प्रताप तुम्हारे ॥१॥

हे नाथ! नील और नल वानर दोनों भाई लड़कपन में ऋषियों से आशीर्वाद पाया है। उनके छूने से और आप के प्रताप से बड़े बड़े पर्वत अगाध जल पर उतरायँगे ॥१॥

लड़कपन में नील नल दोनों भाई ऋषियों के स्नान के पत्थर और सालिग्राम को गहरे जल में फेंक दिया करते थे। जिससे मुनियों को बड़ा कष्ट होता था। उन्हों ने शाप दिया कि जो ऐसी दुष्टता करता है उसके छूने से पत्थर पानी पर उतरा जाँयगे। उस शाप रूपी दोष को समुद्र गुण रूप आशीर्वाद कहता है।

मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई । करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय । जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय ॥२॥

फिर मैं भी स्वामी की प्रभुता हृदय में रख कर अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करूँगा। हे नाथ! इस तरह समुद्र पर पुल बँधवा दीजिये, जिसमें यह सुन्दर कीर्त्ति तीनों लोकों में गाई जाय ॥२॥

६८

एहि सर मम उत्तर तट बासी । हतहु नाथ खल नर अघ रासी ॥
सुनि कृपाल सागर मन पीरा । तुरतहि हरी राम रनधीरा ॥३॥

हे नाथ ! इस वाण से पाप के राशि दुष्ट मनुष्य हमारे उत्तरी किनारे पर निवास करते हैं, उनका वध कीजिये । रणधीर कृपालु रामचन्द्रजी ने यह सुन कर तुरन्त ही समुद्र के मन का दुःख दूर कर दिया ॥३॥

समुद्र का दुष्ट वध के लिये कहना कारण और तुरन्त उनका वध करना कार्य्य दोनों का साथ ही होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है । ये शूद्र आभीर जाति के बड़े पापात्मा थे, जो समुद्र के किनारे द्रुमकुल्य नामक प्रदेश में रहते थे । तरह तरह के उपद्रव करके समुद्र को दुःख दिया करते थे ।

देखि राम बल पौरुष भारी । हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी ॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा । चरन बन्दि पाथोधि सिधावा ॥४॥

रामचन्द्रजी के भारी बल और पुरुषार्थ को देख कर समुद्र प्रसन्न होकर सुखी हुआ । उसने (उन आभीरों का) सम्पूर्ण चरित्र कह कर प्रभु को सुनाया और चरणों में प्रणाम करके चला गया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

निज भवन गवनेउ सिन्धु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ ।
यह चरित कलिमलहर जथामति, दास तुलसी गायऊ ॥
सुख भवन संसय समन दमन बिषाद रघुपति गुन गना ।
तजि सकल आस भरोस गावहि, सुनहि सन्तत सठ मना ॥६॥

समुद्र अपने स्थान को गया और रघुनाथजी को उसकी सलाह अच्छी लगी । यह कलि के पापों का हरनेवाला चरित्र अपनी बुद्धि के अनुसार तुलसीदास ने गाया है । रघुनाथजी के गुण-समूह सुख के भवन, सन्देह नाशक और दुःखको दमन करनेवाले हैं । अरे मूर्ख मन ! तू सम्पूर्ण आशाओं को त्याग कर निरन्तर विश्वास-पूर्वक हरिकथा को गान कर और सुन ॥६॥

दो०--सकल सुमङ्गल दायक, रघुनायक गुन गान ।
सादर सुनहिं ते तरहि भव,-सिन्धु बिना जलजान ॥६०॥

श्रीरघुनाथजी के गुणों का गान सम्पूर्ण मङ्गलों का देनेवाला है । जो आदर के साथ सुनेंगे वे बिना जहाज के संसार-सागर से पार हो जाँयगे ॥ ६० ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुष विध्वंसने
ज्ञान सम्पादनो नाम पञ्चमः सोपानः
समाप्तः ।

इस प्रकार सम्पूर्ण कलिमल-संहारक श्रीरामचरितमानस में ज्ञान सम्पादन नामवाला यह पाँचवाँ सोपान समाप्त हुआ ।

शुभमस्तु-मङ्गलमस्तु
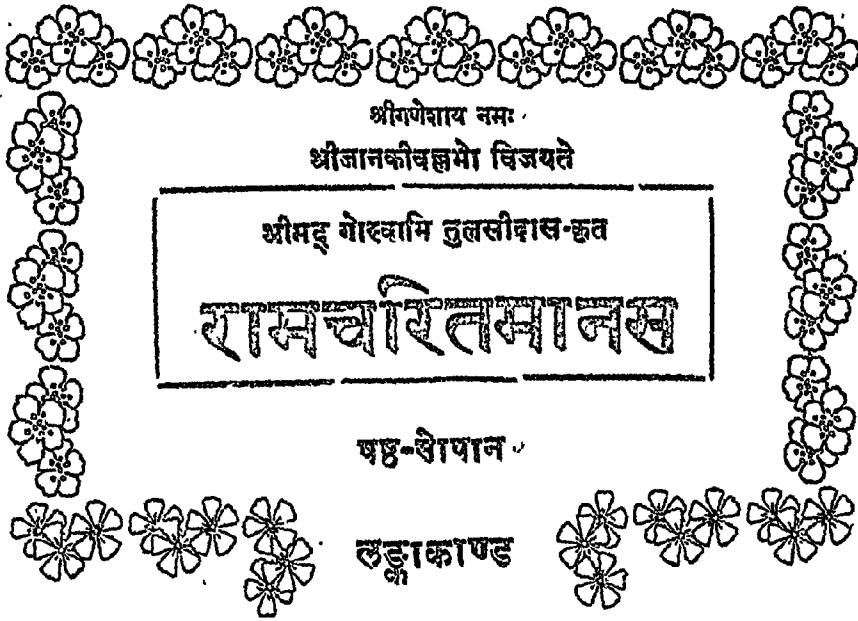
स्रग्धरा-वृत्त ।

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहम् ।
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ॥
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवम् ।
वन्देकन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥१॥

जो रामचन्द्र शिवजी से सेवित, संसारी भय के हरनेवाले, काल रूपी मतवाले हाथी के सिंह, योगिराजों को ज्ञान द्वारा प्राप्त होनेवाले, गुणों के भण्डार, अजेय, गुणों से रहित, निर्दोष, माया से पृथक, देवताओं के स्वामी, दुष्टों के संहार में तत्पर, ब्राह्मण वृन्द के प्रधान देवता, मेघ के समान सुन्दर, कमल के सदृश नेत्रवाले और पृथ्वी के मालिक हैं उन भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

शार्दूलविक्रीडित-वृत्त ।

शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरम् ।
कालव्यालकरालभूषणधरं गङ्गाशशाङ्क प्रियम् ॥
काशीशं कलिकल्मषौघ शमनं कल्याण कल्पद्रुमम् ।
नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शङ्करम् ॥२॥

शङ्ख और चन्द्रमा के समान कान्तिवाले, अत्यन्त सुन्दर शरीरधारी, सिंह का चर्म पहने

हुए, भीषण काल रूपी सर्पों के भूषण धारण किये, गङ्गा और चन्द्रमा पर प्रेम रखनेवाले, काशीपति, कलियुग के पाप-समूह को नसानेवाले, कल्याण के कल्पवृक्ष, गुण के राशि, कामदेव को भस्म करनेवाले और पार्वती के स्वामी शङ्करजी को मैं बार बार प्रणाम करता हूँ ॥२॥

गुटका में गुणनिधिं श्री शङ्करं मन्मथारिम्' पाठ है । पर अर्थ दोनों पाठों का एक ही है

अनुष्टुप-वृत्त ।

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपिदुर्लभम् ।
खलानां दण्डकृद्योसौ शङ्करः शं तनोतु माम ॥३॥

जो शिवजी सत्पुरुषों को निश्चय ही दुर्लभ मोक्ष देते हैं और जो खलों को दण्ड देनेवाले हैं वे शङ्कर मेरा कल्याण करें ॥ ३ ॥

दो०—लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड ।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदंड ॥

तुलसीदासजी कहते हैं—हे मन ! जिनका काल धनुष है और लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग तथा कल्प पर्य्यन्त तीक्ष्ण बाण हैं, उन रामचन्द्रजी का तू क्यों नहीं भजन करता ? ॥

यहाँ धनुष उपमेय और काल उपमान एवम् बाण उपमेय तथा लव से ले कर कल्प पर्य्यन्त अर्थात् छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा समय उपमान है । दोनों में पूर्णरूप से एक रूपता वर्णन करना 'समअभेदरूपक अलंकार और उल्लेख' की संसृष्टि है । आँख के पलक गिरने का नाम है लव, ६० लव का एक निमेष, ६० निमेष का परमाणु, ६० परमाणु का पल, ६० पल की घड़ी, ६० घड़ी का दिन रात, ३० दिन रात का महीना, १२ महीने का वर्ष होता है । इसी वर्ष से १७ लाख २८ हजार वर्ष सत्ययुग, १२ लाख ९६ हजार वर्ष त्रेता, ८ लाख ६४ हज़ार वर्ष द्वापर और ४ लाख ३२ हज़ार वर्ष कलियुग की अवधि है । ये चारों युग एक एक हज़ार बार बीतते हैं तब एक कल्प होता है और यही कल्प ब्रह्मा का एक दिन है । अपने दिन से ३० दिन के मास और १२ मास के वर्ष से जब १०० वर्ष ब्रह्मा के होते हैं, उसको महाप्रलय या महाकल्प कहते हैं ।

सो०—सिन्धु बचन सुनि राम, सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ ।
अब बिलम्ब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक ॥

समुद्र के वचन सुन कर रामचन्द्रजी ने मन्त्रियों को बुला कर ऐसा कहा—अब देरी किस काम की है, सेतु की रचना करो जिस से कटक उतरे ॥

सुनहु भानु-कुल-केतु, जामवन्त करजोरि कह ।
नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिँ ॥

जाम्बवान हाथ जोड़ कर कहने लगे—हे सूर्य्यकुल केपताका स्वामिन् ! सुनिए, आप का नाम ही सेतु है, जिस पर चढ़ कर मनुष्य संसार-सागर के पार उतर जाते हैं ।

चौ०—यह लघु जलधि तरत कति बारा । अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा ॥
प्रभु प्रताप बड़वानल भारी । सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी ॥१॥

यह छोटा समुद्र पार करने में कितनी देर है ? अर्थात् पार उतरा उतराया है, यह सुन कर फिर हनुमानजी ने कहा—हे स्वामिन् ! आप के प्रताप रूपी भारी बड़वानल ने पहले समुद्र का जल सुखा दिया था ॥१॥

जाम्बवान के इस कथन में कि जिनका नाम संसार-सागर के लिए सेतु है, उन्हें इस छोटे से समुद्र के पार होने में कितनी देर है ? 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है । हनूमानजी का यह कहना कि प्रभु के प्रताप रूपी बड़वानल ने पहले ही समुद्र का जल सोख लिया है । कारण से पहले कार्य्य का प्रकट होना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है ।

तव रिपु-नारि रुदन जल-धारा । भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा ॥
सुनि अति-उक्ति पवन-सुत केरी । हरषे कपि रघुपति तन हेरी ॥२॥

आप के शत्रु (रावण) की स्त्रियों के रोने से जल की धारा बही; उससे फिर यह भरा, इसी से खारा हुआ । पवनकुमार की यह अत्युक्ति सुन कर वानर-वृन्द रघुनाथजी की ओर देख कर प्रसन्न हुए ॥२॥

पहले हनूमानजी कह आये हैं कि आप के प्रताप रूपी बाड़वाग्नि ने प्रथम ही समुद्र के जल को सुखा दिया है, फिर यह जल-पूर्ण कैसे दिखाई देता है ? इसका युक्ति से समर्थन करना कि शत्रु की स्त्रियों के आँसू से भरा 'काव्यलिङ्ग अलंकार है' । समुद्रजल उपमेय को असत्य ठहरा कर यह कहना कि आँसू रूपी उपमान से भरा और इसी से खारा हुआ यह हेतु बतलाना 'हेत्वापह्नुति अलंकार' की संसृष्टि है ।

जामवन्त बोले दोउ भाई । नल-नीलहि सब कथा सुनाई ॥
राम-प्रताप सुमिरि मन माहीं । करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥३॥

जामवन्त ने नल और नील दोनों भाइयों को बुलाया और सब कथा कह सुनाई । उन्हों ने कहा—रामचन्द्रजी के प्रताप को मन में स्मरण कर के सेतु की रचना करो, इसमें कुछ भी परिश्रम नहीं है ॥३॥

जाम्बवान ने पुल बनाने की आवश्यकता कह कर नल-नील से कहा कि लड़कपन में आप लोगों को मुनियों का शाप हुआ कि जिस पत्थर को छुओगे वह काठ की तरह पानी पर तिरेगा । वह शाप आज के लिये आशीर्वाद रूप है, इससे आप दोनों भाइयों को समुद्र में सेतु निर्माण के लिये कुछ प्रयास न होगा । जाम्बवान के इस कथन में अनुज्ञा और काव्यलिङ्ग की ध्वनि है ।

बोलि लिये कपि निकर बहोरी । सकल सुनहु बिनती कछु मोरी ॥
राम-चरन-पङ्कज उर धरहू । कैातुक एक भालु कपि करहू ॥४॥

फिर वानर-वृन्द को बुला लिया और उनसे कहा—भाइयो ! आप सब मेरी कुछ

विनती सुनिये। रामचन्द्रजी के चरण-कमल हृदय में रख वानर और भालु मिल कर पर्व खेल करते जाओ ॥४॥

धावहु मरकट-बिकट बरूथा। आनहु बिटप गिरिन्ह के जूथा ॥
सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप-समूहा ॥५॥

झुण्ड के झुण्ड भीम बन्दर दौड़ो, वृक्ष तथा पहाड़ों के समूह ले आओ। सुन कर वानर भालु हुल्लड़ कर के यह कहते हुए चले कि प्रताप पुञ्ज रघुनाथजी की जय हो ॥५॥

दो०—अति उतङ्ग गिरि पादप, लीलहिं लेहिं उठाइ ।
आनि देहिं नल नीलहि, रचहिं ते सेतु बनाइ ॥१॥

अत्यन्त ऊँचे पहाड़ और वृक्ष खेल में ही उठा लेते हैं, ला ला कर नल नील को देते हैं, वे सुधार कर सेतु बनाते हैं ॥१॥

सभा की प्रति में 'अति उतङ्ग तरु सैलगन' पाठ है। वहाँ झुण्ड के झुण्ड पहाड़ और वृक्ष, अर्थ होगा।

चौ०—सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कन्दुक इव नल नील ते लेहीं ॥
देखि सेतु अति सुन्दर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना ॥१॥

बड़े बड़े पहाड़ बन्दर ला लाकर देते हैं नलनील गेंद के समान लेते (और सेतु बनाते) हैं। सेतु की अत्यन्त सुन्दर रचना देख कृपानिधान रामचन्द्रजी हँस कर वचन बोले ॥१॥

परम-रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी
करिहौं इहाँ सम्भु थापना। मोरे हृदय परम-कलपना ॥२॥

यह भूमि अतिशय रमणीय और श्रेष्ठ है, इसकी अनन्त महिमा वर्णन नहीं की जा सकती। यहाँ मैं शिवजी की स्थापना करूँगा, मेरे मन में हद से ज्यादा इसकी उद्भावना (अनुमान) है ॥२॥

सुनि कपीस बहु दूत पठाये। मुनिबर सकल बोलि लेइ आये ॥
लिङ्ग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ॥३॥

यह सुन कर सुग्रीव ने बहुत से दूत भेजे, वे जा कर समस्त मुनिवरों को बुला लाये। लिङ्ग स्थापन कर के विधि-पूर्वक पूजा की और कहा—शिवजी के समान मुझे दूसरा कोई प्यारा नहीं है ॥३॥

सिव-द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावा ॥
सङ्कर-बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥४॥

जो शिवजी का द्रोही होकर मेरा भक्त कहाता है, वह मनुष्य स्वप्न में भी मुझे अच्छा नहीं लगता। यदि शङ्कर-विमुखी मेरी भक्ति चाहे तो वह अल्पबुद्धि, मूर्ख और नरक भोगने-वाला (पापी) है ॥४॥

दो०--सङ्कर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिँ कलप भरि, घोर नरक महँ बास ॥२॥

मेरा द्रोही शङ्कर का प्यारा होना चाहे या शिवजी से द्रोह करनेवाला मेरा दास हो तो वे मनुष्य कल्पपर्यन्त भीषण नरक में वास करते हैं ॥२॥

चौ०--जो रामेस्वर दरसन करिहहिँ। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिँ॥
जो गङ्गा-जल आनि चढ़ाइहि । सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥१॥

जो रामेश्वर के दर्शन करेंगे, वे शरीर त्यागने पर हमारे लोक (वैकुण्ठ) को जाँयगे और जो गङ्गाजल ला कर चढ़ावेंगे वे मनुष्य सायुज्य-मोक्ष पावेंगे ॥ १ ॥

यहाँ "रामेश्वर" शब्द में 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के' इस चौपाई के अनुसार तीनों अर्थ प्रकट होते हैं । जैसे—बहुव्रीहि समास करने से, राम हैं ईश्वर जिसके, यह सेवक भाव हुआ । षष्ठी तत्पुरुष करने से राम का ईश्वर, यह स्वामिभाव हुआ । द्वन्द समास करने से रामचन्द्र और महादेव जहाँ निवास करें वह स्थान, यह सखा भाव हुआ । इस पर किसी कवि ने एक दोहा लिखा है—राम कहैं तत्पुरुष है, बहुव्रीहि हर गाय । कर्मधारये मुनि निकर, रामेश्वर पद पाय ॥

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि । भगति मोरि तेहि सङ्कर देइहि ॥
ममकृत सेतु जो दरसन करिही । सो बिनु स्रम भव-सागर तरिही ॥२॥

जो निष्कामभाव से छल छोड़ कर सेवा करेंगे, उन्हें शङ्करजी मेरी भक्ति देंगे । हमारे किये हुए सेतु का जो दर्शन करेंगे वे विना परिश्रम संसार रूपी समुद्र से पार हो जाँयगे ॥ २ ॥

राम बचन सब के जिय भाये । मुनिबर निज निज आस्रम आये ॥
गिरिजा रघुपति के यह रीती । सन्तत करहिँ प्रनत पर प्रीती॥३॥

रामचन्द्रजी के वचन सब के मन में अच्छे लगे, मुनिवर अपने अपने आश्रम को लौट आये । शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा ! रघुनाथजी की यह रीति है, वे अपने भक्तों पर सदा प्रीति करते हैं ॥ ३ ॥

बाँधेउ सेतु नील-नल-नागर । राम कृपा-जस भयउ उजागर ॥
बूड़हिँ आनहिँ बोरहिँ जेई । भये उपल बोहित सम तेई ॥४॥

प्रवीण नल-नील ने सेतु बाँधा, रामचन्द्रजी की कृपा से उनका यश विख्यात हुआ । जो दूसरों को डुबाते हैं और आप भी डूब जाते हैं, वे ही पत्थर जहाज के समान हुए ॥४॥

पत्थर पानी पर उतराने के कारण नहीं हैं, वे पानी पर उतरा गये 'चतुर्थ विभावना अलंकार' है ।

महिमा यह न जलधि कै बरनी । पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी ॥५॥

यह समुद्र की महिमा नहीं वर्णन की है, न पत्थर का गुण है और न वानरों की करनी है ॥ ५ ॥

दो०—श्रीरघुबीर प्रताप तें, सिन्धु तरे पाषान ।
ते मतिमन्द जे राम तजि, भजहिँ जाइ प्रभु आन ॥३॥

श्रीरघुनाथजी के प्रताप से समुद्र में पत्थर उतरा गये । इन रामचन्द्रजी को छोड़ कर जो दूसरे स्वामी को जा कर भजते हैं, वे नीच-बुद्धि हैं ॥ ३ ॥

समुद्र की महिमा और वानरों के गुण का निषेध कर के उसके धर्म को 'रघुवीर-प्रताप' में स्थापन करना 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है । रामचन्द्रजी विषयक रतिभाव के अङ्ग से शान्तरस का वर्णन होना 'रसवत अलंकार' है ।

चौ०—बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा । देखि कृपानिधि के मन भावा ॥
चली सेन कछु बरनि न जाई । गरजहिँ मरकट भट समुदाई ॥१॥

सेतु बँध गया, उसका बहुत अच्छा मजबूत बनावट देख कर कृपानिधान रामचन्द्रजी के मन में वह सुहावना लगा । सेना चली, उसका वर्णन कुछ नहीं किया जा सकता, झुण्ड के झुण्ड वानर योद्धा गरजते हैं ॥ १ ॥

सेतुबन्ध ढिग चढ़ि रघुराई । चितव कृपाल सिन्धु बहुताई ॥
देखन कहँ प्रभु करुनाकन्दा । प्रगट भये सब जलचर-वृन्दा ॥२॥

बँधे हुए पुल के समीप चढ़ कर कृपालु रघुनाथजी समुद्र का विस्तार देखते हैं । दया के मेघ प्रभु रामचन्द्रजी को देखने के लिए सब जल-जीवों के झुण्ड प्रकट हुए ॥२॥

मकर नक्र झख नाना ब्याला । सत-जोजन-तन परम बिसाला ॥
ऐसेउ एक तिन्हहिँ जे खाहीं । एकन्ह के डर तेपि डेराहीं ॥३॥

मगर, घड़ियाल, मछली और नाना प्रकार के सर्प जो बहुत बड़े शरीरवाले चार सौ कोस के हैं । एक ऐसे भी हैं जो उन्हें खा जाते हैं, वे भी (जो सौ योजन लम्बे जीवों को खा जाते हैं) दूसरों के डर से डरते रहते हैं ॥ ३ ॥

इस अतिशयोक्ति से समुद्र की अगाधता सूचित करने की ध्वनि है ।

प्रभुहि बिलोकहिँ टरहिँ न टारे । मन हरषित सब भये सुखारे ॥
तिन्हकी ओट न देखिय बारी । मगन भये हरि रूप निहारी ॥४॥

वे सब प्रभु रामचन्द्रजी को देखते हैं और हटाने से भी नहीं हटते, प्रसन्न होकर मन में सुखी हुए हैं । उनकी आड़ में जल नहीं दिखाई देता है, भगवान की छवि देख कर मगन हो गये हैं ॥ ४ ॥

चला कटक कछु बरनि न जाई । को कहि सक कपि-दल-बिपुलाई ॥५॥

वानरी सेना चली, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता, बन्दरों के दल की अधिकता कौन कह सकता है ? (कोई नहीं) ॥५॥

दो०—सेतुबन्ध भइ भीर अति, कपि नभ-पन्थ उड़ाहिँ ।
अपर जलचरन्हि ऊपर, चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिँ ॥४॥

सेतुबन्ध पर बड़ी भीड़ हुई (रास्ता मिलना कठिन हो गया, तब बहुतेरे) बन्दर आकाश-मार्ग से उड़ कर चले । और कितने ही वानर जल-जीवों पर चढ़ चढ़ कर पार जाते हैं ॥ ४ ॥

चौ०—अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई । बिहँसि चले कृपाल रघुराई ॥
सेन सहित उतरे रघुबीरा । कहि न जाइ कपि-जूथप-भीरा ॥१॥

ऐसा खेल देख कर दोनों भाई हँसे और कृपालु रघुनाथजी चले । सेना के सहित रामचन्द्रजी पार उतरे, वानर सेनापतियों की भीड़ कही नहीं जा सकती ॥१॥

सिन्धु पार प्रभु डेरा कीन्हा । सकल कपिन्ह कहँ आयुस दीन्हा ॥
खाहु जाइ फल मूल सुहाये । सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाये ॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी समुद्र पार जा डेरा किया और सम्पूर्ण बन्दरों को आज्ञा दी कि जा कर तुम लोग अच्छे फल-मूल खाओ, सुनते ही जहाँ तहाँ भालू और बन्दर दौड़े ॥ २ ॥

सब तरु फरे राम-हित-लागी । रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी ॥
खाहिँ मधुर-फल बिटप हलावहिँ । लङ्का सनमुख सिखर चलावहिँ ॥३॥

रामचन्द्रजी के उपकार के लिए सभी वृक्ष फले, समय और बे-समय फलने की चाल उन्हों ने छोड़ दी अर्थात् जिसका समय है वे तो फले ही हैं, पर जिनके फलने का मौसिम नहीं है वे भी फले हैं । वानर मीठे फल खाते और वृक्षों को हिलाते हैं, लङ्का की ओर पत्थर फेंकते हैं ॥३॥

सभा की प्रति में 'रितु अनरितु अकाल गति त्यागी' पाठ है ।

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिँ । घेरि सकल बहु नाच नचावहिँ ॥
दसनन्हि काटि नासिका काना । कहि प्रभुसुजस देहिँ तब जाना ॥४॥

जहाँ कहीं फिरते हुए राक्षस पा जाते हैं, उसे घेर कर वे सब बहुत नाच नचाते हैं । दाँतों से नाक कान काट कर प्रभु रामचन्द्रजी का सुयश कह कर तब जाने देते हैं ॥ ४ ॥

जिन्ह कर नासा कान निपाता । तिन्ह रावनहिँ कही सब बाता ॥
सुनत स्रवन बारिधि-बन्धाना । दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥५॥

जिनके नाक कान का नाश किया उन राक्षसों ने जाकर सब बात रावण से कही । समुद्र का बँध जाना कान से सुनते ही घबरा कर दसों मुख से बोल उठा ॥५॥

दो०--बाँधेउ बननिधि नीरनिधि, जलधि सिन्धु बारीस ।
सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोधि नदीस ॥५॥

क्या सचमुच वननिधि, नीरनिधि, जलधि, सिन्धु, वारीश, तोयनिधि, कम्पति, उदधि, पयोधि, नदीश को बाँध दिया ? ॥५॥

घबराहट से रावण को चित्त-विभ्रम होना 'आवेग सञ्चारी भाव' है, क्योंकि वह अकुला कर साथ ही दसों मुख से बोल उठा कि क्या सचमुच समुद्र पर पुल बँ गया ! छन्द की पूर्ति के लिए कविजी ने समुद्र के दस पर्य्यायी नाम कहे हैं ।

चौ०--व्याकुलता निज समुझि बहोरी । बिहँसि चला गृह करि भय भोरी ॥
मन्दोदरी सुनेउ प्रभु आयो । कौतुक ही पाथोधि बँधायो ॥१॥

अपनी व्याकुलता को समझ फिर हँस कर उस भय को भुला कर राजमहल की ओर चला । मन्दोदरी ने सुना कि प्रभु रामचन्द्रजी खेल ही में समुद्र पर पुल बँधवा कर इस पार आ गये ॥ १ ॥

कर गहि पतिहि भवन निज आनी । बोली परम-मनोहर बानी ॥
चरन नाइ सिर अञ्चल रोपा । सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा ॥२॥

हाथ पकड़ कर पति को अपने महल में ले आई और अत्यन्त मनोहर वाणी बोली । चरणों में सिर नवा कर और आँचल फैला कहने लगी—हे प्यारे ! क्रोध छोड़ कर मेरी बात सुनिए ॥२॥

रावण के हृदय में भय स्थायी भाव है, इसी से रङ्गमहल का मार्ग भूल गया; तब मन्दोदरी हाथ पकड़ कर मन्दिर में लिवा ले गई ।

नाथ बैर कीजे ताही सोँ । बुधि बल सकिय जीति जाही सोँ ॥
तुम्हहिं रघुपतिहि अन्तर कैसा । खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥३॥

हे नाथ ! वैरत्व उसी से करना चाहिए जिससे बुद्धि-बल से जीत हो सके । तुमसे और रघुनाथजी से कैसा अन्तर है जैसे निश्चय ही जुगनू और सूर्य्य ॥३॥

अति बल मधु-कैटभ जिन्ह मारे । महाबीर दिति-सुत सङ्घारे ॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा । सोइ अवतरेउ हरन महि-भारा ॥४॥

जिन्हों ने अत्यन्त बली मधु और कैटभ दैत्यों को मार डाला तथा बड़े बड़े वीर दिति के पुत्रों का संहार किया । जिन्हों ने बलि को बाँध कर (बँधुआ बनाया) और सहस्रार्जुन का वध किया, वे ही भगवान पृथ्वी का बोझ दूर करने के लिए अवतरे हैं ॥४॥

मन्दोदरी को कहना तो यह अभीष्ट है कि रामचन्द्रजी विष्णु के अवतार हैं, परन्तु इस बात को सीधे शब्दों में न कह कुछ घुमा फिरा कर कहना 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है

तासु बिरोध न कीजिय नाथा । काल करम जिव जाके हाथा ॥५॥

हे नाथ ! उनका विरोध न कीजिए, जिनके हाथ में काल, कर्म और जीव सभी हैं ॥५॥

दो०–रामहिँ सैाँपिय जानकी, नाइ कमल-पद माथ ।
सुत कहँ राज समर्पि बन, जाइ भजिय रघुनाथ ॥६॥

जानकी रामचन्द्रजी को सौंप कर उनके कमल-चरणों में मस्तक नवाइये । पुत्र को राज्य दे कर वन में जा रघुनाथजी का भजन कीजिए ॥६॥

चौ०- नाथ दीन दयाल रघुराई । बाघउ सनमुख गये न खाई ॥
चाहिय करन सो सब करि बीते । तुम्ह सुर असुर चराचर जीते ॥१॥

हे नाथ ! रघुनाथजी दीनदयाल हैं, सन्मुख जाने पर तो बाघ[1] भी नहीं खाता । जो करना चाहिए वह सब आप कर चुके, देवता, दैत्य, जड़ और चेतन को जीत लिया (इससे बढ़ कर बड़ाई अब क्या होगी ? ॥१॥

सन्त कहहिं असि नीति दसानन । चौथे पन जाइहि नृप कानन ॥
तासु भजन कीजिय तहँ भरता । जो करता पालन संहरता ॥२॥

हे दशानन ! सत्पुरुषों ने ऐसी नीति कही है कि चौथे पन में राजा को वन में जाना चाहिए । हे स्वामिन् ! वहाँ जाकर आप उनका भजन कीजिए जो जगत के उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले हैं ॥२॥

सोइ रघुबीर प्रनत-अनुरागी । भजहु नाथ ममता सब त्यागी ॥
मुनिबर जतन करहिँ जेहि लागी । भूप राज तजि होहिं बिरागी ॥३॥

वही भक्तों पर प्रेम करनेवाले रघुनाथजी हैं, हे नाथ ! सारा ममत्व छोड़ कर उनको भजिए । जिनके लिए मुनिवर यत्न करते हैं और राजा लोग राज्य छोड़ कर विरागी हो जाते हैं ॥३॥

सोइ कोसलाधीस रघुराया । आयउ करन तोहि पर दाया ॥
जौँ पिय मानहु मोर सिखावन । होइ सुजस तिहुँ पुर अति पावन ॥४॥

वे ही कोशलेश्वर रघुनाथजी तुम्हारे ऊपर दया करने आये हैं । हे प्यारे यदि मेरा सिखावन मानोगे तो तीनों लोकों में आप का अत्यन्त पवित्र यश होगा ॥४॥

दो०–अस कहि नयन नीर भरि, गहि पद कम्पित गात ।
नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात ॥७॥

ऐसा कह कर आँखों में आँसू भर कर, शरीर काँपते हुए पाँव पकड़ कर कहा—हे नाथ ! रघुनाथजी को भजे तो मेरा अहिवात अचल हो (विधवा कहलाने का डर जाता रहे) ॥७॥

---

[1] यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि सन्मुख निगाह रखने पर उसे बाघ नहीं खाता । अथवा व्याघ्र तिरछा होने पर या स्वयम् तिरछे होकर खाता है, सामनेवाले को या सीधे हो कर नहीं खाता, यह उसकी चाल है ।

सभा की प्रति में इस दोहे का पाठ इस प्रकार है 'अस कहि लोचन बारि भरि, गहि पद कम्पित गात । नाथ भजहु रघुवीर-पद, अचल होइ अहिवात' ।

चौ०—तब रावन मय-सुता उठाई । कहइ लाग खल निज प्रभुताई ॥
सुनु तैं प्रिया वृथा भय माना । जग जोधा को मोहि समाना ॥१॥

तब दुष्ट रावण मन्दोदरी को उठा कर अपनी महिमा कहने लगा—हे प्रिये ! सुन, तैंने व्यर्थ ही भय माना है, संसार में मेरी बराबरी का योद्धा कौन है ? ॥१॥

रावण का अन्य योद्धाओं की अपेक्षा अपने में अधिकत्व मानना 'गर्व सञ्चारी भाव' है।

बरुन कुबेर पवन जम काला । भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला ॥
देव दनुज नर सब बस मोरे । कवन हेतु उपजा भय तोरे ॥२॥

मैं ने अपनी भुजाओं के बल से वरुण, कुवेर, पवन, यम, काल आदि सम्पूर्ण दिगपालों को जीत लिया । देवता, दैत्य और मनुष्य सब मेरे वश में हैं, फिर किस कारण तुझे डर उत्पन्न हुआ है ॥ २ ॥

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई । सभा बहोरि बैठ सो जाई ॥
मन्दोदरी हृदय अस जाना । काल-बिबस उपजा अभिमाना ॥३॥

अनेक प्रकार कह कर उसे समझाया, फिर राजसभा में जा कर वह बैठा । मन्दोदरी ने मन में यह समझ लिया कि काल के अधीन होने से ही स्वामी को अहङ्कार उत्पन्न हुआ है. (अब इनका बचना कठिन है) ॥ ३ ॥

सभा आइ मन्त्रिन्ह तेहि बूझा । करब कवनि बिधि रिपु सैं जूझा ॥
कहहिं सचिव सुनु निसिचर-नाहा । बार बार प्रभु पूछहु काहा ॥४॥

सभा में आकर उसने मन्त्रियों से पूँछा कि शत्रु से किस तरह युद्ध करना होगा ! मन्त्री कहने लगे—हे राक्षसराज ! सुनिए, आप बार बार क्या पूछते हैं ! ॥४॥

कहहु कवन भय करिय बिचारा । नर कपि भालु अहार हमारा ॥५॥

कहिए, कौन से भय का विचार किया जाय, मनुष्य वानर और भालु तो हमारे अहार ही हैं ॥ ५ ॥

दो०—बचन सबहि के स्रवन सुनि, कह प्रहस्त कर जोरि ।
नीति-बिरोध न करिय प्रभु, मन्त्रिन्ह मति अति-थोरि ॥८॥

सब के वचन कान से सुन प्रहस्त हाथ जोड़ कर कहने लगा—हे स्वामिन् ! नीति विरुद्ध कार्य्य न कीजिए, मन्त्रियों की बुद्धि बहुत ही तुच्छ है ॥ ८ ॥

चौ०—कहहिँ सचिव सठ ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती॥
बारिधि नाँघि एक कपि आवा। तासु चरित मन महँ सब गावा॥१॥

हे नाथ! ये मूर्ख मन्त्री मुँहदेखी बातें कहते हैं, इस तरह पूरा नहीं पड़ेगा। एक बन्दर समुद्र लाँघ कर आया था, उसकी लीला सब मन में गाते हैं॥ १॥

छुधा न रही तुम्हहिँ तब काहू। जारत नगर कस न धरि खाहू॥
सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥२॥

तब क्या तुम लोगों में किसी को भूख नहीं थी? नगर जलाते समय उसे पकड़ कर क्यों नहीं खा गये? हे स्वामिन्! जो सुनने में अच्छा लगे; पर आगे चल कर दुःख प्राप्त हो, इन मन्त्रियों ने आप को ऐसी ही सलाह सुनाई है॥ २॥

जेहि बारीस बँधायउ हेला। उतरेउ सेन-समेत सुबेला॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिँ सब गाल फुलाई॥३॥

जिन्होंने खेल ही में समुद्र बँधवा दिया और सेना के सहित सुबेल-पर्वत पर आ उतरे हैं। भाइयो! उन्हें मनुष्य कहते हो और सब गाल फुला कर यह बात कहते हो कि हम खा जायँगे॥३॥

'सुबेला' शब्द में श्लेष अलंकार है। कवि इच्छित अर्थ के अतिरिक्त अच्छे मुहूर्त्त का भी अर्थ प्रकट होता है।

तात बचन मम सुनु अति-आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर॥
प्रिय बानी जे सुनहिँ जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥४॥

हे पिताजी! आप मेरी बातें अत्यन्त आदर से सुनिए और अपने मन में मुझे डरपोक न समझिए। संसार में ऐसे बहुत मनुष्य हैं जो प्रिय वाणी कहते और जो सुनते हैं॥ ४॥

बचन परम-हित सुनत कठोरे। सुनहिँ जे कहहिँ ते नर प्रभु थोरे॥
प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥५॥

जो बात सुनने में कठोर परन्तु अधिक भलाई की हो, हे राजन्! इस तरह जो सुनते और कहते हैं वे मनुष्य थोड़े हैं। सुनिये, नीति तो यह है कि पहले दूत भेजिए, फिर सीता को दे कर प्रीति (सुलह) कर लीजिए॥५॥

दो०—नारि पाइ फिरि जाहिँ जौँ, तौ न बाढ़इय रारि।
नाहिँ त सनमुख समर-महि, तात करिय हठि मारि॥९॥

यदि स्त्री पा कर लौट जाँय तो तकरार न बढ़ाइये। हे तात! जब वे इतना करने पर भी न मानें तो संग्राम-भूमि में हठ कर के युद्ध कीजिये॥९॥

चौ०-यह मत जौं मानहु प्रभु मोरा । उभय प्रकार सुजस जग तोरा ॥
सुत सन कह दसकंठ रिसाई । असि मति सठ केहि तोहि सिखाई ॥१॥

हे राजन् ! यदि मेरी यह सम्मति मान लीजिये तो दोनों प्रकार (सुलह और युद्ध से) संसार में आप की सुकीर्त्ति ही होगी । रावण क्रोधित हो कर पुत्र से कहने लगा—अरे मूर्ख ! तुझे ऐसी बुद्धि किसने सिखाई है ? ॥ १ ॥

प्रहस्त ने रावणके कल्याण की सलाह दे कर अच्छा उद्योग किया, परन्तु उससे बुरा फल क्रोध का प्रकट होना 'तृतीय विषम अलंकार' है ।

अबहीं तें उर संसय होई । बेनु-मूल सुत भयेहु घमोई ॥
सुनि पितु गिरा परुष अतिघोरा । चला भवन कहि बचन कठोरा ॥२॥

अभी से मन में सन्देह होता है, पुत्र ! तू बाँस की जड़में भरभण्डा पैदा हुआ ? इस तरह पिता की अत्यन्त भीषण वाणी सुन कर वह घर को चला और कड़ी बात कही कि—॥२॥

घमोइ राजापुर प्रान्त की बोली में 'सत्यानाशी' को कहते हैं ।

हित मत तोहि न लागत कैसे । काल-बिबस कहँ भेषज जैसे ॥
सन्ध्या समय जानि दससीसा । भवन चलेउ निरखत भुज-बीसा ॥३॥

भलाई की सलाह तुझे कैसे नहीं लगती है जैसे-काल के अधीन (रोगी) को औषधि नहीं कारगर होती । फिर सन्ध्या-समय जान कर रावण अपनी बीसों भुजाओं को देखते हुए रङ्गमहल की ओर चला ॥३॥

रावण के भुज-निरीक्षण में गर्व और असूया सञ्चारी भाव की ध्वनि है कि मैं ने अपनी इन बीसों भुजाओं के भरोसे वैर बढ़ाया है, फिर दो भुजावाला प्रहस्त रूठ ही गया तो क्या ? । दूसरी अपनी दुर्नीति से शङ्का सञ्चारीभाव की ध्वनि है कि मैं ने ऐसा विरोध ठाना है कि अब इन भुजाओं के अस्त होने का समय आ गया'।

लङ्का सिखर उपर आगारा । अति-बिचित्र तहँ होइ अखारा ॥
बैठ जाइ तेहि मन्दिर रावन । लागे किन्नर गुन-गन-गावन ॥४॥

लङ्का की चोटी पर एक अत्यन्त विचित्र मन्दिर है, वहाँ अखारा (तमाशा दिखानेवालों और गाने बजानेवालों का जमावड़ा) होता है । रावण जा कर उस मकान में बैठ गया और किन्नर लोग गुण-गण गान करने लगे ॥४॥

बाजहिँ ताल पखाउज बीना । नृत्य करहिँ अपछरा प्रबीना ॥५॥

पखावज (एक बाजा जो मृदङ्ग से कुछ छोटा होता) है और वीणा बाजा ताल से बजते हैं, चतुर अप्सरायें नाच करती हैं ॥५॥

दो०—सुनासीर सत सरिस सो, सन्तत करइ बिलास ।
परम-प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न कछु मन त्रास ॥१०॥

वह सैकड़ों इन्द्र के बराबर सदा विहार (ऐश-आराम) करता है । यद्यपि अत्यन्त जब-

देंस्त शत्रु सिर पर आ धमके हैं, तो भी मन में कुछ डर नहीं है ॥१०॥

शत्रु रूपी प्रतिबन्धक के विद्यमान रहते निर्भय रहना अर्थात् त्रास का न होना तृतीय विभावना अलंकार है। गुटका में 'तदपि सोच न त्रास' पाठ है। उसका अर्थ होगा—तो भी कुछ सोच या डर नहीं है।

चौ०—इहाँ सुबेल-सैल रघुबीरा। उतरे सेन-सहित अति-भीरा॥
सैल-सृङ्ग एक सुन्दर देखी। अति उतङ्ग सम सुभ्र बिसेखी॥१॥

यहाँ रघुनाथजी सेना समेत बड़ी भीड़भाड़ से सुवेल-पर्वत पर उतरे। एक सुन्दर पहाड़ का कँगूरा देख कर जो बहुत ऊँचा, समतल और अधिक स्वच्छ था ॥१॥

तहँ तरु-किसलय-सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥
तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥२॥

वहाँ वृक्षों के कोमल पत्ते और सुन्दर फूलों को अपने हाथ से बना कर लक्ष्मणजी ने बिछाया। उस पर शोभन मुलायम मृगचर्म डाल दिये, उस आसन पर कृपालु रामचन्द्रजी बैठ गये ॥२॥

प्रभु कृत सीस कपीस उछङ्गा। बाम दहिन दिसि चाप निषङ्गा॥
दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना। कह लङ्केस मन्त्र लगि काना॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी सुग्रीव की गोद में मस्तक किये हुए बाँये धनुष और दाहिनी ओर तरकस रक्खे हैं। दोनों हस्त-कमलों से बाण सुधारते हैं और कान में लग कर विभीषण सलाह दे रहे हैं ॥३॥

बड़भागी अङ्गद हनुमाना। चरन-कमल चाँपत बिधि नाना॥
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि-निषङ्ग कर-बान-सरासन॥४॥

अङ्गद और हनूमान बड़े भाग्यवान हैं, जो चरण-कमलों को अनेक प्रकार से मीड़ रहे हैं। स्वामी के पीछे लक्ष्मणजी कमर में तरकस कसे और हाथ में धनुष-बाण लिये वीर आसन से बैठे हैं ॥४॥

इन बातों में राजनीति की ध्वनि है। मस्तक सुग्रीव की गोद में रख कर उसकी रक्षा का भार उन्हें सुपुर्द किया। बाँये दाहिने धनुष-तरकस को शरीर का भार दिया। बाणों को सुधारने में उनका आदर और पुरुषार्थ के समय की सूचना है। कान विभीषण को देना अर्थात् जो तुम शत्रु के विषय में कहोगे वही करूँगा। अंगद हनूमान को पाँव दे कर सूचित किया कि संग्राम में इनका अचल विचल करना तुम लोगों के हाथ है। इन सब की सावधानी के लिये धनुष बाण हाथ में लेकर लक्ष्मणजी पीछे बैठे हैं, यदि कोई आज्ञा के प्रतिकूल होगा तो मैं दण्ड दूँगा। इस मर्म को सूचित करने के लिए युक्ति-पूर्वक क्रिया करना, किसी को सिर, किसी को कान, किसी को पाँव की रक्षा का भार समर्पण करना 'युक्ति अलंकार' है।

दो०-एहि बिधि करुना-सील गुन,-धाम राम आसीन ।
ते नर धन्य जे ध्यान एहि, रहत सदा लयलीन ॥

इस तरह करुणा, शील और गुणों के स्थान रामचन्द्रजी विराजमान हैं। वे मनुष्य धन्य हैं, जो इस ध्यान में सदा लवलीन रहते हैं।

पूरब-दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयङ्क ॥
कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति सरिस असङ्क ॥११॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने पूर्व दिशा की ओर देखा, चन्द्रमा को निकला हुआ देख कर सब से कहने लगे—देखो, चन्द्रमा सिंह के समान निर्भय है ॥११॥

चौ०-पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी । परम प्रताप तेज बल रासी ॥
मत्त-नाग-तम-कुम्भ बिदारी । ससि केसरी गगन-बन-चारी ॥१॥

पूर्व दिशा रूपी पर्वत की गुफा का रहनेवाला अत्यन्त प्रतापी, तेजवान और बल की राशि है। अन्धकार रूपी मतवाले हाथी के मस्तक को विदीर्ण करके यह चन्द्रमा रूपी सिंह आकाश रूपी वन में विचरता है ॥१॥

चन्द्रमा पर सिंह का आरोप, पूर्व दिशा पर गिरि-गुहा का आरोप, बन पर आकाश का आरोप और अन्धकार पर मतवाले हाथी के कुम्भ का आरोपण करना 'परम्परित रूपक अलंकार' है। बिना इस परम्परा के रूपक की सिद्धि अर्थात् सिंह के निवास, प्रताप-पराक्रम और विचरण आदि की एक रूपता न प्रकट होती। 'नाग' शब्द अनेकार्थी है; किन्तु सिंह के विरोध से केवल 'हाथी' के अर्थ की अभिधा पाई जाती है। कुछ लोग यहाँ पक्ष और रूपक दिखाने की चेष्टा करते हैं कि पूर्व दिशा निवासी चन्द्रमा, गिरि निवासी मैं और गुहा निवासी सिंह तीनों क्रमशः प्रताप, तेज, बल की राशि हैं। चन्द्रमा तम गज, मैं रावण रूपी गज, सिंह प्राकृत गज का मस्तक विदारण करनेवाला है, परन्तु वास्तव में इस रूपक से कवि का उद्देश्य भिन्न है और इसमें अपने मुँह से रामचन्द्रजी अपना प्रताप वर्णन करते हैं, यह सर्वथा अयुक्त है।

बिथुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि-सुन्दरी केर सिङ्गारा ॥
कह प्रभु ससि महँ मेचकताई । कहहु काह निज निज मति भाई ॥२॥

आकाश में फैले हुए तारागण मोती हैं, वे रात्रि रूपी सुन्दरी के शृंगार हैं। चन्द्रमा में श्यामता के विषय में प्रभु रामचन्द्रजी ने कहा—भाइयो अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार कहो, वह क्या है ? ॥२॥

रात्रि पर सुन्दरी का आरोप इस लिये किया कि उसके शृंगार रूप तारागण पर गज-मोती का आरोप कर चुके हैं।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई । ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई ॥
मारेउ राहु ससिहि कह कोई । उर महँ परी स्यामता सोई ॥३॥

सुग्रीव ने कहा—हे रघुनाथजी ! सुनिये, चन्द्रमा में पृथ्वी की छाया प्रकट हो रही है। किसी ने कहा—चन्द्रमा को राहु ने मारा था, वही श्यामता हृदय में पड़ी है ॥३॥

कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं॥४॥

किसी ने कहा—जब ब्रह्मा ने रति का मुख बनाया, तब चन्द्रमा का सार भाग (बीच का हिस्सा) हर लिया। वही छेद चन्द्रमा की छाती में प्रत्यक्ष हो रहा है, उसी से आकाश की परछाहीं दिखाई देती है॥४॥

रति के मुख की अतिशय शोभा कार्य्य रूप है, उसे न कह कर यह कहना कि ब्रह्मा ने चन्द्रमा का सार भाग हर लिया, यह कारण निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। सुग्रीव के अनन्तर कथन क्रमशः बिभीषण और अंगद के हैं, किन्तु कविजी ने उनके सम्मानार्थ स्पष्ट नाम नहीं लिया।

प्रभु कह गरल बन्धु ससि केरा। अति-प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
बिष सञ्जुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवन्त नर नारी॥५॥

प्रभु ने कहा—विष चन्द्रमा का अत्यन्त प्यारा भाई है, इससे अपने हृदय में उसे ठहरने को जगह दिया। विष के सहित समूह किरण फैला कर विरही स्त्री-पुरुषों को जलाता है॥५॥

चन्द्रमा में विष का निवास होना असिद्ध आधार है, इस अहेतु में बिना वाचक पद के हेतु की कल्पना करना, 'असिद्ध विषया गम्यहेतुत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—कह मारुत-सुत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति, सोइ स्यामता भास॥

पवनकुमार ने कहा—हे स्वामिन्! सुनिए, चन्द्रमा आपका प्यारा भक्त है। आप की मूर्त्ति चन्द्रमा के हृदय में बसती है, वही श्यामता झलक रही है।

चन्द्रमा के कालापन-उपमेय को प्रभु मूर्त्ति में उसका धर्म स्थापन करना 'तृतीय निद-र्शना अलंकार' है। सभा की प्रति में 'निज दास, पाठ है। यहाँ सबने अपनी अपनी भावना के अनुसार ही चन्द्रमा में श्यामता की कल्पना की है। सुग्रीव राजा हैं इन्हें सर्वत्र भूमि ही दिखाई पड़ती है, इससे भूमि की छाया कही। विभीषण रावण द्वारा आहत हुए हैं, उन्होंने मारा जाना कहा। पिता के बाद अंगद को राज्य मिलना था, वह छिन गया है इससे सार भाग का इन्होंने अपहरण कहा। प्रभु विरही हैं, उन्होंने युक्ति से विषैला बतलाया और हनू-मानजी अनन्य भक्त हैं, इसलिए उन्हों ने स्वामी के रूप का निवास कहा।

पवन-तनय के बचन सुनि, बिहँसे राम सुजान।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु, बोले कृपानिधान॥१२॥

वायुनन्दन की बात सुन कर सुजान रामचन्द्रजी मुस्कुराये। फिर कृपानिधान प्रभु दक्षिण दिशा की ओर निहार कर बोले॥१२॥

चौ०--देखु बिभीषन दच्छिन आसा । घन घमंड दामिनी बिलासा ॥
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा । बृष्टि होइ जनि उपल कठोरा ॥१॥

हे विभीषण ! दक्षिण दिशा की ओर देखो, बादल गर्व से उमड़े हैं और बिजली चमकती है। वे मेघ धीमी धीमी भीषण गर्जना करते हैं, कठोर पत्थरों की वर्षा तो न होगी ! ॥१॥

रावण के अखाड़े का गाना, बाजा सुन कर और मेघडम्बर तथा आभूषणों की चमक देख कर रामचन्द्रजी का उसे मेघों की घटा, गर्जना और बिजली की चमक मान लेना 'भ्रान्ति अलंकार' है।

कहइ बिभीषन सुनहु कृपाला । लड़ित न होइ न बारिद-माला ॥
लङ्का सिखर उपर आगारा । तहँ दसकन्धर देख अखारा ॥२॥

विभीषण ने कहा—हे कृपालु सुनिए, यह न बिजली है और न मेघमाला ही है। लङ्का की चोटी के ऊपर मन्दिर है, वहाँ बैठ कर रावण नाच-तमाशा देखता है ॥२॥

रावण के यहाँ का गाना बजाना सुन कर जो रामचन्द्रजी के मन में बादलों का भ्रम हुआ विभीषण का सच्ची बात कह कर उस भ्रम को दूर करना 'भ्रांत्यापह्नुति अलंकार' है।

छत्र मेघडम्बर सिर—धारी । सोइ जनु जलद घटा अति कारी ॥
मन्दोदरी स्रवन ताटङ्का । सोइ प्रभु जनु दामिनी दमङ्का ॥३॥

वह छत्र और मेघडम्बर सिर पर धारण किये है, वही मानों अत्यन्त काली बादलों की घटा है। हे प्रभो ! मन्दोदरी के कानों के कर्णफूल ऐसे मालूम होते हैं, मानों वह बिजली की चमक हो ॥३॥

बाजहिँ ताल मृदङ्ग अनूपा । सोइ रव मधुर सुनहु सुर-भूपा ॥
प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना । चाप चढ़ाइ बान सन्धाना ॥४॥

हे देवराज ! सुनिए, मृदङ्ग अनुपम ताल से बजता है, उसी की मीठी ध्वनि है। प्रभु रामचन्द्रजी इस अभिमान को समझ कर मुस्कुराये और धनुष चढ़ा उस पर बाण का सन्धान किया ॥४॥

दो०—छत्र मुकुट ताटङ्क तब, हते एकही बान ।
सब के देखत महि परे, मरम न कोऊ जान ॥

तब एक ही बाण से रावण के छत्र, मुकुट और मन्दोदरी के कर्णफूल काट कर गिरा दिये। सब के देखते वे धरती पर गिर पड़े, परन्तु इसका भेद किसी ने नहीं जाना।

रावण का नाच गान देख कर रामचन्द्रजी ने अदृश्य बाण छोड़ ऐसी सूक्ष्म क्रिया की कि इसका मर्म कोई न जान सका 'सूक्ष्म अलंकार' है।

अस कौतुक करि राम-सर, प्रबिसेउ आइ निषङ्ग ।
रावन सभा ससङ्क सब, देखि महा-रस-भङ्ग ॥१३॥

ऐसा खेल कर के रामचन्द्रजी के बाण आकर तरकस में पैठ गये। रावण की सभा में यह बड़ा भारी रसभङ्ग देख कर सब भयभीत हुए ॥१३॥

चौ०-कम्प न भूमि न मरुत बिसेखा । अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा ॥
सोचहिँ सब निज हृदय मझारी । असगुन भयउ भयङ्कर भारी ॥१॥

न तो भूकम्प ही हुआ, न जोर की हवा चली और न कुछ अस्त्र शस्त्र आँख से दिखाई दिये । सब हृदय में सोचते हैं कि बड़ा भयङ्कर असगुन हुआ ॥१॥

इस भीषण अशकुन के सम्बन्ध में शङ्का निवारणार्थ विचार करना 'वितर्क सञ्चारीभाव' है ।

दसमुख देखि सभा भय पाई । बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई ॥
सिरउ गिरे सन्तत सुभ जाही । मुकुट खसे कस असगुन ताही ॥२॥

रावण ने देखा कि सभा के लोग डर गये हैं, तब मुस्कुराकर युक्ति से बात बनाकर कहने लगा—सिर का गिरना भी जिसके लिए शुभ हुआ उसका मुकुट खसकना असगुन कैसे होगा ? (कुछ भी चिन्ता की बात नहीं है) ॥२॥

प्रत्यक्ष अशकुन की बात छिपाने की इच्छा से युक्ति-पूर्वक बहाने की बात कहना 'व्याजोक्ति अलंकार' है । सभा भय पाई' इस वाक्य में सभा के लोग की लक्षणा है । गुटका में 'मुकुट परे कस असगुन ताही; पाठ है; किन्तु अर्थ दोनों का एक ही है ।

सयन करहु निज निज गृह जाई । गवने भवन चरन सिर नाई ॥
मन्दोदरी सोच उर बसेऊ । जब तेँ स्रवनपूर महि खसेऊ ॥३॥

अपने अपने घर जा कर शयन करो, वे सब चरणों में सिर नवा कर घर चले गये । जब से कान का आभूषण धरती पर गिरा, तब से मन्दोदरी के हृदय में सोच का निवास हुआ॥३॥

सजल-नयन कह जुग कर जोरी । सुनहु प्रानपति बिनती मोरी ॥
कन्त राम-बिरोध परिहरहू । जानि मनुज जनि मन हठ धरहू ॥४॥

आँखों में आँसू भर कर और हाथ जोड़ कर कहने लगी—हे प्राणनाथ ! मेरी बिनती सुनिए । हे स्वामिन् ! रामचन्द्रजी से वैर त्याग दीजिए, उन्हें मनुष्य समझ कर मन में हठ न धारण कीजिए ॥४॥

दो०—बिस्व-रूप रघु-बंस-मनि, करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कलपना बेद कर, अङ्ग अङ्ग प्रति जासु ॥१४॥

मेरी बात का विश्वास कीजिए कि रघुवंशमणि रामचन्द्रजी विश्व के रूप हैं । जिनके एक एक अङ्ग में लोकों का निवास वेद अनुमान करते हैं ॥१४॥

रघुनाथजी के अङ्गों में मन्दोदरी ने ब्रह्माण्ड का साङ्गरूपक बाँधा है ।

चौ०-पद-पाताल सीस-अज-धामा । अपर लोक अँग अँग बिस्रामा ॥
भृकुटि-बिलास भयङ्कर-काला । नयन-दिवाकर कच-घन-माला ॥१॥

उनका चरण पाताल है, मस्तक ब्रह्मलोक है, अन्य लोकों का विश्राम प्रत्येक अङ्गों में है । भौंह का घुमाना भयङ्कर काल है, नेत्र सूर्य्य हैं और बाल मेघमाला हैं ॥१॥

जासु घ्रान अस्विनी कुमारा । निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
स्त्रवन दिसा दस बेद बखानी । मारुत स्वास निगम निजबानी ॥२॥

जिनकी नाक अश्विनी-कुमार हैं, रात और दिन असीम आँखों का पलक मारना है । वेद कहते हैं कि दसों दिशाएँ कान हैं, पवन श्वास है और वेद स्वकीय वाणी है ॥२॥

अश्विनी कुमार—ये प्रभा नाम की स्त्री से उत्पन्न सूर्य्य के दो पुत्र हैं । एक बार सूर्य्य के तेज को सहन करने में असमर्थ हो अपनी दो सन्तति यम, यमुना और छाया को छोड़ कर प्रभा वन में भाग गई, वहाँ घोड़ी का रूप धारण कर तप करने लगी । जब कुछ दिन बाद सूर्य्य को यह पता लगा तब वे घोड़ा बन कर वहाँ गये । इस संयोग से अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई । ये दोनों देवताओं के वैद्य हैं ।

अधर-लोभ जम-दसन-कराला । माया हास बाहु-दिगपाला ॥
आनन-अनल अम्बुपति-जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ॥३॥

जिनका ओठ लोभ है, भीषण दाँत यमराज हैं, हँसी माया है, दिग्पाल भुजा हैं, मुख अग्नि हैं, जिह्वा वरुण हैं, इच्छा उत्पत्ति-पालन और प्रलय करना है ॥३॥

रोम-राजि अष्टादस-भारा । अस्थि-सैल सरिता नस-जारा ॥
उदर-उदधि अध-गो जातना । जग-मय प्रभु का बहु कलपना ॥४॥

रोमावली अठारह भार वनस्पतियाँ हैं, हड्डी पर्वत हैं, नस-समूह नदियाँ हैं, पेट समुद्र है, नीचे की इन्द्रियाँ नरक हैं, बहुत क्या कहा जाय प्रभु जगन्मय हैं ॥४॥

बारह करोड़, तीस लाख, सोलह सौ साठ वृक्ष की 'भार' संज्ञा है ।

दो०—अहङ्कार-सिव बुद्धि-अज, मन-ससि चित्त-महान ।
मनुज बास सचराचर,-रूप राम भगवान ॥

अहङ्कार शिव हैं; बुद्धि ब्रह्मा हैं, मन चन्द्रमा हैं और चित्त विष्णु हैं । मनुष्य रूप में स्थित भगवान रामचन्द्रजी चराचर रूप हैं ।

भगवान के विराट रूप का यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में और ऋग्वेद में कई जगह सविस्तर निरूपण है । वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड के ११९ वें सर्ग में और श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में विराट रूप का वर्णन है ।

अस बिचारि सुनु प्रानपति, प्रभु सन बयर बिहाइ ।
प्रीति करहु रघुबीर-पद, मम अहिवात न जाइ ॥१५॥

हे प्राणनाथ ! सुनिए, ऐसा विचार कर प्रभु से बैर त्याग दीजिए । रघुनाथजी के चरणों में प्रीति कीजिए, जिसमें मेरा अहिवात (सोहाग) न जाय ॥१५॥

मन्दोदरी-प्रार्थना।

अस विचारि सुनु प्रानपति, प्रभु सन बयर बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर-पद, मम अहिवात न जाइ॥

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

चौ०—बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह-महिमा बलवाना ॥
नारि सुभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥१॥

स्त्री की बात कान से सुन कर रावण हँसा और विस्मय सूचित करते हुए बोला—मोह महिमा में बड़ा बली है। कवि लोग स्त्रियों का स्वभाव सत्य कहते हैं कि उनके हृदय में सदा ये आठ अवगुण रहते हैं ॥१॥

साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया ॥
रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा ॥२॥

साहस, (उतावली से बिना विचारे काम कर बैठना) झूठ, चञ्चलता, छल, डर अज्ञान, अपवित्रता और निर्दयता। तू ने सार ब्रह्माण्ड को शत्रु का रूप वर्णन कर मुझे बड़ा भारी डर सुनाया है ॥२॥

सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे ॥
जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि मिस कहेहु मोरि प्रभुताई ॥३॥

हे प्रिये! वह सारी सृष्टि स्वाभाविक मेरे वश में है, हाँ—अब तेरी कृपा से मुझे समझ पड़ा। प्रिये! तेरी चतुराई मैं समझ गया, तू ने इस बहाने मेरी महिमा कही है ॥३॥

रावण को अभीष्ट तो है मन्दोदरी की बात उड़ाना, उसको बहाने से पलट कर कार्य्य साधन करना 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार है।

तव बतकही गूढ़ मृग-लोचनि। समुझत-सुखद सुनत-भय मोचनि ॥
मन्दोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहि काल-बस मति-भ्रम भयऊ ॥४॥

हे मृगनैनी! तुम्हारी बातचीत गूढ़ (जिसका अभिप्राय जल्दी समझ में न आवे) है, जो समझने में सुखदाई और सुनने से डर छुड़ानेवाली है। मन्दोदरी ने मन में यह निश्चय कर लिया कि पति काल वश हो गये, इसी से इनकी बुद्धि में भ्रम हुआ है ॥४॥

रावण के 'गूढ़' शब्द में श्लेष की ध्वनि है कि भगवान के बाणों से मेरी मृत्यु होगी, यह समझने में सुखदाई है और परमात्मा के हाथ से मारे जाने पर संसार का भय दूर होगा, यह भय छुड़ानेवाली है।

दो०—एहि बिधि करत बिनोद बहु, प्रात प्रगट दसकन्ध ।
सहज असङ्क लङ्कपति, सभा गयउ मद-अन्ध ॥

इस तरह बहुत सा हँसी-मज़ाक करते सवेरा हो गया तब स्वाभाविक निर्भय मदान्ध लङ्केश्वर सभा में गया।

सभा की प्रति में 'सुलङ्कपति' पाठ है। वहाँ 'सु' निरर्थक है।

सो०—फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिँ जलद ।
मूरुख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिँ बिरञ्चि-सिव ॥१६॥

यद्यपि मेघ पानी बरसते हैं, तो भी बेत-वृक्ष फूलता फलता नहीं। यदि ब्रह्मा और शिव भी गुरु मिलें, परन्तु मूर्ख के हृदय में ज्ञान नहीं होता ॥१६॥

ब्रह्मा शिव भी गुरु मिलें तो मूर्ख को समझ नहीं होती, यह उपमेय वाक्य है और बादलों के पानी बरसने पर भी बेत फूलता फलता नहीं, यह उपमान वाक्य है 'फूलना फलना' और 'चेत होना' दोनों का एक धर्म समानार्थ वाची शब्दों द्वारा प्रकट करना 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है।

चौ०--इहाँ प्रात जागे रघुराई । पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥
कहहु बेगि का करिय उपाई । जामवन्त कह पद सिर नाई ॥१॥

प्रातःकाल रघुनाथजी जगे और सब मन्त्रियों को बुला कर सलाह पूछी कि जल्दी कहो, क्या उपाय करना चाहिए ? चरणों में मस्तक नवा कर जाम्बवान बोले ॥१॥

सुनु सर्बज्ञ सकल-उर-बासी । बुधि बल तेज धरम गुन रासी ॥
मन्त्र कहउँ निज-मति-अनुसारा । दूत पठाइय बालिकुमारा ॥२॥

हे सर्वज्ञ ! सबके हृदय में बसनेवाले, बुद्धि, बल, तेज, धर्म और गुण के राशि महाराज ! सुनिए, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सलाह कहता हूँ कि बालिकुमार (अङ्गद) को दूत कार्य्य के लिए भेजिए ॥२॥

नीक मन्त्र सब के मन माना । अङ्गद सन कह कृपानिधाना ॥
बालि-तनय बुधि बलगुन-धामा । लङ्का जाहु तात मम कामा ॥३॥

यह श्रेष्ठ मत सब के मन में अच्छा लगा, तब कृपानिधान रामचन्द्रजी ने अङ्गद से कहा—हे तात बालिनन्दन ! आप बुद्धि, बल और गुणों के धाम हैं, मेरे कार्य्य के लिए लङ्का में जाइये ॥ ३ ॥

बहुत बुझाइ तुम्हहिँ का कहऊँ । परम-चतुर मैं जानत अहऊँ ॥
काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥४॥

तुम्हें बहुत समझा कर क्या कहूँ, मैं तुमको परम-चतुर जानता हूँ । शत्रु से वही बात-चीत करना जिसमें हमारा काम हो और उसकी भलाई हो ॥४॥

सो०—प्रभु अज्ञा धरि सीस, चरन बन्दि अङ्गद उठेउ ।
सोइ गुन-सागर-ईस, राम कृपा जा पर करहु ॥

स्वामी की आज्ञा माथे चढ़ा कर चरणों की वन्दना करके अङ्गद उठे और बोले । हे रामचन्द्रजी ! जिस पर आप कृपा करते हैं वही गुणों का समुद्र और गुणाधिपति है ।

स्वयं-सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियेउ ।
अस बिचारि जुबराज, तनु पुलकित हरषित हिये ॥१७॥

हे नाथ ! आप के सब काम स्वयम् सिद्ध (आप ही आप हुए) हैं, यह आपने मुझे आदर दिया है । ऐसा विचार कर युवराज मन में प्रसन्न हुए और शरीर पुलकायमान हो गया ॥१७॥

चौ०—बन्दि चरन उर धरि प्रभुताई । अङ्गद चलेउ सबहि सिर नाई ॥
प्रभु प्रताप उर सहज असङ्का । रन-बाँकुरा बालि-सुत बङ्का ॥१॥

चरणों की वन्दना करके महिमा हृदय में रखकर सब को सिर नवा कर अङ्गद चले। रणबाँकुरे बाँके बालिकुमार स्वामी के प्रताप से मन में सहज ही निर्भय हैं ॥१॥

पुर पैठत रावन कर बेटा । खेलत रहा सो होइ गइ भैंटा ॥
बातहि बात करष बढ़ि आई । जुगल-अतुल-बलपुनि तरुनाई ॥२॥

रावण का लड़का खेल रहा था, पुर में पैठते ही उससे भेंट हो गई। बात ही बात में कर्ष (लड़ाई का जोश) बढ़ आया, दोनों जवान फिर असीम बलवाले हैं ॥२॥

ताव बढ़ने के लिए एक ही कारण अतुल-बल पर्याप्त है, फिर तरुणता का होना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है। द्रोह इस प्रकार बढ़ा कि रावण के पुत्र ने पूछा—तू कौन बन्दर है? अङ्गद ने कहा—मैं रामचन्द्रजी का दूत हूँ। राक्षस ने कहा—क्या वही रामचन्द्र जिनकी स्त्री को हमारे पिता पकड़ लाये हैं? अङ्गद ने कहा—हाँ—जिन्होंने तुम्हारी बुआ को नकटी और बूची बना दिया है।

तेहि अङ्गद कहँ लात उठाई । गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई ॥
निसिचर-निकर देखि भट भारी । जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी ॥३॥

उसने अङ्गद को (मारने के लिए) लात उठाया, इन्होंने पाँव पकड़ घुमा कर धरती पर पटक दिया (वह मर गया)। भारी योद्धा देख कर राक्षस-वृन्द जहाँ तहाँ भाग चले, मारे डर के पुकार नहीं सकते ॥३॥

बन्दर का पराक्रम राक्षसों को खूब याद है। इधर भारी भट देख कर चित्तविक्षेप से त्रास सञ्चारी भाव है। उधर अपनी दुर्नीति विचारते हैं कि राजपुत्र मारा गया, पर मैं वहाँ रह कर कुछ कर न सका। यदि रावण सुनेगा तो वध कर डालेगा, न पुकारना और न एक दूसरे से यह भेद कहना शङ्का सञ्चारी भाव है।

एक एक सन मरम न कहहीं । समुझि तासु बध चुप करि रहहीं ॥
भयउ कोलाहल नगर मँझारी । आवा कपि लङ्का जेहि जारी ॥४॥

एक दूसरे से भेद नहीं कहते हैं, राजपुत्र का वध समझ कर चुपके रह जाते हैं (मानों उनके सामने कोई दुर्घटना हुई ही नहीं)। सारे नगर में हल्ला हुआ कि जिस बन्दर ने लङ्का जलाई, वही फिर आया है ॥४॥

अब धौं काह करिहि करतारा । अति-सभीत सब करहिं बिचारा ॥
बिनु पूछे मग देहिं देखाई । जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई ॥५॥

या विधाता! अब न जाने क्या करेगा? अत्यन्त भयभीत होकर सब विचार करते हैं। बिना पूछे रास्ता दिखा देते हैं, जिसकी ओर युवराज निहारते हैं वह सूख जाता है ॥५॥

राक्षसों के मन में भय स्थायीभाव है। अङ्गद आलम्बन विभाव हैं, राजपुत्र का वध उद्दीपन विभाव है, विना पूछे ही मार्ग दिखाना और निहारने पर सूख जाना अनुभाव है। वह दैन्य, आवेग, चिन्ता, शङ्का आदि सञ्चारी भावों से वृद्धि को प्राप्त हो कर 'भयानक रस' हुआ है।

दो०—गयउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम-पद-कञ्ज।
सिंह-ठवनि इत उत चितव, धीर-बीर-बल-पुञ्ज ॥१८॥

तब रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को स्मरण कर के सभा-द्वार पर गये। धीर वीर बल के राशि अङ्गद सिंह के ढङ्ग से खड़े हो कर इधर उधर देख रहे हैं ॥ १८ ॥

'सभा और दरबार' पर्यायवाची शब्द हैं। दोनों का अर्थ एक होने से पुनरुक्ति का आभास है परन्तु विचार करने से पुनरुक्ति नहीं है। एक कचहरी-राजसभा का बोधक है और दूसरा द्वार वा दरवाजे का ज्ञापक होने से 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

चौ०—तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहिँ जनावा ॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा ॥१॥

तुरन्त एक राक्षस को भेज कर अपने आने की ख़बर सूचित कराया। सुनते ही रावण हँस कर बोला—कहाँ का बन्दर है? बुला लाओ ॥१॥

आयसु पाइ दूत बहु धाये। कपि-कुञ्जरहि बोलि लेइ आये ॥
अङ्गद दीख दसानन बैसा। सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा ॥२॥

आज्ञा पा कर बहुत से दूत दौड़े और कपि-श्रेष्ठ को बुला कर सभा में ले आए। अङ्गद ने दशानन को बैठे देखा, वह ऐसा मालूम होता है जैसे जीवधारी कालापहाड़ हो ॥२॥

भुजा बिटप सिर सृङ्ग समाना। रोमावली लता जनु नाना ॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कन्दरा खोह अनुमाना ॥३॥

भुजाएँ वृक्ष के समान, सिर पर्वत के शिखर की तरह हैं और रोमावली मानों अनेक जाति की लताएँ हैं। मुख, नाक, आँख और कान पर्वत की गुफा तथा गहरे गड्ढे मालूम होते हैं ॥३॥

गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि-तनय अति-बल-बाँकुरा ॥
उठे सभासद कपि कहँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेखी ॥४॥

अत्यन्त बली बाँके बालिकुमार दरबार में गये, उनका मन ज़रा भी नहीं मुड़ा। अङ्गदको देख कर दरबार के लोग उठ खड़े हुए, यह देख—रावण के मन में बड़ा क्रोध हुआ ॥४॥

सब सभासद डर के मारे घबरा कर खड़े हो गये; पर रावण ने समझा कि इन्होंने बन्दर के सम्मानार्थ ऐसा किया है, इससे मन में क्रोधित हुआ 'असूया सञ्चारीभाव है।

दो०--जथा मत्त-गज-जूथ महँ, पञ्चानन चलि जाइ।
राम प्रताप सुमिरि मन, बैठ सभा सिर नाइ ॥१९॥

जैसे मतवाले हाथियों के झुण्ड में सिंह (निर्भय) चल कर जाय (उसी तरह रावण के दरबार में अङ्गदजी गये)। रामचन्द्रजी का प्रताप मन में स्मरण कर और सभा को मस्तक नवा कर बैठ गये ॥१९॥

सभा की प्रति में 'राम प्रताप सँभारि मन' पाठ है। यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि अङ्गद ने रावण को या उसकी सभा को मस्तक क्यों नवाया? उत्तर-रावण मुनि का वंशज, बाली का मित्र और राजा है, इससे अङ्गदजी का सिर नवाना उचित ही है अथवा शिष्टाचार की रक्षा के लिये प्रणाम किया। जब सभासदों ने खड़े होकर इनका स्वागत किया, तब उनके सम्मानार्थ अङ्गद ने मस्तक झुकाया। अथवा यह भी अर्थ निकलता है कि अङ्गद ने सिर नहीं नवाया, इनके बैठते ही सभावालों का सिर नीचे हो गया।

चौ०--कह दसकंठ कवन तैं बन्दर। मैं रघुबीर दूत दसकन्धर ॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई ॥१॥

रावण ने कहा—तू कौन बन्दर है? अङ्गद ने कहा—हे दशानन! मैं रघुनाथजी का दूत हूँ। मेरे पिता की तुमसे मित्रता थी, भाई! मैं तुम्हारी भलाई के निमित्त आया हूँ ॥१॥

रावण के पूछने पर पिता की मित्रता कहने में अङ्गद का गूढ़ अभिप्राय उसके पराक्रम की लघुता व्यञ्जित करना 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है। आये हैं रामकार्य्य के लिए, पर उसे न कह कर रावण के हितार्थ आगमन कहना कैतवापह्नुति की ध्वनि है।

उत्तम-कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरञ्चि पूजेहु बहु भाँती ॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा ॥२॥

उत्तम कुल में उत्पन्न पुलस्त्य मुनि के नाती हो ब्रह्मा और शिवजी की बहुत तरह से पूजा की। वर पाकर सब काम किया, लोकपाल और सम्पूर्ण राजाओं को जीत लिया ॥२॥

नृप अभिमान मोह बस किम्बा। हरि आनेहु सीता जगदम्बा ॥
अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा ॥३॥

राजन्! अभिमान से अथवा अज्ञान के वश होकर तुम जगन्माता सीताजी को हर कर ले आये। अब मेरी कल्याणकारी बात सुनो, प्रभु रामचन्द्रजी तुम्हारे सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा करेंगे ॥३॥

'जगदम्बा सीता हरि आनेहु' इस वाक्य में ध्वनि है कि ऐसे कुलीन, मुनिवंशज, शिव-भक्त और शूरवीर होकर स्त्री हरण किया? बड़े लज्जा की बात है।

दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित सङ्ग निज नारी ॥
सादर जनक-सुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥४॥

दाँतों के तले तृण दाब लो और गले पर कुल्हाड़ी रख कर कुटुम्बियों के सहित अपनी

स्त्रियों को साथ ले जनकनन्दिनी को आदर पूर्वक आगे कर के सारा भय छोड़ इस तरह (रघुनाथजी की शरण में) चलो ॥४॥

दाँतों से तिनका दबाने और गले पर कुल्हाड़ी रखने में अपने को पशु तथा आत्मघाती मूर्ख सूचित करने का भाव 'अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग' है।

दो०--प्रनतपाल रघुबंस-मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करहिंगे तोहि ॥२०॥

जहाँ तुमने कहा कि—हे शरणागतपालक रघुवंश-मणि! अब मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। प्रभु रामचन्द्रजी दीनता भरी वाणी सुनते ही तुझ को निर्भय कर देंगे ॥२०॥

चौ०--रे कपि पोत न बोलु सँभारी। मूढ़ न जानहि मोहि सुरारी॥
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नाते मानिये मिताई ॥१॥

अरे बन्दर के बच्चे! सँभल कर नहीं बोलता, मूर्ख! मुझको नहीं जानता कि मैं देवताओं का शत्रु हूँ। भाई! तू अपना और अपने बाप का नाम कह, किस नाते से मित्रता मानता है? ॥ १ ॥

बन्दर मेरा मित्र कब हुआ? यह ध्वनि सूचित होना 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग' है।

अङ्गद नाम बालि कर बेटा। ता सोँ कबहुँ भई हो भेंटा॥
अङ्गद बचन सुनत सकुचाना। रहा बालि बानर मैं जाना ॥२॥

मेरा अंगद नाम है और मैं बाली का पुत्र हूँ, उससे कभी भेंट हुई होगी। अंगद की बात सुनते ही रावण सकुचा गया और बोला—बाली एक बन्दर था, उसे मैं जानता हूँ ॥२॥

रावण बाली से पराजित हुआ था, उसे सन्देह हुआ कि कहीं अंगद उस छिपी बात को प्रकट न करदे। इस अभिप्राय से झटपट दूसरी बात कहना 'पिहित अलंकार है'।

अङ्गद तहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस अनल कुल-घालक॥
गर्भ न गयउ ब्यर्थ तुम्ह जायहु। निज-मुख तापस दूत कहायहु ॥३॥

अरे! बाली का पुत्र अंगद तू ही है? अपने कुल का नाश करने के लिए तू बाँस की आग हो कर उत्पन्न हुआ। गर्भ क्यों नहीं गिर गया, तू व्यर्थ ही जन्मा जो अपने मुँह से तपस्वी का दूत कहलाता है ॥ ३ ॥

'वंश' शब्द के दो अर्थ 'बाँस और कुल' जब तक न लिये जाँय तब तक रूपक का चमत्कार नहीं भासता। मुख्य रूपक के अन्तर्गत यह श्लेष द्वारा दूसरा रूपक भासित होने से 'परम्परित रूपक अलंकार' है।

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन तब अङ्गद कहई।
दिन दस गये बालि पहँ जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥४॥

अब बाली की कुशल कह, वह कहाँ है? तब हँस कर अंगद वचन कहने लगे। दस दिन जाने पर बाली के पास जाओगे, वहीं मित्र को छाती से लगा कर कुशल पूछना ॥४॥

अङ्गद के कथन में यह अगूढ़ व्यङ्ग है कि वाली स्वर्ग गया, दस दिन बाद तुम भी वहीं आओगे तब कुशल पूछना ।

राम-बिरोध कुसल जसि होई । सो सब तोहि सुनाइहि सोई ॥
सुनु सठ भेद होइ मन ताके । श्रीरघुबीर हृदय नहिँ जाके ॥५॥

रामचन्द्रजी के वैर से जैसा कल्याण होता है, वह सब तुझे वही (वाली) सुनावेगा । अरे मूर्ख ! सुन, भेद उसके मन में होगा जिसके हृदय में श्रीरघुनाथजी नहीं हैं ॥५॥

वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूतव्यंग है अर्थात् मेरे हृदय में रामचन्द्रजी का निवास है, तेरी यह भेद-नीति नहीं चल सकती ।

दो०—हम कुल-घालक सत्य तुम्ह, कुल-पालक दससीस ।
अन्धउ बधिर न अस कहहिँ, नयन कान तव बीस ॥२१॥

हे दशानन ! सचमुच हम कुल के नाश करनेवाले हैं और तुम कुटुम्ब के पालनेवाले हो । अन्धे और बहरे भी ऐसा न कहेंगे, तुम्हारे तो बीस आँख तथा कान हैं ॥२१॥

चौ०—सिव-बिरञ्चि-सुर-मुनि-समुदाई । चाहत जासु चरन-सेवकाई ॥
तासु दूत होइ हम कुल बोरा । ऐसिहु मति उर बिहर न तोरा ॥१॥

शिव, ब्रह्मा, देवता और मुनि मण्डल जिनके चरणों की सवकाई चाहते हैं, उनका दूत हो कर हमने कुल बोर दिया ? ऐसी बुद्धि होने पर भी तेरी छाती नहीं फट जाती ! ॥१॥

सुनि कठोर बानी कपि केरी । कहत दसानन नयन तरेरी ॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ । नीति धरम मैं जानत अहऊँ ॥२॥

अंगद की कठोर वाणी सुन कर रावण आँखें तरेर (नेत्र के इशारे से डाँट बता) कर कहने लगा—अरे दुष्ट ! तेरे सब कठोर वचन इस लिए सहता हूँ कि मैं नीति और धर्म जानता हूँ अर्थात् दूत का वध नीति तथा धर्म के विरुद्ध है, इसी से मारता नहीं हूँ ॥२॥

कह कपि धरमसीलता तोरी । हमहुँ सुनी कृत पर-तिय-चोरी ॥
देखी नयन दूत रखवारी । बूड़ि न मरहु धरम-ब्रत-धारी ॥३॥

अंगद ने कहा—तेरी धर्मशीलता हमनेभी सुनी है कि तू पराये की स्त्री चुराता है । दूत की रखवाली तो आँखों देखी है, ऐसे धर्म-व्रत का धारण करनेवाला ! तू डूब कर क्यों नहीं मर जाता ? ॥३॥

शंका—अङ्गद ने दूत-रक्षा तो आँख से नहीं देखी, फिर ऐसा क्यों कहते हैं ? उत्तर—रामचरितमानस के अनुसार दूत (हनुमानजी ने तेरी) रखवाली आँखों देखी है, उन्हें मारने के लिए तू ने विविध योद्धा भेजे, पूँछ में आग लगवा दी इत्यादि । नीति धर्म का पालन अच्छी तरह से किया । दूसरी बात किसी रामायण के मत से यह कही जाती है कि जिस समय अङ्गद और रावण से बातचीत हो रही थी ; उसी समय कुबेर का भेजा हुआ एक दूत आया । उसने कुबेर का संदेशा कहा कि रामचन्द्रजी से युद्ध न कर के सुलह

कर लीजिए, उनके वैर से कल्याण न होगा। रावण ने क्रोधित हो कर उस दूत को तुरन्त मारडाला। वही अङ्गद कहते हैं कि तू जैसी दूत-रक्षा करता है, उसे मैं ने आँख से देखा है।

कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धरम बिचारी॥
धरमसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़ भागी॥४॥

तुमने अपनी बहन को बिना कान और नाक की देख धर्म विचार कर क्षमा की। तुम्हारी धर्म शीलता संसार में प्रसिद्ध है, हम भी बड़े भाग्यशाली हैं जो ऐसे धर्म्मात्मा को दर्शन पाया! ॥४॥

रावण की प्रशंसा करने पर भी काकु से निन्दा प्रकट होना 'व्याजनिन्दा अलंकार' है।

दो०--जनि जल्पसि जड़ जन्तु कपि, सठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल बल बिपुल ससि, ग्रसन हेतु सब राहु॥

रावण बोला—अरे जड़ जीव, बन्दर! मूर्ख! मत बकवाद कर, मेरी भुजाओं को देख। लोकपालों के बल रूपी समूह चन्द्रमा को ग्रसने के लिये ये सब राहु हैं।

चन्द्रमा और राहु एक एक हैं; किन्तु 'विपुल तथा सब' ये दोनों शब्द अधिकता का भाव सूचित करते हैं।

पुनि नभ-सर मम-कर-निकर,-कमलन्हि पर करि बास।
सोभित भयउ मराल इव, सम्भु सहित कैलास॥२२॥

फिर आकाश रूपी सरोवर में मेरे समूह हाथ रूपी कमलों पर कैलास पर्वत के सहित निवास करके शिवजी हंस की तरह शोभित हुए हैं॥२२॥

कमल के फूल राजहंस का भार नहीं सह सकते, पर मेरे कर कमलों पर कैलास के सहित शिवजी हंस के समान ठहरे थे, इस अधिकता से 'अधिक अभेद रूपक अलंकार' है। आकाश का आरोपण तालाब पर, हाथों पर कमल और शिवजी तथा कैलास पर हंस का आरोप परम्परित है। इस रूपक में काव्यार्थापत्ति अलंकार की ध्वनि है कि जिन भुजाओं ने कैलास सहित शिवजी को उठा लिया! उनके सामने तेरा मालिक चीज़ ही क्या है?।

कोई कोई। 'मराल अलिशावकः' के आधार पर मराल शब्द का भ्रमर का बच्चा अर्थ करते हैं। वह इस अभिप्राय से कि हंस का भार कमल-पुष्प नहीं सँभाल सकता, तर्क ठाक है। परन्तु यहाँ रावण जान बूझ कर अधिकता सूचित करता है, इसके विपरीत अर्थ भ्रमर के बच्चे का खींचतान कर करने से अलंकार की शोभा बिगड़ जाती है।

चौ०--तुम्हरे कटक माँझ सुनु अङ्गद। मो सन भिरिहि कवन जोधा बद॥
तव प्रभु नारि-बिरह बल-हीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥१॥

अरे अङ्गद! सुन, कह तो सही! तेरे कटक में कौन योद्धा मुझ से भिड़ेगा? तेरा स्वामी

स्त्री के वियोग से हीन हो गया है और उसका छोटा भाई अपने बन्धु के दुःख से दुःखी होकर उदास हुआ है ॥१॥

तुम्ह सुग्रीव कूल-द्रुम दोऊ । अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥
जामवन्त मन्त्री अति बूढ़ा । सो कि होइ अब समर-अरूढ़ा ॥२॥

तुम और सुग्रीव दोनों (द्रोह रूपी नदी के) तीर के वृक्ष हो, हमारा छोटा भाई बड़ा ही डरपोक है । जामवन्त मन्त्री अत्यन्त बुड्ढा है, अब वह युद्ध में क्या ठहर सकता है ? ॥२॥

सिल्प-कर्म जानहिँ नल-नीला । है कपि एक महा-बल-सीला ॥
आवा प्रथम नगर जेहि जारा । सुनि हँसि बोलेउ बालिकुमारा ॥३॥

नल और नील पत्थर का काम जानते हैं, हाँ—एक बन्दर बड़ा बलशाली है । पहले आया था, जिसने नगर जलाया है । यह सुन बालिकुमार हँस कर बोले ॥३॥

रावण प्रत्यक्ष में हनूमानजी के पराक्रम की प्रशंसा करता है, परन्तु नगर जलानेवाला कहने से निन्दा प्रकट होना 'व्याजनिन्दा अलंकार' है । क्योंकि आग लगाना, विष देना, धोखे में वध करना आदि आततायियों का काम है । कोई शूरवीर इस तरह का धर्मविरुद्ध काम नहीं कर सकता, यही निन्दा प्रकट होती है ।

सत्य बचन कहु निसिचर-नाहा । साँचेहु कीस कीन्ह पुर-दाहा ॥
रावन नगर अलप कपि दहई । सुनि अस बचन सत्य को कहई ॥४॥

हे राक्षस राज ! सच्ची बात कहो, सचमुच बन्दर ने लङ्कापुरी जलाया ! रावण की नगरी को छोटा सा बन्दर जला दे, ऐसी बात सुनकर कौन सच कहेगा ? ॥४॥

रावण ने राम-लक्ष्मण, सुग्रीव, जाम्बवान, नल, नीलादि को समर के अयोग्य ठहरा कर अकेले पवनकुमार की प्रशंसा आततायीपन में की है । तदनुसार जानी हुई बात पर अनजान की तरह आश्चर्य्य प्रकाश करते हुए उसे मिथ्या सिद्ध करने के अभि-प्राय से अपने पूज्यवरों को आक्षेप से बचाने में 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' की नीति का अनु-सरण अंगद ने किया है ।

जो अति-सुभट सराहेहु रावन । सो सुग्रीव केर लघु-धावन ॥
चलइ बहुत सो बीर न होई । पठवा खबर लेन हम सोई ॥५॥

हे रावण ! जिसे तुम बड़ा योद्धा कह कर सराहते हो, वह सुग्रीव का एक छोटा हरकारा है । जो बहुत चलता है वह वीर नहीं होता, हमने ख़बर लेने के लिये भेजा था ॥५॥

दो०—सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिँ, तेहि भय रहा लुकाइ ॥

सचमुच बन्दर ने बिना स्वामी की आज्ञा पाये नगर जलाया ! इसी डर से छिप रहा, वह लौट कर सुग्रीव के पास नहीं गया ।

यहाँ प्रायः लोग शङ्का करते हैं कि अंगद ने झूठ क्यों कहा ? उत्तर—रावण ने जैसी व्यंगोक्ति से निन्दा की, उसी के अनुकूल गूढ़ोत्तर वालिकुमार ने दिया। यदि झूठ कहने का अभिप्राय होता तो आगे चल कर 'सत्य पवन सुतमोहि सुनाई' आदि काहे को कहते।

सत्य कहहि दसकंठ सब, मोहि न सुनि कछु कोह ।
कोउ न हमारे कटक अस, तो सन लरत जो सोह ॥

हे दशानन ! तू सब सच कहता है, यह सुन कर मुझे कुछ भी क्रोध नहीं है। ऐसा कोई हमारे कटक में नहीं है जो तुम से लड़ने में शोभा पावे।

प्रत्यक्ष में रावण की प्रशंसा करने पर भी उसे तुच्छ बनाने का भाव झलकना 'व्याज-निन्दा अलंकार' है। वह नीचे के दोहा में स्पष्ट कथन किया है।

प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि ।
जौँ मृगपति बध मेडुकन्हि, भल कि कहइ कोउ ताहि ॥

ऐसी नीति है कि प्रीति और विरोध बराबरवाले से करना चाहिए। यदि सिंह मेढकों को मारने लगे तो क्या उसे कोई अच्छा कहेगा ? (कदापि नहीं)।

जद्यपि लघुता राम कहँ, तोहि बधे बड़ दोष ।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु, छत्रिजाति कर रोष ॥

यद्यपि तुझे मारने में रामचन्द्रजी की लघुता और बड़ा दोष है। हे रावण ! सुन, तो भी क्षत्रिय जाति का क्रोध कठिन है।

अंगदजी क्षत्रियजाति का रोष कारण रूप कथन कर के 'मरण कार्य्य' सूचित करते हैं। कारण के बहाने कार्य्य का कथन अर्थात् क्रोध आने पर लघुता की परवाह न कर तुझे अवश्य मारेंगे, कारण निबन्धना 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

बक्र-उक्ति धनु बचन-सर, हृदय दहेउ रिपु कीस ।
प्रतिउत्तर सड़सिन्ह मनहुँ, काढ़त भट दससीस ॥

टेढ़ी उक्ति (वक्रोक्ति) रूपी धनुष पर वचन रूपी बाणों का सन्धान कर अङ्गद ने शत्रु के हृदय को जला दिया। प्रत्युत्तर रूपी सँड़सियों से मानों वीर रावण निकाल रहा है।

हँसि बोलेउ दसमौलि तब, कपि कर बड़ गुन एक ।
जो प्रतिपालइ तासु हित, करइ उपाय अनेक ॥२३॥

तब रावण हँस कर बोला—बन्दरों में एक बड़ा गुण होता है, उन्हें जो पालता है उसकी भलाई के लिए वे बहुत सा उपाय करते हैं ॥२३॥

चौ०—धन्य कीस जो निज-प्रभु-काजा । जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा ॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई । पति-हित करइ धरम निपुनाई ॥१॥

बन्दर धन्य हैं, जो अपने स्वामी के कार्य्य के लिए लज्जा छोड़ कर जहाँ तहाँ नाचते

फिरते हैं। नाच कूद कर लोगों को रिझाते और स्वामी की भलाई करते हैं, इस धर्म को बड़ी होशियारी से निबाहते हैं॥ १॥

प्रत्यक्ष में रावण प्रशंसा कर रहा है, परन्तु विचारने पर 'निर्लज्ज' होने की निन्दा सूचित होना 'व्याजनिन्दा अलंकार' है। 'धन्य कीश' कहने में लक्षणामूलक व्यंग है, क्योंकि धिक के स्थान में धन्य कह दोष नहीं प्रकाश किया है।

अङ्गद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभु गुन कस न कहसि एहि भाँती॥
मैं गुन-गाहक परम-सुजाना। तव कटुरटनि करउँ नहिं काना॥२॥

हे अंगद! तेरी जाति ही स्वामि-भक्त है, फिर तू इस तरह स्वामि का गुण क्यों न कहे? मैं बड़ा चतुर गुण-ग्राहक हूँ, तेरे कटुवचन पर कान नहीं करता हूँ॥२॥

अपनी आत्मप्रशंसा से अङ्गद को मूर्ख बकवादी ठहराने का भाव व्यञ्जित होना वाच्यविशेष व्यंग है।

कह कपि तव गुन-गाहकताई। सत्य पवन-सुत मोहि सुनाई॥
वन-बिध्वंस सुत-बधि पुर-जारा। तदपि न तेहि कछु कृत अपकारा॥३॥

अङ्गद ने कहा—तुम्हारी गुण-ग्राहकता सही है, उसे पवनकुमार ने मुझे सुनाया है। उन्होंने ने तुम्हारा बगीचा नष्ट किया; पुत्र को मार डाला और नगर जला दिया, तो भी तुमने उनकी कुछ बुराई नहीं की॥३॥

सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकन्धर मैं कीन्हि ढिठाई॥
देखेउँ आइ जो कछु कपि भाषा। तुम्हरे लाज न रोष न माषा॥४॥

हे दशानन! वही तेरा सुन्दर स्वभाव समझ कर मैंने ढिठाई की है। जो कुछ हनूमानजी ने कहा था वह आ कर आँखों देखा, तुम में न लज्जा है, न क्रोध है और न माँख है॥४॥

'गुण-ग्राहकता, अच्छी प्रकृति आदि के सीधे अर्थ का छोड़ कर तद्विपरीत गुणहीन, नीच स्वभाव आदि प्रकट होना व्यञ्जनामूलक ध्वनि है।

जौं असि मति पितु खायेहु कीसा। कहि अस बचन हँसा दससीसा॥
पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। अबहीं समुझि परा कछु मोही॥५॥

अरे बन्दर! यदि तेरी ऐसी बुद्धि न थी तो पिता को कैसे खाया? ऐसा वचन कह कर रावण हँसा। अंगद ने कहा—पिता को खा कर फिर तुझे खा जाते, पर अभी मुझे कुछ समझ पड़ा है (इस से तुझ को छोड़ता हूँ)॥५॥

बालि-बिमल-जस-भाजन जानी। हतउँ न तोहि अधम अभिमानी॥
कहु रावन रावन जग केते। मैं निज स्रवन सुने सुनु जेते॥६॥

अरे नीच अभिमानी! तुझे बाली के निर्मल यश का पात्र समझ कर मैं नहीं मारता हूँ। हे रावण! कह तो सही, जगत में कितने रावण हैं? मैं जितने अपने कान से सुन चुका हूँ, उसे सुन॥६॥

रावण को न मारने की बात का समर्थन वाली का पवित्र यशपात्र कह कर करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। क्योंकि जबतक रावण जीता रहेगा तबतक काँख में दबाने की कीर्त्ति (वाली की शूरता) संसार में सप्रमाण प्रकट है।

बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखा बाँधि सिसुन्ह हयसाला॥
खेलहिँ बालक मारहिँ जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई॥७॥

एक रावण राजा बलि के जीतने पाताल गया, वहाँ लड़कों ने उसे घुड़साल में बाँध रक्खा था। सब बालक खिलवाड़ में जा कर मारते थे, पलि के दया लगी, उन्हों ने छुड़वा दिया॥७॥

एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जन्तु बिसेखा॥
कौतुक लागि भवन लेइ आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा॥८॥

फिर एक रावणको सहस्रार्जुन ने देखा तो इस तरह दौड़ कर पकड़ लिया जैसे कोई विलक्षण जन्तु के पकड़े। तमाशा के लिए घर ले आया, पुलस्त्य मुनि ने जा कर उसे छुड़वा दिया॥८॥

दो०-एक कहत मोहि सकुच अति, रहा बालि की काँख।
इन्ह महँ रावन तैं कवन, सत्य बदहि तजि माँख॥२४॥

एक रावण का वृत्तान्त कहने में मुझे बड़ा सकोच है, वह वाली की काँख में दबा था। इनमें तू कौन रावण है? माँख छोड़ कर सच कह॥२४॥

अङ्गद के वाक्यों में व्यञ्जनामूलक ध्वनि है कि ये सभी घटनायें तुम्हीं पर तो नही बीती हैं?।

चौ०-सुनु सठ सोइ रावन बल-सीला। हर-गिरि जानु जासु भुज-लीला॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेहि सिर-सुमन चढ़ाई॥१॥

रावण ने कहा—अरे मूर्ख! सुन, मैं वह बलशाली रावण हूँ जिसके भुजाओं की लीला कैलास पर्वत जानता है और जिसकी शूरता उमाकान्त जानते हैं, जिनकी पूजा मैं ने अपने मस्तक रूपी फूलों को चढ़ा कर की है॥१॥

कैलास पर्वत उठाने और सिर काट कर शिवजी को चढ़ाने के सम्बन्ध से रावण अपनी शूरता वर्णन में अतिशयोक्ति प्रकट करता है। औरों की अपेक्षा शूरता और बल में अपने को बढ़ कर मानना 'गर्व सञ्चारीभाव' है।

सिरसरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी॥
भुज बिक्रम जानहिँ दिगपाला। सठ अजहूँ जिनके उर साला॥२॥

मस्तकरूपी कमलों को अपने हाथों उतार कर अनेक बार शिवजी का पूजन किया। अरे दुष्ट! मेरी भुजाओं का पराक्रम दिक्पाल जानते हैं, जिनके हृदय में अब भी उसकी पीड़ा है॥ २॥

जानहिँ दिग्गज उर कठिनाई । जब जब भिरेउँ जाइ बरिआई ॥
जिन्ह के दसन करालन फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे ॥३॥

मेरे हृदय की कठिनता को दिशा के हाथी जानते हैं, जब जब मैं ज़ोरावरी से जा कर भिड़ गया, तब तब उनके भीषण फूटे (निकले हुए) दाँत मेरी छाती से लगते ही मूली की तरह टूट गये ॥३॥

जासु चलत डोलत इमि धरनी । चढ़त मत्त-गज जिमि लघु तरनी ॥
सोइ रावन जग बिदित प्रतापी । सुनेहि न स्रवन अलीक प्रलापी ॥४॥

जिसके चलती बेर धरती ऐसी डगमग होती है जैसे मतवाले हाथी के चढ़ने पर छोटी नौका काँपती है । मैं वही जगत्प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ, अरे मिथ्या बकनेवाला ! तू ने कान से नहीं सुना ? ॥४॥

अपने पराक्रम का गर्व परोत्कर्ष की असहनशीलता—असूया और कुटुम्ब सेना आदि की अधिकता का मद सञ्चारीभाव है ।

दो०—तेहि रावन कहँ लघु कहसि, नर कर करसि बखान ।
रे कपि बर्बर खर्ब खल, अब जाना तव ज्ञान ॥२५॥

उस रावण को छोटा कहता है और मनुष्य की बड़ाई करता है ? अरे बकवादी, तुच्छ बन्दर ! मैंने तेरे ज्ञान को अब जान लिया (चुप रह) ॥२५॥

चौ०—सुनि अङ्गद सकोप कह बानी । बोलु सँभारि अधम अभिमानी ॥
सहसबाहु-भुज-गहन अपारा । दहन अनल-सम जासु कुठारा ॥१॥

यह सुन कर क्रोधित हो अंगद वचन बोले—रे नीच अभिमानी ! सँभाल कर बोल । सहस्रबाहु की भुजाएँ रूपी दुर्भेद्य अपार वन को जलाने में जिनका कुल्हाड़ा अग्नि के समान है ॥१॥

जासु परसु सागर-खर-धारा । बूड़े नृप अगनित बहु बारा ॥
तासु गर्ब जेहि देखत भागा । सो नर क्यौं दससीस अभागा ॥२॥

जिनके कुठार रूपी समुद्र के तीव्र बाढ़ में अनेक बार असंख्यों राजा डूब गये उन (परशुराम) का गर्व जिन (रामचन्द्रजी) को देखते ही भाग गया, क्यों रे अभागा रावण ! वे मनुष्य कैसे हैं ? ॥२॥

जब तक 'धारा' शब्द में श्लेष न मानें और उसके दो अर्थ (तेज़ धार तथा पानी का बहाव) न लें, तब तक रूपक का चमत्कार न भासेगा सीधे परशुराम का नाम न ले कर अस्त्र और गुणों द्वारा उनका परिचय कराना 'प्रथम पर्य्यायोक्तिअलंकार' है ।

राम मनुज कस रे सठ बङ्गा । धन्वी-काम नदी पुनि गङ्गा ॥
पसु-सुरधेनु कलपतरु-रूखा । अन्नदान अरु रस-पीयूखा ॥३॥

क्यों रे दुष्ट मसखरे ! रामचन्द्रजी मनुष्य हैं ? कामदेव धनुर्धर और फिर गंगा नदी हैं ? कामधेनु पशु है ? कल्पवृक्ष पेड़ है ? अन्न दान है और अमृत रस है ? ॥३॥

बैनतेय-खग अहि-सहसानन । चिन्तामनि पुनि उपल दसानन ॥
सुनु मतिमन्द लोक-बैकुंठा । लाभ कि रघुपति-भगति-अकुंठा ॥४॥

गरुड़ पक्षी हैं ? शेषनाग सर्प हैं ? चिन्तामणि पत्थर है ? वैकुण्ठ लोक है ? और फिर रे नीच बुद्धि रावण ! सुन, क्या रघुनाथजी की अखण्ड-भक्ति लाभ है ? ॥४॥

प्रसिद्ध वस्तुओं का निषेध प्रकट करना अर्थात् रामचन्द्र मनुष्य नहीं हैं, कामदेव धन्वी नहीं है, गङ्गा नदी नहीं हैं इत्यादि 'प्रतिषेध अलंकार' है। काकु से विशेषता की ध्वनि व्यञ्जित होती है कि सब मनुष्यों के समान रामचन्द्रजी मनुष्य नहीं हैं, सब धनुर्धरों की तरह काम धन्वी नहीं है और सब नदियों की भाँति गङ्गा नदी नहीं हैं इत्यादि ।

दो०—सेन सहित तव मान मथि, बन-उजारि पुर जारि ।
कस रे सठ हनुमान कपि, गयउ जो तव सुत मारि ॥२६॥

जो हनूमान सेना सहित तेरा मान-मर्दन कर, बगीचा उजाड़ा, नगर जलाया और तेरे पुत्र (अक्षयकुमार) को मार कर गये, क्यों रे दुष्ट ! वे बन्दर हैं ? ॥२६॥

ध्वनि से यह अर्थ प्रकट होना कि जिन्हों ने ऐसे भीम पराक्रम किए वे बन्दर कदापि नहीं, रुद्र के अवतार हैं। व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है ।

चौ०—सुनु रावन परिहरि चतुराई । भजसि न कृपासिन्धु रघुराई ॥
जौं खल भयेसि राम कर द्रोही । ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥१॥

हे रावण ! सुन, चालाकी छोड़ कर कृपासागर रघुनाथजी को क्यों नहीं भजता ? अरे दुष्ट ! यदि तू रामचन्द्रजी का द्रोही हुआ तो ब्रह्मा और रुद्र भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते ॥१॥

लक्षणा मूलक व्यङ्ग है जिनके वर का तुझे बड़ा घमण्ड है राम-द्रोही की रक्षा करने में वे अशक्य हैं ।

मूढ़ बृथा जनि मारसि गाला । राम-बयर अस होइहि हाला ॥
तव सिर-निकर कपिन्ह के आगे । परिहहिँ धरनि राम-सर-लागे ॥२॥

अरे मूर्ख ! झूठमूठ गाल मत बजावे, रामचन्द्रजी के वैर से यह हाल होगा कि राम-बाण के लगने पर तुम्हारे समूह मस्तक वानरों के सामने धरती पर (कट कट कर) गिरेंगे ॥२॥

ते तव सिर कन्दुक इव नाना । खेलिहहिँ भालु कीस चौगाना ॥
जबहिँ समर कोपिहि रघुनायक । छुटिहहिँ अति कराल बहु सायक ॥३॥

तुम्हारे उन मस्तकों को अनेक भालू और बन्दर मैदान में गेंद की तरह खेलेंगे । जिस समय संग्राम में रघुनाथजी क्रोधित होंगे और अतिशय भीषण बहुत से बाण छूटेंगे ॥३॥

तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा अस बिचारि भजु राम उदारा ॥
सुनत बचन रावन परजरा । जरत महानल जनु घृत परा ॥४॥

तब क्या इस तरह तुम्हारा गाल चलेगा ? ऐसा समझ कर उदार रामचन्द्रजी को भज । अङ्गद की बात सुनते ही रावण अधिक जल गया, मानों प्रचण्ड अग्नि में घी पड़ा हो ॥४॥

दो०—कुम्भकरन अस बन्धु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि ।
मोर पराक्रम नहिँ सुनेहि, जितेउँ चराचर झारि ॥२७॥

मेरे कुम्भकर्ण ऐसा भाई और इन्द्र को जीतनेवाला प्रसिद्ध पुत्र है । तू ने मेरे पराक्रम को नहीं सुना कि मैं ने जड़ चेतन मय सारे संसार को जीत लिया ? ॥२७॥

बन्धु, पुत्र और अपने बल के विषय में रामचन्द्रजी की अपेक्षा अपने में अधिकत्व प्रदर्शित करना 'गर्व सञ्चारी भाव' है । नीचे के दोहे पर्य्यन्त इसी भाव की प्रधानता है ॥

चौ०—सठ साखामृग जोरि सहाई । बाँधा सिन्धु इहइ प्रभुताई ॥
नाँघहिँ खग अनेक बारीसा । सूर न होहिँ ते सुनु सब कीसा ॥१॥

मूर्ख बन्दरों की मदद जुटा कर समुद्र बाँध दिया, बस—यही प्रभुता न ? हे बन्दर ! सुन, समुद्र तो कितने ही पक्षी लाँघ जाते हैं, पर वे सब शूरवीर नहीं हो सकते ॥ १ ॥

रामन्चद्रजी का पुल बाँधना उपमेय वाक्य है और पक्षियों का समुद्र नाँघना उपमान वाक्य है ।.उपमान द्वारा उपमेय का गर्व परिहार करना 'द्वितीय प्रतीप अलंकार' है ।

मम-भुज-सागर बल-जल-पूरा । जहँ बूड़े बहु सुर-नर-सूरा ॥
बीस पयोधि अगाध अपारा । को अस बीर जो पाइहि पारा ॥२॥

मेरे बाहु रूपी समुद्र बल रूपी जल से भरे हैं जिसमें बहुत से शूरवीर देवता और मनुष्य डूब गये हैं । बहुत गहरे सीमारहित ये बीस समुद्र हैं, कौन ऐसा योद्धा है जो इनसे पार पावेगा ? ॥२॥

इन वाक्यों से बँधे हुए समुद्र की लघुता व्यञ्जित करना 'गुणीभूत व्यङ्ग' है कि उस साधारण समुद्र पर पुल बँध गया तो क्या ? अभी बीस असाधारण सागर पड़े हैं ।

दिगपालन्ह मैं नीर भरावा । भूप सुयस खल मोहि सुनावा ॥
जौं पै समर सुभट तव नाथा । पुनि पुनि कहसि जासु-गुन-गाथा ॥३॥

अरे खल ! मैं ने दिगपालों से पानी भरवाया, तू राजा का यश मुझे सुनाता है । यदि तेरा स्वामी अच्छा शूरवीर है, जिसके गुण की कथा तू बार बार कहता है ॥३॥

तौ बसीठ पठवत केहि काजा । रिपु सन प्रीति करत नहिँ लाजा ॥
हरगिरि-मथन निरखु-मम-बाहू । पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू ॥४॥

तो दूत किस मतलब से भेजता है । शत्रु से प्रीति करते हुए उसे लज्जा नहीं आती ? अरे मूर्ख बन्दर । कैलास पर्वत को मथनेवाली मेरी भुजाओं को देख, फिर अपने मालिक की बड़ाई कर ॥४॥

'मथन' शब्द में रूढ़ि लक्षणा है । कैलास पर्वत दही, दूध या पानी नहीं है जो मथा जा सकेगा, मुख्य अर्थ का बाध होने पर भी वचन व्यवहारिक है । मुख्यार्थ उठाने का है । भुजा दिखा कर अपनी महान् शूरता व्यञ्जित करने का भाव अगूढ़ व्यङ्ग है ।

दो०—सूर कवन रावन सरिस, स्व कर काटि जेहि सीस ।
हुने अनल अति-हरष बहु,-बार साखि गौरीस ॥२८॥

रावण के बराबर शूर कौन है ? जिसने अपने हाथों से सिर काट कर बड़ी प्रसन्नता के साथ बहुत बार अग्नि में हवन कर दिया, इसके साक्षी शिवजी हैं ॥ २८ ॥

सभा की प्रति में 'हुने अनल महँ बार बहु, हरषि साखि गौरीस' पाठ है ।

चौ०—जरत बिलोकेउँ जबहिँ कपाला । बिधि के लिखे अङ्क निज भाला ॥
नर के कर आपन बध बाँची । हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची ॥१॥

जब मस्तकों को जलते देखा तो अपने ललाट में ब्रह्मा के लिखे अक्षरों को पढ़ा । मनुष्य के हाथ मेरी मृत्यु उन्हों ने लिखी है, ब्रह्मा की बात झूठ जान कर मैं हँसा ॥ १ ॥

ब्रह्मा के लिखे अङ्क झूठ हो नहीं सकते, इस सच्ची बात को जानते हुए भी उसे झूठ अनुमान करना 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग' है ।

सोउ मन समुझि त्रास नहिँ मोरे । लिखा बिरञ्चि जरठ-मति-भोरे ॥
आन बीर बल सठ मम आगे । पुनि पुनि कहसि लाजपति-त्यागे ॥२॥

वह जान कर भी मेरे मन में त्रास नहीं है, बुद्धि-भ्रम से वृद्ध ब्रह्मा ने ऐसा लिखा । अरे मूर्ख ! मेरे सामने दूसरे योद्धा का पराक्रम तू लज्जा की मर्य्यादा छोड़ कर बार बार कहता है ? ॥ २ ॥

रावण के कथन में गूढ़ ध्वनि है कि मैं जानता हूँ, पर जिद न छोड़ूँगा । तू बार बार व्यर्थ ही क्यों समझाता है । जब इस सम्बन्ध में ब्रह्मा की बात नहीं मानता हूँ तब दूसरे किसी का समझाना बिलकुल बेमतलब है ।

कह अङ्गद सलज्ज जग माहीं । रावन तोहि समान कोउ नाहीं ॥
लाजवन्त तव सहज सुभाऊ । निज-मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥३॥

अंगद ने कहा—हे रावण ! तेरे समान लाजवाला संसार में कोई नहीं है । तेरी स्वाभाविक प्रकृति ही लजोधर है, इसी से अपना गुण तू अपने मुख से कुछ भी नहीं कहता ॥ ३ ॥

शब्द के उच्चारण में कण्ठध्वनि से काकुद्वारा 'निर्लज्जता आदि' विपरीत अर्थ भासित होना लक्षणा-मूलक अगूढ़ व्यंग है ।

सिर अरु सैल कथा चित रही । ता तेँ बार बीस तै कही ॥
सो भुजबल राखेहु उर घाली । जीतेहु सहसबाहु-बलि-बाली ॥४॥

सिर काटने और पर्वत उठाने की कथा मन में थी, (अपने जीवन में यही दो पुरुषार्थ तू ने किया है) इसी से तुमने बीसों बार उसे कहा । उन भुजाओं का बल हृदय में छिपा रक्खा था, तभी सहस्रबाहु, बलि और बाली ने तुम्हें जीत लिया ! ॥ ४ ॥

इन वाक्यों में वाच्यार्थ और व्यंगार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है अर्थात

अब भुजाओं में अप्रमेय बल था तब सहस्रार्जुन, बलि और बाली ने कैसे जीत लिया ? चौपाई के उत्तरार्द्ध का दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि सहस्रबाहु, बलि और बाली को जीतने में उस भुजबल को हृदय में छिपा रक्खा था, उन्हें क्यों नहीं जीत लिया ?

सुनु मति-मन्द-देहि अब पूरा । काटे सीस कि होइय सूरा ॥
इन्द्रजालि कहँ कहिय न बीरा । काटइ निज कर सकल सरीरा ॥५॥

अरे नीच-बुद्धिवाला जीवात्मा ! सुन, अब इस से पूरा न पड़ेगा, क्या सिर काटने से तू शूर हो गया । इन्द्रजाल करनेवाला (बाजीगर) अपने हाथों सारा शरीर काटता है, पर उसे कोई वीर नहीं कहता ॥ ५ ॥

क्या कोई सिर काटने से शूर होता है ? यह वक्रोक्ति है । इसका समर्थन विशेष उदाहरण से करना कि सारा अङ्ग अपने हाथों काट डालने पर भी बाजीगर को कोई वीर नहीं कहता 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

दो०—जरहिँ पतङ्ग मोह बस, भार बहहिँ खर-बृन्द ॥
ते नहिँ सूर कहावहिँ, समुझि देखु मति-मन्द ॥२९॥

अरे मतिमन्द रावण ! समझ कर देख, फतिङ्गे अज्ञान के अधीन हो कर जलते हैं और झुण्ड के झुण्ड गदहे बोझ ढोते हैं, वे शूरवीर नहीं कहलाते ॥ २९ ॥

चौ०—अब जनि बतबढ़ाव खल करही । सुनु मम बचन मान परिहरही ॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ । अस बिचारि रघुबीर पठायउ ॥१॥

अरे दुष्ट ! अब बतबढ़ाव मत कर, मेरी बात सुन और अभिमान त्याग दे । हे दशानन ! मैं दौतकर्म के लिए नहीं आया हूँ, रघुनाथजी ने यह सोच कर मुझे भेजा है ॥ १ ॥

पहले बसीठी के लिए आने से इनकार करना, फिर उसी बात को अन्य प्रकार से स्थापन करना 'निषेधाक्षेप अलंकार' है ।

बार बार अस कहइ कृपाला । नहिँ गजारि जस बधे सृगाला ॥
मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे । सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥२॥

कृपालु रामचन्द्रजी बार बार ऐसा कहते हैं कि सियार को मारने से सिंह यशस्वी नहीं होता । अरे दुष्ट ! मन में स्वामी के बचन समझ कर ही मैं ने तेरी कठोर बातें सहन की है ॥२॥

सिंह के सिर पर ढार कर यह बात रावण के प्रति कहना प्रस्तुत है और सिंह का वृत्तान्त अप्रस्तुत है । यह सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा अन्योक्ति अलंकार है ।

नाहिँ त करि मुख-भञ्जन तोरा । लेइ जातेउँ सीतहि बरजोरा ॥
जानेउँ तव बल अधम सुरारी । सूने हरि आनेसि पर-नारी ॥३॥

नहीं तो तेरा मुख तोड़ कर मैं ज़ोरावरी से सीताजी को ले जाता । रे नीच राक्षस ! तेरे पराक्रम को मैं जानता हूँ कि सूने में पराई स्त्री हर कर ले आया है ॥३॥

तैं निसिचर-पति गर्ब बहूता । मैं रघुपति-सेवक-कर-दूता ॥
जौं न राम अपमानहिं डरऊँ । तोहि देखत अस कौतुक करऊँ ॥४॥

तैं राक्षसों का राजा है और मैं रघुनाथजी के सेवक (सुग्रीव) का दूत हूँ। यदि मैं रामचन्द्रजी के अपमान को न डरूँ तो तेरे देखते ऐसा खेल कर डालूँ ॥४॥

दो०–तोहि-पटकि-महि सेन-हति, चौपट करि तव गाउँ।
तव जुबतीन्ह समेत सठ, जनकसुतहि लेइ जाउँ ॥३०॥

रे दुष्ट ! तुझे धरती पर पछाड़ कर फ़ौज का संहार कर, तेरी नगरी चौपट करके और तेरी स्त्रियों के सहित जनकनन्दिनी को ले जाता ॥३०॥

चौ०–जौं अस करउँ तदपि न बड़ाई । मुयेहि बधे नहिं कछु मनुसाई ॥
कौल काम-बस कृपिन बिमूढ़ा । अति-दरिद्र अजसी अति-बूढ़ा ॥१॥

यदि ऐसा करूँ तो भी बड़ाई नहीं है, मुर्दे को मारने में कुछ बहादुरी नहीं है। वाममार्गी, क़ामातुर, कञ्जूस, महामूर्ख, बड़ा दरिद्री, कलङ्की और अत्यन्त बुड्ढा ॥१॥

सदा-रोग-बस सन्तत क्रोधी । बिष्नु-बिमुख स्रुति-सन्त-बिरोधी ॥
तनु-पोषक निन्दक अघ-खानी । जीवत सव-सम चौदह प्रानी ॥२॥

सदा का रोगी, निरन्तर क्रोधी, ईश्वर विमुखी, वेद तथा सज्जनों का विरोधी, अपना ही शरीर पोषनेवाला, दूसरे की निन्दा करनेवाला ये चौदहों प्राणी जीते हुए भी मृतक के समान हैं ॥२॥

जीवित प्राणी को भिन्न भिन्न अवगुणों के योग से मृतक स्थापन करना अर्थात् मुर्दे के बराबर मानना 'सारोपा लक्षणा' है।

अस बिचारि खल बधउँ न तोही । अब जनि रिस उपजावसि मोही ॥
सुनि सकोप कह निसिचर-नाथा । अधर-दसन-दसि मीजत-हाथा ॥३॥

अरे दुष्ट ! ऐसा सोच कर तुझे नहीं मारता हूँ, पर अब मुझे क्रोध न उत्पन्न करावे। यह सुन कर क्रोध के वशीभूत हो राक्षसराज दाँतों से ओंठ दबाकर हाथ मलते हुए बोला ॥३॥

अङ्गद का कठोर सम्भाषण उद्दीपन विभाव है। रावण का ओंठ चबाना, हाथ मलना, आँखें तरेरना अनुभाव है। अमर्ष, आवेग, उग्रतादि सञ्चारी भावों द्वारा क्रोध स्थायीभाव पुष्ट हो कर 'रौद्र रस' संज्ञा को प्राप्त हुआ है।

रे कपि अधम मरन अब चहसी । छोटे बदन बात बड़ि कहसी ॥
कटु-जल्पसि जड़-कपि बल-जाके । बल प्रताप-बुधि-तेज न ताके ॥४॥

रे नीच बन्दर ! अब तू मरना चाहता है, छोटे मुँह बड़ी बात कहता है। अरे मूर्ख बनौकस ! जिसके बल से तू कड़ी बातें बकता है उसमें बल, प्रताप, बुद्धि और तेज कुछ भी नहीं है ॥४॥

दो०—अगुन अमान बिचारि तेहि, दीन्ह पिता बनबास ।
सो दुख अरु जुबती बिरह, पुनि निसि दिन मम त्रास ॥

उसको गुणहीन और अप्रतिष्ठित जानकर उसके पिता ने वन-वास दे दिया। वह दुःख और स्त्री का वियोग, फिर रात दिन मेरी त्रास।

गुटका में 'अगुन अमान जानि तेहि पाठ' है।

जिन्ह के बल कर गर्ब तोहि, ऐसे मनुज अनेक ।
खाहिँ निसाचर दिवस-निसि, मूढ़ समुझु तजि टेक ॥३१॥

जिनके बल का तुझ को गर्व है, ऐसे अनगिनती मनुष्यों को दिन-रात राक्षस खाते हैं, अरे मूर्ख! हठ छोड़ कर ऐसा समझ ॥३१॥

रावण ने पूज्य-पुरुष श्रीरामचन्द्रजी की अनुचित हँसी की है, यह हास्यरसाभास है।

चौ०—जब तेहि कीन्ह राम कइ निन्दा । क्रोधवन्त अति भयउ कपिन्दा ॥
हरि-हर निन्दा सुनइ जो काना । होइ पाप गो-घात-समाना ॥१॥

जब उसने रामचन्द्रजी की निन्दा की; तब युवराज अत्यन्त क्रोधित हुए। विष्णु और शिवजी की निन्दा जो कान से सुनता है, उसको गो हत्या के समान पाप होता है ॥१॥

कटकटान कपि-कुञ्जर भारी । दुहुँ-भुज-दंड तमकि महि मारी ।
डोलत धरनि सभासद खसे । चले भागि भय मारुत ग्रसे ॥२॥

वानर श्रेष्ठ ने बड़े जोर से दाँत पीस क्रोध से उछल अपने दोनों भुजदण्डों को धरती पर दे मारा। जिससे पृथ्वी हिल गई और सभासद गिर गये, वे भय रूपी वायु से ग्रस्त हो भाग चले अथवा अङ्गद के अत्यन्त कुपित होने का डर और भुजदण्ड के पटकने से जो वायु निकली, दोनों में ग्रस्त हो भागे ॥ २ ॥

गिरत सँभारि उठा दसकन्धर । भूतल परे मुकुट अति सुन्दर ॥
कछु तेहि लै निज सिरन्हि सँवारे । कछु अङ्गद प्रभु पास पबारे ॥३॥

रावण भी गिरते गिरते सम्हल कर उठा, पर उसके अत्यन्त सुन्दर मुकुट धरती पर गिर पड़े। कुछ उसने लेकर अपने मस्तकों पर सजाया और कुछ अङ्गद ने उठा कर प्रभु रामचन्द्र के पास फेंक दिया ॥३॥

अङ्गद ने दो हाथ से चार मुकुट उठाया और रावण बीस हाथ से केवल छे उठा सका, इसका कारण रावण की घबराहट है।

आवत मुकुट देखि कपि भागे । दिनहीं लूक परन बिधि लागे ॥
की रावन करि कोप चलाये । कुलिस चारि आवत अति धाये ॥४॥

मुकुटों को आते देख कर वानर भगे, उन्हें भ्रम हुआ कि या विधाता! दिन में ही उल्का-

पात होने लगा। या तो रावण ने क्रोध कर के चार वज्र चलाये हैं, जो बड़े वेग से दौड़े आ रहे हैं ॥४॥

मुकुट को लूक और वज्र मान लेना भ्रान्ति है। लूक हैं या रावण के चलाये वज्र हैं, कोई बात निश्चय न हो कर संशय बना रहना सन्देह है। दोनों की संसृष्टि है।

कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहिँ राहू ॥
ये किरीट दसकन्धर केरे। आवत बालि-तनय के प्रेरे ॥५॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने हँस कर कहा—तुम लोग मन में मत डरो, ये न उल्का हैं, न वज्र, न केतु हैं और न राहु हैं। ये बालिकुमार के फेंके हुए रावण के किरीट आते हैं ॥५॥

किरीटों को देख कर जो वानरों के मन में भ्रम और सन्देह हुआ, उसको सत्य कह कर निवारण करना 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

दो०—तरकि पवन-सुत कर गहेउ, आनि धरे प्रभु पास ।
कौतुक देखहिँ भालु कपि, दिनकर-सरिस प्रकास ॥

पवनकुमार ने उछल कर हाथ से पकड़ लिया और प्रभु रामचन्द्रजी के पास ला कर रख दिया। वे (मुकुट) सूर्य्य के समान तेज युक्त हैं, भालू और वानर कुतूहल (आश्चर्य्य) से देख रहे हैं।

उहाँ सकोप दसानन, सब सन कहत रिसाइ ।
धरहु कपिहि धरि मारहु, सुनि अङ्गद मुसुकाइ ॥३२॥

वहाँ रावण क्रोधित हो सब से नाराज़ होकर कहता है कि इस बन्दर को पकड़ो और धर कर मार डालो, यह सुन कर अङ्गद मुस्कराते हैं ॥३२॥

अङ्गद के मुस्कुराने में रावण की धृष्टता और बेहयाईपन पर आश्चर्य्य प्रकाश करने का भाव है।

चौ०—एहि बिधि बेगि सुभट सब धावहु। खाहु भालु कपि जहँ जहँ पावहु।
मरकट-हीन करहु महि जाई। जियत धरहु तापस दोउ भाई ॥१॥

रावण कहता है—इस तरह जल्दी सब राक्षस भट दौड़ो, जहाँ जहाँ भालू-बन्दरों को पावो, उन्हें खा जाओ। जा कर पृथ्वी को बिना बन्दरों की कर दो और तपस्वी दोनों भाइयों को जीते ही पकड़ लो ॥१॥

पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा ॥
मरु गर काटि निलज कुलघाती। बल बिलोकि बिहरत नहिँ छाती ॥२॥

फिर युवराज क्रोधित हो कर बोले—रावण! गाल बजाते हुए तुझे शरम नहीं है? अरे निर्लज्ज, कुलनाशक! गला काट कर मर जा, पराक्रम देख कर तेरी छाती नहीं फट जाती? ॥२॥

रे त्रिय-चोर कुमारग-गामी। खल मल-रासि मन्द-मति कामी॥
सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि काल-बस खल मनुजादा॥३॥

रे स्त्री-चोर, कुमार्ग-गामी, दुष्ट, पाप की राशि, नीच-बुद्धि, कामी, दुराचारी राक्षस! तू सन्निपात से काल के अधीन हुआ है, इसी से दुर्वचन बकता है॥३॥

याको फल पावहुगे आगे। बानर-भालु-चपेटन्हि लागे॥
राम-मनुज बोलत असि बानी। गिरहिँ न तव रसना अभिमानी॥४॥

इसका फल आगे पाओगे, (जब इन मुखों पर) वानर-भालुओं के तमाचे लगेंगे। रामचन्द्रजी मनुष्य हैं ऐसी वाणी बोलने पर, अरे अभिमानी! जिह्वा नहीं गिर जाती?॥४॥

गिरिहहिँ रसना संसय नाहीँ। सिरन्हि समेत समर महि माहीँ॥५॥

जीभ गिरेंगी इसमें सन्देह नहीं, पर वे रणभूमि में सिरों के सहित गिरेंगी॥५॥

सो०—सो नर क्योँ दसकन्ध, बालि बधेउ जेहि एक सर।
बीसहु लोचन अन्ध, धिग तव जनम कुजाति जड़॥

हे रावण! वे मनुष्य कैसे हैं? जिन्हों ने एक ही बाण से बाली को मार डाला। बीसों आँख से अन्धा है? अरे मूर्ख कुजाती! तेरे जन्म को धिक्कार है।

तव सोनित की प्यास, तृषित राम-सायक-निकर।
तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम॥३३॥

रामचन्द्रजी के बाण-समूह तेरे खून के प्यासे हैं। अरे कड़वी बात बकनेवाला, अधम राक्षस! उन (बाणों) के डर से मैं तुझको छोड़ता हूँ॥३३॥

रावण को जीवित छोड़ने की बात कह कर उसका युक्ति से समर्थन करना कि मैं बाणों के भय से नहीं मार सका 'काव्यलिङ्ग' है।

चौ०—मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥
अस रिसि होत दसउ मुख तोरउँ। लङ्का गहि समुद्र महँ बोरउँ॥१॥

मैं तेरे दाँतों को तोड़ने योग्य हूँ, पर रघुनाथजी ने मुझे आज्ञा नहीं दी है। ऐसा क्रोध होता है कि तेरा दसों मुख तोड़ डालूँ और लङ्का को पकड़ (उखाड़) कर समुद्र में डुबा दूँ॥१॥

गूलरि-फल-समान तव लङ्का। बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असङ्का॥
मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥२॥

तुम्हारी लङ्का गूलर-फल के समान, है उसके बीच में जन्तु (मसा) रूप तुम निर्भय निवास करते हो। मैं बन्दर हूँ, फल खाते देरी नहीं पर उदार रामचन्द्रजी ने (ऐसा करने के लिए) आज्ञा नहीं दी है॥२॥

जुगुति सुनत रावन मुसुकाई । मूढ़ सिखे कहँ बहुत झुठाई ॥
बालि न कबहु गाल अस मारा । मिलि तपसिन्ह त भयेसि लबारा ॥३॥

यह युक्ति सुन रावण मुस्कुरा कर बोला—अरे मूर्ख ! तू ने इतनी बड़ी झुठाई कहाँ सीखी। बाली ने कभी ऐसा गाल नहीँ मारा था, तैं तपस्वियों से मिल कर लफङ्गा हुआ है ॥३॥

इस कथन से यह लक्षित होना कि तपस्वी झूठे हैं तव तो तू लवार हुआ लक्षणामूलक गुणीभूत व्यङ्ग है।

साँचेहु मैं लबार भुज बीहा । जौँ न उपारउँ तव दस-जीहा ॥
समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥४॥

अङ्गद ने कहा—हे रावण! सचमुच लवार हूँ, यदि तेरी दसों जीभ नहीँ उखाड़ लेता हूँ। रामचन्द्रजी के प्रताप (तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई) को समझ कर अङ्गद क्रुद्ध हुए और प्रतिज्ञा करके सभा के बीच पाँव रख दिया ॥४॥

जौँ मम चरन सकसि सठ टारी । फिरहिँ राम सीता मैं हारी ॥
सुनहु सुभट सब कह दससीसा । पद गहि धरनि पछारहु कीसा ॥५॥

अरे दुष्ट! यदि तू मेरे पाँव को हटा सके तो मैं सीताजी को हार जाता हूँ रामचन्द्रजी लौट जायँगे। रावण बोला—हे सब शूरवीरो! सुनो, पाँव पकड़ कर बन्दर को धरती पर पटक दो ॥ ५ ॥

अङ्गदजी का प्रतिज्ञा-पूर्वक पाँव रोपना और सीताजी को हारने की बाजी लगाना प्रतिज्ञाबद्ध 'स्वाभावोक्ति अलंकार' है। इस स्थल में लोग तरह तरह की शङ्का करते हैं। अङ्गदजी को जनकनन्दिनी को हार जाने का क्या अधिकार था। यदि पाँव हट जाता तो कितना बड़ा अनर्थ होता (सीताजी की बाजी क्यों लगाया) सीताजी स्वामी की प्रियभार्य्या थीं, रावण की जीभ उखाड़ने, लङ्कापुरी चौपट करने में तो रामाज्ञा के बिना न कर सकना कहा, पर सीताजी के हारने की प्रतिज्ञा विना रामचन्द्रजी की आज्ञा के कैसे कर दी ? इत्यादि। उत्तर—रामचन्द्रजी ने अङ्गद को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा और कह दिया कि "काज हमार तासु हित होई रिपु सन करेहु बतकही सोई। बहुत बुझाइ तुम्हहिँ का कहऊँ परम चतुर मैं जानत अहऊँ" इसलिए अङ्गद को स्वामी प्रदत्त हर प्रकार का अधिकार कार्य्य-साधन के लिए था। अङ्गदजी को राम-प्रताप का मन में दृढ़ विश्वास था कि राक्षसों के हटाने से तिल भर भी मेरा पाँव नहीं हट सकता। दोहावली में गोसाईंजी ने एक दोहा में कहा है कि—तेहि समाज किय कठिन-पन जेहि तौलेउ कैलास। तुलसी प्रभु महिमा कहउँ, की सेवक विश्वास। सीताजी की बाजी इसलिए लगाया कि इससे रावण विशेष उत्कण्ठित होगा और शक्ति भर प्रयत्न करेगा। दूसरों के हताश होने पर स्वयम् मेरा पैर पकड़ने को उद्यत होगा, तब उसे लज्जित करने का अच्छा अवसर मिलेगा, इत्यादि।

इन्द्रजीत आदिक बलवाना । हरषि उठे जहँ तहँ भट नाना ॥
झपटहिँ करि बल बिपुल उपाई । पद न टरइ बैठहिँ सिर नाई ॥६॥

मेघनाद आदिक बहुत से बलवान योद्धा प्रसन्न होकर जहाँ तहाँ से उठे । वे झपट कर खूब जोर से यत्न करते हैं, परन्तु पाँव नहीं हटता तब सिर नीचे कर के (लज्जित हो) बैठ जाते हैं ॥ ६ ॥

अनेक योद्धाओं के प्रयत्न करने पर भी पैर का न टलना अर्थात् कारण विद्यमान रहते फल न प्रकट होना 'विशेषोक्ति अलंकार है' ।

पुनि उठि झपटहिँ सुरआराती । टरइ न कीस चरन एहि भाँती ॥
पुरुष-कुजोगी जिमि उरगारी । मोह-बिटप नहिँ सकहिँ उपारी ॥७॥

फिर उठ कर राक्षस टूट पड़ते हैं, कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़ ! अङ्गद का चरण इस तरह नहीं टलता है जैसे असंयमी (बुरी वासनाओं में लगे हुए) मनुष्य अज्ञान रूपी वृक्ष को (हृदय रूपी भूमि से,) नहीं उखाड़ सकते ॥७॥

दो०—कोटिन्ह मेघनाद सम, सुभट उठे हरषाइ ।
झपटहिँ टरइ न कपि-चरन, पुनि बैठहिँ सिर नाइ ॥

मेघनाद के समान करोड़ों योद्धा प्रसन्न हो कर उठे वे पाँव हटाने के लिए वेग से आक्रमण करते हैं; पर वह हटता नहीं, फिर नीचे मस्तक करके बैठ जाते हैं ॥

भूमि न छाड़त कपि-चरन, देखत रिपु-मद-भाग ।
कोटि बिघ्न तेँ सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग ॥३४॥

अङ्गद का पैर धरती को नहीं छोड़ता है, यह देखकर शत्रु का घमण्ड दूर हो गया । वह इस तरह ज़मीन से नहीं टलता है जैसे करोड़ों विघ्न से सज्जनों का मन नीति का त्याग नहीं करता ॥३४॥

चौ०—कपि-बल-देखि सकल हिय हारे । उठा आपु कपि के परचारे ॥
गहत चरन कह बालिकुमारा । मम-पद-गहे न तोर उबारा ॥१॥

अङ्गद का बल देख कर सब हृदय में हार गये, तब अङ्गद के ललकारने पर रावण स्वयम् उठा । पाँव पकड़ते समय बालिकुमार ने कहा—मेरा पैर पकड़ने से तेरा बचाव नहीं हो सकता ॥ १ ॥

रावण को पाँव पकड़ने से बहाने की बात कह कर रोकना 'व्याजोक्ति अलंकार' है । इसमें व्यञ्जनामूलक गूढ़ ध्वनि है कि यदि रावण ऐसा करेगा तो स्वामी का अपकर्ष प्रकट होगा । लोग कहेंगे कि जिस रावण से एक बन्दर का पाँव हटाये नहीं हटा उसको रामचन्द्रजी ने जीत ही लिया तो कौन सी विशेषता की बात है इससे युक्ति-पूर्वक वर्जन किया ।

गहसि न राम-चरन सठ जाई । सुनत फिरा मन अति-सकुचाई ॥
भयउ तेज-हत श्री सब गई । मध्य-दिवस जिमि ससि सोहई ॥२॥

अरे मूर्ख ! जाकर रामचन्द्रजी के चरणों को क्यों नहीं पकड़ता ? यह सुनते ही रावण मन में बहुत लज्जित होकर फिरा । सारी शोभा जाती रही; वह इस मरह तेज हीन हो गया, जैसे दिन में चन्द्रमा प्रकाश रहित दिखाई पड़ता है ॥ २ ॥

वाच्यार्थ को छोड़ कर 'अशोभन' व्यञ्जित करना अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है। पूर्वार्द्ध के दोनों चरण चौपाई और उत्तरार्द्ध के दोनों चरण चौबोला छन्द हैं ।

सिंहासन बैठेउ सिर नाई । मानहुँ सम्पति सकल गँवाई ॥
जगदातमा-प्रानपति-रामा । तासु बिमुख किमि लह बिस्रामा ॥३॥

सिंहासन पर नीचे सिर करके बैठ गया, ऐसा मालूम होता है मानों सारी सम्पति खो दी हो । रामचन्द्रजी प्राणेश्वर और जगत के आत्मा हैं, उनसे विमुख होकर रावण कैसे चैन पा सकता है ? ॥ ३ ॥

उमा राम की भृकुटि-बिलासा । होइ बिस्व पुनि पावइ नासा ॥
तृन तेँ कुलिस कुलिस तृन करई । तासु दूत पन कहु किमि टरई ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! रामचन्द्रजी के भौंह के विलास (इशारे) से संसार उत्पन्न होता और फिर नाश को प्राप्त होता है । जो तिनके को वज्र और वज्र को तिनका कर देते हैं, भला कहो तो सही ! उनके सेवक की प्रतिज्ञा कैसे टल सकती है ? ॥४॥

अङ्गद का पण नहीं टलनेवाला है, इसका कारण कि वह उन रामचन्द्रजी का दूत है जिनकी भृकुटी घूमने से उत्पत्ति-प्रलय होती है और जो वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देते हैं । इस अनोखी युक्ति से समर्थन 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है ।

पुनि कपि कही नीति बिधि नाना । मान न तासु काल नियराना ॥
रिपु-मद-मथि-प्रभु-सुजस सुनायो । यह कहि चलेउ बालि-नृप-जायो ॥५॥

फिर अङ्गद ने नाना प्रकार की नीति कही, पर उसकी मृत्यु समीप आगई है इस से नहीं माना । शत्रु के घमण्ड को चूर चूर कर प्रभु रामचन्द्रजी का सुयश सुनाया और राजा बाली के पुत्र यह कह कर चले ॥५॥

हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई । तोहि अबहिँ का करउँ बड़ाई ॥
प्रथमहिँ तासु तनय कपि मारा । सो सुनि रावन भयउ दुखारा ॥६॥

जब तक संग्राम-भूमि में तुझ को खेला खेला कर नहीं मारता हूँ, तब तक अभी बड़ाई क्या करूँ । अङ्गद ने पहले ही उसका पुत्र (जो लङ्का में प्रवेश करते समय) मारा था, वह सुन कर रावण दुखी हुआ ॥ ६ ॥

जातुधान अङ्गद पन देखी। भय ब्याकुल सब भये बिसेखी ॥७॥

सब राक्षस अङ्गद की प्रतिज्ञा देख कर डर से अधिक घबरा गये ॥७॥

दो०—रिपु-बल-धरषि हरषि कपि, बालि-तनय बल-पुञ्ज।
पुलक-सरीर नयन-जल, गहे राम-पद-कञ्ज ॥

बल के राशि बालिकुमार ने शत्रु के पराक्रम का अनादर कर के प्रसन्न हो पुलकित शरीर से नेत्रों में जल भरे हुए आ कर रामचन्द्रजी के चरण-कमल पकड़े।

अङ्गद का रोमाञ्चित होना, आँखों में जल भरना सात्विक अनुभाव है, जो स्वामी के चरण-कमलों के दर्शन से उत्पन्न हुआ है।

साँझ समय दसमौलि तब, भवन गयउ बिलखाइ।
मन्दोदरी निसाचरहि, बहुरि कहा समुझाइ ॥३५॥

तब सन्ध्याकाल में रावण उदास हो महल में गया। मन्दोदरी ने फिर राक्षसपति (रावण) को समझा कर कहा ॥३५॥

गुटका में 'मन्दोदरी रावनहि' पाठ है इसमें एक मात्रा कम है। पं० रामबकस पाण्डेय की प्रति में 'मन्दोदरी अनेक विधि' पाठ है। सभा की प्रति का पाठ इस स्थल में ठीक है।

चौ०—कन्त समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहिँ रघुपतिही॥
रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिँ नाँघेहु असि मनुसाई ॥१॥

हे कन्त! मन में समझ कर दुर्बुद्धि त्याग दो, तुम से और रघुनाथजी से युद्ध नहीं सोहता। रामचन्द्र के छोटे भाई ने ज़रा सी लकीर खींच दी, तुम्हारी बहादुरी तो ऐसी है कि वह भी नहीं लाँघ सके ॥ १ ॥

मन्दोदरी ने पहले कहा—तुम से और रघुनाथजी से समर नहीं शोभा देता अर्थात् तुम उनसे युद्ध करने में समर्थ नहीं हो, इसका समर्थन विशेष सिद्धान्त से करना कि लक्ष्मण की खँचाई रेखा नहीं लाँघ सके 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

पिय तुम्ह ताहि जितब सङ्ग्रामा। जाके दूत केर अस कामा ॥
कौतुक सिन्धु नाँघि तव लङ्का। आयउ कपि-केहरी असङ्का ॥२॥

हे प्यारे! आप उनको लड़ाई में जीतेंगे? जिनके दूत का ऐसा काम है। खेल ही में समुद्र लाँघ कर तुम्हारी लङ्का में वह वानर-सिंह निर्भय घुस आया ॥२॥

दूत के भीमकार्य से स्वामी के न जीत सकने का अर्थ स्थापन करना 'अर्थापत्ति प्रमाण अलंकार' है।

रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहि मारा ॥
जारि नगर सब कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल-गर्ब तुम्हारा ॥३॥

रक्षकों को मार कर बगीचा उजाड़ डाला और तुम्हारे देखते उसने अक्षयकुमार को

संहार किया। सारा नगर जला कर भस्म कर दिया, तब तुम्हारे बल का गर्व कहाँ था? (उसे क्यों नहीं जीत लिया) ॥ ३ ॥

दूत की बड़ाई से मालिक (रामचन्द्रजी) की बड़ाई प्रकट होना 'व्याजस्तुति अलंकार' है।

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग-जग-नाथ अतुल-बल-जानहु॥४॥

हे स्वामी! अब झूठमूठ गप मत हाँकिये, कुछ मेरा कहना भी हृदय में विचारिये। हे नाथ! रघुनाथजी को राजा मत मानिये, उन्हें चराचर के स्वामी (अखिलेश्वर) और अतोल बलवान समझिये ॥४॥

रामचन्द्रजी का सत्य राजत्व गुण निशेध कर के उसका धर्म अगजग नाथ में स्थापन करना 'पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

बान प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहु नीचा॥
जनक-सभा अगनित महिपाला। रहे तुम्हहु बल बिपुल बिसाला॥५॥

बाण का प्रताप मारीच जानता था, पर उसका कहना आपने नीचता से नहीं माना। राजा जनक के दरबार में असंख्यों राजा इकट्ठे थे, बहुत बड़े बली तुम भी वहाँ थे ॥५॥

भञ्जि धनुष जानकी बिआही। तब सङ्ग्राम जितेहु किन ताही॥
सुरपति-सुत जानइ बल थोरा। राखा जियत आँखि गहि फोरा॥६॥

धनुष तोड़ कर उन्होंने जानकी को विवाह लिया, तब उनको युद्ध में क्यों नहीं जीता? इन्द्र के पुत्र (जयन्त) ने भी अल्प बली समझा (गुस्ताख़ी कर के पीछे पैरों पड़ा तब उसे) जीवित रख पकड़ कर एक आँख फोड़ दी ॥६॥

सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिँ लाज बिसेखी॥७॥

शूर्पणखा का दशा तुमने आँखों देखी, तो भी तुम्हारे हृदय में अधिक लज्जा नहीं आई ॥७॥

दो०—बधि बिराध-खर-दूषनहिँ, लीला-हतेउ-कबन्ध।
बालि एक सर मारेऊ, तेहि जानहु दसकन्ध॥३६॥

जिन्होंने विराध, खर और दूषण का संहार कर खेल ही में कबन्ध को मार डाला, हे दशानन! एक बाण से वाली का वध किया उनको (ईश्वर) समझो ॥३६॥

रामचन्द्र ईश्वर हैं, यह सीधे शब्दों में न कह कर क्रियाओं के वर्णन से घुमा कर कहना 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है। यहाँ मन्दोदरी के समझौते की बातें भयानक रस पति-निन्दा-स्वरूप-भावाभास के अङ्ग से कही गई हैं, ऐसे वर्णन को कविजन रसवत अलंकार कहते हैं।

चौ०—जेहि जलनाथ बँधायउ हेला। उतरे सेन समेत सुबेला॥
कारुनीक दिनकर-कुल-केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू॥१॥

जिन्होंने खेल ही में समुद्र बँधवा दिया और सेना सहित सुबेल-पर्वत पर उतरे हैं। दयाशील सूर्य्यकुल के पताका (रामचन्द्रजी) ने तुम्हारे कल्याण के लिये दूत भेजा ॥१॥

सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि-बरूथ-महँ मृगपति जथा॥
अङ्गद हनुमत अनुचर जा के। रनबाँकुरे बीर अति-बाँके॥२॥

जिसने सभा के बीच में तुम्हारे बल को इस तरह चूर किया, जैसे हाथियों के झुण्ड में सिंह (दर्प चूर्ण करता है)। अत्यन्त बाँके, रणबाँकुरे अङ्गद और हनूमान जिनके सेवक हैं॥२॥

तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥
अहह कन्त कृत राम बिरोधा। कालबिबस मन उपज न बोधा॥३॥

हे प्रीतम! उनको बार बार मनुष्य कहते हो, मिथ्या अभिमान, मोह और मतवालेपन में बह रहे हो। कन्त! शोक है कि रामचन्द्रजी से वैर किये हुए काल के अधीन हो गये हो, इसी से तुम्हारे मन में ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है॥३॥

काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ बुद्धि बल धरम बिचारा॥
निकट काल जेहि आवत साँई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाँई॥४॥

काल लाठी ले कर किसी को नहीं मारता, वह बुद्धि, बल, धर्म और विचार को हर लेता है। स्वामिन्! जिसका काल समीप आता है, उसको आपही की तरह भ्रम होता है॥४॥

दो०—दुइ सुत मारेउ दहेउ पुर, अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिन्धु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु॥३७॥

दो पुत्र मारे गये और नगर जलाया गया, अब भी कुशल है उनकी प्यारी (सीता) को दे डालो। हे नाथ! कृपासिन्धु रघुनाथजी का भजन कर के निर्मल यश प्राप्त करो॥३७॥

चौ०—नारिबचन सुनि बिसिख समाना। सभा गयउ उठि होत बिहाना॥
बैठ जाइ सिंहासन फूली। अति-अभिमान त्रास सब भूली॥१॥

स्त्री के वचन सुन कर वे बाण के समान लगे, सवेरा होते ही उठ कर सभा में गया। अत्यन्त अभिमान से फूल कर सिंहासन पर जा बैठा और सारा डर भूल गई॥१॥

पूर्व में मन्दोदरी के समझाने पर कुछ न कुछ टेढ़ी सीधी बातें कह कर शान्त्वना देता था, परन्तु इस बार भय से कुछ बोल नहीं सका। घमण्ड के सहित राज्यासन पर बैठते ही वह डर भूल गई।

इहाँ राम अङ्गदहि बोलावा। आइ चरन-पङ्कज सिर नावा॥
अति-आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी॥२॥

यहाँ रामचन्द्रजी ने अंगद को बुलवाया, उन्हों ने आकर चरणों में सिर नवाया। खर के वैरी कृपालु स्वामी ने अत्यन्त आदर से समीप में बैठाया और मुस्कुराते हुए बोले॥२॥

बालितनय अति कौतुक मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही॥
रावन-जातुधान-कुल-टीका। भुज-बल-अतुल जासु जग लीका॥३॥

हे वालिनन्दन तात! मुझे बड़ा आश्चर्य है इससे तुमसे पूछता हूँ, सच कहो। रावण राक्षसवंश का शिरोमणि है, जिसकी भुजाओं के अतोल बल का संसार में थाप है॥३॥

तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये । कहहु तात कवनी बिधि पाये ॥
सुनु सर्बज्ञ प्रनत-सुखकारी । मुकुट न होहिं भूप-गुन-चारी ॥४॥

हे तात! उसके चार मुकुट तुमने फेंके, वे किस तरह मिले! कहिए। अङ्गद ने कहा—हे सर्वज्ञ, भक्तजनों के सुखकारी! सुनिए, वे मुकुट नहीं, राजाओं के चार गुण हैं ॥४॥

सत्य मुकुट को असत्य ठहरा कर उपमान रूपी असत्य चार-गुण का स्थापन करना शुद्धापह्नुति अलंकार' है। 'सर्वज्ञ' शब्द में लक्षणामूलक गुणीभूत व्यङ्ग है कि, आप सब जानते हैं केवल दास को आनन्द देने के लिए पूछते हैं।

साम दान अरु दंड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥
नीति धरम के चरन सुहाये । अस जिय जानि नाथ पहिं आये ॥५॥

हे नाथ! वेदों ने कहा है कि साम, दाम, दण्ड और भेद राजाओं के हृदय में निवास करते हैं। वे सुन्दर नीति और धर्म के चरण हैं, मन में यह समझ कर स्वामी के पास आये हैं ॥ ५ ॥

दो०-धरम-हीन प्रभु-पद-बिमुख, काल-बिबस-दससीस ।
तेहि परिहरि गुन आयउ, सुनहु कोसलाधीस ॥

हे कोशल नाथ! सुनिए, रावण धर्म से रहित, स्वामी के चरणों से विमुख और काल के वश में हुआ है। इसलिए ये गुण उसे छोड़ कर आये हैं।

चारों गुण रावण को छोड़ कर आपके समीप आये हैं, इस बात का समर्थन अनोखी युक्तियों से करना कि रावण धर्म हीन, प्रभु-पद विमुखी और कालाधीन हो रहा है इस लिए आये 'काव्यलिंग अलंकार' है।

परम-चतुरता स्रवन सुनि, बिहँसे राम उदार ।
समाचार पुनि सब कहे, गढ़ के बालिकुमार ॥३८॥

उदार रामचन्द्रजी अङ्गद की अत्यन्त चतुराई भरी बात कान से सुन कर हँसे। फिर बालिकुमार ने गढ़ के सब समाचार कह सुनाये ॥ ३८ ॥

चौ०-रिपु के समाचार जब पाये । राम सचिव सब निकट बोलाये ॥
लङ्का बाँके चारि दुआरा । केहि बिधि लागिय करहु बिचारा ॥१॥

जब शत्रु के समाचार मिले, तब रामचन्द्रजी ने सब मन्त्रियों को समीप बुला कर कहा—लङ्का के चारों दरवाजे विकट हैं; किस तरह लगना (घेरा डालना) चाहिए, इस बात को स्थिर कीजिए ॥ १ ॥

तब कपीस रिच्छेस बिभीषन । सुमिरि हृदय दिनकर-कुल-भूषन ॥
करि बिचार तिन्ह मन्त्र दृढ़ावा । चारि अनी कपि-कटक बनावा ॥२॥

तब सुग्रीव, जाम्बवान और विभीषण ने हृदय में सूर्य्यकुल-भूषण (रामचन्द्रजी) का

स्मरण कर के उन्हों ने विचार कर मत निश्चय किया, बानरों के दल की चार सेनाएँ बनाईं ॥ २ ॥

जथाजोग सेनापति कीन्हे । जूथप सकल बोलि तब लीन्हे ॥
प्रभु प्रताप कहि सब समुझाये । सुनि कपि सिंहनाद करि धाये ॥३॥

यथायोग्य सेनापति नियत किये, तब समस्त यूथपतियों को बुला लिया। सब को प्रभु रामचन्द्रजी का प्रताप कह कर समझाया, सुन कर बन्दर सिंह के समान गर्जना कर के दौड़े ॥ ३ ॥

हरषित राम-चरन सिर नावहिँ । गहि-गिरि-सिखर बीर सब धावहिँ ॥
गर्जहिँ तर्जहिँ भालु कपीसा । जय रघुबीर कोसलाधीसा ॥४॥

प्रसन्न हो रामचन्द्रजी के चरणों में सिर नवाते हैं और सब योद्धा पर्वत के शिखर हाथ में लेकर दौड़े जाते हैं। भालू और बन्दर गरजते, डाँटते तथा कोशलेन्द्र रघुवीर की जय जयकार करते हैं ॥४॥

जानत परम दुर्ग अति लङ्का । प्रभु प्रताप कपि चलेउ असङ्का ॥
घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी । मुखहि निसान बजावहिँ भेरी ॥५॥

लङ्का को बहुत ही हद से ज्यादा दुर्गम जानते हुए प्रभु रामचन्द्रजी के प्रताप से बन्दर निर्भय उसकी ओर चले। घटाटोप कर के (लङ्का नगरी) चारों ओर से घेर लिया, मुखही के डङ्के और नगाड़े बजा रहे हैं ॥५॥

घटाटोप बादलों की घटा जो चारों ओर से घेरे हो अथवा बादलों के समान चारों ओर से घेर लेनेवाला दल वा समूह ।

दो०-जयति राम जय लछिमन, जय कपीस सुग्रीव ।
गर्जहिँ केहरिनाद कपि, भालु महाबल सींव ॥३९॥

रामचन्द्र की जय, लक्ष्मण की जय, सुग्रीव की जय बोलते महाबल के सीम बन्दर और भालू सिंह के समान शब्द कर गरजते हैं ॥३९॥

युद्ध के लिए शूरता के कारण वानर-भालू वीरों के चित्त में जो चाव बढ़ना वर्णित है वह उत्साह स्थायीभाव है। रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम कर पत्थर ले कर दौड़ना, गर्जना, डपटना, भेरी आदि बजाना अनुभाव है।

चौ०-लङ्का भयउ कोलाहल भारी । सुना दसानन अति अहँकारी ॥
देखहु बनरन्ह केरि ढिठाई । बिहँसि निसाचर सेन बोलाई ॥१॥

लङ्का में बड़ा हल्ला हुआ, उसे अत्यन्त अहङ्कारी रावण ने सुना। उसने आश्चर्य्य से कहा—बन्दरों की ढिठाई देखो, फिर हँस कर राक्षसी फौज को बुलवाया ॥१॥

आये कीस काल के प्रेरे । छुधावन्त सब निसिचर मेरे ॥
अस कहि अट्टहास सठ कीन्हा । गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा ॥२॥

बन्दर काल के भेजे हुए आये हैं और मेरे सब राक्षस भूखे हैं। ऐसा कह कर वह दुष्ट खिलखिला कर हँसा कि घर बैठे ब्रह्मा ने भोजन दिया है ॥२॥

रावण के हृदय में अनुचित उत्कण्ठा का होना भावाभास है।

सुभट सकल चारिहु दिसि जाहू । धरि धरि भालु कीस सब खाहू ॥
उमा रावनहिँ अस अभिमाना । जिमि टिट्टिभ-खग सूत उताना ॥३॥

सब योद्धा चारों दिशाओं में जाओ और सम्पूर्ण वानर भालुओं को पकड़ पकड़ कर खाओ। शिवजी कहते हैं—हे उमा! रावण को ऐसा अभिमान है जैसे टिटिहरी पक्षी उतान हो कर सोता है ॥३॥

टिटिहरी पक्षी उतान हो कर सोता है, उसके मन में भय लगा रहत है कि कहीं आकाश न टूट पड़े। यदि वह टूटेगा तो मैं पावों पर थाम लूँगा।

चले निसाचर आयसु माँगी । गहि कर भिंडिपाल बर साँगी ॥
तोमर मुद्गर परिघ प्रचंडा । सूल कृपान परसु गिरि-खंडा ॥४॥

राक्षस आज्ञा माँग कर चले, वे सब उत्तम गोफन, (ढेलवाँस) साँगी, (हाथ से चलाने का बड़ा त्रिशूल) गँड़ासा, मुद्गर, लोहदण्ड, भीषण त्रिशूल, तलवार, कुल्हाड़ी और पत्थर के ढोंके हाथों में ले कर ॥४॥

जिमि अरुनोपल निकर निहारी । धावहिँ सठ खग मांस-अहारी ॥
चोंच-भङ्ग-दुख तिन्हहिँ न सूझा । तिमि धाये मनुजाद अबूझा ॥५॥

जैसे लाल पत्थर की राशि को देख कर मूर्ख मांस-भक्षी पक्षी दौड़ते हैं उन्हें अपने चोंच टूटने का दुःख नहीं सूझ पड़ता वैसे ही बुद्धि हीन राक्षस (वानर भालुओं को खाने की इच्छा से) दौड़े ॥५॥

मुँह पिटाने जाते हैं; यह व्यंगार्थ वाच्यार्थ के साथ ही प्रकट होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है।

दो०—नानायुध सर चाप धर, जातुधान-बल बीर ।
कोट कँगूरन्हि चढ़ि गये, कोटि कोटि रनधीर ॥४०॥

नाना प्रकार के हथियार धनुष-बाण धारण कर के झुण्ड के झुण्ड बलवान शूर रणधीर राक्षस किले के कँगूरों पर चढ़ गये ॥४०॥

चौ०—कोट कँगूरन्हि सोहहि कैसे । मेरु के सृङ्गन्हि जनु घन बैसे ॥
बाजहिँ ढोल निसान जुझाऊ । सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ ॥१॥

वे राक्षस कोट के कँगूरों पर कैसे शोभित हो रहे हैं, मानों सुमेरु-पर्वत के शृंगों पर बादल बैठे हों। ढोल और नगाड़े युद्ध के बाजे बजते हैं, जिनके शब्द सुन कर वीरों के मन में उत्साह उत्पन्न हो रहा है ॥१॥

बाजहिँ भेरि नफीरि अपारा। सुनि कादर उर जाहिँ दरारा ॥
देखि न जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति-बिसाल-तनु भालु सुभट्टा ॥२॥

नगाड़े और शहनाई बाजे असंख्यों बज रहे हैं, जिन्हें सुन कर कादरों की छाती फटी जाती है। बन्दरों और भालू योद्धाओं के समूह देखे नहीं जाते, (सभी रुद्रमूर्त्ति किये) अत्यन्त विशाल शरीरवाले हैं ॥ २ ॥

धावहिँ गनहिँ न अवघट घाटा। पर्बत फोरि करहिँ गहि बाटा ॥
कटकटाहिँ कोटिन्ह भट गर्जहिँ। दसन ओँठ काटहिँ अति तर्जहिँ ॥३॥

धावा करने में दुर्गम चढ़ाव उतार का पहाड़ी रास्ता नहीं गिनते हैं पर्वत को हाथ से पकड़ चूर कर के डगर बनाते हैं। करोड़ों योद्धा कटकटाते और गर्जते हैं, दाँतों से ओंठ चबाते हुए अत्यन्त डपटते (उछलते) हैं ॥ ३ ॥

उत रावन इत राम दोहाई। जयति जयति जय परी लराई ॥
निसिचर सिखर समूह, ढहावहिँ। कूदि धरहिँ कपि फेरि चलावहिँ ॥४॥

उधर रावण का जय जयकार, इधर रामचन्द्रजी की जय जयकार विजय-घोषणा करते हुए संग्राम छिड़ गया। राक्षस चट्टानों के समूह गिराते हैं, बन्दर कूद कर पकड़ लेते और लौटा कर उसे मारते हैं ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

धरि कुधर-खंड प्रचंड मर्कट, भालु गढ़ पर डारहीं।
झपटहिँ चरन गहि पटकि महि भजि,-चलत बहुरि प्रचारहीं ॥
अति-तरल तरुन-प्रताप तर्जहिँ, तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गये।
कपि भालु चढ़ि मन्दिरन्हि जहँ तहँ, राम-जस गावत भये ॥१॥

अत्यन्त क्रोधित हुए बन्दर और भालू पर्वत के टुकड़ों को लेकर किले पर फेंकते हैं। झपट्टे से (झोंके से उछल कर राक्षसों के) पाँव पकड़ कर धरती पर पटक देते हैं, फिर वे भाग चलते तब ललकारते हैं! बड़े फुरतीले नवजवान तेजस्वी बन्दर क्रोध से उछल उछल कर किले पर चढ़ गये। जहाँ तहाँ मन्दिरों पर चढ़ कर वानर भालू रामचन्द्रजी का सुयश गान करने लगे ॥१॥

दो०-एक एक गहि निसिचर, पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आपु हेठ भट, गिरहिँ धरनि पर आइ ॥४१॥

फिर एकएक राक्षसों को पकड़ कर बन्दर भाग चले। नीचे राक्षसभट और ऊपर आप होकर धरती पर आ गिरते हैं ॥ ४१ ॥

चौ० राम-प्रताप-प्रबल कपि-जूथा । मर्दहिँ निसिचर-निकर-बरूथा ॥
चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर । जय रघुबीर प्रताप-दिवाकर ॥१॥

रामचन्द्रजी के प्रताप से अत्यन्त बली वानर-वृन्द राक्षस-समूह की सेना का संहार करते हैं। फिर सूर्य के समान प्रतापवान रघुनाथजी की जय जयकार करते हुए बन्दर जहाँ तहाँ किले पर चढ़ गये ॥ १ ॥

चले निसाचर-निकर पराई । प्रबलपवन जिमि घन समुदाई ॥
हाहाकार भयउ पुर भारी । रोवहिँ बालक आतुर नारी ॥२॥

राक्षसगण ऐसे भाग चले जैसे प्रचण्ड हवा से बादलों का समूह फट जाता है। नगर में बड़ा हाहाकार मच गया, लड़के और स्त्रियाँ दुःखित होकर रुदन करती हैं ॥ २ ॥

सब मिलि देहिँ रावनहिँ गारी । राज करत एहि मृत्यु हँकारी ॥
निजदल बिचल सुना तेहि काना । फेरि सुभट लङ्केस रिसाना ॥३॥

सब मिल कर रावण को गाली देते हैं और कहते हैं कि राज करते हुए इसने मृत्यु बुलाई है। अपनी सेना का विचलित होना कान से सुन कर लङ्कापति-रावण क्रुद्ध हो योद्धाओं को फेरा ॥ ३ ॥

जो रन-बिमुख फिरा मैं जाना । सो मैं हतब कराल कृपाना ॥
सरबस खाइ भोग करि नाना । समर-भूमि भये बल्लभ प्राना ॥४॥

जो युद्ध से मुँह फेरेगा, यह मैं जानूँगा उसको मैं भीषण तलवार से मार डालूँगा। सर्वस्व खा कर तरह तरह के भोग-विलास कर के संग्राम-भूमि में प्राण प्यारा हो रहा है ॥४॥
सभा की प्रति में 'दुर्लभ' पाठ है।

उग्र बचन सुनि सकल डेराने । फिरे क्रोध करि बीर लजाने ॥
सनमुख मरन बीर कै सोभा । तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा ॥५॥

टेढ़ी बात सुन कर सब डरे; शूरवीर लजा गए और क्रोध कर के लौट पड़े। उन्हों ने सोचा कि सामने लड़कर मरना वीरों के लिए शोभा है, तब राक्षसों ने प्राण का लोभ त्याग दिया ॥ ५ ॥

तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है कि भागने से रावण मार डालेगा, तब वीरोचित कार्य्य कर युद्ध में ही प्राण गँवाना चाहिए।

दो०-बहु-आयुध-धर सुभट सब, भिरहिँ प्रचारि प्रचारि ।
ब्याकुल कीन्हे भालु-कपि, परिघ त्रिसूलन्हि मारि ॥४२॥

बहुत से हथियार लिये हुए सब योद्धा राक्षस ललकार ललकार कर भिड़ते हैं। परिघ (लोहदण्ड) और त्रिशूलों से मार मार कर वानर-भालुओं को व्याकुल कर दिये ॥ ४२ ॥

चौ०—भय आतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे॥
कोउ कह कहँ अङ्गद हनुमन्ता। कहँ नलनील दुबिद बलवन्ता॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा! यद्यपि बन्दर आगे जीतेंगे, तो भी डर से अधीर हो भागने लगे। कोई कहता है; अङ्गद कहाँ हैं? बलवान हनूमान, नल, नील और द्विविद कहाँ हैं?॥१॥

निजदल बिचल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना॥
मेघनाद तहँ करइ लराई। टूट न द्वार परम कठिनाई॥२॥

बलवान हनूमानजी पश्चिम के दरवाजे पर थे, उन्हों ने अपनी सेना के विचलने का हाल सुना। वहाँ मेघनाद युद्ध करता था, दरवाज़ा टूटता नहीं; बड़ी कठिनाई का सामना था॥२॥

पवन-तनय मन भा अति क्रोधा। गर्जेउ प्रबल-काल-सम जोधा॥
कूदि लङ्क-गढ़ ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनाद कहँ धावा॥३॥

योद्धा पवनकुमार के मन में बड़ा क्रोध हुआ, वे अत्यन्त बली काल के समान गर्जे। उछल कर लङ्का-गढ़ के ऊपर आये और पर्वत हाथ में ले कर मेघनाद की ओर दौड़े॥३॥

भञ्जेउ-रथ सारथी-निपाता। ताहि हृदय महँ मारेसि लाता॥
दुसरे सूत बिकल तेहि जाना। स्यन्दन-घालि तुरत गृह आना॥४॥

रथ तोड़ कर सारथी का नाश किया और उसकी छाती में लात मारा। दूसरे सारथी ने मेघनाद को व्याकुल जान रथ में डाल कर तुरन्त घर ले आया॥४॥

दो०—अङ्गद सुनेउ कि पवन-सुत, गढ़ पर गयउ अकेल।
समरबाँकुरा बालि-सुत, तरकि चढ़ेउ कपि-खेल॥४३॥

अङ्गद ने सुना कि किले पर अकेले ही पवनकुमार गये हैं। रणबाँके बालिनन्दन वानरी खेल से कूद कर चढ़ गये॥४३॥

चौ०—जुद्ध-बिरुद्ध-क्रुद्ध दोउ बन्दर। राम-प्रताप सुमिरि उर-अन्तर॥
रावन-भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥१॥

दोनों बन्दर युद्ध में भीषण क्रोध कर रामचन्द्रजी के प्रताप को हृदय में स्मरण कर के दोनों दौड़ते हुए रावण के महल पर चढ़ गये और कोशलेन्द्र रामचन्द्रजी की दुहाई दे रहे हैं॥१॥

कलस सहित गहि भवन ढहावा। देखि निसाचर-पति भय पावा॥
नारि-बृन्द कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आये उतपाती॥२॥

घरों को कलशों के सहित पकड़ कर गिरा दिया यह देख कर रावण भयभीत हुआ। स्त्रियाँ हाथों से छाती पीटती और कहती हैं कि अब ये दोनों बन्दर उपद्रवी आये हैं॥२॥

कपि-लीला करि तिन्हहिँ डरावहिँ । रामचन्द्र कर सुजस सुनावहिँ ॥
पुनि कर गहि कञ्चन के खम्भा । कहेन्हि करिय उतपात अरम्भा ॥३॥

वानरी लीला कर के उन्हें डराते हैं और रामचन्द्रजी का सुयश सुनाते हैं। फिर सुवर्ण के खम्भे हाथों में ले कर बोले कि अब उत्पात करना चाहिए ॥ ३ ॥

गर्जि परे रिपु-कटक मँझारी । लागे मर्दइ भुज-बल-भारी ॥
काहुहि लात चपेटन्हि केहू । भजहु न रामहिँ सो फल लेहू ॥४॥

गर्जना करके शत्रु दल में कूद पड़े और भुजाओं के भारी बल से राक्षसों का संहार करने लगे। किसी को लात से और किसी को थप्पड़ों से मार कर कहते हैं कि रामचन्द्रजी को नहीं भजते, उसका फल लेओ ॥ ४ ॥

दो०—एक एक सोँ मर्दहीं, तोरि चलावहिँ मुंड ।
रावन आगे परहिँ ते, जनु फूटहिँ दधि-कुंड ॥४४॥

एक को पकड़ कर दूसरे से रगड़ देते हैं और उनके सिर तोड़ कर फेंकते हैं। वे रावण के सामने गिर कर ऐसे फूटते हैं मानों दही के कुण्डे हों ॥ ४४ ॥

दही के कुंडे गिरने पर अनायास फूटते ही हैं, यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

चौ०—महामहा मुखिया जे पावहिँ । ते पद गहि प्रभु पास चलावहिँ ॥
कहहिँ बिभीषन तिन्हके नामा । देहिँ राम तिन्हहूँ निजधामा ॥१॥

जो बड़े बड़े मुखियओं को पाते हैं, उनके पाँव पकड़ कर प्रभु रामचन्द्रजी के पास पधारते हैं। विभीषण उनके नाम कहते हैं, रामचन्द्रजी उनको भी अपना धाम (वैकुण्ठ निवास) देते हैं ॥१॥

खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी । पावहिँ गति जो जाँचत जोगी ॥
उमा राम मृदु-चित करुनाकर । बैर-भाव सुमिरत मोहि निसिचर ॥२॥

दुष्ट, मनुष्य-भोजी, ब्राह्मणों के मांस के खानेवाले राक्षस वह गति पाते हैं जिसे योगी लोग माँगते हैं। शिवजी कहते हैं—हे उमा! रामचन्द्रजी का चित्त कोमल और दयामय है, वे यह समझते हैं कि राक्षस मुझे शत्रु भाव से स्मरण करते हैं ॥२॥

देहिँ परम-गति सो जिय जानी । अस कृपालु को कहहु भवानी ॥
अस प्रभु सुनि न भजहिँ भ्रम त्यागी । नर मति-मन्द ते परम अभागी ॥३॥

शङ्करजी कहते हैं—हे भवानी! यह मन में विचार कर उन राक्षसों को श्रेष्ठगति देते हैं, भला कहो! ऐसा दयालु कौन है? ऐसी दयालुता स्वामी की सुन कर भी जो मिथ्या भ्रम त्याग कर उनका भजन नहीं करते, वे नीच-बुद्धि और बड़े अभागे मनुष्य हैं ॥३॥

अङ्गद अरु हनुमन्त प्रबेसा । कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा ॥
लङ्का दोउ कपि सोहहिँ कैसे । मथहिँ सिन्धु दुइ मन्दर जैसे ॥४॥

अवधेश रामचंद्रजी ने ऐसा कहा कि लंका गढ़ में अङ्गद और हनूमान ने प्रवेश किया है। दोनों बन्दर लङ्का में कैसे शोभित हो रहे हैं, जैसे दो मन्दराचल समुद्र को मथते हों ॥४॥

दो०-भुज बल रिपु-दल दलमलि, देखि दिवस कर अन्त ।
कूदे जुगल बिगत-स्रम, आये जहँ भगवन्त ॥४५॥

भुजाओं के बलसे शत्रु की सेना का मर्दन कर के दिन का अन्त देख दोनों वीर विना प्रयास ही उछले और जहाँ भगवान् रामचन्द्रजी हैं, वहाँ आये ॥४५॥

यहाँ शङ्का की जाती है कि दोनों योद्धाओं ने दिन भर घोर श्रम किया पर थकावट नहीं हुई। उत्तर—ऐसी शङ्काएं निरर्थक हैं तोभी समाधान इस तरह होता है कि भगवान् के दर्शन करते ही श्रम जाता रहा इससे विगत-श्रम हुए। परन्तु यह बात नीचे की चौपाई में कही गई है, प्रथम अर्थ ठीक है।

चौ०-प्रभु-पद-कमल सीस तिन्ह नाये । देखि सुभट रघुपति मन भाये ॥
राम कृपा करि जुगल निहारे । भये बिगत-स्रम परम-सुखारे ॥१॥

उन्हों ने स्वामी के चरण कमलों में मस्तक नवाये, योद्धाओं को देख कर रघुनाथजी मन में प्रसन्न हुए। रामचन्द्रजी ने दोनों वीरों को कृपा-दृष्टि से देखा, उनकी थकावट दूर हो गई और अतिशय आनन्दित हुए ॥१॥

गये जानि अङ्गद हनुमाना । फिरे भालु मर्कट भट नाना ॥
जातुधान प्रदोष बल पाई । धाये करि दससीस-दोहाई ॥२॥

अंगद और हनूमानजी को गया हुआ जान कर अनेक भालू-बन्दर योद्धा फिरे। राक्षस सायङ्काल (अँधेरे) का बल पा कर रावण की दुहाई देते हुए दौड़े ॥२॥

राक्षस वानरों को परास्त करना चाहते ही थे, अन्धकार के योग से वह कार्य्य उन्हें अकस्मात् सुगम हो गया 'समाधि अलंकार' है। सन्ध्या को दो घड़ी दिन से दो घड़ी रात तक प्रदोष-काल कहलाता है, इसमें राक्षसों का बल बढ़ता है।

निसिचर-अनी देखि कपि फिरे । जहँ तहँ कटकटाइ भट-भिरे ॥
दोउ दल प्रबल पचारि पचारी । लरत सुभट नहिँ मानहिँ हारी ॥३॥

राक्षसी सेना को देख कर बन्दर लौट पड़े और जहाँ तहाँ कटकटा कर योद्धाओं से भिड़ गये। दोनों दलों के बलवान योद्धा ललकार ललकार लड़ते हुए हार नहीं मानते हैं ॥३॥

महाबीर निसिचर सब कारे । नाना बरन बलीमुख भारे ॥
सबल जुगल दल सम-बल-जोधा । कौतुक करत लरत करि क्रोधा ॥४॥

सब राक्षस बड़े वीर और काले हैं, नाना रङ्ग के भारी बन्दर हैं। दोनों दलों के योद्धा बलवान और समान पराक्रमवाले हैं, वे क्रोध कर लड़ते हुए युद्ध में कुतूहल करते हैं ॥४॥

प्राबिट-सरद-पयोद घनेरे । लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे ॥
अनिप अकम्पन अरु अतिकाया । बिचलत सेन कीन्हि इन्ह माया ॥५॥

मानों वर्षाऋतु के (काले काले) और शरदऋतु के (लाल पीले) बहुत से बादल हवा के झोंके से लड़ते हों । राक्षसों के सेनापति अकम्पन और अतिकाय ने अपनी फ़ौज को लड़खड़ाते देख कर उन्हों ने छल किया ॥५॥

राक्षसी दल और काले बादल, वानरों की सेना और पीले लाल मेघ एवम् अपने अपने स्वामियों की विजयाकांक्षा तथा पवन उपमेय उपमान हैं। वर्षा और शरदकाल के बादल कभी लड़ते नहीं, केवल कवि की उपज है, यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

भयउ निमिष महँ अति अँधियारा । बृष्टि होइ रुधिरोपल-छारा ॥६॥

क्षणमात्र में अत्यन्त अँधेरा हो गया, रक्त, पत्थर और राख की वर्षा हो रही है ॥६॥

दो०—देखि निबिड़ तम दसहुँ दिसि, कपि दल भयउ खभार ।
एकहि एक न देखहीं, जहँ तहँ करहिँ पुकार ॥४६॥

दसों दिशाओं में घोर अन्धकार देख कर वानरों की सेना में घबराहट हुई । एक दूसरे को नहीं देखते हैं, जहाँ तहाँ से पुकार रहे हैं ॥४६॥

चौ०—सकल मरम रघुनायक जाना । लिये बोलि अङ्गद हनुमाना ॥
समाचार सब कहि समुझाये । सुनत कोपि-कपि-कुञ्जर धाये ॥१॥

सारा भेद रघुनाथजी ने जान लियो, तब अङ्गद और हनूमानजी को बुला कर सब समाचार कह कर समझाया, सुनते ही वानर-श्रेष्ठ क्रोधित हो दौड़े ॥१॥

पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा । पावक-सायक सपदि चलावा ॥
भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीँ । ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीँ ॥२॥

फिर कृपालु रामचन्द्रजी ने हँस कर धनुष चढ़ाया और तुरन्त अग्नि-बाण चलाया। प्रकाश हो गया कहीं अन्धकार नहीं रहा, जैसे ज्ञान के उदय होने पर सन्देह दूर हो जाता है ॥२॥

भालु-बलीमुख पाइ प्रकासा । धाये हरषि बिगत-स्रम-त्रासा ॥
हनूमान अङ्गद रन गाजे । हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥३॥

भालू और बन्दर प्रकाश पाकर थकावट तथा भय रहित प्रसन्न हो दौड़े । हनूमान और अङ्गद रणाङ्गन में गर्जे, उनकी हाँक सुनते ही राक्षस भाग चले ॥३॥

भागत भट पटकहिँ धरि धरनी । करहिँ भालु-कपि अदभुत-करनी ॥
गहि पद डारहिँ सागर माहीँ । मकर-उरग-झष धरि धरि खाहीँ ॥४॥

भागते हुए राक्षस वीरों को पकड़ कर धरती पर पटक देते हैं, भालू और वानर अद्भुत

करनी करते हैं। टाँग पकड़ कर समुद्र में फेंक देते हैं, मगर, साँप और मच्छ उन्हें पकड़ कर खाते हैं ॥४॥

दो०—कछु मारे कछु घायल, कछु गढ़ चढ़े पराइ ।
गर्जहिँ मर्कट भालु भट, रिपु-दल-बल बिचलाइ ॥४७॥

कुछ मारे गये; कुछ घायल हुए और कुछ भाग कर किले पर चढ़ गये। इस तरह शत्रु की सेना का बल विचलित करके योद्धा बन्दर और भालू गर्जना करते हैं ॥४७॥

वानर भालुओं का विजयी हो कर गर्जन करना सव्यंग है कि वानरी सेना रणभूमि में डटी है यदि शत्रु दल आना चाहे तो आवे। सभा की प्रति में 'कछु गढ़ चले पराइ' पाठ है।

चौ०—निसा जानि कपि चारिउ अनी । आये जहाँ कोसला-धनी ॥
राम-कृपा-करि चितवा जबहीँ । भये बिगत-स्रम बानर तबहीँ॥१॥

रात्रि हुई जान कर चारों सेनाओं के बन्दर जहाँ कोशलेन्द्र भगवान हैं; वहाँ आये। रामचन्द्रजी ने ज्योंही कृपा करके देखा त्योंही बन्दर थकावट रहित हो गये ॥१॥

उहाँ दसानन सचिव हँकारे । सब सन कहेसि सुभट जे मारे ॥
आधा कटक कपिन्ह सङ्घारा । कहहु बेगि का करिय बिचारा ॥२॥

वहाँ रावण ने मन्त्रियों को बुला कर जो शूरवीर मारे गये थे उनके नाम सब से कह सुनाया। आधी सेना तो वानरों ने संहार कर डाली, जल्दी कहो कौन सा विचार (तत्व-निर्णय) करना चाहिए ॥२॥

माल्यवन्त अति जरठ निसाचर । रावन-मातु-पिता मन्त्रीबर ॥
बोला बचन नीति अति-पावन । सुनहु तात कछु मोर सिखावन ॥३॥

बहुत ही वृद्ध माल्यवान राक्षस जो रावण की माता का पिता अर्थात उसका नाना और श्रेष्ठ मन्त्री था। वह अत्यन्त पवित्र नीति-युक्ति वचन बोला—हे तात! कुछ मेरा सिखावन सुनिए ॥३॥

जब तेँ तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिँ न जाहिँ बखानी॥
बेद-पुरान जासु जस गावा । राम बिमुख सुख काहु न पावा ॥४॥

जब से आप सीता को हर कर ले आये हैं तब से इतने असगुन हो रहे हैं कि वे कहे नहीं जा सकते। जिनका यश वेद पुराण गाते हैं उन रामचन्द्र से विमुख रह कर किसी ने सुख नहीं पाया ॥४॥

गुटका में 'वेद पुरान जासु जस गायो, राम विमुख काहु न सुख पायो' पाठ है।

दो०—हिरन्याक्ष भ्राता सहित, मधु कैटभ बलवान ।
जेहि मारे सोइ अवतरेउ, कृपासिन्धु भगवान ॥

हिरण्याक्ष को भाई (हिरण्यकशिपु) के सहित और बलवान मधु-कैटभको जिन्हों ने मारा, वे ही कृपासागर भगवान अवतरे हैं।

काल रूप खल-बन-दहन, गुनागार घन बोध ।
सिव-बिरञ्चि जेहि सेवहिँ, तासोँ कवन बिरोध ॥४८॥

जो दुष्ट रूपी वन के जलानेवाले काल रूप, (अग्नि) गुणों के स्थान और ज्ञान की राशि अथवा मेघ हैं। जिनकी सेवा ब्रह्मा और शिवजी करते हैं, उनसे कौन सा विरोध है ? ॥ ४८ ॥

जिनकी सेवा शिव-ब्रह्मा करते हैं, उनसे आप का कौन सा वैर है ? इस वाक्य में वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि आप के इष्टदेव और परदादा जिनके सेवक हैं, उनसे आप को कदापि विरोध न मानना चाहिए।

चौ०—परिहरि बयर देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही ॥
ता के बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे ॥१॥

वैर त्याग कर जानकी को दे दो और सब से बढ़ कर स्नेह करनेवाले कृपानिधान (रामचन्द्रजी) को भजो। उसके वचन रावण को बाण के समान लगे और बोला—अरे अभागे ! मुँह काला करके यहाँ से चला जा ॥ १ ॥

बूढ़ भयेसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही ॥
तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत एहि कृपानिधाना ॥२॥

बुड्ढा हो गया नहीं तो तुझे मार डालता, अब मुझे आँख (अपना मुख) न दिखावे। उस ने अपने मन में यह अनुमान किया कि कृपानिधान रामचन्द्रजी इसको मारना ही चाहते हैं (इसी से अविचल बुद्धि-भ्रम हुआ है) ॥ २ ॥

सो उठि गयउ कहत दुर्बादा। तब सकोप बोलेउ घननादा ॥
कौतुक प्रात देखियहु मोरा। करिहउँ बहुत कहउँ का थोरा ॥३॥

रावण के दुर्वचन कहने पर वह (माल्यवान) उठ कर चला गया, तब मेघनाद क्रोध कर के बोला। सवेरे मेरा तमाशा देखियेगा, करूँगा बहुत पर उसे थोड़ा भी क्या कहूँ (तो उचित नहीं) अर्थात् कर के ही दिखाऊँगा ॥ ३ ॥

एक विद्वान टीकाकार ने चौपाई के प्रथम चरण का इस प्रकार अर्थ किया है कि "वह दुर्वाद (खोटी बातें) कहता हुआ उठ कर चला गया"। रावण जैसे प्रतापी योद्धा और राजा को माल्यवान की हिम्मत थी कि दुर्वाक्य कहता ? वह बेचारा रावण की खोटी बातें सुन कर चुपचाप दरबार से उठ कर चला गया।

सुनि सुत बचन भरोसा आवा। प्रीति समेत अङ्क बैठावा ॥
करत बिचार भयउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा ॥४॥

पुत्र की बात सुन कर रावण को भरोसा हुआ और प्रीति के सहित उसको गोद में बैठा लिया। इस तरह विचार करते सवेरा हो गया, फिर बन्दरों ने चारों फाटक को जा घेरा ॥ ४ ॥

कोपि कपिन्ह दुरघट-गढ़ घेरा। नगर कोलाहल भयउ घनेरा॥
बिबिधायुध-धर निसिचर धाये। गढ़ तें पर्बत-सिखर ढहाये॥५॥

बन्दरों ने क्रोध कर के दुस्तर किले को घेरा लिया, नगर में बड़ा हल्ला हुआ। अनेक प्रकार के हथियार ले कर राक्षस दौड़े, उन सभों ने गढ़ के ऊपर से पत्थरों के चट्टान गिराये॥५॥

हरिगीतिका-छन्द।

ढाहे महीधर-सिखर-कोटिन्ह, बिबिध बिधि गोला चले।
घहरात जिमि पबि-पात गरजत, जनु प्रलय के बादले॥
मर्कट बिकट भट जुटत कटत न, लरत तनु जर्जर भये।
गहि सैल तेइ गढ़ पर चलावहिँ, जहँ सो तहँ निसिचर हये॥२॥

करोड़ों पर्वतों के शिखर गिराये और बहुत तरह के गोले (तोपों द्वारा) चले। वे वज्र-पात जैसे घहराते हैं, मानों प्रलयकाल के बादल गरजते हों। भयङ्कर योद्धाओं से बन्दर भिड़ जाते हैं, वे कटते (मुड़ते) नहीं, लड़ते लड़ते शरीर झाँझर (घावमय) हो गया। उन्हीं पत्थरों को पकड़ कर किले पर चलाते हैं, जो राक्षस जहाँ से मारते थे वे वहीं मारे गये॥२॥

दो०—मेघनाद सुनि स्रवन अस, गढ़ पुनि छेंका आइ।
उतरि दुर्ग तेँ बीर बर, सनमुख चलेउ बजाइ॥४९॥

मेघनाद ने यह कान से सुना कि बन्दरों ने आकर फिर किले को घेर लिया है। तब वह वीर श्रेष्ठ गढ़ से नीचे उतर कर सामने डङ्का बजाकर चला॥४९॥

चौ०—कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥
कहँ नल-नील-दुबिद-सुग्रीवा। अङ्गद हनूमन्त बलसींवा॥१॥

अयोध्या के राजा दोनों भाई कहाँ हैं? जो सम्पूर्ण लोकों में धनुर्धर प्रसिद्ध हैं। नल नील, द्विविद, सुग्रीव कहाँ है? और बल के सींव अङ्गद, हनूमान कहाँ हैं?॥१॥

कहाँ बिभीषन भ्राता-द्रोही। आजु सठहि हठि मारउँ ओही॥
अस कहि कठिन बान सन्धाने। अतिसय क्रोध स्रवन लगि ताने॥२॥

भाई से वैर करनेवाला विभीषण कहाँ है? आज उस मूर्ख को मैं हठ करके मारूँगा। ऐसा कह कर कठिन बाणों का सन्धान किया और अत्यन्त क्रोध से प्रत्यञ्चा को कान पर्य्यन्त खींचा॥२॥

गुटका में 'आजु सबहि हठि मारउँ ओही' पाठ है।

सर-समूह सो छाड़इ लागा। जनु सपच्छ धावहिँ बहु नागा॥
जहँ तहँ परत देखि अहिबानर। सनमुख होइ न सके तेहि अवसर॥३॥

वह समूह बाणों को छोड़ने लगा, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बहुत से पक्षधारी साँप

दौड़ते हों। सर्पों को देख कर बन्दर जहाँ तहाँ गिरने लगे, उस समय सामने नहीं हो सके (हिम्मत छूट गई ॥३॥

जहँ तहँ भागि चले कपि रीछा। बिसरी सबहि जुद्ध कै ईछा ॥
सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेखा ॥४॥

वानर-भालू जहाँ तहाँ भाग चले, सभी को युद्ध की लालसा भूल गई। ऐसा एक भी बन्दर या रीछ संग्राम में नहीं देख पड़ता जिसे मेघनाद ने प्राणावशेष (शक्तिहीन-वँधुआ) न कर लिया हो ॥४॥

दो०—दस दस सर सब मारेसि, परे भूमि कपि बीर ।
सिंहनाद करि गर्जा, मेघनाद बल धीर ॥५०॥

दस दस बाण सबको मारा जिससे वानर बीर धरती पर गिरे पड़े। बली धैर्यवान मेघनाद सिंह की तरह भीषण ध्वनि से गर्जा ॥५०॥

चौ०—देखि पवन-सुत कटक बेहाला। क्रोधवन्त जनु धायउ काला ॥
महा-सैल एक तुरत उपारा। अति रिस मेघनाद पर डारा ॥१॥

अपनी सेना को ख़राब हालत में देख पवनकुमार क्रुद्ध होकर दौड़े, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों काल ही। तुरन्त एक बहुत बड़ा पहाड़ उखाड़ लिया और बड़े क्रोध से मेघनाद के ऊपर फेंका ॥१॥

आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरग सब खोई ॥
बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना ॥२॥

पर्वत को आता देख कर वह आकाश में चला गया और रथ, सारथी, घोड़े सब नष्ट हो गये। बार बार हनूमानजी ललकारते हैं, पर समीप नहीं आता; वह भेद जानता है ॥२॥

एक ही घूँसे की चोट से अशोकवाटिका में देर तक मूर्छित पड़ा रहा, वह चोट मेघनाद को भूली नहीं। दोबारा पश्चिम द्वार के युद्ध में बेहोश हुआ था, उन घटनाओं को समझ कर डरता है। इसी से समीप में नहीं आता है।

रघुपति निकट गयउ घननादा। नाना भाँति कहेसि दुर्बादा ॥
अस्त्र सस्त्र आयुध सब डारे। कैातुकही प्रभु काटि निवारे ॥३॥

मेघनाद रघुनाथजी के पास गया और अनेक तरह के दुर्वचन कहे। अस्त्र और शस्त्र सभी हथियार चलाये, प्रभु रामचन्द्रजी ने खेलही में उन्हें काट गिराये ॥३॥

देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना। करइ लाग माया बिधि नाना ॥
जिमि कोउ करइ गरुड़ सो खेला। डरपावइ गहि स्वल्प सपेला ॥४॥

यह प्रताप देख कर मूर्ख खिसिया गया और नाना प्रकार की माया करने लगा। जैसे कोई गरुड़ के साथ खेल करे कि छोटा सा साँप का बच्चा लेकर उन्हें डरावे ॥४॥

दो०—जासु प्रबल-माया-बस, सिव-बिरञ्चि बड़ छोट।
ताहि दिखावइ निसिचर, निज-माया-मति खोट ॥५१॥

जिनकी प्रबल माया के वश में शिव-ब्रह्मा बड़े से ले कर छोटे सभी जीव हैं अथवा बड़े शिव ब्रह्मा भी छोटे हैं। उनको खोटी बुद्धिवाला राक्षस अपनी माया दिखाता है। ॥५१॥

चौ०—नभ चढ़ि बरषइ बिपुल अँगारा। महि ते प्रगट होहिँ जलधारा॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिँ नाची ॥१॥

आकाश में चढ़ कर बहुत से अंगारे बरसाता है, इधर पृथ्वी से पानी की धारा प्रकट हो रही है। अनेक प्रकार के पिशाच और पिशाचिनियाँ नाच नाच कर मारो काटो शब्द बोलती हैं ॥१॥

बिष्ठा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरषइ कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा ॥२॥

विष्ठा, पीव, लोहू, बाल, हड्डी, पत्थर और कभी बहुत सी राख बरसाता है। धूल की वर्षा कर के ऐसा अन्धकार कर दिया कि अपना हाथ फैलाने से नहीं सूझ पड़ता है। ॥२॥

कपि अकुलाने माया देखे। सब कर मरन बना एहि लेखे॥
कौतुक देखि राम मुसुकाने। भये सभीत सकल कपि जाने ॥३॥

इस माया को देख कर बन्दर घबरा गये, उन्हों ने समझा कि इस हिसाब से सब की मृत्यु आ गई। यह कुतूहल देख कर रामचन्द्रजी मुसकुराये और जान गये कि सम्पूर्ण बन्दर भयभीत हुए हैं ॥३॥

एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर-निकाया॥
कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भये प्रबल रन रहहिँ न रोके ॥४॥

एक ही बाण से सब माया काट दी, जैसे समूह अंधकार को सूर्य्य हर लेते हैं। कृपादृष्टि से बन्दर भालुओं को देखा, जिससे वे ऐसे प्रबल हुए कि रण में रोके नहीं रुकते हैं ॥४॥

'रन रहहिँ न रोके' इस वाक्य से यह ध्वनि व्यञ्जित होती है कि पराक्रमी मेघनाद के सामने जाने से मना किये जाने पर भी वे रुके नहीं। तब उनकी सहायता के लिए लक्ष्मणजी उठे।

दो०—आयसु माँगि राम पहिँ, अङ्गदादि कपि साथ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान-सरासन हाथ ॥५२॥

रामचन्द्रजी से आज्ञा माँग कर लक्ष्मणजी अंगद आदि वानरों के साथ हाथ में धनुष-बाण लिए क्रोधित हो कर चले ॥५२॥
क्रोध के आवेश में लक्ष्मणजी स्वामी को प्रणाम करना भूल गये।

चौ०—छतज-नयन-उर-बाहु-बिसाला। हिम-गिरि-निभ-तनु-कछु एक लाला॥
इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाये॥१॥

उनकी आँखें रक्त के समान लाल, छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं, शरीर हिमालय पर्वत की तरह (श्वेत) कुछ ललाई लिये है। यहाँ रावण ने योधाओं को भेजा, वे अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र ले कर दौड़े ॥१॥

भूधर-नख-बिटपायुध-धारी। धाये कपि जय राम पुकारी॥
भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय-इच्छा नहिं थोरी॥२॥

पहाड़, नख और वृक्ष रूपी हथियारों को लिये रामचन्द्रजी की जय पुकारते हुए बन्दर दौड़े। सब जोड़ी से जोड़ी भिड़ गये, दोनों ओर विजय की थोड़ी अभिलाषा नहीं है ॥२॥

मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं। कपि-जयसील मारि पुनि डाटहिं॥
मारु मारु धरु धरु धरु मारू। सीस तोरि गहि भुजा उपारू॥३॥

विजयी बन्दर घूँसों और लातों से मारते तथा दाँतों से काटते, फिर डाटते हैं। मारो, मारो धरो, धरो, धरो, मारो, सिर तोड़ कर बाँह उखाड़ लो ॥३॥

असि रव पूरि रही नव-खंडा। धावहिं जहँ तहँ रुंड प्रचंडा॥
देखहिं कौतुक नभ सुर-बृन्दा। कबहुँक बिसमय कबहुँ अनन्दा॥४॥

ऐसी आवाज़ नवों खण्ड पृथ्वी में छा रही है, जहाँ तहाँ बिना सिर की धड़ें प्रचण्ड वेग से दौड़ रही हैं। देवता-वृन्द आकाश से तमाशा देखते हैं, उन्हें कभी खेद और कभी आनन्द होता है ॥४॥

दो०—रुधिर गाड़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूरि उड़ाइ॥
जनु अँगार-रासीन्ह-पर, मृतक धूम रह छाइ॥५३॥

गड़हों में रक्त भर भर कर जम गया है, उसके ऊपर धूल का उड़ना ऐसा मालूम होता है, मानों मुरदों के अङ्गारों की ढेरी (चिता) पर धुआँ छा रहा हो ॥५३॥

सभा की प्रति में 'जिमि' पाठ है।

चौ०—घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे॥
लछिमन मेघनाद दोउ जोधा। भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा॥१॥

घायल हुए योद्धा कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे फूले हुए पलाश वृक्ष सोहते हैं। लक्ष्मण और मेघनाद दोनों वीर अत्यन्त क्रोध करके परस्पर भिड़ रहे हैं ॥१॥

छीउल का वृक्ष पतझड़ हो जाने पर वसन्त ऋतु में फूलता है, इसके पुष्प लाल रंग के अगस्त के आकारवाले होते हैं और उनकी ढेपुनी (जड़) काली होती है। फूलने पर यह अपनी विलक्षण शोभा पसार कर वन को सुशोभित करता है।

एकहि एक सकहिँ नहिँ जीती । निसिचर छल बल करइ अनीती ॥
क्रोधवन्त तब भयउ अनन्ता । भञ्जेउ रथ सारथी तुरन्ता ॥२॥

एक दूसरे को जीत नहीं सकते हैं, राक्षस छल के बल से अनीति (अधमर्मयुद्ध) करता है। तब लक्ष्मणजी क्रोधित हुए, तुरन्त उसके रथ को चूर चूर कर के सारथी को मार डाला ॥२॥

नाना बिधि प्रहार कर सेषा । राच्छस भयउ प्रान अवसेषा ॥
रावन-सुत निज-मन अनुमाना । सङ्कट भयउ हरिहि मम प्राना ॥३॥

अनेक प्रकार से लक्ष्मणजी चोट पहुँचा रहे हैं, राक्षस प्राणावशेष हो गया। मेघनाद ने अपने मन में अनुमान किया कि मुझे सङ्कट हुआ, यह मेरा प्राण हर लेगा ॥३॥

बीरघातिनी छाड़ेसि साँगी । तेज-पुञ्ज लछिमन उर लागी ॥
मुरछा भई सक्ति के लागे । तब चलि गयउ निकट भय त्यागे ॥४॥

शूरों को हनन करनेवाली साँगी उसने छोड़ी, वह तेज की राशि लक्ष्मणजी की छाती में लगी। शक्ति के लगते ही मूर्छित हो गये, तब डर छोड़ कर मेघनाद समीप में चला गया ॥४॥

सेल का छोड़ना कारण, बेहोश होना कार्य्य, दोनों एक साथ ही होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

दो०—मेघनाद सम कोटिसत, जोधा रहे उठाय ।
जगदाधार अनन्त किमि, उठइ चले खिसियाइ ॥५४॥

मेघनाद के समान असंख्यों योद्धा उठा रहे हैं। जगत के आधार शेष भगवान कैसे उठ सकते हैं? सब लजा कर लौट चले ॥५४॥

चौ०—सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू । जारइ भुवन चारि दस आसू ॥
सक सङ्ग्राम जीति को ताही । सेवहिँ सुर नर अग जग जाही ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरजा! सुनो, जिनकी क्रोधाग्नि चौदहों लोकों को तुरन्त भस्म कर देती है। उनको युद्ध में कौन जीत सकता है? जिनकी सेवा देवता, मनुष्य, स्थावर और जंगम सभी करते हैं ॥ १ ॥

जिनकी क्रोधाग्नि चौदहों लोकों को जलाती है, इसमें शूरत्व और महिमा की अत्युक्ति है। उन्हें संग्राम में कौन जीत सकता है? अर्थात् कोई नहीं; वक्रोक्ति है। न जीत सकने का समर्थन अनोखी युक्ति से करना कि जिनकी सेवा सुर नर अग जग करते हैं, काव्यलिंग है। पराजित होना प्रसिद्ध वस्तु का निषेध करना प्रतिषेध है। इस तरह यहाँ कई एक अलंकारों का सन्देहसङ्कर है।

यह कौतूहल जानइ सोई । जा पर कृपा राम के होई ॥
सन्ध्या भई फिरी दोउ बाहनी । लगे सँभारन निज निज अनी ॥२॥

इस रहस्यपूर्ण क्रीड़ा को वही जान सकता है जिस पर रामचन्द्रजी की कृपा होती है।

सन्ध्या होने पर दोनों ओर की सेनाएँ लौटीं, यूथपति अपनी अपनी सेना सँभालने लगे अर्थात् कितने वीर आज के युद्ध में काम आये हैं ॥२॥

व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेस्वर । लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर ॥
तबलगि लेइ आयउ हनुमाना । अनुज देखि प्रभु अति दुख माना ॥३॥

सर्वव्यापी परब्रह्म किसी से न जीते जानेवाले, लोकों के स्वामी, दया की खान, रामचन्द्रजी ने पूछा—लक्ष्मण कहाँ हैं ? तब तक उन्हें हनूमानजी ले आये, छोटे भाई को देख कर प्रभु ने अत्यन्त दुःख माना ॥३॥

जामवन्त कह बैद सुषेना । लङ्का रह कोउ पठइय लेना ॥
धरि लघु-रूप गयउ हनुमन्ता । आनेहु भवन-समेत तुरन्ता ॥४॥

जाम्बवान ने कहा—सुषेण वैद्य लङ्का में रहता है उसे ले आने के लिये किसी को भेजिए। हनूमान छोटा रूप धारण कर के गये और तुरन्त ही घर समेत उसको ले आये ॥४॥

जाना और वैद्य को तुरन्त ही ले आना, कारण कार्य्य एक साथ होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है। यहाँ छोटा रूप धारण करने तथा वैद्य को घर सहित ले आने का हेतु विना कहे कठिन सा मालूम होता है, पर जान लेने से सरल 'अस्फुट गुणीभूत व्यंग है' छोटा रूप इसलिये किया जिसमें कोई देख न सके और शीघ्र लौटने में बाधा न उपस्थित हो। वैद्य को भवन समेत इस कारण ले आये कि जिसमें औषधि न रहने का बहाना न कर सके।

दो०—रघुपति-चरन-सरोज सिर, नायउ आइ सुषेन ।
कहा नाम गिरि औषधी, जाहु पवन-सुत लेन ॥५५॥

सुषेण ने आकर रघुनाथजी के चरण-कमलों में मस्तक नवाया और पर्वत तथा औषधी का नाम बतलाया, (तब रामचन्द्रजी ने) पवनकुमार से कहा जा कर ले आओ ॥५५॥

अध्यात्म रामायण में रामचन्द्रजी ने स्वयम् पर्वत और औषधी का नाम हनूमानजी को बतलाया है। वाल्मीकीय में जाम्बवान ने आदेश किया है। कहीं कहीं सुषेण बन्दर को वैद्य कहा है। यहाँ गुसाँईजी लङ्कानिवासी राक्षस को सुषेण वैद्य कहते हैं। हनूमानजी ने प्रभु की आज्ञानुकूल कार्य्य करने को गीतावली में इस प्रकार कहा है—जौं हौं तव अनुशासन पावों। तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल ज्यों, आनि सुधा सिर नावों ॥१॥ कै पाताल दलउँ व्यालावलि, अमृत-कुण्ड महि ल्यावों। भेदि भुवन करि भानु बाहिरो, तुरत राहु दै तावों ॥२॥ बिबुध-बैद बरबस आनउँ धरि, तौ प्रभु अनुग कहावों। पटकउँ मीच नीच मूषक ज्यों, सबको पाप बहावों ॥३॥ तुम्हारहि कृपा प्रताप तिहारेहि, नेकु विलम्ब न लावों। दीजे सोइ आयसु तुलसी प्रभु, जेहि तुम्हरे मन भावों ॥४॥ गुटका में 'रामपदारविन्द सिर' पाठ है।

चौ०—राम-चरन-सरसिज उर राखी । चला प्रभञ्जन-सुत बल भाखी ॥
उहाँ दूत एक मरम जनावा । रावन कालनेमि गृह आवा ॥१॥

इस तरह पवनकुमार बल वर्णन कर और रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को हृदय में रख कर चले। वहाँ एक गुप्तचर ने यह भेद सूचित किया, तब रावण कालनेमि के घर आया ॥१॥

दसमुख कहा मरम तेहि सुना। पुनि पुनि कालनेमि सिर धुना॥
देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पन्थ को रोकनिहारा॥२॥

रावण ने भेद कहा—उसने सुना, फिर कालनेमि ने बार बार अपना मस्तक पीटा और बोला—जिसने तुम्हारे देखते नगर जला दिया, उसका रास्ता रोकनेवाला कौन है? ॥२॥

भजि रघुपति करु हित आपना। छाड़हु नाथ मृषा जलपना॥
नील-कञ्ज-तनु सुन्दर स्यामा। हृदय राखु लोचन अभिरामा॥३॥

हे नाथ! रघुनाथजी का भजन कर अपनी भलाई कीजिये और झूठे बकवाद को छोड़ दीजिए। नील कमल के समान श्याम सुन्दर शरीर जो आँखों को आनन्ददायक हैं, वह हृदय में रक्खो॥३॥

अहङ्कार ममता मद त्यागू। महामोह-निसि सूतत जागू॥
काल-ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहुँ समर कि जीतिय सोई॥४॥

अहङ्कार, ममत्व और मद को त्याग दो, घोर अज्ञान की रात्रि में सोने से जागो। जो काल रूपी सर्प के भक्षक हैं, क्या उनसे लड़ाई करके स्वप्न में भी जीत सकते हो? (कदापि नहीं)॥४॥

दो०—सुनि दसकंठ रिसान अति, तेहि मन कीन्ह बिचार।
राम-दूत-कर मरउँ बरु, यह खल-रत-मल-भार॥५६॥

सुन कर रावण अत्यन्त क्रोधित हुआ, उसने मन में विचार किया कि यह दुष्ट महापापों में तत्पर है, वरन् (मरना ही है तो) रामदूत के हाथ से मरूँ॥५६॥

चौ०—अस कहि चला रचेसि मग माया। सर मन्दिर बर बाग बनाया॥
मारुत-सुत देखा सुभ आस्रम। मुनिहिं बूझि जल पिअउँ जाइ स्रम॥१॥

ऐसा (मन में) कह कर चला और रास्ते में सरोवर पर सुन्दर मन्दिर तथा बाग माया से बनाया। पवनकुमार ने रमणीय आश्रम देख कर विचारा कि मुनि से पूछ कर जलपान करूँ तो थकावट दूर हो॥१॥

इस चौपाई का यदि इस तरह अर्थ किया जाय कि माया से तालाब, मन्दिर और बाग बनाया तो शङ्का उत्पन्न होती है कि—चिरकाल से शाप वश मकरी ने उसमें कैसे निवास किया? इससे स्पष्ट है तालाब प्राचीन था, वहाँ माया से मन्दिर-बाग निर्माण कर कालनेमि ने रमणीय बनाया।

राच्छस कपट-बेष तहँ सोहा। मायापति-दूतहि चह मोहा॥
जाइ पवन-सुत नायउ माथा। लाग सो कहइ राम-गुन-गाथा॥२॥

वहाँ राक्षस कपट वेषधारी मुनि होकर शोभित है, जो मायानाथ के दूत को ठगना

चाहता है। पवनकुमार ने जा कर मस्तक नवाया, वह रामचन्द्रजी के गुणों की कथा कहने लगा ॥ २ ॥

होत महा रन रावन रामहिँ । जितिहहिँ राम न संसय या महिँ ॥
इहाँ भये मैं देखउँ भाई । ज्ञान-दृष्टि-बल मोहि अधिकाई ॥३॥

रावण और रामचन्द्रजी का घोर युद्ध हो रहा है और रामचन्द्रजी जीतेंगे इसमें संदेह नहीं है। हे भाई! मैं यहाँ से देखता हूँ, मुझे ज्ञानदृष्टि का अधिक बल है ॥ ३ ॥

मैं यहाँ से देखता हूँ, इस बात का समर्थन युक्ति से करना कि ज्ञानदृष्टि का मुझे बल है 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

माँगा जल तेहि दीन्ह कमंडल । कह कपि नहिँ अघाउँ थोरे जल ॥
सर मज्जन करि आतुर आवहु । दीछा देउँ ज्ञान जेहि पावहु ॥४॥

पीने के लिए जल माँगा उसने कमण्डलु दिया, हनूमानजी ने कहा मैं थोड़े जल से न अघाऊँगा। कपटी राक्षस ने कहा—तालाब में स्नान (जल पान) कर के शीघ्र आओ, मैं तुम्हें मन्त्रोपदेश कर दूँ जिससे (मेरी तरह तुम को भी) ज्ञान प्राप्त हो जाय ॥४॥

दो०—सर पैठत कपि-पद-गहा, मकरी तब अकुलान ।
मारी सो धरि दिव्य-तनु, चली गगन चढ़ि जान ॥५७॥

तब तालाब में पैठते ही मकरी उतावली से हनूमानजी के पैर को पकड़ लिया। उन्होंने मार डाला, वह दिव्य शरीर धारण करके विमान पर चढ़कर आकाश की ओर चली ॥५७॥

पाँव पकड़ना कारण, मार डालना कार्य दोनों साथ ही हुए 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।

कपि तव दरस भइउँ निःपापा । मिटा तात मुनि बर कर सापा ॥
मुनि न होइ यह निसिचर घोरा । मानहुँ सत्य बचन कपि मोरा ॥१॥

वह आकाश-मार्ग से बोली—हे प्रिय वानर! मैं आप के दर्शन से निष्पाप हुई हूँ और मुनिवर का शाप मिट गया है। हे हनूमान! यह मुनि नहीं; किन्तु घोर राक्षस है, मेरी बात को सच मानिये ॥१॥

केवल दर्शन मात्र से मुनि का शाप मिट जाना 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। सभा की प्रति में 'मानहु सत्य बचन प्रभु मोरा' पाठ है। उसने शाप की बात इस प्रकार कही कि मैं अप्सरा हूँ और वह गन्धर्व है। हम दोनों इन्द्र की सभा में नाच गान करते थे, उस समय वहाँ दुर्वासा ऋषि आये। हम लोगों के नृत्य और गान पर सारी सभा वाह वाह कर उठी; किन्तु दुर्वासा कुछ भी प्रसन्न न हुए। उनकी अनभिज्ञता अनुमान हम दोनों हँस पड़े। उन्हों ने क्रुद्ध हो कर मुझे मकरी होने का तथा गन्धर्व को राक्षस होने का शाप दिया। पीछे प्रार्थना करने पर उद्धार बतलाया कि त्रेतायुग में ईश्वरावतार होगा, उनके दूत वानरराज हनूमान के हाथ मारे जाने से तुम दोनों को पूर्वगति प्राप्त होगी। यह कालनेमि राक्षस वही गन्धर्व है, रावण की प्रेरणा से आप को ठगना चाहता है, इसके धोखे में न आइये।

अस कहि गई अपछरा जबहीं । निसिचर निकट गयउ कपि तबहीं ॥
कह कपि मुनि गुरुदछिना लेहू । पाछे हमहिं मन्त्र तुम्ह देहू ॥२॥

ऐसा कह कर जब वह अप्सरा चली गई, तब हनूमानजी राक्षस के पास गये । उन्हों ने कहा—हे मुनि ! पहले गुरुदक्षिणा ले लीजिए, फिर तुम हमें मन्त्र पीछे देना ॥२॥

मन्त्रोपदेश कारण है और गुरुदक्षिणा कार्य है । यहाँ कारण के पहले कार्य का प्रकट होना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है ।

सिर लङ्गूर लपेटि पछारा । निज तनु प्रगटेसि मरती बारा ॥
राम राम कहि छाड़ेसि प्राना । सुनि मन हरषि चलेउ हनुमाना ॥३॥

अपनी पूँछ से उसका सिर लपेट कर पटक दिया, मरती बेर उसने अपना राक्षसी शरीर प्रकट किया । राम राम कह कर प्राण त्यागा, यह सुन कर मन में प्रसन्न हो हनूमानजी चल दिये ॥ ३ ॥

देखा सैल न औषध चीन्हा । सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा ॥
गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ । अवधपुरी ऊपर कपि गयऊ ॥४॥

पर्वत को देखा परन्तु बूटी पहचान में न आई, तब हनूमानजी ने जल्दी से उस पहाड़ ही को उखाड़ लिया । पर्वत को हाथ में लिए हुए रात्रि को आकाश-मार्ग से दौड़े और अयोध्यापुरी के ऊपर गये ॥ ४ ॥

हनूमानजी का निराधार आकाश में दौड़ना 'प्रथम विशेष अलंकार' है ।

दो०—देखा भरत बिसाल अति, निसिचर मन अनुमानि ।
बिनु फर सायक मारेउ, चाप स्रवन लगि तानि ॥५८॥

भरतजी ने देखा और मन में विचारा कि यह बहुत बड़ा राक्षस आ रहा है । कान पर धनुष तान कर बिना फर का बाण मारा ॥ ५८ ॥

बन्दर को भ्रम से राक्षस अनुमान कर लेना 'भ्रान्ति अलंकार' है । हनुमन्नाटक में लिखा है कि उस समय भरतजी शान्तिमण्डप में दुःस्वप्न की शान्ति के लिए हवन करते थे, तब हनूमानजी को देखा । राक्षस का अनुमान हुआ, पर ऐसी दशा में हिंसा उचित न थी, इसी से बिना फर का बाण मारा ।

चौ०—परेउ मुरुछि महि लागत सायक । सुमिरत राम राम रघुनायक ॥
सुनि प्रिय बचन भरत उठि धाये । कपि समीप अति आतुर आये ॥१॥

बाण लगते ही राम राम रघुनायक स्मरण कर मूर्छित हो धरती पर गिर पड़े । यह प्रिय वचन सुनते ही भरतजी उठ कर दौड़े और बहुत जल्दी बन्दर के पास आये ॥ १ ॥

बिनाफर के बाण से हनूमानजी जैसे योद्धा का मूर्छित हो जाना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है ।

यहाँ शङ्का होती है कि अयोध्यापुरी बारह योजन में बसी थी और पर्वत सोलह योजन का था। यदि वह भूमि पर गिरता तो नगर चौपट हो जाता, फिर पर्वत कहाँ रहा? उत्तर—गीतावली में गोसाँईजी ने लिखा है 'परेउ कहि राम पवन राखेउ गिरि, पुर तेहि तेज पियो है' अर्थात् पुत्र के बचाव के लिए पवनदेव ने द्रोणाचल को आकाश ही में रोक लिया, वह भूमि पर नहीं गिरा।

बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिँ बहु भाँति जगावा॥
मुख मलीन मन भये दुखारी। कहत बचन लोचन भरि बारी॥२॥

कपि को व्याकुल देख कर छाती से लगा लिया और बहुत तरह से जगाने लगे, वे होश में नहीं आये। तब भरतजी का मुख मलिन हो गया, मन में दुखी हुए और आँखों में आँसू भर कर बोले॥ २॥

जेहि बिधि राम-बिमुख मोहि कीन्हा। तेहि पुनि यह दारुन दुख दीन्हा॥
जौँ मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम-पद-कमल अमाया॥३॥

जिस विधाता ने मुझे रामचन्द्रजी से विमुख किया है, उसी ने फिर यह दारुण दुःख दिया है। यदि मन, वचन और कर्म से रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में मेरी निश्छल प्रीति हो॥ ३॥

तौ कपि होउ बिगत स्रम-सूला। जौँ मो पर रघुपति-अनुकूला॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा॥४॥

यदि रघुनाथजी मुझ पर अनुकूल हों तो बन्दर थकावट और पीड़ा से रहित होवे। ऐसा वचन सुनते ही हनूमानजी कोशलेन्द्र भगवान की जय जयकार कर उठ बैठे॥ ४॥

सो०—लीन्ह कपिहि उर लाइ, पुलकित तनु लोचन सजल।
प्रीति न हृदय समाइ, सुमिरि राम-रघुकुल-तिलक॥५९॥

हनूमानजी को हृदय से लगा लिया, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आया। रघुकुल के भूषण रामचन्द्रजी का स्मरण कर हृदय में इतनी प्रीति उमड़ी कि व० समाती नहीं है॥ ५६॥

चौ०-तात कुसल कहु सुखनिधान की। सहित अनुज अरु मातु जानकी॥
कपि सब चरित समास बखाने। भये दुखी मन महँ पछिताने॥१॥

हे तात! सुख के स्थान रामचन्द्रजी छोटे भाई और माता जानकीजी के सहित कहो कुशल-पूर्वक हैं? हनूमानजी ने सब समाचार संक्षेप में कह सुनाया, सुन कर दुखी हुए और मन में पछताने लगे॥ १॥

अहह दैव मैं कत जग जायउँ। प्रभु के एकहु काज न आयउँ॥
जानि कुअवसर मन धरि धीरा। पुनि कपि सन बोले बलबीरा॥२॥

हा ईश्वर! मैं संसार में काहे को पैदा हुआ, जब कि स्वामी के एक भी काम न आया।

फिर कुसमय समझ कर मन में धीरज धारण कर के बलवान वीर भरतजी हनूमान से बोले ॥२॥

खेद के साथ पश्चात्ताप करना 'विषाद सञ्चारी भाव' है और कुसमय विचार कर धीरज धारण करना 'धृति सञ्चारी भाव' है। बलवीर शब्द साभिप्राय है क्योंकि जो असाधारण बली होगा वही पर्वत के सहित हनूमानजी को बाण पर बैठा कर रघुनाथजी के समीप पहुँचाने का साहस कर सकता है।

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता॥३॥

हे तात! तुम्हें जाने में देरी होगी तो सवेरा होते ही काम बिगड़ जायगा। इसलिये पर्वत के सहित तुम मेरे बाण पर चढ़ लो, जहाँ कृपानिधान रामचन्द्रजी हैं मैं तुमको वहाँ पहुँचा दूँगा ॥३॥

सुषेण वैद्य ने कहा था कि रात ही भर में सञ्जीवनी जड़ी न आ जायगी तो सवेरा होते ही लक्ष्मणजी का शरीर प्राण-हीन हो जायगा। उस बात को हनूमानजी ने संक्षेप वृत्तान्त कहते समय निवेदन किया था, वही भरतजी ने कहा है कि प्रभात होने से कार्य्य नष्ट हो जायगा।

सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥
राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बन्दि चरन कह कपि कर जोरी॥४॥

यह सुन कर हनूमानजी के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चलेगा। फिर रामचन्द्रजी के प्रताप को विचार कर चरणों की वन्दना कर के पवनकुमार हाथ जोड़ कर बोले ॥४॥

दो०—तव प्रताप उर राखि प्रभु, जैहउँ नाथ तुरन्त।
अस कहि आयसु पाइ पद,-बन्दि चलेउ हनुमन्त॥

हे स्वामिन्! आप के प्रताप को हृदय में रख कर मैं तुरन्त जाऊँगा। ऐसा कह आज्ञा पाकर चरणों में प्रणाम करके हनूमानजी चले।

भरत बाहु बल सील गुन, प्रभु-पद-प्रीति अपार।
मन महँ जात सराहत, पुनि पुनि पवनकुमार॥६०॥

भरतजी का बाहु बल, शील, गुण और प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में अपार प्रीति की सराहना बार बार पवनकुमार मन में करते जाते हैं ॥६०॥

चौ०—उहाँ राम लछिमनहिं निहारी। बोले बचन मनुज अनुहारी॥
अर्धराति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥१॥

वहाँ रामचन्द्रजी लक्ष्मण को देख कर मनुष्य के समान वचन बोले। आधी रात बीत गई, पर हनूमान नहीं आये, रामचन्द्रजी ने छोटे भाई को उठा कर छाती से लगा लिया ॥१॥

मानुषीय प्रकृति के अनुसार रामचन्द्रजी की व्याकुलता और शोक प्रदर्शित करना कविजी को अभीष्ट है, इसी से जान बूझ कर कुछ ऐसी असंगत बातें कहलाई गई हैं जिनका ठीक ठीक अर्थ करना असम्भव सा प्रतीत होता है।

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बन्धु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेउ बिपिन हिम आतप बाता॥२॥

हे भाई! तुम्हारा स्वभाव सदा कोमल रहा, मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे। मेरे उपकार के लिए पिता-माता को त्याग दिया और वन में शीत, घाम तथा लू सहन किये॥२॥

सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौँ जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिँ ओहू॥३॥

हे भाई! अब वह प्रेम कहाँ है? मेरी व्याकुलता भरी वाणी सुन कर उठते क्यों नहीं? यदि मैं जानता कि वन में बन्धु का वियोग होगा, तो पिता की उस बात को भी न मानता॥३॥

'पिता के उस वचन को भी न मानते' इस वाक्य में ध्वनि प्रकट हो रही है कि इस चौदह वर्ष के वनवास की बात दूर रहे, वह जो सुमन्त से उन्होंने कहा था—"रथ चढ़ाइ दिखराइ वन, फिरेहु गये दिन चारि" न मानते। यहाँ लोग तरह तरह की बातें कहते हैं, उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। हाँ—यह शङ्का हो सकती है कि क्या मर्य्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी सचमुच पिता के वचनों का तिरस्कार करते? सो यह प्रकरण ही प्राकृत नर की भाँति कथन प्रलाप-मय है, अतएव ऐसी शङ्का निर्मूल है।

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिँ जग बारहि बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥४॥

पुत्र, धन, स्त्री, घर कुटुम्ब संसार में बार बार होते और जाते हैं। परन्तु हे तात! मन में ऐसा विचार कर सचेत हो जाओ, जगत में सहोदर-बन्धु (बार बार) नहीं मिलते॥४॥

लक्ष्मणजी विमातृज (दूसरी माता से उत्पन्न) बन्धु हैं, फिर रामचन्द्रजी ने सहोदर क्यों कहा? उत्तर—यह कथन प्रलाप-मय असंगत है जिसका ठीक ठीक अर्थ हो नहीं सकता। तो भी समाधान के लिये कुछ कहना पड़ता है। सहोदर शब्द की व्युत्पत्ति करने से 'सह उदर यस्य' निष्कपट भाव सिद्ध होता है। अथवा यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण सहोदर कहा। वाल्मीकीय में भी ऐसा ही कथन है "देशे देशे कलत्राणि देशेदेशे च बान्धवाः। तंतु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः"।

जथा पङ्ख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिवर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोही। जौँ जड़ दैव जियावइ मोही॥५॥

जिस तरह पङ्ख के बिना पक्षी, मणि के बिना साँप और सूँड़ के बिना हाथी अत्यन्त

दुखी रहता है। हे भाई! यदि मूर्ख विधाता मुझे जिलावेगा तो तुम्हारे बिना मेरा जीना ऐसा ही (दुःख मय) होगा ॥५॥

जैहउँ अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥६॥

मैं अयोध्या में कौन मुँह लेकर जाऊँगा कि स्त्री के कारण प्यारे भाई को खो दिया। बल्कि संसार में इस अपकीर्त्ति को सह लेता, (इस हानि के समक्ष) स्त्री की हानि कुछ अधिक हानि नहीं है ॥६॥

अब अपलोक सोक सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥७॥

हे पुत्र! अब यह लोकनिन्दा और तुम्हारा शोक मेरा निर्दय कठिन हृदय सहन करेगा। अपनी माता के तुम एक ही पुत्र हो, हे तात! उसके तुम प्राणों के अधार हो ॥ ७ ॥

लक्ष्मण और शत्रुहन दो पुत्र सुमित्राजी के हैं, पर रामचन्द्रजी अकेले लक्ष्मणजी को क्यों कहते हैं? उत्तर—यह कथन भी वैसा ही है जिसका ठीक उत्तर नहीं हो सकता, किन्तु, विद्वज्जनों से जो सुनने में आया है वह लिखता हूँ। 'एक' संख्या वाचक है और 'एकोन्ये प्रधाने-इत्यमर' प्रधान का भी बोधक है। कहते हैं अपनी माता के तुम प्रधान पुत्र हो। इसका कारण पुत्रवती जुवती जग सोई-रघुवर भगत जासु सुत होई' है।

सौंपेसि मोहि तुम्हहिँ गहि पानी। सब बिधि सुखद परमहित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥८॥

उसने मुझे सब प्रकार सुख देनेवाला और परम हितकारी जान कर तुम्हें हाथ पकड़ कर सौंपा था। अब जा कर उसको मैं क्या उत्तर दूँगा? हे भाई! उठ कर मुझे सिखाते क्यों नहीं? ॥८॥

सुमित्राजी ने हाथ पकड़ा कर नहीं सपुर्द किया था, फिर ऐसा क्यों कहते हैं? उत्तर—रामचरितमानस में कुछ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, जिस स्थान में कोई प्रधान घटना कहने योग्य थी उसको वहाँ न कह कर अन्यत्र उल्लेख कर दिया है। उससे यह पता चल जाता है कि यह घटना अमुक स्थान की है, पर वहाँ कवि ने वर्णन नहीं किया है। जैसे—सीताहरण के समय लक्ष्मणजी का रेखा खींचना नहीं लिखा, पर यह बात आगे चल कर मन्दोदरी के द्वारा प्रकट किया कि 'रामानुज लघु रेख खँचाई-सोउ नहिँ नाँघेउ असि मनुसाई' इससे सिद्ध हुआ कि लक्ष्मणजी ने लकीर खींची थी, पर वहाँ इसका उल्लेख नहीं है। उसी प्रकार इस जगह भी समझना चाहिए कि अयोध्याकाण्ड में हाथ पकड़ा कर सौंपना नहीं लिखा है, किन्तु रामचन्द्रजी के कहने से वहाँ का बाँह पकड़ाना सूचित होता है। यह परिपाटी वाल्मीकीय में भी विद्यमान है। क्योंकि आदिकवि वाल्मीकजी ने जयन्त की चर्चा अरण्यकाण्ड में नहीं की है, उसको सुन्दरकाण्ड में जानकीजी के द्वारा कथन किया है।

बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन । स्रवत सलिल राजिव-दल लोचन ॥
उमा एक अखंड रघुराई । नर-गति भगत-कृपाल देखाई ॥९॥

सोच को छुड़ानेवाले बहुत तरह से सोच कर रहे हैं, उनके कमल पत्र के समान नेत्रों से आँसू बह रहा है । शिवजी कहते हैं—हे उमा ! रघुनाथजी अद्वितीय और निर्विघ्न हैं, उन्हों ने मनुष्य की चाल एवम् भक्त-वत्सलता दिखाई हैं ॥ ९ ॥

नरगति दिखाना यह कि आपद्ग्रस्त होने पर मनुष्य इसी तरह प्रलाप करते हैं। भक्तवत्सलता-लक्ष्मणजी के दुःख से आप अधीर हो गये हैं ।

सो०—प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर निकर ॥
आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीररस ॥६१॥

प्रभु रामचन्द्रजी का प्रलाप (प्रलापोऽनर्थकंवचः इत्यमरः) सुन कर समस्त बन्दर व्याकुल हो गये । उसी समय हनूमानजी ऐसे आ गये जैसे करुणा में वीररस आ गया हो ॥ ६१ ॥

चौ०—हरषि राम भेंटेउ हनुमाना । अतिकृतज्ञ प्रभु परम-सुजाना ॥
तुरत बैद तब कीन्हि उपाई । उठि बैठे लछिमन हरषाई ॥१॥

परम सुजान प्रभु रामचन्द्रजी बड़े ही कृतज्ञ (किये हुए उपकार को माननेवाले) हैं, प्रसन्न हो कर हनूमानजी से मिले । तब वैद्य ने तुरन्त उपाय किया और लक्ष्मणजी हर्षित हो कर उठ बैठे ॥ १ ॥

हृदय लाइ भेंटेउ प्रभु भ्राता । हरषे सकल भालु-कपि-व्राता ॥
कपि पुनि बैद तहाँ पहुँचावा । जेहि बिधि तबहिं ताहि लेइ आवा ॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी भाई को हृदय से लगा कर मिले, समस्त भालू-बन्दरों का समुदाय आनन्दित हुआ । फिर हनूमानजी सुषेण वैद्य को जिस तरह पहले ले आये थे उसी तरह उसे लङ्का में पहुँचा दिया ॥ २ ॥

यह बृत्तान्त दसानन सुनेऊ । अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ ॥
ब्याकुल कुम्भकरन पहिं आवा । बिबिध जतन करि ताहि जगावा ॥३॥

यह समाचार रावण ने सुना, अत्यन्त खेद से वह बार बार अपना सिर पीटने लगा । घबराहट से कुम्भकर्ण के पास आया और अनेक प्रकार का यत्न कर के उसे जगाया ॥ ३ ॥

जागा निसिचर देखिय कैसा । मानहुँ काल देह धरि बैसा ॥
कुम्भकरन बूझा कहु भाई । काहे तव मुख रहेउ सुखाई ॥४॥

जागने पर वह राक्षस कैसा देख पड़ता है, मानों शरीर धारण कर के काल बैठा हो । कुम्भकर्ण ने पूछा—कहो भाई ! तुम्हारे मुख काहे सूख रहे हैं ? ॥ ४ ॥

कथा कही सब तेहि अभिमानी । जेहि प्रकार सीता हरि आनी ॥
तात कपिन्ह सब निसिचर मारे । महा-महा-जोधा संहारे ॥५॥

उस अभिमानी ने जिस प्रकार सीताजी को हर कर ले आया था, वह सारी कथा उससे कही और कहा—हे तात ! बन्दरों ने सब राक्षसों को मार डाला, बड़े बड़े योद्धाओं का वध किया है ॥ ५ ॥

दुर्मुख सुररिपु मनुज अहारी । भट अतिकाय अकम्पन भारी ॥
अपर महोदर आदिक बीरा । परे समरमहि सब रनधीरा ॥६॥

दुर्मुख, देवशत्रु, मनुष्य-भक्षक, भारी भट अतिकाय, अकम्पन और महोदर आदि सभी रणधीर वीर रणभूमि में मारे गये ॥ ६ ॥

कुम्भकर्ण के पूछने पर रावण ने अपनी पराजय का हाल वर्णन किया, उसका गूढ़ अभिप्राय वीरों का संहार सुना कर कुम्भकर्ण को उत्तेजित करने का था, यह प्रश्न सहित 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है ।

दो०--सुनि दसकन्धर बचन तब, कुम्भकरन बिलखान ।
जगदम्बा हरि आनि अब, सठ चाहत कल्यान ॥६२॥

तब रावण की बात सुन कर कुम्भकर्ण उदास हो कर बोला—अरे मूर्ख ! जगन्माता को हर ला कर अब तू अपना कल्याण चाहता है ? ॥ ६२ ॥

चौ०—भल न कीन्ह तैँ निसिचर-नाहा । अब मोहि आइ जगायेहि काहा ॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना । भजहु राम होइहि कल्याना ॥१॥

हे राक्षसराज ! तू ने अच्छा नहीं किया, अब मुझे किसलिए आ कर जगाया ? हे तात ! अब भी अभिमान त्याग कर रामचन्द्रजी को भजो तो तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १ ॥

कुम्भकर्ण प्रत्यक्ष तो रावण को सिखाता है, इस प्रस्तुत कथन में दूसरा अङ्कुर अन्य राक्षसों को सुनाने का तात्पर्य्य निकलता है, जिससे राक्षस वंश का कुशल हो । यह 'प्रस्तुताङ्कुर अलंकार' है ।

हैं दससीस मनुज रघुनायक । जाके हनूमान से पायक ॥
अहह बन्धु तैं कीन्हि खोटाई । प्रथमहिँ मोहि न सुनायहि आई ॥२॥

हे दशग्रीव ! जिन रघुनाथजी के हनूमान जैसे धावन हैं, क्या वे मनुष्य हैं ? भाई ! खेद है कि तू ने बड़ी बुराई की जो पहले ही आकर मुझे नहीं सुनाया ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी का मनुष्य होना काकु से नहीं करना 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग' है कि वे ईश्वर हैं । यदि पहले मुझसे पूछे होता तो मैं तुझे अवगत कर देता ।

कीन्हेहु प्रभु बिरोध [illegible] सेवक । सिव बिरञ्चि सुर जाके सेवक ॥
नारद मुनि मोहि ग्या[illegible] तेहि समय निरबहा ॥३॥

हे राजन् ! तुमने उ[illegible]

हैं। नारदमुनि ने जो मुझसे ज्ञान कहा था, वह मैं तुझसे कहता (पर अब क्या कहूँ? कहना व्यर्थ है) समय बीत गया ॥३॥

अध्यात्म रामायण में लिखा है कि कुम्भकर्ण ने कहा—एक बार मुझे नारदजी के दर्शन हुए, उन्हों ने मुझे यह बतलाया कि तुम दोनों भाइयों का संहार करने के लिए परमात्मा नारायण रघुकुल में 'राम' नाम धारी उत्पन्न होंगे, वे राक्षसवंश का नाश करेंगे। पर यह कहना मैं भूल गया तुम से प्रकट न कर सका, अब वह समय आ गया।

अब भरि अङ्क भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करउँ मैं जाई॥
स्याम-गात सरसीरुह-लोचन। देखउँ जाइ ताप-त्रय-मोचन ॥४॥

हे भाई! अब मुझसे गले लग कर मिलो, मैं जा कर नेत्रों को सफल करूँ। श्याम शरीर कमल के समान नेत्रवाले, तीनों तापों के नाशक (रामचन्द्रजी) को जा कर देखूँ ॥४॥

दो०—राम-रूप-गुन सुमिरत, मगन भयउ छन एक॥
रावन माँगेउ कोटि घट, मद अरु महिष अनेक ॥६३॥

रामचन्द्रजी के रूप और गुणों का स्मरण करके एक क्षण भर आनन्द में मग्न हो गया। (रावण ने सोचा कहीं यह भी शत्रुपक्ष में जा मिला तो बड़ा अनर्थ होगा, तब) रावण ने करोड़ों घड़ा मदिरा और अनगिनती भैंसे मँगवाये ॥६३॥

कुम्भकर्ण के शुद्ध विचार को पलटने के लिए रावण का युक्ति से ठगने का काम करना जिस में वह मदोन्मत्त हो कर अपने पक्ष में आ जाय 'युक्ति अलंकार' है।

चौ०—महिष खाइ करि मदिरा पाना। गरजा बज्राघात समाना॥
कुम्भकरन दुर्मद रनरङ्गा। चला दुर्ग तजि सेन न सङ्गा ॥१॥

भैंसे को खा कर और मदिरा पान कर के वज्रपात के समान गर्जा। कुम्भकर्ण नशे में चूर हो किला छोड़ कर साथ में सेना नहीं (अकेला ही) रणभूमि की ओर चला ॥१॥

देखि बिभीषन आगे आयउ। परेउ चरन निज नाम सुनायउ॥
अनुज उठाइ हृदय तेहि लावा। रघुपति भगत जानि मन भावा ॥२॥

कुम्भकर्ण को आता देख कर विभीषण सामने आया और पाँव पड़ कर अपना नाम सुनाया। छोटे भाई को उठा कर उसने छाती से लगा लिया और रामभक्त जान कर मन में विभीषण उसे बहुत अच्छा लगा ॥२॥

लङ्का त्याग के समय विभीषण सब से विदा हुए थे परन्तु कुम्भकर्ण सो रहा था, इस कारण उससे निवेदन नहीं कर सके। इससे बड़े बन्धु से मिल कर रामचन्द्रजी की शरण में आने का कारण कह कर अपनी सफाई करते हैं।

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम-हित मन्त्र-बिचारा॥
तेहि गलानि रघुपतिपहिँ आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥३॥

विभीषण ने कहा—हे तात! अत्यन्त हितकारी मन्त्र का विचार कहने पर रावण ने

मुझे लात से मारा। उसी ग्लानि से मैं रघुनाथजी के पास आया और दुखी देख कर प्रभु रामचन्द्रजी के मन में अच्छा लगा (उन्हों ने दया वश मुझे अपना लिया) ॥३॥

सुनु सुत भयउ काल बस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन॥
धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयेहु तात निसिचर-कुल-भूषन॥४॥

कुम्भकर्ण ने कहा—हे पुत्र! सुनो, रावण काल के आधीन हुआ है, क्या अब वह अच्छी सलाह मान सकता है? (कदापि नहीं)। हे तात विभीषण! तू धन्य है, धन्य है, धन्य है। तू राक्षसवंश का भूषण हुआ है ॥४॥

बन्धु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर॥५॥

हे भाई! तू ने कुल को प्रसिद्ध कर दिया, जो शोभा और सुख के सागर रामचन्द्रजी का भजन करते हो ॥५॥

दो०—बचन करम मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ कालबस बीर॥६४॥

वचन, कर्म और मन से कपट छोड़ कर रणधीर रामचन्द्रजी की सेवा करना। हे वीर! अब जाओ, मुझे अपना पराया नहीं सूझता है, क्योंकि मैं भी काल के वश हो गया हूँ ॥६४॥

चौ०—बन्धु बचन सुनि फिरा बिभीषन। आयउ जहँ त्रैलोक-बिभूषन॥
नाथ भूधराकार-सरीरा। कुम्भकरन आवत रनधीरा॥१॥

भाई की बात सुन कर विभीषण लौटे और जहाँ तीनों लोकों के भूषण रामचन्द्रजी थे वहाँ आये। उन्हों ने कहा—हे नाथ! पर्वत की आकृति का शरीरवाला रणधीर कुम्भकर्ण आता है ॥१॥

एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥
लिये उपारि बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिँ ता ऊपर॥२॥

जब बन्दरों ने इतना कान से सुना, तब वे बलवान किलकिला कर (खूब ज़ोर से) दौड़े। वृक्ष और पर्वत उखाड़ लिये, कटकटा कर उस पर फेंकते हैं ॥२॥

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिँ भालु कपि एकहि बारा॥
मुरेउ न मन तनु टरेउ न टारे। जिमि गज अर्क-फलन्हि के मारे॥३॥

कोटि कोटि पर्वतों के शिखर भालु और बन्दर एक साथ ही उस पर फेंक कर मारते हैं। पर न उसका मन ही मुड़ा और न शरीर हटाये हटा, जैसे मदार के फल से मारे जाने पर हाथी को चोट नहीं लगती ॥३॥

तब मारुत सुत मुठिका हनेऊ। परेउ धरनि ब्याकुल सिर धुनेऊ॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमन्ता। घुर्मित भूतल परेउ तुरन्ता॥४॥

तब पवनकुमार ने घूँसा मारा वह व्याकुल हो कर धरती पर गिर पड़ा और सिर पीटने

लगा। फिर उठ कर उसने हनूमानजी को मारा, वे घूम कर तुरन्त ही ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ४ ॥

पुनि नल नीलहि अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट डारेसि ॥
चली बलीमुख-सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई ॥५॥

फिर नल नील को पृथ्वी पर पछाड़ दिया और योद्धाओं को जहाँ तहाँ पटक पटक कर गिरा दिया। बानरी सेना भाग चली, अत्यन्त डर से भयभीत हो कोई भी सामने नहीं आते हैं (भगदड़ मच गई) ॥ ५ ॥

शूरवीरों का डर कर भागना अनुचित भाव "ऊर्जस्वित अलंकार" है।

दो०—अङ्गदादि कपि मुरछित,-करि समेत सुग्रीवँ।
काँख दाबि कपिराज कहँ, चला अमित-बल सीवँ ॥६५॥

सुग्रीव के सहित अङ्गद आदि बन्दरों को मुर्छित कर के महा बलशाली कुम्भकर्ण बानर राज को बगल में दबा कर चला ॥ ६५ ॥

चौ०—उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला ॥
भृकुटि भङ्ग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! रघुनाथजी मनुष्यलीला करते हैं, जैसे साँपों के झुण्ड में मिल कर गरुड़ खेल करें। जो भृकुटी टेढ़ी करने पर काल को भी खा सकते हैं, क्या उनको ऐसी लड़ाई सोहती) है? कदापि नहीं) ॥ १ ॥

जग-पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं ॥
मुरछा गइ मारुत-सुत जागा। सुग्रीवहिं तब खोजन लागा ॥२॥

जगत को पवित्र करनेवाली कीर्त्ति फैलावेंगे, जिसको गा गा कर मनुष्य संसार-सागर के पार उतर जाँयगे। पवनकुमार की मूर्छा दूर हुई, वे सचेत हुए तब सुग्रीव को ढूँढ़ने लगे ॥ २ ॥

सुग्रीवहुँ कै मुरछा बीती। निबुकि गयो तेहि मृतक प्रतीती ॥
काटेसि दसन नासिका काना। गरजि अकास चलेउ तेहि जाना ॥३॥

सुग्रीव को चेत हुआ, कुम्भकर्ण ने उन्हें मुर्दा समझ लिया था उसकी काँख से खिसक पड़े। दाँत से नाक कान काट लिया। जब गर्ज कर आकाश को चले तब उसने जाना ॥ ३ ॥

गहेउ चरन धरि धरनि पछारा। अति लाघव उठि पुनि तेहि मारा ॥
पुनि आयउ प्रभु पहिँ बलवाना। जयति जयति जय कृपानिधाना ॥४॥

उसने सुग्रीव की टाँग पकड़कर धरती पर पटक दिया. फिर बानरराज ने बड़ी फुर्ती से उठ कर उसको मारा। तब बलवान कपीश्वर प्रभु रामचन्द्रजी के पास आये और कृपानिधान की जय हो जय जयकार पुकारने लगे ॥ ४ ॥

नाक कान काटे जिय जानी। फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी॥
सहज-भीम पुनि बिनु स्रुति नासा। देखत कपि दल उपजी त्रासा॥५॥

नाक कान कटना मन में समझ कर हृदय में बड़ी ग्लानि हुई, तब क्रोध कर के लौटा। एक तो स्वाभाविक ही डरावना था फिर बिना नाक कान के हो गया, उसे देखते ही बानरी दल में भय उत्पन्न हुआ॥५॥

भय उपजाने के लिए उसकी स्वाभाविक आकृति ही पर्य्याप्त थी, तिस पर नकटा बूचा होने से और भी भयावना हो गया 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

दो०—जय जय जय रघुबंस मनि, धाये कपि देइ हूह।
एकहि बार तासु पर, छाड़ेन्हि गिरि-तरु जूह॥६६॥

रघुवंशमणि की जय जय का हुल्लड़ मचाते हुए बन्दर दौड़े, पर्वत और वृक्षों का समूह एक साथ ही उस पर चलाया॥ ६६॥

चौ०—कुम्भकरन रनरङ्ग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टीड़ी गिरि-गुहा-समाई॥१॥

रणभूमि के सामने कुम्भकर्ण इस तरह विरुद्ध होकर चला, मानों क्रोधित काल हो। करोड़ों बन्दरों को पकड़ पकड़ कर खाने लगा, ऐसा मालूम होता है मानों पहाड़ की गुफा में टिड्डियाँ समाती हों॥१॥

काल का पाँव से चलना असिद्ध है क्योंकि वह दृश्यमान नहीं है और कुम्भकर्ण काल नहीं राक्षसभट है। इस अहेतु को हेतु मान कर उत्प्रेक्षा करना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। दूसरा—झुण्ड के झुण्ड बानरों का कुम्भकर्ण के मुख में समाना उत्प्रेक्षा का विषय है, टीड़ियाँ पहाड़ की गुफा में प्रवेश करती ही हैं 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।

कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीँजि मिलव महि गर्दा॥
मुख नासा स्रवनन्हि की बाटा। निसरि पराहिँ भालु कपि ठाटा॥२॥

करोड़ों को पकड़ कर शरीर से मल दिया और करोड़ों को मींज कर धरती तथा धूल में मिलाता है। मुख नाक और कानों की राह से झुण्ड के झुण्ड भालू-बन्दर निकल कर भागते हैं॥२॥

रन-मद-मत्त निसाचर दर्पा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा॥
मुरे सुभट सब फिरहिँ न फेरे। सूझ न नयन सुनहिँ नहिँ टेरे॥३॥

रण के नशे में मतवाला क्रोधित राक्षस ऐसा मालूम होता है मानों विधाता ने संसार को इसे अर्पण कर दिया हो और यह खा जायगा। सब योद्धा बन्दर पीछे लौट चले; फेरने से नहीं फिरते हैं (डर के मारे) न उन्हें आँख से सूझता है और न बुलाने पर कान से सुनाई पड़ता है॥३॥

वस्तु निर्माण कर किसी को अर्पण करना सिद्ध आधार है, रसोई बना कर लोग इष्टदेव

को अर्पण करते हैं। परन्तु ब्रह्मा ने विश्व की रचना कर के कुम्भकर्ण को भक्षण के लिए अर्पण नहीं किया है, झुण्ड के झुण्ड वीरों को साथ ही खाते देख कर इस अहेतु को हेतु ठहरा कर कविजी ने उत्प्रेक्षा की है यह 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

कुम्भकरन कपि फौज बिड़ारी। सुनि धाई रजनीचर-धारी॥
देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई॥४॥

कुम्भकर्ण ने वानरी-सेना को तितर बितर कर दिया, यह सुन कर राक्षसी फौज चढ़ दौड़ी। रामचन्द्रजी ने देखा कि हमारी सेना व्याकुल हो रही है और शत्रुदल अनेक प्रकार (सजधज कर) आया है॥४॥

दो०—सुनु सुग्रीव बिभीषन, अनुज सँभारेहु सैन॥
मैं देखउँ खल-बल-दलहि, बोले राजिव नैन॥६७॥

तब कमल-नैन रामचन्द्रजी बोले—हे सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मण! सुनिए, आप लोग सेना को सम्हालें (कोई तितर बितर न होने पावे)। मैं दुष्टों के दल का पराक्रम देखना चाहता हूँ॥६७॥

चौ०—कर सारङ्ग साजि कटि भाथा। अरि दल दलन चले रघुनाथा॥
प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टकोरा। रिपु-दल बधिर भयउ सुनि सोरा॥१॥

हाथ में शार्ङ्ग-धनुष और कमर में तरकस सज कर शत्रु-दल का संहार करने के लिए रघुनाथजी चले। पहले प्रभु ने धनुष की डोरी खींच कर शब्द किया, उस भीषण ध्वनि को सुन कर शत्रु की सेना बहरी हो गई (कान के पड़दे फट गये)॥१॥

सत्यसन्ध छाड़े सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा॥२॥

सत्यसङ्कल्प रामचन्द्रजीने लक्ष बाण छोड़े, वे ऐसे चले मानों पङ्खवाले काल रूपी साँप हों। जहाँ तहाँ बहुत से बाण चले, उनसे भीषण पिशाच योद्धा कटने लगे॥२॥

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सत खंडा॥
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं। उठि सम्भारि सुभट पुनि लरहीं॥३॥

किसी के पाँव, किसी की छाती, किसी के मस्तक और किसी की भुजाएँ कटती हैं, बहुत से वीर सौ सौ टुकड़े हो जाते हैं। घायल हो घूम घूम कर गिर पड़ते हैं, अच्छे योद्धा सँभल कर फिर उठते और लड़ते हैं॥३॥

लागत बान जलद जिमि गाजहिँ। बहुतक देखि कठिन सर भाजहिँ॥
रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिँ। धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिँ॥४॥

बाण लगने पर बादल जैसा गर्जते हैं, बहुतेरे कठोर बाण देख कर भाग जाते हैं। बिना मस्तक की धड़ें खूब ज़ोर से दौड़ती हैं और (ज़मीन पर पड़े हुए सिर) धरो धरो मारो मारो की आवाज़ पुकार रहे हैं॥४॥

दो०—छन मैं प्रभु के सायकन्हि, काटे बिकट पिसाच ।
पुनि रघुबीर निषङ्ग महँ, प्रबिसे सब नाराच ॥६८॥

प्रभु रामचन्द्रजी के बाणों ने क्षणमात्र में भीषण पिशाचों को काट गिराये, फिर समस्त बाण आ कर रघुनाथजी के तरकस में प्रवेश कर गये ॥६८॥

बाणों के छूटते ही क्षणमात्र में असंख्यों राक्षसों का संहार होना 'चपलातिशयोक्ति अलंकार' है।

चौ०—कुम्भकरन मन दीख बिचारी। हति छन माँझ निसाचर धारी ॥
भा अति-क्रुद्ध महा बल बीरा। किय मृग नायक-नाद गँभीरा ॥१॥

कुम्भकर्ण ने मन में विचार कर देखा कि इन्हीं ने क्षण भर में राक्षसी सेना का अन्त कर डाला। तब वह महाबली वीर अत्यन्त क्रोधित हुआ और सिंह के समान गम्भीर ध्वनि से गर्जना किया ॥१॥

कोपि महीधर लेइ उखारी। डारइ जहँ मर्कट-भट-भारी ॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे। सरन्हि काटि रज सम करि डारे ॥२॥

क्रोध कर के पहाड़ों को उखाड़ लेता है और जहाँ बड़े बड़े योद्धा बन्दर हैं, वहाँ डालता है। प्रभु रामचन्द्रजी ने उन भारी पर्वतों को आते देख बाणों से काट कर धूल के समान कर डाले ॥२॥

पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक। छाँड़े अति कराल बहु सायक ॥
तन महँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं। जनु दामिनि घन माँझ समाहीं ॥३॥

फिर रघुनाथजी ने क्रोध कर के धनुष तान कर बहुत से अत्यन्त भीषण बाण छोड़े। वे बाण उसके शरीर में घुस कर पार निकल जाते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों बादल में बिजलियाँ समा रही हों ॥३॥

राक्षस का शरीर और मेघ, रामचन्द्रजी के चमचमाते बाण और दामिनि उपमेय उपमान हैं। बिजली चमक कर बादल में लीन होती ही है, यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

सोनित स्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जल-गिरि गेरु पनारे ॥
बिकल बिलोकि भालु कपि धाये। बिहँसा जबहिँ निकट कपि आये ॥४॥

काले शरीर पर रक्त बहता हुआ ऐसा शोभित हो रहा है, मानों काजल के पर्वत में गेरू के पनारे बहते हों। उसे व्याकुल देख कर भालू और बन्दर दौड़े, ज्यों ही वानर समीप आये, वह हँसा ॥४॥

दो०—महानाद करि गर्जा, कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव, सपथ करइ दससीस ॥६९॥

घोर शब्द करके गर्जा और करोड़ों करोड़ों बन्दरों को पकड़ कर मतवाले हाथी के समान

उन्हें धरती पर पटकता है रावण की सौगन्द करता है (कि आज वानरी सेना का सर्वनाश किये बिना न छोड़ूँगा) ॥६४॥

चौ०— भागे भालु-बलीमुख-जूथा । बृक बिलोकि जिमि मेष-बरूथा ॥
चले भागि कपि भालु भवानी । बिकल पुकारत आरत बानी ॥१॥

बन्दर-भालुओं की गोल कैसे भाग चली, जैसे भेड़िया को देख कर भेड़ों का झुण्ड भागता है। शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! भालू और वानर व्याकुल हो दीनता भरी वाणी पुकारते हुए भाग चले ॥१॥

वानर-भालुओं का मिथ्याभय भावाभास है, कुम्भकर्ण के कोप रूपी अङ्ग से उत्पन्न हुआ है। यह 'ऊर्जस्वित अलंकार' है।

यह निसिचर दुकाल सम अहई । कपिकुल-देस परन अब चहई ॥
कृपा बारिधर राम खरारी । पाहि पाहि प्रनतारति-हारी ॥२॥

यह राक्षस दुर्भिक्ष के समान है, अब वानर-वंश रूपी देश पर पड़ना चाहता है। हे खर के वैरी, दीन दुःखहारी, कृपा रूपी जल के धारण करनेवाले मेघ रामचन्द्रजी ! मेरी रक्षा कीजिए, इस दुष्ट से बचाइये ॥२॥

वीर का करुणरस अंग होने से 'रसवान अलंकार' है।

सकरुन बचन सुनत भगवाना । चले सुधारि सरासन बाना ॥
राम सेन निज पाछे घाली । चले सकोप महाबल साली ॥३॥

कोशलेन्द्र भगवान करुणा भरी वाणी सुनते ही धनुष-बाण सुधार कर चले। महा बल-शाली रामचन्द्रजी अपनी सेना को पीछे कर के क्रोध-पूर्वक आगे बढ़े ॥३॥

खैंचि धनुष सर सत सन्धाने । छूटे तीर सरीर समाने ॥
लागत सर धावा रिस भरा । कुधर डगमगत डोलति धरा ॥४॥

धनुष खींच कर सौ बाण चलाये, वे तीर छूट कर उसके शरीर में घुस गये। बाण लगते ही क्रोध में भर कर दौड़ा, पहाड़ डगमगा गये और धरती हिलने लगी ॥४॥

लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी । रघुकुल तिलक भुजा सोइ काटी ॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी । प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी ॥५॥

उसने एक पहाड़ उखाड़ लिया, रघुवंश-भूषण ने उस भुजा को काट डाला। फिर बायें हाथ से पर्वत ले कर दौड़ा, प्रभु रामचन्द्रजी ने उस बाहु को भी काट कर ज़मीन पर गिरा दिया ॥५॥

काटे भुजा सोह खल कैसा । पच्छ हीन मन्दर गिरि जैसा ॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका । ग्रसन चहत मानहुँ त्रयलोका ॥६॥

भुजाओं के काटने पर वह दुष्ट कैसे सोह रहा है, जैसे पंखों के बिना मन्दराचल शोभित

हो। प्रभु रामचन्द्रजी को ऐसी टेढ़ी चितवन से उसने देखा, मानों तीनों लोकों को ग्रसना चाहता हो ॥६॥

दो०—करि चिक्कार घोर अति, धावा बदन पसारि ।
गगन सिद्ध सुर त्रासित, हा हा होति पुकारि ॥७०॥

बड़ा विकराल चीत्कार कर के मुँह फैला कर दौड़ा। आकाशमें सिद्ध और देवता डर गये, हाय हाय की पुकार होने लगी ॥७०॥

चौ०—सभय देव करुनानिधि जानेउ । स्रवन प्रजन्त सरासन तानेउ ॥
बिसिख निकर निसिचर मुख भरेऊ । तदपि महाबल भूमि न परेऊ ॥१॥

करुणानिधान रामचन्द्रजी ने देवताओं को भयभीत जान कर कान पर्य्यन्त धनुष को ताना। असंख्यों बाण उसके मुँह में भर दिये, तो भी महा बलवान कुम्भकर्ण भूमि पर नहीं गिरा ॥१॥

सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा । काल-त्रोन सजीव जनु आवा ॥
तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा । धर तें भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥२॥

बाणों से भरा हुआ मुख सामने ऐसा दौड़ा, मानों सजीव काल रूपी तरकस आया हो। तब प्रभु रामचन्द्रजी ने क्रोध कर के पैने बाण लिए और सिर काट के उसको धड़ से अलग कर दिया ॥२॥

तरकस का सजीव होना असिद्ध आधार है, इस अहेतु को हेतु ठहराना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

सो सिर परेउ दसानन आगे । बिकल भयउ जिमि फनि मनि त्यागे ॥
धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा । तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा ॥३॥

वह सिर रावण के सामने गिरा, देखते ही ऐसा व्याकुल हुआ जैसे मणि खो जाने पर सर्प व्याकुल होता है। कुम्भकर्ण का धड़ रणभूमि में खूब ज़ोर से दौड़ता है जिस से पृथ्वी धँसी जाती है, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने काट कर दो टुकड़े कर दिये ॥३॥

परे भूमि जिमि नभ तें भूधर । हेठ दाबि कपि भालु निसाचर ॥
तासु तेज प्रभु बदन समाना । सुर मुनि सबहिँ अचम्भव माना ॥४॥

दोनों खण्ड भूमि पर ऐसे गिरे जैसे आकाश से पहाड़ गिरे हों, उसके नीचे वानर, भालू और राक्षस दब गये। उसका तेज (जीवात्मा) प्रभु रामचन्द्रजी के मुख में समा गया, यह देख कर देवता, मुनि सभी ने आश्चर्य्य माना ॥४॥

सुर दुन्दुभी बजावहिँ हरषहिँ । अस्तुति करहिँ सुमन बहु बरषहिँ ॥
करि बिनती सुर सकल सिधाये । तेही समय देवरिषि आये ॥५॥

देवता हर्ष से दुन्दुभी बजाते हैं और स्तुति कर के बहुत सा फूल बरसाते हैं। सब देवता बिनती कर के चले गये उसी समय नारद जी आये ॥५॥

गगनोपरि हरि-गुन-गन गाये । रुचिर बीररस प्रभु मन भाये ॥
बेगि हतहु खल कहि मुनि गये । राम समर-महि सोहत भये ॥६॥

ऊपर ही ऊपर आकाश से सुन्दर वीररस मय भगवान के गुण गान किये जो प्रभु रामचन्द्रजी को मन में सुहाये । दुष्ट को शीघ्र मारिये, ऐसा कह कर मुनि चले गये और रामचन्द्रजी समर-भूमि में शोभित हो रहे हैं ॥६॥

हरिगीतिका-छन्द ।

सङ्ग्रामभूमि बिराज रघुपति, अतुल बल कोसल धनी ।
स्रमबिन्दु मुख राजीव लोचन, अरुन तन सोनित कनी ॥
भुज जुगल फेरत सर सरासन, भालु कपि चहुँ दिसि बने ।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि, सेष जेहि आनन घने ॥३॥

असीम बलवान अयोध्या के राजा रघुनाथजी रणभूमि में विराजमान हैं । मुख पर पसीने की बूँदें, लाल-कमल के समान नेत्र और शरीर पर रक्त के छींटे शोभा दे रहे हैं । दोनों हाथों में धनुष-बाण फेरते हैं और चारों तरफ भालू बन्दर विद्यमान हैं । तुलसीदासजी कहते हैं—उस शोभा को शेष भी नहीं कह सकते, जिनके बहुत मुख हैं ॥३॥

दो०—निसिचर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम ।
गिरजा ते नर मन्दमति, जे न भजहिँ श्रीराम ॥७१॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा ! राक्षस अधम पाप की खान, उसको अपना लोक (बैकुण्ठ वास) दिया । वे मनुष्य नीचबुद्धि हैं जो श्रीरामचन्द्र को नहीं भजते ॥७१॥

चौ०—दिन के अन्त फिरी दोउ अनी । समर भई सुभटन्ह स्रम घनी ॥
राम कृपा कपिदलबल बाढ़ा । जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा ॥१॥

दिन के अन्त में दोनों सेनाएँ फिरीं, आज के युद्ध में योद्धाओं को बड़ी थकावट हुई । रामचन्द्रजी की कृपा से वानरी सेना का ऐसा बल बढ़ा जैसे तिनका पा कर अग्नि खूब प्रज्वलित होती है ॥१॥

छीजहिँ निसिचर दिन अरु राती । निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती ॥
बहु बिलाप दसकन्धर करई । बन्धु सीस पुनि पुनि उर धरई ॥२॥

दिन और रात राक्षस उस तरह छीजते (घटते) हैं, जिस तरह अपने मुख से कहने पर पुण्य क्षीण होता है । रावण भाई का सिर बार बार छाती से लगा कर बहुत विलाप करता है ॥२॥

रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज बल बिपुल बखानी॥
मेघनाद तेहि अवसर आवा। कहि बहु कथा पिता समुझावा॥३॥

स्त्रियाँ उसका अप्रमेय बल और तेज बखान बखान हाथ से छाती पीट पीट कर रोती हैं। उसी समय वहाँ मेघनाथ आयो, उसने बहुत सी कथा कह कर पिता को समझाया॥३॥

देखेहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई॥
इष्टदेव सोँ बल रथ पायउँ। सो बल तात न तोहि देखायउँ॥४॥

उसने कहा—मेरी बहादुरी कल्ह देखियेगा, अभी बहुत बड़ाई क्या करूँ? मैंने जो बल और रथ इष्टदेव से पाया है, हे तात! वह पराक्रम आप को नहीं दिखाया (उसकी आज तक कभी आवश्यकता ही न पड़ी)॥४॥

एहि बिधि जलपत भयउ बिहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना॥
इत कपि-भालु काल सम बीरा। उत रजनीचर अति रनधीरा॥५॥

इस तरह व्यर्थ बकवाद करते सवेरा हुआ, बहुतेरे बन्दर चारों फाटक पर जा डटे। इधर वानर-भालू काल के समान शूरवीर, उधर बड़े ही रणधीर राक्षस॥५॥

लरहिं सुभट निज निज जय हेतू। बरनि न जाइ समर खगकेतू॥६॥

योद्धा लोग अपनी अपनी जीत के लिए लड़ते हैं, कागभुसुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़! वह युद्ध वर्णन नहीं किया जा सकता॥६॥

दो०—मेघनाद माया-मय,-रथ चढ़ि गयउ अकास।
गर्जेउ अट्टहास करि, भइ कपि कटकहि त्रास॥७२॥

मेघनाद माया के रथ पर चढ़ कर आकाश में गया और गर्जना कर के खूब जोर से हँसा, जिससे वानरी दल में भय उत्पन्न हुआ॥७२॥

मेघनाद के माया भरे भीषण पराक्रम का परिचय वानरी सेना को हो चुका है, वह समझ कर त्रास छा गया। 'स्मृति सञ्चारी भाव' का अङ्ग हो कर भय स्थायी भाव का वर्णन 'प्रेया अलंकार' है।

चौ०—सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना॥
डारइ परसु परिघ पाषाना। लागेउ बृष्टि करइ बहु बाना॥१॥

बरछी, त्रिशूल, तलवार, कटार आदि वज्र के समान शस्त्रास्त्र और अनेक प्रकार के हथियार फरसा, लोहदण्ड तथा पत्थर फेंकता है, बहुत से बाणों की वर्षा करने लगा॥१॥

दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा-मेघ झरि लाई॥
धरु धरु मारु सुनिय धुनि काना। जो मारइ तेहि काहु न जाना॥२॥

आकाश तथा दसों दिशाओं में बाण छा रहे हैं, ऐसा मालूम होता है मानों मघा नखत के

मेघ ने झड़ी लगा दी हो। धरो धरो मारो की आवाज़ कान से सुन पड़ती है, पर जो मारता है उसे कोई नहीं जानता ॥ २ ॥

गहि गिरितरुअकास कपि धावहिँ । देखहिँ तेहि न दुखित फिरि आवहिँ ॥
अवघट-घाट-बाट-गिरि कन्दर । माया बल कीन्हेसि सर-पञ्जर ॥३॥

पहाड़ और वृक्ष ले ले कर बन्दर आकाश में उड़ जाते हैं, पर जब उसे नहीं देखते तब दुःखित हो कर लौट आते हैं। अटपट चढ़ाव उतार के पहाड़ी मार्ग, साधारण रास्ता, पर्वत की गुफाएँ सर्वत्र माया के बल से मेघनाद ने बाणों का पींजरा बना दिया ॥ ३ ॥

जाहिँ कहाँ व्याकुल भये बन्दर । सुरपति बन्दि परेउ जनु मन्दर ॥
मारुतसुत अङ्गद नल नीला । कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला ॥४॥

बन्दर कहाँ जाँय ? (भागने को कहीं मार्ग ही न रहा) वे ऐसे व्याकुल हुए मानों देवराज की क़ैद में मन्दराचल पड़ा हो। पवनकुमार, अङ्गद, नल और नील आदि सम्पूर्ण बलशाली बन्दरों को व्याकुल कर दिया ॥ ४ ॥

पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन । सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर-तन ॥
पुनि रघुपति सन जूझइ लागा । सर छाड़इ होइ लागहिँ नागा ॥५॥

फिर लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण को बाणों से मार कर उनके शरीर को झाँझर (घावमय) कर दिया। फिर रघुनाथजी से युद्ध करने लगा, जो बाण छोड़ता है वे सर्प हो कर लगते हैं ॥ ५ ॥

बाण सर्पों के कारण नहीं हैं, परन्तु धनुष से छूटते ही वे साँप हो कर लगते हैं। यह 'चतुर्थ विभावना अलंकार' है।

ब्याल-पास-बस भये खरारी । स्वबस अनन्त एक अबिकारी ॥
नट इव कपट चरित कर नाना । सदा स्वतन्त्र राम भगवाना ॥६॥

खलों के वैरी, स्वच्छन्द, अनादि, अद्वितीय और विकार रहित परमात्मा नाग-पाश के अधीन हो गये। वे नट के समान अनेक प्रकार के कपट चरित करते हैं; किन्तु भगवान रामचन्द्रजी सदा स्वतन्त्र (किसी के वश में नहीं होनेवाले) हैं ॥ ६ ॥

रन सोभा लगि प्रभुहि बँधावा । देखि दसा देवन्ह भय पावा ॥७॥

रण की शोभा के लिए प्रभु अपने से बँधुआ हो गये, यह दशा देख कर देवता डर को प्राप्त हुए ॥७॥

दो०—गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिँ भव पास ।
सो कि बन्ध तर आवइ, ब्यापक बिस्व-निवास ॥७३॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा ! जिनका नाम जप कर मुनि लोग संसार-बन्धन को काट डालते हैं वे सर्वव्यापी जगन्निवास परमात्मा क्या कभी बंधन के नीचे आ सकते हैं ? (कदापि नहीं) ॥७३॥

रामचन्द्रजी का बन्धन में पड़ना प्रसिद्ध वस्तु है, उसको काकु द्वारा निषेध करना 'प्रतिषेध अलंकार' है। जो व्यापक विश्व निवास हैं, जिनका नाम जप कर मुनिजन भव-पास काटते हैं वे कभी बँधुवा हो सकते हैं? इसमें असम्भव की ध्वनि है।

चौ०–चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिँ बुद्धि बल बानी॥
अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिँ भजहिँ तर्क सब त्यागी॥१॥

शङ्करजी कहते हैं—हे भवानी! सगुण-राम के चरित की विवेचना बुद्धि, बल और वाणी से नहीं हो सकती। ऐसा समझ कर जो ज्ञानी और वैराग्यवान हैं वे सारी तर्कनाओं को छोड़ कर रामचन्द्रजी का भजन करते हैं॥१॥

ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहइ दुर्बादा॥
जामवन्त कह खल रहु ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा॥२॥

मेघनाद ने वानरी सेना को व्याकुल कर दिया, फिर प्रकट होकर दुर्वचन कहने लगा। जाम्बवान ने कहा—अरे दुष्ट! खड़ा रह, यह सुन कर उसको बड़ा क्रोध हुआ॥२॥

बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही। लागेसि अधम पचारइ मोही॥
अस कहि तीब्र त्रिसूल चलायो। जामवन्त कर गहि सो धायो॥३॥

मेघनाद ने कहा—अरे मूर्ख! तुझको बुड्ढा समझ कर मैंने छोड़ दिया, रे नीच! तू मुझे ललकारने लगा है? ऐसा कह कर तीक्ष्ण त्रिशूल चलाया, जाम्बवान उसे हाथ से पकड़ कर दौड़े॥३॥

गुटका में 'अस कहि तरल त्रिशूल चलायो' पाठ है।

मारेसि मेघनाद के छाती। परा भूमि घुर्मित सुरघाती॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निज बल देखरायो॥४॥

मेघनाद की छाती में मारा, वह देवघाती राक्षस घूम कर धरती पर गिर पड़ा। फिर क्रोध से टाँग पकड़ घुमाकर पृथ्वी पर पटक दिया और अपना बल दिखाया (कि देख, यह बुढ़ाई का बल है)॥४॥

सभा की प्रति में 'परा धरनि घुर्मित सुरघाती' पाठ है।

बर प्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लङ्का पर डारा॥
इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो॥५॥

बरदान के प्रभाव से जब वह मारने से नहीं मरा तब पाँव पकड़ कर लङ्का पर फेंक दिया। यहाँ देवर्षि नारदजी ने गरुड़ को भेजा, वे तुरन्त रामचन्द्रजी के पास आये॥५॥

दो०–खगपति सब धरि खाये, माया-नाग-बरूथ।
माया-बिगत भये सब, हरषे बानर जूथ॥

माया-निर्मित साँपों के झुण्ड को पकड़ कर गरुड़ सब खा गये। वानरों का सारा दल माया से रहित होकर प्रसन्न हुआ।

गहि गिरि पादप उपल नख, धाये कीस रिसाइ ॥
चले तमीचर बिकल-तर, गढ़ पर चढ़े पराइ ॥७४॥

पर्वत, वृक्ष और पत्थर लेकर नखवाले बन्दर क्रोध कर के दौड़े। राक्षस अत्यन्त व्याकुल हो भाग चले और भाग कर किले पर चढ़ गये ॥७४॥

राक्षसों के हृदय में जो उत्साह स्थायीभाव बढ़ रहा था कि इतनेही में वानरों की मार से पूर्वोत्पन्न भाव लय हो कर भय स्थायी भाव प्रबल हो गया, यह भावशान्ति है।

चौ०-मेघनाद कै मुरछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी ॥
तुरत गयउ गिरिबर-कन्दरा। करउँ अजय-मख अस मन धरा ॥१॥

मेघनाद की मूर्छा दूर हुई उसे चेत हुआ, पिता को देख कर बड़ी लज्जा लगी। तुरन्त पर्वत की सुन्दर गुफा में गया, ऐसा मन में निश्चय कर लिया कि अजेय यज्ञ करूँ (जिसमें शत्रु जीत न सकें) ॥१॥

इहाँ बिभीषन मन्त्र बिचारा। सुनहु नाथ बल अतुल उदारा ॥
मेघनाद मख करइ अपावन। खल मायावी देवसतावन ॥२॥

यहाँ विभीषण ने विचार कर सलाह दी कि हे उदार नाथ, अप्रमेय बली! सुनिए, मेघनाद अपावन यज्ञ करता है, वह दुष्ट छली और देवताओं को सतानेवाला है ॥२॥

जौँ प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि। नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि ॥
सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अङ्गदादि कपि नाना ॥३॥

हे प्रभो! यदि वह सिद्ध होने पावेगा तो फिर जल्दी जीता न जायगा यह सुन कर रघुनाथजी बहुतही प्रसन्न हुए और अंगद आदि अनेक वानरों को बुलाया ॥३॥

लछिमन सङ्ग जाहु सब भाई। करहु बिधंस यज्ञ कर जाई ॥
तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही। देखि सभय सुर दुख अति मोही ॥४॥

हे भाई! तुम सब लक्ष्मण के साथ जाओ और जा कर यज्ञ का विध्वंश करो। हे लक्ष्मण! तुम रण में उसे मारना, देवताओं को भयभीत देख कर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ॥४॥

मारेहु तेहि बल-बुद्धि-उपाई। जेहि छीजइ निसिचर सुनु भाई ॥
जामवन्त सुग्रीव बिभीषन। सेन समेत रहहु तीनिउँ जन ॥५॥

हे भाई! सुनो, उसको बल और बुद्धि से यत्न कर के मारना, जिसमें राक्षस का नाश हो। जाम्बवान, सुग्रीव, विभीषण तीनों जन और सेना सहित मैं यहीं रहूँगा ॥५॥

जब रघुबीर दीन्ह अनुसासन। कटि निषंग कसि साजि सरासन ॥
प्रभु प्रताप उर धरि रनधीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा ॥६॥

जब रघुनाथजी ने आज्ञा दी, तब कमर में तरकस कस कर और धनुष सज कर रणधीर

लक्ष्मणजी स्वामी के प्रताप को हृदय में रखकर बादल के समान गम्भीर वाणी से बोले ॥६॥

लक्ष्मणजी का बन्धु विषयक रति भाववी रस के अंग से वर्णित होना 'प्रेयालंकार' है।

जौँ तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥
जौँ सत-सङ्कर करहिँ सहाई। तदपि हतउँ रन राम-दोहाई॥७॥

जो उसे आज बिना मारे आऊँ तो रघुनाथजी का सेवक न कहाऊँगा। यदि सौ शङ्कर उसकी सहायता करेंगे—रामचन्द्रजी की सौगन्द करता हूँ, तो भी युद्ध में मारूँगा ॥७॥

दो०—रघुपति-चरन नाइ सिर, चलेउ तुरन्त अनन्त।
अङ्गद नील मयन्द नल, सङ्ग सुभट हनुमन्त ॥७५॥

रघुनाथजी के चरणों में मस्तक नवा कर तुरन्त लक्ष्मणजी चल दिये। उनके साथ में अंगद, नील, नल, मयन्द और हनुमानजी (आदि चुने हुए) योद्धा चले ॥७५॥

चौ०—जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥
कीन्ह कपिन्ह सब जज्ञ बिधंसा। जब न उठइ तब करहिँ प्रसंसा॥१॥

वानरों ने जा कर उसे बैठे देखा कि रक्त और भैंसे की आहुति दे रहा है। बन्दरों ने सम्पूर्ण यज्ञ विध्वंस कर दिया, जब नहीं उठा तब उसकी बड़ाई करते हैं ॥१॥

मेघनाद की प्रशंसा करने पर भी निन्दा प्रकट होना 'व्याजनिन्दा अलंकार' है।

तदपि न उठइ धरेन्हि कच जाई। लातन्हि हति हति चले पराई॥
लेइ त्रिशूल धावा कपि भागे। आये जहँ रामानुज आगे॥२॥

तो भी नहीं उठता देख जा कर केश पकड़े और लातों से मार मार कर भाग चले। तब हाथ में त्रिशूल ले कर दौड़ा, वानर भगे और आगे जहाँ लक्ष्मणजी हैं वहाँ आये ॥२॥

आवा परम क्रोध कर मारा। गर्ज घोर रव बारहिँ बारा॥
कोपि मरुत-सुत अङ्गद धाये। हति त्रिसूल उर धरनि गिराये॥३॥

अतिशय क्रोध का मारा आया और बार बार भीषण ध्वनि से गर्जना करता है। अङ्गद और पवनकुमार क्रोध करके दौड़े, उसने छाती में त्रिशूल मार कर दोनों वानर श्रेष्ठों को धरती पर गिरा दिया ॥ ३ ॥

प्रभु कहँ छाँड़ेसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनन्त जुग खंडा॥
उठि बहोरि मारुति जुबराजा। हतहिँ कोपि तेहि घाव न बाजा॥४॥

उसने लक्ष्मणजी पर तीव्र त्रिशूल छोड़ा, अनन्त भगवान ने बाण मार कर दो टुकड़े कर दिये। फिर वायुनन्दन और युवराज-अङ्गद उठ कर क्रोधित हो मारते हैं, पर उसको चोट नहीं लगती है ॥४॥

हनूमान और अङ्गद जैसे पराक्रमी योद्धाओं के मारने पर घाव का न बजना अर्थात् कारण विद्यमान रहते हुए उसका फल न होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है ।

फिरे बीर रिपु मरइ न मारा । तब धावा करि घोर चिकारा ॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला । लछिमन छाड़े बिसिख कराला ॥५॥

शत्रु मारने से नहीं मरता है (इससे हृदय में हार कर) दोनों वीर लौट आये, तब मेघनाद भीषण चिग्घाड़ करके दौड़ा। ऐसा मालूम होता है मानों क्रोधित हुआ काल आता हो, उसे आते देख कर लक्ष्मणजी ने विकराल बाण छोड़े ॥ ५ ॥

अङ्गद और हनूमानजी के अपकर्ष वर्णन से लक्ष्मणजी के शूरत्व का उत्कर्ष व्यञ्जित होना व्यङ्ग है ।

देखेसि आवत पबि सम बाना । तुरत भयउ खल अन्तरधाना ॥
बिबिध बेष धरि करइ लराई । कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई ॥६॥

वज्र के समान बाणों को आते देख कर वह दुष्ट तुरन्त अदृश्य हो गया। अनेक रूप धारण कर के लड़ाई करता है, कभी छिप जाता और कभी प्रत्यक्ष होता है ॥६॥

देखि अजय रिपु डरपे कीसा । परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा ॥
एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा । लछिमन मन अस मन्त्र दृढ़ावा ॥७॥

शत्रु को न जीतने योग्य देख कर वानर डरे, तब लक्ष्मणजी अतिशय क्रोधित हुए। उन्होंने मन में ऐसा मन्त्र पक्का किया (कि अब इसका संहार कर डालना चाहिये) इस पापी को मैं ने बहुत खेलाया ॥७॥

सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा । सर सन्धान कीन्ह करि दापा ॥
छाँड़ेउ बान माँझ उर लागा । मरती बार कपट सब त्यागा ॥८॥

कोशलेश्वर रामचन्द्रजी का प्रताप स्मरण कर के क्रोध कर बाण धनुष पर चढ़ाया। ज्यों ही बाण छोड़ा वह छाती में लगा, मरती बेर उसने सब कपट छोड़ दिया ॥८॥

दो०—रामानुज कहँ राम कहँ, अस कहि छाँड़ेसि प्रान ।
धन्य धन्य तव जननी, कह अङ्गद हनुमान ॥७६॥

लक्ष्मण कहाँ हैं ? रामचन्द्र कहाँ हैं ? ऐसा कह कर उसने प्राण त्याग दिया। अङ्गद और हनुमानजी ने कहा—तेरी माता धन्य है ! ॥७६॥

चौ०—बिनु-प्रयास हनुमान उठायो । लङ्का-द्वार राखि तेहि आयो ॥
तासु मरन सुनि सुर गन्धर्बा । चढ़ि बिमान आये नभ सर्बा ॥१॥

बिना परिश्रम ही उसको हनूमानजी ने उठा लिया और लङ्का के फाटक पर रख आये। उसका मरना सुन कर देवता और गन्धर्व विमानों पर चढ़ कर सब आकाश में (जहाँ लक्ष्मणजी थे वहाँ) आये ॥१॥

बरसि सुमन दुन्दुभी बजावहिँ । श्रीरघुबीर-बिमल-जस गावहिँ ॥
जय अनन्त जय जगदाधारा । तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा ॥२॥

फूल बरसा कर नगारे बजाते हैं और श्रीरघुवीर (लक्ष्मणजी) का निर्मल यश गान करते हैं । हे अनन्त भगवान! आप की जय हो, हे जगत् के आधार! आप की जय हो, हे स्वामिन्! आप ने सब देवताओं को निस्तार (छुटकारा) किया ॥२॥

अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाये । लछिमन कृपासिन्धु पहिँ आये ॥
सुत बध सुना दसानन जबहीँ । मुरछित भयउ परेउ महि तबहीँ ॥३॥

देवता और सिद्ध स्तुति कर के चले गये, तब लक्ष्मणजी कृपासागर रामचन्द्रजी के पास आये । ज्यों ही रावण ने पुत्र-बध सुना, त्यों ही मूर्छित हो कर धरती पर गिर पड़ा ॥३॥

मन्दोदरी रुदन कर भारी । उर ताड़त बहु भाँति पुकारी ॥
नगर लोग सब ब्याकुल सोचा । सकल कहहिँ दसकन्धर पोचा ॥४॥

मन्दोदरी बड़ा रोदन कर छाती पीटती और बहुत तरह से चिल्लाती है । नगर के सब लोग सोच से व्याकुल हो गये, सभी कहते हैं कि रावण नीच है ॥४॥

सारे नगर और राजमहल में शोक से करुणरस छा गया है ।

दो०—तब दसकंठ बिबिध बिधि, समुझाई सब नारि ।
नस्वर-रूप जगत सब, देखहु हृदय बिचारि ॥७७॥

तब रावण अनेक प्रकार से सम्पूर्ण स्त्रियों को समझाया, उसने कहा—मन में विचार कर देखो सारा जगत नाशवान है ॥७७॥

इस घोर आपत्काल में भी चित्त को दृढ़ करने के लिए रावण का स्त्रियों को समझाना 'धृति सञ्चारी भाव, है ।

चौ०—तिन्हहिँ ज्ञान उपदेसा रावन । आपुन मन्द कथा सुभ-पावन ॥
पर-उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिँ ते नर न घनेरे ॥१॥

रावण ने उन स्त्रियों को तो ज्ञानोपदेश किया, पर आप नीच है; किन्तु कथा (बात) पवित्र कल्याणकारी है । दूसरों को शिक्षा देने में बहुतेरे चतुर हैं, पर जो वैसा करते हैं वे मनुष्य बहुत नहीं हैं ॥१॥

निसा सिरानि भयउ भिनुसारा । लगे भालु कपि चारिहु द्वारा ॥
सुभट बोलाइ दसानन बोला । रन-सनमुख जा कर मन डोला ॥२॥

रात बीती सबेरा हुआ, भालू और वानर चारों फाटक पर जा डटे । योद्धाओं को बुला कर रावण कहने लगा—युद्ध के सामने जिसका मन डाँवाडोल हो ॥ २ ॥

सो अबहीं बरु जाउ पराई । सञ्जुग-बिमुख भये न भलाई ॥
निज-भुज-बल मैं बैर बढ़ावा । देइहउँ उतर जो रिपु चढ़ि आवा ॥३॥

वह बल्कि अभी भाग जाय, पर संग्राम-भूमि से मुँह मोड़ने पर भलाई नहीं है। मैं ने अपनी भुजाओं के बल से बैर बढ़ाया है, जो शत्रु चढ़ आया है उसको मैं उत्तर दूँगा अर्थात् तुम लोग भाग भी जाओगे तो मैं अकेला लड़ूँगा ॥ ३ ॥

अस कहि मरुत-बेग रथ साजा । बाजे सकल जुझाऊ बाजा ॥
चले बीर सब अतुलित-बली । जनु कज्जल कै आँधी चली ॥४॥

ऐसा कह कर पवन के समान वेगवाला रथ सजवाया और सम्पूर्ण युद्ध के बाजे बजने लगे। अप्रमेय बलवाले सब योद्धा चले, ऐसा मालूम होता है मानों काजल की आँधी चली हो ॥४॥

असगुन अमित होहिँ तेहि काला । गनइ न भुज-बल गर्ब बिसाला ॥५॥

उस समय अपरिमित असगुन हो रहे हैं, पर अपनी भुजाओं के बहुत बड़े घमण्ड से उन्हें गिनता नहीं है ॥ ५ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन, स्रवहिँ आयुध हाथ तेँ ।
भट गिरत रथ तेँ बाजि गज चिक्करत भाजहिँ साथ तेँ ॥
गोमायु-गीध-कराल-खर-रव, स्वान बोलहिँ अति घने ।
जनु कालदूत उलूक बोलहिँ, बचन परम भयावने ॥१॥

अत्यन्त गर्व से सगुन या असगुन नहीं गिनता है, हथियार हाथ से गिर रहे हैं वीर लोग रथ से गिर पड़ते हैं और घोड़े हाथी चिग्घाड़ मार कर साथ से अलग भागते हैं। सियार, गिद्ध, कौआ, गदहों की आवाज़ हो रही है तथा बहुत घने कुत्ते बोलते हैं। उल्लू पक्षी बड़े भयावने शब्द (धुआ धुआ) बोल रहे हैं, वह ऐसा मालूम होता है, मानों काल के दूत बोलते हों ॥ १ ॥

दो०—ताहि कि सम्पति सगुन सुभ, सपनेहुँ मन बिस्राम ।
भूत-द्रोह-रत मोह बस, राम बिमुख रत काम ॥७८॥

क्या उसको स्वप्न में भी सम्पत्ति, सगुन, कल्याण और मन में चैन मिल सकता है? जो जीवों के द्रोह में तत्पर, अज्ञान के अधीन, बासनाओं में अनुरक्त और श्रीरामचन्द्रजी से विमुख है? (कदापि नहीं) ॥ ७८ ॥

चौ०—चलेउ निसाचर कटक अपारा । चतुरङ्गिनी अनी बहु धारा ॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना । बिपुल बरन पताक ध्वज नाना ॥१॥

राक्षसों की अपार सेना चली, जिसमें चतुरङ्गिणी दल बहु श्रेणियों में था। अनेक प्रकार

की सवारियाँ, रथ, विमान आदि जिनमें नाना रंग के बहुत से ध्वजा पताका लगे हैं ॥१॥
हाथी, घोड़े, रथ और पैदल ये चारों अङ्ग जिस सेना में हो, उसे चतुरङ्गिणी कहते हैं।

चले मत्त-गज-जूथ घनेरे। प्राबिट जलद मरुत जनु प्रेरे॥
बरन बरन बिरदैत निकाया। समर सूर जानहिँ बहु माया॥२॥

बहुत से मतवाले हाथियों के झुण्ड चले, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों वायु की प्रेरणा से वर्षा काल के मेघ आते हों। रङ्ग रङ्ग के समूह नामी योद्धा जो युद्ध में बहुतेरी माया करना जानते हैं ॥ २ ॥

अति बिचित्र बाहनी बिराजी। बीर बसन्त सेन जनु साजी॥
चलत कटक दिगसिन्धुर डगहीँ। छुभित पयोधि कुधर डगमगहीँ॥३॥

अत्यन्त विलक्षण सेना शोभित हो रही है, ऐसा मालूम होता है मानों ऋतुराज ने वीरों की सेना सजायी हो। फौज के चलते समय दिशा के हाथी काँप रहे हैं, समुद्र खलबला उठा और पहाड़ हिल रहे हैं ॥ ३ ॥
वसन्त सेना नहीं सजाता, यह केवल कवि की कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ॥ ३ ॥

उठी रेनु रबि गयउ छपाई। पवन-थकित बसुधा-अकुलाई॥
पनव निसान घोर रव बाजहिँ। प्रलय समय के घन जनु गाजहिँ॥४॥

इतनी धूल उड़ी कि सूर्य्य छिप गये, पवन रुक गये और धरती व्याकुल हो उठी। ढोल और डङ्का भीषण ध्वनि से बजते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानो प्रलयकाल के मेघ गरजते हों ॥४॥

भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥
केहरिनाद बीर सब करहीँ। निज निज बल पौरुष उच्चरहीँ॥५॥

नगारा, तुरही और शहनाई मारू राग से बजते हैं, जो शूरवीरों को आनन्ददायक हैं। सब योद्धा सिंहनाद करते हैं और अपना अपना बल पुरुषार्थ बखानते हैं ॥५॥

कहइ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा॥
हौँ मारिहौँ भूप दोउ भाई। अस कहि सनमुख फौज रेँगाई॥६॥

रावण ने कहा—हे योद्धाओ! सुनो, तुम लोग भालू और बन्दरों के झुण्ड का नाश करो। मैं दोनों भाई राजकुमारों को मारूँगा, ऐसा कह कर फौज को सामने बढ़ाया ॥६॥

यह सुधि सकल कपिन्ह जब पाई। धाये करि रघुबीर दोहाई॥७॥

यह खबर जब वानरों को मिली तब वे रघुनाथजी की दोहाई कर के दौड़े ॥७॥

हरिगीतिका-छन्द ।

धाये बिसाल कराल मर्कट,-भालु काल समान ते ।
मानहुँ सपच्छ उड़ाहिँ भूधर, वृन्द नाना बान ते ।
नख दसन सैल महाद्रुमायुध, सबल सङ्क न मानहीं ।
जय राम रावन मत्तगज मृगराज सुजस बखानहीं ॥५॥

काल के समान भयङ्कर विशाल बन्दर और भालू दौड़े वे ऐसे मालूम होते हैं मानों नाना रङ्ग के पङ्खवाले पहाड़ के झुण्ड उड़ते हों। बलशाली शङ्का न माननेवाले नाख़ून, दाँत, पहाड़ और भारी वृक्षों के हथियार लिये हैं। रावण रूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह स्वरूप रामचन्द्रजी का सुयश बखानते हैं और जय जयकार करते हैं ॥५॥

दो०—दुहुँ दिसि जय जयकार करि, निज निज जोरी जानि ।
भिरे बीर इत रघुपतिहि, उत रावनहिँ बखानि ॥७९॥

दोनों ओर से जय जयकार कर के अपनी अपनी जोड़ी जान कर, इधर रघुनाथजी की और उधर रावण की बड़ाई करते योद्धा भिड़ गये (युद्ध ठन गया) ॥७९॥

गुटका में 'भिरे वीर इत राम हित, उत रावनहिँ बखानि' पाठ है ।

चौ०—रावन रथी बिरथ रघुबीरा । देखि बिभीषन भयउ अधीरा ॥
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा । बन्दि चरन कह सहित सनेहा ॥१॥

रावण को रथ पर सवार और रघुनाथजी को बिना रथ के देख कर विभीषण अधीर हो गये। अत्यन्त स्नेह के कारण मन में सन्देह हुआ, चरणों में प्रणाम कर प्रेम-पूर्वक कहने लगे ॥१॥

इष्टहानि के सोच से प्रीति वश विभीषण के मन में सन्देह होना शङ्का सञ्चारीभाव है।

नाथ न रथ नहिँ तनु पदत्राना । केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ॥२॥

हे नाथ ! आप के न रथ है न कवच और न पाँव में जूता है, फिर इतने बड़े बलवान योद्धा को आप कैसे जीतेंगे ? कृपानिधान रामचन्द्रजी ने कहा—हे मित्र ! सुनिए, जिस से जीत होती है, वह और ही रथ है ॥२॥

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य साल दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल-बिबेक-दम-परहित घोरे । छमा-कृपा-समता रजु जोरे ॥३॥

शूरता और धीरज उस रथ के पहिये हैं, सत्य मज़बूत ध्वजा और शील पताका है। बल, ज्ञान, इन्द्रियदमन और परोपकार घोड़े हैं, क्षमा अनुग्रह और समता की रस्सी से जोड़े रहते हैं ॥३॥

रथ और विजयरथ का साङ्गरूपक वर्णन है। पहिया, ध्वजा, पताका, घोड़ा और जोतने की रस्सी ऊपर कह चुके, शेष सामग्री आगे वर्णन करते हैं।

ईस-भजन सारथी-सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष-कृपाना॥
दान-परसु बुधि-सक्ति-प्रचंडा। बर-बिज्ञान-कठिन-कोदंडा॥४॥

ईश्वर का भजन अति चतुर सारथी है, वैराग्य ढाल और संतोष तलवार है। दान भलुहा है, बुद्धि तीव्र साँगी है, श्रेष्ठ विज्ञान मज़बूत धनुष है॥४॥

अमल अचल-मन त्रोन-समाना। सम-जम-नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र-गुरु-पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥५॥

निर्मल अचंचल चित्त तरकस के समान है, शम यम और नियमादि अनेक प्रकार के बाण हैं। ब्राह्मण और गुरु का पूजन अभेद्य (जिसके भीतर कोई चीज़ न घुस सके) ज़िरह बकतर है, इसके समान विजय के लिए दूसरा उपाय नहीं है॥५॥

सखा धरम-मय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥६॥

हे सखा! जिसके पास ऐसा धर्म (रूपी-धुरा) मय रथ है, उसको जीतने के लिए कहीं भी शत्रु नहीं है॥६॥

दो०--महा अजय संसार-रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर॥

हे मतिधीर सखे! सुनिए, अतिशय अजीत संसार-शत्रु को वही शूरवीर जीत सकता है, जिसके पास ऐसा मज़बूत रथ होगा।

प्रस्तुत वृत्तान्त तो रावण से जीतने के लिए रथ का वर्णन है, उसे न कह कर उसका प्रतिबिम्बमात्र कहना 'ललित अलंकार' है। विजयरथ के बहाने रावण के जीतने की बात न कह कर संसार-शत्रु से जीतने की बात कहना 'कैतवापह्नुति अलंकार' है।

सुनि प्रभु बचन बिभीषन, हरषि गहे पद-कञ्ज।
एहि मिस मोहि उपदेसहु, राम कृपा-सुख-पुञ्ज॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुन कर विभीषण ने प्रसन्न हो चरण-कमलों को पकड़ लिए। उन्हों ने समझा कि कृपा और सुख के राशि रामचन्द्रजी ने इस बहाने से मुझे शिक्षा दी है।

उत पचार दसकन्धर, इत अङ्गद हनुमान।
लरत निसाचर भालु कपि, करि निज निज प्रभु आन॥८०॥

उधर से रावण ललकारता, इधर अङ्गद हनुमान, उधर राक्षस इधर भालु-बन्दर अपने अपने स्वामी की दुहाई देते हुए लड़ते हैं॥८०॥

चौ०-सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना । देखत रन नभ चढ़े बिमाना ।
हमहूँ उमा रहे तेहि सङ्गा । देखत रामचरित रनरङ्गा ॥१॥

ब्रह्मा आदि देवता, अनेक सिद्ध और मुनि विमान पर बैठे आकाश से युद्ध देखते हैं। शिवजी कहते हैं—हे उमा ! हम भी उनके साथ रामचन्द्रजी के लड़ाई का चरित्र देख रहे थे ॥ १ ॥

सुभट समर-रस दुहुँ दिसि माँते । कपि-जयसील राम बल ताते ॥
एक एक सन भिरहिं पचारहिँ । एकन्ह एक मर्दि महि पारहिँ ॥२॥

दोनों ओर के योद्धा लड़ाई के रस में मतवाले हुए हैं, बन्दरों को रामचन्द्रजी का बल है इसलिए वे विजयशील हैं। एक दूसरे को ललकारते और भिड़ते हैं, एक दूसरे को धरती पर गिरा कर मसल देते हैं ॥२॥

मारहिँ काटहिँ धरहिँ पछारहिँ । सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिँ ॥
उदर बिदारहिँ भुजा उपारहिँ । गहि पद अवनि पटकि भट डारहिँ ॥३॥

मारते हैं, काटते हैं, पकड़ कर पछाड़ते हैं, सिर तोड़ कर उन्हीं सिरों से मारते हैं। पेट फाड़ते हैं, भुजा उखाड़ते हैं, टाँग पकड़ कर योद्धाओं को धरती पर पटक कर फेंक देते हैं ॥३॥

निसिचर-भट महि गाड़हिँ भालू । ऊपर ढारि देहिँ बहु बालू ॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे । देखियत बिपुल काल जनु क्रुद्धे ॥४॥

राक्षस वीरों की लाश भालू पृथ्वी में गाड़ते और ऊपर बहुत सी बालू डाल देते हैं। योद्धा बन्दर लड़ाई में क्रोधित ऐसे मालूम होते हैं मानों असंख्यों काल क्रुद्ध हुए दिखाई देते हों ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

क्रुद्धे कृतान्त समान कपि तनु, स्रवत सोनित राजहीं ।
मर्दहिँ निसाचर-कटक भट बलवन्त घन जिमि गाजहीं ॥
मारहिँ चपेटन्हि डाटि दाँतन्ह,-काटि लातन्ह-मीँजहीं ।
चिक्करहिँ मरकट-भालु छल-बल,-करहिँ जेहि खल छीजहीं ॥६॥

यमराज के समान क्रोधित, रक्त शरीर से बहते हुए बन्दर शोभित हो रहे हैं। वे बली राक्षसी सेना के वीरों का नाश करते हुए मेघ जैसे गर्जते हैं। थप्पड़ों से मारते, डाटते, दाँतों काटते और लातों से कुचलते हैं। वानर-भालू चिग्घाड़ते और छल-बल करते हैं जिस से राक्षसों का नाश हो ॥ ६ ॥

धरि गाल फारहिँ उर बिदारहिँ, गल अँतावरि मेलहीं ।
प्रहलाद-पति जनु बिबिध तनु धरि, समर-अङ्गन खेलहीं ॥

धरु मारु काटु पछारु घोर, गिरा गगन-महि भरि रही ।
जय राम जो तृन तें कुलिस कर, कुलिस तें कर तृन सही ॥७॥

पकड़ कर गाल फाड़ते पेट चीर डालते और उनकी अँतड़ियाँ गले में पहन लेते हैं। वे ऐसे मालूम होते हैं मानों नृसिंह भगवान बहुत सा शरीर धारण कर के संग्राम-भूमि में खेल करते हों। पकड़ो, मारो, काटो, पछाड़ो की भीषण ध्वनि आकाश और पृथ्वी में भर रही है। सब लोग रामचन्द्रजी की जय जयकार करते हैं, जो सचमुच तृण को वज्र और वज्र को तिनका कर देते हैं ॥ ७ ॥

वज्र के समान राक्षस तिनके हो गए और तिनके के बराबर बन्दर-भालू वज्र बन गये, यह वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है।

दो०—निज-दल बिचलत देखेसि, बीस भुजा दस चाप ।
रथ चढ़ि चलेउ दसानन, फिरहु फिरहु करि दाप ॥८१॥

अपनी सेना को विचलित देख कर बीसों हाथों में दस धनुष लिये हुए रथ पर चढ़ कर रावण चला और क्रोध कर के लौटो लौटो ललकारा ॥८१॥

रावण की ललकार वानरी सेना को लक्ष्य कर है जो राक्षसी दल का संहार कर रही थी।

चौ०—धायेउ परम क्रुद्ध दसकन्धर । सनमुख चले हूह दै बन्दर ॥
गहि कर पादप-उपल-पहारा । डारेन्हि ता पर एकहि बारा ॥१॥

रावण अत्यन्त क्रोधित होकर दौड़ा, सामने बन्दर हल्ला मचा कर चले। वृक्ष पत्थर और पहाड़ हाथ में लेकर एक साथ ही उस पर फेंका ॥१॥

लागहिँ सैल बज्र तनु तासू । खंड खंड होइ फूटहिँ आसू ॥
चला न अचल रहा रथ रोपी । रन दुर्मद रावन अति कोपी ॥२॥

उसके वज्रवत शरीर में पर्वत लगते हैं। वे तुरन्त फूट कर टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। युद्ध का घोर अहंकारी और अत्यन्त क्रोधी रावण हटा नहीं, रथ रोक कर अचल खड़ा रहा ॥२॥

जब उसको निश्चय हो गया कि बन्दरों की मार से मेरा कुछ बिगड़ नहीं सकता, तब क्रुद्ध होकर रथ से कूद पड़ा और—।

इत उत झपटि दपटि कपि जोधा । मर्दइ लाग भयउ अति क्रोधा ॥
चले पराइ भालु कपि नाना । त्राहि त्राहि अङ्गद हनुमाना ॥३॥

इधर उधर झपट डपट कर बन्दर योद्धाओं को मारने लगा और बड़ाही क्रोधित हुआ। असंख्यों भालू बन्दर भाग चले, सब पुकार रहे हैं, हनूमानजी रक्षा कीजिये, अंगदजी रक्षा कीजिये ॥३॥

पाहि पाहि रघुबीर गोसाँई । यह खल खाइ काल की नाँई ॥
तेहि देखे कपि सकल पराने । दसहुँ चाप सायक सन्धाने ॥४॥

हे स्वामी रघुनाथजी ! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिये, यह दुष्ट काल की तरह खा रहा है। रावण ने देखा कि सब वानर भाग गये, तब दसों धनुषों पर बाण का सन्धान किया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

सन्धानि धनु सर निकर छाड़ेसि, उरग जिमि उड़ि लागहीं ।
रहे पूरि सर धरनी-गगन-दिसि,-बिदिसि कहँ कपि भागहीं ॥
भयो अति-कोलाहल बिकल कपि, दल भालु बोलहिं आतुरे ।
रघुबीर करुनासिन्धु आरत,-बन्धु जन-रच्छक हरे ॥८॥

धनुष तान कर असंख्य बाण छोड़े, वे उड़ उड़ कर साँप की तरह लगते हैं। पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ और कोण सब बाण से भर गये (कहीं भागने की गुञ्जाइस नहीं) बन्दर कहाँ भागें ? बड़ा हुल्लड़ हुआ, वानरों का दल व्याकुल हो उठा, भालू दुःख से चिल्ला रहे हैं कि करुणासिन्धु दीनबन्धु दासों के रक्षक भगवान् रघुवीर ! रक्षा कीजिए ॥८॥

दो०—निज-दल बिकल देखि कटि,-कसि निषङ्ग धनु हाथ ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, नाइ राम-पद-माथ ॥८२॥

अपनी सेना को घबराई हुई देख कमर में तरकस कस कर और हाथ में धनुष ले लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक नवा कर क्रोधित हो चले ॥८२॥

चौ०—रे खल का मारसि कपि भालू । मोहि बिलोकु तोर मैं कालू ॥
खोजत रहेउँ तोहि सुत-घाती । आजु निपाति जुड़ावउँ छाती ॥१॥

लक्ष्मणजी ने ललकारा—अरे दुष्ट ! बन्दर-भालुओं को क्या मारता है, मुझे देख मैं तेरा काल हूँ। रावण बोला—अरे पुत्र-घाती ! तुझ को मैं खोजता ही था, आज तेरा नाश कर के छाती ठण्ढी करूँगा ॥१॥

अस कहि छाड़ेसि बान प्रचंडा । लछिमन किये सकल सत खंडा ॥
कोटिन्ह आयुध रावन डारे । तिल प्रवान करि काटि निवारे ॥२॥

यह कह उसने तीव्र बाण छोड़ा; लक्ष्मणजी ने सब को सौ सौ टुकड़े कर दिये। करोड़ों हथियार रावण ने चलाये, उन्हें तिल के बराबर काट कर लक्ष्मणजी ने गिरा दिया ॥२॥

पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा । स्यन्दन भञ्जि सारथी मारा ॥
सत सत सर मारे दस भाला । गिरि-सृङ्गन्ह जनु प्रबिसहिं ब्याला ॥३॥

फिर अपने बाणों को प्रहार किया, रथ चूर चूर कर के सारथी को मार डाला। रावण

के दसों मस्तकों में सौ सौ बाण मारे, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों पर्वत के शिखरों में साँप घुस रहे हों ॥३॥

सत सर पुनि मारा उर माहीं । परेउ अवनितल सुधि कछु नाहीं ॥
उठा प्रबल पुनि मुरछा जागी । छाड़िसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी ॥४॥

फिर सौ बाण उसकी छाती में मारा, धरती पर गिर पड़ा कुछ होश नहीं रह गया। फिर वह महा बली राक्षस मूर्छा से जाग कर उठा और ब्रह्मा ने जो उसे साँगी दी थी, वह चलाया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

सो ब्रह्म-दत्त प्रचंड सक्ति अनन्त उर लागी सही ।
परयो बीर बिकल उठाव दसमुख, अतुल बल महिमा रही ॥
ब्रह्मांड-भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रज-कनी ।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन, जान नहिँ त्रिभुवन-धनी ॥९॥

वह ब्रह्मा की दी हुई तीव्र शक्ति ठीक लक्ष्मणजी की छाती में जा लगी। वीरलक्ष्मण विकल हो गये, जिस रावण के भुजाओं के बल की अप्रमेय महिमा थी, वह उठाने लगा। जिनके एक मस्तक पर भूमण्डल-लोक जैसे धूल के किनके की तरह विराजता है। उनको मूर्ख रावण उठाना चाहता है, यह नहीं जानता कि ये तीनों लोकों के स्वामी हैं ॥९॥

अतुल बलवान रावण के उठाने से न उठना जिनके एक मस्तक पर सारा ब्रह्माण्ड रज-कण के समान विराजता है। इस कथन में रावण और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध से लक्ष्मणजी की गुरुता और महिमा वर्णन में अतिशयोक्ति की गई है, यह 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

दो०—देखि पवन-सुत धायेउ, बोलत बचन कठोर ।
आवत कपिहि हनेउ तेहि, मुष्टि-प्रहार प्रघोर ॥८३॥

यह देख कर कठोर वचन कहते हुए पवनकुमार दौड़े। हनूमानजी को आते ही उसने बड़े ज़ोर से घूँसा मारा ॥८३॥

चौ०—जानु टेकि कपि भूमि न गिरा । उठा सँभारि बहुत रिस भरा ॥
मुठिका एक ताहि कपि मारा । परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा ॥१॥

हनुमानजी धरती पर गिरे नहीं घुटने टेक कर सँभल गये और अत्यन्त क्रोध में भरकर उठे। पवनकुमार ने उसको एक घूँसा मारा, वह ऐसा मालूम हुआ मानों पर्वत पर वज्र की चोट पड़ी हो ॥१॥

मुरछा गइ बहोरि सो जागा । कपि बल बिपुल सराहन लागा ॥
धिग धिग मम पौरुष धिग मोही । जौं तैं जियत उठेसि सुर द्रोही ॥२॥

मूर्छा जाती रही, फिर वह जगा। और हनुमानजी के बल की बड़ी बड़ाई करने लगा। पवनकुमार ने कहा—अरे सुर द्रोही! यदि तू मेरे मारने पर भी जीता उठ गया तो मुझको धिक्कार है और मेरे पुरुषार्थ को धिक्कार है! धिक्कार है! ॥२॥

चोट से दुखी हो कर शत्रु बड़ाई करता है, वह अनुचित और अयथार्थ होने से रसाभास है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष में कपि की प्रशंसा के बहाने अपने पुरुषार्थ की बड़ाई करता है।

असकहि लछिमन कहँ कपि ल्यायो । देखि दसानन बिसमय पायो ॥
कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता । तुम्ह कृतान्त भच्छक सुरत्राता ॥३॥

ऐसा कह कर हनुमानजी लक्ष्मणजी को उठा लाये, देख कर रावण को आश्चर्य्य प्राप्त हुआ (कि या विधाता! इस बन्दर में कितना बल है?)। रघुनाथजी ने कहा हे भाई! अपने मन में समझो, तुम काल के भक्षक और देवताओं की रक्षा करनेवाले हो (उठो) ॥३॥

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला । गइ गगन सो सक्ति कराला ॥
पुनि कोदंड बान गहि धाये । रिपु सनमुख अति आतुर आये ॥४॥

कृपालु रामचन्द्रजी के वचन सुनते ही लक्ष्मणजी उठ कर बैठ गये और वह विकराल शक्ति आकाश को चली गई। फिर धनुष बाण ले कर दौड़े और बहुत जल्दी शत्रु रावण के सामने आये ॥४॥

प्रथम बार लक्ष्मणजी के शक्ति लगी तब बहुत बड़ा आयोजन कर सचेत होना कहा गया और इस बार केवल रामचन्द्रजी के कह देने से मूर्छा रहित हुए, इसका क्या कारण है? उत्तर—पहली बार मनुष्यलीला दिखाने का और इस बार ईश्वरत्व दर्शाने का अभिप्राय है।

हरिगीतिका-छन्द ।

आतुर बहोरि बिभञ्जि स्यन्दन, सूत हति ब्याकुल कियो ।
गिरयो धरनि दसकन्धर बिकलतर, बान सत बेध्यो हियो ॥
सारथी दूसर घालि रथ तेहि, तुरत लङ्का लेइ गयो ।
रघुबीर बन्धु प्रतापपुञ्ज बहोरि, प्रभु चरननिह नयो ॥१०॥

तब शीघ्र ही उन्होंने रथ चूर चूर कर के सारथी को मार व्याकुल कर दिया। रावण के हृदय को सौ बाणों से बेध दिया। जिस से वह अत्यन्त विकल होकर धरती पर गिर पड़ा।

दूसरे सारथी ने उसे रथ में डाल कर तुरन्त लङ्का को ले गया। प्रताप के राशि रघुनाथजी के भाई लौट कर स्वामी के चरणों में मस्तक नवाया ॥१०॥

दो०—उहाँ दसानन जागि करि, करइ लाग कछु जज्ञ ।
राम बिरोध बिजय चहत, सठ हठ-बस अति-अज्ञ ॥८४॥

वहाँ रावण जाग कर कुछ यज्ञ करने लगा। वह दुष्ट हठी महा अज्ञानी रामचन्द्रजी से विरोध करके अपनी जीत चाहता है! ॥८४॥

चौ०—इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई । सपदि जाइ रघुपतिहि सुनाई ॥
नाथ करइ रावन एक जागा । सिद्ध भये नहिँ मरिहि अभागा ॥१॥

यहाँ विभीषण ने सब ख़बर पा ली, उन्हों ने तुरन्त जा कर रघुनाथजी को सुना दी कि—हे नाथ! रावण एक यज्ञ करता है, पूर्ण होने पर वह अभागा न मरेगा ॥ १ ॥

पठवहु देव बेगि भट बन्दर । करहिँ बिधंस आव दसकन्धर ॥
प्रात होत प्रभु सुभट पठाये । हनुमदादि अङ्गद सब धाये ॥२॥

हे देव! शीघ्र बन्दर वीरों को भेजिए, वे यज्ञ का नाश करें जिसमें रावण रणाङ्गन में आवे। सवेरा होते ही प्रभु रामचन्द्रजी ने योद्धाओं को भेजा, हनूमान अङ्गद आदि सब वीर दौड़े ॥२॥

कौतुक कूदि चढ़े कपि लङ्का । पैठे रावन भवन असङ्का ॥
जग्य करत जबहीँ सो देखा । सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेखा ॥३॥

बन्दर खेल से कूद कर लङ्का गढ़ पर चढ़ गये और निर्भय रावण के मन्दिर में पैठे। ज्यों ही उसको यज्ञ करते देखा, त्यों ही समस्त बन्दरों को बड़ा क्रोध हुआ ॥३॥

रन तेँ निलज भाजि गृह आवा । इहाँ आइ बक-ध्यान लगावा ॥
अस कहि अङ्गद मारेउ लाता । चितव न सठ स्वारथ मन राता ॥४॥

अंगद ने कहा—अरे निर्लज्ज! रण से भाग कर घर आया और यहाँ आ कर बकुलिया ध्यान लगाया है? ऐसा कह कर लात मारा, पर उस दुष्ट का मन स्वार्थ में लगा है, इससे आँख उठा कर देखता नहीं (यज्ञ की क्रिया में संलग्न हो रहा है) ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

नहिँ चितव जब करि कोप कपि गहि, दसन्ह लातन्ह मारहीँ ॥
धरि केस नारि निकारि बाहेर, तेति दीन पुकारहीँ ॥

तब उठेउ क्रुद्ध कृतान्त सम गहि,-चरन बानर डारई ।
एहि बीच कपिन्ह बिधंसकृत मख, देखि मन महँ हारई ॥११॥

जब नहीं निहारता, तब क्रोध कर वानर दाँतों से काटते और लातों से मारते हैं। स्त्रियों के केश पकड़ कर बाहर घसीट लाये, वे अत्यन्त दुःख भरी वाणी से चिल्लाती हैं। तब रावण क्रोधित हो कर उठा और काल के समान वानरों की टाँग पकड़ कर पटकने लगा। इसी बीच में बन्दरों ने यज्ञ का सत्यानाश कर डाला, यह देख कर मन में हार गया ॥ ११ ॥

रावण से शत्रुता के कारण स्त्रियों को सताना, शत्रुपक्षीय 'प्रत्यनीक अलंकार' है। इस प्रसङ्ग को रामचन्द्रिका में केशवदास ने सामान्य अलंकार में बहुत ही मनोरम वर्णन किया है। यथा—भजी देखि के शङ्कि लङ्केश बाला। दुरी दौरि मन्दोदरी चित्रशाला ॥ तहाँ दौरिगो बालि को पूत फूल्यो। सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो ॥ १ ॥ गहै दौरि जाको तजै ताकि ताको। तजै जा दिशा को भजै बाम ता को ॥ भलै कै निहारी सबै चित्र सारी। लहै सुन्दरी क्यों दरी को बिहारी ॥ २ ॥

दो०—जग्य बिधंसि कुसल कपि, आये रघुपति पास ।
चलेउ लङ्कपति क्रुद्ध होइ, त्यागि जिवन कै आस ॥८५॥

यज्ञ विध्वंश कर के वानर-गण कुशल-पूर्वक रघुनाथजी के पास आये। रावण जीने की आशा त्याग क्रोधित हो कर चला ॥ ८५ ॥

चौ०—चलत होहिँ अति असुभ भयङ्कर। बैठहिँ गीध उड़ाइ सिरन्ह पर ॥
भयउ काल-बस-काहु न माना। कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना ॥१॥

चलते समय बड़े भयङ्कर अशकुन हो रहे हैं, गिद्ध उड़ कर सिरों पर बैठ जाते हैं। पर वह काल के अधीन हो गया है किसी को नहीं माना, कहा कि युद्ध का डङ्का बजाओ ॥ १ ॥

चली तमीचर अनी अपारा। बहु गज-रथ-पदाति-असवारा ॥
प्रभु सनमुख धाये खल कैसे। सलभ-समूह अनल कहँ जैसे ॥२॥

राक्षसों की अपार सेना चली, उसमें बहुत से हाथी, रथ, पैदल और सवार हैं। प्रभु रामचन्द्रजी के सामने वे दुष्ट कैसे दौड़े जैसे समूह पाँखी अग्नि की ओर दौड़ती हैं ॥२॥

इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुन बिपति हमहिँ एहि दीन्ही ॥
अब जनि राम खेलावहु एही। अतिसय दुखित होति बैदेही ॥३॥

यहाँ देवताओं ने स्तुति करके कहा कि इसने हम लोगों को भीषण कष्ट दिया है। हे रामचन्द्रजी! अब इसको मत खेलाइये, (जल्दी बध कीजिये) जानकीजी अत्यन्त दुःखित हो रही हैं ॥३॥

जानकीजी को दुखी कह कर अपने दुःख दूर करने की प्रार्थना करने में पर्य्यायोक्ति की ध्वनि है।

देव बचन सुनि प्रभु मुसुकाना । उठि रघुबीर सुधारे बाना ॥
जटा-जूट दृढ़ बाँधे माथे । सोहहिँ सुमन बीच बिच गाथे ॥४॥

देवताओं की बात सुन कर प्रभु मुस्कुराये, फिर रघुनाथजी ने उठ कर अपने बाण सुधारे। मस्तक पर मजबूत जटा का जूड़ा बाँधा, उसके बीच बीच में फूल गुथे हुए शोभित हो रहे हैं ॥४॥

अरुन-नयन वारिद-तनु-स्यामा । अखिल-लोक लोचन-अभिरामा ॥
कटि तट परिकर कसे निषङ्गा । कर कोदंड कठिन सारङ्गा ॥५॥

लाल आँखें, बादल के समान श्याम शरीर जो सम्पूर्ण लोगों के नेत्रों को आनन्द देनेवाले हैं। कमर में दुपट्टा से तरकस कसे हुए और हाथ में कठिन शार्ङ्ग धनुष लिए हुए हैं ॥५॥

हरिगीतिका-छन्द ।

सारङ्ग कर सुन्दर निषङ्ग सिलीमुखाकर कटि कस्यो ।
भुजदंड पीन मनोहरायत,-उर-धरासुर-पद-लस्यो ॥
कह दासतुलसी जबहिँ प्रभु सर,-चाप कर फेरन लगे ।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि, सिन्धु भूधर डगमगे ॥१२॥

हाथ में सुन्दर शार्ङ्ग-धनुष और कमर में बाणों की खान रूपी तरकस कसे हैं। मोटे भुजदण्ड शोभायमान हैं, छाती विस्तीर्ण है, उस पर ब्राह्मण के चरण का चिह्न (भृगुलता) शोभित है। तुलसीदासजी कहते हैं—प्रभु रामचन्द्रजी जब हाथों में धनुष बाण फेरने लगे तब सारा ब्रह्माण्ड दिशाओं के हाथी, कच्छप, शेष, पृथ्वी, समुद्र और पर्वत डगमगाने लगे ॥१२॥

दो०—हरषे देव बिलोकि छबि, बरषहिँ सुमन अपार ।
जय जय प्रभु गुन-ज्ञान-बल,-धाम हरन महि भार ॥८६॥

देवता यह छबि देख कर प्रसन्न हुए और अपार फूलों की वर्षा करते हैं। गुण, ज्ञान, बल के धाम और धरती का भार हरनेवाले प्रभु रामचन्द्रजी की जय जयकार मनाते हैं ॥८६॥

चौ०—एही बीच निसाचर अनी । कसमसात आई अति घनी ॥
देखि चले सनमुख कपि-भट्टा । प्रलयकाल के जनु घन-घट्टा ॥१॥

इसी बीच में बहुत घनी राक्षसी सेना कसमसाती हुई आई। उसे देख कर वानर-योद्धा सामने चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों प्रलय काल के बादल हों ॥१॥

बहु कृपान तरवारि चमङ्कहिँ । जनु दसदिसि दामिनी दमङ्कहिँ ॥
गज-रथ-तुरग चिकार कठोरा । गर्जहिँ मनहुँ बलाहक घोरा ॥२॥

बहुत सी कटार और तलवारें चमकती हैं वे ऐसी जान पड़ती हैं मानों दसों दिशाओं

में बिजली चमक रही हो। हाथी, रथ और घोड़ों का भीषण चीत्कार ऐसा मालूम होता है, मानों मेघ भयङ्कर गर्जना करते हों ॥२॥

कपि लङ्गूर बिपुल नभ छाये । मनहुँ इन्द्रधनु उये सुहाये ॥
उठइ धूरि मानहुँ जल-धारा । बान बुन्द भइ बृष्टि अपारा ॥३॥

वानरों की पूँछ आकाश में ऐसी छा रही है, मानों सुहावना इन्द्र-धनुष उदय हुआ हो। धूल का उमड़ना मानों जलधारा है, बाण रूपी अपार बून्दों की वर्षा हो रही है ॥३॥

दुहुँ दिसि पर्बत करहिँ प्रहारा । बज्रपात जनु बारहिँ बारा ॥
रघुपति कोपि बान झरि लाई । घायल भे निसिचर समुदाई ॥४॥

दोनों ओर से पहाड़ों के प्रहार किये जाते हैं, वही मानों बार बार बिजली का गिरना है। रघुनाथजी ने क्रोध कर के बाणों की झड़ी लगा दी, जिससे असंख्यों राक्षस घायल हुए ॥४॥

लागत बान बीर चिक्करहीं । घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं ॥
स्रवहिँ सैल जनु निर्झर बारी । सोनित-सरि कादर भयकारी ॥५॥

बाण लगने से वीर चिग्घाड़ते हैं और घूम घूम कर जहाँ तहाँ धरती पर गिरते हैं। उनके शरीर से रक्त बहता है, वह ऐसा मालूम होता है मानों पर्वतों से झरना का पानी बहता हो, खून की नदी कादरों को भय उत्पन्न करनेवाली है ॥ ५ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

कादर भयङ्कर रुधिर सरिता, चली परम-अपावनी ।
दोउ कूल-दल रथ-रेत चक्र,-अवर्त्त बहति भयावनी ॥
जलजन्तु गज-पदचर-तुरग-खर, बिबिध बाहन को गनै ।
सर-सक्ति-तोमर-सर्प चाप-तरङ्ग चर्म-कमठ घने ॥ १३ ॥

कादरों को भयभीत करनेवाली अत्यन्त अपवित्र खून की भयावनी नदी बहती हुई चली। दोनों दल किनारे हैं, रथ रेती है और पहिये भँवर हैं। हाथी, पैदल, घोड़ा, गदहा आदि अनेक प्रकार की सवारियाँ जिनकी गणना कौन कर सकता है वे ही जल-जीव हैं। बाण, साँगी और भाला सर्प हैं, धनुष लहरें तथा ढाल असंख्यों कछुए हैं ॥ १३ ॥

दो०—बीर परहिँ जनु तीर तरु, मज्जा बहु बह फेन ।
कादर देखि डराहिँ तेहि, सुभटन्ह के मन चेन ॥८७॥

योद्धा गिरते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों किनारे के वृक्ष ढहते हों। बहुत सी चर्बी बहती है वह मानों फेन है उसे देख कर कादर डरते हैं और योद्धाओं के मन में प्रसन्नता होती है ॥ ८७ ॥

चौ०—मज्जहिँ भूत-पिसाच-बेताला । प्रथम महा झोटिङ्ग कराला ॥
काक कङ्क लै भुजा उड़ाहीँ । एक ते छीनि एक लेइ खाहीँ ॥१॥

भूत, पिशाच, बेताल और बड़े झोंटेवाले प्रमथ (भूतों की जात) स्नान करते हैं। कौआ और चील्ह बाँह ले कर उड़ते हैं, एक से छीन दूसरे उसे लेकर खाते हैं ॥ १ ॥

एक कहहिँ ऐसिउ सौँघाई । सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई ॥
कहँरत भट घायल तट गिरे । जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल परे ॥२॥

एक कहते हैं—अरे मूर्खो! (रक्त मांस की) इतनी अधिकता होने पर भी तुम्हारा दरिद्र नहीं जाता है? घायल हो कर गिरे हुए योद्धा कहरते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों जहाँ तहाँ किनारे पर आधजल में पड़े हैं ॥ २ ॥

प्राण कण्ठगत होने पर जब जीने की आशा नहीं रहती तब उसे लोग नदी में आधा शरीर जल तथा आधा थल में कर के लिटा देते हैं उसको अधजल कहते हैं।

खैँचहिँ गीध आँत तट भये । जनु बनसी खेलहिँ चित दये ॥
बहु भट बहहिँ चढ़े खग जाहीँ । जनु नावरि खेलहिँ सरि माहीँ ॥३॥

गिद्ध अँतड़ी खींचते हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों तीर पर मन लगाये शिकारी बंसी खेल रहे हों। बहुत से योद्धाओं की लाश रक्तप्रवाह में बहती हैं, उन पर पक्षी बहे जाते हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों नदी में नावरि नाव की एक क्रीड़ा जिसमें उसे नदी के (बीच में ले जा कर चक्कर देते हैं) खेलते हों ॥ ३ ॥

जोगिनि भरि भरि खप्पर सञ्चहिँ । भूत-पिसाच-बधू नभ नञ्चहिँ ॥
भट कपाल करताल बजावहिँ । चामुंडा नाना बिधि गावहिँ ॥४॥

योगिनियाँ खोपड़ियों में भर भर कर लोहू सञ्चित करती हैं, भूत-पिशाचों की स्त्रियाँ आकाश में नाचती हैं। वीरों के कपालों को हाथ से बजाती हैं और उस पर ताल देती हैं, चामुण्डाएँ अनेक तरह के गीत गाती हैं ॥ ४ ॥

जम्बुक निकर कटक्कट कट्टहिँ । खाहिँ हुआहिँ अघाहिँ दपट्टहिँ ॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोलहिँ । सीस परे महि जय जय बोलहिँ ॥५॥

झुण्ड के झुण्ड सियार कटकटा कर आपस में काट करते हैं, खाते हैं, हौंहाते हैं, अघा कर दूसरों को डराते हैं। करोड़ों धड़ें बिना सिर के डोलती हैं और धरती पर पड़े हुए मस्तक जय जय शब्द बोल रहे हैं ॥ ५ ॥

सिर कट जाने पर धड़ों का डोलना तथा सिरों का बोलना, अपूर्ण कारण से कार्य्य की पूर्त्ति होना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द ।

बोलहिँ जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं ।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहिँ, सुभट भटन्ह ढहावहीं ॥
निसिचर बरूथ बिमर्दि गर्जहिँ, भालु कपि दर्पित भये ।
सङ्ग्राम-अङ्गन सुभट सोवहिँ, राम-सर निकरन्हि हये ।१४॥

सिर तो जय जय बोलते हैं और बिना मस्तक की धड़ें प्रचण्ड वेग से दौड़ रही हैं। खोपड़ियों पर पक्षी उलझ कर लड़ते हैं, अच्छे योद्धा भटों को गिरा रहे हैं। वानर और भालू क्रोधित हुए झुण्ड के झुण्ड राक्षसों का संहार कर गर्जते हैं। रणभूमि में रामचन्द्रजी के समूह बाणों से ध्वंस होकर राक्षस-भट सोते जा रहे हैं ॥ १४ ॥

इस प्रकरण में घृणा स्थायीभाव है मुर्दों का ढेर और भूत प्रेतादि का दर्शन आलम्बन विभाव है, गीधों का आँत खींचना, सियारों का माँस खाना और पिशाचिनियों का रक्तपान करना आदि उद्दीपन विभाव है। इस भाषण घटना को देख धैर्यहत होना, रोमाञ्च हो आना अनुभाव है। आवेग, मोह, अपस्मारादि सञ्चारीभावों से परिपूर्ण 'वीभत्स रस' हुआ है। इस प्रसंग में कविजी ने वर्षा का साङ्गरूपक वर्णन किया है।

दो०—रावन हृदय बिचारा, भा निसिचर संहार ।
मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार ।८८॥

रावण ने मन में सोचा कि राक्षसों का संहार हो गया। अब मैं अकेला हूँ और वानर भालू बहुत हैं, इसलिये गहरी माया करूँ ॥८८॥

चौ०—देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा । उपजा उर अति छोभ बिसेखा ॥
सुरपति निज-रथ तुरत पठावा । हरष सहित मातलि लेइ आवा ॥१॥

देवताओं ने प्रभु रामचन्द्रजी को पैदल देखा, उनके मन में बहुत बड़ा भय उत्पन्न हुआ। देवराज-इन्द्र ने तुरन्त अपना रथ भेजा, प्रसन्नता के साथ मातलि (इन्द्र का सारथी) उसको लेकर आया ॥१॥

यहाँ लोग शंका करते हैं कि इतना युद्ध हो जाने पर तब देवताओं ने रघुनाथजी को पैदल देखा, इसका कारण क्या है? उत्तर अबतक—रावण से मुठभेड़ नहीं हुई। राक्षसों के वध में लगे थे, जब रावण से लड़ने का समय आया तब पैदल देख कर इन्द्र ने रथ भेजा। अथवा जबतक रावण के सहायक योद्धा मौजूद थे तबतक भय के कारण शंका बनी थी, इससे उन्हें सूझ नहीं पड़ा। जब रावण अकेला हो गया तब शंका और भय जाता रहा, मन में भरोसा हुआ कि रामचन्द्रजी अवश्य ही रावण का वध करेंगे, तब रथ भेजा।

तेजपुञ्ज रथ दिव्य अनूपा । हरषि चढ़े कोसलपुरभूपा ॥
चञ्चल तुरग मनोहर चारी । अजर अमर मन सम गतिकारी ॥२॥

तेज की राशि दिव्य अनुपम रथ पर अयोध्यापुरी के राजा हर्ष-पूर्वक चढ़े। उसके चारों

घोड़े चञ्चल और मनोहर हैं, वे अजर अमर (बुढ़ाई एवम् मृत्यु से रहित) मन के समान वेगवाले हैं ॥२॥

रथारूढ़ रघुनाथहि देखी । धाये कपि बल पाइ बिसेखी ॥
सही न जाइ कपिन्ह कै मारी । तब रावन माया बिस्तारी ॥३॥

रघुनाथजी को रथ पर सवार देख वानर विशेष बल पा कर दौड़े । जब बन्दरों की मार नहीं सही गई, तब रावण ने माया फैलाई ॥३॥

सो माया रघुबीरहि बाँची । लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची ॥
देखी कपिन्ह निसाचर अनी । अनुज सहित बहु कोसलधनी ॥४॥

उस माया से केवल रघुनाथजी बचे रहे, लक्ष्मण और बन्दरों ने उसे सच मान लिया । वानरों ने देखा कि राक्षस की सेना में छोटे भाई के सहित बहुत से रामचन्द्र चले आ रहे हैं ॥४॥

सभा की प्रति में 'सब काहु मानी करि साँची' पाठ है ।

हरिगीतिका-छन्द ।

बहु राम लछिमन देखि मर्कट,-भालु मन अति अपडरे ।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन, जहँ सो तहँ चितवहिं खरे ॥
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर,-चाप सजि कोसलधनी ॥
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मरकट-अनी ॥१५॥

बहुत से राम-लक्ष्मण को देख कर वानर भालू मन में अधिक अपडर गये । जो जहाँ हैं वे वहीं खड़े हो कर लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी को ऐसे देख रहे हैं मानो लिखे हुए चित्र हों । अपनी सेना को आश्चर्य्य में डूबी हुई देख कर कोशलेन्द्र भगवान् हँस कर धनुष पर बाण जोड़े और एक पल में माया को हर लिया, यह देख कर समस्त वानरी सेना प्रसन्न हुई ॥१५॥

दो०—बहुरि राम सब तन चितइ, बोले बचन गँभीर ।
द्वन्द-जुद्ध देखहु सकल, स्रमित भये अति बीर ॥८९॥

फिर रामचन्द्रजी सब की ओर देख कर गम्भीर वचन बोले । हे वीरो ! तुम लोग बहुत थक गये हो, अब (विश्राम करो हमारा और रावण) दोनों का युद्ध देखो ॥८९॥

चौ०—अस कहि रथ रघुनाथ चलावा । बिप्र-चरन-पङ्कज सिर नावा ॥
तब लङ्केस क्रोध उर छावा । गर्जत तर्जत सनमुख धावा ॥१॥

ऐसा कह कर रघुनाथजी ने ब्राह्मण के चरण-कमलों में मस्तक नवा या और रथ को आगे चलाया । तब लङ्केश्वर के हृदय में क्रोध छा गया, वह गर्जते और डाटते हुए सामने दौड़ा ॥१॥

जीतेहु जे भट समुग माहीं । सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं ॥
रावन नाम जगत जस जाना । लोकप जाके बन्दीखाना ॥२॥

रावण ने कहा—अरे तपस्वी! सुन, जिन वीरों को तू ने समर में जीत लिया है मैं उनके समान नहीं हूँ। मेरा रावण नाम है और मेरे यश को संसार जानता है कि जिसके कैदखाने में लोकपाल (इन्द्रादि) बन्दी हैं ॥२॥

योद्धापन प्रसिद्ध वस्तु है, उसको रावण प्रत्यक्ष निषेध करता है कि मैं उन वीरों में नहीं हूँ जिनको तुमने समर में जीत लिया 'प्रतिषेध अलंकार' है।

खर-दूषन-कबन्ध तुम्ह मारा । बधेहु व्याध इव बालि बिचारा ॥
निसिचर-निकर सुभट संहारेहु । कुम्भकरन घननादहि मारेहु ॥३॥

तुमने खर, दूषण और कबन्ध को मार डाला, बेचारे बाली को व्याधा की तरह (छिप कर धोखे से) वध किया। बड़े बड़े वीर राक्षसों का संहार कर के कुम्भकर्ण और मेघनाद को मार डाला ॥३॥

आजु बयर सब लेउँ निबाही । जौं रन भूप भाजि नहिं जाही ॥
आजु करउँ खलु काल-हवाले । परेहु कठिन रावन के पाले ॥४॥

आज सब का बैर चुका लूँगा, अरे भूप! यदि तू रणभूमि से भाग न जायगा। आज निश्चय ही तुझे काल के हवाले करूँगा, कठिन (भट) रावण के पाले पड़े हो ॥४॥

बचना कठिन है, यह व्यंगार्थ और वाच्यार्थ बराबर होने से गुणीभूत व्यंग है।

सुनि दुर्बचन काल-बस जाना । बिहँसि बचन कह कृपानिधाना ॥
सत्य सत्य सब तव प्रभुताई । जलपसि जनि देखाउ मनुसाई ॥५॥

रावण के दुर्वचन को सुन कर उसको काल के वश जान कृपानिधान रामचन्द्रजी हँस कर वचन बोले। तेरी महिमा सब सत्य है, पर बक मत, बहादुरी कर के दिखा ॥५॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जनि जल्पना करि सुजस नासहि, नीति सुनहि करहि छमा ।
संसार महँ पूरुष त्रिबिधि पाटल रसाल पनस समा ॥
एक-सुमन-प्रद एक-सुमन-फल एक, फलइ केवल लागही ॥
एक-कहहिं कहहिं-करहिं अपर एक, करहिं कहत न बागही ॥१६॥

व्यर्थ बकवाद कर के अपना सुयश न नसा, नीति सुनकर सन्तोष ग्रहण कर। संसार में गुलाब, आम और कटहर की तरह तीन प्रकार के पुरुष हैं। एक फूल देनेवाले, एक फूल और फल देनेवाले, एक में केवल फल ही लगते हैं (फूल नहीं)। उसी तरह—एक कहते

हैं, (पर करते नहीं) एक कहते हैं और उसे करते हैं, अन्य तीसरे—करते हैं, पर वे वाणी से कहते नहीं ॥१९॥

पहले गुलाब, आम और कटहर का नाम ले कर फिर उसी क्रम से केवल फूल देनेवाला फूल-फल देनेवाला और केवल फल देनेवाला 'यथासंख्य अलंकार' है। क्योंकि गुलाब में फूल आता है पर फल नहीं लगता, आम में फूल-फल दोनों होते हैं और कटहर में फूल नहीं, खाली फल लगता है। वैसे ही एक कहते भर हैं, दूसरे कह कर करते हैं और तीसरे कहते नहीं कर के दिखाते हैं। इस में गूढ़ अभिप्राय रावण को व्यर्थ बकवाद से विरत हो शूरता प्रदर्शित करने की उत्तेजना देने का भाव 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

दो०—राम बचन सुनि बिहँसा, मोहि सिखावत ज्ञान ।
बयर करत नहिँ तब डरे, अब लागे प्रिय प्रान ॥९०॥

रामचन्द्रजी की बात सुन कर रावण हँसा और कहने लगा कि तू मुझे ज्ञान सिखाता है? वैर करते हुए तब नहीं डरा अब प्राण प्यारा लग रहा है? ॥९०॥

रामचन्द्रजी की अपेक्षा विद्या और बल में रावण का अपने में अधिकत्व मानना 'गर्व सञ्चारी भाव' है।

चौ०—कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकन्धर । कुलिस समान लाग छाड़इ सर ॥
नानाकार सिलीमुख धाये । दिसि अरु बिदिसि गगन महि छाये ॥१॥

दुर्वाक्य कह कर क्रोधित हो रावण वज्र के समान बाण छोड़ने लगा। अनेक आकार वाले बाण दौड़े, वे दिशा-विदिशा, आकाश और पृथ्वी में छा गये ॥१॥

पावक-सर छाड़ेउ रघुबीरा । छन महँ जरे निसाचर तीरा ॥
छाड़ेसि तीव्र सक्ति खिसियाई । बान सङ्ग प्रभु फेरि पठाई ॥२॥

रघुनाथजी ने अग्नि-बाण छोड़े, जिससे क्षणमात्र में राक्षस के तीर जल गये। तब खिसिया कर तीक्ष्ण साँगी चलाया, प्रभु रामचन्द्रजी ने बाण के साथ उसे लौटा कर भेज दिया ॥२॥

कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ । बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ ॥
निफल होहिँ रावन सर कैसे । खल के सकल मनोरथ जैसे ॥३॥

करोड़ों चक्र और त्रिशूल फेंकता है, प्रभु रामचन्द्रजी बिना परिश्रम ही उन्हें काट कर गिरा देते हैं। रावण के बाण कैसे निष्फल हो रहे हैं, जैसे दुष्टों के सम्पूर्ण मनोरथ व्यर्थ होते हैं ॥३॥

तब सत बान सारथी मारेसि । परेउ भूमि जय राम पुकारेसि ॥
राम कृपा करि सूत उठावा । तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा ॥४॥

तब रावण ने सौ बाण सारथी को मारा, वह रामचन्द्रजी की जय पुकार कर भूमि पर गिर पड़ा। रामचन्द्रजी ने कृपा कर के मातलि को उठाया, तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति, त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड-धुनि अति-चंड सुनि मनुजाद भय मारुत ग्रसे॥
मन्दोदरी-उर-कम्प कम्पति,-कमठ-भू-भूधर त्रसे।
चिक्करहिँ दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे॥१७॥

रघुनाथजी वैरभाव से युद्ध में क्रोधित हुए, उनके तरकस के बाण हिलने डोलने लगे। धनुष की अत्यन्त भीषण ध्वनि को सुन कर राक्षस भय के वायु से ग्रस गये। मन्दोदरी का हृदय काँपने लगा, समुद्र, कच्छप, पृथ्वी और पर्वत त्रस्त हुए। दिशाओं के हाथी दाँतों से धरती को पकड़ कर चिग्घाड़ते हैं यह तमाशा देख कर देवता-गण हँस रहे हैं॥१७॥

दो०—तानेउ चाप स्रवन लगि, छाँड़े बिसिख कराल।
राम-मारगन-गन चले, लहलहात जनु ब्याल॥९१॥

कान पर्य्यन्त धनुष तान कर विकराल बाण छोड़े। रामचन्द्रजी के समूह बाण चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों लहलहाते हुए साँप जा रहे हों॥ ९१॥

चौ०—चले बान सपच्छ जनु उरगा। प्रथमहिँ हतेउ सारथी तुरगा॥
रथ बिभञ्जि हति केतु पताका। गरजा अति अन्तरबल थाका॥१॥

बाण चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों पक्षधर साँप हों, पहले सारथी और घोड़ों का नाश किया। रथ चूर चूर कर के झण्डी और झण्डों को काट गिराया, तब रावण के अन्तःकरण का बल थक गया और वह बड़े ज़ोर से गर्जा॥ १॥

तुरत आन रथ चढ़ि खिसिआना। अस्त्र सस्त्र छाँड़ेसि बिधि नाना॥
बिफल होहिँ सब उद्यम ता के। जिमि पर-द्रोह-निरत-मनसा के॥२॥

तुरन्त दूसरे रथ पर चढ़ कर क्रोध से भरा हुआ नाना तरह के अस्त्र शस्त्र मारने लगा। उसके समस्त उद्योग कैसे विफल हो रहे हैं, जैसे पराये के द्रोह में तत्पर प्राणी की मनशा निष्फल होती है॥ २॥

तब रावन दस सूल चलावा। बाजि चारि महि मारि गिरावा॥
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैँचि सरासन छाँड़े सायक॥३॥

तब रावण ने दस त्रिशूल चलाया, उससे चारों घोड़ों को मार कर ज़मीन पर गिरा दिया। तुरन्त घोड़ों को उठा कर रघुनाथजी ने क्रोधित हो धनुष तान कर बाण छोड़े॥ ३॥

रावन सिर-सरोज-बन-चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥
दस दस बान भाल दस मारे। निसरि गये चले रुधिर पनारे॥४॥

रावण के मस्तक रूपी कमल-वन में विचरनेवाले रघुनाथजी के बाण रूपी भ्रमरों के

भुण्ड चले । दसों मस्तकों में दस बाण मारे, वे सिरों को वेध कर पार निकल गये और रक्त के पनारे बह चले ॥ ४ ॥

रामबाण पर शिलीमुख (भ्रमर) का आरोप इसलिए किया गया कि रावण के सिरों पर कमलवन का आरोप कर चुके हैं 'परम्परित रूपक' है और 'शिलीमुख' शब्द श्लेषार्थी है 'बाण तथा भ्रमर' दोनों का बोधक है। गोसाँईजी कहते हैं—जैसे भ्रमर कमल वन की ओर दौड़ कर जाते और उस में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार रामचन्द्रजी के बाण रावण के सिरों में घुसने लगे; किन्तु कविजी का लक्ष्य बाण से है न कि भ्रमर से, इसलिए शब्द 'श्लेषालंकार' है ।

स्रवत रुधिर धायउ बलवाना । प्रभु पुनि कृत धनु सर सन्धाना ॥
तीस तीर रघुबीर पबारे । भुजन्ह समेत सीस महि पारे ॥५॥

बलवान रावण रक्त बहते हुए दौड़ा, फिर प्रभु ने धनुष पर बाणों का सन्धान किया। रघुनाथजी ने तीस बाण चलाये, उन बाणों ने रावण की बीसों भुजाओं के समेत दसों सिरों को काट कर धरती पर गिरा दिया ॥ ५ ॥

काटतहीं पुनि भये नबीने । राम बहोरि भुजा सिर छीने ॥
कटत झटिति पुनि नूतन भये । प्रभु बहु बार बाहु सिर हये ॥६॥

काटते ही फिर नये हो गये, फिर रामचन्द्रजी ने भुजाओं और सिरों को काटे। काटते ही झटपट फिर नवीन हुए, प्रभु ने असंख्यों बार बाहु सिर काटे ॥ ६ ॥

कारण से विरुद्ध कार्य का प्रकट होना अर्थात् बाहु सिर कटने पर भी नवीन उत्पन्न होते जाना 'पञ्चम विभावना अलंकार' है ।

पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा । अति कौतुकी कोसलाधीसा ॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू । मानहुँ अमित केतु अरु राहू ॥७॥

फिर फिर प्रभु रामचन्द्रजी भुजा और सिर काटते हैं, कोशलेश्वर भगवान बड़े खेलवाड़ी हैं। आकाश में सर्वत्र सिर और बाहु छा रहे हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों बहुत से केतु तथा राहु हों ॥ ७ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जनु राहु केतु अनेक नभ पथ, स्रवत सोनित धावहीं ।
रघुबीर तीर प्रचंड लागहिँ, भूमि गिरन न पावहीं ॥
एक एक सर सिर निकर छेदे, नभ उड़त इमि सोहहीं ।
जनु कोपि दिनकर-कर-निकर जहँ,-तहँ बिधुन्तुद पोहहीं ॥१८॥

मानों असंख्यों राहु केतु आकाश-मार्ग में ख़ून बहते हुए दौड़ रहे हैं। रघुनाथजी के तीव्र बाण लगने से वे गिरने नहीं पाते हैं। एक एक बाण प्रत्येक सिरों में धँसे हुए आसमान में देखे

शोभित हो रहे हैं, मानों सूर्य्य कुपित हो कर अपनी समूह किरणों से जहाँ तहाँ राहु को छेद (कर माला बना) रहे हों ॥ १८ ॥

राहु केतु का आकाश में दौड़ना सिद्ध आधार है, वे राम-बाणों से बिधे हैं इनसे गिरने नहीं पाते। इस अहेतु को हेतु ठहराकर उत्प्रेक्षा करना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है और दूसरी सूर्य्य की किरणों से राहु का पोहा जाना असिद्ध आधार है, इस अहेतु में हेतु की कल्पना करना 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—जिमि जिमि प्रभु हर तासु सिर, तिमि तिमि होहिँ अपार।
सेवत बिषय बिबर्द्ध जिमि, नित नित नूतन मार ॥९२॥

जैसे जैसे प्रभु रामचन्द्रजी उसके सिरों को काटते हैं, तैसे तैसे वे इस तरह अपार बढ़ते जा रहे हैं, जैसे विषय के सेवन से दिन दिन नवीन कामदेव बढ़ता है ॥ ९२ ॥

चौ०—दससुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी ॥
गर्जेउ मूढ़ महा-अभिमानी। धायउ दसउ सरासन तानी ॥१॥

सिरों की बढ़ती देख कर रावण को मरना भूल गया और बड़ा क्रोध हुआ। दसों हाथों में धनुष तान कर वह महा अहङ्कारी मूर्ख गर्ज कर दौड़ा ॥ १ ॥

समर-भूमि दसकन्धर कोप्यो। बरषि बान रघुपति रथ तोप्यो ॥
दंड एक रथ देखि न परेऊ। जनु निहार महँ दिनकर दुरेऊ ॥२॥

रणभूमि में क्रोधित हुआ रावण बाणों की वर्षा करके रघुनाथजी के रथ को ढँक दिया। एक घड़ी पर्य्यन्त रथ देख ही न पड़ा, ऐसा मालूम होता है मानों कुहरे में सूर्य्य छिपे हों ॥२॥

हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा ॥
सर निवारि रिपु के सिर काटे। ते दिसि बिदिसि गगन महि पाटे ॥३॥

जब देवताओं ने हाहाकार किया, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने क्रोध कर धनुष हाथ में लिया। शत्रु के बाणों को निवारण कर उसके सिर काटे, वे दिशा-विदिशा, आकाश और पृथ्वी में भर गये ॥ ३ ॥

काटे सिर नभ-मारग धावहिँ। जय जय धुनि करि भय उपजावहिँ ॥
कहँ लछिमन हनुमान कपीसा। कहँ रघुबीर कोसलाधीसा ॥४॥

कटे हुए सिर आकाश-मार्ग में दौड़ते हैं और जय जय शब्द करके भय उत्पन्न करते हैं। लक्ष्मण कहाँ हैं? हनूमान कहाँ हैं? सुग्रीव कहाँ हैं? अयोध्या नरेश रघुबीर कहाँ हैं? (यह कहते हुए सिर आकाश में उड़ रहे हैं) ॥४॥

निराधार आकाश में शिरों का उड़ना प्रथम विशेष है और कट जाने पर बोलना 'द्वितीय विभावना' है। दोनों की संसृष्टि है।

हरिगीतिका-छन्द।

कहँ राम कहि सिर निकर धाये, देखि मर्कट भजि चले।
सन्धानि धनु रघुबंस-मनि हँसि, सरन्ह सिर बेधे भले॥
सिर-मालिका कर कालिका गहि, बृन्द बृन्दन्हि बहु मिली।
करि रुधिर सरि मज्जन मनहुँ सङ्ग्राम-बट पूजन चली॥१९॥

राम कहाँ हैं? कह कर मस्तकों के झुण्ड दौड़ते हैं, यह देख कर वानर भाग चले। रघुकुल-भूषण ने हँस कर धनुष तान बाणों से उन सिरों को अच्छी तरह छेद दिये। हाथों में मुण्डों की माला लिये झुण्ड की झुण्ड बहुत सी योगिनियाँ मिल कर विहार करती हैं, वे ऐसी मालूम हो रही हैं मानों रक्त की नदी में स्नान कर के युद्ध रूपी बड़ वृक्ष की पूजा करने चली हों॥१९॥

सिरों के अयथार्थ भय से वानरों का भागना भयानक रसाभास है। जेठ कृष्ण अमावस्या को स्त्रियाँ बट वृक्ष का पूजा करती ही हैं, युद्ध को बट का रूपक देकर उसकी उत्प्रेक्षा करना 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।

दो०—पुनि दसकंठ क्रुद्ध होइ, छाड़ी सक्ति प्रचंड।
चली बिभीषन सनमुख, मनहुँ काल कर दंड॥९३॥

फिर क्रोधित हो कर रावण ने तीक्ष्ण साँगी छोड़ी, वह विभीषण के सामने ऐसी चली माना काल का दण्ड हो॥९३॥

चौ०—आवत देखि सक्ति खर धारा। प्रनतारति हर बिरद सँभारा॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला॥१॥

तीव्र धार की साँगी को आते देख कर शरणागतों के दुःख हरने की नामवरी का ख़याल कर के विभीषण को तुरन्त अपने पीछे कर लिया और सामने हो कर रामचन्द्रजी ने उस शक्ति का प्रहार आप सहन किया॥१॥

गुटका 'में' आवत देखि शक्ति अति घोरा। प्रनतारति भञ्जन पन मोरा' पाठ है।

लागि सक्ति मुरछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई॥
देखि बिभीषन प्रभु स्रम पायो। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो॥२॥

शक्ति लगने से कुछ मूर्छा हुई, प्रभु ने खेल किया और देवताओं में, व्याकुलता छा गई। विभीषण ने देखा कि रामचन्द्रजी को कष्ट पहुँचा, वे हाथ में गदा लेकर क्रोधित हो दौड़े॥२॥

रे कुभाग्य सठ मन्द कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥
सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥३॥

विभीषण ने कहा—अरे अभागे, दुष्ट, नीच, खोटी बुद्धिवाले! तू ने देवता, मनुष्य, मुनि

और नागों से विरोध किया । आदर के साथ शिवजी को सिर चढ़ाया, (उसके बदले में) एक एक के करोड़ों पाया ॥३॥

फट फट कर तेरे सिर करोड़ों बार नवीन जमे, यह शङ्करजी की कृपा से हुआ है । यह व्यङ्गार्थ और वाच्यार्थ बराबर होने से तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है ।

तेहि कारन खल अबलगि बाँच्यो । अब तव काल सीस पर नाँच्यो ॥
राम-बिमुख सठ चहसि सम्पदा । अस कहि हनेसि माँझ उर गदा ॥४॥

अरे दुष्ट ! इसी कारण से अबतक बचता आया है, अब काल तेरे सिर पर नाच रहा है । रे मूर्ख ! रामचन्द्रजी से विमुख हो कर सम्पत्ति (कल्याण) चाहता है ? ऐसा कह कर छाती में गदा मारा ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

उर माँझ गदा प्रहार घोर कठोर लागत महि पर्यो ।
दस-बदन-सोनित-स्रवत पुनि सम्भारि धायो रिस भर्यो ॥
दोउ भिरे अतिबल मल्ल-युद्ध बिरुद्ध एक एकहि हनै ॥
रघुबीर-बल दर्पित बिभीषन, घालि नहिँ ता कहँ गनै ॥२०॥

हृदय में कठिन भीषण गदा की चोट लगते ही धरती पर गिर पड़ा । दसों मुखों से खून बहने लगा, फिर सम्हल कर क्रोध से भरा हुआ दौड़ा । दोनों महाबली मल्लयुद्ध में भिड़ गये, वैरभाव से एक दूसरे को मारने लगे । रघुनाथजी के बल से गर्वित विभीषण उसे मार डालने में कुछ नहीं गिनते हैं ॥ २० ॥

दो०—उमा बिभीषन रावनहिँ, सनमुख चितव कि काउ ।
सो अब भिरत काल ज्योँ, श्रीरघुबीर प्रभाउ ॥९४॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! क्या विभीषण कभी रावण के सामने देख सकता था ? (कदापि नहीं) । श्री रघुनाथजी के प्रताप से वही काल की तरह अब भिड़ रहा है ! ॥९४॥
सभा की प्रति में 'भिरत सो काल समान अब' पाठ है ।

चौ०—देखा स्रमित बिभीषन भारी । धायउ हनूमान गिरि-धारी ॥
रथ तुरङ्ग सारथी निपाता । हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता ॥१॥

विभीषण को बहुत थका हुआ देख कर हनूमानजी पहाड़ लिये हुए दौड़े । उसके रथ, घोड़े औ सारथी का नाश कर छाती में लात मारा ॥ १ ॥

ठाढ़ रहा अति-कम्पित गाता । गयउ बिभीषन जहँ जन-त्राता ॥
पुनि रावन तेहि हतेउ पचारी । चलेउ गगन कपि पूँछ पसारी ॥२॥

काँपते हुए शरीर से (रावण) खड़ा रहा, जहाँ सेवकों के रक्षक रामचन्द्रजी थे विभीषण

वहाँ चले गये। फिर ललकार कर हनूमानजी ने रावण को मारा और पूँछ फैला कर आकाश की ओर चले ॥ २ ॥

गहेसि पूँछ कपि सहित उड़ाना। पुनि फिरि भिरेउ प्रबल हनुमाना ॥
लरत अकास जुगल सम जोधा। एकहि एक हनत करि क्रोधा ॥३॥

रावण ने पूँछ पकड़ ली, पवनकुमार उसके सहित उड़े, फिर महाबली हनूमानजी लौट कर भिड़ गये। दोनों समान योद्धा आकाश में लड़ने लगे, क्रोध कर के एक दूसरे को मारते हैं ॥ ३ ॥

पुनि और फिरि शब्द में पुनरुक्ति का आभास है; किन्तु पुनरुक्ति नहीं है। एक फिर का बोधक दूसरा घूमने या लौटने का सूचक है। यह 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है। बिना आधार के आकाश में स्थित हो कर दोनों महावीरों का लड़ना 'प्रथम विशेष अलंकार' है।

सोहहिं नभ छल बल बहु करहीं। कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं ॥
बुधि बल निसिचर परइ न मारेउ। तब मारुत-सुत प्रभु सम्भारेउ ॥४॥

आकाश में छल बल करते ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों काजल का पहाड़ और सुमेरु लड़ते हों। जब बुद्धि-बल से राक्षस गिराये न गिरा, तब पवनकुमार ने प्रभु रामचन्द्रजी का स्मरण किया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

सम्भारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो ।
महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह, जुगल कहँ जय जय भन्यो ॥
हनुमन्त सङ्कट देखि मर्कट,-भालु क्रोधातुर चले ।
रन-मत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुज-बल दलमले ॥२१॥

धीरवान हनूमानजी रघुनाथजी का स्मरण कर के ललकार कर रावण को मारा। वह धरती पर गिरते ही फिर उठ कर लड़ने लगा, दोनों वीरों का जय जयकार देववृन्द बोल रहे हैं (जब रावण मूर्छित हो भूमि पर गिरा, साथ ही हनूमानजी भी ज़मीन पर आ गये)। हनूमानजी को सङ्कट में देख कर वानर-भालू क्रोधित हो दौड़े। रण के मद में मतवाले रावण ने समस्त योद्धाओं को अपने प्रचण्ड भुज-बल से मर्दन कर डाला ॥ २१ ॥

दो०—तब रघुबीर प्रचारे, धाये कीस प्रचंड ।
कपि-दल प्रबल देखि तेहि, कीन्ह प्रगट पाखंड ॥८५॥

तब रघुनाथजी ने ललकारा, वानर प्रचण्ड वेग से दौड़े। वानरी सेना का बड़ा बल देख कर उसने माया प्रकट की ॥ ८५ ॥

चौ०—अन्तर्धान भयउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका ॥
रघुपति कटक भालु कपि जेते। जहँ तहँ प्रगट दसानन तेते ॥१॥

एक क्षण भर अदृश्य होगया, फिर उस खल ने अनेक रूप प्रकट किये। रघुनाथजी की

फ़ौज में जहाँ जितने भालू बन्दर हैं, वहाँ उतने ही रावण प्रकट हुए ॥१॥

प्रत्येक वानर-भालुओं के समीप एक एक रावण का होना वर्णन 'तृतीय विशेष अलंकार' है ।

देखे कपिन्ह अमित दससीसा । जहँ तहँ भजे भालु अरु कीसा ॥
भागे बानर धरहिँ न धीरा । त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा ॥२॥

बन्दरों ने असंख्यों रावण देखे, भालू वानर जहाँ तहाँ भजे । वानरों का धीरज छूट गया वे अधीर हो कर पुकारते हैं, लक्ष्मणजी रक्षा कीजिए; रघुनाथजी बचाइए ॥ २ ॥

माया के रावण से वानर वीरों का अयथार्थ भय भयानक रसाभास है ।

दह-दिसि धावहिँ कोटिन्ह रावन । गर्जहिँ घोर कठोर भयावन ॥
डरे सकल सुर चले पराई । जय कै आस तजहु अब भाई ॥३॥

दसों दिशाओं में करोड़ों रावण दौड़ रहे हैं, वे अत्यन्त कठिन भयङ्कर गर्जना करते हैं । सम्पूर्ण देवता डर कर भाग चले, आपस में कहते हैं—भाई ! अब जीत की आशा छोड़ दो ॥ ३ ॥

सब सुर जिते एक दसकन्धर । अब बहु भये तकहु गिरि कन्दर ॥
रहे बिरञ्चि सम्भु मुनि ज्ञानी । जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी ॥४॥

अकेले रावण ने सब देवताओं को जीत लिया; अब बहुत से रावण हुए, इसलिए पर्वत की गुफाओं में आश्रय लेना होगा । उनमें ब्रह्मा शिव और जो ज्ञानी मुनि थे, जिन जिन लोगों ने प्रभु रामचन्द्रजी की महिमा को कुछ जाना है ॥ ४ ॥

एक रावण ने सब देवताओं को जीत लिया, अब अनेक हो गये तब उसकी जीत में सन्देह ही क्या है ? 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है ।

हरिगीतिका-छन्द ।

जाना प्रताप ते रहे निर्भय, कपिन्ह रिपु माने फुरे ।
चले बिचलि मर्कटभालु सकल, कृपाल पाहि भयातुरे ॥
हनुमान अङ्गद नील नल अति, बल लरत रनबाँकुरे ।
मर्दहिँ दसानन कोटि कोटिन्ह, कपट-भू भट-अङ्कुरे ॥२२॥

जो प्रताप जानते थे वे निर्भय रहे, बन्दरों ने शत्रु को सत्य मान लिया । सब वानर-भालू विचल कर भाग चले, वे भयभीत हो पुकारते हैं कृपालु रामचन्द्रजी रक्षा कीजिए । अत्यन्त बलवान रण बाँकुरे हनूमान, अङ्गद नील और नल लड़ रहे हैं । करोड़ों करोड़ों रावण भट को जो कपट रूपी भूमि से अँखुआ के समान उत्पन्न हैं, उन्हें मर्दन करते हैं ॥ २२ ॥

दो०—सुर बानर देखे बिकल, हँसे कोसलाधीस ।
सजि सारङ्ग एक सर, हते सकल दससीस ॥९६॥

देवता और बन्दरों को व्याकुल देख कर कोशलाधीश हँसे । शार्ङ्ग-धनुष सज कर एक ही बाण से सम्पूर्ण रावणों का नाश कर दिया ॥ ९६ ॥

चौ०—प्रभु छन महँ माया सब काटी । जिमि रबि उये जाहिँ तम फाटी ॥
रावन एक देखि सुर हरषे । फिरे सुमन बहु प्रभु पर बरषे ॥१॥

रामचन्द्रजी ने क्षणमात्र में सब माया काट दी, समस्त रावण इस तरह नष्ट हो गये जैसे सूर्योदय से अन्धकार फट जाता है । एक रावण देख कर देवता प्रसन्न हुए और प्रभु पर फूलों की वर्षा कर के लौटे ॥ १ ॥

भुज उठाइ रघुपति कपि फेरे । फिरे एक एकन्ह तब टेरे ॥
प्रभु बल पाइ भालु कपि धाये । तरल तमकि सञ्जुग-महि आये ॥२॥

रघुनाथजी ने भुजा उठा कर वानरों को फेरा, तब एक दूसरे को पुकार पुकार कर वे फिरे । स्वामी का बल पा कर भालू-बन्दर दौड़े, क्रोधित हो शीघ्रता से रणभूमि में आये ॥२॥

अस्तुति करत देवतन्हि देखे । भयउँ एक मैं इन्ह के लेखे ॥
सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल । अस कहि कोपि गगन पथ धायल ॥३॥

देवताओं को स्तुति करते देख कर (रावण को बड़ा क्रोध हुआ, उसने समझा कि) मैं इनके लेखे अकेला हो गया हूँ (तब तो निर्भय हो मेरे सामने शत्रु की प्रशंसा करते हैं, प्रत्यक्ष में ललकारा) । अरे दुष्टो ! तुम सदा मेरे लतमर्दद रहे, ऐसा कह कर क्रोधित हो आकाश-मार्ग में दौड़ा ॥३॥

हाहाकार करत सुर भागे । खलहु जाहु कहँ मोरे आगे ॥
देखि बिकल सुर अङ्गद धायो । कूदि चरन गहि भूमि गिरायो ॥४॥

देवता-गण हाहाकार करते हुए भागे, रावण ने हाँक दी—अरे खलो ! मेरे सामने से कहाँ जाओगे । देवताओं को व्याकुल देख कर अङ्गद दौड़े और उछल कर पाँव पकड़ धरती पर गिरा दिया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

गहि भूमि पारयो लात मारयो, बालि-सुत प्रभु पहिँ गयो ।
सम्भारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो ॥
करि दाप चाप चढ़ाइ दस सन्धानि सर बहु बरषई ।
किय सकल भट घायल भयाकुल, देखि निज बल हरषई ॥२३॥

पकड़ कर भूमि पर पछाड़ दिया और लात मार कर बालिकुमार प्रभु रामचन्द्रजी के पास गये । रावण सँभल कर उठा और अत्यन्त भीषणध्वनि से गर्जना की । क्रोध कर के दसों

धनुष तान कर बहुत बाण बरसाने लगा। सम्पूर्ण वीरों को घायल कर के भयभीत कर दिया, फिर अपना बल देख कर प्रसन्न हुआ ॥ २३ ॥

दो०—तब रघुपति रावन के, सीस भुजा सर चाप ।
काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप ॥९७॥

तब रघुनाथजी ने रावण के सिर, भुजाएँ, धनुष और बाणों को काट गिराये। फिर वे इस तरह अधिक बढ़े जैसे तीर्थस्थान में किये हुए पाप बढ़ते हैं ॥ ९७ ॥

धर्मशास्त्र का मत है कि "अन्य क्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति । तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति" अर्थात् अन्य स्थान में किये हुए पाप तीर्थस्थलों में जाने से नष्ट होते हैं; पर जो पाप तीर्थस्थान में रह कर किये जाते हैं, वे वज्रलेप हो कर कदापि नहीं छूटते।

चौ०—सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी । भालु कपिन्ह रिस भई घनेरी ॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा । धाये कोपि भालु भट कीसा ॥१॥

शत्रु के सिर और भुजाओं की बाढ़ देख कर भालू-बन्दरों को बड़ा क्रोध हुआ कि यह मूर्ख बाहु और मस्तक कटने पर भी नहीं मरता है, (इसका क्या कारण है ?) योद्धा बन्दर और भालू क्रुद्ध हो कर दौड़े ॥ १ ॥

सिर बाहु का कटना मृत्यु का कारण विद्यमान है; किन्तु उसका फल (मृत्यु) न होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है। इस अद्भुत घटना को देख कर वानर भालुओं का चकित होना 'आश्चर्य्य स्थायीभाव' है

बालि-तनय मारुति नल नीला । द्विबिद कपीस पनस बलसीला ॥
बिटप महीधर करहिँ प्रहारा । सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा ॥२॥

वालिनन्दन, पवनकुमार, नल, नील, द्विविद, सुग्रीव और पनस आदि बलशाली योद्धा उस पर वृक्ष और पहाड़ चला कर चोट करते हैं, रावण उन्हीं पर्वतों और वृक्षों को पकड़ कर बन्दरों को मारता है ॥ २ ॥

एक नखन्ह रिपु-बपुष-बिदारी । भागि चलहिँ एक लातन्ह मारी ॥
तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गयऊ । नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ ॥३॥

कोई नखों से शत्रु की देह फाड़ कर कोई लातों से मार कर भाग जाते हैं। तब नल नील रावण के सिरों पर चढ़ गये और नाखूनों से उसका मस्तक चीर डाला ॥ ३ ॥

नल नील के ललाट चीरने में ध्वनि व्यञ्जित होती है कि सुनने में आया है रावण की मृत्यु मनुष्य और बन्दरों के हाथ ब्रह्मा ने लिखी है, पर रघुनाथजी के बाणों से सिर भुज बार बार कटने तथा बन्दरों के मारने से मरता नहीं है! फिर कैसे मरेगा ? कपाल में देखूँ तो सही।

रुधिर बिलोकि सकोप सुरारी । तिन्हहिँ धरन कहँ भुजा पसारी ॥
गहे न जाहिँ करन्हि पर फिरहीँ । जनु जुग मधुप कमल बन चरहीँ ॥४॥

रक्त देख कर रावण क्रोध से उन्हें पकड़ने के लिए बाहु फैलाया। परन्तु वे पकड़े नहीं

जाते हैं; हाथों पर फिरते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों दो भ्रमर कमल के वन में विचरण करते हों ॥ ४ ॥

रावण के कर-कमलवन और नल नील-भ्रमर के उपमेय उपमान हैं। एक बाहु से दूसरी पर जल्दी जल्दी जाना और पकड़ में न आना उत्प्रेक्षा का विषय है। कमल वन में भ्रमर विहार करते ही हैं, यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। गुटका में 'रुधिर देखि विषाद उर भारी' पाठ है। वहाँ अर्थ होगा—खून देख कर मन में बड़ा दुःख हुआ।

कोपि कूदि दोउ धरेसि बहोरी। महि पटकत भजे भुजा मरोरी ॥
पुनि सकोप दस धनु कर लीन्हे। सरन्ह मारि घायल कपि कीन्हे ॥५॥

फिर क्रोधित हो दोनों वीर कूदे, रावण ने पकड़ कर धरती में पटकना चाहा, पर वे भुजा मरोड़ कर भाग गये। फिर रावण क्रोध से दस धनुष हाथ में लिया और बाणों से मार कर बन्दरों को घायल कर दिया ॥ ५ ॥

हनुमदादि मुरछित करि बन्दर। पाइ प्रदोष हरष दसकन्धर ॥
मुरछित देखि सकल कपि बीरा। जामवन्त धायउ रनधीरा ॥६॥

हनूमान आदि बन्दरों को मूर्छित कर सायङ्काल पा कर दशानन प्रसन्न हुआ। सम्पूर्ण वानर वीरों को मूर्छित देख कर रणधीर जाम्बवान दौड़े ॥ ६ ॥

सन्ध्याकाल पा कर रावण का प्रसन्न होना अर्थात् आकस्मिक कारणान्तर के योग से सुगमता प्राप्त होना 'समाधि अलंकार' है; क्योंकि अँधेरा पा कर राक्षसों का बल बढ़ता है और बन्दरों को कम सूझ पड़ने से निर्बलता आती है।

सङ्ग भालु भूधर तरु धारी। मारन लगे पचारि पचारी ॥
भयउ क्रुद्ध रावन बलवाना। गहि पद महि पटकइ भट नाना ॥७॥

साथ में भालू पर्वत और वृक्ष लिये हुए ललकार ललकार कर मारने लगे। बलवान रावण क्रोधित हुआ, असंख्यों योद्धाओं के पाँव पकड़ कर पृथ्वी पर पटकता है ॥७॥

देखि भालुपति निज दल घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता ॥८॥

अपनी सेना का संहार देख कर क्रोधित हो जाम्बवान ने बीच छाती में लात मारा ॥८॥

हरिगीतिका-छन्द ।

उर लात घात प्रचंड लागत, बिकल रथ तेँ महि परा।
गहि भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्ह बसे निसि मधुकरा॥
मुरछित बिलोकि बहोरि पद हति, भालुपति प्रभु पहिँ गयो।
निसि जानि स्यन्दन घालि तेहि तब, सूत जतन करत भयो ॥२४॥

छाती में लात की गहरी चोट लगते ही व्याकुल हो कर रथ से भूमि में गिर पड़ा। पर बीसों हाथों में भालू योद्धाओं को पकड़े है, वह ऐसा मालूम होता है मानों रात में भँवरे कमल

में निवास किये हों। रावण को मूर्छित देख कर फिर लात मार कर जाम्बवान प्रभु रामचन्द्रजी के पास गये। रात्रि हुई जान कर सारथी ने रथ में उसे डाल कर तब उपाय किया अर्थात् बेहोशी दशा में लङ्का को ले गया ॥२४॥

दो०—मुरछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास ।
निसिचर सकल रावनहिँ, घेरि रहे अति-त्रास ॥९८॥

मूर्छा रहित होकर सब भालू और बन्दर प्रभु रामचन्द्र के पास आये, उधर सम्पूर्ण राक्षस अत्यन्त भय से रावण को घेरे हुए हैं (वह बेहोश पड़ा है) ॥९८॥

चौ०—तेही निसि सीता पहिँ जाई । त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई ॥
सिर भुज बाढ़ि सुनत रिपु केरी । सीता उर भइ त्रास घनेरी ॥१॥

उसी रात्रि में सीताजी के पास जा कर त्रिजटा ने सब कथा कह सुनाई। शत्रु के सिर और भुजाओं को बाढ़ सुनते ही सीताजी के हृदय में बड़ी त्रास हुई ॥१॥

मुख मलीन उपजी मन चिन्ता । त्रिजटा सन बोली तब सीता ॥
होइहि काह कहसि किन माता । केहि बिधि मरिहि बिस्व-दुख-दाता ॥२॥

उनका मुख मलिन हो गया, मन में चिन्ता उत्पन्न हुई, तब सीताजी त्रिजटा से कहने लगीं। हे माता! क्या होगा? कहती क्यों नहीं? यह ब्रह्माण्ड को दुःख देनेवाला (रावण) किस प्रकार मरेगा? ॥२॥

इष्ट वस्तु की अप्राप्ति और अनिष्ट की वृद्धि से चिन्ता, दैन्य, विषाद सञ्चारीभाव तथा सिर बाहु कटने पर भी मृत्यु न होने से आश्चर्य्य स्थायीभाव का उदय है।

रघुपति-सर सिर कटेहु न मरई । बिधि बिपरीत चरित सब करई ॥
मोर अभाग्य जिआवत ओही । जेहि हौँ हरि-पद-कमल बिछोही ॥३॥

रघुनाथजी के बाणों से सिर कटने पर भी नहीं मरता है, तब प्रतिकूल हुआ विधाता यह सब चरित करता है। मेरा दुर्भाग्य उसको जिलाता है जिसने मुझे भगवान के चरण कमलों से वियोगिनी बनाया है ॥३॥

जेहि कृत कपट कनक-मृग-झूठा । अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा ॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाये । लछिमन कहँ कटु-बचन कहाये ॥४॥

जिसने छल से झूठा सोने का हरिण बनाया, अब भी वही विधाता मुझ पर रूठा है। जिस ब्रह्मा ने मुझे असहनीय दुःख सहाया और लक्ष्मण को कड़ा बात कहलाया ॥४॥

रघुपति बिरह सबिष सर भारी । तकि तकि मार बार बहु मारी ॥
ऐसेहु दुख जो राखु मम प्राना । सोइ बिधि ताहि जिआव न आना ॥५॥

रघुनाथजी के विरह रूपी बड़े विषैले बाणों से कामदेव बहुत बार मुझे ताक ताक कर

मारा। ऐसे दुःख पर भी जो मेरे प्राणों को शरीर में रक्खे है, वही विधाता उसको जिला रहा है और कुछ नहीं ॥५॥

बहु बिधि करति बिलाप जानकी। करि करि सुरति कृपानिधान की ॥
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी। उर सर लागत मरइ सुरारी ॥६॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी की सुध कर कर के जानकीजी बहुत तरह विलाप करती हैं। त्रिजटा ने कहा—हे राजकुमारी! सुनिये, देवताओं का वैरी रावण हृदय में बाण लगते ही मरेगा ॥६॥

प्रभु तात उर हतइँ न तेही। एहि के हृदय बसति बैदेही ॥७॥

प्रभु रामचन्द्रजी इसलिये उसके हृदय में बाण नहीं मारते हैं कि उसके हृदय में विदेह-नन्दिनी का निवास है ॥७॥

हरिगीतिका-छन्द ।

एहि के हृदय बस जानकी जानकी-उर मम बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत, बान सब कर नास है ॥
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति, देखि पुनि त्रिजटा कहा ॥
अब मरिहि रिपु एहि बिधि सुनहि सुन्दरि तजहि संसय महा ॥२५॥

वे मन में सोचते हैं कि इसके हृदय में जानकी बसती हैं और जानकी के हृदय में मेरा निवास है। मेरे उदर में अनेक ब्रह्माण्ड हैं, बाण लगते ही सब का नाश हो जायगा। यह वचन सुन कर सीताजी के मन में बड़ा हर्ष और विषाद हुआ, देख कर त्रिजटा ने फिर कहा—हे सुन्दरी! सुनिए, संशय त्याग दीजिए, अब शत्रु इस तरह मरेगा ॥२५॥

रावण की छाती में बाण मारने का कारण हेतु-सूचक बात कह कर समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार है'। इसके हृदय में जानकी, जानकी के हृदय में मेरा, मेरे हृदय में अखिल ब्रह्माण्ड का निवास, यह शृङ्खलाबद्ध सम्बन्ध 'एकावली अलंकार' है। हर्ष इस बात का कि स्वामी का अपने ऊपर स्नेह और विषाद इसलिए कि फिर वह मरेगा कैसे? दोनों भावों का साथ ही उदय 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

दो०—काटत सिर होइहि बिकल, छुटि जाइहि तव ध्यान ।
तब रावन कहँ हृदय महँ, मरिहहिँ राम-सुजान ॥९९॥

सिर कटते कटते रावण विकल होगा, तब तुम्हारा ध्यान छूट जायगा। सुजान राम-चन्द्रजी उसी समय उसके हृदय में बाण मारेंगे (तभी वह मरेगा) ॥९९॥

चौ०—अस कहि बहुत भाँति समुझाई। पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई ॥
राम सुभाउ सुमिरि बैदेही। उपजी बिरह बिथा अति तेही ॥१॥

ऐसा कह कर बहुत तरह से समझाया, फिर त्रिजटा अपने घर चली गई। रामचन्द्रजी

के स्वभाव को स्मरण कर के जनकनन्दिनी के हृदय में उस समय विरह की बड़ी व्यथा (वेदना) उत्पन्न हुई ॥१॥

निसिहि ससिहि निन्दति बहु भाँती । जुग सम भई सिराति न राती॥
करति बिलाप मनहिँ मन भारी । राम-बिरह जानकी दुखारी ॥२॥

वे रात्रि की और चन्द्रमा की बहुत तरह निन्दा करती हैं, रात बीतती नहीं; युग के बराबर हो गई है । रामचन्द्रजी के वियोग से मन ही मन जानकीजी दुखी होकर बड़ा विलाप करती हैं ॥ २ ॥

प्रीतम के वियोग से व्याकुल हो निरर्थक वचन कहना प्रलाप दशा है ।

जब अति भयउ बिरह उर दाहू । फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ॥
सगुन बिचारि धरी मन धीरा । अब मिलिहहिँ कृपाल रघुबीरा ॥३॥

जब हृदय में अत्यन्त विरह की जलन हुई, तब बाँयाँ नेत्र और बाँई भुजा फड़क उठी । सगुन का विचार कर के मन में धीरज धारण किया कि अब कृपालु रघुनाथजी अवश्य मिलेंगे ॥३॥

विरहावस्था में शकुन के विचार से चित्त को दृढ़ करना कि स्वामी मिलेंगे 'धृति सञ्चारी भाव' है । इस प्रसङ्ग को ठिकाने लगा कर अब कविता नदी का प्रवाह दूसरी ओर चला ।

इहाँ अर्ध निसि रावन जागा । निज सारथि सन खीझन लागा ॥
सठ रन-भूमि छड़ायसि मोही । धिग धिग अधम मन्दमति तोही ॥४॥

यहाँ आधी रात को रावण सचेत हुआ, अपने सारथी से चिढ़ने लगा । अरे दुष्ट ! तू ने मुझे रणभूमि छुड़ा दिया, रे अधम नीच-बुद्धि ! तुझ को धिक्कार है, धिक्कार है ॥४॥

रावण के खीझने में व्यञ्जनामूलक ध्वनि है कि रणभूमि में प्राणत्याग होने से वीर गति प्राप्त होती है, ऐसी दशा में घर ला कर तूने मेरा बड़ा अपकार किया, फिर ऐसा कभी न करना ।

तेहि पद-गहि बहु बिधि समुझावा । भोर भये रथ चढ़ि पुनि धावा ॥
सुनि आगमन दसानन केरा । कपिदल खरभर भयउ घनेरा ॥५॥

उसने पाँव पकड़ कर बहुत तरह समझाया, सबेरा होते ही फिर रथ पर चढ़ कर दौड़ा । रावण का आगमन सुन कर वानरी सेना में बड़ी खलबली मच गई ॥५॥

जहँ तहँ भूधर बिटप उपारी । धाये कटकटाइ भट भारी ॥ ६ ॥

जहाँ तहाँ से पर्वत और वृक्ष उखाड़ कर बड़े बड़े योद्धा बन्दर कटकटा कर दौड़े ॥६॥

हरिगीतिका-छन्द ।

धाये जो मर्कट बिकट भालु, कराल कर भूधर धरा ।
अति-कोपि करहिँ प्रहार मारत, भजि चले रजनीचरा ॥

बिचलाइ दल बलवन्त कीसन्ह, घेरि पुनि रावन लियो ।
चहुँ दिसि चपेटन्हि मारि नखन्हि बिदारि तनु ब्याकुल कियो ॥२६॥

जो भीषण बन्दर और भालू विकराल पर्वत ले कर दौड़े, वे अत्यन्त क्रोधित हो कर चोट मारते हैं जिससे राक्षस भाग चले। बलवान बन्दरों ने राक्षसीदल को तितर बितर कर के फिर रावण को घेर लिया। चारो ओर से थप्पड़ मार मार नखों से शरीर फाड़ कर उसे विकल कर दिया ॥२६॥

दो०-देखि महा मर्कट प्रबल, रावन कीन्ह बिचार ।
अन्तरहित होइ निमिष महँ, कृत माया बिस्तार ॥१००॥

अत्यन्त बली अपार बन्दरों को देख कर रावण ने विचार किया, (इस तरह पार न मिलेगा तब वह) अन्तर्धान हो कर क्षण मात्र में माया का फैलाव किया ॥१००॥

तोमर-छन्द ।

जब कीन्ह तेहि पाखंड । भये प्रगट जन्तु प्रचंड ।
बेताल भूत पिसाच । कर धरे धनु नाराच ॥१॥

जब उसने पाखण्ड किया, तब डरावने जीव प्रकट हुए । बेताल,भूत और पिशाच हाथों में धनुष-बाण लिए (झुण्ड के झुण्ड देख पड़ते) हैं ॥१॥

जोगिनि गहे करबाल । एक हाथ मनुज-कपाल ।
करि सद्य सोनित पान । नाचहिँ करहिँ बहु गान ॥२॥

योगिनियाँ एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में मनुष्य की खोपड़ी लिये हुए ताज़ा ख़ून पी कर बहुत तरह नाचती और गान करती हैं ॥२॥

धरु मारु बोलहिँ घोर । रहि पूरि धुनि चहुँ ओर ।
मुख बाइ धावहिँ खान । तब लगे कीस परान ॥३॥

पकड़ो, मारो, डरावनी बोल बोलते हैं, यही आवाज़ चारों ओर भर रही है। मुख फैला कर खाने दौड़ते हैं, तब बन्दर पराने लगे ॥ ३ ॥

जहँ जाहिँ मर्कट भागि । तहँ बरत देखहिँ आगि ।
भये बिकल बानर भालु । पुनि लाग बरषइ बालु ॥४॥

बन्दर जहाँ भाग कर जाते हैं वहाँ जलती हुई आग देखते हैं। वानर-भालू व्याकुल हो गये, फिर बालू बरसाने लगा ॥४॥

जहँ तहँ थकित करि कीस । गर्जेउ बहुरि दससीस ।
लछिमन कपीस समेत । भये सकल बीर अचेत ॥५॥

जहाँ तहाँ बन्दरों को मोहित कर के फिर रावण गर्जा । उसने ऐसी माया की कि लक्ष्मण और सुग्रीव के सहित सम्पूर्ण वानर अचेत हो गये ॥५॥

हा राम हा रघुनाथ । कहि सुभट मीजहिँ हाथ ।
एहि बिधि सकल बल तोरि । तेहि कीन्ह कपट बहोरि ॥६॥

हाय राम ! हाय रघुनाथ !! कह कर योद्धा लोग हाथ मलते हैं । इस तरह सब के बल को तोड़ कर फिर उसने (रामचन्द्रजी को मोहित करने के लिए) कपट किया ॥६॥

प्रगटेसि बिपुल हनुमान । धाये गहे पाषान ।
तिन्ह राम घेरे जाइ । चहुँ दिसि बरूथ बनाइ ॥७॥

बहुतेरे हनुमान प्रकट किया वे पत्थर ले कर दौड़े और जाकर चारों ओर यूथ बना-कर रामचन्द्रजी को घेर लिया ॥७॥

मारहु धरहु जनि जाइ । कटकटहिँ पूँछ उठाइ ।
दह-दिसि लँगूर बिराज । तेहि मध्य कोसलराज ॥८॥

मारो मत, जाकर पकड़ लो (ऐसा कहते हुए) पूँछ उठाये कटकटाते हैं । दसों दिशाओं में लङ्गूर विराजमान हैं, उसके बीच में कोसल देश के राजा रामचन्द्रजी हैं ॥८॥

हरिगीतिका-छन्द ।

तेहि मध्य कोसलराज सुन्दर, स्याम तनु सोभा लही ।
जनु इन्द्रधनुष अनेक की बर,-बारि तुङ्ग तमालही ॥
प्रभु देखि हरष बिषाद उर सुर, बदत जय जय जय करी ।
रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महँ माया हरी ॥२७॥

उसके बीच में कोशलराज के श्याम शरीर की कैसी सुन्दर छवि प्राप्त हुई है, मानों असंख्यों इन्द्रधनुष के अच्छे ऊँचे गोंड़े से घिरा हुआ तमाल वृक्ष शोभित हो । प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर देवताओं के मन में हर्ष और विषाद दोनों हुआ, वे जय जय पुकारने लगे । रघुनाथजी ने क्रोध कर के एक ही बाण से क्षणमात्र में माया हर ली ॥ २७ ॥

पूँछ और इन्द्रधनुष, राम तनु और तमालवृक्ष उपमेय उपमान हैं । इस शोभा की कविजी विलक्षण कल्पना करते हैं जो न कभी सुनी वा देखी गई है, यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है । इन पूछों से घिरने पर रामचन्द्रजी की अद्भुत छटा देख कर देवताओं को हर्ष हुआ, साथही शत्रु के मायाजाल में फँसे जान विषाद हुआ, दोनों भावों का साथ में उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है ।

माया बिगत कपि भालु हरषे, बिटप गिरि गहि सब फिरे ।
सर निकर छाड़े राम रावन, बाहु-सिर पुनि महि गिरे ॥
श्रीराम रावन समर-चरित अनेक कल्प जो गावहीं ।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ, तदपि पार न पावहीं ॥२८॥

माया दूर होने पर वानर भालू प्रसन्न हुए, वे सब वृक्ष और पहाड़ ले ले कर लौटे। रामचन्द्रजी ने अपरिमित बाण छोड़े, फिर रावण के बाहु और सिर कट कट कर धरती पर गिरे। श्रीराम-रावण के युद्ध चरित्र को अनेक कल्प पर्य्यन्त जो सैकड़ों शेष, शारदा वेद और कवि गाते रहें तो भी पार नहीं पा सकते ॥ २८ ॥

शेष, सरस्वती आदि को कथन के अयोग्य ठहराकर समरचरित की अतिशय अगाधता सूचित करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है ।

दो०—ताके गुन गन कछु कहे, जड़-मति तुलसीदास ।
निज-पौरुष-अनुसार जिमि, माछी उड़इ अकास ॥

उन (रामचन्द्रजी) के गुण-गण को मूर्खबुद्धि तुलसी दास ने कुछ कहा है। जैसे अपने पुरुषार्थ के अनुसार मक्खी आकाश में उड़ती है ॥

इस दोहे में काव्यार्थापत्ति की ध्वनि है कि जिस आकाश का अन्त गरुड़ नहीं लगा सकते, उसके आगे छोटी सी मक्खी क्या चीज़ है? सभा की प्रति में 'मसक उड़ाहिँ अकास' पाठ है।

काटे सिर भुज बार बहु, मरत न भट लङ्केस ।
प्रभु क्रीड़त सुर सिद्ध मुनि, ब्याकुल देखि कलेस ॥१०१॥

बहुत बार सिर और भुजाएँ काटने पर वीर लङ्केश्वर मरता नहीं है। प्रभु रामचन्द्रजी
खेल कर रहे हैं, पर उसे देखकर देवता सिद्ध और मुनियों को घबराहट हो रही है ॥ १०१ ॥

चौ०—काटत बढ़हिँ सीस समुदाई । जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ॥
मरइ न रिपु स्रम भयउ बिसेखा । राम बिभीषन तन तब देखा ॥१॥

काटने पर सिरों के समूह बढ़ रहे हैं, वे ऐसे बढ़ते हैं जैसे लाभ के ऊपर लोभ की
अधिकता होती जाती है। बड़ा परिश्रम हुआ और शत्रु मरता नहीं, तब रामचन्द्रजी ने विभी-
षण की ओर देखा (कि जब सिर काटने पर नहीं मरता तब वह कैसे मरेगा ?) ॥ १ ॥

उमा काल मरु जा की ईछा । सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा ॥
सुनु सर्बज्ञ चराचर नायक । प्रनतपाल सुरमुनिसुखदायक ॥२॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती ! जिनकी इच्छा से काल मरता है, वे प्रभु रामचन्द्रजी अपने
दास के प्रीति की परीक्षा करते हैं। विभीषण ने कहा—हे सर्वज्ञ, चराचर के स्वामी, शरणागतों
के रक्षक, देवता और मुनियों को सुख देनेवाले महाराज ! सुनिए—॥ २ ॥

नाभिकुंड पियूष बस याके । नाथ जियत रावन बल ताके ॥
सुनत बिभीषन बचन कृपाला । हरषि गहे कर बान कराला ॥३॥

हे नाथ ! इसके नाभिकुण्ड में अमृत निवास करता है, रावण उसी के बल से जीता है। कृपालु रामचन्द्रजी विभीषण के वचन सुनते ही प्रसन्न हो विकराल बाण हाथ में लिये ॥ ३ ॥

सभा की प्रति में 'नाभीकुण्ड सुधा बस याके' पाठ है।

असुभ होन लागे तब नाना । रोवहिँ बहु सृगाल-खर-स्वाना ॥
बोलहिँ खग जग-आरति-हेतू । प्रगट भये नभ जहँ तहँ केतू ॥४॥

तब अनेक प्रकार के असगुन होने लगे, बहुत से सियार गदहे और कुत्ते रोते हैं। जगत के क्लेश के कारण (स्वरूप) पक्षी बोलते हैं. आकाश में जहाँ तहाँ पुच्छल तारे प्रकट हुए ॥ ४ ॥

सभा की प्रति में 'असगुन होन लगे तब नाना' पाठ है।

दस-दिसि दाह होन अति लागा । भयउ परब बिनु रबि उपरागा ॥
मन्दोदरि उर कम्पति भारी । प्रतिमा स्रवहिँ नयन-मग-बारी ॥५॥

दसों दिशाओं में बड़ी जलन होने लगी, बिना अवसर के सूर्य्य-ग्रहण हुआ। मन्दोदरी का हृदय बड़े जोर से काँपने लगा, मूर्त्तियाँ आँखों के रास्ते जल बहाती हैं ॥ ५ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

प्रतिमा रुदहिँ पबिपात नभ अति,-बात बह डोलति मही ।
बरषहिँ बलाहक रुधिर कच रज, असुभ अति सक को कही ॥
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर, बिकल बोलहिँ जय जये ।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति, चाप सर जोरत भये ॥२९॥

प्रतिमाएँ रोती हैं, आकाश से वज्रपात हो रहा है, हवा ज़ोर से बहती और धरती डगमग हो रही है। बादल रक्त, बाल और धूल बरसते हैं, अत्यन्त अमङ्गलों को कौन कह सकता है ? अनन्त उत्पात देख कर व्याकुल हो आकाश से देवता जय जय बोल रहे हैं। देवताओं को भयभीत जान कर कृपाल रघुनाथजी ने धनुष पर बाण जोड़े ॥ २९ ॥

दो०-खैंचि सरासन स्रवन लगि, छोड़े सर एकतीस ।
रघुनायक-सायक चले, मानहुँ काल फनीस ॥१०२॥

कान पर्य्यन्त धनुष को खींच कर इकतीस बाण छोड़े। रघुनाथजी के बाण चले, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों काल रूपी सर्प हों ॥ १०२ ॥

चौ०-सायक एक नाभि सर सोखा । अपर लगे सिर भुज करि रोखा ॥
लै सिर बाहु चले नाराचा । सिर-भुज हीन रुंड महि नाचा ॥१॥

एक बाण ने नाभिसर को सुखा दिया और तीस बाण एक एक भुजा-सिर में खिसिया

कर लगे। वे बाण सिर और बाहुओं को ले कर चले बिना सिर-भुजा के धड़ पृथ्वी पर नाचने लगा॥ १॥

धरनि धँसइ धर धाव प्रचंडा। तब सर हति प्रभु कृत दुइ खंडा॥
गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी॥२॥

धड़े वेग से धड़ दौड़ती है जिससे धरती धसती जा रही है, तब प्रभु रामचन्द्रजी ने बाण से काट कर दो टुकड़े कर दिया। मरती बेर बड़ी भीषण आवाज़ से गर्जा और कहा कि राम कहाँ हैं? मैं ललकार कर उन्हें संग्राम में मारूँगा॥ २॥

यहीं अन्त समय में रावण ने 'राम' कहा, नहीं तो तपस्वी राजकुमार आदि के सिवाय राम कभी नहीं कहा। रामचरितमानस के मतानुसार इसका निर्वाह इसी प्रकार हुआ है।

डोला भूमि गिरत दसकन्धर। छुभित सिन्धु सरि दिग्गज भूधर॥
धरनि परेउ दोउ खंड बढ़ाई। चापि भालु-मर्कट-समुदाई॥३॥

रावण के गिरते धरती हिल गई, समुद्र, नदियाँ, दिशाओं के हाथी और पर्वत अधीर हो उठे। धड़ के दोनों टुकड़ों को बढ़ा कर उससे भालू और बन्दरों के समूह को दबाता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा॥ ३॥

मन्दोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥
प्रबिसे सब निषङ्ग महँ जाई। देखि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई॥४॥

भुजा और सिरों को मन्दोदरी के सामने रख कर बाण वहाँ चले जहाँ जगदीश्वर रामचन्द्रजी थे। सब जा कर तरकस में पैठ गये, यह देख कर देवताओं ने नगारे बजाये॥ ४॥

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि सम्भु चतुरानन॥
जय जय धुनि पूरी ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल-भुजदंडा॥५॥

उसका तेज प्रभु के मुख में समा गया, यह देख कर शिव और ब्रह्मा प्रसन्न हुए। जय जयकार की ध्वनि ब्रह्माण्ड में भर गई, बड़े ज़ोरावर भुजदण्डवाले रघुवीर की जय हो (सब जगह से लोग पुकार रहे हैं)॥ ५॥

बरषहिँ सुमन देव-मुनि-बृन्दा। जय कृपाल जय जयति मुकुन्दा॥६॥

देवता और मुनियों का समुदाय फूलों की वर्षा कर के कृपालु मुक्ति देनेवाले भगवान की जय हो, जय हो, जय हो। (पुकार रहे हैं)॥ ६॥

'कृपाल' और 'मुकुन्द' संज्ञाएँ साभिप्राय हैं, क्योंकि कृपालु ही शत्रु पर दया कर सकता है और मुकुन्द (मुक्ति देनेवाला) ही मोक्ष दान करने में समर्थ हो सकता है। यह 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द।

जय कृपा-कन्द मुकुन्द द्वन्द-हरन सरन-सुख-प्रद प्रभो।
खल-दल-बिदारन परम कारन, कारुनीक सदा बिभो॥

सुर सुमन बरषहिँ हरष सङ्कुल, बाज दुन्दुभि गहगही ।
सङ्ग्राम-अङ्गन राम अङ्ग अनङ्ग बहु सोभा लही ॥३०॥

कृपा के मेघ, मोक्षदाता, कलह को दूर करनेवाले, शरणार्थियों को आनन्द दायक और सब के स्वामी, आप की जय हो। आप दुष्टों के समूह को विदीर्ण करने में उत्कृष्ट कारणरूप सदा करुणा करनेवाले और समर्थ हैं। आनन्द में भर कर देवता फूल बरसाते हैं और गहरे नगारे बज रहे हैं। रणभूमि में विराजमान रामचन्द्रजी के अङ्गों में असंख्यों कामदेव की शोभा प्राप्त हुई है ॥ ३० ॥

सिर जटा-मुकुट प्रसून बिच बिच, अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल, समेत उडुगन भ्राजहीं ॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत, रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठी बिपुल सुख आपने ॥३१॥

सिर पर जटाओं के मुकुट के बीच बीच फूल अत्यन्त सुन्दर शोभायमान हो रहे हैं। ऐसा मालूम होता है मानों नील पर्वत पर बिजलियों की पंक्ति तारागण के सहित सुहावनी लगती हो। हाथ से धनुष-बाण फेरते हैं, शरीर पर रक्त की बूँदें अतिशय शोभित हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं मानों तमाल-वृक्ष पर बहुत सी रयमुनियाँ चिड़िया अपनी इच्छानुसार आनन्द से बैठी हों ॥३१॥

जटा के बालों की नोक और बिजली, सफेद फूल और तारागण, रामचन्द्रजी का श्याम-तनु और नीला पहाड़ परस्पर उपमेय उपमान हैं 'अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। रक्त के छींटे और लाल पक्षी रामचन्द्रजी का श्याम शरीर और तमाल वृक्ष परस्पर उपमेय उपमान हैं। चिड़िया सुख से वृक्ष पर बैठती ही हैं, यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०—कृपा दृष्टि करि बृष्टि प्रभु, अभय किये सुरवृन्द।
भालु कीस सब हरषे, जय सुखधाम मुकुन्द ॥१०३॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने कृपा-दृष्टि की वर्षा करके देवताओं को निर्भय किया, सब भालू और बन्दर प्रसन्न होकर सुख के स्थान मुकुन्द भगवान का जय जयकार करते हैं ॥१०३॥

चौ०—पति सिर देखत मन्दोदरी। मुरछित बिकल धरनि खसि परी॥
जुबतिबृन्द रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिँ आईं ॥१॥

पति का सिर देखते ही मन्दोदरी व्याकुलता से मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ी। झुंड की झुंड स्त्रियाँ रोती हुई उठ कर दौड़ीं और उसको उठा कर रावण की लाश के पास ले आईं ॥ १ ॥

पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥२॥

पति की दशा देख कर वे सब विल्लाती हैं, उनके बाल खुले हैं और शरीर का सँभाल नहीं रह गया। अनेक प्रकार से छाती पीट पीट कर रोती हैं और प्रताप बखानती हैं॥२॥

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज हीन पावक ससि तरनी॥
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥३॥

हे नाथ! तुम्हारे पराक्रम से सदा धरता काँपती थी, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तेज हीन हो जाते थे। शेषनाग और कच्छप तुम्हारा बोझ नहीं सह सकते थे, वह शरीर धूल से भरा जमीन पर पड़ा है!॥३॥

बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धर काहु न धीरा॥
भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं॥४॥

वरुण, कुबेर, इन्द्र और पवन युद्ध में सामने कोई धीर नहीं धरते थे। हे स्वामी! भुजाओं के बल से आपने काल और यम को जीत लिया, वे ही आज अनाथ की तरह पड़े हो॥४॥

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई॥
राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥५॥

तुम्हारी प्रभुता जगत में विख्यात है, पुत्र, परिवार और पराक्रम वर्णन नहीं किया जा सकता। रामविमुखी होने से तुम्हारा ऐसा हाल हुआ कि कुल में कोई रोनेवाला नहीं रह गया॥५॥

तव बस बिधि प्रपञ्च सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥
अब तव सिर भुज जम्बुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥६॥

हे नाथ! विधाता का सारा प्रपञ्च (सृष्टि) तुम्हारे वश में था, दिक्पाल डर से सदा सिर नवाते थे। अब तुम्हारे सिर और बाहुओं को सियार खाते हैं, राम-विमुखों को यह अनुचित नहीं है॥६॥

काल बिबस पति कहा न माना। अग-जग-नाथ मनुज करि जाना॥७॥

हे स्वामिन्! काल के वश होकर आपने किसी का कहना नहीं माना, चराचर के स्वामी (ईश्वर को मनुष्य करके समझा॥७॥

पति के मृतक होने से मन्दोदरी आदि रानियों के हृदय में शोक स्थायीभाव है रावण के मृतक शरीर का दर्शन आलम्बन विभाव है। वीरतादि गुणों का स्मरण उद्दीपनविभाव है। रोना, छाती पीटना, धरती पर गिरना अनुभाव है। वह मोह, विषाद, चिन्तादि सञ्चारी भावों द्वारा पुष्ट होकर 'करुणरस' हुआ है।

हरिगीतिका छन्द ।

जानेउ मनुज करि दनुज-कानन, दहन-पावक हरि स्वयं ।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय, भजेहु नहिँ करुनामयं ॥
आजन्म ते परद्रोह-रत पापौघमय तव तनु अयं ।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं ॥३२॥

हे प्यारे! राक्षस रूपी वन को जलानेवाले अग्नि रूपस्वयम् भगवान् को आपने मनुष्य करके समझा। जिनको शिवजी और ब्रह्मा आदि देवता नमस्कार करते हैं, उन दया के रूप ईश्वर का आपने भजन नहीं किया। जन्म से मरण पर्यन्त आप का यह शरीर पाप की राशि का रूप ही था क्योंकि सदा पराये के द्रोह में तत्पर रहे। तुम्हें भी रामचन्द्रजी ने अपना लोक दिया, ऐसे निर्विकार ब्रह्म को मैं प्रणाम करती हूँ ॥३२॥

दो०—अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिन्धु नहिँ आन ।
जोगि-बृन्द दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान ॥१०४॥

हे नाथ! शोक है कि रघुनाथजी के समान कृपासागर दूसरा कोई नहीं है, भगवान रामचन्द्रजी ने तुम्हें वह गति दी जो योगीजनों को दुर्लभ है (ऐसे उदार और दयालु स्वामी से तुमने वैर किया) ॥१०४॥

चौ०—मन्दोदरी बचन सुनि काना । सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना ॥
अज महेस नारद सनकादी । जे मुनिबर परमारथ-बादी ॥१॥

मन्दोदरी की बात कान से सुन कर देवता, मुनि और सिद्ध सभी ने सुख माना। ब्रह्मा, शिव, नारद और सनकादिक मुनिश्रेष्ठ जो परमार्थ के वक्ता हैं ॥१॥

भरि लोचन रघुपतिहि निहारा । प्रेम-मगन सब भये सुखारी ।
रुदन करत देखी सब नारी । गयेउ बिभीषन मन दुख भारी ॥२॥

रघुनाथजी को आँख भर देख सब प्रेम में मग्न हो कर आनन्दित हुए। समस्त स्त्रियों को रोदन करते देख कर विभीषण के मन में बड़ा दुःख हुआ, वे वहाँ गये ॥ २ ॥

बन्धु दसा बिलोकि दुख कीन्हा । तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा ॥
लछिमन तेहि बहु बिधि समुझाये। बहुरि बिभीषन प्रभु पहिँ आयो॥३॥

भाई की दशा देख कर दुःख प्रकट किया, तब प्रभु ने छोटे भाई को (समझाने के लिये) आज्ञा दी। लक्ष्मणजी ने उनको बहुत तरह समझाया, फिर विभीषण रामचन्द्रजी के पास आये ॥ ३ ॥

सभा की प्रति में "बन्धु दसा देखत दुख कीन्हा। राम अनुज कहँ आयसु दीन्हा ॥ लछिमन जाइ ताहि समुझायउ। बहुरि बिभीषन प्रभु पहिँ आयउ" पाठ है।

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका ॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने कृपादृष्टि से विभीषण को देख कर कहा कि सब शोक त्याग कर अन्त्येष्टि क्रिया करो। स्वामी की आज्ञा मान उन्होंने देश काल को मन में समझ कर क्रियाकर्म किया ॥४॥

दो०—मन्दोदरी आदि सब, देहिँ तिलाञ्जलि ताहि।
भवन गईँ रघुपति गुन,-गन बरनत मन माहिँ ॥१०५॥

मन्दोदरी आदि सब रानियाँ रावण को तिलाञ्जलि दे कर मन में रघुनाथजी का गुण गण वर्णन करते हुए घर गईं ॥१०५॥

चौ०—आइ बिभीषन पुनि सिर नायो। कृपासिन्धु तब अनुज बोलायो ॥
तुम्ह कपीस अङ्गद नल नीला। जामवन्त मारुति नयसीला ॥१॥

फिर विभीषण ने आ कर सिर नवाया, तब दयासागर रामचन्द्रजी ने छोटे भाई को बुला कर कहा—तुम, सुग्रीव, अङ्गद, नल, नील, जाम्बवान और पवनकुमार आदि नीतिज्ञ—॥१॥

सब मिलि जाहु बिभीषन साथा। सारेहु तिलक कहेहु रघुनाथा ॥
पिता बचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥२॥

रघुनाथजी ने कहा—सब मिल कर विभीषण के साथ जाओ और इन्हें राजतिलक करो। फिर विभीषण से कहने लगे—मैं पिता की आज्ञानुसार नगर में प्रवेश न करूँगा, अपने समान ही बन्दर और लघुबन्धु लक्ष्मण को भेजता हूँ ॥२॥

तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना। कीन्ही जाइ तिलक कै रचना ॥
सादर सिंहासन बैठारी। तिलक सारि अस्तुति अनुसारी ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी की आज्ञा सुन कर तुरन्त बन्दर चले, वहाँ जा कर राजतिलक की तैयारी की। आदर-पूर्वक राजसिंहासन पर बैठा कर तिलक किया और स्तुति करने लगे ॥३॥

जोरि पानि सबही सिर नाये। सहित बिभीषन प्रभु पहिँ आये ॥
तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे ॥४॥

हाथ जोड़ कर सभी ने सिर नवाये और विभीषण के सहित प्रभु रामचन्द्रजी के पास आये। तब रघुनाथजी ने बन्दरों को बुला लिया और प्रिय वचन कह कर सब को सन्तुष्ट किया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

किय सुखी कहि बानी सुधा सम, बल तुम्हारे रिपु हयो ।
पायो बिभीषन राज तिहुँपुर, जस तुम्हारो नित नयो ॥
मोहि सहित सुभ-कीरति तुम्हारी, परम-प्रीति जे गाइहैं ।
संसार-सिन्धु अपार पार प्रयास, बिनु नर पाइहैं ॥३३॥

अमृत के समान मीठी वाणी कह कह कर सब को सुखी किया कि तुम्हारे ही बल से शत्रु मारा गया। विभीषण ने राज्य पाया, तुम्हारा यश तीनों लोकों में सदा नया बना रहेगा। मेरे सहित तुम्हारी शुभ-कीर्त्ति जो अत्यन्त प्रीति से गावेंगे वे मनुष्य विना परिश्रम अपार भव-सागर से पार पावेंगे ॥३३॥

दो०-प्रभु के बचन स्रवन सुनि, नहिँ अघाहिँ कपि-पुञ्ज ।
बार बार सिर नावहीं, गहहिँ सकल पद-कञ्ज ॥१०६॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन कान से सुन कर वानर-वृन्द तृप्त नहीं होते हैं। बार बार चरण-कमलों को पकड़ कर सिर नवाते हैं ॥१०६॥

चौ०-पुनि प्रभु बोलि लियेउ हनुमाना । लङ्का जाहु कहेउ भगवाना ॥
समाचार जानकिहि सुनावहु । तासु कुसल लेइ तुम्ह चलि आवहु ॥१॥

फिर प्रभु ने हनूमानजी को बुला लिया और भगवान ने कहा तुम लङ्का में जाओ। जानकी को समाचार सुनावो और उनका कुशल वृत्तान्त ले कर चले आओ ॥१॥

तब हनुमन्त नगर महँ आये । सुनि निसिचरी निसाचर धाये ॥
बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही । जनक-सुता दिखाइ पुनि दीन्ही ॥२॥

तब हनूमानजी लङ्का नगर में आये, उनका आना सुन कर राक्षसी-राक्षस दौड़े। बहुत तरह से उन्हों ने पवनकुमार की पूजा की, फिर जनकनन्दनी को दिखा दिया ॥२॥

दूरिहि तेँ प्रनाम कपि कीन्हा । रघुपति-दूत जानकी चीन्हा ॥
कहहु तात प्रभु कृपा-निकेता । कुसल अनुज-कपि-सेन-समेता ॥३॥

हनूमानजी ने दूर ही से प्रणाम किया, जानकीजी ने पहचान लिया कि यह वही रघुनाथजी का दूत है। वे बोलीं—हे तात! कहो, कृपानिधान स्वामी छोटे भाई और वानरी सेना के सहित कुशल से हैं? ॥३॥

सब बिधि कुसल कोसलाधीसा । मातु समर जीतेउ दससीसा ॥
अबिचल राज बिभीषन पायो । सुनि कपि बचन हरष उर छायो ॥४॥

हनुमानजी ने कहा—हे माता! कौशलाधीस स्वामी सब प्रकार कुशल पूर्वक हैं और संग्राम में रावण को जीत लिया। विभीषण अटल राज्य पा गये, हनुमानजी के वचन सुन कर जानकीजी के हृदय में प्रसन्नता छा गई ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

अति-हरष-मन तन-पुलक लोचन,-सजल कह पुनि पुनि रमा ।
का देउँ तोहि त्रैलोक महँ कपि, किमपि नहिँ बानी समा ॥
सुनु मातु मैं पायउँ अखिल-जग,-राज आजु न संसयं ।
रन जीति रिपु दल-बन्धु-जुत-पस्यामि राममनामयं ॥३४॥

जानकीजी के मन में बड़ा हर्ष हुआ, शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों में जल भर आये, वे बार बार कहती हैं। हे हनूमान ! मैं तुमको क्या दूँ ? वस्तुतः इस वाणी के समान तीनों लोकों कौन सी चीज़ है ? (कुछ नहीं है)। तब हनूमानजी ने कहा—हे माता ! सुनिए, आज मैं सम्पूर्ण संसार का राज्य पा गया; इसमें सन्देह नहीं जो शत्रु को जीत कर सेना और भाई लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी को स्वस्थ (भला चङ्गा) देख रहा हूँ ॥३४॥

दो०—सुनु सुत सद्गुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमन्त ।
सानुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनन्त ॥१०७॥

जानकीजी ने कहा—हे पुत्र हनुमान ! सुनो, सम्पूर्ण सद्गुण तुम्हारे हृदय में निवास करें और लक्ष्मणजी के सहित कोशलनाथ तुम पर सानुकूल रहें ॥१०७॥

चौ०—अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता । देखउँ नयन स्याम मृदु गाता ॥
तब हनुमान राम पहिँ जाई । जनक-सुता कै कुसल सुनाई ॥१॥

हे तात ! अब तुम वही उपाय करो जिसमें मैं कोमल श्याम शरीर आँख से देखूँ । तब हनुमान रामचन्द्रजी के पास जा कर जनकनन्दनी की कुशलता कह सुनाई ॥१॥

सुनि सन्देस भानुकुल-भूषन । बोलि लिये जुवराज बिभीषन ॥
मारुत-सुत के सङ्ग सिधावहु । सादर जनक-सुतहि लेइ आवहु ॥२॥

सूर्य्यकुल के भूषण रामचन्द्रजी ने सन्देशा सुन कर युवराज, अङ्गद और विभीषण को बुला लिया । उनसे कहा—आप लोग पवनकुमार के साथ जाइए और आदर-पूर्वक जनकनन्दिनी को ले आइए ॥२॥

तुरतहि सकल गये जहँ सीता । सेवहिँ सब निसिचरी बिनीता ॥
बेगि बिभीषन तिन्हहिँ सिखावा । सादर तिन्ह सीतहिँ अन्हवावा ॥३॥

तुरन्त ही सब लोग जहाँ सीताजी थीं वहाँ गये, सब राक्षसिनियाँ नम्रता-पूर्वक उनकी सेवा करती हैं । विभीषण ने शीघ्र उन्हें सिखाया, तब उन निशचरियों ने आदर के साथ सीताजी को स्नान कराया ॥३॥

गुटका में 'बेगि बिभीषन तिन्हहिं सिखायो । तिन्ह बहु बिधि मज्जन करवायो' पाठ है ।

बहु प्रकार भूषन पहिराये । सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याये ।
तापर हरषि चढ़ी बैदेही । सुमिरि राम-सुखधाम सनेही ॥४॥

बहुत तरह के आभूषण पहिराये, फिर सुन्दर पालकी सजा कर ले आये । सुख के स्थान स्नेही रामचन्द्रजी का स्मरण कर के प्रसन्न हो जानकीजी उस पर चढ़ीं ॥४॥

बेतपानि-रच्छक चहुँ पासा । चले सकल मन परम-हुलासा ॥
देखन भालु कीस सब आये । रच्छक कोपि निवारन धाये ॥५॥

बेत की छड़ी हाथ में लिये चारों ओर रक्षक-गण बड़े उत्साह से चले । सीताजी को देखने के लिये सब भालू और बानर आये, रक्षक क्रोध कर उन्हें हटाने को दौड़े ॥५॥

कह रघुबीर कहा मम मानहु । सीतहि सखा पयादे आनहु ॥
देखहिँ कपि जननी की नाँई । बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाँई ॥६॥

रघुनाथजी ने कहा—हे मित्र विभीषण ! मेरा कहना मान कर सीता को पैदल ले आओ जिसमें बन्दर उन्हें माता की तरह देखें, स्वामी रामचन्द्रजी ने हँस कर ऐसा कहा ॥६॥

सुनि प्रभु बचन भालु कपि हरषे । नभ तेँ सुरन्ह सुमन बहु बरषे ॥
सीता प्रथम अनल महँ राखी । प्रगट कीन्ह चह अन्तर-साखी ॥७॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुन कर भालू और बन्दर प्रसन्न हुए देवताओं ने आकाश से बहुत फूल बरसाये । पहले अग्नि में रक्खी हुई सीताजी को साक्षी (कसम लेने) के बहाने प्रकट करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

साक्षी के बहाने और की और बात कहना 'कैतवापह्नुति अलंकार' है ।

दो०—तेहि कारन करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद ।
सुनत जातुधानी सब, लागी करन बिषाद ॥१०८॥

इस कारण दयानिधान रामचन्द्रजी ने कुछ दुर्वचन कहे । सुनतेही सब राक्षसियाँ विषाद करने लगीं ॥१०८॥

राक्षसियों को विशेष दुःख इसलिये हुआ कि जानकीजी के विशुद्ध आचरण और पति प्रेम को वे निरन्तर आँखों देख चुकी हैं

चौ०—प्रभु के बचन सीस धरि सीता । बोली मन-क्रम-बचन-पुनीता ॥
लछिमन होहु धरम के नेगी । पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी ॥१॥

स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य्य कर के मन, कर्म और वचन से पवित्र सीताजी बोलीं । हे लक्ष्मण ! तुम इस धर्म के भागी होकर जल्दी अग्नि प्रकट करो ॥१॥

सुनि लछिमन सीता कै बानी । बिरह-बिबेक-धरम-नति-सानी ॥
लोचन सजल जोरि कर दोऊ । प्रभु सन कछु कहि सकत न ओऊ ॥२॥

इस तरह वियोग, विचार, धर्म और नम्रता भरी सीताजी की वाणी को सुन कर

लक्ष्मणजी की आँखों में आँसू भर आया, दोनों हाथ जोड़ कर खड़े हैं, स्वामी से वे भी कुछ कह नहीं सकते ॥२॥

देखि राम रुख लछिमन धाये । पावक प्रगटि काठ बहु लाये ॥
पावक प्रबल देखि बैदेही । हृदय हरष कछु भय नहिँ तेही ॥३॥

रामचन्द्रजी का रुख देख कर लक्ष्मण दौड़े, बहुत सा काठ ले आये और अग्नि प्रकट कर दी । खूब धधकती हुई आग देख कर जनकनन्दिनी प्रसन्न हुई, उनके मन में कुछ भी भय नहीं हुआ ॥३॥

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं । तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना । मो कहँ होहु स्रिखंड समाना ॥४॥

उन्होंने कहा—हे अग्निदेव ! आप सब की गति जानते हैं, यदि मेरे हृदय में मन, वचन और कर्म से रघुनाथजी को छोड़ कर दूसरे की गति नहीं है तो मेरे लिए आप चन्दन के समान शीतल हो जाइए ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

स्रीखंड-सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली ।
जय कोसलेस महेस-बन्दित, चरन रति अति-निर्मली ॥
प्रतिबिम्ब अरु लैाकिक कलङ्क प्रचंड पावक महँ जरे ।
प्रभु चरित काहु न लखे सुर नभ, सिद्ध मुनि देखहिँ खरे ॥३५॥

प्रभु रामचन्द्रजी का स्मरण कर के मिथिलेशनन्दिनी ने चन्दन के समान अग्नि में प्रवेश किया । जिनके चरणों की प्रीति अत्यन्त पवित्र है और जिनकी वन्दना शिवजी करते हैं, कोशलेन्द्र भगवान की जय हो । परछाहीं और लौकिक कलङ्क दोनों तीव्र अग्नि में जल गये । आकाश में देवता, सिद्ध और मुनि खड़े हुए देख रहे हैं, पर स्वामी के (इस गूढ़ रहस्यमय) चरित्र को किसी ने नहीं लख पाया ॥ ३५ ॥

प्रतिबिम्ब और कलङ्क आग में जलनेवाली वस्तु नहीं हैं; तो भी उन्हें जलने को कहा गया, यह रूढ़ि लक्षणा है । यहाँ मुख्यार्थ का बाध है, लक्षणा शक्ति से परछाहीं का जलना कहा गया है । यथा—मुख्य अर्थ को बाध पै, जग में वचन प्रसिद्ध । रूढ़ि लक्षणा कहत हैं, ताको सुमति समृद्ध ॥

धरि रूप पावक पानि गहि स्री,-सत्य स्रुति जग बिदित जो ।
जिमि छीरसागर इन्दिरा रामहिँ समर्पी आनि सो ॥
सो राम बाम-बिभाग राजति, रुचिर अति सोभा भली ।
नव-नील-नीरज निकट मानहुँ, कनक-पङ्कज की कली ॥३६॥

अग्नि ने देह धारण कर के जो वेद और संसार में यथार्थ लक्ष्मी प्रसिद्ध हैं । उनका हाथ

पकड़ कर जैसे क्षीरसागर ने रमा को ला कर सौंपा था, वैसे (सीता को अग्नि ने) रामचन्द्रजी को समर्पण किया। वे रामचन्द्रजी के वाम भाग में सुन्दर विराजती हैं, बड़ी अच्छी छबि हुई। ऐसा मालूम होता है मानों नवीन श्याम-कमल के समीप पीत रङ्ग के कमल की कली शोभित हो रही हो ॥३८॥

दो०—बरषहिँ सुमन हरषि सुर, बाजहिँ गगन निसान।
गावहिँ किन्नर सुर-बधू, नाचहिँ चढ़ी बिमान॥

देवता प्रसन्न हो कर फूल बरसाते हैं और आकाश में नगारे बज रहे हैं। किन्नर गाते हैं और विमानों पर चढ़ी हुई देवाङ्गनाएँ नाच रही हैं।

जनक-सुता समेत प्रभु, सोभा अमित अपार।
देखि भालु कपि हरषे, जय रघुपति सुख-सार ॥१०८॥

जनकनन्दिनी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी की बेपरिमाण अपार शोभा देख कर भालू और बन्दर प्रसन्न हो कर सुख के स्थान रघुनाथजी की जय जयकार करते हैं ॥१०८॥

चौ०—तब रघुपति अनुसासन पाई। मातलि चलेउ चरन सिर नाई॥
आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिँ जनु परमारथी॥१॥

तब रघुनाथजी की आज्ञा पा कर और चरणों में सिर नवा कर मातलि (इन्द्रलोक को) चला गया। सदा के अपने मतलबी देवता आये, वे ऐसे वचन कहते हैं मानों परमार्थी (तत्व जिज्ञासु) हों ॥१॥

दीनबन्धु दयाल रघुराया। देव कीन्ह देवन्ह पर दाया॥
बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग-गामी॥२॥

हे देव, दीनबन्धु, दयालु, रघुनाथजी! आपने देवताओं पर दया की। यह दुष्ट, कामी, कुमार्ग में चलनेवाला (रावण) सारे संसार के द्रोह में तत्पर था, अपने ही पापों से नाश को प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ-सक्ति करुनामय॥३॥

आप समान रूप ब्रह्म, नाश रहित, सदा एक ढङ्ग के स्वाभाविक, उदासीन, (न किसी के शत्रु न मित्र) अङ्ग हीन, निर्गुण, अजन्मे, निर्विकार, अजीत, अव्यर्थ शक्तिवाले और दया के रूप हैं ॥ ३ ॥

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहिँ नसायो॥४॥

आपने मच्छ, कच्छप, बाराह, नृसिंह वामन और परशुराम का शरीर धारण किया। हे नाथ! जब जब देवताओं ने दुःख पाया, तब तब अनेक देह धारण करके आप ही ने उनके कष्टों को नसाया ॥ ४ ॥

रावन पाप-मूल सुर-द्रोही। काम-लोभ-मद-रत अति-कोही॥
सोउ कृपाल तव धाम सिधावा। यह हमरे मन बिसमय आवा॥५॥

रावण पापों का मूल, देवताओं का वैरी, काम, लोभ और घमण्ड में तत्पर अत्यन्त क्रोधी था। हे कृपालु! वह भी आप के लोक (वैकुण्ठ) को गया, यह देख कर हमारे मन में आश्चर्य्य हो रहा है॥५॥

गुटका में 'अधम-सिरोमनि तव पद पावा' पाठ है।

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत तव भगति बिसारी॥
भव-प्रबाह सन्तत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥६॥

हम देवता इस उत्तम पद के अधिकारी हैं, पर स्वार्थ में लग कर आप की भक्ति को भूल गये। हे प्रभो! हम लोग निरन्तर संसार के बहाव में पड़े हैं, अब आप की शरण में आये हैं, रक्षा कीजिए॥६॥

दो०—करि बिनती सुर सिद्ध सब, रहे जहँ तहँ कर जोरि।
अति सप्रेम तन पुलकि बिधि, अस्तुति करत बहोरि॥११०॥

देवता और सिद्ध सब विनती कर के हाथ जोड़े हुए जहाँ तहाँ खड़े रहे। फिर पुलकित शरीर से अत्यन्त प्रेम के साथ ब्रह्माजी स्तुति करने लगे॥११०॥

सभा की प्रति में 'अतिसय प्रेम सरोजभव' पाठ है।

तोटक-छंद।

जय राम सदा सुख-धाम हरे। रघुनायक सायक-चाप-धरे॥
भव बारन-दारन सिंह प्रभो। गुन-सागर नागर नाथ बिभो॥१॥

सदा सुख के धाम भगवान रघुकुल के नायक, हाथ में धनुष-बाण धारण किए हुए रामचन्द्रजी की जय हो। हे प्रभो! संसार रूपी हाथी को विदीर्ण करने के लिए आप सिंह रूप हैं॥१॥

तनु काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध मुनीन्द्र कबी॥
जस पावन रावन नागमहा। खगनाथ जथा करि कोप गहा॥२॥

आप के शरीर की अनुपम छवि असंख्यों कामदेव से बढ़ कर है, आप का गुण सिद्ध, मुनीश्वर और कवि गान करते हैं। आप का यश पवित्र है, रावण रूपी महा सर्प को आपने क्रोध कर के गरुड़ की तरह ग्रस लिया॥२॥

जन-रञ्जन भञ्जन-सोक-भयं। गत-क्रोध सदा प्रभु बोध-मयं॥
अवतार उदार अपार गुनं। महि-भार-बिभञ्जन ज्ञान-घनं॥३॥

आप सेवकों को प्रसन्न करनेवाले और शोक भय के नाशक हैं, हे प्रभो! आप सदा

क्रोध रहित और ज्ञान के रूप हैं। आप के अवतार श्रेष्ठ अनन्त गुणों से पूर्ण हैं आप पृथ्वी का बोझ हटानेवाले और ज्ञान के राशि हैं ॥ ३ ॥

अज व्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा ॥
रघुबंस-बिभूषन दूषनहा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा ॥४॥

आप अजन्मे, व्यापक, अद्वितीय, अनादि, नित्य, दया की खान और राम हैं मैं प्रसन्नता से नमस्कार करता हूँ। रघुकुल के भूषण, दूषण राक्षस को हनन करनेवाले हैं, विभीषण दीन था उसको आपने राजा बना दिया ॥ ४ ॥

गुन-ज्ञान-निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं ॥
भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खलबृन्द-निकन्द महा-कुसलं ॥५॥

आप गुण और ज्ञान के भण्डार, निरभिमान, जन्म न लेनेवाले, त्रिकालव्यापी, परमात्मा तथा अज्ञान रहित हैं, हे राम! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। आप की भुजाओं के बल का प्रताप बहुत बड़ा है, दुष्टों के समुदाय के नाश करने में आप बड़े ही प्रवीण हैं ॥ ५ ॥

बिनु कारन दीन दयाल हितं। छबि-धाम नमामि रमा-सहितं ॥
भव-तारन-कारन काज-परं। मन-सम्भव दारुन-दोष-हरं ॥६॥

आप बिना कारण ही दीनों पर दयालु हो उनकी भलाई करनेवाले हैं, जानकी के सहित शोभाधाम रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ। संसार से पार करने के लिए आप श्रेष्ठ कारण और कार्य्यरूप हैं, मन से उत्पन्न भीषण दोषों के आप हरनेवाले हैं ॥ ६ ॥

सर चाप मनोहर त्रोन धरं। जलजारुन-लोचन भूप बरं ॥
सुख-मन्दिर सुन्दर श्रीरमनं। मद मार मुधा-ममता-समनं ॥७॥

आप सुन्दर धनुष बाण और तरकस लिए हुए, लाल कमल के समान नेत्र वाले श्रेष्ठ राजा हैं। सुन्दर सुख के स्थान, लक्ष्मीकान्त, मद, काम और झूठे ममत्व को आप नाश करनेवाले हैं ॥ ७ ॥

अनवद्य अखंड न गोचर गो। सब रूप सदा सब होइ न गो ॥
इति बेद बदन्ति न दन्तकथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा ॥८॥

आप निर्दोष, निर्विघ्न और इन्द्रियों द्वारा नहीं प्राप्त होते, सदा सर्वरूप हो कर भी सब रूप नहीं हैं। यह वेद की कहनूत है दन्तकथा नहीं, जैसे सूर्य्य और घाम भिन्न होने पर भी भिन्न नहीं हैं ॥८॥

कृतकृत्य बिभो सब बानर ये। निरखन्त तवानन सादर जे ॥
धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥९॥

हे प्रभो! ये सब वानर कृतार्थ हैं, जो आदर-पूर्वक आप के श्रीमुख का अवलोकन करते हैं। हे भगवान्! देव शरीर के जीवन को धिक्कार है, जो आप की भक्ति के बिना संसार में भूल कर पड़े हुए हैं ॥९॥

अब दीनदयाल दया करिये । मति मोरि बिभेदकरी हरिये ॥
जेहि तें विपरीत क्रिया करिये । दुख सो सुख मानि सुखी चरिये ॥१०॥

हे दीनदयाल ! अब दया कीजिए और मेरी भेद-बुद्धि को हर लीजिए । जिससे मैं उलटा कर्म करता हूँ कि जो दुःख है उसको सुख मान कर उसी में प्रसन्न हो विहार करता हूँ ॥१०॥

खल-खंडन मंडन-रम्य-छमा । पद-पङ्कज सेबित सम्भु उमा ॥
नृप-नायक दे बरदानमिदं । चरनाम्बुज प्रेम सदा सुभदं ॥११॥

आप दुष्टों के विनाशक और पृथ्वी के रमणीय भूषण हैं, आप के चरण-कमलों की सेवा शिव-पार्वती करते हैं । हे राजराज ! अपने चरण-कमलों का प्रेम जो सदा कल्याणदाता है, वही मुझे वरदान दीजिए (आपके चरणों में सदा मेरा प्रेम बना रहे) ॥११॥

दो०--बिनय कीन्हि चतुरानन, प्रेम पुलकि अति गात ।
सोभा सिन्धु बिलोकत, लोचन नहीं अघात ॥१११॥

ब्रह्मा ने अत्यन्त प्रेम से पुलकित शरीर हो कर बिनती की और शोभा के समुद्र (रामचन्द्रजी) को अवलोकन कर उनके नेत्र नहीं अघाते हैं ॥१११॥

चौ०-तेहि अवसर दसरथ तहँ आये । तनय बिलोकि नयन जल छाये ॥
अनुज सहित प्रभु बन्दन कीन्हा । आसिरबाद पिता तब दीन्हा ॥१॥

उस समय वहाँ दशरथजी आये और पुत्रों को देख कर उनकी आँखों में जल भर आया । छोटे भाई के सहित प्रभु रामचन्द्रजी ने प्रणाम किया, तब पिता ने आशीर्वाद दिया ॥१॥

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ । जीतेउँ अजय निसाचर-राऊ ॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी । नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी ॥२॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे पिताजी ! आप के पुण्य की महिमा से दुर्जय राक्षसराज को मैं ने जीता । पुत्र की बात सुन कर बड़ी प्रीति बढ़ी, आँखों में आँसू आ गया और रोमावली खड़ी हो गई ॥२॥

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना । चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना ॥
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो । दसरथ भेद-भगति मन लायो ॥३॥

रघुनाथजी ने प्रथम का प्रेम अनुमान कर पिता की ओर निहार कर उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया । शिवजी कहते हैं—हे उमा ! दशरथजी इसलिए मोक्ष नहीं पाये कि उन्होंने भेद-भक्ति में मन लगाया था ॥३॥

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा । दसरथ हरषि गये सुरधामा ॥४॥

सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले मोक्ष नहीं लेते, उनको रामचन्द्रजी अपनी भक्ति देते हैं । बार बार प्रभु को प्रणाम करके प्रसन्न होकर दशरथजी देवलोक को गए ॥४॥

दो०–अनुज-जानकी-सहित प्रभु, कुसल कोसलाधीस ।
सोभा देखि हरषि मन, अस्तुति कर सुर-ईस ॥११२॥

छोटे भाई लक्ष्मण और जानकीजीके सहित कोशलनाथ प्रभु रामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ शोभा को देख कर मन में प्रसन्न हो देवताओं के मालिक (इन्द्र) स्तुति करने लगे ॥११२॥

तोमर-छन्द ।

जय राम सोभा-धाम । दायक प्रनत बिस्राम ।
धृत त्रोन बर सर चाप । भुजदंड प्रबल प्रताप ॥९॥

हे शोभा के धाम रामचन्द्रजी ! शरणागतों को विश्राम देनेवाले, आप की जय हो । आप धनुष, बाण और श्रेष्ठ तरकस धारण किये हुए हैं, आप के भुजदण्डों के बल की बड़ी महिमा है ॥९॥

जय दूषनारि खरारि । मर्दन-निसाचर-धारि ।
यह दुष्ट मारेउ नाथ । भये देव सकल सनाथ ॥१०॥

हे दूषण और खर के वैरी ! राक्षसों की सेना के नाशक, आपकी जय हो । हे नाथ ! आपने इस दुष्ट (रावण) को मारा जिससे सम्पूर्ण देवता सपक्ष हुए ॥१०॥

जय हरन धरनी भार । महिमा उदार अपार ।
जय रावनारि कृपाल । किय जातुधान बिहाल ॥११॥

आप धरती के बोझ को हरनेवाले और बहुत बड़ी श्रेष्ठ महिमावाले हैं, आप की जय हो । हे कृपालु रावण के वैरी ! आपने राक्षसों को चेष्टा हीन कर दिया, आप की जय हो ॥११॥

लङ्केस अति बल गर्ब । किय बस्य सुर गन्धर्ब ।
मुनि सिद्ध खग नर नाग । हठि पन्थ सब के लाग ॥१२॥

लङ्केश्वर को अपने बल का बड़ा घमण्ड था, उसने देवता और गन्धर्वों को वश में कर लिया । मुनि, सिद्ध, पक्षी, मनुष्य और नाग आदि सभी के रास्ते हठ से लग गया था ॥१२॥

पर-द्रोह-रत अति दुष्ट । पायो सो फल पापिष्ट ।
अब सुनहु दीनदयाल । राजीव-नयन-बिसाल ॥१३॥

पराये के द्रोह में तत्पर महाखल पापी (रावण) ने वैसा फल पाया । हे दीनदयाल विशाल कमल के समान नेत्रवाले महाराज ! अब (मेरी बिनती) सुनिए ॥१३॥

मोहि रहा अति अभिमान । नहिँ कोउ मोहि समान ।
अब देखि प्रभु-पद-कञ्ज । गत मान-प्रद-दुख-पुञ्ज ॥१४॥

मुझे बड़ा अभिमान था कि मेरे समान कोई नहीं है । अब स्वामी के चरण-कमलों को देख कर वह समूह दुःख प्रदान करनेवाला अभिमान जाता रहा ॥ १४ ॥

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव । अव्यक्त जेहि स्रुति गाव ।
मोहि भाव कोसलभूप । श्रीराम सगुन सरूप ॥१५॥

कोई निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं जिनको वेद अप्रत्यक्ष गाते हैं । पर मुझे अयोध्या-नरेश सगुण-रूप श्रीरामचन्द्रजी प्रिय लगते हैं ॥ १५ ॥

वैदेहि अनुज समेत । मम हृदय करहु निकेत ।
मोहि जानिये निजदास । दे भक्ति रमा-निवास ॥१६॥

जनकनन्दिनी और छोटे भाई लक्ष्मण के सहित मेरे हृदय में निवास कीजिए। हे जानकीनाथ ! मुझे अपना दास समझिए और अपनी भक्ति दीजिए ॥ १६ ॥

हरिगीतिका छन्द ।

दे भक्ति रमानिवास त्रास-हरन सरन-सुख-दायकं ।
सुख-धाम राम नमामि काम अनेक छबि रघुनायकं ॥
सुर-बृन्द-रञ्जन द्वन्द भञ्जन, मनुज तनु अतुलित बलं ।
ब्रह्मादि सङ्कर सेब्य राम नमामि करुना-कोमलं ॥१७॥

हे लक्ष्मीकान्त ! शरणागतों के भयहारी और सुख देनेवाले ! मुझे अपनी भक्ति दीजिए । असंख्यों कामदेव की शोभावाले, सुख के धाम, रघुकुल के प्रधान रामचन्द्रजी ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ । देवता-समूह को आनन्द देनेवाले, विग्रह को नसानेवाले आप मनुष्य देह में अप्रमाण बलशाली हैं । हे ब्रह्मा आदि देवता और शिवजी से सेवनीय, दयामय कोमल स्वभाव वाले रामचन्द्रजी ! मैं आप को प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

दो०—अब करि कृपा बिलोकि मोहि, आयसु देहु कृपाल ।
काह करउँ सुनि प्रिय बचन, बोले दीनदयाल ॥११३॥

हे कृपालु ! अब दया करके मेरी ओर निहारिये और मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं कौन सी सेवा करूँ ? इस तरह इन्द्र के प्रिय वचन सुन कर दीनदयाल रामचन्द्रजी बोले ॥ ११३ ॥

चौ०—सुनु सुरपति कपि भालु हमारे । परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे ॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना । सकल जियाउ सुरेस सुजाना ॥१॥

हे देवराज ! सुनो, हमारे बन्दर-भालुओं को जिन्हें राक्षसों ने मार डाला और वे धरती पर मरे पड़े हैं । हे सुजान इन्द्र ! उन्हों ने मेरी भलाई के लिए प्राण तजा है, इसलिये तुम सब को जिला दो ॥ १ ॥

सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी । अति अगाध जानहिँ मुनि-ज्ञानी ॥
प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई । केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥२॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़ ! प्रभु रामचन्द्रजी की यह वाणी बहुत गहरी (गूढ़ा-

शय से भरी) है, इसको ज्ञानी मुनि जानते हैं। प्रभु तीनों लोकों को मार और जिला सकते हैं, यहाँ केवल इन्द्र को बड़ाई दी है ॥ २ ॥

पहले भुशुण्डी ने कहा कि इन्द्र से रामचन्द्रजी कहते हैं मेरे बन्दर-भालुओं को जीवित कर दो। फिर अपनी ही प्रथम कही हुई बात पर यह कह कर आक्षेप करते हैं कि प्रभु त्रिलोकी को मारने और जिला देने में समर्थ हैं, केवल इन्द्र को बड़प्पन दिया 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।

सुधा बरषि कपि भालु जिआये । हरषि उठे सब प्रभु पहिँ आये ॥
सुधा-बृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर । जिये भालु-कपि नहिँ रजनीचर ॥३॥

इन्द्र ने अमृत की वर्षा कर के बन्दर-भालुओं को जिला दिया, वे सब प्रसन्न होकर उठे और प्रभु रामचन्द्रजी के पास आये। अमृत वर्षा दोनों दल पर हुई; किन्तु भालू-बन्दर तो जी गये और राक्षस नहीं जिये ॥३॥

एक ही वस्तु अमृत-वर्षा से विपरीत कार्य्य प्रकट होना कि एक जिये दूसरे नहीं 'प्रथम व्याघात अलंकार' है। ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर कागभुशुण्डजी स्वयम् देते हैं। 'दल' शब्द में अर्थप्रकरण से केवल 'सेना' की अभिधा है।

रामाकार भये तिन्ह के मन । मुक्त भये छूटे भव-बन्धन ॥
सुर-अंसिक सब कपि अरु रीछा । जिये सकल रघुपति की ईछा ॥४॥

उन राक्षसों के मन रामचन्द्रजी में मिलकर तद्रूप हो गये, इसलिये वे संसारी-बन्धन से छूट कर मोक्ष पा गये। बन्दर और भालू सब देवताओं के अंश से उत्पन्न हैं, रघुनाथजी की इच्छा से वे समस्त योद्धा जी गये ॥४॥

'हरि इच्छा भावी बलवाना' रघुनाथजी की इच्छा ही अटल होनहार है।

राम सरिस को दीन-हितकारी । कीन्हे मुक्त निसाचर-झारी ॥
खल मल-धाम काम-रत रावन । गति पाई जो मुनिवर पाव न ॥५॥

रामचन्द्रजी के समान दीन हितकारी कौन है ? जिन्होंने सम्पूर्ण राक्षसों को मुक्त कर दिया। दुष्ट, पाप का घर, कामासक्त रावण ने वह गति पाई जो अच्छे अच्छे मुनि नहीं पाते ॥५॥

दो०—सुमन बरषि सब सुर चले, चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान ।
देखि सुअवसर राम पहिँ, आये सम्भु सुजान ॥

फूलों की वर्षा कर के सब देवता सुन्दर विमानों पर चढ़ चढ़ कर चले। अच्छा समय देख सुजान शिवजी रामचन्द्रजी के पास आये।

परम-प्रीति कर जोरि जुग, नलिन-नयन भरि बारि ।
पुलकित-तनु गदगद गिरा, बिनय करत त्रिपुरारि ॥११४॥

अत्यन्त प्रेम से दोनों हाथ जोड़ कर कमल-नेत्रों में जल भर पुलकित शरीर गद्गद वाणी से त्रिपुरान्तक भगवान स्तुति करने लगे ॥११४॥

डिल्ला-छन्द

मामभिरक्षय रघुकुल-नायक । धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥
मोह-महा-घन-पटल प्रभञ्जन । संसय-बिपिन-अनल-सुर-रञ्जन ॥१॥

हे रघुकुल नायक! मनोहर हाथों में सुन्दर धनुष-बाण धारण किये हुए मेरी रक्षा कीजिए। महामोह रूपी बादलों की पंक्ति को तितर बितर करने में आप पवन रूप हैं, संशय रूपी घन को जलानेवाले दावानल और देवताओं को प्रसन्न करनेवाले हैं ॥१॥

सगुन अगुन गुन-मन्दिर सुन्दर । भ्रम-तम-प्रबल-प्रताप-दिवाकर ॥
काम-क्रोध-मद-गज पञ्चानन । बसहु निरन्तर जन-मन-कानन ॥२॥

आप सगुण निर्गुण और सुन्दर गुणों के स्थान हैं, भ्रम रूपी अन्धकार के लिए आप का प्रताप प्रचण्ड सूर्य्य है। काम, क्रोध और मद रूपी हाथियों के लिये आप सिंह हैं, भक्तों के मन रूपी जङ्गल में सदा निवास करनेवाले हैं ॥२॥

विषय-मनोरथ-पुञ्ज कञ्ज-बन । प्रबल-तुषार उदार पार-मन ॥
भव बारिधि-मन्दर-पर मन्दर । बारय तारय संसृति दुस्तर ॥३॥

विषयों के समूह मनोरथ रूपी कमल वन के लिये आप प्रचण्ड पाला रूप हैं, दानशील और मन से परे हैं। संसार रूपी समुद्र को मथने के लिये मन्दराचल से बढ़ कर आप मन्दर रूप हैं, दुस्तर संसार से आप (जीव को, छुड़ानेवाले और) पार उतारनेवाले हैं ॥३॥

स्याम-गात राजीवबिलोचन । दीनबन्धु प्रनतारति-मोचन ॥
अनुज जानकी सहित निरन्तर । बसहु राम-नृप मम उर अन्तर ॥४॥

आप श्यामल शरीर, कमल-नेत्र, दीनों के सहायक और शरणागतों के दुःख को दूर करनेवाले हैं। छोटे भाई लक्ष्मण और जानकीजी के सहित हे राजा रामचन्द्रजी! मेरे हृदय में निवास कीजिए ॥४॥

मुनि-रञ्जन महिमंडल-मंडन । तुलसिदास-प्रभु त्रास-बिखंडन ॥५॥

हे तुलसीदास के स्वामी! आप मुनियों को प्रसन्न करनेवाले भूमण्डल के भूषण और भय के नाशक हैं ॥५॥

कहाँ त्रेतायुग में शिवजी का स्तुति करना और कहाँ लाखों वर्ष के पीछे कलियुग में गोसाँईजी की उत्पत्ति, फिर शिवजी के मुख से तुलसीदास के स्वामी का सम्बोधन दिलाना अयुक्त सा प्रतीत होता है। परन्तु जहाँ कवि लोग भावी अर्थ को प्रत्यक्ष की तरह वर्णन करते हैं, वह भाविक अलंकार माना जाता है। यहाँ वही अलंकार है, इससे सन्देह का कोई कारण नहीं है।

दो०—नाथ जबहिं कोसलपुरी, होइहि तिलक तुम्हार।
कृपासिन्धु मैं आउब, देखन चरित उदार ॥ ११५ ॥

हे दयासागर नाथ! अयोध्यापुरी में जिस समय आप का राजतिलक होगा उस श्रेष्ठ चरित्र को देखने के लिए मैं आऊँगा ॥११५॥

चौ०—करि बिनती जब सम्भु सिधाये। तब प्रभु निकट बिभीषन आये॥
नाइ चरन सिर कह मृदु-बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँग-पानी॥१॥

जब विनती कर के शिवजी चले गये, तब प्रभु रामचन्द्रजी के समीप विभीषण आये। उन्होंने चरणों में मस्तक नवा कर कोमल वाणी से कहा—हे शार्ङ्गपाणि प्रभो! मेरी विनती सुनिए ॥ १ ॥

सकुल सदल प्रभु रावन मारयो। पावन-जस त्रिभुवन-बिस्तारयो॥
दीन मलीन हीन-मति-जाती। मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती ॥२॥

हे प्रभो! आपने सकुटुम्ब और सेना के सहित रावण को मार कर तीनों लोकों में पवित्र यश फैलाया। मुझ से दीन, मलिन, बुद्धिहीन और नीचजाति पर बहुत तरह से कृपा की ॥ २ ॥

अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै। मज्जन करिय समर-स्रम छीजै॥
देखि कोस मन्दिर सम्पदा। देहु कृपाल कपिन्ह कह मुदा ॥३॥

हे स्वामिन्! अब इस सेवक का घर पवित्र कीजिये और स्नान करिये जिसमें लड़ाई की थकावट दूर हो। भण्डार, गृह और सम्पत्ति देख कर, हे कृपालु! प्रसन्नता से बन्दरों को दीजिए ॥ ३ ॥

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय॥
सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भये दोउ नयन बिसाला ॥४॥

हे नाथ! सब प्रकार मुझे अपनाइये फिर मेरे सहित अयोध्यापुरी को चलिये। इस तरह विभीषण के मधुर वचन सुन कर दीनदयाल रामचन्द्रजी के दोनों विशाल नेत्रों में जल भर आये ॥ ४ ॥

दो०—तोर कोस-गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि, निमिष कलप सम जात ॥

रामचन्द्रजी बोले—हे भाई! सुनो, तुम्हारा ख़ज़ाना और घर सब मेरा ही है, मैं सत्य कहता हूँ। भरत की दशा स्मरण कर मुझे एक पल कल्प के समान बीत रहा है।

तापस बेष गात कृस, जपत निरन्तर मोहि।
देखउँ बेगि सो जतन करु, सखा निहोरउँ तोहि ॥

तपस्वी वेष में दुबले शरीर से जो मुझे निरन्तर जप रहे हैं। हे मित्र! मैं तुम्हारा उपकार मानूंगा कि शीघ्र वही उपाय करो जिसमें उन्हें देखूँ।

बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर॥

यदि करार बीत जाने पर जाऊँगा तो उस वीर को जीता न पाऊँगा। प्रभु रामचन्द्रजी का शरीर छोटे भाई भरत का स्नेह स्मरण करके बार बार पुलकित हो रहा है।

करेहु कलप भरि राज तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माहिँ।
पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ सन्त सब जाहिँ॥११६॥

तुम कल्प पर्य्यन्त राज्य करना और मन में मेरा स्मरण रखना। फिर मेरे उस धाम को पाओगे जहाँ सब सन्त लोग जाते हैं॥११६॥

चौ०-सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपा-धाम के॥
बानर भालु सकल हरषाने। गहि प्रभु-पद गुन बिमल बखाने॥१॥

रामचन्द्रजी के वचनों को सुन कर विभीषण ने प्रसन्नता से दयानिधान के पाँव पकड़ लिये। सम्पूर्ण वानर और भालू आनन्दित हो कर प्रभु के चरणों में प्रणाम किया और निर्मल गुण बखान रहे हैं॥१॥

बहुरि बिभीषन भवन सिधायो। मनि-गन-बसन बिमान भरायो॥
लेइ पुष्पक प्रभु आगे राखा। हँसि करि कृपासिन्धु अस भाखा॥२॥

फिर विभीषण घर गये और बहुत से रत्न एवम् वस्त्र विमान में भरवाया। पुष्पक विमान को ले जा कर प्रभु रामचन्द्रजी के सामने रख दिया, उसे देख हँस कर कृपासिन्धु ने ऐसा कहा॥२॥

चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट-भूषन॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबहीं। बरषि दिये मनि अम्बर सबहीं॥३॥

हे मित्र विभीषण! सुनो, विमान पर चढ़ कर आकाश में चले जाओ और वस्त्र तथा आभूषणों की वर्षा कर दो। तुरन्त विभीषण आसमान में जा कर सम्पूर्ण वस्त्रों और मणियों को बरस दिये॥३॥

जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं॥
हँसे राम स्त्री-अनुज-समेता। परम-कौतुकी कृपा-निकेता॥४॥

जो जो मन में सुहाता है वह लेते हैं, मणियों को मुख में रख कर बन्दर फेंक देते हैं। बड़े खेलवाड़ी कृपानिधान रामचन्द्रजी (यह तमाशा देख कर) छोटे भाई लक्ष्मण और जानकीजी के सहित हँसे॥४॥

रत्नादि खाने की वस्तु नहीं, उसे खाने के लिए मुखमें डालना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है। और मणि को खाने की चीज़ समझना भ्रान्ति है, दोनों का सन्देहसङ्कर है।

दो०—मुनि जेहि ध्यान न पावहिँ, नेति नेति कह बेद ।
कृपासिन्धु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक बिनोद ॥

मुनि लोग जिनको ध्यान में नहीं पाते और जिन्हें वेद नेति नेति कहते हैं, वे ही कृपासागर भगवान बन्दरों के साथ अनेक तरह के खेल कर रहे हैं ।

उमा जोग जप दान तप, नाना ब्रत मख नेम ।
राम-कृपा नहिँ करहिँ तसि, जसि निस्केवल प्रेम ॥११७॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! योग, जप, दान, तपस्या, उपवास और नाना प्रकार के नेमों से रामचन्द्रजी वैसी कृपा नहीं करते जैसी निष्केवल (निखालिस) प्रेम से दया करते हैं ॥११७॥

चौ०—भालु कपिन्ह पट भूषन पाये । पहिरि पहिरि रघुपति पहँ आये ॥
नाना जिनिस देखि प्रभु कीसा । पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा ॥१॥

भालू और बन्दरों को वस्त्र भूषण मिले, उन्हें पहन पहन कर वे रघुनाथजी के पास आये । कोशलाधिपति स्वामी नाना प्रकार के बन्दरों को (विलक्षण पहनावा अर्थात् सिर के भूषण पाँव में और पैर के गले में इत्यादि) देख कर बार बार हँस रहे हैं ॥१॥

चितइ सबन्हि पर कीन्ही दाया । बोले मृदुल बचन रघुराया ॥
तुम्हरे बल मैं रावन मारा । तिलक बिभीषन कहँ पुनि सारा ॥२॥

रघुनाथजी ने सब पर दया कर के देखा और कोमल वचन बोले । तुम्हारे ही बल से मैं ने रावण को मारा, फिर विभीषण को राजतिलक किया ॥२॥

निज निज-गृह अब तुम्ह सब जाहू । सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू ॥
बचन सुनत प्रेमाकुल बानर । जोरि पानि बोले सब सादर ॥३॥

अब तुम सब अपने अपने घर जाते जाओ, मुझे याद करना और किसी से डरना मत । इस प्रकार रामचन्द्रजी के वचनों के सुनते ही बन्दर प्रेम से व्याकुल हो गये सब हाथ जोड़ कर आदर के साथ बोले ॥३॥

प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिँ सब सोहा । हमरे होत बचन सुनि मोहा ॥
दीन जानि कपि किये सनाथा । तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा ॥४॥

हे स्वामिन् ! आप जो कुछ कहें वह सब सोहता है, पर आप की बातों को सुन कर हम लोगों को मोह (अज्ञान) होता है । हे रघुनाथजी ! आप तीनों लोकों के मालिक हैं, (हम सब तो यह समझते हैं) बन्दरों को दीन जान कर आपने सपक्ष बना दिया है ॥ ४ ॥

सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं । मसक कहूँ खगपति हित करहीं ॥
देखि राम रुख बानर रीछा । प्रेम मगन नहिँ गृह कै ईछा ॥५॥

स्वामी के वचनों को सुन कर हम लाज से मरे जाते हैं, कहीं मच्छड़ पक्षिराज की

सहायता कर सकते हैं? (कदापि नहीं)। रामचन्द्रजी का रुख देख कर वानर और रीछ प्रेम में मग्न हो गये, किसी की इच्छा घर जाने की नहीं है ॥५॥

दो०—प्रभु प्रेरित कपि भालु सब, राम-रूप उर राखि।
हरष बिषाद सहित चले, बिनय बिबिध बिधि भाखि॥

प्रभु की आज्ञा से सब बन्दर और भालू रामचन्द्रजी के रूप को हृदय में रख नाना प्रकार से विनती कर के हर्ष-विषाद सहित चले।

आनन्द घर जाने का और दुःख रामचन्द्रजी के वियोग का, दोनों भाव साथ ही हृदय में उत्पन्न होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

कपिपति नील रीछपति, अङ्गद नल हनुमान।
सहित बिभीषन अपर जे, जूथप कपि बलवान॥

सुग्रीव, नील, जाम्बवान, अङ्गद, नल, हनूमान और विभीषण के सहित जो दूसरे बलवान यूथपति बन्दर हैं।

कहि न सकहिँ कछु प्रेम-बस, भरि भरि लोचन बारि।
सनमुख चितवहिँ राम तन, नयन निमेष निवारि॥११८॥

आँखों में आँसू भर भर कर प्रेम के अधीन हो कुछ कह नहीं सकते हैं, नेत्रों की पलक गिराना छोड़ कर टकटकी लगाये रामचन्द्रजी की ओर सामने देख रहे हैं॥ ११८॥

चौ०—अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥
मन महँ बिप्र-चरन सिर नावा। उत्तर दिसिहि बिमान चलावा॥१॥

रघुनाथजी ने उनकी अत्यन्त प्रीति देख कर सब को विमान पर चढ़ा लिया। मन में ब्राह्मण के चरणों में सिर नवाया और उत्तर दिशा को विमान चलाया॥ १॥

चलत बिमान कोलाहल होई। जय रघुबीर कहइ सब कोई॥
सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्री समेत बैठे प्रभु ता पर॥२॥

व्योमयान के चलते समय बड़ा शोर हुआ, सब कोई रघुनाथजी का जय जयकार करते हैं। अत्यन्त सुन्दर ऊँचे सिंहासन पर सीताजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी विराजमान हैं॥२॥

राजत राम सहित भामिनी। मेरु-सृङ्ग जनु घन दामिनी॥
रुचिर बिमान चलेउ अति आतुर। कीन्ही सुमन-बृष्टि हरषे सुर॥३॥

भार्य्या (सीताजी) के सहित रामचन्द्रजी सुशोभित हो रहे हैं, ऐसा मालूम होता है मानों बिजली के साथ बादल सुमेरु-पर्वत के शिखर पर शोभायमान हो। वह सुन्दर विमान बड़ी शीघ्रता से चला, देवता प्रसन्न हो कर फूलों की वर्षा करने लगे॥३॥

विमान और सुमेरु पर्वत, सिंहासन और शिखर, रामचन्द्रजी और श्याम मेघ, सीताजी और बिजली परस्पर उपमेय उपमान हैं।

परम-सुखद चलि त्रिबिधि बयारी । सागर सर सरि निर्मल बारी ॥
सगुन होहिँ सुन्दर चहुँ पासा । मन प्रसन्न निर्मल नभ आसा ॥४॥

अतिशय सुखदायिनी तीनों प्रकार की (शीतल, मन्द, सुगन्धित) हवा चल रही है, समुद्र, तालाब और नदियों के जल निर्मल हो रहे हैं । चारों ओर सुन्दर सगुन होते हैं, सब का मन प्रसन्न है, आकाश और दिशाएँ स्वच्छ शोभित हो रही हैं ॥ ४॥

कह रघुबीर देखु रन सीता । लछिमन इहाँ हतेउ इँद्रजीता ॥
हनूमान अङ्गद के मारे । रन-महि परे निसाचर भारे ॥५॥

रघुनाथजी ने कहा—हे सीता ! रणक्षेत्र देखो, यहाँ लक्ष्मण ने मेघनाद को मारा है और यह देखो हनूमान-अङ्गद के मारने से बड़े बड़े राक्षस युद्धभूमि में पड़े हैं ॥ ५ ॥

कुम्भकरन रावन दोउ भाई । इहाँ हते सुर-मुनि-दुखदाई ॥६॥

देवता और मुनियों को दुःख देनेवाले रावण तथा कुम्भकर्ण दोनों भाइयों को यहाँ मैं ने वध किया ॥ ६ ॥

दो०—इहाँ सेतु बाँधेउँ अरु, थापेउँ सिव सुख-धाम ।
सीता सहित कृपानिधि, सम्भुहि कीन्ह प्रनाम ॥

यहाँ (समुद्र पर) पुल बाँधा और सुख के स्थान शिवजी की स्थापना की है । कृपा-निधान रामचन्द्रजी ने सीताजी के सहित शङ्कर भगवान को प्रणाम किया ।

जहँ जहँ करुनासिन्धु बन, कीन्ह बास बिस्राम ।
सकल देखाये जानकिहि, कहे सबन्हि के नाम ॥११९॥

जहाँ जहाँ वन में दयासागर रामचन्द्रजी ने निवास और विश्राम किया था वह सब जानकीजी को दिखाया और सब के नाम कहे ॥ ११९ ॥

पूर्व में किए हुए कार्य्यों का उन स्थानों को देख कर रामचन्द्रजी को स्मरण हो आना 'स्मृति सञ्चारीभाव' है ।

चौ०—सपदि बिमान तहाँ चलि आवा । दंडकबन जहँ परमसुहावा ॥
कुम्भजादि मुनि-नायक नाना । गये राम सब के असथाना ॥१॥

विमान चल कर शीघ्र ही वहाँ आया, जहाँ अत्यन्त सुहावना दण्डकवन है । अगस्त्य आदि बहुत से मुनीश्वर जो वहाँ रहते थे, रामचन्द्रजी सब के स्थान में गये ॥१॥

सकल रिषिन्ह सन पाइ असीसा । चित्रकूट आयउ जगदीसा ॥
तहँ करि मुनिन्ह केर सन्तोखा । चला बिमान तहाँ ते चोखा ॥२॥

सम्पूर्ण ऋषियों से आशीर्वाद पा कर जगदीश्वर रामचन्द्रजी चित्रकूट में आये । वहाँ मुनियों को सन्तुष्ट कर के फिर वह श्रेष्ठ वायुयान वहाँ से आगे चला ॥२॥

बहुरि राम जानकिहि देखाई । जमुना कलिमल-हरनि सुहाई ॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता । राम कहा प्रनाम करु सीता ॥३॥

फिर रामचन्द्रजी ने पापों की हरनेवाली सुहावनी यमुना नदी जानकीजी को दिखायी। तदनन्तर पवित्र गङ्गाजी को देखा, रामचन्द्रजी ने कहा—हे सीते! गङ्गाजी को प्रणाम करो ॥ ३ ॥

तीरथपति पुनि देखु प्रयागा । निरखत जनम-कोटि-अघ भागा ॥
देखु परम-पावनि पुनि बेनी । हरनि सोक हरिलोक-निसेनी ॥४॥

फिर तीर्थराज प्रयाग को देखो, जिनके दर्शन से करोड़ों जन्मों के पाप भाग जाते हैं। पुनः अतिशय पुनीत त्रिवेणी (सङ्गम) को देखो, जो शोक की हरनेवाली और विष्णुलोक (वैकुण्ठ) की सीढ़ी है ॥४॥

पुनि लखु अवधपुरी अति पावनि । त्रिबिधि-ताप भव-रोग नसावनि ॥५॥

फिर अत्यन्त पवित्र अयोध्यपुरी को देखो, जो तीनों ताप (आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक) और संसारी रोगों (जन्म, मृत्यु, गर्भवास) की हरनेवाली है ॥५॥

दो०—सीता सहित अवध कहँ, कीन्ह कृपाल प्रनाम ।
सजल-नयन तन-पुलकित, पुनि पुनि हरषित राम ॥

कृपालु भगवान् सीताजी के सहित अयोध्यापुरी को प्रणाम किया। आँखों में जल भर आया; शरीर पुलकित हो गया, रामचन्द्रजी बारम्बार हर्षित हो रहे हैं।

पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी, हरषित मज्जन कीन्ह ।
कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ, दान बिबिध बिधि दीन्ह ॥१२०॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी ने आ कर प्रसन्नता से त्रिवेणी में स्नान किया। वानरों के सहित ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान दिये ॥१२० ॥

'कपिन्ह सहित' दोनों ओर लगता है अर्थात् बन्दरों सहित स्नान किये और कीसों समेत ब्राह्मणों को नाना तरह के दान दिये 'देहरी दीपक अलंकार' है।

चौ०—प्रभु हनुमन्तहि कहा बुझाई । धरि बटु-रूप अवधपुर जाई ॥
भरतहि कुसल हमारि सुनायहु । समाचार लेइ तुम्ह चलि आयहु ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने हनुमानजी को समझा कर कहा—हे पवनकुमार! तुम ब्रह्मचारी का रूप धारण कर के अयोध्यापुरी में जाओ भरत को हमारी कुशलता सुनाना और उनका समाचार ले कर चले आना ॥१॥

'बुझाई' शब्द में व्यङ्ग है कि जा कर देखना ऐश्वर्य्य सम्पन्न बाप दादों का राज्य किसके मन को नहीं बिगाड़ता? सङ्ग-वश भरत राज्यार्थी तो नहीं हो गये। ब्राह्मण का रूप मङ्गलीक है और हनूमानजी ब्रह्मचारी वेष धारण करने में बड़े प्रवीण हैं, इसलिए बटुरूप लेने को स्वामी ने कहा।

तुरत पवन-सुत गवनत भयऊ । तब प्रभु भरद्वाज पहिँ गयऊ ॥
नाना बिधि मुनि पूजा कीन्ही । अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्ही ॥२॥

आज्ञा पाते ही पवनकुमार तुरन्त चल दिये, तब प्रभु रामचन्द्रजी भरद्वाज मुनि के पास गये। मुनि ने अनेक प्रकार से पूजा की, फिर स्तुति कर के आशीर्वाद दिया ॥२॥

मुनि-पद बन्दि जुगल कर जोरी । चढ़ि बिमान प्रभु चले बहोरी ॥
इहाँ निषाद सुना प्रभु आये । नाव नाव कहि लोग बुलाये ॥३॥

प्रभु रामचन्द्रजी दोनों हाथ जोड़ मुनि के चरणों की वन्दना कर के फिर विमान पर चढ़ कर चले। यहाँ निषादराज ने सुना कि स्वामी आ गये, उसने नाव नाव कह कर लोगों को बुलाया ॥३॥

सुरसरि नाँघि जान जब आयो । उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो ॥
तब सीता पूजी सुरसरी । बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी ॥४॥

जब गङ्गाजी लाँघ कर विमान इस पार आ गया और प्रभु रामचन्द्रजी की आज्ञा पा कर किनारे उतरा, तब सीताजी ने विबुधनदी का पूजन किया (जो जाती बेर मनौती कर गई थीं) फिर बहुत तरह से उनके पाँवों पर पड़ीं ॥४॥

दीन्हि असीस हरषि मन गङ्गा । सुन्दरि तव अहिवात अभङ्गा ॥
सुनत गुहा धायउ प्रेमाकुल । आयउ निकट परम-सुख-सङ्कुल ॥५॥

गंगाजी ने प्रसन्न मन से आशीर्वाद दिया; उन्हों ने कहा—हे सुन्दरी! तुम्हारा अखण्ड अहिवात हो। (रामचन्द्रजी का गंगा-तट पर उतरना) सुनते ही गुहा प्रेम से विह्वल होकर दौड़ा और अतिशय आनन्द से परिपूर्ण समीप आया ॥ ५ ॥

प्रभुहि सहित बिलोकि बैदेही । परेउ अवनि तन सुधि नहिँ तेही ॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई । हरषि उठाइ लियो उर लाई ॥६॥

जनकनन्दिनी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर धरती पर पड़ गया, उसको अपने शरीर की सुध नहीं रही। उसकी अत्युत्तम प्रीति देख कर रघुनाथजी ने प्रसन्नता से उठा कर हृदय में लगा लिया ॥६॥

हरिगीतिका-छन्द ।

लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती ।
बैठारि परम-समीप बूझी,-कुसल सो कर बीनती ॥

अब कुसल पद-पङ्कज बिलोकि बिरञ्चि-सङ्कर-सेव्य जे ।
सुख-धाम पूरन-काम राम नमामि राम नमामि ते ॥३८॥

सुजान लक्ष्मीकान्त कृपानिधान राजा रामचन्द्रजी ने हृदय से लगा लिया और बिलकुल पास में बैठा कर कुशल पूँछा, वह विनती करने लगा। हे रामचन्द्रजी! जिन चरण-कमलों की सेवा ब्रह्मा और शिवजी करते हैं, उन्हें देख कर अब मेरा सब तरह कुशल-मंगल है। हे सुख के स्थान पूर्णकाम रामचन्द्रजी! आप को मैं बार बार नमस्कार-प्रणाम करता हूँ ॥३८॥

निषादराज ने कुशल का कारण बहुत ही मनोहर कहा 'काव्यलिंग अलंकार' है।

सब भाँति अधम निषाद सो हरि, भरत ज्यों उर लाइयो ।
मति-मन्द तुलसीदास सो प्रभु, मोह-बस बिसराइयो ॥
यह रावनारि चरित्र पावन राम-पद-रति-प्रद सदा ।
कामादि-हर बिज्ञान-कर,-सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा ॥३९॥

सब प्रकार नीच निषाद; उसको भगवान ने भरतकी तरह हृदय से लगा लिया! तुलसीदासजी कहते हैं कि मोह के अधीन हो कर, अरे नीच-बुद्धि! तू ने उन स्वामी को भुला दिया। रावण के वैरी रामचन्द्रजी का यह चरित रामचन्द्रजी के चरणों में सदा प्रीति का देनेवाला है। काम आदि दोषों का हरनेवाला और विज्ञान उत्पन्न करनेवाला है, इसको देवता, सिद्ध और मुनि प्रसन्नता से गान करते हैं ॥३९॥

दो०—समर बिजय रघुबीर के, चरित जे सुनहिं सुजान ।
बिजय-बिबेक-बिभूति-नित, तिन्हहिँ देहिं भगवान ॥

जो चतुर प्राणी रघुनाथजी के संग्राम सम्बन्धी विजय-चरित्र को सुनेंगे उनको भगवान रामचन्द्रजी सदा विजय, विचार और ऐश्वर्य्य देंगे।

यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु बिचार ।
श्रीरघुनाथ-नाम तजि, नाहिं न आन अधार ॥१२१॥

हे मन! तू विचार कर देख, यह कलिकाल पापों का घर है! इसमें श्रीरघुनाथजी के नाम को छोड़ कर दूसरा कोई सहारा (पाप मुक्त करने का) नहीं है ॥१२१॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने
विशुद्ध सन्तोष सम्पादनो नाम षष्ठः सोपानः
समाप्तः।

इस प्रकार समस्त कलि-पातक संहारी श्रीरामचरितमानस में विमल विज्ञान सम्पादन नाम का यह छठाँ सोपान समाप्त हुआ।

शुभमस्तु-मङ्गलमस्तु
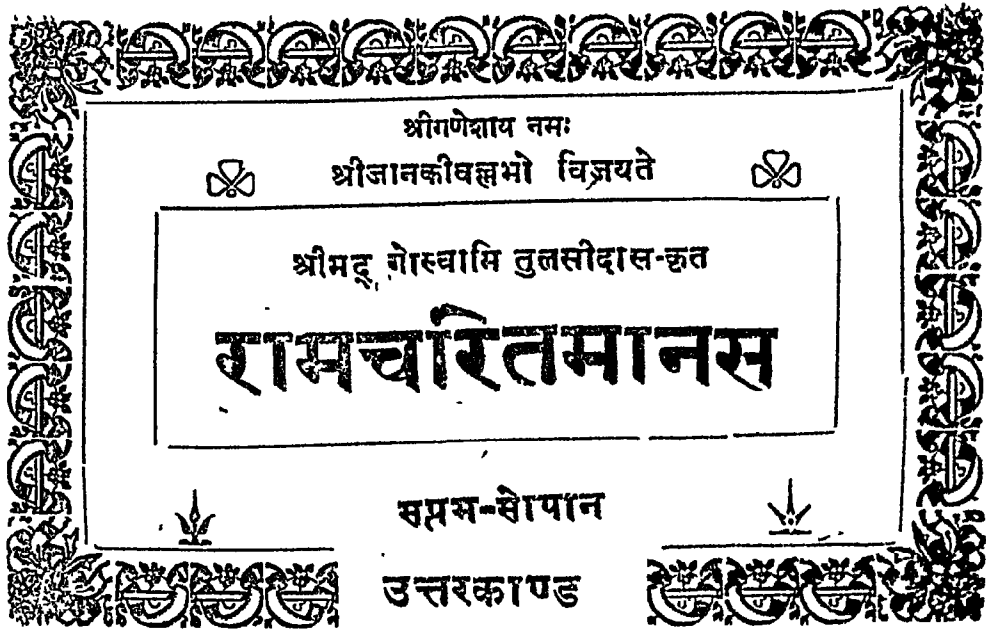
स्रग्धरा-वृत्त ।

केकीकण्ठाभनीलं सुरवर विलसद्विप्रपादाब्जचिन्हं ।
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ॥
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं ।
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥१॥

मुरैला के कण्ठ के समान श्याम वर्ण छवि, देवताओं में श्रेष्ठ, ब्राह्मण के चरण-कमल के चिह्न (भृगुलता) से विभूषित, शोभा से पूर्ण पीताम्बर पहने, कमल के समान नेत्र, सदा सुप्रसन्न, हाथों में धनुष-बाण लिये वानरवृन्द से युक्त, भाई लक्ष्मण से सेवित, जानकीजी के स्वामी, रघुकुल में श्रेष्ठ और पुष्पक-विमान पर सवार पूज्य रामचन्द्रजी को मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ ॥१॥

रथोद्धता-वृत्त ।

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥२॥

कोशल देश के स्वामी (श्रीरामचन्द्रजी) के सुन्दर कोमल चरण-कमल ब्रह्मा और शिवजीसे वन्दित, जानकीजी के कर-कमलों से प्यार किये हुए और ध्यान धरनेवाले भक्त-जनों के मन रूपी भ्रमर के साथी हैं ॥२॥

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीककलकञ्जलोचनं नौमि शङ्करमनङ्गमोचनम् ॥३॥

कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शङ्ख के समान सुन्दर गौर वर्ण, पार्वतीजी के स्वामी, वाञ्छित फल के दाता, दयालु, मनोहर, कमल के तुल्य नेत्र और कामदेव से छुड़ानेवाले शङ्करजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

एक उपमेय शिवजी के गौर वर्ण की समता के लिये अनेक उपमानों का कथन है। धर्म भिन्न भिन्न हैं, जैसे कुन्द के समान उज्वल और कोमल, चन्द्रमा के समान श्वेत और प्रकाशमान, शङ्ख के समान सफेद और कठोर। यह 'भिन्नधर्मा मालोपमा अलंकार' है।

दो०—रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुरलोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारि नर, कृस-तन राम बियोग ॥

(रामचन्द्रजी को अयोध्या में लौटने की) अवधि का एक दिन रह गया इस से पुर के लोग अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। जहाँ तहाँ स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी के विरह से दुर्बल शरीर हुए सोचते हैं।

सगुन होहिं सुन्दर सकल, मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगमन जनाव जनु, नगर रम्य चहुँ फेर ॥

सम्पूर्ण सुन्दर सगुन होते हैं जिससे सब के मन प्रसन्न हो गये। नगर में चारों ओर रमणीयता छा गई, ऐसा मालूम होता है मानों वह प्रभु रामचन्द्रजी के आगमन को सूचित करती हो।

कौसल्यादि मातु सब, मन अनन्द अस होइ।
आयउ प्रभु सिय अनुज जुत, कहन चहत अब कोइ ॥

कौशल्या आदि सब माताओं के मन में ऐसा आनन्द हो रहा है कि अब कोई कहना चाहता है प्रभु रामचन्द्रजी सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मण के सहित आ गये।

भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिँ बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन बिचार ॥

भरतजी की दाहिनी आँख और भुजा बार बार फड़कती हैं। सगुनों को जान मन में बहुत प्रसन्न हुए और विचार करने लगे।

उपर्युक्त दोहों में तीन प्रकार के शकुन कहे गये हैं। नगर निवासी स्त्री-पुरुषों को प्रत्यक्ष, माताओं को मानसिक और भरतजी को चिह्नज शकुन हो रहे हैं।

चौ०—रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कारन कवन नाथ नहिँ आये। जानि कुटिल किधौँ मोहि बिसराये ॥१॥

(चौदह वर्ष की) अवधि के दिन में एक दिनका आधार रह गया, (और प्रभु के आगमन

की कोई सूचना नहीं मिली, यह) समझ कर मन में अपार दुःख हुआ । क्या कारण है जो स्वामी नहीं आये, न जाने मुझे कपटी जान कर भुला दिया ॥ १ ॥

अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम-पदारबिन्द अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा । तातें नाथ सङ्ग नहिँ लीन्हा ॥२॥

अहा हा ! लक्ष्मण धन्य और बड़े भाग्यवान हैं जो रामचन्द्रजी के चरण-कमलों के प्रेमी हैं । प्रभु ने मुझे कपटी और कुटिल समझा, इसी से स्वामी ने मुझको अपने साथ में नहीं लिया ॥ २ ॥

जौँ करनी समुझहिँ प्रभु मोरी । नहिँ निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ ॥३॥

यदि स्वामी मेरी करनी समझें (स्वामिकार्य्य में तत्पर हनूमान को बाण मार कर मैंने बड़ा अनर्थ किया) तब तो सौ करोड़ कल्प पर्य्यन्त मेरा उद्धार नहीं हो सकता । परन्तु प्रभु अपने सेवकों के अवगुण को कभी मन में लाते ही नहीं, उनका स्वभाव बहुत ही कोमल है और दीनों के सहायक हैं ॥३॥

मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई । मिलिहहिँ राम सगुन सुभ होई ॥
बीते अवधि रहहिँ जौँ प्राना । अधम कवन जग मोहि समाना ॥४॥

मेरे मन में इसी का दृढ़ भरोसा है कि शुभदायक सगुन होते हैं, रामचन्द्रजी मिलेंगे । अवधि बीतने पर यदि शरीर में प्राण रहें तो संसार में मेरे बराबर अधम दूसरा कौन होगा ! ॥ ४ ॥

रामचन्द्रजी के आगमन की सूचना न मिलने से विरहजन्य भरतजी के हृदय में शङ्का, दैन्य, चिन्ता, मोह, विषाद, त्रास, ग्लानि, वितर्क, धृति, मति आदि सञ्चारी भावों का साथ ही उदय होना 'समुच्चय अलंकार' है ।

दो०—राम-बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवन-सुत, आइ गयउ जनु पोत ॥

रामचन्द्रजी के वियोग रूपी समुद्र में भरतजी का मन मग्न होता (डूबता) है । उसी समय ब्राह्मण का रूप धारण करके पवनकुमार आ गये, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों जहाज हो ।

बैठे देखि कुसासन, जटा-मुकुट कृसगात ।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जलजात ॥१॥

हनूमानजी ने देखा कि भरतजी कुश के आसन पर बैठे हैं, उनके सिर पर जटा का मुकुट है और शरीर दुबला हो गया है । राम राम रघुनाथजी को जपते हैं और कमल-नयनों से आँसू बह रहा है ॥ १ ॥

राम सन्देश।

रामविरह सागर महँ, भरत मगन मन होत।
विप्र रूप धरि पवन-सुत, आइ गयउ जनु पोत॥

पृष्ठ १९८
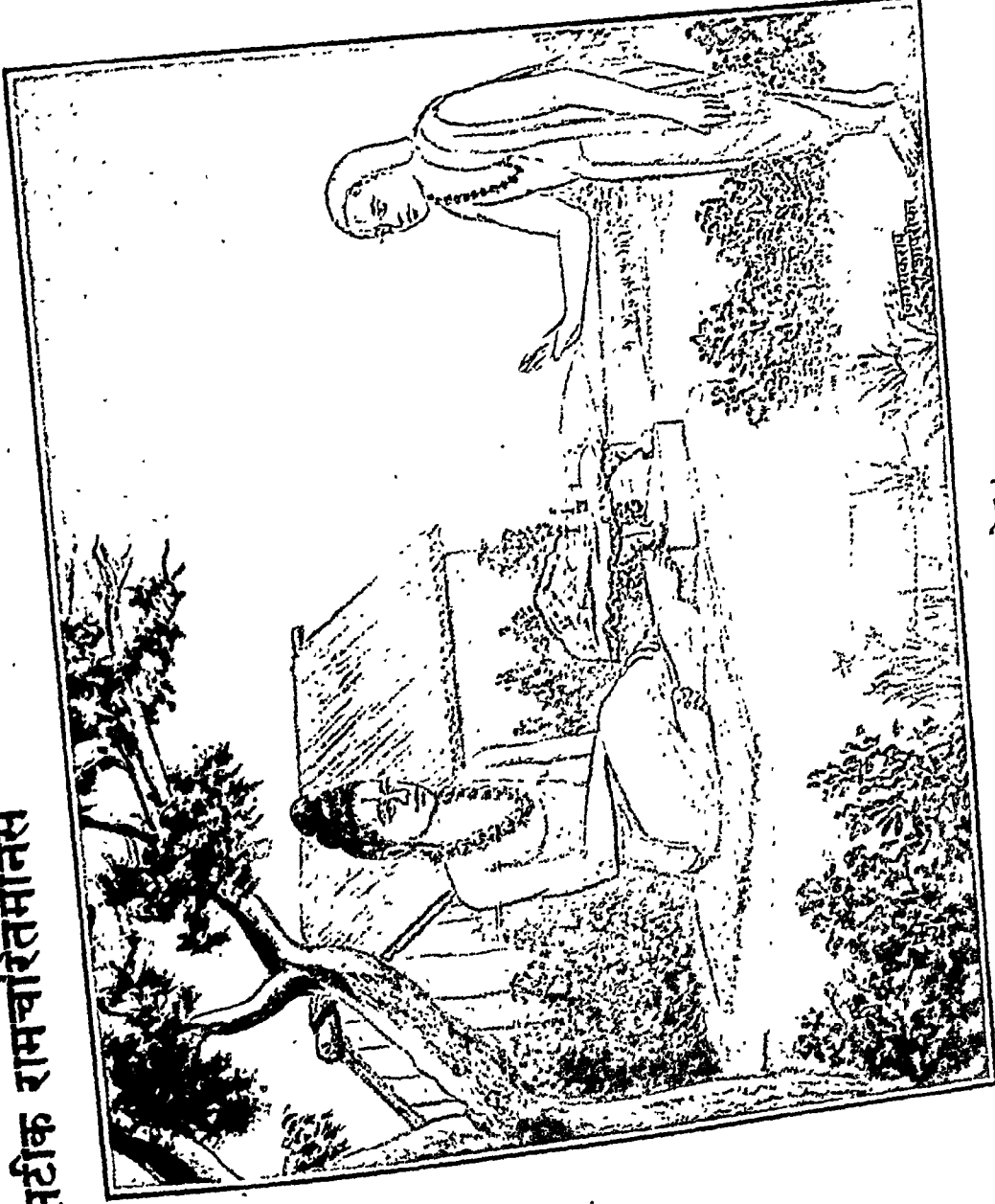
बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

चौ०—देखत हनूमान अति हरषेउ । पुलक गात लोचन जल बरषेउ ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी । बोलेउ स्रवन सुधा सम बानी ॥१॥

(भरतजी की प्रेम दशा को) देख कर हनूमानजी बहुत प्रसन्न हुए, उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों से जल बहने लगा। मन में बहुत तरह सुखी होकर कानों के लिये अमृत के समान वचन बोले ॥१॥

जासु बिरह सोचहु दिन राती । रटहु निरन्तर गुन गन पाँती ॥
रघुकुल-तिलक सुजन सुख दाता । आयउ कुसल देव मुनि त्राता ॥२॥

हनूमानजी ने कहा— जिनके विरह में दिन रात आप सोच करते हैं और जिनकी भूरि गुणावली निरन्तर रटते हैं। रघुवंश-भूषण, सज्जनों को सुख देनेवाले, देवता और मुनियों के रक्षक (रामचन्द्रजी) आ गये ॥२॥

अकेले रघुनाथजी का आगमन सुन कर भरतजी प्रसन्नता के विपरीत चिन्तित हुए। हनूमानजी से सुन चुके थे कि राम-रावण युद्ध हो रहा है। सोचने लगे कि क्या लक्ष्मण नहीं उठे। युद्ध में पराजय हुई। सीताजी नहीं लौटीं। क्या कारण है जो रघुनाथजी अकेले आते हैं। उनके मन की चिन्ता को हनूमानजी ताड़ गये और तुरन्त सन्देह नाशक वचन बोले।

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत । सीता अनुज सहित प्रभु आवत ॥
सुनत बचन बिसरे सब दूखा । तृषावन्त जिमि पाइ पियूखा ॥३॥

शत्रु को रण में जीत लिया इस सुन्दर यश को देवता गाते हैं, सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी आते हैं। यह वचन सुनते ही भरतजी सब दुःख भूल गये, वे ऐसे प्रसन्न हुए जैसे प्यासे ने अमृत पाया हो ॥३॥

को तुम्ह तात कहाँ ते आये । मोहि परम प्रिय बचन सुनाये ॥
मारुत-सुत मैं कपि हनुमाना । नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥४॥

भरतजी ने पूछा—हे तात! आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं जो मुझे अत्यन्त प्यारे वचन सुनाये। हनूमानजी ने कहा हे कृपानिधान! सुनिये, मैं पवन का पुत्र वन्दर हूँ और हनूमान मेरा नाम है ॥४॥

दीनबन्धु रघुपति कर किङ्कर । सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ॥
मिलत प्रेम नहिँ हृदय समाता । नयन स्रवत जल पुलकित गाता ॥५॥

मैं दीनबन्धु रघुनाथजी का दास हूँ, यह सुनते ही भरतजी आदर से उठ कर मिले। मिलते हुए प्रेम हृदय में नहीं समाता है, आँखों से जल बहता है और शरीर पुलकायमान हो गया है ॥५॥

कपि तव दरस सकल दुख बीते । मिले आजु मोहि राम पिरीते ॥
बार बार बूझी कुसलाता । तो कहँ देउँ काह सुनु भ्राता ॥६॥

भरतजी ने कहा—हे हनूमान ! आप के दर्शन से मेरे सभी दुःख जाते रहे, आज रामचन्द्रजी मुझे प्रीति-पूर्वक मिले । बार बार कुशलता पूछी और कहा—भाई ! सुनिये, आप को मैं क्या दूँ ? ॥६॥

एहि सन्देस सरिस जग माहीं । करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥
नाहिँ न तात उरिन मैं तोही । अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥७॥

मैं ने विचार कर देख लिया कि इस सन्देश के बराबर संसार में कुछ नहीं है । हे तात ! मैं आप से उऋण नहीं हो सकता, अब प्रभु का चरित्र मुझे सुनाइये ॥७॥

तब हनुमन्त नाइ पद माथा । कहे सकल रघुपति गुनगाथा ॥
कहु कपि कबहुँ कृपाल गुसाँई । सुमिरहिँ मोहि दास की नाँई ॥८॥

तब हनूमानजी ने चरणों में मस्तक नवा कर रघुनाथजी के सम्पूर्ण गुणों की कथा कही । भरतजी ने कहा—हे हनूमान ! कहिये, कृपालु समर्थ स्वामी कभी मुझे दास की तरह याद करते हैं ? ॥ ८ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

निज दास ज्यों रघुबंसभूषन, कबहुँ मम सुमिरन करयो ॥
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि, पुलकि तन चरनन्हि परयो ॥
रघुबीर निजमुख जासु गुनगन, कहत अग जग नाथ जो ।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन-सिन्धु सो ॥ १ ॥

अपने दास की तरह रघुवंश-भूषण ने कभी मेरा स्मरण किया है । भरतजी के अत्यन्त नम्र वचन सुन कर हनूमानजी पुलकित शरीरसे उनके चरणों में पड़े । (मन में विचारते हैं कि) रघुनाथजी जो चराचर के स्वामी हैं, जिनके गुण समूह श्रीमुख से कहते हैं ! वे भरतजी (ऐसे) नम्र, अत्यन्त पवित्र और सद्गुणों के समुद्र क्यों न हों ? ॥ १ ॥

हनूमानजी ने पहले विशेष बात कही कि रघुवीर जिनका गुण गण अपने मुख से कहते हैं । फिर इसका समर्थन सामान्य से किया कि जो चर अचर के स्वामी हैं । इतने से सन्तुष्ट न होकर पुनः विशेष सिद्धान्त से पुष्ट करते हैं कि वे सद्गुणों के सागर, परम पावन और विनीत क्यों न हों ? विकस्वर अलंकार है ।

दो०—राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह, सत्य बचन मम तात ।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि, हरष न हृदय समात ॥

हनूमानजी ने कहा—हे प्यारे स्वामिन् ! आप रामचन्द्रजी को प्राण के समान प्रिय हैं,

मेरा वचन सत्य है। यह सुनकर भरतजी के हृदय में हर्ष समाता नहीं (उमड़ा पड़ता है) वे बार बार पवनकुमार से मिलते हैं।

सो०—भरत चरन सिर नाइ, तुरित गयउ कपि राम पहिँ।
कही कुसल सब जाइ, हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि ॥२॥

भरतजी के चरणों में सिर नवा कर हनूमानजी तुरन्त रामचन्द्रजी के पास गये। जाकर सब कुशल-समाचार कहा, प्रभु रामचन्द्रजी प्रसन्न होकर विमान पर चढ़ कर चले ॥२॥

हनूमानजी का चलना कारण, रामचन्द्रजी के पास पहुँचना कार्य्य, दोनों का एक साथ वर्णन अर्थात् चले और तुरन्त पहुँच गये 'प्रथम हेतु अलंकार' है।

चौ०—हरषि भरत कोसलपुर आये। समाचार सब गुरुहि सुनाये ॥
पुनि मन्दिर महँ बात जनाई। आवत नगर कुसल रघुराई ॥१॥

भरत जी प्रसन्न होकर अयोध्यापुरी में आये और सब समाचर गुरुजी को सुनाये। फिर यह बात राजमहल में सूचित कराई कि रघुनाथजी कुशल-पूर्वक नगर में आते हैं ॥१॥

सुनत सकल जननी उठि धाईं। कहि प्रभु कुसल भरत समुझाईं ॥
समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि सब धाये ॥२॥

सुनते ही समस्त माताएँ उठ कर दौड़ीं, भरतजी ने प्रभु की कुशलता कह कर उन्हें समझाया। नगर-निवासियों ने ख़बर पाई, पुरुष और स्त्री सब प्रसन्न होकर दौड़े ॥२॥

दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मङ्गल-मूला ॥
भरि भरि हेमथार भामिनी। गावत चलीं सिन्धुर-गामिनी ॥३॥

दही, दूब, हल्दी, फल, फूल और नवीन तुलसीदल मङ्गलमूल वस्तु स्त्रियाँ सुवर्ण के थालों में भर भर कर गाती हुई हाथी की चाल से राजमन्दिर की ओर चलीं ॥३॥

जो जैसेहिँ तैसेहिँ उठि धावहिँ। बाल बृद्ध कहँ सङ्ग न लावहिँ ॥
एक एकन्ह कहँ बूझहिँ भाई। तुम्ह देखे दयाल रघुराई ॥४॥

जो जैसे हैं वे वैसे ही उठ कर दौड़ते हैं, बालक और वृद्धों को साथ नहीं लेते हैं। एक दूसरे से पूछते हैं कि भाई! तुमने दयालु रघुनाथजी को देखा है ॥४॥

अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कइ खानी ॥
भइ सरजू अति निर्मल नीरा। बहइ सुहावन त्रिबिधि समीरा ॥५॥

प्रभु रामचन्द्रजी को आते हुए जान कर अयोध्यापुरी सम्पूर्ण शोभा की खानि हो गई। सरयू नदी अत्यन्त निर्मल जलवाली हो गई और तीनों प्रकार (शीतल, मन्द, सुगन्धि) की सुहावनी बयारि बहती है ॥५॥

दो०—हरषित गुरु परिजन अनुज, भूसुर-वृन्द समेत ।
चले भरत अति प्रेम मन, सनमुख कृपानिकेत ॥

गुरु, कुटुम्बीजन, छोटे भाई शत्रुहन और ब्राह्मण-वृन्द के सहित भरतजी प्रसन्नता से मन में अत्यन्त प्रेम के साथ कृपानिधान श्रीरामचन्द्रजी के सन्मुख (स्वागत के लिये) चले ।

बहुतक चढ़ी अटारिन्ह, निरखहिँ गगन बिमान ।
देखि मधुर सुर हरषित, करहिँ सुमङ्गल गान ॥

बहुतेरी नववधुएँ अटारियों पर चढ़कर विमान आकाश में निरख रही हैं। देख कर प्रसन्नता से मधुर स्वर से सुन्दर मङ्गल गान करती हैं।

राकाससि-रघुपतिपुर, सिन्धु देखि हरषान ।
बढ़ेउ कोलाहल करत जनु,-नारि तरङ्ग समान ॥३॥

रघुनाथजी पूर्णिमा के चन्द्रमा रूप हैं और अवधपुर समुद्र रूप है, वह चन्द्रमा को देख कर प्रसन्न हुआ है। ऐसा मालूम होता है मानों कोलाहल करते हुए बढ़ रहा है, स्त्रियाँ लहर के समान हैं ॥ ३ ॥

रामचन्द्रजी पर पूर्णमासी के चन्द्रमा का आरोप कर नगर पर समुद्र का आरोपण इसलिए किया गया कि पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख कर समुद्र उमड़ता है और बड़ा शब्द होता है, तरङ्गे उठती हैं। 'सम अभेदरूपक अलंकार' है।

चौ०—इहाँ भानुकुल-कमल दिवाकर । कपिन्ह देखावत नगर मनोहर ॥
सुनु कपीस अङ्गद लङ्केसा । पावन पुरी रुचिर यह देसा ॥१॥

यहाँ सूर्य्यकुल रूपी कमल के सूर्य्य रामचन्द्रजी बन्दरों को मनोहर नगर दिखाते हैं। हे सुग्रीव, अङ्गद और विभीषण ! सुनो, यह पुरी पवित्र है और देश सुन्दर है ॥१॥

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । बेद पुरान बिदित जग जाना ॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसङ्ग जानइ कोउ कोऊ ॥२॥

यद्यपि सब बैकुण्ठ को बखानते हैं, वेद पुराणों में प्रसिद्ध है और संसार जानता है। अयोध्या पुरी के समान मुझे वह भी प्रिय नहीं है, इस प्रसङ्ग को कोई कोई जानते हैं ॥२॥

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥
जा मज्जन तेँ बिनहिँ प्रयासा । मम समीप नर पावहिँ बासा ॥३॥

यह सुहावनी पुरी मेरी जन्मभूमि है, इसके उत्तर दिशा में पवित्र सरयू नदी बहती है। जिसमें स्नान करने से बिना परिश्रम ही मनुष्य मेरे समीप रहने को स्थान पाते हैं ॥३॥

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी । मम धामदा पुरी सुखरासी ॥
हरषे कपि सब सुनि प्रभु बानी । धन्य अवध जो राम बखानी॥४॥

यहाँ के निवासी मुझे बहुत ही प्यारे हैं, यह पुरी सुखों की राशि और मेरे धाम (साकेत-पुर) को देनेवाली है । प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुनकर सब वानर प्रसन्न हुए, (मन में सराहने लगे कि) आयोध्यापुरी धन्य है जो रामचन्द्रजी के श्रीमुख से बखानी गई है ॥४॥

दो०—आवत देखि लोग सब, कृपासिन्धु भगवान ।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ, उतरेउ भूमि बिमान ॥

दयासागर भगवान प्रभु रामचन्द्रजी ने सब लोगों को आते देख कर विमान को नगर के समीप धरती पर उतरने की आज्ञा दी, तदनुसार वह उतरा ।

उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिं, तुम्ह कुबेर पहिँ जाहु ।
प्रेरित राम चलेउ सो, हरष बिरह अति ताहु ॥४॥

उतर कर प्रभु ने पुष्पक को कहा कि तुम कुबेर के पास जाओ । रामचन्द्रजी की आज्ञा से वह चला, पर उसको भी अत्यन्त हर्ष और बिरह से दुःख हुआ ॥४॥

स्वामी के समीप जाने का हर्ष और रामचन्द्रजी के वियोग का शोक, दोनों भावों का साथ ही उत्पन्न होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। पुष्पक विमान का वर्णन विस्तार से अगस्त्यसंहिता में है । इसका आकार हंस की जोड़ी के समान कहा गया है। स्फटिक मणि का श्वेत वर्ण और भीतर की बनावट बड़ी अद्भुत मनोहर है। मन माने लोग इस पर सवार होते तो भी जगह की कमी नहीं होती और इच्छानुकूल चलनेवाला है। इसके स्वामी कुबेर हैं किन्तु रावण जोरावरी से उनसे छीन कर मालिक बन बैठा था । आज रामचन्द्रजी की कृपा से उसको बन्धन से छुटकारा मिला ।

चौ०—आये भरत सङ्ग सब लोगा । कृस तन श्रीरघुबीर बियोगा ॥
बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक । देखे प्रभु महि धरि धनुसायक॥१॥

सब लोगों के साथ भरतजी आये, श्रीरघुनाथजी के वियोग से उनका शरीर दुबला हो गया है । वामदेव और मुनि नायक वशिष्ठजी को देख कर प्रभु रामचन्द्रजी ने धनुष-बाण पृथ्वीपर रख कर—॥१॥

बड़ों के सामने शस्त्र धारण कर प्रणाम के लिए जाना अनुचित है, इससे धरती पर रख कर चरण छूने को आगे बढ़े ।

धाइ धरे गुरुचरन-सरोरुह । अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ॥
भेँटि कुसल बूझी मुनिराया । हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया ॥२॥

छोटे भाई लक्ष्मणजी के सहित अत्यन्त पुलकित शरीर से दौड़ कर गुरुजी के चरण कमलों को पकड़ लिये । मुनिराज ने कुशल पूछी, रामचन्द्रजी ने कहा—हमारी कुशल आप ही की दया में है ॥२॥

सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा । धरम धुरन्धर रघुकुल नाथा ॥
गहे भरत पुनि प्रभु-पद-पङ्कज । नमत जिन्हहिँ सुरमुनिसङ्करअज ॥३॥

धर्म धुरन्धर रघुकुल के नाथ ने सम्पूर्ण ब्राह्मणों से मिलकर उन्हें प्रणाम किया । फिर भरतजी ने प्रभु रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को पकड़ा जिन्हें देवता, मुनि, शिव और ब्रह्मा नमस्कार करते हैं ॥३॥

भरतजी ने प्रभु के चरण कमलों को पकड़ा, इस सामान्य बात का समर्थन विशेष सिद्धान्त से करना कि जिन चरणों को ब्रह्मा, शिव, मुनि और देवता प्रणाम करते हैं 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है ।

परे भूमि नहिँ उठत उठाये । बर करि कृपासिन्धु उर लाये ॥
स्यामल गात रोम भये ठाढ़े । नव-राजीव-नयन जल बाढ़े ॥४॥

भरतजी भूमि में पड़े हैं उठाने से उठते नहीं हैं, तब कृपासिन्धु रघुनाथजी ने बल कर के उन्हें उठा कर हृदय से लगा लिया । श्याम शरीर पर रोवें खड़े हो गये, नवीन कमल के समान नेत्रों में जल बढ़ (उमड़) आया ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

राजीव-लोचन स्रवत जल तन, ललित पुलकावलि बनी ।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि, मिले प्रभु त्रिभुवन धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिँ, जाति नहिँ उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिङ्गार तनु धरि, मिले बर सुखमा लही ॥२॥

कमल नयनों से जल बहा जाता है और शरीर में सुन्दर पुलकावली छा गई है । अत्यन्त प्रेम से हृदय में लगा कर छोटे भाई भरतजी से तीनों लोकों के स्वामी रामचन्द्रजी मिले । प्रभु छोटे भाई से मिलते हुए शोभित हो रहे हैं, मुझ से उपमा नहीं कही जाती है । ऐसा मालूम होता है मानों प्रेम और श्रृङ्गार शरीर धारण कर मिलने में अच्छी शोभा पा रहे हों ॥२॥

रामचन्द्रजी और श्रृंङ्गार, भरतजी और प्रेम परस्पर उपमेय उपमान हैं । प्रेम और श्रृंगार शरीर धारी नहीं होते, यह कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि, बचन बेगि न आवई ।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन तेँ, भिन्न जान जो पावई ॥
अब कुसल कोसलनाथ आरत, जानि जन दरसन दियो ।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो ॥३॥

कृपानिधान रामचन्द्रजी कुशल पूछते हैं; किन्तु भरतजी के मुख से जल्दी बात नहीं निकलती है । शिवजी कहते हैं—हे पार्वती ! सुनो, वह सुख वचन और मन से भिन्न है, वही जान

सकता है जो पाता हो। भरतजी सम्हल कर बोले—हे कोशलनाथ! आपने दास समझ कर दर्शन दिया तो सब कुशल ही है। विरह रूपी समुद्र में डूबते हुए, हे दयानिधे! आप ने हाथ पकड़ कर मुझे बचा लिया ॥३॥

दो०—पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदय लगाइ।
लछिमन भरत मिले तब, परम प्रेम दोउ भाइ ॥५॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी प्रसन्नता से शत्रुहनजी को हृदय से लगा कर मिले। तब लक्ष्मणजी और भरतजी दोनों भाई अत्यन्त प्रेम के साथ मिले ॥५॥

चौ०—भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। दुसह बिरह सम्भव दुख मेटे ॥
सीता चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा ॥१॥

फिर भरतजी के लघु बन्धु शत्रुहनजी और लक्ष्मणजी ने मिल कर विरह से उत्पन्न असहनीय दुःख मिटाया। सीता जी के चरणों में भरतजी ने मस्तक नवाया और छोटे भाई शत्रुहन के सहित अत्यन्त सुख को प्राप्त हुए ॥१॥

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर पुरवासी प्रसन्न हुए विरह से उत्पन्न उनकी सब विपत्ति नष्ट हो गई। सम्पूर्ण लोगों को प्रेम में अधीर देख कर कृपालु खर के वैरी ने खेल किया ॥२॥

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला ॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी ॥३॥

उस समय कृपालु रघुनाथजी ने अपना असंख्यों रूप प्रकट किया और सब से यथायोग्य मिले। कृपा की दृष्टि से देख कर समस्त स्त्री-पुरुषों को शोक-रहित कर दिया ॥३॥

एक रामचन्द्रजी को असंख्यों रूप से साथ ही सम्पूर्ण नगर-निवासी स्त्री-पुरुषों से मिलना कथन करना 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना ॥
एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील-गुन-धामा ॥४॥

क्षण भर में भगवान सब से मिले, शिवजी कहते हैं—हे उमा! यह भेद किसी ने नहीं जाना। इसी तरह सभी को सुखी कर के शील गुण के स्थान रामचन्द्रजी आगे चले ॥४॥

कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं ॥५॥

कौशल्याजी आदिक सब माताएँ दौड़ीं, ऐसा मालूम होता है कि मानों लैना (तुरन्त की ब्याई हुई) गऊ अपने बछड़े को देख कर दौड़ी हों ॥५॥

हरिगीतिका-छन्द ।

जनु धेनु बालकबच्छ तजि गृह, चरन बन परबस गईं ।
दिन अन्त पुर रुख स्रवत थन, हुङ्कार करि धावत भईं ॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी, बचन मृदु बहु बिधि कहे ।
गइ बिषम बिपति बियोग-भव तिन्ह, हरष सुख अगनित लहे ॥४॥

ऐसा मालूम होता है मानों छोटे बछड़े को लैना गऊ घर में छोड़ कर पराधीनता वश वन में चरने को गई हो। दिन के अन्त में नगर की ओर थनों से दूध बहाती हुई हुंकार करके दौड़ी हो। प्रभु रामचन्द्रजी सब माताओं से अत्यन्त प्रीति के साथ मिले और बहुत तरह के कोमल वचन कहे। माताओं की वियोग जन्य भीषण विपत्ति जाती रही, उन्हें अपार हर्ष और सुख मिला ॥४॥

जो स्थान रामचन्द्रजी के लिये कहना चाहिये वह माताओं को और जो माताओं के लिये कहना था वह रामचन्द्रजी के लिये कहा गया है। जहँ राम तहँ अवध निवासू के अनुसार अयोध्या अब तक वन के समान था और वन ही अवधपुरी थी। यह 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है।

दो०—भेंटेउ तनय सुमित्रा, राम चरन रति जानि ।
रामहिं मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि ॥

रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीतिवान जान कर सुमित्राजी पुत्र से मिलीं। रामचन्द्रजी से मिलते हुए केकयी हृदय में बहुत लज्जित हुई।

लछिमन सब मातन्ह मिलि, हरषे आसिष पाइ ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले, मन कर छोभ न जाइ ॥६॥

लक्ष्मणजी सब माताओं से मिल कर आशीर्वाद पा प्रसन्न हुए। ककयी से बार बार मिले किन्तु मन का क्षोभ नहीं जाता है ॥६॥

छोभ इस बात का कि पूर्व में केकयी पर बड़ा क्रोध मन में किया था; किन्तु अब उसको निर्दोष समझते हैं।

चौ०—सासुन्ह सबन्हि मिली बैदेही । चरनन्हि लागि हरष अति तेही ॥
देहिं असीस बूझि कुसलाता । होइ अचल तुम्हार अहिवाता ॥१॥

सब सासुओं से जानकीजी मिलीं, चरणों में लग कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। कुशलता पूछ कर आशीर्वाद देती हैं कि तुम्हारा अहिवात अचल हो ॥१॥

सब रघुपति मुख-कमल बिलोकहिं । मङ्गल जानि नयन जल रोकहिं ॥
कनकथार आरती उतारहिं । बार बार प्रभु गात निहारहिं ॥२॥

सब रघुनाथजी के मुख-कमल को निहारती हैं और मङ्गल का समय जान कर नेत्रों के

जल को रोकती हैं। सुवर्ण के थाल में आरती उतारती हैं और बार बार प्रभु रामचन्द्रजी के अङ्ग को देखती हैं ॥२॥

नाना भाँति निछावरि करहीं । परमानन्द हरष उर भरहीं ॥
कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि । चितवति कृपासिन्धु रनधीरहि॥३॥

अनेक प्रकार की न्योछावर करती हैं, आनन्द और हर्ष हृदय में परिपूर्ण हो रहा है। कृपासिन्धु रणधीर रघुनाथजी को कौशल्याजी बार बार निरीक्षण कर रही हैं ॥३॥

हृदय बिचारति बारहिं बारा । कवन भाँति लङ्कापति मारा ॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे । निसिचर सुभट महाबल भारे ॥४॥

बार बार हृदय में विचारती हैं कि इन्होंने लङ्केश्वर का वध किस तरह किया। मेरे दोनों बालक अत्यन्त सुकुमार हैं और राक्षस योद्धा बहुत बड़े बलवान थे ॥४॥

अनुचित चिन्ता भाव का आभास है, क्योंकि रावणादि राक्षस मर चुके हैं फिर उन की चिन्ता करनी व्यर्थ 'भावाभास' है।

दो०—लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहि बिलोकति मात ।
परमानन्द मगन मन, पुनि पुनि पुलकित गात ॥७॥

लक्ष्मणजी और सीताजी के सहित प्रभु रामचन्द्रजी को माताएँ देखती हैं, उन का शरीर बार बार पुलकित हो रहा है और मन परम आनन्द में डूब गया है ॥७॥

चौ०—लङ्कापति कपीस नल नीला । जामवन्त अङ्गद सुभसीला ॥
हनुमदादि सब बानर बीरा । धरे मनोहर मनुज सरीरा ॥१॥

विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, जाम्बवान, अङ्गद, और हनूमान आदि श्रेष्ठता के हद सब वानर वीर मनुष्य का मनोहर शरीर धारण किये हैं ॥१॥

भरत सनेह सील ब्रत नेमा । सादर सब बरनहिं अति प्रेमा ॥
देखि नगरबासिन्ह कइ रीती । सकल सराहहिं प्रभु-पद-प्रीती ॥२॥

भरतजी के स्नेह, शील, व्रत और नियम को अत्यन्त प्रेम से सब आदर के साथ वर्णन करते हैं। नगर-निवासियों की रीति देख कर उनकी प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों की प्रीति को सराहते हैं ॥२॥

पुनि रघुपति सब सखा बोलाये । मुनि-पद लागहु सकल सिखाये ॥
गुरु बसिष्ठ कुल-पूज्य हमारे । इन्ह की कृपा दनुज रन मारे ॥३॥

फिर रघुनाथजी ने सब मित्रों को बुलाकर सिखलाया कि मुनि के चरणों में प्रणाम करो। गुरु वशिष्ठजी हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हीं की कृपा से हमने राक्षसों को रण में मारा है ॥३॥

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहँ बेरे ॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे । भरतहु तेँ मोहि अधिक पियारे ॥ ४ ॥

हे मुनिराज ! सुनिये, ये सब सखा मेरे संग्राम रूपी समुद्र के बेड़ा (जहाज) रूप हुए हैं। मेरी भलाई के लिये इन्होंने अपना जन्म हार दिया, इस लिये ये मुझे भरतजी से बढ़ कर प्रिय हैं ॥४॥

सुनि प्रभु बचन मगन सब भये । निमिष निमिष उपजत सुख नये ॥ ५ ॥

प्रभु के वचन सुन कर सब प्रेम में मग्न हो गये, पलक पलक में नया सुख उत्पन्न हो रहा है ॥५॥

दो०—कौसल्या के चरनन्हि, पुनि तिन्ह नायेउ माथ ।
आसिष दीन्ही हरषि तुम्ह, प्रिय मम जिमि रघुनाथ ॥

फिर उन मित्रों ने कौशल्याजी के चरणों में मस्तक नवाया। माताजी ने हृदय में हर्षित हो कर आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम सब हमें उसी तरह प्रिय हो जैसे मुझे रघुनाथजी प्यारे हैं।

सुमन बृष्टि नभ सङ्कुल, भवन चले सुखकन्द ।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिँ, नगर नारि बरवृन्द ॥ ८ ॥

आकाश से भरपूर फूलों की वर्षा हो रही है, सुख के कन्द रामचन्द्रजी महल की ओर चले। नगर की श्रेष्ठ स्त्रियाँ झुण्ड की झुण्ड अटारियों पर चढ़ कर देखती हैं ॥८॥

चौ०—कञ्चन कलस बिचित्र सँवारे । सबहिँ धरे सजि निज निज द्वारे ॥
बन्दनवार पताका केतू । सबन्हि बनाये मङ्गल हेतू ॥ १ ॥

सभी लोगों ने अपने अपने दरवाजे पर सुवर्ण के कलश विलक्षण रीति से सज धज कर रक्खे। बन्दनवार, ध्वजा और पताका सब ने मङ्गल के हेतु बनाये ॥१॥

बीथी सकल सुगन्ध सिँचाई । गजमनि रचि बहु चौक पुराई ॥
नाना भाँति सुमङ्गल साजे । हरषि नगर निसान बहु बाजे ॥ २ ॥

सब गलियाँ सुगन्धित जल से सिँचवाई गईं और बहुत से गजमुक्ताओं के रच कर चौक पुरवाये गये। अनेक प्रकार के सुन्दर मङ्गल सजाये गये, प्रसन्नता से नगर में डङ्का आदि बहुतेरे बाजे बजते हैं ॥२॥

जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं । देहिँ असीस हरष उर भरहीं ॥
कञ्चनथार आरती नाना । जुबती सजे करहिँ सुभ गाना ॥ ३ ॥

जहाँ तहाँ स्त्रियाँ निछावर करती हैं और हर्ष परिपूर्ण हृदय से आशीर्वाद देती हैं। सुवर्ण के थालों में नाना प्रकार से आरती सजे हुए मङ्गल गान करती हैं ॥३॥

करहिं आरती आरति-हर कै । रघुकुल-कमल-बिपिन दिनकर कै ॥
पुर सोभा सम्पति कल्याना । निगम सेष सारदा बखाना ॥ ४ ॥

रघुकुल रूपी कमल-वन के सूर्य्य, दुःखहारी रामचन्द्रजी की आरती करती हैं । नगर की शोभा, सम्पत्ति और कल्याण वेद, शेष, सरस्वती बखान करते हैं ॥४॥

तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं । उमा तासु गुन नर किमि कहहीं ॥५॥

वे भी इस चरित को देख कर मोहित हो जाते हैं, शिवजी कहते हैं—हे उमा ! उनके गुणों को मनुष्य कैसे कह सकते हैं ? ॥५॥

दो०—नारि कुमुदिनी अवध सर, रघुपति बिरह दिनेस ।
अस्त भये बिगसित भईं, निरखि राम राकेस ॥

अयोध्या रूपी तालाब में स्त्री रूपी कमोदिनी रघुनाथजी के वियोग रूपी सूर्य्य के अस्त होने से रामचन्द्रजी रूपी पूर्ण चन्द्रमा को देख कर खिल उठीं ।

होहिं सगुन सुभ बिबिध बिधि, बाजहिं गगन निसान ।
पुर नर नारि सनाथ करि, भवन चले भगवान ॥ ९ ॥

नाना प्रकार के शुभ शकुन हो रहे हैं और आकाश में नगारे बजते हैं । नगर के स्त्री-पुरुषों को सनाथ करके भगवान् महल की ओर चले ॥९॥

चौ०—प्रभु जानी कैकई लजानी । प्रथम तासु गृह गये भवानी ॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा । पुनि निज भवन गवन प्रभु कीन्हा ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! प्रभु रामचन्द्रजी ने जाना कि केकयी लज्जित हुई है, पहले उसी के मन्दिर में गये । उसको समझा बुझा कर बहुत सुख दिया, फिर प्रभु ने अपने घर की ओर गमन किया ॥१॥

कृपासिन्धु निज मन्दिर गये । पुर नर नारि सुखी सब भये ॥
गुरु बसिष्ठ द्विज लिये बोलाई । आज सुघरी सुदिन सुभदाई ॥२॥

कृपासिन्धु रामचन्द्रजी अपने महल में गये, नगर के सब स्त्री-पुरुष सुखी हुए (केकयी के मन्दिर में जाने से लोगों को शङ्का हुई, जब सकुशल निकल कर अपने गृह में गये तब वह सन्देह दूर हो गया इससे सुखी होना कहा) । गुरु वशिष्ठजी ब्राह्मणों को बुलवा लिये और उनसे कहा कि आज शुभदायक सुन्दर मुहूर्त्त और अच्छा दिन है ॥२॥

सब द्विज देहु हरषि अनुसासन । रामचन्द्र बैठहिं सिंहासन ॥
मुनि बसिष्ठ के बचन सुहाये । सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाये ॥३॥

सब ब्राह्मण प्रसन्न हो कर आज्ञा दो तो रामचन्द्र राज्यसिंहासन पर बैठें । वशिष्ठ मुनि के सुहावने वचन सुन कर समस्त ब्राह्मणों को बहुत अच्छे लगे ॥३॥

कहहिँ बचन मृदु बिप्र अनेका । जग अभिराम राम अभिषेका ॥
अब मुनिबर बिलम्ब नहिँ कीजै । महाराज कहँ तिलक करीजै ॥४॥

अनेक ब्राह्मण कोमल वाणी से कहते हैं कि रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक संसार के लिये आनन्द रूप है। हे मुनिवर! अब देरी न कीजिये, महाराज को तिलक कर दीजिये ॥४॥

दो०—तब मुनि कहेउ सुमन्त्र सन, सुनत चलेउ हरषाइ ।
रथ अनेक बहु बाजि गज, तुरत सँवारेउ जाइ ॥

तब मुनि ने सुमन्त्र से कहा। वे सुनते ही प्रसन्न होकर चले और जा कर तुरन्त बहुत से घोड़े, हाथी, नाना प्रकार के रथ सजवाये।

जहँ तहँ धावन पठइ पुनि, मङ्गल द्रब्य मँगाइ ।
हरष समेत बसिष्ठ-पद, पुनि सिर नायउ आइ ॥१०॥

फिर जहाँ तहाँ दूतों को भेज कर मङ्गलीक द्रव्य मँगवाये, वे सब अपना अपना कार्य्य करके लौट आकर हर्ष सहित फिर वशिष्ठजी के चरणों में सिर नवाये ॥१०॥

चौ०—अवधपुरी अति रुचिर बनाई । देवन्ह सुमन-बृष्टि झरि लाई ॥
राम कहा सेवकन्ह बोलाई । प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई ॥१॥

अयोध्यापुरी अत्यन्त सुन्दर सजाई गई; देवताओं ने पुष्प-वर्षा की झड़ी लगा दी। रामचन्द्रजी ने सेवकों को बुला कर कहा कि पहले जाकर मित्रों को स्नान कराओ ॥१॥

सुनत बचन जहँ तहँ जन धाये । सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये ॥
पुनि करुनानिधि भरत हँकारे । निज कर राम जटा निरुआरे ॥२॥

आज्ञा सुनते ही जहाँ तहाँ सेवक दौड़ पड़े और सुग्रीव आदि सखाओं को तुरन्त स्नान करवाया। फिर करुणानिधान रामचन्द्रजी ने भरतजी को बुला कर अपने हाथ से उनकी जटा के बाल अलग अलग किये ॥२॥

अन्हवाये प्रभु तीनिउँ भाई । भगतबछल कृपाल रघुराई ॥
भरतभाग्य प्रभु कोमलताई । सेष कोटिसत सकहिँ न गाई ॥३॥

भक्त-वत्सल कृपालु स्वामी रघुनाथजी ने तीनों बन्धुओं को स्नान करवाये। भरतजी के भाग्य और प्रभु की कोमलता को असंख्यों शेष नहीं गान कर सकते ॥३॥

पुनि निज जटा राम बिबराये । गुरु अनुसासन माँगि नहाये ॥
करि मज्जन प्रभु भूषन साजे । अङ्ग अनङ्ग कोटि छबि लाजे ॥४॥

फिर रामचन्द्रजी ने अपनी जटा के बाल अलग अलग करवाये और गुरुजी से आज्ञा माँग कर स्नान किये। स्नान करके प्रभु ने अङ्गों में आभूषण पहने, उनकी छबि को देख कर करोड़ों कामदेव लजा जाते हैं ॥४॥

राम-राज्य ।

प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि कीन्हा । पुनि सब विप्रन्ह आयसु दीन्हा ।
सिंहासन पर त्रिभुवन साँई । देखि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई ॥

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

दो०–सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ ।
दिव्य बसन बर भूषन, अँग अँग सजे बनाइ ॥

सासुओं ने आदर के साथ तुरन्त जानकीजी को स्नान कराया और दिव्य वस्त्र तथा उत्तम गहने बना कर अङ्ग अंगों में सजे (पहनाये)।

राम बाम दिसि सोभित, रमारूप गुनखानि ।
देखि मातु सब हरषीं, जनम सुफल निज जानि ॥

रामचन्द्रजी की बाईं ओर लक्ष्मी रूपिणी गुणों की खानि सीताजी शोभित हैं, देख कर सब माताएँ अपने जन्म को सुफल समझ कर प्रसन्न हुईं ।

सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव मुनि वृन्द ।
चढ़ि बिमान आये सब, सुर देखन सुखकन्द ॥११॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़! सुनिये, उस समय ब्रह्मा, शिव, मुनिवृन्द और देवता विमानों पर चढ़ कर सब सुखधाम रामचन्द्रजी को देखने के लिये आये ॥११॥

चौ०–प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा । तुरत दिव्य सिंहासन माँगा ॥
रबि सम तेज सो बरनि न जाई । बैठे राम द्विजन्ह सिर नाई ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी को देख कर वशिष्ठ मुनि के मन में प्रेम उमड़ा, उन्होंने दिव्य सिंहासन मँगवाया। सूर्य्य के समान प्रकाशमान वह बखाना नहीं जा सकता, ब्राह्मणों को सिर नवा कर उस पर रामचन्द्रजी बैठ गये ॥ १ ॥

जनक-सुता समेत रघुराई । पेखि प्रहरषे मुनि समुदाई ॥
बेदमन्त्र सब द्विजन्ह उचारे । नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे ॥२॥

जनकनन्दिनी के सहित रघुनाथजी को सिंहासन पर विराजमान देख कर मुनियों का समुदाय अत्यन्त हर्षित हुआ। तब ब्राह्मणों ने वेदमंत्र उच्चारण किया, आकाश से देवता और मुनि लोग जय जयकार पुकारते हैं ॥ २ ॥

प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा । पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा ॥
सुत बिलोकि हरषीं महँतारी । बार बार आरती उतारी ॥३॥

पहले वशिष्ठ मुनि ने तिलक किया, फिर सब ब्राह्मणों का तिलक करने की आज्ञा दी। पुत्र को देख कर माताएँ प्रसन्न हुईं, वे बार बार आरती उतारती हैं ॥ ३ ॥

बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे । जाचक सकल अजाचक कीन्हे ॥
सिंहासन पर त्रिभुवन साँई । देखि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई ॥४॥

ब्राह्मणों को नाना प्रकार के दान दिये गये, सम्पूर्ण याचकों को अयाच्य कर दिया। त्रैलोक्य के स्वामी को सिंहासन पर देख कर देवताओं ने नगारे बजाये ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

नभ दुन्दुभी बाजहिं बिपुल, गन्धर्ब किन्नर गावहीं ।
नाचहिं अपछरा-बृन्द परमानन्द सुर मुनि पावहीं ॥
भरतादि अनुज बिभीषनाङ्गद, हनुमदादि समेत ते ।
गहे छत्रचामरब्यजन धनु असि, चर्म सक्ति बिराजते ॥५॥

आकाश में असंख्यों नगारे बजते हैं, गन्धर्व और किन्नर गान करते हैं। अप्सरायें नाचती हैं, देवता और मुनि परम आनन्द को प्राप्त हैं। लघुबन्धु भरत, लक्ष्मण और शत्रुहन तथा विभीषण, अङ्गद, हनूमान आदिक (सुग्रीव, दधिमुख, जाम्बवान, सुषेण, कुमुद, नील, नल, गवाक्ष, पनस, गन्धमादन) वे पार्षदगण छत्र चँवर, पङ्खा, धनुष, तलवार, ढाल और बरछा के सहित विराजमान हैं ॥ ५ ॥

भरत आदि के जिस क्रम से नाम लिये उसी क्रम से छत्र आदि गिनाये। यह 'यथासंख्य अलंकार' है। अगस्तसंहिता में रामचन्द्रजी की सेवा के सोलह पार्षद गिनाये हैं। इनके नाम ये हैं—(१) भरत। (२) लक्ष्मण। (३) शत्रुहन। (४) विभीषण। (५) अङ्गद। (६) हनूमान (७) सुग्रीव। (८) दधिमुख। (९) जाम्बवान। (१०) सुषेण। (११) कुमुद। (१२) नील। (१३) नल। (१४) गवाक्ष। (१५) पनस। (१६) गन्धमादन।

श्री सहित दिनकर-बंस-भूषन, काम बहु छबि सोहई ।
नव अम्बुधर बर गात अम्बर, पीत मुनि मन मोहई ॥
मुकुटाङ्गदादि बिचित्र भूषन, अङ्ग अङ्गन्हि प्रति सजे ।
अम्भोज नयन बिसाल उर भुज, धन्य नर निरखन्त जे ॥६॥

सूर्य्यकुल के भूषण रामचन्द्रजी सीताजी के सहित अनेक कामदेव की छबि युक्त सोहते हैं। नवीन मेघ के समान सुन्दर शरीर और पीला वस्त्र मुनियों के मन को मोहित करता है। मुकुट, बिजायठ आदि विलक्षण आभूषण प्रत्येक अङ्गों में सजे हैं। कमल के समान नेत्र, विशाल छाती और भुजाओं को जिन्हों ने देखा वे धन्य हैं ॥ ६ ॥

दो०—वह सोभा समाज सुख, कहत न बनइ खगेस ।
बरनइ सादर सेष स्रुति, सो रस जान महेस ॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज! वह शोभा, समाज और सुख कहते नहीं बनता है। सरस्वती, शेष और वेद वर्णन करते हैं कि उस आनन्द को शिवजी जानते हैं।

भिन्न भिन्न अस्तुति करि, गये सुर निज निज धाम ॥
बन्दी बेष बेद तब, आये जहँ श्रीराम ॥

अलग अलग स्तुति करके सब देवता अपने अपने धाम को गये। तब वेद बन्दीजन के वेष में जहाँ श्रीरामचन्द्रजी हैं, वहाँ आये।

प्रभु सर्बज्ञ कीन्ह अति, आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहू मरम कछु, लगे करन गुन गान ॥१२॥

कृपानिधान सर्वज्ञ प्रभु रामचन्द्रजी ने उनका अत्यन्त आदर किया। इसका भेद किसी ने कुछ नहीं लखा, चारों वेद गुणगान करने लगे ॥ १२ ॥

हरिगीतिका-छन्द।

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकन्धरादि प्रचंड निसिचर, प्रबल खल भुजबल हने।
अवतार नर संसार भार बिभञ्जि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु सञ्जुक्त सक्ति नमाम हे ॥७॥

हे राजाओं के मुकुट-मणि! अनुपम रूपवाले, सगुण और निर्गुण रूप आप की जय हो। रावण आदि महाबली विकट दुष्ट राक्षसों को अपनी भुजाओं के बल से आप ने वध किया। मनुष्य का अवतार ले कर आप ने संसार का बोझ हटाया और भीषण दुःख नसाया। हे शरणागतरक्षक दयालु स्वामी! आप की जय हो, हम सीताजी के सहित आप को नमस्कार करते हैं ॥७॥

आप सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं, जो गुण रहित सगुण सो कैसे? इस विरोधी वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है।

तव बिषम माया बस सुरासुर, नाग नर अग जग हरे।
भवपन्थ भ्रमत अमित दिवस निसि, काल कर्म गुनन्हि भरे ॥
जे नाथ करि करुना बिलोके, त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।
भव-खेद छेदन दच्छ हम कहँ, रच्छ राम नमाम हे ॥८॥

हे हरे! देवता, दैत्य, नाग, मनुष्य, जड़ और चेतन सब आप की उग्र माया के अधीन हैं। वे काल, कर्म और गुणों से भरे हुए दिन रात असंख्यों संसारी-मार्ग में भटकते फिरते हैं। हे नाथ! जिन को आप ने दया की दृष्टि से देखा, वे तीनों प्रकार (जन्म, मृत्यु, गर्भवास) के दुःख से छुटकारा पा गये। हे रामचन्द्रजी! आप संसार सम्बन्धी दुःख के मिटाने में प्रवीण हैं हमारी रक्षा कीजिये, हम आप को प्रणाम करते हैं ॥८॥

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव, हरनि भगति न आदरी ।
ते पाइ सुर-दुर्लभ-पदादपि, परत हम देखत हरी ॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि, दास तव जे होइ रहे ।
जपि नाम तव बिनु स्रम तरहिं भव, नाथ सोइ स्मराम हे ॥९॥

जो ज्ञान के अहङ्कार से मतवाले हो कर संसार को हरनेवाली आप की भक्ति का आदर नहीं करते, हे हरे ! वे देवताओं को दुर्लभ पद (मनुष्य-देह) पा कर भी हम देखते हैं कि संसार में गिर जाते हैं। जो सब आशाओं को छोड़ कर विश्वास कर के आप के दास हो रहे हैं, हे नाथ। वे आप का नाम जप कर विना परिश्रम ही संसार से पार हो जाते हैं, आप का मैं सुमिरण करता हूँ ॥ ९ ॥

'हम देखत' शब्द में अर्थ का श्लेष है, हमारे देखते हुए अर्थात् वेदपाठ करते रहने पर भी संसार में पतित होते हैं 'श्लेष अलंकार' है।

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ, परसि मुनि पतिनी तरी ।
नख निर्गता मुनि बन्दिता त्रय,-लोक पावनि सुरसरी ॥
ध्वज कुलिस अङ्कुस कञ्जजुत बन, फिरत कंटककिन लहे ।
पद कञ्ज द्वन्द मुकुन्द राम रमेस नित्य भजाम हे ॥१०॥

जो चरण शिव और ब्रह्मा को पूज्य हैं, जिनकी पवित्र धूलि के छू जाने से मुनि की पत्नी (अहिल्या) तर गई। जिन चरणों के नखों से तीनों लोकों को पवित्र करनेवाली, मुनियों से वन्दनीय गङ्गाजी निकली हैं। ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमल के चिह्नों से युक्त वन में फिरते हुए जिन चरणों को कंटकियों अर्थात् काँटों में रहनेवाले कोल भीलों ने पाये, जो चरण कमल द्वन्द से मोक्ष देनेवाले हैं, हे लक्ष्मीकान्त रामचन्द्रजी ! हम उन चरणों को नित्य भजते हैं ॥१०॥

अब्यक्त-मूलमनादितरु त्वच, चारि निगमागम भने ।
षट-कन्ध साखा-पञ्चबीस अनेक पर्न सुमन घने ॥
फल जुगल-बिधि कटु मधुर बेलि, अकेलि जेहि आस्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमाम हे ॥११॥

आप संसार रूपी अनादि वृक्ष हैं, अव्यक्त (जो अस्पष्ट न हो निर्गुण स्वरूप) जड़ है और वेद शास्त्रों ने चार प्रकार की छाल (वकल) कहे हैं। छे मोटी डालें हैं, पचीस शाखाएँ (पतली डालें) हैं, अनेक पत्ते और अनन्त पुष्प हैं। जिस (वृक्ष) के आधार पर एक लता रहती है उसमें कडुए और मीठे दो तरह के फल लगते हैं। नित्य नवीन पत्तों से लदे और फूलते हुए संसार-वृक्ष रूप आप को मैं नमस्कार करता हूँ ॥११॥

वृक्ष के समस्त अंगों का आरोप वेदों ने रामचन्द्रजी को संसार-वृक्ष कह कर उन

पर किया है। यह समस्तवस्तुविषयक 'साङ्गरूपक अलंकार' है। माया को लता रूपिणी कह कर उसमें कटु-मधुर दोनों प्रकार के फलों का वर्णन 'अधिक अभेद रूपक अलंकार' है। चार त्वचा—अर्थ, धर्म, काम मोक्ष। श्रीमद्भागवत में भी संसारवृक्ष का वर्णन है, वहाँ चारों पदार्थ ही चार प्रकार के रस कहे गये हैं; किन्तु यहाँ चारों त्वचा में बहुमत है। कोई मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को। कोई अण्डज, पिण्डज, उद्भिद, स्वेदज को। कोई जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया को। कोई चारों वेदों को और कोई ओङ्कार सहित सत्व, रज, तम को चार प्रकार के वक्कल कहते हैं। षट-स्कन्ध—रहना, बढ़ना, घटना, विपर्यय होना, जन्म लेना, मरना। पचीस शाखा—आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, लिङ्ग, शब्द रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और जीव यही पचीसों तत्व हैं। मनोरथ तरह तरह के अपार पत्र हैं और वासना फूल है। मीठा फल पुण्य जो स्वर्गादि देता है और कड़ुवा फल पाप जो नरक पहुँचाता है। संसार वृक्ष के आधार पर ठहरनेवाली अकेली लता माया है जो विद्या और अविद्या रूप में कड़ुवा तथा मीठा फल फलती है।

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभव,-गम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव, सगुन जस नित गावहीं ॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर, देव यह बर माँगहीं ॥
मन बचन कर्म बिकार तजि तव, चरन हम अनुरागहीं ॥१२॥

जो आप को अजन्मा, ब्रह्म, अद्वितीय, ज्ञान से प्राप्त होनेवाले और मन से परे जान कर ध्यान धरते हैं। हे नाथ! वे कहें और जानें, हम आप के सगुण यश को नित्य गाते हैं। हे देव, सद्गुणों की खान स्वामिन्, दयानिधान! हम आप से यह वर माँगते हैं कि मन, वचन और कर्म से विकारों को त्याग कर आप के चरणों में प्रेम करें ॥१२॥

दो०—सब के देखत बेदन्ह, बिनती कीन्हि उदार।
अन्तरधान भये पुनि, गये ब्रह्म-आगार ॥

सब के देखते वेदों ने श्रेष्ठ प्रार्थना की, फिर वे अदृश्य हो कर ब्रह्मलोक को चले गये।

बैनतेय सुनु सम्भु तब, आये जहँ रघुबीर।
बिनय करत गदगद गिरा, पूरित पुलक सरीर ॥१३॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़! सुनिये, तब जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ शिवजी आये और उनका शरीर पुलक से परिपूर्ण हो रहा है, अत्यधिक प्रेम भरी वाणी से स्तुति करने लगे ॥१३॥

तोटक-वृत्त।

जय राम रमा-रमनं समनं । भवताप भयाकुल पाहि जनं ॥
अवधेस सुरेस रमेस बिभो । सरनागत माँगत पाहि प्रभो ॥१॥

हे रामचन्द्रजी! आप की जय हो, आप लक्ष्मी को रमानेवाले, संसारी तापों के नाशक और भय से दुखीजनों की रक्षा करनेवाले हैं। हे अयोध्यानाथ, देवताओं के स्वामी, लक्ष्मीपते, समर्थ, प्रभो! मैं आप की शरण आया हूँ और वर माँगता हूँ मेरी रक्षा कीजिये ॥१॥

दससीस बिनासन बीस भुजा । कृत दूरि महा महि भूरि रुजा ॥
रजनीचर-बृन्द पतङ्ग रहे । सर पावक तेज प्रचंड दहे ॥२॥

रावण के दस सिर और बीसों भुजा का नाश करके आपने पृथ्वी के बहुत बड़े रोग को दूर किया। राक्षसों के झुण्ड पाँखी रूप थे, उन्हें बाण रूपी प्रचण्ड तीव्र अग्नि में भस्म कर दिया ॥२॥

महिमंडल मंडन चारु तरं । धृत सायक चाप निषङ्ग बरं ॥
मद मोह महा ममता रजनी । तम पुञ्ज दिवाकर तेज अनी ॥३॥

आप पृथ्वी-मण्डल के अतिशय सुन्दर भूषण रूप और श्रेष्ठ धनुष बाण, तरकस धारण किये हैं मद, महामोह और ममता रूपी रात्रि के घने अन्धकार को नाश करने में आप तीक्ष्ण किरणों के सूर्य्य रूप हैं ॥३॥

मनजात किरात निपात किये । मृग लोग कुभोग सरेन हिये ॥
हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे । बिषयाबन पाँवर भूलि परे ॥४॥

हे नाथ! कामदेव रूपी किरात (शिकारी) ने मनुष्य रूपी मृगों के हृदय को कुभोग रूपी बाण मार कर आहत कर दिया है। हे हरे! विषय रूपी वन में भूल कर पड़े हुए उन अधम अनाथों की रक्षा कीजिये ॥ ४ ॥

बहु रोग बियोगन्हि लोग हये । भवदंघ्रि निरादर के फल ये ॥
भवसिन्धु अगाध परे नर ते । पद-पङ्कज प्रेम न जे करते ॥५॥

लोग बहुत से रोग और वियोगों से दुखी हैं, आप के चरणों के अनादर करने के ये फल हैं। वे मनुष्य संसार रूपी अथाह समुद्र में पड़े हैं, जो पद-कमलों में प्रेम नहीं करते ॥५॥

अति दीन मलीन दुखी नितहीं । जिन्ह के पद-पङ्कज प्रेम नहीं ॥
अवलम्ब भवन्त कथा जिन्ह के । प्रिय सन्त अनन्त सदा तिन्ह के ॥६॥

वे अत्यन्त दीन, मलिन और नित्य ही दुखी रहते हैं, जिनकी आप के चरण-कमलों में प्रीति नहीं है। जिनको आप की कथा का आधार है, उनको सन्त और ईश्वर सदा प्यारे लगते हैं ॥६॥

नहिं राग न लोभ न मान मदा । तिन्ह के सम बैभव वा बिपदा ॥
यहि तें तव सेवक होत मुदा । मुनि त्यागत जोग भरोस सदा ॥७॥

जिन के मन में मोह नहीं, लोभ नहीं, न दूसरों से बड़प्पन पाने की चाह और घमण्ड है, इनके लिये सम्पत्ति या विपत्ति दोनों समान हैं। इसी से आप के सेवक (भक्तजन) प्रसन्न होते हैं और मुनि लोग योग का भरोसा छोड़ कर सदा भक्ति चाहते हैं ॥७॥

करि प्रेम निरन्तर नेम लिये । पद-पङ्कज सेवत सुद्ध हिये ॥
सम मानि निरादर आदरही । सब सन्त सुखी बिचरन्ति मही ॥८॥

जो निरन्तर प्रेम का नेम ले कर शुद्ध हृदय से चरण-कमलों का सेवन करते हैं। आदर और अनादर को बराबर मानते हैं, वे सन्तजन सारी धरती पर सुख से विचरण करते हैं ॥८॥

मुनि-मानस-पङ्कज-भृङ्ग भजे । रघुबीर महा रनधीर अजे ॥
तव नाम जपामि नमामि हरी । भव रोग महा मद मान अरी ॥९॥

हे अजेय, महारणधीर रघुवीर! आप मुनियों के मन रूपी कमल के भ्रमर हैं। हे हरे! मैं आप का नाम जपता हूँ, और आप को नमस्कार करता हूँ, घोर मद और अहङ्कार रूपी संसारी रोग के आप वैरी हैं ॥ ९ ॥

गुटका में 'भव रोग महा गद मान अरी' पाठ है।

गुन सील कृपा परमायतनं । प्रनमामि निरन्तर श्रीरमनं ॥
रघुनन्द निकन्दय द्वन्द घनं । महिपाल बिलोकय दीन जनं ॥१०॥

हे गुण, शील और कृपा के अत्युत्तम स्थान लक्ष्मीरमण! मैं आप को निरन्तर प्रणाम करता हूँ। हे रघुनन्दन! कलहराशि को नसाइये, राजन्! इस दीन जन की ओर निहारिये ॥ १० ॥

दो०—बार बार बर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरङ्ग ॥
पद-सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसङ्ग ॥

हे लक्ष्मीनाथ मैं बार बार वर माँगता हू, प्रसन्न होकर आप चरण-कमलों की निश्चल भक्ति और सदा सत्सङ्ग दीजिये।

बरनि उमापति रामगुन, हरषि गये कैलास ।
तब प्रभु कपिन्ह दिवाये, सब बिधि सुख-प्रद बास ॥१४॥

उमानाथ रामचन्द्रजी के गुण, वर्णन कर प्रसन्नता से कैलास को गये। तब प्रभु रामचन्द्रजी ने वानरों को सब तरह सुख देनेवाला (रहने के लिये) स्थान दिलवाये ॥ १४ ॥

चौ०—सुनु खगपति यह कथा पावनी । त्रिबिधि ताप भव भय दावनी ॥
महाराज कर सुभ अभिषेका । सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका ॥१॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे खगराज! सुनिये, यह पवित्र कथा तीनों ताप और संसार-

सम्बन्धी भयों को रौंदनेवाली है। महाराज के कल्याणमय राज्याभिषेक को सुनते ही मनुष्य वैराग्य और ज्ञान पावेंगे ॥ १ ॥

केवल राज्योत्सव की पवित्र कथा सुनते ही अलभ्य लाभ वर्णन करना कि मनुष्य ज्ञान वैराग्य पावेंगे 'द्वितीय विशेष अलंकार' है।

जे सकाम नर सुनहिँ जे गावहिँ । सुख सम्पति नाना बिधि पावहिँ ॥
सुर-दुर्लभ सुख करि जग माहीँ । अन्तकाल रघुपति-पुर जाहीँ ॥२॥

जो मनुष्य कामना के सहित सुनते हैं अथवा जो कहते हैं, वे नाना प्रकार के सुख और सम्पत्ति को पाते हैं। देवताओं को दुर्लभ सुख संसार में भोग कर अन्तकाल में रघुनाथजी के लोक (वैकुण्ठ) को जाते हैं ॥ २ ॥

सुनहिँ बिमुक्त बिरत अरु बिषई । लहहिँ भगति गति सम्पति नई ॥
खगपति रामकथा मैँ बरनी । स्वमति बिलास त्रास दुख हरनी ॥३॥

जीवन्मुक्त, वैराग्यवान और विषयी सुनते हैं, वे नवीन भक्ति, मोक्ष तथा सम्पत्ति पाते हैं। कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे खगनाथ ! मैं ने त्रास और दुःख को हरनेवाली रामकथा अपनी बुद्धि के विकासानुसार वर्णन की है ॥ ३ ॥

पहले विमुक्त, विरत और विषयी का नाम लेकर उसी क्रम से फल गिनाना कि भक्ति, मोक्ष और सम्पत्ति पाते हैं अर्थात् विमुक्त-भक्ति, विरत-गति और विषयी-सम्पत्ति 'यथासंख्य अलंकार' है।

बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी । मोहनदी कहँ सुन्दर तरनी ॥
नित नव मङ्गल कोसलपुरी । हरषित रहहिँ लोग सब कुरी ॥४॥

वैराग्य, ज्ञान और भक्ति को दृढ़ करनेवाली है, मोह रूपी नदी के लिये सुन्दर नौका रूपिणी है। अयोध्यापुरी में नित्य नये मङ्गल होते हैं और सब लोग मर्य्यादा-पूर्वक प्रसन्न रहते हैं ॥ ४ ॥

'कुरी' शब्द वंश और मर्य्यादा का पर्य्यायी है, इसलिये सभी कुटुम्बवाले प्रसन्न रहते हैं. ऐसा अर्थ भी किया जाता है।

नित नइ प्रीति राम-पद-पङ्कज । सबकेंजिन्हहिँ नमत सिव मुनि अज ॥
मङ्गन बहु प्रकार पहिराये । द्विजन्ह दान नाना बिधि पाये ॥५॥

रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में सब को नित्य नई प्रीति होती है, जिन चरणों को शिवजी, मुनि और ब्रह्मा नमस्कार करते हैं। मङ्गनों को बहुत तरह का पहिरावा दिया गया और ब्राह्मणों ने नाना प्रकार के दान पाये ॥ ५ ॥

दो०—ब्रह्मानन्द मगन कपि, सब के प्रभु-पद प्रीति ।
जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट बीति ॥१५॥

सब बन्दरों के हृदय में रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति है, वे ब्रह्मानन्द में मग्न हैं। उन्होंने दिन जाते नहीं जाना और छे महीने बीत गये ॥ १५ ॥

चौ०—बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं । जिमि पर-द्रोह सन्त मन माहीं ॥
तब रघुपति सब सखा बोलाये । आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥१॥

घर भूल गये सपने में भी उसकी सुध नहीं आती, जैसे सन्तों के मन में पराये का द्रोह विस्मरण हो जाता है । तब रघुनाथजी ने सब सखाओं को बुलाया, सभी ने आ कर आदर के साथ सिर नवाया ॥ १ ॥

परम प्रीति समीप बैठारे । भगत सुखद मृदु बचन उचारे ॥
तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई । मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई ॥२॥

बड़ी प्रीति से पास में बैठा कर भक्तों को सुख देनेवाले रामचन्द्रजी कोमल वचन बोले । आप लोगों ने हमारी अत्यन्त सेवा की, मैं मुँह पर किस तरह बड़ाई करूँ ॥ २ ॥

तातेँ मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे । मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥
अनुज राज सम्पति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही ॥३॥

आप सब मुझे इसलिये बहुत प्यारे लगते हैं कि मेरी भलाई के कारण अपने घरों के सुख त्याग दिये । छोटे भाई, राज्य, सम्पत्ति, जानकी, शरीर, घर, कुटुम्बी और जितने स्नेही हैं ॥ ३ ॥

सब मम प्रिय नहिँ तुम्हहिँ समाना । मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥
सब के प्रिय सेवक यह नीती । मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥४॥

ये सब हमें आप लोगों के समान प्यारे नहीं हैं, मिथ्या नहीं कहता हूँ मेरा यह स्वभाव है । यह नीति है सेवक सब को प्यारे होते हैं, पर मेरे हृदय में दासों पर अधिक प्रीति रहती है ॥ ४ ॥

दो०—अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम ।
सदा सर्बगत सर्बहित, जानि करेहु अति प्रेम ॥ १६ ॥

हे मित्रो ! अब आप सब अपने अपने घर जाओ और मुझे दृढ़ नियम से भजना । सदा सब में व्यापक और सब का हितकारी जान कर मुझ पर अत्यन्त प्रेम करना ॥ १६ ॥

चौ०—सुनि प्रभु बचन मगन सब भये । को हम कहाँ बिसरि तन गये ॥
एकटक रहे जोरि कर आगे । सकहिँ न कछु कहि अति अनुरागे ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुन कर सब प्रेम में मग्न हो गये, हम कौन हैं और कहाँ हैं ? इत्यादि शरीर की सुध भूल गये । सामने हाथ जोड़ कर टकटकी लगाये खड़े रहे, अत्यन्त प्रीति के कारण कुछ कह नहीं सकते हैं ॥ १ ॥

परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा । कहा बिबिधि बिधि ज्ञान बिसेखा ॥
प्रभु सनमुख कछु कहत न पारहिँ । पुनि पुनि चरन-सरोज निहारहिँ ॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने उनका अत्यन्तप्रेम देख कर नाना प्रकार के विशेष ज्ञान कहे । वे स्वामी के सामने कुछ कह नहीं सकते हैं, बार बार चरण-कमलों को देखते हैं ॥२॥

तब प्रभु भूषन बसन मँगाये । नाना रङ्ग अनूप सुहाये ॥
सुग्रीवहिँ प्रथमहिँ पहिराये । बसन भरत निज हाथ बनाये ॥३॥

तब स्वामी रामचन्द्रजी ने अनेक रङ्ग के अनुपम सुहावने भूषण और वस्त्र मँगवाये । भरतजी ने अपने हाथ से बना कर पहले सुग्रीव को वस्त्र पहनाये ॥३॥

प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराये । लङ्कापति रघुपति मन भाये ॥
अङ्गद बैठ रहा नहिँ डोला । प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला ॥४॥

प्रभु की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने लङ्कापति विभीषण को पहनाये, जो रघुनाथजी के मन को अच्छे लगे । अङ्गद बैठे ही रहे वे हिले नहीं, उनकी प्रीति देख कर रामचन्द्रजी ने उन्हें (बिदाई के लिये) नहीं बुलाया ॥४॥

दो०—जामवन्त नीलादि सब, पहिराये रघुनाथ ।
हिय धरि राम रूप सब, चले नाइ पद माथ ॥

जाम्बवान और नील आदि सब को रघुनाथजी ने स्वयम् वस्त्राभूषण पहनाये । सब रामचन्द्रजी के रूप को हृदय में रख कर चरणों में मस्तक नवा कर चले ।

तब अङ्गद उठि नाइ सिर, सजल नयन कर जोरि ।
अति बिनीत बोले बचन, मनहुँ प्रेम रस बोरि ॥१७॥

तब अङ्गद ने उठ कर सिर नवाया आँखों में आसूँ भरे हाथ जोड़ कर अत्यन्त विनीत वचन बोले । ऐसा मालूम होता है मानों वे वचन प्रेम-रस में सने हों ॥१७॥

चौ०—सुनु सर्बज्ञ कृपा सुख सिन्धो । दीन दयाकर आरतबन्धो ॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली । गयउ तुम्हारेहि कोँछे घाली ॥१॥

हे सर्वज्ञ, दया और सुख के समुद्र, दीनों पर दया करनेवाले, दुःखीजनों के सहायक, स्वामिन् । सुनिये, मरते समय बाली मुझे आप ही की गोद में डाल गया है ॥१॥

असरन सरन बिरद सम्भारी । मोहि जनि तजहु भगत हितकारी ॥
मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद-जलजाता ॥२॥

आप अशरण को शरण देनेवाले और भक्तों के कल्याण कर्त्ता हैं, अपनी नामवरी का ख्याल कर के मुझे मत त्यागिये । मेरे स्वामी, गुरु, पिता और माता आप ही हैं, इन चरण-कमलों को छोड़ कर मैं कहाँ जाऊँ ? ॥२॥

स्पष्ट शब्दों में यह न कह कर कि किष्किन्धा का राजा आप ने सुग्रीव को बनाया है, उनके वंशज राज्य करेंगे मेरा वहाँ जाना व्यर्थ है। यों कहा कि आप अशरण शरण भक्त हितकारी हैं मेरा त्याग न कीजिये 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है।

तुम्हहिँ बिचारि कहहु नरनाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा
बालक ज्ञान बुद्धि बल होना । राखहु सरन नाथ जन दीना ॥३॥

हे नरनाथ! आप ही विचार कर कहिये, स्वामी को छोड़ घर में मेरा कौन सा काम है? हे स्वामिन्! बालक, ज्ञान, बुद्धि और बल से रहित मुझ दीन जन को शरण में रखिये ॥३॥

सभा की प्रति में 'राखहु सरन जानि जन दीना' पाठ है।

नीचि टहल गृह कै सब करिहौँ । पद-पङ्कज बिलोकि भव तरिहौँ ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही॥४॥

मैं घर की सब नीच सेवा करूँगा और श्रीचरण-कमलों को निहार कर संसार से पार हो जाऊँगा। ऐसा कह कर चरणों पर गिर पड़े और कहा—स्वामिन्। मेरी रक्षा कीजिये, हे नाथ! अब मुझे घर जाने के लिये न कहिये ॥४॥

अङ्गद के वाक्यों में लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि यहाँ नीच टहल करते हुए भी स्वामी के चरणों के दर्शन कर संसार-सागर से पार पा जाऊँगा और किष्किन्धा में जाकर 'राज को दूसरों खासर खूसा' की भाँति जीवन व्यर्थ गँवाना पड़ेगा, स्वार्थ परमार्थ दोनों से हाथ धो बैठूँगा। संसार से तरने की इच्छा से तुच्छ टहल को गुण मानना 'अनुज्ञा अलंकार' है।

दो०—अङ्गद बचन बिनीत सुनि, रघुपति करुना सींव ।
प्रभु उठाइ उर लायेउ, सजल नयन राजीव ॥

दया के हद रघुनाथजी ने अङ्गद के नम्रता युक्त वचन सुन कर उन्हें उठा कर हृदय से लगा लिया और प्रभु के कमल नयनों में जल भर आया।

निज उर माल बसन मनि, बालि-तनय पहिराइ ॥
बिदा कीन्ह भगवान तब, बहु प्रकार समुझाइ ॥१८॥

अपने हृदय की मणियों की माला और वस्त्र बालिकुमार को पहनाकर तथा बहुत तरह से समझा कर तब भगवान रामचन्द्रजी ने अङ्गद को बिदा किया ॥१८॥

अङ्गद के वचनों में अभिप्राय सूचक चेष्टा को समझ कर रामचन्द्रजी ने अपने अङ्ग के आभूषण और वस्त्र पहना कर इस सङ्केत से अङ्गद का समाधान किया कि तुम मेरे दिये राज-चिह्नों को धारण कर किष्किन्धा में जाओ। मेरे किये हुए निर्णय को सुग्रीव कदापि न टालेंगे 'सूक्ष्म अलंकार' है।

चौ०—भरत अनुज सौमित्रि समेता । पठवन चले भगत कृतचेता ॥
अङ्गद हृदय प्रेम नहिँ थोरा। फिरि फिरि चितव राम की ओरा ॥१

भरत, शत्रुहन और लक्ष्मण के सहित रामचन्द्रजी भक्तों के किये हुए कार्य्य का स्मरण

कर उन्हें बिदा करने चले । अङ्गद के हृदय में थोड़ा प्रेम नहीं है, वे फिर फिर कर रामचन्द्रजी की ओर निहारते हैं ॥ १ ॥

बार बार कर दंड-प्रनामा । मन अस रहन कहहिँ मोहि रामा ॥
राम बिलोकनि बोलनि चलनी । सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी ॥२॥

बार बार दण्डवत प्रणाम कर के अङ्गद मन में ऐसा चाहते हैं कि मुझे रामचन्द्रजी रहने को कहें । रामचन्द्रजी का निहारना, बोलना, चलना और हँस कर मिलना सुमिर सुमिर कर अङ्गद सोचते हैं ॥ २ ॥

प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाखी । चलेउ हृदय पद-पङ्कज राखी ॥
अति आदर सब कपि पहुँचाये । भाइन्ह सहित राम फिरि आये ॥३॥

स्वामी के रुख़ को देख कर अङ्गद बहुत सी विनती करके चरण-कमलों को हृदय में रख कर चले । अत्यन्त आदर से सब वानरों को पहुँचा कर भाइयों के सहित रामचन्द्रजी लौट आये ॥ ३ ॥

तब सुग्रीव चरन गहि नाना । भाँति बिनय कीन्ही हनुमाना ॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा । पुनि तव चरन देखिहउँ देवा ॥४॥

तब सुग्रीव के पाँव पकड़ कर हनूमानजी ने अनेक तरह से विनती की । हे देव ! दस दिन रघुनाथजी के चरणों की सेवा करके फिर आपके पदों का दर्शन करूँगा ॥ ४ ॥

पुन्य-पुञ्ज तुम्ह पवन-कुमारा । सेवहु जाइ कृपा-आगारा ॥
अस कहि कपि सब चले तुरन्ता । अङ्गद कहइ सुनहु हनुमन्ता ॥५॥

सुग्रीव ने कहा—हे पवनकुमार ! आप पुण्य की राशि हो, जा कर कृपा के स्थान रामचन्द्रजी की सेवा करो । ऐसा कह कर सब बन्दर तुरन्त चल दिये, अङ्गद ने कहा—हे हनूमानजी ! सुनिये ॥ ५ ॥

दो०—कहेहु दंडवत प्रभु सन, तुम्हहिँ कहउँ कर जोरि ।
बार बार रघुनायकहि, सुरति करायेहु मोरि ॥

प्रभु से मेरी दण्डवत कहना, मैं आप से हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि मेरी याद बार बार रघुनाथजी को कराते रहना ।

अस कहि चलेउ बालि-सुत, फिरि आयेउ हनुमन्त ।
तासु प्रीति प्रभु सन कही, मगन भये भगवन्त ॥

ऐसा कह कर बालिकुमार चल दिये और हनूमानजी लौट आये । उनकी प्रीति प्रभु रामचन्द्रजी से कही, सुन कर भगवान प्रेम में मगन हो गये ।

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित खगेस अस राम कर, समुझि परइ कहु काहि ॥१९॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे गरुड़! रामचन्द्रजी का चित्त अत्यन्त कठोर है जिसकी कठिनता वज्र भी चाहता है और कोमल इतना है कि उसकी कोमलता को फूल भी पाने की इच्छा रखता है। ऐसा रामचन्द्रजी का चित्त कहिये किसकी समझ में आ सकता है ॥ १९ ॥

रामचन्द्रजी का चित्त-उपमेय, वज्र और फूल-उपमान हैं। उपमेय की अपेक्षा उपमान में लघुता वर्णन करना 'तृतीय प्रतीप अलंकार' है।

चौ०--पुनि कृपाल लिय बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा ॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मनक्रमबचन धरम अनुसरेहू॥१

फिर कृपालु रामचन्द्रजी ने निषाद को बुला लिया, उसको प्रसाद रूप गहना और कपड़ा दिये। फिर बोले कि घर जाओ मेरा स्मरण करना और मन, कर्म, वचन से धर्म के अनुसार चलना ॥ १ ॥

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता ॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी ॥२॥

तुम हमारे मित्र और भरत के समान प्यारे भाई हो, अयोध्या में सदा आते जाते रहना। प्रभु के वचन सुन कर निषाद को बड़ा सुख उत्पन्न हुआ, आँखों में जल भर कर पाँव पर गिर पड़ा ॥२॥

चरन-नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा ॥
रघुपति चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिँ धन्य सुख-रासी ॥३॥

चरण-कमलों को हृदय में रख कर घर आया और स्वामी का स्वभाव अपने कुटुम्बियों को सुनाया। रघुनाथजी के चरित्र को देख कर अयोध्या पुर-वासी बार बार कहते हैं कि सुख के राशि रामचन्द्रजी धन्य हैं ॥ ३ ॥

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका ॥
बयर न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप बिषमता खोई ॥४॥

रामचन्द्रजी के राज-सिंहासन पर बैठने से तीनों लोक प्रसन्न हुआ और सब शोक जाता रहा। कोई किसी से बैर नहीं करता है, रामचन्द्रजी के प्रताप से विरोध नष्ट हो गया ॥४॥

दो०--बरनास्रम निज निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहि सदा पावहिँ सुख, नहिँ भय सोक न रोग ॥२०॥

वर्ण और आश्रम के लोग अपने अपने धर्म में तत्पर वेद-मार्ग से सदा चलते हैं और सुख पाते हैं, उनको किसी का डर नहीं और न शोक या रोग होता है ॥२०॥

चौ०-दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम-राज नहिँ काहुहि ब्यापा ॥
सब नर करहिँ परस्पर प्रीती । चलहिँ स्वधर्म निरत स्रुति नीती॥१॥

रामचन्द्रजी के राज्य में किसी को दैहिक दैविक और भौतिक ताप नहीं व्यापमान हुआ । सब लोग आपस में प्रेम करते हैं, वेद की नीति में तत्पर अपने धर्मानुसार चलते हैं ॥ १ ॥

दैहिकताप—शरीर से उत्पन्न होनेवाले ज्वरादि रोग। दैविकताप—दुर्भिक्ष पड़ना, बिजली गिरना, बूड़ा आना इत्यादि। भौतिकताप—साँप, बिच्छू, सिंह आदि से उत्पन्न हुआ कष्ट। यही तीनों ताप प्रसिद्ध हैं, । सभा की प्रति में स्रुति रीती, पाठ है।

चारिहु चरन धरम जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥
रामभगति-रत सब नर नारी । सकल परमगति के अधिकारी ॥२॥

(सत्य, शौच, दया और दान) चारों चरणों से धर्म जगत में परिपूर्ण हो रहा है, सपने में भी पाप नहीं देख पड़ता है। सब स्त्री-पुरुष राममक्ति में तत्पर हैं, इससे सभी मोक्ष के अधिकारी हैं ॥२॥

अलप-मृत्यु नहिँ कवनिउँ पीरा । सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा ॥
नहिँ दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिँ कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥३॥

न अल्पायु होती है और न कोई दुःख होता है, सब सुन्दर शरीरवाले तथा सब आरोग्य हैं। दरिद्रता नहीं है, न कोई दुखी है, न दीन है, न कोई मूर्ख है और न कुल-क्षणी है ॥३॥

सब निर्दम्भ धर्म-रत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी । सब कृतज्ञ नहिँ कपट सयानी ॥४॥

सब पाखण्ड रहित, धर्म में तत्पर और पुण्यात्मा हैं, सब पुरुष और स्त्री चतुर गुणवान हैं। सब गुण के ज्ञाता, पण्डित और सभी ज्ञानी हैं, सब किये हुए उपकार को माननेवाले, किसी में कपट-चातुरी नहीं है ॥४॥

दो०-राम-राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिँ ।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिँ ॥२१॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज! सुनिये, संसार में जड़ चेतन को काल कर्म, स्वभाव और गुण के किये हुए दुःख किसी को नहीं होते हैं ॥२१॥

काल, कर्म, स्वभाव, गुण कारण रूप हैं। कारण के विद्यमान रहते दुःख रूप फल रामराज्य के प्रभाव से किसी को न होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है। काल—समय विकार सर्दी गर्मी आदि। कर्म—करनी जो की जाय। स्वभाव—भली या बुरी आदत। गुण—लक्षणों की विशेषता मिलनसारी वा झगड़े इत्यादि।

चौ०—भूमि सप्तसागर मेखला । एक भूप रघुपति कोसला ॥
भुवन अनेक रोम प्रति जासू । यह प्रभुता कछु बहुत न तासू ॥१

सातों समुद्र रूपी करधनी के बीच की भूमि अर्थात् सातों द्वीप के अकेले कोशलेन्द्र रघुनाथजी राजा हैं। जिनके एक एक रोम में असंख्यों ब्रह्माण्ड लटके हैं, उनके लिये यह महिमा कुछ अधिक नहीं है ॥१॥

पहिले यह कहना कि सातों द्वीप के रघुनाथजी राजा हैं। फिर दूसरी बात कह कर प्रथम अपनी ही कही बात का निषेध करना 'उक्ताक्षेप अलंकार' है। सातों द्वीप का राज्य बड़ा आधार रूप है और रामचन्द्रजी की प्रभुता उससे अधिक आधेय रूप है। बड़े आधार से भी आधेय को बड़ा कहना 'प्रथम अधिक अलंकार' है। दोनों समप्रधान हैं।

सो महिमा समुझत प्रभु केरी । यह बरनत हीनता घनेरी ।
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी । फिरि एहि चरित तिन्हहु रति मानी॥

प्रभु रामचन्द्रजी की वह महिमा समझते हुए और यह कहते (कि वे सातों द्वीपों के राजा हैं) बड़ी हीनता है। कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे खगराज ! उस महिमा को जिन्हों ने जाना है, फिर वे भी इस (सगुण) चरित्र में प्रीति मानते हैं ॥२॥

सोउ जाने कर फल यह लीला । कहहिं महा मुनिबर दम-सीला
राम-राज कर सुख सम्पदा । बरनि न सकइ फनीस सारदा ॥३॥

उस महा महिमा के जानने का फल यह चरित्र है, ऐसा बड़े बड़े जितेन्द्रिय मुनिराज कहते हैं। रामराज्य का सुख और सम्पत्ति शेषनाग तथा सरस्वती नहीं वर्णन कर सकतीं ॥३॥

सब उदार सब पर-उपकारी । बिप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारिब्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

सब स्त्री-पुरुष उदार और सभी परोपकारी हैं और ब्राह्मणों के चरणों के सेवक हैं। सब पुरुषमात्र एक स्त्री-व्रतवाले हैं और स्त्रियाँ मन, वचन, कर्म से (पतिव्रता) पति की हितकारिणी हैं ॥४॥

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य-समाज ।
जीतहु मनहिँ सुनिय अस, रामचन्द्र के राज ॥२२॥

रामचंद्रजी के राज्य में दण्ड सन्यासियों के हाथ में और भेद नाचनेवाले तथा नाच की मण्डली में देख पड़ता है। 'जीतो' यह शब्द मन के लिये सुनने में आता है ॥२२॥

साम, दान, दण्ड और भेद राज्य-प्रबन्ध में शत्रु को जीतने के लिये चार प्रकार की नीति वर्ती जाती हैं। राम-राज्य में दण्ड और भेदनीति का लेश नहीं है, केवल नाममात्र को आश्रम की मर्यादा के लिये यती हाथ में दण्ड रखते हैं और भेद केवल नृत्य-मण्डली में सुर ताल का देखा जाता है। शत्रु के जीतने का उद्योग नहीं, मनको जीतने की बात सुनाई पड़ती है। इन तीनों धर्मों को अपने स्थान से हटा कर दूसरे स्थान में स्थापन करना 'परिसंख्या अलंकार'

है। नर्तक और नृत्य में 'न' का, रामचन्द्र और राज्य में 'र' का अनुप्रास है। कोई अपराध ही नहीं करते जिससे दण्ड की आवश्यकता पड़े। कहीं अनुचित संगठन नहीं जिससे भेदनीति की ज़रूरत हो। किसी का कोई शत्रु नहीं जिससे जीतने की नौबत आवे; यह व्यंगार्थ वाच्यार्थ के बराबर गुणीभूत व्यङ्ग है। सभा की प्रति में 'जितहु मनहि अस सुनिय जग' पाठ है।

चौ०-फूलहिँ फरहिँ सदा तरु कानन। रहहिँ एक सँग गज पञ्चानन॥
खग मृग सहज बयर बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई॥१॥

वन के वृक्ष सदा फूलते फलते हैं, हाथी और सिंह एक साथ रहते हैं। पक्षी और मृग सब जीवों ने स्वाभाविक बैर भुला कर आपस में प्रीति बढ़ाई है॥१॥

हाथी और सिंह का एक साथ रहना और पक्षी मृगों का स्वाभाविक वैर त्याग कर परस्पर प्रेम बढ़ाना अर्थात् कारण के विरुद्ध कार्य का उत्पन्न होना 'पञ्चम विभावना अलंकार' है।

कूजहिँ खग मृग नाना बृन्दा। अभय चरहिँ बन करहिँ अनन्दा॥
सीतल सुरभि पवन बह मन्दा। गुञ्जत अलि लै चलि मकरन्दा॥२॥

पक्षी बोलते हैं और नाना प्रकार के मृगों के झुण्ड वन में निर्भय विचरते हैं तथा आनन्द करते हैं। शीतल, मन्द, सुगन्धित बयारि बहती है, भँवरे गुञ्जार करते हुए फूलों के रस लेकर (अपनी छातों में) चले जाते हैं॥२॥

लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससिसम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥३॥

लता और वृक्ष माँगने से मधु टपकाते हैं, गौयें मनमाना दूध देती हैं। पृथ्वी सदा खेती से परिपूर्ण रहती है; त्रेता में सतयुग की करनी हुई॥३॥

प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिँ बर बारी। सीतल अमल स्वादु सुखकारी॥४॥

जगत के प्राण रामचन्द्रजी को संसार का राजा जान कर पर्वतों ने नाना प्रकार के रत्नों की खानें प्रकट कर दीं। सम्पूर्ण नदियाँ उत्तम जल बहती हैं जो शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट और सुख उत्पन्न करनेवाले हैं॥४॥

सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिँ रतन तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज सङ्कुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥५॥

समुद्र अपनी मर्यादा से रहते हैं, किनारे पर रत्न डालते उन्हें मनुष्य पाते हैं। सम्पूर्ण तालाब कमलों से भरपूर हैं और दसों दिशाओं में पृथक पृथक बड़ी प्रसन्नता प्रकट हो रही है॥५॥

दो०—बिधु महिपूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहिँ काज।
माँगे बारिद देहिँ जल, रामचन्द्र के राज ॥२३॥

चन्द्रमा किरणों से धरती को पूर्ण करते हैं और सूर्य्य उतना ही तपते हैं जितना काम रहता है। रामचन्द्रजी के राज्य में बादल माँगने से पानी देते हैं ॥२३॥

चौ०—कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे॥
स्रुति पथ पालक धरम-धुरन्धर। गुनातीत अरु भोग-पुरन्दर ॥१॥

राजा रामचन्द्रजी ने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये और बहुत सा दान ब्राह्मणों को दिये। वेद-मार्ग के पालन करनेवाले, धर्म धुरन्धर, गुणों से परे और भोग-विलास में इन्द्र हैं ॥ १ ॥

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥
जानति कृपासिन्धु प्रभुताई। सेवति चरन-कमल मन लाई ॥२॥

सीताजी सदा पति के अनुकूल रहती हैं, वे शोभा की खान, सुशील, नम्र और कृपा-सागर रामचन्द्रजी की महिमा को जानती हैं, इससे मन लगा कर उनके चरण-कमलों की सेवा करती हैं ॥ २ ॥

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा-बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥३॥

यद्यपि घर में सेवक सेवकिनियाँ बहुत सी हैं, वे सम्पूर्ण सेवा की विधि में चतुर हैं। तथापि सीताजी गृह की परिचर्य्या (स्वामी की शुश्रूषा उपासना) अपने हाथ से करती हैं और रामचन्द्रजी की आज्ञा के अनुसार चलती हैं ॥ ३ ॥

जेहि बिधि कृपासिन्धु सुख मानइ। सोइ कर स्री सेवा-बिधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं ॥४॥

जिस प्रकार कृपासागर रामचन्द्रजी सुख मानते हैं, सीताजी सेवा-विधि उसे ही समझती हैं। घर में कौशल्या आदि सभी सासुओं की सेवा मान मद त्याग कर करती हैं ॥४॥

उमा रमा ब्रह्मादि बन्दिता। जगदम्बा सन्ततमनिन्दिता ॥५॥

जो सीताजी पार्वती, लक्ष्मी और ब्रह्मा आदि देवताओं से वन्दनीय, जगत की माता और सदा अनिन्द्य हैं ॥ ५ ॥

दो०—जासु कृपा-कटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ।
राम-पदारबिन्द रति, करति सुभावहि खोइ ॥२४॥

जिनकी कृपादृष्टि की चितवन देवता चाहते हैं, वही सीताजी अपना स्वभाव (महिमा) भुला कर रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में प्रीति करती हैं ॥ २४ ॥

चौ०—सेवहिं सानुकूल सब भाई । राम-चरन रति अति अधिकाई ॥
प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं । कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं ॥१॥

सब भाई प्रसन्नता के साथ सेवा करते हैं, उनकी रामचन्द्रजी के चरणों में बड़ी अधिक प्रीति है । प्रभु के मुखारविन्द को निहारते रहते हैं कि कृपालु कभी हमें कुछ करने को कहें ॥१॥

राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती । नाना भाँति सिखावहिं नीती ॥
हरषित रहहिं नगर के लोगा । करहिं सकल सुर-दुर्लभ भोगा ॥२॥

रामचन्द्रजी भाइयों पर प्रेम करते हैं और उनको नाना प्रकार के सदाचार सिखाते हैं । नगर के लोग प्रसन्न रहते हैं और सम्पूर्ण देवताओं को दुर्लभ भोग-विलास करते हैं ॥२॥

अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं । श्रीरघुबीर-चरन रति चहहीं ॥
दुइ सुत सुन्दर सीता जाये । लव कुस बेद पुरानन्हि गाये ॥३॥

श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम चाहते हैं, इसलिये दिन रात ब्रह्मा को मनाते रहते हैं । सीताजी ने लव कुश नाम के दो पुत्र उत्पन्न किये, जिनकी कीर्त्ति वेद पुराणों ने गाई है ॥ ३ ॥

दोउ बिजई बिनई गुन मन्दिर । हरि प्रतिबिम्ब मनहुँ अति सुन्दर ॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे । भये रूप गुन सील घनेरे ॥४॥

दोनों पुत्र विजयी, बड़े नीतिज्ञ और गुणों के स्थान हुए, ऐसा मालूम होता है मानों भगवान् रामचन्द्रजी के वे अत्यन्त सुन्दर चित्र हैं, । शोभा, गुण और शील के राशि दो दो पुत्र सब भाइयों के हुए ॥ ४ ॥

दो०—ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया मन गुन पार ।
सोइ सच्चिदानन्द घन, कर नर चरित उदार ॥२५॥

जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से निर्लेप, अजन्मे, माया, मन तथा गुणों से परे हैं । वही सत्‌चित्‌आनन्द के राशि परमात्मा श्रेष्ठ मनुष्य लीला करते हैं ॥ २५ ॥

ब्रह्म सच्चिदानन्द जो कभी जन्म नहीं लेते उन्हें मनुष्य चरित करनेवाला कहना 'विरोधाभास अलंकार' है ।

चौ०—प्रातकाल सरजू करि मज्जन । बैठहिं सभा सङ्ग द्विज सज्जन ॥
बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं । सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं ॥१॥

सबेरे सरयू में स्नान करके ब्राह्मण और सज्जनों के साथ सभा में बैठते हैं । वशिष्ठजी वेद पुराण बखानते हैं और रामचन्द्रजी यद्यपि सब जानते हैं तो भी प्रीति के साथ सुनते हैं ॥ १ ॥

अनुजन्ह सञ्जुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। सहित पवन-सुत उपबन जाई॥२॥

छोटे भाइयों के साथ भोजन करते हैं, देख कर समस्त माताएँ सुख से अघा जाती हैं। भरत और शत्रुहन दोनों भाई पवनकुमार के सहित बगीचे में जाते हैं॥२॥

बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमलगुन अतिसुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥३॥

वहाँ बैठ कर रामचन्द्रजी के गुणों की कथा पूछते हैं और सुन्दर अथाह बुद्धिवाले हनूमानजी कहते हैं। निर्मल गुणों को सुन कर अत्यन्त सुख पाते हैं और विनती करके फिर फिर उसे कहवाते हैं॥३॥

सब के गृह गृह होहिं पुराना। रामचरित पावन बिधि नाना॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥४॥

सब के घर घर पुराणों की कथाएँ होती हैं, पवित्र रामचन्द्रजी का चरित्र नाना प्रकार से गान होता है। मनुष्य और स्त्री सब राम-गुण गाते हैं, दिन रात बीतते नहीं जानते॥४॥

दो०-अवधपुरी-बासीन्ह कर, सुख सम्पदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥२६॥

अयोध्यापुरी के निवासियों का सुख, सम्पत्ति और समाज की शोभा जहाँ रामचन्द्रजी राजा हो कर विराजमान हैं, उसको सहस्रों शेष नहीं कह सकते॥२६॥

सभा की प्रति में 'अवध-पुरी-वासिन्ह कर' पाठ है।

चौ०-नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥१॥

नारद आदिक और सनकादि मुनीश्वर कोशलेन्द्र भगवान के दर्शन के लिये सब प्रति दिन अयोध्यापुरी में आते हैं और नगर को देख कर वैराग्य भूल जाते हैं॥१॥

जातरूप मनि रचित अटारी। नाना रङ्ग रुचिर गच ढारी॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुन्दर। रचे कँगूरा रङ्ग रङ्ग बर॥२॥

सुवर्ण और रत्नों से जड़ी हुई अटारियाँ (कोठे) उनमें अनेक रङ्ग की सुन्दर छतें बनी हैं। नगर के चारों ओर बहुत ही मनोहर कोट (शहरपनाह) है, उस पर भाँति भाँति के उत्तम कँगूरे बनाये गये हैं॥२॥

नवग्रह निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥
महि बहु रङ्ग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन राँचा॥३॥

वे कँगूरे ऐसे मालूम होते हैं मानो नवग्रहों का समुदाय सेना सज कर आ कर इन्द्रपुरी

को घेरे हो। पृथ्वी पर काँच (शीशा) के बहुत रङ्ग के चबूतरे बनाये हैं, जिन्हें देख कर मुनिवरों के मन प्रसन्न हो जाते हैं ॥३॥

कङ्गूरे और नवग्रहों की सेना, अयोध्या और इन्द्रपुरी परस्पर उपमेय उपमान हैं। मुख्य तात्पर्य्य तो कङ्गूरों के वर्णन से है, परन्तु कविजी अपनी कल्पना से पाठकों का ध्यान बल-पूर्वक खींच कर नवग्रहों की सेना के घेरे में पड़ी हुई इन्द्रपुरी की ओर लिये जा रहे हैं। यह 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। गुटका में 'जो बिलोकि मुनि बर मन नाँचा' पाठ है।

धवल धाम ऊपर नभ चुम्बत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निन्दत ॥
बहुमनिरचितझरोखा भ्राजहिँ। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिँ ॥४॥

श्वेत मन्दिर ऊपर आकाश चूम रहे हैं, उन पर बने हुए कलश ऐसे मालूम होते हैं मानों सूर्य्य और चन्द्रमा की कान्ति का तिरस्कार करते हों। बहुत से रत्नों से जड़ी हुई खिड़कियाँ शोभायमान हैं, प्रत्येक घरों में मणियों के दीपक विराजते हैं ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

मनि दीप राजहिँ भवन भ्राजहिँ, देहरी बिद्रुम रची।
मनि खम्भ भीति बिरञ्चि बिरची, कनक मनि मरकत खची ॥
सुन्दर मनोहर मन्दिरायत, अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वारद्वार कपाट-पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे ॥१३॥

मन्दिरों में मणियों के दीपक विराजते हैं और द्वार के चौखट मूँगा के बने हैं। मणियों के खम्भे, सुवर्ण और नीलमणि से जड़ी हुई दीवारें ऐसी सुहावनी बनी हैं मानों ब्रह्मा ने बनाया हो। विशाल मन्दिर सुन्दर मन को हरनेवाले हैं, उनकी अँगनाई स्फटिक पत्थरसे बनी शोभनीय है। प्रत्येक द्वार की किवाड़ें सुवर्ण की बना कर उन पर बहुत से हीरे जड़े हैं ॥१३॥

दो०--चारु चित्रसाला गृह, गृहप्रति लिखे बनाइ।
रामचरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिँ चोराइ ॥२७॥

घर घर में सुन्दर चित्रशालायें बना कर लिखी हैं। उनमें रामचन्द्रजी के चरित्र की घट-नाएँ अङ्कित हैं, जो मुनि देखते हैं वे तसवीरें उनके मन को चुरा लेती हैं ॥ २७ ॥

चौ०--सुमन-बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई ॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिँ सदा बसन्त कि नाई ॥१॥

सभी ने फुलवारियाँ लगाई हैं, अनेक तरह के उपाय करके उन्हें सजाया है। बहुत जाति की सुन्दर सुहावनी लताएँ जो वसन्त-ऋतु के समान फूलती हैं ॥ १ ॥

गुञ्जत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिधि सदा बह सुन्दर ॥
नाना खग बालकन्ह जिआये। बोलत मधुर उड़ात सुहाये ॥२॥

मनोहर शब्दों से भँवर गुञ्जारते हैं और सदा तीनों प्रकार के सुन्दर पवन बहा

करते हैं । बालकों ने नाना प्रकार के पक्षी पाल रक्खे हैं, वे मीठी वाणी बोलते हैं और उड़ने में सुहावने लगते हैं ॥ २ ॥

मोर हंस सारस पारावत । भवनन्हि पर सोभा अति पावत ॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं । बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं ॥३॥

मोर, हंस, सारस और कबूतर पक्षी घरों पर उड़ते हुए बड़ी शोभा पा रहे हैं । जहाँ तहाँ अपनी परछाहीं देखते हैं, वे बहुत तरह की बोली बोलते और नाचते हैं ॥ ३ ॥

मणियों और काँच के गचों में अपनी परछाहीं देख कर उसको अपने समान दूसरा पक्षी अनुमान कर खगों का नाचना और बोलना 'भ्रान्ति अलंकार' है ।

सुक सारिका पढ़ावहिं बालक । कहहु राम रघुपति जन-पालक ॥
राजदुआर सकल बिधि चारू । बीथी चौहट रुचिर बजारू ॥४॥

लड़के सुग्गा और मैना को पढ़ाते हैं कि जनों के रक्षक, रघुकुल के स्वामी 'रामचन्द्र' कहो । राजद्वार सब तरह सुन्दर है, गलियाँ चौराहे और बाजार मनोहर है ॥ ४ ॥

हरिगीतिका-छन्द ।

बाजार रुचिर न बनइ बरनत, बस्तु बिनु गथ पाइये ।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की, सम्पदा किमि गाइये ॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते ।
सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर, नारि नर सिसु जरठ जे ॥१४॥

बाज़ार की सुन्दरता कहते नहीं बनती है, बिना मोलचाल के चीज़ें मिलती हैं । जहाँ के लक्ष्मीकान्त राजा हैं वहाँ की सम्पत्ति का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? बजाज, सराफ आदि भाँति भाँति के व्यापारी बैठे हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानों कुबेर हों । जितने स्त्री-पुरुष, बालक और वृद्ध हैं, सब सुखी तथा सुन्दर अच्छे चरित्रवाले हैं ॥ १४ ॥

दो०—उत्तर दिसि सरजू बह, निर्मल जल गम्भीर ।
बाँधे घाट मनोहर, स्वल्प पङ्क नहिँ तीर ॥२८॥

उत्तर दिशा में गहरी निर्मल जलवाली सरयूनदी बहती है । उसके घाट सुन्दर पक्के बने हैं, थोड़ा भी कीचड़ किनारे पर नहीं है ॥ २८ ॥

चौ०—दूरि फराक रुचिर सो घाटा । जहँ जल पिअहिँ बाजि गज ठाटा ॥
पनिघट परम मनोहर नाना । तहाँ न पुरुष करहिँ असनाना ॥१॥

अलग दूरी पर वह सुन्दर घाट है जहाँ घोड़े हाथियों के झुण्ड पानी पीते हैं । अत्यन्त मनोहर बहुत तरह के पनिघट हैं, वहाँ पुरुष लोग नहीं स्नान करते ॥१॥

राजघाट सब बिधि सुन्दर बर । मज्जहिँ तहाँ बरन चारिउ नर ॥
तीर तीर देवन्ह के मन्दिर । चहुँ दिसि जिन्ह के उपवन सुन्दर ॥२॥

सब प्रकार सुन्दर और श्रेष्ठ राजघाट है, वहाँ चारों वर्ण के मनुष्य स्नान करते हैं। नदी के किनारे किनारे देवताओं के मन्दिर हैं, जिनके चारों ओर सुन्दर बगीचे लगे हैं ॥२॥

कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिँ ज्ञानरत मुनि सन्यासी ॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृन्द बृन्द बहु मुनिन्ह लगाई ॥३॥

कहीं कहीं नदी के तीर पर विरक्त-पुरुष, ज्ञान में तत्पर मुनि और सन्यासी रहते हैं। किनारे किनारे तुलसी के सुहावने क्षुप झुण्ड के झुण्ड बहुत से मुनियों ने लगाये हैं ॥३॥

पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहिर नगर परम रुचिराई ॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा ॥४॥

नगर की शोभा कुछ कही नहीं जाती है, पुर के बाहर बड़ी रमणीयता है। अयोध्यापुरी के वन, बगीचे, बावलियाँ और तालावों को देखते ही सारा पाप भाग जाता है ॥४॥

हरिगीतिका-छन्द ।

बापी तड़ाग अनूप कूप, मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुन्दर नीर निर्मल, देखि सुर मुनि मोहहीं ॥
बहुरङ्ग कञ्ज अनेक खग, कूजहिँ मधुप गुञ्जारहीं ।
आराम रम्य पिकादि खगरव, जनु पथिक हङ्कारहीं ॥१५॥

अनुपम विशाल बावलियाँ, तालाब और मनोहर कुएँ सोहते हैं। उनकी सुन्दर सीढ़ियाँ और निर्मल जल देखकर देवता-मुनि मोहित हो जाते हैं। बहुत रङ्ग के कमल फूले हैं, नाना प्रकार के पक्षी बोलते हैं और भँवरे गुञ्जारते हैं। रमणीय बागों में कोकिल आदि पक्षियों की बोली ऐसी मालूम होती है मानो वे बटोहियों को विश्राम करने के लिये पुकारती हों ॥१५॥

पक्षियों का प्रसन्नता से कूजना सिद्ध आधार है, परन्तु पक्षी-गण कभी राह चलनेवाले को आराम के लिये नहीं बुलाते। इस अहेतु को हेतु ठहराना 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

दो०-रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख सम्पदा, रही अवध सब छाइ ॥२९॥

जहाँ लक्ष्मीपति राजा हैं, क्या उस नगर का वर्णन किया जा सकता है? (कदापि नहीं)। अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ. सुख और सम्पत्ति सब अयोध्यापुरी में टिक रही हैं ॥२९॥

चौ०–जहँतहँ नर रघुपति गुन गावहिँ। बैठि परसपर इहइ सिखावहिँ॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहिँ। सोभा सील रूप गुन धामहिँ॥१॥

जहाँ तहाँ मनुष्य रघुनाथजी के गुणों को गाते हैं, आपस में बैठ कर एक दूसरे को यही सिखाते हैं कि दीनजनों के रक्षक, शोभा, शील, रूप और गुणों के धाम रामचन्द्रजी का भजन करो॥१॥

जलज-बिलोचन स्यामल गातहि। पलक नयन इव सेवक त्रातहि॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि। सन्त कञ्जबन रबि रनधीरहि॥२॥

कमल के समान लाल नेत्र, श्यामल शरीर, पलक और आँख के समान सेवकों की रक्षा करनेवाले, सुन्दर धनुष बाण तरकस को धारण किए हुए, युद्ध में विचक्षण और सन्त रूपी कमल वन को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य्य हैं॥२॥

काल कराल ब्याल खगराजहि। नमत राम अकाम ममता जहि॥
लोभ मोह मृग-जूथ किरातहि। मनसिज करि हरि जन सुखदातहि॥३॥

विकराल काल रूपी सर्प के ग्रसनेवाले गरुड़ रूप रामचन्द्रजी जो निष्काम नमस्कार करनेवाले पर प्रेम करते हैं। लोभ और मोह रूपी मृगों के झुण्ड के लिये शिकारी भील रूप हैं, कामदेव रूपी हाथी को दमन करने में सिंह रूप और सेवकों को सुख देनेवाले हैं,॥३॥

संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि॥
जनक-सुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भञ्जन भव-भीरहि॥४॥

सन्देह और शोक रूपी सघन अन्धकार के लिये सूर्य्य, राक्षस रूपी घोर जंगल के जलाने में अग्नि रूप हैं। संसार सम्बन्धी भय को चूर चूर करनेवाले रघुनाथजी को जनकनन्दिनी के सहित क्यों नहीं भजते?॥४॥

बहु बासना मसक हिम-रासिहि। सदा एकरस अज अबिनासिहि॥
मुनिरञ्जन भञ्जन महिभारहि। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥५॥

बहुतेरी कामना रूपी मच्छड़ों को नसाने में पाले की राशि, सदा एकरस, अजन्मे और नाश-रहित हैं। मुनियों को प्रसन्न करनेवाले, पृथ्वी के बोझ को नशानेवाले जो तुलसीदास के स्वामी और बड़े उदार हैं॥५॥

अयोध्यापुरी के निवासियों द्वारा भविष्य में होनेवाली बात को वर्तमान की तरह तुलसीदास के स्वामी कहलाना 'भाविक अलंकार' है।

दो०–एहि बिधि नगर नारि नर, करहिँ राम गुन गान।
सानुकूल सब पर रहहिँ, सन्तत कृपानिधान॥३०॥

इस प्रकार नगर के स्त्री-पुरुष रामचन्द्रजी के गुणों का गान करते हैं और कृपानिधान उन सब पर सदा प्रसन्न रहते हैं॥३०॥

चौ०—जब तें राम प्रताप खगेसा । उदित भयेउ अति प्रबल दिनेसा ॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका । बहुतेन्ह सुख बहुतन्ह मन सोका ॥१॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज ! जब से रामचन्द्रजी का प्रताप रूपी अत्यन्त प्रबल सूर्य्य उदय हुआ, तब से तीनों लोकों में पूर्ण प्रकाश हो रहा है; बहुतों को सुख और बहुतों के मन में शोक हुआ है ॥ १ ॥

एक रामप्रताप रूपी सूर्य्य के प्रकाश से बहुतों को सुख और बहुतों को दुःख, विरोधी कार्य्य का प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है ।

जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी । प्रथम अबिद्या-निसा नसानी ॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने । काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥२॥

जिन्हें शोक हुआ उन्हें बखान कर कहता हूँ, पहले अज्ञान रूपी रात्रि नष्ट हो गई । पाप रूपी उल्लू-पक्षी जहाँ तहाँ छिप गये, काम और क्रोध रूपी कुमुद सकुचा गये ॥ २ ॥

बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ । ये चकोर सुख लहहिं न काऊ ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा । इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥३॥

अनेक प्रकार के कर्म, गुण, काल और स्वभाव रूपी चकोर ये कभी सुख नहीं पाते हैं । ईर्ष्या, अभिमान, अज्ञानता और उन्मत्तता रूपी चोरों का हुनर (धोखेबाज़ी) किसी ओर नहीं है ॥ ३ ॥

धरम तड़ाग ज्ञान बिज्ञाना । ये पङ्कज बिकसे बिधि नाना ॥
सुख सन्तोष बिराग बिबेका । बिगत सोक ये कोक अनेका ॥४॥

धर्म रूपी तालाब में ज्ञान और विज्ञान रूपी कमल ये नाना प्रकार के फूले हुए हैं । सुख, सन्तोष, वैराग्य और ज्ञान ये अनेक चकवा-पक्षी शोक रहित हुए हैं ॥ ४ ॥

दो०—यह प्रताप-रबि जाके, उर जब करइ प्रकास ।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास ॥३१॥

यह रामप्रताप रूपी सूर्य्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करता है, तब पिछले बढ़ते हैं और जो पहले कहे हैं वे नाश को प्राप्त होते हैं ॥३१॥

पिछले कहे—धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सुख, सन्तोष, वैराग्य और विचार बढ़ते हैं प्रथम कहे—अज्ञान की रात्रि, पाप, काम, क्रोध, कर्म, गुण, काल, स्वभाव के दोष, मत्सर, मान, मोह और मद नाश हो जाते हैं ॥

चौ०—भ्रातन्ह सहित राम एक बारा । सङ्ग परम प्रिय पवन-कुमारा ॥
सुन्दर उपबन देखन गये । सब तरु कुसुमित पल्लव नये ॥१॥

भाइयों के सहित और साथ में परम प्यारे पवनकुमार को लिये हुए एक बार रामचन्द्रजी सुन्दर बगीचा देखने गये, जहाँ सब वृक्ष फूले और नये पत्तों से लदे हैं ॥१॥

जानि समय सनकादिक आये । तेजपुञ्ज गुन सील सुहाये ॥
ब्रह्मानन्द सदा लयलीना । देखत बालक बहु कालीना ॥२॥

समय जान कर वहाँ सनकादिक ऋषीश्वर तेज के राशि, सुन्दर गुण और शीलवाले आये । वे सदा ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं, देखने में बालक (५ वर्ष के) हैं, पर वास्तव में बहुत काल के पुराने हैं ॥२॥

रूप धरे जनु चारिउ बेदा । समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥
आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं । रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं ॥३॥

ऐसे मालूम होते हैं मानों चारों वेद शरीर धरे हों, वे मुनि समदर्शी और भेद से रहित हैं । दिशा ही वस्त्र अर्थात् नग्न रहते हैं, उनको यह व्यसन है कि जहाँ रघुनाथजी का चरित होता है वहाँ जा कर सुनते हैं ॥३॥

सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार चारों ब्रह्मा के पुत्र उत्प्रेक्षा के विषय हैं । वेद शरीरधारी नहीं हैं, यह केवल कवि की कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

तहाँ रहे सनकादि भवानी । जहँ घटसम्भव मुनिबर ज्ञानी ॥
रामकथा मुनि बहु बिधि बरनी । ज्ञान-जोनि पावक जिमि अरनी ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! सनकादिक वहाँ थे जहाँ ज्ञानी मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी रहते हैं । अगस्त्यमुनि ने बहुत तरह से रामचन्द्रजी की कथा वर्णन की, जो ज्ञान रूपी अग्नि उत्पन्न करने में अरणी जैसी है ॥४॥

अरणी की लकड़ी को घिसने से तुरन्त आग उत्पन्न होती है। प्राचीन काल में ऋषि लोग यज्ञ के लिये इसी की लकड़ी रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते थे ।

दो०—देखि राम मुनि आवत, हरषि दंडवत कीन्ह ।
स्वागत पूछि पीत-पट, प्रभु बैठन कहँ दीन्ह ॥३२॥

मुनियों को आते देख कर रामचन्द्रजी ने प्रसन्न हो दंडवत किया और कुशल पूछ कर प्रभु ने पीताम्बर बैठने के लिये आसन दिया ॥३२॥

बाग़ में टहलने आये थे, वहाँ कोई आसन विद्यमान न रहने से पीताम्बर बिछा कर मुनिवरों का विशेष सम्मान प्रकट किया ।

चौ०—कीन्ह दंडवत तीनिउँ भाई । सहित पवन-सुत सुख अधिकाई ॥
मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी । भये मगन मन सके न रोकी ॥१॥

पवनकुमार के सहित तीनों भाइयों ने बड़े आनन्द के साथ दण्डवत किया । मुनिगण रघुनाथजी की अनन्त छवि को देख कर मन को न रोक सके, प्रेम में मग्न हो गये ॥१॥

स्यामल गात सरोरुह-लोचन । सुन्दरता मन्दिर भवमोचन ॥
एकटक रहे निमेष न लावहिँ । प्रभु कर जोरे सीस नवावहिँ ॥२॥

श्यामल शरीर, कमल नयन, सुन्दरता के स्थान और संसार-बन्धन के छुड़ानेवाले राम-

चन्द्रजी को पलक न लगा कर एकटक से निहारते हैं और प्रभु हाथ जोड़े मस्तक नवा रहे हैं ॥२॥

तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥३॥

रघुनाथजी ने मुनिवरों की दशा देखी कि उनकी आँखों से जल बह रहा है और शरीर पुलकित हुआ है। प्रभु रामचन्द्रजी ने हाथ पकड़ कर उन्हें बैठाया और अत्यन्त मनोहर वचन बोले ॥३॥

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिँ अघ खीसा॥
बड़े भाग पाइय सतसङ्गा। बिनहिँ प्रयास होइ भव भङ्गा॥४॥

हे मुनीश्वर! सुनिये, आज मैं धन्य हुआ हूँ, आप के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं। सत्सङ्ग बड़े भाग्य से मिलता है, जिससे बिना परिश्रम ही संसार (जन्म, मृत्यु, गर्भवास) छूट जाता है ॥४॥

दो०—सन्तसङ्ग अपबर्गकर, कामी भवकर पन्थ।
कहहिँ सन्त कबि कोबिद, स्रुति पुरान सद्ग्रन्थ॥३३॥

सन्तों की सङ्गति मोक्ष और कामी पुरुषों का साथ संसार का मार्ग है। सन्त, कवि, विद्वान, वेद, पुराण और सद्ग्रन्थ ऐसा कहते हैं ॥ ३३ ॥

चौ०—सुनि प्रभु बचन हरषि मुनि चारी। पुलकित तनु अस्तुति अनुसारी॥
जय भगवन्त अनन्त अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी के वचन सुन कर चारों मुनि प्रसन्न हो पुलकित शरीर से स्तुति करने लगे। हे भगवन्! आप की जय हो, आप अनन्त, आरोग्य, निष्पाप अनेक, अद्वितीय और दया के रूप हैं ॥ १ ॥

अनेक भी और एक भी, इस विरोधी वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमन्दिर सुन्दर अति आगर॥
जय इन्दिरा-रमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर॥२॥

हे निर्गुण रूप! आप की जय हो, हे गुणों के सागर! आप की जय हो, जय हो, आप सुख के भवन और अत्यन्त सुन्दरता के स्थान हैं। हे लक्ष्मी को रमानेवाले! आप की जय हो, हे पृथ्वी के संरक्षक! आप की जय हो। आप उपमा रहित, अजन्मे, अनादि और शोभा की खान हैं ॥ २ ॥

ज्ञान निधान अमान मान-प्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद॥
तज्ञ कृतज्ञ अज्ञता भञ्जन। नाम अनेक अनाम निरञ्जन॥३॥

ज्ञान के भण्डार, अभिमान रहित, प्रतिष्ठा के दाता, ऐसा पवित्र यश वेद और पुराण

कहते हैं। आप तत्वज्ञ, किये हुए उपकार को माननेवाले और अज्ञानता के नाशक हैं, आप के अनेक नाम हैं, नाम से रहित और माया से निर्लिप्त (निर्दोष) हैं ॥ ३ ॥

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय । बससि सदा हम कहँ परिपालय ॥
द्वन्द बिपति भवफन्द बिभञ्जय । हृदि बसि राम काम मद गञ्जय ॥४॥

सब आप ही हैं, सब में प्राप्त और शिवजी के हृदय-मन्दिर में बसनेवाले सदा हमारी रक्षा कीजिये। हे रामचन्द्रजी ! मेरी दुःखद विपत्ति और संसार-बन्धन को नष्ट कर दीजिये, मेरे हृदय में निवास करके काम और मद का विध्वंस कीजिये ॥ ४ ॥

दो०—परमानन्द कृपायतन, मन परिपूरन काम ।
प्रेम-भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम ॥३४॥

आप आनन्द स्वरूप कृपा के स्थान और मनकामना को परिपूर्ण करनेवाले हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी ! हम लोगों को अपनी निश्चल प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रदान कीजिये ॥ ३४ ॥

चौ०—देहु भगति रघुपति अति पावनि । त्रिबिधि-ताप भव-दाप नसावनि ॥
प्रनत काम सुरधेनु कलपतरु । होइ प्रसन्न दीजे प्रभु यह बरु ॥१॥

हे रघुनाथजी ! तीनों प्रकार के ताप और संसार-सम्बन्धी घमण्ड को नशानेवाली अत्यन्त पवित्र अपनी भक्ति हमें दीजिये। हे प्रभो ! आप शरणागतों की कामना पूरी करने में कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं, प्रसन्न हो कर हम लोगों को यही वर दीजिये ॥ १ ॥

भव बारिधि कुम्भज रघुनायक । सेवक सुलभ सकल सुखदायक ॥
मन सम्भव दारुन दुख दारय । दीनबन्धु समता बिस्तारय ॥२॥

हे रघुनायक ! आप संसार रूपी समुद्र को सुखाने में अगस्त्य मुनि हैं, सेवकों को सहज में मिलनेवाले और सम्पूर्ण सुखों के दाता हैं। मन अथवा काम से उत्पन्न भीषण दुःख का नाश कीजिये, हे दीनबन्धु ! समता का विस्तार कीजिये अर्थात् भेदभाव को हृदय से दूर कर दीजिये ॥ २ ॥

आस त्रास इरिषादि निवारक । बिनय बिबेक बिरति बिस्तारक ॥
भूप-मौलिमनि मंडन धरनी । देहि भगति संसृति-सरि तरनी ॥३॥

आप आशा, त्रास और ईर्ष्या आदि के छुड़ानेवाले, सदाचार, ज्ञान और वैराग्य के बढ़ानेवाले हैं। हे राजाओं के मुकुट मणि, धरती के भूषण प्रभो ! संसार रूपी नदी के लिये नौका रूपिणी अपनी भक्ति हमें दीजिये ॥३॥

मुनि मन मानस हंस निरन्तर । चरन-कमल बन्दित अज सङ्कर ॥
रघुकुल केतु सेतु स्रुति रच्छक । काल करम सुभाव गुन भच्छक ॥४॥

मुनियों के मन रूपी मानसरोवर में निरन्तर रहनेवाले आप राजहंस रूप हैं, आप के चरण-कमलों की वन्दना ब्रह्मा और शिवजी करते हैं। रघुकुल के पताका, वेद की मर्य्यादा के रक्षक, काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के विकार को आप भक्षण करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास प्रभु त्रिभुवन भूषन ॥५॥

आप दूसरों को तारनेवाले, स्वयम् तरे हुए और सब दोषों के हरनेवाले, तीनों लोकों के भूषण और तुलसीदास के स्वामी हैं ॥ ५ ॥

'तारन तरन' शब्द श्लेषार्थी है अर्थात् उद्धार करनेवालों के भी उद्धारकर्त्ता 'श्लेष अलंकार' है। सनकादिकों के मुख से भविष्य में होनेवाली बात को वर्तमान की तरह तुलसीदास के स्वामी कहलाना 'भाविक अलंकार' है।

दो०—बार बार अस्तुति करि, प्रेम सहित सिर नाइ।
ब्रह्म-भवन सनकादि गे, अति अभीष्ट बर पाइ ॥३५॥

बार बार प्रेम सहित स्तुति करके और मस्तक नवा कर सनकादिक मुनि अत्यन्त मनवाञ्छित वर पा कर ब्रह्मा के लोक को गये ॥ ३५ ॥

चौ०—सनकादिक बिधि लोक सिधाये। भ्रातन्ह राम-चरन सिर नाये ॥
पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुत-सुत पाहीं ॥१॥

सनकादिक ऋषीश्वर ब्रह्मा के लोक को चले गये और भाइयों ने रामचन्द्रजी के चरणों में मस्तक नवाये। प्रभु से पूछते हुए समस्त बन्धु सकुचाते हैं, सब पवनकुमार की ओर निहारते हैं ॥ १ ॥

तीनों भाइयों का हार्दिक अभिप्राय यह कि स्वामी को मेरी ओर से पूछने की बात प्रकट न हो, प्रश्न हनूमानजी करें। इस आशय से उनकी ओर सब का निहारना 'युक्ति अलंकार' है।

सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ॥
अन्तरजामी प्रभु सब जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना ॥२॥

प्रभु के मुख से वह बात सुनना चाहते हैं जो सुन कर सम्पूर्ण भ्रम दूर हो। अन्तर्यामी स्वामी रामचन्द्रजी सब जान गये, उन्हों ने कहा—हे हनूमान! कहो क्या पूछना चाहते हो? ॥ २ ॥

जोरि पानि कह तब हनुमन्ता। सुनहु दीनदयाल भगवन्ता ॥
नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं ॥३॥

तब हाथ जोड़ कर हनूमानजी कहने लगे, हे दीनदयाल भगवान, स्वामिन्! सुनिये, भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं परन्तु प्रश्न करते हुए मन में सकुचाते हैं ॥ ३ ॥

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अन्तर काऊ ॥
सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना ॥४॥

रामचन्द्रजी ने कहा—हे हनूमान! तुम मेरे स्वभाव को जानते हो, भरत से और मुझ से कभी कुछ अन्तर है? (कदापि नहीं) प्रभु के वचन सुन भरतजी पाँव पकड़ कर बोले—हे दीनों के दुःख हरनेवाले नाथ! सुनिये ॥ ४ ॥

दो०—नाथ न मोहि सन्देह कछु, सपनेहुँ सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि, कृपानन्द-सन्दोह ॥३६॥

दया और आनन्द के राशि, हे नाथ! केवल आप ही के अनुग्रह से मुझे कुछ सन्देह नहीं है और सपने में भी शोक-मोह नहीं है ॥ ३६ ॥

चौ०—करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥
सन्तन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्हि गाई॥१॥

हे कृपानिधे! एक ढिठाई करता हूँ; मैं सेवक हूँ और आप दासों को सुख देनेवाले हैं। हे रघुराज! सन्तों की महिमा वेद पुराणों ने बहुत तरह से गाई है ॥ १ ॥

श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई। तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई॥
सुना चहहुँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन। कृपासिन्धु गुन ज्ञान बिचच्छन॥२॥

फिर आपने श्रीमुख से बड़ाई की है और उन पर स्वामी की बड़ी प्रीति है। हे कृपा-सिन्धु, गुण और ज्ञान में प्रवीण प्रभो! मैं उनका लक्षण सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

सन्त असन्त भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥
सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित स्रुति पुरान बिख्याता॥३॥

हे शरणागत-पाल! सन्त और असन्तों के भेद अलग कर मुझ से समझा कर कहिये। रामचन्द्रजी ने कहा—हे भाई! सुनिये, सन्तों के असंख्यों लक्षण वेद और पुराणों में प्रसिद्ध हैं ॥३॥

सन्त असन्तन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निजगुन देइ सुगन्ध बसाई॥४॥

हे सन्त और असन्तों की ऐसी करनी है, जैसे कुल्हाड़ी और चन्दन का व्यवहार है। हे भाई! सुनिये, कुल्हाड़ा चन्दन को काटता है और चन्दन अपने गुण सुगन्धि से उसको सुगन्धित कर देता है ॥४॥

चन्दन का हित अनहित दोनों को समान, सुगन्ध प्रदान करना 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार' है।

दो०—तातें सुर सीसन्ह चढ़त, जगबल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिँ, परसु बदन यह दंड ॥३७॥

इससे चन्दन देवताओं के सिर पर चढ़ता है और संसार को प्यारा है, कुल्हाड़े का यह दण्ड (सज़ा) होता है कि इसके मुख को आग में जला कर हथौड़े से पीटते हैं ॥३७॥

सन्त और असन्त उपमेय वाक्य, चन्दन और कुठार उपमान वाक्य है। सन्तजन चन्दन पूज्य हैं और असन्तजन कुठार दण्डनीय हैं। यद्यपि दोनों के धर्म पृथक होने पर भी एक प्रकार की समता सी जान पड़ती है। यह 'दृष्टान्त अलंकार' है। चन्दन अपने साधु गुण से

बन्दनीय होता है और कुल्हाड़ा अपने दुष्ट गुण से दण्डनीय होता है। व्यङ्गार्थ से प्रथम सम अलंकार है।

चौ०—बिषय अलम्पट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥१॥

सन्तजन विषयी और व्यभिचारी नहीं होते, वे शील एवम् गुणों की खान पराये के दुःख से दुखी और दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं। समदर्शी, शत्रुरहित, निरभिमान, वैराग्यवान होते हैं, लोभ, क्रोध, हर्ष और भय के त्यागी होते हैं ॥१॥

कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहिँ मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम तेइ प्रानी ॥२॥

कोमल चित्त, दीनों पर दया करनेवाले, मन, वचन और कर्म से निष्कपट मेरी भक्ति करते हैं। सब को प्रतिष्ठा देनेवाले और आप प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं रखते, हे भरत! वे प्राणी मुझे प्राण के समान प्यारे हैं ॥२॥

बिगत काम मम नाम परायन। सान्ति बिरति बिनती मुदितायन ॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज-पद प्रीति धरम जनयत्री ॥३॥

कामना रहित हमारे नाम में लवलीन रहते हैं; शान्ति, वैराग्य, नम्रता और आनन्द के स्थान होते हैं। शीतलता, सीधापन, मित्रता से पूर्ण और धर्म की माता ब्राह्मण के चरणों की प्रीति हृदय में रखते हैं ॥३॥

ये सब लच्छन बसहिँ जासु उर। जानेहु तात सन्त सन्तत फुर ॥
सम दम नियम नीति नहिँ डोलहिँ। परुष बचन कबहूँ नहिँ बोलहिँ ॥४॥

हे तात! ये सब लक्षण जिनके हृदय में बसते हैं, उनको सदा सच्चे सन्त समझना। वे सौम्यता, इन्द्रिय दमन, पुण्यव्रत और उचित व्यवहार से नहीं डगमगाते, कभी कठोर वचन नहीं बोलते ॥४॥

दो०—निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद-कञ्ज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुनमन्दिर सुखपुञ्ज ॥३८॥

निन्दा और बड़ाई दोनों बराबर समझते हैं, मेरे चरण-कमलों में प्रेम रखते हैं वे गुणों के मन्दिर, सुख के राशि सज्जन मुझे प्राण के समान प्रिय हैं ॥३८॥

चौ०—सुनहु असन्तन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु सङ्गति करिय न काऊ ॥
तिन्ह कर सङ्ग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ॥१॥

अब खलों का स्वभाव सुनिये, उनकी संगति कभी भूलकर भी न करनी चाहिये। उनका साथ सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरही गाय कपिला का भी नाश कर देती है ॥१॥

खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा पर-सम्पति देखी॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥२॥

दुष्टों के हृदय में बहुत बड़ी जलन होती है कि वे सदा दूसरे का ऐश्वर्य्य देख कर जलते हैं। जहाँ कहीं परायी निन्दा सुनते हैं, उस समय वे ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों उन्हें पड़ा हुआ अपार धन मिल गया हो॥२॥

काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयर अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥३॥

काम, क्रोध, मद, लोभ में तत्पर, निर्दयी, कपटी, टेढ़े और पाप के घर होते हैं। सब किसी से अकारण वैर करते हैं, जो उनकी भलाई करता है वे उसकी भी बुराई करते हैं॥३॥

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥४॥

झूठ ही लेना झूठ ही देना झूठ ही भोजन और झूठ ही चबेना है। मीठे वचन बोलते हैं, जैसे मुरैला मीठी बोली बोलता है परन्तु बड़े बड़े साँपों को खा जाता है, उनका हृदय कठोर होता है॥४॥

दो०-परद्रोही परदार रत, पर-धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पाप-मय, देह धरे मनुजाद॥३९॥

परद्रोही परायी स्त्री में अनुरक्त, पर धनहारी और दूसरे की निन्दा करनेवाले। वे मनुष्य अधम, पाप के रूप, देह धारण किये हुए राक्षस हैं॥३९॥

चौ०-लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥१॥

लोभ ही ओढ़ना है और लोभ ही बिछौना है, लिङ्गेन्द्रिय और पेट के विषय में लगे हुए उन्हें यमपुरी का डर नहीं है। यदि किसी की बड़ाई सुनते हैं तब लम्बी साँस लेते हैं, ऐसा मालूम होता है मानों उनको जड़ैया का ज्वर आगया हो॥१॥

जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथ रत परिवार बिरोधी। लम्पट काम लोभ अति क्रोधी॥२॥

जब किसी की विपत्ति देखते हैं तब सुखी होते हैं, वे ऐसे प्रसन्न मालूम होते हैं मानों जगत के राजा हो गये हों। स्वार्थ में तत्पर, कुटुम्बियों के बैरी, व्यभिचारी, कामी, लोभी और अत्यन्त क्रोधी होते हैं॥२॥

मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिं। आपु गये अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। सन्त सङ्ग हरिकथा न भावा॥३॥

माता-पिता गुरु और ब्राह्मण को नहीं मानते, आप तो गये बीते हैं ही और दूसरों

को भी नष्ट करते हैं। अज्ञान वश पराये का द्रोह करते हैं, उन्हें सन्तों की सङ्गति और भगवान की कथा नहीं अच्छी लगती ॥ ३ ॥

अवगुन-सिन्धु मन्द मति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी ॥
बिप्रद्रोह सुरद्रोह बिसेषा। दम्भ कपट जिय धरे सुबेषा ॥४॥

अवगुण के समुद्र, नीचबुद्धि, कामी, वेद के निन्दक, पराये धन के मालिक (हरनेवाले) होते हैं। अधिकांश ब्राह्मणों का वैर करते और देवताओं के विरोधी होते हैं, मन में पाखण्ड तथा धोखेबाज़ी भरी रहती है, किन्तु वेष सुन्दर धारण किये रहते हैं ॥ ४ ॥

दो०-ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिँ।
द्वापर कछुक बृन्द बहु, होइहहिँ कलिजुग माहिँ ॥४०॥

ऐसे अधम दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेता में नहीं होते। द्वापर में कुछ एक (थोड़े) और कलियुग में बहुत से झुण्ड के झुण्ड होंगे ॥४०॥

चौ०--पर-हित सरिस धर्म नहिँ भाई। पर-पीड़ा सम नहिँ अधमाई ॥
निरनय सकल पुरान बेदकर। कहेउँ तात जानहिँ कोबिद नर ॥१॥

हे भाई! दूसरे की भलाई करने के समान धर्म नहीं और पराये को पीड़ा देने के बराबर पाप नहीं है। सम्पूर्ण वेद और पुराणों का यह निर्णय है, हे तात! इसको विद्वान लोग जानते हैं ॥ १ ॥

किसी कवि का कथन है कि—"अष्टादशपुराणानाम् व्यासस्य वचन द्वयम्। परोपकार पुण्याय पापाय पर पीडनम्"।

नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिँ ते सहहिँ महा भव भीरा ॥
करहिँ मोह बस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना ॥२॥

मनुष्य शरीर धारण कर जो दूसरे को पीड़ित करते हैं, वे बहुत बड़ा संसारी भय सहते हैं। अज्ञान वश मनुष्य अनेक प्रकार के पाप करते हैं, स्वार्थ में लगे रहने से उनका परलोक नाश हो जाता है ॥२॥

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता ॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिँ मोहि संसृत दुख जाने ॥३॥

हे भाई! मैं उनके लिये काल रूप हो कर शुभ और अशुभ कर्मों का फल देता हूँ। ऐसा विचार कर और संसार के कष्टों को समझ कर जो अत्यन्त चतुर हैं वे मुझे भजते हैं ॥३॥

त्यागहिँ करम सुभासुभ-दायक। भजहिँ मोहि सुर नर मुनिनायक ॥
सन्त असन्तन्ह के गुन भाखे। ते न परहिँ भव जिन्ह लखि राखे ॥४॥

इसी से शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मों को त्याग कर देवता मनुष्य और मुनिनायक मुझे भजते हैं। मैं ने सन्त और असन्तों के गुण कहे, जिन्हों ने इसे जान रक्खा है वे संसार में नहीं गिरते ॥ ४ ॥

दो०--सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखियहिं, देखिय सो अबिबेक ॥४१॥

हे भाई! सुनिये, माया के किये हुए गुण और दोष अपार हैं। गुण यह है कि इन दोनों को न देखना चाहिये, यदि देखा जाय तो वह अविचार है ॥४१॥

चौ०--श्रीमुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेम न हृदय समाई॥
करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी के मुखारविन्द के वचन सुनते ही सब भाई प्रसन्न हुए, उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं (उमड़ा पड़ता) है। हनूमानजी के मन में अपार हर्ष हुआ वे बार बार बड़ी प्रार्थना करते हैं ॥१॥

पुनि रघुपति निज मन्दिर गये। एहि बिधि चरित करत नित नये॥
बार बार नारदमुनि आवहिँ। चरित पुनीत राम के गावहिँ ॥२॥

फिर रघुनाथजी अपने महल में गये, इसी तरह नित्य नवीन चरित करते हैं। बार बार नारदमुनि आते हैं और रामचन्द्रजी के पवित्र चरित्र का गान करते हैं ॥२॥

नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥
सुनि बिरञ्चि अतिसय सुख मानहिँ। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिँ ॥३॥

मुनि नित्य नयी लीला देख कर ब्रह्मलोक को जाते हैं, वहाँ सब कथा कहते हैं, सुन कर ब्रह्माजी बहुत सुख मानते हैं और कहते हैं—हे तात! फिर फिर गुण गान करो ॥ ३ ॥

सनकादिक नारदहि सराहहिँ। जद्यपि ब्रह्म-निरत मुनि आहहिँ॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिँ परम अधिकारी ॥४॥

सनकादिक मुनीश्वर नारदजी की प्रशंसा करते हैं, यद्यपि वे मुनि ब्रह्म में लीन रहते हैं। रामचन्द्रजी के गुण गान को समाधि (ब्रह्म का ध्यान) भुला कर परम अधिकारी मुनिवर आदर से सुनते हैं ॥४॥

दो०--जीवनमुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिँ तजि ध्यान।
जे हरिकथा न करहिँ रति, तिन्ह के हिय पाषान ॥४२॥

परब्रह्म के ध्यान को छोड़ कर जीवन्मुक्त मुनि इस चरित्र को सुनते हैं। जो भगवान की कथा में प्रीति नहीं करते, उनका हृदय पत्थर है ॥ ४२ ॥

चौ०--एक बार रघुनाथ बोलाये। गुरु द्विज पुरबासी सब आये॥
बैठे सदसि अनुज मुनि सज्जन। बोले बचन भगत-भय-भञ्जन ॥१॥

एक बार रघुनाथजी ने (आम दरबार के लिये) बुलवाया, गुरुजी, ब्राह्मण और नगर

निवासी सब आये । छोटे भाई, मुनि और सज्जनों के सहित सभा में बैठे, भक्तों के भय को नसानेवाले वचन बोले ॥१॥

सुनहु सकल पुरजन मम बानी । कहउँ न कछु ममता उर आनी ॥
नहिँ अनीति नहिँ कछु प्रभुताई । सुनहु करहु जौँ तुम्हहिँ सुहाई ॥२॥

हे सम्पूर्ण पुरजनों ! मेरी बात को सुनिये, मैं हृदय में कुछ अभिमान ला कर नहीं कहता हूँ । न अनीति कहता हूँ और न (राजा होने के कारण अपनी) कुछ बड़ाई करता हूँ, सुनिये और यदि आप लोगों को अच्छा लगे तो उसको करिये ॥२॥

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानइ जोई ॥
जौँ अनीति कछु भाषउँ भाई । तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥३॥

वही मेरा सेवक और वही प्यारा है जो मेरी आज्ञा को मानेगा । भाइयो ! यदि मैं कुछ अन्याय की बात कहूँ तो भय भुला कर मुझे मना करो ॥३॥

बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुरदुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा ॥
साधन-धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥४॥

मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिला है, सब ग्रन्थों ने कहा है कि यह देवताओं को दुर्लभ है । साधनों का स्थान और मोक्ष का दरवाज़ा है, इसको पा कर जिसने अपना परलोक नहीं सुधारा ! ॥४॥

दो०—सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोस लगाइ ॥४३॥

वह परलोक में दुःख पाता है और सिर पीट पीट कर पछताता है । झूठ ही काल को, कर्म को और ईश्वर को दोष लगाता है ॥४३॥

चौ०—एहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वरगउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥१॥

हे भाइयो ! इस शरीर का फल विषय नहीं है, उसमें स्वर्ग का भी सुख हो तो भी थोड़ा और अन्त में दुःख देनेवाला है । मनुष्य-देह पा कर जो विषय में मन लगाते हैं, वे मूर्ख अमृत को लौटा कर बदले में विष लेते हैं ॥१॥

मनुष्य शरीर पा कर विषयों में मन लगाना उपमेय वाक्य है, अमृत देकर बदले में विष लेना उपमान वाक्य है । विना वाचकपद के दोनों में समता का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार है और अमृत देकर विष लेना 'परिवृत' दोनों की संसृष्टि है । तत्वानुसन्धान द्वारा विषय को विष निश्चित करना मति 'सञ्चारीभाव' है ।

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुञ्जा ग्रहइ परसमनि खोई ॥
आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥२॥

उसको कभी कोई अच्छा नहीं कहता जो पारसमणि खो कर घुँघची ग्रहण करता है ।

चार खानियों में चौरासी लाख योनियाँ हैं, यह नाश रहित जीव उनमें भटकता फिरता है ॥२॥

चार खान चौरासी लक्ष योनियों की गणना बालकाण्ड में सातवें दोहे के आगे प्रथम चौपाई के नीचे की टिप्पणी देखो ।

फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥
कबहुँक करि करुना नर-देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥३॥

माया की प्रेरणा से सदा काल, कर्म स्वभाव और गुणों से घिरा हुआ (यह जीव योनियों में घूमता) फिरता है । बिना कारण स्नेह करनेवाला ईश्वर कभी दया करके मनुष्य का शरीर देता है ॥३॥

नर तनु भव बारिधि कहँ बेरो । सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करनधार सदगुरु दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥४॥

मनुष्य का शरीर संसार रूपी समुद्र पार करने के लिये जहाज रूप है और मेरी कृपा अनुकूल वायु है । इस मजबूत नाव के सद्गुरु नाविक (मल्लाह) रूप हैं, ऐसा दुर्लभ सामान जीव को सहज में प्राप्त है ॥४॥

दो०-जो न तरइ भव-सागर, नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आतम-हन गति जाइ ॥४४॥

ऐसा मनुष्य-समाज पा कर जो संसार रूपी समुद्र से पार न हो, वह कृतघ्नी, नीच-बुद्धि है और आत्महत्या करनेवालों की गति में जाता है ॥ ४४ ॥

चौ०-जौँ परलोक इहाँ सुख चहहू । सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू ॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई । भगति मोरि पुरान स्रुति गाई ॥१॥

यदि परलोक और यहाँ (लोक में) सुख चाहते हो तो मेरी बात सुन कर दृढ़ता से उसको हृदय में ग्रहण करो । हे भाई ! यह रास्ता सहज और सुखदायक है, मेरी भक्ति को पुराण और वेदों ने गाई है ॥ १ ॥

ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहँ टेका ॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ । भगति हीन मोहि प्रिय नहिँ सोऊ ॥२॥

ज्ञान दुर्बोध है उसके साधन में अनेक विघ्न और कठिनाइयाँ हैं, मन को आधार नहीं रहता बहुत कष्ट करके यदि कोई पा भी जाय तो भक्ति के बिना मुझे वह प्रिय नहीं है ॥ २ ॥

भगति सुतन्त्र सकल सुख खानी । बिनु सतसङ्ग न पावहिँ प्रानी ॥
पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिँ न सन्ता । सतसङ्गति संसृति कर अन्ता ॥३॥

भक्ति स्वतन्त्र और समस्त सुखों की खान है, बिना सत्सङ्ग के प्राणी उसे नहीं पाते । बिना पुण्य-समूह के सन्तजन नहीं मिलते और सत्सङ्गति ही संसार के दुःखों का अन्त करनेवाली है ॥ ३ ॥

बिना सत्सङ्ग के भक्ति नहीं मिलती, बिना पुण्यराशि के सन्तों का सङ्ग नहीं और बिना सत्सङ्गति के संसार का अन्त नहीं होता। कारण से कार्य्य प्रकट होकर फिर कारण हो जाना 'कारणमाला अलंकार' है।

पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा ॥४॥

एक पुण्य के समान संसार में दूसरा पुण्य नहीं कि मन, कर्म और वचन से ब्राह्मण के चरणों की सेवा करना। उस पर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं जो छल छोड़ कर ब्राह्मणों की सेवा करता है ॥ ४ ॥

दो०-औरउ एक गुपुत-मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
सङ्कर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि ॥४५॥

और भी एक गुप्त मत मैं हाथ जोड़ कर सब से कहता हूँ कि शङ्कर के भजन के बिना मनुष्य मेरी भक्ति को नहीं पाते ॥ ४५ ॥

चौ०-कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा ॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ सन्तोष सदाई ॥१॥

कहिये, भक्तिमार्ग में कौन परिश्रम है? न योग, न यज्ञ, न जप, न तप और न उपवास करना पड़ता है। सीधा स्वभाव, मन में कुटिलता नहीं और लाभ के अनुसार सदा ही सन्तोष रक्खे ॥ १ ॥

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई ॥२॥

मेरा दास कहा कर मनुष्य की आशा करे तो कहिये, फिर मेरा विश्वास कैसा? बहुत बढ़ा कर कौन कथा कहूँ, हे भाइयो! मैं इस आचरण के वश में हूँ ॥ २ ॥

बयर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारम्भ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिज्ञानी ॥३॥

न किसी से बैर, न झगड़ा, न आशा, न त्रास रखते हैं, उनके लिये सब दिशाएँ सुख से भरी रहती हैं। अनुष्ठान रहित, बिना घर के, निरभिमान, निष्पाप, क्रोध हीन, चतुर और विज्ञानी होते हैं ॥ ३ ॥

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्टतर्क सब दूरि बहाई ॥४॥

जिनकी सदा सज्जनों के साथ प्रीति रहती है, विषय-सुख, स्वर्ग और मोक्ष को तृण के समान तुच्छ मानते हैं। भक्तिपक्ष का हठ रहता है किन्तु दुर्जनता नहीं, वे दुष्ट तर्कनाओं को दूर बहाये रहते हैं ॥ ४ ॥

दो०-मम गुन-ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द-सन्दोह ॥४६॥

मेरे गुण-समूह और नाम में लगे हुए ममता, मद और अज्ञान से रहित, उस परम आनन्द के समूह सुख को वे ही जानते हैं ॥ ४६ ॥

सुनत सुधा सम बचन राम के । गहे सबन्हि पद कृपा-धाम के ॥
जननि जनक गुरु बन्धु हमारे । कृपानिधान प्रान तेँ प्यारे ॥१॥

कृपा के स्थान रामचन्द्रजी के अमृत के समान मधुर वचन सुनतेही सब पाँव पड़े और बोले—हे कृपानिधान ! आप हमारे माता, पिता, गुरु, भाई और प्राणों से बढ़ कर प्यारे हैं ॥१॥

तन धन धाम राम हितकारी । सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी ॥
अस सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ । मातु पिता स्वारथ रत ओऊ ॥२॥

हे रामचन्द्रजी ! आप तन धन और घर के हितकारी हैं और सब तरह से शरणागतों के दुःख को हरनेवाले हैं । ऐसी शिक्षा आप के विना कोई नहीं देता, माता-पिता वे भी स्वार्थ में तत्पर रहते हैं अर्थात् अपने ही लाभ का सिखापन देते हैं ॥ २ ॥

उपमेय-रामचन्द्र और उपमान-माता पिता हैं । उपमान से उपमेय में कुछ अधिक गुण वर्णन करना 'व्यतिरेक अलंकार' है ।

हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीँ । सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीँ ॥३॥

हे असुरों के शत्रु ! आप और आप के सेवक दोनों बिना कारण जगत के उपकारी हैं । संसार में सब स्वार्थ के मित्र हैं, हे प्रभो ! सपने में भी इसमें परमार्थ नहीं है ॥३॥

सब के बचन प्रेम रस साने । सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने ॥
निज निज गृह गये आयसु पाई । बरनत प्रभु बतकही सुहाई ॥४॥

सब के वचन प्रेम-रस से सने हुए सुन कर रघुनाथजी हृदय में प्रसन्न हुए । आज्ञा पा कर सब प्रभु की सुन्दर बतकही वर्णन करते अपने अपने घर गये ॥४॥

सभा की प्रति में 'निज गृह गये सुआयसु पाई' पाठ है ।

दो०--उमा अवधबासी नर, नारि कृतारथ रूप ।
ब्रह्म सच्चिदानन्द घन, रघुनायक जहँ भूप ॥४७॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! अयोध्या-निवासी स्त्री-पुरुष कृतार्थ रूप हैं । जहाँ सत, चित् और आनन्द के समूह परब्रह्म रघुनाथजी राजा हैं ॥ ४७ ॥

राजा का रूप लघु-आधार है और सच्चिदानन्द परब्रह्म बड़े आधेय हैं । बड़े आधेय को छोटे आधार में स्थापन करना 'द्वितीय अधिक अलंकार' है ।

चौ०--एक बार बसिष्ठ मुनि आये । जहाँ राम सुखधाम सुहाये ॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा । पद पखारि चरनोदक लीन्हा ॥१॥

जहाँ सुन्दर सुख के धाम रामचन्द्रजी हैं, वहाँ एक बार वशिष्ठ मुनि आये । रघुनाथजी ने उनका बड़ा आदर सत्कार किया और पाँव धो कर चरणामृत लिया ॥ १ ॥

राम सुनहु मुनि कह कर जोरी । कृपासिन्धु बिनती कछु मोरी ॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा । होत मोह मम हृदय अपारा ॥२॥

मुनि हाथ जोड़ कर कहते हैं—हे कृपासिन्धु रामचन्द्रजी ! मेरी कुछ विनती सुनिये । आप के आचरण को देख देख कर मेरे हृदय में अपार मोह होता है ॥ २ ॥

महिमा अमित बेद नहिँ जाना । मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना ॥
उपरोहिती-कर्म अति मन्दा । बेद पुरान स्मृति कर निन्दा ॥३॥

हे भगवन् ! आप की बहुत बड़ी महिमा को वेद नहीं जानते, फिर मैं किस तरह कह सकता हूँ । पुरोहिती का काम महा नीच है, वेद पुराण और स्मृतियाँ निन्दा करती हैं ॥ ३ ॥

उपरोहित्य कर्म बड़ा नीच है, इसका प्रमाण वेद पुराण स्मृति आदि के कथन से देना 'शब्दप्रमाण अलंकार' है ।

जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही । कहा लाभ आगे सुत तोही ॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा । होइहि रघुकुल-भूषन भूपा ॥४॥

जब मैं नहीं स्वीकार करता था, तब ब्रह्माजी ने मुझ से कहा—हे पुत्र ! तुझे आगे लाभ होगा । परब्रह्म परमात्मा मनुष्य रूप धारण कर रघुवंश के भूषण राजा होंगे ॥ ४ ॥

दो०—तब मैं हृदय बिचारा, जोग जज्ञ ब्रत दान ।
जा कहँ करिय सो पाइहउँ, धर्म न एहि सम आन ॥४८॥

तब मैंने हृदय में विचार किया कि योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि जिसके लिये करता हूँ उनको पाऊँगा, इसके समान दूसरा धर्म नहीं है ॥ ४८ ॥

उपरोहिती कर्म न स्वीकार करने योग्य कर्म है, ईश्वर-प्राप्ति रूपी गुण देख कर उसकी इच्छा करना 'अनुज्ञा अलंकार, है ।

चौ-जप तप नियम जोग निजधर्मा । स्रुतिसम्भव नाना सुभ कर्मा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ-मज्जन । जहँ लगि धरम कहत स्रुति सज्जन ॥१॥

जप, तप, नियम, योग, अपना धर्म; श्रुतियों से उत्पन्न नाना प्रकार के शुभकर्म, ज्ञान, दया, इन्द्रिय-दमन, तीर्थस्नान आदि जहाँ तक धर्म वेद और सज्जन कहते हैं ॥ १ ॥

आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पङ्कज प्रीति निरन्तर । सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥२॥

हे प्रभो ! अनेक शास्त्र, वेद तथा पुराणों के पढ़ने और सुनने का एक ही फल है कि आप के चरण-कमलों में अन्तर रहित प्रीति हो, सब साधनों का यह सुन्दर फल है ॥ २ ॥

छूटइ मल कि मलहि के धोये । घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ॥
प्रेम-भगति जल बिनु रघुराई । अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई ॥३॥

क्या मल मैले के धोने पर छूटता है ? क्या पानी के महने से कोई घी पाता है ? (कदापि नहीं) । हे रघुराज ! बिना आप की प्रेम-लक्षणा भक्ति रूपी जल के हृदय का मैल कभी नहीं जाता ॥ ३ ॥

सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित । सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित ॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई । जाके पद-सरोज रति होई ॥४॥

वही सर्वज्ञ और तत्वज्ञानी है, वही पण्डित है, वही गुणों का मन्दिर और अखण्ड विज्ञानी है, वही चतुर और सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त है, जिस की आप के चरणकमलों में प्रीति हो ॥ ४ ॥

दो०-नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु ।
जनम जनम प्रभु पद-कमल, कबहुँ घटइ जनि नेहु ॥४९॥

हे नाथ रामचन्द्रजी ! एक वर माँगता हूँ कृपा करके दीजिये । जन्म जन्मान्तर में आप के चरण-कमलों का स्नेह कभी कम न हो ॥ ४९ ॥

चौ०-अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये । कृपासिन्धु के मन अति भाये ॥
हनूमान भरतादिक भ्राता । सङ्ग लिये सेवक सुखदाता ॥१॥

ऐसा कह कर वशिष्ठ मुनि अपने घर आये, कृपासिन्धु रामचन्द्रजी के मन में वे बहुत सुहाये । सेवकों को सुख देनेवाले महाराज साथ में भरत, लक्ष्मण, शत्रुहन तीनों भाइयों और हनूमानजी को ले कर- ॥ १ ॥

पुनि कृपाल पुर बाहर गये । गज रथ तुरग मँगावत भये ॥
देखि कृपा करि सकल सराहे । दिये उचित जेहि जेहि जोइ चाहे ॥२॥

फिर कृपालु रामचन्द्रजी नगर के बाहर गये और वहाँ हाथी, रथ, घोड़े मँगवाये । कृपा करके सब को देखा और उनकी सराहना की । जिन जिन लोगों ने जो इच्छा प्रकट की उनको उचित रीति से वही दिये ॥ २ ॥

हरन सकल स्रम प्रभु स्रम पाई । गये जहाँ सीतल अँवराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई । बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥३॥

समस्त श्रमों के हरनेवाले प्रभु रामचन्द्रजी थक कर वहाँ गये जहाँ शीतल आमों का बगीचा है । भरतजी ने अपना वस्त्र (पीताम्बर) बिछा दिये, प्रभु उस पर बैठ गये और सब भाई सेवा करने लगे ॥ ३ ॥

यहाँ रामचरित सम्बन्धी प्रश्न जो पार्वतीजी ने किया था, वह सब पूरा हो गया । 'प्रजा सहित रघुबंस मनि, किमि गवने निज धाम" इस प्रश्न का उत्तर शिवजी ने सूक्ष्म रीति

से दिया। इष्टदेव की स्वर्गयात्रा स्पष्ट कथन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था, इसी से सङ्केत मात्र दर्शाया है।

मारुत सुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥
हनूमान समान बड़-भागी। नहिँ कोउ राम-चरन अनुरागी॥४॥

तब पवनकुमार पवन करने लगे, उनका शरीर पुलकित और आँखों में जल भरा है। हनूमानजी के समान बड़ा भाग्यवान और रामचन्द्रजी के चरणों का प्रेमी कोई नहीं है॥४॥

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निजमुख गाई॥५॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा! जिस की सेवकाई और प्रीति को प्रभु रामचन्द्र ने बार बार अपने श्रीमुख से बड़ाई की है॥५॥

दो०—तेहि अवसर मुनि नारद, आये करतल बीन।
गावन लगे राम कल, कीरति सदा नवीन॥५०॥

उस समय हाथ में वीणा लिये हुए नारद मुनि आये और रामचन्द्रजी की सुन्दर सदा नवीन कीर्त्ति गाने लगे॥ ५०॥

चौ०—मामवलोकय पङ्कज-लोचन। कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन॥
नील तामरस स्याम काम अरि। हृदय कञ्ज मकरन्द मधुप हरि॥१॥

हे कमल-नयन, सोच के छुड़ानेवाले! कृपा की दृष्टि से मेरी ओर देखिये। नील कमल के समान श्याम, कामदेव के बैरी, हृदय रूपी कमल के मकरन्द (रस) के पान करनेवाले भ्रमर आप जगदीश्वर हैं॥१॥

जातुधान बरूथ बल भञ्जन। मुनि सज्जन रञ्जन अघ गञ्जन॥
भूसुर ससि नव बृन्द बलाहक। असरन सरन दीन जन गाहक॥२॥

आप राक्षस-वृन्द के दल को चूर चूर करनेवाले, मुनि और सज्जनों के प्रसन्न कारक, पाप के नसानेवाले हैं। ब्राह्मण रूपी खेती के लिये नवीन मेघमाला रूप हैं, अरक्षकों के रक्षक और दीन जनों के ग्राहक (प्रेमी) हैं॥२॥

भुज बल बिपुल भार महि खंडित। खर दूषन बिराध बध पंडित॥
रावनारि सुख रूप भूप बर। जय दसरथ-कुल-कुमुद सुधाकर॥३॥

अपने विशाल भुज-बल से पृथ्वी के बोझ को छिन्न भिन्न करनेवाले, खर दूषण और विराध के वध करने में पंडित (युक्ति से उनका संहार करनेवाले) हैं। हे रावणारि! आप की जय हो, आप सुख के रूप, राजाओं में श्रेष्ठ और दशरथजी के कुल रूपी कुमुद-वन के चन्द्रमा रूप हैं॥३॥

सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि सन्त-समागम॥
कारुनीक ब्यलीक मद खंडन। सब बिधि कुसल कोसला-मंडन॥४॥

आप का सुन्दर यश पुराण, वेद और शास्त्रों में प्रसिद्ध है, देवता मुनि और सन्तों के

समुदाय गान करते हैं। हे अयोध्या के भूषण! आप दयालु, मिथ्याभिमान को छिन्नभिन्न करने में सब प्रकार से दक्ष हैं ॥ ४ ॥

कलिमल मथन नाम ममताहन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत-जन ॥५॥

आप का नाम कलियुग के पापों को मथनेवाला और ममत्व का नाशक है, हे तुलसीदास के स्वामी! मुझ शरणागत जन की रक्षा कीजिये ॥ ५ ॥

दो०—प्रेम सहित मुनि नारद, बरनि राम-गुन-ग्राम।
सोभा-सिन्धु हृदय धरि, गये जहाँ बिधि धाम ॥५१॥

नारद मुनि प्रेम के साथ गुण-समूह वर्णन कर शोभा के समुद्र रामचन्द्रजी को हृदय में बसा कर जहाँ ब्रह्माजी का लोक है वहाँ गये ॥ ५१ ॥

पार्वतीजी के प्रश्न के अनुसार सभी उत्तर पूरे हुए और रामचरितमानस समाप्त हुआ। यही बात नीचे की चौपाइयों में शङ्करजी कहते हैं।

चौ०—गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा ॥
रामचरित सतकोटि अपारा। स्रुति सारदा न बरनइ पारा ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! सुनो, यह निर्मल कथा जैसी मेरी बुद्धि है मैं ने सब कही। रामचन्द्रजी का चरित्र अनन्त अपार है, सरस्वती और वेद भी वर्णन करके पार नहीं पा सकते ॥ १ ॥

राम अनन्त अनन्त गुनानी। जनम करम अनन्त नामानी ॥
जलसीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं ॥२॥

रामचन्द्रजी अनन्त हैं, गुण-समूह अनन्त हैं और उनके जन्म, कर्म, नामावली सभी अनन्त हैं। पानी की छोटी बूँदें, धरती की धूलि के कण चाहे गिन लिये जाँय परन्तु रघुनाथजी के चरित्र कह कर समाप्त हो ही नहीं सकते ॥ २ ॥

जल सीकर और महि रज का गिना जाना उत्कर्ष का कारण नहीं है, क्योंकि ये गिने जाँय तो भी रघुनाथजी के गुणों का अन्त नहीं मिल सकता 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है।

बिमल कथा हरि-पद-दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी ॥
उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥३॥

यह निर्मल कथा भगवान के पद (वैकुण्ठ-धाम) को देनेवाली है, सुन कर निश्चल भक्ति होती है। हे उमा। मैं ने वह सब सुहावनी कथा कही, जो कागभुशुण्ड ने गरुड़ को सुनाई थी ॥३॥

कछुक रामगुन कहेउँ बखानी। अब का कहउँ सो कहहु भवानी ॥
सुनि सुभकथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु-बानी ॥४॥

हे भवानी! कुछ एक रामचन्द्रजी के गुणों को मैं ने बखान कर कहा, अब क्या कहूँ?

वह पूछो। इस शुभकथा को सुन कर पार्वतीजी प्रसन्न हुईं और अत्यन्त नम्रता से कोमल वाणी में बोलीं ॥ ४ ॥

धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी। सुनेउँ राम गुन भव-भय हारी ॥५॥

हे त्रिपुर के वैरी! मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, धन्य हूँ जो संसार-सम्बन्धी भयों का हरनेवाला रामचन्द्रजी के गुणानुवाद को सुना ॥ ५ ॥

पार्वतीजी अपने को धन्य मानती हैं, जिससे रामयश की अतिशय प्रशंसा व्यञ्जित होना व्यङ्ग है।

दो०—तुम्हरी कृपा कृपायतन, अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु, चिदानन्द-सन्दोह ॥

हे दयानिधान! आप की कृपा से मेरा मनोरथ पूरा हो गया, अब मुझे अज्ञान नहीं है। स्वामिन्! चैतन्य रूप आनन्द के राशि रामचन्द्रजी के प्रताप को मैं ने जाना।

नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर।
स्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिँ अघात मति-धीर ॥५२॥

हे नाथ! आप के मुख रूपी चन्द्रमा से रघुनाथजी का यश रूपी अमृत बह रहा है। हे धीर-बुद्धि! कान रूपी दोनों से पान करके मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥ ५२ ॥

चौ०—रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिँ निरन्तर तेऊ ॥१॥

रामचन्द्रजी का चरित्र सुनते हुए जो अघा जाते हैं, उन्हों ने इसके विशेष आनन्द को नहीं जाना। जो जीवन्मुक्त, महा मुनि हैं, वे भी भगवान के गुण को सदा सुनते हैं ॥ १ ॥

भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा ॥
बिषयिन्ह कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥२॥

जो संसार रूपी समुद्र से पार पाना चाहता हो, उसके लिये रामचन्द्रजी की कथा मज़बूत नौका रूपिणी है। फिर विषयी प्राणियों को भगवान का यश-समूह कानों को सुख और मन को आनन्द देनेवाला है ॥ २ ॥

स्रवनवन्त अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं ॥
ते जड़ जीव निजात्मक-घाती। जिन्हहिँ न रघुपति कथा सुहाती ॥३॥

संसार में कानवाला ऐसा कौन है? जिसको रघुनाथजी के चरित न सुहाते हों। वे मूर्ख जीव अपनी आत्मा के घात करनेवाले हैं जिन्हें रामचन्द्रजी की कथा नहीं अच्छी लगती ॥ ३ ॥

हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा । सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा ॥
तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई । कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई ॥४॥

हे नाथ ! आपने रामचरितमानस का गान किया, उसको सुन कर मैं ने अपार आनन्द पाया । आपने जो इस सुहावनी कथा को यह कही है कि कागभुशुण्ड ने गरुड़ के प्रति गाई है ॥ ४ ॥

दो०—बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़, रामचरित अति नेह ।
बायस तन रघुपति भगति, मोहि परम सन्देह ॥५३॥

वैराग्य, ज्ञान और विज्ञान में दृढ़ता, रामचन्द्रजी के चरित्र में अत्यन्त स्नेह, कौए का शरीर ! उसमें रघुनाथजी की भक्ति ! (ईश्वर-चरणों में प्रेम होना, इसका मुझे बहुत बड़ा सन्देह है ॥ ५३ ॥

कहाँ वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान, की दृढ़ता, रामचरित में स्नेह और रघुनाथजी की दुर्लभ भक्ति, कहाँ कौए का शरीर । इस अनमेल में 'प्रथम विषम अलंकार' है ।

चौ०—नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धरम-ब्रत-धारी ॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई । बिषय बिमुख बिराग रत होई ॥१॥

हे त्रिपुरारि । सुनिये, सहस्रों मनुष्यों में कोई एक धर्म व्रत के धारण करनेवाले होते हैं । उन करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक विषय से फिरे हुए और वैराग्य में तत्पर होते हैं ॥१॥

कोटि बिरक्त मध्य स्रुति कहई । सम्यकज्ञान सकृत कोउ लहई ॥
ज्ञानवन्त कोटिक महँ कोऊ । जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥२॥

वेद कहता है उन करोड़ों वैराग्यवानों में कोई एक यथार्थज्ञान पाते हैं। उन करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक संसार में जीवन्मुक्त होते हैं ॥२॥

तिन्ह सहस्र महँ सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्म-लीन बिज्ञानी ॥
धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी । जीवनमुक्त ब्रह्म-पर प्रानी ॥ ३ ॥

उन हज़ारों जीवन्मुक्तों में सब सुखों की राशि ब्रह्म-लीन विज्ञानी होना दुर्लभ है । धर्मात्मा, वैराग्यवान, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मनिष्ठ विज्ञानी प्राणियों में ॥३॥

सब तें सो दुर्लभ सुरराया । रामभगति रत गत मद माया ॥
सो हरिभगति काग किमि पाई । बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई ॥४॥

हे सुरराज ! सब से वह दुर्लभ है जो छल और अभिमान से रहित रामचन्द्रजी की भक्ति में लगे रहते हैं । ऐसी अनुपम हरिभक्ति। काग ने किस तरह पाई, हे विश्वनाथ ! मुझे समझा कर कहिये ॥४॥

दो०—राम परायन ज्ञानरत, गुनागार मतिधीर ।
नाथ कहहु केहि कारन, पायेउ काग सरीर ॥५४॥

रामचन्द्रजी में प्रेम करनेवाले, ज्ञान में तत्पर, गुणों के स्थान और धीर बुद्धि हैं। हे नाथ! कहिये, उन्होंने कौए का शरीर किस कारण पाया? ॥५४॥

चौ०—यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा । कहहु कृपाल काग कहँ पावा ॥
तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी । कहहु मोहि अति कौतुक भारी ॥१॥

हे कृपालु! प्रभु रामचन्द्रजी का यह सुहावना पवित्र यश कहिये, कौए ने कहाँ पाया? हे कामदेव के वैरी! कहिये, आप ने किस तरह सुना? (उस समय मैं साथ न थी) इसका मुझे बहुत बड़ा आश्चर्य्य है ॥१॥

गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी । हरि सेवक अति निकट निवासी ॥
तेहि केहि हेतु काग सन जाई । सुनी कथा मुनि निकर बिहाई ॥२॥

गरुड़ बड़े ज्ञानी, गुण के राशि, हरिभक्त और भगवान के अत्यन्त समीप में रहनेवाले हैं। उन्हों ने किस कारण मुनियों के समुदाय को छोड़ कर पास जा कर कौए से हरिकथा सुनी ॥२॥

कहहु कवन बिधि भा सम्बादा । दोउ हरिभगत काग उरगादा ॥
गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई । बोले सिव सादर सुख पाई ॥३॥

कहिये, काग और गरुड़ दोनों हरिभक्तों का सम्वाद किस तरह हुआ? पार्वतीजी की सीधी सुहावनी वाणी सुन कर शिवजी आनन्दित हो कर आदर के साथ बोले ॥३॥

यहाँ पार्वतीजी ने छे प्रश्न किये, यथा—"(१) ऐसे महात्मा गुणराशि रामभक्त को कौए की देह क्यों मिली? (२) दुर्लभ रामभक्ति को कौए ने कैसे पाया?। (३) आपने कागभुशुण्ड से यह कथा कैसे श्रवण की? (४) गरुड़ ने किस कारण कौए के पास जा कर कथा सुनी? (५) दोनों हरिभक्तों का सम्वाद किस प्रकार हुआ?। (६) भगवान के इस चरित्र को कौए ने कहाँ पाया?।"

धन्य सती पावनि मति तोरी । रघुपति-चरन प्रीति नहिँ थोरी ॥
सुनहु परम पुनीत इतिहासा । जो सुनि सकल सोक भ्रम नासा ॥४॥

हे सती! तू धन्य है, तेरी बुद्धि पवित्र है, और रघुनाथजी के चरणों में बहुत बड़ी प्रीति है। वह परम पवित्र इतिहास सुनो, जो सुन कर समस्त शोक और भ्रम नाश होगा ॥४॥

उपजइ रामचरन बिस्वासा । भवनिधि तर नर बिनहिँ प्रयासा ॥५॥

रामचन्द्रजी के चरणों में विश्वास उत्पन्न होगा और बिना परिश्रम ही मनुष्य संसार रूपी समुद्र से पार हो जायँगे ॥५॥

इस इतिहास मात्र के श्रवण करने से रामचन्द्रजी के चरणों में विश्वास उत्पन्न होगा और बिना श्रम लोग संसार-सागर से पार हो जाँयगे अर्थात् अत्यल्प साधन से अलभ्य लाभ वर्णन करना 'द्वितीय विशेष अलंकार' है।

दो०—ऐसइ प्रस्न बिहङ्गपति, कीन्ह काग सन जाइ।
सो सब सादर कहिहउँ, सुनहु उमा मन लाइ ॥५५॥

ऐसा ही प्रश्न गरुड़ ने जा कर कागभुशुण्ड से किया था। हे उमा! वह सब मैं आदर के साथ कहूँगा, मन लगा कर सुनो ॥५५॥

चौ०—मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसङ्ग सुनु सुमुखि सुलोचनि॥
प्रथम दच्छ गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा ॥१॥

हे सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रवाली, प्रिये! संसार से मुक्त करनेवाली, कथा को जिस तरह मैं ने सुनी वह सुनो। पहले तुम्हारा जन्म दक्षप्रजापति के घर में हुआ था, तब तुम्हारा नाम सती था ॥१॥

पहले शिवजी तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं। इसका कारण यह है कि शेष प्रश्नों के उत्तर कागभुशुण्ड और गरुड़ सम्वाद में सब आ जाँयगे और उसके बीच में अपने कथा सुनने की बात कहनी बे-मेल पड़ती।

दच्छ जज्ञ तव भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना॥
मम अनुचरन्ह कीन्ह मख भङ्गा। जानहु तुम्ह सो सकल प्रसङ्गा ॥२॥

दक्ष के यज्ञ में तुम्हारा अपमान हुआ, तब तुमने अत्यन्त क्रोध से प्राण तज दिया। मेरे सेवकों ने यज्ञ विध्वंश किया, वह सारी कथा तुम जानती हो ॥२॥

तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरे॥
सुन्दर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा ॥३॥

हे प्रिये! तब मेरे मन में बड़ा सोच हुआ और तुम्हारे वियोग से मैं दुखी हुआ। कैलास को त्याग कर पृथ्वी पर विचरने लगा—सुन्दर वन, पर्वत, नदी और तालाबों का कुतूहल देखता फिरता था; किन्तु कहीं भी मन अनुरक्त नहीं हुआ ॥३॥

दुःख इस बात का हुआ कि सत्सङ्ग में विच्छेद पड़ गया।

गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नीलसैल एक सुन्दर भूरी॥
तासु कनक-मय सिखर सुहाये। चारि चारु मोरे मन भाये ॥४॥

सुमेरु पर्वत से उत्तर दिशा में दूर पर एक बड़ा ही सुन्दर नीलाचल है। उसकी सुवर्णमयी सुहावनी चार चोटियाँ हैं, वे सुन्दर शृङ्ग मेरे मन को सुहावने लगे ॥४॥

सुमेरु हिमालय पर्वत का नाम है। इसके उत्तर भाग में तिब्बत प्रदेश है, उसके उत्तरी भाग में नीलिगिरि पर्वत है जिसको वर्तमान में क्यूनलेन पहाड़ कहते हैं।

तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला । बट पीपर पाकरी रसाला ॥
सैलोपरि सर सुन्दर सोहा । मनि सोपान देखि मन मोहा ॥५॥

इन शिखरों पर एक एक बड़, पीपल, पाकर और आम के विशाल वृक्ष हैं। पहाड़ के ऊपर सुन्दर तालाब शोभित है, उसकी मणियों की सीढ़ियाँ देख कर मन मोहित हो जाता है ॥५॥

दो०-सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रङ्ग ।
कूजत कल रव हंस गन, गुञ्जत मञ्जुल भृङ्ग ॥५६॥

उसका जल मीठा, स्वच्छ और शीतल है, बहुत रंग के अपार कमल फूले हैं। हंसों के समुदाय सुन्दर बोली बोलते हैं और भ्रमर सुहावने गुञ्जार करते हैं ॥५६॥

चौ०-तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई । तासु नास कलपान्त न होई ॥
माया कृत गुन दोष अनेका । मोह मनोज आदि अबिबेका ॥१॥

उस सुन्दर पर्वत पर वह पक्षी (काग) रहता है, उसका प्रलयकाल में भी नाश नहीं होता। माया के किये गुण दोष नाना प्रकार के ज्ञान, मोह, काम, क्रोधादि ॥१॥

रहे ब्यापि समस्त जग माहीं । तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं ॥
तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा । सो सुनु उमा सहित अनुरागा ॥२॥

समस्त संसार में व्याप रहे हैं, पर उस पर्वत के समीप ये सब कभी नहीं जाते। हे उमा! वहाँ रह कर वह काग जिस तरह भगवान को भजता है, प्रीति के साथ सुनो ॥२॥

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई । जाप जज्ञ पाकरि तर करई ॥
आम छाँह कर मानस-पूजा । तजि हरि भजन काज नहिं दूजा ॥३॥

पीपलवृक्ष के नीचे वह ध्यान धरता है और पाकरवृक्ष के नीचे जप-यज्ञ करता है। आम के छाँह में मानसी पूजा करता है, भगवान का भजन छोड़ कर उसको दूसरा काम नहीं है ॥३॥

बर तर कह हरिकथा प्रसङ्गा । आवहिं सुनहिं अनेक बिहङ्गा ॥
राम चरित बिचित्र बिधि नाना । प्रेम सहित कर सादर गाना ॥४॥

बड़वृक्ष के नीचे भगवान के कथा-प्रसंग को कहता है, असंख्यों पक्षी सुनने आते हैं। नाना प्रकार से विलक्षण रामचन्द्रजी के चरित्र को आदर से प्रेम-पूर्वक गान करता है ॥४॥

पहले पहर में ध्यान, दूसरे पहर में जाप, तीसरे पहर में मानसिक पूजन और चौथे पहर में हरि गुण कीर्त्तन, इस प्रकार सारा दिन हरिभजन में बीतता है। सभा की प्रति में 'राम चरित बिचित्र विधाना' पाठ है। उसमें एक मात्रा कम होने से उच्चारण ठीक नहीं होता, छन्दोभंग दोष आ जाता है।

सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरन्तर जो तेहि ताला॥
जब मैं जाइ सो कौतुक देखा। उर उपजा आनन्द बिसेखा॥५॥

सम्पूर्ण निर्मल बुद्धिवाले हंस जो उस सरोवर में सदा रहते हैं, वे हरिकथा सुनते हैं। जब मैं ने जा कर वह कुतूहल (तमाशा) देखा, तब हृदय में बड़ा आनन्द उत्पन्न हुआ॥५॥

दो०—तब कछु काल मराल तनु, धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन, पुनि आयउँ कैलास॥५७॥

तब हंस का शरीर धारण कर मैं ने कुछ समय तक वहाँ निवास किया। आदर के साथ रघुनाथजी के यश को सुन कर फिर मैं कैलास को लौट आया॥५७॥

हंस का शरीर इसलिये धारण किया कि पक्षी-समाज में देव मूर्त्ति बेमेल होगी और यदि कागभुशुण्ड मुझे पहचान लेगा तो मेरे सामने कथा कहने में कदाचित उसको सकोच हो

चौ०—गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग पासा॥
अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गयउ काग पहिं खग-कुल केतू॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती! मैं जिस समय उस पक्षी के पास गया था, वह सब इतिहास वर्णन किया। अब वह कथा सुनो जिस कारण पक्षी-कुल के पताका गरुड़ कागभुशुण्ड के पास गये थे॥१॥

जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा॥
इन्द्रजीत कर आपु बँधायो। तब नारद मुनि गरुड़ पठायो॥२॥

जब रघुनाथजी ने युद्ध में खेल किया था, उस चरित्र को समझ कर मुझे लज्जा होती है। वे आप से मेघनाद के हाथ में बँधुआ हो गये, तब नारद मुनि ने गरुड़ को भेजा॥२॥

बन्धन काटि गयउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा॥
प्रभु बन्धन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग-आराती॥३॥

बन्धन काट कर गरुड़ चले गये, उनके हृदय में भयानक खेद उत्पन्न हुआ। प्रभु रामचन्द्रजी का बाँधा जाना बहुत तरह समझते हुए गरुड़जी विचार करते हैं॥३॥

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥४॥

व्यापक, परब्रह्म, निर्मल, वाणी के स्वामी, माया और मोह से परे परमेश्वर! उनका संसार में जन्म लेना सुना, पर वह महत्व कुछ नहीं देखा॥४॥

दो०—भवबन्धन तें छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥५८॥

जिनका नाम जप कर मनुष्य संसार-बन्धन से छूट जाते हैं, उन्हीं रामचन्द्रजी को एक छोटे से राक्षस ने नागपाश से बाँध लिया॥५८॥

चौ०—नाना भाँति मनहिं समुझावा । प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा ॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई । भयउ मोह बस तुम्हरिहि नाँई ॥१॥

अनेक प्रकार से मन को समझाया, परन्तु ज्ञान नहीं प्रकट हुआ हृदय में भ्रम छा गया । खेद से दुखी हो कर मन में तर्क बढ़ाया, तुम्हारी ही तरह अज्ञान वश हुए ॥ १ ॥

ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं । कहेसि जो संसय निज मन माहीं ॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया । सुनु खग प्रबल राम कै माया ॥२॥

व्याकुल हो कर नारदजी के पास गये और जो अपने मन में सन्देह था उसको कहा । सुन कर नारदजी को बड़ी दया लगी, उन्हों ने कहा—हे पक्षिराज ! सुनिये, रामचन्द्रजी की माया बड़ी जोरावर है ॥ २ ॥

जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई । बरिआई बिमोह मन करई ॥
जेहि बहु बार नचावा मोही । सोइ ब्यापी बिहङ्गपति तोही ॥३॥

जो ज्ञानियों के चित्त को हर लेती है और जोरावरी से उनके मन में अज्ञान उत्पन्न कर देती है । जिसने मुझ को बहुत बार नचाया है, हे पक्षिराज ! वही माया तुम्हें व्यापी है ॥ ३ ॥

महामोह उपजा उर तोरे । मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे ॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा । सोइ करेहु जो होइ निदेसा ॥४॥

हे गरुड़ ! तुम्हारे हृदय में महा मोह उत्पन्न हुआ है, मेरे कहने से वह जल्दी न मिटेगा । हे पक्षिराज ! तुम ब्रह्माजी के पास जाओ और जो उनकी आज्ञा हो वही करना (तब तुम्हारा सन्देह दूर होगा) ॥ ४ ॥

दो०—अस कहि चले देवरिषि, करत राम गुन गान ।
हरिमाया बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान ॥५९॥

ऐसा कह कर रामचन्द्रजी का गुण गान करते हुए नारदजी चले । परम चतुर देवर्षि मन में बार बार भगवान की माया का बल वर्णन करते जाते हैं ॥ ५६ ॥

चौ०—तब खगपति बिरञ्चि पहिं गयऊ । निज सन्देह सुनावत भयऊ ॥
सुनि बिरञ्चि रामहिं सिर नावा । समुझि प्रताप प्रेम उर छावा ॥१॥

तब पक्षिराज विधाता के पास गये और अपना सन्देह कह सुनाया । सुन कर ब्रह्माजी ने रामचन्द्रजी को मस्तक नवाया और प्रभु के प्रताप को समझ कर उनके हृदय में प्रेम छा गया ॥ १ ॥

मन महँ करइ बिचार बिधाता । माया बस कबि कोबिद ज्ञाता ॥
हरिमाया कर अमित प्रभावा । बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥२॥

ब्रह्माजी मन में विचार करने लगे कि माया के वश में कवि विद्वान और ज्ञानी सभी हैं ।

फिर प्रत्यक्ष में बोले—हे गरुड़ ! भगवान की माया का बहुत बड़ा प्रभाव है, जिसने असंख्यों बार मुझे नचाया है ॥ २ ॥

अग जग मय सब मम उपराजा । नहिँ आचरज मोह खगराजा ॥
तब बोले बिधि गिरा सुहाई । जान महेस राम प्रभुताई ॥३॥

जड़ चेतन मय संसार सब मेरा उत्पन्न किया है, हे पक्षिराज ! (जब मुझे माया नाच नचाती है, तब आप को मोह होना आश्चर्य्य नहीं है । तब सुन्दर वचन ब्रह्माजी बोले कि रामचन्द्रजी की प्रभुता को शङ्करजी जानते हैं ॥ ३ ॥

बैनतेय सङ्कर पहिँ जाहू । तात अनत पूछहु जनि काहू ॥
तहँ होइहि तव संसय हानी । चलेउ बिहङ्ग सुनत बिधि बानी ॥४॥

हे तात गरुड़ ! शङ्करजी के पास जाओ, अन्यत्र किसी से मत पूछो । वहाँ तुम्हारा सन्देह नाश होगा, ब्रह्माजी की बात सुनते ही विनतानन्दन चले ॥ ४ ॥

दो०—परमातुर बिहङ्गपति, आयउ तब मो पास ।
जात रहेउँ कुबेर गृह, रहिहु उमा कैलास ॥६०॥

तब पक्षिराज बहुत घबराये हुए मेरे पास आये, (पार्वतीजी ने कहा—स्वामिन् ! उस समय में कहाँ थी ?) शिवजी ने कहा—हे उमा ! मैं कुबेर के घर जा रहा था और तुम कैलास ही पर थी ॥ ६० ॥

चौ०—तेहि मम पद-सादर सिर नावा । पुनि आपन सन्देह सुनावा ॥
सुनि ताकरि बिनती मृदु बानी । प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी ॥१॥

उन्हों ने आदर से मेरे चरणों में सिर नवाया, फिर अपना सन्देह कह सुनाया । उनकी विनती भरी कोमल वाणी सुन कर, हे भवानी ! मैंने प्रीति पूर्वक कहा ॥ १ ॥

मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही । कवन भाँति समुझावउँ तोही ॥
तबहिँ होइ सब संसय भङ्गा । जब बहु काल करिय सतसङ्गा ॥२॥

हे गरुड़ ! तुम मुझे रास्ते में मिले, मैं किस तरह समझाऊँ । तुम्हारा सन्देह तभी नाश होगा जब बहुत काल तक सत्सङ्ग करोगे ॥ २ ॥

सुनिय तहाँ हरि कथा सुहाई । नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥३॥

वहाँ भगवान की सुहावनी कथा सुनिये जो अनेक प्रकार से मुनियों ने गाई है । जिसमें आदि, मध्य और अन्त में प्रभु भगवान रामचन्द्रजी ही समझने के योग्य हैं अर्थात् उस कथा के प्रधान नायक रामचन्द्रजी हैं ॥ ३ ॥

नित हरिकथा होति जहँ भाई । पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई ॥
जाइहि सुनत सकल सन्देहा । राम चरन होइहि अति नेहा ॥४॥

हे भाई ! जहाँ नित्य ही भगवान की कथा होती है, मैं तुम्हें वहाँ भेजता हूँ जा कर सुनो। सुनते ही सारा सन्देह जाता रहेगा और रामचन्द्रजी के चरणों में अत्यन्त स्नेह उत्पन्न होगा ॥४॥

दो०—बिनु सतसङ्ग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥६१॥

बिना सत्सङ्ग के हरिकथा नहीं सुलभ होती और बिना हरिकथा के अज्ञान नहीं दूर होता। बिना अज्ञान के दूर हुए रामचन्द्रजी के चरणों में दृढ़ प्रेम नहीं होता ।६१।

सत्सङ्ग-कारण और हरिकथा-कार्य्य, हरिकथा-कारण और मोहनाश कार्य्य, मोहनाश-कारण और रामपद प्रेम-कार्य्य और रघुनाथजी का मिलना कार्य्य है। कारण से कार्य्य प्रकट हो कर फिर कारण का होना 'कारणमाला अलंकार' है।

चौ०—मिलहिँ न रघुपति बिनु अनुरागा । किये जोग जप ज्ञान बिरागा ॥
उत्तर दिसि सुन्दर गिरि नीला । तहँ रह कागभुसुंड सुसीला ॥१॥

बिना प्रेम के योग, जप, ज्ञान, वैराग्य करने पर भी रघुनाथजी नहीं मिलते। उत्तर दिशा में सुन्दर नीलगिरि है, वहाँ सुशील कागभुशुण्ड निवास करते हैं ॥१॥

रामभगति-पथ परम प्रबीना । ज्ञानी गुन गृह बहु कालीना ॥
रामकथा सो कहइ निरन्तर । सादर सुनहिँ बिबिध बिहङ्ग बर ॥२॥

रामभक्ति के मार्ग में अत्यन्त प्रवीण, ज्ञानी, गुणों के स्थान और बहुत पुराने हैं। वे निरन्तर रामचन्द्रजी का चरित्र कहते हैं और अनेक प्रकार के श्रेष्ठ पक्षी आदर के साथ सुनते हैं ॥२॥

जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी । होइहि मोहजनित दुख दूरी ॥
मैं जब तेहि सब कहा बुझाई । चलेउ हरषि मम पद सिर नाई ॥३॥

वहाँ जा कर भगवान का अनन्त यश सुनो, अज्ञान से उत्पन्न दुःख दूर हो जायगा। जब मैं ने उन्हें सब समझा कर कहा, तब मेरे चरणों में मस्तक नवा कर गरुड़ प्रसन्न हो कर चले ॥३॥

पार्वतीजी ने पूछा कि स्वामिन् ! आपने गरुड़ को क्यों नहीं हरियश सुनाया, उन्हें कागभुशुण्ड के पास काहे को भेजा ?

तातेँ उमा न मैं समुझावा । रघुपति कृपा मरम मैं पावा ॥
होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना । सो खोवइ चह कृपानिधाना ॥४॥

शिवजी ने कहा—हे उमा ! मैं ने इसलिये नहीं समझाया कि इसका छिपा भेद रघुना-

थजी की कृपा से मुझे ज्ञात हो गया था । गरुड़ कभी अभिमान किये होंगे, कृपानिधान रामचन्द्रजी उस दर्प को नष्ट करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

एक बार गरुड़जी दैवयोग से कागभुशुण्डजी के स्थान में जा पहुँचे । कागभुशुण्ड ने पक्षियों के सहित पक्षिराज का आदर सत्कार करके बैठने को आसन दिया । गरुड़ के हृदय में अभिमान से विपरीत विचार उत्पन्न हुआ कि जिस समाज का नेता कौआ है, उस मण्डली में मेरा बैठना योग्य नहीं है । ऐसा विचार कोप का तिरस्कार कर चल दिये । भगवान को गरुड़ की यह बात अच्छी नहीं लगी, अपने भक्त के अनादर से वे रुष्ट हो गये और माया को आज्ञा दी, उसने मोह उत्पन्न कर गरुड़ को वहाँ पहुँचाया जहाँ से वे भीषण घमण्ड कर उस समाज को तुच्छ विचार कर चल दिये थे ।

कछु तेहि तेँ पुनि मैं नहिं राखा । समुझइ खग खग ही कै भाखा ॥
प्रभु माया बलवन्त भवानी । जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥५॥

फिर उनको मैं ने इसलिये नहीं रक्खा कि पक्षी पक्षी ही की बोली समझते हैं । हे भवानी ! प्रभु रामचन्द्रजी की माया बड़ी बलवती है, ऐसा कौन ज्ञानी है जिसको उसने मोहित न किया हो ॥ ५ ॥

पहले शिवजी ने कहा कि गरुड़ कभी अभिमान किये होंगे, उसको कृपानिधान नष्ट करना चाहते हैं । फिर उपमान वाक्य की भाँति लोकोक्ति कहना कि पक्षी ही पक्षी की भाषा समझते हैं, इसलिये नहीं रक्खा 'छेकोक्ति अलंकार' है ।

दो०--ज्ञानी भक्त-सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान ।
ताहि मोह माया नर, पाँवर करहिं गुमान ॥

ज्ञानी, भक्तों के शिरोमणि और त्रिभुवननाथ के वाहन, उनको माया ने मोहित किया और अधम मनुष्य गुमान करते हैं (वे किस गिनती में हैं ?) ।

जब त्रिलोकीनाथ के वाहन, ज्ञानी और भक्तों के मुकुटमणि गरुड़जी मोह को प्राप्त हुए, तब नीच मनुष्य क्या गुमान करते हैं ? वे मोहे मोहाये हैं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है ।

सिव बिरञ्चि कहँ मोहइ, को हइ बपुरा आन ।
अस जिय जानि भजहिँ मुनि, मायापति भगवान ॥६२॥

तुलसीदासजी कहते हैं— जो माया शिवजी और ब्रह्माजी को मोहित कर देती है, फिर उसके सामने दूसरा बेचारा कौन चीज़ है ? ऐसा मन में समझ कर मुनि लोग माया के स्वामी भगवान रामचन्द्रजी को भजते हैं ॥ ६२ ॥

मायानाथ की सेवा करने से माया न सतावेगी, यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है ।

चौ०-गयउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी । मति अकुंठ हरि भगति अखंडी ॥
देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ । माया मोह सोच सब गयऊ ॥१॥

अविच्छिन्न हरिभक्ति और चोखी बुद्धिवाले कागभुशुण्डि जहाँ रहते हैं, वहाँ गरुड़ गये ।

उस पर्वत को देख कर मन में प्रसन्न हुए, उनके हृदय से माया, मोह और सोच सब चला गया ॥ १ ॥

थोड़े ही आरम्भ से अर्थात् पर्वत को देखते ही अलभ्य लाभ माया, मोह, सोच का छूट जाना वर्णन 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। गुटका में तुकान्त 'भुसुंडा और अखंडा' है। यहाँ गरुड़जी नीलपर्वत पर पहुँच गये, अब उधर कागभुशुंडजी का हाल कहते हैं।

करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना ॥
बृद्ध, बृद्ध बिहङ्ग तहँ आये। सुनइ राम के चरित सुहाये ॥२॥

कागभुशुण्डजी तालाब में स्नान और जलपान करके प्रसन्न मन से बरगद के नीचे गये। वहाँ बूढ़े बूढ़े पक्षी सुन्दर रामचन्द्रजी की कथा सुनने के लिये आये ॥ २ ॥

कथा अरम्भ करइ सोइ चाहा। तेही समय गयउ खगनाहा ॥
आवत देखि सकल खगराजा। हरषेउ बायस सहित समाजा ॥३॥

वह कथा आरम्भ ही करना चाहता था कि उसी समय गरुड़जी वहाँ गये। पक्षिराज को आते देख कर कागभुशुण्ड सम्पूर्ण समाज के सहित प्रसन्न हुए ॥३॥

अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा ॥
करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा ॥४॥

उन्हों ने खगनाथ का बड़ा आदर किया और कुशल क्षेम पूछ कर सुन्दर आसन दिया। प्रेम सहित पूजन करके तब कागभुशुण्ड मीठे वचन बोले ॥४॥

दो०--नाथ कृतारथ भयउँ मैं, तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब, प्रभु आयहु केहि काज ॥

हे नाथ, खगराज! आप के दर्शन से मैं कृतार्थ हुआ, स्वामी का आगमन किस कार्य्य के लिये हुआ है? आज्ञा दीजिये अब मैं उसे करूँ।

सदा कृतारथ-रूप तुम्ह, कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर, निज मुख कीन्ह महेस ॥६३॥

गरुड़जी ने कोमल वाणी से कहा--आप सदा कृतार्थरूप हैं, जिनकी प्रशंसा आदर के साथ अपने मुख से शिवजी ने की है। ॥६३॥

चौ०--सुनहु तात जेहि कारन आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ ॥
देखि परम पावन तव आस्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम ॥१॥

हे तात! सुनिये, जिस कारण मैं आया वह सब पूरा हुआ और आप का दर्शन पाया। आप के अत्यन्त पुनीत आश्रम को देख कर नाना प्रकार का भ्रम, सन्देह और अज्ञान मेरे हृदय से भाग गया (अब मुझे मोह जनित भ्रान्ति नहीं है) ॥१॥

कागभुशुण्डजी से भेंट होने के पहले ही माया मोह का छूटना अर्थात् कारण से पहले ही कार्य्य का प्रकट होना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

अब श्रीराम कथा अति पावनि । सदा सुखद दुख पुञ्ज नसावनि ॥
सादर तात सुनावहु मोही । बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ॥२॥

अब श्रीरामचन्द्रजी की अत्यन्त पवित्र सदा सुख देनेवाली और दुःख की राशि नसानेवाली कथा, हे तात ! आदर के साथ मुझे सुनाइये । प्रभो ! मैं बार बार आप से प्रार्थना करता हूँ ॥२॥

सुनत गरुड़ के गिरा बिनीता । सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥
भयउ तासु मन परम उछाहा । लाग कहइ रघुपति गुन गाहा ॥३॥

सीधी, सुन्दर प्रेमयुक्त, सुख देनेवाली, अत्यन्त पवित्र और नम्रता भरी गरुड़ की वाणी सुनते ही उसके मन में बड़ा उत्साह हुआ, रघुनाथजी के गुणों का वृत्तान्त कहने लगा ॥३॥

प्रथमहिँ अति अनुराग भवानी । रामचरित-सर कहेसि बखानी ॥
पुनि नारद कर मोह अपारा । कहेसि बहुरि रावन अवतारा ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! पहले बड़े प्रेम से रामचरितमानस को बखान कर कहा । फिर नारद का अपार मोह कह कर तदनन्तर रावण का जन्म वर्णन किया ॥४॥

प्रभु अवतार कथा पुनि गाई । तब सिसु-चरित कहेसि मन लाई ॥५॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी के जन्म की कथा गान कर तब बाल-लीला को मन लगा कर कहा ॥५॥

दो०—बालचरित कहि बिबिध बिधि, मन महँ परम उछाह ।
रिषि आगमन कहेसि पुनि, श्रीरघुबीर बिबाह ॥६४॥

अनेक प्रकार के बालचरित्र कह कर मन में बड़ा उमङ्ग हुआ, फिर विश्वामित्रमुनि का आगमन और श्रीरघुनाथजी का विवाहोत्सव वर्णन किया ॥६४॥

चौ०—बहुरि राम अभिषेक प्रसङ्गा । पुनि नृप बचन राज-रस भङ्गा ॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा । कहेसि राम लछिमन सम्बादा ॥१॥

फिर रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की बात कही, पुनः राजाज्ञा से राज्यानन्द का नाश होना वर्णन किया । नगर-निवासियों का वियोग से दुखी होना, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी का सम्बाद कहा ॥१॥

बिपिन गवन केवट अनुरागा । सुरसरि उतरि निवास प्रयागा ॥
बालमीक प्रभु मिलन बखाना । चित्रकूट जिमि बस भगवाना ॥२॥

वनयात्रा, मल्लाह का प्रेम और गङ्गाजी उतर कर प्रयाग का निवास कहा । प्रभु रामचन्द्रजी और वाल्मीकि मुनि का मिलन तथा जिस तरह भगवान् चित्रकूट पर टिके, वह बखान कर वर्णन किया ॥२॥

सचिवागमन नगर नृप मरना । भरतागमन प्रेम बहु बरना ॥
करि नृपक्रिया सङ्ग पुरबासी । भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी ॥३॥

सुमन्त्र का अयोध्या में लौट आना, राजा का मरना, भरतजी का आगमन और उनका प्रेम बहुत प्रकार से वर्णन किया । राजा की अन्त्येष्टिक्रिया करके पुरबासियों के सङ्ग भरतजी वहाँ गये जहाँ सुख के राशि प्रभु रामचन्द्रजी थे ॥३॥

पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये । लेइ पादुका अवधपुर आये ॥
भरत रहनि सुरपति-सुत करनी । प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी॥४॥

फिर रघुनाथजी ने बहुत तरह समझाया, तब वे खड़ाउओं को ले कर अयोध्यापुरी को लौट आये । भरतजी के रहने का ढङ्ग, इन्द्र के पुत्र की करतूत कह कर फिर प्रभु रामचन्द्रजी और अत्रिमुनि की भेंट कही ॥४॥

दोहा०--कहि बिराध बध जेहि बिधि, देह तजी सरभङ्ग ।
बरनि सुतीछन प्रीति पुनि, प्रभु अगस्ति सतसङ्ग ६५॥

जिस तरह विराध मारा गया और शरभङ्ग मुनि ने शरीर त्याग किया वह कह कर फिर सुतीक्ष्ण मुनि की प्रीति और प्रभु अगस्त्यजी का सत्सङ्ग वर्णन किया ॥६५॥

चौ०--कहि दंडक बन पावनताई । गीध मइत्री पुनि तेहि गाई ॥
पुनि प्रभु पञ्चवटी कृत बासा । भञ्जी सकल मुनिन्ह के त्रासा॥१॥

दण्डकारण्य का पवित्र होना कह कर फिर उसने गिद्ध की मित्रता गान की । तदनन्तर प्रभु रामचन्द्रजी ने पञ्चवटी में निवास कर समस्त मुनियों की त्रास को नसाया ॥१॥

पुनि लछिमन उपदेस अनूपा । सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा ॥
खर दूषन बध बहुरि बखाना । जिमि सब मरम दसानन जाना ॥२॥

फिर लक्ष्मणजी को अनुपम उपदेश देना और उन्हों ने जिस तरह सूर्पणखा को कुरूप किया, वह कहा । पुनः खरदूषण आदि का संहार और जैसे रावण ने सब भेद जाना वह बखान किया ॥२॥

दसकन्धर मारीच बतकही । जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही॥
पुनि माया सीता कर हरना । श्रीरघुबीर बिरह कछु बरना ॥३॥

जिस तरह रावण और मारीच की बातचीत हुई वह सब उसने कही । फिर छलवाली सीताजी का हरण और श्रीरघुनाथजी का कुछ विरह वर्णन किया ॥३॥

पुनि प्रभु गीध क्रिया जिमि कीन्ही । बधि कबन्ध सबरिहि गति दीन्ही॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा । जेहि बिधि गये सरोवर तीरा ॥४॥

फिर प्रभु रामचन्द्रजी ने जिस तरह गिद्ध की करनी की और कबन्ध का वध करके

शबरी को गति दी, वह वर्णन किया। पुनः विरह वर्णन करते हुए जिस तरह रघुनाथजी पम्पासर के किनारे गये, वह कहा ॥४॥

दो०-प्रभु नारद सम्बाद कहि, मारुति मिलन प्रसङ्ग।
पुनि सुग्रीव मिताई, बालि प्रान कर भङ्ग॥

प्रभु और नारदजी का सम्वाद कह कर पवनकुमार के मिलने की बात कही। फिर सुग्रीव की मित्रता और बाली का प्राण नाश होना कहा।

कपिहि तिलक करि प्रभु कृत, सैल प्रबरषन बास।
बरनत बरषा सरद रितु, राम रोष कपि त्रास॥६६॥

सुग्रीव को राजतिलक करके प्रभु रामचन्द्रजी ने प्रवर्षण पर्वत पर निवास किया। वर्षा और शरद ऋतु वर्णन कर रामचन्द्रजी का क्रोध और सुग्रीव का डरना कहा ॥६६॥

चौ०-जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये। सीता खोज सकल दिसि धाये॥
बिवर प्रबेस कीन्ह जेहि भाँती। कपिन्ह बहोरि मिला सम्पाती॥१॥

जिस तरह सुग्रीव ने वानरों को सीताजी की खोज के लिये भेजा और सब दिशाओं में ढूँढ़ने गये, वह कहा। जिस प्रकार बिल में प्रवेश किया फिर जैसे बन्दरों को सम्पाती गीध मिला, वह वर्णन किया॥ १ ॥

सुनि सब कथा समीरकुमारा। नाँघत भयउ पयोधि अपारा॥
लङ्का कपि प्रबेस जिमि कीन्हा। पुनि सीतहि धीरज जिमि दीन्हा॥२॥

सम्पाती से सब कथा सुन कर पवनकुमार अपार समुद्र को लाँघ गये। जैसे हनूमान ने लङ्का में प्रवेश किया और जिस तरह सीताजी को धीरज दिया, वह कहा॥२॥

बन उजारि रावनहिँ प्रबोधी। पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी॥
आये कपि सब जहँ रघुराई। बैदेही कइ कुसल सुनाई॥३॥

अशोकवन उजाड़ कर रावण को समझाया और लङ्कापुरी जला कर फिर समुद्र को लाँघ आये। सब बन्दर जहाँ रघुनाथजी थे वहाँ आये और जानकीजी की कुशल कह सुनाई॥३॥

सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥
मिला बिभीषन जेहि बिधि आई। सागर निग्रह कथा सुनाई॥४॥

सेना सहित जैसे रघुनाथजी जा कर समुद्र के किनारे उतरे और जिस तरह विभीषण आ कर मिला तथा सिन्धु के दण्ड की कथा सुनाई॥४॥

दो०-सेतु बाँधि कपि सेन जिमि, उतरी सागर पार ।
गयउ बसीठो बीर बर, जेहि बिधि बालिकुमार ॥

जिस तरह समुद्र में पुल बाँध कर वानरों की सेना पार उतरी और जिस प्रकार श्रेष्ठ वीर बालिकुमार दूत हो कर गये, वह कहा

निसिचर कीस लराई, बरनेसि बिबिध प्रकार ।
कुम्भकरन घननाद कर, बल पौरुष संहार ॥६७॥

राक्षस और बन्दरों की लड़ाई अनेक प्रकार से वर्णन की, फिर कुम्भकर्ण और मेघनाद के बल-पुरुषार्थ का संहार वर्णन किया ॥६७॥

चौ०-निसिचर निकर मरन बिधिनाना । रघुपति रावन समर बखाना ॥
रावन बध मन्दोदरि सोका । राज बिभीषन देब असोका ॥१॥

नाना प्रकार से राक्षसों के समुदाय का मरण कहा, रघुनाथजी और रावण का युद्ध वर्णन किया । रावण का वध, मन्दोदरी का शोक और विभीषण को शोकरहित राज्य देना कहा ॥१॥

सीता रघुपति मिलन बहोरी । सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी ॥
पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता । अवध चले प्रभु कृपानिकेता ॥२॥

फिर सीताजी और रघुनाथजी का मिलाप कहा, देवताओं ने हाथ जोड़ कर स्तुति की फिर पुष्पक बिमान पर बानरों के सहित चढ़ कर कृपानिधान प्रभु रामचन्द्रजी अयोध्यापुरी को चले, वह सब वर्णन किया ॥२॥

जेहि बिधि राम नगर निज आये । बायस बिसद चरित सब गाये ॥
कहेसि बहोरि राम अभिषेका । पुर बरनन नृपनीति अनेका ॥३॥

जिस तरह रामचन्द्रजी अपने नगरमें आये, वह सब निर्मल चरित्र कागभुशुण्ड ने गाया। फिर रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक, नगर वर्णन और अनेक प्रकार की राजनीति को कहा ॥३॥

कथा समस्त भुसुंडि बखानी । जो मैं तुम्ह सन कही भवानी ॥
सुनि सब रामकथा खगनाहा । कहत बचन मन परम उछाहा ॥४॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी ! वह सारी कथा भुशुण्डी ने वर्णन की जो मैं ने तुम से कही है। रामचन्द्रजी की सम्पूर्ण कथा सुन कर पक्षिराज मन में अत्यन्त उमङ्गित होकर वचन कहने लगे ॥४॥

सो०-गयउ मोर सन्देह, सुनेउँ सकल रघुपति चरित ।
भयउ राम-पद नेह, तव प्रसाद बायस-तिलक ॥

रघुनाथजी का सम्पूर्ण चरित सुन कर मेरा सन्देह दूर हो गया । हे कागों के शिरोभूषण आप की कृपा से रामचन्द्रजी के चरणों में स्नेह हुआ ।

मोहि भयउ अति मोह, प्रभु बन्धन रन महँ निरखि।
चिदानन्द सन्दोह, राम बिकल कारन कवन ॥६८॥

प्रभु को संग्राम में बँधा देख कर मुझ को महा अज्ञान हुआ कि रामचन्द्रजी तो चैतन्य और आनन्द के राशि हैं, वे किस कारण व्याकुल हैं? ॥६८॥

चौ०-देखि चरित नरतनु अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ॥१॥

मनुष्य शरीर के अनुसार चरित्र देख कर मेरे हृदय में भारी सन्देह हुआ। उस भ्रम को अब मैं हित करके मानता हूँ कि कृपानिधान रामचन्द्रजी ने मुझ पर कृपा की (जिस कारण आप का दर्शन हुआ) ॥१॥

भ्रम रूपी दोष अङ्गीकार करने योग्य नहीं, किन्तु कागभुशुण्डजी का समागम उसके द्वारा सुलभ हुआ इससे उसे हितकर मानना 'अनुज्ञा अलंकार' है।

जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥
जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही ॥२॥

जो घाम से अत्यन्त विकल होता है, वृक्ष के छाँह का सुख वही जानता है। हे तात! यदि मुझे इतना बड़ा मोह न होता तो आप से किस तरह मिलता? ॥२॥

सुनतेउँ किमि हरि कथा सुहाई। अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई॥
निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं सन्देहा ॥३॥

सुन्दर भगवान् की कथा को कैसे सुनता? जो बहुत तरह से अत्यन्त विलक्षण आपने वर्णन की है। वेद, शास्त्र और पुराणों का यही मत है, सिद्ध-मुनि कहते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥३॥

सन्त बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
राम कृपा तव दरसन भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ ॥४॥

विशुद्ध सन्त उसी को मिलते हैं जिस पर रामचन्द्रजी कृपा करके चितवते हैं। रामचन्द्रजी की कृपा से आप का दर्शन हुआ और आप की कृपा से मेरा सब सन्देह दूर हो गया ॥४॥

दो०-सुनि बिहँगपति बानी, सहित बिनय अनुराग।
पुलक गात लोचन सजल, मन हरषेउ अति काग॥

पक्षिराज की वाणी, विनती और प्रीति के सहित सुन कर कागभुशुण्डजी मन में बहुत प्रसन्न हुए, उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों में जल भर आया।

श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा रसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्य अपि, सज्जन करहिँ प्रकास ॥६९॥

सुन्दर मतिमान, सुशील पवित्र कथा का प्रमी और हरिभक्त श्रोता मिलने पर, हे उमा! सज्जन लोग अत्यन्त छिपाने की बात भी निश्चय ही प्रकाशित कर देते हैं ॥६९॥

चौ०–बोलेउ कागभुसुंडि बहोरी। नभगनाथ पर प्रीति न थोरी ॥
सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे ॥१॥

फिर कागभुशुण्डि बोले—उनकी गरुड़जी पर अपार प्रीति है। हे नाथ! आप सब तरह से हमारे पूज्य और रघुनाथजी के कृपापात्र हैं ॥१॥

तुम्हहिँ न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया ॥
पठइ मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही ॥२॥

आप को न सन्देह है, न मोह और माया है, हे नाथ! आपने मुझ पर दया की है। हे पक्षिराज! मोह के बहाने रघुनाथजी ने आप को यहाँ भेज कर मुझे बड़ाई दी है ॥२॥

मोह के बहाने रघुनाथजी ने आप को यहाँ भेज कर मुझे बड़प्पन दिया 'कैतवापह्नुति अलंकार' है।

तुम्ह निज मोह कहा खगसाँई। सो नहिँ कछु आचरज गोसाँई ॥
नारद भव बिरञ्चि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी ॥३॥

हे पक्षिराज! आप ने अपना मोह कहा, स्वामिन्! वह कुछ आश्चर्य नहीं है। नारद, शिव, ब्रह्मा और सनकादिक मुनीश्वर जो आत्मज्ञानी हैं ॥३॥

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥
तृष्ना केहि न कीन्ह बौरहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिँ दहा ॥४॥

मोह ने किस को किस को अन्धा नहीं किया, ऐसा कौन संसार में है जिसको कामदेव ने न नचाया हो? तृष्णा किसको पागल नहीं किया? क्रोध ने किसके हृदय को नहीं जलाया? ॥४॥

दो०–ज्ञानी तापस सूर कबि, कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडम्बना, कीन्हि न एहि संसार ॥

ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, विद्वान और गुणनिधान की इस संसार में लोभ ने किसकी फजीहत नहीं कर डाला है? ।

श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर, को अस लाग न जाहि ॥७०॥

लक्ष्मी के घमण्ड ने किस को टेढ़ा नहीं किया? बड़ाई पा कर कौन नहीं बहिरा हो गया? मृग-नयनी के नेत्र रूपी बाण कौन ऐसा है जिसको न लगा हो? ॥७०॥

चौ०--गुनकृत सन्यपात नहिँ केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥
जोबन ज्वर केहि नहिँ बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥१॥

गुणों का किया हुआ सन्निपात (त्रिदोष-ज्वर) किस को नहीं हुआ? अभिमान और मद को त्याग कर कोई पार नहीं गया। जवानी रूपी ज्वर ने किस को नहीं उबाल दिया और ममत्व ने किस के यश का नाश नहीं किया? ॥१॥

मच्छर काहि कलङ्क न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिन्ता साँपिन को नहिँ खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥२॥

मत्सर (ईर्ष्या-डाह) किस को कलङ्क नहीं लगाया? शोक रूपी वायु ने किस को नहीं हिलाया? चिन्ता रूपी साँपिन ने किस को नहीं काट खाया? कौन ऐसा प्राणी संसार में है जिसको माया न व्यापी हो? ॥२॥

कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥३॥

शरीर रूपी काठ में मनोरथ रूपी कीड़ा-घुन जिस को न लगा हो ऐसा कौन साहसी है? पुत्र, धन और जन इन तीनों की प्रबल इच्छा ने किस की बुद्धि को मलिन नहीं किया? ॥३॥

यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥४॥

यह सब अनन्त प्रबल माया के कुटुम्ब को वर्णन करके कौन पार पा सकता है? शिवजी और ब्रह्माजी जिसको डरते हैं, फिर दूसरे जीव किस गिनती में हैं? ॥४॥

जिसको ब्रह्मा शिव डरते हैं, उसके सामने अन्य प्राणी किस गणना में हैं अर्थात् वे तो डरे डराये हैं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

दो०--ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाखंड॥

माया की भयानक सेना संसार में फैली हुई है, उसके काम, क्रोध, लोभ सेनापति हैं और अभिमान, छल, पाखण्ड आदि योद्धा हैं।

सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि॥७१॥

वह माया रघुनाथजी की दासी है और समझ लेने पर वह निश्चय झूठी है। काग-भुशुण्डजी कहते हैं—हे नाथ! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि बिना रामचन्द्रजी की कृपा के छूट नहीं सकती॥७१॥

चौ०--जो माया सब जगहि नचावा । जासु चरित लखि काहु न पावा ॥
सो प्रभु भ्रू बिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ॥१॥

जो माया सम्पूर्ण जगत को नचाती है, जिसकी लीला किसी ने लख नहीं पाई । हे खग-राज ! प्रभु रामचन्द्रजी के भौंह के इशारे से वही माया अपने समाज के सहित नर्तकी (नाचनेवाली नटिन) की तरह नाचती है ॥१॥

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा । अज बिज्ञान रूप बल धामा ॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनन्ता । अखिल अमोघशक्ति भगवन्ता ॥२॥

वही सत्-चित्-आनन्द के राशि, अजन्मे, विज्ञान स्वरूप, बल के स्थान रामचन्द्रजी हैं । सर्वत्र फैले हुए, सब में व्यापनेवाले, अविच्छिन्न, अपार सर्वाङ्गपूर्ण अव्यर्थ पराक्रमवाले और षड़ैश्वर्य्य युक्त हैं ॥२॥

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता । सब दरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरञ्जन सुख सन्दोहा ॥३॥

निर्गुण अनन्त, वाणी और इन्द्रियों से परे, सब देखनेवाले, निर्दोष और अजीत हैं । निर्मल, आकार रहित, निर्मोह, नित्य, माया से परे और सुख के राशि हैं ॥३॥

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी प्रकृतियों से परे, सब के हृदय में बसनेवाले, परब्रह्म, निस्पृह, अक्रोध और अविनाशी हैं । यहाँ मोह का कारण नहीं है, क्या कभी सूर्य्य के सामने अन्धकार आता है । (कदापि नहीं) ॥४॥

दो०--भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥

भगवान प्रभु रामचन्द्रजी ने भक्तों के कारण राजा का शरीर धारण किया और अत्यन्त पवित्र चरित्र मामूली मनुष्यों के अनुसार किये ।

जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥७२॥

जैसे अनेक रूप धर कर कोई नट (बहुरूपिया) नाच करे और वही वही भाव दिखावे, परन्तु वह स्वयम् (रूप धारण किया हुआ व्यक्ति) नहीं हो जाता ॥७२॥

चौ०--असि रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहनि जन सुखकारी ॥
जे मति मलिन बिषय बस कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥१॥

हे गरुड़जी ! रघुनाथजी की लीला ऐसी है कि राक्षसों को विशेष मोहित करनेवाली और

भक्तों को सुख देनेवाली है। जो बुद्धि के मैले, विषयाधीन और कामी हैं, हे स्वामिन्! वे स्वामी रामचन्द्रजी पर इस तरह अज्ञान का आरोपण करते हैं ॥१॥

एक रघुनाथजी की लीला राक्षसों को अज्ञान उत्पन्न करती और भक्तों को सुख देती है। वस्तु एक ही, कार्य्य विपरीत भिन्न भिन्न 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

नयन-दोष जा कहँ जब होई। पीतबरन ससि कहँ कह सोई ॥
जब जेहि दिसि-भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा ॥२॥

जब जिसके नेत्र में विकार (कमल रोग) हो जाता है, तब वह चन्द्रमा को पीले रङ्ग का कहता है। हे पक्षिराज! जब जिसको दिग्भ्रम होता है, तब वह सूर्य्य को पश्चिम उदय हुआ कहता है ॥२॥

नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी ॥३॥

नाव पर चढ़ कर यात्रा करनेवाला संसार को चलता हुआ देखता है और अज्ञान वश अपने को स्थिर समझता है। लड़के घूमते हैं; किन्तु घर आदि नहीं घूमते, पर वे आपस में मिथ्या बातें कहते हैं कि देखो—वह घर वृक्षादि घूम रहे हैं ॥३॥

हरि बिषइक अस मोह बिहङ्गा। सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसङ्गा ॥
माया बस मतिमन्द अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी ॥४॥

हे पक्षिश्रेष्ठ! भगवान के विषय का ऐसा ही अज्ञान है, वहाँ सपने में भी अज्ञान की बात नहीं है। मायाधीन, मन्दबुद्धि, अभागे मनुष्य जिनके हृदय पर बहुत तरह (धन, पुत्र, कलत्रादि) के पड़दे पड़े हैं ॥४॥

ईश्वर के रूप को यथार्थ न पहचानने के लिये प्रबल कारण माया का वशवर्ती होना है। साथ ही नीचबुद्धिता, दुर्भाग्य और हृदय पर नाना तरह के परदे, अन्य हेतुओं का भी उपस्थित रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है।

ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥५॥

वे मूर्ख दुराग्रह वश सन्देह करते हैं और अपना अज्ञान रामचन्द्रजी पर आरोपण करते हैं ॥५॥

दो०--काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुखरूप ।
ते किमि जानहिँ रघुपतिहि, मूढ़ परे तमकूप ।

जो काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर, गृह कार्यों में लिप्त, दुःख के रूप हैं। वे मूर्ख रघुनाथजी को कैसे जान सकते हैं जो अँधेरे कुएँ में पड़े हैं।

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिँ कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥७३॥

भगवान का निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है और सगुण रूप को कोई जानता ही नहीं।

निर्गुण रूप सुगम और सगुण रूप दुर्गम (होने के सम्बन्ध में) नाना प्रकार के चरित्र (घटनाओं) को सुन कर मुनियों के मन में भ्रम हो जाता है ॥७३॥

जब मुनियों के मन में भ्रम हो जाता है, तब अन्य प्राणी क्या चीज़ हैं ? वे तो भूले भुलाये हैं 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है। निर्गुण रूप इसलिये सुगम है कि वह एक रस रहता है, ईश्वर को सभी जानते हैं। सगुण रूप इसलिये दुर्गम है कि नाना चरित सुख दुःख से प्रसन्न होना और रोना विलाप करना, शत्रु मान कर एक को दण्ड देना और मित्र मान कर दूसरे का आदर सत्कार करना इत्यादि बातों को सुन कर मुनियों को भ्रम होना, इसी से ईश्वर का सगुण रूप जानना कठिन है।

चौ०–सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई॥
जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सो सब कथा सुनावउँ तोही॥१॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज! सुनिये, रघुनाथजी की महिमा की सुहावनी कथा मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ। हे स्वामिन्! जिस प्रकार मुझे मोह हुआ था, वह सब वृत्तान्त आप को सुनाता हूँ ॥१॥

राम-कृपा-भाजन तुम्ह ताता। हरिगुन प्रीति मोहि सुख दाता॥
ताते नहिँ कछु तुम्हहिँ दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥२॥

हे तात! आप रामचन्द्रजी के कृपापात्र हैं, आप की भगवान के गुणों में प्रीति है और मुझे आनन्द देनेवाले हैं। इस लिए मैं आप से कुछ न छिपाऊँगा, अत्यन्त गुप्त (जो किसी को मालूम नहीं है, मनोहर कथा कहता हूँ ॥२॥

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिँ काऊ॥
संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥३॥

रामचन्द्रजी की स्वाभाविक आदत सुनिये कि वे सेवकों के हृदय में अभिमान कभी नहीं रहने देते, क्योंकि संसार की जड़, नाना प्रकार के दुःखों का देनेवाला और सम्पूर्ण शोकों का प्रदान करनेवाला अहङ्कार ही है ॥३॥

ताते करहिँ कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसुतन ब्रन होइ गुसाँई। मातु चिराव कठिन की नाँई॥४॥

इसलिए कृपानिधान रामचन्द्रजी उस से दूर करते हैं कि सेवकों पर उनकी बहुत बड़ी प्रीति रहती है। हे स्वामिन्! जैसे बालक के शरीर में फोड़ा होता है, उसको कठिनता की भाँति (गोद में लेकर उसकी) माता चिरवाती है ॥४॥

दो०–जदपि प्रथम दुख पावइ, रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी, गनत न सो सिसु पीर॥

यद्यपि पहले बालक दुःख पाता है और अधीर होकर रोता है, तो भी रोग नाश होने के विचार से माता लड़के की उस पीड़ा को नहीं गिनती।

तिमि रघुपति निजदास कर, हरहिं मान हित लागि ।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजसि भ्रम त्यागि ॥७४॥

उसी प्रकार रघुनाथजी भलाई के लिये अपने दासों का अभिमान दूर लेते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि तू ऐसे स्वामी को भ्रम त्याग कर काहे नहीं भजता ? ॥७४॥

चौ०–राम कृपा आपनि जड़ताई । कहउँ खगेस सुनहु मन लाई ॥
जब जब राम मनुज तनु धरहीं । भगत हेतु लीला बहु करहीं ॥१॥

हे खगनाथ ! रामचन्द्रजी की कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये। जब जब रामचन्द्रजी मनुष्य का शरीर धारण करते हैं और भक्तों के कारण बहुत सी लीलायें करते हैं ॥१॥

तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ । बालचरित बिलोकि हरषाऊँ ॥
जनम-महोत्सव देखउँ जाई । बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई ॥२॥

तब तब मैं अयोध्यापुरी में जाता हूँ और बाललीला देखकर प्रसन्न होता हूँ। जा कर जन्ममहोत्सव देखता हूँ और पाँच वर्ष तक वहाँ लुभाया रहता हूँ ॥२॥

इष्टदेव मम बालक रामा । सोभा बपुष कोटिसत कामा ॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी । लोचन सफल करउँ उरगारी ॥३॥

बालक रूप रामचन्द्रजी जिनके शरीर की शोभा अरबों कामदेव के समान है, वे मेरे इष्टदेव हैं। हे गरुड़जी ! अपने स्वामी का मुख देख देख कर आँखों को सफल करता हूँ ॥३॥

लघु बायस बपु धरि हरि सङ्गा । देखउँ बालचरित बहु रङ्गा ॥४॥

छोटे काए का शरीर धर कर भगवान के साथ बहुत तरह की बाललीला देखता हूँ ॥४॥

दो०–लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ सङ्ग उड़ाउँ ।
जूठन परइ अजिर महँ, सो उठाइ करि खाउँ ॥

लड़कपन में जहाँ जहाँ फिरते हैं, वहाँ वहाँ मैं भी साथ में उड़ता हूँ। आँगन में जो उनका जूठन पड़ता है, वह उठा कर खाता हूँ।

एक बार अतिसय सब, चरित किये रघुबीर ।
सुमिरत प्रभु लीला सोइ, पुलकित भयउ सरीर ॥७५॥

एक बार रघुनाथजी ने अत्यन्त (अचरजमय) सब चरित किये। प्रभु रामचन्द्रजी की उस लीला को स्मरण कर कागभुशुण्ड का शरीर पुलकायमान हुआ ॥७५॥

चौ०–कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक । रामचरित सेवक सुखदायक ॥
नृप मन्दिर सुन्दर सब भाँती । खचित कनकमनि नाना जाती ॥१॥

कागभुशुण्डिजी कहते हैं—हे पक्षिराज ! सुनिये, रामचरित सेवकों को आनन्द प्रदान

करता है। राजमहल सब तरह सुन्दर है, वह सुवर्ण और नाना जाति की मणियों से जड़ा है ॥१॥

बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई ॥
बाल-बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई ॥२॥

सुन्दर अँगनाई वर्णन नहीं की जा सकती जहाँ नित्य चारों भाई खेलते हैं। रघुनाथजी बाललीला करते हैं, आँगन में विचरण कर माताओं को सुख देते हैं ॥२॥

मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अङ्ग अङ्ग प्रति छबि बहु कामा ॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदुज रुचिर नख ससि दुति हरना ॥३॥

नीलमणि के समान श्याम रङ्ग कोमल शरीर है, प्रत्येक अङ्गों में बहुत से कामदेव की छवि विराजमान है। नवीन कमल के समान लाल कोमल चरण हैं और सुन्दर अँगुलियों के नख चन्द्रमा की कान्ति को हरनेवाले हैं ॥३॥

ललित अङ्क कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रव कारी ॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किङ्किनि कल मुखर सुहाई ॥४॥

चरणों में वज्र, अङ्कुश, ध्वज और कमल चारों के मनोहर चिह्न और सुन्दर मधुर शब्द करनेवाले नूपुर शोभित हैं। कमर में सोने की शोभायमान करधनी मणियों से जड़ी हुई बनी है, जिसमें सुहावनी ध्वनि हो रही है ॥४॥

दो०--रेखा त्रय सुन्दर उदर, नाभि रुचिर गम्भीर ।
उर आयत भ्राजत बिबिध, बाल-बिभूषन चीर ॥७६॥

पेट में सुन्दर तीन रेखाएँ पड़ी हैं और नाभि (ढोंढ़ी) गहरी एवम् मनोहर है। विशाल वक्षस्थल पर बालकों के गहने और कपड़े अनेक भाँति के शोभायमान हैं ॥७६॥

चौ०--अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर ॥
कन्ध बाल केहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ ॥१॥

लाल हाथों की अँगुलियाँ और नख मनोहर हैं, विशाल बाहुओं में सुन्दर आभूषण शोभित हैं। सिंह के बच्चे के समान कन्धा और शङ्ख के बराबर गला है, सुन्दर ठोढ़ी और मुख शोभा की अवधि है ॥१॥

कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे ॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा ॥२॥

तोतरे वचन, लाल ओंठ और सुन्दर सफेद बालपन के दो दो दाँत निकले हैं। शोभन गाल, मनोहर नासिका और सम्पूर्ण सुखों की देनेवाली चन्द्रमा की किरण के समान हँसी है ॥२॥

नील कञ्ज लोचन भव मोचन । भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ॥
बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाये । कुञ्चित कच मेचक छबि छाये ॥३॥

नील कमल के समान नेत्र संसार-बन्धन से छुड़ानेवाले हैं, गोलोचन का तिलक माथे पर शोभायमान है । टेढ़ी भौंह, सुहावने बराबर कान और काले घूँघरवाले बाल छवि के स्थान हैं ॥३॥

पीत झीनि झँगुली तन सोही । किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूपरासि नृप अजिर बिहारी । नाचहिँ निज प्रतिबिम्ब निहारी ॥४॥

पीली पतले वस्त्र की अँगरखी शरीर पर शोभायमान है, उनकी किलकारी और चितवन मुझे भाती है । राजा के आँगन में विहरनेवाले रूप के राशि रामचन्द्रजी अपनी परछाहीं देख कर नाचते हैं ॥४॥

मोसन करहिँ बिबिध बिधि क्रीड़ा । बरनत चरित होत मोहि ब्रीड़ा ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिँ । चलउँ भागि तब पूप देखावहिँ ॥५॥

मुझ से नाना प्रकार का खेल करते हैं, वह चरित वर्णन करते हुए मुझे लज्जा हो रही है । जब मुझे किलकारी मार कर पकड़ने के लिये दौड़ते हैं और मैं भाग चलता हूँ तब पुआ दिखाते हैं ॥५॥

दो०—आवत निकट हँसहिँ प्रभु, भाजत रुदन कराहिँ ।
जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितइ पराहिँ ॥

प्रभु रामचन्द्रजी मेरे समीप जाने पर हँसते थे और मैं भागता था तब रोने लगते थे । मैं पाँव पकड़ने की इच्छा से पास में जाता था तब बार बार मुझे निहारते हुए भागते थे ।

प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भयउ मोहि मोह ।
कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानन्द सन्दोह ॥७७॥

साधारण बालक की तरह खेलवाड़ करते देख कर मुझे मोह उत्पन्न हुआ कि प्रभु रामचन्द्रजी चैतन्य और आनन्द के राशि (परब्रह्म) हैं, यह कौन सा चरित्र करते हैं ? ॥७७॥

चौ०—एतना मन आनत खगराया । रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं । आन जीव इव संसृति नाहीं ॥१॥

हे पक्षिराज ! इतना मन में लाते ही रघुनाथजी की प्रेरणा से मुझे माया व्याप गई । वह माया मुझ को दुखदाई नहीं हुई, अन्य जीवों की तरह संसार में पतित करनेवाली नहीं हुई ॥१॥

जो माया जीवमात्र को संसार में गिरा कर नाना दुःख देती है, वह रघुनाथजी की प्रेरणा से मुझे दुखदाई नहीं हुई 'विशेषक अलंकार' है ।

नाथ इहाँ कछु कारन आना । सुनहु सो सावधान हरिजाना ॥
ज्ञान अखंड एक सीताबर । माया बस्य जीव सचराचर ॥२॥

हे नाथ, विष्णु के वाहन ! यहाँ कुछ दूसरा ही कारण है, वह सावधान हो कर सुनिए । अखण्ड ज्ञानी एक सीता नाथ ही हैं, जड़ और चेतन जीवमात्र माया के अधीन हैं ॥२॥

जैाँ सब के रह ज्ञान एकरस । ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस ॥
माया बस्य जीव अभिमानी । ईस बस्य माया गुन खानी ॥३॥

यदि सब को एक समान ज्ञान रहे, तब कहिए ईश्वर और जीव का भेद कैसा ? वह अभिमानी जीव माया के अधीन है वह गुणों की खान माया ईश्वर के वश में है ॥३॥

परबस जीव स्वबस भगवन्ता । जीव अनेक एक श्रीकन्ता ॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥४॥

जीव पराधीन है और ईश्वर स्वाधीन हैं, जीव असंख्यों हैं पर, नारायण अकेले ही हैं । यद्यपि माया का किया हुआ बिलगाव मिथ्या है, किन्तु बिना भगवान की कृपा के करोड़ों उपाय करने पर नहीं जाता ॥४॥

दो०—रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान ।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान ॥

जो बिना रामचन्द्रजी का भजन किये मोक्ष-पद चाहता है, ज्ञानी होने पर भी वह मनुष्य बिना पूँछ और सींग का पशु है ॥

राकापति षोड़स उअहिँ, तारागन समुदाइ ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रबि राति न जाइ ॥७८॥

पूर्णिमा के सोलह चन्द्रमा उदय हों और असंख्यों तारागण उगें, सम्पूर्ण पर्वतों में आग लगा दी जाय, पर बिना सूर्य्य के रात्रि नहीं दूर होती ॥७८॥

चौ०—ऐसेहि बिनु हरिभजन खगेसा । मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ॥
हरिसेवकहि न ब्याप अबिद्या । प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या ॥१॥

हे खगनाथ ! इसी तरह बिना भगवान का भजन किये जीवों का क्लेश नहीं मिटता । हरिसेवकों को अविद्या माया नहीं व्यापती, प्रभु रामचन्द्रजी की आज्ञा से उनको विद्या माया व्यापती है ॥१॥

तातेँ नास न होइ दास कर । भेदभगति बाढ़इ बिहङ्ग बर ॥
भ्रम तेँ चकित राम मोहि देखा । बिहँसे सो सुनु चरित बिसेखा ॥२॥

हे पक्षिश्रेष्ठ ! इससे दासों का नाश नहीं होता (जीव को दास और ईश्वर को स्वामी समझना, इस) भेद से भक्ति बढ़ती है । रामचन्द्रजी मुझे भ्रम से चकपकाया देख कर हँसे, उस विशेष चरित को सुनिये ॥२॥

तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू॥
जानुपानि धाये मोहि धरना। स्यामलगात अरुन कर चरना॥३॥

उस कुतूहल के भेद को छोटे भाई माता-पिता किसी ने भी नहीं जाना। श्यामल शरीर, लाल हाथ और चरणवाले रामचन्द्रजी घुटने और हाथ के बल से मुझे पकड़ने को दौड़े॥३॥

तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ हरि भुज देखउँ निज पासा॥४॥

हे गरुड़जी! तब मैं भाग चला और रामचन्द्रजी ने पकड़ने के लिये बाँह फैलाई। ज्यों ज्यों मैं आकाश में दूर उड़ता जाता था, वहाँ भगवान की भुजा अपने पास ही देखता था॥४॥

दो०-ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं, चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अङ्गुल कर बीच सब, राम भुजहि मोहि तात॥

मैं ब्रह्मा के लोक तक गया और उड़ते ही मैं पीछे देखा तो हे तात! रामचन्द्रजी की भुजा से और मुझ से सब दो अंगुल का अन्तर था।

राजमहल से लेकर सम्पूर्ण आकाश में ब्रह्मधाम पर्य्यन्त रामचन्द्रजी की भुजाओं का वर्णन 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

सप्तावरन भेद करि, जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि, ब्याकुल भयउँ बहोरि॥७९॥

सातों परदों को भेद कर जहाँ तक मेरी गति थी गया, वहाँ भी प्रभु की भुजाओं को देख कर फिर मन में विकल हुआ (कि अब कहाँ जाऊँ)॥७९॥

जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्व और प्रकृति, यही सातों आवरण (घेरे) हैं।

चौ०-मूँदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥१॥

जब मैं भयभीत हुआ तब आँख बन्द कर ली, फिर चितवते ही अयोध्यापुरी में गया। मुझे देख कर रामचन्द्रजी मुस्कुराने लगे हँसते ही तुरन्त मैं उनके मुख में चला गया॥१॥

उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक तेँ एका॥२॥

हे पक्षिराज! सुनिये, उदर में बहुत से ब्रह्माण्डों के समूह मैं ने देखा। वहाँ अत्यन्त विलक्षण असंख्यों लोक जिनकी रचना एक से एक बढ़ कर है॥२॥

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा । अगनित उडुगन रबि रजनीसा ॥
अगनित लोकपाल जम काला । अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥३॥

करोड़ों ब्रह्मा, शिव और असंख्यों तारागण, सूर्य्य, चन्द्रमा, अनगिनती लोकपाल, यमराज, काल और बे-शुमार विशाल पर्वत तथा धरती ॥३॥

सागर सरि सर बिपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर । चारि प्रकार जीव सचराचर ॥४॥

समुद्र, नदी, तालाब, वन और नाना प्रकार लोक रचना का विस्तार, देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, मनुष्य, किन्नर और चारों खानि के जड़ चेतन जीव ॥४॥

दो०—जो नहिँ देखा नहिँ सुना, जो मनहूँ न समाइ ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ ॥

जो कभी नहीं देखा, न सुना और जो मन में भी नहीं समाता, वह सब अद्भुत देखा, उसका वर्णन किस तरह किया जाय ?

एक एक ब्रह्मांड महँ, रहेउँ बरष सत एक ।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं, अंडकटाह अनेक ॥८०॥

एक एक ब्रह्माण्ड में एक एक सौ वर्ष पर्यन्त मैं रहा। इस प्रकार असंख्यों लोकमण्डलों को देखता फिरा ॥८०॥

इस प्रकरण में कागभुशुण्डजी का आश्चर्य्य स्थायीभाव है जो कि रामचन्द्रजी के उदर में प्रवेश करने से उत्पन्न हुआ है। इसलिये यह आलम्बन विभाव है। ब्रह्मा, शिव, लोकपाल, यम, काल, नदी, तालाब, समुद्र, पर्वत, वन, देवता, नागादि को भिन्नभिन्न प्रकार असंख्यों देखना उद्दीपन विभाव है। इस अनन्त महिमा को देख कर मुख से बाहर होने पर धरती पर पड़ कर दण्डवत करना, रक्षा के लिये पुकारना अनुभाव है। मोह, त्रास आदि सञ्चारीभावों से पुष्ट होकर 'अद्भुत रस' हुआ है।

चौ०—लोकलोकप्रति भिन्न बिधाता । भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसि त्राता ॥
नर गन्धर्ब भूत बेताला । किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला ॥१॥

प्रत्येक लोकों में भिन्न भिन्न ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मनु, दिगपाल, मनुष्य, गन्धर्व, भूत, बेताल, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी और सर्प ॥१॥

देव दनुज गन नाना जाती । सकल जीव तहँ आनहिँ भाँती ॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना । सब प्रपञ्च तहँ आनहिँ आना ॥२॥

देवता, दैत्यगण नाना जाति के सम्पूर्ण जीव वहाँ और ही तरह हैं। धरती, नदी, सिन्धु, तालाब और अनेक प्रकार के पर्वत सारी सृष्टि वहाँ और ही और है ॥२॥

यहाँ सभी वस्तुओं का और ही और होना वर्णन 'भेदकातिशयोक्ति अलंकार' है।

अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा । देखउँ जिनिस अनेक अनूपा ॥
अवधपुरी प्रति भुवन निहारी । सरजू भिन्न भिन्न नर नारी ॥३॥

हर एक ब्रह्माण्ड में अपना रूप अनेक प्रकार का अनुपम देखा । प्रत्येक लोकों में अयोध्यापुरी, सरयूनदी और स्त्री-पुरुष भिन्न भिन्न तरह अवलोकन किया ॥३॥

दसरथ कौसल्या सुनु ताता । बिबिध रूप भरतादिक भ्राता ॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा । देखेउँ बालबिनोद उदारा ॥४॥

हे तात ! सुनिये, दशरथ, कौशल्या और भरत आदि को अनेक रूप में देखा । प्रत्येक ब्रह्माण्ड में रामचन्द्रजी का जन्म और श्रेष्ठ बालक्रीड़ा देखी ॥४॥

दो०-भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरिजान ।
अगनित भुवन फिरउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन ॥

हे विष्णु वाहन, स्वामिन् ! मैं ने सब अत्यन्त विलक्षण और ही और प्रकार के देखे । असंख्यों लोकों में फिरा, परन्तु रामचन्द्रजी को दूसरे रूप में नहीं देखा ।

सोइ सिसुपन सोइ सोभा, सोइ कृपाल रघुबीर ।
भुवन भुवन देखत फिरउँ, प्रेरित मोह समीर ॥८१॥

वही लड़कपन, वही शोभा, उन्हीं कृपालु रघुनाथजी को लोक लोकान्तरों में मोह रूपी वायु की प्रेरणा से मैं देखता फिरा ॥८१॥

चौ०-भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका । बीते मनहुँ कलप सत एका ॥
फिरत फिरत निज आस्रम आयउँ । तहँ पुनि रहि कछु काल गँवायउँ ॥१॥

मुझे असंख्यों ब्रह्माण्ड में घूमते हुए मानों एक कल्प बीत गये । फिरते फिरते अपने आश्रम में आया, फिर वहाँ रह कर कुछ समय व्यतीत किया ॥१॥

निज प्रभु जनम अवध सुनि पायउँ । निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ ॥
देखेउँ जनम-महोत्सव जाई । जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई ॥२॥

अपने स्वामी का जन्म अयोध्या में सुन पाया, प्रेम से परिपूर्ण प्रसन्न हो कर उठ दौड़ा । जा कर जन्ममहोत्सव देखा, जिस तरह पहले मैं ने गा कर कहा है ॥२॥

राम उदर देखेउँ जग नाना । देखत बनइ न जाइ बखाना ॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना । मायापति कृपाल भगवाना ॥३॥

रामचन्द्रजी के पेट में अनेक जगत देखा, वह देखते ही बनता था वर्णन नहीं किया जा सकता । फिर वहाँ सुजान, माया के स्वामी, भगवान रामचन्द्रजी को देखा ॥३॥

करउँ बिचार बहोरि बहोरी । मोह कलिल ब्यापित मति मोरी ॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा । भयउ भ्रमित मन मोह बिसेखा ॥४॥

बार बार मैं विचार करता था कि मेरी बुद्धि घने मोह में फँसी है । दो घड़ी में यह सब मैं ने देखा, अज्ञान की विशेषता से मन थक गया (मालूम होता था कि सैकड़ों कल्प भटकते हुए बीत गये) ॥४॥

दो०—देखि कृपाल बिकल मोहि, बिहँसे तब रघुबीर ।
बिहँसतही मुख बाहेर, आयउँ सुनु मतिधीर ॥

तब कृपालु रघुनाथजी मुझे व्याकुल देख कर हँसे, हे धीरबुद्धि ! सुनिये, हँसते ही मैं मुख के बाहर आ गया ।

सोइ लरिकाई मोसन, करन लगे पुनि राम ।
कोटि भाँति समुझावउँ, मन न लहइ बिस्राम ॥८२॥

वही लड़कपन फिर रामचन्द्रजी मुझ से करने लगे, करोड़ों तरह से मन को समझाता हूँ, पर चैन नहीं मिलता है ॥८२॥

चौ०—देखि चरित यह सो प्रभुताई । समुझत देह दसा बिसराई ॥
धरनि परेउँ मुख आव न बाता । त्राहि त्राहि आरत जन त्राता ॥१॥

यह चरित्र देख कर और महिमा समझ कर मुझे देह की दशा भुला गई । मुख से बात नहीं निकलती, यह कह कर कि—हे दुखीजनों के रक्षक ! मेरी रक्षा कीजिये, मुझे बचाइये, धरती पर गिर पड़ा ॥१॥

प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी । निज माया प्रभुता तब रोकी ॥
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ । दीनदयाल सकल दुख हरेऊ ॥२॥

प्रभु रामचन्द्रजी ने मुझे प्रेम-विह्वल देख कर तब अपनी माया की प्रभुता को रोका । करकमल को स्वामी ने मेरे सिर पर रक्खा और दीनदयाल ने मेरा सम्पूर्ण दुःख हर लिया ॥२॥

कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा । सेवक सुखद कृपा सन्दोहा ॥
प्रभुता प्रथम बिचारि बिचारी । मन महँ होइ हरष अति भारी ॥३॥

सेवकों को सुख देनेवाले, दया की राशि रामचन्द्रजी ने मुझे मोह से रहित कर दिया । प्रथम की महिमा समझ समझकर बड़ा आनन्द होने लगा ॥३॥

भगतबछलता प्रभु के देखी । उपजी मम उर प्रीति बिसेखी ॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी । कीन्हेउँ बहु बिधि बिनय बहोरी ॥४॥

प्रभु रामचन्द्रजी की भक्त-वत्सलता देख कर मेरे हृदय में बड़ी प्रीति उत्पन्न हुई । नेत्रों में जल भर आया, पुलकित शरीर से हाथ जोड़ कर फिर बहुत प्रकार की विनती की ॥४॥

दो०—सुनि सप्रेम मम बानी । देखि दीन निज दास ।
वचन सुखद गम्भीर मृदु, बोले रमानिवास ॥

मेरी प्रेम भरी वाणी सुन कर और अपने दास को दुखी देख कर लक्ष्मीकान्त भगवान् रामचन्द्रजी कोमल गम्भीर सुखदायक वचन बोले ।

कागभुसुंडी माँगु बर, अति प्रसन्न मोहि जानि ॥
अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि ॥८३॥

हे कागभुशुण्डी ! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जान कर तू वर माँग । अणिमा आदि सिद्धियाँ, अन्य ऋद्धियाँ और सम्पूर्ण सुखों की खानि मोक्ष ॥८३॥

चौ०—ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना । सुरदुर्लभ गुन जे जग जाना ॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं । माँगु जो तोहि भाव मन माहीं ॥१॥

ज्ञान, विचार, वैराग्य, विज्ञान और जिन गुणों को संसार देवताओं को दुर्लभ समझता है । आज मैं सब दूँगा इसमें सन्देह नहीं, जो तुझे मन में अच्छा लगे माँग ले ॥१॥

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ । मन अनुमान करन तब लागेउँ ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥२॥

प्रभु के वचन सुन कर मैं अधिक प्रेम में मग्न हो तब मन में अनुमान करने लगा कि स्वामी ने मुझे सम्पूर्ण सुख देने को कहा सही, परन्तु अपनी भक्ति देने के लिये नहीं कहा ॥२॥

भगति हीन गुन सब सुख कैसे । लवन बिना बहु ब्यञ्जन जैसे ।
भजन हीन सुख कवने काजा । अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥३॥

भक्ति रहित गुण और सब सुख कैसे फीके हैं, जैसे नमक के बिना बहुत प्रकार के व्यञ्जन । भजन विहीन सुख किस काम का ? हे खगराज ! ऐसा विचार कर मैं बोला ॥३॥

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू । मोपर करहु कृपा अरु नेहू ॥
मन-भावत बर माँगउँ स्वामी । तुम्ह उदार उर अन्तरजामी ॥४॥

हे प्रभो ! यदि मुझ पर आप कृपा और स्नेह करते हैं तथा प्रसन्न हो कर वर देते हैं । स्वामिन् ! मैं मन में सुहानेवाला वर माँगता हूँ, आप दानशील और हृदय की बात जानने-वाले हैं ॥४॥

दो०—अबिरल भगति बिसुद्ध तव, स्रुति पुरान जो गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥

आपकी अभिन्न (जो विरल न हो) पवित्र भक्ति जिसको वेद पुराण गाते हैं, जिसे योगीश्वर मुनि ढूँढ़ते हैं और स्वामी की कृपा से कोई पाते हैं ।

भगत-कलपतरु प्रनत हित, कृपासिन्धु सुखधाम ।
सोइ निजभगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम ॥८४॥

हे भक्तों के कल्पवृक्ष, शरणागतों के हितकारी, कृपा के समुद्र, सुख के स्थान, स्वामी रामचन्द्रजी ! वही अपनी भक्ति मुझे दया करके दीजिये ॥८४॥

चौ०--एवमस्तु कहि रघुकुलनायक । बोले बचन परम सुखदायक ॥
सुनु बायस तैं सहज सयाना । काहे न माँगसि अस बरदाना ॥१॥

रघुकुल के स्वामी ने ऐसा ही हो कह कर अत्यन्त सुखदायक वचन बोले । हे काग ! सुन, तू सहज चतुर है, क्यों न ऐसा वरदान माँगे ॥१॥

सब सुख खानि भगति तैं माँगी । नहिँ जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥
जो मुनि कोटि जतन नहिँ लहहीँ । जे जप जोग अनल तन दहहीँ ॥२॥

तू ने सब सुखों की खानि भक्ति माँगी, संसार में तेरे समान बड़ा भाग्यवान कोई नहीं है । जिसको मुनि लोग करोड़ों यत्न करके नहीं पाते, जो जप और योग की अग्नि में शरीर को जला डालते हैं ॥२॥

रीझेउँ देखि तोरि चतुराई । माँगेहु भगति मोहि अति भाई ॥
सुनु बिहङ्ग प्रसाद अब मोरे । सब सुभगुन बसिहहिँ उर तोरे ॥३॥

तेरी चतुराई देख कर मैं प्रसन्न हुआ, तू ने भक्ति माँगी यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी । हे पक्षी ! सुन, अब मेरी कृपा से सब शुभ-गुण तेरे हृदय में निवास करेंगे ॥३॥

भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा । जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥
जानब तैं सबही कर भेदा । मम प्रसाद नहिँ साधन खेदा ॥४॥

भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग, चरित्र और छिपे हुए रहस्य पृथक् पृथक् तू सभी के भेदों को जानेगा, मेरे अनुग्रह से साधना का कष्ट न होगा ॥४॥

दो०--मायासम्भव भ्रम सकल, अब न ब्यापिहहिँ तोहि ।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज, अगुन गुनाकर मोहि ॥

माया से उत्पन्न होनेवाले समस्त भ्रम अब तुझ को न व्यापेंगे । मुझे अनादि ब्रह्म, जन्म-रहित, निर्गुण और गुणों की खानि समझना ।

मोहि भगत प्रिय सन्तत, अस बिचारि सुनु काग ।
काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग ॥८५॥

हे काग ! सुन, मुझे भक्त सदा प्यारे हैं, ऐसा विचार कर शरीर वचन और मन से मेरे चरणों में अचल प्रेम करना ॥८५॥

चौ०-अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धान्त सुनावउँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥१॥

अब मेरी अत्यन्त निर्मल वाणी सुन, जो सत्य और सुगम वेद-शास्त्रों में कही है। मैं तुझ को अपना सिद्धान्त सुनाता हूँ, उसको सुन कर मन में धारण कर और सब त्याग कर मेरा भजन कर॥१॥

मम माया सम्भव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सब तें अधिक मनुज मोहि भाये॥२॥

यह संसार मेरी माया से उत्पन्न है, इसमें जड़ चेतन अनेक प्रकार के जीव हैं। वे सब मुझे प्रिय हैं; क्योंकि सब मेरे ही उपजाये हैं, उन जीवों में सब से अधिक मुझे मनुष्य अच्छे लगते हैं॥२॥

सभा की प्रति में 'मम माया सम्भव परिवारा' पाठ है, किन्तु यहाँ परिवार से कोई प्रयोजन नहीं है बात तो संसार की कहते हैं।

तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम-धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहु तें अति प्रिय बिज्ञानी॥३॥

उनमें ब्राह्मण, ब्राह्मणों में वेदज्ञ और उनमें जो वेदोक्त धर्म के अनुसार चलते हैं। उनमें वैराग्यवान प्यारे हैं, फिर विरक्तों में ज्ञानी और ज्ञानियों से विज्ञानी अत्यन्त प्रिय हैं॥३॥

तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥४॥

फिर उनसे मुझे अपने दास प्यारे हैं, जिन्हें मेरी गति के सिवाय दूसरे की आशा नहीं है। बार बार मैं तुझ से सत्य कहता हूँ कि सेवकों के समान मुझे कोई प्रिय नहीं है॥४॥

वर्णित वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष कथन है अर्थात् चराचर जीव सब मुझे प्रिय हैं, उनमें मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में वेदज्ञ, वेदज्ञों में वेद धर्मानुयायी, उनमें विरक्त, विरक्तों में ज्ञानी, ज्ञानियों में विज्ञानी और विज्ञानियों से बढ़ कर दास प्यारे हैं 'सार अलंकार' है।

भगति हीन बिरञ्चि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥५॥

भक्ति से रहित ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह सब जीवों के समान मुझे प्रिय है। भक्तिवान प्राणी अत्यन्त नीच ही क्यों न हो, मुझे प्राण के समान वह प्यारा है ऐसी मेरी आदत (स्वभाव) है॥५॥

दो०—सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग ।
सुति पुरान कह नीति असि, सावधान सुनु काग ॥८६॥

पवित्र, सुशील और सुन्दर मतिमान सेवक कहो किसको प्रिय नहीं लगता? हे काग! वेद पुराण ऐसी नीति कहते हैं तू सावधान होकर सुन ॥८६॥

चौ०—एक पिता के बिपुल कुमारा । होहिं पृथक गुन सील अचारा ॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता । कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता ॥१॥

एक पिता के बहुत से पुत्र भिन्न गुण, शील और आचरणवाले होते हैं। कोई पण्डित, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूरवीर और कोई दानी ॥१॥

कोउ सर्बज्ञ धर्म-रत कोई । सब पर पितहि प्रीति सम होई ॥
कोउ पितु-भगत बचन मन कर्मा । सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा ॥२॥

कोई सर्वज्ञ और कोई धर्म में तत्पर होते हैं; परन्तु पिता का प्रेम सब पर समान होता है। कोई पुत्र कर्म, मन, वचन से पिता का भक्त है, वह दूसरा धर्म सपने में भी नहीं जानता ॥२॥

सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना । जद्यपि सो सब भाँति अयाना ॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते । त्रिजग देव नर असुर समेते ॥३॥

वह पुत्र पिता को प्राण के समान प्यारा होता है, यद्यपि वह सब तरह से मूर्ख ही क्यों न हो? इस तरह तीनों लोकों में देवता, मनुष्य और दैत्यों के सहित जड़ चेतन जितने जीव हैं ॥३॥

अखिल बिस्व यह मम उपजाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया । भजहिं मोहि मन बच अरु काया ॥४॥

यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरा उत्पन्न किया है, सब पर मेरी बराबर दया रहती है। इन में जो अभिमान और छल छोड़ कर मन, वचन और शरीर से मुझे भजते हैं ॥४॥

दो०—पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ॥

पुरुष, नपुंसक, स्त्री वा जड़ चेतन जीवों में कोई हो, जो सब भाव (नाते) से कपट त्याग कर मुझे भजता है वही मेरा परम प्यारा है।

सो०—सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब ॥८७॥

हे पक्षी! मैं तुझ से सत्य कहता हूँ, पवित्र सेवक मुझे प्राण के समान प्यारे हैं। ऐसा विचार कर सब की आशा और भरोसा छोड़, तू मेरा भजन कर ॥८७॥

चौ०-कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरन्तर मोही॥
प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तन पुलकित मन अति हरषाऊँ॥१॥

तुझे कभी काल न व्यापेगा अर्थात् मृत्यु न होगी, मुझे निरन्तर भजना और स्मरण करना। प्रभु रामचन्द्रजी के वचन रूपी अमृत को सुन कर अघाता नहीं था, शरीर पुलकित हो गया, मन में बहुत प्रसन्न हुआ॥१॥

सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिँ रसना पहिँ जाइ बखाना॥
प्रभु सोभा सुख जानहिँ नयना। किमि कहि सकहिँ तिन्हहिँ नहिँ बयना॥२॥

उस सुख को मन और कान जानते हैं, किन्तु जीभ से कहा नहीं जा सकता। प्रभु रामचन्द्रजी की शोभा के आनन्द को आँखें जानती हैं, पर वे कह कैसे सकती हैं? उन्हें वाणी नहीं है॥२॥

शोभा न कह सकने के कारण को हेतुसूचक बात कह कर समर्थन करना जीभ कहने में समर्थ है उसे आँख नहीं जो देखा हो और आँखों ने देखा है पर उन्हें जीभ नहीं जो कह सकें। 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई॥
सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥३॥

बहुत तरह समझा कर मुझे सुख दिया, फिर वही बाल-क्रीड़ा करने लगे। आँखों में जल भर कर और मुख कुछ रूखा करके अत्यन्त भूख लगी; माता की ओर निहारने लगे॥३॥

देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई॥
गोद राखि कराव पय पाना। रघुबर चरित ललित कर गाना॥४॥

देख कर कोमल वचन कहती हुई माता तुरन्त उठ कर दौड़ीं और हृदय से लगा गोदी में ले कर दूध पिलाने लगीं और रघुनाथजी के सुन्दर बाल चरित्र को गान करती हैं॥४॥

सो०-जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ सन्तत मगन॥

जिस सुख में लग कर त्रिपुरारि-शिवजी अमङ्गल वेष किये रहने पर भी आनन्ददाता हैं। अयोध्यापुरी के स्त्री-पुरुष निरन्तर उसी सुख में मग्न हैं।

सोइ सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिँ गनहिँ खगेस, ब्रह्म-सुखहि सज्जन सुमति॥८८॥

उसी सुख का लवलेशमात्र जिन्हों ने एक बार सपने में भी पाया, हे पक्षिराज! सुन्दर मतिमान सज्जन (उसके समक्ष) ब्रह्मानन्द को कुछ नहीं समझते॥८८॥

चौ०--मैं पुनि अवध रहेउँ कछु काला। देखेउँ बाल-बिनोद रसाला॥
रामप्रसाद भगति-बर पायउँ। प्रभुपद बन्दि निजास्रम आयउँ॥१॥

फिर मैं ने कुछ काल अयोध्या में रह कर सुहावनी बाल क्रीड़ा देखी। रामचन्द्रजी की कृपा से भक्ति का वर पाया और स्वामी के चरणों की वन्दना करके अपने आश्रम में आया॥१॥

तब तें मोहि न ब्यापी माया। जब तें रघुनायक अपनाया॥
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरि माया जिमि मोहि नचावा॥२॥

जब से रघुनाथजी ने अपनाया, तब से मुझे माया नहीं व्यापी। यह सब छिपा हुआ चरित्र मैं ने कहा है, जिस तरह भगवान की माया ने मुझे नचायो था॥२॥

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहिँ कलेसा॥
राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥३॥

हे खगनाथ! अब मैं अपना अनुभव (वह ज्ञान जो साक्षात करने से प्राप्त हो) कहता हूँ कि बिना भगवान के भजन के क्लेश नहीं दूर होता। हे गरुड़जी! सुनिये, रामचन्द्रजी की कृपा के बिना रामचन्द्रजी की महिमा जानी नहीं जाती॥३॥

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिँ प्रीती॥
प्रीति बिना नहिँ भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥४॥

बिना जाने विश्वास नहीं होता, बिना विश्वास के प्रीति नहीं होती। प्रीति के बिना भक्ति में दृढ़ता नहीं आती, हे गरुड़जी! जैसे जल की चिकनाई नहीं टिकती॥४॥

रामचन्द्रजी की महिमा का जानना विश्वास उत्पन्न होने का कारण है। विश्वास प्रीति उपजाने का कारण है। प्रीति भक्ति दृढ़ करने का कारण है। कारण से कार्य प्रकट हो कर बार बार कारण हो जाना 'कारणमाला अलंकार है'। चिकनाहट गुण तेल का है, जल का नहीं

सो०--बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिँ बेद पुरान, सुख कि लहिय हरिभगति बिनु॥

क्या बिना गुरु के ज्ञान होता है? क्या बिना ज्ञान के वैराग्य हो सकता है? वेद और पुराण गाते हैं कि क्या बिना रामभक्ति के जीव को सुख मिलता है?

कोउ बिस्राम कि पाव। तात सहज सन्तोष बिनु।
चलइ कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिय॥८९॥

हे तात! क्या कोई स्वाभाविक सन्तोष के बिना सुख पा सकता है? करोड़ों उपाय पूर्ण रूप से तन्मय हो कर करके मरे तो भी क्या बिना जल के नाव चलेगी? (कदापि नहीं)॥८९॥

चौ०--बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिँ कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥१

बिना सन्तोष के कामनाएँ नाश नहीं होतीं और कामनाओं के रहते हुए सपने में भी

सुख नहीं मिलता। क्या रामचन्द्रजी का भजन किए बिना वासनाएँ मिटती हैं? (कभी नहीं) क्या बिना पृथ्वी के कभी वृक्ष जमता (उगता) है? ॥१॥

बिनु बिज्ञान कि समता आवै। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै॥
स्रद्धा बिना धरम नहिँ होई। बिनु महि गन्ध कि पावइ कोई॥२॥

क्या बिना विज्ञान के समता आती है? क्या कोई आकाश के बिना स्थान पाता है? बिना श्रद्धा के धर्म नहीं होता, क्या बिना धरती के कोई महँक पाता है? ॥२॥

बिनु तप-तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई॥३॥

क्या बिना तप के तेज का फैलाव होता है? क्या संसार में बिना पानी के रस हो सकता है? क्या बिना विद्वानों की सेवा किये शील मिलता है? (कभी नहीं) हे स्वामिन्। जैसे बिना तेज का रूप शोभन नहीं होता ॥३॥

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा॥
कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरिभजन न भवभयनासा॥४॥

क्या अपने सुख के बिना मन स्थिर होता है? क्या पवन के बिना स्पर्श हो सकता है? (कभी नहीं)। क्या बिना विश्वास के कोई सिद्धि हो सकती है? बिना भगवान का भजन किये संसार के भय का नाश नहीं होता ॥ ४ ॥

दो०--बिनु बिस्वास भगति नहिँ, तेहि बिनु द्रवहिँ न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिस्राम॥

बिना विश्वास के भक्ति नहीं होती और बिना भक्ति के रामचन्द्रजी दया नहीं करते, बिना रामचन्द्रजी की कृपा के जीव को सपने में भी चैन नहीं मिलता।

सो०--अस बिचारि मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुन्दर सुखद॥९०॥

हे मतिधीर! ऐसा विचार कर सम्पूर्ण सन्देह और कुतर्कनाओं को त्याग कर सुन्दर सुखदायक, दया की खानि, रघुकुल के वीर रामचन्द्रजी को भजिये ॥९०॥

चौ०--निज मति सरिस नाथ मैँ गाई। प्रभु प्रताप महिमा खगराई॥
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेखी। यह सब मैँ निज नयनन्ह देखी॥१॥

हे स्वामिन् पक्षिराज! प्रभु रामचन्द्रजी के प्रताप और महिमा को मैं ने अपनी बुद्धि के अनुसार गान किया है। यह मैंने कुछ विशेष युक्ति की कल्पना कर के नहीं कहा, सब अपनी आँखों देखी हुई बात कही ॥१॥

महिमा नाम रूप गुन गाथा । सकल अमित अनन्त रघुनाथा ॥
निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिँ । निगम सेष सिव पार न पावहिँ ॥२॥

रघुनाथजी की महिमा, उनका नाम, रूप और गुणों की कथा सम्पूर्ण अतिशय अपार है। अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार मुनि लोग भगवान के गुणों को गाते हैं, परन्तु वेद, शेषनाग और शिवजी पार नहीं पाते हैं ॥२॥

तुम्हहिँ आदि खग मसक प्रजन्ता । नभ उड़ाहिँ नहिँ पावहिँ अन्ता ॥
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा । तात कहहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥३॥

मसा, पक्षी आदि से लेकर आप पर्यन्त उड़ें, पर आकाश का अन्त नहीं पावेंगे। हे तात! इसी तरह रघुनाथजी की गम्भीर महिमा का थाह क्या कभी कोई पा सकता है ? (कदापि नहीँ) ॥३॥

राम काम सतकोटि सुभग तन । दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन ॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा । नभ सतकोटि अमित अवकासा ॥४॥

रामचन्द्रजी असंख्यों कामदेव के समान सुन्दर शरीरवाले हैं और करोड़ों दुर्गा के समान अनन्त शत्रुओं के नाशक हैं। असंख्यों इन्द्र के समान भोग-विलास करनेवाले और असंख्यों आकाश के बराबर अनन्त अवकाश (शून्य स्थान) वाले हैं ॥४।

दो०—मरुत कोटिसत बिपुल बल, रबि सतकोटि प्रकास ।
ससि सतकोटि सुसीतल, समन सकल भव त्रास ॥

असंख्यों पवन के समान विशाल बली हैं और अपरिमित सूर्य्य के समान प्रकाश करनेवाले हैं। अगणित चन्द्रमा के समान सुन्दर शीतल और संसार-सम्बन्धी समस्त भयों के नाश करनेवाले हैं।

काल कोटिसत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त ।
धूमकेतु सतकोटि सम, दुराधरष भगवन्त ॥९१॥

असंख्यों काल के समान अत्यन्त विकट, दुर्गम और अपार हैं। अपरिमित अग्नि के समान भगवान् रामचन्द्रजी दुर्दमनीय हैं ॥९१॥

चौ०—प्रभु अगाध सतकोटि पताला । समन कोटिसत सरिस कराला ॥
तीरथ अमित कोटिसत पावन । नाम अखिल अघपूग नसावन ॥१॥

प्रभु रामचन्द्रजी अनन्त पाताल के समान गहरे हैं, असंख्यों यमराज के समान भीषण हैं। अपरिमित बहुत अधिक तीर्थ के तुल्य पवित्र हैं और जिनका नाम समग्र पाप समूह को नशानेवाला है ॥१॥

हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिन्धु कोटिसत सम गम्भीरा॥
कामधेनु सतकोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥२॥

करोड़ों हिमालय-पर्वत के समान रघुनाथजी स्थिर हैं, असंख्यों समुद्र के समान गहरे हैं। अपरिमित कामधेनु के समान भगवान् रामचन्द्रजी सम्पूर्ण कामनाओं के देनेवाले हैं॥२॥

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई॥
बिष्नु कोटिसत पालन करता। रुद्र कोटिसत सम सङ्घरता॥३॥

करोड़ों सरस्वती के समान बहुत अधिक चतुर हैं, असंख्यों विधाता के समान सृष्टि-रचना की प्रवीणता है। अपरिमित विष्णु के समान पालन करनेवाले और अगणित रुद्र के समान संहार करनेवाले हैं॥३॥

घनद कोटिसत सम धनवाना। माया कोटि प्रपञ्च निधाना॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥४॥

असंख्यों कुबेर के समान धनवान हैं और करोड़ों माया के समान संसार-रचना के आधार हैं। अगणित शेष के समान बोझा लेनेवाले प्रभु रामचन्द्रजी अनन्त, उपमा रहित और जगत के स्वामी हैं॥४॥

हरिगीतिका-छन्द।

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि, कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति-बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भावगाहक अतिकृपाल सप्रेम सुनि सचु पावहीं॥१६॥

वेद कहते हैं कि रामचन्द्रजी अनुपम हैं, दूसरी उपमा नहीं; रामचन्द्र के समान रामचन्द्र ही हैं। जैसे असंख्यों जुगनू के समान सूर्य्य को कहने से उनकी बड़ी छोटाई होती है। इस तरह अपनी अपनी बुद्धि-विलास के अनुसार मुनीश्वर भगवान् को बखानते हैं। प्रभु रामचन्द्रजी प्रेम के ग्राहक और अत्यन्त कृपा के स्थान हैं, उनकी प्रेम भरी वाणी सुन कर आनन्द से परिपूर्ण होते हैं॥१६॥

सभा की प्रति में 'राम समान निगमागम कहै, पाठ है।

दो०—राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ।
सन्तन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहिं सुनायउँ सोइ॥

रामचन्द्रजी अपार गुणों के समुद्र हैं, क्या उनका कोई थाह पा सकता है? (कदापि नहीं) जैसा कुछ मैं ने सन्तों से सुना था, वही आपको सुनाया है।

सो०—भावबस्य भगवान, सुखनिधान करुना भवन ।
तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीतारमन ॥९२॥

भगवान सुख के स्थान, दयानिकेत हैं और प्रेम के वश में हैं । ममत्व, मद और अभिमान त्याग कर सदा सीतारमण-रामचन्द्रजी का भजन कीजिये ॥९२॥

यहाँ पर्यन्त गुरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर समाप्त कर कागभुशुण्डजी उन्हें रामभजन का उपदेश देकर चुप हो गये ।

चौ०—सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये । हरषित खगपति पङ्ख फुलाये ॥
नयन नीर मन अति हरषाना । श्रीरघुपतिप्रताप उरआना ॥१॥

भुशुण्डी के सुहावने वचन सुन कर गरुड़जी के प्रसन्नता से पङ्ख फूल आये हैं । आँखों में आँसू भर आया और मन में बहुत हर्षित हुए, रघुनाथजी की महिमा हृदय में स्मरण कर सोचने लगे ॥१॥

पाछिल मोह समुझि पछिताना । ब्रह्म अनादि मनुज करि माना ॥
पुनि पुनि काग चरन सिर नावा । जानि राम सम प्रेम बढ़ावा ॥२॥

पहले का अज्ञान समझ कर पछताते हैं कि अनादि ब्रह्म को मैं ने मनुष्य मान कर बड़ा अनर्थ किया । बार बार कागभुशुण्डजी के चरणों में सिर नवाया और उन्हें रामचन्द्रजी के समान जान कर प्रेम बढ़ाया ॥२॥

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई । जौं बिरञ्चि सङ्कर सम होई ॥
संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥३॥

बिना गुरु के कोई संसार रूपी समुद्र से पार नहीं हो सकता, यदि वह ब्रह्मा और शिवजी के समान ही हो । हे तात ! मुझे सन्देह रूपी साँप ने डस लिया, समूह कुतर्क रूपी बहुत सी दुखदाई लहरें आ रही थीं ॥३॥

तव सरूप गारुड़ि रघुनायक । मोहि जिआयेउ जन सुखदायक ॥
तव प्रसाद मम मोह नसाना । राम रहस्य अनूपम जाना ॥४॥

आप के शरीर रूपी गारुड़ी मन्त्र से भक्तों के सुख देनेवाले रघुनाथजी ने मुझे जिआया । आप की कृपा से मेरा अज्ञान नष्ट हुआ और रामचन्द्रजी का अनुपम छिपा हुआ इतिहास जाना ॥४॥

दो०—ताहि प्रसंसि बिबिधि बिधि, सीस नाइ कर जोरि ।
बचन बिनीत सप्रेम मृदु, बोलेउ गरुड़ बहोरि ॥

कागभुशुण्डजी को सिर नवा कर और हाथ जोड़ कर अनेक प्रकार से उनकी प्रशंसा कर के गरुड़जी फिर प्रेम के साथ नम्रता युक्त कोमल वचन बोले ।

प्रभु अपने अबिबेक तें, बूझउँ स्वामी तोहि ।
कृपासिन्धु सादर कहहु, जानि दास निज मोहि ॥९३॥

हे प्रभो ! मैं अपने अज्ञानपन से आप से पूछता हूँ । हे कृपासागर स्वामिन् ! मुझे अपना दास जान कर आदर-पूर्वक कहिये ॥९३॥

चौ०–तुम्ह सर्बज्ञ तज्ञ तम पारा । सुमति सुसील सरल आचारा ॥
ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा । रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा ॥१॥

आप सर्वज्ञ, तत्वदर्शी, अज्ञान से परे, सुन्दर मतिमान, सुशील, सीधे आचरणवाले, ज्ञान, वैराग्य और विज्ञान के स्थान हैं तथा रघुनाथजी के आप प्यारे दास हैं ॥१॥

कारन कवन देह यह पाई । तात सकल मोहि कहहु बुझाई ॥
रामचरितसर सुन्दर स्वामी । पायहु कहाँ कहहु नभगामी ॥२॥

हे तात ! किस कारण आपने यह देह पाई, मुझे सब समझा कर कहिये । हे स्वामिन् ! आप व्योमचारी हैं, कहिये सुन्दर रामचरितमानस किस जगह पाया ॥२॥

'नभगामी' शब्द सव्यङ्ग है कि कथा सत्सङ्ग से मिलती है और पक्षी सत्सङ्ग के योग्य नहीं होते ।

नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं । महाप्रलयहु नास तव नाहीं ॥
मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई । सोउ मोरे मन संसय अहई ॥३॥

हे नाथ ! हमने शिवजी से ऐसा सुना है कि महाप्रलय में भी आप का नाश नहीं होता । ईश्वर झूठ वचन नहीं कहते, वह भी मेरे मन में सन्देह है ॥३॥

अग जग जीव नाग नर देवा । नाथ सकल जग काल कलेवा ॥
अंडकटाह अमित लयकारी । काल सदा दुरतिक्रम भारी ॥४॥

हे प्रभो ! जड़, चेतन, नाग, नर और देवता संसार के समस्त जीव काल के कलेवा मात्र हैं (सब को खा जाने पर भी वह अघाता नहीं) । असंख्य ब्रह्माण्डों का नाश करनेवाला काल निरन्तर बड़ा ही प्रबल है ॥४॥

सभा की प्रति में, 'मुधा' के स्थान में 'मृषा' पाठ है ।

सो०–तुम्हहिं न ब्यापत काल, अति कराल कारन कवन ।
मोहि सो कहहु कृपाल, ज्ञान प्रभाव कि जोगबल ॥

वह अत्यन्त भीषण काल आप को नहीं व्यापता, इसका क्या कारण है ? हे कृपालु ! मुझे उसको समझा कर कहिये, ज्ञान का प्रभाव है या कि योग बल ?

दो०–प्रभु तव आस्रम आयउँ, मोर मोह भ्रम भाग ।
कारन कवन सो नाथ सब, कहहु सहित अनुराग ॥९४॥

हे प्रभो ! आप के आश्रम में आते ही मेरा अज्ञान और भ्रम भाग गया । हे स्वामिन् ! इसका क्या कारण है ? वह सब प्रेम के साथ कहिये ॥९४॥

यहाँ गरुड़जी ने चार प्रश्न किये । यथा—"(१) आप को कौए की देह किस कारण मिली ? (२) रामचरितमानस किस जगह प्राप्त हुआ ? (३) आप को काल क्यों नहीं व्यापता ? (४) इस आश्रम में आने से मोह भ्रम जाता रहा, इसका क्या कारण है ?" ।

चौ०—गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा । बोलेउ उमा सहित अनुरागा ॥
धन्य धन्य तव मति उरगारी । प्रस्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी ॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! गरुड़की वाणी सुन कर कागभुशुण्ड प्रसन्न हो कर प्रेम के साथ बोले । हे सर्पारि ! आप की बुद्धि धन्य है, धन्य है, आपकी प्रश्नावली मुझे अत्यन्त प्यारी है ॥१॥

'प्रश्न' शब्द को कविजी ने सर्वत्र स्त्रीलिङ्ग मान कर प्रयोग किया है, तदनुसार यहाँ भी है ।

सुनि तव प्रस्न सप्रेम सुहाई । बहुत जनम की सुधि मोहि आई ॥
सब निज कथा कहउँ मैं गाई । तात सुनहु सादर मन लाई ॥२॥

प्रेम भरी आप की सुहावनी प्रश्नावली सुन कर मुझे बहुत जन्म की सुध हो आई । मैं अपनी सब कथा गा कर कहता हूँ, हे तात ! आदर-पूर्वक मन लगा कर सुनिये ॥२॥

सभा की प्रति में 'अब निज कथा कहउँ मैं गाई' पाठ है ।

जप तप मख सम दम ब्रत दाना । बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना ॥
सब कर फल रघुपति-पद प्रेमा । तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ॥३॥

जप, तप, यज्ञ, सौम्यता, इन्द्रियदमन, उपवास, दान, वैराग्य, योग और विज्ञान सब का फल रघुनाथजी के चरणों में प्रेम होना है, जिसके बिना कोई कल्याण नहीं पाता ॥३॥

एहि तन रामभगति मैं पाई । ताते मोहि ममता अधिकाई ॥
जेहि तें कछु निज स्वारथ होई । तेहि पर ममता कर सब कोई ॥४॥

इस शरीर से मैं ने रामभक्ति पाई है, इसलिये मुझे इस पर बड़ी ममता है । जिससे कुछ मतलब होता है, उस पर सब कोई प्रेम करते हैं ॥४॥

सो०—पन्नगारि असि नीति, स्रुति सम्मत सज्जन कहहिँ ।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परम हित ॥

हे गरुड़जी ! वेद मत के अनुसार सज्जन लोग ऐसी नीति कहते हैं कि अपना परम कल्याण जान कर अत्यन्त नीच से भी प्रीति करनी चाहिये ।

पाट कीट तें होइ, तेहि तें पाटम्बर रुचिर ।
कृमि पालइ सब कोइ, परम अपावन प्रान सम ॥९५॥

रेशम कीड़े से पैदा होता है, उससे सुन्दर रेशमी कपड़े बनते हैं । अत्यन्त अपवित्र उस कृमि को सब कोई प्राण के समान पालते हैं ॥९५॥

चौ०—स्वारथ साँच जीव कहँ एहा । मन क्रम बचन राम-पद नेहा ॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा । जो तनु पाइ भजइ रघुबीरा ॥१॥

जीव का सच्चा स्वार्थ यह है कि मन, कर्म और वचन से रामचन्द्रजी के चरणों में स्नेह हो। पवित्र और वही सुन्दर शरीरवाला है, जो देह पा कर रघुनाथजी का भजन करे ॥१॥

रामबिमुख लहि बिधि सम देही । कबि कोबिद न प्रसंसहि तेही ॥
रामभगति एहि तन उर जामी । तातें मोहि परमप्रिय स्वामी ॥२॥

रामचन्द्रजी से विमुख रह कर ब्रह्मा के समान शरीर क्यों न पावे ? पर कवि और विद्वान उसकी प्रशंसा नहीं करते। इसी देह से मेरे हृदय में रामभक्ति उत्पन्न हुई, हे स्वामिन्! इसलिये यह मुझे परम प्यारी है ॥२॥

तजउँ न तनु निज इच्छा मरना । तन बिनु बेद भजन नहिँ बरना ॥
प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा । राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा ॥३॥

मरना अपनी इच्छा के आधीन है इससे शरीर नहीं त्यागता हूँ, वेद कहते हैं कि विना देह के भजन नहीं हो सकता। पहले मोह ने मुझे बहुत ही नष्टभ्रष्ट किया था, मैं रामचन्द्रजी से विपरीत हो कर सुख की नींद कभी न सोया ॥३॥

नाना जनम करम पुनि नाना । किये जोग जप तप मख दाना ॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं । मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ॥४॥

अनेक जन्म लेकर फिर उनमें नाना प्रकार के कर्म, योग, जप, तप, यज्ञ और दान किये हे पक्षिराज ! संसार में कौन ऐसी योनि है ? जहाँ मैं ने भरम भरम कर जन्म न लिया हो ॥४॥

देखेउँ करि सब करम गोसाँई । सुखी न भयउँ अबहिँ की नाँई ॥
सुधि मोहि नाथ जनम बहु केरी । सिव प्रसाद मति मोह न घेरी ॥५॥

हे स्वामिन् ! सब कर्म करके मैं ने देख लिया, पर अब (इस समय) की भाँति सुखी नहीं हुआ। हे नाथ ! मुझे बहुत जन्म की सुधि है, शिवजी की कृपा से मेरी बुद्धि को अज्ञान ने नहीं घेरा ॥५॥

दो०—प्रथम जनम के चरित अब, कहउँ सुनहु बिहँगेस ।
सुनि प्रभु-पद रति उपजइ, जातेँ मिटहिँ कलेस ॥

हे पक्षिराज ! अब मैं अपने पहले जन्म का चरित्र कहता हूँ, उसको सुनिये। सुन कर प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति उत्पन्न होगी, जिससे संकट मिट जायँगे।

पूरबकल्प एक प्रभु, जुग कलिजुग मल-मूल ।
नर अरु नारि अधर्म रत, सकल निगम प्रतिकूल ॥९६॥

हे प्रभो ! पहले के एक कल्प में पाप का मूल कलियुग नामक युग था, उसमें सम्पूर्ण स्त्री पुरुष अधर्म में संलग्न और वेद से विरुद्ध आचरण करते थे ॥९६॥

चौ०—तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भयउँ सूद्र तनु पाई॥
सिव सेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निन्दक अभिमानी॥१॥

उस कलियुग में जा शूद्र का शरीर पा कर अयोध्यापुरी में जन्म लिया। मन कर्म और वचन से शिवजी का सेवक हो कर अभिमान से दूसरे देवताओं की निन्दा करता था॥१॥

धन मद मत्त परम बाचाला। उग्रबुद्धि उर दम्भ बिसाला॥
जदपि रहेउँ रघुपति रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी॥२॥

धन के मद में मतवाला, बहुत बोलनेवाला, कुटिल बुद्धि से हृदय में विशाल गर्व था। यद्यपि रघुनाथजी की राजधानी में रहता था; तथापि उस समय उनकी महिमा कुछ नहीं जानता था॥२॥

अब जाना मैं अवध प्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा॥
कवनेहुँ जनम अवध बस जोई। राम परायन सो परि होई॥३॥

अब मैं ने अयोध्या का महत्व जाना, वेद शास्त्र और पुराणों ने ऐसा कहा है। किसी जन्म में जो अयोध्या में निवास करता है, वह अच्छी तरह रामचन्द्रजी में लवलीन होता है॥३॥

अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिँ राम धनु पानी॥
सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥४॥

अयोध्या का प्रभाव प्राणी तब जानते हैं, जब रामचन्द्रजी हाथ में धनुष-बाण लिये हृदय में निवास करते हैं। हे गरुड़जी! उस कठिन कलिकाल में सब स्त्री-पुरुष पाप में लगे हुए थे॥४॥

दो०—कलिमल ग्रसे धरम सब, लुप्त भये सदग्रन्थ।
दम्भिन्ह निज मति कलिप करि, प्रगट किये बहु पन्थ॥

कलि के पापों ने सब धर्मों को ग्रस लिया और श्रेष्ठग्रन्थ लोप हो गये। पाखण्डियों ने अपनी बुद्धि से निर्माण करके बहुत से पन्थ प्रकट किये।

भये लोग सब मोहबस, लोभ ग्रसे सुभकर्म।
सुनु हरिजान ज्ञाननिधि, कहउँ कछुक कलि-धर्म॥९७॥

सब लोग अज्ञान के अधीन हो गये, उन्हें शुभकर्म करने में लोभ ग्रसता है। हे विष्णु के वाहन, ज्ञान निधान! सुनिये, थोड़ा कलियुग का धर्म (स्वभाव) कहता हूँ॥९७॥

चौ०—बरनधरम नहिँ आस्रम चारी। स्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज स्रुतिबेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिँ मान निगम अनुसासन॥१॥

चारों वर्ण और आश्रम के धर्म नहीं रह गये, सब स्त्री-पुरुष वेद के विरोध में तत्पर

हैं । ब्राह्मण वेद के बेचनेवाले हो गये, राजाप्रजा के खानेवाले और कोई वेद की आज्ञा को नहीं मानते हैं ॥१॥

मारग सोइ जाकहँ जोइ भावा । पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारम्भ दम्भ रत जोई । ताकहँ सन्त कहइ सब कोई ॥२॥

जिसको जो अच्छा लगता वही मार्ग है, पण्डित वही है जो गाल बजावे अर्थात् झूठ मूठ की शेख़ी हाँके । जो मिथ्या कामों के आरम्भ और पाखण्ड में तत्पर रहता है, उसको सब कोई सन्त कहते हैं ॥२॥

सोइ सयान जो परधन हारी । जो कर दम्भ सो बड़ आचारी ॥
जो कह झूठ मसखरी जाना । कलिजुग सोइ गुनवन्त बखाना ॥३॥

वही चतुर है जो पराये की सम्पत्ति हरता है और जो पाखण्ड करता है वही बड़ा आचारी है । जो झूठ कहता है और मसख़री जानता है, कलियुग में वही गुणवान कहा जाता है ॥३॥

निराचार जो स्रुतिपथ त्यागी । कलिजुग सोइ ज्ञानी बैरागी ॥
जा के नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥४॥

जो आचार-भ्रष्ट और वेदमार्ग को त्यागे हुए हैं, कलियुग में वही ज्ञानी और विरागी हैं । जिनके नख और जटायें बहुत बड़ी हैं, वही कलिकाल के विख्यात तपस्वी हैं ॥४॥

दो०--असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिँ ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहिँ ॥

जो अमङ्गल वेश के भूषण धारण किये हैं और खाद्याखाद्य (मद्य मांसादि) खाते हैं । वे ही योगी, वे ही सिद्ध मनुष्य कहा कर कलियुग में पूजे जाते हैं ।

सो०--जे अपकारी चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ ।
मन क्रम बचन लबार, ते बकता कलिकाल महँ ॥९८॥

जो बुराई करनेवालों के दास हैं, उन्हीं की इज़्ज़त है और वे ही माननीय हैं । जो मन, कर्म और वचन से झूठे हैं, वे ही कलियुग में वक्ता (व्याख्यानदाता और कथा कहनेवाले) कहे जाते हैं ॥९८॥

चौ०--नारि बिबस नर सकल गोसाँई । नाचहिँ नट मरकट की नाँई ॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिँ ज्ञाना । मेलि जनेऊ लेहिँ कुदाना ॥१॥

हे स्वामिन् ! सम्पूर्ण मनुष्य स्त्री के अधीन हुए नट के बन्दर की तरह नाचते हैं । शूद्र ब्राह्मणों को ज्ञानोपदेश करते हैं और जनेऊ पहन कर बुरे दानों को लेते हैं ॥१॥

सब नर काम लोभ रत क्रोधी । बेद बिप्र गुरु सन्त बिरोधी ॥
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी । भजहिँ नारि परपुरुष अभागी ॥२॥

सब मनुष्य काम, क्रोध और लोभ में तत्पर वेद, ब्राह्मण, गुरु तथा सन्तों के विरोधी हैं। गुण के मन्दिर सुन्दर पति को त्याग कर अभागिनी स्त्रियाँ पराये पुरुष को भजती हैं ॥२॥

सौभागिनी बिभूषन हीना । बिधवन्ह के सृङ्गार नबीना ॥
गुरु सिष बधिर अन्ध कर लेखा । एक न सुनइ एक नहिँ देखा ॥३॥

सुहागिनी स्त्रियाँ अलंकार रहित और विधवाओं के नये शृंगार होते हैं। गुरु शिष्य का लेखा बहिर और अन्धे का सा है, एक सुनता नहीं तथा दूसरा देखता नहीं ॥३॥

हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुरु घोरनरक महँ परई ॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिँ । उदर भरइ सोइ धरम सिखावहिँ ॥४॥

जो गुरु शिष्य के धन को हरता है; किन्तु उसके शोक को नहीं हरता, वह भयानक नरक में पड़ता है। माता-पिता बालकों को बुलाते हैं और पेट भरे वही धर्म सिखाते हैं ॥४॥

दो०—ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिँ न दूसरि बात ।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिँ बिप्र गुरु घात ॥

ब्रह्मज्ञान के बिना स्त्री-पुरुष दूसरी बात नहीं कहते, किन्तु लोभ वश कौड़ी के लिये ब्राह्मण और गुरु की हत्या कर डालते हैं।

बादहिँ सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह तेँ कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि देखावहिँ डाटि ॥९९॥

शूद्र लोग ब्राह्मणों से कहते हैं कि हम तुम से कुछ घट कर हैं? डाँट कर आँख दिखाते हैं कि जो वेद को जानता है वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है ॥९९॥

चौ०—पर तिय लम्पट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेद-बादी ज्ञानी नर । देखा मैँ चरित्र कलिजुग कर ॥१॥

जो परायी स्त्री से व्यभिचार करनेवाले, धोखेबाज़ी में चतुर, अज्ञान, द्वेष और ममत्व में लिपटे हुए हैं। वे ही मनुष्य अद्वैतवादी (जीवात्मा और परमात्मा में भेद न माननेवाले) ज्ञानी कहे जाते हैं, ऐसा चरित्र मैं ने कलियुग का देखा है ॥१॥

आपु गये अरु तिन्हहूँ घालहिँ । जे कहुँ सत-मारग प्रतिपालहिँ ॥
कलप कलप भरि एक एक नरका । परहिँ जे दूषहिँ स्रुति करि तरका ॥२॥

आप तो गये ही हैं और उन्हें भी बिगाड़ते हैं जो कहीं सत्मार्ग का पालन करते हैं। जो अपनी उक्ति से वेद को दोष देते हैं वे एक एक नरक में एक एक कल्प पर्यन्त पड़ते हैं ॥२॥

सभा की प्रीति में 'आप गये अरु औरनि घालहिँ' पाठ है।

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहिँ सन्यासी॥३॥

जो अधम वर्ण के तेली, कुम्हार, मेहतर, शवर कोल और कलवार हैं। उनकी स्त्री मरी और घर की सम्पदा नष्ट हुई, फिर वे मूँड़ मुड़ा कर सन्यासी हो जाते हैं॥३॥

ते बिप्रन्ह सन पाँव पुजावहिँ। उभय लोक निज हाथ नसावहिँ॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥४॥

वे ब्राह्मणों से पाँव पुजवाते हैं, अपना लोक और परलोक दोनों अपने हाथ से नाश कर देते हैं। ब्राह्मण निरक्षर (मूर्ख) लालची, कामी, आचार-भ्रष्ट, दुष्ट औ कुलटा स्त्री के स्वामी बने हैं॥४॥

गुटका में 'ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिँ' पाठ है।

सूद्र करहिँ जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिँ पुराना॥
सब नर कल्पित करहिँ अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥५॥

शूद्र नाना प्रकार के जप, तप, उपवास करते हैं और श्रेष्ठ आसन (व्यासगादी) पर बैठ कर पुराण कहते हैं। सब मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं अपार अत्याचार कहा नहीं जा सकता॥५॥

सभा की प्रति में 'शूद्र करहिँ जप तप ब्रत दाना, पाठ है।

दो०—भये बरनसङ्कर कलि, भिन्नसेतु सब लोग।
करहिँ पाप पावहिँ दुख, भय रुज सोक बियोग॥

कलियुग में सब लोग वर्णसङ्कर (माता और जाति पिता और से उत्पन्न सन्तान) हो गये और मर्यादा पृथक् हो गई। पाप करते हैं बदले में दुःख, भय, रोग और वियोग का शोक पाते हैं।

सभा की प्रति में 'भये बरनसङ्कर सकल' पाठ है।

स्रुति सम्मत हरिभक्ति-पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिँ नर मोह बस, कल्पहिँ पन्थ अनेक॥१००॥

वेद मतानुसार वैराग्य और ज्ञान से संयुक्त हरिभक्ति का मार्ग है, मनुष्य उसमें नहीं चलते; अज्ञान वश बहुत से पथों की कल्पना करते हैं॥१००॥

तोटक-वृत्त।

बहु दाम सँवारहिँ धाम जती। बिषया हरि लीन रही बिरती॥
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥११॥

सन्यासी बहुत धन और घर सजाते हैं, उनमें वैराग्य नहीं रह गया विषयों ने हर

लिया। तपस्वी धनवान और गृहस्थ दरिद्री होते हैं, हे तात! कलियुग की लीला कही नहीं जाती है ॥११॥

जो बात गृहस्थों में होनी चाहिये वह तपस्वी सन्यासियों में वर्णन करना 'द्वितीय असङ्गति अलंकार' है। सभा की प्रति में 'विषया हरि लीन गई बिरती' पाठ है।

कुलवन्त निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं ॥१२॥

कुलीन सती स्त्रियों को निकाल देते हैं, अच्छी चाल को त्याग कर घर में दासी (रखेली) लाते हैं। पुत्र माता-पिता को तभी तक मानते हैं, जब तक स्त्री का मुख नहीं देखते ॥१२॥

सभा की प्रति में 'अबला नहिँ डीठ परी जब लौं' पाठ है।

ससुरारि पियारि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुम्ब भये तब तें॥
नृप पाप-परायन धर्म नहीं। करि दंड बिडम्ब प्रजा नितहीं ॥१३॥

जब से ससुराल प्यारी लगी, तब से परिवार के लोग शत्रु रूप हो गये। राजा पाप में तत्पर उनमें धर्म नहीं रह गया, नित्य ही (अन्याय और जोरावरी से) प्रजा को दण्ड देकर फजीहत करते हैं ॥१३॥

धनवन्त कुलीन मलीन अपी। द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी॥
नहि मान पुरानन्ह बेदहि जो। हरिसेवक सन्त सही कलि सो ॥१४॥

धनवान मलिन (आचार-भ्रष्ट अधम) होने पर भी कुलीन माने जाते हैं, ब्राह्मण की पहचान जनेऊ और तपस्वी का चिह्न उघार रहना रह गया। जो वेदों और पुराणों को नहीं मानते, कलियुग में वही सच्चे सन्त तथा हरिभक्त कहे जाते हैं ॥१४॥

कबि बृन्द उदार दुनी न सुनी। गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥१५॥

दुनियाँ में कवियों के झुण्ड देख पड़ते हैं; परन्तु दाता सुनने में नहीं आते। गुण में दोष लगानेवाले बहुत हैं पर गुणी कोई भी नहीं है। कलियुग में बारम्बार अकाल पड़ता है, सब लोग बिना अन्न के दुखी होकर मरते हैं ॥१५॥

दो०—सुनु खगेस कलि कपट हठ, दम्भ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद, ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥

कागभुशुण्ड कहते हैं—हे खगराज! सुनिये, कलियुग में कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, मान, मोह, मद और काम आदि ब्रह्माण्ड में व्याप रहे हैं।

तामस धर्म करहिँ नर, जप तप मख ब्रत दान।
देव न बरषहिँ धरनि पर, बये न जामहिँ धान ॥१०१॥

जप, तप, यज्ञ, व्रत, दान आदि धर्म मनुष्य तामसी वृत्ति से करते हैं। बादल धरती पर पानी नहीं बरसते और बोने से धान नहीं जमते हैं ॥१०१॥

तोटक-वृत्त।

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा॥
सुख चाहहिँ मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥१६॥

स्त्रियों के बाल ही गहने हैं और भूख बड़ी है, दरिद्री तथा दुखी रहने पर भी उन्हें बहुत तरह से घमण्ड रहता है। धर्म में तत्पर न रह कर वे मूर्खता वश सुख चाहती हैं, उनकी बुद्धि में कोमलता थोड़ी भी नहीं; कठोरता से भरी रहती हैं॥१६॥

नर पीड़ित रोग न भोग कहीँ। अभिमान बिरोध अकारनहीँ॥
लघु जीवन सम्बत पञ्चदसा। कलपान्तन नास गुमान असा॥१७॥

मनुष्य व्याधियों से पीड़ित, सुख का कहीं नाम नहीं, बिना कारण ही अभिमान और बिरोध करते हैं। जीना थोड़ा दस पाँच वर्ष का, पर अहङ्कार ऐसा कि कल्पान्त तक मेरा नाश न होगा॥१७॥

कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिँ मानत क्वौ अनुजा तनुजा॥
नहिँ तोष बिचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भये मँगता॥१८॥

कलिकाल ने मनुष्यों की बुरी दशा कर डाली, कोई बहिन बेटी नहीं मानते हैं। सन्तोष, विचार नहीं और न किसी में शान्ति है, सब जाति कुजाति मङ्गन हो गये॥१८॥

इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरिपूरि रही समता बिगता॥
सब लोग बियोग बिसोक हये। बरनास्रम धर्म अचार गये॥१९॥

ईर्ष्या, कटुवचन और अत्यन्त लालचपन भरपूर हो रहा है, समता जाती रही। सब लोग बियोग के गहरे शोक से नष्ट हुए हैं, वर्ण और आश्रमों के धर्माचार चले गये॥१९॥

दम दान दया नहिँ जानपनी। जड़ता परबञ्चनताति घनी॥
तनुपोषक नारि नरा सगरे। परनिन्दक जे जग मेँ बगरे॥२०॥

इन्द्रियदमन, दान, दया और बुद्धिमानी नहीं है, सब में मूर्खता तथा दूसरे को ठगना बहुत ही बढ़ा है। सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष अपने शरीर के पालनेवाले हैं और जो पराये की निन्दा करते हैं वे संसार में फैल रहे हैं॥२०॥

'जानपनी' शब्द के पर्यायी नाम—बुद्धिमानी, चतुराई, जानकारी, होशियारी है। इसी अर्थ में अपने अन्य ग्रन्थों में गोस्वामीजी ने इस शब्द का प्रयोग किया है। यथा—"जानी हैं जानपनी हरि की, और जानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गँवार महा है"।

दो०—सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार।
गुनउ बहुत कलिजुग कर, बिनु प्रयास निस्तार॥

हे गरुड़जी! सुनिये, कलिकाल पाप और अवगुणों का घर है। कलियुग के गुण भी बहुत हैं कि बिना परिश्रम ही संसार से छुटकारा मिलता है।

सभा की प्रति में 'सुनु ब्यालारि कराल कलि' पाठ है।

कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम तेँ पावहिँ लोग ॥१०२॥

सतयुग, त्रेता, द्वापर में पूजा, यज्ञ और योग से जो गति होती है, कलियुग में वही लोग भगवान के नाम से पाते हैं ॥१०२॥

सतयुग में योग, त्रेता में यज्ञ और द्वापर में पूजा यह क्रम है। दोहा में युगों के नाम क्रम से लेकर उनकी क्रिया वर्णन का क्रम उलट दिया गया, यह विपरीत क्रम 'यथासंख्य अलंकार' है।

चौ०—कृतजुग सब जोगी बिज्ञानी । करि हरि ध्यान तरहिँ भव प्रानी ॥
त्रेता बिबिध जज्ञ नर करहीँ । प्रभुहि समर्पि करम भव तरहीँ ॥१॥

सतयुग में सब प्राणी योगी और विज्ञानी हो कर भगवान का ध्यान करके संसार-समुद्र के पार होते हैं। त्रेता में अनेक प्रकार यज्ञ करके मनुष्य प्रभु को कर्मों का समर्पण कर संसार से तरते हैं ॥१॥

द्वापर करि रघुपति पद पूजा । नर भव तरहिँ उपाय न दूजा ॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा । गावत नर पावहिँ भव थाहा ॥२॥

द्वापर में दूसरा उपाय नहीं, मनुष्य रघुनाथजी के चरणों की पूजा करके संसारसिन्धु से पार उतरते हैं। कलियुग में केवल भगवान के गुणों की कथा गान करने से मनुष्य संसार-सागर का थाह पा जाते हैं ॥२॥

कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना । एक अधार राम गुन गाना ॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिँ । प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिँ ॥३॥

कलियुग में न योग, न यज्ञ और न ज्ञान का बल है, एक मात्र आधार रामचन्द्रजी का गुण गान है। सब भरोसा त्याग कर जो रामचन्द्रजी का भजन करते हैं और प्रेम पूर्वक उनके गुण-समूह को गाते हैं ॥३॥

सोइ भव तर कछु संसय नाहीँ । नाम प्रताप प्रगट कलि माहीँ ॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुन्य होहिँ नहिँ पापा ॥४॥

वे ही संसार से तरते हैं इसमें कुछ संदेह नहीं, क्योंकि कलयुग में नाम की महिमा प्रसिद्ध है। कलियुग का एक पवित्र प्रभाव है कि मन में अनुमान किये हुए पुण्यों के फल होते हैं और पाप नहीं होते ॥४॥

मनशा से अनुमान किये पुण्यों का फल होना और पाप की इच्छा करने से पाप का न होना, इस विरोधी वर्णन में 'प्रथम व्याघात अलंकार' है। यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि क्यों मानस का पुण्य होता है और पाप नहीं ? इस सन्देह के निवारणार्थ अर्थ ही और का और करते हैं—"मानसिक पुण्य और पाप कलि में कुछ नहीं होता, वे अन्य-युगों में होते थे"।

परन्तु यहाँ कविजी का उद्देश कलयुग का पवित्र प्रभाव वर्णन करने का है, जब पुण्य और पाप कुछ नहीं होते, तब पुनीत प्रताप कहाँ से प्रमाणित होगा? शङ्का निर्मूल है।

दो०--कलिजुग सम जुग आन नहिँ, जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुनगन बिमल, भव तर बिनहिँ प्रयास ॥

कलियुग के समान दूसरा युग नहीं है, यदि मनुष्य विश्वास करे तो रामचन्द्रजी के निर्मल गुणों को गा कर बिना परिश्रम ही संसार-सागर से पार हो जाता है।

प्रगट चारि पद धरम के, कलि महँ एक प्रधान ॥
जेनकेन बिधि दीन्हे, दान करइ कल्यान ॥१०३॥

(सत्य, शौच, दया, दान) ये धर्म के चारों चरण प्रसिद्ध हैं, पर कलियुग में एक ही चरण मुख्य है। जिस किसी प्रकार से दान देना कल्याण करता है ॥१०३॥

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर में क्रमशः चार, तीन और दो चरणों से धर्म वर्तमान रहता है, किन्तु कलियुग में वह एक ही चरण (दान) का रह जाता है।

चौ०--नित जुगधर्म होहिँ सब केरे । हृदय राम माया के प्रेरे ॥
सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना । कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥१॥

युगों के धर्म नित्य ही रामचन्द्रजी की माया की प्रेरणा से सब के हृदय में होते हैं। जब शुद्धसात्विकभाव, समता, विज्ञान और प्रसन्न मन हो, तब सतयुग का प्रभाव जानना चाहिये ॥१॥

सत्व बहुत रज कछु रति करमा । सब बिधि सुख त्रेता कर धरमा ॥
बहु रज सत्व स्वल्प कछु तामस । द्वापर धर्म हरष भय मानस ॥२॥

सतोगुण बहुत, रजोगुण थोड़ा, कर्मों में प्रीति और सब तरह से प्रसन्न रहना त्रेतायुग का धर्म है। रजोगुण अधिक, सतोगुण थोड़ा, कुछ तमोगुण और मन में हर्ष भय का रहना द्वापरयुग का धर्म है ॥२॥

तामस बहुत रजोगुन थोरा । कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ॥
बुध जुग धरम जानि मन माहीं । तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥३॥

तमोगुण बहुत, रजोगुण थोड़ा और चारों ओर विरोध भासना कलियुग की महिमा है। बुद्धिमान लोग मन में युगों के धर्म को जान कर अधर्म त्याग कर धर्म में प्रीति करते हैं ॥३॥

बीते हुए तीनों युगों का सूक्ष्मरीति से वर्तमान रहना वर्णन 'भाविक अलंकार है'।

काल धरम नहिँ ब्यापहिँ ताही । रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥
नट कृत बिकट कपट खगराया । नट सेवकहि न ब्यापइ माया ॥४॥

कलिकाल के धर्म उनको नहीं व्यापते जिनकी रघुनाथजी के चरणों में अत्यन्त प्रीति है।

हे खगराज ! मदारी का किया भीषण कपटजाल उसके सेवक को वह धोखेबाज़ी नहीं होती ॥४॥

दो०--हरि मायाकृत दोष गुन, बिनु हरिभजन न जाहिँ ।
भजिय राम तजि काम सब, अस बिचारि मन माहिँ ॥

भगवान की माया के किये हुए दोष-गुण बिना रामभजन के नहीं जाते। ऐसा मन में विचार कर सब कामों को छोड़ रामचन्द्रजी का भजन कीजिये ।

तेहि कलिकाल बरष बहु, बसेउँ अवध बिहगेस ।
परेउ दुकाल बिपत्ति बस, तब मैं गयउँ बिदेस ॥१०४॥

हे पक्षिराज ! उस कलिकाल में बहुत वर्ष तक मैं अयोध्या में रहा । दुर्भिक्ष पड़ा तब विपत्ति वश मैं परदेश गया ॥१०४॥

चौ०--गयेउँ उजेनी सुनु उरगारी । दीन मलीन दरिद्र दुखारी ॥
गये काल कछु सम्पति पाई । तहँ पुनि करउँ सम्भु सेवकाई ॥१॥

हे गरुड़जी ! सुनिये, मैं दीन, उदास, दरिद्री और दुखी होकर उज्जैन गया । कुछ काल बीतने पर सम्पत्ति मिली, फिर वहाँ शिवजी की सेवकाई करने लगा ॥१॥

बिप्र एक बैदिक सिवपूजा । करइ सदा तेहि काज न दूजा ॥
परम साधु परमारथ बिन्दक । सम्भु उपासक नहिँ हरिनिन्दक ॥२॥

एक ब्राह्मण वेद की विधि से सदा शिवजी का पूजन करते थे, उन्हें उपासना के सिवाय दूसरा काम नहीं था । वे श्रेष्ठ साधु, परमार्थ के जाननेवाले, शिवजी के भक्त और विष्णु भगवान के निन्दक नहीं थे ॥२॥

तेहि सेवउँ मैं कपट समेता । द्विज दयाल अति नीति निकेता ॥
बाहिज नम्र देखि मोहि साँई । बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाँई ॥३॥

उनकी सेवा मैं छल-पूर्वक करता था, वे दयालु ब्राह्मण बड़े ही नीति के स्थान थे । हे स्वामिन् ! मुझे बाहर से नम्र देख कर ब्राह्मण पुत्र के समान पढ़ाते थे ॥३॥

सम्भु मन्त्र मोहि द्विजबर दीन्हा । सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा ॥
जपउँ मन्त्र सिवमन्दिर जाई । हृदय दम्भ अहमिति अधिकाई ॥४॥

मुझे ब्राह्मण श्रेष्ठ ने शिवमंत्र का उपदेश दिया और नाना प्रकार शुभदाई शिक्षा का वर्णन किया । मैं शिवजी के मन्दिर में जा कर मन्त्र जपता था; परन्तु हृदय में दम्भ और अहंमन्यता बढ़ती जाती थी कि मेरे समान शिवभक्त कोई नहीं है ॥४॥

दो०—मैं खल मलसङ्कुल मति, नीचजाति बस-मोह।
हरिजन द्विज देखे जरउँ, करउँ बिष्नु कर द्रोह॥

मैं दुष्ट, पाप से भरी बुद्धिवाला, नीच जाति, अज्ञानता वश हरि भक्त ब्राह्मणों को देख कर जलता था और विष्णु का द्रोह करता था।

सो०—गुरु नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध, दम्भिहि नीति कि भावई॥१०५॥

गुरुजी मेरा आचरण देख कर दुखी होते थे और मुझे नित्य समझाते थे। उनके समझाने से मुझे बड़ा क्रोध उत्पन्न होता था, क्या घमण्डी को नीति अच्छी लगती है? (कदापि नहीं)॥१०५॥

चौ०—एक बार गुरु लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥
सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई॥१॥

एक बार गुरुजी ने मुझे बुला लिया और मुझ को बहुत तरह से नीति सिखायी। उन्हों ने कहा—हे पुत्र! शिवजी की सेवा करने का यही फल है कि रामचन्द्रजी के चरणों में लगातार भक्ति उत्पन्न हो॥१॥

रामहिँ भजहिँ तात सिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥२॥

हे पुत्र! रामचन्द्रजी को शिव और ब्रह्मा भजते हैं, तब नीच मनुष्य (शूद्र) की कितनी बात है? जिनके चरणों के ब्रह्मा और शिवजी प्रेमी हैं, अरे अभागे! तू उनका द्रोही होकर सुख चाहता है? (बिना हरिभक्ति के यथार्थ सुख कहाँ है?)॥२॥

हर कहँ हरिसेवक गुरु कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥
अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयेउँ जथा अहि दूध पिआये॥३॥

गुरुजी ने शङ्कर भगवान को हरिभक्त कहा, हे खगनाथ! यह सुन कर मेरा हृदय जल उठा। नीच जाति मैं विद्या पाने से ऐसा हुआ जैसा साँप दूध पिलाने से (अधिक ज़हरीला) होता है॥३॥

मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुरु कर द्रोह करउँ दिन राती॥
अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥४॥

अभिमानी, दुष्ट, दुर्भाग्यवाला और खोटी जाति का मैं दिन रात गुरुजी का द्रोह करता था। पर गुरुदेव को ज़रा भी क्रोध नहीं, अत्यन्त दया के स्थान मुझे बार बार उत्तम ज्ञान सिखाते थे॥४॥

जेहि तें नीच बड़ाई पावा । सो प्रथमहिँ हठि ताहि नसावा ॥
धूम अनलसम्भव सुनु भाई । तेहि बुझाव घन पदवी पाई ॥५॥

नीच जिससे बड़ाई पाता है वह हठ करके पहले उसी को नसाता है । हे भाई ! देखो धुआँ आग से उत्पन्न होता है, पर मेघ की पदवी पाने पर उसे बुझा देता है ॥५॥

रज मग परी निरादर रहई । सब कर पदप्रहार नित सहई ॥
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई । पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई ॥६॥

धूलि रास्ते में अनादर से पड़ी रहती है और नित्य सब के पाँवों का चोट सहती है । वायु उसे उड़ा कर ऊँचे करती है तो पहले वह उसको भर कर गन्दा करती है, फिर राजाओं की आँख और किरीटों में पड़ती है ॥६॥

सभा की प्रति में 'नृप किरीट पुनि नयनन्ह परई, पाठ है ।

सुनु खगपति अस समुझि प्रसङ्गा । बुध नहिँ करहिँ अधम कर सङ्गा ॥
कबि कोबिद गावहिँ असि नीती । खल सन कलह न भल नहिँ प्रीती ॥७॥

कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे पक्षिराज ! सुनिये, इस बात को समझ कर बुद्धिमान नीचों का साथ नहीं करते । कवि और विद्वान ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्टों से कलह अच्छा नहीं और न प्रीति ही अच्छी है ॥७॥

सभा की प्रति में 'सुनु खग खगपति समुझि प्रसङ्गा' प्राठ है ।

उदासीन नित रहिय गुसाँई । खल परिहरिय स्वान की नाँई ॥
मैं खल हृदय कपट कुटिलाई । गुरु हित कहहिँ न मोहि सुहाई ॥८॥

हे स्वामिन् ! खलों से सदा निरपेक्ष (न मित्रता, न शत्रुता) रह कर उन्हें कुत्ते की तरह त्याग देना चाहिये । मैं दुष्ट-हृदय, कपट और कुटिलता से भरा हुआ गुरुजी हित की बात कहते थे, पर वह मुझे नहीं अच्छी लगती थी ॥८॥

दो०—एक बार हरमन्दिर, जपत रहेउँ सिव नाम ।
गुरु आयउ अभिमान तें, उठि नहिँ कीन्ह प्रनाम ॥

एक बार मैं शङ्करजी के मन्दिर में शिवजी का नाम जपता था । उस समय गुरुजी आये, मैं अभिमान से उन्हें उठ कर प्रणाम नहीं किया ।

सो दयाल नहिँ कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस ।
अति अघ गुरु-अपमानता, सहि नहिँ सके महेस ॥१०६॥

वे दयानिधान थे कुछ नहीं कहा और न उनके हृदय में लवलेस मात्र क्रोध हुआ । पर गुरु के अपमान करने का महापाप शिवजी नहीं सह सके ॥१०६॥

सभा की प्रति में 'गुरु दयाल नहिँ कहेउ कछु' पाठ है ।

चौ०-मन्दिर माँझ भई नभ बानी । रे हतभाग्य अज्ञ अभिमानी ॥
जद्यपि तव गुरु के नहिँ क्रोधा । अतिदयालचित सम्यक बोधा॥१॥

मन्दिर में आकाशवाणी हुई कि रे हतभाग्य, मूर्ख, अभिमानी ! यद्यपि तेरे गुरु को क्रोध नहीं है, वे बड़े दयालु चित्त, और यथार्थ ज्ञानवाले हैं ॥१॥

वाणी का आधार बोलनेवाला है और वाणी आधेय है। मन्दिर में बिना आधार के शब्द का रञ्जित होना 'प्रथम विशेष अलंकार' है।

तदपि साप सठ देइहउँ तोही । नीति बिरोध सुहाइ न मोही ॥
जौं नहिँ दंड करउँ खल तोरा । भ्रष्ट होइ स्रुतिमारग मोरा ॥२॥

तो भी अरे मूर्ख ! तुझ को मैं शाप दूँगा, क्योंकि सदाचार का विरोध मुझे नहीं अच्छा लगता। रे दुष्ट ! यदि तेरा दण्ड न करूँगा तो मेरा वेद-मार्ग भ्रष्ट होगा ॥२॥

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं । रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥
त्रिजग-जोनि पुनि धरहिँ सरीरा । अयुत जनम भरि पावहिँ पीरा॥३॥

जो मूर्ख गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे करोड़ों युग पर्यन्त रौरव नरक में पड़ते हैं। फिर तिर्यग्योनि (पशु पक्षी आदि) में शरीर धारण करते हैं और दस हज़ार जन्म तक दुःख पाते हैं ॥३॥

बैठि रहेसि अजगर इव पापी । सर्प होहि खल मल मति ब्यापी ॥
महा बिटप कोटर महँ जाई । रहु अधमाधम अध-गति पाई ॥४॥

अरे पापी, दुष्ट ! तू गुरु को देख कर अजगर के समान बैठा रह गया, तेरी बुद्धि पाप से भरी है तू सर्प होगा। रे नीचातिनीच शूद्र ! नीच गति पा कर बड़े वृक्ष के खोढ़रे में जा कर रहेगा ॥४॥

दो०-हाहाकार कीन्ह गुरु, दारुन सुनि सिव साप ।
कम्पित मोहि बिलोकि अति, उर उपजा परिताप ॥

शिवजी का भीषण शाप सुन कर गुरुजी ने हाहाकार किया। मुझे काँपता हुआ देख उनके मन में बड़ा सन्ताप उत्पन्न हुआ।

करि दंडवत सप्रेम द्विज, सिव सनमुख कर जोरि ।
बिनय करत गदगद गिरा, समुझि घोर गति मोरि॥१०७॥

वे ब्राह्मणदेवता शिवजी के सामने हाथ जोड़ कर प्रेम के साथ दण्डवत करके मेरी भयंकर गति समझ कर गद्गद वाणी से विनती करने लगे ॥१०७॥

भुजङ्गप्रयात-वृत्त ।

नमामीशमीशान निर्वाणरूपम् । विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम् ॥
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम् । चिदाकाशमाकाशवासं भजेहम् ॥१॥

मैं मोक्ष-स्वरूप स्वामी शिवजी को नमस्कार करता हूँ, जो समर्थ, व्यापक, ब्रह्म और वेद के रूप हैं। स्वयं प्रगट होनेवाले, गुणों से परे, भेदों से रहित, किसी वस्तु की इच्छा न रखनेवाले; चैतन्य, आकाश रूप और आकाश में बसनेवाले को मैं भजता हूँ ॥१॥

निराकारमोङ्कारमूलं तुरीयम् । गिरा ज्ञान गोतीतमीशं गिरीशम् ॥
करालं महाकालकालं कृपालम् । गुणागार संसारपारं नतोऽहम् ॥२॥

रूप रहित, ओङ्कार के मूल, तुरीय, (मोक्ष रूप चैतन्य) वाणी, ज्ञान और इन्द्रियों से परे ईश्वर, कैलास के स्वामी, विकराल महाकाल के भी काल, कृपा के स्थान, गुणों के भण्डार और संसार के लगाव से अलग शिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥

तुषाराद्रिसङ्काशगौरं गँभीरम् । मनोभूत कोटि प्रभा श्रीशरीरम् ॥
स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गङ्गा । लसद्भालबालेन्दु कण्ठे भुजङ्गा ॥३॥

हिमालय पर्वत के समान गौर वर्ण, सहनशील और करोड़ों कामदेव की शोभा आप के शरीर में है। मस्तक पर सुन्दर कलकल शब्द करती हुई गङ्गाजी लहराती हैं, ललाट में बाल-चन्द्रमा और गले में साँप सुशोभित हैं ॥३॥

चलत्कुण्डलं सुभ्रनेत्रं विशालम् । प्रसन्नाननं नीलकण्ठं दयालम् ॥
मृगाधीशचर्माम्बरं मुण्डमालम् । प्रियं शङ्करं सर्वनाथं भजामि ॥४॥

चञ्चल कुण्डल, सुन्दर विशाल नेत्र, प्रसन्न-मुख, गला श्याम, दया के स्थान, सिंह के चर्म का वस्त्र, नरमुण्डों की माला पहने हुए, सब के स्वामी और सब के प्यारे शङ्करजी को मैं भजता हूँ ॥४॥

गुटका में 'चलत्कुडलं भ्रू सु नेत्रं विशालं' पाठ है। वहाँ सुन्दर भृकुटी और विशाल नेत्र अर्थ होगा। चतुर्थ चरण में, 'भजामि' शब्द में 'म' अक्षर-लघु है वह दीर्घ उच्चारण होना चाहिये, अन्यथा छन्द की गति में अन्तर पड़ता है और छन्दोभङ्ग दोष आता है। यदि मुझे पाठ बदलने का अधिकार होता तो उसको 'भजामी' बना देता।

प्रचण्डं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशम् । अखण्डं अजं भानुकोटिप्रकाशम् ॥
त्रयःशूलनिर्मूलनं शूलपाणिम् । भजेहं भवानीपतिं भावगम्यम् ॥५॥

तेजस्वी, सर्वोत्तम, प्रतिभान्वित (निर्भय) श्रेष्ठ स्वामी, निर्विघ्न, अजन्मे, करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशवान, तीनों (दैहिक, दैविक, भौतिक) शूलों के विनाशक, हाथ में त्रिशूल लिये भाव से मिलनेवाले, भावनी के पति (शिवजी) को मैं भजता हूँ ॥ ५ ॥

कलातीत कल्याण कल्पान्तकारी । सदा सज्जनानन्ददाता पुरारी ॥
चिदानन्दसन्दोह मोहापहारी । प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी ॥६॥

कलाओं से परे, कल्याण और कल्पान्त के करनेवाले, सदा सज्जनों को आनन्ददाता, त्रिपुर दैत्य के वैरी, चैतन्य रूप, आनन्द के राशि, अज्ञान के हरनेवाले और कामदेव के शत्रु प्रभु शङ्करजी मुझ पर प्रसन्न हों, प्रसन्न हूजिये ॥६॥

न यावदुमानाथ पादारविन्दम् । भजन्तीहलोके परे वा नराणाम् ॥
न तावत्सुखं शान्तिसन्तापनाशम् । प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासम् ॥७॥

जब तक उमानाथ के चरण-कमलों का मनुष्य भजन नहीं करते तब तक इस लोक में या परलोक में सुख-शान्ति नहीं पाते और न दुःखों का नाश होता है। हे सब प्राणियों के अन्तःकरण में बसनेवाले प्रभो ! प्रसन्न हूजिये ॥७॥

न जानामि योगं जपं नैव पूजाम् । नतोहं सदा सर्वदा शम्भु तुभ्यम् ॥
जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम् । प्रभो पाहि आपन्नमामीशशम्भो ॥८॥

न मैं योग जानता हूँ और न जप वा पूजा जानता हूँ, हे शम्भु भगवान ! सदा सर्वदा मैं आप को नमस्कार करता हूँ। हे प्रभो, ईश, शम्भो ! बुढ़ाई, जन्म और दुःख की अधिकता से जलते हुए शरण में प्राप्त जान कर मेरी रक्षा कीजिये ॥८॥

अनुष्टुप-वृत्त ।

रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये ।
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शम्भुः प्रसीदति ॥१॥

यह रुद्राष्टक (आठ वृत्तों का स्तोत्र) ब्राह्मण ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिये कहा। जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक इसका पाठ करेंगे, उन पर शङ्कर जी प्रसन्न होंगे ॥१॥

दो०—सुनि बिनती सर्बज्ञ सिव, देखि बिप्र अनुराग ।
पुनि मन्दिर नभबानी, भइ द्विजबर बरमाँग ॥

सर्वज्ञ शिवजी विनती सुन कर और ब्राह्मण का प्रेम देख कर प्रसन्न हुए। फिर मन्दिर में आकाशवाणी हुई कि—हे विप्र श्रेष्ठ ! वर माँगो।
सभा की प्रति में 'मन्दिर नभ बानी भई, द्विजबर अब वर माँगु' पाठ है।

जौं प्रसन्न प्रभु मोपर, नाथ दीन पर नेहु ।
निज पद भगति देइ प्रभु, पुनि दूसर बर देहु ॥

हे स्वामिन् ! यदि मुझ पर आप प्रसन्न हैं और इस दीन पर स्नेह है तो—हे प्रभो ! पहले अपने चरणों की भक्ति देकर फिर दूसरा वर दीजिये।
सभा की प्रति में 'निज पद-पद्म भगति दृढ़, पुनि दूसर बर देहु' पाठ है।

तव माया बस जीव जड़, सन्तत फिरइ भुलान ।
तेहि पर क्रोध न करियप्रभु, कृपासिन्धु भगवान ॥

यह मूर्ख जीव आप की माया के अधीन होकर भुलाया हुआ निरन्तर संसार में भटकता फिरता है। हे प्रभो! आप दयासागर भगवान हैं उस पर क्रोध न कीजिये।

सङ्कर दीनदयाल अब, एहि पर होहु कृपाल ।
साप अनुग्रह होइ जेहि, नाथ थोरेहो काल ॥१०८॥

हे दीनदयाल शङ्करजी! अब आप इस पर दयालु हो। हे नाथ! थोड़े ही काल में जिसमें इसका शाप अनुग्रह (अनिष्ट-निवारण) हो जाय ॥१०८॥

इस प्रकरण में शिवजी के कोप रूप भाव की शान्ति विप्रानुराग रूपी रतिभाव के अङ्ग से हुई है। यह 'समाहित अलंकार'।

चौ०—एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना ॥
बिप्र गिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभबानी ॥१॥

हे कृपानिधान! अब वही कीजिये जिसमें इसका परम कल्याण हो। पराये हित से युक्त ब्राह्मण की वाणी सुनकर यह आकाश वाणी हुई कि ऐसा ही हो ॥१॥

जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह क्रोध करि सापा ॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेखी ॥२॥

यद्यपि इसने भीषण पाप किया, फिर मैंने क्रोध करके शाप दिया। तो भी तुम्हारी साधुता देख कर इस पर अधिक अनुग्रह करूँगा ॥२॥

छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ॥
मोर साप द्विज व्यर्थ न जाइहि। जनम सहस्र अवसि यह पाइहि ॥३॥

जो क्षमाशील और परोपकारी हैं वे ब्राह्मण मुझे रामचन्द्रजी के समान प्यारे हैं। हे विप्र! मेरा शाप व्यर्थ न जायगा, अवश्य ही यह एक हज़ार जन्म पावेगा ॥३॥

जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पउ नहिं ब्यापिहि सोई ॥
कवनहुँ जनम मिटिहि नहिं ज्ञाना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना ॥४॥

हाँ—जन्मते और मरते असहनीय दुःख होता है, वह इसको थोड़ा भी न व्यापेगा और किसी जन्म में इसका ज्ञान न मिटेगा। इतना ब्राह्मण से कह कर फिर मुझे सम्बोधन करके नभवाणी हुई—अरे शूद्र! मेरा प्रमाणिक वचन सुन ॥४॥

रघुपति-पुरी जनम तव भयऊ। पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ ॥
पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे ॥५॥

रघुनाथजी की पुरी में तेरा जन्म हुआ, फिर तू ने मेरी सेवा में मन लगाया। पुरी की महिमा और मेरी कृपा से तेरे हृदय में रामभक्ति उत्पन्न होगी ॥५॥

रामभक्ति उत्पन्न होने के लिये अयोध्यापुरी में जन्म लेना एक ही कारण पर्याप्त था, साथ ही शिवजी की कृपा दूसरा प्रबल हेतु उपस्थित होना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है ।

सुनु मम बचन सत्य अब भाई । हरि तोषन-ब्रत द्विज सेवकाई ॥
अब जनि करहि बिप्र अपमाना । जानेसु सन्त अनन्त समाना ॥६॥

हे भाई ! अब मेरे सत्य वचन को सुन, रामचन्द्रजी को प्रसन्न करने का व्रत (पवित्र कर्म) ब्राह्मण की सेवा करना है । अब ब्राह्मण का अपमान मत करना, सन्तों को भगवान के समान ही समझना ॥६॥

सभा की प्रति में 'सत्य अति भाई' पाठ है ।

इन्द्रकुलिस मम सूल बिसाला । कालदंड हरिचक्र कराला ॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई । बिप्र द्रोह-पावक सो जरई ॥७॥

इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल, यमराज के दण्ड और विष्णु के विकराल चक्र से, जो इनके मारे नहीं मरता वह ब्राह्मण के बैर रूपी अग्नि में जल जाता है ॥७॥

जो वज्र त्रिशूल यमदण्ड और हरिचक्र के मारे नहीं मरता, वह सामान्य जीव नहीं है । महान् देवों के समान आदरणीय है, किन्तु विप्र-द्रोह रूपी आग में उसको जलनेवाला कह कर अयोग्य ठहराना और इस सम्बन्ध से विप्र-द्वेष की अतिशय भीषणता प्रकट करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है ।

अस बिबेक राखेहु मन माहीं । तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
अउरउ एक आसिषा मोरी । अप्रतिहत-गत होइहि तोरी ॥८॥

ऐसा विचार मन में रखना तो तुमको संसार में कुछ भी दुर्लभ न रहेगा । एक और भी मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हारी गति कहीं रुकनेवाली न होगी अर्थात् इच्छानुसार लोकों में तथा सभी स्थानों में जा सकोगे ॥८॥

दो०—सुनि सिव बचन हरषि गुरु, एवमस्तु इति भाखि ।
मोहि प्रबोधि गयउ गृह, सम्भु-चरन उर राखि ॥

शिवजी के वचन सुन गुरुजी प्रसन्न हो कर बोले कि यह ऐसा ही होगा । मुझे समझा कर और शङ्करजी के चरणों को हृदय में रख कर वे घर को गये ।

प्रेरित काल बिन्धिगिरि, जाइ भयउँ मैं ब्याल ।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु, तजेउँ गये कछु काल ॥

काल की प्रेरणा से मैं विन्ध्याचल पर जा कर सर्प हुआ, फिर कुछ काल बीतने पर बिना परिश्रम ही उस शरीर को त्याग दिया ।

जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान ।
जिमि नूतन पट पहिरइ, नर परिहरइ पुरान ॥

हे हरिवाहन ! जो शरीर धारण करता था फिर बिना श्रम उसको त्याग देता था । इस तरह सहज में छोड़ता था जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र त्याग कर नया पहनते हैं ।

सिव राखी स्रुति नीति अरु, मैं नहिँ पावा क्लेस ।
एहि बिधि धरेउँ बिबिध तनु, ज्ञान न गयउ खगेस ॥१०९॥

शिवजी ने वेदनीति की रक्षा की और मैं ने क्लेश नहीं पाया । हे पक्षिराज ! इस तरह बहुत सा शरीर धारण किया; किन्तु मेरा ज्ञान नहीं गया अर्थात् प्रत्येक जन्मों की सुध अब तक बनी है ॥१०९॥

सभा की प्रति में 'मैं नहिँ पाव कलेस' पाठ है ।

चौ०—त्रिजग देव नर जो तनु धरऊँ । तहँ तहँ रामभजन अनुसरऊँ ॥
एक सूल मोहिँ बिसर न काऊ । गुरु कर कोमल सील सुभाऊ ॥१॥

तीनों लोकों में देवता मनुष्यादि के जो शरीर धरता था, वहाँ वहाँ रामभजन का अनुसरण करता था । गुरुजी का कोमल स्वभाव और शील (समझ कर अपने मूर्खतापूर्ण दुराग्रह का यह) एक दुःख मुझे कभी भूलता नहीं है ॥१॥

चरम-देह द्विज कै मैं पाई । सुर-दुर्लभ पुरान स्रुति गाई ॥
खेलउँ तहाँ बालकन्ह मीला । करउँ सकल रघुनायक लीला ॥२॥

अन्तिम देह मैं ने ब्राह्मण की पाई अर्थात् वर्तमान शरीर जो शाप से काग हुआ हूँ, वेद और पुराणों ने ब्राह्मण का तनु देवताओं को दुर्लभ कहा है । वहाँ बालकों में मिल कर खेलता था और सम्पूर्ण रघुनाथजी की लीला करता था ॥२॥

सभा की प्रति में 'धरमदेह मैं द्विज कै पाई' पाठ है और चरम को पाठान्तर माना गया है । परन्तु यहाँ प्रसङ्गानुकूल 'चरम' पाठ प्रधान और 'धरम' पाठान्तर प्रतीत होता है । शूद्र तनु को प्रथम कह कर फिर हज़ार बार अजगर की देह और असंख्यों बार देवता मनुष्यादि के शरीर धारण करने की चर्चा कर के कागभुशुण्डजी कहते हैं कि सब से अन्त का शरीर मुझे ब्राह्मण का मिला, इसके बाद फिर जन्म नहीं लिया । लोमशऋषि के शाप से वही शरीर कौए का हुआ है जो अब तक वर्तमान है । चरम शब्द के अन्त, अन्तिम, पीछे का, पिछला, अख़ीर का, ये पर्यायी शब्द हैं ।

प्रौढ़ भये मोहि पिता पढ़ावा । समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिँ भावा ॥
मन तेँ सकल बासना भागी । केवल रामचरन लय लागी ॥३॥

बड़ा होने पर मुझे पिताजी पढ़ाने लगे, उनका पढ़ाना मैं समझता, सुनता और विचारता था, पर वह अच्छा नहीं लगता था । मन से सारी बासनायें जाती रहीं, केवल रामचन्द्रजी के चरणों में लगन लगी ॥३॥

कहु खगेस अस कवन अभागी । खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी ॥
प्रेम मगन मोहि कछु न सुहाई । हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई ॥४॥

हे पक्षिराज! कहिये ऐसा कौन अभागा है जो कामधेनु को छोड़ कर गदही की सेवा करेगा? प्रेम में मग्न रहने के कारण मुझे दूसरी विद्या कुछ नहीं सुहाती थी, पिताजी पढ़ाते पढ़ाते हार गये (पर मैं ने उनकी शिक्षा ग्रहण न की) ॥४॥

भये काल बस जब पितु माता । मैं बन गयउँ भजन जनत्राता ॥
जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावौँ । आस्रम जाइ जाइ सिर नावौँ ॥५॥

जब माता-पिता कालवश परलोकवासी हो गये, तब मैं जनों के रक्षक रामचन्द्रजी का भजन करने वन में गया। वन में जहाँ जहाँ मुनीश्वरों का आश्रम पाता था वहाँ जा जा कर मस्तक नवाता था ॥५॥

बूझउँ तिन्हहिँ राम गुन गाहा । कहहिँ सुनउँ हरषित खगनाहा ॥
सुनत फिरउँ हरिगुन अनुबादा । अब्याहत-गति सम्भु प्रसादा ॥६॥

उनसे रामचन्द्रजी के गुणों का वृत्तान्त पूछता था, हे खगनाथ! वे कहते थे मैं प्रसन्नता से सुनता था। इस तरह भगवान का गुणानुवाद सुनता फिरता था, शिवजी की कृपा से मेरी गति बे-रोक थी (जहाँ इच्छा करता वहीं जा पहुँचता था) ॥६॥

छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी । एक लालसा उर अति बाढ़ी ॥
राम-चरन-बारिज जब देखौँ । तब निज जनम सुफल करि लेखौँ ॥७॥

(पुत्र, धन, जन) तीनों प्रकार की गहरी इच्छायें छूट गईं, हृदय में एक बड़ी लालसा बढ़ी कि जब रामचन्द्रजी के चरण-कमलों के दर्शन करूँ तब अपने जन्म को सफल करके मानूँ ॥७॥

जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई । ईस्वर सर्ब भूत-मय अहई ॥
निर्गुन मत नहिँ मोहि सुहाई । सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई ॥८॥

जिससे मैं पूछता वही मुनि ऐसा कहते थे कि ईश्वर समस्त जीवों में वर्तमान है। परन्तु निर्गुण-मत मुझे नहीं सुहाता था, मेरे हृदय में सगुण-ब्रह्म पर अधिक प्रीति थी ॥८॥

दो०—गुरु के बचन सुरति करि, रामचरन मन लाग ।
रघुपति जस गावत फिरउँ, छन छन नव अनुराग ॥

गुरुजी के वचन स्मरण करके मेरा मन रामचन्द्रजी के चरणों में लग गया। क्षण क्षण नवीन प्रेम से रघुनाथजी का यश गान करता फिरता था।

मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन ।
देखि चरन सिर नायउँ, बचन कहेउँ अति दीन ॥

हिमालय पहाड़ की चोटी पर वड़ वृक्ष की छाँह में लोमशमुनि विराजमान थे । उन्हें देख कर मैं ने चरणों में मस्तक नवाया और अत्यन्त दीनता से वचन कहा ।

सुनि मम बचन बिनीत मृदु, मुनि कृपाल खगराज ।
मोहि सादर पूछत भये, द्विज आयउ केहि काज ॥

मेरे नम्रता युक्त कोमल वचन सुन कर हे खगराज ! कृपा के स्थान मुनि ने मुझ से आदर के साथ पूछा कि हे ब्राह्मण ! तुम किस कार्य के लिये आये हो ?

तब मैं कहा कृपानिधि, तुम्ह सर्बज्ञ सुजान ।
सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु भगवान ॥११०॥

तब मैं ने कहा—हे कृपानिधे ! आप सब के ज्ञाता और प्रवीण हैं, हे भगवान ! सगुण-ब्रह्म की उपासना मुझ से कहिये ॥ ११० ॥

सभा की प्रति में 'सगुण ब्रह्म आराधना' पाठ है ।

चौ०-तब मुनीस रघुपति गुन गाथा । कहे कछुक सादर खगनाथा ॥
ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी । मोहि परम अधिकारी जानी ॥१॥

हे पक्षिराज ! तब मुनिराज ने आदर के साथ कुछ रघुनाथजी के गुणों के वृत्तान्त कहे । वे विज्ञानी मुनि ब्रह्मज्ञान में तत्पर मुझे अति श्रेष्ठ अधिकारी जान कर ॥ १ ॥

लागे करन ब्रह्म उपदेसा । अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ॥
अकल अनीह अनाम अरूपा । अनुभवगम्य अखंड अनूपा ॥२॥

मुनिज्ञान का उपदेश करने लगे कि वह परमात्मा अजन्मा, अद्वितीय, निर्गुण, हृदय का स्वामी, अखण्ड, इच्छा, नाम और रूप रहित, अविच्छिन्न, अनुपम और अनुभव से जानने योग्य है ॥ २ ॥

मन गोतीत अमल अबिनासी । निर्बिकार निरवधि सुखरासी ॥
सो तैं ताहि तोहि नहिँ भेदा । बारि बीच इव गावहिँ बेदा ॥३॥

मन और इन्द्रियों से परे, निर्मल, नाश रहित, निर्दोष, असीम और सुख की राशि है । तू वही (ब्रह्म) है उससे और तुझसे भेद नहीं है, वेद कहते हैं कि (ईश्वर और जीव का अन्तर) पानी और लहर के समान है ॥३॥

बिबिध भाँति मुनि मोहि समुझावा । निर्गुन मत मम हृदय न आवा ॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा । सगुन उपासन कहहु मुनीसा ॥४॥

अनेक प्रकार मुनि ने मुझे समझाया, पर निर्गुण मत मेरे हृदय में नहीं आया । फिर मैं ने चरणों में सिर नवा कर कहा—हे मुनीश्वर ! सगुण ब्रह्म की आराधना कहिये ॥४॥

रामभगति जल मम मन मीना । किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ॥
सो उपदेस कहहु करि दाया । निज नयनन्हि देखउँ रघुराया ॥५॥

हे प्रवीण मुनिराज ! रामभक्ति रूपी जल से मेरा मन रूपी मछली किस तरह अलग हो सकता है ? दया कर के वह उपदेश कीजिये जिसमें रघुनाथजी को अपनी आँखों से देखूँ ॥५॥

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा । तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥
मुनि पुनि कहि हरिकथा अनूपा । खंडि सगुन मत अगुन निरूपा ॥६॥

अयोध्यानाथ को आँख भर देख कर तब निगुण ब्रह्म का उपदेश सुनूँगा। फिर मुनि ने भगवान की अनुपम कथा कही और सगुण मत का खण्डन कर निर्गुण का प्रतिपादन किया ॥६॥

सभा की प्रति में 'खंडि सगुन मत निर्गुन रूपा' पाठ है।

तब मैं निर्गुन मत करि दूरी । सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥
उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा । मुनि तनु भये क्रोध के चीन्हा ॥७॥

तब मैं ने निर्गुण मत को दूर कर अत्यन्त हठ के साथ सगुण मत का प्रतिपादन किया। इस तरह मैं ने उत्तर प्रत्युत्तर किया जिससे मुनि के शरीर में क्रोध के लक्षण प्रकट हुए ॥७॥

सभा की प्रति में 'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी' पाठ है।

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये । उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये ॥
अति सङ्घरषन जौँ कर कोई । अनल प्रगट चन्दन तेँ होई ॥८॥

हे प्रभो ! सुनिये, बहुत अनादर (आज्ञा का उल्लङ्घन) करने से ज्ञानियों के हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई अत्यन्त रगड़ करे तो चन्दन से आग पैदा होती है ॥८॥

दो०—बारम्बार सकोप मुनि, करइ निरूपन ज्ञान ।
मैं अपने मन बैठ तब, करउँ बिबिध अनुमान ॥

मुनि बार बार क्रोध से ज्ञान का प्रतिपादन (विवेचना पूर्वक निर्णय) करते थे, तब मैं बैठा हुआ अपने मन में तरह तरह के विचार करता था।

क्रोध कि द्वैत-बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान ।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान ॥१११॥

क्या द्वैतबुद्धि के बिना क्रोध हो सकता है ? और क्या बिना अज्ञान के द्वैत होता है ? (कदापि नहीं)। ईश्वर से अलग हुआ माया के अधीन मूर्ख जीव क्या ईश्वर के समान हो सकता है ? (कभी नहीं) ॥१११॥

सभा की प्रति में 'द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि' पाठ है। कागभुशुण्डजी मन में अनुमान करते हैं कि मुनि के मन में क्रोध बिना द्वैत के नहीं है फिर अद्वैत निरूपण कैसा ? अज्ञान ही से क्रोध आता है तब मायाधीन जीव कैसे ईश्वर के बराबर है ?

चौ०—कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके । तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके ॥
पर द्रोही की होहिं निसङ्का । कामी पुनि कि रहहिं अकलङ्का ॥१॥

क्या कभी उसको दुःख हो सकता है जो पराये का कल्यान चाहता है ? क्या वह दरिद्र हो सकता है जिसके पास पारसमणि है ? क्या दूसरे से वैर करनेवाले निर्भय हो सकते हैं ? फिर क्या कामी-पुरुष निष्कलङ्क रहते हैं ? (कभी नहीं) ॥१॥

सभा की प्रति में 'परद्रोही कि होहि निःसङ्का' पाठ है। यहाँ कागभुशुण्डजी का अनुमान है कि— परोपकारी मुनि के मन में दुःख क्यों हो रहा है ? ब्रह्मज्ञान रूपी पारसमणि जिसके हृदय म विद्यमान रहेगी, वह द्वेषरूपी दरिद्रता का कष्ट पावेगा ? जब वह सगुण ब्रह्म के द्रोही हैं तब निर्भय कैसे रह सकते हैं ?

बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे । कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे ॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी । सुभगति पाव कि परत्रिय-गामी ॥२॥

ब्राह्मण की बुराई करने से क्या वंश रह सकता है ? अपना रूप (वह ईश्वर मैं हूँ) पहचान लेने पर क्या कर्म हो सकते हैं ? (कदापि नहीं)। दुष्ट के सङ्ग में क्या किसी को सुबुद्धि उत्पन्न हुई है ? क्या पराई स्त्री से गमन करनेवाला अच्छी गति पाता है ? (कभी नहीं) ॥२॥

भव कि परहिं परमात्मा-बिन्दक । सुखी कि होहिं कबहुँ हरि निन्दक ॥
राज कि रहइ नीति बिनु जाने । अघ कि रहहिं हरिचरित बखाने ॥३॥

क्या परमात्मा को जाननेवाले संसार में पड़ते हैं ? और भगवान का निन्दा करनेवाले क्या कभी सुखी होते हैं ? (कदापि नहीं)। बिना नीति जाने क्या राज्य रह सकता है ? और हरिचरित्र वर्णन करने पर क्या पाप रह सकते हैं ? (कभी नहीं) ॥३॥

सभा की प्रति में 'सुखी कि होहिँ कबहुँ परनिन्दक' पाठ है ।

पावन जस कि पुन्य बिनु होई । बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ॥
लाभ कि किछु हरिभगति समाना । जेहि गावहिँ श्रुति सन्त पुराना ॥४॥

क्या पवित्र यश बिना पुण्य के होता है ? क्या बिना पाप के कोई कलंक पाता है ? (कदापि नहीं)। क्या भगवान की भक्ति के समान कुछ दूसरा लाभ है ? जिसको वेद, पुराण और सन्त गाते हैं ॥४॥

हानि कि जग एहि सम किछु भाई । भजिय न रामहिँ नर तनु पाई ॥
अघ कि पिसुनता सम कछु आना । धर्म कि दया सरिस हरिजाना ॥५॥

हे भाई ! क्या संसार में इसके समान कुछ हानि है कि मनुष्य-देह पा कर रामचन्द्रजी का भजन न करना ? क्या चुगुलखोरी के समान कुछ दूसरा पाप है ? हे विष्णु बाहन ! क्या दया के समान दूसरा धर्म है ? (कोई नहीं) ॥५॥

सभा की प्रति में 'अघ कि पिसुन तामस कछु आना' पाठ है ।

एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनऊँ । मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ ॥
पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा । तब मुनि बोले बचन सकोपा ॥६॥

इस तरह बहुत सी युक्ति मन में विचारता था और मुनि का उपदेश आदर के साथ नहीं सुनता था। बार बार मैं ने सगुण का पक्ष आरोपण किया, तब मुनि क्रोध से भर कर वचन बोले ॥६॥

मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि । उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि ॥
सत्य बचन बिस्वास न करही । बायस इव सबही तें डरही ॥७॥

अरे मूर्ख ! मैं अत्युत्तम शिक्षा देता हूँ उसको नहीं मानता और बहुत सा उत्तर प्रत्युत्तर करता है। सच्चे वचन पर विश्वास नहीं करता, कौए की तरह सभी से डरता है ? ॥७॥

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला । सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥
लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई । नहिँ कछु भय न दीनता आई ॥८॥

अरे दुष्ट ! तेरे मन में अपनी बात का बड़ा भारी हठ है, तू तुरन्त (अभी) चाण्डाल पक्षी हो जा। मैं ने शाप को सिर पर चढ़ा लिया, उससे मुझे कुछ भय नहीं हुआ और न दीनता आई ॥८॥

दो०--तुरत भयउँ मैं काग तब, पुनि मुनिपद सिर नाइ।
सुमिरि राम रघुबंसमनि, हरषित चलेउँ उड़ाइ ॥

तब मैं तुरन्त कौआ हुआ फिर मुनि के चरणों में सिर नवा कर और रघुकुल के मणि रामचन्द्र जी का स्मरण करके प्रसन्नता से उड़ कर चला।

पार्वती जी ने प्रश्न किया कि मुनि को क्रोध आ गया, पर भुशुण्डीजी को क्रोध नहीं आया इसका क्या कारण है ?

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिँ जगत, केहि सन करहिँ बिरोध ॥११२॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! जो काम, मद और क्रोध से रहित होकर रामचन्द्रजी के चरणों में संलग्न हैं, वे जगत को अपने स्वामी मय देखते हैं फिर विरोध किससे करें ? ॥११२॥

रामभक्त किसी से विरोध नहीं रखते, इस बात को हेतु सूचक सिद्धान्त से पुष्ट करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

चौ०--सुनु खगेस नहिँ कछु रिषि दूषन । उर प्रेरक रघुबंस-बिभूषन ॥
कृपासिन्धु मुनि मति करि भोरी । लीन्ही प्रेम परीछा मोरी ॥१॥

हे पक्षिराज ! सुनिये, ऋषि का कुछ दोष नहीं, क्योंकि हृदय में प्रेरणा करने वाले रघुनाथजी हैं। रघुकुल के भूषण कृपासागर रामचन्द्रजी ने मुनि की बुद्धि को भोली करके मेरे प्रेम की परीक्षा ली ॥१॥

गरुड़जी को सन्देह हुआ कि मननशील मुनि ने सगुण ब्रह्म की उपासना पूछने पर क्रोध क्यों किया ? तब कागभुशुण्डजी ने ऋषि के सच्चे दोष को छिपा कर, उस को रामचन्द्रजी की प्रेरणा कह कर शङ्का दूर करने की चेष्टा की 'छेकापह्नुति अलंकार' है ।

मन बच क्रम मोहि निज जन जाना । मुनि मति पुनि फेरी भगवाना ॥
रिषि मम महतसीलता देखी । राम चरन बिस्वास बिसेखी ॥२॥

मन, वचन और कर्म से मुझे अपना दास जान कर फिर भगवान ने मुनि की बुद्धि को फेरा । ऋषि ने मेरा बहुत बड़ा शीलत्व और रामचन्द्रजी के चरणों में अधिक विश्वास देख कर ॥२॥

सभा की प्रति में 'रिषि मम सहनशीलता देखी' पाठ है ।

अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई । सादर मुनि मोहि लीन्ह बुलाई ॥
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा । हरषित राममन्त्र तब दीन्हा ॥३॥

बड़े आश्चर्य्य से बार बार पछताकर मुनि ने आदर के साथ मुझे बुला लिया । अनेक प्रकार से मुझे सन्तुष्ट किया और प्रसन्न होकर फिर मुझे राममन्त्र दिया ॥३॥

बालक रूप राम कर ध्याना । कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना ॥
सुन्दर सुखद मोहि अति भावा । सो प्रथमहिँ मैँ तुम्हहिँ सुनावा ॥४॥

कृपानिधान मुनि ने मुझ से बालक रूप रामचन्द्रजी का ध्यान करने को कहा जो सुन्दर सुख देनेवाला मुझे बहुत अच्छा लगा, वह पहले ही मैं ने आप को सुनाया है ॥४॥

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा । रामचरितमानस तब भाखा ॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई । पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई ॥५॥

मुनि ने मुझे वहाँ कुछ काल तक ठहराया, तब उन्हों ने रामचरितमानस वर्णन किया। आदर के साथ मुझे यह कथा सुनाई, फिर मुनि सुन्दर वचन बोले ॥५॥

रामचरितसर गुप्त सुहावा । सम्भु प्रसाद तात मैँ पावा ॥
तोहि निज भगत राम कर जानी । तातेँ मैँ सब कहेउँ बखानी ॥६॥

हे तात ! यह सुहावना रामचरितमानस गुप्त वस्तु है, इसको मैं ने शिवजी की कृपा से पाया । तुझ को रामचन्द्रजी का सच्चा भक्त जान कर इससे सब बखान कर मैं ने कहा ॥६॥

रामभगति जिन्ह के उर नाहीँ । कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीँ ॥
मुनि मोहि बिबिधि भाँति समुझावा । मैँ सप्रेम मुनि पद सिर नावा ॥७॥

हे पुत्र ! जिनके हृदय में रामभक्ति नहीं है, उनसे यह कथा कभी न कहनी चाहिये । मुनि ने मुझे बहुत तरह समझाया और मैं मुनि के चरणों में प्रेम से मस्तक नवाया ॥७॥

निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्हि मुनीसा॥
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥८॥

अपने कमल-हाथों को मेरे सिर पर फेर मुनीश्वर ने प्रसन्न हो कर आशीर्वाद दिया कि अब मेरी कृपा से तुम्हारे हृदय में सदा लगातार रामभक्ति बसेगी॥८॥

दो०—सदा राम प्रियहोब तुम्ह, सुभगुन-भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन, ज्ञान बिराग निधान॥

तुम सदा रामचन्द्रजी को प्रिय और शुभगुणों के स्थान तथा निरभिमान होगे। मनमाना रूप धारण कर सकोगे, इच्छा करने पर मरोगे (अन्यथा तुम्हें काल न व्यापेगा) और ज्ञान वैराग्य के भण्डार होगे॥

जेहि आस्रम तुम्ह बसब पुनि, सुमिरत श्रीभगवन्त।
ब्यापिहि तहँ न अबिद्या, जोजन एक प्रजन्त॥११३॥

फिर तुम भगवान रामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए जिस आश्रम में बसोगे, वहाँ एक योजन पर्यन्त अविद्या-माया न व्यापेगी॥११३॥

चौ०—कालकरमगुनदोषसुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिँ न ब्यापिहि काऊ॥
राम रहस्य ललित बिधिनाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥१॥

काल, कर्म और स्वभाव के गुण-दोष का दुःख तुम को कभी कुछ न होगा। नाना प्रकार रामचन्द्रजी के सुन्दर रहस्य छिपे हुए और प्रत्यक्ष पुराणों के इतिहास॥१॥

बिनु स्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह राम-पद होऊ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीँ। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीँ॥२॥

वह सब तुम बिना परिश्रम जानोगे और रामचन्द्रजी के चरणों में नित्य नया स्नेह होगा। मन में जो इच्छा करोगे भगवान की कृपा से कुछ दुर्लभ नहीं अर्थात् सारी कामनाएँ सहज में पूरी होंगी॥२॥

सुनि मुनि आसिष सुनु मति धीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥
एवमस्तु तव बच मुनिज्ञानी। यह मम भगत करम मन बानी॥३॥

हे मतिधीर! सुनिये, मुनि के आशीर्वाद को सुन कर आकाश से गम्भीर ब्रह्मवाणी हुई कि हे ज्ञानीमुनि! तुमने जो कहा ऐसा ही हो, क्योंकि यह कर्म, मन और वाणी से मेरा भक्त है॥३॥

सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेम मगन सब संसय गयऊ॥
करि बिनती मुनि आयसु पाई। पद-सरोज पुनि पुनि सिर नाई॥४॥

आकाशवाणी सुन कर मुझे हर्ष हुआ, सब सन्देह दूर हो गया और मैं प्रेम में मग्न हुआ। बिनती करके मुनि की आज्ञा पा कर और बार बार चरण कमलों में सिर नवाया॥४॥

हरष सहित एहि आस्रम आयेउँ । प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पायेउँ ॥
इहाँ बसत मोहि सुनु खगईसा । बीते कलप सात अरु बीसा ॥५॥

आनन्द-पूर्वक इस आश्रम में आया, प्रभु रामचन्द्रजी की कृपा से दुर्लभ वर मिला। हे पक्षिराज! सुनिये, यहाँ बसते मुझे सात और बीस (सत्ताइस) कल्प बीत गये ॥५॥

कल्प की व्याख्या लङ्काकाण्ड के आदि में प्रथम दोहा के नीचे की टिप्पणी देखो।

करउँ सदा रघुपति गुन गाना । सादर सुनहिँ बिहङ्ग सुजाना ॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा । धरहिँ भगत-हित मनुज सरीरा ॥६॥

सदा रघुनाथजी के गुणों का गान करता हूँ, उसको आदर के साथ चतुर पक्षी सुनते हैं। जब जब रघुनाथजी भक्तों के कल्याण के लिये अयोध्यापुरी में मनुष्य शरीर धरते हैं ॥६॥

तब तब जाइ रामपुर रहऊँ । सिसुलीला बिलोकि सुख लहऊँ ॥
पुनि उर राखि राम सिसु रूपा । निज आस्रम आवउँ खगभूपा ॥७॥

तब तब जा कर मैं रामचन्द्रजी की पुरी में रहता हूँ बाललीला देख कर आनन्दित होता हूँ। फिर रामचन्द्रजी का बालक रूप हृदय में रख कर, हे! खगराज! अपने आश्रम को लौट आता हूँ ॥७॥

कथा सकल मैं तुम्हहिँ सुनाई । काग-देह जेहि कारन पाई ॥
कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी । रामभगति महिमा अति भारी ॥८॥

जिस कारण मैं कौए का शरीर पाया वह सारी कथा आपको सुनाई। हे तात! आप की समस्त प्रश्नावली और रामभक्ति की बहुत बड़ी महिमा मैं ने कही ॥८॥

दो०—तातेँ यह तन मोहि प्रिय, भयउ राम-पद नेह ।
निज प्रभु दरसन पायउँ, गयउ सकल सन्देह ॥

इससे यह शरीर मुझे प्यारा है कि इसी देह में रामचन्द्रजी के चरणों में स्नेह हुआ। अपने स्वामी का दर्शन पाया और सम्पूर्ण सन्देह दूर हो गया।

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ, दीन्हि महारिषि साप ।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ, देखहु भजन प्रताप ॥११४॥

मैं भक्तिपक्ष का हठ करता ही रहा, जिससे महाऋषि ने शाप दिया। भजन का प्रताप देखिये कि जो वर मुनियों को दुर्लभ है वह वर पाया ॥११४॥

हठ करना दोष है, पर भक्तिपक्ष के हठ को गुण रूप मान कर उसकी इच्छा करना 'अनुज्ञा अलंकार' है यहाँ गरुड़जी के चारों प्रश्नों का उत्तर पूरा हो गया।

चौ०—जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिँ पय लागी ॥१॥

जो ऐसी भक्ति को जान कर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञान के लिए परिश्रम करते हैं। वे मूर्ख घर में कामधेनु को त्याग कर दूध के लिये मदार का पेड़ ढूँढ़ते फिरते हैं ॥१॥

सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिँ आन उपाई ॥
ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिँ जड़ करनी ॥२॥

हे पक्षिराज! सुनिये, भगवान की भक्ति को छोड़ कर जो दूसरे उपायों से सुख चाहते हैं, वे मूर्ख बिना नाव के महासागर को अपनी जड़ करनी से तैर कर पार होना चाहते हैं ॥२॥

सुनि भुसुंडि के बचन भवानी। बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी ॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीँ। संसय सोक मोह भ्रम नाहीँ ॥३॥

शिवजी कहते हैं—हे भवानी! भुशुण्डी के वचन सुन कर गरुड़ प्रसन्न होकर कोमल वाणी से बोले। हे स्वामिन्! आप की कृपा से मेरे हृदय में सन्देह, शोक, अज्ञान और भ्रम नहीं है ॥३॥

सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिस्रामा ॥
एक बात प्रभु पूछउँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही ॥४॥

रामचन्द्रजी के पवित्र गुणों को सुना और आपकी कृपा से विश्राम पाया। हे कृपा-निधान प्रभो! मैं आप से एक बात पूछता हूँ, वह मुझे समझा कर कहिये ॥४॥

कहहिँ सन्त मुनि बेद पुराना। नहिँ कछु दुर्लभ ज्ञान समाना ॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाँई। नहिँ आदरेहु भगति की नाँई ॥५॥

वेद, पुराण, सन्त और मुनि कहते हैं कि ज्ञान के समान दुर्लभ पदार्थ दूसरा कुछ नहीं है। हे स्वामिन्! वही ज्ञान लोमशजी ने आप से कहा पर भक्ति की तरह आप ने उसका आदर नहीं किया ॥५॥

ज्ञानहिँ भगतिहि अन्तर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता ॥
सुनि उरगारि बचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना ॥६॥

हे कृपानिधान स्वामिन्! ज्ञान और भक्ति से कितना अन्तर है? वह समस्त कहिये। इस प्रकार गरुड़ के वचन सुन कर चतुर कागभुशुण्ड प्रसन्न होकर आदर से बोले ॥ ६ ॥

भगतिहि ज्ञानहि नहिँ कछु भेदा। उभय हरहिँ भवसम्भव खेदा ॥
नाथ मुनीस कहहिँ कछु अन्तर। सावधान सोउ सुनु बिहङ्ग बर ॥७॥

भक्ति और ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, दोनों संसार से उत्पन्न क्लेश को हरते हैं। हे नाथ! मुनीश्वर लोग कुछ अन्तर कहते हैं, पक्षिश्रेष्ठ! उसको सावधान होकर सुनिये ॥ ७ ॥

ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती ॥८॥

हे हरिबाहन! सुनिये, ज्ञान वैराग्य योग और विज्ञान ये सब पुरुष-वर्ग हैं। पुरुष सब तरह प्रतापवान और बली होता है; अबला (स्त्री) सहज ही मूर्ख जाति की निर्बल होती है ॥ ८ ॥

दो०—पुरुष त्यागि सक नारिहि, जो बिरक्त मतिधीर।
नतु कामी बिषयाबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥

वही पुरुष स्त्री को त्याग सकेगा जो वैराग्यवान और धीर-बुद्धि होगा, न कि कामी, विषयाधीन और जो रघुनाथजी के चरणों से विपरीत है।

अबला जो स्वाभाविक मूर्ख जाति और निर्बल है, वह प्रबल प्रतापी पुरुषों को सहज ही काबू में किये है। अपूर्ण हेतु से कार्य्य पूर्ण होना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है। सभा की प्रति में 'नतु कामी जो विषय बस' पाठ है।

सो०—सो मुनि ज्ञान निधान, मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिकल होहिं हरिजान, नारि बिस्व माया प्रगट॥११५॥

वे ज्ञाननिधान मुनि मृगनैनी चन्द्राननी नायिका को देख कर विकल हो जाते हैं, हे हरियान! संसार में स्त्री प्रत्यक्ष माया है॥ ११५॥

चौ०—इहाँ न पच्छपात कछु राखौं। बेद पुरान सन्त मत भाखौं॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥१॥

यहाँ कुछ पक्षपात न रख कर वेद पुराण और सन्तों का सिद्धान्त कहता हूँ। हे गरुड़जी! यह अनुपम रीति है कि स्त्री (काम भाव से) स्त्री के रूप पर मोहित नहीं होती॥१॥

यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि—'रङ्गभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी' इस चौपाई के विपरीत कथन है। परन्तु ऐसा नहीं है, रङ्गभूमि में जगन्माता की छबि पर स्त्री-पुरुषों का मोहित होना कहा गया है किन्तु काम भाव से नहीं। रूप लावण्य पर प्रसन्न होकर शुद्धभाव से मुग्ध होना दूसरी बात है। यहाँ का तात्पर्य यह है कि कामभाव से किसी सुन्दरी पर कोई स्त्री कदापि मोहित नहीं होती। शङ्का निर्मूल है।

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि-बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बेचारी॥२॥

हे पक्षिराज! आप सुनिये, माया और भक्ति दोनों स्त्री-वर्ग हैं, इसको सब कोई जानते हैं। फिर भक्ति रघुनाथजी को प्यारी है और माया बेचारी निश्चय ही नाचनेवाली नटिन (वेश्या) है॥२॥

भक्ति और माया दोनों रघुनाथजी की दासी हैं। भक्ति बग़ल में बैठनेवाली पटरानी प्यारी स्त्री है और माया नाचनेवाली वेश्या अर्थात् दूर से तमाशा दिखानेवाली है। यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥
रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥३॥

भक्ति पर रघुनाथजी प्रसन्न रहते हैं, इससे माया उसको बहुत डरती है। अनुपम, उपद्रव रहित, अखण्ड रामभक्ति जिसके हृदय में सदा बसती है॥३॥

तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिँ भगति सकल सुख खानी॥४॥

उस प्राणी को देख कर माया सकुचाती है, कुछ अपनी प्रभुता नहीं कर सकती। ऐसा समझ कर जो विज्ञानी मुनि हैं, सम्पूर्ण सुखों की खानि भक्ति को याचते हैं॥४॥

दो०—यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपा, सपनेहुँ मोह न होइ॥

यह रघुनाथजी का छिपा हुआ इतिहास है, इसको जल्दी कोई नहीं जानता। जो रघुनाथजी के अनुग्रह से जान लेता है, उसको सपने में भी अज्ञान नहीं होता।

औरउ ज्ञान भगति कर, भेद सुनहु सुप्रबीन।
जो सुनि होइ राम-पद, प्रीति सदा अबिछीन॥११६॥

हे सुन्दर प्रवीण गरुड़जी! ज्ञान और भक्ति का और भी भेद सुनिये, जो सुन कर रामचन्द्रजी के चरणों में लगातार एकरस प्रीति होगी॥११६॥

चौ०—सुनहु नाथ यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥१॥

हे नाथ! यह अकथ कहानी सुनिये, समझते बनती है पर बखानी नहीं जा सकती। जीव ईश्वर का अंश, नाश रहित, चैतन्य, निर्मल और स्वाभाविक सुख की राशि है॥१॥

सो माया बस भयउ गोसाँई। बँधेउ कीर मर्कट की नाँई॥
जड़ चेतनहिँ ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥२॥

हे स्वामिन्! वह माया के वश में होकर सुग्गा और बन्दर की तरह बँधा है। जड़ (माया) और चेतन (जीव) की गाँठ पड़ गई यद्यपि वह झूठी है तथापि छूटने में कठिनता है॥२॥

शुक नलिका द्वारा और बन्दर स्वल्प मुख के पात्र द्वारा भोजन के लालच से आप ही आप फँस जाते हैं, उन्हें व्याधा पकड़ लेता है। यदि वे छोड़ कर भाग जाँय तो पकड़े नहीं जा सकते, परन्तु भ्रम वश ऐसा नहीं करते।

तब तेँ जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥
स्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥३॥

(जब से माया और जीव की गाँठ पड़ी) तब से जीव संसारी हुआ, न गाँठ छूटती है और न यह सुखी होता है। वेद पुराणों ने बहुत से उपाय कहे हैं, पर वह छूटती नहीं अधिकाधिक उलझती जाती है॥३॥

जीव हृदय तम मोह बिसेखी। ग्रन्थि छूटि किमि परइ न देखी॥
अस सञ्जोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥४॥

जीव के हृदय में विशेष अज्ञानान्धकार है, जिससे दिखाई नहीं पड़ता फिर गाँठ कैसे छूट सकती है? जब ईश्वर ऐसा संयोग करे तब भी वह कदाचित सुलझ जाय॥४॥

सात्विक स्रद्धा धेनु सुहाई । जो हरिकृपा हृदय बस आई ॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा । जे स्रुति कह सुभ-धरम अचारा ॥५॥

सतोगुणी श्रद्धा रूपी सुन्दर गैया जो भगवान की कृपा से आकर हृदय में निवास करे और जप, तप, व्रत, संयम, नियम आदि जिनको वेद शुभ-धर्म और कल्याणकर आचरण कहते हैं ॥५॥

सात्विकी श्रद्धा और दुधार गैया का घृत दीपक जलाने के लिये प्रस्तुत करने में साङ्गोपाङ्ग रूपक कविजी ने बाँधा है। सभा की प्रति में 'सात्विक स्रद्धा धेनु लवाई' पाठ है। तुरन्त की व्याई हुई गाय को लवाई कहते हैं, सद्यः प्रसूता गौ का घी अच्छा नहीं होता और कम निकलता है। गुटका में और पाँड़ेजी की प्रति में 'सुहाई' पाठ है।

तेइ तृन हरित चरइ जब गाई । भाव बच्छ-सिसु पाइ पेन्हाई ॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा । निर्मल मन अहीर निज दासा ॥६॥

उन हरे हरे तृणों को जब गाय चरे, तब भाव (प्रेम) रूपी बालकबछड़े को पा कर पेन्हाती है। निवृत्ति (संसारी झंझटों से अलग रहने की चेष्टा) नोवना (दूध दुहते समय गाय के पाँवों में बाँधी जाने वाली रस्सी) है, विश्वास बरतन है और निर्मल मन रूपी अहीर गैया का ख़ास सेवक है ॥६॥

परम धरममय पय दुहि भाई । अवटइ अनल अकाम बनाई ॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै । धृति सम जावन देइ जमावै ॥७॥

हे भाई! अत्युत्तम धर्म रूपी दूध को दुह कर और निष्काम रूपी अग्नि बना कर औटावे। तब सन्तोष और क्षमा रूपी पवन से ठंढा करके सौम्यता रूपी जावन दे कर जमावे ॥७॥

दूध को पका कर शीतल करके उसमें थोड़ा दही जमने के लिये डाल दिया जाता है, उस दही को जावन कहते हैं।

मुदिता मथइ बिचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता । बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥८॥

प्रसन्नता रूपी स्त्री विचार रूपी मथानी से मथे, इन्द्रियदमन आधार (जिसमें मथानी का ऊपरी छोर लगा रहता) है, सत्य और सुन्दर वाणी रूपी रस्सी लगावे, तब मथ कर निर्मल पवित्र अच्छा कल्याणकारी वैराग्य रूपी मक्खन निकाल ले ॥८॥

सभा की प्रति में 'विमल विराग सुपरम पुनीता' पाठ है।

दो०—जोग अगिनि करि प्रगट तब, करम सुभासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावइ ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाइ ॥

तब योग रूपी अग्नि प्रकट कर के शुभाशुभ कर्म रूपी ईंधन लगावे। ममता रूपी मैल (माठा) जल जावे, उस ज्ञान रूपी घृत को बुद्धि रूपिणी स्त्री शीतल करे ॥

तब बिज्ञान-रूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरइ दृढ़, समता दियटि बनाइ॥

तब विज्ञान रूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी पा कर चित्त रूपी दिया में भरे और समता रूपी स्थायी दीवट बना कर उसपर धरे।

तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तेँ काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि॥

(जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनों अवस्था और (सत्व, रज, तम,) तीनों गुण रूपी कपास के ढोंढ़ से तुरीयावस्था रूपी रूई निकाल कर फिर सुन्दर मोटी बत्ती सजा कर बनावे।

तुरीयावस्था मोक्ष है। कपास के ढोंढ़ में तीन भाग और प्रत्येक भाग में एक एक रेखाएँ होती हैं। इस अभेदत्व में अभेद रूपक है।

सो०-यहि बिधि लेसइ दीप, तेजरासि बिज्ञान-मय।
जातहिँ जासु समीप, जरहिँ मदादिक सलभ सब॥११७॥

इस तरह तेजोराशि विज्ञान रूपी दीपक जलावे, जिसके समीप में जाते ही मदादिक रूपी समस्त फतिङ्गे-भस्म हो जाते हैं॥११७॥

चौ०-सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥१॥

वह ईश्वर मैं हूँ, यह अखण्ड वृत्ति ही दीपक की अत्यन्त प्रचण्ड लौ है। आत्मा का आनन्द अनुभव करना सुन्दर उजेला है, तब संसार का मूल भेद भ्रम दूर हो जाता है॥१॥

प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृह बइठि ग्रन्थि निरुआरा॥२॥

अविद्या-माया के बलवान कुटुम्बी अज्ञान आदि का अपार अंधकार मिट जाता है। तब उस उँजेले को पा कर बुद्धि रूपिणी स्त्री हृदय रूपी भवन में बैठ कर गाँठ छुड़ाती है॥२॥

छोरन ग्रन्थि पाव जौँ सोई। तौ यह जीव कृतारथ होई॥
छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघन अनेक करइ तब माया॥३॥

यदि वह गाँठ छुड़ाने पावे तो यह जीव सफल मनोरथ हो। परन्तु हे खगराज! गाँठ छोड़ते जान कर तब माया अनेक प्रकार का विघ्न करती है॥३॥

सभा की प्रति में 'छोरन ग्रन्थि पाव जौं कोई' पाठ है। 'कोई' से क्या प्रयोजन? यहाँ तो गाँठ छोड़नेवाली वही बुद्धि रूपिणी स्त्री है।

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिँ आई॥
कल बल छल करि जाहिँ समीपा। अञ्चल बात बुझावहिँ दीपा॥४॥

हे भाई! बहुत सी ऋद्धि और सिद्धियों को भेजती है, वे आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं। चतुराई के साथ छल बल कर के पास में जाती हैं और आँचर के वायु से दीपक को बुझा देती हैं॥४॥

होइ बुद्धि जौं परम सयानी । तिन्ह तन चितव न अनहित जानी ॥
जौं तेहि बिघन बुद्धि नहिं बाधी । तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी ॥५॥

यदि अत्यन्त चतुर बुद्धि हुई तो उन (ऋद्धि-सिद्धियों) की ओर अपना अनभल करने-वाली जान कर नहीं निहारती । यदि मायाकृत विघ्न बुद्धि को बाधा नहीं पहुँचा सके तो फिर देवता उपद्रव करते हैं ॥५॥

इन्द्री द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥
आवत देखहिं बिषय बयारी । ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥६॥

इन्द्रियाँ नाना दरवाजे और झरोखे के समान हैं, वहाँ वहाँ देवताँ स्थान बना कर बैठे हैं । वे विषय रूपी बयारि को आती देख कर हठ से किवाड़ खोल देते हैं ॥६॥

पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इस तरह इन्द्रियाँ दस हैं । वेदान्तियों ने चार अन्तरेन्द्रियों के सहित चौदह इन्द्रियाँ मानी हैं । जिनसे केवल विषयों का अनुभव होता है वे ज्ञानेन्द्रिय कहाती हैं यथा—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा । जिनके द्वारा विविध कर्म किये जाते हैं वे कर्मेन्द्रिय कहाती हैं यथा—वाणी, हाथ, पाँव, गुदा और लिङ्ग । इनके विषय क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद, स्पर्श, बोलना, पकड़ना, चलना, मलत्याग, मूत्र त्याग और मैथुन हैं । इनके अतिरिक्त मन, बुद्ध, चित्त, अहंकार अन्तरेन्द्रिय हैं । सब के पृथक पृथक देवता हैं । आँख के देवता सूर्य्य, कान के दिशा, नाक के अश्विनीकुमार, जीभ के वरुण त्वचा के पवन, वाणी के अग्नि, हाथ के इन्द्र, पाँव के विष्णु, गुदा के यम, लिङ्ग के प्रजापति, मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, चित्त के अच्युत और अहङ्कार के देवता रुद्र हैं ।

जब सो प्रभञ्जन उर गृह जाई । तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई ॥
ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा । बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा ॥७॥

जब वह हवा हृदय रूपी मन्दिर में जाती है, तभी विज्ञान रूपी दीपक बुझ जाता है । गाँठ छूटी नहीं और वह उजेला मिट गया, विषय रूपी वायु से बुद्धि बिकल हो गई ॥७॥

इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई । बिषयभोग पर प्रीति सदाई ॥
बिषय-समीर बुद्धि कृत भोरी । तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥८॥

इन्द्रियों के देवताओं को ज्ञान नहीं अच्छा लगता, उनकी विषयों के भोगने पर सदा ही प्रीति रहती है । विषय रूपी बयारि के किये जब बुद्धि भुला गई, तब फिर उसी तरह दीपक को कौन जला सकता है ॥८॥

दो०—तब फिरि जीव त्रिबिध बिधि, पावइ संसृति क्लेस ।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहँगेस ॥

तब यह जीव नाना तरह की संसार की योनियों में फिर कर कष्ट पाता है । हे पक्षिराज ! भगवान की माया बड़ी दुस्तर है वह पार नहीं की जा सकती ।

कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छरन्याय ज्यों, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥११८॥

ज्ञान कहने में कठिन, समझने में कठिन और साधन करने में कठिन है। घुनाक्षरन्याय की तरह कुछ हुआ भी तो फिर असंख्यों विघ्न आ पड़ते हैं ॥११८॥

घुणाक्षरन्याय वह कहलाता है कि घुनों के खाते खाते लकड़ी में अक्षरों के चिन्ह बन जाते हैं, पर उनका काठ का चालना बन्द नहीं होता फिर वे चिन्ह बिगड़ जाते हैं।

चौ०—ज्ञानपन्थ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जौं निर्बिघ्न पन्थ निर्बहई। सो कैवल्य परमपद लहई ॥१॥

हे विहङ्गनाथ! ज्ञानमार्ग तलवार की धार है, पाँव पड़ते देर नहीं लगती (तुरन्त पैर कट जाते हैं)। यदि निर्विघ्न रास्ता पार हो जाय तो यह जीव मोक्ष रूपी श्रेष्ठपद को प्राप्त होता है ॥१॥

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। सन्त पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाँईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥२॥

श्रेष्ठ मोक्ष-पद की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ सन्त, पुराण, वेद और शास्त्र कहते हैं। हे स्वामिन्! वही मोक्ष रामचन्द्रजी का भजन करने से बिना इच्छा के जोरावरी से आप ही आप आती है ॥२॥

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ॥३॥

जैसे बिना धरती के पानी नहीं रह सकता चाहे कोई करोड़ों तरह के उपाय करे। हे खगराज! सुनिये, उसी प्रकार हरिभक्ति को छोड़ कर मोक्ष-सुख अन्यत्र रह नहीं सकता ॥३॥

अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अबिद्या नासा ॥४॥

ऐसा विचार कर चतुर हरिभक्त मुक्ति का अनादर करके भक्ति में लुभाये रहते हैं। भक्ति करते ही बिना यत्न और परिश्रम के संसार की जड़ अविद्या माया का नाश हो जाता है ॥४॥

भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥
असि हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ॥५॥

भोजन क्षुधा की शान्ति के लिये किया जाता है, जैसे उसको जठराग्नि पचा देती है। ऐसी ही हरिभक्ति सहज ही सुखदेनेवाली है, कौन ऐसा मूर्ख है जिसको वह न अच्छी लगेगी ॥५॥

दो०—सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि ।
भजहु राम-पद पङ्कज, अस सिद्धान्त बिचारि ॥

हे गरुड़जी! सेवक स्वामी भावके विना संसार-सागर से पार नहीं मिलता। ऐसा सिद्धान्त विचार कर रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को भजिये।

जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य ॥११९॥

जो चेतन को जड़ करते और जड़ को चैतन्य करते हैं, ऐसे समर्थ रघुनाथजी को जो जीव भजते हैं वे धन्य हैं ॥११९॥

चौ०—कहेउँ ज्ञान सिद्धान्त बुझाई । सुनहु भगतिमनि कै प्रभुताई ॥
रामभगति चिन्तामनि सुन्दर । बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर ॥१॥

हे गरुड़जी! ज्ञान का सिद्धान्त मैं ने समझा कर कहा, अब भक्ति रूपी मणि की महिमा को सुनिये। रामभक्ति रूपी सुन्दर चिन्तामणि जिसके हृदय में निवास करती है ॥१॥

चिन्तामणि—एक कल्पित रत्न जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उससे जो कामना की जाय वह पूर्ण कर देता है।

परम प्रकास रूप दिन राती । नहिँ कछु चहिय दिया घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिँ आवा । लोभ बात नहिँ ताहि बुझावा ॥२॥

दिन रात अत्युत्तम प्रकाश रूप है, वहाँ दीपक, घी और बत्ती कुछ न चाहिये। अज्ञान रूपी दरिद्र पास नहीं आता और लोभ रूपी बतास उसको नहीं बुझा सकता ॥२॥

प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई । हारहिँ सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहिँ जाहीं । बसइ भगति जाके उर माहीं ॥३॥

अविद्या माया का घोर अन्धकार मिट जाता है और सम्पूर्ण विकार रूपी पाँखियों का झुण्ड हार जाता है। काम आदि दुष्ट उसके समीप में नहीं जाते जिसके हृदय में रामभक्ति बसती है ॥३॥

सभा की प्रति में 'अचल अविद्या तम मिटि जाई' पाठ है।

गरल सुधा सम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिँ मानसरोग न भारी । जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥४॥

जिसके प्रभाव से विष अमृत के समान और शत्रु हितकारी हो जाते हैं, उस मणि के विना कोई चैन नहीं पाता। भक्ति के प्रताप से भारी मानसरोग नहीं व्यापते जिनके अधीन सब जीव दुखी हैं ॥४॥

गरल को सुधा और शत्रु को मित्र के समान होना, इस विरोधी वर्णन में 'विरोधाभास अलंकार' है।

विचारने से काग भुशुण्डजी दोनों उपमायें अपने ही पर घटाते हैं कि हठ रूपी विष अमृत हुआ और शत्रु बने हुए मुनि हितैषी हो गये, उससे अनुपम भलाई हुई ? यह भक्ति ही की महिमा है ।

रामभगति मनि उर बस जाके । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके ॥
चतुरसिरोमनि तेइ जग माहीं । जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥५॥

रामभक्ति रूपी मणि जिसके हृदय में बसती है, उसको सपने में भी लवलेश मात्र दुःख नहीं होता । संसार में चतुर-शिरोमणि वे ही हैं जो मणि के लिये सुन्दर यत्न करते हैं ॥५॥

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई । राम कृपा बिनु नहिँ कोउ लहई ॥
सुगम उपाय पाइबे केरे । नर हतभाग्य देहिँ भटभेरे ॥६॥

वह मणि यद्यपि जगत में प्रसिद्ध है, तथापि बिना रामचन्द्रजी की कृपा कोई पाता नहीं । पाने का सहज उपाय है परन्तु भाग्यहीन मनुष्य पीछा दे देते हैं ॥६॥

भटभर—शब्द मुठभेर का विपर्यय है । मुठभेर सामने को कहते हैं और भटभेर पीछे या धक्का दे कर किसी वस्तु को पीछे हटाने का बोधक है ।

पावन पर्बत बेद पुराना । रामकथा रुचिराकर नाना ॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी । ज्ञान बिराग नयन उरगारी ॥७॥

वेद और पुराण पवित्र पर्वत रूप हैं, उनमें नाना प्रकार की रामकथा सुन्दर खानि रूपिणी है । सज्जन लोग भेदिया हैं उनकी सुन्दर बुद्धि कुदारी है, हे गरुड़जी ! ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं ॥७॥

भक्तिमणि प्राप्त करने में मणि का साङ्गोपाङ्ग रूपक बाँधा गया है । मणि पर्वत की खानों में मिलती है, उसके पहचानने वाले भेदिया होते हैं जो लक्षणों से जान जाते हैं कि यहाँ मणि है । वह स्थान कुदाल से खोदते हैं और निरखते रहते हैं ।

भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगतिमनि सब सुख खानी ॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम तेँ अधिक राम कर दासा ॥८॥

जो प्राणी प्रीति के सहित खोजता है वह सब सुखों की खानि भक्तिमणि को पाता है । कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे स्वामिन् ! मेरे मन में ऐसा विश्वास है कि रामचन्द्रजी के दास रामचन्द्रजी से बढ़ कर हैं ॥८॥

राम-सिन्धु-घन सज्जन धीरा । चन्दन तरुहरि सन्त समीरा ॥
सब कर फल हरिभगति सुहाई । सो बिनु सन्त न काहू पाई ॥९॥

रामचन्द्रजी समुद्र रूप हैं और धीरजवान सज्जन मेघ रूप हैं, भगवान चन्दन के वृक्ष रूप हैं और साधु पवन रूप हैं । सब का फल सुहावनी हरिभक्ति है, उसको बिना सन्तों की कृपा के किसी ने नहीं पाई ॥९॥

रामचन्द्रजी पर समुद्र और श्रीखंड का आरोप तथा सज्जनों पर मेघ और वायु का आरोपण करके अभेदता दिखाई गई है। बादल समुद्र से जल लेकर वर्षा करके जगत को सुखी करते हैं और पवन चन्दनवृक्ष की मँहक को फैला कर अन्यान्य वृक्ष को चन्दन बना देता है। उसी तरह सन्त लोग हरियश रूपी जल बरसा कर जनों के हृदय को सुखी करते हैं और संसारी जीवों को हरिकथा का सुगन्ध देकर भगवान का रूप बना देते हैं। यह 'सम-अभेदरूपक अलंकार' है।

अस बिचारि जोइ कर सतसङ्गा। रामभगति तेहि सुलभ बिहङ्गा ॥१०॥

हे पक्षिराज! ऐसा विचार कर जो सत्संग करेगा, उसको रामभक्ति सहज में ही प्राप्त होगी ॥१०॥

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मन्दर, ज्ञान सन्त सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़इ, भगति मधुरता जाहि ॥

वेद क्षीरसागर रूप हैं, ज्ञान मन्दराचल रूप है, सज्जन देवता रूप हैं। समुद्र को मथ कर कथा रूपी अमृत निकलते हैं जिसमें भक्ति रूपी मिठास भरा रहता है।

बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति, देखु खगेस बिचारि ॥१२०॥

वैराग्य रूपी ढाल और ज्ञान रूपी तलवार से मद, लोभ, अज्ञान रूपी शत्रुओं को मार कर विजय मिले, हे गरुड़जी! विचार कर देखिये, वही रामभक्ति है ॥१२०॥

भक्ति और ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न जो गरुड़जी ने किया था उसका उत्तर यहाँ समाप्त हुआ।

चौ०—पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ ॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रस्न मम कहहु बखानी ॥१॥

पक्षिराज फिर प्रेम के साथ बोले कि हे कृपालु नाथ! यदि आप की मुझ पर प्रीति है तो मुझे अपना सेवक जान कर मेरे सात प्रश्नों के उत्तर बखान कर कहिये ॥१॥

प्रथमहिं कहहु नाथ मतिधीरा। सब तें दुर्लभ कवन सरीरा ॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहि कहहु बिचारी ॥२॥

हे मतिधीर स्वामिन्! पहले यह कहिये कि सब से दुर्लभ शरीर कौन है? बड़ा दुःख कौन है? और बड़ा सुख कौन है? यह भी संक्षेप में विचार कर कहिये ॥२॥

सन्त असन्त मरम तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु ॥
कवन पुन्य स्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला ॥३॥

सज्जन और असज्जनों का भेद आप जानते हैं उनका सहज स्वभाव बखान कर कहिये। वेद में प्रसिद्ध और बहुत बड़ा पुण्य कौन है? और अत्यन्त विकराल पाप कौन है? उसको कहिये ॥३॥

सभा की प्रति में 'कहहु कवन अघ परम कृपाला' पाठ है।

मानसरोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बज्ञ कृपा अधिकाई॥
तात सुनहु सादर अति प्रीती। मैं संछेप कहउँ यह नीती॥४॥

मानसरोग समझा कर कहिये, आप सब के जाननेवाले और मुझ पर बड़ी कृपा रखते हैं। कागभुशुण्डजी कहते हैं—हे तात! अत्यन्त प्रीति और आदर के साथ सुनिये, यह नीति मैं संक्षेप में कहता हूँ॥४॥

गुरुड़जी ने सात प्रश्न किये। (१) सब से दुर्लभ शरीर कौन है? (२) बड़ा दुःख क्या है? (३) बड़ा सुख कौन है? (४) सन्त और असन्तों का सहज स्वभाव क्या है? (५) बड़ा पुण्य कौन है? (६) भीषण पाप कौनसा है? (७) मानसरोग के लक्षण क्या हैं? भुशुण्डीजी उसी क्रम से उत्तर दे चले।

नर तन सम नहिँ कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुख देनी॥५॥

मनुष्य-देह के समान कोई भी शरीर नहीं है जिसको जड़ चेतन जीव सब चाहते हैं। नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के सुख को देती है॥५॥

सो तनु धरि हरि भजहिँ न जे नर। होहिँ बिषयरत मन्द मन्दतर॥
काँच किरिच बदले ते लेहीँ। कर तेँ डारि परसमनि देहीँ॥६॥

वह शरीर धारण करके जो मनुष्य भगवान का भजन नहीं करते और विषयों में आसक्त होते हैं वे नीच से भी अत्यन्त नीच हैं। पारसमणि को हाथ से फेंक देते हैं, उसके बदले में काँच का टुकड़ा लेते हैं॥६॥

भक्ति और पारसमणि, विषय और काँच का टुकड़ा परस्पर उपमेय उपमान हैं। सभा की प्रति में 'काँच किरिच बदले जिमि लेहीँ' पाठ है। यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है।

नहिँ दरिद्र सम दुख जग माहीँ। सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीँ॥
पर उपकार बचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया॥७॥

दरिद्र के समान संसार में दुःख नहीं है और सन्त समागम के समान कुछ सुख नहीं है। हे पक्षिराज! सन्तों का सहज स्वभाव वचन, मन और शरीर से पराये का उपकार करना है॥७॥

चौपाई के पूर्वार्द्ध में दूसरे और तीसरे प्रश्न का उत्तर हुआ। उत्तरार्द्ध से चौथे प्रश्न का उत्तर दे चले हैं।

सन्त सहहिँ दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असन्त अभागी॥
भूरज तरु सम सन्त कृपाला। परहित नित सह बिपति बिसाला॥८॥

सन्त पराये की भलाई के लिये दुःख सहते हैं और अभागे दुर्जन दूसरों को क्लेश पहुँचाने के लिये कष्ट भोगते हैं। कृपालु सन्तजन भोजपत्र के वृक्ष के समान हैं, जो पराये के कल्याण के लिए नित्य बहुत बड़ी विपत्ति सहते हैं॥८॥

सन्त-उपमेय, भूर्जतरु-उपमान, सम-वाचक और अपनी खाल कढ़ा कर दूसरों का कल्याण करना साधारण-धर्म 'पूर्णोपमा अलंकार' है ।

सन इव खल पर बन्धन करई । खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥९॥

सन की तरह दुष्टजन पराये का बन्धन करते हैं, यद्यपि अपनी खाल निकलवा कर विपत्ति सह कर मरते हैं। हे गरुड़जी ! सुनिये, साँप और चूहा की तरह दुर्जन लोग बिना मतलब के दूसरों की हानि करते हैं ॥९॥

पर सम्पदा बिनासि नसाहीं । जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥
दुष्ट उदय जग आरत हेतू । जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥१०॥

पराये की सम्पत्ति नाश करके स्वयम् नष्ट हो जाते हैं, जैसे पाला और पथरा खेती का विनाश करके आप भी बिला जाते हैं। दुष्टों का उदय (उन्नति) जगत के दुःख का कारण है, जैसे अधम ग्रह केतु (पच्छुलतारा का उदय संसार के अमङ्गल के लिये) विख्यात है ॥१०॥

सन्त उदय सन्तत सुखकारी । बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ॥
परम धरम स्रुति बिदित अहिंसा । परनिन्दा सम अघ न गिरीसा ॥११॥

सन्तों का उदय (बढ़ती सदा सुखकारी है, जैसे सूर्य्य और चन्द्रमा का उदय संसार को सुखकारी है। वेद में विख्यात अत्युत्तम धर्म अहिंसा (जीवों की हत्या न करना) है और पराई निन्दा करने के समान कोई पाप का पहाड़ दूसरा नहीं है ॥११॥

यहाँ चौथे, पाँचवें और छठें प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ। पर निन्दकों की जैसी गति होती है बीच में उसे कह कर तब आगे सातवें प्रश्न का उत्तर देंगे ।

हरि गुरु निन्दक दादुर होई । जनम सहस्र पाव तन सोई ॥
द्विज निन्दक बहु नरक भोग करि । जग जनमइ बायस सरीर धरि ॥१२॥

ईश्वर और गुरु की निन्दा करनेवाले मेढक होते हैं, वही शरीर हज़ार जन्म पाते हैं। ब्राह्मण की निन्दा करनेवाला बहुत से नरकों को भोग कर संसार में कौए का शरीर धारण कर जन्म लेता है ॥१२॥

सुर स्रुति निन्दक जे अभिमानी । रौरव नरक परहिँ ते प्रानी ॥
होहिँ उलूक सन्त निन्दा रत । मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत ॥१३॥

जो घमण्डी प्राणी देवता और वेद की निन्दा करते हैं वे रौरव नरक में पड़ते हैं। सन्तों की निन्दा में लगे हुए उल्लू होते हैं, उन्हें अज्ञान रूपिणी रात्रि प्यारी है और ज्ञान रूपी सूर्य से विमुख रहते हैं ॥१३॥

सब के निन्दा जे जड़ करहीं । ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥
सुनहु तात अब मानसरोगा । जेहिँ तें दुख पावहिँ सब लोगा ॥१४॥

जो मूर्ख सब की निन्दा करते हैं वे चमगादड़ (गेदुरा) होकर जन्म लेते हैं। काग-भुशुण्डजी कहते हैं—हे तात ! अब मानसरोग सुनिये, जिससे सब लोग दुःख पाते हैं ॥१४॥

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला । तेहि तें पुनि उपजहिँ बहु सूला ॥
काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥१५॥

समस्त व्याधियों की जड़ (आदिकारण) अज्ञान है, फिर उससे बहुत सी पीड़ायें उत्पन्न होती हैं। काम रूपी वात, कफ रूपी अपार लोभ और क्रोध रूपी पित्त (तीनों दोष) नित्य छाती जलाते हैं ॥१५॥

यहाँ से रोग समूह और मानसरोग का साङ्गोपाङ्ग रूपक वर्णन है।

प्रीति करहिँ जौं तीनिउँ भाई । उपजइ सन्निपात दुखदाई ॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना ॥१६॥

हे भाई ! जब ये तीनों प्रीति करते हैं, तब दुःखदाई सन्निपात (त्रिदोष ज्वर) उत्पन्न होता है। नाना प्रकार दुर्गम (जो प्राप्त न हो सके) विषयों की अभिलाषा वह सब तरह की पीड़ायें हैं, जिनका नाम कौन जान सकता है ? ॥१६॥

ममता दादु कंडु इरषाई । हरष बिषाद गरह बहुताई ॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई । कुष्ठ दुष्टता मन कुटिलई ॥१७॥

ममत्व दादु रूप है, ईर्ष्या खाज है और हर्ष-शोक होना ग्रहों की अधिकता है। पराये के सुख को देख कर जलना वही क्षयरोग है, दुष्टता और मन का टेढ़ापन कोढ़ रोग है ॥१७॥

अहङ्कार अति दुखद डमरुआ । दम्भ कपट मद मान नहरुआ ॥
तृसना उदरबृद्धि अति भारी । त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी ॥१८॥

अभिमान अत्यन्त दुखदाई गठिया रोग है दम्भ, पाखण्ड, मद और मान नहरुआ रोग है। तृष्णा बहुत बड़ी उदरवृद्धि (जलोदर आदि) रोग है, (तन, धन, जन) तीनों प्रकार की इच्छायें तरुण अँतरिया (तीसरे दिन आनेवाला) ज्वर है। ॥१८॥

नहरुआरोग-यह प्रायः कमर के निचले भाग में होता है। पहले किसी स्थान पर सूजन होती है फिर छोटा सा घाव होता उसमें से सूत की तरह धीरे धीरे कीड़ा निकलता है, जो डेढ़ दो हाथ लम्बा होता है। यदि यह टूट जाता है तो पाँव को बेकाम कर देता है। यह रोग मालवा और राजपुताने में बहुत होता है।

जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका । कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥१९॥

डाह और अविचार (दाह तथा कम्प) दो प्रकार के ज्वर हैं, कहाँ तक कहूँ अनेक प्रकार के कुरोग हैं ॥१९॥

दो०-एक व्याधि बस नर मरहिँ, ये असाधि बहु व्याधि ।
पीड़हिँ सन्तत जीव कहँ, सो किमि लहइ समाधि ॥

एक ही रोग के अधीन होकर मनुष्य मरते हैं, ये बहुत सी असाध्य व्याधियाँ जीव को सदा दुःख दिया करती हैं फिर वह कैसे सुख पा सकता है ? ।

मनुष्य को दुःख के लिये एक ही रोग काफ़ी है, साथ ही अन्य रोगों का उपस्थित रहना 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' है ।

नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान ।
भेषज पुनि कोटिक नहीं, रोग जाहिँ हरिजान ॥१२१॥

नेम, धर्म, आचार, तपस्या, ज्ञान, यज्ञ, जप और दान आदि फिर करोड़ों औषधियाँ हैं, परन्तु हे हरियान ! रोग जाते नहीं ॥१२१॥

रोग छूटने का कारण नेम धर्मादि ओषधि रूप वर्तमान हैं, तो भी रोग का न छूटना 'विशेषोक्ति अलंकार' है ।

चौ०-एहि बिधि सकल जीव जग रोगी । सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥
मानसरोग कछुक मैं गाये । हैं सब के लख बिरलन्हि पाये ॥१॥

इस तरह जगत के समस्त जीव शोक, हर्ष, भय और प्रीति के अधीन वियोगी होकर रोगी हैं । मैं ने थोड़ा सा मानसरोग वर्णन किया है, ये हैं सबको परन्तु इनका लखाव विरले ही मनुष्य पाते हैं ॥१॥

जाने तें छीजहिँ कछु पापी । नास न पावहिँ जन परितापी ॥
बिषय कुपथ्य पाइ अङ्कुरे । मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥२॥

ये पापी (रोग) जान लेने से कुछ कम हो जाते हैं, पर मनुष्यों को कष्ट देनेवाले नाश नहीं होते । विषय रूपी कुपथ्य पाकर मुनियों के मन में उत्पन्न हो जाते हैं, तब बेचारे मनुष्य क्या चीज़ हैं ? (कुछ नहीं) ॥२॥

जब विषयों का कुपथ्य पाकर यह रोग मुनियों के मन में पैदा होजाता है, तब बपुरा मनुष्य क्या चीज़ है 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है ।

रामकृपा नासहिँ सब रोगा । जौँ एहि भाँति बनइ सञ्जोगा ॥
सदगुरु बैद बचन बिस्वासा । सञ्जम यह न बिषय कै आसा ॥३॥

रामचन्द्रजी की कृपा से यदि इस तरह संयोग बन जाय तो सब रोग नाश हो जाते हैं । श्रेष्ठ गुरु रूपी वैद्य के वचनों में विश्वास हो और संयम यह कि विषयों की आशा न रक्खे ॥३॥

रघुपतिभगति सजीवन मूरी । अनूपान स्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं । नाहिँ त जतन कोटि नहिँ जाहीं ॥४॥

रघुनाथजी की भक्ति सञ्जीवनी जड़ी (अमृत) है और श्रद्धा से भरी हुई बुद्धि ही अनुपान है । इस प्रकार भले ही वे रोग नष्ट होते हैं नहीं तो करोड़ों यत्न करने पर नहीं छूटते ॥४॥

जानिय तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥ ५ ॥

हे स्वामिन्! मन को तब आरोग्य जानना चाहिये जब हृदय में वैराग्य रूपी बल बढ़ता जाय। सुबुद्धि रूपी भूख नित्य नवीन बढ़ने लगे और विषयों की इच्छा रूपी निर्बलता (नाताकती) चली जाय ॥५॥

बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई ॥
सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद ॥६॥

निर्मल ज्ञान रूपी जल से जब वह (रोग मुक्त हुआ मनुष्य) स्नान करता है, तब हृदय में रामभक्ति (रूपी सञ्जीवनी औषधि का प्रभाव) छाया रहता है। शिवजी, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादिक और नारद आदि मुनि जो ब्रह्म के विचार में प्रवीण हैं ॥६॥

सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम-पद पङ्कज नेहा ॥
श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं। रघुपतिभगति बिना सुख नाहीं ॥७॥

हे खगनाथ! यही सब का सिद्धान्त है कि रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में स्नेह कीजिये। वेद पुराण और सब सद्ग्रन्थ कहते हैं कि रघुनाथजी की भक्ति के बिना सुख नहीं है ॥७॥

कमठ पीठि जामहिँ बरु बारा। बन्ध्या-सुत बरु काहुहि मारा ॥
फूलहिँ नभ बरु बहुबिधिफूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥८॥

चाहे कछुए के पीठ पर बाल जम आवें और चाहे बाँझ का पुत्र किसी को मार डाले। चाहे आकाश में बहुत तरह के फूल फूलें, परन्तु रामचन्द्रजी से बिमुख रह कर जीव सुख नहीं पा सकता ॥८॥

तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिँ सस सीस बिषाना ॥
अन्धकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै ॥९॥

चाहे मृगजल (मिथ्यापानी) के पीने से प्यास चली जावे और चाहे खरहा के सिर पर सींग जम आवें। चाहे अन्धकार सूर्य्य को नष्ट कर दे, परन्तु रामविमुखी जीव सुख नहीं पाता ॥९॥

हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पावन न कोई ॥१०॥

चाहे पाला से अग्नि प्रकट हो जाय परन्तु रामचन्द्रजी से प्रतिकूल रह कर कोई सुख नहीं पाता है ॥१०॥

इस प्रकरण में रामविमुखी को सुख नहीं मिलता, इस बात की उत्कर्षता के लिये जो जो हेतु कल्पित किये गये हैं वे उत्कर्ष के कारण नहीं हैं। चाहे वे असम्भव-पूर्ण घटनायें हो जाँय तो भी यह स्वयम्सिद्ध है कि हरिविमुखी प्राणी सुखी नहीं हो सकता 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है। सरदार कवि ने अपने मानसरहस्य में यहाँ मिथ्याध्यवसित अलंकार माना

है परन्तु मिथ्याध्यवसित तो वह है जहाँ एक मिथ्या को सत्य करने के लिये दूसरी मिथ्या बात कही जाती है। जैसे—जो आकाश के फूल का रस आँख में अञ्जन करेगा वह साँप के कान को देख सकता है। आकाश-पुष्प का रस मिथ्या वस्तु है उसके सम्बन्ध से सर्प के कान का मिथ्यत्व निश्चय किया गया है। यहाँ मिथ्याध्यवसित सिद्ध नहीं होता है।

दो०—बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तेँ बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

चाहे पानी के मथने से घी उत्पन्न हो और चाहे बालू से तेल निकल आवे, परन्तु यह अटल सिद्धान्त है कि बिना हरिभजन के कोई संसार-सागर को पार नहीं कर सकता।

मसकहि करइ बिरञ्चि प्रभु, अजहि मसक तेँ हीन।
अस बिचारि तजि संसय, रामहिँ भजहिँ प्रबीन॥

प्रभु रामचन्द्रजी मसा को ब्रह्मा बना देते हैं और ब्रह्मा को मसा से भी तुच्छ कर सकते हैं। ऐसा विचार कर चतुर प्राणी सन्देह को त्याग कर रामचन्द्रजी को भजते हैं।

नगस्वरूपिणी-वृत।

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नराभजन्तिजेऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥ १२२॥

मैं भली भाँति निश्चय की हुई बात आप से कहता हूँ, मेरे वचन झूठे नहीं हैं। जो मनुष्य रामचन्द्रजी का भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार रूपी समुद्र को पार कर जाते हैं॥१२२॥

चौ०—कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥
स्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजिय सब काम बिसारी॥१॥

स्वामिन्! मैंने अनुपम हरिचरित्र विस्तार और संक्षेप से अपनी बुद्धि के अनुसार कथन किया। हे गरुड़जी! वेदों की निश्चय की हुई बात यही है कि सब कामों को भुला कर रामचन्द्रजी का भजन करना चाहिये॥१॥

प्रभु रघुपति तजि सेइय काही। मो से सठ पर ममता जाही॥
तुम्ह बिज्ञानरूप नहिँ मोहा। नाथ कीन्ह मो पर तुम्ह छोहा॥२॥

स्वामी रघुनाथजी को छोड़ कर किसकी सेवा करनी चाहिये, जिनकी मुझ से शठ पर प्रीति है। हे नाथ! आप विज्ञान रूप हैं; आप को मोह नहीं था आपने मुझ पर बड़ी दया की (जो इतना कष्ट उठा कर मेरे आश्रम में आये)॥२॥

कागभुशुण्डजी गरुड़ के सत्य मोह रूपी उपमेय को छिपा कर दया रूपी उपमान का स्थापन कर कहते हैं कि आप मोह वश मेरे समीप नहीं आये वरन् मुझ पर दया करके आये 'शुद्धा' पह्नुति अलंकार' है।

पूछेहु रामकथा अति पावनि । सुक सनादिक सम्भु मन भावनि ॥
सतसङ्गति दुर्लभ संसारा । निमिष दंड भरि एकउ बारा ॥३॥

आप ने शुकदेव, सनकादिक और शिवजी के मन में सुहानेवाली रामचन्द्रजी की अत्यन्त पवित्र कथा पूछी । संसार में सत्सङ्ग दण्ड वा पल भर एक बार भी होना दुर्लभ वस्तु है ॥३॥

देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी । मैं रघुबीर भजन अधिकारी ॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन । प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जग पावन ॥४॥

हे गरुड़जी ! अपने हृदय में विचार कर देखिये कि मैं रघुनाथजी के भजन का अधिकारी हूँ ? चाण्डाल पक्षी सब तरह से अपवित्र मुझ को प्रभु रामचन्द्रजी ने जगत्प्रसिद्ध पावन बना दिया ॥४॥

दो०-आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब बिधि हीन ।
निज जन जानि राम मोहि, सन्त समागम दीन ॥

यद्यपि मैं सब प्रकार से तुच्छ हूँ पर आज धन्य अतिशय धन्य हुआ कि अपना दास जान कर रामचन्द्रजी ने मुझे सन्त समागम (सत्पुरुष का मिलाप) दिया।

नाथ जथामति भाखेउँ, राखेउँ नहिँ कछु गोइ ।
चरित सिन्धु रघुबीर के, थाह कि पावइ कोइ ॥१२३॥

हे नाथ ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा कुछ छिपा नहीं रक्खा, पर रघुनाथजी के चरित्र रूपी समुद्र का क्या कोई थाह पा सकता है ? (कभी नहीं) ॥१२३॥

चौ०-सुमिरि राम के गुन गन नाना । पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना ॥
महिमा निगम नेति करि गाई । अतुलित बल प्रताप रघुराई ॥१॥

रामचन्द्रजी के नाना गुणों का स्मरण कर चतुर काकभुशुण्डजी बार बार प्रसन्न हो रहे हैं। रघुनाथजी का बल प्रताप अतोल है, उनकी महिमा इति नहीं कह कर वेदों ने गाई है ॥१॥

सिव अज पूज्य चरन रघुराई । मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखौँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखौँ ॥२॥

रघुनाथजी के चरण शिव और ब्रह्माजी से पूजनीय हैं, उनकी मुझ पर कृपा होना अत्यन्त कोमलता है । पक्षिराज ! ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ न देखता हूँ, फिर किसको रघुनाथजी के समान समझूँ ॥२॥

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी । कबि कोबिद कृतज्ञ सन्यासी ॥
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी । धर्म निरत पंडित बिज्ञानी ॥३॥

साधक, सिद्ध जीवन्मुक्त, विरक्तपुरुष, कवि, विद्वान, कृतज्ञ, सन्यासी, योगी, शूर, अच्छे तपस्वी, ज्ञानी, धर्मात्मा, पण्डित और विज्ञानी ॥ ३ ॥

तरहिँ न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥
सरन गये मोसे अघरासी। होहिँ सुद्ध नमामि अबिनासी॥४॥

बिना मेरे स्वामी की सेवा किये तरते नहीं, मैं रामचन्द्रजी को नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ, सिर नवाता हूँ। जिनकी शरण जाने से मुझ से पाप के राशि पवित्र होते हैं, उन अविनाशी परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ॥४॥

दो०-जासु नाम भवभेषज, हरन ताप त्रयसूल।
सो कृपाल मोपर सदा, रहहु राम अनुकूल॥

जिनका नाम संसार रूपी रोग की ओषधि है और तीनों तापों की पीड़ा को हरनेवाला है, वे कृपालु रामचन्द्रजी सदा मुझ पर प्रसन्न रहें।

सभा की प्रति में 'सो कृपाल मोहि तोहि पर, सदा रहहु अनुकूल' पाठ है। वहाँ अर्थ होगा कि—"वे कृपालु मुझ पर और आप पर सदा प्रसन्न रहें"।

सुनि भुसुंडि के बचन सुभ, देखि राम-पद नेह।
बोलेउ प्रेम सहित गिरा, गरुड़ बिगत सन्देह॥१२४॥

भुशुण्डी के वचन सुन कर और रामचन्द्रजी के चरणों में उनकी प्रीति देख कर गरुड़जी प्रेम के सहित सन्देह रहित वाणी बोले॥१२४॥

चौ०-मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥
राम चरन नूतन रति भई। माया जनित बिपति सब गई॥१॥

रघुनाथजी की भक्ति और प्रेम से सनी हुई आप की वाणी सुन कर मैं कृतार्थ (सफल मनोरथ) हुआ। रामचन्द्रजी के चरणों में नवीन प्रीति हुई और माया से उत्पन्न समस्त विपत्ति जाती रही॥१॥

मोह जलधि बोहित तुम्ह भये। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये॥
मो पहिँ होइ न प्रतिउपकारा। बन्दउँ तव पद बारहिँ बारा॥२॥

हे नाथ! अज्ञान रूपी समुद्र के आप जहाज रूप हुए, डूबते से बचा कर मुझ को नाना प्रकार का सुख दिया। मुझ से आप का कोई प्रत्युपकार (इस भलाई के बदले में भलाई) नहीं हो सकता, इससे बार बार आप के चरणों में प्रणाम करता हूँ॥२॥

पूरनकाम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी॥
सन्त बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥३॥

हे तात! आप पूर्णकाम और रामचन्द्रजी के प्रेमी हैं, आप के समान बड़ा भाग्यवान कोई नहीं है। सन्त, वृक्ष, नदी, पहाड़, और धरती इन सबों की करनी पराये की भलाई के लिये है॥३॥

सन्त हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिँ सन्त सुपुनीता ॥४॥

सन्तों का हृदय कवियों ने नवनीत के समान कोमल कहा, पर कहने नहीं जाना, क्योंकि मक्खन अपनी आँच से पिघलता है और सुन्दर पवित्र सन्तजन दूसरों के दुःख से द्रवीभूत होते हैं ॥४॥

सन्तों का हृदय उपमेय और नवनीत उपमान है। उपमान की अपेक्षा उपमेय में अधिक गुण कह कर उसकी हीनता दिखाना 'व्यतिरेक अलंकार' है।

जीवन जनम सुफल मम भयऊ । तव प्रसाद सब संसय गयऊ ॥
जानेहु सदा मोहि निज किङ्कर । पुनि पुनि उमा कहइ बिहङ्ग बर ॥५॥

मेरा जीवन और जन्म सफल हुआ, आप की कृपा से सब संसय जाता रहा। शिवजी कहते हैं—हे उमा! बार बार पक्षिश्रेष्ठ गरुड़जी कहते हैं कि मुझे सदा अपना दास जान कर (कृपा बनाये रहना) ॥५॥

दो०--तासु चरन सिर नाइ करि, प्रेम सहित मतिधीर ।
गयउ गरुड़ बैकुंठ तब, हृदय राखि रघुबीर ॥

धीरबुद्धि गरुड़जी प्रेम के सहित कागभुशुण्ड के चरणों में सिर नवा कर और रघुनाथजी के रूप को हृदय में रख कर तब वैकुंठ को गये।

गिरिजा सन्त समागम, सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो, गावहिँ बेद पुरान ॥१२५॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा सन्तों के सम्मिलन के समान लाभ दूसरा कुछ नहीं है। वह बिना रामचन्द्रजी की कृपा के नहीं होता, वेद और पुराण ऐसा कहते हैं ॥१२५॥

चौ०--कहेउँ परम पुनीत इतिहासा । सुनत स्रवन छूटहिँ भव पासा ॥
प्रनत कलपतरु करुना पुञ्जा । उपजइ प्रीति राम-पद कञ्जा ॥१॥

मैंने यह अत्यन्त पावन इतिहास (कागभुशुण्ड और गरुड़ सम्बाद) कहा, जिसके सुनने से संसार का बन्धन छूट जाता है। शरणागतों के कल्पवृक्ष रूप, दया के राशि रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न होती है ॥१॥

केवल इस इतिहास को कान से सुनने पर अलभ्य लाभ होना वर्णन कि संसार बन्धन छूट जाता है, 'द्वितीय विशेष अलंकार' है।

मन क्रम बचन जनित अघ जाई । सुनहिँ जे कथा स्रवन मन लाई ॥
तीर्थाटन साधन समुदाई । जोग बिराग ज्ञान निपुनाई ॥२॥

मन, वचन और कर्म से उत्पन्न पाप नष्ट हो जाता है जो मन लगा कर इस कथा को कान से सुनते हैं। तीर्थयात्रा, शुभ साधनों के समूह, योग, वैराग, ज्ञान की निपुणता ॥२॥

नाना कर्म धर्म ब्रत दाना । सञ्जम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज गुरु सेवकाई । बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ॥३॥

नाना प्रकार के शुभकर्म, धर्म, व्रत, दान, संयम, इन्द्रियदमन, जप तप अनेक तरह के यज्ञ, जावों पर दया, ब्राह्मण तथा गुरु की सेवकाई, विद्या, नम्रता और ज्ञान की बड़ाई ॥३॥

जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरिभगति भवानी ॥
सो रघुनाथभगति स्रुति गाई । राम कृपा काहू एक पाई ॥४॥

जहाँ तक साधन वेदों ने कहा है, हे भवानी! उन सब का फल हरिभक्ति है। वह रघुनाथजी की भक्ति जिसकी प्रशंसा श्रुतियों ने की है, रामचन्द्रजी की कृपा से उसको कोई एक (करोड़ों प्राणियों के बीच में) पाते हैं ॥४॥

दो०—मुनि दुर्लभ हरिभगति नर, पावहिँ बिनहिँ प्रयास ।
जे यह कथा निरन्तर, सुनहिँ मानि बिस्वास ॥१२६॥

मुनियों को दुर्लभ हरिभक्ति मनुष्य बिना परिश्रम पाते हैं जो विश्वास मान कर सदा इस कथा को सुनते हैं ॥१२६॥

चौ०—सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता । सोइ महिमंडित पंडित दाता ॥
धर्मपरायन सोइ कुल त्राता । राम चरन जा कर मन राता ॥१॥

वही सब जाननेवाला गुणी, वही ज्ञानवान, वही पृथ्वी को शोभित करनेवाला, पण्डित और दानी है। वही धर्म में तत्पर और कुल का रक्षक है जिसका मन रामचन्द्रजी के चरणों में अनुरक्त है ॥१॥

सभा की प्रति में 'सोइ सर्वज्ञ सोई गुन ज्ञाता' पाठ है।

नीति निपुन सोइ परम सयाना । स्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना ॥
सो कबि कोबिद सो रनधीरा । जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा ॥२॥

वेद का सिद्धान्त है कि उसी को नीति में प्रवीण, उसी को अत्यन्त चतुर और अच्छा जानना चाहिये। वही कवि, विद्वान और वही रणधीर है जो छल छोड़ कर रघुनाथजी को भजता है ॥२॥

धन्य देस सो जहँ सुरसरी । धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य सो द्विज निजधर्म न टरई ॥३॥

वह देश धन्य है जहाँ गङ्गाजी हैं और वह स्त्री धन्य है जो पतिव्रत-धर्म के अनुसार चलती है। वह राजा धन्य है जो नीति से प्रजापालन करता हो और वह ब्राह्मण धन्य है जिसका ब्राह्मण-धर्म न टलता हो ॥३॥

सभा की प्रति में 'धन्य सुदेस जहाँ सुरसरी' पाठ है।

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी । धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसङ्गा । धन्य जनम द्विज भगति अभङ्गा ॥४॥

वह धन धन्य है जिसकी प्रथम गति है और वह बुद्धि धन्य है जो पवित्र पुण्य कर्मों में लगी रहती है । वह घड़ी धन्य है जब सत्सङ्ग हो और उसका जन्म धन्य है जिसकी ब्राह्मणों में अभङ्ग भक्ति हो । दान, भोग और नाश धन की यही तीन गति है ॥४॥

दो०—सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुबीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥१२७॥

शिवजी कहते हैं—हे उमा ! सुनो, वह कुल धन्य है, जगत को पूजनीय और अतिशय पवित्र है, जिस कुल में रघुनाथजी में लवलीन नम्र मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥१२७॥

चौ०—मति अनुरूप कथा मैं भाखी । जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी ॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई । तब मैं रघुपति कथा सुनाई ॥१॥

अपनी बुद्धि के अनुसार मैं ने कथा कही, यद्यपि पहले गुप्त कर रक्खी थी । तुम्हारे मन में अधिक प्रीति देख कर तब मैं ने रघुनाथजी की कथा सुनाई है ॥१॥

यह न कहिय सठही हठसीलहि । जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि ॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि । जो न भजइ सचराचर स्वामिहि ॥२॥

यह दुष्ट और हठशील (दुराग्रहियों) से न कहनी चाहिये जो मन लगा कर भगवान की लीला को नहीं सुनते । लोभी से, क्रोधी से और कामी पुरुषों से न कहनी चाहिये जो जड़ चेतन के स्वामी (रामचन्द्रजी) को नहीं भजते ॥२॥

सभा की प्रति में 'यह न कहौ जे सठहठसीलहिँ' पाठ है ।

द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ । सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ ॥
रामकथा के तेइ अधिकारी । जिन्ह के सतसङ्गति अति प्यारी ॥३॥

विप्र-द्रोही इन्द्र के समान राजा हो जब भी उसको कभी न सुनना चाहिये । रामकथा को श्रवण करने के वे ही अधिकारी हैं जिनको सन्तों की सङ्गति अत्यन्त प्यारी है ॥३॥

सभा की प्रति में 'सुरपति सरिस होइ नृप तबहू' पाठ है ।

गुरु पद प्रीति नीति रत जेई । द्विज-सेवक अधिकारी तेई ॥
ताकहँ यह बिसेष सुखदाई । जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई ॥४॥

जो गुरु के चरणों में प्रीति रखते हैं, नीति में तत्पर और ब्राह्मणों के सेवक हैं वे ही इस कथा के अधिकारी हैं । जिनको श्रीरघुनाथजी प्राण के समान प्यारे हैं उनको यह बहुत ही सुखदायक होगी ॥४॥

दो०—राम-चरन-रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान ।
भाव सहित सो यह कथा, करउ स्रवन पुट पान ॥१२८॥

जो रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम चाहते अथवा मोक्ष-पद पाने की इच्छा रखते हों, वे स्नेह के सहित यह कथा (रूपी अमृत रस) कान रूपी दोनों में भर कर पान करें ॥१२८॥

चौ०—रामकथा गिरिजा मैं बरनो। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥
संसृतरोग सजीवन मूरी। रामकथा गावहिं स्रुति भूरी॥१॥

शिवजी कहते हैं—हे गिरिजा! मैं ने जो रामचन्द्रजी की कथा वर्णन की है, वह कलि के पापों को नाश करनेवाली और मन के मैल को हरनेवाली है। वेद बहुत तरह से गाते हैं कि रामकथा संसार सम्बन्धी रोगों के लिये सञ्जीवनी जड़ी है॥१॥

सभा की प्रति में 'कलि मल-हरन मनो-मल हरनी' पाठ है, मालूम होता है 'हरन' शब्द की पुनरुक्ति दृष्टि-दोष से हुई है। गुटका में 'रामकथा गावहिँ स्रुति सूरी, पाठ है, परन्तु 'सूरी' शब्द का कोई अर्थ ही ठीक नहीँ लगता जो प्रसङ्ग में अनुकूल पड़ा हो। सूरी फाँसी को कहते हैं यहाँ रामकथा किसके लिये फाँसी है। क्या संसृत रोगों के लिये? उनका रूपक शरीरधारियों से नहीं कहा गया है।

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपतिभगति केर पन्थाना॥
अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥२॥

इसमें सुन्दर सात सीढ़ियाँ हैं वे रघुनाथजी की भक्ति के रास्ते हैं। जिसपर भगवान की बड़ी कृपा होती है वही इस मार्ग में पाँव रखता है॥२॥

मनकामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥
कहहिँ सुनहिँ अनुमोदन करहीँ। ते गोपद इव भवनिधि तरहीँ॥३॥

जो मनुष्य छल छोड़ कर इस कथा को गावेंगे वे मन-कामना की सिद्धि पावेंगे। जो कहते हैं, सुनते हैं और समर्थन करते हैं वे संसार रूपी समुद्र को गाय के खुर के समान पार कर जाते हैं॥३॥

सुनि सुभकथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई॥
नाथ कृपा मम गत सन्देहा। राम-चरन उपजेउ नव नेहा॥४॥

कल्याणमयी कथा सुन कर पार्वती जी के मन में वह बहुत प्यारी लगी, वे सुहावनावाणी से बोलीं। हे नाथ! आप की कृपा से मेरा सन्देह दूर हो गया और रामचन्द्रजी के चरणों में नवीन स्नेह उत्पन्न हुआ॥४॥

दो०—मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी रामभगति दृढ़, बीते सकल कलेस॥१२९॥

हे विश्वनाथ! आपकी कृपा से मैं सफल-मनोरथ हुई मुझे दृढ़ रामभक्ति उत्पन्न हुई और सम्पूर्ण क्लेश नष्ट हो गये॥१२९॥

यहाँ शिव-पार्वती सम्बाद समाप्त हो गया। अब याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज मुनि से कहते हैं।

चौ०-यह सुभ सम्भु-उमा सम्बादा। सुख सम्पादन समन बिषादा॥
भव भञ्जन गञ्जन सन्देहा। जन रञ्जन सज्जन प्रिय एहा॥१॥

यह शिव-पार्वती का शुभ सम्वाद सुख का प्रकाश और विषाद का नाश करनेवाला है यह संसार सम्बन्धी कष्टों को चूर चूर करनेवाला, सन्देहों का नाशक, लोगों को प्रसन्नकारक और सज्जनों को प्यारा है॥१॥

राम-उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥
रघुपति कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥२॥

जगत में जो रामचन्द्रजी की उपासना करनेवाले हैं उनको इस (कथा) के समान कुछ भी प्रिय वस्तु नहीं है। मैं ने यह पवित्र सुहावना चरित्र अपनी बुद्धि के अनुसार रघुनाथजी की कृपा से वर्णन किया॥२॥

यहाँ याज्ञवल्क्य-भरद्वाज सम्वाद समाप्त हुआ। सीधे शब्दों में मुनिवरों के सम्वाद की इति नहीं कहा, घुमा कर प्रसङ्ग बल से परिचय देना 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है। अब नीचे गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं।

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप व्रत पूजा॥
रामहिँ सुमिरिय गाइय रामहिँ। सन्तत सुनिय राम गुन-ग्रामहिँ॥३॥

इस कलिकाल में योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजा आदि दूसरे कोई साधन नहीं हैं। रामचन्द्रजी का स्मरण, रामचन्द्रजी का बखान कीजिये और रामचन्द्रजी के गुण-समूह को सुनिये॥३॥

योग, यज्ञादि साधनों का निषेध इसलिये किया कि वह धर्म रामस्मरण और राम-गुण-गान में स्थापित करना मञ्जूर है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

जासु पतित-पावन बड़ बाना। गावहिँ कबि स्रुति सन्त पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिँ पाई॥४॥

जिनकी बहुत बड़ी नामवरी पापियों को पवित्र करने की है, ऐसा वेद पुराण सन्त और कवि बखानते हैं। हे मन! तू कुटिलता त्याग कर उनको भज, रामचन्द्रजी का भजन करने से किस ने मोक्ष नहीं पाया? अर्थात् पापी से पापी प्राणियों को सुन्दर गति मिली है॥४॥

गोस्वामीजी कहते तो अपने मन से हैं, पर इसका उद्देश्य सम्पूर्ण संसार के लोगों को विशेष सूचना देने का 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है।

हरिगीतिका-छन्द।

पाई न केहि गति पतितपावन, राम भजि सुनु सठमना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥

आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे ।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते ॥१७॥

अरे मूर्ख मन! सुन, पतितों को पवित्र करनेवाले रामचन्द्रजी का भजन करके किसने मोक्ष नहीं पाया? वेश्या, अजामिल, व्याध, गिद्ध और हाथी आदि बहुत से दुष्टों का उन्होंने उद्धार किया है। अहीर, यवन, किरात, खस और डेला आदि जो अत्यन्त पाप के रूप ही थे वे भी एक बार नाम कह कर पवित्र हो गये, उन रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१७॥

गणिका, अजामिल और हाथी का संक्षिप्त विवरण बालकाण्ड में २५ वें दोहे के आगे चौथी चौपाई के नीचे की टिप्पणी, देखो। व्याध—एक ने श्रीकृष्णचन्द्रजी को बाण मारा था, दूसरे ने कपोत कपोती को खाया था। भगवान ने दोनों का उद्धार किया। गीध—की कथा अरण्यकाण्ड में ३०वें दोहे को देखो। अभीर-सुन्दरकाण्ड में ५६वें दोहे के आगे तीसरी चौपाई के नीचे देखो। यमन—एक जर्जर यमन मलत्याग करने गया, दैवयोग से उसको शूकर ने मारा 'हराम' कहते हुए उसने प्राण त्याग किया। नाम के प्रभाव से हरिलोक को गया। कोल किरात और खस आदि का सम्मान चित्रकूट निवास के समय अयोध्याकाण्ड में देखो। श्वपच—हरिभक्त था. श्रीकृष्णचन्द्र ने युधिष्ठर के यज्ञ में उसे प्रतिष्ठा दिलवाई और अन्त में उसको अपना लोक दिया।

रघुबंस-भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं ।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु स्रम, रामधाम सिधावहीं ॥
सतपञ्च चौपाईं मनोहर, जानि जो नर उर धरैं ।
दारुन अविद्यापञ्च-जनित बिकार श्रीरघुबर हरैं ॥१८॥

रघुकुल के भूषण रामचन्द्रजी का यह चरित्र जो मनुष्य कहेंगे, सुनेंगे और गावेंगे, वे कलि के पाप और मन का मैलापन धो कर वैकुण्ठ को जायँगे। मनोहर चौपाइयों को जो मनुष्य सच्चा पञ्च जान कर हृदय में धारण करेंगे उनके हृदय में अविद्यामाया के (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि फसादी) पञ्चों से उत्पन्न हुए दोष को श्रीरघुनाथजी हर लेंगे ॥१८॥

केवल इस कथा के कहने, सुनने और गाने से कलि के पाप, मनोमल का साफ होना और हरिधाम को जाना अलभ्य लाभ वर्णन 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। चौपाइयों पर सतपञ्च का आरोप और अविद्यामाया के सहायकों पर असतपञ्च का आरोपण 'सम अभेदरूपक अलंकार' है। सतपञ्चों के सहायक श्रीरघुनाथजी हैं, यह उनमें अधिकता है। सतपञ्च चौपाई के अर्थ में बड़ी धींगाधींगी लोगों ने मचा रक्खी है। कोई १०५ कोई ५०० और कोई ५१०० चौपाइयों को सतपञ्च मानते हैं और शेष रामचरितमानस को चौपाइयाँ उनके विचार से असतपञ्च हैं। इस पर लोगों ने अलग पुस्तकें लिख डाली हैं, यहीं तक इसकी समाप्ति नहीं हुई है। एक सज्जन ने गोस्वमीजी के नाम से पुस्तिका लिख कर यही बात कही है। इस महाजाल का कोई हद नहीं है। उन महापुरुषों को यह नहीं सूझ पड़ा कि जिस रामायण की आदि से अन्त तक स्थान स्थान में गोस्वामीजी ने भूरि भूरि प्रशंसा की है, फिर वे अपने मुख से यह कैसे कहेंगे कि केवल ५०० चौपाइयाँ सतपञ्च हैं और बाकी असतपञ्च। उनके कहने का तात्पर्य तो यह है

कि रामायण की चौपाइयाँ सच्चे पञ्च के समान हैं, और सच्चा फैसला देती हैं, इनकी सचाई की सहायता करनेवाले रघुनाथजी हैं। जो इनके निर्णय को हृदय में धारण करेंगे उनके हृदय से अविद्या के असतपञ्चों की धींगाधींगी का दोष रामचन्द्रजी मिटा देते हैं। जैसे लोक में जो प्रतिष्ठित पञ्चों के फैसले को नहीं मानता उसको अदालत विवश करके मनवाती है। उसी प्रकार रामायण की चौपाई रूपी सतपञ्च के फैसले को न मान कर विकार हृदय में आना चाहेंगे तो बड़ी अदालत के हाकिम उन्हें रोक रक्खेंगे, आने नहीं देंगे।

सुन्दर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम-हित निर्बान प्रद सम आन को॥
जाको कृपा लवलेस तें मतिमन्द तुलसीदासहूँ।
पायउ परम बिस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥१९॥

जो सुन्दर सुजान कृपानिधान रामचन्द्रजी अनाथों पर प्रीति करते हैं, ऐसा अद्वितीय निष्प्रयोजन दूसरे की भलाई करनेवाला और मोक्ष देनेवाला रामचन्द्रजी के समान कौन है? (कोई नहीं)। जिनकी लवलेश मात्र कृपा से नीच-बुद्धि तुलसीदास' भी परम विश्राम पाया अतएव रामचन्द्रजी के समान स्वामी कहीं नहीं है॥१६॥

दो०--मोसम दीन न दीनहित, तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि,-हरहु बिषम भव भीर॥

हे रघुनाथजी! मेरे समान दीन नहीं और आप के समान कोई दीनों का हितकारी नहीं है। हे रघुवंश-मणि! ऐसा विचार कर मेरे भीषण संसार-भय को हर लीजिये।

मैं दीन हूँ और आप दीन हितकारी हैं। यथायोग्य का साथ वर्णन 'प्रथम सम अलंकार' है।

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥१३०॥

हे रघुकुल के स्वामी, रामचन्द्रजी! मुझे निरन्तर आप वैसे ही प्यारे लगें, जैसे कामी-पुरुषों को स्त्री प्यारी लगती है और जिस प्रकार लोभी को द्रव्य प्रिय होता है॥१३०॥

सभा की प्रति में 'तिमि रघुबंस निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम' पाठ है।

शार्दूलविक्रीड़ित-वृत्त।

यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं।
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्तुं तु रामायणम्॥
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥१॥

पहले समर्थ श्रेष्ठ कवि श्रीशङ्करजी ने जिस दुरूह रामायण को निरन्तर श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमलों में भक्ति प्राप्त होने के लिये बनाया था । तुलसीदास ने उस (रामायण) को राम नाम में तत्पर मान कर अपने अन्तःकरण के अज्ञान की शान्ति के लिये इस मानसरामायण को उसी प्रकार भाषा में बनाया ॥१॥

सभा की प्रति में 'प्राप्नोतु रायायणम् और भाषाबन्ध मिदं चकार' पाठ है ।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं ।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरंशुभम् ।
श्रमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ।
ते संसार पतङ्ग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥२॥

यह श्रीरामचरितमानस पवित्र, पापों का हरनेवाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्ति का देनेवाला है । माया मोह और पापों का नाशक, अत्यन्त निर्मल श्रेष्ठ प्रेम रूपी जल से भरा है । जो भक्तिपूर्वक इस में स्नान करते हैं वे मनुष्य संसार रूपी सूर्य्य की प्रखर किरणों से नहीं जलते (परम शान्ति पा कर सदा प्रसन्न रहते) हैं ॥२॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने अविरल हरिभक्ति सम्पादनो नाम सप्तमः सोपानः

समाप्तः ।

इस प्रकार सम्पूर्ण कलियुग सम्बन्धी पापों का नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानस में अविरल हरिभक्ति सम्पादन नामवाला सातवाँ सोपान समाप्त हुआ ।

शुभमस्तु-मङ्गलमस्तु
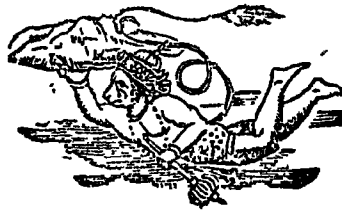
रामायण की आरती

आरति श्रीरामायनजी की। कीरति कलित ललित सिय-पी की। गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद, बालमीक बिज्ञान बिसारद, सुक सनकादि सेष अरु सारद, बरनि पवनसुत कीरति नीको ॥१॥

श्रीरामायणजी जो सीतानाथ की सुन्दर शोभन कीर्त्ति है, उनकी मैं आरती करता हूँ। जिस सुहावनी कीर्ति को ब्रह्मा आदि देवता, नारदादि मुनीश्वर, वाल्मीकि, शुकदेव, सनकादिक विज्ञान वेत्ता, शेष, सरस्वती, और हनुमानजी वर्णन करते हैं ॥१॥

गावत बेद पुरान अष्ट दस, छवोँ सास्त्र सब ग्रन्थन्ह को रस, मुनिजन धन सन्तन्ह को सरबस, सार अँस सम्मति सबही की ॥२॥

वेद गाते हैं कि अठारहों पुराण छओं शास्त्र और सब ग्रन्थों का रस (आनन्द) है, मुनिजनों की सम्पत्ति, सन्तों का सर्वस्व और सभी की सम्मति का सारांश है ॥२॥

गावत सन्तत सम्भु भवानी, अरु घटसम्भव मुनि बिज्ञानी, ब्यास आदिकबिबर्ज बखानी, कागभुसुंडि गरुड़ के ही की ॥३॥

जिसे निरन्तर शिव-पार्वती गान करते हैं और विज्ञानी मुनि अगस्त्य, व्यास आदि कविश्रेष्ठों ने बखान किया है, जो कागभुशुण्ड और गरुड़ के हृदय की सार वस्तु है ॥३॥

कलिमल हरनि बिषयरस फीकी, सुभग सिँगार भक्ति जुवती की, दलन रोग-भव मूरि अमी की, तात मातु सब बिधि तुलसी की ॥४॥

कलियुग के पापों को हरनेवाली, विषयानन्द से उदास, भक्ति रूपिणी स्त्री का शृंगार, संसारी रोग नसाने में अमृत की जड़ और तुलसीदास की सब तरह से पिता-माता है ॥४॥

इतिशुभम्

PRINTED AT THE BELVEDERE PRINTING WORKS, ALLAHABAD, BY E. HALL.

श्रीगणेशाय नमः

मानस-पिंगल

अर्थात्

रामचरितमानस सम्बन्धी छन्दों के लक्षण।

मङ्गलाचरण।

दो०—गजमुख सनमुख होतही, बिघन बिमुख है जात।
जिमि पग परत प्रयाग-मग, पाप-पहार बिलात॥

छन्द-लक्षण।

जिन अक्षरों की रचना में मात्राओं की नियम-बद्ध संख्या, विराम, गति और चरणान्त में अनुप्रास पाया जाता है, उसको 'छन्द' कहते हैं। छन्द दो प्रकार के होते हैं। एक मात्रिक और दूसरा वर्णिक। मात्रिक छन्दों में मात्रा की संख्या और वर्णिक छन्दों में वर्ण की संख्या समान होती है। मात्रिक को जाति-छन्द और वर्णिक को वर्णवृत्त कहते हैं।

छन्दज्ञान के साधन।

छन्द का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को सब से पहले दीर्घाक्षर ह्रस्वाक्षर और आठों गणों को पहचान लेना परमावश्यक है, क्योंकि इनके जाने बिना छन्दों का ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है।

गुरु लघु वर्णों के लक्षण।

संयुक्ताद्यंदीर्घं सानुस्वारं विसर्ग सम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन॥

संयुक्त अक्षर के पहले का वर्ण, उसी तरह विसर्ग के पूर्व का और अनुस्वार युक्त (आ० ई० ऊ० ए० ऐ० ओ० औ० अं० अः० का० की० कू० के० कै० को० कौ० कं० कः०) ये अक्षर गुरु माने जाते हैं। अ० इ० उ० क० कि कु० और जिस पर अर्द्धचन्द्र (ँ) की बिन्दी हो, वह लघु वर्ण कहलाता है। गुरु वर्ण की दो मात्रा और लघु वर्ण की एक मात्रा मानी जाती है। मात्रा को मत्ता, मत्त, कला व कल भी कहते हैं। पिङ्गलशास्त्र में गुरु अक्षर का (ऽ) यह चिह्न तथा लघु वर्ण का (।) इस प्रकार सङ्केत व्यवहृत होता है।

उदाहरण।

दो०—सपने होइ भिखारि नृप, रङ्क नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोइ॥

इस दोहा के 'सपने' शब्द में 'ने' होइ में 'ह' भिखारि में 'खा' रङ्क में 'र' नाकपति में 'ना' होइ में 'ह' 'जागे' दोनों गुरु, लाभ में 'ला' हानि में 'हा' प्रपञ्च में 'प' और जोइ शब्द में 'जो' अक्षर गुरु है तथा शेष सभी लघु हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

गणों के लक्षण।

दो०—मगन त्रिगुरु युत त्रिलघु में, केशव नगन प्रमान।
भगन आदि गुरु आदि लघु, यगन बखान सुजान॥१॥
जगन मध्य गुरु जानिये, रगन मध्य लघु होइ।
सगन अन्त गुरु अन्त लघु, तगन कहत सब कोइ॥२॥

प्रत्येक छन्द के आदि के तीन अक्षरों में आठों गण पाये जाते हैं। जैसे तीनों गुरु वर्ण का मगन, तीनों लघु अक्षर का नगन, आदि गुरु भगन, आदि लघु यगन, मध्य गुरु जगन, मध्य लघु रगन, अन्त गुरु सगन और अन्त लघु वर्ण का तगन होता है। इनमें मगन, नगन, भगन, यगन ये चारों शुभ हैं और जगन, रगन सगन, तगन चारों अशुभ हैं। अशुभ गण छन्द के आदि में आने से अमङ्गलकारी माने जाते हैं, किन्तु देव काव्य में इनके शुभाशुभ का कोई विचार नहीं है। आठों गणों के साङ्केतिक रूप, नाम, गुरुलघु वर्ण, अक्षरों में गण-स्वरूप, गणों के देवता और उनके फलाफल नीचे के कोष्ठक में दिये गये हैं। उससे सारी बातें समझ में आ जायँगी।

संख्या	गणों के नाम	साङ्केतिक रूप	गुरु लघु वर्ण	अक्षरों में गण-स्वरूप	गणों के देवता	शुभाशुभ फल
१	२	३	४	५	६	७
१	मगन	SSS	तीनों वर्ण गुरु	केदारा	पृथ्वी	श्री-ऐश्वर्य
२	नगन	॥।	तीनों वर्ण लघु	कुकुम	नाग	बुद्धि विकाश-सुख
३	भगन	S॥	आदि वर्ण गुरु	कादर	चन्द्रमा	यश-मङ्गल
४	यगन	।SS	आदि वर्ण लघु	कुहासा	जल	बुद्धि-आनन्दकारी
५	जगन	।S।	मध्य वर्ण गुरु	कहार	सूर्य	शोक
६	रगन	S।S	,, ,, लघु	कालिका	अग्नि	अङ्गदाह-दुःख
७	सगन	॥S	अन्त वर्ण गुरु	कुलही	पवन	भ्रम-उच्चाट और चिन्ता
८	तगन	SS।	,, ,, लघु	कालीन	आकाश	अफलता-उच्चाटन

रामचरित-मानस के सातों सोपानों की पृथक् पृथक् छन्द-संख्या ।

काण्डों के नाम	अनुष्टुप छन्द	इन्द्रवज्रा छन्द	सवैया छन्द	चौपाई छन्द	चौपाई की अर्द्धाली	डिल्ला छन्द	डिल्ली की अर्द्धाली	तोटक छन्द	तोमर छन्द	तोमर की अर्द्धाली	दोहा छन्द	नगस्वरूपिणी छन्द	भुजङ्गप्रयात छन्द	मालिनी छन्द	रथोद्धता छन्द	वसन्ततिलका छन्द	वंशस्थविलम छन्द	शार्दूलविक्रीडित छन्द	सोरठा छन्द	स्रग्धरा छन्द	हरिगीतिका छन्द	त्रिभङ्गी छन्द	प्रत्येक काण्ड की छन्दसंख्या
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
बालकाण्ड	५	...	९	१४७६	१८	...	...	...	...	...	३५९	...	...	...	...	१	...	१	३५	...	४७	१	१९५६
अयोध्याकाण्ड	...	१	...	१३००	६	...	...	...	...	...	३१४	...	...	...	...	...	१	१	१३	...	१३	...	१६४९
अरण्यकाण्ड	...	...	...	२५३	१०	...	...	...	६	१	५०	१२	...	...	...	...	...	२	८	...	१४	...	३५६
किष्किन्धाकाण्ड	...	...	...	१४७	७	...	...	...	...	...	३१	...	...	...	...	...	...	२	३	...	३	...	१९३
सुन्दरकाण्ड	...	...	...	२५५	१६	...	...	...	...	...	६२	...	...	१	...	१	...	१	१	...	६	...	३४३
लङ्काकाण्ड	१	...	...	५५२	२२	४	१	११	१६	...	१५०	.	...	...	...	...	...	१	९	१	३९	...	८०७
उत्तरकाण्ड	१	...	...	५८१	१५	...	...	२०	...	...	२०७		८	...	२	...	...	२	१६	१	१९	...	८७३
	७	१	९	४५६४	९४	५	१	३१	२२	१	११७३	१३	८	१	२	२	१	१०	८५	२	१४१	५	६१७७

९४ चौपाई की अर्द्धालियाँ १ डिल्ला की और १ तोमर छन्द की कुल ९६ हुई। यदि पूरा छन्द इनका माना जाय तो ६१७७ में से ४८ घटा देने पर ६१२९ कुल छन्दसंख्या आती है।

मानस-छन्दसंख्या ।

रामचरितमानस में आठ प्रकार के मात्रिक और ग्यारह प्रकार के वर्णवृत्त कुल उन्नीस प्रकार के छन्द हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से चौपाई को देखा जाय तो यह संख्या बहुत बढ़ जायगी, क्योंकि चौपाई के अन्तर्गत बहुत से छन्द भरे पड़े हैं। रामचरितमानस में सब प्रकार के छन्द और उनकी अर्द्धालियों को मिला कर गणना करने से कुल छे सहस्र एक सौ सतहत्तर छंद-संख्या आती है। इनमें छानवे अर्द्धालियाँ हैं, यदि इनकी संख्या ४८ मानी जाय तब ६१२९ छन्दों की संख्या ठहरती है। छन्द चार चरण के होते हैं, पर जहाँ कवि लोग दो ही चरण लिख कर छोड़ देते हैं उसको छन्द की अर्द्धाली कहते हैं। यह परिपाटी संस्कृत काव्य में भी पाई जाती है। बहुत से पिङ्गलाचार्यों ने ऐसी अर्द्धालियों को रामायण से अलग कर देने की कृपा की है। हमने ऊपर के कोष्ठक में प्रत्येक काण्डों की छन्दसंख्या का उल्लेख किया है—

मात्रिक छन्दों के नाम ।

पीछे हम लिख आये हैं कि रामचरितमानस में आठ प्रकार के मात्रिक-छन्द आये हैं। उनके नाम इस तरह हैं। (१) चवपैया, (२) चौपाई, (३) डिल्ला, (४) तोमर, (५) दोहा, (६) सोरठा, (७) हरिगीतिका, (८) त्रिभङ्गी।

(१) चौवपैया-छन्द के लक्षण ।

चवपैया-छन्द के चारों चरण ३०-३० मात्रा के होते हैं। प्रत्येक चरणों में १०—८—१२ मात्राओं पर विराम और चरणान्त में यगण रहता है। केवल बालकांड में यह छन्द आया है जिसकी संख्या ९ हैं।

उदाहरण ।

सुर मुनि गन्धर्बा, मिलि कर सर्बा, गे बिरञ्चि के लोका ।
सँग गो-तनुधारी, भूमि बिचारी, परम बिकल भय सोका ।
ब्रह्मा सब जाना, मन अनुमाना, मोरउ कछु न बसाई ।
जाकरि तैं दासी, सो अबिनासी, हमरउ तोर सहाई ॥१॥

(२) चौपाई छन्द के लक्षण ।

चौपाई-छन्द के चारों चरण सोलह सोलह मात्रा के होते हैं, इसके चरणान्त में जगण और तगण न आना चाहिये। चौपाई को रूपचौपई, पादाकुलक भी कहते हैं। शुद्ध चौपाई-छन्द का उदाहरण नीचे दिया गया है। दास कवि लिखते हैं कि—"सोरह मात्रा छन्द गति, रूप चौपई लेखि। पन्द्रह सै सत्तानवे, जानहु भेद बिसेखि॥" यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो रामचरितमानस में कुल ४५६४ चौपाई-छन्द और ९३ चौपाई की अर्द्धालियाँ हैं, अर्द्धालियों की संख्या ४७ मानने से सब ४५११ छन्द हैं। पर वे सभी चौपाई-छन्द नहीं हैं, चौपाई, मात्रासमक, अनुकूला, अचलधृति, कञ्जअवलि, कुसुमविचित्रा, चक्र, चण्डी, चन्द्रवर्त्म, चम्पकमाला, जलोद्धत, डिल्ला, तामरस, नवमालिनी, पणव, प्रहरणकलिका, भ्रमरविलसिता; मत्ता, मालती, मोदक, दोधक, विद्युन्माला, शुद्धविराट, स्वागता आदि कितने ही प्रकार के छन्द मिले जुले हैं। परन्तु कविजी ने उन्हें चौपाई के नाम से प्रसिद्ध किया है।

उदाहरण।

लालन जोग लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिँ न होने।
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय-रघुवीरहि प्रान-पियारे ॥१॥

(३) डिल्ला-छन्द के लक्षण।

डिल्ला-छन्द के चारों चरण सोलह सोलह मात्रा के होते हैं और इसके प्रत्येक चरणों के अन्त में भगण का रहना आवश्यक है। यह चार छन्द और इसकी एक अर्द्धाली लङ्काकाण्ड के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं आया है।

उदाहरण।

मामभिरक्षय रघुकुल-नायक, धृत वर चाप रुचिर कर सायक।
मोह महा घन-पटल विभञ्जन, संसय-विपिन-अनल सुर-रञ्जन ॥१॥

(४) तोमर-छन्द के लक्षण।

तोमर-छन्द के चारों चरण बारह बारह मात्रा के होते हैं और अन्त में गुरु लघु वर्ण रहता है। यह अरण्यकाण्ड में ६ छन्द और एक इसकी अर्द्धाली तथा लङ्काकाण्ड में १६ कुल २२॥ छन्द रामचरितमानस में आया है।

उदाहरण।

जय दूषनारि खरारि। मर्दन निसाचर धारि॥
यह दुष्ट मारयो नाथ। भये देव सकल सनाथ ॥१॥

(५) दोहा छन्द के लक्षण।

दोहा-छन्द के प्रथम और तृतीय चरण तेरह तेरह मात्रा के तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण ग्यारह मात्रा के होते हैं। इसके प्रथम और तृतीय चरण के आदि में जगण न आना चाहिये एवम् अन्त का अक्षर गुरु न हो। इसकी संख्या रामचरितमानस के सातों काण्डों में ११७२ है। दोहा का पिछला चरण पहले और पहला पीछे पढ़ने से सोरठा होता है, नीचे देखो। गोस्वामीजी ने अधिकांश दोहे १२—११ मात्रा के विराम से लिखे हैं।

उदाहरण।

पिता जनक भूपाल-मनि, ससुर भानुकुल-भानु।
पति रविकुल-कैरव-विपिन, विधु-गुन-रूप-निधानु ॥३॥

दोहा को उलट कर सोरठा।

ससुर भानुकुल भानु, पिता जनक भूपाल-मनि।
विधु गुन-रूप-पति निधानु, पति रविकुल-कैरव-विपिन॥

(६) सोरठा-छन्द के लक्षण।

सोरठा-छन्द के प्रथम और तृतीय चरण ग्यारह ग्यारह मात्रा के तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण तेरह तेरह मात्रा के होते हैं। इसके द्वितीय और चतुर्थ चरण में जगण न आना चाहिये, इससे छन्द की गति बिगड़ जाती है और अशुभ माना गया है। रामचरितमानस के सातों

काण्डों में इसकी संख्या ८५ है। जिस तरह दोहा के चरणों को उलट कर पढ़ने से सोरठा बन जाता है, उसी प्रकार सोरठा को उलटने से दोहा होता है। नीचे का उदाहरण देखो।

उदाहरण।

राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥१॥

इसी सोरठा को उलट कर दोहा।

वचन अगोचर बुद्धि पर, राम सरूप तुम्हार।
नेति नेति नित निगम कह, अविगत अकथ अपार ॥

इसी प्रकार सभी सोरठा और दोहा जानना चाहिये।

(७) हरिगीतिका-छन्द के लक्षण।

हरिगीतिका छन्द के चारों चरण २८-२८ मात्रा के होते हैं और १६-१२ मात्रा पर प्रत्येक चरणों में विश्राम रहता है तथा चरणान्त में लघु-गुरु वर्ण आते हैं। रामचरितमानस में कहीं कहीं इस छन्द में १४—१४ मात्राओं पर विराम है। रामचरितमानस के सातों काण्डों में इसकी संख्या १४१ है।

उदाहरण।

अनुरूप बर दुलहिन परसपर, लखि सकुचि हियहरषहीं।
सब मुदित सुन्दरता सराहहिं, सुमन सुर-गन बरषहीं॥
सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह सब, एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था, बिभुन्ह सहित बिराजहीं ॥१॥

(८) त्रिभङ्गी-छन्द के लक्षण।

त्रिभङ्गी-छन्द के चारों चरण ३२-३२ मात्रा के होते हैं और १०-८-८-६ मात्राओं पर विश्राम रहता है तथा चरणान्त का अक्षर गुरु होता है। इस छन्द के किसी भी विराम के भीतर जगण न आना चाहिये। यह केवल बालकाण्ड में ५ छन्द आया है।

उदाहरण।

ब्रह्माण्ड निकाया, निर्मित माया, रोम रोम प्रति, वेद कहै।
मम उर सो बासी, यह उपहासी, सुनत धीर-मति, थिर न रहै॥
उपजा जब ज्ञाना, प्रभु मुसुकाना, चरित बहुत विधि, कीन्ह चहै॥
कहि कथा सुहाई, मातु बुझाई, जेहि प्रकार सुत, प्रेम लहै ॥१॥

इस छन्द को चवपैया के नाम से लोग रामचरितमानस में लिखते आते हैं, परन्तु वह चवपैया नहीं त्रिभङ्गी-छन्द है।

वर्ण वृत्तों के नाम।

रामचरितमानस में वर्णवृत्त ग्यारह हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं। (१) अनुष्टुप, (२) इन्द्रवज्रा, (३) तोटक, (४) नगस्वरूपिणी, (५) भुजङ्गप्रयात, (६) मालिनी (७) रथोद्धता (८) बसन्ततिलका, (६) वंशस्थविलम् १० शार्दूलविक्रीड़ित, (११) स्रग्धरा।

(१) अनुष्टुप-वृत्त के लक्षण।

अनुष्टुप-वृत्त के चारों चरण आठ आठ वर्ण के होते हैं। इसके प्रत्येक विषम चरणों में पाँचवाँ अक्षर लघु तथा छठाँ अक्षर दीर्घ होता है और सम पदों में सातवाँ वर्ण भी लघु होता है। इसके सिवाय अक्षरों में गुरु लघु का कोई नियम नहीं है। मानस में इसके ७ श्लोक हैं।

उदाहरण।

रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं, विप्रेण हरतोषये।
ये पठन्ति नरा भक्त्या, तेषां शम्भुःप्रसीदति ॥१॥

इस श्लोक के पहले और तीसरे चरण में पाँचवाँ अक्षर लघु तथा छठवाँ गुरु है। दूसरे और चौथे चरण में पाँचवाँ, सातवाँ वर्ण लघु और छठवाँ गुरु है।

(२) इन्द्रवज्रा-वृत्त के लक्षण।

इन्द्रवज्रा-वृत्त के चारों चरण ग्यारह ग्यारह अक्षर के होते हैं। इसके प्रत्येक चरणों में दो तगण, एक जगण और अन्त में दो गुरु वर्ण आते हैं। इसमें और उपेन्द्रवज्रा में इतना ही अन्तर है कि उपेन्द्रवज्रा के आदि में जगण रहता है, शेष कुल वर्ण इन्द्रवज्रा के समान ही आते हैं। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चौदह (कीर्ति, वाणी, माला, शाला, हंसी, माया, जाया, बाला, आर्द्रा, भद्रा, प्रेमा, रामा, रिद्धि, और सिद्धि) भेद हैं। इन चौदहों के लक्षण उदाहरण अलग अलग वर्णन करने से विस्तार बढ़ेगा। इन्द्रवज्रा-वृत्त रामचरितमानस में केवल एक ही आया है जो नीचे उदाहरण में दिखाया जाता है। यह शाला और हंसी से मिला वृत्त है! इसका चतुर्थ चरण उपेन्द्रवज्रा का है, क्योंकि उसके आदि में जगण है।

उदाहरण।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं, सीतासमारोपित वामभागम्।
पाणौ महाशायक चारु चापं, नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥१॥

(३) तोटक-वृत्त के लक्षण।

तोटक-वृत्त के चारों चरण बारह बारह अक्षर के होते हैं। इसके प्रत्येक चरणों में चार सगण अर्थात् तीसरा, छठवाँ, नवाँ और बारहवाँ अक्षर गुरु होता है। लङ्काकाण्ड में ग्यारह और उत्तर काण्ड में बीस, यही ३१ वृत्त रामचरितमानस में आया है।

उदाहरण ।

जय राम रमारमनं समनं । भव-ताप-भयाकुल पाहि जनं ॥
अवधेस रमेस दिनेस विभो । सरनागतमागत पाहि प्रभो ॥१॥

(४) नगस्वरूपिणी वृत्त के लक्षण ।

नगस्वरूपिणी-वृत्त के चारों चरण आठ आठ अक्षर के होते हैं । इसके प्रत्येक चरणों में दूसरा, चौथा, छठवाँ और आठवाँ वर्ण गुरु होता है । इसे प्रमाणिका भी कहते हैं । अरण्य-काण्ड में बारह और उत्तरकाण्ड में एक कुल १३ वृत्त रामचरितमानस में इसके आये हैं ।

उदाहरण ।

विनिश्चतं वदामि ते, न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति जे, तिदुस्तरं तरन्ति ते ॥१॥

(५) भुजङ्गप्रयात-वृत्त के लक्षण ।

भुजङ्गप्रयात-वृत्त के चारों चरण बारह बारह अक्षर के होते हैं । इसके प्रत्येक चरण में चार यगण अर्थात् पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ अक्षर लघु रहता है । इसके आठ वृत्त केवल उत्तर काण्ड में आये हैं ।

उदाहरण ।

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं । विभुं व्यापकं ब्रह्म वेद स्वरूपम् ।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं । चिदाकाशमाकाश वासं भजेहम् ॥१॥

(६) मालिनी-वृत्त के लक्षण ।

मालिनी-वृत्त के चारों चरण पन्द्रह पन्द्रह अक्षर के होते हैं । इसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और दो यगण आते हैं । इसे मञ्जुमालिनी भी कहते हैं । मानस में केवल एक वृत्त यह आया है, वही नीचे उदाहरण में दिखाया जाता है ।

उदाहरण ।

अतुलित बल धामं स्वर्ण शैलाभदेहं, दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं, रघुपति बरदूतं वातजातं नमामि ॥१॥

(७) रथोद्धता-वृत्त के लक्षण ।

रथोद्धता-वृत्त के चारों चरण ग्यारह ग्यारह अक्षर के होते हैं । इसके प्रत्येक चरणों में रगण, नगण, रगण और अन्त में लघु गुरु वर्ण आते हैं । इसके दो वृत्त केवल उत्तरकाण्ड में आये हैं, उन्ही में से एक नीचे उदाहरण में दिया जाता है ।

उदाहरण ।

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ, कोमलावजमहेश वन्दितौ ।
जानकी कर सरोज लालितौ, चिन्तकस्य मन भृङ्ग सङ्गिनौ ॥१॥

(८) वसन्ततिलका-वृत्त के लक्षण ।

वसन्ततिलका-वृत्त के चारों चरण चौदह चौदह अक्षर के होते हैं। इसके प्रत्येक चरणो में तगण, भगण, दो जगण, और अन्त के दो वर्ण गुरु रहते हैं। दो वृत्त रामचरितमानस (बालकाण्ड १ सुन्दरकाण्ड में १) भर में आये हैं।

उदाहरण ।

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निवन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥१॥

(९) वंशस्थविलम्-वृत्त के लक्षण ।

वंशस्थविलम-वृत्त के चारों चरण बारह बारह अक्षर के होते हैं। इसके प्रत्येक चरणों में जगण, तगण, जगण, रगण रहता है। केवल अयोध्याकाण्ड में एक वृत्त इसका आया है, वही नीचे उदाहरण में दिखाया जाता है।

उदाहरण ।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः ।
मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्यमे सदास्तु सा मञ्जुल मङ्गल प्रदा ॥ १ ॥

(१०) शार्दूलविक्रीड़ित-वृत्त के लक्षण ।

शार्दूलविक्रीड़ित-वृत्त के चारों चरण अठारह अठारह अक्षर के होते हैं। इसके प्रत्येक चरणों में मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और अन्त में एक गुरु वर्ण रहता है। रामचरितमास के सातों काण्डों में १० वृत्त इसके आये हैं।

उदाहरण ।

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुराः ।
यत्सत्वादमृषेवभातिसकलं रज्जौयथाऽहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लव एक एवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ।
बन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ १ ॥

(११) स्रग्धरा-वृत्त के लक्षण ।

स्रग्धरा-वृत्तके चारों चरण इक्कीस इक्कीस अक्षर के होते हैं। इसके प्रत्येक चरणों में मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण रहते हैं। एक लङ्काकाण्ड में और एक उत्तरकाण्ड में केवल दो वृत्त इसके आये हैं।

उदाहरण ।

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं ।
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ॥
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैक देवं ।
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥ १ ॥

काव्य विवेचन ।

काव्य दो प्रकार का होता है, दृश्य और श्रव्य । दृश्य काव्य वह है जिसका अभिनय किया जाय और श्रव्य वह है जिसका अभिनय न किया जाय । अभिनय का अर्थ अनुकरण करना है जैसे जो जो कार्य रामचन्द्रजी ने किये वैसे ही नट रामचन्द्रजी का रूप धर कर करे तो उसके कार्यों को अभिनय कहेंगे । अभिनय करने में रूप का आरोप करना पड़ता है, इससे इसे रूपक भी मानते हैं और नाटक भी कहते हैं । दोनों प्रकार के काव्यों में तीन भेद हैं उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ । साहित्य विशारदों ने अर्थ को भी तीन भेदों में विभक्त किया है अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्गार्थ ।

(१) जैसे 'गृह' शब्दवाचक है और उससे जो साङ्केतिक अर्थ मन्दिर विशेष का बोध होता है, वह गृह शब्द का वाच्यार्थ है । इस व्यापार को शक्ति वा अभिधावृत्ति कहते हैं ।

(२) जब शब्द का वाच्यार्थ वक्ता के इच्छित अर्थ के अनुसार नहीं होता वरन् उसका इच्छित अर्थ लाने के लिये उस शब्द का अर्थ कल्पित करना पड़ता है उसे उस शब्द का लक्ष्यार्थ कहते हैं । जैसे—'दूकान बढ़ा दो' यहाँ बढ़ाना शब्द का वाच्यार्थ अधिक करने पर भी वक्ता का इच्छित अर्थ दूकान बन्द कर देना ग्रहण करना पड़ता है । इसको लक्ष्यार्थ और उस शब्द को लक्षक मानते हैं । इस शब्द व्यापार को लक्षणावृत्ति कहते हैं ।

(३) शब्द वा शब्द समूह के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से पृथक् ध्वनि द्वारा प्रकट होने वाला अर्थ व्यङ्गार्थ कहलाता है और वह शब्द वा शब्द समूह उसका व्यञ्जक है। इस शब्द व्यापार को व्यञ्जनावृत्ति कहते हैं । इसका विस्तार बहुत बड़ा है, यहाँ दिग्दर्शनमात्र किया गया है ।

रस

काव्य में जिन जिन मनोविकारों का वर्णन कवि लोग करते हैं उन उन मनोविकारों के कारण कार्य्य और उनके सहकारियों का ठीक ठीक वर्णन पाया जाता है तब पाठकों के मन में भी वे मनोविकार जागृत होते हैं और उन्हें एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है उसी को 'रस' कहते हैं । मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि विकारों ही का नाम रस है । विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों की सहायता से जब स्थायीभाव उत्कट अवस्था को प्राप्त होकर मनुष्य के मन में विलक्षण आनन्द उपजाता है तब उसको रस कहते हैं । अलङ्कार शास्त्रियों ने रसों की संख्या निश्चित कर दी है । काव्य में उन्होंने ९ रस माने हैं । यथा—

(१) शृङ्गार । (२) हास्य । (३) करुणा । (४) वीर । (५) रौद्र (६) भयानक । (७) अद्भुत । (८) बीभत्स । (९) शान्त । क्रमशः इन रसों के रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, आश्चर्य्य, घृणा और निर्वेद स्थायीभाव हैं । इन्हीं नवों स्थायीभावों की पुष्टि जब विभावादि के द्वारा होती है, तब 'रस' संज्ञा होती है ।

विभाव ।

विभाव प्रत्येक रस के भिन्न भिन्न होते हैं । जिसके सहारे मनोविकार वृद्धिलाभ करते हैं, उस कारण को विभाव कहते हैं । यह आलम्बन और उद्दीपन दो भागों में विभक्त है । जिसके

आधार से विकार उत्पन्न हो वह आलम्बन और जिसके सहारे वृद्धिलाभ हो वह उद्दीपन विभाव कहलाता है।

अनुभाव।

मनोविकार की उत्पत्ति के अनन्तर वे कार्य्य और क्रियाएँ जिनसे रस का बोध हो। चित्त के भाव को प्रकाश करनेवाली चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। इसके चार भेद हैं। सात्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य्य।

सात्विक-अनुभाव वह है जिसमें स्वाभाविक अङ्गविकार सत्वगुण से उत्पन्न हो। यह आठ प्रकार का है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। कायिक-शारीरिक क्रिया और मुख पर प्रकट होनेवाले चिह्न।

मानसिक-मन की अवस्था प्रकट करना।

आहार्य्य-रूप बदल कर अभिनय द्वारा भाव प्रदर्शित करना।

सञ्चारीभाव।

जो भाव रस को विशेष रूप से सम्पादन करके पानी की लहर के समान लीन हो जाते हैं। ये रस की सिद्धि तक ठहरते नहीं बिजली की तरह चञ्चलता से सब रसों में सञ्चार करते हैं इसलिये सञ्चारी कहाते हैं और व्यभिचारी भी कहे जाते हैं। ये तेंतीस प्रकार के होते हैं। यथा—

(१) निर्वेद। (२) ग्लानि। (३) शङ्का। (४) असूया। (५) मद। (६) श्रम। (७) आलस्य (८) दैन्य। (९) चिन्ता। (१०) मोह। (११) स्मृति। (१२) धृति। (१३) व्रीड़ा। (१४) चपलता। (१५) हर्ष। (१६) आवेग। (१७) जड़ता। (१८) गर्व। (१९) विषाद। (२०) उत्सुकता (२१) निद्रा। (२२) अपस्मार। (२३) सोना-निँद्रावस्था। (२४) विबोध। (२५) अमर्ष। (२६) अवहित्थ। (२७) उग्रता। (२८) मति। (२९) व्याधि। (३०) उन्माद। (३१) मरण। (३२) त्रास। (३३) वितर्क। इनके अलग अलग लक्षण कहने से बहुत विस्तार होगा, अब मैं एक रस का उदाहरण दिखा कर इस प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ।

रौद्र रस का उदाहरण।

शत्रु सामने आ कर दुर्वचन कहता हुआ अस्त्र प्रहार करना चाहता है, उसकी चेष्टा से हृदय में जो क्रोध उत्पन्न होगा वह स्थायी भाव है। शत्रु आलम्बन विभाव है, उसका किया हुआ तिरस्कार, मानभङ्ग, अस्त्रप्रहार के लक्षण उद्दीपन विभाव हैं। उससे आँखें लाल होना, त्योरी चढ़ाना, ओंठ चबाना, ताल ठोंकना और मारने की चेष्टा करना अनुभाव है। अमर्ष, चपलता, स्मृति, विषाद, उग्रता आदि सञ्चारी भावों की सहायता से 'क्रोध स्थायी भाव' पूर्णावस्था को पहुँच कर 'रौद्र रस' संज्ञा को प्राप्त होता है।

अलंकार ।

अर्थ और शब्द की वह युक्ति जिससे काव्य की शोभा हो, अथवा वह रीति जिससे उसमें प्रभाव और रोचकता आ जाय । अलंकार से कविता की मनोहरता बहुत अधिक बढ़ जाती है, पर यह बात नहीं कि 'अलंकार' के बिना कविता होती ही नहीं । जैसे आभूषण पहनने से मनुष्य के शरीर की शोभा बढ़ जाती है, उसी तरह काव्य में 'अलंकार' से चमत्कार आ जाता है और उसकी रमणीयता बढ़ जाती है । अलंकार के तीन भेद हैं । शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार । शब्दालंकार उसको कहते हैं जिसमें शब्दों का सौन्दर्य हो, जैसे अनुप्रास, यमक आदि । अर्थालंकार उसको कहते हैं जिसके अर्थ में चमत्कार हो, जैसे उपमा रूपक आदि । उभयालंकार वह है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार हो । अलंकारों का लक्षण और उदाहरण यदि विस्तार के साथ लिखा जाय तो एक बड़ी पुस्तक में वह आ सकता है । रामचरितमानस में हमने जिन अलंकारों के नाम लिये हैं, वे अलंकार-प्रकाश, काव्यनिर्णय, भाषाभूषण और अलंकारमञ्जूषा, प्रायः इन्हीं चारों अलंकार के ग्रन्थों के आधार पर हैं । यदि पाठक विस्तार-पूर्वक देखना चाहें तो इन्हीं ग्रन्थों में देख सकते हैं ।

इति मानस-पिङ्गल समाप्तः ।

सतबानी पुस्तकमाला

[जीवन-चरित्र हर महात्मा के उन की बानी के आदि में दिया है]

दरिया साहिब (बिहार) का दरिया सागर...	।≡)॥
दरिया साहिब (बिहार) के चुने हुए पद और साखी	।–)
दरिया साहिब (माड़वाड़ वाले) की बानी	।=)
भीखा साहिब की शब्दावली	॥=)॥
गुलाल साहिब की बानी	॥।=)
बाबा मलूकदास जी की बानी	।)॥
गुसाईं तुलसीदास जी की बारहमासा	–)
यारी साहिब की रत्नावली	=)
बुल्ला साहिब का शब्दसार	।)
केशवदास जी की अमीघूँट	–)॥
धरनीदास जी की बानी	।=)
मीरा बाई की शब्दावली	॥)
सहजो बाई का सहज-प्रकाश	।≡)॥
दया बाई की बानी	।)
संतबानी-संग्रह, भाग १ [साखी]	१॥)
[प्रत्येक महात्माओं के संक्षिप्त जीवन-चरित्र सहित]	
संतबानी-संग्रह भाग २ [शब्द]	१॥)
[ऐसे महात्माओं के संक्षिप्त जीवन-चरित्र सहित जो पहले भाग में नहीं हैं]	
कुल	३३।–)
अहिल्या बाई	≡)
दुःख का मीठा फल	॥।=)
कर्मफल	॥)
प्रेम तपस्या	॥)
विनय पत्रिका (सचित्र और सटीक)	२॥)
विनय कोश	२)
सचित्र द्रौपदी	॥)
लोक परलोक हितकारी (चौथा छापा, सचित्र)	॥=)

दाम में डाक महसूल व रजिस्टरी शामिल नहीं है वह इस के ऊपर लिया जाएगा। कृपा कर अपना पता साफ़ साफ़ लिखिए।

मिलने का पता—

मैनेजर, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।